KALYAN

1958

Lib. G. K. V.
Hardwar

59-2

110337

~~RT-836~~

110332

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

110337

कल्याण

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर पौष २०१५, दिसम्बर १९५८ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ३८५

संयुक्त लक्ष्मी-नारायण

लक्ष्मी नारायण स्वयं, नारायण श्री रूप ।
एक तत्त्व दो बन रहे, जैसे छाया-धूप ॥
मिलित एक ही देहमें दोनों बन अर्धाङ्ग ।
परम सुशोभित हो रहे, श्याम-स्वर्ण-दिव्याङ्ग ॥
गदा-चक्र हरि-हाथमें, श्री-कर शंख सुकंज ।
पीत नील पट रुचिर अति भूषण आभा-पुंज ॥
कमलासन, माला विमल, तिलक बिंदु शुचि भाल ।
हेम-मुकुट सुषमा मधुर अमित महत्त्व विशाल ॥

कल्याण

याद रक्खो—जबतक मनमें विषय-सुखमें विश्वास, भरोसा तथा आशा है, तबतक भगवान्का यथार्थ भजन नहीं होगा। मनमें विषय-कामना रहेगी, लक्ष्य भोगपदार्थ रहेंगे, अतएव पद-पदपर फलानुसंधान बना रहेगा। इससे वह भगवद्भजन न होकर भोग-भजन होगा। भगवान्की स्तुति-प्रार्थना या स्मृति-आराधना होगी तो वह भोग-प्राप्तिके साधनरूपमें ही होगी।

याद रक्खो—भगवान्की स्तुति-प्रार्थना या स्मृति-आराधनाका भोगप्राप्तिके साधनरूपमें किया जाना भी न तो पाप है, न त्याज्य है और न वह निष्फल ही होता है, सुतरां किसी भी रूपमें किसी भी हेतुसे भगवत्-स्मरण या भगवदाराधन करना सर्वथा कर्तव्य ही है तथा परम लाभप्रद भी है; तथापि असली भगवदाराधन या भगवद्भजन तो वही है जो भगवद्भजनके लिये ही होता हो और अपने-आप अविराम रूपसे होता हो।

याद रक्खो—'भजन करना' एक बात है और 'भजन होना' दूसरी बात है। श्वास हम करते नहीं, श्वास आते हैं। श्वास लेनेके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता, न किसी शास्त्राज्ञा या सत्संगकी ही आवश्यकता होती है। श्वास सहज आते हैं, कभी रुक जाते हैं तो परम व्याकुलता होती है। इसी प्रकार श्वासकी भाँति 'भजन होना' चाहिये। क्षणभर भी भजन छूटनेपर परम व्याकुलता हो जाय, तभी असली भजन है।

याद रक्खो—सकाम भावसे भजन करना भी परम लाभप्रद है; परंतु सकाम भावसे भजन होना प्रायः सम्भव नहीं है। स्मृति रहती है काम्य वस्तुकी, खोज करता है मन निरन्तर काम्यवस्तुकी, चिन्ता रहती है काम्य वस्तुकी, तब भगवद्भजन किस मनसे होगा? यहाँतक देखा जाता है कि काम्य वस्तुके प्राप्त न होने या अनुकूल पदार्थके नष्ट हो जानेपर भगवद्भजन ही नहीं छूट जाता, भगवान्के अस्तित्व तकसे आस्था उठ जाती है या उठने लगती है। वह इसी कारण कि भजन भगवान्के लिये भगवान्का नहीं हो रहा था। भोगके लिये भगवान्के नामपर भोगका ही भजन हो रहा था।

याद रक्खो—भोगके लिये भजन करनेवाला इच्छित भोगके प्राप्त होनेपर भी भगवद्भजन नहीं करेगा; क्योंकि भोगवस्तुकी प्राप्तिसे भोगकामनाका नाश नहीं होता—जैसे अग्निमें घी-ईंधन डालनेपर अग्नि और भी प्रचण्ड हो जाती है और उसका दायरा बढ़ जाता है तथा उसके लिये और भी अधिक ईंधन-घीकी आवश्यकता हो जाती है, वैसे ही भोगकामनाकी पूर्तिसे भोगकामना और भी प्रचण्ड, और भी बृहत् तथा और भी तीव्र होगी। अतः पहले जो कुछ भगवद्भजन होता था, वह भी फिर नहीं होगा। भोगवस्तुके प्राप्त होनेपर जो सहज भोगक्रिया बढ़ेगी, वह भी भजनमें बाधक ही होगी।

याद रक्खो—विषय-सुखका विश्वास, विषय-सुखका भरोसा, विषय-सुखकी आशा भोगमय संसारसे सम्पर्क नहीं हटने देगी और भोगमय संसारका सम्पर्क निरन्तर विषयके विश्वास और भरोसेको बढ़ाता रहेगा। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको बढ़ाते हुए भोगमय संसार और विषय-सुखमें आशा-भरोसा ही जीवनका स्वरूप बन जायगा, जो भयानक दुःखों, आसुरी योनियों और भीषण नरकोंकी प्राप्तिका कारण होगा। इसलिये ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मनमेंसे संसार निकल जाय और विषय-सुखसे निराशा हो जाय। 'नैराश्यं परमं सुखम्' यही साधन है।

'शिव'

महारसायन

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी)

अरे, नाम लो !

'नहीं, मैं तुम्हारा नाम और नहीं लूँगा । नाम लेनेपर भी यदि पशुत्व नहीं जाता—तो फिर नाम लेनेसे क्या लाभ ? नाम तो मैंने कितना ही लिया, किंतु अभीतक मैं यथार्थ मनुष्य न बन सका । वैराग्य नहीं आया, भोग-प्रवृत्ति नहीं गयी, फिर नाम लेनेसे क्या लाभ ? नामका फल तो साधुओंको मिलता है । नामका फल जितेन्द्रिय महापुरुषोंको मिलता है । मेरे-जैसे क्षुद्र-से-क्षुद्र मनुष्यको कुछ नहीं होता है । यह सब तुम्हारी वृथा सान्त्वना-मात्र है । कहते हो कि नाम लेनेसे दुःखकी शान्ति होती है—फिर कब होगी ? दिन बीतते जा रहे हैं । अभीतक मैं तुम्हारा अपना नहीं बन सका ! पतित-पावन, पातकि-तारण, दीनबन्धु—ये सब नाम झूठे हैं । तुम भक्तोंके कल्पतरु हो, पापियोंके तुम कोई नहीं हो । यदि पापियोंके प्रति तुम्हारी बिन्दु-मात्र भी कृपा होती तो तुम मेरे समस्त बन्धनोंको तोड़कर मुझे अपना बना लेते । तुम्हारी दया नहीं हुई । इसीसे आज माता भागीरथीकी शरणमें आया हूँ ताकि माँ इस अभागे संतानपर दया कर अपनी गोदमें ले लें । तुम बड़े कठोर हो, तुम्हारा हृदय पाषाण-निर्मित है । पापियोंकी पुकार तुम्हारे हृदयको स्पर्श नहीं कर सकती !'

'अच्छा, ऐसी बात ? भला बताओ तो, तुम्हारी ये माता भागीरथी कौन हैं ?'

'हा भगवन् ! अरे, यह भी तो तुम्हारी ही लीला है ! मैं जहाँ जाता हूँ, वहीं तुम हो !'

'क्या तुम्हारा नामपरसे विश्वास हट गया ?'

'अरे जी, हटो ! अब तुम बहुत प्रेम दिखा चुके हो । अब मैं अच्छी तरहसे समझ गया हूँ कि तुम किस प्रकारके हो ।'

'अरे, तुम क्या कह रहे हो ? क्या तुम नामके प्रतापको भूल गये ?

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥
(बृहद्-विष्णुपुराण)

'—उतना पाप कोई भी पापी कर नहीं सकता है, जितना कि मेरे नामका कीर्तन करनेसे नष्ट हो जाता है । सर्वदा नाम-कीर्तन करो । पाप-प्रवृत्ति नहीं रहेगी । कभी यदि नाम लेना बंद करोगे तो उस समय वही भोग-प्रवृत्ति तुम्हारे अंदर प्रविष्ट होकर तुम्हें पुनः भोगमें लिप्त करेगी । सावधान, कभी भी नाम लेना बंद न करो । देखो, करोड़ों जन्मोंके भोग-संस्कार तुम्हें भोगकी ओर सदा आकर्षित कर रहे हैं । तुम यदि प्रबल पुरुषार्थका विकास न करोगे तो कैसे स्थिर हो सकोगे ? नाम लेनेसे ज्यों ही आनन्द मिलने लगता है, त्यों ही तुम नाम छोड़कर दूसरी बात करने लगते हो । फिर जब कोई दुःख आता है, तब पुनः राम-राम करने लगते हो । यों करते रहोगे तो मुझे पकड़कर कैसे रख सकोगे ? मुझे यदि बाँधकर रखना चाहते हो तो अविराम नाम लो । तुममें पाप है—इससे भय क्यों करते हो ? क्या तुमने सुना नहीं है—

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा ।
यन्न क्षपयते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनम् ॥
(स्कन्दपुराण)

'कर्मजात, वाचिक तथा मानसिक कोई भी ऐसा पाप नहीं है, जो इस कलियुगमें नामकीर्तनके द्वारा नष्ट न हो सके । तब फिर तुम क्यों डर रहे हो ? केवल नाम लो, जबतक स्थिर न हो सको, तबतक नाम लेते रहो । अवश्य ही स्थिर हो सकोगे तथा

अवश्य ही तुम्हारे सब दुःख दूर होंगे । देखो, एक लोहेके टुकड़ेको जबतक भट्ठीमें रक्खा जाता है तभीतक वह अग्निके समान रहता है, उसमें भी जलानेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

'उसको आगसे निकाल लेनेपर कुछ क्षणों बाद उस लोहेके टुकड़ेमें वह शक्ति नहीं रहती । जैसा लोहा पहले था, वैसा ही वह लोहा हो जाता है । सैकड़ों जन्मोंके कर्म-दोषके कारण तुम्हारा मन लोहेकी भाँति अति कठिन हो गया है । जितनी देर तुम मेरे नाम-रूपी अग्निसे मनरूपी लोहेको लगाये रखोगे, उतनी देरतक वह अग्निके समान रहेगा । तब उसमें जगत्के समस्त पापोंको नष्ट करनेकी शक्ति आ जायगी । ज्यों ही नाम लेना बंदकर चुप होकर बैठ जाओगे, त्यों ही भोगरूपी हवा लगनेपर तुम्हारा मन फिर वैसा ही हो जायगा, जैसे लोहा आगसे निकालनेपर हो जाता है । इसीलिये कहते हैं कि अपने मनको नामरूपी अग्निसे कभी न निकालो । उसे आग बनकर रहने दो । यहाँकी वायु बहुत बुरी हो गयी है । समझे ?'

'अच्छा, कितने दिनोंतक मनको नामरूपी अग्निमें रखना पड़ेगा ?'

'निकालनेकी आवश्यकता ही क्या है ? मनरूपी लोहा जबतक साफ न हो जाय तबतक नामरूपी अग्निमें उसे रखना पड़ेगा । जब उसका मैलापन, असार अंश सब दूर होकर अच्छे लोहेके रूपमें परिणत हो जायगा, उस दिन उसे किसी अच्छे लोहारको देकर एक तलवार तैयार करा लो और उस भगवत्प्रेम-रूपी तलवारसे अपने अहंभाव और ममत्वरूपी कठिन रस्सीको काटकर फेंक दो । तुम मुक्त हो जाओगे । तुम्हारा और मेरा स्थायी मिलाप होगा, समझे ? नाम लो—कहाँतक पाप ठहर पावेगा ।

श्वादोऽपि नहि शक्नोति कर्त्तुं पापानि यत्नतः ।
तावन्ति यावती शक्तिर्विष्णोर्नाम्नोऽशुभक्षये ॥

(इतिहासोत्तम)

'कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल भी उतने पाप प्रयत्न करके भी नहीं कर सकता, जितने पापको नष्ट करनेकी शक्ति मेरे नाममें है । यह सब बात क्या तुम भूलते जा रहे हो ? वह कुछ नहीं है, वह सब विक्षेप है, 'मा शुचः ।' 'चिन्ता मत करो' नाम लो—नाम लो ! सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति, हर्ष-शोक, किसी ओर भी मत देखो, केवल नाम लेते जाओ । यह मेरी आज्ञा है । इतना ही समझकर नाम लेते जाओ । पाप ! पाप ! अरे, नाम लेते-लेते जब तुम ही नहीं रहोगे, फिर तुम्हारे पाप कैसे रह सकेंगे ? खूब नाम लेते जाओ, उठते, बैठते, भोजन करते, सोते, सब समय अविराम राम-राम जपो ।

न नामसदृशं ज्ञानं न नामसदृशं व्रतम् ।
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम् ॥
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशः शमः ।
न नामसदृशं पुण्यं न नामसदृशी गतिः ॥

(आदिपुराण)

'समझे, नामके प्रतापको समझे ?'

'तुम बड़े अच्छे हो, केवल दूर हटते जाते हो । देखो, तुम्हारे हट जानेसे मैं विवश-सा बन जाता हूँ । मुझको सब सूना-सूना-सा अनुभव होता है । इसीलिये न जाने कितनी उल्टी-सीधी (उचित-अनुचित) बात कह देता हूँ । तुम नाराज मत होओ ।'

'मैं अत्यन्त क्रोधित होऊँगा, यदि तुम मेरा नाम लेना बंद कर दोगे ।'

नहीं-नहीं, मैं नाम ले रहा हूँ—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

* * *

जीव और ब्रह्ममें वास्तविक भेद नहीं है

(लेखक—अनन्तश्री शङ्कर-स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

ईश्वर ही इस जगत्में जीवोंके आत्मा हैं, उनके अतिरिक्त और कोई भी द्रष्टा, श्रोता, मन्ता (मननकर्त्ता) अथवा विज्ञाता नहीं हैं; चूँकि श्रुति **'नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ'** (बृह० उ० ३ । ८ । ११) —उनसे भिन्न और कोई विज्ञाता नहीं है—इत्यादि वाक्यसे तद्भिन्न अन्य आत्माका निषेध कर रही है और **'तत्त्वमसि'**—वह ही तुम हो—इस महावाक्यके द्वारा ब्रह्मको ही आत्मारूपसे उपदेश कर रही है। मिट्टीके ढेलेको कदापि काञ्चनस्वरूप कहकर उपदेश नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्ष—आपने जो कहा है कि 'संसारी जीव ईश्वरसे अभिन्न है', सो यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे अश्व और महिष परस्पर लक्षण-भेदवश भिन्न हैं, वैसे ही जीव और परमात्मा भी भिन्न हैं। यदि पूछा जाय कि 'उन दोनोंमें वह लक्षण-भेद क्या है', तो उसका उत्तर है कि जैसे सूर्यका प्रकाश सदा ही विद्यमान है, वैसे ही ईश्वरमें भी निखिल वस्तुओंका ज्ञान नित्य विद्यमान रहता है, परंतु संसारी जीवका ज्ञान उससे विपरीत है, अर्थात् खद्योत जैसे सूर्यकी तुलनामें स्वल्प-प्रकाश है, वैसे ही जीव भी अल्पज्ञान है। दोनोंमें शक्तिका भेद भी उस प्रकार है। ईश्वरका कर्म भी उनके चित्स्वरूप आत्मसत्तामात्रको ही निमित्त करके निष्पादित होता है, जैसे उष्णतास्वभाव अग्निका उष्णतासंग्राहक सूर्यकान्तमणि या अतसी काच आदि द्रव्योंकी सत्तामात्रसे ही दहनकार्य सम्पन्न होता है, अथवा जैसे राजा, चुम्बक और आलोकके द्वारा निष्पादित कर्म, उनके सांनिध्यमात्रसे ही एवं उनके स्वरूपमें विकृति न घटाकर सम्पन्न होते हैं, वैसे ही ईश्वरका कर्म उनकी सत्ता अर्थात् सांनिध्यमात्रसे ही स्वरूपमें विकारोत्पादन न करके निष्पन्न होता है, किंतु जीवका कर्म इससे विपरीत है। **'उपासीत'** (बृह० उ० ४ । १ । २-७) 'मनुष्य उनकी उपासना करे'—इस श्रुतिवचनानुसार ईश्वर, तो गुरु तथा राजाके समान उपास्य है और जीव शिष्य तथा सेवकके समान उपासक है। **'एष आत्मापहतपाप्मा'** (छा० उ० ८ । १ । ५)—यही तुम्हारा आत्मा है, यह धर्माधर्मरूप सर्वपापविवर्जित है—इत्यादि श्रुति-वचनानुसार ईश्वर नित्यशुद्ध है; और **'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन'** (बृह० उ० ३ । २ । १३) —पुण्यकर्मके द्वारा जीव पुण्यात्मा होता है और पापकर्मके द्वारा पापी होता है—इत्यादि श्रुतिवचनानुसार जीव इनसे विपरीतस्वभावका है। इस हेतु ईश्वर तो नित्यमुक्त ही है और जीव नित्य अशुद्धियुक्त होनेसे संसारी है। सुतरां, यही सिद्धान्त है कि जहाँ ज्ञानादि लक्षणमें भेद रहता है, वहाँ सर्वदा ही भेद देखा जाता है, जैसे अश्व और महिषमें। अतएव, ज्ञानादि लक्षणमें भेद रहनेके कारण ईश्वर और जीवमें भेद है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है, चूँकि—**'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद'** (बृह० उ० १ । ४ । १०)—जो मनुष्य इनका त्याग कर अन्य देवताकी उपासना करता है—'मैं (उपासक) अन्य हूँ और ये (उपास्य भी) अन्य हैं'—इस प्रकार भेददृष्टिसे अन्य देवताकी उपासना करता है, वह व्यक्ति यथार्थतः ब्रह्मको नहीं जानता है। **'ते क्षय्यलोका भवन्ति'** (छा० उ० ७ । २५ । २) जो लोग इससे विपरीत भावसे ज्ञानलाभ करते हैं, वे अन्य राजाके अधीन होते हैं—स्वराट् नहीं होते हैं तथा क्षय्यलोक होते हैं; अर्थात् उनके भोग्य लोकसमूह चिरस्थायी नहीं होते। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'** (कठ उप० २ । १ । १०)—जो मनुष्य इस अखण्डचैतन्यमें नाना भाव देखता है, वह मृत्युके बाद पुनः मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् जन्म-मरण-प्रवाहमें बहता रहता है—इत्यादि वाक्योंमें भेददृष्टिका निषेध किया गया है, और वैसे हजारों श्रुतिवचन हैं, जिनसे जीव और ब्रह्मका एकत्व प्रतिपादित हुआ है। 'ईश्वरका कर्म उनकी सत्तासे ही निष्पन्न होता है'—यहाँ 'ईश्वरका कर्म'से विवर्त्तरूपसे अपने आपको अविकृत रखकर जगत्का उपादानादिरूप होना ही विवक्षित है।

'जीव' शब्दको भी ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये ! जीवका अर्थ तीन प्रकार हो सकता है—(१) बुद्धि आदि जिसका विशेषण है अर्थात् स्वरूपमें प्रविष्ट है, उस प्रकारका चैतन्य-प्रतिबिम्ब, जिसे धर्मी समझना होता है। (२) सचैतन्य देह मनुष्य—देव, मनुष्य आदि शब्दोंसे जिसकी सूचना की जाती है। (३) चैतन्य, जो उपाधिविहीनतारूप भेदके

द्वारा पूर्वोक्त दो प्रकार जीवसे विलक्षण-स्वभावका है ।

उनमें 'जीव' शब्दका प्रथम अर्थ ग्रहण करनेसे 'सिद्ध-साधन' दोष होता है । बुद्धिप्रभृति उपाधिविमुक्त और साधारण जीवसे विलक्षण कोई जीव ही नहीं है, जिसमें ईश्वरसे भिन्न लक्षण मिल सके । एक ही नित्यमुक्त ईश्वरको निखिल प्राणियोंका आत्मा माना जाता है; क्योंकि बुद्धि आदिमें अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा बुद्धि, अहङ्कार, मन और चित्तकी समष्टिपरम्परामें 'मैं और मेरा' इत्यादिरूप विपरीत ज्ञान-प्रवाहका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर ही जिसका अन्तर्यामी है, जो स्वयं नित्यविज्ञानका अवभास वा प्रतिविम्ब है, एवं चित्त (ज्ञान), सुखादि विषयरूप चैत्य, अविद्या कामकर्मरूप बीज और शरीरादिरूप बीजीके साथ तादात्म्य प्राप्त होकर जो तद्रूप हो गया है एवं जो कल्पित तथा अनित्य विज्ञानविशिष्ट है और जो ईश्वरलक्षणसे विपरीत लक्षणयुक्त है, उसे ही बाह्य 'जीव' माना जाता है । उसके इस औपाधिक स्वरूपके विच्छेद न होनेको ही उसका संसार वा बन्धन कहा जाता है और उसके इस औपाधिक स्वरूपका विच्छेद होनेपर ही उसकी मुक्ति हुई है, ऐसा कहते हैं । जिसके उस विशिष्ट रूपका अविच्छेद रहनेसे तत्प्रविष्ट चैतन्यस्वरूपका संसार वा बन्धन स्वीकार किया जाता है, एवं जिसके उस विशिष्ट रूपके विच्छेदको—उस प्रतिबिम्बस्वरूपकी बिम्बस्वरूप-प्राप्तिको मोक्ष कहा जाता है, उस कल्पित रूप-वस्तुको पृथक्रूपसे ही स्वीकार किया जाता है; अतएव 'सिद्धसाधन' दोष हुआ ।

(सिसाधयिषायाः असत्त्वे) 'प्रमाणान्तरेणावगतार्थसाधनमनुमानं सिद्धसाधनम्' (दोषः)—

(जहाँ साधन करनेकी इच्छा या प्रयोजन नहीं है, वहाँ) प्रमाणान्तरके द्वारा विदितार्थके साधनके निमित्त जिस अनुमानका प्रयोग होता है, उसको 'सिद्धसाधन' कहते हैं । 'तत्त्वचिन्तामणि'कारके अनुसार 'इस स्थलमें यह समझना चाहिये कि, जो लोग निर्दोष अनुमान करते हैं, वे प्रत्यक्षतः हस्ती देखनेके पश्चात् भी उसी जन्तुके चीत्कारसे हस्तीका अनुमान नहीं करते । इस हेतु उक्त लक्षणके पूर्व **'सिसाधयिषायाः असत्त्वे'**—इन शब्दोंकी योजना करनी होगी ।

जीवके सम्बन्धमें द्वितीय विकल्प ग्रहण करनेपर भी उक्त 'सिद्धसाधन' दोष घटता है । (बुद्ध्यादिविशिष्ट धर्मों), चैतन्य प्रतिबिम्बस्वरूप जीवको बिम्बचैतन्यस्वरूप ईश्वरसे भिन्न प्रतिपादनके निमित्त अल्पज्ञता, सर्वज्ञता आदिरूप भेदप्रदर्शक हेतुके द्वारा अनुमान-सिद्ध-साधन दोषाक्रान्त है । उस प्रकार मृत्प्रलेपके समान नश्वरदेही जीवको अविनाशी ईश्वरसे भिन्न प्रतिपादनके निमित्त प्रयुक्त अनुमान भी सिद्धसाधन है; क्योंकि प्रतिबिम्बसे बिम्बका भेद एवं नश्वरसे अविनाशीका भेद कोई भी अस्वीकार नहीं करता । आत्मा (जीव) देव, पितृ, मनुष्य-प्रभृतिरूप, पञ्चभूतकी विशेष-विशेष समष्टि और मृत्तिकाके प्रलेपके समान प्रत्यक्षध्वंस-स्वभावका है, वह तो चेतन आत्मासे सर्वथा भिन्न ही है; किंतु उस (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन प्रकारके) शरीररूप आत्मा वा जीवसे विलक्षण जो चतुर्थ प्रकारका आत्मा है, उसे तो ईश्वरसे भिन्न लक्षणविशिष्ट नहीं माना जाता है । और यदि कहा जाय—'बुद्धि आदि कल्पित आत्मासे निरुपाधिक चेतनरूप आत्मा तो भिन्न है ही, इस अभिप्रायसे ही हमने 'दोनोंके लक्षणमें भेद रहनेके कारण' इस प्रकार कहकर हेतुका उल्लेख किया है तो उसके उत्तरमें कहा जायगा—तुम्हारे द्वारा प्रदर्शित हेतु 'आश्रयासिद्ध' होनेसे दुष्ट है, अर्थात् तुम्हारे इस अनुमानमें पक्ष ही (आश्रय ही) असिद्ध है, चूँकि ईश्वरसे भिन्न कोई आत्माकी सत्ता ही नहीं है । जिस हेतुका पक्ष (आश्रय) असिद्ध होता है, वह 'आश्रयासिद्ध' हेतु है । जैसे आकाशकुसुम सुरभि है—(प्रतिज्ञा), अतः वह कुसुम है—(हेतु), जैसे अन्य कुसुम है—(दृष्टान्त), इस अनुमानमें आकाश-कुसुमरूप पक्षमें पक्षताके अवच्छेदकका अर्थात् कुसुमत्वका अभाव है; क्योंकि किसीने भी आकाश-कुसुम नहीं देखा है । उसी प्रकार इस स्थलमें भी समझना चाहिये ।

पूर्वपक्ष–यदि ईश्वरसे भिन्न अन्य आत्माका अभाव है, तब तो, ईश्वरमें विरुद्धलक्षणता (एक ही कालमें बद्धत्व-मुक्तत्व, सुख-दुःख) आदिका संयोग मानना पड़ेगा; परंतु वैसा होना तो असम्भव है ।

तृतीय विकल्पमें भी बुद्धि प्रकृतिको लेकर कल्पित, विशिष्ट आत्मा वा जीवसमूहसे पृथक् करके आत्मस्वरूपको निरुपाधिक जानकर उस निरुपाधिके आत्माका यदि पक्ष किया जाय तो वह हेतु, 'आश्रयासिद्ध' हो जाता है; क्योंकि उस प्रकार आश्रय वा पक्ष प्रमाणरहित या असिद्ध है, उसका अस्तित्व ही नहीं है ।

ईश्वरसे भिन्न अन्य आत्मा नहीं है, इस प्रकार कहनेसे, निखिल उपाधियोंमें विद्यमान ईश्वर ही आत्मा है, यह अर्थ निकलता है; और तब तो, ईश्वरमें बद्धता-मुक्तता आदि विरुद्ध धर्म स्वीकार करने पड़ते हैं एवं सुख-दुःखादि संयोग, जो 'असङ्गता'के विरुद्ध हैं, ईश्वरमें आरोपित हो जाते हैं।

सिद्धान्ती—नहीं, ऐसा कहा नहीं जा सकता; क्योंकि आत्मा सूर्यके समान निमित्तमात्र है, जैसे सूर्य नित्यप्रकाशस्वरूप होनेसे लौकिक पदार्थोंके प्रकाश और अप्रकाश—दोनोंका ही निमित्तमात्र (निष्क्रिय कारण) होता है, तथापि मनुष्यकी दृष्टिमें विपरीत भाव आ जानेके कारण वे कहते हैं कि, सूर्य उदित और अस्त होते हैं एवं अपने उदय और अस्तसे दिन और रात आदिकी रचना करते हैं; ठीक वैसे ही 'नित्यविज्ञानशक्तिस्वरूप' ईश्वरमें मनुष्यके ज्ञानका विनाश, सुख-दुःख और स्मृति आदिकी निमित्तता (निष्क्रियकारणता) आ जाती है और तब मनुष्यकी विपरीत बुद्धिके कारण ईश्वरमें विपरीत-लक्षणता और सुख-दुःखाश्रयता आरोपित होती हैं, किंतु ईश्वरमें स्वरूपतः इस प्रकारका कोई भी भाव नहीं है अर्थात् उक्त अनेक प्रकारकी विरुद्धधर्मवत्ता पारमार्थिक नहीं हैं। ईश्वरको 'नित्यविज्ञानस्वरूप' विशेषण देनेका हेतु यह है कि जैसे अग्नि आदिकी शक्ति अन्य किसी भी शक्तिकी सहायताके बिना अपने स्वभावके कारण कार्योत्पादनके अनुकूल होती है, वैसे ही नित्यविज्ञान केवल अपने स्वभावके सांनिध्यके द्वारा ही अन्तःकरण प्रभृतिका कारण होता है; इसीलिये उस नित्यविज्ञानको शक्तिमय कहा गया है। ईश्वरपदके लक्ष्यार्थमें अर्थात् उस नित्यविज्ञानमें स्वतन्त्रता रहनेसे उसमें अनेक विरुद्ध धर्मोंका अध्यास (आरोप) असङ्गत नहीं होता है।

अधिकंतु, समस्त जीव ही अपनी दृष्टिके अनुरूप ही ईश्वरमें आरोप करते हैं, इस हेतुसे भी वह उन आरोपोंसे अस्पृष्ट रहता है, अतः अध्यास वस्तुका (अधिष्ठानका) हानिकारक नहीं होता है । जैसे आकाश मेघादिसे ढक जानेपर जो-जो व्यक्ति सूर्यका प्रकाश नहीं देख पाते, वे अन्य स्थानमें सूर्यका प्रकाश रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनी दृष्टिके अनुसार इस प्रकार अध्यारोप करते हैं कि इस समय उस स्थानमें सूर्य प्रकाशमान नहीं है; वैसे ही इस आत्मतत्त्वमें भी बुद्धि आदि वृत्तिके उदय और तिरोभावके कारण वैचित्र्यप्राप्त जीवभ्रान्तिके द्वारा आरोपित सुखदुःखादिसंयोग सम्भव होता है अर्थात् वृत्तिसमूहका ही आविर्भाव और तिरोभाव होता है; किंतु जो चैतन्य उन वृत्तियोंको व्याप्त करके रहता है, उसका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता, इस प्रकार ज्ञानशून्य मनुष्यकी भ्रान्तिसे ही ईश्वरमें सुख-दुःखादि-संयोग सम्भव होते हैं।

चैतन्य ज्ञान, सुख आदिकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणमात्र है—यह तथ्य केवल अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा ही सिद्ध हुआ, सो बात नहीं है, उस ईश्वरके वचनोंसे भी यही होता है। गीतामें भगवान्ने कहा—'**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**'' (१५ । १५)—मेरेसे ही सब प्राणियोंकी स्मृति और ज्ञान तथा उन दोनोंका तिरोभाव होता है अर्थात् पुण्यवानोंके पुण्यकर्मके कारण ज्ञान और स्मृति होती हैं एवं पापियोंके पापकर्मके फलसे उनका तिरोभाव घटता है। '**नादत्ते कस्यचित् पापम्**' (५ । १५)—ब्रह्म अर्थात् आत्मा न किसीके पापकर्मको और न किसीके पुण्यकर्मको ग्रहण करता है। इसलिये अन्धकारमुक्त सूर्यके सदृश एक ही नित्यमुक्त ईश्वरमें मनुष्यकी अविद्याके कारण संसारित्व आरोपित होता है एवं शास्त्रादि प्रमाणके द्वारा उसका असंसारित्व ज्ञात होता है; सुतरां इस विषयमें कोई भी विरोध नहीं है अर्थात् ईश्वरमें संसारित्वकी प्रसिद्धि न रहनेसे ईश्वरका चैतन्य-स्वरूप प्रतिबिम्बके द्वारा बुद्ध्यादि-उपाधि-विशिष्ट जीवका अनुगमन करता है, किंतु जीवका संसारित्व-स्वभाव ईश्वरका अनुगमन नहीं करता—ऐसा समझना चाहिये। इस सिद्धान्तसे प्रत्येक जीवमें ज्ञानादि भिन्न-भिन्न हैं—इस प्रकार उक्तिका खण्डन हुआ। अर्थात् सिद्ध-साधनत्व आदि दोष घटनेके कारण प्रति-शरीरमें ज्ञान-सुखादि-का आश्रय-भेद तात्त्विक है अर्थात् ज्ञानसुखादिके आश्रयोंमें जो परस्पर भेद है, वह यथार्थ है—इस प्रकारका मत खण्डित हुआ।

पुनः—व्यावर्त्तकधर्मवशतः अर्थात् भेदनिर्वाहक धर्म रहनेसे ही भेद सिद्ध होता है; किंतु सांख्यमतसे जो पुरुषको केवल चैतन्यमात्र कहा जाता है, एवं बहु माना जाता है, उनमें व्यावर्त्तक वा भेदसाधन कोई भी धर्म नहीं है। और वैशेषिक मतसे पुरुषोंमें परस्पर भेद-साधनके लिये अत्यन्त विशेष कल्पना वा अन्त्यविशेष कल्पनाका आश्रय लेना पड़ता है, उससे 'अन्योन्याश्रय' दोष होता है (अर्थात् निरवयव परमाणुकी भिन्नता प्रतिपादनके निमित्त जैसे

अन्त्यविशेषका आश्रय ग्रहण करना आवश्यक होता है और उस अन्त्यविशेषके प्रतिपादनके लिये निरवयव परमाणुकी भिन्नताका आश्रय लेना पड़ता है, वैसे ही निरवयव भिन्न-भिन्न आत्माके प्रतिपादनके निमित्त व्यावर्त्तक धर्मका आश्रय ग्रहण करना आवश्यक होता है, और उस व्यावर्त्तक धर्मके प्रतिपादनार्थ निरवयव विभिन्न आत्माका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है)।

'स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वम् अन्योन्याश्रयत्वम्।'

अर्थात् निरवयव परमाणुज्ञानके निमित्त अन्त्यविशेषके ज्ञानकी अपेक्षा, फिर अन्त्यविशेषके ज्ञानके निमित्त परमाणुज्ञानकी अपेक्षा—इस रीतिसे परस्परका ज्ञान परस्पर सापेक्ष है। यह 'अन्योन्याश्रय' दोष है। अतएव समस्त पुरुष ही निर्विशेष होनेसे पुरुषोंमें परस्पर भेद तात्त्विक (अर्थात् स्वरूपगत—यथार्थ) नहीं है; क्योंकि उन सबमें ही सूक्ष्मता, चैतन्य सर्वगतत्वादि धर्म समानरूपसे स्थित होनेके कारण भेदका हेतु नहीं मिलता।

कोई दुखी, कोई सुखी—इस प्रकार दुःखादि विकारकी और किसी भी प्रकारसे व्यवस्था वा कारणनिर्देश असम्भव होनेसे यदि उनके आश्रयोंके भेदको तात्त्विक वा स्वरूप-गत स्वीकार किया जाय, तब तो पुरुषसमूहको विकारी मानना पड़ता है, सुतरां वे अनित्य हो जाते हैं।

सुख-दुःखादि विकार उपाधिका ही धर्म है, अतएव उससे आत्मामें भेद सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि उससे आत्मामें भेद माननेपर वह भेद 'व्यधिकरणासिद्ध' हो जाता है, अर्थात् आत्मामें एकत्वके कारण भिन्न अधिकरणका अभाव है। इससे आत्मामें भेद प्रतिपन्न नहीं होता, अथवा वह भेद उपाधिरूप भिन्न अधिकरण होनेसे आत्मामें असिद्ध हो जाता है, उससे भिन्न-भिन्न आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। अधिकंतु, मोक्षमें विकारादिरूप विशेष कैसे स्वीकार किया जाय? निजस्वरूपमें स्थितिको 'मोक्ष' कहा जाता है, सुतरां मोक्षकी विधिमें सविशेष होना स्वाभाविक नहीं है। मुक्तावस्थामें आत्माका कोई भी विशेषभाव स्वीकार करनेपर मोक्ष अनित्य ही हो जाता है।

पुनः—जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अविद्याग्रस्त भ्रान्त जीव भेदकी उपलब्धि करते हैं, परंतु सुषुप्ति और समाधिकी अवस्थामें भ्रान्तिके न रह जानेसे भेदकी उपलब्धि नहीं होती, इससे भेद मिथ्यारूप ही सिद्ध होता है। अविद्या-ग्रस्त जीव ही तो केवल भेदका अनुभव करता है। उस अविद्याका क्षय होनेपर फिर वह भेद उपलब्ध अथवा सिद्ध नहीं होता; अतएव जीव और ईश्वरका एकत्व ही सिद्ध होता है।

अहंकारके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अज्ञानके बीजभूत शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और इन्द्रिय-ज्ञानका जो प्रवाह देखा जाता है, उस प्रवाहका, नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न अन्य कुछ निमित्त अवश्य है। वह निमित्त आत्मतत्त्वके यथार्थ-ज्ञान होनेपर निवृत्त हो जाता है। उसकी निवृत्ति होनेसे अज्ञान-बीजका उच्छेद होता है। उस अज्ञानबीजके उच्छेदको ही आत्माका 'मोक्ष' नाम दिया जाता है और उस अज्ञानबीजका उच्छेद न घटनेपर आत्माकी उस अवस्थाको आत्माका 'बन्ध' कहा जाता है; क्योंकि बन्ध और मोक्ष—दोनों ही बुद्ध्यादि-उपाधिविशिष्ट स्वरूपके साथ सम्बन्ध लेकर ही कहे जाते हैं। जीव एकके बाद दूसरे इस प्रकार बहु शरीरोंमें अनुगमन करता है। इससे तथा उस प्रातिभासिक शरीरपरम्परा शुक्तिमें रजतभ्रमके समान मिथ्याभिमानका विषय होनेसे, उस मिथ्याभिमानोत्पादक अज्ञानजीवका उच्छेद घटनेसे ही 'आत्माका मोक्ष हुआ' इस प्रकार कहा जाता है।

शङ्का—तब, नित्यमुक्त आत्माकी मुक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा गया है? उपाधिविशिष्टका ही बन्ध और मोक्ष होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा गया?

उत्तर—बुद्ध्यादि-उपाधिविशिष्टका ही (अर्थात् चिदाभासका ही) मोक्ष होता है, ऐसा माननेसे, उस विशिष्टके साथ (सुतरां उसका मोक्षके साथ) आत्माका (विम्बका) किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं घट सकता है; क्योंकि, विशिष्ट चिदाभास व्यावहारिक है और आत्मा है पारमार्थिक, और वैसा सम्बन्ध स्वीकार करनेपर संसार-निवृत्ति असम्भव हो जाती है तथा एकका बन्धन और दूसरेका मोक्ष माननेपर श्रवण-मननादि साधन निरर्थक हो जाते हैं अर्थात् साधनके साथ साध्यका अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् साधन और साध्य भिन्न-पात्रस्थ हो जाते हैं। अतएव कहना पड़ता है, चिदाभासयुक्त अन्तःकरणरूप उपाधिके साथ सम्बन्धके द्वारा उस उपाधिके ही एक प्रकार प्रतिविम्ब आत्मस्वरूपका बन्ध-मोक्ष होता है। त्वं पदार्थका वाच्यरूपसे प्रतिविम्ब (चिदाभासयुक्त अन्तःकरण) एक प्रकार मिथ्या ही है, किंतु लक्ष्यरूपसे वह विम्बसे अतिरिक्त कुछ नहीं है; अतएव, मुक्तिको स्वरूपावस्थान कहना असङ्गत

नहीं है। यही सिद्धान्त 'संक्षेप शारीरक' में इस प्रकारसे कथित हुआ है—

उपाधिना सार्द्धमुपाधिजन्यमौपाधिकं सर्वमवेहि मिथ्या ।
भागं मृषा चित्प्रतिविम्बकेऽपि विम्बं पुनः सत्यमशेषमेव ॥
(३ । २७९)

अर्थात् ईश्वरकी अज्ञानरूप उपाधिके साथ उसी अज्ञान-जनित अन्तःकरणरूप जीवकी उपाधि और उन दोनों उपाधियोंसे प्राप्त ईश्वरत्व तथा जीवत्व, इन सबको मिथ्या जाने। दोनों चित्-प्रतिविम्बोंमें अज्ञानांश और अन्तःकरणांशको मिथ्या जानना चाहिये; बिम्ब ही (शुद्ध चिन्मात्र ही) पूर्ण सत्य वस्तु है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने इस श्लोककी व्याख्या निम्नोक्त रीतिसे की है—'**उपाधिना (अज्ञानेन) सार्द्धम् (सहितम्) उपाधिजन्यम् (अज्ञान-जनितम् अन्तःकरणम्) औपाधिकम् (ईश्वरत्वजीवत्वे) सर्वं मिथ्या अवेहि (जानीहि)। चित्प्रतिविम्बके अपि भागम् (अज्ञानांशम्) (मिथ्या अवेहि)। विम्बम् पुनः अशेषम् एव सत्यम् (अवेहि)।**' अर्थात् अद्वितीय और असङ्ग प्रकाशस्वरूप चिदात्मामें अज्ञान वस्तुतः असम्भव होनेसे वह अज्ञान सर्वांशसे ही मिथ्या है; अतएव उस मिथ्या अज्ञानका कार्यस्वरूप अन्तःकरण भी मिथ्या है और वह अज्ञान तथा अन्तःकरण जिसकी-जिसकी उपाधि है वे भी मिथ्या हैं। इन सबका अस्तित्व अज्ञानके अधीन होनेसे वे स्वरूपतः मिथ्या हैं, ऐसा अवधारण करना चाहिये। किंतु चित्प्रतिविम्बमें कुछ विशेष रहता है। जैसे—ईश्वरमें चित् चिदाभासविशिष्ट होनेसे अर्थात् चिदाभास ईश्वरका स्वरूपगत विशेषण होनेके कारण चित् ही 'चित्प्रतिविम्ब' पदसे सूचित होता है; उस चित्प्रतिविम्बको—विशेषणांशको ही अज्ञान और इसी कारण मिथ्या जानना चाहिये। किंतु विम्बस्वरूपमें (चित्में) वह विम्ब-भाग मिथ्या नहीं है। चूँकि चैतन्य निरंश शुद्ध चिन्मात्र है। प्रतिविम्बगत सत्य-चिद्भाग भी चिन्मात्र होनेसे उसका स्वरूप सम्पूर्ण सत्य है। इस रीतिसे 'तत्' और 'त्वम्' पदोंके द्वारा मिथ्याभूत वस्तुका परित्याग कर सत्यभूत शुद्ध चिन्मात्रका एकांशलक्षणके द्वारा ग्रहण करनेसे तत् और त्वम् पदोंका सामानाधिकरण्यके बलसे (अर्थात् एक ही विभक्तियुक्तता-निबन्धन) उन दोनोंके अभेद-प्रतिपादक वाक्योंका अखण्डार्थ अर्थात् स्वजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्यता सिद्ध होती है। साधन-चतुष्टयसम्पन्न 'अधिकारी' साधकके लिये यह साधन '**सुसुखं कर्तुम्**' है, किंतु तदितरके लिये '**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः तत्**' ॥ **ॐ तत् सत्** ॥

* * *

सब आपके भक्त बन जायँ

भोले, भक्त बनें सब तेरे।
करें प्रार्थना तुझसे ही सब, गुण गाएँ सब तेरे ॥
डूबे रहें रात-दिन तुझमें, तुझसे जीवन पाएँ।
फूट उठें अमृतके झरने पाप-ताप धुल जाएँ ॥
जागे नव-चेतना जगत्में, नूतन युग आ जाए।
भक्ति-भाव जागे जन-जनमें, दिव्य प्रेम छा जाए ॥
आशुतोष, प्रलयंकर, शंकर जन-मानसमें जागो।
रोग शोक हर हे मृत्युंजय, अब निद्राको त्यागो ॥
नास्तिकता मिट जाय जगत्से, संशय मेटो मेरे।
माधवके प्रभु शंकर भोले, भक्त बनें सब तेरे ॥

—मधुसूदन बाजपेयी

* * *

यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महर्षि पतञ्जलिने आत्माके सुधार और उद्धारके लिये योगके आठ अङ्गोंका प्रतिपादन किया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि* । इनके सेवनसे मनुष्यके अन्त:करणकी शुद्धि और ज्ञानकी प्राप्ति होकर उसका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है ? केवल यम और नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेसे भी मनुष्यका उद्धार हो सकता है ।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम 'यम' है† । ये पाँचों यम सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन किये जायँ तो इनकी 'महाव्रत' संज्ञा हो जाती है‡ । जैन शास्त्रोंमें भी इन पाँचों यमोंको 'महाव्रत' के नामसे कहा है। अब इनमेंसे प्रत्येकपर अलग-अलग विचार करना चाहिये ।

अहिंसा—सब प्रकारसे हिंसाका अत्यन्त अभाव होना 'अहिंसा' है। हिंसा आदि दोषोंके अनेक भेद बतलाये गये हैं। सर्वप्रथम हिंसाके 'कृत', 'कारित' और 'अनुमोदित'—ये तीन भेद होते हैं। अपने द्वारा की जाय, वह 'कृत-हिंसा', दूसरेके द्वारा करवायी जाय वह 'कारित हिंसा' और जो कोई व्यक्ति स्वेच्छासे हिंसा करता है, उसका समर्थन करना 'अनुमोदित हिंसा' है । यह तीनों प्रकारकी ही हिंसा लोभपूर्वक, क्रोधपूर्वक और मोहपूर्वक होती है; इस प्रकार इसके नौ भेद हो जाते हैं। किसी स्वार्थके वशीभूत होकर जो हिंसा की जाती है, वह लोभपूर्वक हिंसा है । किसीकी द्वेषबुद्धिसे जो हिंसा की जाती है, वह क्रोधपूर्वक हिंसा है, एवं जो अज्ञान (बे-समझी) से हिंसा की जाती है, वह मोहपूर्वक हिंसा है; यह नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्राके भेदसे सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है । किसीको जो साधारण दु:ख दिया जाता है, वह मृदुमात्रामें हिंसा है और जो किसीको विशेष चोट पहुँचायी जाती है, वह मध्यमात्रामें हिंसा है एवं जो किसीका वध किया जाता है, वह अधिमात्रामें हिंसा है। इस प्रकार हिंसाके और भी बहुत-से भेद हैं ।

किंतु यदि कोई व्यक्ति मनुष्य और गायकी हिंसा तो नहीं करता, अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता है तो वह अहिंसा एकदेशीय है। इसी प्रकार कोई तीर्थोंमें हिंसा नहीं करता, अन्य स्थानोंमें करता है तो वह भी एकदेशीय अहिंसा है। इसी तरह कोई संक्रान्ति, ग्रहण और पर्वोंके दिन तो हिंसा नहीं करता, अन्य दिनोंमें करता है, तो वह भी एकदेशीय अहिंसा है। ऐसे ही यदि कोई केवल मृत्यु, विवाह-शादी आदि अवसरोंके सिवा हिंसा नहीं करता तो वह अहिंसा भी एकदेशीय है, सार्वभौम नहीं। सार्वभौम अहिंसा तो वही है, जिसमें किसी जाति, किसी देश, किसी काल और किसी निमित्तको लेकर भी हिंसा न की जाय—हिंसाका सर्वथा परित्याग किया जाय। अतएव मन, वाणी और

---

* यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । (योग० २ । २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं ।'

† अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (योग० २ । ३०)

‡ जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । (योग० २ । ३१)

'(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्तकी सीमासे रहित सार्वभौम होनेपर महाव्रत हो जाते हैं ।'

शरीरसे एवं ज्ञात, अज्ञात और प्रमाद किसी भी प्रकारसे किसी भी प्राणीकी कभी कहीं किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी हिंसा न करना 'सार्वभौम अहिंसा' है ।

जिस प्रकार ऊपर हिंसाके भेद दिखलाये गये हैं, इसी प्रकार झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहके विषयमें समझ लेना चाहिये ।

सत्य—जिस घटना, परिस्थिति और वार्तालापके सम्बन्धमें जो बात जैसी देखी, सुनी और समझी गयी हो, उसको उसी रूपमें कहना, न कम कहना और न अधिक कहना एवं न वैसी-की-वैसी बात कहकर भी दूसरा भाव समझाना—इस प्रकारका जो कपटरहित यथार्थभाषण है, वह 'सत्य' है ।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्यमात्रामें और अधिक मात्रामें झूठ बोलना, झूठ बुलवाना या झूठका समर्थन करना सभी झूठ है । इसलिये किसीके भी लिये किसी भी स्थानमें, कभी भी, किसी भी निमित्तको लेकर किंचिन्मात्र भी झूठ न बोलना, न बुलवाना और न समर्थन करना, न झूठा संकेत करना, न झूठा आचरण करना और न झूठा संकल्प ही करना—इस प्रकार इन सभी भेदोंवाले झूठका सदाके लिये सर्वथा त्याग कर देना 'सत्य' है ।

अस्तेय—दूसरेकी जगह-जमीन, मकान, धन, पशु आदि किसी भी प्रकारकी चल-अचल सम्पत्तिको झूठ, कपट, विश्वासघात, दगाबाजी, जबरदस्ती किसी भी प्रकारसे कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है ।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्यमात्रामें या अधिक मात्रामें चोरी करना, चोरी करवाना या चोरीका समर्थन करना—सभी चोरी है । इसलिये किसी भी जातिकी, किसी भी स्थानमें, किसी भी निमित्तको लेकर मन, वाणी और शरीरसे किंचिन्मात्र भी कभी चोरी न करना, न चोरी करवाना और न चोरीका समर्थन ही करना 'अस्तेय' है ।

ब्रह्मचर्य—पुरुषके लिये किसी भी स्त्रीके साथ कुत्सितभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, एकान्तवास, स्मरण, श्रवण, हँसी-मजाक, सहवास आदिका सम्बन्ध कभी किसी प्रकार भी न रखना 'ब्रह्मचर्य' है । इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके विषयमें समझ लेना चाहिये ।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्यमात्रामें या अधिक मात्रामें सहवास करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना ब्रह्मचर्य-पालनमें कलङ्क है, इसलिये किसी भी मनुष्य या पशु आदिके साथ कहीं, किसी भी निमित्तको लेकर किसी भी प्रकार, हाथसे या अन्य किसी अङ्गसे, कभी किंचिन्मात्र भी कुत्सित चेष्टा न करना, न वाणीसे अश्लील वचन बोलना, न मनमें अश्लील भावोंको स्थान देना, न किसी प्रकारसे अश्लील संकेत करना, न दूसरोंसे करवाना और न इस विषयका अनुमोदन ही करना 'सार्वभौम ब्रह्मचर्य' का पालन है ।

अपरिग्रह—शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त सुख-भोगकी बुद्धिसे भोग्य-पदार्थोंका एवं धन, मकान, पशु आदि चल-अचल सम्पत्तिका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है ।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्यमात्रामें या अधिक मात्रामें भोग-सामग्रीका संग्रह करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना 'परिग्रह' है । इसलिये किसी भी निमित्तको लेकर कभी, कहीं, किसी भी प्रकारसे किसी भी भोग्य-पदार्थका या चल-अचल सम्पत्तिका किंचिन्मात्र भी संग्रह न करना, न किसीसे कोई चीज माँगना, न संकेत करना, न इच्छा करना, न संग्रह करवाना और न इस विषयमें अनुमोदन ही करना 'अपरिग्रह' है ।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-

प्रणिधान—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है*। अब इनपर अलग-अलग विचार करना चाहिये।

शौच (पवित्रता)--पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१–बाहरकी, २–भीतरकी। बाहरकी पवित्रताके भी दो भेद हैं—१–शौचाचार, २–सदाचार। जल-मृत्तिकासे सफाई करके शरीरको, झाड़-बुहारकर घरको और न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे भोजनको पवित्र बनाना 'शौचाचार' है; एवं स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके विनययुक्त सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना तथा उत्तम आचरणोंका पालन करना 'सदाचार' है, यह बाहरकी पवित्रता है एवं जप, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि निष्काम कर्म और उत्तम विचारोंके द्वारा हृदयमें स्थित अहंता-ममता, काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका सर्वथा नाश करना भीतरकी पवित्रता है।

संतोष--अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो उसको, तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्ति होनेपर उसको ईश्वरका मङ्गलमय विधान समझकर सब प्रकारकी इच्छासे रहित हो समचित्त और प्रसन्न रहना 'संतोष' है।

तप—शारीरिक और मानसिक कष्टके प्राप्त होनेपर उसको सहन करना एवं मन-इन्द्रियोंको वशमें करके राग-द्वेषसे रहित हो अपने धर्मके पालन और व्रत-उपवास आदिके द्वारा शरीर, मन, इन्द्रियोंको तपाकर शुद्ध करना 'तप' है।

स्वाध्याय—शास्त्रोंका और महापुरुषोंके वचनोंका अर्थ और भावको समझकर अध्ययन करना स्वाध्याय है, जिनके अध्ययन-मननसे अपने इष्टदेव ईश्वरका साक्षात्कार हो।

ईश्वर-प्रणिधान--सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके उनको ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना; उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर, सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना, सब कुछ ईश्वरका समझकर उनकी आज्ञाका पालन करना, जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना, अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर स्मरण करना एवं अपने सर्वस्वको और अपने-आपको उनके समर्पण कर देना 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

योगके इन दो अङ्गों—यम-नियमोंके साधनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। यदि योगके इन अङ्गोंके एक अंशका भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ निष्काम-भावसे भलीभाँति पालन कर लिया जाय तो उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है——

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (योग० २। ४२)

'संतोषसे जैसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है, जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है, वैसा सर्वोत्तम सुख परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही हो सकता है।

इसी प्रकार केवल स्वाध्यायसे भी इष्टदेव परमेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है——

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः (योग० २। ४४)

'स्वाध्यायसे इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।'

इसी प्रकार अभ्यास और वैराग्यके द्वारा जो चित्त-वृत्तियोंका निरोधरूप योग* बतलाया गया है और

---

* शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० २। ३२)

* योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योग० १। २)

जिसका फल अपने आत्मस्वरूपमें स्थिति (उसका साक्षात्कार) होना* बतलाया गया है, उस चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिकी प्राप्ति केवल 'ईश्वर-प्रणिधान' से ही हो जाती है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा । (योग० १ । २३)

'इसके सिवा ईश्वरप्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि हो जाती है ।'

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । (योग० २ । ४५)

'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि हो जाती है ।'

यही नहीं, उपर्युक्त ईश्वरके नाम-जप और उसके अर्थकी भावनासे ही सब विघ्नोंका नाश होकर आत्मस्वरूपका ज्ञान होना बतलाया गया है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् । ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । (योग० १ । २८-२९)

उस ॐका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना—इस साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है ।

उपर्युक्त सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति, इष्टदेवताका साक्षात्कार, आत्माके स्वरूपमें स्थिति, चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिकी सिद्धि और आत्माके स्वरूपका ज्ञान—ये सभी कल्याणस्वरूप हैं ।

अतः यह सिद्ध हुआ कि योगके अङ्गभूत यम-नियमोंके एक अंशका भी अनुष्ठान भलीभाँति किया जाय तो उसीसे आत्माका कल्याण हो सकता है, क्योंकि एककी पूर्णतामें सबका समावेश अनायास अपने-आप हो जाता है, इसलिये हमलोगोंको उपर्युक्त यम-नियमोंके स्वरूपको समझकर उनका निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ भलीभाँति पालन करना चाहिये ।

110337

भगवान्के सान्निध्यसे मेरी गति अविराम और निरापद है

'मैं प्रत्येक क्षण भगवान्के साथ विचरण करता हूँ ।' 'वे सदा-सर्वदा-सर्वत्र मेरे साथ रहते हैं ।' यह अनुभूति मेरे जीवनको आनन्द एवं स्फूर्तिसे भर रही है। मैं चाहे कहीं भी हूँ और चाहे मेरे चारों ओर कुछ भी बीत रहा हो, मैं अनुभव करता हूँ कि मैं पद-पदपर भगवान्के साथ ही चल रहा हूँ ।

भगवान्के साथ चलनेसे मैं पूर्ण सुरक्षित हूँ । भगवान्की संनिधिसे मेरे पैर हरिणके पैरोंकी भाँति हो गये हैं और जैसे हरिण बिना लड़खड़ाये ऊबड़-खाबड़ पहाड़ोंपर चढ़ जाते हैं, उसी प्रकार मैं भी निश्चिन्त और सुदृढ़ कदमोंको रखता हुआ आगे बढ़ा तथा ऊपर उठा चला जा रहा हूँ ।

भगवान्के साथ रहनेसे मुझे नये-नये विवेककी प्राप्ति हो रही है और मेरा पथ आगे-से-आगे आलोकित होता जा रहा है । इसके अतिरिक्त भगवान् मेरे चरणोंको विशेष सबल एवं स्फूर्तिमान् बना रहे हैं, जिससे मैं उनके बताये हुए मार्गपर चलता हुआ दौड़नेपर भी कभी थकता नहीं और निरन्तर चलते रहनेपर भी कभी मूर्च्छित नहीं होता ।

भगवान्के साथ चलनेसे मैं अद्‌भुत साहस और विश्वासके साथ कदम रखता हूँ । मुझे कोई भी वस्तु भयभीत नहीं कर पाती । छायासे भरी घाटीमें भी चलते समय मेरे कदम सुनिश्चित और सुदृढ़ रहते हैं । भगवान्की शक्तिसे मेरी गति अविराम एवं निरापद है ।

---

* तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । (योग० १ । ३)

वेदान्त और सांख्यका बहुपुरुषत्ववाद

(लेखक—स्वामी श्रीनिर्गुणानन्दजी)

सांख्यमें पुरुष और प्रकृतिरूप दो चरम तत्त्व स्वीकृत हैं । पुरुष संख्यामें बहुत हैं । पर प्रत्येक पुरुष है अखण्ड, चिद्रूप, अकर्त्ता, भोक्ता, विभु, अविकारी तथा नित्य; और जगत्‌की मूल-उपादान प्रकृति है—त्रिगुणात्मिका, जड, विभाज्य, एक विकारशील और नित्य । पुरुषके संयोगसे प्रकृति विकारको प्राप्त होती है और उसी विकारसे व्यष्टि तथा समष्टिगत जगत्‌का सृजन होता है । बहुत पुरुषोंके समर्थनमें सांख्यकारिकामें कहा गया है—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषं बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

अर्थात् पुरुषका बहुत्व इसीसे प्रमाणित होता है कि जन्म, मृत्यु, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ प्रत्येक पुरुषमें नियमित रूपसे विद्यमान हैं; कर्मोंमें सबकी प्रवृत्ति एककालीन नहीं और सभी पुरुषोंमें सत्त्व, रजस् तथा तमोगुणका आनुपातिक भेद रहता है ।

सांख्य-प्रवचन-सूत्रमें भी इस सम्बन्धमें लिखा है—

पुरुषबहुत्वं सिद्धं व्यवस्थातः ।
(६ । ४५)

अर्थात् जगत्‌में सुख तथा दुःखके नियमित प्रबन्धसे पुरुषका बहुत्व सिद्ध होता है । यदि पुरुषको एक ही माना जाय तो एक पुरुषके जन्मसे सभी पुरुषोंका जन्म, एककी मृत्युसे सभीकी मृत्यु, एकके अंधे होनेपर सभी अंधे होने चाहिये; पर ऐसा नहीं होता । एक ही पुरुष सिद्ध होनेसे किसी कर्ममें जब एककी प्रवृत्ति होती है, तब अन्य सभीकी भी उस कर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये और देव, मानव तथा तिर्यक् प्राणी विभिन्न जातियोंमें विद्यमान न रहकर एक ही जातिमें परिणत हो जाने चाहिये, परंतु वास्तवमें जगत्‌में ऐसा नहीं देखा जाता है । अतः जगत्‌की विभिन्न जातियोंमें जो पार्थक्य और वैचित्र्य वर्तमान है, उससे अनुमान होता है कि पुरुष असलमें बहुत हैं, एक नहीं ।

मुक्तिका उपाय बताते हुए सांख्यमें कहा है कि 'प्रतिपुरुष चिद्रूपत्व, विभुत्व, साक्षित्वादि रूपसे प्रत्येक मनुष्यमें स्वरूपतः विद्यमान है । मनुष्य जब अविवेक-जनित सारी अनात्मबुद्धिको छोड़कर केवल अपने 'प्रत्यक्' बोधमें सम्यक् स्थित हो जाता है, तब उसको प्रकृतिके संयोगसे छुटकारा मिल जाता है और वह मुक्त हो जाता है तथा उसके आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखत्रयका पूर्णतया विघात या नाश हो जाता है । प्रत्यक्स्वरूप प्रत्येक पुरुष अनन्त तथा सर्वव्यापी होनेपर भी ज्ञानकी दृष्टिसे यदि विवेचन किया जाय तो उन बहुत पुरुषोंमें अनन्तत्व रहना असम्भव नहीं है । प्रतिपुरुष देश और कालके अतीत है । देश और कालसे सीमित दो वस्तुएँ अनन्त या अपरिच्छिन्न नहीं हो सकती हैं; किंतु देशकालातीत अनन्त और विभु अनेक पुरुष क्यों नहीं रह सकते ? जैसे नाना प्रकारके प्रकाश देनेवाली बहुत बत्तियोंके विभिन्न प्रकाश परस्पर अविरोध होकर एक ही जगहमें रह सकते हैं, वैसे ही देश-कालातीत पुरुषके 'चिद्रूपत्व' या 'ज्ञत्व' रूपमें बहुत होनेसे भी कोई हानि नहीं पहुँचती । बल्कि बहुतकी सृष्टि बहुतसे ही हो सकती है; क्योंकि कर्त्ता, कार्य तथा करणके बिना एकसे बहुकी उत्पत्ति नहीं होती है । इसीलिये वेदान्तपक्षमें भी ब्रह्म अविद्या इत्यादि बहु वस्तुओंको स्वीकार करना पड़ता है । श्रुतिमें जहाँ ब्रह्मको 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है, सांख्यके मतानुसार उसका अर्थ होता है—पुरुष या आत्मा

जातिमें एक ही है और आत्मामें द्वैतका लेश नहीं है। आत्मा (पुरुष) बहुत होकर भी प्रत्येक आत्मा जातिसे स्वरूपतः एक होनेके कारण उसको 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है।

बहुत पुरुषका अस्तित्व प्रमाण करनेके लिये सांख्यमें प्रधानतः ये सब युक्तियाँ उपस्थापित की गयी हैं। अब वेदान्तकी दृष्टिसे इसपर विचार किया जायगा।

जन्म, मृत्यु, बद्ध, मुक्त इत्यादि अवस्थाएँ जीवके प्रसङ्गमें कही जा सकती हैं और सांख्यका पुरुष ऐसा जीववाच्य होनेसे कुछ सामञ्जस्य मिलता है। अज्ञान तथा अविद्याके कारण जगत्के जीव प्राणी इत्यादि विभिन्न सृष्टिमें वैचित्र्य और नानात्व दृष्टिगोचर होता है और मिथ्या नाम-रूपके द्वारा एक ही ब्रह्म बहुरूपमें कल्पित होता है।

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति ।
(तैत्ति० २ । ७)

अर्थात् उस एक परमात्माने कामना की 'मैं बहुत हो जाऊँ'—इस श्रुतिपर व्याख्यान करते हुए भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यने कहा है—

नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहुभवनम् । नान्यथा निरवयवस्य ब्रह्मणो बहुत्वापत्तिरुपपद्यतेऽल्पत्वं वा। यथाकाशस्याल्पत्वं बहुत्वं च वस्त्वन्तरकृतमेव। अतस्तद् द्वारेणैवात्मा बहु भवति।

अर्थात् 'नाम-रूपका व्यक्त करना ही ब्रह्मका बहुत होना है। अन्यथा निरवयव ब्रह्मका बहुत या अल्प होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार आकाशका अल्पत्व और बहुत्व भी अन्य वस्तुके अधीन है (उसी प्रकार ब्रह्मका भी है)। अतएव उन नाम-रूपोंके द्वारा ही ब्रह्म बहुत हो जाता है।' इस तरह सिद्ध किया जा सकता है कि अविद्याध्यारोपित मिथ्या नाम-रूपमें रहकर विभिन्न जीवोंमें और जातियोंमें वैचित्र्य तथा पार्थक्य हो सकते हैं। बद्ध और मुक्तके अतीत नित्य, चिद्रूप पुरुष या ब्रह्मका जब जागतिक कार्य-कारणके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, तब ऐसा ब्रह्म या पुरुष जन्म, जरा, मृत्यु इत्यादि दोषोंसे कैसे लिप्त हो सकता है? फिर यदि ये सब दोष पुरुषमें जागतिक दृष्टिसे स्वीकार कर लिये जायँ तो वह पुरुष या ब्रह्म कार्यकरणवान् बहुत जीवरूपमें विभक्त हो जाता है। मिथ्या नाम-रूपोंके द्वारा ही एक ब्रह्म इस प्रकार बहु जीवोंमें प्रतिभात होता है; किंतु वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है। गीतामें कहा है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥
(१३ । ३२)

अर्थात् 'जैसे आकाश सर्वगत होकर भी अत्यन्त सूक्ष्मताके कारण किसी वस्तुके साथ स्पृष्ट नहीं होता है, वैसे ही आत्मा (ब्रह्म) भी सभी देहोंमें रहकर किसीके साथ लिप्त नहीं होता है।' अतः अविद्याके सिवा जीवके साथ ब्रह्मका यथार्थतः कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यथार्थ विवेक-विचारसे जब जीवका अज्ञान नष्ट हो जाता है और उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार एकताका ज्ञान हो जाता है, तब उसमें जागतिक नानात्वका ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि विशेषज्ञानके लुप्त होनेपर वह जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। श्रुतिमें कहा है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥
(कठ० २ । १ । ११)

अर्थात् 'ब्रह्मका एकत्व केवल मनके द्वारा (शुद्ध और संस्कृत मनसे) ही प्राप्त होना है। इस ब्रह्ममें तनिक भी भेद या नानात्व नहीं है। जो व्यक्ति इस (चैतन्य-स्वरूप) ब्रह्ममें नानात्व देखता है, वह मृत्युके बाद मृत्युको प्राप्त होता है, अर्थात् वह बार-बार जन्म-मृत्यु-

रूप संसारचक्रमें घूमा करता है ।' यहाँ श्रुति नानात्वकी निन्दाके द्वारा ब्रह्मके एकत्वकी प्रशंसा करती है ।

युक्तिके द्वारा विचार करनेपर भी पता लगता है कि देशकालातीत अनन्त विभु वस्तुएँ बहुत नहीं हो सकती हैं और इसके समर्थनमें किसी दृष्टान्तका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। विभिन्न प्रकारके प्रकाश देनेंवाली बहुत बत्तियोंका जो दृष्टान्त दिया जाता है उससे बहु पुरुष नहीं सिद्ध होते; क्योंकि सांख्यमें पुरुषोंकी विभिन्न प्रकारता नहीं मानी है । सभी पुरुषोंको एकजातीय और सर्वतस्तुल्य बताया है और बहुत बत्तियोंका विभिन्न प्रकाश एक ही भेदशून्य प्रकारका होनेपर भी वह प्रकाश एकत्वका ज्ञान देता है; क्योंकि बहुत्व-ज्ञानके लिये वहाँ कुछ भेद नहीं है । बहुत्वज्ञानके साथ ही विशेष ज्ञानकी अवश्य उत्पत्ति हो जाती है और जब कुछ विशेषज्ञान नहीं होता है, तब ऐसे बहुत चिद्रूप, विभु पुरुषका भेदक कौन बन सकता है ? 'प्रत्यक्त्व' कभी भेदक नहीं बन सकता; क्योंकि चिद्रूपत्व, विभुत्व इत्यादि रूपसे यह प्रत्यक्त्व सभी पुरुषोंमें अभिन्न भावसे रहता है । बल्कि दो सर्वतस्तुल्य अभेद वस्तुओंमें कुछ भेदत्व स्वीकार किया जाय तो वह भेदवान् वस्तु दूसरेसे पृथक् हो जाती हैं और पृथक् होनेसे सीमित या परिच्छिन्न हो जाती है, फिर उसे विभु नहीं कहा जा सकता । ऐसे ही, बुद्धिसे कल्पना नहीं की जा सकती कि दो अनन्त वस्तुएँ अपरिच्छिन्न तथा अविरोधी होकर रह सकती हैं। वे परस्पर सीमित होकर ससीम बन जाती हैं ।

ब्रह्मसूत्र (२ । ३ । ५०) पर व्याख्यान करते हुए भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यने कहा है—

'······बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च, तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः ।······ तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां सन्निधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसम्बन्धः प्राप्नोति ।'

अर्थात् 'सांख्यमतमें आत्मा (पुरुष) बहुत है । और प्रत्येक आत्मा विभु, चैतन्यस्वरूप, निर्गुण तथा निरतिशय है । इन सब आत्माओंके भोग और मोक्षके निमित्त प्रधान (प्रकृति) कार्यमें प्रवृत्त होता है ।···· ··· सांख्यमतमें सभी आत्मा (पुरुष) चैतन्यस्वरूप हैं और इन सब आत्माओंमें (प्रकृतिके साथ) संनिधि या निकटता आदिका (और औदासीन्यका) कुछ अन्तर नहीं है । इसीलिये एक आत्माके सुख तथा दुःखके द्वारा सभी आत्माओंमें सुख तथा दुःखका सम्बन्ध आ जाता है ।'

एक ब्रह्म स्वीकार करनेपर सांख्यमें जो आपत्ति देखी गयी—बहुत पुरुष माननेसे भी ऐसी आपत्ति आ जाती है; क्योंकि एक प्रकृति समान व्यवधानमें या निकटतामें सम औदासीन्यत्व और अकर्तृत्वरूप बहु पुरुषोंके साथ रहनेके कारण एक पुरुषके दुःखसे अन्य सभी पुरुषोंका दुःख भी पैदा हो जाता है । परंतु व्यवहारमें ऐसा ज्ञान नहीं होता । अतएव इस युक्तिसे बहुत पुरुष नहीं प्रमाणित होते ।

देशकालातीत विभु पुरुष बहुत कल्पित होनेसे भी वह बहुत एकका ही नामान्तर है और ऐसा एक पुरुष ही प्रकृतिके संयोगसे विकारकार्यमें समर्थ होता है । फिर जो कहा जाता है कि बहुकी उत्पत्ति बहुसे होती है—सो ऐसा कोई नियम नहीं है । व्यावहारिक दृष्टिसे प्रमाणित होता है कि एक वस्तु अज्ञानरूप भ्रान्तिके द्वारा अनेक बुद्धिकी जननी होती है । जैसे, अँधेरेमें कोई स्थाणु (पेड़का धड़) देखकर चोर उसको पुलिस मानता है, लड़का उसे भूत समझकर काँपता है और बन्धु खोया हुआ व्यक्ति उसे बन्धु समझता है। इस प्रकार एक ही स्थाणुसे बहुत-सी विपरीत भावनाओंका उदय होता है । इसी प्रकार एक ब्रह्ममें भी अज्ञान-

के कारण बहुत्वका आरोप होता है। ब्रह्मके अतिरिक्त अज्ञान या अविद्यारूप परमार्थतः कोई वस्तु नहीं है—जिससे कहा जा सकता हो कि बहुत सद्वस्तुओंसे बहुत वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है। श्रुतिमें कहा है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(कठ० २। २। १२)

अर्थात् 'सर्वनियन्ता, सर्वभूतोंका अन्तरात्मास्वरूप ब्रह्म एक होकर भी अपने एक ही रूपको (मायाके द्वारा) देव, मनुष्य और तिर्यगादि भेदसे बहु रूपमें प्रकट करता है। उसी आत्मस्थ पुरुषको जो धीरलोग दर्शन करते हैं, उनको नित्य सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं। और **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**—अर्थात् 'परमात्मा एक ही है, उसीको विज्ञलोग बहुरूपमें कहते हैं।' फिर एकत्वज्ञानसे मोक्षका उपदेश देते हुए श्रुतिमें कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेता० ३। ८)

अर्थात् 'मैंने इस परिपूर्ण, सर्वाधिक, स्वयंप्रकाश और अविद्याके अतीत पुरुषको (ब्रह्मको) जाना है; केवल उसीको जानकर या साक्षात् करके मृत्युके अतीत हुआ जा सकता है, वहाँ (संसारके पार) पहुँचनेके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।'

इस प्रकार उपर्युक्त सैकड़ों-हजारों श्रुति-स्मृति-वाक्यों और युक्तियोंसे ब्रह्मका एकत्व प्रमाणित होता है।

युक्तिके अनुरोधसे सांख्य-कारिकामें (११ श्लोक) भाष्यकार श्रीगौडपादने कहा है—

'सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानं तथा च पुमानक्रियः सर्वगतत्वादेव। अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तम्, तथा पुमानप्येकः।'

अर्थात् 'जिस प्रकार व्यक्त वस्तु क्रियाशील है, उसी प्रकार (अव्यक्त) प्रधान क्रियाहीन है तथा पुरुष भी अक्रिय है; क्योंकि वह सर्वगत या सर्वव्यापी है। व्यक्त वस्तु अनेक है और उसके विपरीत अव्यक्त (प्रकृति) एक है, अतः पुमान् (पुरुष) भी एक है।'

इस प्रकार प्रकृतिके साथ सादृश्य बताते हुए भाष्यकार आचार्य श्रीगौडपादने अन्तमें पुरुषका एकत्व प्रतिपादन किया है। सांख्यवादियोंने श्रुति **'एकमेवाद्वितीयम्'** का जिस प्रकार व्याख्यान किया, उससे पुरुषका बहुत्व नहीं प्रमाणित होता; क्योंकि पहले ही बताया गया है कि एकजातीय सर्वव्यापी और सर्वतस्तुल्य दो विभु वस्तुएँ नहीं रह सकती हैं और इसके समर्थनमें कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता है। परंतु सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद-शून्य वस्तु एक ही हो सकती है और इसलिये **'एकमेवाद्वितीयम्'** से एक ब्रह्मका निर्देश किया गया है। यहाँ एक संख्याका अर्थ है अद्वैत अर्थात् ब्रह्मके बिना द्वितीय किसी वस्तुका न होना।

अतः स्वरूपतः एक-दो इत्यादि सब व्यवहारके अतीत और व्यवहारमें 'नेति-नेति' रूपसे निर्देशित अद्वितीय ब्रह्म ही सांख्यके विभुत्व, नित्यत्वादि गुणवान् एक पुरुष या 'ज्ञ' का पर्यायवाची हो सकता है और अज्ञानरूप अविद्याके द्वारा यह ब्रह्म ही सांख्यके सुखत्व, दुःखत्व, जन्मत्वादिसे लिप्त बहुत पुरुष या जीवोंमें व्यवहारतः विभक्त होता है, किंतु परमार्थतः जीव ब्रह्म ही है। युक्ति और श्रुतिके अनुसार इस प्रकार सिद्धान्त माननेसे कोई विरोध नहीं रह जाता, अन्यथा सांख्यके अपने सिद्धान्तसे दार्शनिक विचारकी तृप्ति नहीं होती है और इससे श्रुति भी बाधित हो जाती है।

धर्म और मोक्ष

(लेखक—प्रो० श्रीभगवानदासजी झा 'विमल' एम्० ए०, बी० एस्-सी०)

आजतक धर्मके विषयमें इतना कहा जा चुका है कि अब अधिक कहनेकी आवश्यकता ही नहीं रही, किंतु फिर भी धर्म ऐसा विषय है जो शंकाओंके रूपमें मानव-मस्तिष्कको विचलित किये ही रखता है। आजके युगकी वैज्ञानिकताने मानसिक जागृतिको प्रोत्साहन दिया; अतः धर्मकी वैज्ञानिक व्याख्याकी अपेक्षा हो गयी। सच पूछा जाय तो धर्मका वैज्ञानिकतासे कोई संघर्ष नहीं हैं।

धर्म क्या है ?

वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। स्वभावानुकूल कार्य करना धर्म और स्वभावके विपरीत कार्य करना अधर्म होता है। मनुष्यका स्वभाव मानवता है, अतएव मानवता ही धर्म है। मानवताका अर्थ होता है अपने वास्तविक स्वरूपमें रत रहना। दूसरे शब्दोंमें मानवताका तात्पर्य होगा आत्मनिष्ठा। मानवकी आत्मनिष्ठा ही उसका धर्म है; क्योंकि मानवका वास्तविक रूप उसकी आत्मामें ही निहित है—शरीरमें नहीं; किंतु साधारणतया मानव स्वभावानुकूल कार्य करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। यदि मानव आत्माके एकत्वमें ही रमता रहे तो उसे मानवताके धर्मका पालन करनेमें सुविधा हो; किंतु मानवमें सदैव एकत्वके स्थानपर थोड़ी-बहुत मात्रामें द्वित्व रहता ही है। वह इच्छा और कर्ममें अन्तर देखता है। उसका मन कुछ चाहता है और मन तनके नियन्त्रणमें हो जाता है। तन मनके वशमें आनेमें रुकावट उपस्थित करता है। सच्चे अर्थमें न मन एकदम तनके अधीन हो जाता है और न तन ही पूरी तरह मनके वशमें रहता है। इन विविध प्रकारके द्वित्वोंका नाम ही क्लेश है। यही क्लेश दुःख और पापको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि आत्मनिष्ठा बनाये रखनेमें तन और मनकी द्वित्व स्थिति भयंकर बाधा उपस्थित करती है।

यदि हम इस द्वित्वकी अपेक्षामें मानवको देखें तो कहा जा सकता है मन (आत्मा) उसका 'स्व' है; तन 'पर' है। तन साधारणतया विकारकी ओर झुकता है और मन स्वच्छताकी ओर। यदि तनकी प्रकृतिने विकार स्वीकृत कर लिया तो मनमें भी मलिनता आ जाती है। इस मलिनताके आते ही मनकी शक्ति क्षीण होने लगती है। जब-जब तन मनके ऊपर अपना प्रभुत्व जमाता है, तब-तब मनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यदि यह प्रभुत्व जमता ही चला गया तो कुछ समय पश्चात् मन एकदम क्षीण और पुंसकत्वहीन हो जायगा। वह तनकी दासतामें हो जायगा। तनकी दासता ही पराधीनता है। तनको मनके वशमें रखना स्वनिष्ठा और स्वाधीनता है। दर्शनकी शब्दावलीमें स्वनिष्ठाकी स्थितिमें मन आत्माके वशमें हो जाता है। आत्माकी महत्तम शक्ति सब विघ्न-बाधाओंको अपने वशमें कर लेती है। फिर क्या है—द्रष्टाको आत्मा-ही-आत्मा दिखायी देता है। उसे न तन दिखायीं देता है और न मन। सब प्रकारका पार्थक्य समाप्त हो जाता है और एकत्वकी स्थिति निर्मित हो जाती है।

संक्षेपमें, सब कालमें और सब प्रकारकी स्थितिमें आत्मानुकूल व्यवहार करना धर्म है। उससे विपरीत व्यवहार करना धर्मविमुख होना है।

संयम धर्म है, असंयम अधर्म है। असंयमका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानवके आत्मापर उसके तनका अधिकार स्थापित हो गया है।

इस दृष्टिसे धर्म आत्मगत है। वह कोई बाहरकी वस्तु नहीं। उसे कहीं बाहर खोजनेकी आवश्यकता नहीं। धर्म तो आत्माके भीतर रहनेवाली ज्योति है, जो सदैव जलकर आत्माको प्रदीप्त किये रहती है। धर्म एक प्रकारकी अन्तर्ध्वनि है, जो सदैव गतिशील रहती है और मानवको चेतावनी दिया करती है। वह प्रतिक्षण और प्रतिपल मानवको अपने धर्मका ज्ञान कराया करती है और धर्मके विपरीत आचरण करते देखकर उसे डाँट-डपटकर मार्गपर लानेका प्रयत्न करती है। परंतु दुःख तो इस बातका है कि मानव अनसुनी कर देता है और कभी-कभी सुनकर भी उसे दबानेका प्रयत्न कर बैठता है। संक्षेपमें, वह अपने प्रयत्नोंसे स्वभावके विपरीत आचरण करनेकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके साथ-ही-साथ द्वित्व आ घेरते हैं और कर्ता अपने स्वभाव—अपने धर्मको भूल जाता है। बस, पापाचार आरम्भ हो जाता है।

उस ज्योतिमें ध्यान लगाये रखना, उसी अन्तर्ध्वनिके आदेशको सुनना और तदनुकूल आचरण करना, उसके अतिरिक्त अन्य किसी बातकी चिन्ता न करना, सदैव उसीके हो रहना और अपने पूर्ण अस्तित्वको उसीमें अर्पित कर देना, उसीमें जन्मना और उसीमें जीवित रहना—यही मानव-धर्मका सार है। इसीमें मानवका स्वभावानुकूल आचरण विहित है। इसी प्रकारके आचरणमें मानवकी मानवता प्रकट होती है।

इस स्थितिका चरम रूप ही धर्मकी इष्टावस्था है। इस स्थितिमें द्वित्वका विनाश हो जाता है। केवल आत्माकी ही एक सत्ता शेष रह जाती है। विकार असत् हो रहते हैं, जैसे प्रकाशके आगे अन्धकार लुप्त हो जाता है। वैशेषिक शास्त्रके कर्ता कणाद मुनिने धर्मकी व्याख्या इस प्रकार की है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् धर्म वह है, जिससे ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याणकी प्राप्ति हो। यदि हम इस व्याख्याका अपने ऊपरी मतसे समझौता करें तो स्थिति यह होगी कि मानवताके धर्मके आविर्भावसे सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस सम्भव होगा।

आत्मानुकूल व्यवहार करनेसे ही अभ्युदयकी आशा की जा सकती है, अन्यथा नहीं।

अधर्म क्या है?

जो धर्मपर आघात पहुँचाये, वह अधर्म है। अधर्म सत्-रूप नहीं है। इसलिये वह असत्य है। जब मानवकी भावनाएँ स्वभावके प्रतिकूल कार्य करने लगती हैं, तब अधर्मका जन्म होता है। अतएव मानवके साथ अधर्म भी चिपका हुआ है। अधर्म व्यष्टिकी चीज है, समष्टिकी नहीं; क्योंकि वह व्यष्टिके असत्से प्रादुर्भूत होता है। मानवके कृत्यमें धर्माधर्मका भेद व्यक्तिकी भावनाओंके कारण होता है। अधर्म मानवका स्वभाव अथवा सद्-भाव नहीं है। वह विकार है, अतएव पर-भाव है।

धर्म जीवके साथ पुद्गलकी जडताको कम करनेवाला होता है। इसलिये अधर्म उस बन्धनको बढ़ानेवाला होगा। बन्धन मुक्तिकी प्रतिकूल अवस्था है। इसलिये अधर्म मुक्तिमें बाधा उपस्थित करनेवाला है। धर्ममें जड और चेतनके मध्य विवेकका अंश रहता है, पर अधर्ममें यह विवेक नष्ट हो जाता है। अधर्मके वशमें होनेपर व्यक्तिमें जड और जडताके प्रति ममत्व और आग्रह दिखायी देने लगता है। वह जडमें 'स्व' को देखता है। फलतः वह आत्मज्योतिको मन्द कर देता है।

धर्मका लक्ष्य कैवल्य-स्थिति है। वह नित्य और साम्यकी दशा है। वहाँ सत्, चित् और आनन्द पाये जाते हैं। वहाँ विकल्प, संशय और द्वन्द्वका अभाव पाया जाता है।

अधर्म चलता है विकल्पग्रस्त बुद्धिके बलपर। अधर्ममें व्यक्तिकी मति ममता, मोह और मायाके बन्धनमें पड़ जाती है। इस बन्धनसे मुक्ति पानेका उपाय है—श्रद्धा। बुद्धि विकल्प उत्पन्न करती है, पर श्रद्धा उसके मध्य संकल्प ला देती है। श्रद्धासंयुक्त बुद्धिका नाम ही विवेक है और इसी विवेकके बलपर धर्म चलता है।

जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ अधर्म निश्चित है। अधर्मकी रक्षामें व्यक्ति भाँति-भाँतिकी इच्छाओंका दास हो जाता है। उसकी बुद्धि इच्छाओंके जंगलमें इस प्रकार भरमा जाती है कि उसका विवेक नष्ट हो जाता है। ऐसी बुद्धिका लक्षण है लोकैषणा। यही लोकैषणा अधर्मका लक्षण है।

धर्मका पालन करना और अधर्मसे मुक्त रहना तभी सम्भव है, जब हम अपनेमें विवेक बनाये रखें। बुद्धिको मायाग्रस्त न बना लें। मायाग्रस्त बुद्धि मोक्षकी घातक है।

मोक्ष

मोक्ष प्राप्त करनेके लिये संस्कारोंका उत्पन्न होना आवश्यक है। संस्कार हमें आत्माके अनुकूल आचरण करनेकी प्रेरणा देते हैं। पूर्ण संस्कारी पुरुष ही 'मुक्त पुरुष' कहलाता है।

संस्कारशील पुरुषके लिये संस्कार बन्धन नहीं होते। संस्कारोंके साथ ही संयमकी भी आवश्यकता है। बाह्यरूपसे सुन्दर एवं प्रिय लगनेवाली, पर अनिष्ट करनेवाली वस्तुका परित्याग करना संयम है। संयम मानवको समाजोचित व्यवहार करनेकी ओर प्रवृत्त करता है। उसकी मर्यादा निषेधात्मक है।

परंतु संयमका मार्ग सरल नहीं है। यदि हम कल्याण करनेवाली वस्तुमें सौन्दर्य और अकल्याणकारी वस्तुमें असौन्दर्यकी भावनाओंका आरोप कर सकें तो हम सुन्दरके प्रति आसक्ति और असुन्दरके प्रति विरक्ति दिखा सकते हैं। यही अभ्यास धीरे-धीरे संयमका रूप ग्रहण कर लेगा।

परंतु इस संयमका कार्य क्या है? संयमका कार्य मनुष्यको मुक्ति प्रदान करना है। मुक्ति क्या है? जीवनका ध्येय मुक्ति है; यद्यपि जीवनका अन्त मृत्यु होता है। जब व्यक्ति व्यक्तिसे अतीत बन जायगा, तब वह स्थिति उस व्यक्तिके लिये मुक्ति बन जायगी। मुक्ति व्यक्तिके व्यक्तित्वका विनाश है। मुक्ति वह मृत्यु है जिसमें क्षुद्र व्यक्तित्वकी मृत्यु हो जाती है और वह क्षुद्र व्यक्तित्व मरकर विराट् व्यक्तित्वमें मिल जाता है।

मानव-जीवनका कल्याण आध्यात्मिकताके मार्गमें है; क्योंकि उसीके द्वारा आत्मा और आत्मामें मिलन सम्भव है। आत्मा सारे विश्वमें एक है। आध्यात्मिक प्रवृत्ति आत्माके इसी एकत्वकी ओर बढ़नेका प्रबल साधन है। इसी एकत्वके बलपर ही समष्टिके प्राणोंके साथ व्यष्टिके प्राण मिल जायँगे। फिर व्यष्टिका समष्टिसे पृथक् कोई अस्तित्व न रहेगा। यह स्थिति ही मानवकी मुक्त स्थिति है।

इस प्रकार मुक्तिका अर्थ जीवनके कार्य-कलापोंसे छुटकारा नहीं है। मुक्तिका अर्थ व्यष्टि और समष्टिका एकत्व है—व्यष्टिका नाश और समष्टिका संगठित रूप।

मानव अविद्याके कारण व्यष्टिके महत्त्वको तो स्वीकार करता है; पर समष्टिके महत्त्वको नहीं। व्यष्टिके महत्त्वका अर्थ है स्वार्थको प्रधानता देना। स्वार्थके बलपर जीवनका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

पर मुक्तिकी यह स्थिति प्राप्त करना साधारण कार्य नहीं है; क्योंकि विश्वका प्रत्येक प्राणी माया, मोह, अविद्या, स्वार्थ, श्रद्धाहीनता आदिके बन्धनमें है। और सच बात तो यह है कि पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जानेपर तनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। तनके भीतर आत्माके प्रकाशकी वह किरण दिखायी देने लगेगी, जिसके

प्रखर आलोकमें तन अदृष्ट हो जायगा, केवल आत्मा दीखेगा । ऐसा पुरुष ही मुक्त पुरुष माना जायगा ।

संक्षेपमें, धर्म और मुक्ति दोनों एक हैं । धर्मका अन्तिम परिणाम मुक्ति है और मुक्तिका स्वरूप अधर्मका विनाश है ।

इस प्रकार धर्म, अधर्म और मुक्तिकी व्याख्यामें ही सारा जीवन-दर्शन पाया जाता है । कदाचित् श्रद्धाहीन बुद्धि अर्थात् विवेकहीन पुरुष इसे माननेके लिये तैयार न हों; पर धर्मकी वैज्ञानिकता इसी तर्कमें है ।

परमात्माका—सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन

(लेखक—सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचन्दजी—प्रताप सेठजी)

हमारी सारी क्रियाएँ परमात्मस्वरूप ही होती हैं । इसका यह अर्थ होता है कि परमात्मा सहज क्रियास्वरूप ही है । बुद्धिविरहित सहज क्रियाका न तो कोई रूप रहता है और न कोई अर्थ ही । अर्थात् ऐसी क्रिया परमात्मस्वरूप या सत्यस्वरूप होती है । हमारी जो-जो क्रियाएँ होती हैं, वे सभी परमात्मस्वरूप होती हैं । इन बुद्धिविरहित सहज क्रियाओंका न तो आरम्भ रहता है और न अन्त । इसीलिये उनका कोई रूप भी नहीं होता । केवल क्रियाओंका ही नहीं, किसी भी वस्तुका या समूचे जगत्का भी बिना बुद्धिका योग हुए किसी भी प्रकारका रूप और अर्थ नहीं होता ।

समस्त जगत् परमात्मस्वरूप अर्थात् सत्यस्वरूप ही है । इस विषयमें निम्नप्रमाण हैं—

(१) 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'

(२) यच्च किंचिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

इस परमात्मस्वरूप जगत्को बुद्धि अपना विषय बनाकर उसे शब्द-स्पर्शादि गुण लगाती है । इस गुण लगानेकी क्रियामें ही जगत् (जो वस्तुतः परमात्मस्वरूप है) को जडत्व प्राप्त होता है । वर्तमानमें अर्थात् जिस समय क्रिया होती है, उस समय न तो क्रियाका स्वरूप होता है और न क्रियाका अर्थ ही । क्रियाको रूप, अर्थ, जडत्व आदि तो उसी समय प्राप्त होते हैं, जब बुद्धि उसे भूत, भविष्य आदि शर्तें लगाकर अपना विषय बनाती है और शब्द-स्पर्शादि गुणोंका उसपर आरोप करती है । वर्तमानमें न तो शब्द-स्पर्शादि गुण हैं और न क्रियाके रूप और अर्थ ही । वर्तमानमें प्रत्येक व्यवहार परमात्मस्वरूप ही रहता है । अर्थात् हमारी समस्त क्रियाएँ, समस्त व्यवहार, समस्त जगत् जब बुद्धिके विषय नहीं होते, तब परमात्मस्वरूप या सत्यस्वरूप ही होते हैं ।

बुद्धिविरहित केवल इन्द्रियोंको तो परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ दीखता ही नहीं । ऐसी स्थितिमें अर्थात् जब क्रिया हमारी बुद्धिका विषय नहीं होती, तब वह हुई या नहीं हुई—इस प्रकारके विकल्प उसके बारेमें कैसे सम्भव हो सकते हैं ? वह तो क्रिया करते हुए भी अकर्तृत्वकी स्थिति है । यही परमात्मस्थिति है ।

क्रियामें या वस्तुमें सापेक्षभाव नहीं रहता । सापेक्षभाव तो ज्ञानमें ही रहता है । इसलिये सापेक्षभावके बिना क्रियाको कोई रूप और अर्थ नहीं प्राप्त होते । सापेक्षभावविरहित विशुद्ध क्रिया परमात्मस्वरूप या सत्यस्वरूप होती है; उसमें विषयरूपता नहीं रहती । जिस प्रकार परमात्मा चैतन्यस्वरूप है, उसी प्रकार विशुद्ध क्रिया भी चैतन्यस्वरूप ही है । उसके लिये 'क्रिया' शब्दका प्रयोग तो हम बुद्धिकी मर्यादा लगाकर करते हैं । क्रिया होते समय तो

वह चैतन्यस्वरूप ही होती है । उस समय वह कदापि बुद्धिका विषय नहीं होती । बुद्धिविषयता तो क्रिया-कालके पश्चात् बुद्धिद्वारा चैतन्यपर गुणोंका आरोप किये जानेपर उत्पन्न होती है ।

बुद्धिके माध्यम बिना जो भी कुछ प्रतीत होता है, वह नैसर्गिक, स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश परमात्मस्वरूप ही होता है; और बुद्धिके माध्यम द्वारा जो प्रतीत होता है, वह मनुष्यकृत या कृत्रिम होता है । निसर्गमें कहीं विरोध नहीं है । निसर्ग तो अखण्ड एकरस, परमार्थ-सत्यरूप या परमात्मरूप है । ऐसा जिस बुद्धिको प्रतीत होता है, उसीको तत्त्वबुद्धि कहते हैं । इसी प्रकारकी तत्त्व-बुद्धिद्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । निसर्गमें विरोध या भेदका नाम नहीं है । विरोधको ही भेद कहना उचित है, जिसका अस्तित्व अर्थात् सत्ता अखण्ड एकरस है, उसमें विरोध या भेदको अवकाश कहाँ ?

जिस समय बुद्धि विषय-दृष्टिका अवलम्बन करके परमात्मस्वरूपमें क्रियाएँ और अनेक वस्तुएँ देखने लगती है, उसी समय इसी विषयदृष्टिके कारण विशुद्ध ब्रह्मरूप 'मैं' या आत्मामें द्रष्टृत्वभाव या अहंकार भी उत्पन्न होता है । अन्यथा क्रिया, वस्तुएँ और 'मैं' परमात्मस्वरूप ही हैं ।

यदि हम बुद्धिका उपयोग न करें तो जन्म-मृत्युको भी किसी प्रकारका रूप या अर्थ नहीं प्राप्त होता । इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि क्रिया तथा जन्म-मृत्युको बुद्धिका उपयोग न करनेकी अवस्थामें रूप और अर्थ चाहे न आते हों, किंतु क्रिया तो होती ही है और जन्म-मृत्यु भी होते ही रहते हैं । यह हमारे दैनन्दिन जीवनका अनुभव है, जिसका अपलाप करना सम्भव नहीं । उक्त आपत्तिका समाधान हम एक प्रतिप्रश्नके द्वारा करते हैं । आपका उक्त दैनन्दिन जीवनका अनुभव बुद्धिनिरपेक्ष है या बुद्धिको लेकर है ? यदि द्वितीय पक्ष ठीक है तो इससे हमारे उक्त कथनका समर्थन ही होता है कि वस्तु या परमात्माको रूप और अर्थ-बुद्धिद्वारा ही प्राप्त होते हैं । यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय तो आपके अनुभवमें रूप और अर्थको अवकाश न होकर आप विशुद्ध परमात्मस्वरूपका ही अनुभव करते हैं ।

सारांश यह कि बुद्धिसे देखनेपर हमें जगत् दीखता है, किंतु 'केवल इन्द्रियों'से देखनेपर हमें निसर्ग, परमार्थ सत्य या विशुद्ध परमात्मस्वरूप ही दीखता है । इस विषयमें कबीरदासजीकी निम्न पङ्क्तियाँ अस्थानीय न होंगी—

साधो सहज समाधि भली ॥ साधो० ॥
गुरु प्रताप जा दिनसे जागी,
दिन दिन अधिक चली ॥ १ ॥
आँख न मूँदौं, कान न रूँधौ,
तनिक कष्ट नहि धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि,
सुंदर रूप निहारौं ॥ २ ॥

धेनु

हाय ! हाय ! सद्धर्म पड़ा था, द्वापरमें निष्प्राण ,
उसे देखकर व्यथित हुए थे, परमेश्वरके प्राण !
उस महान्ने धेनु चराई, हुआ पुनर्निर्माण ,
ईश्वर नहीं, धेनुपर निर्भर, हैं धरतीके प्राण !!

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

श्रीसहजानन्द स्वामी

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

अयोध्यामें अजप्रसाद और सुमति नामके सरवरिया ब्राह्मण-दम्पतिके घर संवत् १७९५ की जन्माष्टमीके दिन एक पुत्रका जन्म हुआ। उस पुत्रका नाम रामशर्मा रखा गया। रामशर्मा बचपनसे ही भक्तिनिष्ठ थे, बारह वर्षकी अवस्थातक तो उन्होंने घरपर ही साधनाभ्यास किया और फिर विशेष अभ्यास करनेकी रुचि होते ही वे घरसे निकल पड़े। और निकले तो सदाके लिये निकले। फिर तो घर-द्वार कहीं बाँधा नहीं। तीर्थाटन उनका धंधा हो गया।

घूमते-फिरते वे दक्षिणमें श्रीरामानुजाचार्यकी जन्मभूमिमें पहुँचे। तोताद्रिमें जाकर उन्होंने रामानुज-सम्प्रदायकी भक्तिसाधना शुरू की। श्रीरामानुजाचार्यने कृपा करके स्वप्नमें उनको दर्शन दिया तथा वैष्णवी दीक्षा प्रदान की और श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त करनेका साधन बतलाया। इस प्रकार आराधना करनेसे उनको कृष्णदर्शनकी प्राप्ति हुई। श्रीरामानुजाचार्यने आदेश दिया कि जिस सत्यकी प्राप्ति तुम्हें हुई है, उसे दूसरोंको भी प्रदान करो। तदनुसार स्वामी रामानन्दने उपदेश देना प्रारम्भ किया। दक्षिणसे उत्तरमें चलकर मथुरा-वृन्दावनकी यात्रा की, वहाँ उन्होंने अपने इष्टदेवकी आराधना की। श्रीकृष्णने उनको दर्शन दिया। स्वयं प्रकट होकर मिलनेका वचन दिया।

लखनऊसे गोरखपुरकी ओर ट्रेनसे जाते समय 'छपिया स्वामीनारायण' नामका एक छोटा स्टेशन मिलता है। वह अयोध्यासे सात-आठ कोस दूर है। उस गाँवमें हरिप्रसाद पाण्डेय नामके एक सरवरिया ब्राह्मण रहते थे, उनकी पत्नीका नाम प्रेमवती था। दोनों पति-पत्नी श्रीकृष्णकी अनन्य भक्ति करते थे और सदाचारपूर्वक रहते थे, सम्प्रदायमें उनको धर्म और भक्तिका साक्षात् अवतार माना गया है। स्वामीनारायणके जन्मके पहले उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी दुर्बल थी। इसलिये अपने ज्येष्ठ पुत्र रामप्रतापको उसके मामाको सौंपकर वे दोनों जने तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। गोकुल-वृन्दावन जाकर उन्होंने श्रीकृष्णकी आराधना की।

तीर्थोंमें घूमकर धर्मदेव फिर छपियामें आकर बसे। वहाँ संवत् १८३७ की रामनवमीके दिन रातको दस बजे उद्धव-सम्प्रदायियोंके इष्टदेवका जन्म हुआ। वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर बालघनश्यामकी श्वेत संगमर्मरकी मूर्ति स्थापित की गयी है। सहजानन्द स्वामीका पारिवारिक नाम घनश्याम था, इसलिये हम यहाँ इस समय घनश्याम नामसे ही लिखेंगे। घनश्यामका बाल्यकाल निर्विघ्न नहीं बीता। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार उत्तम गिनने योग्य सारे चिह्न घनश्याममें दृष्टिगोचर हुए थे। उनके दोनों चरणोंमें सीधी ऊर्ध्वरेखा थी।

मन्दिर बन जानेके बाद धर्म-भक्ति छपिया ग्राम छोड़कर अयोध्यामें रहनेके लिये चले गये। अयोध्यामें उनकी आर्थिक स्थिति बहुत सुधरी। समयपर घनश्यामका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और वह अपने पिताके पास संस्कृतका अभ्यास करने लगे। बालकपनसे ही घनश्यामकी तपस्याकी ओर रुचि थी। व्रत-नियम करना, देव-दर्शनके लिये जाना, कथा सुनना—इत्यादिमें अत्यन्त श्रद्धा थी। घनश्यामको तप और वैराग्य ही प्रिय है, इसकी छाप उनके माता-पिताके मनपर खूब पड़ी होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। घनश्यामसे छोटा एक इच्छाराम नामका भाई हुआ। धर्मदेवने अपने जीवनमें ही रामप्रतापका ब्याह और इच्छारामका तिलक कर रखा था; परंतु अन्त-समयमें उन दोनोंसे पहले

अनुरोध किया कि घनश्यामकी सँभाल रखना । यह घर नहीं बसायेगा और भूखा होनेपर भी खानेको नहीं माँगेगा ।

घनश्याम जब ग्यारह वर्षके थे, तभी छः महीनेके अंदर भक्ति और धर्म दोनोंका अक्षरवास हो गया । धर्मदेवके अवसानके पश्चात् करीब तीन महीने बीतनेपर एक बार घनश्यामके विषयमें किसी लड़केने बड़े भाईसे शिकायत की । बड़े भाईने घनश्यामको बहुत फटकारा । उस समय घनश्यामने केवल इतना ही उत्तर दिया कि अब मेरे विरुद्ध आपको कोई शिकायत करने नहीं आयेगा । रामप्रतापने उस समय शायद ही इस वाक्यका अर्थ समझा होगा । परंतु दूसरे ही दिन सबेरे देखा तो घनश्याम अदृश्य ! सरयू-किनारे तथा रोज जानेवाले मन्दिरोंमें, साधुओंके अखाड़ोंमें तथा उनके मित्रोंमें बहुत कुछ खोज की गयी, परंतु घनश्यामका पता न लगा । संवत् १८४९की आषाढ़ सुदी दशमी घनश्याम महाराजके निष्क्रमणका दिन है ।

तपःप्रिय घनश्याम तो घरसे छुट्टी पानेका निमित्त ढूँढ़ ही रहे थे । इसके बाद सात वर्षोंतक घनश्याम नीलकण्ठके नामसे पुकारे जाते रहे । इसलिये यहाँ हम उनको इसी नामसे पुकारेंगे । नीलकण्ठ सरयू नदी पार करके उत्तर-दिशाकी ओर चले और कई दिनोंके बाद हिमालयमें मुक्तिनाथ क्षेत्रमें पहुँचे । वहाँ उन्होंने सूर्यकी तपस्या (आराधना) की । उसके बाद वहाँसे दक्षिण देशकी ओर चले । वहाँ एक वनमें एक वटवृक्षके तले उन्होंने एक गोपाल नामके योगीको बैठे हुए देखा । योगी गोपाल अष्टाङ्गयोगमें सिद्ध थे । नीलकण्ठ उनके ही पास एक वर्षतक रहे और हठयोगकी सारी क्रियाओंका अभ्यास किया । गोपाल भी मानो अपनी विद्या नीलकण्ठको सिखलानेके लिये ही जीवित थे । नीलकण्ठका अभ्यास पूरा हुआ और गोपाल योगीकी आयु भी पूरी हो गयी । नीलकण्ठने उनकी अन्त्येष्टि आदि क्रिया की और उसके बाद फिर आदिवराह तीर्थकी ओर प्रयाण किया । वहाँसे नीलकण्ठने बङ्गालका रास्ता लिया और वहाँसे जगन्नाथपुरीको गये । रास्तेमें नवलखा पर्वत, बालकुण्ड, कपिलाश्रम आदि तीर्थोंमें होते हुए गये । वहाँ कुछ महीने रहकर दक्षिण भारतकी यात्रा की । शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, श्रीरङ्गपुर तथा सेतुबन्ध रामेश्वर आदि अनेक तीर्थोंमें घूमते रहे ।

रामेश्वरकी यात्रा करनेके बाद नीलकण्ठ फिर पश्चिमी तटसे होते हुए उत्तर दिशाकी ओर बढ़े । रास्तेमें पाँच-पाँच दिनतक उपवास करना पड़ा । सुन्दरराज, भूतपुरी, पद्मनाभ, साक्षीगोपाल आदि दक्षिणके सब तीर्थोंको करते हुए नीलकण्ठ पण्ढरपुर पहुँचे और वहाँ दो महीने रहे । वहाँसे नासिक जाकर गुजरातका मार्ग लिया और अन्तमें काठियावाड़ (सौराष्ट्रदेश) में गये । संवत् १८५६ के श्रावण मासकी कृष्णपक्षकी षष्ठीको नीलकण्ठ मांगरोल बन्दरसे दो-तीन कोस दूर लोज नामके गाँवमें जा पहुँचे और गाँवके बाहर एक बावलीमें स्नान करके पूजा करनेके लिये बैठे । यह तिथि सत्सङ्गियोंका मङ्गल दिवस है; क्योंकि यहाँसे ही स्वामीनारायणके जीवनका तीसरा काल शुरू होता है । इसके बाद तीस वर्ष स्वामीनारायण गुजरात और काठियावाड़ (सौराष्ट्र देश) में ही घूमते रहे और उद्धव-सम्प्रदायका संचालन करते रहे ।

लोज स्वामी रामानन्दका मुख्य स्थान था । यहाँ ही स्वामी मुक्तानन्द अपने अनेकों शिष्योंके साथ रहे । जिस समय नीलकण्ठ ब्रह्मचारी बावलीके ऊपर बैठे थे, उस समय मुक्तानन्द स्वामीके साथ रहनेवाले एक साधु सुखानन्दजी उसी बावलीके ऊपर स्नान करने आये । उन्होंने नीलकण्ठको देखा और पूछा कि 'कहाँसे आये, कहाँ जाना है, माता-पिता कौन हैं' इत्यादि । नीलकण्ठने उत्तर दिया—'ब्रह्मपुरीसे आये हैं, ब्रह्मपुरी जाना है और जो वहाँ ले जाय वही सच्चा माता-पिता है ।' इस उत्तरको सुनकर सुखानन्दको आनन्द प्राप्त

हुआ । उन्होंने बतलाया कि यदि मोक्षकी इच्छा हो तो स्वामी रामानन्दको गुरु बनाओ । उनके एक शिष्य मुक्तानन्द यहीं रहते हैं, उनके पास चलो । तुम्हारे दर्शनसे उनको परम आनन्द होगा ।

अल्पकालमें ही मुक्तानन्द स्वामी और नीलकण्ठ दोनोंमें अतिशय स्नेह बढ़ा । स्वामी रामानन्दसे मिलनेके लिये नीलकण्ठ अधीर हो उठे । वे सद्गुरु उस समय कच्छमें थे, इसलिये नीलकण्ठ वहाँ जानेके लिये तैयार हो गये; परंतु स्वामी मुक्तानन्दने स्वामी रामानन्दकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये एक पत्र लिखा और उसका जवाब आनेतक नीलकण्ठको अपने पास ही रहनेके लिये कहा । मुक्तानन्द स्वामी तथा नीलकण्ठ दोनोंने ही स्वामी रामानन्दको पत्र लिखा था ।

नीलकण्ठका पत्र बाँचते ही उनमें ईश्वर-प्राप्तिके लिये व्याकुलता, उनकी की हुई साधना और उनका उत्साह देखकर स्वामी रामानन्दजीने सभाके बीच कहा कि मैं जिसकी बाट जोह रहा था, वह आ पहुँचा । स्वामी रामानन्दने नीलकण्ठको अपने आनेतक लोजमें ही स्वामी मुक्तानन्दकी आज्ञामें रहने तथा अन्य साधुओंको हठयोग सिखानेके लिये लिखा और कहला भेजा कि मोक्षकी कामना हो तो ठूँठको बाँहोंमें भरकर भी रहना पड़ता है । साथ ही लोकहितके लिये शरीरकी सँभाल रखनेकी भी राय दी । कुछ दिनोंके बाद रामानन्द स्वामी गिरिनारके पास पीपलाणा गाँवमें आ गये और वहीं मुक्तानन्द स्वामी तथा नीलकण्ठको भी बुलवा भेजा । जैसा प्रभाव नीलकण्ठको देखकर मुक्तानन्द आदि साधुओंके ऊपर पड़ा था, वैसा ही प्रभाव उनको देखकर श्रीरामानन्द स्वामीके ऊपर भी पड़ा । नीलकण्ठको सत्सङ्ग पसंद आया और उन्होंने उद्धव-सम्प्रदायकी दीक्षा लेनेका निश्चय किया । इसके बाद स्वामी रामानन्दने संवत् १८५७ की प्रबोधिनी एकादशीके दिन इनको भागवत दीक्षा दी और स्वामी सहजानन्द नाम रक्खा ।

स्वामी रामानन्द अब वृद्ध हो गये थे । उनको अब अपने स्थापित किये हुए सम्प्रदायका उत्तरदायित्व किसी दूसरेके ऊपर सौंपनेकी आवश्यकता जान पड़ी । सहजानन्द स्वामी उनके सब शिष्योंमें छोटे थे, परंतु सबसे विशेष प्रतापी थे, इसमें तनिक भी संदेह न था । इसलिये सहजानन्द स्वामीको ही उन्होंने धर्मधुरा सौंपनेका निश्चय किया और दीक्षासे ठीक एक वर्ष बाद उन्होंने सहजानन्द स्वामीको जेतपुरमें अपनी गद्दीका आचार्य नियत किया ।

जो कोई भी स्वामीनारायणको देखते, आकर्षित हो जाते और इनके नाडी-प्राण खींचनेसे गिर पड़ते तथा समाधिमें अपने इष्टदेवका दर्शन करते । चारों ओर स्वामीनारायणके चमत्कारोंकी बात फैल गयी । हजारों मनुष्य स्वामीनारायणके दर्शनके लिये आने लगे । जिस किसीने उनको देखा, यह निश्चय कर लिया कि उनकी आँखोंमें कोई अद्भुत जादू है ।

स्वामीनारायणका हाथमें लिया हुआ कार्य अब पूरा हो गया । उन्होंने एक विशाल सम्प्रदायकी स्थापना की थी । उस सम्प्रदायके लिये विशाल साहित्यका निर्माण किया था । सर्वाङ्गपूर्ण संस्थाकी रचना की । उस संस्थाके लिये सुन्दर नियम बनाकर धर्म और व्यवहार दोनोंके अनुरूप उसकी व्यवस्था की । ऐसे नियम बनाये गये थे कि उन नियमोंको तोड़े बिना उस संस्थामें त्रुटि आना प्रायः अशक्य था । उनचास वर्षकी आयुमें ही उनका कार्य पूर्ण हो गया—यह कहा जा सकता है । संवत् १८८६ से इनका शरीर रोगी रहने लगा, तथापि इनकी क्रियाशीलतामें कोई कमी न आयी ।

सहजानन्द स्वामी राजकोटसे गढडा गये । वहाँ उनका शरीर अधिक बीमार रहने लगा । शरीरके अस्वस्थ होनेके बहुत पहलेसे ही उन्होंने तीव्र तप शुरू कर दिया था । व्रत-उपवास करना, कठिन नियमोंका पालन, चारों ओरसे चित्तको खींच लेना, मौन धारण

करना आदि रीतिसे वे संसारसे उदासीन रहने लगे थे। उनकी अस्वस्थताका समाचार प्राप्त कर गाँव-गाँवसे लोगोंकी टोली इनको देखनेके लिये आने लगी थी। गढडा गाँव सत्सङ्गियोंसे भर गया। सहजानन्द स्वामीने सबको धीरज देकर, कोई उनके लिये आत्महत्या न करे, ऐसी आज्ञा देकर सबको अपने-अपने धर्ममें रहनेका उपदेश दिया। हरिभक्तों तथा साधुओंको बिखर जानेके लिये कहा और बहुतेरे विदा भी हो गये। दूसरे दिन दोपहरको सहजानन्द स्वामी स्नान-पूजा करके पद्मासन बाँधकर बैठे और स्वेच्छासे शरीर-त्याग कर दिया। हरिभक्तोंके हृदयमें अन्धकार छा गया। उस दिन सन् १८३० ई० के जून मासकी २६ वीं तारीख थी।

स्वामीनारायण-सम्प्रदायका सार्वजनिक धर्मशास्त्र सहजानन्द स्वामीकी शिक्षापत्री है। इसके सिवा 'धर्मामृत' और 'निष्कामशुद्धि' त्यागी लोगोंके लिये दो विशेष पुस्तकें हैं। इस सम्प्रदायका अध्यात्मशास्त्र सहजानन्द स्वामीके वचनामृतोंका संग्रह है।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि स्वामीनारायणको श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत मत मान्य था। 'मतं विशिष्टाद्वैतं मे'—यह शिक्षापत्रीका वाक्य है। ब्रह्मसूत्र और गीताके ऊपर रामानुज-भाष्यको उन्होंने प्रामाणिक माना है तथा गुरु-परम्परामें श्रीरामानुजको आदिगुरुके रूपमें स्वीकार किया है। तथापि ये दोनों सम्प्रदाय सभी दृष्टियोंसे एक समान हैं, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः सहजानन्दीय तत्त्वज्ञानकी दृष्टि रामानुजीय दृष्टिकी अपेक्षा महत्त्वपूर्ण विषयोंमें विभिन्न दीख पड़ती है। श्रीस्वामीनारायण-सम्प्रदायकी मुख्य गद्दी बडताल (गुजरात) में है।*

मानसका मङ्गलाचरण

(काव्यका मानदण्ड)

(लेखक—डाक्टर श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०)

रामचरितमानसका प्रथम श्लोक है—

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

यहाँ वाणीका अर्थ है उक्तिकी अधिष्ठात्री शक्तिसे और विनायकका अर्थ है बुद्धिकी अधिष्ठात्री शक्तिसे। बुद्धि और उक्ति—विचार और उच्चारके विना साहित्य सम्भव ही नहीं होता। इन दोनोंमें यदि सामञ्जस्य न रहा तो साहित्यकी जगह अनर्गल प्रलाप होने लगेगा। अतएव आवश्यकता है कि इन दोनोंका समन्वित ध्यान किया जाय। आध्यात्मिक जगत्में भले ही विनायक शिव-परिवारके देव हों और वाणी ब्रह्मा-परिवारकी देवी हों, परंतु काव्य-जगत्में दोनों ही शक्तियोंका समन्वित ध्यान अभीष्ट है।

दिव्य विचार तदनुकूल दिव्य उच्चारसे संयुक्त हों तो काव्यके क्षेत्रमें उनकी शक्ति पाँच रूपोंमें प्रकट होती है। यही काव्यका पञ्चाङ्ग है। पहला अङ्ग है वर्ण, दूसरा है अर्थसङ्घ, तीसरा है रस, चौथा है छन्द अथवा सङ्गीतात्मकता और पाँचवाँ है 'मङ्गल' अथवा साहित्यका हितत्व।

आचार्योंने काव्यमें शब्द और अर्थको महत्ता दी है। 'कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा' गोस्वामीजीने वर्ण (अक्षर) और अर्थसङ्घका उल्लेख किया है। सार्थक ध्वनिसमूहका नाम है शब्द। ये शब्द वर्णोंहीसे तो बने रहते हैं। किसी शब्दका कोई वर्ण अपने स्वतन्त्र रूपमें निरर्थक भी रह सकता है; परंतु काव्यकी दृष्टिसे उसका भी अलग नाद-सौन्दर्य हो सकता है। एक शब्दका एक वर्ण उसी प्रसंगके समीपवर्ती शब्दसे जुड़कर नयी ही अर्थ-सृष्टिके चमत्कार दिखा सकता है। एकाक्षरीकोषमें तो एक-एक वर्णको एक-एक शब्द प्रमाणित किया गया है। एक-एक वर्ण एक-एक बीज-मन्त्र है ही। फिर शब्दके स्थानपर वर्णहीको काव्यका

---

* स्व० कि० दा० मशरूवाला लिखित और नवजीवन-प्रकाशनकी ओरसे प्रकाशित जीवनचरित्रके आधारपर यह संक्षिप्त विवरण लिखा गया है।

एक अङ्ग क्यों न माना जाय ? वर्ण-विन्यास-चातुरीका एक नमूना देखिये । पंक्ति है—

सब कर मत खगनायक एहा । करिअ रामपदपंकज नेहा ॥

एक सज्जनने इस पंक्तिके साढ़े सत्रह लाख अर्थ किये हैं, जिनमेंसे अनेक प्रधान अर्थ केवल इन शब्दोंकी वर्ण-विन्यास-चातुरीसे प्रकट हुए हैं । 'सब कर मत खग नायक एहा' केवल वर्णोंके पृथक्करणसे इस प्रकार पढ़ा जा सकता है—(क) सबक रमत खगनायक एहा, (ख) सब-क रमत खगनायक एहा, (ग) सबक रमत खगनायकएहा, (घ) सब करम त खगनायक एहा, (च) सब कर मत ख गनायक एहा, (छ) सब कर मत खग नायक एहा, (ज) सब कर मत खग ना यक एहा । इनमेंसे प्रत्येक पाठ अपना निराला अर्थ देता है । यहाँ खूबी शब्दोंकी नहीं किंतु शब्दोंमें प्रयुक्त वर्णोंकी है, जो संश्लिष्ट-विश्लिष्ट होकर निराले चमत्कार दे रहे हैं ।

गोस्वामीजीने काव्यमें अर्थका नहीं, किंतु अर्थसङ्घका महत्त्व बताया है । शास्त्रका उद्देश्य है ज्ञानवर्धन, अतः उसके द्वारा निश्चित एक ही अर्थ द्योतित होना चाहिये । काव्यका उद्देश्य है भाववर्धन-आनन्दवर्धन—अतः उसके द्वारा ऐसे अनेक अर्थोंकी उपलब्धि होनी चाहिये जिनसे अनेकविध आनन्दवर्धन हो सके । आचार्योंने शब्दकी तीन शक्तियाँ तो मानी ही हैं, जिनसे अभिधामूलक अर्थ, लक्षणामूलक अर्थ और व्यञ्जनामूलक अर्थ प्रकट होते हैं । अभिधासे लक्षणा श्रेष्ठ और लक्षणासे व्यञ्जना श्रेष्ठ है । प्रसंगके अनुकूल इन शक्तियोंके सहारे जो अर्थ विशेष चमत्कारी और साथ ही बोधगम्य जान पड़े, उसीके अनुसार काव्यकी कीमत आँकी जाती है । काव्यके शब्दोंकी खूबी इसीमें है कि उनसे बुध और अबुध—विद्वज्जन और सर्वसाधारण—खास और आम—क्लासेज और मासेज—सभीको अपने-अपने ढंगके—अपनी-अपनी रुचि और सूझ-बूझके—अर्थ प्राप्त हो जायँ और उन्हें मज़ा आ जाय ।

बुध बिश्राम सकल जन रंजिनि । रामकथा कलि कलुष बिभंजिनि ॥

काव्य वही मज़ेदार है जो सकल जन (सर्वसाधारण) का रंजन करे ही, परंतु विद्वज्जनोंको भी इतनी उपादेय सामग्री दे कि उनकी भाव-पिपासा और ज्ञान-पिपासा सब वहीं तन्मय होकर रह जाय । काव्य अनेक अर्थोंकी आनन्दमयी सामग्री देता हुआ निश्चित ध्येयकी निर्भ्रान्त अर्थ-सामग्री भी देता चले तब तो कहना ही क्या है । गोस्वामीजीके मानसमें काव्य और शास्त्रका ऐसा ही अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है ।

निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करउँ कथा भवसरिता तरनी ॥

संदेह (यह साँप है कि रस्सी), भ्रम (यह साँप है, इससे हम दूर रहें) और मोह (तुम हजार कहो कि यह रस्सी है, परंतु हम तो तुम्हारी एक न सुनेंगे और इसे साँप ही कहे जायँगे)—ये अज्ञानके तीन दर्जे हैं । तीनोंको जो हर ले वह है सच्चा शास्त्र । भव-सरिताकी तरणी (नाव) है भक्ति । अतएव गोस्वामीजीने कथारूप कविताके लिये केवल—

बुध बिश्राम सकल जन रंजिनि । राम कथा कलि कलुष बिभंजिनि ॥

—ही नहीं कहा, किंतु—

निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करउँ कथा भवसरिता तरनी ॥

भी कहा ।

काव्यके पञ्चाङ्गका तीसरा तत्त्व है—रस । गोस्वामीजीने काव्यके नौ रसोंमें ही अपनेको नहीं बाँधा है । उन्होंने 'सरल रस' 'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए' 'ध्यान-रस' 'मगन ध्यान रस दंड जुग मन पुनि बाहेर कीन्ह' सरीखे नये-नये रसोंकी भी उद्भावना की है । जिस सरसे असली रस निकलता है, वह है रामचरितसर (जिसे संतोंकी आध्यात्मिक भाषामें 'असीम परम तत्त्वका रागात्मक सम्बन्ध कह सकते हैं) । उसमें काव्य-प्रतिभाका अवगाहन कराना आवश्यक है, तभी उत्तम रस प्रवाहित हो सकेगा ।

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई । सुमिरत सारद आवति धाई ॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ । सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ ॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥

काव्यके नवों रसोंको इसी सरतक पहुँचानेसे उनका उदात्तीकरण हो सकता है और फिर तो उनका आनन्द इतना व्यापक और इतना निर्विरोधी हो उठता है कि विरोधियोंको भी भाव-विभोर कर देता है ।

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान ॥

रसका अर्थ है आह्लादकत्व और वह आह्लादकत्व ही कैसा जो विरोधियोंको भी आकृष्ट न कर सके अथवा जो उदात्त न होकर मनमें कालुष्य उत्पन्न करे । रसको काव्यका आत्मा माननेवाले सज्जन ज़रा आत्माकी इस उदारतापर भी विचार करें ।

चौथा तत्त्व है छन्दस् । काव्यके अन्य भेदोंकी भाँति छन्दोंके भी अनेक भेद हैं ।

आखर अरथ अलंकृति नाना । छंद प्रबंध अनेक बिधाना ॥
भाव भेद रस भेद अपारा । कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा ॥

छन्दका सार है सङ्गीतात्मकता अथवा नाद-सौन्दर्य । भावानुकूल ही शब्दध्वनि और उस ध्वनिकी यति-गति भी हो तो भावोंकी प्रेषणीयता बहुत बढ़ जाती है और आनन्दका उद्रेक विशेषरूपसे हो उठता है । इस दृष्टिसे रीतितत्त्व भी एक प्रकारसे छन्दस्तत्त्वके अन्तर्गत हो जाता है । ठीक उसी प्रकार जैसे अलंकार-तत्त्व, उक्ति-वैचित्र्यका तत्त्व—मुख्यतया शब्द और शब्दयोजनापर आधारित होनेके कारण वर्णतत्त्वके अंदर समाविष्ट होता है । सङ्गीततत्त्व तो इस छन्दस्तत्त्वके अंदर समाविष्ट होता ही है । स्वार्य विषयके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये गोस्वामीजीने गेयताको बड़ी प्रधानता दी है । उन्होंने रामकथाको पढ़नेकी नहीं; किंतु गानेकी बात कही है ।

सब मनकामना सिद्धि नर पावा । जो यह कथा कपट तजि गावा ॥

उन्होंने विनय-पत्रिका और गीतावलीमें भावोंके अनुसार रागोंकी और मानसमें भावोंके अनुसार छन्दोंकी व्यवस्था की है । साहित्य गद्यात्मक भी होता है, कादम्बरी आदिके समान और पद्यात्मक भी, रघुवंश आदिके समान । गद्यात्मक काव्यमें छन्दकी आवश्यकता चाहे गौण हो, परंतु पद्यात्मक काव्यमें तो वह भी अन्य अङ्गोंके समान अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है । गोस्वामीजीका 'अपि' शब्द पद्यात्मक काव्यके लिये, गेय काव्यके लिये छन्दोंकी भी आवश्यकताकी व्यञ्जना कर रहा है ।

अब रहा पाँचवाँ तत्त्व 'मङ्गल' जिसके साथ 'च' का प्रयोग किया गया है । इस 'च' (और) की व्यञ्जना है कि वह गद्य और पद्य दोनों प्रकारके काव्यों तथा सभी प्रकारके काव्य या शास्त्रके साथ अभिन्नरूपसे जुड़ा ही रहना चाहिये । काव्य-रचनाका असली उद्देश्य तो यही होना चाहिये ।

कीरति भनिति भूति भलि सोई । कहत सुनत सब कर हित होई ॥

सज्जन लोग तो काव्यमें इस मङ्गल-तत्त्वकी ही खोज किया करते हैं । यही असली वस्त्र है जो काव्यरूपी नायिकाको शालीनता देता है । देखिये—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही । मधुकर सरिस संत गुनग्राही ॥

उन्होंने बुधोंके इसी मान-दण्डको प्रधानता देते हुए कहा है—

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं । सो श्रम बादि बाल कबि करहीं ॥

यों तो—

निज कबित्त केहि लाग न नीका । सरस होउ अथवा अति फीका ॥

परंतु जो बुधोंद्वारा निर्मित औचित्यकी कसौटीपर खरा उतर जाय, वही शोभा पाता है । काव्यका उद्देश्य—'स्वान्तःसुखाय' भले ही हो, परंतु जब वह प्रकाशित किया जाता है तब निश्चय ही उसका उद्देश्य 'सर्वान्तःसुख' होना चाहिये । इसीलिये गोस्वामीजीने कहा है—

तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ॥

इस प्रसंगमें गोस्वामीजीने निम्न पंक्तियाँ कितनी सुन्दर कही हैं—

हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू । होहिं कबित मुकुतामनि चारू ॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ॥

हृदय है अनुभूति तत्त्व, मति है चिन्तन तत्त्व और शारदा है कल्पना तत्त्व । कल्पनाके योगसे यदि उत्तम विचारोंकी वृष्टि होती है तो चिन्तन तत्त्व अनुभूतिके आश्रयसे चारु काव्यकी सृष्टि करता है । वह काव्य यदि अध्ययन और अभ्यासकी युक्तियोंसे रामचरित इतिहास-रससे समन्वित उदात्त प्रबन्धपर आधारित रहा तो सज्जनलोग उसका अवश्य आदर करेंगे; क्योंकि वह निश्चय ही मङ्गलमय होगा । उदात्त ऐतिहासिकताका सहारा लेकर जो काव्य सृष्ट होता है, वह श्रोताओंके मनमें माङ्गलिकताकी भावनाको सरलतापूर्वक दीप्त कर सकता है ।

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई । तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ॥

प्राचीन आचार्योंने काव्यके जिन छः उद्देश्योंका उल्लेख करते हुए कहा है—'**काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये, सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे**' उन छहों उद्देश्योंका 'मङ्गल' में अन्तर्भाव हो जाता है । मङ्गल ही उचित है, अतएव औचित्यको ही काव्यका प्रधान तत्त्व माननेवाले लोग भी प्रकारान्तरसे मङ्गलहीका समर्थन करते

हैं । पाश्चात्त्य आलोचकगण भी, जिन्होंने काव्यके कला-पक्ष और भाव-पक्षका संतुलित अध्ययन करनेकी क्षमता प्राप्त की है, मानने लगे हैं कि काव्यका उद्देश्य है जीवनका उन्नयन। यही तो परम मङ्गल तत्त्व है ।

साहित्य शास्त्रके सम्बन्धमें भारतमें जितने वाद उद्भूत हुए हैं, वे हैं (क) अलंकारवाद (वक्रोक्तिवाद भी जिसकी श्रेणीमें है), (ख) ध्वनिवाद, (ग) रसवाद, (घ) रीतिवाद (गुणवाद भी जिसकी श्रेणीमें कहा जा सकता है) और (ङ) औचित्यवाद । 'वर्णानाम्'से गोस्वामीजीने विविध-वैचित्र्यवाले अलंकारवादका, 'अर्थसङ्घानाम्'से ध्वनिवादका, 'रसानाम्'से रसवादका; 'छन्दसामपि'से रीतिवादका और 'मङ्गलानाम्'से औचित्यवादका संकेत किया है। अपने-अपने ढंगपर पाँचोंकी आवश्यकता है; परंतु सबका मूल आधार है वर्ण और अर्थ । कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा । इन दोनोंके क्रमशः प्रधान देव हैं वाणी और विनायक । अतः मङ्गलाचरणमें वे ही प्रथम वन्दनीय हुए हैं । उन्हींसे रस, छन्द और मङ्गलकी भी सृष्टि होती है।

अब मङ्गलाचरणके उपर्युक्त श्लोकका एक शब्द बचा 'कर्तारौ' । गोस्वामीजीने कर्तारौ (रचनेवाले) कहा है, 'दातारौ' (देनेवाले) नहीं कहा है । काव्य-रचनाके समय वस्तुतः वन्दना तो पाँचों तत्त्वोंकी माँगके लिये की जानी चाहिये थी । गोस्वामीजीने ऐसा क्यों नहीं किया । इसमें भी उनका कुछ विशिष्ट अभिप्राय जान पड़ता है । बात यह है कि कविकर्म बड़ा दुष्कर है; क्योंकि कविको अपनी अन्तरात्माकी दो-दो वृत्तियोंको समानरूपसे सँभालना पड़ता है । एक ओर तो वह तादात्म्यवृत्तिद्वारा वर्ण्यविषयमें उनको पूरी तरह रमा देता है और दूसरी ओर ताटस्थ्यवृत्तिद्वारा उस मनको बाहर खींचकर अपनी ही रमी हुई अनुभूतियोंका एक तटस्थ व्यक्तिके समान यथातथ्य वर्णन करने लगता है । साधकमें तादात्म्यवृत्ति ही प्रधान रहती है, कविमें तादात्म्यवृत्तिके साथ ही ताटस्थ्यवृत्तिकी भी प्रधानता चाहिये ।

मगन ध्यान रस दंड जुग मन पुनि बाहेर कीन्ह ।
रामचरित्र महेस बर हरषित बरनइ लीन्ह ॥

यहाँ, 'मगन ध्यान रस दंड जुग' में तादात्म्यवृत्तिका चमत्कार है और 'मन पुनि बाहेर कीन्ह' में ताटस्थ्यवृत्तिका । तभी तो रामकथाके उन आदिगुरुके श्रीमुखसे प्रसन्नताके साथ प्रासादिक कथाकाव्यका प्रवाह चल पड़ा । गोस्वामीजी कविकर्मको बहुत दुष्कर मानते थे । सच्चे साधककी भाँति वे **इसे भी ईश्वरी प्रेरणा मानते थे ।**

सारद दारु नारि सम स्वामी । राम सूत्रधर अंतरजामी ॥
जा पर कृपा करहिं जन जानी । कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥

कवि-प्रतिमारूपी कठपुतलीका संचालक तो वही स्वान्तःस्थ ईश्वर है,जिसके दर्शन (और प्रसाद) के लिये श्रद्धा और विश्वासकी आँखें चाहिये । (मङ्गलाचरणका दूसरा श्लोक इस दृष्टिसे पहिले श्लोकका यथार्थ पार्श्ववर्ती बन जाता है । विश्वासके बिना वर्ण्य विषयमें तन्मयता नहीं आ सकती और श्रद्धाके बिना उसकी उत्कृष्टता नहीं खिल सकती । राम-कथाके वास्तविक उत्कृष्ट रूपका तन्मयत्वपूर्ण प्रथम दर्शन करानेवाले श्रोता-वक्तारूप भवानी और शंकर ही तो हैं । काव्यका वर्ण्य विषय श्रद्धाके सहारे स्वान्तःस्थ ईश्वरकी तरह उत्कृष्ट हो और विश्वासके सहारे वह परम आत्मीयकी तरह मन रमा ले ।) इसी स्वान्तःस्थ ईश्वरका नाम है राम, जो बाहर नरावताररूपमें भी दर्शन दे चुका है और दर्शन देता रहता है। यही गोस्वामीजीका मन्तव्य है । तब काव्यका असली कर्ता हुआ वह कवि-प्रतिभाका सूत्रधार अथवा उसीकी प्रतिनिधि-रूपा वाणी और विनायक नामक शक्तियाँ । गोस्वामीजीने इसीलिये काव्य-पञ्चाङ्गके दाता नहीं; किंतु कर्ताके रूपमें वाणी और विनायक-संयुक्त स्मरण किया है । अपने लिये तो वे तीन-तीन बार जोर देकर कह गये हैं—

कबित बिबेक एक नहिं मोरें । सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें ॥
कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू । सकल कला सब बिद्या हीनू ॥
तथा—
कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ । मति अनुरूप राम गुन गावउँ ॥

हम पहले ही कह आये हैं कि कविका दर्जा साधककी कोटिका होकर भी उससे ऊँचा है; क्योंकि उसका तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनों वृत्तियोंपर मनचाहा अधिकार रहता है । उसकी साधना जितनी ऊँची उठती जाती है, वह उतना ही विनम्र होता जाता है । अपनी कृतिको वह अपनी न मानकर अपने प्रेरणादायक प्रभुकी—अपने सद्गुरुस्वरूप प्रभुहीके किसी प्रतिनिधिकी कृति मानता है । चीज बन जाती है और समाज उस व्यक्तिपर कृतित्वका सेहरा बाँधकर उसपर कविकी छाप लगा देता है ।

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कबि तुलसी ॥

शंकरके प्रसादसे सुमतिमें उल्लास आ गया और रामचरितमानस प्रवाहित हो पड़ा । जो पुकारकर कह चुका था कि वह कवि नहीं है, उस तुलसीपर भी कविकी छाप लग गयी । यह है गोस्वामीजीकी स्वीकारोक्ति । यह है उनकी काव्य-साधना । **यह है उनका काव्य-विषयक मानदण्ड ।**

उनका लिखा सरसरि-रूपक ध्यान देने योग्य है। कविको चाहिये कि पहिले तो वह अपने मानसको वर्ण्य-विषयके रसमें खूब निमज्जित कर ले। उसके लिये सत्संग, सच्चिन्तन सभीका अवलम्ब ले। फिर तो मानसके उस रससे ओतप्रोत हो जानेपर आप ही ऐसा आनन्द आने लगेगा कि वह रस छलककर कवितारूपमें प्रवाहित हो चलेगा। वह कृतित्व श्रमसाध्य नहीं होगा। यही जान पड़ेगा कि काव्यरचना कविद्वारा नहीं, किंतु किसी अलक्षित दिव्य प्रेरणाद्वारा हो रही है। गोस्वामीजीकी पंक्तियाँ देखिये—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

इस मङ्गलाचरणके प्रसंगमें संस्कृतके उत्कृष्टतम कवि और उनके उत्कृष्टतम काव्यकी ओर भी हमारा ध्यान कौतूहल-वश आकृष्ट हो रहा है। वह है कालिदासका रघुवंश। उसके भी मङ्गलाचरणमें अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुआ है—वही छन्द जिसमें आदिकविका आदिश्लोक निःसृत हुआ। वह भी 'व' (अमृत बीज) से प्रारम्भ हुआ है। उसमें भी काव्यकी प्रतिपत्तिका संकेत है। उसमें भी दो देवताओंकी संयुक्त वन्दना है। श्लोक है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

कालिदास अपनी उपमाओंके लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। जिस प्रसंगका वर्णन करना होता है उसीसे सम्बन्धित वस्तुको सुन्दर उपमानके रूपमें प्रस्तुत कर देना उनकी विशिष्ट कला है। मङ्गलाचरणमें ही उन्होंने अपनी इस कलाकी छटा दिखा दी। शब्द और अर्थकी प्रतिपत्ति वे चाह रहे हैं। इसके लिये उनका ध्यान शब्द और अर्थके समान ही सम्पृक्त रूपकी ओर गया और उन्होंने पार्वती-परमेश्वरकी वन्दना की। यह तो ठीक ही है, परंतु यह वन्दना उसी प्रकार हुई जैसे किसी क्षेत्रगत आवश्यकताकी पूर्तिके लिये मनुष्य क्षेत्रीय अधिकारीको आवेदनपत्र न देकर एकदम केन्द्रीय सम्राट्के पास आवेदन भेज दे। शब्द और अर्थके क्षेत्रीय अधिकारी तो वाणी और विनायक हैं। वैधानिक नियमके अनुसार तो उन्हींके पास पहले पहुँचना चाहिये था। फिर, काव्यके लिये केवल वाक् और अर्थ ही क्यों? रस, छन्द और मङ्गलकी भी तो आवश्यकता है। एक बात और भी है। वाक् और अर्थकी प्रतिपत्तिके लिये प्रार्थना करनेमें यह स्पष्ट नहीं होता कि वाक् और अर्थके प्रदाताके रूपमें इष्टदेवकी प्रार्थना की जा रही है या उनके प्रकर्ताके रूपमें। फिर भी कालिदास कालिदास ही हैं। तुलसीदास तुलसीदास ही हैं। कालिदास प्रधानतः कवि हैं, तुलसीदास प्रधानतः साधक हैं—रामभक्तिके साधक। अतएव उनका काव्य केवल काव्य ही नहीं है, किंतु रामायण महाभारत, श्रीमद्भागवत आदिकी कोटिमें पहुँचकर एक साधना-ग्रन्थ भी बन जाता है। हरिऔधजीने ठीक ही कहा है कि काव्य-कलाका प्रसाद पाकर तुलसीदासजी धन्य नहीं हुए, किंतु तुलसीदासजीकी कलाका प्रसाद पाकर काव्य और काव्यका मानदण्ड धन्य हो गया है।

'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

लरि लरि कै मरत हैं

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

प्रेम-बाँसुरीकी कहीं तान परती न कान,
प्रानके हरैया बम सिर पै परत हैं।
गोपसे गँवारनको कौन सनमानै आज,
आपसमें परम सुजान हू अरत हैं॥
जमुना पुलीनके उद्यान-सो जहानको,
बनावनो तहाँ पै ये मसान-सो करत हैं।
तेरे समुझाए समझेंगे जसुदाके लाल,
बसुधाके लाल लरि लरि कै मरत हैं॥

भवानीके श्रीचरणोंमें

(भवानी-स्तोत्र-भाष्य)

(लेखक—डॉ० श्रीरामानन्दजी तिवारी शास्त्री एम्०ए०, डी०फिल्०)

नमामि यामिनीनाथलेखालङ्कृतकुन्तलाम् । भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम् ॥

आध्यात्मिक साधनाकी परम्परामें स्तोत्रका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । वस्तुतः स्तोत्र जीवन और अध्यात्मलोकको मिलानेवाला वाङ्मय-सेतु है । इसी सेतुके मार्गसे मनका पथिक आत्मलोककी ओर प्रगति करता है । आध्यात्मिक अर्थसे परिपूर्ण स्तोत्रमें वाणीके चतुर्विध रूपोंका संगम होता है । बैखरी वाणीके द्वारसे प्रवेश करके मध्यमा और पश्यन्तीके मार्गसे साधककी आत्मा परालोकमें निष्ठ होती है । उत्तम स्तोत्र न केवल देवताका गुण-गान है और न अपनी याचनाओंका प्रस्ताव । उत्तम स्तोत्र देवताके प्रति श्रद्धा और निष्ठापूर्वक सविनय समर्पण है । इस श्रद्धामें देवताकी विभूतिका ज्ञान अन्तर्निहित रहता है । उस विभूतिकी करुणामयी और कल्याणकारिणी प्रतिभा निष्ठाका आधार बनती है । इस प्रकार उत्तम स्तोत्र एक समग्र अध्यात्मदर्शनका सूत्र बन जाता है ।

इस दृष्टिसे केवल एक अनुष्टुप्का उक्त भवानी-स्तोत्र अतुलनीय है । इस सरल और सारगर्भ-स्तोत्रकी समस्त पद-योजना विपुल आध्यात्मिक रहस्यसे परिपूर्ण है । अर्थके साथ-साथ पदोंका क्रम भी महत्त्वपूर्ण है । सबसे पहले उत्तम पुरुषकी विनयपूर्ण क्रिया 'नमामि' ही विचारणीय है । इसका पुरुष और श्लोक-विन्यासमें इसकी प्राथमिकता दोनों ही आध्यात्मिक अर्थसे परिपूर्ण है । आध्यात्मिक साधनामें मनुष्यका अहंकार सबसे बड़ी बाधा है । वस्तुतः अहंकारसे उत्पन्न होनेवाला जीवका परिच्छेद ही उसके बन्धनका कारण है । साधना-पथमें प्रवेश करनेके लिये इस अहंकारका विनयमें विलय होना आवश्यक है । उत्तम पुरुषका 'नमामि' नमः आदिकी भाँति साधारण वन्दन नहीं है । उसमें अहंकारके परित्यागका विशेष संकेत है । इस विनयमें अहंकारके त्यागके साथ-साथ अनुग्रहकी योग्यता भी प्रकट होती है ।

इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषके क्रियापदसे स्तोत्रका आरम्भ साधनाके मार्गमें साधककी सक्रिय तत्परता सूचित करता है । तात्त्विक दृष्टिसे यह सत्य है कि आध्यात्मिक साधना कोई क्रिया नहीं है । आत्माका लोक कर्मसे अतीत है । फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे साधना एक आन्तरिक अध्यवसाय है । उसका पर्यवसान एक अक्रिय-अनुभवमें होता है; किंतु उसका आरम्भ और उसकी प्रगति अनेक मानसिक क्रियाओंके रूपमें होती है । इन सब क्रियाओंका अवसान अनुभवमें होता है । इसके अतिरिक्त साधनाकी पूर्णता और सफलता देवताके अनुग्रहपर भी निर्भर है । किंतु आत्माकी अक्रियता एक तात्त्विक सत्य है और देवताका अनुग्रह देवताका ही अधिकार है । साधककी व्यावहारिक दृष्टिसे मानसिक उद्योग ही साधनाकी सही भूमिका है । इस उद्योगकी सक्रियता और सचेष्टतामें अहंकाररहित विनयका योगसाधनाके लिये आरम्भसे ही सफलताका वरदान है । स्तोत्रके प्रथम पदमें ही साधनाकी भूमिकाके इन समस्त आवश्यक तत्त्वोंका समाहार है । उत्तम पुरुषकी एक 'नमामि' क्रियामें अहंकारके त्याग, विनय, मानसिक सचेष्टता, आन्तरिक उद्योग आदिका समन्वय है ।

स्तोत्रका दूसरा पद 'यामिनी' अन्धकारके द्वारा अज्ञान अथवा अविद्याका सूचक है । अन्धकार हमारी दृष्टिको मन्द करता है और हमारी यथार्थ-दर्शनकी शक्तिको क्षीण बनाता है । दर्शनोंमें अज्ञान अथवा अविद्याकी प्रायः अन्धकारसे उपमा दी जाती है । यह अविद्या ज्ञानका तिरोभाव है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अन्धकार प्रकाशका तिरोभाव है । दर्शनोंमें अविद्याको अहंकारका कारण बताया है । योगदर्शनमें अविद्या ही क्लेशोंका मूल है । उसीसे अस्मिता (अहंकार) आदि उत्तरकोश उत्पन्न होते हैं । अहंकारका मूल बनकर यह अविद्या ही बन्धनका कारण है । इसीलिये ज्ञानके द्वारा अविद्याके नाशको दर्शनोंमें मोक्षका मार्ग माना है ।

अविद्यासे युक्त जीवन अन्धकारसे आवृत यामिनीके समान है । इस यामिनीका अन्धकार चन्द्रमाके आलोकसे दूर होता है । इसीलिये चन्द्रमाको 'यामिनी-नाथ' कहते हैं । यामिनीके अन्धकारका अनुशासन और आलोकन करनेके कारण चन्द्रमा उसका स्वामी है । आलोकमय होनेके साथ-साथ चन्द्रमा आह्लादमय भी है । कालिदासने अपने रघुवंशमें उसे 'प्रह्लादनं ज्योतिः' कहा है । अह्लाद आनन्दका

उद्रेक है। अध्यात्मका ज्ञानशुष्क बौद्धिक ज्ञान नहीं है। वह आनन्दमय ज्ञान है, इसीलिये वेदान्तमें ब्रह्मको तथा शैव और शाक्त तन्त्रोंमें शिव और शक्तिको प्रज्ञानमय माननेके साथ-साथ आनन्दमय भी माना है। अस्तु, 'यामिनी-नाथ' चन्द्रमा अज्ञानरूपी अन्धकार निवारण करनेवाले आनन्दमय ज्ञानका प्रतीक है।

लौकिक चन्द्रमाका पूर्णरूप उज्ज्वल होते हुए भी सकलंक है। पूर्ण आत्मज्ञान पूर्णतः भास्वर और निष्कलंक है। अतः लौकिक पूर्ण चन्द्र सकलंक होनेके कारण आत्मज्ञानका प्रतीक नहीं बन सकता। इसीलिये शैव और शक्ति दर्शनोंमें शिव और शक्तिके स्वरूपकी कल्पनामें प्रतिपदाकी निष्कलंक अमृताकलाको उनका मूर्धालङ्कार बनाया गया है। निष्कलंकताके साथ-साथ प्रतिपदाकी अमृताकलाका एक और रहस्य है। अमावास्याकी यामिनी पूर्णतः चन्द्रविहीन होनेके कारण पूर्ण अन्धकारमय होती है। पूर्ण तमोमय होनेके कारण वह तमिस्रा कहलाती है। अमावास्याके ठीक बाद उदित होनेके कारण प्रतिपदाकी चन्द्रलेखा घोर अज्ञानमें नवीन ज्ञानोदयकी प्रतीक है। आत्मिक ज्ञानके स्फुरणका मूल, निष्कलंक और अभिनव रूप है। अतः उसका सौन्दर्य और आनन्द अनिर्वचनीय है। प्रतिपदाकी चन्द्रलेखा निरन्तर वर्द्धनशील है। इसी प्रकार नवोदित आत्मज्ञान भी निरन्तर वृद्धिशील है। ब्रह्मका तो धात्वर्थ ही 'बृंहणशील' है। जिस पूर्णतामें इस ज्ञानकी परिणति होती है, वह निष्कलंक होनेके साथ-साथ अनिर्वचनीय भी है। अतः लौकिक पूर्णचन्द्र उसका उपमान नहीं बन सकता। वस्तुतः पूर्ण ज्ञानकी वह परा प्रभा चिन्मयी आत्मशक्तिका पूर्ण स्वरूप है। उसकी कल्पना दुष्कर है। उसका साक्षात्कार ही सम्भव है।

अतः शैव और शाक्त तन्त्रोंमें प्रतिपदाकी निष्कलंक अमृताकलाको शिव और शक्तिका मूर्धालङ्कार माना गया है। यह अलङ्कार आभरण न होनेके कारण देवताके स्वरूपका उपकरण नहीं वरं अङ्ग ही है। फिर भी ज्ञानके पूर्णचन्द्रकी एक कला होनेके कारण वह आत्म-देवताका सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है। अलङ्कार पदके प्रयोगमें इतना उपचार अवश्य है। भगवतीका प्रभा-भास्वर उज्ज्वल विग्रह साकार चिदालोकका ही प्रतीक है। उस आलोक-विग्रहके मूर्धालङ्कार कुन्तलोंमें मानो प्रकृतिका तमचितिके ज्योतिर्मय स्वरूपका चूड़ालङ्कार बन गया है। चितिकी पूर्णिमा मानो अज्ञानकी तमिस्राको शीशपर धारण करके उसका उद्धार कर रही है। किंतु वह तमिस्रा ज्ञानके चन्द्रमाकी अकलंक अमृताकलासे आलोकित और अलंकृत है। इस अमृताकलासे अलङ्कृत कुन्तलवाली आलोक-विग्रहा चिदानन्दमयी भगवती भवानीके श्रीचरणोंमें विनयपूर्ण प्रणामद्वारा अहंकारका त्याग और ज्ञानका साधन करनेसे अमृत-कल्याण-पदकी प्राप्ति होती है। 'नमामि'से सूचित विनय और अहंकार-त्याग तथा चन्द्रलेखासे सूचित अकलंक और उदीयमान ज्ञानका साधन ही आध्यात्मिक कल्याणका मार्ग है।

भगवतीके रूप-वर्णनोंमें कविपरम्पराके अनुसार नख-शिख वर्णन भी प्रायः मिलता है। यह नख-शिखवर्णन भगवतीके विग्रहकी कल्पनामें लौकिक परम्पराका ही अनुवाद है। प्रतीककी दृष्टिसे इसमें कोई हानि भी नहीं है; किंतु लौकिक वासनाओंके अनुषङ्गोंके कारण प्रायः ये स्थूल प्रतीक आध्यात्मिक साधनामें प्रमादके कारण बने हैं। नख और शिख शरीरके दो चरम-प्रान्त हैं। इन दो सीमाओंके अन्तर्गत शेष विग्रहका अन्तर्भाव है। अतः केवल नख और शिखके संकेतसे प्रतीककी पूर्णतामें कमी नहीं आती। साथ ही शेष विग्रहके वर्णनसे उत्पन्न होनेवाली प्रमादकी सम्भावनाओंसे भी रक्षा हो जाती है। उक्त स्तोत्रमें 'नमामि' से नखका और 'कुन्तलाम्' से शिखका निर्देश किया गया है। इन दो प्रान्तोंके संकेतमें ही भगवतीके विग्रह-वर्णनकी व्यञ्जना लौकिक प्रमादसे रक्षा करनेके साथ-साथ अध्यात्म-साधनाके सार-तत्त्वका भी निर्देश करती है। विनयपूर्वक हृदयसे अहंकारका त्याग इस साधनाका आरम्भ है। आध्यात्मिक अध्यवसाय इस साधनाकी सरणि है। 'नमामि' के प्रथम पदमें आध्यात्मिक साधनाका यह त्रिगुण सूत्र अन्तर्निहित है। अकलंक और उदीयमान आत्मज्ञानका उत्कर्ष इस साधनाका लक्ष्य है। 'यामिनी-नाथ-लेखालङ्कृत-कुन्तलाम्' में आत्मिक साधनाके इसी विकासशील लक्ष्यका संकेत है। इस साधनाका पर्यवसान पूर्णज्ञानके परमानन्दमें है, जो अनिर्वचनीय है तथा अनुभवमें ही प्राप्य है।

इस स्तोत्रकी वन्द्य देवता 'भवानी' है। 'भवानी' भगवान् शिव (भव) की शक्ति और सहधर्मिणी है। शिव पूर्णज्ञान और परम आनन्दस्वरूप तथा परम कल्याणमय हैं। भवानी पूर्णज्ञानस्वरूपा, आनन्दमयी और कल्याणी चित्-शक्ति है। शिवके स्वरूपकी कल्पनामें भी उनकी जटाओंमें अंकित चन्द्रलेखाका मूर्धन्य स्थान है। 'यामिनी-

नाथ-लेखालङ्कृत-कुन्तला’ भवानीका रूप चन्द्रलेखा धारण करनेवाले शिवके अनुरूप ही है। भगवतीके अन्य रूपोंकी तुलनामें इस रूपकी विशेषता है। आत्मज्ञानकी अमृतकलाके उदयकी साधनाका निर्देश इसमें जितना स्पष्ट मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। शिव-स्वरूप भवानी परमकल्याणी हैं। उनकी विनय और श्रद्धापूर्ण तथा सजग आराधना जीवनकी अज्ञानरूपी अन्धकारसे पूर्ण यामिनीमें अकलंक ज्ञानकी अमृतकलाका नवोदय करके पूर्ण आलोक और पूर्ण आनन्दके अध्यात्म-लोकके द्वारका उद्घाटन करती है। विनय और श्रद्धासे उनकी अखिल कल्याणकारिणी अनुकम्पा सहज प्राप्त होती है।

यामिनी-नाथकी लेखासे अलङ्कृत कुन्तलवाली अखिल कल्याणकारिणी भवानी भव अर्थात् संसार अथवा जन्म और जीवनके संतापका निर्वापण करनेवाली सुधा-नदी हैं। दर्शनोंमें अविद्या और अहंकारको ही जन्म और बन्धनका कारण बताया है। यह जन्म और बन्धनका क्रम ही संसार है। यह संसार दुःखमय है। दुःख ही संताप है। जो तत्कालमें सुख प्रतीत होता है, वह भी परिणाममें दुःखमय है। इसीलिये योगदर्शनमें कहा है कि **‘परिणामताप-संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः’**। जन्मके साथ-साथ जीवनकी दूसरी मर्यादा मृत्यु है। मृत्युका भय समस्त जीवनमें व्याप्त रहता है। हमारे प्रतीयमान सुखोंपर मृत्युके भयकी काली छाया रहती है। योगदर्शनमें इसे अभिनिवेश कहा है। अविद्या मूल क्लेश है और अभिनिवेश अन्तिम क्लेश है। समस्त लौकिक विषय और अनुभव मृत्युके ग्रास हैं। नश्वर होनेके कारण उनसे प्राप्त होनेवाला सुख भी अस्थायी और अन्तमें संतापकारक है।

इन समस्त संतापोंका आरम्भ जन्ममें है। जन्म सकाम कर्मका फल है। कामनाका मूल अहंकार और अहंकारका आधार अविद्या है। अतः जीवनके समस्त दुःख अविद्याकी यामिनीके ही तमोमय विषाद हैं। यह स्पष्ट है कि अविद्या अथवा अज्ञानका नाश विद्या अथवा ज्ञानसे ही हो सकता है। अन्धकारका निवारण प्रकाशसे ही सम्भव है। यामिनीका अन्धकार चन्द्रलेखासे ही छिन्न होता है। अध्यात्मका ज्ञान चन्द्रमाके आलोकके समान शीतल, आह्लादकारक और आनन्ददायक है। चन्द्रमाको सुधाकर भी कहते हैं; क्योंकि वह अमृतका आकर है। प्रतिपदाकी अकलङ्क कलाका तो नाम ही ‘अमृता’ है। चन्द्रमाकी शीतल और सुधामयी किरणें देहके दाह और तापको शान्त करती हैं। उसी प्रकार आत्मज्ञानका आलोक अज्ञान-अन्धकारका निवारण करके जीवनके संतापोंका शमन करता है। आत्मा देश-काल, जन्म-मरण आदिके विकारोंसे रहित होनेके कारण अविकारी और अमृत है। आत्मज्ञान अमृतपानके समान मधुर और आनन्दमय है, साथ ही वह अमृतके समान ही जन्म-मरणके संसारसे अतीत नित्य-जीवनका वरदान है। इस अमृत जीवनमें संसारके समस्त संतापोंका अन्त हो जाता है।

आत्मज्ञानके इस अमृतका एक बिन्दु भी मनुष्यके कल्याणके लिये पर्याप्त है। चिदानन्द-विग्रहरूपा भवानी इस अमृतकी अखण्ड प्रवाहिणी हैं। स्तोत्रके द्वितीय चरणमें उन्हें ‘भव-संताप-निर्वापण-सुधा-नदीम्’ कहा है। उनका चिन्मय स्वरूप आनन्द और अमृतत्वकी एक अखण्ड और अनन्त परम्परा है। नदीकी धाराके साथ मनुष्य-जीवनकी कितनी भावनाएँ सम्बद्ध हैं। नदीमें प्रवाह और गति है। उसका जल प्राणियोंका पोषण करता है; साथ ही वनराजियों और कृषिका भी पालन करता है। इनपर भी मनुष्यका जीवन निर्भर है। नदी सदा पवित्र है। प्रवाहकी गतिसे वह सर्वदा शुद्ध रहती है। अमृतमयी धारा भी पूर्ण पवित्र है। नदियोंके तटोंपर हमारे कितने प्राचीन नगर और तीर्थ बसे हुए हैं। पृथ्वीके धरातलपर नदीकी धारा जीवन, सभ्यता और संस्कृतिका सरस सूत्र है।

इसी प्रकार आत्मज्ञानकी अखण्ड अमृतधारा आध्यात्मिक जीवन और संस्कृतिका पोषण करती है। वह पूर्णतः पवित्र है। गीतामें ज्ञानको परम पवित्र माना है। युग-युगसे जीवनकी भूमिपर ज्ञानकी अखण्ड धारा प्रवाहित है। उसीके तटपर दर्शनोंके प्राचीन नगर और तीर्थ स्थित हैं। नदीका प्रवाह और वेग उसकी गति और शक्तिका सूचक है। वेदान्तका चिन्मय ब्रह्म तो निष्क्रिय है; किंतु तन्त्रोंकी चिन्मयी शक्ति चिदानन्दमयी होनेके साथ-साथ क्रियाशक्ति भी है। वह विश्वकी उद्भाविनी शक्ति है और साथ ही जीवको मुक्ति और आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणी प्रतिभा भी है। चिदानन्दमयी कल्याणी महाशक्तिके सक्रिय और सर्वसमर्थ रूपका संकेत करनेके लिये ही स्तोत्रमें ‘सुधा-नदी’ पदका प्रयोग किया गया है। रूपमें ‘अमृत’ ज्ञान और आलोकके समान उज्ज्वल है। गुणमें वह मधुर आनन्दमय है। फलमें वह मुक्ति और अमृतत्वदायिनी

नदीकी धाराके समान है । नदीकी धाराका अवगाहन तो साहसी, समर्थ और कुशल मनुष्य ही कर सकते हैं; किंतु उसके स्पर्शमात्रसे सबके देहका संताप दूर हो सकता है । अमृतका स्पर्श भी जीवनके समस्त संतापोंको दूर करनेवाला है ।

इसी प्रकार चिन्मयी महाशक्तिकी अमृतमयी करुणा-धाराका स्पर्श जीवनके समस्त संतापोंका निवारण करता है ।

स्तोत्रके 'यामिनीनाथलेखालङ्कृतकुन्तलाम्' पदमें भगवती महाशक्तिके सौन्दर्यका संकेत है । वे त्रिपुर-सुन्दरी ललिता तथा सौन्दर्य-लहरी हैं । 'भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम्' पदमें उनके करुणा, क्रिया और शक्तिमय रूपका संकेत है । चन्द्रमा सौन्दर्यका तथा नदी वेगवती शक्तिका प्रतीक है । भगवतीका स्वरूप शक्ति-सुन्दरी है । वे विश्वकी जननी और परम कल्याणकारिणी हैं । नदीके रूपकमें भगवतीकी सृजनात्मिका शक्तिका भी संकेत है । नदीका जल वनस्पतियोंकी उत्पत्तिका कारण है । श्रद्धालु जगत् गङ्गाको 'माता' कहकर पुकारता है । इस परम्परामें स्नेहमयी सृजनात्मिका शक्तिका मर्म ही अन्तर्निहित है । साथ ही गङ्गा मोक्षदायिनी भी है । भवानी अमृतमयी गङ्गा हैं । आत्मज्ञानके अमृत आलोकमय चन्द्रमाकी अकलङ्क अमृत-कलासे अलंकृत तथा संसारके समस्त संतापोंका निवारण करनेवाली अमृतमयी मन्दाकिनीस्वरूपा अखण्ड-चिदानन्द-प्रवाहिनी शक्ति-सुन्दरी, भगवती भवानीकी विनय और श्रद्धापूर्वक सचेष्ट आराधना भवतापसे संतप्त प्राणियोंके लिये अमृतपदा मुक्ति और अखण्ड आनन्दका साधन है ।

मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी कुछ सहायता कर सकता हूँ

भगवान्की कृपासे आज मेरे लिये इस रहस्यका उद्घाटन हो रहा है कि मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी 'कुछ' सहायता कर सकता हूँ । मेरी स्थिति चाहे जो हो, भगवान्की जो कुछ देन मुझे प्राप्त है, मैं उसीमेंसे दूसरोंको 'कुछ' दे सकता हूँ । मेरा यह दान मेरे कोषको कभी तनिक भी खाली नहीं करता; बल्कि वह उन वितरण की हुई वस्तुओंको हजारों गुने परिमाणमें मेरे कोषमें उँडेलता रहता है ।

आज तक मैं सोचता रहता था कि मेरे पास दूसरोंको देनेके लिये 'कुछ' भी नहीं है । पर आज मुझे अपनी इस भूलका अनुभव हो रहा है । भगवान्ने वितरणके लिये मुझे बहुत दिया है और निरन्तर देता ही जा रहा है । उस धरोहरकी मैं या तो उपेक्षा कर देता हूँ या तिरस्कार कर देता हूँ अथवा उसे अपनी मानकर छिपा लेता हूँ । इसीसे मैं दुखी होता हूँ और दूसरोंके दुःखका कारण बनता हूँ । मुझे भगवान्की धरोहरका सावधानीके साथ अनुभव करना चाहिये और मुक्तहस्तसे उसका उनकी सेवामें ही वितरण करना चाहिये ।

भगवान्की सबसे बड़ी देन प्रेम है । आज मैं निश्चय करता हूँ कि मैं भगवान्की इस देनको खुले हृदयसे वितरण करूँगा, अपने सम्पर्कमें आनेवालोंको अपने हृदयका सच्चा प्रेम दूँगा, सबमें प्रेम देखूँगा; कहीं भी असंतोष-द्वेषको नहीं देखूँगा । ऐसा करनेपर ही मैं भगवान्के प्रेमके निरन्तर बहते हुए प्रवाहको गति दे सकूँगा, जिससे भगवान्का प्रेम निरन्तर अधिक वेगके साथ मेरी ओर प्रवाहित होता रहेगा ।

भगवान्ने मुझे अपार शक्ति दी है । मैं इस शक्तिको दूसरोंकी सेवामें लगा दूँगा तथा मनमें इस भावको जागरूक रखूँगा कि ऐसा करके मैं किसीपर अहसान नहीं कर रहा हूँ; प्रत्युत भगवान्की वस्तुको भगवान्के इच्छानुसार आगे बढ़कर मैं अपनेको उनकी शक्ति प्राप्त करनेका विशेष पात्र बना रहा हूँ । भगवान्ने मुझे विश्वास, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि 'वस्तुएँ' दी हैं । मैं उदारताके साथ इनका वितरणकर भगवान्के कार्यमें योग दूँगा और इन वस्तुओंको विशेषरूपमें प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त करूँगा ।

भगवान्की वस्तुओंको भगवान्के इच्छानुसार भगवत्सेवामें लगाकर मैं भगवान्का विशेष प्रेम प्राप्त करूँगा । मैं निश्चय ही भगवान्का 'निज जन' बननेका सौभाग्य प्राप्त कर लूँगा ।

कल्याणकारी मनोराज्य

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

गीता ७ । २१-२२ के अनुसार भक्तोंकी श्रद्धाको धारण कर भगवान् उसकी पूर्ति करते हैं । अतः कल्याणकारी मनोराज्य करनेका विधान श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीके पद्य-व्याख्यासे किया जाता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपाते संत-सुभाव गहौंगो ॥
जथालाभ संतोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो ।
पर-हित-निरत-निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भगति लहौंगो ॥

(विनय-पत्रिका १७२)

क्या मैं कभी इस रीतिसे रहूँगा ? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैं (कभी) संतोंका-सा स्वभाव ग्रहण करूँगा ? जो कुछ प्राप्त होगा, उसीमें सदा संतुष्ट रहूँगा; सदा किसीसे कुछ भी नहीं चाहूँगा । निरन्तर दूसरोंके हित करनेमें लगा रहूँगा । इस नियममें निरन्तर मन, वचन और कर्मसे निवह जाऊँगा । अत्यन्त असह्य और कठोर वचन कानोंसे सुनकर उससे (उत्पन्न क्रोधकी) अग्निमें नहीं जलूँगा ? अभिमानसे रहित सबमें समता भाव रखते हुए मनको शान्त रक्खूँगा ? पराये गुणों और दोषोंको नहीं कहूँगा ? अपने शरीरके सम्बन्धकी सारी चिन्ताओंको छोड़कर बुद्धिमें दुःख और सुखको एक समान मानकर सहन करूँगा ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो! इस मार्गमें रहकर क्या मैं अविरल (निरन्तर एकरस रहनेवाली) हरि-भक्ति पाऊँगा ?

विशेष—'कबहुँक हौं ···' इस चरणमें 'यहि रहनि'की अभिलाषा कर आगे उत्तरार्द्धसे उसीका स्पष्टीकरण 'श्रीरघुनाथ ···' इस चरणसे करते हैं। 'संतसुभाव';—यथा—

'पर-दुख दुखी सुखी पर-सुख ते, संत सील नहिं हृदय धरौं ।'

(विनयपत्रिका १४१)

'पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया ॥'

(रामचरितमानस उत्तर० १२०)

तथा—

प्रशान्तचित्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः ।
कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः ॥
दयार्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः ।
गुणेषु परकीयेषु पक्षपातसमन्विताः ॥
सदाचारावदाताश्च परोत्सवनिजोत्सवाः ।
पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः ॥
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः ।

(वैष्णव० पु० मा० १० । १००—१०३)

'उन (भक्तों) का चित्त अत्यन्त शान्त रहता है । वे सबसे कोमल भाव रखते हैं, अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये रहते हैं तथा मन, वाणी और कर्मके द्वारा कभी दूसरोंसे द्रोहकी इच्छा नहीं रखते । उनका चित्त दयासे पिघला रहता है । वे चोरी और हिंसासे सदा विमुख रहते हैं । उनका शत्रुके गुणोंमें भी पक्षपात रहता है । उनका जीवन सदा सदाचारसे उज्ज्वल बना रहता है । वे दूसरोंके उत्सवको अपना उत्सव मानते हैं । वे सभी प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या नहीं करते । दीनोंपर दया करना उनका स्वभाव होता है और वे सदा परहित-साधनकी अधिक इच्छा रखते हैं ।' ऐसे संत-स्वभाव-प्राप्तिके लिये श्रीगोस्वामीजी श्रीरामजीसे प्रार्थना करते हैं कि कभी मैं ऐसा स्वभाव पाऊँगा ?

आगे संत-स्वभावके कुछ अंशोंका वर्णन भी करते हैं—

'जथालाभ संतोष सदा';

यथा—

'आठवँ जथालाभ संतोषा ।'

(रामचरितमानस अरण्य० ३५)

यह भक्ति-लक्षणोंमें कहा गया है । तथा—

'जथालाभ संतोष सुख, रघुबर चरन सनेह ।'

(दोहावली ६२)

'सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथलाभ संतोष सदाई ॥'

(रामचरितमानस उत्तर० ४५)

—यह संत-स्वभाव-वर्णनमें ही कहा गया है ।

'काहू सों कछु न चहौंगो'

भाव यह कि एक श्रीरामजीमें ही अनन्य रहूँगा; तथा—

का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको ।'
चहत न काहू सों,………………
तुलसीको भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के
रामकी भगति-भूमि मेरी मति दूब है ॥'
(कवितावली उत्तर० १०७-१०८)

यहाँ किसीसे कुछ न चाहनेमें अनन्यता पुष्ट की गयी है; क्योंकि कामनाओंकी पूर्तिके लिये अन्य देवोंकी उपासना होती है—गीता ७ । २० देखिये ।

'पर हित निरत निरंतर मन क्रम बचन'……,

मन, कर्म और वचनसे पर-उपकार करना संतोंका सहज स्वभाव है । ऊपर प्रमाण लिखा गया है । इसीमें वे जीवनकी सफलता मानते हैं, यथा—

'सातैं सप्तधातु-निर्मित तनु करिय बिचार ।
तेहि तनु केर एक फल कीजै पर-उपकार ॥
(विनय-पत्रिका २०३)

'काजु कहा नरतनु धरि सारयो ।
पर-उपकार सार श्रुतिको जो, सो धोखेहु न बिचारयो ॥'
(विनय-पत्रिका २०२)

'लाभ कहा मानुष-तनु पाये ।
काय-बचन-मन सपनेहु कबहुँक घटत न काज पराये ॥'
(विनय-पत्रिका २०१)

परोपकार चराचररूप भगवान्‌की ही भक्ति है; यथा—

'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम ।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम ॥
(रामचरितमानस उत्तर० १६)

अतएव परोपकार-निष्ठ (हरिभक्त) हरिको ही प्राप्त होता है; यथा—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।'
(गीता० १२ । ४)

'न केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः ।
सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञः तद्देवेश्वरपूजनम् ॥

—यह प्रसिद्ध है । इसीसे श्रीगोस्वामीजी इस वृत्तिका मन, वचन और कर्मसे निर्वाह चाहते हैं ।

'परुष बचन अति दुसह'……,

दुस्सह परुष वचन सुनकर अत्यन्त क्रोध होता है । इष्ट, गुरु एवं मित्र आदिकी निन्दा जो कठोररूपमें की गयी हो, वह दुस्सह परुष वचन है । उससे क्रोधाग्नि प्रकट होती है, यदि ऐसा क्रोध न हो तो वह मानो क्रोधाग्निसे नहीं जला; यथा—

'जो कोइ कोप भरै मुख बेना । सनमुख हतै गिरा सर पैना ॥
तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं । सो सीतल कहिये जग माहीं ॥
जहाँ सांति सद्गुरु की दई । तहाँ क्रोध की जर जरि गई ॥
(वैराग्यसंदी० ४९-५१)

'बिगत मान सम सीतल मन'

—अभिमानरहित होना ज्ञानके साधनोंमें पहला है—गीता १३ । ७ देखिये । यह भक्तिका अङ्ग भी है—

'गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।'
(रामचरितमानस अरण्य० ३५)

'सबहि मानप्रद आपु अमानी ।'
(रामचरितमानस उत्तर० ३७)

'सम'—समत्व भी भक्तिका अङ्ग है; यथा—

'सातवँ सम मोहि मय जग देखा ।'
(रामचरितमानस अरण्य० ३५)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(गीता १२ । १८)

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण और दुःख-सुखमें एकरस रहना समत्व है और सारे संसारमें आसक्तिरहित रहना भी समत्व है ।

'सीतल मन'—क्रोधरहित रहना शीतलता है, ऊपर प्रमाण देखिये । तथा—

'परम सांति सुख रहै समाई । तहँ उतपात न भेदै आई ॥
तुलसी ऐसे सीतल संता । सदा रहहिं एहि भाँति एकंता ॥
कहा करैं खल लोग भुजंगा । कीन्ह्यों गरल सील जो अंगा ॥
अति सीतल अति ही अमल'……, (वैराग्यसंदी० ४६–४८)।

'पर गुन नहिं दोष कहौंगो ।'

—जब किसीके गुणपर दृष्टि जाती है, तब अवगुणोंपर भी दृष्टि जाती है; इसीसे दोनोंका त्याग करना कहा गया है; यथा—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥
(रामचरितमानस उत्तर० ४१)

'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥'
(श्रीमद्भा० ११ । ४९ । ४५)

गुण-दोषका देखना ही दोष है और गुणदोषका त्याग ही गुण है; क्योंकि संतोंके गुण भगवान्‌की कृपासे उनकी विद्या-मायाद्वारा होते हैं और खलोंके दोष उन्हीं खलोंकी अविद्या-दृष्टिके अनुसार भगवान्‌की सत्तासे होते हैं। इनमें जीवोंका स्वातन्त्र्य नहीं है। अतः किसीकी भी निन्दा एवं स्तुति करना व्यर्थ है। भगवान्‌पर ही दृष्टि रखनी चाहिये कि उन्हींकी सत्तासे सब होते हैं। जो शरण हो उनकी भक्ति करते हैं, उनकी अविद्यात्मक दृष्टिको दबाकर (गीता १० । ९–११ की रीतिसे) भगवान् विद्यात्मक दृष्टि बढ़ाते हैं, इससे उन जीवोंका कल्याण होता है।

'परिहरि देह जनित चिंता'

शरणागतका यह शरीर भगवान्‌को अर्पित हो चुका है। अतएव यह उनका शेष (भोग्य) है, उनकी वस्तु है, वे इसकी सार-सँभार कर्मानुसार उचित संयोगोंद्वारा रक्खेंगे ही; ऐसा समझकर भक्तको अपने शरीरकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; तथा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं दासानुपेक्षते ॥

'वैष्णवलोग भोजन-वस्त्रकी चिन्ता व्यर्थ करते हैं, जो संसारभरका भरण-पोषण करता है, वह भक्तोंको कैसे भूल सकता है।' श्रीमुखवचन भी है—

लक्ष्मीं वापि परित्यक्ष्ये प्राणान् देहमथापि वा ।
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां वैजयन्तमथापि वा ॥
श्वेतद्वीपं च वैकुण्ठं क्षीरसागरमेव च ।
शेषं च गरुडं चैव न भक्तं त्यक्तुमुत्सहे ॥
विसृज्य सकलान् भोगान् मदर्थे त्यक्तजीवितान् ।
मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

(स्कन्दपु० वैष्णव० वै० मा० १३ । ३४–३६)

भगवान्‌ने कहा है कि 'हम श्रीलक्ष्मीजी, अपने प्राण, देह, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वैजयन्ती माला, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठ, क्षीरसागर एवं शेषजी तथा गरुड़जीका भी चाहे त्याग कर दें, परंतु भक्तका त्याग नहीं कर सकते; क्योंकि भक्त अपने सारे भोगोंका एवं जीवनका ममत्व छोड़कर हमारे शरीर हो रहे हैं। उन महाभाग्यवानोंका हम कैसे त्याग कर सकते हैं?'

श्रीहनुमान्‌जीने भीमसेनसे स्वयं कहा है; यथा—

सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिंदम ।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः ॥
(महा० वन० १४८ । १८)

'हे शत्रुनाशन भीम! श्रीसीताजीकी कृपासे मुझे सब सुखकी दिव्य वस्तुएँ यहींपर रहते हुए प्राप्त हुआ करती हैं (गन्धमादनपर रहते हुए निष्काम भक्त श्रीहनुमान्‌जीके लिये यह सार-सँभारकी व्यवस्था है)।'

'दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो।'

प्रारब्ध कर्मके अनुसार दुःख और सुख आते-जाते हैं; काल और कर्मके कार्य अनिवार्य हैं। अतएव इन्हें एक समान मानकर सहन करना चाहिये; यथा—

जनम मरन सब दुख-सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माँहीं॥
(रामचरितमानस अयोध्या० १४९)

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
(गीता २ । १४)

हे अर्जुन! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो होते-जाते (क्षणभङ्गुर) एवं अनित्य हैं। अतएव इनको तू सहन कर। सूतजीने भी कहा है, यथा—

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः ॥
(श्रीमद्भा० १ । १८ । ५०)

प्रायः सज्जन लोग दूसरोंके द्वारा दुःख या सुख पाकर दुःखित एवं आनन्दित नहीं होते, क्योंकि आत्मा गुणोंसे अलिप्त है (और सुख-दुःख आदि गुणोंके व्यापार हैं)।

राजा ययातिने अष्टकसे कहा है; यथा—

दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्
समेन वर्त्तेत सदैव धीरः ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ॥
(महा० आदि० ८९ । ९)

धैर्यवान् लोग दुःख भोगनेके समयमें दुखी और सुख भोगनेके समयमें सुखी नहीं होते, यह जानकर कि भाग्य ही सबकी जड़ है, वे सदा एकरस रहते हैं।

फिर ये दुःख-सुख वास्तविक नहीं हैं, मनकी कल्पनासे ही होते हैं; यथा—

वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च।
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः॥
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते।
तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते॥
तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्।
मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः॥

(वि० पु० २।६।४५–४७)

जब एक ही वस्तु सुख और दुःख एवं ईर्ष्या और कोपका कारण होती है, तब उसमें वस्तुता (नियत-स्वभावत्व) कहाँ है ? क्योंकि एक ही वस्तु कभी प्रीतिका कारण होकर फिर वही दुःखका कारण होती है, फिर वही कभी क्रोधका कारण एवं फिर कभी प्रसन्नताका हेतु हो जाती है। अतः पदार्थ कोई भी दुःखमय नहीं है और न सुखमय ही है, ये सुख-दुःख तो मनके ही परिणाम (विकार) हैं (अतएव विचारवान् इनसे उपेक्षा ही रखते हैं)।

'तुलसिदासप्रभु येहि पथ रहि'''—

'येहि पथ' उपर्युक्त संत-स्वभावको ही यहाँ 'यह मार्ग' कहा गया है; क्योंकि संत लोग अपने स्वाभाविक आचरण-द्वारा भक्ति-मार्गका उपदेश देते हैं, यही परमार्थ मार्ग है; यथा—

'बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥

जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥
जिनके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये।
मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये॥१०॥

सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै॥
देह-जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥

अनुराग सो निज रूप जो जगतें बिलच्छन देखिये।
संतोष, सम, सीतल, सदा दम देहवंत न लेखिये॥
निर्मम, निरामय, एकरस तेहि हरष-सोक न ब्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥११॥

(बिनय-पत्रिका १३६)

इस उद्धृत पद्यांशमें हरि-कृपासे प्राप्त संत-संगसे उच्च अविरल हरि-भक्तिका क्रमिक साधन कहा गया है। इसमें क्रमशः उन्नतिके पश्चात् 'श्रीरघुबीर चरन लय लागै' से 'जाकहँ दसा ऐसी भई' तक उच्च 'अविरल-हरि-भक्ति' की दशा कही गयी है। आगे उसी (वि० प० १३६। १२) में ही 'जौ तेहि पंथ'''जो मारग'''तेहि पथ''' आदि वाक्योंसे स्पष्ट इसे परमार्थ-मार्ग कहा गया है।

इस लेखमें इसी परमार्थ-मार्गका मनोराज्य लिखा गया है। मुमुक्षु उपर्युक्त गीता ७। २१-२२ एवं १०। ९–११ की रीतिसे कल्पतरु स्वभाववाले भगवान् श्रीरामजीसे सफलता पाकर आदर्श मानवताके साथ श्रीरामप्राप्ति सहजमें कर सकता है।

◆

प्रयागमें त्रिवेणी

शिव के समान दिव्य रूप अवराधन कौं,
गंग की तरंगन कौ परत पखारा है।
विष्णुपद प्रेमिन के नेह के निवाहन कौं,
कलित कलिंदजा कौ ललित किनारा है॥
चित्त चतुरानन की बानी में बसौ है जो, तौ—
विद्या वरदायिनी सरस्वती सहारा है।
'वासुदेव' पावन त्रिदेव त्रिगुणात्मक कौं,
पावन प्रयाग में त्रिवेणी की तिधारा है॥

— वासुदेव गोस्वामी

धर्मकृत्य और पञ्चाङ्ग

(लेखक—पं० श्रीसीतारामजी झा, ज्यौ० आ०)

समस्त श्रुति-स्मृति, पुराण और इतिहासादिमें धर्मकृत्योंके सब लक्षण प्रायः समान ही बताये गये हैं। यथा—

(१) जिस कार्यसे अपना और अन्य प्राणियोंका हित हो।

(२) जिससे अपना कुछ अहित होनेपर भी अन्य प्राणियोंका हित हो।

(३) जिससे थोड़े प्राणियोंके अहित होनेपर भी अधिक प्राणियोंका हित हो।

जिस कर्मसे जगत्का कल्याण हो, वही सत्कार्य या धर्मकृत्य कहा जाता है।

धर्म या सत्कार्योंके दो भेद हैं—एक नित्य, दूसरा अनित्य। जिसके लिये देश, काल या व्यक्तिका नियम नहीं है, अर्थात् जो सब देश, सब काल और व्यक्तिमात्रके लिये हितकर है, उसको नित्य और जिस कृत्यमें देश, काल और व्यक्तिकी अपेक्षा है उसे अनित्य कहा गया है। जिनमें नित्य धर्मोंका परिगणन भगवान् मनु आदिने किया है, यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, मनको वशमें रखना, चोरी नहीं करना, बाह्य और आभ्यन्तरकी पवित्रता, इन्द्रियोंको वशमें रखना, आस्तिक्य बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान, सत्य बोलना, क्रोध नहीं करना—ये दस नित्य धर्मके लक्षण हैं।' एवं माता-पिता आदि गुरुजनोंका आदर, भूखेको भोजन, निर्बलोंकी सहायता आदि सब देश, सब काल और सब व्यक्तियोंके लिये नित्य धर्म हैं। नित्य होनेके कारण इन्हीं धर्मोंको सनातनधर्म भी कहते हैं। [उपर्युक्त सत्कार्योंको ही यज्ञ भी कहा गया है। इसलिये यज्ञ नित्य और अनित्य दो प्रकारके हैं। जिनका उल्लेख श्रुति और स्मृतियोंमें है।] जिन सत्कार्योंमें देश, काल और व्यक्तिकी अपेक्षा रहती है, वे विशेषधर्म माने गये हैं। जो अनित्य हैं अर्थात् ऐसे धर्म कदाचित् अधर्मरूप और अधर्म भी धर्मरूप बन जाते हैं। इसी दृष्टिसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

—तुम जिन (अहिंसादि) को धर्म समझते हो, उन सबोंको छोड़कर अभी मैं जो कहता हूँ उसीको धर्म समझो। किस कार्यको किस विधिसे किस समयमें करना चाहिये तथा कौन-सा कार्य किस व्यक्तिद्वारा करना चाहिये—यह भी श्रुति और स्मृतियोंमें कहा गया है। कहा भी है—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता
यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्
वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात्॥

'वेदोंमें यज्ञों (सत्कार्यों) की विधि बतलायी गयी है। तथा पृथक्-पृथक् यज्ञोंके लिये पृथक्-पृथक् काल कहे गये हैं तथा उन कालोंका ज्ञान ज्यौतिषशास्त्रोंके द्वारा होता है, इसलिये ज्यौतिषशास्त्र वेदका मुख्य अङ्ग माना गया है।'

हमारे पूर्वज महर्षियों (वैज्ञानिकों) ने बुद्धि और परिश्रमद्वारा पता लगाया कि किस समयमें किस कार्यको करनेसे सफलता और किस समयमें कार्यके आरम्भ करनेसे विफलता होती है। इन्हीं विषयोंका पुनः-पुनः परीक्षण करके हम लोगोंके उपकारार्थ वे जो कुछ आदेश कर गये, वही आज फलित स्कन्ध ज्यौतिषशास्त्र कहलाता है, जो अदृष्टफलबोधक माना जाता है।

जो व्यक्ति समयको देखकर अपना कर्तव्य करता है, उसे अवश्य ही सफलता मिलती है। पुरुष और प्रकृतिके द्वारा रचित होनेके कारण यह संसार द्वन्द्व (द्विविध स्त्री-पुरुष, विष-सुधा, अन्धकार-प्रकाश, दुःख-सुख आदि दो-दो परस्परविरोधी दलयुक्त) है। इसलिये आकाशस्थ ग्रह और नक्षत्रोंके भी दो भेद हैं। कुछ तो विषरश्मि और कुछ सुधारश्मि हैं, जिन (रश्मियों) के परस्पर सम्मिश्रणसे समय भी शुभ और अशुभ होते हैं। ग्रहोंमें भगवान् सूर्य सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वजगदुत्पादक कहे गये हैं, चन्द्रमा अपने शुक्लकी वृद्धिमें सुधामय (शुभ) और शुक्लकी हानिमें विषरश्मि (अशुभ) होता है। बुध उभय रश्मिहीन है। गुरु और शुक्र ये दोनों शुद्ध सुधारश्मि हैं। एवं शनि और मङ्गल ये दोनों विषरश्मि (अशुभ) कहे गये हैं। अतः शुभ-रश्मियोंकी अधिकतामें समय शुद्ध (सुखप्रद) तथा विष-रश्मियोंकी अधिकतामें समय अशुद्ध (कष्टप्रद) होता है। इसलिये जब रवि, चन्द्र, गुरु एवं शुक्रकी रश्मियोंकी अधिकता रहती है (ये बली रहते हैं), वह समय शुद्ध (सुखप्रद) कहा गया है। वस्तुतः यह प्रत्यक्ष अनुभूत भी है। जब इन शुभ ग्रहोंकी रश्मियोंमें अल्पता और अशुभ (शनि, मङ्गल) की रश्मियोंमें अधिकता होती है तो समय भी

अशुभ (अशुद्ध) हो जाता है। जिस पद्धतिसे इन अशुभ या शुभ समयोंका ज्ञान होता है, उसको कालतन्त्र अथवा ज्यौतिष (ग्रहनक्षत्रों) से सम्बन्धित होनेके कारण ज्यौतिष-शास्त्र कहा गया है।

आकाशमें बृहस्पति और शुक्रके उदित (दृष्ट) रहनेपर ही—एवं चन्द्रमाके शुक्लकी वृद्धिसमयमें ही—सत्कार्योंके करनेका आदेश किया गया है। ग्रहोंमें सूर्य और चन्द्रमा ये प्रधान हैं। अतः इनकी रश्मियोंके संयोगसे जो कालमें वैलक्षण्य होते हैं, उनमें पाँच अङ्गोंको विशेषता दी गयी है। वे तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण नामसे कहे गये हैं। इन पाँचोंके मान जिस पुस्तिकामें रहते हैं, उसको पञ्चाङ्ग कहते हैं। ज्यौतिषशास्त्रोंमें इनके साधनके दो प्रकार हैं—एक दृष्टफलार्थ (ग्रहनक्षत्रोंके युति, उदय, अस्त—सूर्य-ग्रहण-चन्द्रग्रहण—चन्द्रशृङ्गोन्नति आदिके ज्ञानार्थ), द्वितीय अदृष्टफलार्थ (व्रत-उपवासादिपर्व, विवाह-उपनयन आदि यज्ञ-कर्म-यात्रा-गृहारम्भ आदि कर्मके भावी फल एवं जन्मकालिक लग्नादिद्वारा जीवनके सुखदुःख-भावि-फलज्ञानार्थ)। दृष्ट-फलार्थ—तिथ्यादिकी गणना अपने-अपने दृष्टिस्थानको केन्द्र मानकर पृथक्-पृथक् की जाती है। तथा अदृष्टफलार्थ—भूपृष्ठवासी प्राणिमात्रके लिये—भूकेन्द्रको दृष्टिस्थान मानकर—गणना की जाती है। दृष्ट (प्रत्यक्ष) फलज्ञानार्थ गणित-पद्धतिको सिद्धान्त-स्कन्ध और अदृष्ट-फलज्ञानार्थ-पद्धतिको फलित-स्कन्ध कहा गया है।

सिद्धान्तग्रन्थ-रीतिसे ग्रह या तिथि, नक्षत्रादिका साधन प्रथम भूकैन्दिक दृष्टिवश किया जाता है, जो अदृष्ट फलोपयोगी माना गया है। उनमें पुनः स्वस्थानीय दृष्टिवश अन्तर (बीजकर्मादि) संस्कारद्वारा स्वस्वस्थानीय ग्रह, तिथि आदि बनाये जाते हैं, जो केवल दृष्टफलार्थ उपयुक्त कहे गये हैं।

हमारे देशमें यवन-साम्राज्यसे पूर्व उक्त दोनों फलोंके ज्ञानार्थ दोनों पद्धतिसे दोनों प्रकारके ग्रह, तिथि, नक्षत्र आदि बनाये जाते थे; किंतु दुर्दैववश जब भारतमें यवनोंका साम्राज्य हुआ तबसे उन्होंने अपने कुतर्कवश, हमारे पराशर-जैमिनि आदि कथित ग्रन्थोंका बहिष्कार करके दोनों फलोंके ज्ञानार्थ दृष्टपद्धति ही बनायी और यहाँके ज्यौतिषियोंको वही पाठ पढ़ाकर, अपनी पद्धतिका संस्कृतमें अनुवाद कराकर प्रचारित किया, जिसके अनुवादक केशव, नीलकण्ठ आदि हैं। जिन्होंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें ग्रहयोगोंका नाम “यमया, मणाऊ, कब्बूल, गैरिकब्बूल, दुफालिकुत्थ” आदि यवन-भाषामें रखा है।

प्रमादवश उन पद्धतियोंमें अदृष्टफलार्थ लग्नसाधन भी दृष्ट प्रकारसे ही किया, जो युक्ति और प्रमाण दोनोंसे विरुद्ध है। जिसका खण्डन ज्यौतिषशास्त्ररचयिताओंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीकमलाकर भट्टने अपने ‘सिद्धान्ततत्त्वविवेक’ नामक ग्रन्थमें किया है। यथा—

> अदृष्टफलसिद्ध्यर्थं यथार्काद्युक्तितः कुरु ।
> गणितं यदि दृष्टार्थं तद्दृष्ट्युद्भवतः सदा ॥

इत्यादि। परंतु—बहुतसे ज्यौतिषियोंके ध्यानमें अल्पज्ञताके कारण नहीं आया। इधर बीसवीं विक्रमशताब्दीमें त्रिस्कन्ध ज्यौतिषमर्मज्ञ स्व० पं० रामयत्न ओझा ज्यौ० आ० प्रधानाचार्य (काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय) ने प्रचलित यवन-मतोंका खण्डन करके भावलग्नका ही समर्थन किया है। तथा साधारण ज्यौतिषियोंके उपकारार्थ ‘फलितविकाश’ नामक ग्रन्थ लिखकर—उसमें आर्षपद्धतिद्वारा ही साधित-भावलग्न और षड्वर्ग ग्रहण करनेका युक्तियुक्त आदेश किया है।

वर्तमान समयमें भी त्रिस्कन्ध ज्यौतिषमर्मज्ञ-पं० श्रीरामव्यास पाण्डेय ज्यौ० आ०, ज्यौतिष-विभागाध्यक्ष हिंदू-विश्वविद्यालय काशी एवं ज्यौ० आ० पं० श्रीअवधविहारी त्रिपाठी ज्यौतिषशास्त्र-विभागाध्यक्ष वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय, काशी आदि—काशीके प्रतिष्ठित सभी ज्यौतिषाचार्योंने पराशरादि कथित-भावलग्नको ही विवाहादि कार्योंमें उपयुक्त माना है। इन्दौर (मालवा) स्थित ‘दैवज्ञविद्वन्मण्डलके सदस्य-त्रिस्कन्ध-ज्यौतिषविज्ञ पं० श्रीनीलकण्ठ शास्त्री प्रभृतिने भी अदृष्टफलार्थ भावलग्नको ही उपयुक्त स्वीकार किया है।

‘भारत’को स्वतन्त्रता प्राप्त करानेवाले सेनानी डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी मुख्यमन्त्री उत्तरप्रदेशने भी ज्यौतिषशास्त्रमें छायी हुई भ्रष्टताको दूरकर पुनः ज्यौतिषमें जीवन प्रदान करनेका संकल्प किया है। आशा है अब सभी ज्यौतिषशास्त्रके स्नेही उनके इस संकल्पकी पूर्ति करनेमें सहयोग देंगे।

अन्तमें मेरा यह निवेदन है कि भारतमें समस्त कृत्य विशेषकर उपनयन-विवाहादि शुभकार्यका आधार पञ्चाङ्ग है। पञ्चाङ्ग जितना ही शुद्ध शास्त्रसम्मत होगा, उतनी ही कार्योंमें भी सफलता होगी। इसलिये समस्त धर्मप्रेमियोंका कर्तव्य है कि जिस प्रकार अपनी भारतीय पद्धतिद्वारा पञ्चाङ्ग शुद्ध हो, उसका प्रयत्न करें और करावें।

आत्मविकासके मार्ग

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६। ५)

यह मानव-जीवन अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसको पाकर अति शीघ्र अपने आत्मविकासके मार्गपर लग जाना चाहिये। इसमें आलस्य तथा दीर्घसूत्रता करनेसे पछताना ही पड़ेगा। संसारमें सर्वश्रेष्ठ वीर वही है, जिसने मन-इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करके आत्मविकास कर लिया है तथा जो औरोंको भी इस मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये प्रोत्साहित करता है।

जो आत्मविकासके यत्नमें लगे हुए हैं, उनको चाहिये कि सदा सावधान रहा करें। जरा-सी चूक होनेपर पाँव फिसल जा सकता है। आजकल बहुत-से साधक सर्वप्रथम अपना सर्वस्व त्याग करके इस पथपर आरूढ़ तो हो जाते हैं पर थोड़े ही साधनके बाद वे लग जाते हैं दूसरोंको सुधारनेमें। वे अपने सुधारकी बात तो भूल ही जाते हैं। अपनी कमीकी ओर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं है। दूसरोंके दोषोंको ही वे देखने लगते हैं। स्वयं दोषी होकर दूसरोंके दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करना वैसा ही है जैसा अन्धा होकर अन्धेको राह बताना।

यदि आप सच्ची लगनके साथ आत्मविकास करनेकी इच्छा रखते हैं तो सबसे पहले परदोष-दर्शनका त्याग कर दीजिये। सदा स्मरण रखना चाहिये कि दूसरे व्यक्तियोंमें जो दोष दिखायी पड़ते हैं, वे सब दोष अपनेमें ही रहनेके कारण दिखायी पड़ते हैं। जो मनुष्य जैसा होता है, उसके लिये संसार भी वैसा ही जान पड़ता है। दूसरोंकी आलोचना करनेमें जो समय व्यतीत किया जाता है, वह समय यदि आत्मनिरीक्षणमें लगाया जाय तो महान् लाभ हो सकता है। समयकी बहुमूल्यताकी दृष्टिसे परदोष-दर्शनका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

सभी परिस्थितियोंको अनुकूल दृष्टिसे देखना परमावश्यक है। अप्राप्त परिस्थितिकी चाहका त्याग कर देना चाहिये। अन्यथा व्यर्थ चिन्तन बना रहेगा, जिससे अशान्ति तो रहेगी ही, साथ-साथ समयका दुरुपयोग भी होता रहेगा। व्यर्थ चिन्तन और व्यर्थ चेष्टा ही प्रमादका स्वरूप है, जो उन्नतिके मार्गमें बहुत बड़ा विघ्न है। प्राप्त परिस्थितिका सदा सावधानीके साथ सदुपयोग करते रहना चाहिये। किसी संतके कथनानुसार कवि, तत्त्वदर्शी और संत—ये तीनों सभी वस्तुओंको अपने अनुकूल और पवित्र देखते हैं। सभी घटनाओंको लाभकारी, सभी समय शुभ और सभी वस्तु, पदार्थ, व्यक्तिको ईश्वर-स्वरूप देखते हैं। इमर्सन साहबने यही कहा है—

"To the poet, to the philosopher and to the saint all things are friendly and sacred, all events profitable, all days holy and all men divine."

जब कभी भी आपसमें चर्चा करनी हो तो उपादेयकी ही चर्चा करनी चाहिये। हेयका तो सर्वथा त्याग करना ही अच्छा है। मनुष्य जो कुछ भी वचन बोलता है अथवा किसीसे श्रवण करता है, उसका उसके जीवनपर बहुत असर पड़ता है। अतः बोलने और सुननेके समय सदा सावधान रहना चाहिये। निरन्तर नये-नये सद्विचारोंका निर्माण करते रहना चाहिये, जिससे कुत्सित विचार कभी मनमें उठें ही नहीं। अनुचित विचारोंसे सदा उदासीन रहना चाहिये। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना अच्छा है। स्वार्थका त्याग

करके लोक-सेवाके कार्योंमें लगे रहनेसे भी महान् लाभ होता है । सदा कामकी धुनमें लगे रहनेसे मनको व्यर्थ चिन्तनका अवसर ही नहीं मिलता है । 'खाली मन भूतका डेरा' प्रसिद्ध ही है । अतः अपने मनको निरन्तर सद्विचार तथा सत्कर्मोंके द्वारा कसे रखना चाहिये ।

निरन्तर शान्ति और संतोषका विचार करते रहना चाहिये । शान्तिका विचार शान्ति उत्पन्न करता है । संतोषके विचारसे उत्तम सुख मिलता है । 'संतोषादनुत्तमसुखलाभः' संतोष कामको खा जाता है । कामके नाशसे ही शान्तिकी प्राप्ति होती है । श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

बैठे सोह काम रिपु कैसे । धरे सरीर सांत रस जैसे ॥

श्रीशंकर भगवान् कामको मारकर ही शान्तिरूप हो सके हैं । वैसे ही जो कामनाका नाश कर सकेगा, वही शान्ति पा सकता है—दूसरा नहीं ।

इस प्रकार यदि आप अपना सुधार करना चाहते हैं—अथवा आत्मोन्नतिकी ऊँची चोटीपर चढ़ना चाहते हैं तो दूसरोंके सुधार करनेकी चिन्ता न करके अपने सुधारमें ही तत्पर हो जाना चाहिये । अपने सुधारसे अपना लाभ तो होगा ही, संसारको भी स्वतः लाभ हो जायगा ।

भगवान् सबको सुबुद्धि प्रदान करें ।

प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु भगवान् हैं

अब मैं भगवान्की कृपाके प्रकाशमें यह अनुभव कर रहा हूँ कि 'मेरे प्रभु ही इस जगत्के रूपमें अभिव्यक्त हैं ।' इस अनुभूतिसे मैं कभी भी, किसी भी अवस्थामें भगवान्की संनिधिसे पृथक् नहीं हो पाता और न मुझे अपने सम्पर्कमें आनेवाली किसी वस्तु या व्यक्तिसे प्रतिकूलता या विरोधका अनुभव होता है ।

किसी भी प्राणीको सामने आते ही पहली बात जो मेरे मनमें आती है वह यह है कि 'मेरे प्रभु ही इस रूपमें आये हैं ।' अपने प्रभुको अपने सामने उपस्थित देखकर मेरा हृदय उल्लाससे भर जाता है और मैं अपना प्रेम, अपनी श्रद्धा, अपना सम्पूर्ण शुभ भाव उनके चरणोंपर समर्पणके लिये आतुर हो जाता हूँ । मैं अपने सद्भावोंके सुमनोंसे सामने उपस्थित उन प्रभुकी पूजा करता हूँ । प्रभु कृपाकर मेरी पूजाको स्वीकार करते हैं और मुझे आशीर्वाद देते हैं जिससे मेरे पूजाके उपकरणोंकी वृद्धि हो जाती है । सामने उपस्थित व्यक्तिकी प्रत्येक चेष्टा, उसका प्रत्येक शब्द मुझे भगवत्स्नेहसे अभिषिक्त अनुभव होता है । कभी किसी हेतुसे उनमें व्यावहारिक दृष्टिसे कुछ क्षोभ, कुछ उत्तेजना, कुछ प्रतिकूलता भी प्रकट होती है तो मेरा हृदय उसमें भी अपने प्रभुके मेरे प्रति अगाध प्रेमके ही दर्शन करता है । प्रियतमका प्यार बाहरसे कभी मीठा और कभी कड़वा होता ही है ।

यही स्थिति जीवनमें काम आनेवाली प्रत्येक वस्तुके साथ है । कोई भी वस्तु मुझे प्रतिकूल अनुभव नहीं होती । प्रत्येक वस्तु प्रभुके प्रेमका अभिव्यक्तरूप अनुभव होती है । अपनी निर्दोष वास्तविक आवश्यकताके अनुरूप मैं वस्तुओंका उपभोग करता हूँ ।

अब कोई परिस्थिति भी मेरे मनको क्षुब्ध नहीं करती । प्रत्येक परिस्थितिमें मैं अपने प्रभुका हँसता हुआ मुखड़ा देखता हूँ और प्रसन्नताके साथ उसे गले लगाता हूँ ।

मैं जहाँ भी रहूँ, जैसे भी रहूँ, नित्य भगवान्की संनिधिमें हूँ । भगवान् मुझमें हैं और मैं भगवान्में हूँ ।

स्वच्छ वस्त्रोंका आध्यात्मिक प्रभाव

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी० एच्० डी०)

जिस प्रकार स्नान करनेके उपरान्त सम्पूर्ण शरीरके त्वचा-रन्ध्र खुल जानेसे और घर्षणसे एक प्रकारकी स्फूर्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्वच्छ और नवीन वस्त्रोंको धारण करनेसे मनुष्यकी आत्माको प्रसन्नता प्राप्त होती है।

आत्माका गुण स्वच्छता है। वह विकार, दुर्गुण, सब प्रकारके मल पदार्थोंसे मुक्त है। उसमें गंदगी टिक नहीं सकती। पाप-पङ्कका उसपर छींटा नहीं पड़ सकता। यदि कोई वस्तु उसे पंकिल करनेका उद्योग करती है तो हमारी अन्तरात्मामें पश्चात्ताप और आत्मग्लानिकी चीत्कार उठती है। कोई भी दुर्विचार, पापमय कल्पना, कुत्सित वासना, हमारी नैतिकतासे हेय निकृष्ट भावना जब मन:क्षेत्रमें प्रविष्ट होकर हमारे सत्य, प्रेम, कर्तव्यनिष्ठाको विशृङ्खलित कर देती है, तब आत्मामें एक आन्तरिक आघातका हम सब अनुभव करते हैं। इसका कारण क्या है ?

आत्माद्वारा हमें किसी भी ऐसे अनैतिक कार्यके लिये सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता, जो किसी भी प्रकारकी कायिक, वाचिक, मानसिक गंदगीसे युक्त हो। गंदी धारणाएँ या अश्लील कृत्य करनेवाले आत्माकी ध्वनिकी अवहेलना कर गंदे कार्योंमें प्रविष्ट होते हैं; किंतु अंदर-ही-अंदर उन्हें एक मनोव्यथा दुखी करती रहती है। कुछ कालके लिये आप इस आन्तरिक ध्वनिका दमन भले ही कर दें, इसका पवित्र कार्य निरन्तर चलता रहता है।

आत्मध्वनिका कार्य है अन्तर्मनमें सफाईका कार्य करना। जो गंदे विचार, मन्त्रणाएँ या कल्पनाएँ आयें, उन्हें गंदगीसे हटाकर नीरक्षीर-विवेक कर मनुष्यको सत्पथकी ओर अग्रसर रखना। जो व्यक्ति आत्मध्वनि सुनता है, उसे आत्मध्वनि सीधा मार्ग दिखाती चलती है। उसके मन:क्षेत्रमें सर्वत्र स्वच्छता होती है। जहाँ कोई गंदा विचार विद्रोहीकी भाँति उदित होता है, वहीं मनकी शुभ वृत्तियाँ उससे संघर्षकर उसे निकाल बाहर करती हैं।

चूँकि स्वच्छता हमारी आत्माका नैसर्गिक गुण है। अतः बाह्य स्वच्छतासे भी परितुष्टि एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। स्वच्छ वातावरणका प्रभाव स्वास्थ्य, प्रसन्नता, आन्तरिक आह्लादका देनेवाला है।

स्वच्छ वातावरणकी सृष्टि करनेमें मनुष्योंके वस्त्रोंका बड़ा सम्बन्ध है। वस्त्र उसके शरीरसे निकटतम सम्पर्क रखते हैं। उनके अनुसार उसकी अन्तर्वृत्तिका निर्माण होता चलता है। यदि उनमें स्वच्छता है तो स्वभावत: मनमें पवित्र विचारोंका क्रम चलने लगता है। विचार-प्रवाह स्वयं पवित्रता और सात्त्विकताकी ओर रहता है। गंदगीसे विचार उतने ऊँचे नहीं उठ पाते। उनकी नैतिकताको अप्रत्याशित चोट लगती है। गंदे वस्त्रोंके सम्पर्कमें रहते-रहते उसकी उच्च शक्तियाँ धीरे-धीरे पंगु हो जाती हैं।

महात्मा गाँधीजीका विश्वास था कि खद्दरके स्वच्छ वस्त्र पहनकर ही वे सत्य, न्याय, अहिंसा, विश्व-बन्धुत्वके पवित्र विचारोंसे प्रेरित हो जाते थे। प्रत्येक सत्याग्रहीको खद्दर पहिनना चाहिये। खद्दर और विचारोंकी पवित्रताका निकट सम्बन्ध है।

वातावरणकी स्वच्छता और वस्त्रकी स्वच्छता मनकी स्वच्छता उत्पन्न करनेवाली है। जो व्यक्ति स्वच्छ रहनेका अभ्यस्त है, उसके विचारोंका स्तर गंदे वस्त्रोंवालेसे ऊँचा रहता है।

स्वच्छता दैवत्वका सामीप्य है (Cleanliness is next Godliness) इस उक्तिमें महान् संदेश भरा है। स्वच्छता क्रमशः देवत्वके समीप हमें ले जाती है। देवताओंका एक विशिष्ट गुण स्वच्छता है। स्वच्छ रहकर आप वातावरणकी दृष्टिसे देवत्वके समीप पहुँच जाते हैं।

कैसे परितापका विषय है कि जहाँ अन्य जातियाँ स्वच्छताके लिये सतत उद्योगशील हैं, बच्चोंमें स्वच्छताके बीज बोती हैं, हमारे यहाँ इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। स्वच्छता एक आदत है। यदि एक बार आदत डाल दी जाय तो जीवनभर मनुष्य उसे नहीं भूलता। याद रखना चाहिये स्वच्छता और शौकीनीमें बड़ा अन्तर है। शौकीनी दूसरोंको दिखानेके लिये होती है और स्वच्छता गंदगीका नाश करनेके लिये। शौकीनी तो स्वयं एक मनकी गंदगी मात्र है।

* * *

श्रीराधा-नाम और राधा-उपासना सनातन है

(लेखक—हनुमानप्रसाद पोद्दार)

कुछ महानुभावोंका कथन है कि श्रीकृष्णचरित्रमें गोपी-चरित्रका, खास करके श्रीराधा-चरित्रका समावेश अत्यन्त आधुनिक है। कुछ लोग तो यहाँतक कहते हैं, 'अधिक-से-अधिक तीन-चार सौ वर्षोंसे ही इसका प्रचलन हुआ है। न तो प्राचीन ग्रन्थोंमें राधाका नाम है, न खास प्राचीनतम पुराणोंमें ही। श्रीमद्भागवतमें भी राधाका नाम नहीं है।' यद्यपि भक्तोंकी दृष्टिमें इन सब आलोचनाओंका तनिक भी महत्त्व नहीं है—वे तो अपने अनुभवसे भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपीजनकी सत्यताको जान चुके हैं तथा श्रद्धाकी आँखोंसे नित्य ही उनको देखते रहते हैं, उनके लिये श्रीराधा अनादि सनातन परम तत्त्व हैं।—दूसरोंके लिये ऐसी बात नहीं है। पर उन लोगोंको भी यह जानना चाहिये कि श्रीराधाका नाम तथा उनकी उपासना बहुत पुरानी है। श्रीनिम्बार्काचार्यको हुए हजारों वर्ष हो गये। उन्होंने अपने सम्प्रदायमें श्रीराधा-कृष्णकी उपासनाका प्रवर्तन किया था। उनकी 'वेदान्तदशश्लोकी'में यह श्लोक आया है—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

कविवर भासके समसामयिक नरपति हालके द्वारा अनुमानतः दो हजार वर्ष पूर्व गाथा-सप्तशतीका संकलन हुआ था। इस गाथा-सप्तशती ग्रन्थमें श्रीराधिका (राहिआ), कृष्ण (कण्ह) और कृष्णजननी यशोदा-देवी (जसोआ) तथा गोपियोंका उल्लेख है—

अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इअ जप्पिअइ जसोआए।
कण्ह-मुह-पेसिअच्छं निनुअं हसिअं वअवहूहिं॥

श्लोकका संस्कृत रूप है—

अद्यापि बालो दामोदर इति इह जल्प्यते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः॥

हालसप्तशतीमें एक और श्लोक है—

मुह मारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एदाणं बल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥

इसका संस्कृत रूप है—

मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥

गाथासप्तशतीका एक श्लोक श्रीरूपगोस्वामी महोदयने उज्ज्वलनीलमणिमें उद्धृत किया है—

लीलाहि तुलिअसेलो रक्खउ वो राहिआत्थनप्फंसे।
हरिणो पढमसमागमसज्झस वेवल्लिओ हत्थो॥

इसी श्लोकके अनुरूप एक श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में मिलता है—

यो लीलया गोकुलगोपनाय गोवर्द्धनं भूधरमुद्दधार।
स्विन्नः सकम्पः स बभूव राधापयोधरक्ष्माधरदर्शनेन॥

महाकवि कालिदासने मेघदूतमें गोपवेशधारी विष्णुका वर्णन किया है और रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवरमें जिस प्रकार वृन्दावनके सौन्दर्यका वर्णन किया गया है, उससे पता लगता है कि, कवि व्रज-सौन्दर्यकी स्मृतिसे मुग्ध हो गया है।

पञ्चतन्त्रकी रचना लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हुई थी, उसमें वर्णन है कि एक तन्तुवाय (बुनकर) का पुत्र श्रीकृष्ण सजकर अपने सूत्रधर मित्रकी सहायतासे लकड़ीके बने गरुड़पर सवार होकर किसी राजाके अन्तःपुरमें पहुँच गया और उसने अपनी प्रणयिनी राजकन्यासे कहा—

‘सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या परं किंतु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथम आसीत्।’

प्रायः बारह सौ वर्ष पूर्व हुए भट्टनारायणने अपने ‘वेणीसंहार’ नाटकके मङ्गलाचरणके श्लोकमें ‘श्रीहरिचरणयोरञ्जलिरयम्’ अर्पण करते हुए प्रार्थना की है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते-
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयिताद्दृष्टस्य पुष्णातु वः॥

लगभग एक हजार वर्ष पूर्व संकलित नेपालमें प्राप्त ‘कवीन्द्र-वचन-समुच्चय’में भी राधाका नाम है—

× × धेनुदुग्धकलशानादाय गोप्यो गृहं
दुग्धे वष्कयिणीकुले पुनरियं राधा शनैर्यास्यति।
इत्यस्य व्यपदेशगुप्तहृदयः कुर्वन् विविक्तं व्रजं
देवः कारणनन्दसूनुरशिवं कृष्णः स मुष्णातु वः॥

कवि क्षेमेन्द्रके दशावतारचरितमें राधाका उल्लेख है—

इत्यभून्मदनोद्दामयौवने कालियद्विषि।
गोपाङ्गनानां संरम्भगर्भोपालम्भविभ्रमः॥
प्रीत्यै बभूव कृष्णस्य श्यामानिचयचुम्बिनः।
जातीमधुकरस्येव राधैवाधिकवल्लभा॥

प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व संकलित काश्मीरके प्रसिद्ध आलङ्कारिक विद्वान् आनन्दवर्द्धनके ‘ध्वन्यालोक’ ग्रन्थमें उद्धृत किसी पूर्ववर्ती कविके द्वारा रचित दो श्लोकोंमें श्रीराधा-कृष्णकी लीलाओंका वर्णन है—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत् प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम्।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात् कल्याणं वो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः॥

इसके अतिरिक्त दक्षिणके बहुत-से प्राचीन ग्रन्थोंमें राधाका उल्लेख है। भक्त कवि बिल्वमङ्गलका ‘कृष्ण-कर्णामृत’ श्रीराधा-कृष्णलीलासे ही ओतप्रोत है।

श्रीमद्भागवतमें भी प्रच्छन्नरूपसे राधाका उल्लेख है। इसके सिवा पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, भविष्यपुराण, श्रीमद्देवीभागवत, गर्गसंहिता, नारदपाञ्चरात्र, राधातन्त्र आदि अनेकों प्राचीनतम ग्रन्थोंमें ‘राधा-महिमा’ का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह कहना सर्वथा भ्रम है कि राधा-कथाका समावेश या राधा-नामका प्रचार तीन-चार सौ वर्षसे ही हुआ है। उपर्युक्त प्रमाण भक्त-प्रेमियोंके लिये नहीं दिये गये हैं, ये तो शङ्काशील बुद्धिवादी पुरुषोंकी शङ्का-निवृत्तिके लिये हैं। पर संदेहवादी पुरुषोंका संदेह इससे पूर्णतया निवृत्त हो ही जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, संदेहवादी पुरुषोंके तर्कसे श्रद्धालु लोग भ्रममें न पड़ जायँ, इसमें यह विवेचन सहायक हो सकता है।

अनुभवी और श्रद्धालु भक्तोंकी दृष्टिमें तो श्रीराधा-कृष्ण नित्य सच्चिदानन्द भगवान् हैं।

कृष्ण शक्तिमय, शक्ति राधिके—चिन्मय एक तत्त्व भगवान।
नित्य अनादि अनन्त अगोचर अमल अनामय सत्य महान॥
त्रिगुणरहित भगवद्गुणमय शुचि सच्चिन्मय-आनन्द शरीर।
लीलामय लीला लीला-रत दो तन दिव्य नित्य अशरीर॥

अनन्य रसिक श्रीहरिराम व्यास

(लेखक—श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

पुण्य-सलिला वेत्रवतीके तटपर बुंदेलखंडकी प्राचीन राजधानी ओरछा नगरीमें संवत् १५६७ विक्रमीकी मार्गशीर्ष कृष्णा ५ के दिन अरुणोदयके समय सनाढ्य-कुलरत्न माध्वमत-मार्तण्ड श्रीसुमोखनजी शुक्लके घर श्रीमती देविकाजीकी धन्य-कुक्षिसे परम भागवत रसिकानन्य श्रीहरिरामजीका जन्म हुआ।

बुंदेला राजवंशके गुरु होनेके कारण श्री सुमोखनजीके वैभवमें किसी प्रकारकी कमी नहीं थी। जिस समय श्रीहरिरामका ओरछामें जन्म हुआ, बुंदेलखंडकी राजधानी झाँसीसे तीस मील उत्तरकी ओर स्थित गढ-कुंडार नामक एक नगरी थी। उस समय ओरछामें विद्वान् और साधु-संत विशेषरूपसे रहते थे। उन्हें वहाँ तुङ्गारण्यकी प्राकृतिक शोभाका रसास्वादन करते हुए विद्याभ्यास और भगवद्भजन करनेका अच्छा सुयोग था। बालक हरिरामकी शिक्षाके लिये यहाँ प्रचुर साधन उपलब्ध थे। इनकी कुशाग्र बुद्धि अभीसे विद्वानोंको आश्चर्यचकित करने लगी। शीघ्र ही इन्होंने व्याकरणादि शास्त्रों तथा वेद-वेदाङ्गोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया।

अनुकूल अवसरपर इनके पितृदेव श्रीसुमोखनजी शुक्लने युगल-मन्त्रसे वैष्णव दीक्षा दी। योग्य अवस्थापर इनका विवाह भी एक सुशीला कन्यासे सम्पन्न हो गया। यद्यपि पहले यह शास्त्रार्थी पण्डित थे; किंतु थोड़े ही समयमें इनके हृदयमें सरस भक्तिका अलौकिक संचार हो गया।

जिस समय व्यासजी तीर्थाटन करते हुए जगन्नाथपुरी गये थे, वहाँ उनकी भेंट संत माधवदासजीसे हुई थी। व्यासजीने उनसे भागवतसम्बन्धी अपनी शंकाओंका समाधान प्राप्त किया था तथा भक्तिकी दृढ़ताका आशीर्वाद पाया था; इससे वे माधवदासजीमें भी सद्गुरु-भाव रखते थे। संवत् १६१२ वि० में जब श्रीमाधवदासजी पुरीसे वृन्दावन जाते समय ओरछा होकर निकले और व्यासजीके घर आये, तब व्यासजी घरपर नहीं थे। वे स्नानादिके लिये नदी गये थे। माधवदासजी केवल यह कहकर कि 'व्याससे मिलना था, मैं वृन्दावन जा रहा हूँ' चल दिये। जब व्यासजी घर आये और उन्हें यह समाचार मिला, तब वे तुरंत ही वृन्दावन चल पड़े। मार्गमें वे गाते जाते थे—

अब न और कछु करनै, रहनै है वृन्दावन।
होनी होई हो होइ किनि दिन दिन आयु घटति झूठे तन॥
मिलिहैं हित ललितादिक दासी रासमें गावत सुनि मन।
जमुना पुलिन कुंज घन बीथिन विहरत गौर स्याम घन॥
कह सुत संपति गृह दारा काटहु हरिमायाके फंदन।
'व्यास' आस छाँड़हु सब ही की कृपा करी राधानँदनंदन॥

तथा—

हरि मिलिहैं मोहि बृन्दावन में।
साधु-वचन मैं साचे जाने, फूल भई मेरे मनमें॥
बिहरत संग देखि अलिगन जुत, निविड निकुंज-भवनमें।
नैन सिराइ पाइ गहिबी, तब धीरज रहै कवन में॥
कबहुँकि रास-विलास प्रगटिहै, सुंदर सुभग पुलिनमें।
बिबिध बिहार अहार सच्यौ है 'व्यासदास' लोचनमें॥

वृन्दावन पहुँचते ही व्यासजी संत माधवदासके पास पहुँचे और उनकी इंगित चेतावनीपर अपनी कृतज्ञता प्रकट की। अब वे श्रीहितहरिवंश और स्वामी श्रीहरिदासजीके साथ महल-सेवामें भाग लेने लगे।

एक दिनकी घटना है कि इनके यहाँ रासमण्डल नृत्य करती हुई राधिकाजीका नूपुर टूटकर अलग ह गया। आपने शीघ्र ही अपना यज्ञोपवीत तोड़क राधिकाजीके नूपुरमें गूँथ दिया। यह देख सब लो आश्चर्यसे पूछने लगे कि व्यासजी! 'यह क्या किया

यज्ञोपवीतको आपने पैरोंमें बाँध दिया ?' आपने तत्काल हँसते हुए उत्तर दिया कि 'यह मेरा सौभाग्य है कि जो इसे भगवच्चरणोंकी प्राप्ति हो गयी ।' भावुक भक्तोंको इस उत्तरसे और भी अधिक आनन्द प्राप्त हुआ ।

महाराज मधुकरशाहको व्यासजीके बिना ओरछेमें एक बड़ा अभाव-सा लगने लगा । थोड़े ही समय पश्चात् उन्होंने अपने मन्त्रीके हाथ व्यासजीको एक पत्र भेजा, जिसमें ओरछा वापस आनेके लिये बड़ी अनुनय-विनय की । व्यासजीके विचारोंसे वे भलीभाँति परिचित तो थे ही । उन्हें मालूम था कि अब व्यासजी कह गये हैं कि वे वृन्दावनको नहीं छोड़ेंगे । इससे राजाने अपनी प्रार्थनाके समर्थनके निमित्त पत्रमें एक युक्तिपूर्ण पद भी लिख भेजा । व्यासजी पत्रमें लिखे गये उस पदको पढ़कर महाराजकी चतुराईपर मन-ही-मन प्रसन्न हुए; किंतु वृन्दावन वे किसी भी दशामें छोड़नेको तैयार न थे । मन्त्रीको जब व्यासजीने सूखा-सा कोरा उत्तर दे दिया तब उसने श्रीहितहरिवंशजीसे प्रार्थना की कि यदि आप व्यासजीको समझा देंगे तो मेरा काम बन जायगा । श्रीहितजीने कहा कि व्यासदासके आनेपर उन्हें समझा देंगे । इस प्रसंगका पता व्यासजीको चल गया । उन्होंने कई दिनोंतक ऐसा संयोग ही न होने दिया जिससे कि उनके गुरुदेव श्रीहितहरिवंशजीको वह अवसर मिलता । मन्त्रीको तो और कोई दूसरा काम था नहीं । उसने श्रीहितजीसे निवेदनकर व्यासजीको ढूँढ़नेके लिये कुछ सेवक भिजवाये । व्यासजी मिल गये, बोले, 'चलो चलता हूँ । तैयार हो लूँ ।' यह कहकर उन्होंने कोयला घिसकर अपने मुँहपर कालिख पोत ली और श्रीहितजीकी ओर चले । साथवालोंने पूछा कि व्यासदासजी यह स्वाँग क्यों बनाया है ? तब उत्तर दिया कि 'वृन्दावन छोड़नेका यही रूप है । जब गुरुदेव यहाँसे जानेकी आज्ञा देंगे तो मुझे अपने मुँहपर कालिख लगाना ही पड़ेगा । आज्ञा-पालनमें उतना विलम्ब और होगा, इससे यह पहलेहीसे पोत ली है ।'

श्रीहिताचार्य महाप्रभुको इस बातका पता व्यासजीके वहाँ पहुँचनेके पूर्व ही चल गया । उनको मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उन्होंने व्यासजीसे कहला भेजा कि 'वे श्रीवृन्दावनसे जानेकी उन्हें कोई आज्ञा न देंगे ।' मन्त्रीजीको उन्होंने परिस्थिति समझाते हुए दुराग्रह छोड़नेकी सलाह दी । तब मन्त्रीने व्यासजीसे पत्रोत्तर लिख देनेकी प्रार्थना की । उत्तर लिखनेके पूर्व व्यासजीने राजाके पत्रमेंसे वह पद फिर पढ़ा जो इस प्रकार था—

ओड़छौ वृन्दावन सौ गाँव ।
गोवर्धन सुखसील पहरिया जहाँ चरत तृन गाय ।
जिनकी पदरज उड़त सीसपर मुक्ति मुक्त हो जाय ॥
सप्तधार मिलि बहत बेतवा जमुना जल उनवान ।
नारी नर पावन ह्वै जावत कर करके स्नान ॥
जो थल तुंगारन्य बखानौ ब्रह्मा बेदन गायौ ।
सो थल दियो नृपति मधुकर कौं श्रीस्वामी हरिदास बतायौ॥

इसके बाद उत्तरमें उन्होंने लिखा—

सदा बनके राजा भगवान ।
जाकौ अंत अनंत न जानत, करि मुख चतुर बखान ॥
जो पर भाव भक्ति रजधानी राधारानी प्रान ।
कुंज महल श्री वृन्दावन धन गोपी रूप निधान ॥
प्रेम प्रजा व्रजवासी अनुचर ग्वाल ग्वालि सन्तान ।
माइ जसोदा नंद पिता सुखदाता श्री वृषभान ॥
विटप छत्रछाया मृदु राजत आसन सभा सुजान ।
मंत्री मदन सहायक संतत लायक बिषय प्रधान ॥
नटवा मोर और कल कोकिल मधुप सुरन बंधान ।
भेरि भार ही, झरना कलरव, मधुर मृदंग निसान ॥
राग-भोग संजोग सदा गति, रास-विलास सुगान ।
यह सुख व्यासदासकौं निसिदिन, दीनौ कृपानिधान ॥

तब राजाने स्वयं एक बार वृन्दावन जाकर व्यासजीको लानेका विचार किया । वे वहाँ पहुँचे और अनेक प्रकारसे उन्होंने श्रीव्यासजीको ओरछा ले आनेका प्रयत्न किया, किंतु व्यासजीने उन्हें समझा-बुझाकर कहा—

अब मैं वृन्दावन धन पायौ ।
राधा चरन सरन मनु दीनौ, मोहनलाल रिझायौ ॥
सूतौ हुतौ विषै मंदिरमें, श्री गुरु टेरि जगायौ ।
अब तौ व्यास बिहार बिलोकत, सुक नारद मुनि गायौ ॥

राजाकी सहायता करनेके लिये उपस्थित लोगोंमेंसे कुछ ठकुरसुहाती बातें करने लगे । किसीने कह दिया कि 'अरे, राजाकी रुचि भी रह जायगी और घरके लोगोंसे भी मिल आओगे । एक पंथ दो काज होते हैं—व्यासजी महाराज ।' तब व्यासजी बोल पड़े—

श्रीवृन्दावनके रूख, हमारे मात पिता सुत बन्धु ।
गुरु गोविन्द साधु गति मति सुख फल फूलन कौ गन्ध ॥
इनहि पीठि दै, अनत दीठि करै, सो अंधनिमें अंध ।
'व्यास' इन्हें छोड़ैरु छुडावै, ताकौ परै निकंध ॥

अब सबने समझ लिया कि मामला टेढ़ा है । व्यासजी न जायेंगे । तब राजाने कहा कि 'गुरु महाराज मुझे क्या आज्ञा है ?' व्यासजी बोले कि 'बस, एक वही:—

हरि सों कीजै प्रीति निवाहि ।
कपट किये नागरनट जानत, सबके मनकी डाहि ॥
मैं फिरि देख्यौ लोक चतुर्दस, नीरस घर घर आहि ।
अपनै अपनै स्वारथके सब, मन दीजै अब काहि ॥
भक्ति प्रताप न जानत बिषई, भवसागर अवगाहि ।
जार जुवति गनिका कौ बेटा, पहिचानै न पिताहि ॥
जैसे प्यासौ मृग धावत, नहिं पावत मृग तृष्नाहि ।
ऐसे तन धन सुत दारा सब झूठे, मधुकर साहि ॥

गुरुके उपदेशको धारणकर और उनसे विदा माँगकर राजा ओरछा वापस चले गये ।

श्रीवृन्दावनकी शोभापर अपनेको न्योछावर किये हुए, भगवान्‌के गुणानुवाद कीर्तन करते, साधु-संतोंकी सेवामें परायण, युगल उपासनामें लीन अपने आदर्श आचरण और सद्व्यवहारसे जड-चेतनमें समान रूपसे अनुभूति रखते हुए श्रीव्यासजी अपने अमूल्य समयका सदुपयोग करने लगे और कुछ समय बाद सम्भवतः जेष्ठ शुक्ला एकादशी संवत् १६६९ के लगभग उन्होंने निकुञ्ज-लीलामें अनन्त प्रवेश किया ।

नैन न मूँदे ध्यान को किये न अंगन न्यास ।
नाचि गाय रासहि मिले बसि बृंदावन व्यास ॥

◆

गीत

(रचयिता—श्रीनरसिंहजी श्रीवास्तव एम्० ए०)

इसलिये रिक्त रखता हूँ यह मनका प्याला ,
कि तेरे जीवनकी सुरा इसीमें समा सके ।
ये मनके मेंड़ तोड़ फोड़ डाले मैंने,
जीवनमें कोई बाँध नहीं बाँधा मैंने ।
कि तेरी ममताकी धार जिधरसे भी आये ,
मेरे जीवनका खेत उसीमें नहा सके ।

× × × ×

दर-दर घर-घर ढूँढ़ा मैंने तुम मिले नहीं,
इसलिये शान्तिकी चिर समाधि ले बैठा हूँ ।
इसलिये मौन रहता हूँ, कि जब भी बोलूँ ,
मेरा स्वर तुझको एक बारमें बुला सके ।
इसलिये रिक्त रखता हूँ यह मनका प्याला ,
कि तेरे जीवनकी सुरा इसीमें समा सके ।

राजसी श्रद्धा*

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'भारतकी जनसंख्या बराबर बढ़ती जा रही है। इस बढ़ती हुई जनसंख्याको भोजन देनेकी समस्या कम विकट नहीं है।' मैं यात्रा कर रहा था रेलके द्वितीय श्रेणीके डिब्बेमें। उसमें एक स्वच्छ खद्दरधारी पुरुष सामनेकी बैठकपर विराजमान थे और बड़े उत्साहसे वे अपने पास बैठे एक दूसरे सज्जनको समझा रहे थे कि अन्नके उत्पादनके लिये सरकारकी क्या-क्या योजना है।

'आप बुरा न मानें तो मैं एक घटना सुनाऊँ।' एक गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी बीचमें बोल उठे।

'इसमें बुरा माननेकी तो कोई बात नहीं।' उन खद्दरधारी महोदयको कुछ बुरा अवश्य लगा; क्योंकि नहर-बाँध-योजनासे लेकर चकबंदी तककी सब सरकारी योजनाओं एवं उनके लाभ वे समझा देना चाहते थे; किंतु उनके श्रोताको उनके व्याख्यानकी अपेक्षा साधुसे घटना सुनना अधिक आकर्षक जान पड़ा और वे उन संन्यासी महोदयके अभिमुख हो गये।

यात्रा लंबी थी। हमारे डिब्बेमें कोई खड़ा नहीं था और न कोई लेट लगानेको ही स्थान पा सका था। इस प्रकार बैठे-बैठे कई घंटे व्यतीत करनेका कुछ अच्छा साधन नहीं था। जो पुस्तकें तथा समाचारपत्र लिये गये थे, वे पढ़े जा चुके थे। अब और पढ़नेकी इच्छा नहीं हो रही थी। सब संन्यासीजीकी घटना सुननेको उत्सुक हो गये।

'हम सब सुनना चाहते हैं।' एक साथ कई स्वर आये। इसका अर्थ था कि कुछ उच्चस्वरसे बात कही जाय।

'घटना मेरी नहीं है।' संन्यासी महोदय बोले। 'एक बार मुझे एक बहुत बूढ़े जटाधारी वैष्णव साधु मिले थे। नासिक कुम्भके अवसरपर, उन्होंने यह घटना मुझे सुनायी थी।

'वे कहते थे कि अपनी युवावस्थामें एक बार वे बद्रीनाथकी यात्रा करने गये थे। लौटते समय पाण्डुकेश्वरसे भुशुण्डिकुण्डकी ओर चले गये और कोई मार्गदर्शक न होनेसे उधर पहाड़ोंमें भटक गये।' संन्यासीजीने एक बार सबकी ओर देखा—'चार दिन भटकते रह गये पर्वतोंमें। वहीं उन्हें महर्षि लोमशके दर्शन हुए।'

अब सब लोग बहुत उत्सुक हो गये थे। कुछ लोग कुछ झुक आये थे और एक सज्जन तो अपने स्थानसे उठकर संन्यासीजीके पास पड़ी हुई सन्दूकपर ही आ बैठे।

'उन साधुने सत्सङ्गकी बात तथा अपने अकस्मात् एक गुफामें शयनकी बात सुनायी। यह भी सुनाया कि उन्हें महर्षिने एक दिव्य कन्द दिया, जिसे भोजन कर लेनेसे भूख तो गयी ही, थकावट भी सर्वथा चली गयी।

'सबसे मुख्य बात जो साधुने बतायी—'एक क्षण संन्यासीजी रुके—'उन्होंने महर्षि लोमशसे पूछा था कि पृथ्वीपर यह जो कीड़े-मकोड़ोंके समान मनुष्य बढ़ते जा रहे हैं, इनके भोजनकी क्या व्यवस्था होगी?'

अब हम सबमें जो उत्सुकता जाग्रत् हुई, वह मत पूछिये। वे खद्दरधारी सज्जन, जो अबतक कुछ खीझे हुए-से चुपचाप बैठे थे अपना समाचारपत्र उलटते, उन्होंने भी समाचारपत्र एक ओर रख दिया था।

'आप सब जानते ही हैं कि महर्षि लोमश अमर हैं।' संन्यासीजी बोले—'प्रलयमें भी उनका नाश नहीं होता। उन्होंने उन वैष्णव साधुको किसी प्राचीन कल्पकी एक बात सुना दी। अब महर्षिकी बात आप सुन लें।'

× × ×

समुद्रके मध्यमें एक महाद्वीप था। बड़े बुद्धिमान् एवं उद्योगशील पुरुष थे वहाँके। उन बुद्धिमान् लोगोंकी प्रतिभाने जो चमत्कार दिखलाये थे, आजके मनुष्य उसका अभी स्वप्न भी नहीं देख पाते हैं। वे मृत्युपर विजय तो नहीं पा सके थे; किंतु रोगों एवं बुढ़ापेको उन्होंने अपने महाद्वीपसे सदाके लिये विदा कर दिया था। इसका फल

---

* 'कर्मश्रद्धा तु राजसी।'

यह हुआ कि मृत्यु-संख्या बहुत थोड़ी रह गयी । महाद्वीपकी जन-संख्या प्रति पाँचवें वर्ष दुगुनी होती चली गयी ।

'बाप रे !' वे खद्दरधारी महोदय चौंके ।

'महाद्वीपमें वृक्ष बचे ही नहीं, केवल भवनोंकी छतों एवं खिड़कियोंमें लगाये कुछ पुष्प-लताओंके पौधे रह गये । महाद्वीपका एक कौतुकालय था और वहीं पशु-पक्षी देखे जा सकते थे । पूरे महाद्वीपमें गगनचुम्बी भवन तथा स्नानके लिये आवश्यक जलाशय रह गये थे । यानोंके संचालनकी व्यवस्था उन बुद्धिमान् लोगोंने भूमिके नीचे कर दी थी और उनके आकाशचारी यान भवनोंकी छतोंपर उतरते तथा वहींसे उड़ते थे । भूमिके ऊपर बहुत कम पथ रह गये थे । केवल इसलिये कि उनसे समीपके भू-गर्भमें स्थित किसी यानको पानेके लिये जाया जा सके ।

'वे भोजन क्या करते थे ?' उन खद्दरधारी महोदयने पूछा ।

'मैं महर्षि लोमशकी कही बात सुना रहा हूँ ।' संन्यासीजी बोले—'आप कुछ क्षण धैर्य रखें ।' और वे फिर महर्षिकी बात सुनाने लगे—

'वे इस प्रकारके वस्त्र पहनते थे जो न फटते थे, न मैले होते थे । केवल रुचिके कारण वे वस्त्रोंको बदल लिया करते थे । वैसे उनके वस्त्र विभिन्न रंगोंके और उत्तम थे ।

'उन्होंने अद्भुत यन्त्र लगा रक्खे थे । महाद्वीपका एक भाग विभिन्न प्रकारके यन्त्रोंसे भरा था । उनके यन्त्र दूध, दही, घी, फल, मेवे और वे सब आवश्यक वस्तुएँ बना देते थे, जिनकी उन लोगोंको आवश्यकता थी ।

'उन अद्भुत मनुष्योंने कुछ ऐसी व्यवस्था कर ली थी कि उनके यहाँ न आँधी आ सकती थी, न प्रबल वर्षा होती थी । वे जब चाहते थे—मेघ उत्पन्न करके रिमझिम वर्षा करा लेते थे । शीत कितना पड़ना चाहिये और उष्णता कितनी होगी, यह उनकी इच्छापर निर्भर था ।

'उनके यन्त्रोंके लिये कच्चा माल कहाँसे आता था ?' खद्दरधारी महोदयने पूछा ।

'आपने फिर बीचमें बाधा दी है ।' संन्यासीजी तनिक असंतुष्ट हुए—'महर्षिने जो बताया है—मैंने साधुसे सुना और वह बता रहा हूँ । किसी प्रश्नका उत्तर मेरे पास नहीं है ।'

'आप वही बतावें !' दूसरे लोगोंने विनय की ।

'उन लोगोंकी कर्ममें प्रबल निष्ठा थी । उद्योगको ही वे जीवनका सर्वस्व मानते थे । उद्योग—अथक उद्योग, इसकी परम्परा बन गयी थी उनमें । परिश्रम करनेमें उन्हें सुख मिलता था । उनके यहाँ 'आलस्य' शब्द ही नहीं था ।

'अनन्त समुद्र उनका उत्पादन-क्षेत्र था । उनके यान समुद्रके जलके भीतर, सतहपर एवं आकाशमें अबाध चलते थे । समुद्रमें उनके गहरे डूबनेवाले यान घूमते रहते थे और वहाँ उनकी कृषि होती थी—विचित्र प्रकारकी कृषि । इन समुद्री पौधों एवं प्राणियोंके उत्पादन-पालनसे उनके यन्त्रोंके लिये सामग्री उपलब्ध होती थी और उस सामग्रीसे वे यन्त्र दूध, घी, वस्त्र, फल, मेवे, अन्न एवं धातु—सभी उत्पन्न किया करते थे ।

'उन लोगोंकी जनसंख्या बढ़ती जा रही थी । महाद्वीप उनके लिये छोटा होता जा रहा था; किंतु उनका उत्साह अदम्य था । उनके यान अब चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि ग्रहोंमें पहुँचने लगे थे और उन्होंने अन्वेषण प्रारम्भ कर दिया था उपनिवेश बनाने योग्य भूमिका ।

'उन लोगोंकी यह चरमोन्नतिका वर्णन है ।' संन्यासीजीने फिर तनिक विश्राम लिया ।

× × ×

'उनके यहाँ साधु-संन्यासी निश्चय नहीं रहे होंगे !' खद्दरधारी महोदयने व्यङ्ग किया ।

'एकदम नहीं !' संन्यासीजीने बिना अप्रतिभ हुए उत्तर दिया—'वे कर्मको ही आराध्य माननेवाले लोग थे तो उनके यहाँ कर्मत्यागी कोई हो ही कैसे सकता था । वैसे महर्षि लोमशने बताया था कि उनके यहाँ भी उपासना थी । वे लोग प्रायः समुद्रगर्भमें निहित रत्नोंकी प्राप्तिके लिये अपने यन्त्रोंकी अपेक्षा अपनी उपासनापर अधिक निर्भर करते थे । उनके उपास्य थे यक्ष । यक्षिणीसिद्ध अनेक थे उस महाद्वीपमें । उनकी यह सिद्धि उनके उद्योगमें बहुत सहायक होती थी ।'

'वे लोग सम्भवतः पृथ्वी छोड़कर किसी दूसरे लोकमें जा बसे ?' एक सज्जनने पूछ लिया ।

'उन लोगोंका हुआ क्या ?' यह प्रश्न हम सभीके मनमें था ।

'महर्षि लोमशने बताया—' संन्यासीजी कह रहे थे—

कि 'कर्मकी प्रवृत्ति राजसी प्रवृत्ति है । रजोगुण प्रारम्भमें बहुत सुखद जान पड़ता है । वैभवके बहुत स्वप्न दिखलाता है । यश-ऐश्वर्यका लोभ न हो तो प्रवृत्तिमें प्राणी क्यों पड़े; किंतु रजोगुणका अन्तिम परिणाम है दुःख एवं विनाश 'परिणामे विषमिव ।'

'तो वे बुद्धिमान् लोग भी यादवोंकी भाँति परस्पर लड़ मरे ?' एक वृद्ध पण्डितजीने पूछा ।

महर्षिने तो बताया था कि 'उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर ली थी कि उनके समाजमें न युद्ध सम्भव रहा था और न डकैती, चोरी आदि अपराध ही ।'

'तब तो न वे दुखी हो सके, न उनका विनाश ही सम्भव दीखता !' खद्दरधारी महोदय बोले ।

'लेकिन हुआ यही ।' संन्यासीजीने बताया—'महर्षिका कहना था कि एक रात्रिमें उस महाद्वीपके उस भागमें, जो महाद्वीपका यन्त्रालय था, पृथ्वी फट गयी । एक ज्वालामुखी फूट पड़ा अचानक और यन्त्रोंको जिस प्रकाण्डशक्तिसे वे बुद्धिमान् मनुष्य चलाते थे, उस शक्तिके भण्डारमें विस्फोट हो गया । दूसरे दिन जब सूर्योदय हुआ, उस महाद्वीपके समुद्र हिलोरें ले रहा था । पूरा महाद्वीप उस विस्फोटमें विलुप्त हो गया था ।'

'ओह !' हम सभी धक्-से रह गये । एक बड़ा स्टेशन समीप आ गया था । गाड़ीकी गति कम होने लगी थी । संन्यासीजी अपने स्थानसे उठे । उन्होंने अपना विस्तर ऊपरसे उतारकर नीचे रक्खा और कमण्डलु हाथमें ले लिया । उन्हें यहीं उतरना था ।

'उन वैष्णव साधुने बताया था कि इतनी ही कथा सुनाकर महर्षि लोमश पर्वतोंमें कहीं चले गये थे और फिर ढूँढ़नेपर भी उन्हें मिले नहीं ।' संन्यासीजीने ट्रेन रुकते-रुकते कहा—'अतः मुझे भी और कुछ ज्ञात नहीं ।'

वे वहीं उतर गये । उनकी सुनायी घटना सत्य है या कल्पित, इस सम्बन्धमें डिब्बेमें बैठे लोगोंके विभिन्न मत थे । आप अपना मत स्वयं स्थिर करें ।

संतोंकी सेवामें

(लेखक—श्रीबलरामजी साधु)

विकराल कलिकालकी क्रूर गतिसे आज अपना संत-समाज भी अपने प्राचीन गौरवपूर्ण पदसे पतित होकर निरन्तर ह्रासकी ओर जा रहा है तथा अपनी पुरातन प्रतिष्ठासे वञ्चित होकर जनसाधारणकी दृष्टिमें निरन्तर तिरस्कृत होता जा रहा है । इस कारण सभी संत-महात्माओंसे प्रार्थना है कि वे अपने कर्तव्योंपर ध्यान देकर संसारका कल्याण करें; क्योंकि वे आत्मिक तथा यौगिक बलसे परिपूर्ण हैं । सभी शक्तियोंके विकासकी कुंजी भी संतोंके ही हाथोंमें रही है । आज वे अपनी प्राचीन उच्च अवस्थापर ध्यान देकर सच्चे सुधारका प्रयत्न करें । संतोंके अंदर परमात्माने अपनी शक्ति इस प्रकार भर दी है जिस प्रकार वृक्षके बीजमें वृक्षकी शाखाएँ तथा पत्ते अदृश्य रूपमें विद्यमान हैं । जैसे उचित अवस्थामें बीज जल, वायु, उष्णता आदिकी प्राप्ति करके कुछ ही समयमें अपने भागोंको रूप देकर हरे-भरे वृक्षका रूप धारण कर लेता है, बस, ठीक उसी बीजकी प्रधानताके सदृश हमें भी उचित वातावरण मिला है । इसी वातावरणके द्वारा आज इस स्वतन्त्र भारत देशमें अपने विचार प्रकट करनेका हमें भी अधिकार है । अधिकारके साथ कुछ कर्तव्य भी अवश्य हैं ।

इसलिये आज सभी संत-महात्माओंका यही कर्तव्य है कि अपने विशुद्ध आचरण एवं धर्मोपदेश-द्वारा संसारमें सुख-शान्ति स्थापित करें । विश्वास रखना चाहिये कि सुख-शान्तिका आधार केवल स्वार्थ-त्याग, सत्य-भाषण, परोपकार, मन-इन्द्रियदमन, अहिंसा, तितिक्षा आदि सद्गुणोंपर ही निर्भर है । आज भौतिक पदार्थोंकी चमक-दमकसे प्रभावित होकर मानव अपने स्वरूपको भूलता जा रहा है । संतोंको चाहिये कि वे मानवको स्वरूप-विस्मृतिसे बचायें ।

रही बात उन संत-महात्माओंकी, जो इस प्रगतिशील जगत्की ओर ध्यान न देकर एकान्त स्थानमें

शान्ति प्राप्त कर रहे हैं । जैसे भृङ्गी कीटको अपना स्वरूप प्रदानकर अपने ही स्वरूपमें मिला लेती है, वैसे ही ऐसे संत-महात्मा भी अपनी ज्ञानपूर्ण वाणीसे सदुपदेशोंद्वारा मानवको अपने ही सदृश बना लेते हैं । वास्तवमें परमात्माने आपको वह शक्ति प्रदान की है, जिसके द्वारा आप चाहे जिस व्यक्तिको आदर्श मानव बना सकते हैं । केवल आपके इस ओर ध्यान देनेकी ही देर है ।

उठिये ! सावधान होकर अपनी योग-क्रियाके सच्चे बलसे खड़े हो जाइये और उसी योग-बलकी शक्तिके द्वारा सुख-शान्तिकी वर्षा कर प्रत्येक मानवके अन्तःकरणमें आदर्श विश्व-प्रेमको उत्पन्न करा दीजिये । जब सभी मानव इस प्रकारका व्यवहार करेंगे, तब यह भारत पुनः अपनी प्राचीन ख्यातिको प्राप्तकर संसारमें पुनः जगद्गुरुके नाम विख्यात हो जायगा ।

एक साधकके उद्गार

(१)

मैं जीवन समर्पण करना चाहता तो हूँ, कभी-कभी ऐसा प्रतीत भी होता है कि 'समर्पण हो गया', पर प्रभुके प्रति जीवन समर्पित हो जानेपर चिन्ता-विषाद क्यों होते ? संसारकी कामना-वासना मनमें क्यों उठती ? इससे मालूम होता है समर्पणमें ही त्रुटि है; कहनेभरका समर्पण है । पूर्ण समर्पण हो जाता तो अपना कुछ भी नहीं बच रहता । ममता तथा अहंताकी कोई चीज कैसे रह जाती ? प्रभु तो हृदयके भाव देखते हैं, वे बातोंसे नहीं भूलते । पर समर्पण करनेयोग्य स्थिति भी तो उन्हींकी अनुकम्पासे होगी । जिसपर प्रभुकी—श्रीराधा-रानीकी कृपा होती है, वही इस योग्य बन जाता है ।

× × ×

(२)

प्रेमके लिये जिस त्यागकी, जिस स्व-सुख-वाञ्छाके त्यागकी आवश्यकता है, वह जबतक मुझमें नहीं आ जाता, तबतक मैं प्रभु-प्रेम-प्राप्तिकी आशा कैसे करूँ ? मैं देखता हूँ—मन विषयोंकी ओर जाता है । अनुकूलता, प्रतिकूलतामें हर्ष तथा उद्वेग मनमें होता है । प्रभुप्रीति ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है, भोगवासना बीच-बीचमें जाग्रत् हो जाती है । ऐसी अवस्थामें प्रेमकी स्थिति कैसे प्राप्त हो ? कभी-कभी ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि मेरे मनमें जो कुछ आता है तथा मैं जो कुछ भी करता हूँ, सब प्रभु-प्रीत्यर्थ ही करता हूँ । प्रभु अवश्य ही ऐसा ही मानते हैं; ऐसा प्रभुकी ओरसे संकेत भी मिलता है, पर जब गहराईसे देखा जाता है, तब प्रभुप्रीतिकी आड़में स्व-सुख-कामना घूँघट निकाले अँधेरेमें छिपी बैठी दीखती है और प्रभुप्रीतिके नामपर धोखा देकर अपना काम बनाती रहती है । इसीसे जहाँ प्रतिकूलता आती है, वहाँ प्रभुप्रीतिको देखते रहनेपर भी मनमें कुछ क्षोभ—कुछ उद्वेग-सा दिखायी पड़ता है और जहाँ अनुकूलता आती है, वहाँ अनुकूलता-जनित हर्षकी लहर-सी दौड़ जाती है ।

अब तो प्रभुसे ही प्रार्थना है, वे बची-खुची सारी कामना-वासनाका सर्वथा नाश करके अपना निर्मल-विशुद्ध अनन्य प्रेम प्रदान करें ।

× × ×

(३)

प्रभो ! मेरे मनकी क्या स्थिति है—आप अन्तर्यामी सब जानते ही हैं । अपने मनके मलिन भावों और नीच आचरणोंकी ओर देखता हूँ तो आपसे प्रार्थना करनेमें भी संकोच होता है—आपकी ओर ताकना भी नहीं बनता—

कौन जतन बिनती करिये ।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥

मेरे मनमें तो प्रेमके नामपर स्व-सुखकी चाह, इन्द्रियोंकी तृप्तिकी इच्छा ही भरी है, उसके सिवा और

क्या है ? परंतु मेरे नाथ ! आप अकारण सुहृद् हैं । आप मेरी ओर—मेरे नीच मनकी ओर कभी न देखकर सदा अपनी ओर ही देखियेगा । मैं उठते-बैठते, जागते-सोते स्वप्नमें भी कभी क्षणभरके लिये भी आपको न भूलूँ । आपकी मधुर स्मृति मेरे हृदयमें कैसे भी सदा-सर्वदा बनी ही रहे । मैं कभी प्रमादवश भूल भी जाऊँ, तब भी आप न भूलियेगा । आपकी स्मृति मेरे हृदयमें सदा बनी रहे, बस, आपसे बार-बार यही चाहता हूँ । आप मेरी इस चाहको अवश्य ही पूरी करें ।

× × ×

(४)

प्रभो ! कहाँ मैं तुच्छ, नगण्य, नीच और कहाँ आप महान्‌से भी महान् । जमीन आसमानसे भी तुलना नहीं होगी । पर जब मैं आपकी कृपाकी ओर देखता हूँ, आपके सहज सौहार्दकी ओर देखता हूँ और आपकी निज-जन-परायणताकी ओर देखता हूँ तो अपनी सारी त्रुटियोंको, सारी कमजोरियोंको, सारी भूलोंको तुरंत भूल जाता हूँ । अपने-आपको भी भूल जाता हूँ । अपने-आपको एकदम खो बैठता हूँ । उस समय बस, आप ही बच रहते हैं—केवल और केवल आप ही रह जाते हैं । उस समय कैसी स्थिति होती है, वह वाणीसे नहीं बतायी जा सकती । मैं चाहता हूँ—मेरी ऐसी स्थिति सदा बनी रहे ।—सदा बनी रहे मेरे प्राणप्रियतम !

मेरा शरीर भगवान्‌का अपना घर है

मेरा शरीर भगवान्‌का निवासस्थान है । अखिल लोकमहेश्वर भगवान् नित्य मेरे हृदयमें विराजित रहते हैं । भगवान्‌की उपस्थितिसे मेरा जीवन सब रूपोंमें पूर्ण है । भगवान्‌के निवासस्थानरूप अपने शरीरके अहोभाग्यकी मैं निरन्तर प्रशंसा करता हूँ ।

शरीर मेरी अपनी वस्तु नहीं है । भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌के प्रेम, भगवान्‌के गुणोंकी सुधा-धारा इस शरीरको माध्यम बनाकर नित्य प्रवाहित हो रही है । अतएव इसे स्वच्छ, पवित्र और सुव्यवस्थित रखना मेरा प्राथमिक कर्तव्य है ।

मैं उचितरूपमें शरीरको धो-पोंछकर निर्मल रखता हूँ । सर्दी, गरमी एवं वर्षासे बचानेके लिये इसे समुचित वस्त्रोंसे सुरक्षित रखता हूँ । शक्तिके लिये उचित भोजन इसे देता हूँ । समयपर सोता-जागता हूँ । उचितरूपमें उठता-बैठता, खेलता-कूदता तथा विश्राम करता हूँ । यह इस शरीरकी बाहरी परिचर्या है । पर यह सब इसीलिये कि यह मेरे भगवान्‌का निवासस्थान है ।

शरीरकी भीतरी परिचर्याके रूपमें मैं इसे निरन्तर शुभसे भरता रहता हूँ । भय, निराशा, विषाद, दुःख, द्वेष, घृणा, क्रोध, वैर, हिंसा आदिसे सर्वथा इसे बचाता हुआ सदा प्रेम, दया, क्षमा, मुदिता, उत्साह, सहानुभूति, शुचिता, अपरिग्रह, संयम, त्याग और सेवाके भावोंसे ओतप्रोत रखता हूँ । भगवान्‌के प्रेम, भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌के सौहार्दसे मेरा अन्तःकरण छलकता रहता है ।

फलतः मेरा शरीर बाहर-भीतरसे पूर्ण स्वस्थ है; पूर्ण सशक्त है, पूर्ण पवित्र है, पूर्ण सुन्दर है । यह भगवान्‌का 'निज-गेह' है—उनका अपना ही घर है ।

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

नमकका बदला

शिवदीन बीस वर्षसे बाबू रामदेवजीकी दूकानपर जमादार था। बचपनसे ही अपने मामा कालीचरनके साथ वह कलकत्ते आया था और बाबू रामदेवजीके यहाँ ही पल-पोसकर बड़ा हुआ था। घरमें बच्चेकी तरह आता-जाता। बाबू रामदेवजीके बहुत अच्छे दिन उसने देखे थे और समय-समयपर हजारों रुपये इनाममें पाये थे। कानपुर जिलेमें घर था। बाबूकी कृपासे शिवदीनके सौ बीघा खेत हो गया था, बीसों गाय-बैल हो गये थे। बड़ा सुखी था।

बाबू रामदेवके दिन बदले। व्यापारमें घाटा हो गया। एक कन्या विवाह योग्य थी। पत्नी-पति दोनों दुखी रहने लगे। उन्होंने शिवदीनको नहीं छोड़ा। शिवदीन छोड़कर जाना भी नहीं चाहता था। शिवदीनका हृदय मालिककी दयनीय दशासे बहुत दुखी था। उसके मनमें मानवता जागी। वह छुट्टी लेकर घर गया और घर जाकर उसने अपने आधे खेत तथा तीन जोड़ी बैल बेच दिये। नगद अट्ठाईस सौ रुपये लेकर वह कलकत्ते लौटा। बड़ा संकोच, मालिकसे कहे कैसे। बाबू रामदेव दूकान गये थे। दुपहरके समय शिवदीन घर आया और अपनी मालकिनसे सामने रोकर बोला—'माताजी! मुझे आपने लड़केकी तरह पाला-पोसा और खिला-पिलाकर बड़ा किया। मैं आज एक प्रार्थना करने आया हूँ। आप मेरी प्रार्थनाको टालियेगा नहीं।' उसकी यह दशा देखकर रामदेवजीकी स्त्रीको बड़ी दया आ गयी। शिवदीन क्या प्रार्थना करनेवाला था, इसकी तो उसको कल्पना ही नहीं थी। उसने कहा—'बेटा! तुम कहोगे, सो करूँगी, तुम रोओ मत।' शिवदीनने थैली चरणोंमें रखकर कहा—'माताजी! बहिन गोदावरीके ब्याहमें इन पैसोंको खर्च करके मुझको सुखी कीजिये। मेरे घरपर जो कुछ है, सब बाबूका ही दिया हुआ है। इतने दिन मैंने आपका नमक खाया है। मैं सुखी रहूँ और आप बहिनके विवाहके लिये दुखी रहें, यह भला मेरे जीते-जी कैसे हो सकता है?' यह कहकर शिवदीन चरणोंपर गिरकर रोने लगा।

शामको दूकानसे लौटनेपर बाबू रामदेवजीको सब पता लगा। उस समय कन्याका अच्छा विवाह दो-ढाई हजारमें हो जाता था। रामदेवजीको संकोच तो बहुत हुआ, पर उन्होंने स्वीकार कर लिया। किसीको पता भी नहीं लगा और गोदावरीका विवाह सम्पन्न हो गया। शिवदीनकी खुशीका पार नहीं था। बाबू रामदेवजी और उनकी पत्नी शिवदीनकी स्वामिभक्ति, उदारता तथा सदाशयतापर अपनेको न्यौछावर कर रहे थे!

—सीताराम शर्मा

(२)

दैवी सहायता

श्रीचिन्तामण रामचन्द्र, डायरेक्टर जनरल मेडिकल डिपार्टमेण्ट पंजाबने कहा कि "मैं जब आई. एम्. एस्. पास करनेके बाद सक्कर (सिन्ध) में सिविल सर्जन नियुक्त हुआ, तब मुझे एक बार काश्मीर देखनेका चाव हुआ। उस समय मेरे मित्र श्रीनिर्मलचन्द्रजी डी. टी. एस्. नार्थर्न रेलवे सक्कर थे। अपने परिवार और उनके परिवारको साथ लेकर मैंने काश्मीर जानेकी व्यवस्था की। मेरे परिवारमें मेरी पत्नी और तीन पुत्र थे और निर्मलचन्द्रजीके परिवारमें उनकी पत्नी और दो कन्याएँ थीं। सब व्यवस्था बारामूलासे घोड़ेकी बग्गियोंमें की गयी। हमें काश्मीरमें इंजिनियर श्रीधनराज साहनीके यहाँ पहुँचना था।

बारामूलासे जब पट्टन नामक स्थानपर पहुँचे तो अँधेरेने आ घेरा । इस अँधेरेमें आगे बढ़े तो घोड़े बिचक गये और नदीकी ढालपर उतर गये । लैण्डो बग्गीका घोड़ोंसमेत नदीमें फिसल जानेका भय भयंकररूपसे उपस्थित हुआ । हाहाकार और स्त्री-बालकोंमें रोना-चीखना शुरू हो गया । पर मुझे परमात्माका स्मरण आया, प्रार्थना की । कहीं कोई सहायता मिलनेकी आशा नहीं थी । घोड़े ढालपर उतरते जा रहे थे, इतनेमें एक बड़ा पत्थर लैण्डोके पहियोंमें फँस गया । घोड़े चारों पैरोंसे नदीमें झूल गये । इसी बीच बहुत-से आदमी 'पीरदस्तगीर बारामूला काश्मीर' जोर-जोरसे कहते हुए वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने घोड़ागाड़ीको घोड़ोंसमेत पीछेसे खींचकर सड़कपर लगा दिया । हम सब सँभले । मैं उतरकर सहायता करनेवालोंको धन्यवाद और पुरस्कार देना चाहता था, पर वे तेजीके साथ आगे बढ़कर गायब हो गये । बहुत पुकारा, पर किसीने उत्तर ही नहीं दिया । हमलोग परमात्माको और उनको हृदयसे धन्यवाद देते हुए कुशलपूर्वक काश्मीर अभीष्ट स्थानपर रातके नौ बजे पहुँच गये । तबसे मैं प्रतिदिन पूजा-पाठमें लीन रहता हूँ ।" किसीको कुछ विशेष पूछना हो तो इस पतेपर पूछ सकते हैं । श्री सी॰ आर॰ बखले, रिटायर्ड डायरेक्टर जनरल आई॰ एम्॰ एस्॰ ९४/१२ थेरुंडेवाने प्रभात रोड पूना॰ ४ ।

—कविराज प्रतापसिंह

(३)

अभिमानशून्यता और नम्रताका नमूना*

आपका पत्र मिला । पर मैं उससे वैसा आनन्द प्राप्त नहीं कर सका । 'मैं कैसा वैष्णव हूँ ?' महाजनने लिखा है—

मैं वैष्णव हूँ ! मानूँगा तो निर्मानी न रहूँगा मैं ।
मानप्रतिष्ठा आ घेरेगी, नरक-प्रवाह बहूँगा मैं ॥

इसपर आपने तो मुझे 'वैष्णव-चूड़ामणि' कहकर सम्बोधित किया है । मैं जरा भी असावधान हो जाऊँगा तो मेरे मनमें 'वैष्णव-दास' की जगह 'वैष्णव'-अभिमान आकर मुझे साधुके द्वारा सम्मान पानेके लिये लालायित कर देगा । 'अमानित्व' बड़ी ही कठिन वस्तु है । जड अभिमान सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें छिद्रान्वेषण करता हुआ प्रवेश करनेकी चेष्टा करता रहता है । अतएव, आप परम बान्धव हैं, सदा सतर्क रहियेगा—कभी दुर्योधनका अभिमान मेरे अंदर प्रवेश न कर सके । आशीर्वाद दें, जिससे मैं वैष्णवका दास होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूँ, महाजनोंकी भाषामें श्रीभगवच्चरणोंमें यह निवेदन कर सकूँ—

त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ ।

हे लोकनाथ ! आप मेरा यह समझकर स्मरण करें कि मैं आपके भृत्यके भृत्यके परिचारकके भृत्यके भृत्यके भृत्यका भृत्य हूँ ।

और—

गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ।

मैं गोपीनाथ भगवान्के चरणकमलोंके दासके दासका अनुदास हूँ—श्रीश्रीमन्महाप्रभुकी इस आदर्श शिक्षासे अनुप्राणित होकर—

'वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बकाः ॥

हमलोगोंके लिये तो हरिदासोंके पैरोंकी जूतियाँ ही अवलम्बन हैं—अपना यह परिचय हृदयसे दे सकूँ । और भी आशीर्वाद करें, जिससे कापट्यपूर्ण दैन्य

---

* एक बहुत बड़े विद्वान् सद्गुणसम्पन्न वयोवृद्ध वैष्णव महानुभावको मैंने सहज श्रद्धाके कारण 'वैष्णव-चूडामणि' लिख दिया था । उसके उत्तरमें उनका जो आदर्श पत्र मिला है, उसका कुछ अंश यहाँ दिया गया है । वैष्णवमें कैसी नम्रता, विनय और अभिमानशून्यता होनी चाहिये, यह बात इससे सीखनी चाहिये—सम्पादक

हृदयको कलुषित न कर सके, भक्त्युत्थ यथार्थ दैन्यका मेरे हृदयमें आविर्भाव हो । × ×

(४)

इंग्लैंडका संस्कार-दर्शन

इंग्लैंडकी आर्थिक और औद्योगिक स्थिति जितनी ऊँची है, उतनी ही वहाँ संस्कारिता और ईमानदारी भी ऊँची है । गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जब इंग्लैंड गये थे, तब उन्होंने वहाँका जो संस्कार देखा उसे उन्हींके शब्दोंके भाषान्तरके रूपमें यहाँ दिया जाता है—

एक जाड़ेके दिन मैं टेनब्रिज वेल्सकी एक गलीसे जा रहा था तो वहाँ एक वृद्ध और अशक्त मनुष्य खड़ा था । उसने मुझसे कुछ कहा नहीं, कदाचित् भीख माँगना बंद होगा, परंतु उसने मेरी ओर करुण दृष्टिसे देखा । मैंने उसको एक सिक्का दिया । परंतु उसको दिया हुआ मेरा सिक्का शायद उसकी धारणासे अधिक मूल्यका होगा; क्योंकि मैं थोड़ी ही दूर आगे बढ़ा था कि उसने मेरे पीछे-पीछे आकर मुझसे कहा — 'महाशय ! आपने भूलसे मुझको सोनेका सिक्का दे दिया है ।' यों कहकर वह मुझे सिक्का वापस देने लगा । अन्तमें मेरे बहुत समझानेपर बड़े ही आग्रहसे उसने उसको रक्खा ।

मुझे यह प्रसङ्ग याद न रहा होता, परंतु ऐसा ही एक दूसरा प्रसङ्ग कुछ ही दिनों बाद फिर बना—

'जब मैं पहली बार टोर्के रेलवे स्टेशनपर पहुँचा, तब एक मजदूरने मेरे सामानको उठाकर ताँगेतक पहुँचा दिया । मैंने परचूरनके लिये प्रयत्न किया, परंतु न मिलनेपर उसको मैंने आधा क्राउन दे दिया । ताँगा थोड़ी ही दूर गया था कि उस मजदूरने पुकारकर ताँगा रोकनेके लिये कहा । मैंने मन-ही-मन सोचा कि मुझको अजनबी जानकर यह अधिक पैसे लेना चाहता होगा । ताँगा रुका, तब उसने मुझको आधा क्राउन वापस देकर कहा—'महाशय ! आपने आधे क्राउनको पेनी समझा होगा ।'

मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं इंग्लैंडमें कभी ठगाया ही नहीं, परंतु मुझमें यह मान्यता दृढ़ हो गयी कि जो विश्वासी होता है, वही विश्वास करना जानता है । मैं अनजान था और शिक्षा या दण्डका मुझे भय नहीं था, अतः पैसे देनेमें गड़बड़ी कर सकता था, परंतु लंदनके किसी भी दूकानदारने मुझपर कभी अविश्वास नहीं किया ।'

—मधुकान्त भट्ट

(५)

आइस क्रीममें विष

'नैचरस् पाथ' के जून १९५८ के अङ्कमें 'आइस-क्रीम' जैसे साधारण खाद्य पदार्थमें मिलाये जानेवाले हानिकारक द्रव्योंके सम्बन्धमें एक चेतावनी छपी है । आजकल जो आइस-क्रीम बाजारमें मिलती हैं, उनमें अधिकांश आदिसे अन्ततक रासायनिक पदार्थोंके संयोगसे बनायी जाती हैं । कृत्रिम ढंगसे उनमें सुगन्ध लानेके लिये जो रासायनिक पदार्थ मिलाये जाते हैं उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

Vamilla (मधुगन्ध) की जगहपर पिपरोनल (Piperonal —जूँ मारनेकी दवा), Cherry (प्रबदर) की सुगन्ध लानेके लिये ऐल्डीहाइड सी१७ (Aldehyde c 17—एक आग पकड़नेवाला तरल पदार्थ, जिसका उपयोग रंग, प्लास्टिक और रबड़के निर्माणमें होता है), अनन्नासकी सुगन्ध लानेके लिये एथिल ऐसीटेट (Ethyl Acetate —जो चमड़ा और कपड़ा धोनेके काममें लिया जाता है—इसकी भाफ फेफड़ा, यकृत और हृदयको हानि पहुँचाती है), केलेकी सुगन्ध लानेके लिये एमिल ऐसीटेट (Amyl Acetate—यह तेलसे बने रंगोंका घोलक है) । इसी प्रकारकी

और भी चीजें मिलायी जाती हैं । 'नैचर्स पाथ' लिखता है कि आज आप अपने परिवारको सम्भवतः विष खिला रहे हैं । पर आइंदे जब कभी केलेके स्वादवाली आइस-क्रीमकी छटा देखकर आपका मन ललचावे, तब सोचियेगा कि यह गरम रखनेवाले तेल रंग तथा नाइट्रिक एसिडसे बने पदार्थोंको घोलनेवाले और जूँ मारनेवाले रासायनिक द्रव्योंका सम्मिश्रण है । तब आपको यह उतना आकर्षक नहीं लगेगा ।

ब्रह्मविज्ञानकी दृष्टिसे कहें तो हम उसी बातको पुनः दुहरायेंगे, जिसे हम बार-बार कह चुके हैं कि सरलता तथा प्रकृतिके आडम्बरशून्य पथपर लौट चलनेसे बढ़कर और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है । ताजे और प्राकृतिक उपादानोंसे बढ़िया आइस-क्रीम घरपर बनायी जा सकती है; परंतु जल्दबाजीके इस युगमें हम बाहरकी ही चीज लेना पसंद करते हैं, और सब नहीं तो, बहुत-सी वस्तुओंके द्वारा हम धीरे-धीरे अपने शरीरमें विष पहुँचाते रहते हैं । इससे सावधान रहना चाहिये ।

—माधवशरण

(६)

त्यागकी सुवर्णतुला

नेताजीका आज जन्मदिवस था । आज़ाद हिंद-सेनाके प्रचार-विभागकी ओरसे यह घोषणा की गयी थी—'आज नेताजीकी स्वर्णतुला की जायगी और उसके द्वारा मिली हुई सम्पत्ति आज़ाद हिंद सरकारको अर्पण होगी ।' इस घोषणासे सिंगापुरमें रहनेवाले भारतीयोंका हृदय उत्साहसे भर रहा था । सब ओर आनन्द, नृत्य और जय-जयकारकी धूम मची थी । सबेरेकी क़वायद करके सैनिक वापस डेरोंपर लौट गये । दुपहरको नेताजीकी स्वर्णतुला होनेवाली थी । रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पोंसे सजे हुए काँटेके एक पलड़ेमें चाँदी-सोना, जवाहरात आदि रक्खे जानेवाले थे । सैनिकोंने घर-घर यह बात फैला दी थी । इस दिव्य दृश्यको देखनेके लिये स्त्रियोंके झुंड वहाँ आ पहुँचे ।

'इतने असंख्य धनका क्या होगा ?' एक युवतीने आश्चर्यसे पूछा ।

'क्या होगा ?' एक सैनिकने उत्तर दिया । 'यह सारा धन भारतमाताकी मुक्तिके कार्यमें व्यय किया जायगा ।'

एक जापानी स्त्री बोली—'तुम्हारा भारतवर्ष सचमुच एक विलक्षण देश है । हमारे शाहनशाहका तुलादान होता है तब सारा धन राज्यके कोष जमा होता है ।' फिर मस्तक नवाकर उसने कहा—'तुम्हारे देशकी उज्ज्वल त्याग-परम्परा सुप्रसिद्ध है । सर्वस्वका त्याग करके निकल जानेवाला गौतम बुद्ध एक राजपुत्र ही था न ?'

नेताजीके तुलादानके लिये सबेरेसे ही युवतियाँ अपने अलंकारोंको रेशमी रूमालोंमें बाँधने लगी थीं । मानो किसीने जादू कर दिया हो—सभी युवतियाँ अपने-अपने सौभाग्य-अलंकार स्वातन्त्र्यवीर नेताजीके चरणोंमें अर्पण करनेको तैयार हो गयी थीं ।

तुलादानके आरम्भकी घोषणा करनेके लिये एक बंगाली डाक्टरके कुटुम्बकी कन्याने शङ्ख फूँका और तुरंत ही एक गुजराती वृद्धा माताने सोनेके पाँच पासे—अपने जीवनकी सारी कमाई—पलड़ेपर रख दी ।

दससे बारह वर्षकी बालिकाएँ, लज्जावती नववधुएँ, जर्जर देहवाली वृद्धाएँ—सभी स्वातन्त्र्य-यज्ञकी वेदीपर अपनी-अपनी भेंट अर्पण करने लगीं । शङ्खनाद तथा 'जय हिंद' एवं 'नेताजी अमर रहो' के नारोंसे आकाश गूँजने लगा । स्वर्णभारसे पलड़ा धीरे-धीरे नीचा होने लगा, पर अभी वजन पूरा नहीं हुआ । गहनोंका पलड़ा ऊँचा था ।

पास खड़े सैनिकने पुकारकर कहा—'अभी भी स्वर्णकी आवश्यकता है।' तुरंत ही स्त्रियाँ अपने कानोंसे, हाथोंसे गहने निकाल-निकालकर पलड़ेमें रखने लगीं। एक देवीने अपनी कलाईपरकी सोनेकी घड़ी उतारकर पलड़ेपर रख दी। पलड़ा कुछ नीचे आया, पर अभी नेताजीवाला पलड़ा नीचा था।

इसी बीच एक कोनेमें कुछ हलचल-सी हुई। कमाण्डर लक्ष्मीबाई और उनके दो साथी एक युवतीको सुवर्णतुलाकी ओर ला रहे थे। युवती सुबकियाँ भर रही थी, खुले केश थे और रोते-रोते उसकी आँखें सूजकर लाल हो गयी थीं।

सुभाषबाबूने लक्ष्मीबाईकी ओर प्रश्नार्थक दृष्टि डाली, तब उन्होंने कहा—'इस बहिनके पतिका युद्धके मोर्चेपर वीरगतिको प्राप्त होनेका समाचार कल ही मिला है।'

सुभाषबाबूने अपनी टोपी हाथमें लेकर युवतीका वन्दन किया। सुबकती हुई युवतीने भी नेताजीको नमस्कार किया। फिर कुंकुमसे पवित्र हुआ अपने मस्तकका सुवर्णफूल सौभाग्य-चिह्न उतारकर पलड़ेपर रख दिया।

सबकी आँखोंमें आँसू भर आये। सुभाषबाबूने गद्गद होकर कहा—'बहिन! तुम्हारी चरणरजके लिये देवता भी ललचाते हैं?'

परंतु पलड़े अभी समान नहीं हुए।

इतनेमें एक वृद्धा काँटेके पास आ पहुँची। उसने अपनी छाती-सरीखी एक तस्वीर दबा रक्खी थी। वह एक युवकका छायाचित्र था। उसके मुखपर पुष्पकी कोमलता थी और नेत्रोंमें जवानीका उल्लास। गर्दन स्वाभिमानसे ऊँची हो रही थी।

'यह मेरे एकमात्र पुत्रका छायाचित्र है नेताजी!' गद्गद स्वरसे वृद्धा कहने लगी। 'परंतु युद्धके पहले ही सिंगापुरमें ही अंगरेजोंने उसे फाँसीपर लटका दिया था। क्या करूँ? परमेश्वरने मुझको दूसरा पुत्र दिया नहीं; नहीं तो, उसको मैं आज भारतमाताके चरणोंमें अर्पण कर सकती।'

इतना कहकर उसने तस्वीरको जमीनपर पटक दिया। पटकते ही तस्वीरका काँच टुकड़े-टुकड़े हो गया! वृद्धाने अंदरका छायाचित्र निकाल लिया और उसे एक सोनेके फ्रेममें डालकर पलड़ेपर रख दिया।

और तुरंत ही सोनेवाला पलड़ा नीचा हो गया।

नेताजी कूदकर बाहर निकल आये। उनका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। उन्होंने पुकारकर कहा—'कौन कहता है भारत स्वतन्त्र नहीं होगा? पुत्रहीन माताका आशीर्वाद कभी खाली नहीं जा सकता।'

और नेताजीने उस बुढ़ियामाईके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया।

—के० का० जानी

(७)

बहूका आदर्श त्याग

सेठ हरिविलासजी बड़े प्रतिष्ठित व्यापारी थे। कई तरहका कारोबार था। उनके बड़े लड़के बालमुकुन्दका विवाह पाँच वर्ष पहले हो गया था। सुशीला बहू घरमें आ गयी थी। बालमुकुन्दको मैट्रिक करवाकर हरिविलासजीने कारोबारमें लगा दिया था और वह सफलतापूर्वक काम करने लगा था। छोटे लड़के रामकुमारने एम० कॉम पास कर लिया था, उसकी आगे भी कुछ और पढ़नेकी इच्छा थी। उसकी उम्र बीस सालकी थी। बड़ा सुन्दर छरीले बदनका किशोर था रामकुमार। उसी शहरके सेठ रामानन्दजी अपनी एकमात्र लड़की कमलाके लिये वरकी खोजमें थे। उन्होंने एक दिन रामकुमारको देखा। श्रीहरिविलासजीके घरसे वे परिचित थे ही। कमलाने १६ वर्षकी अवस्थामें बी० ए० पास कर लिया था। रामानन्दजीने श्रीहरिविलासजीसे मिल

कर स्वयं बातचीत की। दोनों ओर घर, वर, कन्या सभी योग्य थे। रामकुमारकी पढ़ाई बंद हो गयी और कमलाके साथ बड़ी धूमधामसे रामकुमारका विवाह हो गया। विवाहमें ससुर हरिविलासजीने लगभग एक लाख रुपयेका गहना बहूको चढ़ाया था और पिता रामानन्दजीने भी डेढ़ लाखसे कमका गहना बेटीको नहीं दिया था। सब ओर आनन्द छाया था। कमलाका स्वभाव बड़ा ही मृदुल, मिलनसार, विनम्र और सेवाप्रिय था। उसने अपनी मधुर वाणी और सेवासे पति, जेठानी, जेठ, सास, ससुर सबको आप्यायित कर दिया।

समय एक-सा नहीं जाता। दो-तीन साल बाद ही गल्ले तथा तीसी-सरसोंमें भयानक मंदी आयी। हरिविलासजीके पास बड़ा स्टाक था। उन्हें लगभग पचास लाखका नुकसान हुआ। व्यापारियोंमें और आढ़तियोंमें भी बहुत बड़ी रकम डूब गयी। जहाँ जितने रुपये थे, सब मँगवा-मँगवाकर श्रीहरिविलासजीने दे दिये। जमीन-जायदाद भी बन्धक रख दी—बेच दी, तब भी लगभग दस लाख रुपये देने रह गये। श्रीहरिविलासजी अपार चिन्ताके समुद्रमें डूब गये !

हरिविलासजीकी स्त्री चम्पाने अपना सारा गहना—लगभग दो लाखका लाकर पतिके सामने रख दिया और कहा—'इसे बेचकर रुपये काममें ले लीजिये।' सुशीला पीहर गयी हुई थी, गहना साथ ले गयी थी, इससे उसके माता-पिताने उसका गहना उसे नहीं लाने दिया। वे जान गये थे कि 'हरिविलासजीको घाटा लग गया है और वे सर्वस्व खोकर भी एक-एक पैसा ऋण चुकायेंगे। हमारी पुत्री भी अपना गहना दे देगी।' अतएव सुशीलाके बहुत कहने-सुननेपर भी उन्होंने गहना नहीं दिया। इससे सुशीला और बालमुकुन्द दोनोंको दुःख भी पर्याप्त हुआ।

सेठ हरिविलासजी अपनी पत्नीका गहना भी लेना नहीं चाहते थे। उन्होंने मने भी किया, परंतु उनकी धर्म-पत्नी चम्पाने उनकी बात नहीं मानी। बड़ा आग्रह किया, तब लेना पड़ा। वे बहुओंके गहनेकी तो बात भी करना पाप समझते थे। उन्होंने अपनी पत्नी चम्पासे तथा अपने दोनों लड़कोंसे कह दिया था कि बहुओंको यह पता भी न लगे कि उनकी सासने गहना दे दिया है। नहीं तो, वे भी देना चाहेंगी और बहुओंसे गहना लेना उनके लिये मरणसे अधिक दुःखदायी होगा।

बड़ी बहू सुशीलाका गहना तो उसके नैहरवालोंने दिया ही नहीं; छोटी बहू कमलाके पास ढाई लाखका गहना था। किसी तरह उसे पता लग गया। बात यह हुई कि ससुर हरिविलासजी एक दिन अपनी पत्नी चम्पासे अपने दुःखकी बात कह रहे थे कि 'तुम्हारे गहनेसे लगभग सवा दो लाख मिल गये हैं। लगभग पाँच लाखका प्रबन्ध तेलकी मीलपर बैंकसे हो गया है। अब ढाई-तीन लाखकी और जरूरत है। उसके बिना इज्जत रहनी मुश्किल है।' उस समय कमला किसी कामसे उस कमरेमें पहलेसे आयी हुई थी। हरिविलासजी और चम्पा बात करने पीछे कमरेमें आये थे। कमला आलमारीकी आड़में थी, उसको उन्होंने देखा नहीं। कमलाने सारी बातें सुन लीं। उसने मनमें विचार किया, 'मेरा यह गहना फिर किस काम आयेगा। इन्होंने तथा मेरे पिताने मुझको दिया था। अतएव इन्हींकी तो चीज है। मेरी सासने सब दे दिया तो मैं क्यों न दे दूँ।'

कमलाने अपना गहना निकाला और पति रामकुमारसे कहा—'स्वामी! आप मुझे रोकियेगा नहीं, मेरा यह गहना फिर किस काम आयेगा। मैं गहना रक्खूँ और अपने पुरखोंकी इज्जत चली जाय—ससुरजी दुःखके मारे घायल हुए फिरें, आपको भी उससे मानस-क्लेश भोगना पड़े, यह कदापि उचित नहीं है। गहना मेरे

भाग्यमें होगा तो फिर हो जायगा । मेरे लिये तो सबसे मूल्यवान् गहना आप हैं तथा आपका एवं आपके माता-पिताका सुख है । इन्हें मैं बचाकर रख सकूँगी तो मेरे समान भाग्यशालिनी और कौन होगी ?'

युवती पत्नीकी बात सुनकर रामकुमारका हृदय आनन्दसे भर गया । उसके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बह चले । उसने कहा—'बड़े भैया तथा भाभी बहुत दुखी हैं; क्योंकि उनका गहना भाभीके पीहरवाले देते नहीं । बड़े भैया तथा भाभी पीहरवालोंसे लड़नेको तैयार हैं, पर इस बातको पिताजी पसंद नहीं करेंगे और उन्हें बड़ा दुःख होगा । इससे बड़े भैया तथा भाभी कुछ बोल नहीं सकते । इधर हीरे, मोती तथा सोनेके दाम कुछ बढ़े हैं, इससे तुम्हारे गहनेके लगभग तीन लाख मिल जायँगे । पिताजीको इतनी-सी जरूरत है । सारा काम हो जायगा, पर तुम्हारे पिता-माता तो नाराज नहीं होंगे ?'

कमलाने कहा—'नहीं, मेरे माता-पिता तो प्रसन्न होंगे । उन्हें मेरे इस व्यवहारपर गौरव होगा और यह भी अच्छा हुआ कि जेठानीजीके पीहरवालोंने उनका गहना नहीं दिया । नहीं तो, अपनेको इस सेवाका अवसर नहीं मिलता । उनका गहना रह गया तो घरमें ही रहा न ? फिर उनके तीन-तीन बच्चे भी तो हैं । अपने तो अभी कोई संतान नहीं, इससे कोई चिन्ता भी नहीं है ।'

पतिकी सम्मति प्राप्त करके कमलाने सारा गहना ले जाकर सासको दे दिया और उसके द्वारा ऐसे शब्दोंमें ससुरजीसे गहना लेनेके लिये विनती की कि वे मन न होनेपर भी इन्कार नहीं कर सके । उनका हृदय गद्गद हो गया । उनके रोम-रोमसे बहूके प्रति आशीर्वाद झरने लगा ।

श्रीहरिविलासजीकी इज्जत रह गयी । कारोबार बंद नहीं हुआ । कमलाके पिता रामानन्दजीने भी कारोबार चलानेमें सहायता की । भगवान्‌की कृपासे तीसरे ही साल सारा घाटा पूरा हो गया । पूर्वकी अवस्थासे भी अच्छी स्थिति हो गयी । जमीन-जायदाद छूट गयी । गहना फिर बन गया । पहलेसे ज्यादा बना । घरमें सब ओर प्रसन्नता छा गयी । पर सुशीलाके मनमें अपने नैहरवालोंके व्यवहारसे बड़ा ही संकोच रहा । यद्यपि सास-ससुर तथा देवर-देवरानीने तथा उसके पतिने सदा उसे संकोच न करनेकी बात ही कही और उसके प्रति स्नेह-प्रेम तथा आदरका ही सच्चा व्यवहार रक्खा—। उसका दोष भी क्या था ।

—गजानन्द गोयल

(८)

जीवनका सच्चा तत्त्वज्ञान

कुछ समय पहले मैं बड़ोदामें था, उस समय एक दिन सूरसागरके पंपके पास एक भाईने मुझे रोककर पूछा—'आप कहाँके हैं ? बसोके हैं ?' स्वाभाविक ही उनपर मेरी दृष्टि पड़ी । शरीरपर मैले-कुचैले, फटे कपड़े थे और एक झोली उनके पास थी । मैंने उन्हें अच्छी तरह देखा और मैं पहचान गया । मेरे मुँहसे निकला—'आप हैं ?' उन्होंने स्वीकार किया । उनको देखकर मेरी आँखका कोना गीला हो गया । तीस वर्ष पहलेके दो-चार प्रसंग मेरे नेत्रोंके सामने नाचने लगे । उनके पिता उस समय बड़ोदा राज्यके किसी विभागमें बहुत ऊँचे अधिकारी थे और बड़े प्रतिष्ठित माने जाते थे । ईश्वर-कृपासे उन्होंने प्रचुर लक्ष्मी और सम्पत्तिका संग्रह किया था । पर शराबका बड़ा व्यसन लग गया । आठों पहर उसीमें रचे-पचे रहने लगे । उसीके साथ-साथ और भी कुछ बुरी बातें उनमें आ गयीं । ये उनके एकमात्र पुत्र थे । उन्हें उस समय उस तालुकाके गाँवोंमें सभी 'साहेब' कहते । पुत्र स्वभावसे कुछ अच्छे होनेपर भी पिताकी कुछ बुराइयाँ

उनमें आ गयीं । रहनी-करनी....'साहेबके शाहजादा' जैसी । उस जमानेमें रेशमी कपड़े, रानी छापके जूते और खाने-पीनेमें भी बड़े उदार, ताल्लुकेभरमें मित्रोंकी भरमार । गाँवमें भी मित्रोंकी संख्या बहुत बढ़ी हुई थी । कभी-कभी अपनी मोटरसे बसोंमें भी आते और आनन्द करते । आज उस बातको पचीस वर्ष हो गये। हम सब तो उनको भूल भी गये । परंतु वे ही भाई आज 'सफ़ाई-जमादार'के लिबासमें मिले । प्रसङ्गकी महत्ता तो अब है । उनको देखकर मेरे मनमें बड़ी सहानुभूति और करुणा उत्पन्न हुई । मैंने तुरंत उनसे कहा—'चलिये होटलमें कुछ खायें, चाय पीयें ।' उन्होंने विनयपूर्वक अस्वीकार किया । इसपर भी मैंने पूछा—'भाई ! आपको कुछ आवश्यकता है ?' मेरी जेबमें लगभग तीस रुपये थे । वे स्वीकार करते तो मैं सारे दे देता, परंतु मुझे अत्यन्त अचरजमें डालते हुए उन्होंने सुजनताके साथ उत्तर दिया—'भाई ! एक कर्मके तो दुःख भोग रहा हूँ, अब नये कर्म नहीं बढ़ाने हैं, मुझे कुछ भी नहीं चाहिये । आपने इतने प्रेमसे बात की, इसके लिये आभारी हूँ ।' मेरा हृदय द्रवित हो गया । कर्मके तत्त्वज्ञानकी कितनी सुन्दर और सादी समझ साधारण मनुष्यमें रहती है । दो दिनके बाद अचानक फिर मिल गये । उन्होंने कहा—'आपसे बन सके तो कहीं पहरेवाले या दरवानकी जगह मेरे लिये खोज दीजिये ।' उसके अनुसार मुझसे जो बन सकता था, सो किया गया । उन्होंने कहा—'भाई ! जायदाद, सगे-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव सबसे छुटकारा मिल गया है । हमारे कुटुम्बकी और मेरे पापोंकी मानी जानेवाली विरासत तो मुझको ही भोगनी है ।' एक समय सोनेके थालमें जीमनेवालेकी इस स्थितिमें इतनी समता और परिस्थितिको अपना कर्मफल मानकर सहन करना—यही तो जीवनका सच्चा ज्ञान है ।

—नंदलाल हिम्मतलाल पुराणी

(९)

स्त्रीमात्र दुर्गा माता

पुरानी बात है । रामगोपाल और बुलाकीदास बीकानेरके दो युवक मित्र कलकत्तेमें रहते थे। बुलाकीदास बाबू मदनगोपालजीकी दूकानपर काम करता था । एक दिन दोनों मित्र प्रातःकाल गङ्गा नहाने जा रहे थे । उनके पीछे बाबू श्रीमदनगोपालजी चल रहे थे । मदनगोपालजीने इनको देख लिया था, इन्होंने उनको नहीं देखा। दोनों मित्रोंके आगे एक तरुणी सुन्दरी वेश्या जा रही थी । कुछ तरुण उसके आगे-पीछे ठठोली करते चल रहे थे। रामगोपालने अपने मित्र बुलाकीदाससे वेश्याकी ओर इशारा करके कुछ कहा । बुलाकीदास बोला—'गोपाल ! खबरदार, ऐसी बात मुँहसे कभी मत निकालना । न सोचना ही । वेश्या हो चाहे कोई हो । स्त्रीमात्र मेरी माँ है । मेरे गुरुजीने चण्डीका पाठ करते बताया था कि जगत्की सारी स्त्रियाँ दुर्गाका रूप हैं । सबको माँ समझो ! भैया ! तुम कभी आइंदे ऐसी भावना ही मत करना ।' मदनगोपालजी अपने कर्मचारी बुलाकीदासकी इस बातको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए । उस समय तो वे कुछ नहीं बोले । पर उसी दिनसे उन्होंने बुलाकीदासजीका वेतन पंद्रह रुपया मासिक बढ़ा दिया ।

—विजयशङ्कर व्यास

* * *

समझनेकी बात

(लेखक----श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

(१)

सच और झूठ

सच सच है; झूठ झूठ ।

सचकी सब सराहना करते हैं और झूठकी निन्दा ।

फिर भी अवसर पड़नेपर बहुधा सच रह जाता है, झूठ बोला जाता है ।

ऐसा क्यों होता है ?

आइये, छानबीन करें,

तनिक गहरी ।

छानबीन करनेसे पता चलता है कि इस दुनियामें जो कुछ है, उसमेंसे कुछको हमने अपना समझ रक्खा है, कुछको पराया ।

जिसे अपना समझ रक्खा है, वह छिन न जाय—इस भयसे झूठ बोला जाता है ।

जिसे औरका मान रक्खा है, उसे येन-केन प्रकारेण हस्तगत कर लिया जाय—यह लालच झूठ बुलवाता है ।

बोलते-बोलते पीछे कु-अभ्यासवश यों ही झूठ निकलता रहता है ।

बस यह है झूठ-प्रतिष्ठाकी मोटी रूप-रेखा ।

अब प्रश्न है कि कैसे सचको सचका स्थान और झूठको झूठकी जगह दिलायी जाय ।

अत्यन्त सरल है इस प्रश्नका हल । राह भटक गये हैं तनिक आप । भटकेपनको राह बता दें तो काम बना-बनाया है ।

करना केवल यह है कि जिसे अपना समझ रक्खा है, उसे अपना समझना छोड़ दें; सबकी सम्पत्ति मान लें । बस भयमुक्त हो जायँगे आप । है भी इसी तरह । वास्तविकताके नाते आपका वही है जो आपके साथ रहे । इस तरह आपके अपने-आपको छोड़कर आपका है ही क्या ? और जो आपका अपना आप है, उसे आपसे छीन कौन सकता है ! अतः ठहरे न आप सब तरह सर्वथा भयमुक्त !

इसी तरह जिसे—जिस कुछको आपने पराया मान रक्खा है, उसे पराया मानना छोड़ दें । अपना—नितान्त अपना मानें और लालचसे छुटकारा पा लें । है भी ऐसा ही । आपको छोड़कर कहीं भी और है ही क्या ? और आपका अपना-आप आपका अपना है ही । फिर लालचके लिये गुंजायश कहाँ ! हर तरह लोभ-मुक्त ही ठहरेंगे आप ।

भय, लोभसे मुक्त होते ही—मुक्त होते ही क्या, कहना चाहिये, अपनी मुक्तताकी प्रतीति-अनुभूति करते ही कु-अभ्यास भी कबतक ठहर सकेगा! मूलोच्छेद होनेपर पत्ते कैसे पनप सकेंगे!

तो इतना करते ही सहज झूठ झूठकी जगह पहुँच जायगा और सच सचके स्थानपर । यही तो अभीष्ट है न आपको कि जिसे करनेका अभीष्ट प्राप्त हुआ धरा है ।

और करना भी क्या है ।

मान्यताओंकी घोड़ागाड़ीमें घोड़ा आगे न जुतकर पीछे जुत गया है । उसे ठीक-ठीक जोतना भर है । इशारेमें जुतेगा वह आपको लाम फतह कराता ।

आखिर ठीक ठीक है; बेठीक बेठीक ।

सच सच है, झूठ झूठ ।

(२)

बोल और मौन

बोलमें बड़ी ताकत है; पर मौनको वह नहीं पहुँचता । माना, बोल पाषाणको मोम और मोमको पाषाण कर सकता है। लेकिन मौनकी महिमा ही न्यारी है । वह तो न मोमको मोम और न पाषाणको पाषाण रहने देकर, दोनोंके मर्ममें पहुँचकर उन्हें उनकी वास्तविकताकी झाँकी कराता है, असलियतमें पहुँचाता है ।

सच, बोल और मौनकी क्या तुलना ।

बोल बाजीगर है; मौन तत्त्व-वेत्ता ।

बाजीगरकी दौड़-धूपमें दुनियाभरके पसारेका आभास होनेपर भी वास्तविकता शून्य ही होती है । वह जादूके आम—देखे भले ही बहुतोंने होंगे, पर खाते कब किसे सुना है ?

इधर तत्त्व-वेत्ता पहुँचा हुआ होता है । ऐसा कुछ नहीं, जो उसकी पहुँचसे परे हो । उसके कुछ न करते हुए भी सहज सब उससे अपनी वास्तविकतामें पहुँचकर कृतकृत्य होते हैं, जीवनका परम लाभ लेते हैं ।

बोल-बाजीगर बाजीगर ही है; मौन-तत्त्व-वेत्ता तत्त्ववेत्ता ही ।

बोलमें बड़ी ताकत है; पर मौनको नहीं पहुँचता ।

पञ्चतन्त्र—विश्वको भारतीय साहित्यकी महान् देन

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अभी हालमें ही समाचारपत्रोंमें यह समाचार आया था कि रूसने पञ्चतन्त्रका अनुवाद प्रकाशित कर दिया। अब ता० ३० अक्तूबरके पत्रोंमें यह संवाद प्रकाशित हुआ है कि काशी हिंदू-विश्वविद्यालयस्थित प्रसिद्ध संग्रहालय 'कला-भवन'को अनवर दुहेलीकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। यह पञ्चतन्त्रका फारसी अनुवाद है और हिजरी सन् १००५ अर्थात् ईस्वी सन् १५९५ की लिखी हुई है। यह अकबरके राज्य-दरबारमें लिखी गयी थी और उसीके राजकीय पुस्तकालयकी प्रति है। इसे भी लोग जयपुरके 'रज्मनामा' (महाभारतके अनुवाद) के समान ही मूल्यवान्, महत्त्वपूर्ण तथा दुर्लभ ग्रन्थ मान रहे हैं।

सचमुच पञ्चतन्त्रके प्रचार-प्रसारको देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। श्रीजवाहरलाल नेहरू अपनी पुस्तक 'डिस्कावरी आफ इन्डिया'के पृष्ठ ८९ की टिप्पणीमें लिखते हैं कि 'पञ्चतन्त्रके अनगिनत एशियायी तथा यूरोपीय भाषाओंमें अनुवादकी कथा बड़ी ही विस्तृत, रोचक तथा आकर्षक है। सर्वप्रथम इस ग्रन्थका पहलवी (पुरानी फारसी) भाषामें अनुवाद हुआ। यह अनुवाद फारसके प्रसिद्ध बादशाह खुसरो नौशेरवाँके द्वारा छठी शताब्दीमें करवाया गया। इसके कुछ ही दिनों बाद ५७० ईस्वीमें सीरियन अनुवाद प्रकाशित हुआ। बादमें अरबी अनुवाद भी तुरंत प्रकाशित हो गया। ग्यारहवीं शताब्दीमें पुनः इसका सीरियन, अरबी तथा पारसी भाषामें अनुवाद हुआ। पारसीमें जो अनुवाद प्रकाशित हुआ, उसका नाम 'कालिय-दमन' था। इन्हीं अनुवादोंके सहारे पञ्चतन्त्र यूरोपमें पहुँचा। ग्यारहवीं शतीके अन्तमें सीरियन अनुवादके आधारपर इसका ग्रीक भाषामें अनुवाद हुआ। फिर शीघ्र ही यहूदी भाषामें भी अनुवाद हो गया। पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दीमें इसके लैटिन, स्पेनिश, जर्मन, स्वीडीश, डैनिश, डच, आईलैन्टिक, फ्रेंच, अंग्रेजी, अस्लीव, हंगेरियन, तुर्की आदि गणित भाषाओंमें अनुवाद हुआ। इस तरह वह एशिया तथा यूरोपके प्रायः सभी भाषाओंमें घुल-मिल गया।'

जर्मन विद्वान् डॉ० हर्टलने पञ्चतन्त्रका बहुत ही श्रमपूर्वक अनुसंधानकर उसका इससे भी बहुत विस्तृत इतिहास तैयार किया है। उससे इसके विचित्र व्यापक प्रचार-प्रसारका पता लगता है। वह लिखता है कि 'सर्वप्रथम पञ्चतन्त्रका अनुवाद 'तन्त्राख्यायिका' नामक जैन-कथासंग्रहके रूपमें हुआ। तत्पश्चात् नौशेरवाँके दरबारी पण्डित बुरजोईने, जो संस्कृत-भाषाका अच्छा विद्वान् था, पहलवीमें अनुवाद किया[1]। इसके पचास वर्षके भीतर ही एक ईसाई पादरीने पहलवीसे सीरियन भाषामें अनुवाद किया। इसका नाम उसने 'कलिलग और दमनग' रखा। इस ईसाई साधुका नाम था बुद। उसने पञ्चतन्त्रके प्रसिद्ध पात्र करटकको 'कलिलग' तथा दमनक' सियारको 'दमनग' कर दिया। सीरियनमें 'क' का 'ग' भी हो जाता है।

सीरियनसे इसका अनुवाद अब्दुल्ला बिन अलमुक्काने अरबीमें किया। उसने इसका नाम 'कलीलह' और 'दमनह' रखा। इसका भी मूल वही 'करटक और दमनक' ही है। ७८१ में अब्दुल्ला बिन हवाजीने इसका पहलवीसे अरबीमें अनुवाद किया। तत्पश्चात् यहियाके आग्रहसे सहलबिन नवबख्तने इसका अरबीमें पद्यानुवाद किया। यहियाने इस कृत्यपर प्रसन्न होकर उसे एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दीनार दिये। अरबीमें समय-समयपर इसके अन्य भी कई अनुवाद निकलते रहे; पर वे बहुत प्रसिद्ध नहीं हो सके।

(पं० बलदेव उपाध्यायकृत संस्कृत-साहित्यका इतिहास)

अरबीसे पञ्चतन्त्रका पाश्चात्त्य देशोंमें प्रसार हुआ। इधर पूर्वके देशोंमें भी इसका कम प्रचार नहीं हुआ। यह चीनमें

---

[1] बुरजोईने इसका अनुवाद किस प्रकार किया, इस विषयमें 'कथासरित्सागर'के टामीकृत अंग्रेजी अनुवादकी पाँचवीं जिल्दमें एक बड़ी रोचक कथा है। कहते हैं बुरजोई बड़ा ही अध्ययनशील हकीम था। उसे किसी पुस्तकमें भारतके पर्वतोंपर संजीवनी बूटी मिलनेकी बात मिली। उस बूटीकी खोजमें नौशेरवाँके प्रबन्धसे वह भारत आया। वह कई पर्वतोंपर घूमता रहा, पर उसे सफलता नहीं मिली। अन्तमें एक भारतीय वैद्यने उसे बतलाया कि यह बूटीकी बात तो रूपकमात्र हैं। इस बूटीका तात्पर्य एक पुस्तकसे है, जिसके ज्ञानसे महान् अज्ञानी मृतप्राय जन भी विद्वान् अर्थात् वास्तवमें जीवित बन जाते हैं। यह पुस्तक है 'पञ्चतन्त्र' जो भारतके उसी राजाके पास है, जिसके यहाँ तुम आजकल ठहरे हो। इसपर जब बुरजोईने उस राजासे उस पुस्तककी याचना कुछ दिन देखनेमात्रके लिये की, तो उसने उसे प्रतिदिन उस पुस्तकको अपने सुनाने भरकी अनुमति दी, प्रतिलिपि आदिकी नहीं। पर बुरजोई प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह राजाको सुनाते-सुनाते ही उतना अंश कण्ठाग्र कर लेता था और घर जाकर उसे लिख लेता था। पारस वापस जानेपर उसके इस कर्मपर नौशेरवाँ बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने उसे एक पुरस्कारकी लम्बी रकम भेंट की। उसीने उसे पहलवीमें अनुवादके लिये प्रेरित किया, जो 'पञ्चतन्त्र'के प्रसारमें बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ।

भी पहुँचा, जहाँके विश्वकोषमें इसका अनुवाद आज भी सुरक्षित है। गत शताब्दीमें थियोडेर बेनफीने 'दासपञ्चतन्त्र'के नामसे इसका जर्मन अनुवाद प्रस्तुत किया, तबसे तो इसका प्रचार बहुत ही बढ़ गया और यह संसारका एक लोकप्रिय ग्रन्थ बन गया। फिर जोहान्स हर्टलने हर्वर्ड ओरियेन्टल सीरीजके ११-१४ इन चार भागोंमें इसका विस्तृत और रोचक अनुवाद कराया। डा० फ्रेंकलिन एजर्टनने इसका मूलसहित समालोचनात्मक अनुवाद अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी सीरीज १९२४ खण्ड १-२ में प्रकाशित कराया। इस तरह यह सारे संसारमें छा गया।

(धर्मानन्द कौसाम्बीकृत पञ्चतन्त्रकी अंग्रेजी भूमिका, निर्णयसागरप्रेस)

सीरियाई संस्करणके आधारपर १८८५ ईस्वीमें इंग्लैंडमें भी पञ्चतन्त्रका अंग्रेजी अनुवाद हुआ। फिर तो इसके कई अनुवाद निकल पड़े। अब रूसने भी इसका अनुवाद प्रकाशित कर दिया। १८८८ के अंग्रेजीवाले संस्करणमें इसके अनुवादका वंशवृक्ष भी प्रकाशित है। आजकल तो यह स्वेडेन, पोलैण्ड, चेकोस्लेवेकिया, हालैंड, जार्जिया, हंगरी तथा एशियाके मंगोलिया, मलाया, जावा, अफगानिस्तान तथा अफ्रीकाके इथीपियन आदि भाषाओंमें भी अनूदित हो गया है। ('त्रिपथगा' अप्रैल १९५८)।

मैकडोनल, कीथ, वीन्टरनीज, चिन्तामणि विनायक वैद्य, कृष्णमाचारी, सीताराम जयराम जोशी आदिने अपने-अपने संस्कृत-साहित्यके इतिहासमें पञ्चतन्त्रके रचनाकाल तथा निर्माणस्थलपर भी बहुत विचार किया है। कुछ लोग तो इसका रचनाकाल ईस्वी सन्से २०० पूर्व मानते हैं और कुछ लोग ईस्वी सन्की तीसरी शताब्दीमें। पर कथासरित्सागर, बृहत्कथा तथा बृहत्कथामञ्जरीमें भी इसकी कथाओंका बहुत कुछ भाव आया है, जिससे इसकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार इसके रचनास्थलपर भी मतभेद है। कुछ लोग इसकी वर्णनशैलीके आधारपर इसको काश्मीरकी रचना मानते हैं, तो कुछ लोग दक्षिण भारतकी। जो भी हो, इतना तो सिद्ध ही है कि यह बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ है, साथ ही इसे विश्वको भारतीय महान् साहित्यकी देन भी मानना ही पड़ेगा।

मैं अपनी सद्भावनाएँ निरन्तर बाहर भेजता हूँ

व्यापारी लोग वाणिज्यके लिये अपने समुद्री जहाज बाहर भेजते हैं। मैं आध्यात्मिक वाणिज्यके लिये अपने शुभ विचार, अपनी सद्भावनाएँ, अपनी सत्-प्रार्थनाएँ, अपनी सत्-कामनाएँरूपी विलक्षण जहाज बाहर भेजता हूँ।

मैं अनुभव कर रहा हूँ, मेरे जहाज अद्भुत सफलताके साथ लौटते हैं। मेरा प्रत्येक शुभ विचार, प्रत्येक सद्भावना, प्रत्येक सत्-प्रार्थना, प्रत्येक सत्-कामना हजारोंगुने मंगल, हजारोंगुनी सद्भावना, हजारोंगुनी सत्-प्रार्थना और हजारों गुनी सत्-कामनाओंके साथ मेरे पास लौटे हैं। मेरे इस वाणिज्यमें मुझे नकद भुगतान मिला है। मुझे अपने हजारोंगुने नफेके लिये भविष्यकी बाट नहीं देखनी है।

आज मैं अनुभव कर रहा हूँ—मेरा प्रत्येक सत्-संकल्प मेरे लिये विशेष आध्यात्मिक शक्ति संचित कर रहा है। मैं अपनी आध्यात्मिक शक्तिको निरन्तर वृद्धिमान पा रहा हूँ।

आज मैं देख रहा हूँ मेरी निर्मल सद्भावना विरोधीके हृदयका विरोध मिटाकर उसे मेरा परम प्रेमी मित्र बना रही है।

अपने श्रेयके लिये मुझे किसी स्थानविशेषपर जानेकी आवश्यकता नहीं। जहाँ मैं हूँ, वहींका समुद्र मेरे सत्-संकल्पोंके जहाजोंके लिये पर्याप्त गहरा है; मेरे सत्-संकल्पोंके जहाज इसी स्थानसे बड़ी सरलताके साथ जगत्के एक कोनेसे दूसरे कोनेतक ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टिमें यात्रा करते हैं और जहाँ-जहाँ जिस-जिस रूपमें 'शुभ' उनको प्राप्त होता है, वे उसे ला-लाकर मेरे हृदय-कोषको भर रहे हैं और मेरी आध्यात्मिक सम्पत्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है।

अब मैं अपने हृदयको सबके प्रति प्रेम, मैत्री, सहानुभूति, सद्भावनासे परिपूर्ण अनुभव करता हूँ। मेरे द्वारा निरन्तर केवल शुभ ही शुभका संग्रह एवं वितरण हो रहा है।

मैं अपनी सद्भावनाएँ निरन्तर बाहर भेजता हूँ।

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३२

संवत् २०१४—२०१५ वि०

सन् १९५८ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) [१५ शिलिंग]

प्रतिसंख्या ।≡)

'कल्याण' के बत्तीसवें वर्षकी विषय-सूची

विषय … पृष्ठ-संख्या

१–अनन्य रसिक श्रीहरिराम व्यास (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) … … १३९४

२–अपने जीवनको सुन्दर बनाइये (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी) … … ११३१

३–अब कैसे होगा जीना ? (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) १३१६

४–अबूका स्वप्न ! (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') ५९८

५–अभक्त कोई नहीं (स्वामीजी १०८ श्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज) … २५

६–(श्री) अरविन्द-योगकी साधनामें भक्ति (पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे) … ६२६

७–अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७३७

८–अवधके भक्तोंका महत्त्व (श्रीश्रीकान्तशरणजी) ६४२

९–अविचल भक्ति (श्रीघासीरामजी भावसार 'विशारद') … … ३१९

१०–आचार्य श्रीविष्णुस्वामीकी भक्ति (श्रीगोविन्ददासजी वैष्णव) … … १८०

११–आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी और साधनमार्गमें भक्तका विचार (श्रीस्वामी त्यागीश्वरानन्दजी) ७६१

१२–आत्मविकासके मार्ग (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी) … … १३८९

१३–आत्मोद्धारका उपाय (श्रीगणपतरायजी लोहिया) … … ७०१

१४–इस्लाम-धर्ममें भक्ति (डा० मुहम्मद हाफ़िज़सैयद एम्० ए०, डी० लिट्०, पी-एच्० डी०) ५६४

१५–ईश्वर एवं धर्म-भावनाकी आवश्यकता (पूज्यपाद १००८ श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजके एक भाषणके आधारपर) … १०९५

१६–ईश्वरकी प्राप्ति सुलभ है या दुर्लभ ? (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) … ९६७

१७–ईसाई-धर्ममें भक्ति (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव) ५९९

१८–उत्कलीय भक्तोंके भाव (पं० श्रीसदाशिवरथ शर्मा 'गवेषक') … … ६६७

१९–उत्तरप्रदेशीय भक्तोंके भाव (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०) … ६६२

२०–उपनिषद्में भक्ति (श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०) … … ४८

विषय पृष्ठ-संख्या

२१–उपनिषदोंमें ईश्वर-भक्ति (श्रीरामकिशोरी देवी) ५

२२–उर्दू-काव्यमें भक्ति-दर्शन (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) … … ५७

२३–एक अलौकिक भक्त श्रीश्रीसिद्धिमाता [भूमिका] (महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०) … ६२

२४–एकनाथकी ऐकान्तिक भक्ति (कीर्तनाचार्य हरिदास श्रीविनायक गणेश भागवत) … ६०

२५–एक पैशाचिक उत्पात … … ८२

२६–एक मानसिक व्यथा—निराकरणके उपाय (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … … ८८

२७–एक व्रजवासी साधकका अनुभव … १२४

२८–एक साधकके उद्गार … १०७६, १४०

२९–एशियाका हृदय भारत (आचार्य श्रीरघुवीरजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, संसद्-सदस्य) … … १२०

३०–कदाचित् मैं भक्त बन पाता ! (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) … … ३१

३१–कदापि नहीं (श्रीबलदेवप्रसादजी छरोटा) १०६

३२–कबीरकी भक्ति-भावना (श्रीराधेश्याम बंका, एम्० ए०, एल्० टी०) … ५०

३३–कलियुगका परम साधन—भगवन्नाम (श्रीरघुनाथप्रसादजी साधक) … ४३

३४–कलियुगका महान् साधन—भगवन्नाम (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) … ४३

३५–कल्याण ('शिव') ७१०, ७७४, ८३८, ९०२, ९६६, १०३०, १०९४, ११५८, १२२२, १२८६, १३

३६–कल्याणका मानवता-अङ्क … १०

३७–कल्याणकारी मनोराज्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) … … १३

३८–कल्याण-सूत्र … … १०

३९–कामके पत्र … … १२

४०–कुम्भनदास (श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ··· ··· ११७७
४१–कृष्ण और गोपी [डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्० (ऑक्सन)] ५०१
४२–(श्री) कृष्णजन्म-महोत्सव (हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) ··· ··· १२७१
४३–कृष्णदास [एक भाव-विश्लेषण] (श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) १०५३
४४–श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्व (श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ··· ··· ४७४
४५–कौन किसका है ? (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ८८४
४६–क्षमा (श्रीपारसनाथसिंहजी, एम्० ए०) ··· ८८३
४७–गाण्डीव धनुषका इतिहास (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· १२५३
४८–गायकी वर्तमान स्थिति और उसकी रक्षाके साधन (श्रीयुत पं० ठाकुरदासजी भार्गव, संसद्-सदस्य) ··· १०७८, ११३३
४९–गायत्री माताकी भक्तिका विलक्षण फल [एक विश्वविख्यात आर्य संन्यासीकी जबानी अपनी बीती सत्य कहानी] (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· ··· १२४२
५०–गीताके अनुसार धर्म-साधना (प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, एम्० एल्० सी०) ··· ··· १०४४
५१–गीताके प्रति वस्तुनिष्ठ (Objective) और आत्मनिष्ठ (Subjective) दृष्टिकोण (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार) ··· ८६९
५२–गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित श्रीरामचरितमानसकी विशेषता ··· दूसरे अङ्कके तीन-चार आवरण पृष्ठ
५३–गीतामें ज्ञानयोग (पं० श्रीगिरिजादत्तजी शुक्ल 'गिरीश') ··· ··· १००२
५४–गीतामें श्रेयःका प्रश्न (श्रीमिश्रीलालजी एडवोकेट) ··· ··· ११०६
५५–गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ९०७
५६–गुजराती भक्तोंके भाव (पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री, सद्विद्यालङ्कार) ··· ६६५
५७–गुण-विकासके लिये भक्ति अनुपेक्षणीय (संत श्रीविनोबा भावे) ··· ··· ८४३
५८–गुणानुरागी बनिये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ८०१
५९–गुरु-भक्ति और उसका महत्त्व (श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'ब्रजेश' साहित्यरत्न, साहित्यालंकार) ··· ५२९
६०–गृहस्थ और भक्ति (बाबू श्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, बंबई प्रदेश) ··· १०६
६१–गृहस्थ संत श्रीपोपट भाई (श्रीमुरलीधरजी गणोदवाले, एम्० ए०) ··· ९३६
६२–गौणी और पराभक्ति (महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') ··· २७१
६३–(श्रीमत्) चैतन्य महाप्रभुका भक्ति-धर्म (श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०) १९५
६४–चोखी सीख ··· ··· ९९४
६५–छीतस्वामी (श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ··· १३३४
६६–जन्म-मृत्यु-विचार (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ··· ··· १०९७
६७–जन्माङ्गसे भक्ति-विचार (पं० श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, ज्यौतिषाचार्य, साहित्यरत्न) ४८४
६८–जीव और ब्रह्ममें वास्तविक भेद नहीं है (अनन्तश्रीशङ्कर-स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज) ··· ··· १३५३
६९–जीवका दुःख दूर कैसे होता है ? (स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ··· ९०३
७०–जीवनकी मूल भित्ति (श्रीलावेल फिल्मोर) १०१०
७१–जैन-धर्ममें भक्ति और प्रार्थना (श्रीमाँगीलालजी नाहर) ··· ··· ५६३
७२–जैन-धर्ममें भक्तिका प्रयोजन (श्रीनरेन्द्रकुमारजी जैन, विशारद) ··· ··· ५६२
७३–जैन-शासनमें भक्ति (श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ··· ५६१
७४–ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति (श्रीस्वामी भागवताचार्यजी) ··· ९०
७५–ज्ञानकर्मयुक्त भक्ति (आचार्य श्रीलौटूसिंहजी गौतम, एम्० ए०, एल्० टी०, पी-एच्० डी०, काव्यतीर्थ, इतिहास-शिरोमणि) ··· ७६७
७६–ज्ञानकर्मसहित भक्ति (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ, सर्वदर्शनाचार्य) ··· ८९
७७–ज्ञानदेवकी अकृत्रिम भक्ति-भावना (श्री बी० पी० बहिरट, एम्० ए०) ··· ६००
७८–'ज्ञानेश्वरी' और 'दासबोध'में भक्ति (पं० श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, न्याय-वेदान्ताचार्य) ··· ··· २०५

७९–ताहि बोउ तू फूल (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ११८६
८०–तीर्थराज प्रयाग (डॉ० श्रीशिवशेखरजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) १२५४
८१–तूँवर भगवान् (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) १०१३
८२–तृणादपि सुनीचेन (श्रीश्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०) ... १०३९
८३–दक्षिणके नायनार संतोंकी शिवनिष्ठा (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव) ... ६८७
८४–दक्षिण-भारतके संतोंकी भक्ति-भावना (कवि योगी श्रीशुद्धानन्दजी भारती) ... ६७६
८५–दक्षिणभारतीय संतोंकी भक्ति-भावना [आन्ध्र] (श्रीवाई० जगन्नाथम्, बी० ए०) ६७९
८६–दर्शनोंमें भक्ति (महामहोपाध्याय डॉ० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्) ४७
८७–दिव्य प्रेम (हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक भाषणसे) ११११
८८–दुःखकी निवृत्तिका उपाय (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ... ८३९
८९–देवोंकी शरणमें (डॉ० मुंशीराम शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ... ५२१
९०–देश-भक्तिका ईश्वर-भक्तिसे सम्बन्ध (बाबा श्रीराघवदासजी) ... ५२५
९१–देश-भक्तिका यथार्थ स्वरूप और उसका ईश्वर-भक्तिके साथ सम्बन्ध (श्रीप्रद्युम्नप्रसाद त्रिभुवन जोशी) ५२८
९२–दोनों हाथ लड्डू (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ११४१
९३–द्वारकापीठके श्रीशंकराचार्यजीकी शुभकामना (श्रीद्वारकापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ स्वामीजी) ६
९४–द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावनमें भक्ति और भक्तभाव (अनु० श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल) ७५७
९५–धन चाहिये ! लो धन (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ९३९
९६–धर्म और मोक्ष (प्रो० श्रीभगवानदासजी झा 'विमल' एम्० ए०, बी० एस्-सी०) ... १३६६
९७–धर्मकृत्य और पञ्चाङ्ग (पं० श्रीसीतारामजी झा, ज्यौ० आ०) ... १३८७
९८–धर्मप्राण भारतका कुत्ता भी भक्ति करता है (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ... ७०६
९९–धर्म, भक्ति और साम्प्रदायिकता (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ... ११२२
१००–ध्यान देने योग्य दो बातें (सेठ मोतीलाल माणेकचन्दजी 'प्रतापसेठ') ... १११७
१०१–नकलसे असल (पं० श्रीमुरलीधरजी व्यास 'विशारद' एवं श्रीमोहनलालजी पुरोहित 'साहित्यरत्न') ११२८
१०२–(श्री) नरसीकी भक्ति (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) ६०५
१०३–नाम-प्रेमी भक्तोंके भाव (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) १९
१०४–नारद-पञ्चरात्रमें भगवच्चिन्तन (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव) ३८७
१०५–नारद-भक्ति-सूत्रके अनुसार भक्तिका स्वरूप ३९०
१०६–श्रीनिम्बार्काचार्य और भक्ति (स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी) १८४
१०७–निराशामें आशा (श्री डब्लू० डग्लस हार्टले) ७९९
१०८–निर्गुणवादी संतोंका भक्ति-रसास्वादन (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव) ... ५७६
१०९–निषादराज गुह और केवट एक व्यक्ति हैं अथवा दो ? (सम्मान्य पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') १२४५
११०–निष्काम कर्म ही क्यों ?—तर्ककी दृष्टिसे (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार) ... ११६८
१११–निष्काम भक्तिकी सफलता (ब्रह्मलीन परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीस्वामीजी श्रीयोगेश्वरानन्दजी सरस्वती) ८४
११२–नीलकण्ठ दीक्षित और उनका 'आनन्दसागरस्तव' (महामहोपाध्याय पं० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते) ५१७
११३–नेकी-बदी (श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि') १०३५
११४–पढ़ो, समझो और करो ८३१, ८८६, ९५९, १०२१, १०६८, ११४६, १२०७, १२७९, १३३९, १४०२

११५–पञ्चतन्त्र—विश्वको भारतीय साहित्यकी महान् देन (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १४११

११६–पत्थरकी मूर्ति और भगवान् (श्रीकिरणदत्तजी माथुर, बी० ए०, साहित्य-विशारद) ··· ४७५

११७–परम भागवत श्रीसूरदासजीकी भक्ति (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव) ··· ६०८

११८–परम रामभक्त श्रीतुलसीदासकी भक्ति (श्रीरेवानन्दजी गौड़, एम्० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न) ··· ··· ६१०

११९–परम श्रद्धा (श्रीप्रतापराय भट्ट, बी० एस्-सी०, राष्ट्रभाषारत्न) ··· ··· ५५४

१२०–परमात्माका तत्त्व-रहस्यसहित स्वरूप (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७८०

१२१–परमात्माका—सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन (सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचन्दजी प्रतापसेठजी) १३६९

१२२–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ८२७, ९७१, ११६२

१२३–पर्वतीय भक्तोंके भाव (श्रीत्रिलोचनजी पाण्डेय) ६९३

१२४–पुराणोंमें भक्ति (श्रीरासमोहन चक्रवर्ती, एम्० ए०, पुराणरत्न, विद्याविनोद) ··· ५३

१२५–पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण (आचार्यवर श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ··· १२६

१२६–पुष्टि-भक्ति (सौ० श्रीरुचिरा बहिन वि० मेहता) ३४८

१२७–पूजाके विविध उपचार (पं० श्रीमेघराजजी गोस्वामी, मन्त्रशास्त्री, साहित्यविशारद) ··· ४७७

१२८–प्रणामी-धर्ममें प्रेम-लक्षणा भक्ति (साहित्य-भूषण पं० श्रीमिश्रीलालजी शास्त्री, 'हिंदी-प्रभाकर') ··· ··· ५९०

१२९–प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८४७

१३०–प्रत्येक नागरिक अध्ययनशील और संयमी बने (आचार्य संत विनोबा) ··· ९१४

१३१–प्रफुल्लता (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक) ११९८

१३२–प्रार्थना—एक अपरिमित शक्ति (श्रीप्रतापराय भट्ट, बी० एस्-सी०, राष्ट्रभाषारत्न) ··· ४५७

१३३–प्रार्थनाका प्रयोजन (प्रो० श्रीफीरोज कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ४४४

१३४–प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य (श्रीज्वालाप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, एल्० टी०) ··· ४५०

१३५–प्रार्थनाका महत्त्व (श्री १०८ श्रीस्वामी नारदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· ३०

१३६–प्रार्थनाका स्वरूप (श्रीमदनविहारीजी श्रीवास्तव) ··· ··· ४५६

१३७–प्रार्थना—पूर्णताकी भावना (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ··· ४५२

१३८–प्रार्थनामय जीवन (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ८९५

१३९–प्रार्थनामय जीवन [गुप्त प्रार्थना] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ··· ९३४

१४०–प्रार्थनामय जीवन [दिव्यताका प्रारम्भ] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ··· ९९६

१४१–प्रार्थनामय जीवन [सफलता और पूर्णता] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ··· १०५१

१४२–प्रार्थनासे मनोऽभिलाषकी पूर्ति (संन्यासिनी ब्रह्मस्वरूपा) ··· ··· ४६०

१४३–प्रार्थनोपचार या आध्यात्मिक चिकित्सा (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ११८०, १३१२

१४४–प्रेम और भक्ति (डा० श्रीइन्द्रसेनजी) ··· १४७

१४५–प्रेम और भक्तिके अवतार—श्रीरामकृष्ण परमहंस (स्वामी असङ्गानन्दजी) ··· ६२३

१४६–प्रेम-भक्ति (प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी) ··· ··· ३२३

१४७–प्रेम-भक्तियुक्त अजपा-नाम-साधनद्वारा भगवान् वासुदेवकी उपासना (श्रीनरेशजी ब्रह्मचारी) ··· ··· ३३३

१४८–प्रेम-भक्ति-रस-तत्त्व (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी) ··· ··· ३५५

१४९–बच्चोंको उच्चचरित्र बनाया जाय (श्रीमहावीरजी त्यागी) ··· ··· ११९२

१५०–बन्ध-मोक्ष-विचार (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· ··· ११५९

१५१–बुद्धि और इन्द्रियाँ दो वस्तु हैं या एक ही ? (सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचन्दजी 'प्रतापसेठ') ११६६

१५२–बैजूबावराकी प्रेम-भक्ति (श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा) ··· ··· ६२१

१५३–बोझ प्रभुके कंधेपर (संत विनोबा) ··· ३२

१५४–बौद्ध-धर्ममें भक्ति (पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी) ··· ··· ५५५

१५५–ब्रह्मर्षि वशिष्ठका अमर-चिन्तन (पं० श्रीबालमुकुन्दजी मिश्र) ··· १०४९

१५६–भक्त-कवि श्रीप्रेमरङ्गजी और उनका साहित्य (पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी, शास्त्री, सामवेदाचार्य) ··· ··· ६१६

१५७–भक्तकी भावना [डॉ० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्० (ऑक्सन)] ... ५४९

१५८–भक्त-गाथा [भक्तवर श्रीनन्दरामजी] (पं० श्रीगङ्गाधरजी शास्त्री वैद्य) ... ८१५

१५९–भक्त-गाथा ८७७

१६०–भक्त-गाथा [भक्तप्रवर श्रीझाँझूदासजी] (श्रीसियाशरणजी शर्मा, व्याकरणाचार्य) ... १०८८

१६१–भक्त तहसीलदार (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) ११८९

१६२–भक्त परमानन्ददासजी [एक भाव-विश्लेषण] (क० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ... ९२६

१६३–'भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासका जन्म' (श्रीविबुधेश्वरप्रसादजी उपाध्याय, 'निर्झर' एम्० ए०) ३३१

१६४–भक्ति (त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिविलास-तीर्थजी महाराज) १५

१६५–भक्ति (डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी, मुख्यमन्त्री, उत्तर प्रदेश) १०९

१६६–भक्ति (पं० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०) ... २४७

१६७–भक्ति (श्रीसुन्दरजी रुगनाथजी बाराई) ३११

१६८–भक्ति अर्थात् सेवा (स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज) ८०

१६९–भक्ति और उसकी अद्भुत विशेषताएँ (श्रीकृष्णविहारीजी मिश्र शास्त्री) ... २६१

१७०–भक्ति और कैवल्य-प्राप्ति (श्री ··) ११२४

१७१–भक्ति और ज्ञान (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी) ६९

१७२–भक्ति और ज्ञान (स्वामीजी श्रीकाशिकानन्द-जी महाराज, न्याय-वेदान्ताचार्य) ... ८५

१७३–भक्ति और ज्ञान (श्री एस्० लक्ष्मीनरसिंह शास्त्री) २२९

१७४–भक्ति और ज्ञानकी एकता (पूज्यपाद स्वामी-जी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज) ... ७३

१७५–भक्ति और भक्तिके नौ भेद (श्रीसुतीक्ष्ण-मुनिजी उदासीन) ९१

१७६–भक्ति और मूर्तिमें भगवत्पूजन (पं० श्रीराम-नारायणजी त्रिपाठी, 'मित्र' शास्त्री) ... २९३

१७७–भक्ति और योग (डॉ० भानुशंकर नीलकण्ठ आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... २७६

१७८–भक्ति और वर्णाश्रम-धर्म (पूज्य श्रीप्रभुदत्त-जी ब्रह्मचारी महाराज) ... ३६७

१७९–भक्ति और विपत्ति (श्रीमुकुन्दराय विजय-शंकर पाराशर्य) ३१६

१८०–भक्ति और श्रीशंकराचार्य (श्रीज्योतिष्पीठा-धीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामीजी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज) ३

१८१–भक्ति और समाज-सेवा (श्रीनन्दलालजी दशोरा, एम्० ए०, (पू०), सी० टी०, विशारद) ५२६

१८२–भक्तिका एक श्लोक (देवर्षि भट्ट श्रीमथुरा-नाथजी शास्त्री) ३५८

१८३–भक्तिका फल (श्रीकृष्णमुनिजी 'शार्ङ्गधर' महानुभाव) २६०

१८४–भक्तिका बल (श्रीविश्वम्भरसहायजी 'प्रेमी') ७५२

१८५–भक्तिका मनोविज्ञान (श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट-लॉ, विद्या-वारिधि) ३०५

१८६–भक्तिका मनोवैज्ञानिक स्रोत (श्रीकृष्णबहादुर सिनहा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ३१०

१८७–भक्तिका मर्म (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... २८३

१८८–भक्तिका विवेचन (डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न) ... ४९१

१८९–भक्तिका स्वरूप (पूज्य स्वामीजी श्री १०८ श्रीशरणानन्दजी महाराज) ... ७२

१९०–भक्तिका स्वरूप (डा० श्रीनृपेन्द्रनाथ राय चौधरी, एम्० ए०, डी०लिट्०) ... २७७

१९१–भक्तिका स्वाद (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... १४४

१९२–भक्तिकी चमत्कारिणी अचिन्त्य शक्ति (श्रीश्री-रामजी जैन, 'विशारद') ... ३६५

१९३–भक्तिकी दुर्लभता (आचार्य श्री एस्० बी० दांडेकर) ... २९९

१९४–भक्तिकी दुर्लभता (श्रीकान्तानाथरायजी) ३०३

१९५–भक्तिकी सुलभता (स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामसुखदासजी महाराज) ... ८१

१९६–भक्तिकी सुलभता और सरलता (श्री-कान्तानाथरायजी) ... २५०

१९७–भक्तिके ऊपर भाष्य (श्रीजयेन्द्रराय भगवानदास दूरकाल, एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्या-वारिधि, भारतभूषण, साहित्यरत्नाकर) ... ४९६

१९८–भक्तिके लक्षण (महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधर-जी शर्मा चतुर्वेदी 'वाचस्पति') ... २५३

१९९–भक्तिके सम्बन्धमें कुछ वेतुकी आलोचनाएँ एवं उनका उत्तर (श्रीजटावल्लभ पुरुषोत्तम एम्० ए०) ३२१

२००–भक्ति-कौस्तुभ (पं० श्रीरामशङ्करजी भट्टाचार्य) ७६५

२०१–भक्ति-तत्त्व (श्रीताराचंदजी पाण्ड्या, बी० ए०) २८१

२०२–भक्ति-तत्त्व (डा० श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... ३४०

२०३–भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन १५६

२०४–भक्ति-तत्त्वकी लोकोत्तर महत्ता (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ... २६३

२०५–भक्ति-तत्त्व या भक्ति-साधना (प्रो० जयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार) ... २४०

२०६–भक्ति तथा ज्ञान (श्रीयुत आर० कृष्णस्वामी ऐयर) २२५

२०७–भक्ति धर्मका सार है (श्रीखगेन्द्रनाथजी मित्र, एम्० ए०) ... २५८

२०८–भक्ति-भागीरथीकी अजस्र भावधारा (पं० श्रीदेवदत्तजी शास्त्री) ... ६६

२०९–भक्ति भी विदेशियोंकी देन ? (पं० श्रीगङ्गाशंकरजी मिश्र, एम्० ए०) ... ५३४

२१०–भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति और गुरुतत्त्व (परम सम्मान्य श्री १०८ श्रीहरिबाबाजी महाराज) ... १७

२११–भक्तिमें समर्पण, स्वामित्व-विसर्जन (बाबा श्रीराघवदासजी) ५४४

२१२–भक्तिमें सर्व-धर्म-त्याग (श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०) ... ८५९

२१३–भक्ति-रसके सर्वतोमधुर आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ... ३६२

२१४–भक्ति-रसामृतास्वादन (अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ... ६

२१५–भक्ति-लाभका सहज साधन (राजज्यौतिषी पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र, ज्यौतिषाचार्य) ५०३

२१६–भक्तिवादका गूढ़ मर्म (श्रीमत् स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी अवधूत) ... ७७

२१७–भक्ति-विवेचन (पं० श्रीअखिलानन्दजी शर्मा, कविरत्न) ४०३

२१८–भक्ति-संजीवनी (गङ्गोत्री-निवासी साधु श्रीप्रज्ञानाथजी) ९३

२१९–भक्ति-साधन और महाप्रभु श्रीगौरहरि (डा० श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट०) ३२८

२२०–भक्तोंके भावपूर्ण अनूठे उद्गार (श्रीचेलालालजी मोहला मुलतानी) ५४५

२२१–(श्री) भगवत्पूजन-पद्धतिका सामान्य परिचय ... ४९७

२२२–(श्रीमद्) भगवद्गीताका स्वारस्य—प्रपत्ति (शास्त्रार्थ-महारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री) ३७९

२२३–(श्रीमद्) भगवद्गीतामें भक्ति (श्रीपाण्डुरङ्ग अथावले शास्त्रीजी) ३८२

२२४–(श्रीमद्) भगवद्गीतामें भक्तियोग (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११४

२२५–भगवद्-भक्तिका मूल ब्राह्मण-भक्ति (पं० श्रीश्रीलालजी पाठक) ६९७

२२६–भगवन्नामकी अपार महिमा (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी) ४३७

२२७–(श्री) भगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग, 'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर) ... १२६७

२२८–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी, सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर) १३३७

२२९–भगवन्नाम-महिमा (हरिदास गङ्गाशरणजी शर्मा 'शील', एम्० ए०) ... ४३५

२३०–(श्री) भगवन्निम्बार्काचार्यप्रोक्त प्रेमलक्षणा भक्ति (श्रीगोपालदासजी) ... ७४३

२३१–भगवान्‌का प्यारा भक्त (श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका) ४९२

२३२–भगवान्‌का प्रेम सबसे महान् है (श्रीमेरी एल० कपफर्ले) ११२०

२३३–भगवान्‌का योग (साधुवेषमें एक पथिक) १२९२

२३४–(श्री) भगवान्‌का रूप चिन्मय है (डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १४०

२३५–भगवान्‌का विस्मरण कभी न हो (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक भाषणसे) १२२९

२३६–भगवान्‌का श्रीविग्रह (पं० श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालंकार, काव्यतीर्थ) ... ७५३

२३७–भगवान्‌की दिव्य गुणावली (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य) ... १४१

२३८–(श्री) भगवान्‌के चरणचिह्नोंका चिन्तन (श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार) ... ८१३

२३९–भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०३६

२४०–भगवान् महावीरके जीवनकी चार झाँकियाँ (मुनि श्रीसुशीलकुमारजी शास्त्री) ... ८६५

२४१–भगवान् शङ्करकी आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ (पं० श्रीरामसेवकजी गर्ग) … … १०६४

२४२–भगवान् शंकरकी भक्तिका प्रत्यक्ष फल (पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ५०८

२४३–भजनके लिये सर्वोत्तम अवसर (स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज) … … १०३१

२४४–भयसे निवृत्ति (प्रे० श्रीजयरामदासजी पटेल, साहित्यरत्न) … … १०८५

२४५–(श्री) भरतकी भक्ति (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) … … २२०

२४६–भवानीके श्रीचरणोंमें (डॉ० श्रीरामानन्दजी तिवारी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्०) … १३७९

२४७–(श्रीमत्) भागवतका एक अध्याय (श्रीअनन्तकुमारजी पाषाण) … १२१७

२४८–(श्रीमत्) भागवतमें प्रतिपाद्य भक्ति (ह० भ० प० श्रीचातुर्मास्ये महाराज) … ६५

२४९–भारतमें भक्ति-रसका प्रवाह [श्रीकन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी, भू० पू० राज्यपाल उत्तर-प्रदेश] (अनु० श्रीराजबहादुरसिंह) … १०१

२५०–भारतीय नारी (डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी) … … ८२१

२५१–भाव-भक्तिकी भूमिकाएँ (स्वामीजी श्रीसनातनदेवजी) … … ३९८

२५२–'भूदान' भक्तिका ही काम है (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) … … ५४१

२५३–मञ्जरी-भाव-साधना (आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी) … … ३५२

२५४–मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) … ६६४

२५५–(श्रीमन्) मध्वाचार्य और भक्ति (श्रीयुत बी० रामकृष्णाचार बी० ए०, विद्वान्) … १८८

२५६–मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम (स्व० राजा श्रीदुर्जनसिंहजी) … … १३३

२५७–महर्षि वशिष्ठकी गोदमें श्रीराम (पं० श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी) … … ९८९

२५८–महर्षि वाल्मीकिकी भक्ति (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … … २१७

२५९–महर्षि शाण्डिल्य और भक्ति-तन्त्र (पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी) … … ४७९

२६०–महात्मा गांधी और भक्ति (श्रीरामनाथजी 'सुमन') … … ६४०

२६१–महापुरुषोंका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १२८७

२६२–महारसायन (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी) … … १३५१

२६३–महाराष्ट्र-भक्तोंके भाव (श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, एम्० ए०, न्याय-वेदान्ताचार्य) ६४७

२६४–महाराष्ट्रीय भक्तोंके कुछ 'प्रेम-लपेटे अटपटे' वचन (डा० श्रीनीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, एम्० ए०, बी० टी०) … ६५३

२६५–'महिम्नो नापरा स्तुतिः' (एक शिवभक्त) … ५१०

२६६–मांसाहारपर विचार (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) १११८

२६७–मातृभक्ति (श्रीभगवत् दवे) … ५३०

२६८–मानवता-धर्म (श्रीअनिलवरण राय) … ५५१

२६९–मानसका मङ्गलाचरण (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०) … १३७४

२७०–मानसके अनुसार भक्तिरसमें ध्यान-प्रकार (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी, वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न) … ४०८

२७१–मानसमें भक्ति (पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी) ४१२

२७२–मानसमें माता कौसल्याकी महत्ता (श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया) … ७९३

२७३–मिथिलामें श्रीकृष्ण-भक्ति (प्रो० श्रीजयमन्त मिश्र, एम्० ए०, व्याकरण-साहित्याचार्य) … ६७५

२७४–मीराँकी भक्ति [मीराँका अमर सुहाग] (श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी') … ६१२

२७५–मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा और भक्ति (सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र विद्यामार्तण्ड पं० श्रीमाधवाचार्यजी) २८५

२७६–मृत्यु-लोकका कल्पवृक्ष—गायत्री-उपासना-(श्रीसत्यनारायण दवे) … ५१४

२७७–मेरा अहं बोलता है ! (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) … … १३२८

२७८–मेरी चाह … … ९९८

२७९–मैथिल-सम्प्रदायमें विष्णु-भक्ति (पं० श्रीवैद्यनाथजी झा) … … ६७२

२८०–यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १३५८

२८१–यह बिनती रघुबीर गुसाईं ! (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … … १२९५

२८२–रवीन्द्रनाथ ठाकुर और भक्ति (श्रीविमलकृष्ण विद्यारत्न) … … ६३७

२८३–राजस्थानकी एक लोक-कथा [लैणिया-दैणिया] (श्रीमुरलीधरजी व्यास, विशारद, श्रीमोहनलालजी पुरोहित, साहित्यरत्न) … १०६०

२८४–राजस्थानमें भक्ति (पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, साहित्यरत्न) ··· ··· ६८९
२८५–(श्री) राधाकी आराधनामें हिंदी कवि (पं० श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) ··· ५४७
२८६–(श्री) राधा-कृष्णकी अष्टकालीन स्मरणीय सेवा ४६६
२८७–(श्री) राधा-भाव (साहित्याचार्य रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी) ··· ३५०
२८८–(श्री) राधामाधवका महत्त्व, स्वरूप, तत्त्व और सम्बन्ध (श्रीराधाष्टमी-महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण) ··· १२९९
२८९–(श्री) रामचरितमानसमें जड़ और चेतनकी भक्ति (श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी) ··· ४२८
२९०–(श्री) रामचरितमानसमें भक्ति (श्रीजयनारायणलालजी) ··· ··· ७७०
२९१–(श्री) रामचरितमानसमें भक्ति-निरूपण (पं० श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी, मानसतत्त्वान्वेषी) ··· ४१६
२९२–(श्री) रामचरितमानसमें विशुद्ध भक्ति (पं० श्रीरामचन्द्रजी शर्मा छांगाणी) ··· ४२६
२९३–(श्री) रामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी) ··· ··· ९२२
२९४–(श्री) रामचरितमानसमें स्वप्नप्रसङ्ग (श्रीमदनगोपालजी) ··· ८२४
२९५–रामनाम (महात्मा गाँधी) ··· ९९२
२९६–रामभक्त मारीच (डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०) ··· ७५९
२९७–राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी) ··· ८७१,९४४
२९८–(श्री) रामानुजाचार्यकी भक्ति ··· १८३
२९९–रामायण और भक्ति (श्रीशम्भुशरणजी दीक्षित) ··· ··· ४२०
३००–रामायणमें भक्ति (श्रीयुत के० एस० रामस्वामी शास्त्री) ··· ··· ३७७
३०१–(श्री) रूपकलाजीकी भक्ति (स्वामी श्रीजयरामदेवजी) ··· ··· ७६४
३०२–रूप-ज्योति (डा० श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· ··· ९५३
३०३–रूसी रामचरितमानसके प्रणेता अलैक्सेइ पेत्रोविच बरान्निकोव (पं० श्रीबालमुकुन्दजी मिश्र) ··· ··· ७०४
३०४–वङ्गीय भक्तोंकी भावधारा (श्रीबंकिमचन्द्र सेन, भक्ति-भारती-भागीरथी) ··· ६५६
३०५–वर्णाश्रम-धर्म और भक्ति (श्रीनारायण पुरुषोत्तम सांगाणी) ··· ··· ३७३
३०६–वर्तमान पतन और उससे बचनेके लिये प्रेरणा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ११०१
३०७–वल्लभ-सम्प्रदायमें अष्टयाम सेवा-भावना (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव) ··· ४७०
३०८–(श्री) वल्लभाचार्यकी पुष्टि-भक्ति (श्रीचन्दुलाल हरगोविन्द गांधी) ··· १९१
३०९–वामन-पण्डितकी दृष्टिमें भक्तितत्त्व (श्रीबलिरामजी शास्त्री, सराफ, एम्० ए०, आचार्य) ६०३
३१०–विद्या ददाति विनयम् (श्रीहरिपद विद्यारत्न दास्यार्थी महोदय) ··· ··· ११४२
३११–विवेकका आश्रय (साधुवेषमें एक पथिक) ··· ९९३
३१२–विश्व-भक्ति (पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी) ५२३
३१३–(श्री) विष्णु-भक्तिके विविध रूप (आचार्य डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ५०४
३१४–वेदान्त और सांख्यका बहुपुरुषत्ववाद (स्वामी श्रीनिर्गुणानन्दजी) ··· १३६२
३१५–वेदोंकी संहिताओंमें भक्ति-तत्त्व (श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्त्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्य स्वामीजी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर) ··· ३३
३१६–वेदोंमें ईश्वर-भक्ति (श्रीराजेन्द्रप्रसादसिंहजी) ४६
३१७–वेदोंमें भक्ति (याज्ञिक-सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) ··· ··· ४१
३१८–वेदोंमें भक्तिका स्वरूप (पं० श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार) ··· ··· ४४
३१९–वेदोंमें भक्तियोग (श्री ग० ना० बोधनकर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ७२७
३२०–वैष्णवका व्यक्तित्व (डा० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० फिल्०) ··· ६९५
३२१–वैष्णव-भक्ति और भारतीय आदर्श (श्रीमती शैलकुमारी बाना) ··· ··· ३४४
३२२–वैष्णव-सदाचार (आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) ··· १२
३२३–वैष्णव-सदाचार ··· ··· ७११, ७८३, ८५०, ९८१
३२४–व्यापार बनाम जनसेवा (श्रीविनोबाजी) ··· ७७६

३२५–व्यासदेवकी भक्ति (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) २२४
३२६–व्रजभक्तोंका महत्त्व (पं० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी, एम्० ए०)... ... ६४५
३२७–(श्री) शंकराचार्य और भक्ति (अध्यापक श्रीरघुनाथ काव्य-व्याकरण-तीर्थ) ... १७८
३२८–(श्री) शंकराचार्य और भक्ति (श्रीयुत आर० महालिङ्गम्, एम्० ए०, बी० एल्०) ... २१०
३२९–शक्तिवादमें भक्तिका स्थान (आचार्य श्रीजीव न्यायतीर्थ, एम्० ए०) ... ३९३
३३०–शबरीकी भक्ति (पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, एम्० ए०) २१८
३३१–शास्त्रोंमें वाराणसीका महत्त्व (पं० श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०) ... ८०५
३३२–(श्री) शिवभक्तिके विविध रूप (श्रीभगवतीप्रसाद सिंहजी, एम्० ए०) ५०९
३३३–शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेके साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०१५
३३४–(श्री) शुकदेवजीकी भक्ति-परीक्षा [रम्भा-शुक-संवाद] (पुरोहित श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री) ४८८
३३५–श्रीराधा-नाम और राधा-उपासना सनातन है (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १३९२
३३६–(श्री)सहजानन्द स्वामी(स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) १३७१
३३७–श्रेष्ठ कौन—मुक्ति या भक्ति ? (श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०) ... ७२१
३३८–संत कवि और पुनर्जन्म-भावना (डॉ० श्रीत्रिलोकीनारायणजी दीक्षित, एम्० ए०, डी० लिट्०) १२४८
३३९–संत भक्त कवि ही सच्चे भक्त हैं [महामहोपाध्याय डॉ० श्रीप्रसन्नकुमार आचार्य, आई० ई० एस्० (रिटायर्ड)] ... १५०
३४०–संतोंकी सेवामें (श्रीबलरामजी साधु) ... १३९९
३४१–सखी-भाव और उसके कुछ अनुयायी भक्त (पं० श्रीसियाशरणजी शर्मा, शास्त्री) ... ३५६
३४२–सत्य और संतोषका फल (श्रीइन्द्रप्रकाशजी करनाणी) १०६१
३४३–सत्यकी रक्षा करनेवाला अन्तमें विजयी होता है (हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक भाषणसे) ११७१
३४४–सत्यसंकल्प श्रीराम [विभीषणका सौभाग्य] (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... ९१७
३४५–सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... २६५
३४६–सनकादिकी भक्ति (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) २१६
३४७–समझनेकी बात (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १४१०
३४८–समाज-कल्याणका मूलमन्त्र [सहयोगकी भावनाका विकास] (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १००३
३४९–समाजकी मौन-स्वीकृतिसे अपराध होता है (श्रीमनोहर मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न) ... ९९५
३५०–सम्पादककी क्षमा-प्रार्थना ... ७०८
३५१–सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२५९
३५२–सर्व-सुलभ भक्ति-मार्ग [भक्तिका तात्त्विक विवेचन] (आचार्य पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) १५३
३५३–साधकके उद्गार ११९४
३५४–सामूहिक प्रार्थनाकी आवश्यकता और भारतका उत्थान (श्रीअच्चू धर्मनाथ सहाय, बी० ए०, बी० एल्०) ४४६
३५५–साम्बकी सूर्य-भक्ति (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ५०७
३५६–सिख-धर्म और भक्ति (संत श्रीइन्द्रसिंहजी 'चक्रवर्ती') ५९४
३५७–सिख-धर्ममें भक्ति (श्रीगुरांदित्ताजी खन्ना) ५९३
३५८–(श्री) सिद्धिमाताका जीवन-वृत्तान्त (श्रीराजबाला देवी) ... ६३०
३५९–सीखनेकी बात (श्रीविजयमुनिजी साहित्यरत्न) ८१९
३६०–(श्री) सीतारामजीकी अष्टयाम-पूजा (न्याय-वेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री स्वामीजी श्री१०८ श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती) ... ४६१
३६१–(श्री) सीतारामजीकी अष्टयाम पूजा-पद्धति (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) ... ४६३
३६२–सुख क्या है ? (श्रीलक्ष्मीनारायणजी गर्ग) १०६३
३६३–सुख-दुःख-विचार (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) १२२३
३६४–सुख-शान्तिका महत्त्वपूर्ण साधन—संतोष (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ... १३३१
३६५–सूक्ष्मताकी ओर (श्रीशिवकुमारजी शुक्ल शास्त्री, शास्त्राचार्य) ९४०
३६६–सूफी साधकोंकी भक्ति (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ५६६
३६७–सेवाका तत्त्वज्ञान (श्रीमहेन्द्रजी मिश्र 'मस्त' साहित्याचार्य, साहित्यालंकार) ... ८११

३६८—सेवा मेवा है (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ५२८
३६९—सोया-ही-सोया (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १२६६
३७०—स्वच्छ वस्त्रोंका आध्यात्मिक प्रभाव (आचार्य डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … … १३९१
३७१—स्वधर्म-पालनकी आवश्यकता [श्रीस्वामी रामदेवजी महाराजद्वारा दिये गये उपदेशका सारांश] (प्रेषक—श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल) … ७७५
३७२—स्वयं भगवान्का दिव्य जन्म-महोत्सव (हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) … १२३५
३७३—(श्री) स्वामिनारायणकी भक्ति (शास्त्री श्रीकृष्णस्वरूपजी स्वामिनारायण) … ५९१
३७४—स्वामी श्रीदयानन्द और भक्ति (श्रीबाबूरामजी गुप्त) … ६३५
३७५—हमारी भक्ति-निष्ठा कैसी हो ? (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … … १५२
३७६—हमारे वितरण (श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) ८९८
३७७—हरिभक्ति और हरिजन (पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी) … … ५३१
३७८—हरिराम व्यासजीकी भक्ति (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) … … ६१४
३७९—हिंदी कवियोंकी गो-भक्ति (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) … … ९४१

कहानी

१—एक प्राण दो शरीर (श्रीआचार्य सर्वे) … १०११
२—कर्मण्येवाधिकारस्ते (श्री'चक्र') … १०५७
३—तामसी श्रद्धा (श्री'चक्र') … १३२६
४—मा कर्मफलहेतुर्भूः (श्री'चक्र') … ११९५
५—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (श्री'चक्र') … १२५६
६—मानवताकी पुकार (श्री'चक्र') … ९९९
७—मा फलेषु कदाचन (श्री'चक्र') … ११२५
८—मूर्तिमान् परोपकार (स्वामीजी श्रीपारसनाथजी सरस्वती) … … १००७
९—राजसी श्रद्धा (श्री'चक्र') … १३९७
१०—सहज त्याग (श्री'चक्र') … ८०८

संकलित गद्य

१—अखण्ड नाम-स्मरणसे साक्षात् दर्शन … १०२०
२—अपने दूतोंको यमराजका उपदेश … ५३०
३—आज मेरा जीवन भगवान्के अस्तित्वको अभिव्यक्त कर रहा है … … १२७८
४—आत्मघातीके सिवा भगवान्के गुणानुवाद और कौन नहीं सुनता ? … … ६५५
५—आत्माराम मुनि भी भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं … … ४९०
६—इन्द्रियोंका सच्चा लाभ … … ५७५
७—उद्धवजीकी अनोखी अभिलाषा … १९४
८—एक साधककी प्रार्थना … … १३११
९—गोबरकी उपादेयता … … १२५२
१०—गुणी ही विनयी होता है (संकलनकर्ता—श्रीबालचन्द्रजी कोठारी) … १२०२
११—चराचर भूतमात्रमें भगवान्को प्रणाम करो ६७१
१२—प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु भगवान् हैं १३९०
१३—प्रेम ही ईश्वरीय विधानको पूर्ण बनाता है … ११७०
१४—प्रेमी भक्तोंका सङ्ग वाञ्छनीय … ४०२
१५—ब्रह्माजीकी कामना … … ४५९
१६—भक्तका कर्मयोग … … १०८४
१७—भक्तकी भावना … … १०७५
१८—भक्तिकी प्राप्ति परम धर्म … १८२
१९—भक्तिमें लगानेवाला ही यथार्थ आत्मीय है … २५७
२०—भक्तिसे पाप पूरी तरह जल जाते हैं … २४९
२१—भक्तिसे रहित ज्ञान और कर्म अशोभन हैं … २५९
२२—भक्तिसे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी प्राप्ति … १७७
२३—भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है … २२८
२४—भगवच्चरण-नौका … … ५२०
२५—भगवत्प्रेमीका क्षणभरका सङ्ग भी मोक्षसे बढ़कर है … … २१५
२६—(श्री) भगवत्स्मरणकी महिमा … २
२७—भगवन्नामकी महिमा … ५६०
२८—भगवान्का परमपवित्र यशगान … ५९०
२९—भगवान्का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं १२४१
३०—भगवान्का भक्त विषयोंसे पराजित नहीं होता २८०
३१—भगवान्की अनुभूति प्रतिक्षण मुझमें नयी आशा भर रही है … १२५८
३२—भगवान्की चरणधूलिका महत्त्व … २९२
३३—भगवान्की दयालुता … ४७३
३४—भगवान्के चरण-कमलोंकी स्मृतिका महत्त्व ५६१
३५—भगवान्के चरणोंका आश्रय सब भय-शोकादिका नाशक है … ३९२
३६—भगवान्के नाम-गुणोंका श्रवण मङ्गलमय … २६४
३७—भगवान्के विवेक एवं सामर्थ्यके बलसे मैं विजयी हूँ … … १३२५
३८—भगवान्के सांनिध्यसे मेरी गति अविराम और निरापद है … … १३६१
३९—भगवान् नित्य मेरे हृदयमें विराजमान हैं … १३४८
४०—भगवान् निष्काम प्रेमभक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं ५५०
४१—भगवान् भक्तके पराधीन हैं … ४०५

४२–भगवान् मुझसे सम्बन्धित सम्पूर्ण बातोंका नियन्त्रण करते हैं … ११६१
४३–भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं ११२१
४४–भगवान् सदा मेरे साथ हैं … ११८८
४५–मनुष्यके धर्म … … २१९
४६–मायाके द्वारा किनकी बुद्धि ठगी गयी है ?… ४५५
४७–मुचुकुन्दका मनोरथ … ३०२
४८–मृत्युके प्रवाहको रोकनेका उपाय … ३०९
४९–मेरा जीवन भगवान्के प्रेमकी अभिव्यक्ति-मात्र है … … १२२८
५०–मेरा जीवन भगवान्के सौहार्दकी अभिव्यक्ति-मात्र है … … १३३६
५१–मेरा शरीर भगवान्का अपना घर है … १४०१
५२–मैं अपनी सद्भावनाएँ निरन्तर बाहर भेजता हूँ १४१२
५३–मैं इसी क्षणसे भगवान्का हो गया हूँ … १३१५
५४–मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी कुछ सहायता कर सकता हूँ … … १३८२
५५–यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश … ३२०
५६–रागादि बन्धन कबतक हैं ? … ७२६
५७–रुद्रको कौन परम प्रिय है ? … १५१
५८–लीला-कथाकी महत्ता … ६००
५९–विषय-चर्चा सुननेवाले मन्दभागी … ४२५
६०–व्रजगोपियोंकी महत्ता … ५३३
६१–शोक और भय अज्ञानीको ही होते हैं … १०८७
६२–संकटके समय विश्वासी भक्तकी भावना … ११३२
६३–सब कुछ भगवान्के समर्पण करो … २४६
६४–सब कुछ वासुदेव श्रीकृष्णमें ही … २२३
६५–हम अपने चुनावमें स्वतन्त्र हैं … १२१६
६६–'हरये नमः' कहते ही पापोंसे मुक्ति … ४२९
६७–(श्री) हरिकी पूजाके आठ पुष्प … ४६९
६८–(श्री) हरिको संतुष्ट करनेवाले व्रत … ४४३

पद्य-सूची

१–अवध-विहारी एवं विपिन-विहारीके चरण (श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी मित्र, शास्त्री) २९८
२–आराध्या माँ (श्रीगङ्गाधर मिश्र, साहित्यरत्न) २८२
३–आशा … … १०६५
४–आशुतोषसे (श्रीरवीन्द्रप्रसाद मिश्र 'भ्रमर') ६१३
५–इन्द्रका सीताको चरुदान … ११५७
६–ईशावास्योपनिषद् (श्रीभवेशनाथजी पाठक, एम्० ए०) … … ११४०
७–उद्धवका गोपी-प्रेम (श्रीनाथजी मेहरोत्रा, 'श्रान्त') … … १२७०
८–कामना (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) … ९८०
९–(श्री) कृष्णका श्रीमती राधाको प्रेम-संदेश ११२३
१०–कृष्ण-भक्ति (वेदान्ती स्वामी श्रीरंगीलीशरण-देवाचार्य, साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसा-शास्त्री) ४२७, १०७७
११–केनोपनिषद्का हिंदी-पद्यानुवाद (श्री-वासुदेवजी गोस्वामी) … ९३१
१२–कैसा सुन्दर जगत् बनाया ! (श्रीश्याम-नन्दनजी शास्त्री) … … ३४९
१३–गीत (श्रीनरसिंहजी श्रीवास्तव, एम्० ए०) १३९६
१४–गीत (श्रीसरजूप्रसादजी सैनी) … ११७९
१५–गोपी-कृष्ण-गायन … … १२८५
१६–जगज्जननी अन्नपूर्णा … … १०९३
१७–जिज्ञासा (श्रीसुबोधचन्द्रजी पन्त, एम्० ए०) १०९०
१८–तुम्हीं मेरे सर्वस्व … … १००६
१९–धेनु (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') … १३७०
२०–निर्बलके बल भगवान् (श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ) … … ५७८
२१–निहौरो श्रीराधा जू सौं (श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह') … … ५४०
२२–पतित और पतित-पावन [एक झाँकी] (श्री 'विप्र-तिवारी') … … ३०४
२३–प्रबोध ! (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') … ११८५
२४–प्रयागमें त्रिवेणी (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) … १३८६
२५–प्रश्न … … १००१
२६–प्रार्थना (कविवर श्रीसुमित्रानन्दनजी पंत) ४६१
२७–बाम गति चलैं काम करत हराम के (थानसिंह शर्मा 'सुभाषी') … … ८४२
२८–भक्ति (पं० श्रीवीरेश्वरजी उपाध्याय) … ३३९
२९–भक्तिकी शक्ति (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्० लॉ०, विद्यावारिधि) ४१९
३०–भक्तिमें अपार शक्ति (साहित्यवाचस्पति दीनानाथ चतुर्वेदी, शास्त्री, 'सुमनेश') … १४०
३१–भक्तियोग (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … ११६७
३२–(श्री) भरतकी भक्ति (श्रीमदनसिंहजी बघेल, एम्० ए०, बी० टी०) … ७०७
३३–मनको प्रबोध (श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय, 'साँवरा') … … ९२५
३४–मन रे चिन्ता मत कर कलकी (श्रीमधु-सूदनजी वाजपेयी) … … १११०
३५–मेहरबान मालिकसे … … ११२४

३६–याचना (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे) … ३८६
३७–रईसोंका धन (बाबू मावलीप्रसादजी श्रीवास्तव) … … ११६६
३८–रसमयकी रसमयी आवनि … १०४३
३९–लरि लरि कै मरत हैं (श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी') … … १३७८
४०–'वह कैसा इन्सान !' (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') … … ११०५
४१–विनय (प्रो० श्रीजयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार) … … ३५१
४२–शिव-ताण्डव (कविवर श्री 'गोपालजी') ३७६
४३–श्याम निकट बुलाते हैं (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') … १४३
४४–संयुक्त लक्ष्मी-नारायण … १३४९
४५–सच्चा प्रेम … ‥ ९५२
४६–सब आपके भक्त बन जायँ (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) … … १३५७
४७–साध तेरी (वैद्यराज श्रीधनाधीशजी गोस्वामी) ३४७
४८–सीनेमें समाने हेतु (श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान, 'प्रेमी') … … ३२२
४९–'हरि-भक्तोंका जय जयकार !' (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') … … ४०६
५०–हरि-हर-युद्ध … … १२२१

संकलित पद्य

१–आँगन खेलत आनँद कंद … ७०९
२–काकभुशुण्डिकी कामना … १२५
३–काशीका मुक्तिदान … … ८६४
४–कुंजमें आगमन … ११९९
५–गोपिका-प्रीति … … १०४८
६–ग्वाल-मण्डलीमें मोहन … … ७७३
७–चंदके छल-छंद … … ८५८
८–जानकीजीसे अग्निमें निवास करनेके लिये प्रेरणा १०२९
९–दर्शनकी प्यास … … ८९४
१०–धिक्कार … … ७४२
११–'निसिबासर राम रटो' … … १२०६
१२–प्रभुसे याचना … … ७७९
१३–प्रेम-पद्धति … … १०४६
१४–बड़भागिनी यशोदा … ८२३
१५–भक्तकी भावना … … १
१६–भक्ति बिनु तन-मन मैलो … ९८८
१७–भगवत्कृपा … … ४१५
१८–भगवान्का निज गृह … … ३८१
१९–भगवान्का प्राकट्य प्रेमसे … ४९१
२०–भगवान्के बन्धनका सरल साधन … ३२
२१–भगवान्को भक्त सबसे अधिक प्रिय हैं … १३९
२२–भगवान्को शीघ्र द्रवित करनेवाली भक्ति … ५४३
२३–भजन करनेवाला सब कुछ है … ३५७
२४–भजन बिना बिना पूँछका पशु … ३४६
२५–माताकी व्याकुलता … … ९०१
२६–(श्री) यमुनाजीकी महिमा … ७५८
२७–रहीमकी रुचि … … ९०६
२८–(श्री) राधाजीसे प्रार्थना … १३२
२९–रामका भजन क्यों नहीं करते … ५
३०–राम-कृपाका महत्त्व … … ७६६
३१–रामकृपा विना शान्ति नहीं … ८१२
३२–रामके समान हितैषी कोई नहीं … ६०७
३३–राम-नामका बल … … ६४१
३४–(श्री) राम-नाम-महिमा … ४६२
३५–राममय जीवन … … १२९४
३६–लक्ष्मणजीकी अनन्य प्रीति … ४११
३७–वालीकी अन्तिम भावना … ६०४
३८–विनती (विद्यापति) … … ११००
३९–विहारीका मुख … … १००
४०–शिवजीसे विनय … … ८३७
४१–शिवद्रोही रामभक्ति नहीं पा सकता … ७३६
४२–श्वासका भरोसा नहीं … … ९३०
४३–सत्सङ्गकी महिमा … … ८१४
४४–सूर्य-स्तवन … … ९६५
४५–(श्री) हनुमान्जीका अनुभव … ७२०

चित्र-सूची

सुनहरा चित्र

१–वनसे लौटते हुए वनमाली ... ४७२

तिरंगे चित्र

१–(श्री)अन्नपूर्णाजी १०९३
२–इन्द्रका सीताजीको चरु देना ... ११५७
३–क्रीडावेशमें आनन्दकन्द ... ७०९
४–गोदके लिये मचलते यशोदानन्दन ... १९३
५–गोपी-कृष्ण-गायन १२८५
६–चतुर्दश परमभागवत और उनके आराध्य ... २४०
७–जानकीजीको अग्निमें निवासकी प्रेरणा ... १०२९
८–(श्री) दशरथनन्दन ७०९
९–'दूलह राम सीय दुलही री' ... ६८०
१०–नवधा भक्तिके आदर्श भक्ति अङ्कका मुखपृष्ठ
११–प्रणवस्वरूप भगवान् गजानन ... ५७
१२–प्रतिबिम्बपर रीझे बालकृष्ण ... १९३
१३–प्रेमविह्वला गोपी ७७३
१४–भक्ताधीन रघुवीर ६८०
१५–भक्तिके परम लक्ष्य—भगवान् नारायण ... १४०
१६–भक्तोंकी आराध्या भगवती दुर्गा ... ३९३
१७–भक्तोंके परमआदर्श श्रीमारुति ... ७६
१८–भक्तोंके परम उपजीव्य श्रीसीता-राम ... २८८
१९–भक्तोंके परमाराध्य श्रीभवानी-शंकर ... ५१२
२०–भक्तोंके सर्वस्व—श्रीराधागोविन्द ... १
२१–भगवान् भास्कर ९६५
२२–मदनमोहनकी मदन-विजय-लीला ... ३३४
२३–मातासे वनवासके लिये बिदाई ... ९०१
२४–शिव-कृष्ण-युद्ध १२२१
२५–संयुक्त लक्ष्मी-नारायण १३४९
२६–सखाओंके साथ वनभोजन ... ७७३
२७–हालाहल-पान ८३७

दुरंगा चित्र

१–भक्तिप्रिय माधव भक्ति-अङ्कका ऊपरी आवरण

इकरंगे चित्र

१–अनन्य कृष्णभक्त आचार्य मधुसूदन सरस्वती २१३
२–अहल्या-उद्धार ९०
३–कालीदहमें कूदते हुए करुणा-वरुणालय ... ४९६
४–कीर्तन-रसाविष्ट भक्त सूरदासजी और उनके इष्टदेव ५४८
५–गोपियोंके ध्येय श्याम-बलराम ... २५
६–गोष्ठमें प्रवेश करते हुए विचित्रवेष वनमाली ... ६०९
७–दर्शनानन्दमें उन्मत्त भक्त रसखान ...
८–दास्यरस-रसिक श्रीभरत ...
९–दिव्य महासंकीर्तन ... ...
१०–नटवरनागर ... ...
११–नन्दरायके मूर्तिमान् भाग्य ...
१२–नागपत्नियोंद्वारा सुभूषित नटवर ...
१३–प्रेम-मतवाली मीराँ ... ...
१४–प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु—कीर्तनके आवेशमें ... ...
१५–प्रेमी भक्त सुतीक्ष्ण मुनिपर कृपा ...
१६–बछड़ोंकी खोजमें निकले हुए बक-सूदन ...
१७–ब्रह्माजीके मनमें मोह उत्पन्न करनेवाले मन-मोहन ... ...
१८–ब्रह्माजीद्वारा वन्दित व्रजराजकुमार ...
१९–भक्तकी महिमा ... ...
२०–भक्तपदानुसारी भगवान् ...
२१–भक्तवत्सल श्रीराम ... ...
२२–भक्तिके परमाचार्य भगवान् वेदव्यास ...
२३–भक्तिके पाँच भाव ... ...
२४–भक्तिमें सबका अधिकार ...
२५–भक्तोद्धारक भगवान् ... ...
२६–भगवन्नामकी महिमा ... ...
२७–भागवत धर्मके बारह मर्मज्ञ ...
२८–भीष्मका ध्यान करते हुए भगवान् ...
२९–माता सुमित्राका रामके लिये लोकोत्तर त्याग
३०–रामभक्तिके अद्वितीय प्रचारक गोस्वामी तुलसीदासजी ... ...
३१–रामभक्तिके महान् प्रचारक महर्षि वाल्मीकि
३२–रासलीलामें नरसी मेहता ...
३३–लीलारस-रसिक भगवान् शंकराचार्य ...
३४–वात्सल्य-मूर्ति कौसल्या अम्बा ...
३५–विदुरपत्नीका अलौकिक प्रेम ...
३६–विरहिणी श्रीजानकी ... ...
३७–वेणुधर ... ...
३८–सखाओंके मध्यमें नाचते हुए दोनों व्रजेशकुमार ... ...
३९–सखाका सहारा लिये हुए श्यामसुन्दर ...
४०–हनुमान्जीकी विप्ररूपमें विभीषणसे भेंट ...
४१–लाइनचित्र ... १, ६६८

आठ नयी पुस्तकें ! श्रीहरिः *प्रकाशित हो गयीं !!*

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित सबसे बड़ा ग्रन्थ

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

सचित्र, महाभारत (सरल हिंदी-अनुवादसहित)

(सम्पूर्ण ग्रन्थ छः खण्डोंमें सजिल्द)

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौंडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या ६६२०, चित्र-संख्या बहुरंगे ७९, सादे २२५ तथा लाइन ५६४ कुल ८६८, मूल्य ६५), कमीशन काटकर ५५।) । १००) के मूल्यकी सब पुस्तकें मिलाकर लेनेवालोंको उनके रेलवे स्टेशनतकका रेलभाड़ा तथा पेकिंग मुफ्त ।

महाभारतके प्रत्येक खण्ड अलग-अलग भी मिलते हैं । विवरण इस प्रकार हैः—

	खण्डोंमें आये पर्वोंके नाम	पृष्ठ-संख्या	रंगीन चित्र	सादे चित्र	लाइन चित्र	मूल्य
(१) **प्रथम खण्ड**	आदिपर्व और सभापर्व	९६२	९	४०	१०८	११)
(२) **द्वितीय खण्ड**	वनपर्व और विराटपर्व	१११०	१२	४०	२१४	१२॥)
(३) **तृतीय खण्ड**	उद्योगपर्व और भीष्मपर्व	१०७६	२३	३६	८०	१२॥)
(४) **चतुर्थ खण्ड**	द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व	१३४६	१३	४०	९१	१५)
(५) **पञ्चम खण्ड**	शान्तिपर्व	१०१४	१०	३१	१६	११॥)
(६) **षष्ठ खण्ड**	अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व	१११२	१२	३८	५५	१२॥)
	कुल जोड़	६६२०	७९	२२५	५६४	७५)

पूरा ग्रन्थ एक साथ लेनेपर रियायती मूल्य ६५)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासविरचित

श्रीरामचरितमानस (सचित्र, सटीक, बृहदाकार, मोटा टाइप)

आकार बहुत बड़ा, २२×२९ चारपेजी, मोटे ग्लेज कागज, पृष्ठ-संख्या ९८४, सुन्दर बहुरंगे आठ चित्र, बढ़िया जिल्द, मूल्य १५) मात्र । आर्डरमें अपने स्टेशनका नाम स्पष्ट लिखें ।

☞ **मूल तथा अर्थके टाइपोंका नमूना—**

चौ०-आकर चारि लाख चौरासी । जाति ……… ॥

सीय राममय सब जग जानी । करउँ ……… ॥

चौरासी लाख योनियोंमें चार प्रकारके (स्वेदज, अण्डज ………

आकाशमें रहते हैं । उन सबसे भरे हुए इस सारे जगत्को श्रीसीताराममय ……

हमारे यहाँसे प्रकाशित अन्य रामायणोंकी तरह इसमें भी नवाह्नपारायणके विश्राम-स्थान, मासपारायणके विश्राम-स्थान, गोस्वामी तुलसीदासजीकी संक्षिप्त जीवनी, रामशलाकाप्रश्नावली, पारायण-विधि और आरती भी दी गयी है।

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनप्रणीत श्रीमन्महाभारत (मूलमात्र) चतुर्थ भाग

(अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ४७२, चित्र तीन बहुरंगे और तीन इकरंगे, सजिल्द मूल्य ४॥)

मूल महाभारतग्रन्थके तीन भाग पहले प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है—

प्रथम भाग—आदि, सभा और वनपर्व। रंगीन चित्र तीन, पृष्ठ ८०४, सजिल्द मूल्य ६)।

द्वितीय भाग—विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोणपर्व। रंगीन चित्र चार, पृष्ठ ७४४, सजिल्द मूल्य ६)

तृतीय भाग—कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री और शान्तिपर्व। रंगीन चित्र चार, सादा एक, पृष्ठ ७५६, मू० ६)

इस प्रकार अब पूरा महाभारत (मूल ग्रन्थ) चार जिल्दोंमें सजिल्द कुल पृष्ठ-संख्या २७७६, चित्र बहुरंगे १४ तथा सादे ४, कुल १८, मूल्य २२॥) में प्राप्त हो सकता है, जो बहुत ही सस्तेमें कहा जा सकता है।

श्रीदुर्गासप्तशती (मूल—मोटे टाइपोंमें)

आकार २२ × २९ सोलहपेजी, पृष्ठ २६४, तिरंगा चित्र, मू० १), सजिल्द १।=), डाकखर्च अलग।

यह हमारे यहाँसे प्रकाशित ।-) वाली मूल गीताकी तरह मोटे टाइपोंमें आड़ी खुलनेवाली तथा पाठ करनेवालोंके लिये बहुत उपयोगी है। इसमें भी दुर्गाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र, पाठविधि, देवीसूक्त, दुर्गामानसपूजा, सिद्धकुञ्जिकास्तोत्र आदि वे सभी चीजें दी गयी हैं, जो हमारी ॥) वाली मूल पुस्तकमें दी हुई हैं।

विक्रम सं० २०१६ का गीतापञ्चाङ्ग

आकार २२ × २९ आठपेजी, पृष्ठ ६४, ग्लेज कागज, मू० ।≡) डाकखर्च अलग।

इस बार गतवर्षकी अपेक्षा कई विशेषताएँ हैं। खास बात—दैनिक लग्नसारिणी प्रतिपक्षमें दे दी गयी है, जिसकी अनेक स्थानोंसे माँग थी। विषयसूचीमें गतवर्ष कुल ६६ विषय थे, इस बार ८० हैं। अनेक उपयोगी चीजोंका समावेश किया गया है, कुछ पुरानी चीजें छोड़ दी गयी हैं।

विशेषाङ्ककी छपाईके कामकी व्यस्तताके कारण इस बार बहुत कम प्रतियाँ छापी जा सकी हैं। १००० प्रतियाँ एक साथ लेनेपर इस बार भी ४०) सैकड़ेके भावसे मिलेगा।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५९ ई० (दूसरा संस्करण)

आकार २२×२९ बत्तीस पेजी, मूल्य साधारण जिल्द ॥=), बढ़िया जिल्द ॥।), डाकखर्च अलग।

पचहत्तर हजार प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र समाप्त हो गया। ग्राहकोंकी भारी माँग बनी रही, इसलिये विशेषाङ्ककी छपाईके कामका भारी बोझ होनेपर भी बड़ी कठिनाईसे यह दूसरा संस्करण छापना पड़ा है, तीसरा संस्करण छापनेका बिल्कुल विचार नहीं है। अतः जिन्हें लेना हो वे शीघ्र ले लेनेकी कृपा करेंगे।

☞ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है, अतः ग्राहकोंको चाहिये कि यहाँ आर्डर भेजनेके पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करें।

श्रीमदाद्यशंकराचार्यविरचित मोहमुद्गर (पद्यानुवादसहित)

हमारे शास्त्रीजीद्वारा पदोंमें अनुवादित सोलह पृष्ठकी इस छोटी-सी पुस्तिकाका मूल्य केवल दो पैसा है।

श्रीरूपगोस्वामिपादविरचित श्रीकार्पण्यपञ्जिकास्तोत्र

४५ श्लोकोंके इस सुन्दर भक्ति-भावपूर्ण स्तोत्रका अनुवाद श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री महोदयने किया है। पृष्ठ १६, मूल्य दो पैसा मात्र।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण' के प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा निवेदन

१–'कल्याण' का यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षकी अन्तिम संख्या है। इस अङ्कके साथ 'कल्याण' का बत्तीसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है। इसके बादका तैंतीसवें वर्षका प्रथम अङ्क 'मानवता-अङ्क' (विशेषाङ्क) होगा। 'मानवता-अङ्क' में मानवताके सभी स्वरूपों, लक्षणों तथा वैदिक सिद्धान्तोंसे लेकर आधुनिक मत-सिद्धान्तोंके अनुसार मानवताके दोष-गुणोंका विवेचन, मानवताको विनाशसे बचानेके उपाय, मानवताकी सुरक्षा तथा सुसमृद्धिके साधन आदि मानवता-सम्बन्धी विविध परमावश्यक विषयोंपर भारतके तथा विदेशोंके चुने हुए विचारशील संसारत्यागी महात्माओं, संतों, संन्यासियों, भक्तों, दार्शनिकों, विद्वानों, नेताओं, प्रसिद्ध साहित्य-महारथियों तथा साधक पुरुषोंके विशुद्ध तथा अनुभवपूर्ण विचारोंका महान् संग्रह किया गया है। प्रतिभाशील कवियोंकी रचनाओंका भी प्रचुर-मात्रामें संकलन किया गया है।

२–मानवताके स्वरूप-ज्ञान तथा संरक्षणकी आवश्यकता तो सभी युगोंमें है; परंतु वर्तमान युगमें तो विशेष आवश्यकता है। इस अङ्कमें इसकी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गयी है। साथ ही मानवताके स्वरूपका दर्शन करानेवाली रोचक कथाओंके कारण यह अङ्क अत्यन्त ही आकर्षक, भावमय, रुचिवर्द्धक, शुद्ध-साहित्यका परिचायक और जीवनका पथप्रदर्शक होगा। इसमें १५ बहुरंगे तथा बहुतसे सादे एवं लाइन चित्र अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक रहेंगे। इस दृष्टिसे, इसका शीघ्र समाप्त हो जाना सम्भव है। अतएव नये-पुराने ग्राहकोंको ७।।) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे तुरंत भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। नहीं तो, अङ्क जल्दी समाप्त हो जानेपर मिलना कठिन हो जायगा।

३–रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि सब बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक महोदय कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिख दें। जहाँतक हो, पुराने ग्राहक-पाठक महोदय नये-नये ग्राहक बनाकर—उनके चंदेके ७।।) रुपये प्रति-ग्राहक शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। उनका यह पुण्य सत्प्रयत्न मानवताके प्रचार और संरक्षणमें बड़ा सहायक होगा।

४–मनीआर्डरके कूपनमें ग्राहक-संख्या कृपया अवश्य लखें। ग्राहक-संख्या न लिखनेसे सम्भव है कि आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जाय। इससे विशेषाङ्क नये नंबरोंसे चला जायगा और पुराने नंबरोंसे वी० पी० द्वारा अङ्क दुबारा जायगा। यह भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें यह प्रार्थना है कि आप कृपया वी० पी० लौटायें नहीं। नया ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें।

५–आजकल नित्य नये आकस्मिक परिवर्तन हो रहे हैं। पता नहीं, कब, कहाँ, क्या स्थिति हो जाय। अतएव किसी कारणवश यदि 'कल्याण' सेवामें न पहुँच सके तो ग्राहक महोदय, इस एक 'विशेषाङ्क' अथवा इसके बाद जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें वर्षभरका पूरे ७।।) वसूल समझ लें। इस विशेषाङ्कका मूल्य ही ७।।) (साढ़े सात) रुपये हैं।

रजि० सं० ए० १७५

६–जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी भी कारणसे ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे कल्याण-कार्यालयको व्यर्थ डाक-खर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७–गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'महाभारत-विभाग' 'कल्याण' से अलग है। अतः 'कल्या के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये कोई सज्जन आर्डर या रुपये [illegible] पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये आर्डर या उनके लिये रुपये क्रमशः 'मैनेजर गीताप्रेस' एवं 'मैने महाभारत' गीताप्रेसके नामसे अलग-अलग भेजें।

८–सजिल्द अङ्क लेनेवाले १।) अधिक अर्थात् ८।।।) भेजें। सजिल्द अङ्क चार-छः सप्ताह बाद जाना सम्भव है। इसके लिये कृपया धैर्य रखें।

९–कागजोंके दाम, डाकव्यय, रेलभाड़ा, कर्मचारियोंके वेतन, बिजलीखर्च तथा अन्यान्य वस्तुओंके मूल्य आदि पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ जानेपर भी प्रचारकी दृष्टिसे 'कल्याण' का वार्षिक मूल्य वही ७।।) (साढ़े सात) रुपये ही रखा गया है। इसलिये सभी ग्राहक-अनुग्राहकोंसे निवेदन है कि वे इसके नये ग्राहक बढ़ाकर प्रचारके पवित्र कार्यमें सहायता-सहयोग प्रदान करनेकी कृपा करें।

१०–'मानवता-अङ्क' को समयपर प्रकाशित करनेका प्रयत्न पूर्णरूपसे हो रहा है। कदाचित् दस-पंद्रह दिनोंकी देर हो जाय तो ग्राहक महोदय क्षमा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, (गोरखपुर

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम शोक मत करो।' (गीता १८। ६६)

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ल ११, रविवार, दिनाङ्क २१ दिसंबर १९५८ ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बनान चाहिये। पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन।
(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन
(३) गीताका यथासाध्य पारायण।
(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-महत्त्व पर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि।
(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओं पुरस्कार-वितरण।
(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा।
(७) जहाँ कोई अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा।
(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

कल्याण

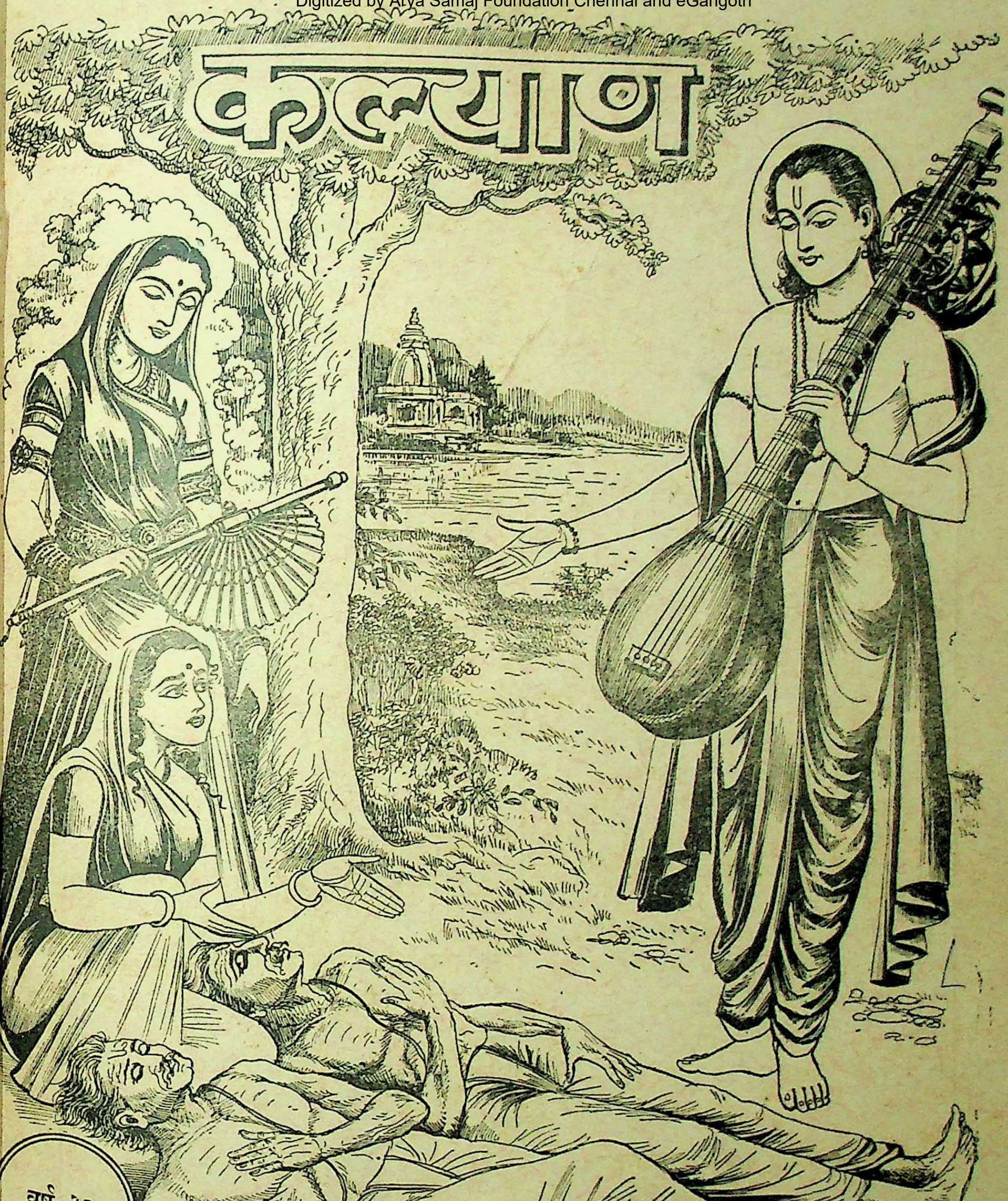

वर्ष ३२

अङ्क २

भक्ति-अङ्कका परिशिष्ट

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीता-राम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१४, फरवरी १९५८

विषय पृष्ठ-संख्या

१–आँगन खेलत आनँदकंद [कविता] ··· ७०९
२–कल्याण ('शिव') ··· ७१०
३–वैष्णव-सदाचार ··· ··· ७११
४–श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव [कविता] (संकलित) ··· ··· ७२०
५–श्रेष्ठ कौन—मुक्ति या भक्ति ? (श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०) ··· ७२१
६–रागादि बन्धन कबतक हैं ? (संकलित) ७२६
७–वेदोंमें भक्तियोग (श्री ग० ना० बोधनकर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ७२७
८–शिवद्रोही रामभक्ति नहीं पा सकता [कविता] (संकलित) ··· ७३६
९–अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ७३७
१०–धिक्कार [कविता] (संकलित) ··· ७४२
११–श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यप्रोक्त प्रेमलक्षणा भक्ति (श्रीगोपालदासजी) ··· ७४३
१२–भक्तिका बल (श्रीविश्वम्भरसहायजी 'प्रेमी') ७५२
१३–भगवान्‌का श्रीविग्रह (पं० श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालंकार, काव्यतीर्थ) ··· ७५३

विषय पृष्ठ-संख्या

१४–द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावनमें भक्ति और भक्त-भाव (अनुवादक श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल) ··· ··· ७५७
१५–श्रीयमुनाजीकी महिमा [कविता] (संकलित) ··· ··· ७५८
१६–राम-भक्त मारीच (डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०) ··· ७५९
१७–आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी और साधनमार्गमें भक्तका विचार (श्रीस्वामी त्यागीश्वरानन्दजी) ··· ··· ७६१
१८–श्रीरूपकलाजीकी भक्ति (स्वामी श्रीजयरामदेवजी) ··· ··· ७६४
१९–भक्ति-कौस्तुभ (पं० श्रीरामशंकरजी भट्टाचार्य) ··· ··· ७६५
२०–रामकृपाका महत्त्व [कविता] (संकलित) ७६६
२१–ज्ञान-कर्म-युक्त भक्ति (आचार्य लौटूसिंहजी गौतम, एम्० ए०, एल्० टी०, पी-एच्० डी०, काव्यतीर्थ, इतिहासशिरोमणि) ··· ७६७
२२–श्रीरामचरितमानसमें भक्ति (श्रीजयनारायणलालजी) ··· ··· ७७०

चित्र-सूची

तिरंगा

१–श्रीदशरथ-नन्दन, क्रीडावेशमें आनन्दकन्द ··· ··· ··· ७०९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्र
भारतमें ।≥)
विदेशमें ॥-)
(१० ँस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१४, फरवरी १९५८ | संख्या २
पूर्ण संख्या ३७५

आँगन खेलत आनँदकंद

आँगन खेलत आनँदकंद । रघुकुल कुमुद सुखद चारु चंद ॥
सानुज भरत लखन सँग सोहैं । सिसु भूषन भूषित मन मोहैं ॥
तन दुति मोर चंद जिमि झलकै । मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकै ॥
कटि किंकिनि पग पैंजनि बाजैं । पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं ॥
कठुला कंठ बघनहा नीके । नयन सरोज मयन सरसी के ॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं । दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरीं ॥
मुनि मन हरत मंजु मसि बुंदा । ललित बदन बलि बाल मुकुंदा ॥
कुलही चित्र बिचित्र झँगूलीं । निरखत मातु मुदित मन फूलीं ॥
गहि मनि खंभ डिंभ डगि डोलत । कलबल बचन तोतरे बोलत ॥
किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि । देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥
सुमिरत सुषमा हिय हुलसी है । गावत प्रेम पुलकि तुलसी है ॥

(गीतावली १ । ३१)

कल्याण

याद रक्खो—भक्त वह है, जो भगवान्का हो गया है, जिसका सब कुछ भगवान्के समर्पण हो गया है। ऐसा भक्त ही वस्तुतः मुक्त पुरुष है; क्योंकि जबतक अविद्या विद्यमान रहती है, तबतक मनुष्य भगवान्का न होकर संसारका—संसारके भोगोंका ही गुलाम रहता है; वह मुक्त नहीं है और जो ऐसा है, वह सब कुछ भगवान्के समर्पण करके भगवान्का हो नहीं सकता। इसलिये जो भक्त होता है, वह अविद्यासे—अज्ञानसे मुक्त भगवान्की महिमाके तत्त्वको जाननेवाला होता है।

याद रक्खो—भगवान्की महिमाके तत्त्वको यथार्थरूपमें जाननेके लिये भी भक्तिकी आवश्यकता होती है; क्योंकि अतिसमीपकी अन्तरङ्गताके बिना किसीके यथार्थ तत्त्वको, उसके आभ्यन्तरिक मर्मको कोई जान नहीं सकता। अतएव भगवान्के यथार्थ स्वरूप-तत्त्वको, उनके मर्मको वही जानता है, जो उनका अन्तरङ्ग प्रेमी होता है। इस अन्तरङ्ग प्रेमको ही 'परा भक्ति' कहते हैं और इस अन्तरङ्ग प्रेममें ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये इसीको 'ज्ञानकी परा निष्ठा' कहते हैं।

याद रक्खो—अन्तरङ्ग प्रेमके या परा भक्तिके लिये भी पहले ज्ञानकी आवश्यकता होती है; क्योंकि बिना कुछ जाने कैसे कोई किसीके साथ प्रेम करेगा। अतएव जाननेसे—ज्ञानसे परा भक्ति प्राप्त होती है और परा भक्तिसे भगवान्के यथार्थ स्वरूप या मर्मका ज्ञान होता है तथा यह होते ही भगवान्की लीलामें प्रवेश हो जाता है।

याद रक्खो—इसलिये ज्ञान भक्तिका सहायक है और भक्ति ज्ञानकी सहायिका है। पूर्ण ज्ञान और परा भक्ति दोनोंमें ही भगवान्के यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका सर्वथा नाश हो जाता है और जिसकी अविद्याका सर्वथा नाश हो गया, वही मुक्त है। अतएव भक्त मुक्त होता है।

याद रक्खो—इस प्रकार भक्त अविद्या-मुक्त होनेपर भी नित्य भगवत्सेवापरायण रहता है। वह अज्ञानसे मुक्त है—संसारके बन्धनसे मुक्त है, पर प्रेमास्पद भगवान्की सेवासे मुक्त नहीं है; और न वह ऐसी मुक्ति कभी चाहता ही है, जो उसे भगवत्-सेवासे छुड़ा दे। बल्कि देनेपर भी वह सेवासे वञ्चित करनेवाली उस मुक्तिको स्वीकार नहीं करता।

याद रक्खो—जब भक्त मुक्तिको भी नहीं चाहता, तब इहलोक और परलोकके भोगोंकी तो बात ही क्या है। वह न संसारके किसी दुःखसे घबराता है न किसी सुखको ही चाहता है। प्रख्यात पुरुषार्थचतुष्टय उसकी दृष्टिमें नगण्य—तृणवत् होता है, वह उसकी ओर झाँकता ही नहीं; हाँ, यह चतुर्वर्ग—पुरुषार्थचतुष्टय उसकी सेवाके लिये अवश्य लालायित रहता है।

याद रक्खो—भक्त मुक्तिकी इच्छा इसीलिये नहीं करता कि वह भगवान्का हो गया है, उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा रही ही नहीं; (२) इसलिये भी नहीं करता कि मुक्ति उसे भगवत्-सेवासे वञ्चित करनेवाली है और (३) इसलिये भी नहीं करता कि उसमें स्वार्थ भरा है, उसमें अपनेको बन्धनसे—दुःखोंसे मुक्त करनेकी इच्छा है, न कि भगवत्सेवाकी। और अपने सुखकी इच्छा ही काम है—स्वार्थ है।

याद रक्खो—ऐसी भक्ति ही परम और चरम पुरुषार्थ है। ऐसा भक्त भगवान्की लीलामें प्रवेश प्राप्त करके भगवान्के मनसे मनस्वी, भगवान्के प्राणोंसे अनुप्राणित और भगवान्की प्रेरणासे प्रेरित होता है। वह भगवन्मय ही हो जाता है। उसकी इच्छा भगवान्की इच्छा होती है, उसके कर्म भगवान्के कर्म होते हैं और उसकी वाणी भगवान्की वाणी होती है।

याद रक्खो—वह जगत्में सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, सबमें रहता हुआ भी सबमें नहीं रहता; सबसे बोलता हुआ भी किसीसे नहीं बोलता; क्योंकि उसके द्वारा भगवान् ही अपना कार्य करते हैं, वह नित्य भगवान्में ही निवास करता है और सदा-सर्वदा भगवान्से ही बोलता है।

'शिव'

वैष्णव-सदाचार

न किंचित् कस्यचित् सिद्ध्येत् सदाचारं विना यतः ।
तस्मादवश्यं सर्वत्र सदाचारो ह्यपेक्ष्यते ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः ।
आचाराद् वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(भविष्यपुराण)

‘सदाचारके बिना किसीका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अतएव सब कार्योंमें सदाचार अवश्य अपेक्षित होता है। सदाचार ऐश्वर्यका जनक है, सदाचार कीर्तिको बढ़ाता है, सदाचारसे आयु बढ़ती है तथा सदाचार दरिद्रता, अपमृत्यु आदि अमङ्गलोंका नाश करता है ।’

गुरु-लक्षण

(गुरु कौन हो सकता है ?)

महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम् ।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ॥
परिचर्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद् गुरुर्न हि ।
कृपासिन्धुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः ॥
निःस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः ।
सर्वसंशयसंछेत्तानलसो गुरुराहृतः ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

‘जो परम भागवत है, अर्थात् पूर्णतः वैष्णवधर्ममें रत है, ऐसा ब्राह्मण मनुष्योंका गुरु है । वह श्रीहरिके समान ही सभी लोकोंद्वारा पूज्य है । जो शिष्यसे सेवा तथा धनादि प्राप्त करना चाहता है, वह गुरु होने योग्य नहीं है । परंतु जो कृपा-सिन्धु एवं सब प्रकारसे परिपूर्ण है, सब प्राणियोंका उपकारक है, निःस्पृह है, सब प्रकारसे सिद्ध है, सर्वविद्याविशारद है, सब प्रकारके संशयोंका छेत्ता है, आलस्यरहित है, वही गुरु कहलाता है ।

परंतु श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केनो नय ।
येई कृष्णतत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय ॥

‘ब्राह्मण हो या शूद्र, संन्यासी हो या गृहस्थ ही क्यों न हो—जिसे श्रीकृष्ण-तत्त्वका ज्ञान है, वही गुरु होनेयोग्य है ।’

शिष्य-लक्षण

(शिष्य कौन हो सकता है ?)

शिष्यः शुद्धान्वयः श्रीमान् विनीतः प्रियदर्शनः ।
सत्यवाक् पुण्यचरितोऽदभ्रधीर्दम्भवर्जितः ॥
कामक्रोधपरित्यागी भक्तश्च गुरुपादयोः ।
देवताप्रवणः कायमनोवाग्भिर्दिवानिशम् ॥
नीरुजो निर्जिताशेषपातकः श्रद्धयान्वितः ।
द्विजदेवपितॄणां च नित्यमर्चापरायणः ॥
युवा विनियताशेषकरणः करुणालयः ।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तः शिष्यो दीक्षाधिकारवान् ॥
(मन्त्रमुक्तावली)

‘जो शिष्य शुद्ध वंशमें उत्पन्न, श्रीमान् (तेजस्वी), विनीत, सौम्य, सत्यवादी, सदाचारी बुद्धिमान्, दम्भहीन, काम-क्रोधसे रहित, गुरुके चरणोंमें भक्तिमान्, दिन-रात काय, मन और वाणीसे देवाराधनमें रत, नीरोग, अशेष पातकोंको जीतनेवाला, श्रद्धालु, नित्य देव-द्विज और पितरोंकी पूजामें रत, युवा, जितेन्द्रिय तथा करुणामय है—उपर्युक्त शुभ लक्षणोंसे युक्त शिष्य दीक्षा प्राप्त करनेका अधिकारी है ।’

विष्णु-पूजा-माहात्म्य

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥
(विष्णुरहस्य)

‘इस पृथ्वीपर जो लोग श्रीविष्णु भगवान्‌की अर्चना करते हैं, वे (मरनेपर) विष्णुके परमानन्दमय नित्यधाम श्रीवैकुण्ठको गमन करते हैं ।’

जलेनापि जगन्नाथः पूजितः क्लेशहा हरिः ।
परितोषं व्रजत्याशु तृषार्त्तः सुजलैर्यथा ॥
(नारदपुराण)

‘प्यासा आदमी जैसे मधुर सुशीतल जल पाकर परितृप्त होता है, उसी प्रकार दुःख हरनेवाले जगन्नाथ श्रीहरि केवल जलद्वारा पूजित होनेपर भी अविलम्ब संतुष्ट हो जाते हैं ।’

विशिष्टः सर्वधर्माच्च धर्मो विष्ण्वर्चनं नृणाम् ।
सर्वयज्ञतपोहोमतीर्थस्नानैश्च यत् फलम् ।
तत् फलं कोटि गुणितं विष्णुं सम्पूज्य चाप्नुयात् ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन नारायणमिहार्चयेत् ॥
(स्कन्दपुराण)

‘मनुष्यके लिये अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा श्रीविष्णु-भगवान्‌का अर्चन करना श्रेयस्कर है । सब प्रकारके यज्ञ, तप, होम तथा तीर्थ-स्नानसे जो पुण्यफल प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा कोटिगुना पुण्यफल श्रीविष्णुकी पूजा करके मनुष्य पा

सकते हैं। अतएव इस लोकमें सम्पूर्ण प्रयत्नसे श्रीनारायणकी पूजा करे।'

एवं सर्वासु वेलासु अवेलासु च केशवम्।
सम्पूजयन् नरो भक्त्या सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥
(स्कन्दपुराण)

'इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न, सायं तथा इसके अतिरिक्त अन्य समय या असमयमें भी कभी मनुष्य भक्तिपूर्वक केशवकी श्रद्धायुक्त पूजा करके समस्त काम्यवस्तुओंको प्राप्त कर सकता है।'

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥
(गौतमीय तन्त्र)

'केवल तुलसीके पत्ते और एक चुल्लू जल अर्पण करनेपर भी भक्तवत्सल श्रीभगवान् भक्तोंके हाथ अपने-आपको बेंच देते हैं अर्थात् एकबारगी भक्तोंके वशीभूत हो जाते हैं।'

असारे खलु संसारे सारमेतन्निरूपितम्।
समस्तलोकनाथस्य श्रद्धयाऽऽराधनं हरेः॥
(स्कन्दपुराण)

'इस असार संसारमें निश्चयपूर्वक समस्त लोकोंके नाथ श्रीहरिकी श्रद्धापूर्वक आराधना ही सार वस्तु निरूपित हुई है।'

नास्ति श्रेयोत्तमं नृणां विष्णोराराधनात् परम्।
युगेऽस्मिंस्तामसे तस्मात् सततं हरिमर्चयेत्॥
(स्कन्दपुराण)

'इस तमःप्रधान कलियुगमें मनुष्यके लिये विष्णुकी आराधनासे बढ़कर अत्यन्त मङ्गलजनक और कुछ भी नहीं है। इसलिये सदा-सर्वदा मनुष्य श्रीहरिकी ही अर्चना (पूजा) करता रहे।'

शौच-विधि

विष्णुपुराणका वचन है कि अपनी और वृक्षकी छायामें तथा गौ, सूर्य, अग्नि, वायु, गुरु और ब्राह्मणके सामने बुद्धिमान् आदमी कभी मल-मूत्र-त्याग न करे। जोते हुए खेतमें, खड़ी फसलमें, गोचरभूमिमें, जन-समाजमें, रास्तेमें, नदी आदि तीर्थमें, जलमें, जलकी धारामें और श्मशानमें मल-मूत्र-त्याग न करे। दिनमें उत्तर दिशामें मुख करके और रात्रिमें दक्षिणमुख होकर, आपत्काल न हो तो, तृणसे भूमि आच्छादन करके और सिरपर वस्त्र लपेटकर मल-मूत्र-त्याग करे। वहाँ बहुत देरतक न बैठा रहे और न मुँहसे बोले। काशीखण्डमें आता है कि गोचरभूमिमें, वल्मीक (बाँबी)में, भस्ममें, जहाँ जीव हों ऐसे गड्ढेमें, खड़ा-खड़ा तथा चलते-चलते मल-मूत्र-त्याग न करे। परंतु यदि भय हो या प्राणनाशकी आशङ्का हो तो रातमें या दिनमें छाया या अन्धकारमें सुविधानुसार मल-त्याग कर सकता है। इसके सिवा कूर्मपुराणमें लिखा है—

निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः।
प्रावृत्य तु शिरः कुर्याद् विण्मूत्रस्य विसर्जनम्॥

'दाहिने कानपर यज्ञोपवीत स्थापन करके और सिरपर वस्त्र लपेटकर मल-मूत्र-त्याग करना चाहिये।'

विष्णुपुराणका कथन है कि शौच-साधन (सफाई)के लिये मृत्तिका मूत्रेन्द्रियमें एक बार, गुह्यद्वारमें तीन बार, वाम हस्तमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मले। यह मृत्तिका वल्मीककी, चूहोंके द्वारा कुरेदी, जलके भीतरसे निकाली हुई, शौचसे बची हुई तथा घरके लीपनकी नहीं होनी चाहिये और जिसमें कीड़े हों या जो हलसे निकली हो, उसे भी व्यवहारमें नहीं लेना चाहिये। यमस्मृतिमें लिखा है—

तिस्रस्तु पादयोर्देयाः शुद्धिकामेन नित्यशः।

'शुद्धिके लिये मनुष्यको दोनों पैर नित्य तीन-तीन बार मृत्तिकासे मलने चाहिये।'

दन्तधावन

कात्यायन मुनि कहते हैं कि शय्यासे उठकर, आँखें धोकर, शौचादि क्रियासे शुद्ध होकर मन्त्र-जप करते हुए दन्तधावन करे। कूर्मपुराणमें आया है कि मध्यमा अङ्गुलि जैसा मोटा बारह अङ्गुल लंबा छालयुक्त दातन होना चाहिये। परंतु दातनको अग्रभागसे नहीं पकड़ना चाहिये, उसे मूलकी ओरसे पकड़कर अग्रभागसे दातन करना चाहिये। उपवास तथा श्राद्धके दिन दातन नहीं करना चाहिये, ऐसा शास्त्रोंका आदेश है। वृद्धवसिष्ठ स्मृतिका कहना है कि प्रतिपदा, अमावस्या, षष्ठी, नवमी, एकादशी और रविवारको दातन करनेसे दोष लगता है। ऐसे समयके लिये पैठीनसि स्मृतिका मत है—

अलाभे वा निषेधे वा काष्ठानां दन्तधावनम्।
पर्णादिना विशुद्धेन जिह्वोल्लेखः सदैव हि॥

'काठकी दातन प्राप्त न हो, अथवा उसका निषेध हो, तो विशुद्ध पत्तों आदिके द्वारा दात साफ कर लेने चाहिये तथा जिह्वाशुद्धि सदा ही करनी चाहिये।' हाँ, एकादशी और अमावस्याको दन्तधावन बिल्कुल नहीं करना चाहिये। वाराहपुराणमें लिखा है—

दन्तकाष्ठमखादित्वा यस्तु मामुपसर्पति ।
सर्वकालकृतं कर्म तेन चैकेन नश्यति ॥

'बिना दातन किये जो पूजा-अर्चनाके लिये मेरी (भगवान्‌की) सेवामें पहुँचता है, उसका सब दिनका किया हुआ कर्म इसी एक दोषसे नष्ट हो जाता है ।'

दातनके लिये काँटेदार वृक्ष (जैसे बबूल) पवित्र माने जाते हैं । दूधवाले वृक्ष—जैसे महुआ, गूलर, बरगद आदिकी दातन आयुवृद्धि करती है तथा कटु, तिक्त और कषाय रसवाले, नीम आदि वृक्षोंके दातन बल, आरोग्य और सुख प्रदान करते हैं ।

स्नान

अत्रिस्मृतिका कहना है कि स्नान करनेसे चित्त प्रफुल्लित होता है, देवतालोग सम्मुख अवस्थित होते हैं और सौभाग्य, श्री, सुख, पुष्टि, पुण्य, विद्या, यश और धृतिकी प्राप्ति होती है । विशेषतः प्रातःस्नानसे सारे महापातक, अमङ्गल, पाप, दुश्चिन्ता और शोक-दुःखादि दूर होते हैं । अरुणोदयका स्नान सबसे उत्तम होता है । स्कन्दपुराणमें लिखा है—

उदयात् प्राक् चतस्रस्तु घटिका अरुणोदयः ।
तत्र स्नानं प्रशस्तं स्यात् स वै पुण्यतमः स्मृतः ॥

''सूर्योदयसे चार घड़ी (१$\frac{१}{२}$ घंटे) पूर्वका समय 'अरुणोदय' कहलाता है । उस समयका स्नान प्रशस्त होता है और अत्यन्त पुण्यप्रद कहा गया है ।'' अरुणोदयके बाद सूर्योदय होनेपर चार घड़ी (१$\frac{१}{२}$ घंटे) दिन चढ़ेतक प्रातःकाल माना जाता है । श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

ततोऽरुणोदयस्यान्ते स्नानार्थं निस्सरेद् बहिः ।
कीर्तयन् कृष्णनामानि तीर्थं गच्छेदनन्तरम् ॥

'भगवान्‌की मङ्गल आरती होनेके बाद अरुणोदयकाल समाप्त होनेपर स्नानके लिये बाहर निकले और श्रीभगवन्नामका कीर्तन करते हुए पवित्र जलाशयके पास जाय ।'

स्नान सात प्रकारके होते हैं—मान्त्र, पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस ।

शन्न आपस्तु द्रुपदा आपो हिष्ठाघमर्षणम् ।

—इस मन्त्रका उच्चारण करके मस्तकपर जल छिड़कनेका नाम 'मान्त्र स्नान' है । गङ्गा आदिकी मृत्तिकाका स्पर्श करके उसके द्वारा तिलक करनेपर 'पार्थिव स्नान' होता है । संस्कृत भस्मका अङ्गमें लेपन करनेपर 'आग्नेय स्नान' होता है । गोधूलि अर्थात् गौके खुरसे जो धूलि उड़ती है, उसके शरीरमें लगानेपर 'वायव्य स्नान' होता है । जब वर्षा होती रहे, उस समय धूप भी हो तो उसमें स्नान करनेसे 'दिव्य स्नान' होता है । नदी आदिमें स्नानका नाम 'वारुण स्नान' है । मनमें विष्णु-स्मरण-ध्यानादिके द्वारा देह पवित्र करनेका नाम 'मानस स्नान' है । विष्णुपुराणमें लिखा है कि नद, नदी, बावड़ी, तालाब तथा झरनेके जलमें स्नान करे । अथवा कलश आदिके द्वारा कुएँसे जल निकालकर स्नान करे । दक्षस्मृतिमें लिखा है—

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः ।
यतेस्त्रिसवनं स्नानं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः ॥

महर्षि दक्ष कहते हैं कि 'वानप्रस्थ और गृहस्थको प्रातः और मध्याह्नमें, संन्यासीको त्रिकाल तथा ब्रह्मचारीको एक बार प्रातःकालमें स्नान करना चाहिये ।'

कूर्मपुराणमें लिखा है कि प्रातःस्नानसे पापी मनुष्य भी शुद्ध हो जाते हैं, इसलिये सब प्रकारका यत्न करके प्रातःस्नान अवश्य ही करना चाहिये ।

गर्गमुनिका वचन है—

कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।
नित्यं यादृच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥

'' 'नैमित्तिक' और 'काम्य-स्नान' तो शीतल जलसे ही करना चाहिये । परंतु नित्य स्नान अथवा स्वेच्छासे किया जानेवाला स्नान इच्छानुसार शीतल या उष्ण जलसे किया जा सकता है ।''

यमस्मृति तथा वृद्धमनुका वचन है कि पुत्र-जन्मके समय, संक्रान्तिमें, चन्द्र और सूर्यके ग्रहणकालमें तथा अस्पृश्यका स्पर्श करके उष्ण जलसे स्नान न करे । पूर्णिमा और अमावस्याके दिन तो उष्णजलसे स्नान करनेपर बड़ा दोष लगता है—

पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा ।
स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ॥
(वृद्धमनु)

शास्त्रमें लिखा है कि व्रत, श्राद्धमें तथा उपवासके दिन तेल लगानेसे बड़ा दोष लगता है ।

वस्त्र

गौतम मुनि कहते हैं कि एक वस्त्र पहनकर आहार और देवार्चन न करे । 'त्रैलोक्यसम्मोहन पञ्चरात्र'में लिखा

है कि सर्वदा शुक्ल वस्त्र धारण करे, रंगीन वस्त्र न पहने। श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है कि देवकार्यमें सिला हुआ वस्त्र, फटा और जला वस्त्र तथा दूसरेका पहना वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये। अधौत वस्त्र काक-विष्ठाके तुल्य होता है और धोबीके द्वारा धुला वस्त्र अपवित्र होता है। कीड़ेके द्वारा स्पृष्ट तथा जिस वस्त्रको पहनकर मल-मूत्र-त्याग अथवा स्त्रीप्रसङ्ग किया गया हो, वह भी अपवित्र होता है। परंतु—

आविकं तु सदा वस्त्रं पवित्रं राजसत्तम।
पितृदेवमनुष्याणां क्रियायां च प्रशस्यते॥

'ऊनी वस्त्र सदा पवित्र होता है तथा देव, पितर और मनुष्योंके धर्मानुष्ठानमें प्रशस्त होता है।' शास्त्रवचन है कि ऊनी वस्त्र सदा शुद्ध होता है। कौषेय (कोकटी, अहिंसायुक्त रेशम, केटिया आदि) वस्त्र पहनकर भोजन कर सकते हैं। परंतु उसको धारण करके मल-मूत्र-त्याग करनेपर वह अशुद्ध हो जाता है। सूती वस्त्र कमरसे उतारते ही अशुद्ध हो जाता है और पुनः धोनेपर ही शुद्ध होता है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र या तिलक

पद्मपुराणका वचन है—

मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थे चतुरानन।
मत्पूजाहोमकाले च सायं प्रातः समाहितः॥
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रं भयापहम्॥
यज्ञो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्॥

श्रीविष्णुभगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं कि 'मेरे भक्तको मेरी प्रसन्नताके लिये, शुभ कर्मके लिये अथवा अपने कल्याण और अपनी रक्षाके लिये, मेरी पूजा और होमके समय स्थिरचित्त होकर नित्य ही सायं तथा प्रातः भयापहारक ऊर्ध्वपुण्ड्र अर्थात् तिलक धारण करना चाहिये। तिलक लगाये बिना किये हुए यज्ञ, दान, तप, होम, स्वाध्याय (वेदपाठ या नामजप आदि) एवं पितृ-तर्पण—सब निष्फल हो जाते हैं।' जो दिव्य श्रीविष्णुभगवान्‌के पवित्र क्षेत्र है, वहींसे इसके लिये मृत्तिका ले आये। यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

दूताः शृणुत यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितम्।
ज्वलदिन्धनवत् सोऽपि त्याज्यो दूरे प्रयत्नतः॥

'हे दूतो! सुनो, जिसके ललाटमें गोपीचन्दनका तिलक लगा हुआ हो, उसको जलते हुए ईन्धनके समान दूरसे ही प्रयत्नपूर्वक त्याग देना।'

गरुडपुराणमें लिखा है—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां
करे समादाय ललाटपट्टके।
करोति नित्यं त्वथ चोर्ध्वपुण्ड्रं
क्रियाफलं कोटिगुणं सदा भवेत्॥
यस्मिन् गृहे तिष्ठति गोपिचन्दनं
भक्त्या ललाटे मनुजो बिभर्ति।
तस्मिन् गृहे तिष्ठति सर्वदा हरिः
श्रद्धान्वितः कंसनिहा विहंगम॥
यो धारयेत् कृष्णपुरीसमुद्भवां
सदा पवित्रां कलिकिल्बिषापहाम्।
नित्यं ललाटे हरिमन्त्रसंयुतां
यमं न पश्येद् यदि पापसंवृतः॥

'जो द्वारका-समुत्पन्न मृत्तिकाको हाथमें लेकर उससे प्रतिदिन अपने ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाता है, उसके द्वारा सम्पादित किसी भी क्रियाका फल कोटिगुना हो जाता है। जिसके घरमें गोपीचन्दन रहता है और जो मनुष्य भक्तिपूर्वक अपने ललाटपर उसे धारण करता है, उसके घरमें, हे गरुड! कंसारि श्रीकृष्ण श्रद्धापूर्वक सदा वास करते हैं। जो कलि-कल्मषका नाश करनेवाली द्वारकापुरीकी पवित्र मृत्तिकाको सदा हरिमन्त्रका जप करते हुए ललाटपर धारण करता है, वह पापसे आच्छन्न रहनेपर भी यमराजका द्वार नहीं देखता, अर्थात् उसकी सद्गति होती है।'

तुलसी-माला-धारण

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

संनिवेद्यैव हरये तुलसीकाष्ठसम्भवाम्।
मालां पश्चात् स्वयं धत्ते स वै भागवतोत्तमः॥

'तुलसीकी मालाको सम्यक्‌रूपसे श्रीहरिको निवेदन करनेके पश्चात् जो स्वयं धारण करता है, वह श्रेष्ठ भागवत है।'

स्कन्दपुराणमें आता है कि तुलसीकी मालाको पञ्चगव्यसे धोकर मूलमन्त्रसे आमन्त्रित करे; फिर आठ बार गायत्री-मन्त्रका जप करे। तत्पश्चात् उसे धूपके धूमका स्पर्श कराये और इस सद्योजात मन्त्रके द्वारा परम भक्तिपूर्वक पूजा करे—

'ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।'

उसके बाद यह प्रार्थना करे—

तुलसीकाष्ठसम्भूते माले कृष्णजनप्रिये।
यथा त्वं वल्लभा विष्णोर्नित्यं विष्णुजनप्रिया।

तथा मां कुरु देवेशि नित्यं विष्णुजनप्रियम् ॥
दाने 'ला' धातुरुद्दिष्टो लासि मा हरिवल्लभे ।
भक्तेभ्यश्च नमस्तेभ्यस्तेन माला निगद्यसे ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

"हे माले ! तुम तुलसीकाष्ठसे बनी हो । वैष्णवोंको प्रिय हो । मैं तुमको कण्ठमें धारण करता हूँ । तुम मुझको श्रीकृष्णका प्रियपात्र बना दो । 'मा' शब्दका अर्थ है मुझको; 'ला' धातुका अर्थ है दान करना; हे हरिवल्लभे ! तुमने मुझको श्रीकृष्णभक्तोंको दान कर दिया है; इसी कारण तुम 'माला' नामसे अभिहित होती हो ।"

एवं सम्प्रार्थ्य विधिवन्मालां कृष्णगलेऽर्पिताम् ।
धारयेद् वैष्णवो यो वै स गच्छेद् वैष्णवं पदम् ॥

'इस प्रकार सम्यक्‌रूपसे प्रार्थना करके श्रीकृष्णके गलेमें पहनायी हुई मालाको जो वैष्णव अपने गलेमें धारण करता है, वह विष्णुपदको प्राप्त होता है ।'

तुलसीकी माला और विशेषतः आमलकीकी मालाका कदापि त्याग न करे । यह महापातकोंका नाश करनेवाली तथा धर्म-अर्थ-कामको सिद्ध करनेवाली है । पद्मपुराणमें लिखा है—

मलमूत्रपरित्यागे तथा स्नानाशनादिषु ।
कालाकाले सदा धार्या तुलसीकाष्ठमालिका ॥

'मल-मूत्रका परित्याग करते समय, स्नान तथा भोजनके समय—सदा ही कालाकालका विचार छोड़कर तुलसीकी माला धारण करनी चाहिये ।'

पुष्प

नृसिंहपुराणमें आता है कि 'वनमें उत्पन्न, नगरमें उत्पन्न, अपने बगीचेमें खिले हुए पुष्पोंसे, जो बासी न हों, फटे न हों, कीटादिसे वर्जित और पवित्र हों, श्रीहरिकी पूजा करनी चाहिये ।' विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है कि देश और काल-भेदसे जो नाना प्रकारके पुष्प खिलते हैं, उनमें जो सुगन्धित और सुन्दर हों, ऐसे पुष्प श्रीहरिको निवेदन करने चाहिये । परंतु रक्तवर्ण पुष्प, श्मशानमें खिले हुए पुष्प, चैत्यवृक्षोंके पुष्प, अकालमें खिले पुष्प तथा गन्धहीन पुष्प श्रीभगवान्‌को निवेदन नहीं करने चाहिये । चम्पाके सिवा दूसरे किसी भी पुष्पकी कलियोंसे भगवान्‌की पूजा न करे और सूखे पत्र, पुष्प या फल श्रीविष्णुको निवेदन न करे । परंतु—

न पर्युषितदोषोऽस्ति जलजोत्पलचम्पके ।
तुलस्यगस्त्यबकुले बिल्वे गङ्गाजले तथा ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'कमल, उत्पल, चम्पक, तुलसी, अगस्त्य एवं बकुल (मौलसिरी) के फूल, बिल्वपत्र और गङ्गाजल बासी नहीं होते ।'

क्लिष्टं पर्युषितं च भूमिपतितं छिद्रं च कीटान्वितं
यत्केशोपहतं च गन्धरहितं यच्चोग्रगन्धान्वितम् ।
हस्ते यद्विधृतं प्रणामसमये यद्वामहस्ते कृतं
यच्चान्तर्जलधौतमर्चनविधौ पुष्पं च तद् वर्जयेत् ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'शुष्क या दबा हुआ, पर्युषित (बासी), भूमिपर पड़ा हुआ, सछिद्र, कीटसे भरा, जिसमें बाल लगे हों, गन्धहीन, उग्र गन्धवाला तथा जिसे हाथमें लेकर प्रणाम किया गया हो, जो बायें हाथमें धारण किया गया हो, जो जलमें डुबो करके धोया गया हो—इस प्रकारके पुष्पोंसे पूजा नहीं करनी चाहिये ।'

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है कि पुष्प न मिलें तो भगवान्‌को पत्र भी अर्पण कर सकते हैं । पत्रके अभावमें जल अर्पण करना चाहिये । इससे पुण्यकी प्राप्ति होती है । स्नान करनेके पहले ही पूजाके लिये पुष्पचयनका विधान है, पश्चात् नहीं । हारीतस्मृतिमें लिखा है—

स्नानं कृत्वा तु ये केचित् पुष्पं गृह्णन्ति वै द्विजाः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ॥

'स्नान करके जो कोई द्विज पुष्प-चयन करते हैं, उनके द्वारा चयन किये हुए उन पुष्पोंको देवता ग्रहण नहीं करते, वे काष्ठके समान भस्म हो जाते हैं ।'

पूजार्थ तुलसी-दल

गरुडपुराणमें भगवान् कहते हैं कि 'जो तुलसी-दल लेकर प्रतिदिन मेरी पूजा नहीं करता, उसकी मैं सौ वर्षकी भी पूजा ग्रहण नहीं करता ।' बृहन्नारदीयमें भी यही बात कही गयी है ।

तुलसीं विना या क्रियते न पूजा
स्नानं न तद् यत् तुलसीं विना कृतम् ।
भुक्तं न तद् यत् तुलसीं विना कृतं
पीतं न तद् यत् तुलसीं विना कृतम् ॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

'तुलसीके बिना जो पूजा की जाती है; वह पूजा नहीं है। तुलसीके बिना जो भगवान्‌को स्नान कराया जाता है, वह स्नान नहीं होता। तुलसीके बिना भगवान्‌को भोग लगानेपर वह भोग नहीं लगता; और तुलसीके बिना दुग्ध-जलादि पान करानेपर भगवान् पान नहीं करते।' क्योंकि—

पूर्वमुग्रतपः कृत्वा वरं वव्रे मनस्विनी।
तुलसी सर्वपुष्पेभ्यः पत्रेभ्यो वल्लभा ततः॥
(अगस्त्यसंहिता)

'पूर्वकालमें उग्र तप करके मनस्विनी श्रीतुलसीदेवीने भगवान्‌से वर माँगा था। तभीसे तुलसी भगवान्‌को सब प्रकारके पुष्प और पत्रोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय है।' जितने प्रकारके दल (पत्र) होते हैं, सबमें एक तुलसी ही भगवान्‌को प्रिय है। पद्मपुराणमें आया है—

तुलसी कृष्णगौराभा तयाभ्यर्च्य जनार्दनम्।
नरो याति तनुं त्यक्त्वा वैष्णवीं शाश्वतीं गतिम्॥

'तुलसी श्यामवर्णकी हो या गौरवर्णकी, उसके द्वारा जनार्दनकी अभ्यर्चना करनेपर मनुष्य शरीर-त्याग करनेके पश्चात् शाश्वत श्रीविष्णुलोकको प्राप्त होता है।' स्कन्दपुराणका वचन है—

समञ्जरीदलैर्युक्तं तुलसीसम्भवैः क्षितौ।
कुर्वन्ति पूजनं विष्णोस्ते कृतार्थाः कलौ नराः॥
निरस्य मालतीपुष्पं मुक्तापुष्पं सरोरुहम्।
गृह्णाति तुलसीं शुष्कामपि पर्युषितां हरिः॥

'इस भूतलपर मञ्जरीके साथ-साथ तुलसीपत्रोंसे जो मनुष्य विष्णुकी पूजा करते हैं, वे कलिमें कृतार्थ हो जाते हैं। मालती पुष्प, मुक्ता पुष्प और पद्मको छोड़कर श्रीहरि सूखी और बासी तुलसीको भी प्रेमसे ग्रहण करते हैं।' नारदपुराणका वचन है—

वर्ज्यं पर्युषितं पुष्पं वर्ज्यं पर्युषितं जलम्।
न वर्ज्यं तुलसीपत्रं न वर्ज्यं जाह्नवीजलम्॥

'पूजामें बासी पुष्प और बासी जल वर्जित हैं, परंतु बासी होनेपर भी तुलसीदल और गङ्गाजल वर्जित नहीं हैं।' अवश्य ही बिना स्नान किये तथा द्वादशी तिथिको तुलसीदलका चयन नहीं करना चाहिये—

अस्नात्वा तुलसीं चित्वा यः पूजां कुरुते नरः।
सोऽपराधी भवेत् सत्यं तत् सर्वं निष्फलं भवेत्॥
(वायुपुराण)

'बिना स्नान किये जो तुलसी-चयन करके उससे पूजा करता है, निश्चय ही वह अपराधी है और उसकी सारी पूजा निष्फल हो जाती है।'

द्वादश्यां तुलसीपत्रं धात्रीपत्रं च कार्तिके।
लुनाति स नरो गच्छेन्निरयानतिगर्हितान्॥
(पद्मपुराण)

'द्वादशीको तुलसीदल और कार्तिक मासमें आमलकी-पत्र जो मनुष्य तोड़ता है, वह (मरनेके बाद) अतिगर्हित नरकोंमें जाता है।'

तुलसीकी महिमाका अन्त नहीं है। स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

हित्वा तीर्थसहस्राणि सर्वानपि शिलोच्चयान्।
तुलसीकानने नित्यं कलौ तिष्ठति केशवः॥

'कलिमें सहस्रों तीर्थों और समस्त पर्वतोंको छोड़कर श्रीभगवान् तुलसी-वनमें निवास करते हैं।' अतएव तुलसी-वृक्ष-रोपण, सिञ्चन आदिके द्वारा तुलसी-सेवा महान् पुण्यफल प्रदान करती है। बृहन्नारदीयपुराणमें लिखा है—

तुलसीकाननं यत्र यत्र पद्मवनानि च।
पुराणपठनं यत्र तत्र संनिहितो हरिः॥
तुलस्यां सिञ्चयेद् यस्तु चुलुकोदकमात्रकम्।
क्षीरोदशायिना सार्द्धं वसेदाचन्द्रतारकम्॥
दुर्लभा तुलसीसेवा दुर्लभा सङ्गतिः सताम्।
दुर्लभा हरिभक्तिश्च संसारार्णवपातिनाम्॥

'जहाँ तुलसी-वन है, जहाँ पद्मवन हैं, जहाँ पुराण-पाठ होता है, वहाँ श्रीभगवान् अवस्थित रहते हैं। जो चुल्लूभर पानीसे भी तुलसीको सींचता है, वह जबतक चन्द्र-तारे आकाशमें हैं, तबतक क्षीरसमुद्रशायी भगवान्‌के साथ निवास करता है। भवसागरमें पड़े हुए जीवोंके लिये तुलसीकी सेवा दुर्लभ है, सत्पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ है और श्रीहरिकी भक्ति दुर्लभ है।'

धूप

सगुग्गुल्वगुरुशीरसिताज्यमधुचन्दनैः।
साराङ्गारविनिक्षिप्तैः कल्पयेद् धूपमुत्तमम्॥
(मूलागमतन्त्र)

'गूगल, अगर, खस, शर्करा, घृत, मधु और चन्दनके द्वारा तैयार किये हुए द्रव्यको उत्तम काठके अँगारोंपर

निक्षेप करके श्रीभगवान्‌को उत्तम धूप दान करे।' स्कन्दपुराणमें लिखा मिलता है—

साज्येन वै गुग्गुलुना सुधूपेन जनार्दनम् ।
धूपयित्वा नरो याति पदं तस्य सदाशिवम् ॥

'घृतयुक्त गूगलके द्वारा तैयार किये हुए सुन्दर धूपसे जो जनार्दनकी सेवा करता है, वह मनुष्य श्रीविष्णुभगवान्‌के सदा-कल्याणमय लोकको प्राप्त होता है।'

प्रह्लादसंहिताका वचन है—

धूपयेच्च तथा सम्यक् श्रीमद्भगवदालयम् ।
धूपशेषं ततो भक्त्या स्वयं सेवेत वैष्णवः ॥

'वैष्णव श्रीभगवन्मन्दिरको भलीभाँति धूपित करे, तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक स्वयं धूपावशेष ग्रहण करे।'

पञ्चगव्य

गौतमीय तन्त्रका वचन है—

पलमात्रं दुग्धभागो गोमूत्रं तावदिष्यते ।
घृतं च पलमात्रं स्याद् गोमयं तोलकत्रयम् ॥
दधिप्रसृतमात्रं स्यात् पञ्चगव्यमिदं स्मृतम् ।
अथवा पञ्चगव्यानां समानो भाग इष्यते ॥

'एक पल (छटाँक भर) दूध, एक पल गोमूत्र, एक पल घृत, तीन तोले गोमय और दो पल दही—इन पाँचोंके सम्मिश्रणसे पञ्चगव्य बनता है। अथवा कोई-कोई इन पाँचोंको समान भागमें लेते हैं।'

पञ्चामृत

दुग्धं सशर्करं चैव घृतं दधि तथा मधु ।
पञ्चामृतमिदं प्रोक्तं विधेयं सर्वकर्मसु ॥

'दूध, शर्करा, घृत, दधि तथा मधु—इन पाँचोंके मिश्रणसे पञ्चामृत बनता है और सब प्रकारकी पूजाओंमें इसका व्यवहार होता है।'

मृदासन और कुशहस्त-निषेध

मृदासनः कुशकरो वैष्णवो न भवेद् द्विजः ।
सर्वकर्मफलत्यागी सर्वसंकल्पवर्जितः ॥
नो द्विजः कुशहस्तः स्यात् स्नानपूजाजपादिषु ।
कदाचिद्दर्भहस्तो न त्यक्तकामस्तु वैष्णवः ।
स्नानादिषु च कृत्येषु गोविन्दस्यार्चनादिषु ॥

(पद्मपुराण)

'वैष्णव पूजा करते समय केवल भूमिपर न बैठे अर्थात् आसनपर बैठे। हाथमें कदापि कुश लेकर न बैठे। सर्वकर्मफलत्यागी तथा सब प्रकारके संकल्पसे वर्जित ब्राह्मण स्नान-पूजा-जप आदिमें कभी कुश हाथमें न ले। निष्काम-वैष्णव स्नान आदि कृत्योंमें तथा श्रीगोविन्दकी पूजा-अर्चना आदिमें कदापि कुश हाथमें न ले।'

नैवेद्य-पात्र

नैवेद्यपात्रं वक्ष्यामि केशवस्य महात्मनः ।
हैरण्यं राजतं ताम्रं कांस्यं मृण्मयमेव च ॥
पालाशं पाद्मपत्रं च पात्रं विष्णोरतिप्रियम् ॥

(स्कन्दपुराण)

'श्रीभगवान्‌को नैवेद्य-अर्पण कैसे पात्रमें करना चाहिये, यह बतलाते हैं—सोना, चाँदी, ताँबे, काँसी तथा मिट्टीके पात्र और पलाश एवं कमलपत्रोंसे बनी हुई पत्तलें श्रीविष्णुभगवान्‌को अति प्रिय हैं।'

पात्र-संस्कार

ब्रह्मपुराणमें लिखा है कि सोना, चाँदी, शङ्ख, पत्थर, सीप, स्फटिक आदि रत्न, काँसी, लोहा, ताँबा, पीतल, राँगे और सीसेके द्वारा निर्मित पात्र यदि अन्नादिसे लिप्त न हों तो केवल जलद्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं; अन्नादिसे लिप्त होनेपर खटाई और राख आदिके द्वारा शुद्ध करे। ये पात्र यदि शूद्रोच्छिष्ट हों तो राख, खटाई और जलके द्वारा तीन बार माँजनेपर शुद्ध होते हैं। कहा है—

सुवर्णरूप्यशङ्खाश्मशुक्तिरत्नमयानि च ।
कांस्यायस्ताम्ररैत्यानि त्रपुसीसमयानि च ॥
निर्लेपानि तु शुद्ध्यन्ति केवलेनोदकेन तु ।
शूद्रोच्छिष्टानि शोध्यानि त्रिधा क्षाराम्लवारिभिः ॥

(ब्रह्मपुराण)

नैवेद्य

हविषा संस्कृता ये च यवगोधूमशालयः ।
तिलमुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः ॥

(वामनपुराण)

'जौ, गेहूँ, चावल, मूँग, तिल अथवा मूँग, उड़द एवं गव्य—घृतादिसे संस्कृत करके तैयार किया हुआ नैवेद्य श्रीहरिको प्रिय होता है।'

श्रीभगवान्‌के नैवेद्यमें कभी अभक्ष्य वस्तु अर्पण न करे। परंतु शुद्ध और सुस्वादु वस्तु अर्पण करनी चाहिये। स्कन्दपुराणमें आता है—

नैवेद्यानि मनोज्ञानि कृष्णस्याग्रे निवेदयेत् ।
कल्पान्तं तत्पितॄणां तु तृप्तिर्भवति शाश्वती ॥

'मनोरम नैवेद्य श्रीकृष्णके आगे निवेदन करनेपर कल्पान्त (प्रलय) पर्यन्त पितरोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है।'

अभक्ष्य

अयःपात्रे पयःपानं गव्यं सिद्धान्नमेव च ।
भृष्टादिकं मधु गुडं नारिकेलोदकं तथा ॥
फलं मूलं च यत्किंचिदभक्ष्यं मनुरब्रवीत् ।
दग्धान्नं तप्तसौवीरमभक्ष्यं ब्रह्मणा मतम् ॥
नारिकेलोदकं कांस्ये ताम्रपात्रे स्थितं मधु ।
गव्यं च ताम्रपात्रस्थं सर्वं मद्यं घृतं विना ॥
अभक्ष्यं मधुमिश्रं च घृतं तैलं गुडं तथा ।
आर्द्रकं गुडसंयुक्तमभक्ष्यं श्रुतिसम्मतम् ॥
द्विर्भोजनं च दिवसे संध्ययोर्भोजनं तथा ।
भक्ष्यं च रात्रिशेषे च ध्रुवं प्राज्ञः परित्यजेत् ॥
कर्पूरं रौप्यपात्रस्थमभक्ष्यं श्रुतिसम्मतम् ।
परिवेशनकारी चेद् भोक्तारं स्पृशेद् यदि ।
अभक्ष्यं च तदन्नं च सर्वेषामेव सम्मतम् ॥
अभक्ष्यं महिषाणां च दुग्धं दधि घृतं तथा ।
स्वस्तिकं च तथा तक्रं विप्राणां नवनीतकम् ॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

''मनु कहते हैं कि 'लोहेके पात्रमें जलपान या दुग्ध-घृतादि, सिद्ध अन्न (भात आदि), भृष्ट (भूजा) आदि, मधु, गुड़, नारियलका पानी अथवा कोई फल-मूल भक्षण न करे।' ब्रह्मा कहते हैं कि 'दग्ध (जला हुआ) अन्न एवं गरम काँजी भक्षण न करे। काँसेके पात्रमें स्थित नारियल-का जल, ताम्रपात्रमें स्थित मधु, घृतको छोड़कर ताम्रपात्रमें स्थित दूध, दही तथा अन्य गव्य—ये सब मद्यके तुल्य हैं। वेदका वचन है कि मधुके साथ मिला घी, तेल, गुड़ तथा गुड़के साथ आर्द्रा (अदरक) अभक्ष्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष दिनमें दो बार तथा दोनों संध्यामें एवं रात्रिके अवसानमें भोजनका अवश्य त्याग करे। वेदमें कहा गया है कि चाँदीके पात्रमें कपूर अभक्ष्य है। सब शास्त्रोंका मत है कि यदि परोसनेवाला भोजन करनेवालेका स्पर्श कर ले तो वह अन्न अभक्ष्य हो जाता है। भैंसका दूध, दही, घी, स्वस्तिक (मलाई), तक्र और मक्खन ब्राह्मणके लिये अभक्ष्य हैं। मद्य, मांस, मछली, अण्डे आदि तो सदा ही अभक्ष्य हैं।

गन्धद्रव्य

वशिष्ठसंहितामें लिखा है—

कर्पूरागुरुमिश्रेण चन्दनेनानुलेपयेत् ।
मृगदर्पं विशेषेण अभीष्टं चक्रपाणिनः ॥

'कपूर और अगरसे मिश्रित चन्दनके द्वारा विष्णुका अनुलेपन करे। कस्तूरी चक्रपाणि श्रीविष्णुभगवान्‌को विशेष प्रिय है।' स्कन्दपुराणके अनुसार सब गन्धोंमें चन्दन पवित्र है, चन्दनसे भी अगर श्रेष्ठ है, उससे भी काला अगर श्रेष्ठ है और काले अगरसे भी केसर श्रेष्ठ है। अगस्त्य-संहितामें लिखा है कि तुलसीकाष्ठ घिसकर श्रीरामके ललाटमें जो लेप किया जाता है, कपूर, अगर, कस्तूरी और केसर उसके समान नहीं हो सकते। प्रह्लादसंहितामें भी आता है—

न तेन सदृशो लोके वैष्णवो विद्यते भुवि ।
यः प्रयच्छति कृष्णाय तुलसीकाष्ठचन्दनम् ॥

'जो श्रीकृष्णको तुलसी-काष्ठका चन्दन निवेदन करता है, संसारमें उसके समान वैष्णव कोई नहीं है।'

व्यजन

अनुलिप्य जगन्नाथं तालवृन्तेन वीजयेत् ।
वायुलोकमवाप्नोति पुरुषस्तेन कर्मणा ॥
चामरैर्वीजयेद् यस्तु देवदेवं जनार्दनम् ।
तिलप्रस्थप्रदानस्य फलमाप्नोत्यसंशयम् ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर)

'जगन्नाथ भगवान् विष्णुका अनुलेपन करके उन्हें ताड़के पंखेसे हवा करे। इस कर्मके द्वारा मनुष्यको वायुलोककी प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति चँवरद्वारा देवदेव श्रीजनार्दनको व्यजन करता है, वह निश्चय ही एक प्रस्थ (दो सेर) तिल दान करनेका फल पाता है।'

उष्णकाले त्विदं ज्ञेयं यत् सन्तः पौषमाघयोः ।
शीतलत्वान्मलयजमपि नैवार्पयन्ति हि ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर)

'यह व्यजन (हवा करने) की सेवा ग्रीष्मकालमें ही विहित है; क्योंकि संतजन पौष-माघके महीनोंमें शीतलताके कारण श्रीकृष्णके अङ्गोंमें चन्दन भी नहीं लगाते।'

वस्त्रदान

नानादेशसमुद्भूतैः सुवस्त्रैश्च सुकोमलैः ।
भूषयित्वा सुभक्त्या च प्रधापयति माधवम् ॥

मन्वन्तराणि वसते तन्तुसंख्यं हरेर्गृहे ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जो नाना देशोंमें बने हुए सुन्दर कोमल श्रेष्ठ वस्त्रोंको भक्तिपूर्वक धूपसे धूपित करके माधवको पहनाता है, वह उन वस्त्रोंमें जितने सूत होते हैं, उतने मन्वन्तरतक हरिधाममें वास करता है।'

कौशेयानि च वस्त्राणि सुमृदूनि लघूनि च ।
यः प्रयच्छति देवाय सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

'जो सुन्दर, कोमल और बारीक कौशेय (रेशमी) वस्त्र श्रीविष्णुभगवान्‌को अर्पण करता है, उसको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है।'

अलंकार-दान

स्कन्दपुराणमें लिखा है—

गुञ्जामात्रं सुवर्णस्य यो दद्यात् विष्णुमूर्द्धनि ।
इन्द्रस्य भवने तिष्ठेद् यावदाभूतसम्प्लवम् ॥
तस्मादाभरणं देवि ! दातव्यं विष्णवे सदा ।

'जो एक गुञ्जा (रत्ती) मात्र सुवर्ण विष्णुको अर्पित करता है, वह महाप्रलयकालतक इन्द्रलोकमें वास करता है। इसलिये हे देवि ! विष्णुको सर्वदा अलङ्कार अर्पण करने चाहिये।'

दीप-दान

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

यो ददाति महीपाल ! कृष्णस्याग्रे तु दीपकम् ।
पातकं तु समुत्सृज्य ज्योतीरूपं लभेत् पदम् ॥

'हे राजन् ! जो पुरुष श्रीकृष्णके सामने दीप निवेदन करता है, वह पापमुक्त होकर ज्योतिर्मय वैकुण्ठधामको प्राप्त होता है।' स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

तन्नास्ति पातकं किंचित् त्रिषु लोकेषु नारद ।
यन्न शोधयते दीपः कार्तिके केशवाग्रतः ॥

'हे नारद ! त्रिलोकीमें ऐसा कोई पाप नहीं है, जो कार्तिक मासमें भगवान् विष्णुके सम्मुख दीप निवेदन करनेसे नष्ट नहीं होता।'

आकाश-प्रदीप

उच्चैः प्रदीपमाकाशे यो दद्यात् कार्तिके नरः ।
सर्वं लोकं समुद्धृत्य विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥

'जो मनुष्य कार्तिक मासमें आकाशमें उच्च प्रदीप जलाता है, वह अपने समस्त कुलका उद्धार करके विष्णुलोकको प्राप्त करता है।'

आकाशदीप प्रदान करनेका मन्त्र—

दामोदराय नभसि तुलायां लोलया सह ।
प्रदीपं ते प्रयच्छामि नमोऽनन्ताय वेधसे ॥

'हे दामोदर ! कार्तिक मासमें आकाशमें लक्ष्मीके सहित तुमको प्रदीप प्रदान करता हूँ। तुम अनन्त हो, तुम विधाता हो, तुम्हें नमस्कार !'

स्तव-माहात्म्य

स्तवन्नमेयमाहात्म्यं भक्तिग्रथितरम्यवाक् ।
भवेद् ब्रह्मादिदुर्लभ्यप्रभुकारुण्यभाजनम् ॥

(श्रीहरिभक्तिसुधोदय)

'जो पुरुष भक्तिपूर्वक रचे हुए मनोहर स्तवके द्वारा श्रीभगवान्‌के अपरिमेय माहात्म्यका कीर्तन करता है, ब्रह्मादि देवगण भी प्रभुके जिस अनुग्रहको प्राप्त नहीं कर सकते, उस अनुग्रहको वह प्राप्त करता है।'

श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता ।
नमस्या मुक्तिसिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम् ॥

(स्कन्दपुराण)

'श्रीकृष्णके स्तवरत्नोंके द्वारा जिनकी जिह्वा अलंकृत है, वे सिद्धों और मुनियों तथा देवताओंके द्वारा भी वन्दनीय हैं।'

प्रणाम

श्रीनृसिंहपुराणमें लिखा है—

नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्वयज्ञेषु चोत्तमः ।
नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत् ॥

'श्रीहरिको नमस्कार यज्ञरूप कहा गया है और वह सर्वयज्ञोंमें श्रेष्ठ है। एक बारके नमस्कारसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है और श्रीहरिको प्राप्त होता है।' आगमोंमें अष्टाङ्ग प्रणाम तथा पञ्चाङ्ग प्रणामका निर्देश इस प्रकार मिलता है—

अष्टाङ्ग

दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥
जानुभ्यां चैव बाहुभ्यां शिरसा वचसा धिया ।
पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् पूजासु प्रवराविमौ ॥

'दोनों बाहु, दोनों पैर, दोनों जानु, वक्षःस्थल, सिर, नेत्र, मन और वचन—इन आठ अङ्गोंद्वारा किया गया प्रणाम 'अष्टाङ्ग प्रणाम' कहलाता है। दोनों जानु, दोनों बाहु, मस्तक, वाणी और बुद्धि—इन पाँच अङ्गोंके द्वारा किया गया प्रणाम 'पञ्चाङ्ग प्रणाम' कहलाता है। ये दोनों प्रकारके प्रणाम पूजामें सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं।'

श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें कहा गया है—

विष्णोर्दण्डप्रणामार्थं भक्तेन पतता भुवि ।
पतितं पातकं कृत्स्नं नोत्तिष्ठति पुनः सह ॥

'श्रीविष्णुभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करनेके लिये भक्त जब भूतलपर पड़ जाता है, तब उसके देहस्थ सारे पाप उसके साथ ही गिर जाते हैं, अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं। पर भक्तके उठनेके समय फिर वे पाप उठते नहीं अर्थात् उसके देहमें पाप नहीं रह जाते।' विष्णुधर्मोत्तरमें आया है—

देवार्चादर्शनादेव प्रणमेन्मधुसूदनम् ।
स्थानापेक्षा न कर्त्तव्या दृष्ट्वार्चां द्विजसत्तमाः ॥
देवार्चादृष्टिपूतं हि शुचि सर्वं प्रकीर्तितम् ॥

'श्रीविग्रहको देखते ही मधुसूदनरूपमें उसे प्रणाम करे। इसमें स्थानका विचार न करे, क्योंकि श्रीविग्रहकी पवित्र दृष्टिसे उसके सामनेका स्थान अथवा सब कुछ पवित्र हो जाता है।' परंतु—

जन्मप्रभृति यत्किंचित् पुमान् वै धर्ममाचरेत् ।
सर्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ॥

(विष्णुस्मृति)

'श्रीभगवान्‌को एक हाथसे कभी प्रणाम न करे; क्योंकि इस प्रकार प्रणाम करनेसे मनुष्यका आजन्म किया हुआ सारा धर्म निष्फल हो जाता है।' पद्मपुराणका वचन है—

कृत्वापि बहुशः पापं नरो मोहसमन्वितः ।
न याति नरकं नत्वा सर्वपापहरं हरिम् ॥

'अज्ञानवश अनेकों पाप करके भी यदि मनुष्य सर्वपापापहारी श्रीहरिको नमस्कार करता है तो वह नरकमें नहीं जाता।'

प्रदक्षिणा या परिक्रमा

प्रदक्षिणां ये कुर्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा ।
न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥

(वराहपुराण)

'जो भक्तियुक्त चित्तसे श्रीविष्णुकी प्रदक्षिणा करते हैं, उनको यमलोक नहीं जाना पड़ता; उन्हें भक्तोंको प्राप्त होनेवाली गति मिलती है।'

एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद् विनायके ।
चतस्रः केशवे दद्याच्छिवे त्वर्धप्रदक्षिणाम् ॥

(नृसिंहपुराण)

'देवीकी एक बार, सूर्यकी सात बार, गणेशकी तीन बार, विष्णुकी चार बार तथा शिवकी आधी प्रदक्षिणा करनी चाहिये।' विष्णुस्मृतिमें लिखा है—

एकहस्तप्रणामश्च एका चैव प्रदक्षिणा ।
अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥

'विष्णुभगवान्‌को एक हाथसे प्रणाम, एक बार प्रदक्षिणा और अकाल अर्थात् स्नान, भोजन और शयनकालमें दर्शन करनेसे पूर्वकृत पुण्योंका नाश हो जाता है।'

(क्रमशः)

* * *

श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी ॥
राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं ॥

(रामचरित० सुन्दर०)

श्रेष्ठ कौन—मुक्ति या भक्ति ?

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०)

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥
वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः ।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥

हम इस लेखको श्रीकृष्णचैतन्यदेवके पावन चरणोंमें श्रीपाद कविकर्णपूरके द्वारा (जिन्हें उनकी शैशवावस्थामें श्रीश्रीमन्महाप्रभुने दुलारा था) अपने 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटकमें उद्धृत श्रीपाद सार्वभौम भट्टाचार्यके शब्दोंमें गम्भीर श्रद्धा समर्पित करते हुए आरम्भ करते हैं । श्रीक्षेत्र नीलाचल (पुरी) के सार्वभौम भट्टाचार्य पूर्वभारतके प्रधान शाङ्कर-मतानुयायी पण्डित थे; दूसरे पण्डित थे काशीके श्रीप्रकाशानन्दजी । मोक्षवादी पण्डितोंमें उस समय उन दोनोंके समान कोई नहीं था । संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जब पुरी गये, तब वहाँ वे 'भक्ति अथवा मुक्तिमें कौन श्रेष्ठ है ?' इस प्रश्नपर विचार करनेके लिये सार्वभौमसे मिले। सार्वभौम उनके तर्कसे पराजित हुए और श्रीमन्महाप्रभुद्वारा प्रतिपादित 'ऐकान्तिक कृष्ण-भक्ति' के कट्टर समर्थक बन गये । उद्भट विद्वान् तो वे थे ही । उसी क्षण श्रीचैतन्यकी अभ्यर्थनामें उन्होंने सौ श्लोक (सार्वभौमशतक) की रचना कर डाली । उन्होंने श्रीचैतन्यको गीतावक्ता श्रीकृष्णकी भाँति केवल वाणीसे ही नहीं, वरं आचरणसे भी 'कृष्णभक्ति' का उपदेश देनेके लिये अवतरित हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें देखा ।

जब श्रीमन्महाप्रभुने उन्हें—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥*
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

—इस श्लोककी व्याख्या करनेको कहा, तब सार्वभौमने इसके अनेक अर्थ किये और श्रीमन्महाप्रभुने उनके अतिरिक्त उसके अठारह और अर्थ सुनाये । इसपर उनके चरणोंमें सार्वभौमने अपनेको पूर्णतया समर्पित कर दिया । इस श्लोकमें मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है । सारे मुनिगण मुक्त तो थे ही, फिर भी वे भगवद्भक्त थे ।

इसी प्रकार काशीके स्वामी श्रीमत्प्रकाशानन्दजी भी जो प्रबल मुक्तिवादी थे और अपने प्रकाण्ड पाण्डित्यसे मुक्तिका समर्थन करते थे, अपनी विपुल शिष्यमण्डलीके साथ भक्तिमार्गके अनुयायी बन गये । उन लोगोंने यह अनुभव किया कि—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १४ । ५)

अर्थात् करोड़ों सिद्ध और मुक्त पुरुषोंमें श्रीनारायण-परायण प्रशान्तचित्त महापुरुषका मिलना बहुत ही कठिन है !

श्रीमद्भागवतकी अपनी भावार्थदीपिका टीकामें श्रीधरस्वामिपाद, श्रीशङ्कराचार्यजीद्वारा रचित नृसिंहतापिनीके भाष्यसे उद्धरण देते हुए कहते हैं—

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते ।

'मुक्त पुरुष भी लीलासे शरीर धारण करके भगवान्‌की भक्ति (भजन) में लीन रहते हैं ।' मूलश्लोक वेद-स्तुतिका है—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥*
(श्रीमद्भागवत १० । ८७ । २१)

---

* (सनकादि, शुकादि-सदृश) आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिगण भी श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं ।

* भगवन् ! परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उसीका ज्ञान करानेके लिये आप विविध प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृतके महासागरसे भी मधुर और मादक होती है । जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं । कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओंको छोड़कर मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते—स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है । वे आपके चरण-कमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्सङ्गमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं

श्रीधरस्वामिपादने यहाँ यह टिप्पणी दी है—

श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति ।*

—और इसके बाद लिखते हैं—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥

अर्थात् हे भगवन् ! कुछ धीमान् व्यक्ति आपकी कथा-सुधाके समुद्रमें अत्यन्त आनन्दमें भरकर विहार करते हुए चतुर्वर्गको—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षको तृणवत् गिनते हैं।

श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदिके प्रसिद्ध भाष्यकार महामहोपाध्याय श्रीपाद विश्वनाथचक्रवर्ती ठाकुरने विशुद्ध द्वैतवादके प्रवर्तक नवम शताब्दीके श्रीमन्मध्वाचार्यद्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित श्रुति-वाक्यको यहाँ उद्धृत किया है—

‘मुक्ता ह्येतमुपासते ।’

‘मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी ।’†

जब मार्कण्डेय ऋषिकी तपस्या-सिद्धिके विषयमें उमादेवीने प्रश्न किया, तब रुद्रने निम्नलिखित श्लोकमें ऋषिकी स्वतःप्राप्त सिद्धिके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा—

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । १० । ६)

‘ये ब्रह्मर्षि कभी भोगोंकी इच्छा नहीं करते; और तो क्या, ये मोक्ष भी नहीं चाहते; क्योंकि इन्होंने अविनाशी भगवान् पुरुषोत्तमकी परा या ऐकान्तिकी भक्ति प्राप्त कर ली है।’

यह मोक्षकी अपेक्षा परा भक्तिकी महान् श्रेष्ठताका स्पष्ट निदर्शन है। सांसारिक जीवनसे परितप्त लोग जिस मुक्तिकी कामना करते हैं, वह पाँच प्रकारकी होती है। भगवान्‌के भक्त, जिनका मन सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌की अनुरक्तिमें डूबा रहता है, दुःख पड़नेपर भी इस प्रकारके परितापोंका अनुभव नहीं करते, ये भक्त कभी मुक्तिके लिये नहीं तरसते। इस प्रसङ्गमें दक्षिणभारतके राजा कुलशेखरकृत प्रसिद्ध मुकुन्दमालास्तोत्रकी हमें याद आ जाती है, जिसमें वे लिखते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥

‘मेरी न तो धर्ममें आस्था है, न धनराशिमें और न कामोपभोगमें। पूर्वजन्मोंके कर्मानुसार जो कुछ होना है, वह हुआ करे। मुझे तो बस इतनी ही प्रार्थना प्यारी लगती है कि जन्म-जन्मान्तरमें भी (क्योंकि पुनर्जन्मसे बचनेके लिये मैं मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता) आपके उभय चरण-कमलोंमें मेरी निश्चल भक्ति हो।’

भक्त अधिकाधिक दृढ़तर भक्तिके लिये प्रार्थना करता है; किंतु मुक्तिके लिये कभी नहीं।

हम यह भी देखें कि जब भगवान् मुँहमाँगा वरदान देनेको तैयार थे, तब ध्रुव और प्रह्लादने उनसे क्या माँगा। ध्रुवने कहा—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ११)

‘हे अनन्त ! आपमें निरन्तर भक्तिभाव रखनेवाले शुद्धचित्त महापुरुषोंसे मेरा बारंबार समागम हो।’

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां लब्धवान् देवमुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्यरत्नं
वरं कृतार्थोऽस्मि न नाथ ! याचे ॥

‘राज्यपदकी अभिलाषासे तपस्यामें प्रवृत्त होकर मैंने देवताओं और मुनियोंके लिये भी अगम्य आपको पा लिया। काँचको खोजते हुए दिव्य रत्नको पाकर हे नाथ ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ। अब किस वरकी याचना करूँ ?’

प्रह्लादने कहा—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १० । ७)

‘हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अङ्कुर ही उत्पन्न न हो।’

अथवा—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
(विष्णुपु०)

कि उसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं।

* श्रुतियाँ भी मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी अधिकता दर्शाती हैं।

† मुक्त पुरुष भी उनकी उपासना करते हैं। मुक्त पुरुषोंके लिये भी भक्ति परमानन्दका हेतु है।

'अविवेकी पुरुषोंकी विषयभोगोंमें जैसी निश्चल प्रीति होती है, आपका अनवरत स्मरण करनेमें वैसी ही प्रीति मेरे हृदयमें सदा बनी रहे—कभी हटे नहीं ।'

इन याचनाओंमें कहीं भी मुक्तिकी अभिलाषा है क्या ? उनको सच्ची मुक्ति (भक्तिके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी अभिलाषासे शून्य होनेकी अवस्था) बिना उसकी लालसा किये पहले ही प्राप्त हो चुकी है ।

भगवदावेशावतार श्रीकपिलदेवकी निम्नलिखित उक्तिका ध्यानपूर्वक मनन करनेसे बात एकदम स्पष्ट हो जायगी—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । ११–१३)

'मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे, समुद्रकी ओर जानेवाले गङ्गा-प्रवाहके समान मुझ सर्वान्तर्यामीकी ओर मनका निरन्तर प्रवाहित होना तथा मुझ पुरुषोत्तममें अकारण और अनन्य भक्तिभाव होना मेरे निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा जाता है । ऐसे भक्तजन मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्यको ही नहीं, कैवल्य मोक्षतकको, दिये जानेपर भी ग्रहण नहीं करते ।'

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य जो मुक्तिकी श्रेष्ठताके कट्टर समर्थक थे, ऐसे अनन्य भक्त बन गये कि मुक्तिका नाम सुनना भी वे सहन नहीं कर पाते थे । उन्होंने श्रीमन्महाप्रभुके सम्मुख ब्रह्मस्तुतिके निम्नलिखित श्लोकके 'मुक्तिपदे' पदको 'भक्तिपदे' करके पढ़ा—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥*

जब भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने उनसे इस परिवर्तनका कारण पूछा, तब सार्वभौमने कहा कि **'मुक्ति तो** उन भगवद्विमुखोंके लिये एक दण्ड है, जो **श्रीकृष्णविग्रहके** अलौकिकत्वको न जानकर शिशुपाल, कंस, **हिरण्यकशिपु** इत्यादिकी भाँति उसकी निन्दा करते हैं । ये दो **प्रकारके** व्यक्ति ब्रह्मसायुज्य मुक्तिको प्राप्त होते हैं । भक्तिकी **साधना** करनेवालेके लिये तो मुक्ति—सायुज्य मुक्ति—फल **नहीं है,** उससे तो भक्त वैसे ही घृणा करता है, जैसे नरकसे **करता है;** क्योंकि वह उसे भगवत्सेवासे वञ्चित करानेवाली है । **सायुज्यके** अतिरिक्त अन्य चार प्रकारकी मुक्तियाँ (सालोक्य, **सामीप्य,** सार्ष्टि, सारूप्य) यदि भगवत्सेवामें कुछ सहायक बन **सकें** तो भले ही वह उन्हें कभी-कभी अनिच्छापूर्वक **स्वीकार** कर ले सकता है । किंतु भगवान् नारायण दुर्वासा **ऋषिसे** कहते हैं—मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवासे ही आप्तकाम **रहकर** उस सेवाके प्रभावसे प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सारूप्य, **सार्ष्टि** और सायुज्य नामक चार प्रकारकी मुक्तियोंकी **भी इच्छा** नहीं करते, फिर कालक्रमसे नष्ट हो जानेवाले अन्य **भोगोंकी** तो बात ही क्या है—

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम् ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६७)

यद्यपि श्रीमन्महाप्रभु पूर्वोक्त श्लोकमें 'मुक्तिपदे' पाठकी शुद्धता यह कहकर सिद्ध कर देते हैं कि इसके **पदवाच्य** हैं—'भगवान् जिनके पद (चरणों) में मुक्ति रहती **है ।'** फिर भी सार्वभौमको संतोष नहीं होता; क्योंकि उनकी **दृष्टिमें** उस 'मुक्ति'से ही सायुज्य अथवा कैवल्यकी **ध्वनि** निकलती है ।

त्रिदण्डी स्वामी श्रीप्रबोधानन्दसरस्वती गोस्वामिपाद अपने चैतन्य-चन्द्रामृतमें इसी बातको इस प्रकार कहते हैं—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते ।

'भक्तके लिये कैवल्य अथवा सायुज्य मुक्ति नरकके समान है और स्वर्ग आकाश-कुसुमके तुल्य ।'

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ३४)

'मुझमें अनन्य प्रेम रखनेवाले धीर और साधु भक्त मेरे

---

* "इसलिये जो पुरुष 'आपकी कृपा कब होगी ।' इस प्रकार उत्सुकतासे उसकी प्रतीक्षा करता हुआ (या सर्वत्र आपकी कृपाको भलीभाँति देखता हुआ) अपने प्रारब्ध-फलको भोगता है और मन, वाणी एवं शरीरसे आपको नमस्कार करता हुआ जीवन धारण करता है, वह आपके मुक्तिपदका अधिकारी हो जाता है ।"

देनेपर भी 'कैवल्य' अथवा 'अपुनर्भव' आदिकी इच्छा भी नहीं करते।'

भगवदावेशावतार श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। ३४)

'मेरी चरणसेवामें प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नताके लिये समस्त कार्य करनेवाले कितने ही बड़भागी पुरुष, जो एक दूसरेसे मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्यमोक्ष) की इच्छा भी नहीं करते।'

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवके अनुयायी छः गोस्वामियोंमें प्रधान श्रीरूपगोस्वामिपादने, जिनके नामपर महाप्रभुके अन्यतम अन्तरङ्ग भक्त 'रूपानुग' कहलाये, भक्तितत्त्वका विवेचन करनेवाले अपने सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें लिखा है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥
(पूर्व० १। ३३)

'जब भक्तके हृदयमें लेशमात्र भी भगवत्-रति जाग उठती है, तब धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थ उसे तृणवत् प्रतीत होने लगते हैं।' इसके समर्थनमें वे नारद-पञ्चरात्रका निम्नलिखित वचन उद्धृत करते हैं—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

'मुक्ति एवं अद्भुत भोगोंसे युक्त समस्त सिद्धियाँ हरि-भक्तिरूपी महादेवीके पीछे-पीछे उनकी दासीकी भाँति चलती हैं।'

दक्षिणभारतके सुप्रसिद्ध श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरने अपने विख्यात श्रीकृष्णकर्णामृतमें इसी बातको इस प्रकार कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥१०७॥

'भगवन्! यदि आपके प्रति भक्तिकी स्थिरता बढ़ जाय, तो आपकी दिव्य किशोरमूर्ति हमें मानो प्रारब्धके वशीभूत होकर प्राप्त हो जायगी। स्वयं मुक्ति हाथ जोड़े हमारी सेवामें लगी रहेगी। तथा धर्मार्थकामरूपी त्रिवर्ग सेवाके लिये अवसर ढूँढ़ते हुए खड़े रहेंगे।'

यहाँ मुक्तिसे अभिप्राय अविद्या-नाशसे है। मायाके प्रभावसे हमारा चित्स्वरूप, जिसका सनातन धर्म भगवत्सेवा ही है, आच्छन्न हो गया है। भक्तिके आगमनसे इस आवरणका हट जाना ही मुक्ति है; क्योंकि अन्यरूप (शरीर एवं मन) को छोड़कर अपने स्वरूपको फिरसे पा लेना ही मुक्ति है—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।
(श्रीमद्भा० २। १०। ६)

इस प्रकारकी मुक्ति भक्तके पास स्वयं ही चली आती है; क्योंकि जहाँ माया अथवा अविद्या हो, वहाँ भक्ति ठहर ही नहीं सकती। भक्त अवश्य ही जीवन्मुक्त पुरुष होता है।

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

''प्रत्येक अवस्थामें जिसकी मन, वाणी और कर्मसे हरि-सेवाकी इच्छा है, उसीको 'जीवन्मुक्त' कहते हैं।'' ऊपर कही हुई पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे किसीकी भी अभिलाषाको भक्तगण गर्हित बताते हैं। भक्त न तो मुक्तिके लिये चेष्टा करता है और न उसे ऐसी चेष्टाकी आवश्यकता ही है; क्योंकि श्रीनारदपञ्चरात्र तथा श्रीकृष्णकर्णामृतसे उद्धृत उपर्युक्त श्लोकोंमें जैसा बताया गया है, मुक्ति (अविद्याका सर्वथा नाश) भक्तिका एक आनुषङ्गिक सहज परिणाम है।

सामान्य कौटुम्बिक जीवनके एक उदाहरणसे इस बातको पूर्णतया समझा जा सकता है। बहुत दिनों पहलेकी बात है। एक निरक्षर ग्रामीणने किसी प्रकार अपने लड़केको पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बना दिया कि वह अपने जिलेसे दूर कहीं डिप्टी कलेक्टर हो गया। जब वह युवक अपने पिताके सामने इस सुसंवादको लेकर उपस्थित हुआ, तब पिता लड़केसे इस लिये रुष्ट हो गया कि वह पासवाली पुलिस चौकीका दारोगा नहीं बन सका। उसके विचारसे प्राप्त करने योग्य पदोंमें दारोगाका पद ही सबसे ऊँचा था और इस कार्यमें उसका लड़का असफल सिद्ध हुआ। उसे विश्वास नहीं हो सका कि दारोगाको तो उसके लड़केके सामने खड़ा रहना चाहिये, बल्कि इस बातको उसने मजाक समझा। इसी प्रकार जिसके मनमें

मुक्ति-ही-मुक्तिकी बात भरी है और जो उसीकी प्राप्तिके लिये कठिन परिश्रम करते हैं, वे इस सत्यपर विश्वास ही नहीं कर सकते कि सच्चा भक्त पहले ही मुक्त हो चुका है, मायाके बन्धनसे सर्वथा छूट चुका है। जब कभी तुमको मुक्तिकी आवश्यकता प्रतीत हो, तब समझो कि तुम भक्तिके मार्गसे दूर जा रहे हो; क्योंकि भक्तिके भीतर ही मुक्तिका समावेश है। तुम भगवद्दास हो, अपने इस रूपको भूलकर तुम मिथ्या स्वार्थके लिये प्रयास कर रहे हो। तुम अपने स्वरूपको फिरसे प्राप्त कर सकते हो यदि मायाकी बेड़ियोंको काट डालो तथा ज्ञान-कर्म-जैसी तुच्छ इच्छाओंसे रहित भक्तिका आचरण करो। मुक्तिकी इच्छा भी काम है; क्योंकि तुम उसे अपने लिये चाहते हो, भगवत्सेवाके लिये नहीं। सांसारिक जीवनके दुःखों एवं चिन्ताओंसे परितप्त होकर तुम उससे छूटना चाहते हो, मुक्त होना चाहते हो। 'आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवाञ्छा'में और इसमें कोई अन्तर नहीं है। चैतन्य-चरितामृतने हमको इसके विरुद्ध सावधान किया है—

आत्मेन्द्रियप्रीतिवाञ्छा तारे बलि काम ।
कृष्णेन्द्रियप्रीतिवाञ्छा धरे प्रेम नाम ॥

"अपनी इन्द्रियोंके सुखकी इच्छाका नाम काम है और श्रीकृष्णके सुखकी इच्छाका नाम है 'प्रेम'।" भक्तिके स्वाभाविक रूपका भी नाम 'प्रेम' ही है।

अपने उपाधिरहित अथवा मुक्त स्वरूपमें तुम भक्त हो और भक्ति ही तुम्हारा सर्वस्व है। माया अथवा अविद्याके पाशमें बँध जानेपर तुम भक्तिको भूल जाते हो और इस जालसे छूटनेके लिये दूसरे-दूसरे उपाय करने लगते हो। अतएव हमलोगोंको भक्तिके पावन पथपर चल पड़ना चाहिये तथा सदा आगे बढ़ते रहना चाहिये। साथ ही इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि शुद्ध भक्ति कर्म-ज्ञान आदि अन्याभिलाषसे युक्त न हो। शुद्ध भक्तिके पथपर हम जितना ही आगे बढ़ेंगे, उतना ही हम अपनेको मायासे मुक्त करते जायँगे अर्थात् वास्तवमें मुक्त होते जायँगे। यद्यपि भक्त कभी मुक्तिकी वाञ्छा अथवा उसके लिये चेष्टा नहीं करता, तथापि वास्तवमें मुक्त वही है। और बिना भक्तिके कोई मुक्ति हाथ नहीं लगती, जैसा कि श्रीब्रह्माजीने श्रीकृष्णकी भगवत्ताकी परीक्षा करनेके लिये उनके गोवत्सों एवं गोपालोंको चुरा ले जानेके पश्चात् उनसे कहा था—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४)

'हे विभो ! जो पुरुष कल्याणप्राप्तिकी सरणिरूपा आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही क्लेश उठाते हैं, उनके लिये केवल कष्ट ही शेष रहता है, उन्हें और कुछ नहीं मिलता, जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता।'

भक्ति प्राप्त करनेके लिये हमलोगोंको भक्तोंद्वारा उच्चारित हरिनामका श्रवण करना चाहिये, गुरुपादाश्रय ग्रहण करके भक्तोंके सङ्गमें नामकीर्तन करना चाहिये और पद्मपुराणमें गिनाये हुए दस नामापराधोंको क्रमशः छोड़ते जाना चाहिये। जब नामापराध छूट जाते हैं, तब हम उस अवस्थापर पहुँचते हैं जिसे नामाभास कहते हैं, और तब हम मुक्त हो जाते हैं। सदा सच्चे भक्तोंके साथ रहते हुए फिर हम उस स्थितिमें पहुँचते हैं जहाँ क्रमशः हम निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और अन्तमें प्रेमको प्राप्त कर लेते हैं। भक्तसङ्गके बिना हम मुक्ति-सेवित भक्तिको प्राप्त करनेकी दिशामें कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल मुक्त पुरुष ही अपराधशून्य शुद्ध हरिनामका उच्चारण कर सकते हैं। इसका उल्लेख श्रीरूपगोस्वामिपादने अपने श्रीकृष्णनामाष्टकके पहले श्लोकमें किया है—

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमाला-
द्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त ।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं
परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि ॥

'हे हरिनाम ! आपके कमलसदृश चरणप्रान्त (नख) की सम्पूर्ण श्रुतियोंके शीर्षस्थानीय उपनिषद्रूपी रत्नमालाकी किरणोंद्वारा आरती उतारी जाती है। मुक्त पुरुष आपकी उपासना करते हैं। ऐसे आपका मैं सब ओरसे आश्रय ग्रहण करता हूँ।'

श्रीशुकदेव गोस्वामिपादने हमें इस प्रकारका परामर्श दिया है—

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । ४६)

'तीर्थपाद श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे बढ़कर मुमुक्षु पुरुषोंके कर्मबन्धनको काटनेवाला और कोई साधन नहीं है; क्योंकि उसके कारण मनुष्यका चित्त फिर कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, जब कि दूसरे प्रायश्चित्तोंके करनेपर भी वह रजोगुण-तमोगुणसे ग्रस्त रहता है ।'

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीचैतन्यदेवने कहा है—

ज्ञानी जीवन्मुक्त करि आपनारे माने ।
वस्तुतः चित्तशुद्धि नहे कृष्णभक्ति विने ॥
(मध्य २२ ५०)

'ज्ञानवादी अपनेको जीवन्मुक्त मान लेते हैं, किंतु वास्तवमें कृष्णभक्तिके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता ।'

देवकीगर्भस्थित भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते समय श्रीब्रह्मा, श्रीशिव, अन्य देवगण तथा श्रीनारदादि मुनिगण कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३२)

'हे कमललोचन ! आपके भक्तोंसे भिन्न जो अन्य पुरुष मुक्त होनेका व्यर्थ अभिमान करते हैं, किंतु आपके भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, वे बड़े परिश्रमसे प्राप्त किये हुए स्वर्गादि उत्तम लोकोंमें जाते हैं, किंतु फिर आपके चरणोंकी आराधनासे विमुख होनेके कारण वहाँसे नीचे गिरते हैं ।' दूसरे श्लोकमें इस अवस्थासे भक्तोंकी स्थितिका विरोध दिखाते हुए कहते हैं—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३३)

'किंतु हे माधव ! जो आपमें ही सुदृढ़ प्रेम रखनेवाले आपके भक्तजन हैं, वे ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति कभी सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते । प्रभो ! आपसे सुरक्षित होकर वे विघ्नोंकी सेनाके सरदारके सिरपर पैर रखते हुए निर्भय विचरते हैं ।'

उपर्युक्त दोनों श्लोक मोक्षवादियोंकी मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताके विषयमें कोई संदेह नहीं रहने देते ।

प्रेम-भक्ति ही जीवनके लिये परम प्राप्तव्य है । भगवद्दासके रूपमें जीवकी सर्वोत्तम स्थितिके सामने मुक्तिवादियोंकी पद्धतिके अनुसार किया हुआ कोई प्रयास ठहर नहीं सकता ।

अन्तमें हम ब्रह्मसंहिताके शब्दोंमें श्रीगोविन्दकी स्तुति करते हुए यह विवेचन समाप्त करते हैं—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति ।
श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

'मैं अचिन्त्य गुण और रूपवाले आदिपुरुष श्रीगोविन्दकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिनकी श्रीश्यामसुन्दरमूर्तिको संत पुरुष सदैव अपने हृदयमें प्रेमाञ्जनसे आँजे हुए भक्तिरूपी नेत्रोंसे देखते रहते हैं ।'

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

रागादि बन्धन कबतक हैं ?

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३६)

सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर ! तभीतक राग-द्वेष आदि दोष चोरोंके समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभीतक घर और उसके सम्बन्धी कैदकी तरह सम्बन्धके बन्धनोंमें बाँध रखते हैं और तभीतक मोह पैरकी बेड़ियोंकी तरह जकड़े रखता है—जबतक जीव आपका नहीं हो जाता ।

* * *

वेदोंमें भक्तियोग

(लेखक—श्री ग० ना० बोधनकर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें भक्तियोग सबसे सहज और शीघ्रफलदायी साधन है । अन्य साधनोंमें शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक बलविशेषकी आवश्यकता होती है । अतः वे सर्वसाधारणके लिये कष्टसाध्य हैं । इतना ही नहीं, उनकी प्रक्रियाओंमें कुछ त्रुटि होनेसे वे विफल भी हो जाते हैं ।

भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) सगुण और (२) निर्गुण । सगुण भक्तिकी पूर्णावस्था या पराकाष्ठा निर्गुण-भक्तिका प्रवेशद्वार अथवा विशेषरूपमात्र कहा जा सकता है ।

ज्ञानका सम्बन्ध प्रधानतः बुद्धि और विवेकसे, कर्मका क्रिया और करणोंसे और भक्तिका हृदय और मनोवृत्तियोंसे होता है । भक्तिसे चित्तशुद्धि, वासनाक्षय, कर्तृत्वाभिमान-शून्यता और परमात्मामें सप्रेम तल्लीनता होती है । विशुद्ध मानव-हृदयका नाम वसुदेव है और यही वासुदेवका निवास-स्थान है । जब साधककी बुद्धि, मनोवृत्ति और वासनाकी शुद्धता, एकार्थता या एकरूपता हो जाती है, तब उसे इस वसुदेवमें वासुदेवकी अनुभूति होती है । उस महाभागवतको सारा विश्व वासुदेवमय प्रतीत होता है, और भगवान्‌की सत्ता तथा विभूतिका सर्वत्र अनुभव होने लगता है ।[1]

भगवत्प्राप्तिके साधनोंमेंसे जिस साधनके साथ साधकका साधर्म्य होता है, वह साधन उसके लिये सुकर, आनन्दप्रद और शीघ्रफलदायी होता है । भक्त अपने उपास्यके अमृतत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व, अनन्तशक्तिमत्त्व और सर्वव्यापित्वपर दृढ़ विश्वास रखता है और उसके प्रति निस्सीम तथा निष्काम प्रेम करता है । वह अपने उपास्यको ही अपना पिता, बन्धु, माता, त्राता, विधाता—अपना सर्वस्व मानता है और भगवत्प्रेम ही उसका जीवनोद्देश्य होता है । उसकी मनोवृत्तियाँ सदैव भगवल्लीन रहती हैं ।

भगवान् प्रेमरूप हैं । प्रेम ही मानव-हृदयका सर्वोत्कृष्ट भाव है । प्रेम ही मानव-हृदयको विशुद्ध करता है और साधकको भगवत्कृपाका पूर्ण अधिकारी बनाता है । भगवान् अपने भक्तसे केवल प्रेमकी ही अपेक्षा करते हैं और उसपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं । इस प्रकार भगवान् और भक्त परस्पर प्रेमी ('वेन') बन जाते हैं । साधक इस मार्गपर ज्यों-ज्यों अग्रसर होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसे अधिकाधिक विशुद्ध प्रेम और आनन्दका अनुभव होने लगता है और साधनाका परिमाण पर्याप्त होनेपर प्रातः-समीरणके सुखद शीतल स्पर्शसे खिलनेवाली कोमल कमल-कलिकाके सदृश भगवत्प्रेम-समीरके सुखद स्पर्शसे भक्त-हृदय-कंज प्रस्फुटित हो उठता है और तदवस्थित परम गोपनीय अव्यक्त-तत्त्व व्यक्त हो जाता है । भक्त-हृदयमें अविरत बहनेवाली उत्कट प्रेमधारा अमर्याद होती है और प्रेमानन्दकी वंशी बजाता हुआ भावोन्मादित भक्तप्रवर विश्वमें उन्मुक्त विचरण करता है ।

इस प्रकार नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा भक्तकी प्रेमशृङ्खलासे बँध जाता है । 'वंदी' की यह बद्धता वैसे ही स्वनिर्मित होती है, जैसे भक्तकी भगवान्‌के प्रति अनन्य शरणागति । फलतः न तो 'वंदा' इस 'वंदी' को अपने हृदय-पंजरसे निकलने देता है न 'वंदी' ही इस बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये आतुर होता है ।

मनुष्यकी भावनाएँ उत्कटताको प्राप्त होनेपर गान और संगीतके रूपमें प्रकट होती हैं । इसी प्रकार विशुद्ध प्रेमोद्रेक-सम्पन्न हृदयके भाव स्तवन-काव्योंके रूपमें व्यक्त होते हैं । आत्यन्तिक प्रेमके पीयूष-रससे सराबोर वैदिक कविका भावुक हृदय स्तवनोत्सुक हो सहज स्वभावसे गा उठता है ।

कविका निर्व्याज, स्वयंस्फूर्त, मनोमुग्धकारी; अलौकिक संगीत इसी भाव-वीणाका मधुर झंकार है; भावावेशित प्रेमी भक्तके हृदय-सिन्धुकी आनन्दोर्मियोंका सात्त्विक निनाद है; भगवान्‌की सत्ता, विभूति और सौन्दर्यका भक्त-मन-मुकुरस्थ मनोहर प्रतिबिम्ब है; और सुख तथा शान्तिके लिये अपने एकमात्र आधारसे याचना करनेवाले भक्तकी आर्त पुकार है । अनेक विद्वानोंका मत है कि स्तवनपरक ऋग्वेद-सूक्तोंका जन्म इसी दिव्य भावमें हुआ है ।

कुछ विद्वानोंका मत है कि 'भक्ति या भक्तियोगकी यह उच्च और प्रगल्भ कल्पना वैदिककालमें मूर्तस्वरूपको नहीं प्राप्त हुई थी । वैदिक सूक्तोंकी रचना प्रायः यज्ञ-सम्पादनार्थ ही की गयी थी और उनमें यज्ञ-देवतासे धन, पशु, पुत्र, यश, दीर्घायु, बल आदिकी याचना की गयी है । ऋग्वेदकालीन लोगोंमें येहोवाके भक्तोंके समान अपने आराध्यके प्रति दृढ़

---

[1] श्रीमद्भा० ४ । ३ । २३; श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १९ ।

विश्वास, आदर और भय नहीं था और उनकी की हुई प्रार्थनाएँ उतनी निस्स्वार्थ और भक्तिभावपूर्ण नहीं हैं। हिब्रू लोगोंके धार्मिक काव्यके समान उच्च कल्पनातरङ्गोंका अथवा निर्मल भक्तिका प्रगाढ़ उद्रेक ऋग्वेदमें दिखायी नहीं देता। उसी प्रकार ऋग्वेदकालमें पुनर्जन्मकी कल्पना प्रचलित न होनेसे जन्म-मरणके आवर्तोंसे छुटकारा पानेके लिये भयभीत भक्तकी आराध्यके प्रति आर्त-प्रार्थना भी इन स्तवनोंमें नहीं पायी जाती[2],' इत्यादि। परंतु हमारी अल्पमतिमें यह मत भ्रम-मूलक है।

अनेक विद्वानोंने वैदिक काव्य-रचनाको आदिम, असंस्कृत लोगोंके जातीय गीत या ग्रामीण रचनामात्र कहा है; किंतु वैदिक आर्योंका छन्द, अलङ्कार और भाषाविषयक ज्ञान और उनके कल्पनाकाशकी व्यापकता, विचार-प्रागल्भ्य, वर्ण्यविषयोंकी शुचिता और उदात्तता, सौन्दर्य-प्रेम, विश्व-निरीक्षण-बुद्धि, सदभिरुचि आदिका विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इनपर असभ्यताका दोषारोप करना सर्वथा असङ्गत और अनुचित है। गायत्री, अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ, पङ्क्ति, महापङ्क्ति, जगती, उष्णिक्, बृहती, द्विपदा, विराज्-जैसे छन्दोंका और अक्षर, मात्रा, लयका जिसमें कुशल प्रयोग किया गया है, भावोंका व्यक्तीकरण अत्यन्त ही सूत्ररूपेण करनेमें जो काव्यदृष्टिसे अद्वितीय है, जो काव्य अर्थगाम्भीर्य, कल्पना-प्राचुर्य, प्रतिभा, सरसता आदि दिव्य गुणोंसे समलंकृत है, उसे असंस्कृत ग्रामीणोंके जातीय या ग्रामीण निकृष्ट गीतमात्र कह देना अन्याय और बेसमझी है। इन्द्र-वायु-वरुण-अग्नि-उषासूक्तोंकी प्रतिभा, तालबद्धता तथा काव्योत्कृष्टता और उसी प्रकार अनेक यज्ञिय तथा शान्तिपरक सूक्तोंकी भक्त्युत्कटता स्पृहणीय हैं। सारे विश्वकी शान्ति और अखिल मानवसमाज-के कल्याण तथा विश्वधर्मकी परमोदात्त कल्पना करनेवाला हृदय साधारण कोटिका नहीं हो सकता और ऋग्वेद २। १। ३१४, ११-जैसे मन्त्रोंकी रचना नहीं कर सकता।

प्रायः सभी विद्वानोंकी मान्यता है कि भाषा और अर्थ-की दृष्टिसे वेद दुर्बोध हैं तथापि अनेक पाश्चात्त्य और भारतीय पण्डितोंने इस[3] क्षेत्रमें पर्याप्त गवेषणा की है। अधिकांश पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदोंके अर्थ सामान्य भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, मानववंशशास्त्र और तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्रके सिद्धान्तोंके सहारे ही लगाना पसंद किया; किंतु अनेक विद्वानोंने यास्क, सायणाचार्य आदि भारतीय टीकाकारोंके मतोंका भी विचार करना उचित समझा। अध्ययन-पद्धतिकी इस विभिन्नताके कारण वेदोंके अर्थ, वैदिकसूक्तनिर्माणके हेतु तथा वैदिक काव्यके वास्तविक स्वरूप आदिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद हैं। एक ओर ब्रुन्होफर-जैसे विद्वान्ने ऋग्वेदके एक उत्तरकालीन सूक्तरचनाकारको कवियोंका मुकुटमणि कहा है और वैदिक काव्यकी तुलना चंडोलके मनोमुग्धकारी प्रभात-गीतसे की है।[4] उसी प्रकार पाश्चात्त्य विद्वान् केगीका मत है कि 'वैदिक सूक्त-रचना मानवीय अन्तः-करणकी भक्तिभावनाके उत्कट उद्रेकका काव्यमय व्यक्तीकरण और शुद्धभावसे अर्पण किये हुए हविर्भागको सप्रेम स्वीकार करनेके लिये ऋषियोंद्वारा की गयी देवताओंकी प्रार्थनाका काव्यमय प्रकटीकरण है।[5]'

दूसरी ओर ओल्डेनबर्ग-जैसे विद्वान्का मत है कि वैदिक सूक्तोंके रचना-कालमें आर्योंके आध्यात्मिक ह्रासका प्रारम्भ हो चुका था। ऋग्वेदीय सूक्तोंका हेतु ईश्वरविषयक ज्ञान कराना नहीं था; उनका एकमात्र हेतु था—योगक्षेमार्थ देवताओंका स्तवन करना[6]। ह्विट्ने तो वेदोंको भारतीय मौलिक कृति ही नहीं मानते, अपितु इन्डो-जर्मानिक रचना मानते हैं। विंटरनीज़ तथा डॉ॰ केतकर-जैसे विद्वान् इन दोनों मतोंको अतिशयोक्तिपूर्ण बतलाते हैं; किंतु यह निर्विवाद है कि यज्ञियसूक्त और आप्रीसूक्तोंके अतिरिक्त ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनका हेतु केवल यज्ञ-सम्पादन नहीं था। (उदाहरणार्थ देखिये—इन्द्र-वायु-वरुण-अग्नि-उषा-सूक्त तथा अध्यात्म-संस्कार-दान-आख्यानविषयक सूक्त और कूटकाव्य-मय, मान्त्रिक तथा लौकिक सूक्त।)

ऐसी अवस्थामें 'वेदोंमें भक्तियोग'-जैसे विवादात्मक विषयका विवेचन करना धृष्टतामात्र है। तथापि यह स्पष्ट है कि अनेक वैदिक रचनाएँ, किसी भी दृष्टिकोणसे क्यों हों, भक्तिपूर्ण या स्तवनपरक हैं और भगवद्भक्तिप्रभावि

---

[2] महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, भाग २।

[3] उदाहरणार्थ लुडविग, मैक्समूलर, थिबो, हॉपकिन्स, केगी, ह्विट्ने, विल्सन, मैक्डोनल, विंटरनीज़, हिलेब्रान्ट, ओल्डेनबर्ग, पिशेल, गेल्डनेर, दयानन्दसरस्वती, लोकमान्य तिलक, रमेशचन्द्र-दत्त, तैलंग, ए॰ सी॰ बोस, राजेन्द्रलाल मित्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासा आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

[4] 'Uber Den Geist de Indischen Lyrik'

[5] Der Rigveda die Alteste Literatureder Inder

[6] Religion des Veda.

शुद्धान्तःकरणसे प्रवाहित हुई हैं, यद्यपि भागवत या भगवद्गीतामें वर्णित भक्तियोगका स्वरूप और वैदिक भक्तियोगका स्वरूप भिन्न है। यहाँपर वैदिक भक्तियोगकी रूपरेखा अतिसंक्षेपमें अङ्कित करनेका यत्न किया जायगा।

भक्त, भगवान् और भक्ति—ये तीनों परस्परावलम्बी हैं। किसी-न-किसी रूपमें भगवान्का अस्तित्व माने विना भक्तियोग सम्भव नहीं ? अतः हमलोग सर्वप्रथम वेदोंकी ईश्वरविषयक धारणापर विचार करें।

इस सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार[7] वेद एकेश्वरवाद (Monotheism) का प्रतिपादन करते हैं और कुछ विद्वानोंके मतसे अनेकदेवतावाद (Polytheism) का, जैसा कि मिश्र, बैबिलोनिया और यूनानी सभ्यताओंमें प्रचलित था[8]। विश्व-सौन्दर्य-मुग्ध-भावावेशित कविहृदयकी संवेदनाओंकी प्रतिक्रिया अनेकदेवतावादके रूपमें प्रकट होती है और यह व्यक्तीकरण काव्यमय तथा कल्पना-प्रचुर होता है। मैक्समूलर, ए०सी०घोस-जैसे विद्वानोंके मतानुसार वेद 'एकमें अनेक देवता और अनेकमें एक ही देवता'के सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। इस मतके अनुसार—

(१) प्रत्येक देवता तत्त्वतः या मूलतः अन्य देवताओंसे अभिन्न है।

(२) सभी देवता एक ही 'सत्' वा 'एकम्' से अभिन्न हैं।

(३) प्रत्येक देवता 'ऋतम्' और 'सत्यम्' की प्रतिमा, सौन्दर्य, नीति, विभूति, सद्गुण, ओज एवं तेजकी पराकाष्ठा और सुख तथा आनन्दका प्रतीक है।

तात्पर्य, सभी देवता एक ही देवता (एकम्) में संनिहित हैं और प्रत्येक देवता अन्य सभी देवताओंमें विद्यमान है—विश्वदेव है।[9] अन्यान्य देवता एक ही ईश्वरके भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंके प्रतीकमात्र हैं; किंतु वे न तो पुरुषदेहधारी हैं न स्त्रीवेषधारी। वे निराकार स्फूर्तियाँ (Formless Visions) मात्र हैं। एक ही परमात्माके नाम और रूप हैं।[10] अध्यात्मदृष्ट्या वेद एक ही सत्तत्त्व (Metaphysical essence) को मानते हैं,[11] किंतु इसका साङ्गोपाङ्ग तात्त्विक विवेचन उपनिषत्कालमें ही पाया जाता है। आगे चलकर अद्वैत वेदान्त-मतके प्रचारकोंने इसका अति सूक्ष्म और शास्त्रीय विवेचन करके इस 'सत्तत्त्व'को 'ब्रह्म' कहा है। वेदोंके मतानुसार सारा विश्व इस परमतत्त्वमें ही अवस्थित है। (**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**)। (यजु० ३२)

सामाजिक तथा सामुदायिक दृष्टिसे भी वेद उपर्युक्त 'एकमें अनेक और अनेकमें एक' के सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करते हैं। उनका कथन है कि चारों वर्ण एक ही 'पुरुष' से उत्पन्न हुए हैं। सभी मानवजातिका ईश्वर एक ही है। 'समदेश्य' और 'विदेश्य' का ईश्वर एक ही है। इतना ही नहीं, समस्त भूतोंका, पुण्यात्माओं तथा पापियोंका भी ईश्वर एक ही है।[12] वैदिक आर्य 'समदेश्य' से तो क्या 'विदेश्य' से भी घृणा नहीं करते। वे विश्वशान्ति और विश्वप्रेमके उपासक हैं और सदा मानव-समाजके क्षेम-कल्याणके लिये जगत्पितासे प्रार्थना करते हैं। यही उस परमोदात्त विश्वधर्म या मानवधर्मका बीज है, जिसने वैदिकधर्मको, वेदप्रतिपादित सनातन आदर्शोंको सहस्रों वर्षोंसे जीवित रखकर सारे संसारको आजतक स्तम्भित कर रखा है। यह विश्वप्रेम वा भूतदया प्रेमस्वरूपकी भक्ति या प्रेमका ही रूपान्तर है और यही मानवको विश्वकुटुम्बी, विश्वबन्धु और

---

[7] एकेश्वरवादी खिस्ती-धर्मानुसार ईश्वरके कुछ लक्षण ये हैं—(१) ईश्वर एक है; (२) वह पुरुषदेही है; (३) मानवजातिके लिये पितातुल्य है; (४) वह 'स्वर्ग' में निवास करता है; (५) वह वयस्कर (**Patriarch**) है; (६) वह जगत्पर शासन करता है; (७) मृत्युके बाद मनुष्यको सद्गति देता है; (८) तमोगुण (**Satan**) के साथ युद्ध करता है; (९) उसकी इच्छासे समस्त मानव चलते हैं, इत्यादि।

[8] **Polytheism** उभयलिङ्ग, विभिन्नरूपधारी, गुणावगुणयुक्त भिन्न-भिन्न देवताओंका अस्तित्व मानता है और वह भी इसी मर्त्य जगत्में। ईसाईधर्मके समान **Polytheism** स्वर्गलोककी स्थिति इस मृत्युलोकके बाहर किसी स्थानविशेषमें नहीं मानता।

[9] प्रसिद्ध जर्मन-पण्डित **Max Muller** ने इस मतको '**Henotheism**' (**the Cult of the One in Many and Many in One**) कहा है, जो **Semetic Monotheism** और बैबिलोनिया, मिस्र, यूनान तथा रोममें प्रचलित **Polytheism** से भिन्न है।

[10] ऋग्वेद ३।५४।१७; १०।८२।३; १।१६४।४६; १०।११४।५; २।१।११; ८।५८।२।

[11] ऋग्वेद १०।१२१।

[12] अथर्ववेद ४।१६।८; यजु० ३६।१८; ऋग्वेद ८।५१।९; ८।६५।७; ५।८५।७।

विश्वास, आदर और भय नहीं था और उनकी की हुई प्रार्थनाएँ उतनी निस्स्वार्थ और भक्तिभावपूर्ण नहीं हैं। हिब्रू लोगोंके धार्मिक काव्यके समान उच्च कल्पनातरङ्गोंका अथवा निर्मल भक्तिका प्रगाढ़ उद्रेक ऋग्वेदमें दिखायी नहीं देता। उसी प्रकार ऋग्वेदकालमें पुनर्जन्मकी कल्पना प्रचलित न होनेसे जन्म-मरणके आवर्तोंसे छुटकारा पानेके लिये भयभीत भक्तकी आराध्यके प्रति आर्त-प्रार्थना भी इन स्तवनोंमें नहीं पायी जाती[2],' इत्यादि। परंतु हमारी अल्पमतिमें यह मत भ्रममूलक है।

अनेक विद्वानोंने वैदिक काव्य-रचनाको आदिम, असंस्कृत लोगोंके जातीय गीत या ग्रामीण रचनामात्र कहा है; किंतु वैदिक आर्योंका छन्द, अलङ्कार और भाषाविषयक ज्ञान और उनके कल्पनाकाशकी व्यापकता, विचार-प्रागल्भ्य, वर्ण्यविषयोंकी शुचिता और उदात्तता, सौन्दर्य-प्रेम, विश्व-निरीक्षण-बुद्धि, सदभिरुचि आदिका विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इनपर असभ्यताका दोषारोप करना सर्वथा असङ्गत और अनुचित है। गायत्री, अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ, पङ्क्ति, महापङ्क्ति, जगती, उष्णिक्, बृहती, द्विपदा, विराज्-जैसे छन्दोंका और अक्षर, मात्रा, लयका जिसमें कुशल प्रयोग किया गया है, भावोंका व्यक्तीकरण अत्यन्त ही सूत्ररूपेण करनेमें जो काव्यदृष्टिसे अद्वितीय है, जो काव्य अर्थगाम्भीर्य, कल्पना-प्राचुर्य, प्रतिभा, सरसता आदि दिव्य गुणोंसे समलंकृत है, उसे असंस्कृत ग्रामीणोंके जातीय या ग्रामीण निकृष्ट गीतमात्र कह देना अन्याय और बेसमझी है। इन्द्र-वायु-वरुण-अग्नि-उषासूक्तोंकी प्रतिभा, तालबद्धता तथा काव्योत्कृष्टता और उसी प्रकार अनेक यज्ञिय तथा शान्तिपरक सूक्तोंकी भक्त्युत्कटता स्पृहणीय हैं। सारे विश्वकी शान्ति और अखिल मानवसमाजके कल्याण तथा विश्वधर्मकी परमोदात्त कल्पना करनेवाला हृदय साधारण कोटिका नहीं हो सकता और ऋग्वेद २। १। ३१४, ११-जैसे मन्त्रोंकी रचना नहीं कर सकता।

प्रायः सभी विद्वानोंकी मान्यता है कि भाषा और अर्थकी दृष्टिसे वेद दुर्बोध हैं तथापि अनेक पाश्चात्त्य और भारतीय पण्डितोंने इस[3] क्षेत्रमें पर्याप्त गवेषणा की है। अधिकांश पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदोंके अर्थ सामान्य भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, मानववंशशास्त्र और तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्रके सिद्धान्तोंके सहारे ही लगाना पसंद किया; किंतु अनेक विद्वानोंने यास्क, सायणाचार्य आदि भारतीय टीकाकारोंके मतोंका भी विचार करना उचित समझा। अध्ययन-पद्धतिकी इस विभिन्नताके कारण वेदोंके अर्थ, वैदिकसूक्तनिर्माणके हेतु तथा वैदिक काव्यके वास्तविक स्वरूप आदिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद हैं। एक ओर ब्रुन्होफर-जैसे विद्वान्ने ऋग्वेदके एक उत्तरकालीन सूक्तरचनाकारको कवियोंका मुकुटमणि कहा है और वैदिक काव्यकी तुलना चंडोलके मनोमुग्धकारी प्रभात-गीतसे की है।[4] उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् केगीका मत है कि 'वैदिक सूक्त-रचना मानवीय अन्तःकरणकी भक्तिभावनाके उत्कट उद्रेकका काव्यमय व्यक्तीकरण, और शुद्धभावसे अर्पण किये हुए हविर्भागको सप्रेम स्वीकार करनेके लिये ऋषियोंद्वारा की गयी देवताओंकी प्रार्थनाका काव्यमय प्रकटीकरण है।[5]'

दूसरी ओर ओल्डेनबर्ग-जैसे विद्वान्का मत है कि वैदिक सूक्तोंके रचना-कालमें आर्योंके आध्यात्मिक ह्रासका प्रारम्भ हो चुका था। ऋग्वेदीय सूक्तोंका हेतु ईश्वरविषयक ज्ञान कराना नहीं था; उनका एकमात्र हेतु था—योग-क्षेमार्थ देवताओंका स्तवन करना[6]। ह्विट्ने तो वेदोंको भारतीय मौलिक कृति ही नहीं मानते, अपितु इन्डो-जर्मानिक रचना मानते हैं। विंटरनीज़ तथा डॉ० केतकर-जैसे विद्वान् इन दोनों मतोंको अतिशयोक्तिपूर्ण बतलाते हैं; किंतु यह निर्विवाद है कि यज्ञियसूक्त और आप्रीसूक्तोंके अतिरिक्त ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनका हेतु केवल यज्ञ-सम्पादन नहीं था। (उदाहरणार्थ देखिये—इन्द्र-वायु-वरुण-अग्नि-उषा-सूक्त तथा अध्यात्म-संस्कार-दान-आख्यानविषयक सूक्त और कूटकाव्यमय; मान्त्रिक तथा लौकिक सूक्त।)

ऐसी अवस्थामें 'वेदोंमें भक्तियोग'-जैसे विवादात्मक विषयका विवेचन करना धृष्टतामात्र है। तथापि यह स्पष्ट कि अनेक वैदिक रचनाएँ, किसी भी दृष्टिकोणसे क्यों हों, भक्तिपूर्ण या स्तवनपरक हैं और भगवद्भक्तिप्रभावि

---

[2] महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, भाग २।

[3] उदाहरणार्थ लुडविग, मैक्समूलर, थिबो, हॉपकिन्स, केगी, ह्विट्ने, विल्सन, मैक्डोनल, विंटरनीज़, हिलेब्रान्ट, ओल्डेनबर्ग, पिशेल, गेल्डनेर, दयानन्दसरस्वती, लोकमान्य तिलक, रमेशचन्द्रदत्त, तैलंग, ए० सी० बोस, राजेन्द्रलाल मित्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासा आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

[4] 'Uber Den Geist de Indischen Lyrik'

[5] Der Rigveda die Alteste Literatureder Inder

[6] Religion des Veda.

शुद्धान्तःकरणसे प्रवाहित हुई हैं, यद्यपि भागवत या भगवद्गीतामें वर्णित भक्तियोगका स्वरूप और वैदिक भक्तियोगका स्वरूप भिन्न है। यहाँपर वैदिक भक्तियोगकी रूपरेखा अतिसंक्षेपमें अङ्कित करनेका यत्न किया जायगा।

भक्त, भगवान् और भक्ति—ये तीनों परस्परावलम्बी हैं। किसी-न-किसी रूपमें भगवान्‌का अस्तित्व माने विना भक्तियोग सम्भव नहीं ? अतः हमलोग सर्वप्रथम वेदोंकी ईश्वरविषयक धारणापर विचार करें।

इस सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार वेद एकेश्वरवाद (Monotheism) का प्रतिपादन करते हैं और कुछ विद्वानोंके मतसे अनेकदेवतावाद (Polytheism) का, जैसा कि मिश्र, बैबिलोनिया और यूनानी सभ्यताओंमें प्रचलित था[8]। विश्व-सौन्दर्य-मुग्ध-भावावेशित कविहृदयकी संवेदनाओंकी प्रतिक्रिया अनेकदेवतावादके रूपमें प्रकट होती है और यह व्यक्तीकरण काव्यमय तथा कल्पना-प्रचुर होता है। मैक्समूलर, ए०सी०घोस-जैसे विद्वानोंके मतानुसार वेद 'एकमें अनेक देवता और अनेकमें एक ही देवता'के सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। इस मतके अनुसार—

(१) प्रत्येक देवता तत्त्वतः या मूलतः अन्य देवताओंसे अभिन्न है।

(२) सभी देवता एक ही 'सत्' वा 'एकम्' से अभिन्न हैं।

(३) प्रत्येक देवता 'ऋतम्' और 'सत्यम्' की प्रतिमा, सौन्दर्य, नीति, विभूति, सद्गुण, ओज एवं तेजकी पराकाष्ठा और सुख तथा आनन्दका प्रतीक है।

तात्पर्य, सभी देवता एक ही देवता (एकम्) में संनिहित हैं और प्रत्येक देवता अन्य सभी देवताओंमें विद्यमान है—विश्वदेव है।[9] अन्यान्य देवता एक ही ईश्वरके भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंके प्रतीकमात्र हैं; किंतु वे न तो पुरुषदेहधारी हैं न स्त्रीवेषधारी। वे निराकार स्फूर्तियाँ (Formless Visions) मात्र हैं। एक ही परमात्माके नाम और रूप हैं।[10] अध्यात्मदृष्ट्या वेद एक ही सत्तत्त्व (Metaphysical essence) को मानते हैं,[11] किंतु इसका साङ्गोपाङ्ग तात्त्विक विवेचन उपनिषत्कालमें ही पाया जाता है। आगे चलकर अद्वैत वेदान्त-मतके प्रचारकोंने इसका अति सूक्ष्म और शास्त्रीय विवेचन करके इस 'सत्तत्त्व'को 'ब्रह्म' कहा है। वेदोंके मतानुसार सारा विश्व इस परमतत्त्वमें ही अवस्थित है। (**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**)। (यजु० ३२)

सामाजिक तथा सामुदायिक दृष्टिसे भी वेद उपर्युक्त 'एकमें अनेक और अनेकमें एक' के सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करते हैं। उनका कथन है कि चारों वर्ण एक ही 'पुरुष' से उत्पन्न हुए हैं। सभी मानवजातिका ईश्वर एक ही है। 'समदेश्य' और 'विदेश्य' का ईश्वर एक ही है। इतना ही नहीं, समस्त भूतोंका, पुण्यात्माओं तथा पापियोंका भी ईश्वर एक ही है।[12] वैदिक आर्य 'समदेश्य' से तो क्या 'विदेश्य' से भी घृणा नहीं करते। वे विश्वशान्ति और विश्वप्रेमके उपासक हैं और सदा मानव-समाजके क्षेम—कल्याणके लिये जगत्पितासे प्रार्थना करते हैं। यही उस परमोदात्त विश्वधर्म या मानवधर्मका बीज है, जिसने वैदिकधर्मको, वेदप्रतिपादित सनातन आदर्शोंको सहस्रों वर्षोंसे जीवित रखकर सारे संसारको आजतक स्तम्भित कर रखा है। यह विश्वप्रेम वा भूतदया प्रेमस्वरूपकी भक्ति या प्रेमका ही रूपान्तर है और यही मानवको विश्वकुटुम्बी, विश्वबन्धु और

---

[7] एकेश्वरवादी खिस्ती-धर्मानुसार ईश्वरके कुछ लक्षण ये हैं—(१) ईश्वर एक है; (२) वह पुरुषदेही है; (३) मानवजातिके लिये पितातुल्य है; (४) वह 'स्वर्ग' में निवास करता है; (५) वह वयस्कर (**Patriarch**) है; (६) वह जगत्पर शासन करता है; (७) मृत्युके बाद मनुष्यको सद्गति देता है; (८) तमोगुण (**Satan**) के साथ युद्ध करता है; (९) उसकी इच्छासे समस्त मानव चलते हैं, इत्यादि।

[8] **Polytheism** उभयलिङ्ग, विभिन्नरूपधारी, गुणावगुणयुक्त भिन्न-भिन्न देवताओंका अस्तित्व मानता है और वह भी इसी मर्त्य जगत्‌में। ईसाईधर्मके समान **Polytheism** स्वर्गलोककी स्थिति इस मृत्युलोकके बाहर किसी स्थानविशेषमें नहीं मानता।

[9] प्रसिद्ध जर्मन-पण्डित **Max Muller** ने इस मतको **'Henotheism' (the Cult of the One in Many and Many in One)** कहा है, जो **Semetic Monotheism** और बैबिलोनिया, मिस्र, यूनान तथा रोममें प्रचलित **Polytheism** से भिन्न है।

[10] ऋग्वेद ३।५४।१७; १०।८२।३; १।१६४।४६; १०।११४।५; २।१।११; ८।५८।२।

[11] ऋग्वेद १०।१२१।

[12] अथर्ववेद ४।१६।८; यजु० ३६।१८; ऋग्वेद ८।५१।९; ८।६५।७; ५।८५।७।

विश्वकल्याणकर्ता (सर्वभूतहिते रतः) बनाता है।

वेदानुसार ईश्वर धर्मस्वरूप है। अतः धर्माचरण करना ईश्वरसेवन करना ही है। आर्योंकी जीवनविषयक कल्पना धर्मसे सम्बद्ध है। धर्म ही पृथ्वीको धारण करता है।[१३] धर्म ही मानवका संरक्षक है और अधर्म उसका भक्षक। सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ—इन धर्मके छः अङ्गोंका पालन करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। धर्म ही श्रेय और प्रेयका एकमात्र साधन है। अतः व्यक्ति और समाजके लिये धर्मपालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वैदिककालमें सामाजिक ईश-प्रार्थनाकी प्रथा प्रचलित थी। परमात्मा मानवोंका 'अतिथि' है और उसका स्वागत करना मानवमात्रका कर्तव्य है। वैदिक ऋषि 'विश्वा' यानी सभी स्त्री-पुरुषोंको 'समेत' (एकत्र) होकर अर्चन करनेके लिये आदेश देता है; चारों वर्णोंके क्षेम—कल्याणके लिये परमात्मासे प्रार्थना करता है[१४] और सारे विश्वको 'आर्य' बनाना चाहता है। वैदिक आर्य मानवीय जीवनको वास्तविकताकी ही दृष्टिसे देखते थे। उनका विश्वास था कि जीवमात्रके लिये मृत्यु अनिवार्य है, किंतु आत्मा अजर-अमर है और धर्मानुष्ठान आत्मप्राप्तिके लिये अनुपेक्षणीय है। अतः यथाशक्ति धर्मपालन करते हुए भोग्य पदार्थोंका उचित प्रकारसे उपभोग करके आनन्दपूर्वक जीवन बिताना; विश्वरूपमें प्रकट परमात्माकी विभूति और सौन्दर्यका अधिक-से-अधिक अनुभव करना; व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, राजा, देश और जीवमात्रके प्रति अपने कर्तव्योंका समुचितरूपसे पालन करना; धैर्य और वीरताके साथ अज्ञान, तमोवृत्ति और संकटके साथ संग्राम करना; मृत्युका भय न करते हुए दीर्घजीवी होनेकी महत्त्वाकाङ्क्षा रखना इत्यादि उनके जीवनादर्श थे।

उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर ही हमें देखना होगा कि वेदोंमें भक्तियोग पाया जाता है या नहीं और यदि पाया जाता है, तो किस रूपमें ?

धार्मिकवृत्ति मानव स्वभावतः षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न भगवान्‌की सत्ताको मानता है और अपने कल्याणार्थ उसकी आराधना करता है। भागवतमें भागवतोत्तम, मध्यम और प्राकृत—ऐसे त्रिविध भक्तोंका वर्णन है। भगवद्गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीन प्रकारके भक्तों एवं भक्तिका वर्णन है। किंतु वेदोंमें इस प्रकारका तात्त्विक या दार्शनिक विवेचन नहीं पाया जाता, वरं उत्कट भक्ति-भावनासे युक्त हृदयकी भावनाओंका काव्यमय व्यक्तीकरण स्तवन-सूक्तोंके रूपमें पाया जाता है।

वेदोंकी ईश्वरविषयक धारणा अत्यन्त व्यापक, उदात्त और मानव-बुद्धिकी भावनाशक्तिकी पराकाष्ठा है। वेद एक विश्वव्यापी, स्वयम्भू, सृष्टिकर्ता, सर्वशक्तिमान्, सनातन, अजरामर, अखिलविभूतिसम्पन्न, सौन्दर्यराशि, आनन्द-स्वरूप सत्तत्त्वके अस्तित्वको मानते हैं और मानवजातिके कल्याणार्थ उसकी नाना प्रकारसे स्तुति करते हैं।[१५] वेदोंके मतसे परमात्मा सर्वशक्तियोंका दाता है; अमृत और मृत्यु उसकी छाया है।[१६] वह सृष्टिका धाता, विधाता, सर्वज्ञ, अनेक-नाम-रूपधारी, एकमात्र अद्वितीय तत्त्व है।[१७] सभी देवतागण एक ही हिरण्यगर्भके विभूतिविशेषके प्रतीक हैं। वे न स्त्रीदेहधारी हैं न पुरुषाकृति; न वे वस्त्राभूषणायुधधारी सगुण-साकार मूर्तियाँ ही हैं। अतः वेदोंमें उस प्रकारकी सगुण-भक्तिका उल्लेख या विवेचन मिलना बहुत कठिन है, जैसा कि पौराणिक तथा तदुत्तरकालीन भक्ति-साहित्यमें पाया जाता है। वेदोंमें परमात्माकी अपरम्पार विभूतिसे प्रभावित और उत्कट भक्तिभावावेशपूर्ण मानवहृदयका काव्यमय व्यक्तीकरण स्तवनसूक्तोंके रूपमें पाया जाता है।

देखिये ऐसी स्फूर्तिमान् काव्योक्तिका एक सुन्दर उदाहरण—

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥

---

[१३] अथर्ववेद १२।१।१७; महाभारत, कर्णपर्व ६९।५९; सामवेद १।४।३।३।

[१४] यजुर्वेद १८।४८; ऋ० ९।६३।५; १०।१९१। २–४; ८।६५।७ इत्यादि। ऋग्वेद ६।४७।११ में 'स्वस्ति नः' इत्यादि मन्त्रसे भी यही अर्थ ध्वनित होता है। सामाजिक स्तवनपरक सूक्तोंमें ध्रुवपद (अस्थाई) स्वरूप कुछ शब्दोंकी होनेवाली पुनरुक्ति विशेष प्रभावशाली होती है।

..वेदोंके शान्ति-सूक्तोंकी रचना आर्योंकी शान्तिप्रियताका पर्याप्त प्रमाण है।

[१५] ऋग्वेद १०।१२१।१; अथर्ववेद ४।२। यजु० १३।३।

[१६] ऋग्वेद १०।१२१।२।

[१७] सामवेद १।४।३।३; ऋग्वेद १०।८२। ऋग्वेद ३।५४।८।

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥

(ऋग्वेद ८ । ६९ । ८-९)

कितना उदात्त और सहृदय व्यक्तीकरण है प्रेम और श्रद्धाका ! भक्तकी उत्कट भक्तिभावना श्रवणमनोहर काव्य-गीतके रूपमें किस प्रकार प्रकट हो रही है !

भक्त अपने आराध्यको ही अपना पिता, बन्धु, त्राता, माता, धाता, सखा, मर्डिता, अभिख्याता, अविता, वेन, प्रेष्ठ, श्रेष्ठ, अपना सर्वस्व, एकमात्र आधार मानता है और उससे शर्म, वर्म, मूळा, स्वस्ति, प्रशस्ति, ऊति, शम, अवस्, सुमति, वेन आदिकी याचना करता है। इससे पाठक समझ जायँगे कि वैदिक ऋषि केवल धन, पशु, पुत्रादिकी ही याचना नहीं करते, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। वे सात्त्विक और दिव्य वस्तुओंकी भी याचना करते हैं। जो भक्त-कवि प्रजापतिको जगदुत्पत्तिकर्ता और जगत्स्थितिकर्ता,[18] एकमात्र विश्वव्यापी सत्तत्त्वके रूपमें देखता है, वह निर्गुण भक्तिके दिव्य मन्दिरका सम्मान्य पुजारी ही कहा जायगा। 'उशते' शब्द प्रेमका निदर्शक है।

परमात्मा शुचिव्रततम है। अतएव भक्त उसकी 'शुद्धेन साम्ना' प्रार्थना करता है[19]। देखिये भक्त-कविका शुद्ध सात्त्विक मनोभाव !

परमात्मा प्रेमस्वरूप, सत्तत्त्व, गुहानिहित और चराचरका एकमात्र 'नीड' है और सारे विश्वमें ओत-प्रोत (भरा हुआ) है। यजुर्वेदकी निम्नोक्ति संसारके किसी भी तत्त्वविद्की भगवत्स्वरूपसम्बन्धी उक्तिसे श्रेष्ठतर ही होगी—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदꣳ स च वि चैति सर्वꣳ
स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

(यजु० ३२ । ८)

यह मन्त्र स्वयं ही निम्नाङ्कित गहन तत्त्वोंका एक नीड है—

(१) सारे विश्वमें एक सत्तत्त्व ओत-प्रोत है।
(२) वह तत्त्व गुहानिहित है।
(३) वह प्रेमस्वरूप है।
(४) उसीमें सारा विश्व अवस्थित है।
(५) प्रेम ही जीवमात्रको एकत्र या संयुक्त करनेवाली दिव्य शक्ति है।
(६) उसी सत्तत्त्वसे विश्वकी उत्पत्ति होती है।
(७) उसी सत्तत्त्वमें सारा विश्व विलीन हो जाता है।
(८) वह विश्वका स्वामी (प्रजापति) है।

पाश्चात्त्य और आर्य तत्त्वविदोंमें भगवद्दर्शनके सम्बन्धमें जो प्रभेद है, उसका यहाँपर निर्देश करना आवश्यक है। पाश्चात्त्य तत्त्वविदोंकी दौड़ वहींतक जाती है जहाँतक कि मानव-बुद्धिकी पहुँच है। इम्मैनुएल कैंट-जैसा दार्शनिक भी परमात्माको 'बुद्धेः परः' अतएव 'अज्ञेय' कहकर स्तब्ध हो जाता है। एक आर्य तत्त्वज्ञ ही डंकेकी चोट कह सकता है कि अतीन्द्रिय परमात्माकी भी अनुभूति विशुद्ध मानव-हृदयको हो सकती है। वैदिक ऋषि कहता है—'अपश्यं गोपाम्' (ऋ० १ । १६४ । ३१); 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (यजु० वा० ३१ । १८); 'तं पाकेन मनसापश्यमन्तितः' (ऋ० १० । ११४ । ४)। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भागवतमें विशुद्ध मानव-हृदयको 'वसुदेव' कहा गया है। वही भगवान् वासुदेवका निवासस्थान है और जब वह पूर्णतया विशुद्ध हो जाता है, तब उसीमें भक्तको भगवान् वासुदेवका दर्शन होता है। भगवद्गीतामें भी यही भाव प्रदर्शित किया गया है। भगवद्भक्ति कदापि व्यर्थ नहीं होती।[20]

भगवद्भक्ति ही मानव-हृदयको पुनीत करती है और भगवत्सत्ता तथा भगवत्स्वरूपकी अनुभूति कराती है; भूतमात्रमें परमात्माकी प्रतीति कराती है और भक्तको भागवतोत्तम बना देती है।

कालान्तरसे उपनिषत्कालमें इस परमतत्त्वकी 'उपासना' पर विशेष जोर दिया गया और अद्वैतवेदान्तवादियोंने इसे अपरोक्षानुभूतिगम्य कहा है।

भगवान् प्रेमस्वरूप हैं; प्रेमसूत्रमें ही जीवमात्र मणिगणोंके समान ग्रथित होते हैं। प्रेमस्वरूप परमात्मा ही इस सूत्र-बद्धताकी आधार-भूमि हैं। अतः जीवमात्रपर दया और प्रेम करना ही परमात्माकी सेवा करना है।

परमात्मा परम दयालु है। वह नग्नोंको वस्त्र, रुग्णोंको

---

[18] ऋग्वेद १० । १२१ ।

[19] ऋग्वेद ८ । ९५ । ७; ८ । ४४ । २१; ६ । ४७ । ११ देखिये ।

[20] श्रीमद्भागवत ४ । ३ । २३; श्रीमद्भगवद्गीता ७ । २३; ९ । ३१ ।

भेषज, अन्धोंको दृष्टि और पङ्गुको चलन-सामर्थ्य प्रदान करता है।[२१] अतः नग्न, पङ्गु, रुग्ण एवं अन्ध--जैसे असहायोंकी अभावपूर्ति करनेसे परमात्मा संतुष्ट होता है और यही मानवोंका परम धर्म है। आचारधर्म भक्तियोगका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

वेदोंके मतानुसार मानव जन्मतः ईश्वरांश है, **'अमृतस्य पुत्राः'** हैं।[२२] अपनी ईशिता पहचानना और ईशसत्ताका सर्वत्र अनुभव करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। इस दृष्टिसे ईशसृष्टिमें मनुष्यका स्थान जैसे सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार उसका दायित्व भी गुरुतम है।

परमात्मा जैसे आनन्दरूप है, वैसे ही जीव भी है।[२३] सुतरां जीव आनन्दके लिये सदा लालायित रहता है। भक्तप्रवर विशुद्ध शाश्वत आनन्दके लिये भगवान्से याचना करता है। भक्तराज आनन्दस्वरूप परमात्माका अर्चन उसी विशुद्ध आनन्दभावसे करता है, जो परमानन्दका ही अंशभूत एवं उसकी प्राप्तिका साधन है। वैदिक कविके मनमें जब निर्मल आनन्दकी ऊर्मियाँ उमड़ने लगती हैं, तब उसी शुद्ध स्निग्ध सुरभि आनन्द-प्रसूनसे वह अपने आनन्दकन्दका अर्चन करता है और उसके सांनिध्यका अनुभव करता है। साधना पूर्ण होनेपर भक्तराज इस स्वानन्द-साम्राज्यका अधिपति हो जाता है। प्रायः सभी हिंदू दार्शनिकोंने इस आनन्दभावको विशेष महत्त्व दिया है।

परमात्मा ही भक्तका एकमात्र त्राता और रक्षक होता है। अतः भक्त उससे स्वस्तिकी याचना करता है।[२४]

संसारताप-संतप्त भक्तके लिये परमात्मा मरुभूमिस्थ शीतल 'सरि' (फव्वारे) के समान सुखदायी होता है। अतः भक्त उसकी अनुकम्पाके लिये प्रार्थना करता है।[२५]

जगत्पिता मानवमात्रपर वात्सल्य-भाव रखता है। फिर भक्त अपने परमपितासे और 'प्रियतमा' मातासे 'शर्म' के लिये याचना न करे तो और किससे करे ?

उसी प्रकार, जैसे विपद्ग्रस्त पुत्र अपने पितासे अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, वैसे ही दुखी मानव अपने दुःखपरिहारार्थ दीनवत्सल विश्वपितासे 'मूळा' की याचना करता है।[२६]

वैदिक कवि समय-समयपर प्रेम और वात्सल्यभावका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन करके अपने शुद्ध और कोमल हृदयका परिचय देता है। सरलस्वभाव सात्त्विक प्रेमकी प्रतिमा अज्ञ बालक कभी अपने पिताके वस्त्रको प्रेमसे पकड़ लेता है[२७], तो कभी अपनी माता (सरस्वती) के स्तनपानके लिये आतुर होता है।[२८] उषाका स्तवन करते हुए भक्त कहता है—**'स्याम मातुर्न सूनवः'** (ऋग्वेद ७।८१।४)।

इसी वात्सल्यभावका एक और सुन्दर चित्र देखिये। भगवान् अपने भक्तके पवित्र प्रेम-पीयूषसे ही पोषण प्राप्त करते हैं। मातृरूप भक्तके हृदयसे प्रवाहित होनेवाले पुष्टिकर प्रेम-पयसे ही (आराध्य) शिशुका, बालमुकुन्दका, भरण-पोषण होता है। वात्सल्यभावोद्रेकयुक्त माता (भक्त) और उसके 'शिशु' (भगवान्) के परस्पर चुम्बनका कवि कितना हृदयग्राही वर्णन करता है![२९] उसी 'वेन'का 'विप्र' (प्रेमी भक्त) प्रीतिसे चुम्बन करता है[३०], और उसी 'शिशु'को स्तवन अपना विषय बनाते हैं[३१]।

आगे चलकर प्रेमके द्वारा भगवदर्चन करनेकी यह कल्पना भक्ति-काव्यमें वात्सल्य-रसका अत्यन्त सुन्दर और हृदयोन्मादक स्वरूप धारण करती है, जिसका सूर-काव्य अमर स्मारक है।

भारतमें प्रायः सभी हिंदू संत-कवियोंकी भक्ति-भावनाका व्यक्तीकरण काव्यमय भाषामें या गानके रूपमें ही हुआ है। भक्त-हृदयकी प्रेम-भावना उत्कट होते ही पवित्र स्तवन-गीतके रूपमें प्रकट होने लगती है। इसीलिये अपने स्तवन-

---

[२१] ऋग्वेद ८।७९।२।

[२२] ऋग्वेद ८।८३।८; १०।१३।१; श्वेताश्वतरोपनिषद् २।५; अथर्व० ११।८।३२।

[२३] ऋग्वेद ८।४३।३१।

[२४] ऋग्वेद १०।३३।३; ६।४७।११; सामवेद ३३३; यजु० २०।५०; अथर्व० ७।९८।१।

[२५] ऋग्वेद १०।४।१।

[२६] ऋग्वेद ७।९५।५; ८।९८।११; १०।३३।३।

[२७] ऋग्वेद ३।५३।२।

[२८] ऋग्वेद १।१६४।४९।

[२९] ऋग्वेद १०।११४।४।

[३०] ऋग्वेद १०।१२३।१।

[३१] ऋग्वेद ९।८६।३१; ९।८५।११; १०।१२३।१।

गीत स्वीकार करनेके लिये भक्त भगवान्से प्रार्थना करता है।[३२]

भक्तके लिये भगवान्के व्यतिरिक्त कोई भी **'मर्डिता'** (सुखदायक) नहीं होता और भगवान्में ही उसकी सारी कामनाएँ पर्यवसित होती हैं।[३३] वैदिक शब्द 'उशिजः' प्रेम और अर्चनका ही द्योतक है।[३४]

अब देखिये भगवान्को एक प्रेमीके रूपमें। ऋग्वेद १।११७।१८; १।६६।४; ९।९६।२३ इत्यादि मन्त्रोंमें 'जार' शब्द 'प्रेमी'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है, न कि नीतिभ्रष्ट, परदारगामी या वेश्यारत नीच मनुष्यके अर्थमें। परमात्माको पूर्णपवित्र माननेवाला भक्त उसे भोगलिप्सु, नीतिभ्रष्ट, स्त्रीलम्पट वा कामी कहनेकी धृष्टता या मूर्खता कभी नहीं करेगा। ऋग्वेद १०।३०।५ में 'कल्याणी' शब्द शील, सौजन्य, सरलता और सौन्दर्यका निदर्शक है। (देखिये ऋ० ५।८०।६)।

यही भाव अन्यत्र भी बड़ी मार्मिकतासे व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार पत्नी अपने पतिको सप्रेम आलिङ्गन देती है, उसी प्रकार भक्तके स्तवन-गीत परमात्माका आलिङ्गन करते हैं।[३५] भगवान्को **'अनवद्या पति जुष्टेव नारी'** कहकर कविने इस प्रेम-सम्बन्धकी पवित्रता ही ध्वनित की है।[३६]

सच्चे प्रेमकी शक्ति अपार होती है। भक्त प्रेमके ही बलपर भगवान्को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।[३७] ऋग्वेद १।६६।५ में अग्निके विषयमें कवि कहता है—**जायेव योनावरं विश्वस्मै।**

परमात्माकी अनन्त विभूति और साध्वी पत्नीकी शील-विभूतिकी तुलना कितनी सार्थक और मार्मिक है।

आगे चलकर भारतीय भक्ति-काव्यमें भक्त-भगवान्का यह पवित्र प्रेम-सम्बन्ध पिता-पुत्र, जननी-शिशु, बन्धु-सखा, पति-पत्नी, प्रिया-प्रियकरके विशुद्ध प्रेम-सम्बन्धका स्वरूप धारण करता है। पूतमना व्रजाङ्गनाओंका निःस्वार्थ श्रीकृष्ण-प्रेम इसी प्रेमकी चरमसीमा है। वर्तमान-जैसे पतित कालमें भी अनेक संसार-ताप-संतप्त मानव इस सुखद भक्ति-काव्यके प्रेम-सलिलमें अवगाहन करके सुख और शान्तिका अनुभव कर रहे हैं।[३८]

भक्तके लिये भगवान् ही 'प्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठ' हैं। अतः उनसे भक्त 'वय' (जीवन) की याचना करता है।[३९] 'प्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठ' शब्द आदर और प्रेमके सूचक हैं। इसलिये यह कहना अयथार्थ है कि वैदिक आर्योंके मनमें देवताओं या भगवान्के प्रति विशेष प्रेम और आदर नहीं था। वेदोंमें ऐसे अनेक प्रतिमा, सद्गुण या विभूतिके निदर्शक शब्द हैं, जिन्हें 'तम' प्रत्यय लगाकर भगवान् या वैदिक देवताओंके गुणवर्णनमें व्यवहृत किया गया है।

अब सख्य-भक्तिका एक उदाहरण देखिये—

माकिर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि॥[४०]

भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे।[४१]

भक्त अपने सखासे सख्य और सहायताकी याचना करता है। अर्जुनकी सख्य-भक्ति इसी भावका एक सुन्दर उदाहरण है।

कभी-कभी भक्त अपने आराध्यको प्रियतम, अतिथि या मित्र कहकर उसके प्रति अपना परम स्नेह और आदर व्यक्त करता है—**प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।**[४२]

भगवान्को अतिथि कहकर कविने गृहस्थाश्रमधर्मके एक प्रधान अङ्गको सूचित किया है। भगवान् सारे मानव-समाजका सर्वश्रेष्ठ और परम पूज्य अतिथि तथा परम मित्र है। **विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।**[४३]

---

[३२] ऋग्वेद १।१०।१२; ८।३५।५।

[३३] ऋग्वेद १०।६४।२।

[३४] ऋग्वेद ९।८६।३०।

[३५] ऋग्वेद १०।४३।१।

[३६] ऋग्वेद १।७३।३; १०।३४।५; १।१२३।११।

[३७] ऋग्वेद १०।१४९।४।

[३८] कहा जाता है कि कबीर आदि हिंदी भक्त कवियोंकी रचनापर सूफी तत्त्वज्ञानका प्रभाव पड़ा है। किंतु ऊपर उद्धृत अवतरणोंसे स्पष्ट होगा कि इस भावनाका बीज सहस्रों वर्ष पूर्वकी वैदिक रचनाओंमें पाया जाता है।

[३९] ऋग्वेद १०।१५६।५।

[४०] ऋग्वेद १०।२३।७।

[४१] ऋग्वेद ८।१३।३।

[४२] ऋग्वेद ८।८४।१।

[४३] ऋग्वेद ४।१।२०।

कितनी विशाल, व्यापक और उदात्त है यह भावना ।

भक्त परमात्मासे ‘क्रतु’की याचना वैसे ही करता है जैसे पुत्र अपने विद्वान् पितासे । उसी प्रकार वह ‘धी’, मेधा, दक्ष, वर्चस् इत्यादि बौद्धिक सम्पदाके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है ।

परमात्मा ‘सविता’[४४] है, और ‘प्रसविता’[४५] भी । वैसे ही परमात्मा सौन्दर्यका[४६], ‘भद्र’का[४७] और ‘सत्य’-का[४८] ‘कंद’ है । अतः भक्त सत्य, सौन्दर्य और भद्र (Truth, Beauty and Goodness) के लिये सत्-सौन्दर्य-भद्र-निधान परमात्मासे प्रार्थना करता है ।

अन्यत्र कविकी स्तवनोक्ति है—**धियं जिन्वसवसे हूमहे वयम् ।**

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वैदिक आर्य मृत्युको एक अटल सत्य मानते थे । अतः वे जीवनका अधिक-से-अधिक सदुपयोग करके उसे आनन्दपूर्वक शान्तिसे बितानेका सदा यत्न करते थे । इसीलिये वे दीर्घजीवी और समृद्धिशाली होनेकी आकाङ्क्षा रखते थे ।[४९] **प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय’** (ऋग्वेद १० । १८ । ३)—नृत्य, हास्य, संगीत भी उनके जीवनके आवश्यक अङ्ग थे और उसे उन्नत बनाते थे । जीवन-संग्राममें जिन-जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियोंकी आवश्यकता होती है, उनकी प्राप्तिके लिये स्थान-स्थानपर प्रार्थनाएँ की गयी हैं—जैसे **‘चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे’**, **‘वात आ वातु भेषजं’**, **‘अजरासस्ते सख्ये स्याम’**, **‘बलं धेहि तनूषु नः’**, **‘वर्चो मे धेहि’** इत्यादि ।[५०] **इन** शक्तियोंके बिना ‘वृत्र’ वा ‘दस्यु’ पर विजय प्राप्त करना असम्भव है । अतः इनके लिये यदि भगवान्से प्रार्थना करें तो इसमें क्या दोष है !

आर्योंका विश्वास था कि भगवान् धर्मरूप है और धर्मरक्षामें सदैव सहायकारी होता है ।

भगवत्कृपा होनेपर भक्त पूर्णतया निर्भय हो जाता है, उसकी सारी संकुचितताएँ नष्ट हो जाती हैं और उसमें एक अद्भुत प्रकारका आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है ।[५१]

ऐसे लोगोंके लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे कर्मयोगके समर्थक हों और निद्रा, तन्द्रा, प्रमाद-जैसे दुर्गुणोंसे घृणा करें ।[५२] आर्योंके इस मतके साथ भगवद्गीतोक्त कर्मयोगके विवेचनकी तुलना करनेपर इन दोनोंमें विचित्र साम्य दिखायी देता है ।

वैदिक आर्य ‘क्रतु’ और ‘ऋत’को अपार मूल्यवान् समझते थे । उनका उपदेश है—

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्याद‍ृतस्य पथा नमसा विवासेत् । उत स्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात् ।[५३]

उनकी स्पष्टोक्ति है—

‘स्वस्ति पन्थामनुचरेम’[५४] ; **‘ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति’**[५५] ; **‘इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम पघ्नन्तो अराव्णः’**[५६] ; **‘ब्रह्म वर्म ममान्तरम्’**[५७] ; **‘शर्म वर्म ममान्तरम्’**; **‘प्रियः सुकृत् प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी’**[५८]—इत्यादि ।

स्मरण रहे कि ये प्रार्थनाएँ अधिकांश मानव-समाजके कल्याणके लिये सामुदायिक या सामूहिक स्वरूपकी हैं, न कि क्षुद्र व्यक्तिस्वार्थप्रेरित (यजु० वा० १८ । ४८) ।

आर्योंकी परोपकारकी भावना भी अत्यन्त व्यापक थी । देखिये परोपकारकी चरम सीमा—

---

४४. ऋग्वेद ५ । ८२ । ७ ।

४५. ऋग्वेद ४ । ५३ । ६ ।

४६. ऋग्वेद ५ । ८२ । ६; २ । १३ । ७ ।

४७. ऋग्वेद ५ । ८२ । ५; १ । १२३ । १३; १ । ८९ । २ ।

४८. ऋग्वेद ५ । ८२ । ७ ।

४९. अथर्ववेद १९ । ६०; १९ । ६७; ऋग्वेद ७ । ६६ । १६; १ । ७१ । १०; १० । १८६ । १ ।

५०. ऋग्वेद १० । ५३ । ८; यजु० (वा०) ३५ । १०; १९ । ९; अथर्व० १२ । २ । २६ ।

५१. ऋग्वेद १ । ११ । २ ।

५२. ऋग्वेद ८ । ४८ । १४; ८ । २ । १८; ४ । ३३ । ११; भगवद्गीता ५ । ७; ईशोपनिषद्—यजु० वा० ४० । १-२ ।

५३. ऋग्वेद १० । ३१ । २ ।

५४. ऋग्वेद ५ । ५१ । १५; १ । ९० । ६-८ ।

५५. ऋग्वेद ४ । २३ । ९ ।

५६. ऋग्वेद ९ । ६३ । ५ ।

५७. ऋग्वेद ६ । ७५ । १९ ।

५८. ऋग्वेद ४ । २५ । ५ ।

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ।[५९]

भगवान् मानवोंका सर्वश्रेष्ठ और पूज्यतम अतिथि है। वह सर्वगुहाशयस्थ—भूतमात्रमें अवस्थित है। अतः गृहस्थोंके लिये सभी प्राणी अतिथिस्वरूप हैं और उनकी यथाशक्ति सेवा करना गृहस्थका परमकर्तव्य है। वेदोंने स्पष्ट कह दिया है—**'केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋ० १०।११७।६)। भगवद्गीता भी इसी भावको इसी प्रकार व्यक्त करती है।

भगवच्छक्ति (सरस्वती) **'धियो विश्वा वि राजति'**[६०]। अतः भक्तकी प्रार्थना है—**'शं सरस्वतीसह धीभिरस्तु'**।[६१] अन्यत्र 'सरस्वती'को **'पावका'**[६२], **'चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां'**[६३], **'अम्बितमा देवितमा'**[६४] इत्यादि कहकर भक्त सुमति और प्रशस्तिकी याचना करता है।

सर्वैश्वर्यसम्पन्न भगवान् अपने भक्तोंके मनोवाञ्छित पूर्ण करता है।[६५] अतः भक्त अपनी कामनापूर्तिके लिये भगवान्की प्रार्थना करता है।

सीमितशक्ति मानव, देवकृत, मनुष्यकृत, पितृकृत और तो क्या, आत्मकृत भी, नाना प्रकारके ज्ञात और अज्ञात पापकर्म कर बैठता है; किंतु परमात्मा अपने शरणागतोंके समस्त पाप भस्म कर देते हैं। अतः आर्य ऋषि अपने पापक्षयार्थ भगवान्की प्रार्थना करता है—

'मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु ।
वधीर्मा शूर भूरिषु[६६] **॥**

स्वयं भगवान्के अभय-वचन हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[६७]

अब वेदोंमें गीतोक्त आत्मसमर्पणयोगकी झलक देखिये—

वयं वा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥[६८]

क्या भक्तकी अनन्यशरणागति और आत्मसमर्पणबुद्धिका व्यक्तीकरण और अधिक सुन्दर रीतिसे हो सकता है!

अब देखिये आराध्यके प्रति भक्तकी आत्मीय भावना—

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मसि ।[६]

कितना विश्वास और भरोसा है भगवान्पर! भक्त और भगवान्के ऐकात्म्यकी चरमावधि! दोनोंका वह दिव्य और अटूट स्नेहबन्धन! भक्तियोगकी परिसमाप्ति **'त्वमस्माकं तव स्मसि'** के अतिरिक्त और किसमें हो सकती है? भक्त भगवान्का है, और भगवान् भक्तका। जलबिन्दुके अथाह जलधिकी अपार जलराशिमें विलीन हो जानेपर द्वैत, भ्रम, मोह, अज्ञान, दुःख आदि सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही 'भागवतोत्तम' के निर्मल हृदयाकाशसे अन्तर्ध्वनि गूँज उठती है—**'त्वमस्माकं तव स्मसि'**—प्रभो! तुम ही मेरे सर्वस्व और मैं सर्वथा तुम्हारा!

अलौकिक भक्त और भगवान्की प्रेमलीला भी अलौकिक ही होती है। ऐसे भक्तका भगवान्पर रुष्ट होनेतकका अधिकार होता है, जैसा कि पिताके परम प्रिय पुत्रका अपने पुत्रवत्सल पितापर; किंतु वह रोष करता है केवल निर्मल शुद्ध प्रेमभावसे ही; छलपूर्वक नहीं। जिन गोपाङ्गनाओंने योगीन्द्रदुर्लभ श्रीयशोदानन्दकन्दको निस्सीम अहैतुकी भक्तिके बलसे अपने वश कर लिया था, वे यदि प्रेमातिरेकवश अपने इष्टपर रुष्ट होनेका आनन्दाभिनय प्रदर्शित करें तो क्या आश्चर्य। जिसने भगवान्को अपना सर्वस्व प्रदान कर दिया, क्या-वह कभी क्षुद्र स्वार्थके लिये अपने इष्टपर रुष्ट या क्रुद्ध हो सकता है? उसका क्रोधाविर्भाव केवल लीलामात्र होता है। उसमें न काम-क्रोधादिकी तनिक भी दुर्गन्ध होती है, न अहंकार या अभिमानका हलाहल। देखिये इष्टके प्रति प्रेमी भक्तकी धृष्टताका उदाहरण—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥[७०]

यह है सखा भक्तका अधिकार!

---

५९. ऋग्वेद १०।१३।४।

६०. ऋग्वेद १।३।१२।

६१. ऋग्वेद ७।३५।११।

६२. ऋग्वेद १।३०।१०।

६३. ऋग्वेद १।३।११।

६४. ऋग्वेद २।४१।१६।

६५. ऋग्वेद ८।४५।६।

६६. ऋग्वेद ८।४५।३४; यजु० (वा०) ८।१३।

६७. भगवद्गीता १८।६६

६८. ऋग्वेद ८।६६।१३।

६९. ऋग्वेद ८।९२।३२।

७०. ऋग्वेद ८।४४।२३।

क्या कोई भी भक्त ऐसे 'शतमघ' (अनन्त धनराशिके स्वामी) को कितनी भी बड़ी द्रव्यराशिके बदलेमें त्याग सकता है ! कदापि नहीं । उसे तो इष्ट प्राणात्प्रिय होता है । संसारकी किसी भी मूल्यवान् वस्तुसे उसकी तुलना कदापि नहीं हो सकती । भक्तकी स्पष्टोक्ति है—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥[७१]

ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरणोंके अतिरिक्त इस लेखके विषयसे सम्बद्ध और अनेक मन्त्र हैं, जो आर्योंकी भक्ति-विषयक भावनापर प्रकाश डालते हैं; किंतु स्थानाभावके कारण उन सबका विचार करना सम्भव नहीं । परंतु उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जायगा कि वेदोंमें भगवद्भक्ति-परक स्तवन सूक्तोंकी संख्या पर्याप्त है । उनमें कई मन्त्र सात्त्विक भक्तिके निदर्शक हैं और कई सूक्त राजस भक्तिके । इनके अतिरिक्त ऋग्वेदमें ऐसे भी सूक्त हैं, जो कुछ लोगोंके मतानुसार तामसभक्तिमूलक हैं । इन्हें आप्रीसूक्त कहते हैं, जिनका पशुयज्ञमें एक विशिष्ट प्रकारका उपयोग किया जाता था । क्षणभरके लिये इन्हें यदि तामसवृत्तिमूलक माना भी जाय तो इनकी संख्या इतनी अल्प है कि कविकुलशिरोमणि कालिदासके अमर शब्दोंमें यही कहना उचित होगा कि—

एको हि दोषो गुणसंनिपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।

ओल्डनबर्गने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'सामान्यतः वैदिक काव्यरचना सौन्दर्यप्रपूरित नहीं है । आर्यलोग केवल जातीय हित और वैयक्तिक स्वार्थकी बात ही जानते थे और इसी दृष्टिसे उन्होंने इन सूक्तोंकी रचना की है;' किंतु विंटरनीज़ने इस मतका उचित प्रतिपादन किया है।

ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरणोंके व्यतिरिक्त वेदोंमें ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा भगवद्विभूति-विषयक ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनकी गणना उत्कृष्ट काव्यमें सहज ही की जा सकती है; किंतु इस लेखके विषयसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होनेके कारण इसमें उनका विचार नहीं किया गया।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि उपनिषत्-कालमें और तत्पश्चात् जो दार्शनिक, धार्मिक या भक्तिविषयक साहित्य निर्माण हुआ, उसमें जिन अनुपम सिद्धान्तों या प्रमेयोंका विवेचन किया गया है और भक्ति-काव्यमें सगुण-भक्ति-विषयक जिन भावग्राही भावनाओंकी सौन्दर्यपूर्ण व्यञ्जना हुई है, उन सिद्धान्तों और भावनाओंके बीज सहस्रों वर्षों पूर्व निर्मित वैदिक साहित्यमें अवस्थित हैं। यद्यपि उनका व्यक्तीकरण एक विशेष प्रकारकी काव्यमय भाषामें विवक्षित पद्धतिसे (Symbolically) हुआ है।

कालान्तरसे इन सिद्धान्त-बीजोंने श्रेष्ठ सनातनधर्म-तत्त्वोंके सुविशाल न्यग्रोध-तरुओंका स्वरूप धारण किया, जिनकी सघन सुशीतल छायामें विश्राम करके आज भी अगणित आस्तिक मानव सुख और शान्तिका अनुभव कर रहे हैं। करुणामूर्ति दीनवत्सल प्रभुसे हमारी विनीत प्रार्थना है कि वे अपने कृपामृतसे इन तरुवरोंको सुदृढ़ और समृद्ध बनाते रहें और उनके पुनीत आश्रयसे हम सब विहित कर्म करते हुए पूरे सौ वर्ष जीयें और हमें सब ओरसे श्रेष्ठ फलवाले यज्ञ करनेका अवसर प्राप्त होता रहे—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।
(ऋ० १ । ८९ । १)

—को आचरित करें ।

* * *

शिवद्रोही रामभक्ति नहीं पा सकता

भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
संकरप्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥
(रामचरित० लङ्का०)

---

[७१] ऋग्वेद ८ । १ । ५ ।

अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४। ७)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

इसपर कितने ही भाई हमसे पूछा करते हैं कि 'जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् यदि अवतार लेते हैं तो इस समय तो धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि विशेषरूपसे हो रही है, फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? क्योंकि इस समय धर्म-पालन करनेवाले लोग संसारमें बहुत ही कम हैं; यदि कहीं कोई धर्म-पालन करता है तो वह आंशिकरूपसे ही करता है एवं यज्ञ, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, दुखी प्राणियोंकी सेवा, बड़ोंका आदर-सत्कार, शौचाचार-सदाचारका पालन आदि तो बहुत ही कम देखनेमें आते हैं और जो देखनेमें आते हैं, उनमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कहीं-कहीं तो शौचाचार-सदाचाररूप धर्मके नामपर दम्भ ही दृष्टिगोचर होता है। यह तो धर्म-हानिकी बात हुई। इसके सिवा, दूसरी ओर पापाचारकी विशेषरूपसे वृद्धि हो रही है। चोरी, झूठ, कपट, बेईमानी, घूसखोरी आदि दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं। चोर-बाजारी करना, इनकम टैक्स और सेल्स टैक्सकी चोरी करना, झूठे बहीखाते बनाना तो मामूली-सी बात हो रही है; इन सबको तो बहुत-से लोग पाप ही नहीं समझते। अंडे और मांस खाने तथा मदिरा पीनेसे शास्त्रोंमें बड़ा भारी पाप माना गया है; किंतु इनको भी बहुत-से लोग व्यवहारमें लाने लगे हैं। कोई औषधके नामपर, कोई होटलमें जाकर और कोई भोग-कामनाकी पूर्तिके लिये इनको व्यवहारमें लाने लगे हैं और उसमें पाप भी नहीं समझते। कई एक पुरुष तो परस्त्रीगमनको भी पाप नहीं मानते। उनमें कितने ही तो छिपकर और कितने ही प्रकटरूपमें यह दुराचार करते हैं। बहुत-से लोग सट्टा-फाटका और जुआ खेलते हैं, जिनके सम्बन्धमें शास्त्रकी घोषणा है कि ये देश और राष्ट्रके लिये महान् हानिकारक हैं। मांस और चमड़ेके लिये गौओंकी हिंसा बहुत अधिक मात्रामें हो रही है; क्योंकि चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें अत्यधिक परिमाणमें भेजा जाता है। मच्छर, खटमल और टिड्डी आदि क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसाको तो बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् क्यों नहीं अवतार लेते?'

इसके उत्तरमें हम यही कहते हैं कि भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—इसे तो भगवान् ही जानें; इसका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हममें नहीं है। फिर भी विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जब युगधर्मके अनुसार अधिक मात्रामें पाप बढ़ जाता है, तभी भगवान् अवतार लिया करते हैं। सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें तीन, द्वापरयुगमें दो और कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है (महा० वन० अ० १४९)। जब सत्ययुगमें धर्मका ह्रास होने लगा, तब भगवान्ने श्रीनृसिंह आदि रूपोंमें प्रकट हो हिरण्यकशिपु आदि दुष्टोंका संहार करके धर्मकी स्थापना की। त्रेतायुगके अन्तमें जब राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया, तब भगवान्ने श्रीराम-रूपमें प्रकट हो खर-दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसोंमेंसे, किसीका स्वयं वध करके और किसी-का दूसरेके द्वारा वध करवाकर धर्मकी स्थापना की, जिसके कारण आज भी संसारमें 'रामराज्य'की महिमा गायी जाती है। द्वापरयुगके अन्तमें जब दुष्टोंके द्वारा घोर अत्याचार होने लगा, तब भगवान्ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हो पूतना, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, कंस, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, जयद्रथ आदि दुष्टोंमेंसे, किन्हींका स्वयं संहार करके और किन्हींका दूसरोंके द्वारा संहार करवाकर तथा महाराज युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी स्थापना की।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जब-जब युगधर्मके लक्षणोंकी अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जाता है, तब भगवान् प्रायः युगके अन्तमें अवतार लेते हैं। जब सत्ययुगमें धर्म-पालनके चार चरणोंमें कमी आयी, त्रेतामें उसके तीन चरणोंमें कमी आ गयी और द्वापरयुगमें दो चरणोंमें भी कमी आ गयी, तब भगवान्को अवतार लेना पड़ा। अब कलियुगमें धर्मका एक ही चरण रह गया है,

इसका भी जब बिल्कुल ह्रास हो जायगा, तब कलियुगके अन्तमें भगवान् कल्किरूपमें अवतार लेंगे—ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है (देखिये स्कन्ध १२, अध्याय २, श्लोक १८)।

घोर कलियुगका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी । श्रुति बिरोध रत सब नर नारी ॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा । पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई । ता कहुँ संत कहइ सब कोई ॥
सोइ सयान जो परधन हारी । जो कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना । कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना ॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी । कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागा ॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं ॥

'कलियुगमें न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सभी स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले और राजा प्रजाका शोषण करनेवाले होते हैं। वेदकी आज्ञा कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको कलियुगमें सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है और हँसी-दिल्लगी करना जानता है, कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है। जो आचारहीन है और वेदमार्गको छोड़े हुए है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खाने योग्य और न खानेयोग्य) सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं।'

इस समय भी इस प्रकारके अधर्मका सूत्रपात तो होने लगा है, किंतु अभी धर्मका सर्वथा ह्रास नहीं हुआ है।

आजकल दम्भ और पाखण्ड बढ़ता जा रहा है। दम्भी लोग धर्मके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं। कई स्त्रियाँ भी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, योगी और ईश्वरकी शक्ति घोषित करती हैं तथा उनके अनुयायी लोग भी कहते हैं कि ये साक्षात् ईश्वरकी शक्ति हैं, ईश्वर इनमें प्रकट हुए हैं, ईश्वरने नारीके रूपमें अवतार लिया है। इस प्रकारका भ्रम फैलाकर वे स्त्रियाँ अपने मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके लिये अपनेको पुजवाती हैं तथा लोगोंकी धन-सम्पत्तिका अपहरण करती हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ और संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुष भी दम्भ-पाखण्ड करते हैं। कोई तो अपनेको योगिराज कहते हैं, कोई ज्ञानी-महात्मा नामसे अपनेको घोषित करते हैं। कोई-कोई अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष कहते हैं एवं कोई-कोई तो अपनेको ईश्वरका अवतार कहते हैं। यों कहकर वे अपने फोटो और पैरोंको पुजवाते, अपना नाम जपवाते और अपने उच्छिष्टको महाप्रसादके नामपर वितीर्ण करते हैं। इस प्रकार भोले-भाले पुरुषों और स्त्रियोंको धोखा देकर उनके सतीत्व और धन-सम्पत्तिका अपहरण करते हैं। जब यह दम्भ-पाखण्ड अतिमात्रामें बढ़ जाता है, धर्मका अत्यन्त ह्रास होकर पापोंकी वृद्धि हो जाती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। हमारी समझमें तो अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया है, इसलिये कोई दम्भी अपनेको अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष घोषित करे तो उसके भुलावेमें आकर अपने धर्म और धन-सम्पत्तिका नाश नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें ईश्वरके अवतारके स्वरूप, जन्म, उद्देश्य, प्रभाव, गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य, अलौकिक और अत्यन्त विलक्षण होते हैं। उनके श्रीविग्रहकी धातु चेतन होती है। उनका शरीर दीखनेमें मनुष्य-जैसा होनेपर भी अतिशय विलक्षण होता है; वह रोग-शोक-मोह और दोषोंसे रहित, अलौकिक एवं दिव्य होता है। उनका जन्म मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ 'अजोऽपि सन्' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं जन्म लेता-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें जन्म नहीं

लेता । श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि माता देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुजरूपमें ही प्रकट हुए थे। उनके उस अलौकिक रूपको देखकर माता देवकीने, कंस उन्हें तंग न करे इसलिये, उनसे यह प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ३०)

'विश्वात्मन् ! आपका यह रूप अलौकिक है । आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपने इस चतुर्भुज रूपको छिपा लीजिये ।'

तब भगवान्—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ।
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४७ का उत्तरार्ध)

'माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये ।'

भगवान्ने वहाँ वसुदेव-देवकीसे कहा कि 'मैंने आपको यह रूप इसलिये दिखलाया है कि आपको मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय । यदि मैं ईश्वररूपमें प्रकट न होता तो केवल मनुष्य-शरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती ।' एवं वहाँ भगवान्ने अपनेको यशोदाके यहाँ पहुँचानेके लिये वसुदेवजीको प्रेरणा भी की । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्का जन्म नहीं होता । दूसरी बात वहाँ यह भी दिखलायी गयी है कि भगवान्की योगशक्तिके प्रभावसे वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ियाँ खुल गयी, दरवाजे और ताले खुल गये, पहरेदारोंको निद्रा आ गयी तथा वसुदेवजीके श्रीकृष्णको लेकर गोकुल जाते समय यमुनाका बढ़ा हुआ जल अत्यन्त कम हो गया, यमुनाने उनके लिये मार्ग दे दिया एवं यशोदाको निद्रा आ गयी । जब वसुदेवजी श्रीकृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुलाकर उनके बदलेमें योगमायाको, जो वहाँ कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं, वहाँसे लेकर कारागारमें आ गये तब कारागारके फाटक और ताले अपने-आप बंद हो गये (श्रीमद्भा० १० । ३) । यह सब भगवान्का ही प्रभाव है । ऐसी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होती ।

'अव्ययात्मा अपि सन्' कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि मेरा विनाश होता-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें मेरा विनाश नहीं होता; क्योंकि मेरा स्वरूप अक्षय है । भगवान् श्रीकृष्ण जब परम धाममें पधारे, तब उस शरीरसे ही परम धाममें गये । श्रीमद्भागवतमें आया है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥
(११ । ३१ । ६)

'भगवान्का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है । इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्नि-देवता-सम्बन्धी योग-धारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये ।'

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें देखा जाता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया और पुनः प्रार्थना करनेपर उसे छिपा लिया। न तो विश्वरूपका जन्म हुआ और न विनाश हुआ, केवल आविर्भाव और तिरोभाव हुआ । अतः जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब प्रकट होते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं ।

इसी प्रकार ध्रुवजीको भगवान्ने चतुर्भुजरूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया और फिर अन्तर्हित हो गये (श्रीमद्भा० ४ । ९) ।

ऐसे ही भगवान् श्रीरामावतारमें माता कौसल्याके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए और फिर सशरीर परम धामको चले गये । श्रीवाल्मीकीय रामायणमें कहा गया है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥
(उत्तर० ११० । १२)

'ब्रह्माजीके वचन सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने कर्तव्य निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने विष्णुसम्बन्धी तेजमें प्रवेश किया ।'

इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्का स्वरूप अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता ।

तथा **'भूतानामीश्वरोऽपि सन्'** कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी मनुष्य-से दिखायी पड़ते हैं, किंतु वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं । अवतार-कालमें भगवान्ने जगह-जगह अपनी ईश्वरता दिखलायी है । जब ब्रह्माजीको मोह हो गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं या ईश्वर, तब वे भगवान्की परीक्षाके लिये उनके बछड़ों और ग्वाल-बालोंको चुराकर ले गये । उस समय उन बछड़ों और गोप-बालकोंके रूपमें स्वयं प्रकट होकर भगवान्ने अनेक रूप धारण कर लिये । फिर ब्रह्माजीका मोह दूर हो जानेपर उन

सब रूपोंका उपसंहार भी कर लिया (श्रीमद्भा० १० । १३) ।

जब अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले जा रहे थे, उस समय वे यमुनाके ह्रदमें स्नान करने गये तो वहाँ भगवान्ने उनको जलमें भी अपना स्वरूप दिखाया और रथपर भी वैसे ही स्वरूपका दर्शन कराया (श्रीमद्भा० १० । ३९ । ४१—४३) ।

श्रीरामावतारमें भगवान् रामने भी अनेक रूप धारण किया था—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी । किए सकल नर नारि बिसोकी ॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥

'उस समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले । रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकसे रहित कर दिया । भगवान् क्षणमात्रमें सबसे मिल लिये । परंतु हे उमा ! यह रहस्य किसीने नहीं जाना ।'

ये सब कार्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर हैं । इनको भगवान् ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।

—इस कथनका यह भाव है कि भगवान् प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं । यह भगवान्के जन्मकी विलक्षणता है । हमलोग संसारमें अपने पुण्य-पापोंके अनुसार प्रकृतिके पराधीन होकर जन्म लेते हैं और भगवान् स्वयं प्रकृतिको अधीन करके प्रकट होते हैं । उनके जन्ममें स्वतन्त्रता है और हमलोगोंके जन्ममें परतन्त्रता है । प्रकृति उनके वशमें रहती है और हमलोग प्रकृतिके वशमें रहते हैं । उनका शरीर दिव्य, चिन्मय, अलौकिक, पापों और दुर्गुणोंसे रहित, चिन्ता-शोक-जरा-मृत्यु और रोगसे मुक्त होता है और हमलोगोंके शरीर जड तथा पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त होते हैं । उनका प्राकट्य धर्म, ज्ञान, प्रेम, सदाचार, श्रद्धा, भक्तिके प्रचारके द्वारा संसारके उद्धारके उद्देश्यसे होता है; किंतु हमलोगोंका जन्म कर्मफल भोगनेके लिये होता है । अतः उनके और हमलोगोंके जन्ममें अत्यन्त अन्तर है । उनके जन्म, कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं । कहा भी है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ।'

भगवान्के जन्मकी दिव्यता तो ऊपर बतलायी जा चुकी, अब कर्मकी दिव्यता भी बतलायी जाती है । भगवान्के कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान, स्वार्थ, कामना, आसक्ति, ममता आदिका लेश भी नहीं रहता; उनके कर्म सर्वथा शुद्ध और केवल लोगोंका कल्याण करनेके लिये ही होते हैं । इसलिये वे कर्म भी शुद्ध हैं । गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(४ । १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है । इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(गीता ४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।'

भगवान्के भी कर्म अनुकरणीय तथा संसारको शिक्षा देनेके लिये ही होते हैं । उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल है । वे क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण हैं । इतने उच्चकोटिके महापुरुष होकर भी वे अपने भक्तोंका अपने समान अधिकार ही मानते हैं । एक तुच्छ मनुष्य भी यदि अपने-आपको और अपने सर्वस्वको भगवान्के अर्पण कर देता है तो भगवान् अपने आपको और अपने सर्वस्वको उसके अर्पण कर देते हैं । एक तुच्छ प्राणी भगवान्को चाहता है और स्मरण करता

है तो भगवान् भी उसे उसी प्रकार चाहते और स्मरण करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४ । ११)

'हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

यह है भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यता ! जो भगवान्‌के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जान जाता है, उसका भी कल्याण हो जाता है; फिर उनके आज्ञा-पालन और अनुकरणसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

भला बतलाइये, संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है, जो इस प्रकार भगवान्‌के समान बर्ताव कर सकता है। अपनेको भगवान् मनवानेवाले तो बहुत हैं, पर उनमें भगवान्‌के लक्षणोंमेंसे एक भी नहीं घटता। अतः सब लोगोंको सचेत हो जाना चाहिये कि जो अपनेको भगवान् मनवाते हैं, उनसे सदा दूर ही रहें।

इसी प्रकार जो अधिकारी (कारक) महापुरुष होते हैं, उनके जन्म-कर्म भी दिव्य—अलौकिक होते हैं। वे जन्मसे पूर्व ही मुक्त हुए रहते हैं, केवल संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌से अधिकार पाकर उनके परम धामसे आते हैं। उनमें दुर्गुण और दुराचारका अंश भी नहीं रहता और उनका शरीर भी अनामय (रोगरहित) होता है। संसारमें जितने भी अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए हैं, उनमेंसे किसीके कोई बीमारी हुई हो, यह बात ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलती; क्योंकि बीमारी तो पापोंसे होती है और भगवान् या अधिकारी (कारक) महापुरुष नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप होते हैं। वे महापुरुष भगवान्‌से अधिकार प्राप्त करके संसारके कल्याणके लिये संसारमें आते हैं, इसीलिये उनको अधिकारी पुरुष कहते हैं। उनमें गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हुए भक्तोंके लक्षण तो पहलेसे विद्यमान रहते ही हैं। उदाहरणके लिये श्रीवेदव्यासजी अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए। उनका अद्भुत प्रभाव था। उन्होंने जन्म लेते ही अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया और स्वतः ही अङ्गों और इतिहासोंके सहित वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया (महा० आदि० ६० । ३)। श्रीवेदव्यासजी जहाँ कहीं भी विशेष आवश्यकता समझते, वहीं बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते थे। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको एकचक्रा नगरीमें जानेसे पूर्व भी दर्शन दिया और वहाँ निवास करते हुए जब पाण्डव वहाँसे जानेका विचार करने लगे, तब पुनः दर्शन दिया और द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया (महा० आदि० १५४, १६८)। इसी प्रकार पाञ्चालनगरीमें राजा द्रुपदके यहाँ प्रकट होकर उनसे भी द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा एवं उसे दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंको उनके पूर्व शरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक रूपमें दिखला दिया (महा० आदि० १९६)।

इतना ही नहीं, आश्रमवासिकपर्वमें तो ऐसा वर्णन मिलता है कि वहाँ राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके सम्मुख श्रीवेदव्यासजी आये और जब गान्धारी और कुन्तीने अपने मृत पुत्रों तथा कुटुम्बियोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीवेदव्यासजीने उस अठारह अक्षौहिणी सेनाको संहारके सोलह वर्ष बाद भी आह्वान करके बुलाया और सबसे यथायोग्य मिलाकर एवं रातभर रखकर प्रातःकाल लौटा दिया। सोलह वर्ष पूर्व मरे हुए उन सब प्राणियोंके रूप, आकृति, अवस्था, वेष, ध्वजा और वाहन—ये सब वैसे-के-वैसे ही थे (महा० आश्रम० ३२)। इसी प्रकार राजा जनमेजयके प्रार्थना करनेपर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्‌को उसी रूप और अवस्थामें यज्ञमें बुला दिया (महा० आश्रम० ३५)। यह कितने आश्चर्यकी बात है ! क्या कोई मनुष्य इस प्रकार कर सकता है ? अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष मनवाना तो बहुत-से मनुष्य चाहते हैं पर उनके लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण उनमें नहीं घटता। दम्भीलोग अपनेको पुजवानेके लिये अपनेको भगवान् या भगवान्‌का भेजा हुआ महापुरुष बतलाकर लोगोंको धोखा देते हैं; अतः जो अपनेको अवतार, अधिकारी महापुरुष या ज्ञानी महात्मा कहें, उनके चंगुलमें कभी नहीं फँसना चाहिये, उनसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इस समय न तो कोई भगवान्‌का अवतार है और न कोई अधिकारी (कारक) महापुरुष ही भगवान्‌का अधिकार पाकर भगवान्‌के भेजे हुए यहाँ आये हैं। यदि ऐसा होता तो वर्तमानमें जो धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि हो रही है, वह कभी हो नहीं सकती थी; क्योंकि भगवान् और उन अधिकारी

(कारक) महापुरुषोंके तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन और सत्सङ्गसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है; फिर उनकी सेवा, आज्ञाका पालन और अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ।

इस समय तो महाराज युधिष्ठिर-जैसे महात्माओंका भी सम्पर्क दुर्लभ है, जिनके दर्शन और भाषणसे नहुष-जैसे महान् पापी भी पापसे मुक्त हो स्वर्गको चले गये (महा० वन० अ० १८१) । इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर बड़े ही प्रभावशाली पुरुष थे । उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते थे । वे जिस देशमें निवास करते थे, उस देशकी प्रजा धार्मिक बन जाती थी । उस देशमें धन, धान्य, गो-वंश, धर्म और सदाचारकी वृद्धि होती थी । महाराज युधिष्ठिरके प्रभावसे उस देशमें समयपर वर्षा होती, खेत हरे-भरे रहते और धर्मका प्रचार होता था । एवं उस देशके लोग दानशील, उदार, विनयी, लज्जाशील, मितभाषी, सत्यपरायण, शुभ कर्म करनेवाले, जितेन्द्रिय, निर्भय, संतुष्ट, पवित्र, हृष्ट-पुष्ट और कार्यकुशल तथा अभिमान, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंसे शून्य होते थे । वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अपने-अपने धर्मके अनुसार, यज्ञ, तप, दान, वेदाध्ययन आदि करते थे । सब अपने धर्मका पालन करते थे (महा० विराट० अ० २८) ।

अपनेको युधिष्ठिरके तुल्य बतलाना तो सहज है, पर उनके समान बनना साधारण बात नहीं है । युधिष्ठिर बहुत उच्च कोटिके धर्मात्मा पुरुष थे । उन्होंने बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना किया, किंतु अपने धर्मका त्याग नहीं किया । अतएव हमलोगोंको भी युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा बननेके लिये उनका अनुकरण करना चाहिये ।

जो पुरुष इस संसारमें अपने पुण्य-पापमय कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-जन्म लेनेके पश्चात् साधनके द्वारा इसी जन्ममें मुक्ति-लाभ करते हैं, उनमें भी गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक कहे हुए भगवत्प्राप्त भक्तोंके तथा १४ वें अध्यायके २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक कहे हुए गुणातीत ज्ञानीके लक्षण आ जाते हैं; किंतु उनके शरीर अनामय नहीं होते और न उनमें अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुषोंकी भाँति जहाँ-कहीं प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तियोंको बुलाकर प्रत्यक्ष मिला देना आदि अमानुषिक अलौकिक प्रभाव ही होता है । हाँ, मुक्त हो जानेके अनन्तर उनके कर्म, स्वभाव आदि शुद्ध हो जाते हैं; अतः उनके निष्कामभावसे सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरणसे मनुष्योंका उद्धार हो सकता है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद्‍ विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(गीता ४ । ३४)

'अर्जुन ! तू उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(गीता १३ । २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए भी, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं ।'

भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको भगवत्प्राप्त भक्तों तथा ज्ञानी महात्माओंके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरण आदिसे विशेष लाभ उठाना चाहिये ।

◆

धिक्कार

एक तो दियौ है तोहि मानुसको तन दूजे, उत्तम बरन तीजे उत्तम बरन-देह ।
तेहू पर परम कृपा करि कृपानिधान, कैरा बैरा बौरा गुंग बावरौ करौ न येह ॥
कहत 'किसोर' जोर अच्छर कौ आयौ, भयौ चातुर कहायौ पायौ प्रेम पथ निज गेह ।
धिक तोकौं अधम अभागे कृतहीन जोपै, ऐसे मैं न ऐसे दीनबंधु सौं लगायौ नेह ॥

◆

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यप्रोक्त प्रेमलक्षणा भक्ति

(लेखक—श्रीगोपालदासजी)

आचार्यचक्रचूड़ामणि अनन्तश्रीविभूषित भगवन्निम्बार्काचार्यद्वारा प्रणीत 'वेदान्तकामधेनु' अर्थात् 'दशश्लोकी' 'गागरमें सागर'की लोकोक्तिका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। भगवत्-प्राप्तिकी लालसा जगानेके लिये अवश्य-ज्ञातव्य 'अर्थ-पञ्चक'का इसमें बहुत ही सुन्दर, परिमित, असंदिग्ध गम्भीरार्थक शब्दोंमें वर्णन किया गया है। वेदके शिरोभाग (उपनिषदों) को वेदान्त कहते हैं। 'वेदान्तकामधेनु' इस अन्वर्थक नामसे यह सूचित होता है कि 'दशश्लोकी'में ग्रथित समस्त पदार्थ वेदान्तशास्त्र-निर्णीत हैं। 'भक्ति, भक्त, भगवन्त' इनमेंसे भजनीय (उपास्य) पदार्थका सूत्ररूपसे वर्णन श्रीनिम्बार्कभगवान्ने दशश्लोकीमें दो श्लोकोंद्वारा इस प्रकार किया है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥ १ ॥
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥ २ ॥

इस श्लोकयुग्मका सरल अर्थ यह है—

"हम श्रीकृष्णका ध्यान करें, जो 'कमलेक्षण' हैं—कमललोचन हैं (अर्थात् असमाभ्यधिक अखिल सौन्दर्य-माधुर्यके निधान हैं; एवं 'कमलेक्षण' शब्दसे सूचित नित्य सच्चिदानन्दविग्रह हैं; स्वरूपतः ही समस्त दोष-गन्धवातसे सदा अस्पृष्ट हैं (अर्थात् सत्त्व-रज-तम—इन प्राकृत गुणोंसे तथा उनके परिणामरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, तन्द्रा, भ्रम, प्रमाद, आलस्य, परिश्रम, खेद आदिसे अस्पृष्ट हैं)। जो स्वरूपतः ही समस्त कल्याण-गुणोंके एकमात्र निधि हैं, जो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—इस चतुर्मूर्त्तिव्यूहरूप अङ्गोंके अङ्गी हैं तथा अंश-कला-आवेश-विभव-विलासस्वरूप आदि विभिन्न समस्त अवतार-कदम्बके अवतारी हैं (अर्थात् इन सबसे श्रेष्ठ एवं इन सबके सेव्य हैं); जो परात्पर ब्रह्म हैं (अर्थात् जिनमें समस्त वेदादि शास्त्र समन्वित हैं, एवं शास्त्रयोनित्व, निमित्तोपादानोभयप्रकारक जगत्कारणत्व, सर्वेश्वरत्व, स्वाभाविकानन्तशक्तिमत्त्व, मुक्तोपसृप्यत्वादि समस्त ब्रह्मगुणोंके जो आश्रय हैं); जो सर्वशरण्य हैं तथा भक्तके दुरित, संसार-दुःख एवं चित्तके हरणशील (हरि) हैं ॥ १ ॥

"साथ ही उनके वामभागमें मूर्त्तिमत् प्रेमानन्दस्वरूपसे विराजमाना उनकी नित्य अनपायिनी, प्रद्योतमाना देवी 'श्रीवृषभानुजा'का हम निरन्तर स्मरण करें—(अकेले श्रीकृष्णका ध्यान न करें)—जो तत्तत्सेवासामग्री लेकर तत्तत्स्थानमें स्थित नित्य असंख्य सखियोंद्वारा परितः सेवित हैं तथा स्वभक्तोंकी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली हैं (अर्थात् जिनकी कृपा विना सखीभावात्मक श्रीवृन्दावन-निकुञ्ज-परिचर्याका अधिकार प्राप्त होना असम्भव है—यह भावार्थ है) और जो शक्ति, सौन्दर्य, गुण, शील, प्रेम, स्वाधीनपतिकात्व आदि समस्त गुणोंमें सब प्रकारसे श्रीकृष्णके अनुरूप हैं" ॥ २ ॥

इस सूत्ररूप वर्णनसे सम्यक् शास्त्रपरिचित व्यक्ति जान जायँगे कि भगवन्निम्बार्कोपदिष्ट युगलोपासना श्रीनिकुञ्जोपासना है।

किंतु वेदादिशास्त्रप्रमाणित होनेपर ही इस युगलोपासनाका शास्त्रीयत्व माना जा सकता है, अन्यथा इसका अनुपादेयत्व स्पष्ट ही है।

भगवद्भक्तिका मूलस्रोत कहाँसे और कबसे निकला, एतद्विषयक जिज्ञासापूर्तिके लिये वैदिक वाङ्मयकी ओर दौड़ना पड़ता है; क्योंकि वेदोंसे प्राचीनतर और कोई वाङ्मय मानवको उपलब्ध ही नहीं। वेदके ही कथनानुसार, अनादि परमात्मवाक्य एवं परमात्मनिःश्वसित होनेके कारण वेद पुरुषबुद्धिगत भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापटुता आदि दोषोंसे अस्पृष्ट है। उन अनाद्यनन्त नित्य सर्वज्ञ सर्वेश्वरका ज्ञान निःस्वार्थ, निर्भ्रान्त एवं यथार्थ है—अन्यथा उसके सर्वेश्वरत्व-सर्वज्ञत्व-सर्वभूतहितैषित्व-दयामयत्वादि गुणोंमें बाध आ जायगा। जो व्यक्ति वेदोक्त ईश्वरसत्ताको अङ्गीकार नहीं करते तथा चेतन ईश्वरकी प्रेरणा विना ही आत्मा आदि समस्त पदार्थोंको अचेतन प्रकृति ही जनती है, ऐसा मानते हैं, उनके मतमें असम्भव-दोष आता है। यदि कोई कहे—'उपला नृत्यन्ति' (पत्थर नृत्य करते हैं) तो चेतनकी प्रेरणा विना जैसे यह

उक्ति असम्भव-दोषसे ग्रस्त है (चेतनकी प्रेरणासे ही पत्थरोंका नाचना सम्भव है), उसी प्रकार सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वेश्वरकी प्रेरणा बिना केवल अचेतन प्रकृतिका क्रियाकारित्व असम्भव है । अतएव आत्म-परमात्मरूप द्विविध चैतन्य प्रकृतिजन्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि अचेतन प्रकृतिद्वारा किसी वस्तुका उत्पादन उसमें क्षोभ हुए बिना नहीं हो सकता और चेतन-प्रेरणा-निरपेक्ष अचेतन प्रकृतिमें अपने-आप क्षोभ मानना 'उपला नृत्यन्ति' इस वाक्यकी तरह उन्मत्तप्रलापवत् अर्थशून्य तथा हास्यास्पद है। पवन आदि जड भूतोंका प्रेरक यद्यपि नेत्रसे दीखता नहीं, तथापि उनमें वह व्यापक है। शरीरको चलानेवाला जैसे इन स्थूल नेत्रोंसे नहीं दीखता—किंतु वह उसमें है अवश्य—अन्यथा मृत शरीर भी पूर्ववत् दर्शन-स्पर्शनादि क्रियाकारी होना चाहिये, किंतु नहीं होता—उसी प्रकार वायु आदि जड तत्त्वोंका चलानेवाला चेतन भी उनमें विद्यमान है; क्योंकि कर्तृत्व-ज्ञातृत्वादि चेतनके ही असाधारण धर्म हैं । उक्त हेतुसे बाध्य होकर ईश्वर-सत्ताको अङ्गीकार करना ही पड़ता है, दूसरी गति नहीं । और ईश्वरसत्ताको अङ्गीकार करनेपर तत्स्वरूप गुण-शक्त्यादिका तथा निःश्रेयसका ज्ञापक तन्निःश्वसित वेद भी स्वतःप्रमाण निर्विवाद सिद्ध है ।

निर्विशेष-ब्रह्मवादियोंकी प्रक्रियाके अनुसार तादृश ब्रह्मके सम्पर्कसे भी क्यों न हो, अचेतन त्रिगुण मायामें जगत्कर्तृत्वावश्यक ज्ञातृत्व-कर्तृत्वादि धर्मोंका आना असम्भव है—अन्यथा चेतन मनुष्यके स्पर्शमात्रसे घड़ेमें ज्ञातृत्वादि धर्म आने चाहिये; अग्नितप्त लौहपिण्डके दृष्टान्तसे भी उनकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती । अग्नितप्त लौहपिण्डमें जो दाहकत्व-धर्म आता है, वह भी लौह-पिण्डका नहीं—उसमें प्रविष्ट अग्निका धर्म है । उसी प्रकार 'निर्विशेष' के मायामें प्रतिबिम्बित होनेकी बात भी, शून्यके प्रतिबिम्बनकी कथाकी भाँति, असम्भव उक्तिमात्र है ।

अतः 'स ऐक्षत' इत्यादि श्रुतिप्रोक्त ईक्षणकर्तृत्वादि धर्म स्वरूपतः स्वाभाविकानन्तशक्तिमान् परब्रह्मके हैं, त्रिगुण माया चेतन यन्त्रीके हाथका यन्त्र है—यही मानना श्रुति-सूत्र-गीताके अविरुद्ध है । अतएव भोक्ता-भोग्य-प्रेरिता—यह त्रिविध भेद अवास्तव नहीं । इसी कारणसे भक्त-भक्ति-भगवन्त—यह त्रिधा परिच्छेद नित्य है ।

अब इस निबन्धके मुख्य विषयका अनुसरण करते हैं ।

'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'उरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि', 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।'

'न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमन्तमाप । सहस्रधा महिमानः सहस्रः ।'

'यज्ञो वै विष्णुः', 'विष्णुः सर्वा देवताः', 'विष्णुर्वै देवानामवमः'

—इत्यादि वेदवाक्योंसे अवगत होता है कि पुरुष-ब्रह्म-सदादिशब्दवाच्य असमाभ्यधिक एक 'विष्णु' ही वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य है—समस्त वेदादिशास्त्र विष्णुपारम्यपरक हैं । **वासुदेवपरा वेदाः**—यह श्रीभागवतोक्ति भी इसी अर्थको दृढ़ करती है । श्रीगीतावक्ताका भी वचन है—**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** । महाभारतके उपसंहारमें भी—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आद्यावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

—यही कहा है । उसीमें यह श्लोक भी मिलता है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि ………………… ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

स्मृतिकार भी अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मके अनन्तर उन्हें **'एतत्कर्म विष्णवे समर्प्य'** कहकर विष्णवर्पण करते हैं तथा—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

—यों कहकर कर्म-विषयक त्रुटिकी पूर्णताके लिये विष्णुको नमस्कार करते हैं । अक्षरोंमें 'अकार' 'विष्णुवाचक' है—

अक्षराणामकारोऽस्मि । (गीता)

प्रणव (ओंकार) भी विष्णुवाचक है । वेदमाता गायत्री भी विष्णुपरक है । सारांश शास्त्रयोनि एक विष्ण्वाख्य परब्रह्म ही है, यह वेदों एवं तदनुगामिशास्त्रोंका निर्णय है । एवं परब्रह्म-वाचक विष्णु, नारायण, पुरुष, पुरुषोत्तम, हरि आदि शब्दोंके लक्ष्य भी श्रीकृष्ण ही हैं । ये सब परब्रह्मके पर्यायवाचक नाम हैं । जैसे महाप्रमाणभूत महाभारतमें—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

गीतामें—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।

तथा—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् ।

श्रीभागवतमें—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

अर्थात् ये सर्वात्मा श्रीकृष्ण अपनी सत्यसंकल्परूप मायासे अन्यान्य पुरुषोंकी भाँति देहवान्-जैसे प्रतीत होते हैं—वस्तुतः श्रीकृष्णविग्रहमें देह-देहि-विभाग नहीं है । वे ही देही और वे ही देह हैं । इसीलिये इनको सच्चिदानन्द-विग्रह कहते हैं । अवतार-कार्यकी समाप्तिके अनन्तर योगाग्नि-से आवृत उनका विग्रह अन्तर्धान हुआ है ।

श्रीगोपालतापिनीमें—

कः परमो देवः, कुतो मृत्युर्बिभेति, कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति, केनेदं संसरति—

इन प्रश्नोंके उत्तरमें ब्रह्माजी सनकादिकोंसे कहते हैं—

कृष्णो ह वै परमं दैवतम्, गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति, गोपीजनवल्लभज्ञानेन तज्ज्ञातं भवति, स्वाहयेदं संसरतीति ।

‘तस्मात्कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेदित्यों तत् सदिति ।’

महाभारतके अन्तर्गत विष्णुसहस्रनाममें—

जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ।

गीतामें अर्जुन—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः ।

—इत्यादि प्रमाणोंसे विष्ण्वादि शब्दोंके वाच्य एक ‘श्रीकृष्ण’ ही सर्वसेव्य परात्पर ब्रह्म हैं, यह सिद्ध होता है । तथापि अपनी-अपनी श्रद्धा-रुचिके अनुसार किसी भी भगवद्रूपको (अर्थात् स्वरूपावतारको) भजनेमें किसी प्रकारका शास्त्रविरोध नहीं है ।

गीताका **‘मत्तः परतरं नान्यत्’** और श्रीभागवतका **‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’**—ये दोनों वाक्य एकार्थक हैं । सभी आस्तिक गीताको सर्वशास्त्रमयी और श्रीभागवतको श्रीकृष्णकी वाङ्मय मूर्ति मानते हैं । इससे **‘कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने’** यही सिद्ध होता है; अतएव प्रोक्तलक्षण श्रीकृष्णसे परे **‘निर्विशेष, निर्धर्मक ब्रह्म’** नामकी कोई वस्तु ही नहीं, इस निर्णयको बाध्य होकर मानना पड़ता है ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

क्या किसी भी कोशमें ‘स्वाभाविकी’ पदका कल्पित, अध्यस्त, व्यावहारिक अथवा अपारमार्थिक—यह अर्थ किया गया है ? यदि नहीं तो ब्रह्मकी शक्तियाँ वितथ नहीं । अमरकोशमें ‘स्वभाव’का पर्याय ‘स्वरूप’ बतलाया गया है ।

एवं—

‘एष सर्वेश्वरः, एष भूताधिपतिः,’ ‘स ऐक्षत,’ ‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’, ‘सच्च त्यच्चाभवत् यदिदं किंच’, ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’, ‘एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’, ‘साक्षी चेता,’ ‘अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा,’ ‘स वेत्ति वेद्यम्’, ‘सर्वकर्मा, सर्वगन्धः सर्वरसः’, ‘यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥’, ‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्’ ।

—इत्यादि श्रुतियाँ, तथा—**‘अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्’, ‘सर्वधर्मोपपत्तेश्च’, ‘सर्वोपेता च तद्दर्शनात्’, ‘विवक्षितगुणोपपत्तेश्च’**

—इत्यादि वेदान्तसूत्र परब्रह्मको स्वरूपसे ही सधर्मक, सविशेष बता रहे हैं । इसलिये उदाहृत श्रुतियोंमें वर्णित स्वाभाविकशक्तिमत्त्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसाक्षित्व, अन्तर्यामित्व, सर्वेश्वरत्व, ईक्षितृत्व, जगत्कर्तृत्व, जगदभिन्ननिमित्तोपादान-कारणत्व आदि ब्रह्म-गुण स्वाभाविक मानने पड़ेंगे ।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह, अप्राकृत भगवद्धाम तथा भगवल्लीलापरिकर आदि भी नित्य हैं । इनकी नित्यताके पर्याप्त प्रमाण वैदिक वाङ्मयमें मिलते हैं ।

वेदमें ब्रह्मलोक, विष्णुपद, परमपद, परमव्योम, त्रिपाद्विभूति, ब्रह्मपुर, परमधाम आदि शब्दोंसे अप्राकृत धामका निर्देश किया गया है । जैसे—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । (ऋग्वेद)

योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । (ऋग्वेद)

त्रिपादस्यामृतं दिवि । (पुरुषसूक्त)

या ते धामान्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि ॥
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।
(पुरुषसूक्त)

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
(मुण्डकोप०)

अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि। (छान्दोग्य)

तथा भगवद्विग्रहका जैसे—

तमेतं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम् । (गोपालतापिनी)

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
(मुण्डकोप०)

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। (मुण्डकोप०)

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः । (बृहदारण्यक)

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रयम् ।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥
(गोपालतापिनी)

ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा ।
(गोपालोत्तरतापिनी)

—इत्यादि प्रमाणोंसे भगवद्विग्रह, धाम, परिकर, लीलादि नित्य हैं, यह सिद्ध होता है और वही भक्तोंका परमप्राप्य है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

'विशते तदनन्तरम्'

—इत्यादिसे इसीका संकेत किया है । इतिहास-पुराण-पञ्चरात्रादिमें तो एतद्विषयक प्रमाण भरे पड़े हैं। विस्तार-भयसे यहाँ केवल कतिपय मौलिक प्रमाणोंका ही उल्लेख किया गया है।

'स्वभावतो०' इस श्लोकमें श्रीकृष्णके 'अपास्तसमस्तदोष' और 'अशेषकल्याणगुणैकराशि' ये दो विशेषण दिये गये हैं । वहाँ संक्षेपमें दोषोंका निर्देश सरलार्थमें कर दिया गया है। कल्याणगुणोंका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। ऐश्वर्य-माधुर्य-भेदसे कल्याणगुण दो प्रकारके हैं । उनमें ऐश्वर्यगुण ये हैं—

जगत्कारणत्व, शास्त्रयोनित्व, मोक्षप्रदत्व, सर्वकर्मफलप्रदत्व, निस्समनातिशय महत्त्व, ईश्वरेश्वरत्व, सर्वव्यापित्व, सर्वनियन्तृत्व, स्वतन्त्रसत्तावत्व, विश्वाधारत्व, अनन्ताचिन्त्यस्वाभाविकसर्वशक्तिमत्व, ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-तेज-वीर्य आदिसे युक्त परिपूर्णतम भगवत्त्व, सर्वशरण्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसाक्षित्व इत्यादि । माधुर्यगुण (भगवान्‌में प्रीति उत्पन्न करनेवाले) ये हैं—वात्सल्य, सौशील्य, सौहार्द, सौलभ्य, स्वामित्व, कारुण्य, मार्दव, कृतज्ञत्व, सत्यप्रतिज्ञत्व, भक्तभक्तिमत्त्व, सेवानपेक्षित्व, आप्तकामत्व, औदार्य, आर्जव, योषित्कमनीयत्व, नित्यकैशोर, हठात् चित्ताकर्षकत्व, सर्वशुभलक्षणत्व, वाक्पटुत्व, अप्रतिमप्रतिभावत्व, असमोर्ध्वसौन्दर्य, सौकुमार्य, कौशल, अखिलसेव्यत्व, उत्तमश्लोकत्व, अक्षोभता, धैर्य, सहायानपेक्षिता, शौर्य, परम स्वातन्त्र्य, विनयशीलता, रसस्वरूपत्व, रसिकत्व इत्यादि। उक्त सभी गुण श्रीकृष्णभगवान्‌में अनपायी (नित्य)हैं, जो प्रसङ्गानुसार प्रकट होते हैं। श्लोकोक्त 'वरेण्य' शब्द श्रीकृष्णका गायत्रीमन्त्रप्रतिपाद्यत्व सूचित करता है। 'ध्यायेम' शब्दसे भगवत्साक्षात्कारका असाधारण कारण 'निदिध्यासन' विवक्षित है।

किंतु श्रीकृष्णभगवान्‌के भी शास्त्रमें दो रूप सुने जाते हैं—द्विभुज और चतुर्भुज । 'स्वभावतो०' इस श्लोकमें श्रीकृष्णका द्विभुजरूपमें ध्यान विवक्षित है अथवा चतुर्भुजरूपमें ? इस शङ्काका समाधान अनन्तर पठित 'अङ्गे तु वामे०' इस लोकके 'तु' शब्दसे किया गया है। अर्थात् जिनके वामाङ्गमें वृषभानुजा सदा विराजमान हैं, उन्हीं पूर्वोक्त व्यूहाङ्गी श्रीकृष्णका हम ध्यान करते हैं। 'तु' शब्द यहाँ अन्यान्य भगवत्पत्नियोंका व्यवच्छेदक 'एव' अर्थमें प्रयुक्त जानना चाहिये। अन्यथा 'तु' शब्दका कोई स्वारस्य ही नहीं रहता।

द्वितीय श्लोकमें 'वृषभानुजा' पदसे श्रीराधाका निर्देश किया गया है। 'मुदा' शब्दसे परमप्रेमानन्दरूप प्रमोद विवक्षित है। इससे उनका स्वाधीनपतिकात्व भी सूचित होता है। पतिका वशवर्त्ती होना ही अर्धाङ्गिनीके परमानन्दका हेतु होता है, यह बात लोकप्रसिद्ध है । 'अनुरूपसौभगाम्' का 'श्रीकृष्णके सर्वथा अनुरूप है सौभाग्य जिनका' यह अर्थ है। सारांश, श्रीकृष्णके तुल्य ही जिनकी 'भगवत्ता' है, वे ही 'अनुरूपसौभगा'; क्योंकि विशेषतः इस युगल-उपासनामें दोनों स्वरूपोंकी मूल भगवत्स्वरूपता, परस्पराभिन्नता, सर्वांशमें तुल्यता, सच्चिदानन्दविग्रहता, परब्रह्मता शास्त्रमें गायी गयी है। एतद्विषयक कतिपय शास्त्रीय प्रमाणोंका नीचे उल्लेख किया जाता है।

प्रथम श्रीराधा-कृष्ण नामका वेदसंहितामें उल्लेख होनेके उदाहरण दिये जाते हैं—

कृष्णं त एम रुशतः पुरो ।
भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्

यत्प्रवीता कृधते ह गर्भ
सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥
(ऋ० ४ । ७ । ९)

इस मन्त्रमें श्रीकृष्णभगवान्‌का देवकी माताके गर्भसे प्रकट होना वर्णित है ।

अयं वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू ।
माध्वः सोमस्य पीतये ॥

शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नराः । माध्वः सोमस्य पीतये ॥
(ऋक्-सं० ८ । ८५ । ३)

इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते । पिबा त्वस्य गिर्वणः ॥
(ऋक्-सं० ३ । ५१ । १०)

स्तोत्रं राधानां पते गीर्वाहो वीर यस्य ते । विभूतिरस्तु सूनृता ॥
(सामसंहिता २ । २ । ८ । १)

दोनोंकी परस्पर अभिन्नता (एकता) के प्रमाण—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः ।.........'सहैतावानास । यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् । ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् ॥
(बृ० उप० पुरुषविधब्राह्मण)

यहाँ 'पुरुषविध' का अर्थ द्विभुज नराकृति है ।

अनाद्योऽयं पुरुष एक एवास्ति । तदेवं द्विधारूपं विधाय सर्वान् रसान् समाहरति । स्वयमेव नायिकारूपं विधाय समाराधनतत्परोऽभूत् । तस्मात्तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति । तस्मादानन्दमयोऽयं लोकः ॥
(शतपथ ब्राह्मण, साम-रहस्य-श्रुति)

आत्मानं द्विधाऽकरोदर्द्धेन स्त्री अर्द्धेन पुरुषः ।
(सुबालोपनिषद्)

अर्द्धमु हैतदात्मनो यन्मिथुनं यदा वै सह मिथुनेनाथ सर्वोऽथ कृत्स्नः ।
.........'दैवं हैतन्मिथुनं परमो ह्येष आनन्दः ।
(शतपथ, अग्निरहस्यकाण्ड, मण्डलब्राह्मण)

राधा भजति तं कृष्णं स च तां च परस्परम् ।
उभयोः सर्वसाम्यं च सदा सन्तो वदन्ति हि ॥
(ब्रह्मवै० पु० प्रकृतिख० श्रीराधोपाख्यान)

'श्रीकृष्णवपुषोऽर्द्धस्य सा हि मूर्त्तिमती सती ।
एका मूर्त्तिर्द्विधा भिन्नाभेदो वेदे निरूपितः ॥
इयं स्त्री स पुमान् किं वा स वा कान्ता पुमानियम्।
द्वे रूपे तेजसा तुल्ये रूपेण च गुणेन च ।
पराक्रमेण बुद्ध्या वा ज्ञानेन सम्पदादिना ।
सास्य प्राणैर्विरचिता तत्प्राणैर्मूर्त्तिमानयम् ॥'
'त्वं स्त्री पुमानहं राधे इति वेदेषु निर्णयः ।
यदा तेजःस्वरूपोऽहं तेजोरूपासि त्वं तदा ।
न शरीरी यदाहं च तदा त्वमशरीरिणी ॥'
'ममार्द्धांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
शक्त्या बुद्ध्या च ज्ञानेन मया तुल्या वरानने ॥
आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः ।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥'
(ब्रह्मवै० श्रीकृष्ण० पू० १५)

श्रीकृष्णस्त्वमियं राधा त्वं वा राधा हरिः स्वयम् ।
न हि वेदेषु वां भेदो दृष्टो वापि श्रुतोऽपि वा ॥
सर्वा देव्यः प्रकृत्यंशा जन्याः प्राकृतिका ध्रुवम् ।
त्वं कृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता तुल्या कृष्णेन सर्वतः ॥
नित्योऽयं च यथा कृष्णस्त्वं च नित्या तथाम्बिके ।
अस्यांशा त्वं त्वदंशोऽयं भेदः केन निरूपितः ॥
(ब्रह्मवै० श्रीकृष्ण० पूर्व १५)

यस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम् ।
तस्मादिदं महादेवि गोपालेनैव भाषितम् ॥
(सम्मोहनतन्त्र, गो० स० ना०)

यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः ।
अनयोरन्तरादर्शी संसाराच्च विमुच्यते ॥
(ब्रह्मसंहिता नारदपं०)

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् ॥
(श्रीराधातापिनी उप०)

सम्पूज्या हरिणा सार्द्धं प्रेष्ठा कृष्णानपायिनी ।
साक्षात् कृष्णमयी यत्र युगेज्याव्रतधारिणाम् ॥
(ब्रह्मवै० पु०)

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्मारामतया विप्र प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥
(स्कन्दपु० भा० मा०)

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।
तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ॥
स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका ॥
(स्कन्दपु० भाग मा०)

तदङ्घ्रिपङ्कजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः ।
आहुः पूर्णब्रह्मणो हि कारणं वेददुर्गमम् ॥
(पद्मपु०, पातालखण्ड)

कदाचिल् क्रीडतोर्देवि राधामाधवयोर्वपुः ।
द्विधाभूतमभूत् तत्र वामाङ्गाद् वै चतुर्भुजम् ॥
समानरूपावयवं समानाम्बरभूषणम् ।
तद्वद्राधास्वरूपं च द्विधाभूतमभूत् सति ॥
ताभ्यां दृष्टं तत्स्वरूपं साक्षात्तावपि तत्समौ ।
चतुर्भुजं तु यद्रूपं लक्ष्मीकान्तं मनोहरम् ॥
राधावामांशसम्भूता महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता ॥
(नारदीय पु० उत्तरभाग)

अथ कालान्तरे सा च द्विधारूपा बभूव ह ।
वामार्धाङ्गा च कमला दक्षिणार्धा च राधिका ॥
एतस्मिन्नन्तरे कृष्णो द्विधारूपो बभूव ह ।
दक्षिणार्धश्च द्विभुजो वामार्धश्च चतुर्भुजः ॥
(ब्रह्मवै० प्रकृतिख० २ । ५६-५७)

उक्त प्रमाण श्रीराधाकृष्णकी सर्वमूलस्वरूपता, परब्रह्मता, सर्वेश्वरता, सर्वसेव्यता, परस्पर सर्वांशमें तुल्यता, अभिन्नता, नित्यता, द्विभुजसे चतुर्भुजका प्राकट्य आदि सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त हैं । इसी कारणसे 'श्रीमहावाणी'में श्रीमदाचार्यचरण लिखते हैं—

'आऊँ बलिहारी नित्य बैभव बिहारी,
जुगलकिसोर स्वयं सत्य श्रुति सारी ।
अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्म ब्यापक है जोई,
तिहारे चरन नख आभा है सोई ॥
परमातम बिस्वकाय नारायन बिष्नु,
धर्म हैं तिहारे, तुम धर्मी जग जिष्नु ।
बाल कौमार पौगंड बपु धरि कै,
करत बिहार जन हेत अनुसरि कै ।
ललित अगाध लीला बरनि नहिं जाई,
श्रीहरिप्रिया भागवत कहैं प्रभुताई ॥'
'तत्त्व के तत्त्व, सिद्धांत सिद्धांत के,
सार के सार, सुखरूप के रूप ।
अमित ऐश्वर्य माधुर्य श्रीहरिप्रिया,
भाँवते भवन के भाँवते भूप ॥

इस प्रकार सर्वमूल, असमोर्द्ध्व, सर्वकारणकारण, अखिलव्यूहादिसेव्य, नित्य, समानशक्तिगुणक श्रीराधा-कृष्णस्वरूपकी भक्तिका उपदेश श्रीनिम्बार्कभगवान्ने किया है । श्रीसनकादि, श्रीनारद, श्रीनिम्बार्क एवं तत्परम्परागत सभी आचार्य एवं शिष्य-प्रशिष्योंका यही ''युगलभक्तिव्रत'' है । उक्त शास्त्रीय प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि श्लोकोक्त सूत्ररूपमें कहे हुए 'अनुरूप 'सौभगां', देवीं' आदि श्रीराधिकाके विशेषणोंका, 'स्वरूप-शक्ति-गुणादिमें सर्वांशतः श्रीकृष्णतुल्य', यही अर्थ आद्याचार्यचरणोंको अभिमत है । श्रीनिम्बार्कभगवान्के शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यद्वारा रचित 'औदुम्बर-संहिता'के श्रीनिम्बार्कप्रोक्त 'युगलाराधनव्रत'से भी यही बात पुष्ट होती है । इसी कारण इस युगलोपासनामें परस्पर शक्ति-शक्तिमद्भाव एवं तद्धेतुक गौण-प्रधानभाव अभीष्ट नहीं है। क्वचित् 'श्रीमहावाणी'में जो 'शक्ति' शब्दसे श्रीराधाका निर्देश किया गया है, उसका अभिप्राय श्रीराधाके अप्राधान्यमें नहीं, और न उसके केवल 'ह्लादिनी-शक्तित्व' में है । दोनों रूपोंकी स्वरूपशक्तिमत्परब्रह्मस्वरूपता है—प्रियाजी ह्लादिनीप्रधान हैं और प्रियतम आनन्दप्रधान । उसी प्रकार शृङ्गार-रस-लीलामें स्वाधीनपतिका श्रीराधाके प्राधान्य-वर्णनसे इस युगल-भक्तिमें, प्रियाजूको केवल ह्लादिनीशक्ति मानकर, जो 'शाक्तत्व' दोषका आरोप करते हैं, उनका वह आरोप अविचारविलसित है । जब उक्त प्रमाणोंसे श्रीराधिका 'परब्रह्मस्वरूपा' हैं, तब फिर 'शाक्तता' कैसे सिद्ध हो जाती है—यह आक्षेप करनेवाले ही जानें ।

शृङ्गार-रस-स्वरूप युगलकी भक्तिका अधिकार अर्थापत्तिसे सखीभाव-भावितान्तःकरणोंको ही है । पुरुषभाववालोंका युगलधाम श्रीवृन्दावन-नित्य-निकुञ्जमें प्रवेश होना असम्भव है । भगवद्गीताके—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ·····················॥

—इस वचनके अनुसार जीव भगवान्की परा अर्थात् चेतन प्रकृति है । यही उसका स्वाभाविक अकृत्रिम स्वरूप है । प्राकृत स्त्री-पुरुष-भाव आरोपित, कृत्रिम, अनित्य है। उसके पराप्रकृतित्वके अनुरूप युगलसखीभाव ही है । इसी अभिप्रायसे श्रीमद्धरिव्यासदेवाचार्यजू 'श्रीमहावाणी, सेवा-सुख' के प्रारम्भमें ही लिखते हैं—

प्रात समय ही ऊठ कै धारि सखी कौ भाव ।
जाय मिलैं निज रूप सौं या कौ यही उपाव ॥

जीवके प्रकृतित्व (स्त्रीत्व)के विषयमें पद्मपुराण, पातालखण्ड, वृन्दावन-माहात्म्यमें यह श्लोक मिलता है—

भुजद्वययुतः कृष्णो न कदाचिच्चतुर्भुजः ।
गोप्यैकया युतस्तत्र परिक्रीडति सर्वदा ॥
गोविन्द एव पुरुषो ब्रह्माद्याः स्त्रिय एव हि ।

पुरुषः प्रकृतिश्चाद्यौ राधावृन्दावनेश्वरौ ।
प्रकृतेर्विकृतं सर्वं विना वृन्दावनेश्वरम् ॥

उपर्युक्त युगलस्वरूपके आराधक सखीभावभावितस्वान्त भक्त चरम देहपातके अनन्तर ‘यथाक्रतु’न्यायसे भगवत्सत्यसंकल्प-प्राप्त कालगुणातीत अप्राकृत स्वरूपशक्त्यंशरूप शुद्ध सत्त्वमय देहमें प्रविष्ट होकर उसमें अपनी नित्यस्थितिका अनुभव करते हैं। किंतु यह अनुत्तम गति युगलकृपैकसाध्य है—केवल साधनके बलसे ही इसको प्राप्त करना असम्भव है। उसी ‘श्रीमहावाणी’ में कहा गया है—

सकल साधन सुकृत मुक्ति सारिष्ट लगि ।
बिनु कृपा कोटि कोट्यानविधि व्यर्थ ॥
(सि० सु०)

इसी अभिप्रायसे श्रीआद्याचार्यचरण दशश्लोकीमें लिखते हैं—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा ॥ ३ ॥

“दैन्यादि गुणसम्पन्नपर ही इन सर्वात्मा श्रीकृष्णकी—जिनका कोई अन्य अधिपति नहीं, जो **‘पतिं पतीनाम्’** अर्थात् पतियोंके भी पति हैं—कृपा प्रकट होती है। भगवत्कृपापात्र होनेपर ही ‘प्रकृष्ट-प्रेम’लक्षणा उत्तम अर्थात् फलरूपा परा-भक्ति प्राप्त होती है और इस पराभक्तिकी प्राप्तिके लिये इष्ट-फलानुरूप साधनरूपा जो नवधा भक्ति है, वह ‘अपरा’ है—जिसके निष्कामतापूर्वक करनेसे जीव भगवत्कृपायोग्य होता है ॥३॥”

‘दैन्य’ शब्दसे यहाँ अहं-ममाभिमानशून्यता विवक्षित है। अर्थात् भगवच्छरणागतिपूर्वक ‘आत्मात्मीयसर्वस्वसमर्पण’में इसका तात्पर्य है तथा ‘आदि’ शब्दसे संतोष-परिचर्यादिका ग्रहण है। अर्थात् यह शरणागति गुरुद्वारक है। परिचर्या श्रीगुरु तथा श्रीगोविन्द दोनोंकी है। जैसे कहा है—

‘सर्वं त्वदीयं न ममास्ति किंचि-
दहं त्वदीयो न ममाहमस्मि ।’
‘द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥’
‘उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपाया विविधास्तथा ।
इति या गर्वहानिस्तद् दैन्यं कार्पण्यमुच्यते ॥’

‘वशीकृतिं यान्ति नहीन्द्रियाणि
बुद्धिर्न शुद्धिं समुपैति तस्मात् ।
न कारणं मेऽस्ति तव प्रसादे
दयालुभावेन विना हरे ते ॥’
‘न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमाँस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥’

इस प्रकार दैन्यपूर्वक भगवच्चरणोंमें प्रथम आत्मात्मीय-भरन्यास करनेपर सत्सङ्गादिद्वारा हृदयमें भगवद्भक्ति अङ्कुरित हो जाती है।

भक्तिका लक्षण शास्त्रोंमें कई प्रकारसे किया गया है। जैसे श्रीगोपालतापिनी उपनिषद्में—

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्मिन्मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् ।

अर्थात्—

लोकद्वयानपेक्षत्वं रसस्योपनिषत्परा ।

इस उक्तिके अनुसार लोकद्वयकामनाका परित्याग करके निष्काम होकर भगवान्‌में मन लगानेको भक्ति कहते हैं।

श्रीनारदपञ्चरात्रमें—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

‘सर्वकामपरित्यागपूर्वक निर्मलित मनसे तदेकपर होकर की जानेवाली भगवत्-सेवाको भक्ति कहते हैं।’

नारदभक्तिसूत्रमें—**‘सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा’** अर्थात् इष्टमें परमप्रेम ही भक्ति है। नारदपञ्चरात्रमें—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्ट्यादि नान्यथा ॥

भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक सबसे अधिक जो भगवान्‌में सुदृढ स्नेह है, वही ‘भक्ति’ कहलाता है। उसीमें—

मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता ।
अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी ॥

‘मोक्षादि सब प्रकारकी स्वार्थकामनासे रहित, प्रेममें सनी हुई जो भगवान्‌के प्रति सतत (स्वाभाविक) मनोवृत्ति है, वही ‘भक्ति’ है—उसीसे भगवान् वश होते हैं।’

सारांश, माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक मनोवाक्काय-व्यापारद्वारा सेव्य-

सुखैकप्रयोजनवती भगवत्सेवा 'भक्ति' कहलाती है। स्वार्थ-सुखगन्धरहित तत्सुखसुखित्वका ही नाम 'प्रेम' है। प्रेमकी व्याख्या नारदपञ्चरात्रमें इस प्रकार की गयी है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंज्ञिता।

अर्थात् अन्यविषयक ममतासे रहित भगवान् विष्णुके प्रति जो (दृढ़) ममता है, वही 'प्रेम' कहलाती है।

यदि उपास्यदेवके माहात्म्यज्ञानसे उपासक अपरिचित हो तो तादृश भक्तिमें लौकिकता आ जाती है और यदि ऐश्वर्य-भावको अपने सख्यादि-स्थायिभावके साथ मिश्रित कर देता है तो सख्यरसकी स्फूर्ति नहीं होने पाती। इसलिये अपने स्थायिभावके साथ ऐश्वर्यभावको मिश्रित न करे। 'स्थायिभाव' स्थायिरूप—अविचल रहे और ऐश्वर्यादिभाव उसके अविरोध-से 'संचारी'मात्र रहें। जैसे श्रीमहावाणीमें कहा है—

'राजत पर ते पर सर्वेश्वर। परमधाम बृंदाबन निज घर॥'
'सखी री सच्चिदानंद स्वरूप' इत्यादि। (सि० सु०)

युगलसखियोंकी इस फलरूपा सेव्यसुखैकसुखितामयी पराभक्तिका श्रीमहावाणीमें इस प्रकार वर्णन आता है—

सदा सुदंपति के मन मानो, महल टहलमें महासयानी।
डोलति बोलति कोकिल बानी, रमझमाति रतिरस में सानी॥
परम चतुर जिय की सब जानैं, समुझि समुझि सोई बिधि बानैं।
मुख ते जोइ जु बचन बखानैं, जाकौं सुनि दोऊ रुचि मानैं॥
छिन छिन प्रति नव नेह जनावैं, बिबिध बिनोद मोद उपजावैं।
नवल जुगल बर के मन भावैं, अंग अनंग तरंग बढ़ावैं॥
दंपति की प्यारी परिचारी, परमानंद भरी अति भारी।
कबहुँ न होय संग ते न्यारी, रहति सदा जैसें छाया री॥
चितवति चंद बदनि चहुँ ओरी, चारु चकोरी ज्यौं रस बोरी।
अति आनंद समुद्र झकोरी, फिरति टहल में ज्यों चकडोरी॥
… … … …
लाड़िलि लाल लड़ावति छिन छिन, चित में चौंप बढ़ावति दिन दिन।
… … … …
दामिनि सी दमकैं तन गोरें, चंद बदनि सहचरि चहु ओरैं॥
… … … …
निकट जुगल बर नैन निहारैं, पलकै पलक प्रान धन वारैं।
तिन बिच तनक न अंतर पारैं, सदा एकरस रंग बिहारैं॥
लै लै सौंज सबै सब पाहीं, चितैं रही जुगचंद्र जु छाहीं।
… … … …
जोय जोय जुगचंद्रहि जीवैं, नैन कटाच्छ चरन रज छीवैं॥

लखि लखि इनकौ अद्भुत अंगा, चकित होय चित रहत अनंगा।
ए इनहीं सी और न कोई, उपमा कहन कौन मति होई॥
पिय प्यारी इच्छा बपु जोई, अमित कला सुख सेवैं सोई।
परम चतुर जद्यपि गुन भोरी, एक डार की सी सब तोरी॥
तत्पर टहल महल रस बोरी, जीवनि जिय (श्री) हरिप्रिया जोरी।
—सि० सु

सखियोंकी उक्ति

यह रसिक सिरोमनि जोरी जू, नव नित्य किसोर किसोरी जू।
सहज सदा सुखकारी जू, यह जीवन प्रान हमारी जू॥
बड़ें भाग्य हम पाई जू। बरनी नहिं जाय बड़ाई जू
नवल निकुंज निवासी जू। उर आनँद प्रेम प्रकासी जू
गौर स्याम तन सोहैं जू। घन दामिनि उपमा को है जू
रूप अनूपम राजैं जू। लखि कोटि काम रति लाजैं जू
सहज सनेह सनेही जू। ए एक प्रान द्वै देही जू
सब सोभा के सागर जू। नव नागर नित्य उजागर जू
आनँद अहलाद स्वरूपा जू। सत असत परे पर भूपा जू
मूरति सब सुख रासी जू। महा मन्मथ इष्ट उपासी जू
रंग रँगीले सुंदर जू। परधाम प्रकास पुरंदर जू
उपजीविन के उपजीवी जू। दंपति सुख संपति दीवी जू
मंगल मोद प्रदायक जू। गुन आगर स्वतै सुभायक जू
निरवधि नित्य बिहारा जू। पावैं जिहि वार न पारा जू
श्रीहरिप्रिया सलोने जू। आगें भए न अब कोउ होने जू
—स० सु

इस प्रकार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्कप्रोक्त युगल-उपा या युगलकी प्रेमलक्षणा पराभक्ति सेव्य-सुखमें ही सु माननेवाली, स्वार्थशून्य, परमप्रेमरूप, दाम्पत्यभावसे अह तत्त्वतः युगलस्वरूपसमप्राधान्यात्मक, किंतु प्रेमात्मक शृङ्गा लीलामें स्वाधीनपतिका श्रीराधाप्राधान्यात्मक, असमोर्ध्व ए भक्ति-परमफलरूपा है। व्रजलीलागत गोपीभावके लक्ष्य ए सेव्य एक श्रीकृष्ण ही हैं, किंतु युगल-सखीभावका ल तथा सेव्य प्रोक्तलक्षण युगलस्वरूप है। इस युगल-सखीभा कान्ता-भावके लिये अवकाश नहीं। अन्यथा युगलानन्यता अनिवार्य है। युगलोपासनाधिकार 'राधासंहित कृष्णप्राधान्या उपासना'से भिन्न है। अप्राकृत दिव्य श्रीवृन्दावन-निकु धाममें श्रीकृष्ण, सखीवृन्द एवं तत्रत्य प्राणिसमूह, पक्षिग वृक्ष-लता आदि सब-के-सब (युगल) श्रीराधा-आराधक श्रीराधासुखैकसुखी हैं। निकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी प्रसन्न लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले हैं। व्रजलीलागत श्रृ

सम्मिश्र है, और निकुञ्जगत शृङ्गार श्रीराधातिरिक्त अन्य शृङ्गारसे शून्य अतएव विशुद्ध है ।

श्रीराधा-कृष्ण, युगलसखीवृन्द, श्रीवृन्दावन—ये तीनों परमविशुद्धप्रेमरसस्वरूप एवं परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं । श्रीमहावाणीमें वृन्दावनका असमोर्ध्व स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

'अष्ट सहचरिन के विना परिकर यहाँ,
और सहचरिन कौ नहिं प्रवेसा ।
काल गुन रहित निजधाम बृंदाबिपिन
परम अभिरामता को सुदेसा ॥
दिव्य अद्भुत नगनि जगमगति जगति अति,
अमित अँसुमान के अंसु लाजैं ।
कोटि कंदर्प के दर्प दलमल करैं,
गर्व गोलोक के सर्व भाजैं ॥
रसिक जन उरसि अनुराग की वर्द्धिनी,
मुक्ति सारिष्ट पर सुख कि दाता ।
सकल अंसादि अवतार की सेव्य श्री
स्याम स्यामा सुजोरी बिख्याता ॥'

... ...

'अखिल ब्रह्मांड बैराट के थाट सब
महावैराट के रोम के कूप ।
सावकासैं उड़त रहत नित सहज हीं,
परम ऐश्वर्य आश्चर्यमय रूप ॥
सो प्रथम एक ही सून्य मधि समि रह्यौ,
जैसें त्रिसरेनु के रेनु सत अंस ।
यातें दस दस गुनी सहस सत सून्य पुनि,
तिन तें लख सहस महासून्य अवतंस ॥
तिन महासून्य के सिखर पर तेज़ को,
कोटि गुन ते गुनौ अमित विस्तार ।
तहाँ निज धाम बृंदा विपिन जगमगे,
दिव्य बैभवन को दिव्य आगार ॥
मन बचन हू जहाँ पहुँचि सकत न कबहुँ,
बुद्धि बिथकित चितहु अतिहि असमर्थ ।
सकल साधन सुकृत मुक्ति सारिष्ट लगि,
बिनु कृपा कोटि कोट्यान बिधि व्यर्थ ॥

—सि० सु०

—पुराणोंमें तो वृन्दावनकी असमोर्ध्वताके प्रमाण भरे पड़े हैं—

रसमार्गेण ये देवमीक्षन्ते परिशीलितुम् ।
तेषां भूमावपि निजं स्थानमाविष्कृतं मया ॥
मया सह विनोदार्थं येषामस्ति मनोरथः ।
तेषामिह समावासो नित्यं वृन्दावनेऽस्तु हि ॥

(बृहद्ब्रह्मसंहिता २ पा० चतुर्थ)

श्रीगोपालतापिनीमें—

'एतद्विष्णोः परमं पदम्'—इत्यादि ।

पद्मपुराण पातालखण्डमें अर्जुनके रासलीला-दर्शन-प्रसङ्गमें—

गतो राधापतिस्थानं यस्सिद्धैरप्यगोचरम् ।
ततश्च तदुपादिष्टो गोलोकादुपरिस्थितम् ॥
नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यरासरसोत्सवम् ।
अदृश्यं परमं गुह्यं पूर्णप्रेमरसात्मकम् ॥

विस्तारभयसे यहाँ इतने ही प्रमाण पर्याप्त समझता हूँ । इन सबका आशय यह है कि दिव्य वृन्दावन प्रसिद्ध गोलोकका भी शेखरीभूत है ।

'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।'

—इत्यादि श्रुतियाँ जिस रसस्वरूप परमात्माका वर्णन करती हैं, उसका साक्षादनुभूतिस्थान यह दिव्य वृन्दावन एवं तत्प्रकाशस्वरूप भू-वृन्दावन है । वैदिक वाङ्मयमें—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । (श्वे० उप०)

भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषः, भक्तिरेव भूयसी । (माठरश्रुति)

तं यथा यथोपासते तथैव भवति । (शतपथब्राह्मण)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत(छान्दोग्य)

—इत्यादि वाक्य भक्तिका स्पष्ट विधान कर रहे हैं । ज्ञान, योग, कर्म आदिका पर्यवसान 'भक्ति'में है ।

इस प्रकार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान्की कही हुई प्रेमविशेषलक्षणा पराभक्तिका एवं **'भक्तिरसस्ततः परम्'** (दशश्लोकी) में संकेतित परमप्रेमानन्दाख्य भक्तिरसका यहाँ दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है । विशेष जिज्ञासा हो तो जिज्ञासु एतत्साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका परिशीलन करें ।

अन्तमें भगवन्निम्बार्कशिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यप्रोक्त निम्नाङ्कित श्लोकसे इस लेखकी सम्पूर्ति करते हैं—

जयति जयति राधाकृष्णयुग्मं वरिष्ठं
व्रतसुकृतनिदानं यस्सदैतिह्यमूलम् ।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥

भक्तिका बल

(लेखक—श्रीविश्वम्भरसहायजी 'प्रेमी')

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन॥

आजसे पैंतालीस वर्ष पूर्व महाकवि श्रीतुलसीदासजीकी वन्दनाकी ये पंक्तियाँ मैंने रामचरितमानसमें पढ़ी थीं। उस समय अर्थ भी कण्ठस्थ कर लिया था, परंतु उसका वास्तविक भाव मेरी बुद्धिमें नहीं बैठा था। मैं यह नहीं समझ पाया कि बिना पैरका व्यक्ति उन्नत पर्वतपर कैसे चढ़ सकता है। मैं यह भी नहीं समझ पाता था कि गूँगा कैसे बोलने लगता है। भगवान् रामकी भक्तिमें लीन होकर गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐसा लिख दिया है, यही मेरी उस समयकी विचार-सीमा थी।

गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसको मैंने अनेक बार पढ़ा। उसके अनेक स्थलोंपर कुछ लिखनेका भी प्रयास किया। परंतु 'पंगु चढ़इ गिरिबर गहन' का अर्थ समझनेका ही नहीं, किंतु ऐसे दृश्यको स्वयं अपने नेत्रोंसे अवलोकन करनेका अवसर प्राप्त होनेपर भगवान्‌की कृपा और दयाका रहस्य खुल गया। अबसे दो वर्ष पूर्वकी बात है, मुझे श्रीबदरीनाथ जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ। उससे पहले भी मैंने अनेक यात्राएँ की थीं, परंतु इस यात्राके समान कोई अन्य यात्रा कठिन न थी। मुझे अपने पैरोंका भरोसा था, परंतु पहले दिनकी चार-पाँच मीलकी चढ़ाईसे एक बार मनमें कुछ आशङ्का हुई कि अड़तीस मीलकी चढ़ाई किस प्रकार की जायगी। दूसरा दिन हुआ। पर्वतोंके भव्य, रमणीक और हृदयको लुभानेवाले दृश्योंको अवलोकन करते हुए हमलोग आगे बढ़ते रहे। एक स्थानपर किसी कच्चे पहाड़के टूट जानेसे हम सबको एक नये मार्गसे चलना पड़ा। मार्ग अत्यन्त सँकरा था, चढ़ाई भी कुछ अधिक थी, परंतु यात्री 'जय बदरी विशाल' बोलते हुए आगे बढ़ रहे थे। मार्गमें हमें एक ऐसा मनुष्य मिला, जिसके दोनों पैर कटे थे। उसके दोनों हाथोंमें लकड़ीके दो टुकड़े थे, जिनके सहारे वह आगे बढ़ता था। धड़से नीचेके भागमें उसने टाट बाँध रखा था। उस भाग और दोनों हाथोंके सहारे उसे ऊँचे पर्वतपर चढ़ते देखकर हमारी समझमें सहज ही आ गया—'पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।'

पाण्डुकेश्वरसे आगे हमें एक वृद्धा मिली। वृद्धा लकड़ीके सहारे आगे बढ़ रही थी। उसकी चाल मेरे और मेरे साथियोंकी चालसे अधिक ही थी। मैं आश्चर्य करने ल कि यह पतली-दुबली बुढ़िया इतनी तीव्र गतिसे कैसे चल रही है। मैंने अपनी चाल कुछ तीव्र की, साथियोंको पी छोड़ दिया। केवल जयपुरके एक साथी मेरे साथ-साथ आ बढ़े। अवसर पाकर मैंने उस वृद्धासे पूछा—'क्यों मा तुम इतनी तेज कैसे चलती हो?'

उसने तत्काल उत्तर दिया 'अपने पैरोंसे चलती हूँ।'

मैंने कहा—'माई! पैरोंसे तो सभी चलते हैं। पी आनेवाले भी अपने पैरोंपर ही चल रहे हैं। परंतु तुम तो ह सबको मात करके आगे ही बढ़ती जा रही हो। बताओ त तुम्हारी उम्र क्या है?'

मेरे इस प्रश्नपर वह वृद्धा वृक्षकी छायामें एक विश चट्टानके सहारे बैठ गयी। वह कहने लगी 'मैं एक अस्सी बरसकी हूँ। भगवान् बदरीनाथके दर्शनोंको ती जा रही हूँ, तीसरे!' इन बातोंके बीच ही मेरी पत्नी अ अन्य साथी भी वहाँ आ गये। मैंने उस वृद्धासे फिर प्र किया, 'मैया! तुम तीसरी बार क्यों जा रही हो?'

'भगवान्‌के दर्शन तीन बार करनेका मैंने निश्चय कि था। उनकी कृपासे मुझे यह अवसर मिला है, फिर क्यों उनके चरणोंमें जाऊँ?' इतना कहकर वृद्धा पुनः अप लाठीके सहारे आगे बढ़ने लगी। हम सब अपनी चा चलने लगे।

रात्रिको जिस चट्टीपर हमने विश्राम किया, वहाँ अने प्रान्तोंके यात्रियोंको देखनेका अवसर प्राप्त हुआ। प्रत्ये यात्री अपने आवश्यकतानुसार सामान खरीदकर चट्टी विश्राम करता है। चट्टीका दूकानदार गढ़वाल जिलेके कि ग्रामका रहनेवाला था। उसकी भाषामें पहाड़ी बोलि अधिक पुट था। वहीं ट्रावनकोरकी एक महिला आ गयी उसे कुछ दूध लेना था, भोजनकी कुछ अन्य सामग्री भी ले थी। उसके साथ ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो हिंदी या वहाँ भाषामें दूकानदारको उसके विचार समझा सके। परंतु उ महिलाने वस्तुओंको हाथ लगाकर, अपने पैसे दिखाकर क चला लिया। वह महिला बड़ी प्रसन्न थी। उसने चाय लेकर पी। हमें बादको पता चला कि वह हँसमुख स्त्री गूँ थी। गूँगी होते हुए भी तुलसीके शब्दोंमें वह 'मूक बाचाल' भावनाको साकार कर रही थी।

इससे भी अधिक मुझे इस बातने चकित किया कि शोलापुरके अंध-बधिर-केन्द्रमें जन्मकी गूँगी लड़की अच्छा बोलना सीख गयी। इस केन्द्रके संचालक श्री डी० आर० ओकसे मैंने जब यह प्रश्न किया कि यह कैसे बोलना सीख गयी, तब उन्होंने कहा, 'यह तो केवल भगवान्की दयालुताका फल है। प्रभु इसकी और मेरी साधनापर प्रसन्न हैं। उसीके सहारे मैं इसे बोलनेका अभ्यास करा सका।'

श्रीबदरीनाथ पहुँचनेपर हमने अपने ठहरनेकी व्यवस्था की। मन्दिरकी अतिथिशालामें मेरे ठहरनेका प्रबन्ध हो गया। गरम वस्त्रोंकी मेरे पास कोई कमी न थी। साथ ही कमरेमें हीटर भी लगा था। इस सुख-सुविधाके कारण शीतका कोई भय न रहा। परंतु कुछ देर पश्चात् मुझे मन्दिरके प्रबन्धकके साथ मन्दिर तथा पुरीके छोटेसे बाजार तक जाना पड़ा। मैंने देखा कि मन्दिरकी निचली सीढ़ियोंसे सटे हुए कई व्यक्ति विश्राम ले रहे हैं। उनमेंसे एक-दोके पास केवल चादर ही थी। कुछ आधा कम्बल बिछाये और आधा शरीरसे लपेटे पड़े थे। मैं आश्चर्यमें पड़ गया कि इनको ठंड क्यों नहीं लगती। प्रबन्धकसे वार्तालाप होनेपर विदित हुआ कि इस प्रकारके भक्तजन तो यहाँ अनेक आते हैं। भगवान् श्रीबदरीविशालके दर्शनोंसे ये लोग ऐसा समझते हैं कि उन्हें आत्मिक बल प्राप्त हो गया।

इन सब घटनाओंके साथ-साथ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि अलकनन्दाके बर्फ-जैसे शीतल जलमें अनेक यात्रियोंको हमने उसी श्रद्धा और भक्तिके साथ स्नान करते देखा, जिस प्रकार इधर मैदानी भागोंमें श्रद्धालु यात्री गङ्गा और यमुनामें स्नान करते हैं। यह है मानवकी श्रद्धाका फल। श्रद्धामें अपार बल है। श्रद्धा-भक्तिके सहारे मानव दुर्गम घाटियोंको पार कर लेता है। इसपर भी जिसे भगवान्की कृपा प्राप्त हो गयी, वह तो बड़ा ही भाग्यशाली है।

◆

भगवान्का श्रीविग्रह

[भगवान्के सगुण-साकार रूपका दिव्यत्व और सच्चिदानन्दत्व]

(लेखक—पं० श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालंकार, काव्यतीर्थ)

भगवान्का सगुण-साकाररूप दिव्य और सच्चिदानन्दमय है। भगवान्की देह पञ्चभूतोंद्वारा निर्मित नहीं होती; वह तो स्वेच्छासे निर्मित लीलामय होती है। साधारण जीवोंके शरीरका निर्माण पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और पवनके अंशोंसे होता है। उसमें रज-वीर्यकी प्रधानता होती है।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
(रामचरितमानस)

परंतु भगवान्के श्रीविग्रहकी रचना रज और वीर्यके संयोगसे नहीं होती। माता कौसल्या और माता देवकीको जो गर्भ रहता है, वह लीलागर्भ होता है। भगवान् श्रीकृष्ण वायुसे पूर्ण देवकीके उदरमें अर्थात् लीलागर्भमें लीलासे आते हैं।

गर्भे च वायुना पूर्णे निर्लिप्तो भगवान् स्वयम्।
हृत्पद्मकोशे देवक्या अधिष्ठानं चकार ह॥
(ब्रह्मवैवर्त०)

'देवकीके वायुपूर्ण गर्भमें—देवकीके हृदय-कमलके कोशमें निर्लिप्त भगवान्ने स्वयं वास किया।'

भगवान् श्रीकृष्णका जब आविर्भाव होने लगा, तब देवकीके गर्भसे वह लीला-पवन बाहर निकला और वहीं भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य रूप प्रकट हो गया। वसुदेवजी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाला बतलाते हैं—

स्वेच्छामयं सर्वरूपं स्वेच्छारूपधरं परम्॥
(ब्रह्मवैवर्त०)

श्रीमद्भागवतमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। २)

'भगवन्! आपकी यह लीला-देह भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाली है। यह आपकी चिन्मयी इच्छाका साकाररूप मुझपर आपकी साक्षात् कृपा है। मुझपर कृपा करनेके लिये ही आपने इसे प्रत्यक्ष किया है। यह पञ्चभूतोंकी रचना नहीं

है। यह तो अप्राकृत है, अविकृत है और शुद्ध सत्त्वमय है। मैं या कोई समाधि लगाकर भी आपके इस चिदानन्दमय विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता। फिर आत्मानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको तो कोई कैसे जान सकता है।'

इस पद्यमें **'स्वेच्छामयस्य'** और **'न तु भूतमयस्य'** 'वपुषः'के विशेषण हैं। ब्रह्माजी यहाँ बतलाते हैं कि भगवान्का श्रीविग्रह पञ्चभूतोंका बना हुआ नहीं है, बल्कि स्वयं भगवान्की इच्छासे बना हुआ है। गीतामें भी भगवान्ने अपने जन्म और कर्मको दिव्य बतलाया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यम्।

श्रीरामचरितमानसमें तो मनु और शतरूपाको वरदान देते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—

इच्छामय नर बेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें॥

ब्रह्मवैवर्तका **'स्वेच्छारूपधरम्'**, श्रीमद्भागवतका **'स्वेच्छामयस्य'** और रामचरितमानसका **'इच्छामय नर बेष सँवारें'** एक ही चीज है। स्वेच्छामय होनेके कारण ही भगवान्का श्रीविग्रह दिव्य और लोकोत्तर सौन्दर्यसे परिपूर्ण होता है।

जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्णतः अधिकार कर लिया है, जो विषयोंकी वैतरणी पार कर चुके हैं, जिनकी भोगशक्ति सर्वथा मिट चुकी है, वे सिद्ध पुरुष और ब्रह्मज्ञानी भी भगवान्के दिव्य रूपकी ओर आकर्षित हो जाते हैं—उनकी ज्ञान-गङ्गा उनके भक्ति-सिन्धुमें निमग्न हो जाती है। जनक-जैसा ज्ञानी जब भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणके दिव्य रूपको देखता है, तब उसकी क्या दशा होती है, गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

राजा जनक अपनी ज्ञान-गरिमाके कारण विदेह तो थे ही, इस दिव्य रूपके दर्शनसे अपनी सारी सुध-बुध खोकर विशेषतः विदेह बन गये। उनका ज्ञानमय मन प्रेम-सागरमें निमग्न हो गया। ब्रह्मज्ञानी राजाने बड़ी कठिनतासे अपने विवेकको सजग किया और धैर्य धारणकर महामुनि विश्वामित्रसे प्रणामपूर्वक पूछा। राजा जनककी वाणी प्रेमसे बोझल हो रही थी। वे कहते हैं—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

अन्तिम चौपाईपर ध्यान दीजिये। जनकजी कहते हैं—'इन बालकोंके दर्शनसे अपार अनुराग उमड़ आया है औ मनने जबरदस्ती न चाहनेपर भी ब्रह्मानन्दका त्याग कर दिय है। ब्रह्मानन्द दब गया है और दर्शनानन्द बढ़ गया है।' जब जनक-जैसे महाज्ञानीकी यह दशा हो गयी, तब फि साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है।

भक्त रसखान ताल ठोंककर कहते हैं—

जौ लौं तोहि नंद कौ कुमार नाहिं दृष्टि पर्यौ
तौ लौं तू बैठि भलें ब्रह्म कौं बिचारि लै॥

सारांश यह कि जबतक भगवान्के सगुणरूपका दर्श नहीं होता, तभीतक मन ब्रह्मानन्दमें निमग्न रह सकता है और भगवान्के दर्शनके बाद षड्दर्शनकी बात तो समा ही हो जाती है, किसी अन्यके दर्शनकी लालसा भी मि जाती है। एक दर्शन-विह्वल भक्त तो यहाँतक कहता है—

तुम्हें देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें।
ये आँखें फूट जाएँ गर्चें इन आँखोंसे हम देखें॥

ज्ञानी सुतीक्ष्णने जब राम-रूपका दर्शन किया, त भगवान्के दिव्य रूपका वह जादू चला कि वे बेसुध हो गये गोस्वामीजी उनकी दशाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥

अद्वैताचार्य श्रीमधुसूदन स्वामीको निर्गुण और निष्क्रि ज्योति अब पसंद नहीं पड़ती; क्योंकि यमुनाके पुलिनपर उन् 'उस' नीली ज्योतिके दर्शन हो चुके हैं। वे अपनी मङ्ग कामना व्यक्त करते हुए कहते हैं—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥

'ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा यो यदि किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिका साक्षात् करते हैं तो करें। हम तो जानते हैं कि यमुनाके तीरपर सॉवली-सलोनी अनिर्वचनीय ज्योति दौड़ती रहती है, व हमारी आँखोंमें चिरकालतक चमत्कार पैदा करती रहे।'

भक्त लीलाशुक तो पथिकोंको सावधान करते कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'ऐ राहियो ! उस मार्गसे मत जाना । वह गली बहुत भयावनी है । वहाँ अपने नितम्ब-मण्डलपर हाथ रखे हुए तमालके समान साँवला-सलोना जो बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका ही अवधूत है । वास्तवमें तो वह अपने पास होकर निकलनेवाले किसी भी राहीके मनरूपी धनको लूट लेता है ।'

ज्ञानियोंपर ही नहीं, साधारण लोगोंपर भी भगवान्‌के दिव्य रूपका गहरा प्रभाव पड़ता है । भगवान् श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीताजीके साथ वनवासके लिये चले जा रहे हैं । बीच-बीचमें छोटे-बड़े गाँव मिल जाते हैं । ग्रामवासी इन तीनों अयोनिजन्मा पथिकोंके सौन्दर्यसे कितना प्रभावित होते हैं, सुनिये—

एक कहहिं ए सहज सुहाए । आपु प्रगट भए बिधि न बनाए ॥
देखहु खोजि भुअन दस चारी । कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे । सकुचति महि जिमि हृदय हमारे ॥
जौं जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा । कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥
(रामचरितमानस)

साधारण लोगोंकी ही बात नहीं, पशु और पक्षी भी भगवान्‌के अपरूप रूपको देखकर उसके शोभा-सिन्धुमें निमग्न हो जाते हैं । सबका मन मोहित हो जाता है—भगवान् सबके चित्तको चुरा लेते हैं—

खग मृग मगन देखि छबि होहीं । लिए चोरि चित राम बटोहीं ॥
(रामचरितमानस)

पशुओं और पक्षियोंकी ही बात नहीं, कोई भी आँखवाला प्राणी भगवान्‌का श्रीविग्रह देखकर आँखोंके पानेका फल पा लेता है और सहज ही शोक-मुक्त हो जाता है ।

नयनवंत रघुबरहि बिलोकी । पाइ जनम फल होहिं बिसोकी ॥
(रामचरितमानस)

गोपियाँ कहती हैं कि आँखवालोंके लिये श्रीकृष्ण और बलरामके दर्शनसे बढ़कर आँखोंके पानेका दूसरा कोई भी महान् फल नहीं है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥
(श्रीमद्भागवत)

'हे सखियो ! हमने तो आँखवालोंकी आँखोंकी और जीवनकी सफलता इतनी ही मानी है—इससे अधिक हम कुछ नहीं जानतीं—कि जब श्यामसुन्दर और बलदेव ग्वालबालोंके साथ गौओंके पीछे-पीछे आ रहे हों—उनके अधरोंपर मुरली शोभा पा रही हो और वे प्रेममयी तिरछी चितवनसे हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनके मुख-सौन्दर्यकी सुधा पीती रहें ।'

श्रीकृष्णके पास ब्राह्मणके द्वारा अपना संदेश भेजते हुए रुक्मिणीजी भी भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं कि आपका रूप आँखवालोंके लिये आँखें पानेका सम्पूर्ण लाभ है । इसलिये मेरा चित्त निर्लज्ज बनकर आपमें ही रमण कर रहा है—

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ।
(श्रीमद्भागवत)

भगवान् श्रीरामचन्द्र सेतु-निर्माणके बाद सेतुपर चढ़कर समुद्र पार कर रहे हैं । उनके रूपकी अनोखी और चोखी छटा निहारनेके लिये जलधरोंका जमघट लग गया है । जिधर देखिये उधर जलमें उतराये हुए जलचर-ही-जलचर दिखायी पड़ रहे हैं । समुद्रका पानी उनकी आड़में छिप गया है । कैसा मनोहर दृश्य है । देखिये—

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा । प्रगट भए सब जलचर बृंदा ॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे । मन हरषित सब भए सुखारे ॥
तिन्हकीं ओट न देखिअ बारी । मगन भए हरि रूप निहारी ॥
(रामचरितमानस)

घोर राक्षस जातिके शत्रुओंपर भी इस दिव्य रूपका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । पञ्चवटीमें एक रामको चौदह हजार राक्षस आक्रान्त कर लेते हैं; किंतु जब भगवान् रामकी मोहिनी मूर्तिपर उनकी दृष्टि पड़ती है, तब उनकी नज़र ही बदल जाती है और वे ठक-से रह जाते हैं—चाहते हुए भी वे भगवान्‌पर अपने अस्त्र-शस्त्र नहीं चला पाते ।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी । थकित भई रजनीचर धारी ॥
(रामचरितमानस)

क्रूरहृदय खरदूषण अपने सचिवोंसे कहते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते । देखे जिते हते हम केते ॥

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई । देखी नहिं असि सुंदरताई ॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा । बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।
(रामचरितमानस)

भगवान् श्रीराम जब जनकपुर जाते हैं, तब तो प्रत्येक दर्शक उनके रूपको देखकर चकित हो जाता है—एक बार देखनेवालोंको हजारों बार देखनेकी ललक होती है—

जहँ जहँ जाहिं कुअँर बर दोऊ । तहँ तहँ चकित चितव सबु कोऊ ॥
(रामचरितमानस)

राजा जनकके दूत जब अयोध्या जाते हैं, तब राम और लक्ष्मणके लोकोत्तर सौन्दर्यका वर्णन राजा दशरथसे करते हैं—

देव देखि तब बालक दोऊ । अब न आँखि तर आवत कोऊ ॥
(रामचरितमानस)

बात यह है कि भगवान्‌का श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है । इस बातको जाने तो कौन ? समझे तो कौन ? महामुनि बाल्मीकिजी रामजीकी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥
(रामचरितमानस)

पण्डितराज जगन्नाथ अपने चित्तको समझाते हुए कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥
(भामिनीविलास ४ । १६)

'अरे चित्त ! तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ । वृन्दावनमें गायें चरानेवाले, नये-नये काले मेघकी-सी कान्तिवाले कन्हैया-को कहीं अपना बन्धु न बना लेना । वह सुन्दरताकी सुधा बरसानेवाली अपनी मन्द-मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे सभी विषयोंको शीघ्र ही नष्ट कर देगा ।'

एक ज्ञानीकी फजीहत देखिये । वह बेचारा निर्गुण-निरञ्जनका चिन्तन कर रहा था, किंतु बरबस उसके ध्यानमें एक साँवला-सलोना गोप-कुमार आ जाता है । वह बेचारा उस कृष्णमूर्तिकी ओर आकर्षित हो जाता है । सच है, जादू वह जो सिरपर चढ़कर बोले । लाचार होकर वह ब्रह्मज्ञानी कहता है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

'जबतक मैं सारे संसारमें भासमान निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हूँ, तबतक बलात् मेरे हृदयमें हाय ! कोई अञ्जनकी ढेरीके समान काला-कलूटा मनोहर गोपकुमार प्रकट हो जाता है ।'

कृष्णानन्दके सामने बेचारा ब्रह्मानन्द हार मान लेता है—घुटने टेक देता है । एक दूसरा ब्रह्मज्ञानी कहता है—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयं गते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम् ।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥

'पाँचों प्रकारके क्लेशोंका क्रमशः क्षय हो जानेके बाद जो ब्रह्मसुख प्रकट हुआ, उसे व्यर्थ करता हुआ यह नराकार आनन्दकन्द श्यामसुन्दर हमारी आँखोंके आगे प्रकाशमान हो रहा है ।'

कृष्ण-भक्त 'ठाकुर' तो साँवरी सूरतको छोड़कर गोरे रूपको निहारना भी नहीं चाहते । वे तैशमें आकर कह बैठते हैं—

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

वन जाते हुए भगवान् रामको देखकर गाँवकी स्त्रियाँ भी उनके दिव्य रूपसे प्रभावित होकर कह उठती हैं—

आँखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनबास दियो है ।
(कवितावली)

बड़े भाग्यसे यह साँवली-सलोनी सूरत किसीकी आँखोंमें आकर बस जाती है । मैं भी यही चाहता हूँ कि मोहनकी वह मोहिनी मूर्ति मेरी भी आँखोंमें बस जाय, जिससे फिर मैं न तो किसी औरको देख सकूँ, न कोई दूसरा ही इस हृदय-हारिणी सूरतको देख पाये—

आ रे प्यारे मोहना, पलक मूँदि तोहि लेउँ ।
ना मैं देखूँ और कौं ना तोहि देखन देउँ ॥

द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावनमें भक्ति और भक्त-भाव*

(अनुवादक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

भारता—द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावनमें क्या पार्थक्य है ?

बाबाजी—द्वारकामें सम्बन्धभक्ति अवश्य है, किंतु वह स्वकीया है। उसमें विधि है। अर्थात् रुक्मिणी, सत्यभामा आदि महिषियाँ 'स्वामी ही परम देवता हैं, उनके प्रति अश्रद्धा रखनेसे नरककी प्राप्ति होती है' आदि शास्त्रवाक्यानुसार श्रद्धापूर्वक श्रीकृष्ण-भक्ति करती रही हैं। इसी प्रकार वसुदेव-देवकी आदिकी 'वात्सल्य' तथा उद्धव आदिकी 'सख्य'-भक्ति रही है। द्वारकामें ऐश्वर्य-मिश्रित सम्बन्धभक्ति देखनेमें आती है। मथुरामें यद्यपि कुब्जा आदिकी भक्ति परकीया-रसको लेकर है, फिर भी वह सकाम और ऐश्वर्यमिश्रित भी होनेके कारण आदरणीय नहीं मानी जाती। व्रजमें निष्काम, निरैश्वर्य एवं अहैतुकी भक्ति मिलती है, जिसका श्रीकृष्ण-सुखके अतिरिक्त और कोई ध्येय नहीं था। व्रजवासी श्रीकृष्णसुखार्थ पृथ्वी एवं स्वर्गके भोगों, यहाँतक कि मोक्षको भी त्यागने तथा नरकादिकी यन्त्रणाओंको सुवासित शिरीष कुसुमवत् ग्रहण करनेमें भी कुण्ठित नहीं होते। इस विषयमें एक घटनाका उल्लेख करना आवश्यक है—

एक दिन देवर्षि नारदने द्वारका आकर देखा—श्रीकृष्ण महिषियोंके बीच विभिन्न क्रीड़ाओंमें मग्न हैं! देखकर उनके मनमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताके सम्बन्धमें कुछ संदेह जाग्रत् हो गया। अन्तर्यामीने यह जानकर अपने ऐश्वर्यका प्रकाश किया। नारदने देखा—श्रीकृष्ण एक ही समय पृथक्-पृथक् सोलह सहस्र महिषियोंके साथ विभिन्न क्रीड़ाओंमें रत हैं। ज्ञान होनेपर नारदने मन-ही-मन श्रीकृष्णको प्रणाम किया और अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि द्वारकावासी जितने एकान्त भगवत्-परायण हैं, उतना और कोई नहीं है। श्रीकृष्णने सोचा—नारदकी इस भ्रमात्मक धारणाका संशोधन किये बिना काम नहीं चलेगा।

हठात् श्रीकृष्णको भीषण ज्वर हो आया। वे अत्यन्त व्याकुल होकर बार-बार कहने लगे—'ओह! भीषण यन्त्रणा! और अधिक सह्य नहीं! प्राण जाते हैं! सूर्यास्तके पश्चात् मेरा जीवन नहीं रहेगा।' सुनकर सभी घबरा गये। वेदनामें किसी प्रकारका भी अन्तर न देख नारदने पूछा—'प्रभो! क्या करना चाहिये?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'यदि मेरी कोई प्रेयसी सानन्द अपनी चरणरज एवं चरणामृत दे सके तो मैं तत्क्षण स्वस्थ हो जाऊँगा, अन्यथा……।' सुनकर नारद बोले—'यह क्या बड़ी बात है। जो महिषियाँ आपके लिये प्राणतक दे सकती हैं, उनके लिये चरणधूलि एवं पादोदक देना क्या बड़ी बात है!'

नारदने एक-एक करके रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंसे श्रीकृष्णकी अभीष्ट वस्तुएँ माँगीं। सभीने साश्चर्य कहा—'स्वामी यह कैसी बात कह रहे हैं! वे हमारे पति एवं परम गुरु हैं। उनको ये वस्तुएँ देकर क्या हम नरकमें गिरेंगी? ऐसा कभी नहीं हो सकता।' नारदने उन्हें नाना प्रकारसे समझाया—'श्रीकृष्ण घोर यन्त्रणा भोग रहे हैं और स्पष्ट कह रहे हैं—सूर्यास्तके पीछे मेरा जीवन नहीं रहेगा; ऐसी दशामें तुम्हारा यह कर्म किसी प्रकार भी उचित नहीं।' फिर भी वे किसीको भी चरणरज आदि देनेके लिये राजी न कर सके। नारद अत्यन्त दुखी होकर मथुरा गये। वहाँ भी कोई इस कार्यके लिये प्रस्तुत न हुआ। हठात् नारदके मनमें आया—वृन्दावनमें तो श्रीकृष्णकी अनेक प्रेयसियाँ थीं, एक बार वहाँ जाऊँ तो सही! परंतु वे मन-ही-मन सोचने लगे—'ये सब उनकी प्रधान प्रेयसियाँ हैं, जब इन्होंने ही चरणधूलि नहीं दी, तब वे गोपजातिकी होकर कैसे देंगी; किंतु एक बार जाकर तो देखूँ, संदेह तो मिट जायगा।'

नारदने वहाँ पहुँचकर देखा—सभी नर-नारी व्याकुल हैं, गौएँ ऊपरको मुख किये निहार रही हैं, वत्सगण मातृस्तन पान नहीं करते, पक्षीगण पके फलोंमें चोंच लगाये स्थिर होकर बैठे हैं। यह अवस्था देखकर नारद अवाक् हो गये।

गोपियाँ पूरी बात अभी सुनने भी न पायी थीं कि बोल उठीं—देवर्षि! श्रीकृष्ण इतना कष्ट पा रहे हैं! चरणामृत और रज देनेसे ही यदि वे स्वस्थ हो जायँ तो हम अभी देनेको प्रस्तुत हैं; जितना चाहें आप ले जायँ।

---

* श्रीयुत प्रेमानन्द भारती एवं श्रीधामपुरीके 'बड़े बाबाजी महाशय' के कथनोपकथनका हिंदी-भाषान्तर।

नारदने कहा—‘उनको अपना चरणामृत देनेसे तुमको अपराध लगेगा। अपराध होनेसे तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। तुम्हें इस बातका भय नहीं होता?’

गोपियोंने कहा—‘देवर्षि! कृष्णसुखार्थ यदि नरक भी मिले तो वह स्वर्गकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है! कृष्णसुखको छोड़कर स्वर्ग-सुख भी नरक है।’ यह सब देख-सुनकर नारद अवाक् हो गये और मन-ही-मन उनके प्रेमकी सराहना करने लगे—

धन्य-धन्य ब्रजवासो! धन्य ब्रजधाम!
कृष्णप्रेम हेतु तव धर्म-अर्थ-काम।
कृष्ण-हेतु सर्वत्याग अन्य कहीं नहीं,
अतएव कृष्ण-प्रेम-अवधि भी यहीं॥

यों कहते-कहते नारद गोपियोंकी चरणधूलि एवं चरणोदक लेकर द्वारका लौटे। दोनों वस्तुओंको शरीरसे लगाते ही श्रीकृष्णकी सारी यन्त्रणा दूर हो गयी। स्वस्थ होनेपर उन्होंने पूछा—‘नारद! चरणधूलि और चरणामृत कहाँसे लाये?’

नारदने उत्तर दिया—‘प्रभो! ब्रजसे।’

श्रीकृष्ण—‘ब्रजवासियोंका भाव कैसा देखा?’

नारद—प्रभो! मुझसे एक अपराध हो गया था, मैं आपके प्रेमकी दृष्टिसे ब्रजवासियोंको तुच्छ समझकर द्वारकाको प्राधान्य देता था, किंतु अब समझा—

ब्रजेर विशुद्ध प्रेम, लक्षवान येन हेम,
अन्यत्र नाहिक तार स्थिति।
अधिक रहुक दूरे, समान बलिये जारे,
सेहो नहे हेन मोर मति॥
कि आर बलिब प्रभु, हेन शुनि नाइ कभू,
नरक बलिया नाइ डरे।
तोमार सुखेर तरे, धर्माधर्म तुच्छ करे,
प्राण दिते पारे अकातरे।
प्रेमभक्ति बले जाहा, ब्रजेते देखिनु ताहा,
धन्य धन्य धन्य ब्रजजन।
वन्दौं दुइ कर जूड़ि, पुनः पुनः भूमे पड़ि,
ब्रजवासीगणेर चरन।

(भावानुवाद) ‘‘ब्रजका विशुद्ध प्रेम लाख बार तपाये हुए स्वर्णके सदृश है, जिसकी स्थिति (ब्रजके अतिरिक्त) अन्यत्र नहीं है। ब्रज-प्रेमसे अधिक किसीको कहना तो दूर रहा; मेरे मतमें तो उसकी समानता भी कोई वस्तु नहीं कर सकती। प्रभो! मैं और क्या कहूँ, कोई नरकसे भी न डरे—ऐसा कभी देखा-सुना नहीं। आपके सुखके पीछे वे (ब्रजवासी अथवा श्रीवृन्दावनवासी) धर्माधर्मकी भी चिन्ता नहीं करते—यहाँतक कि वे अपने प्राण भी अकातरभाव से दे सकते हैं। ‘प्रेम-भक्ति’ जिस वस्तुका नाम है, वह मैंने ब्रजमें देखी। ब्रजजनोंको धन्य है, धन्य है, धन्य है! मैं दोनों हाथोंको जोड़कर, बार-बार भूमिपर गिरकर ब्रजवासी-गणके चरणोंकी वन्दना करता हूँ।’’

तब श्रीकृष्ण सानन्द ब्रजवासियोंका गुण-गान करने लगे, जिसे सुनकर नारद एवं अन्यान्य द्वारकावासी अपनी हीनता अनुभव कर अत्यन्त लज्जित हुए। वस्तुतः ब्रजवासियोंकी निष्काम भक्ति अपूर्व है।*

श्रीयमुनाजीकी महिमा

पायक कौं पिय प्रेम प्रदायिनि, प्यारे पिया मन मोद बढ़ावनि।
स्नान औ पान करैयनि कौं निज तीर निकुंज निवास करावनि॥
कान परै जिन के मधुर ध्वनि, त्यौं ही सुधा सम ताप नसावनि।
कामदुघा सी मनोरथ पूरनि स्याम नदी घनस्याम मिलावनि॥

---

* श्रीवृन्दावन और ब्रजका एक ही अर्थ है।

राम-भक्त मारीच

(लेखक—डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०)

भगवान् रामके चरित्रके साथ मारीचका बहुत निकट सम्बन्ध है। न सीताजी उसकी स्वर्ण-देहपर मोहित होतीं, न राम उसका वध करनेके लिये जाते और न रावणका संहार ही होता। बहुत दिन पहले, महर्षि विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करते समय रामके बाणका स्पर्श उसको प्राप्त हुआ था। परंतु उस समय उसके प्राणोंकी रक्षा हो गयी। रघुपतिका अमोघ बाण लग जानेपर भी वह जीवित बना रहा था, केवल राम-कथाको आगे बढ़ाये रखनेके लिये—रामको रावणके पासतक ले जानेके लिये, रामकाजके लिये।

रामका चरित्र लोक-मानसका आदर्श चरित्र है। उसमें हमारे जीवनकी सहज दुर्बलताओंके सजीव चित्रणद्वारा हमारी वृत्तियोंको ऊर्ध्वगामी बनानेकी प्रेरणा है। रामका यह समझ लेना कि सुवर्णका भी हरिण हो सकता है, हमारे जीवनके उस पक्षकी ओर संकेत करता है, जब कि कुसमय उपस्थित होनेपर हमारी विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है, अनेक सहज भ्रान्तियोंको हम सत्यरूप स्वीकार कर बैठते हैं। स्वर्ण-हरिणके पीछे दौड़नेके पहले क्या रामको कभी भी यह विश्वास हुआ होगा कि सुवर्णका भी हरिण हो सकता है। परंतु बलिहारी है उस कुसमयकी, जिसने बुद्धिमें ऐसा फेर उत्पन्न कर दिया कि 'धाए रामु सरासन साजी', और सोचनेवाले सोचने लगे—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछें सो धावा॥

श्रीरामके चरित्रका यह पक्ष लोकजीवनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जब जैसी घटनाएँ घटित होनेको होती हैं, तब बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। हमारी आँखोंपर पर्दा पड़ जाता है और हम हित-अनहितके विभेदको विस्मृत कर बैठते हैं।

लोककी दृष्टिमें मारीच छल-कपटका प्रतीक है। परंतु भगवान् रामने उसको अपने धाममें स्थान दिया और उसकी मृत्युके समय देवताओंने उसके ऊपर पुष्पवर्षा की थी—

विपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुन गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ॥

भगवान्ने ऐसा क्यों किया? केवल उसके वास्तविक प्रेमके कारण, अन्तःप्रेमके कारण। भगवान् यदि अन्तरकी बात न जानें तो उन्हें अन्तर्यामी कौन कहे? भगवान्ने जिसका भी वध किया, उसको अपना धाम प्रदान किया; उसको मुक्तिका अधिकारी बनाया; क्योंकि उनकी दृष्टि नाम-रूपसे परे सर्वव्याप्त जीवनतक पहुँचती है। उनकी दृष्टि आकारकी सीमाओंसे आबद्ध न रहकर प्राणी-मात्रमें अविच्छिन्नरूपसे व्याप्त जीवन-धाराका दर्शन करती है। मारीचकी हृदयस्थ जीवन-धारा निर्मल थी। श्रीरामकी सूक्ष्म-दर्शिनी दृष्टि उस निर्मलताको स्पष्ट देख सकी थी। तभी तो—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

यहाँ यह निवेदन करना परम आवश्यक है कि 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'सुजाना' शब्दका प्रयोग बाईस बार हुआ है। गोस्वामीजीने रामके अतिरिक्त इस शब्दका प्रयोग उन विभिन्न व्यक्तियोंके लिये किया है, जो रामके महत्त्वको समझते हैं, उनके स्वरूपको समझते हैं। भरद्वाज, परशुराम, शिव, अवधवासी, इन्द्र, रन्तिदेव, दशरथ, भरत, सुतीक्ष्ण और राम-कथा-गायक काकभुशुण्डि—इनमें प्रमुख हैं। जो लोग काव्य और कविताके वास्तविक स्वरूपको समझते हैं, वे भी 'सुजान' हैं; क्योंकि कविताका कल्याणकारी स्वरूप रामभक्तिसे परिव्याप्त रहता है। यथा—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥

× × ×

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥

शङ्का होना स्वाभाविक है कि कहाँ भायप-भगतिसे भरे 'भरत' और भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप सुतीक्ष्ण और कहाँ असुर मारीच? राम भेद-भावसे परे होकर सबको मोक्ष प्रदान करते रहें, यह एक बात है, परंतु 'सुजान' कहकर मारीचको भक्तोंकी कोटिमें रख देना कहाँतक न्यायसङ्गत है?

श्रीरामके प्रति भरतकी अनन्य भक्ति लोकविदित थी। शत्रु भी उनकी राम-भक्तिके प्रति संदेह नहीं कर सकते थे—

भरत नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥

भरतकी सुजानताका आभास हमको चित्रकूटकी सभामें प्राप्त होता है। उनकी भक्तिके प्रवाहमें वसिष्ठ मुनि-जैसे

तपस्वीकी बुद्धि बहती हुई दिखायी देती है । भरत रामके सम्मुख पाँच प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं । विशेषता यह है कि पाँचोंमें भरतके वन-गमनका विकल्प है । अन्तमें वे यह भी कह देते हैं कि जग-मङ्गलका एक ही उपाय है—आपकी आज्ञाका पालन ।

प्रभु पद सपथ कहउँ सति भाऊ । जग मंगल हित एक उपाऊ ॥
प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब ।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब ॥

काकभुशुण्डिने मुनि-दुर्लभ गति प्राप्त की; क्योंकि वे 'सुजान' थे । उनके सुजान होनेका रहस्य यह है—

निज प्रभु दरसन पायउँ गए सकल संदेह ।

अगस्त्य मुनिके शिष्य सुतीक्ष्णके 'सुजान' होनेका रहस्य यह है कि वे मन, वचन, कर्म—सब प्रकारसे रामकी रतिको प्राप्त थे । उनकी गति राममें थी, उनकी मति राममें थी और उनकी रति केवल रामके प्रति थी, यथा—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना । नाम सुतीछन रति भगवाना ॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥

× × ×

फलतः उन्होंने जीवनका चरम फल प्राप्त किया—मुँहमागा वरदान पाया—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

रामके प्रति मारीचका अनुराग भी वस्तुतः इसी कोटिका था । उसके राम-प्रेममें कहीं भी त्रुटि न थी—

अस जिय जानि दसानन संगा । चला राम पद प्रेम अभंगा ॥

रामके चरणोंके प्रति अभंग प्रेममें आकण्ठ निमग्न मारीचसे मृत्युका भय कोसों दूर था । उस क्षण उसको राम-दर्शनका उत्साह था । उस उत्साहमें, उस आनन्दातिरेकमें वह फूला नहीं समाता है । कहीं ऐसा न हो कि उसके राम-प्रेमको देखकर रावण उसे रोक ले ! बस—

मन अति हरष जनाव न तेही । आजु देखिहउँ परम सनेही ॥

मन, वचन और कर्मसे रत होना ही अभंग प्रेमका लक्षण है । यही अनन्यभक्तिका स्वरूप है । सुतीक्ष्णकी राम-भक्ति इसी कोटिकी थी, मारीचकी रामके प्रति रति भी इसी कोटिकी है । देखिये—

निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं ।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं ॥
निर्बान दायक क्रोध जा कर भगति अबसहि बसकरी ।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी ॥

अनन्य भक्त मारीचके मनोराज्यकी एक झाँकी जो देख लेगा, वही कृतकृत्य हो जायगा—

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान ।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन ॥

उसके इस प्रेमके वशीभूत होकर भगवान् उसके पीछे दौड़ने लगते हैं । वे ही भगवान् जिनके स्वरूपका निरूपण वेद 'नेति-नेति' कहकर करते हैं, वे ही भगवान् जो विधि-हरि-शम्भुको कठपुतलीकी भाँति नचाते हैं, वे ही भगवान् जिनका गुणगान करते हुए नारद और शारदा थकते नहीं, वे ही भगवान् जिनका दर्शन तपस्वियों और ऋषियोंको दुर्लभ है और वे ही भगवान् जिनकी स्तुति करनेके लिये देवता तरसते रहते हैं । सचमुच मारीचके समान भाग्यवान् अन्य कौन हो सकता है ?

मरते समय बड़े-बड़ोंका विवेक नष्ट हो जाता है—

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥

परंतु धन्य है मारीच ! अन्त समय भी उसके मनमें रामका ध्यान था और मुखपर रामका नाम था—

लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा । पाछें सुमिरेसि मन महुँ रामा ॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा । सुमिरेसि रामु समेत सनेहा ॥

उसने छल-कपट छोड़ दिया, वह अपने अहंकार एवं दम्भको त्यागकर अपने वास्तविक रूपमें भगवान्‌के सम्मुख प्रकट हो गया । भगवान्‌के सम्मुख आत्मसमर्पण ही जीवनका चरम साध्य है । संसारोपयोगी छल-कपटको त्यागकर उस ओर उन्मुख होनेका नाम ही भगवान्‌की ओर प्रवृत्त होना है । इस ओर प्रवृत्त श्रेष्ठजनको स्वयं भगवान्‌ने यह आश्वासन दिया है—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

मारीचने अपने छल-कपटका भी त्याग किया और प्रेमसहित भगवान्‌का स्मरण भी किया । पहले वह भयवश भगवान्‌का स्मरण करता था—

मुनि मख राखन गयउ कुमारा । बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं । तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं ॥
भइ मम कीट भृंग की नाईं । जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥

अब प्रेमवश उनके सामीप्यकी कामना करता है । अन्त

समय उसने लक्ष्मणको बाहर निकालकर केवल रामके स्वरूपको ही हृदयमें धारण किया—

लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा । पाछें सुमिरेसि मन महुँ रामा ॥

जिसने यह कर लिया, उसने सब कुछ पा लिया। भगवान् अन्तर्यामी हैं, उन्होंने 'अन्तर प्रेम तासु पहिचाना', और उसको मुनि-दुर्लभ गति प्रदान कर दी।

निःश्रेयस-प्राप्तिके उपलक्ष्यमें सबने उसका गुण-गान किया, उसको बधाई दी और उसके प्रति सम्मान प्रकट किया—

विपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुन गाथ ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ ॥

रामको केवल प्रेम प्यारा है। मारीचको राम प्यारे थे। इस कारण रामको मारीच प्यारा था।

आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी और साधनमार्गमें भक्तका विचार

(लेखक—श्रीस्वामी त्यागीश्वरानन्दजी)

पूर्वप्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्क 'भक्तचरिताङ्क'में 'स्वामी प्रणवानन्दजी' शीर्षक एक प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। उसमें उनके दिव्य जीवनके सम्बन्धमें सामान्यतः कुछ व्यक्त किया गया था। इस प्रबन्धमें आज मैं, उनकी भागवत-जीवनके क्षेत्रमें भक्ति-साधनाके पथपर चलनेवालोंके लिये जो महान् देन है, साधकोंके कल्याणार्थ उसीकी आलोचना करूँगा। अध्यात्ममार्गके पथिकोंकी जीवन-धाराको सरलपथमें ले जानेके लिये मार्गद्रष्टारूपसे उन्होंने अपने साधनपूत जीवनमें आचरणके द्वारा जो महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित किये हैं तथा भक्तोंको जो अमृतोपदेश और कल्याणमयी वाणी सुनायी है, उससे अनुरागी और निष्ठावान् भक्तोंको अनुप्रेरणा प्राप्त होती है। उन आदर्शोंको आचरणके द्वारा जीवनमें उतारनेपर आत्मकल्याणकामी तत्त्व-जिज्ञासु साधक अभ्युदय और निःश्रेयसके पथपर अग्रसर होनेमें समर्थ हो सकते हैं। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ३-४)

'सब भूतोंमें समदृष्टि रखनेवाले लोग जो इन्द्रियोंको सम्यक्रूपसे निरुद्ध (विषयोंसे विमुख) करके इन्द्रियातीत, असीम, सर्वव्यापी, मनके भी अगोचर तथा कूटस्थ (मायाके द्वारा प्रसारित जगत्के अधिष्ठाताके रूपमें अवस्थित) जगत्के विकारमें स्वयं निर्विकार और नित्य (ह्रास-वृद्धि-हीन) परब्रह्मकी आराधना करते हैं, वे मुझ (सच्चिदानन्दविग्रह) को प्राप्त होते हैं।'

नित्य, निर्विकार, निरुपाधि, इन्द्रियातीत परब्रह्मकी आराधनाके लिये साधक अपनी इन्द्रियोंको संयत करे। भूतमात्रमें समदर्शीभाव जाग्रत् करे। यही इस श्लोकमें गीताकारने व्यक्त किया है। भागवतजीवनके लिये प्रथम सोपानपर आरोहण करनेवाले पुरुषको आचार्य स्वामी प्रणवानन्दने अध्यात्म-अनुशीलनके यथार्थ तात्पर्यकी व्याख्या करके शुद्ध, पवित्र और नैतिक जीवन बितानेका उपदेश दिया है। उनके मतसे त्याग, संयम, सत्य और ब्रह्मचर्यका अनुशीलन ही धार्मिक जीवनकी प्राप्तिका मूल है। इस महान् आदर्शकी अत्यन्त प्रयोजनशीलताके सम्बन्धमें सारे मत और पथावलम्बी एकमत हैं तथा सभी ब्रह्मचर्य और संयमकी साधनाकी महिमाका मुक्तकण्ठसे गान करते हैं। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिके संचयमें इसकी उपयोगिता अनिवार्य है। आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजीने विद्यार्थी और विरक्त लोगोंको अटूट ब्रह्मचर्य-पालनका तथा गृहस्थको संयत जीवन बितानेका उपदेश दिया है। वे कहा करते थे कि साधकको त्याग, संयम, सत्य और ब्रह्मचर्यकी ज्वलन्त जीवन्त प्रतिमूर्ति बननेकी आवश्यकता है।

स्वामीजीके वचन हैं—'जो इन्द्रियोंकी ताड़नासे, काम-क्रोधरूप भीतरी शत्रुओंकी उत्तेजनासे उत्पीडित हैं, कामना-वासनाकी ज्वालासे दग्ध हो रहे हैं, ऐसे मन और बुद्धिको लेकर यदि कोई धर्मभावनाको विकसित करना चाहता है, उसे पागलके सिवा और कुछ नहीं कह सकते। जहाँ इन्द्रियरूपी प्रबल शत्रुओंके ऊपर किसी प्रकारके नियन्त्रण या संयम-शक्तिका प्रभाव नहीं है, वहाँ किसी प्रकारका धर्मका प्रभाव नहीं रह सकता। जो लोग वीर्यधारण और इन्द्रियनिग्रहके द्वारा मनुष्यत्वकी साधनामें लगे हैं, वे मुझे मेरे प्राणों-

से भी प्रिय हैं ।' श्रीमद्भागवत तथा गीतामें अनेक स्थलोंपर स्वयं भगवान्‌ने इन्द्रियसंयमकी बारंबार प्रशंसा की है । शिवसंहितामें कहा गया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं परं तपः ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

'तपको तप नहीं कहा जाता, ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है । जो ऊर्ध्वरेता हो जाता है, वह मनुष्य नहीं, देवता है ।'

स्वामीजीने जीवमात्रको शिव मानकर उनकी सेवा करनेका आदर्श अपने जीवनमें आचरणके द्वारा उपस्थित किया है । वे सबके प्रति समदर्शी थे, वे ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं रखते थे । आगे चलकर उनके आदर्शसे अनुप्राणित भारत-सेवाश्रम-संघके संन्यासी कार्यकर्त्ताओंने आपामर सर्वसाधारण देशवासियोंकी सेवामें लगकर भारतीय संस्कृतिके महान् आदर्श सेवावादको उज्ज्वल रूप प्रदान किया है ।

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

'जो अपनेको तृणसे भी नीचा मानता है, वृक्षके समान सहनशील है, अमानी होकर मान देता है, उसके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं ।'

भक्त साधकके लिये ये गुण अपरिहार्य हैं । आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी कहते हैं—'आज्ञापालन, परस्पर प्रीति और श्रद्धा, अकृत्रिम विनय और असीम सहिष्णुता, सबके प्रति उदारता और पवित्रता—ये ही संघ-संतानोंके लिये अत्यन्त काम्य और पूर्ण कल्याणप्रद गुण हैं ।' उन्होंने श्वास-प्रश्वासमें नाम-जप करनेका निर्देश दिया है । वे कहा करते थे, 'खूब जप-ध्यान करो, इसके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता । चित्त-शुद्धिके बिना ज्ञान नहीं हो सकता । शुद्ध ज्ञानके बिना कभी धर्मभावना विकसित नहीं होती । जैसे कर्म करो, वैसे ही ध्यान-जप भी करो । दैनिक नियमित संख्या रखकर जप करना चाहिये और यह संख्या प्रतिदिन कुछ-न-कुछ बढ़ानी चाहिये ।' क्योंकि जहाँ भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन होता है, वहीं उनका विशेष अधिष्ठान होता है । विभिन्न शास्त्रों और पुराणोंमें नामकी अनन्त महिमा वर्णित है ।

श्रीभगवान् नारदसे कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

इस उद्देश्यसे स्वामीजीने भक्त साधकोंके मनकी पवित्रता बनाये रखनेके लिये श्वास-प्रश्वासमें नाम-जप करनेका उपदेश दिया है । नाम-जप जहाँ एक ओर मथनशील, बलवद् दृढ़, चञ्चल मनको धीरे-धीरे संयत करता है, उसी प्रकार इसके द्वारा मन और प्राण सरस और भक्तियुक्त हो उठते हैं ? तथा नाम-जपकी शक्तिके प्रभावसे जन्म-जन्मान्तरकी संस्कार-राशि विनष्ट हो जाती है । नाम-जपके द्वारा इन्द्रियाँ संयत होती हैं और काम-क्रोधादि रिपु-कुलका शमन होता है ।

भगवान्‌की पूजा-अर्चना, नाम-रूप-ध्यान और उनका गुणगान तथा यश-कीर्तनके साथ उन्हें आत्मनिवेदन करना भी साधकका एक विशेष गुण है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

समस्त धर्म-कर्म आदिका परित्याग करके एकमात्र उनके अभय चरणोंकी शरण ग्रहण करने, पूर्ण हार्दिक प्रेम, स्नेह-भक्तिके द्वारा उनकी पूजा करने, उनके महाभावमें सराबोर होकर आत्मलीन होने, उनके प्रति आत्मनिवेदन करनेपर वे अपने भक्त साधकका अपनी अहैतुकी कृपाके बलसे माया-मोह, पाप-तापसे उद्धार कर देते हैं । स्वामीजी कहते हैं—'मनको सदा गुरुमुख करके रखनेसे थोड़े ही समयके भीतर धर्म-जीवनके अनेक रहस्य प्रकट हो जायँगे । मन और प्राणको इष्ट देवतामें डुबा दो, समस्त पाप-ताप-दुर्बलताएँ दूर हो जायँगी ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

जो साधक श्रीभगवान्‌के चरणोंमें सारे कर्मोंका फल समर्पण करके, तद्गत-चित्त होकर उनकी आराधनामें अपनेको लगा देता है, वे शीघ्र ही उसका त्रितापतप्त अवस्थासे उद्धार कर देते हैं । स्वामीजी कहते हैं—'तुम जिसके शरणागत, शरणापन्न हुए हो, उसके ऊपर दृढ़ विश्वास, अचल भक्ति और पर्याप्त निर्भरता रखे बिना तुम्हारे लिये महामुक्तिका पथ सुगम न होगा । श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और निर्भरता ही तुम्हारे धार्मिक जीवनकी, नाना प्रकारके पाप-ताप, माया-मोह, भ्रम-भ्रान्तिसे रक्षा करेगी । निर्णीत और निर्धारित मार्गपर चलनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा करो । तभी तुम जिनके शरणागत और

शरणापन्न हुए हो, उनकी शुभ दृष्टि और शुभाशीर्वाद प्राप्त करके महान् आनन्दमय मुक्ति-पथपर अग्रसर हो सकोगे ।'

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
> (गीता १२ । १३-१४)

किस प्रकारका भक्त भगवान्‌को प्रिय होता है, यही बात उपर्युक्त श्लोकोंमें कही गयी है । जो सब भूतोंमें समदर्शी है, अर्थात् उत्तम जनोंके प्रति द्वेष-शून्य है, समानके प्रति मित्र-भावापन्न तथा दीनके ऊपर कृपालु है और ममता-शून्य है, अहंकाररहित है, दूसरोंके सुखमें सुखी और दुःखमें दुखी रहता है, क्षमाशील है, लाभ और अलाभमें सदा संतुष्ट रहता है, समाहित-चित्त है, मनको संयत रखनेवाला, भगवान्‌में दृढ़ निश्चय रखनेवाला और उन्हें आत्मसमर्पण करनेवाला है—इस प्रकारका भक्त ही भगवान्‌को प्रिय होता है । स्वामी प्रणवानन्दजीने साधक-जीवनमें कल्याण-पथका निर्देश करते हुए जीवके प्रति प्रेम-प्रीति और सहानुभूति रखनेकी शिक्षा दी है । उनका सेवामय सुशीतल हस्त सबके ऊपर समान भावसे प्रसारित होता था । उनके धर्माचरणमें अपूर्व परमत-सहिष्णुता थी, किसीके भी प्रति द्वेष, हिंसा या अहितकर भावका वे अपने हृदयमें पोषण नहीं करते थे ।

केवल जन-हितैषणा ही उनके जीवनका व्रत हो, ऐसी बात नहीं थी । दूसरे मूक जीव-जन्तुओंके प्रति भी उनकी असीम करुणा थी । उनके जीवनकी दो-एक घटनाओंका यहाँ उल्लेख किया जाता है । आचार्यदेवकी बाल्यावस्थाकी बात है । अपने बागके पश्चिम ओर किसी कारणवश जाकर वहाँ उन्होंने एक गोह देखी । वह गोह मृतप्राय पीड़ित अवस्थामें पड़ी थी । इससे उनके बालहृदयमें करुणाका उद्रेक हुआ । वे इस चिन्तासे व्याकुल हो उठे कि किस प्रकार गोहको बचाया जाय । पहले भोजन देनेकी बात उनके मनमें उठी । दोपहरके बाद जब सब लोग भोजन करके विश्राम करने लगे, तब चुपकेसे वे कुछ खाना और पानी लेकर गोहके पास पहुँचे । इस प्रकार कई दिन बीत गये । अचानक उनके एक बालक साथीने इसे देख लिया । उन्होंने उसको भली-भाँति समझा-बुझाकर अपने इस कार्यमें सहायक बना लिया । तत्पश्चात् जबतक वह गोह स्वस्थ होकर अन्यत्र चली नहीं गयी, तबतक इसी प्रकार उसकी सेवा और परिचर्या करते रहे ।

छात्रावस्थाके बाद युवावस्थामें आचार्य भावोन्मेषके समय भी नियमित गोसेवा करते देखे गये ।

स्वामीजी महाराज संयतचित्त थे । वे संयम-साधनाकी मूर्ति थे । संकल्पकी दृढ़ता और प्रखर बुद्धिमत्ता प्रकट होती थी उनके भागवत जीवनकी उदग्र तपस्यामें । वे कहते थे कि संकल्पमें और दृढ़ प्रतिज्ञामें जो अविचलित रहते हैं, कोई भी सिद्धि उनके लिये दुर्लभ नहीं होती । संकल्प भङ्ग होनेके पूर्व प्राण निकलनेको आतुर हो उठें—ऐसी व्याकुलता होनी चाहिये । जीवनके प्रत्येक कार्यमें उन्होंने संकल्पकी दृढ़ता प्रदर्शित की है ।

अहंकार साधकके जीवनमें पतनका मूल कारण होता है । प्रतिष्ठा शूकरकी विष्ठाके समान है—इसका उल्लेख उन्होंने अनेक स्थानोंपर किया है लोक-कल्याणके लिये । सेवा-बुद्धिसे निष्काम कर्म करनेकी प्रवृत्ति उनके जीवनके प्रत्येक कार्यमें दीख पड़ती है । उन्होंने मुमुक्षु साधक और भक्तकी आत्म-शक्तिको जाग्रत् करके आशाकी वाणी सुनायी—'यश, मान और प्रतिष्ठाको कुचलकर, अहंकार और अभिमानको चूर-चूर करके, प्रशान्त सुमेरुके समान धीर, स्थिर और अविचलित रहकर, समग्र नीरस प्राणको सरस बनानेके लिये, संतप्त प्राणको सुशीतल करनेके लिये, आत्मविश्वासके बलसे बली होकर, आत्मनिर्भरताका आश्रय लेकर विशेषरूपसे तैयार हो जाओ । भूल जाओ भीतरके रिपुओंकी उत्तेजनाको, इन्द्रियोंके उत्पीड़नको; बिसार दो पाप-ताप, आधि-व्याधिको; पकड़ लो विवेक और वैराग्यकी पैनी तलवारको; काटकर फेंक दो सारे माया-मोह, भ्रम-भ्रान्ति आदि कुसंस्कारोंके जालको । इस प्रकार नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव होकर परित्राण करो पतितका, आश्रय दो निराश्रयको, सुख-शान्ति-सान्त्वना दो संततको ।'

साधन-जीवनमें नाना प्रकारकी दुर्बलताएँ और खिन्नता आकर साधकके तपोमय जीवनकी अग्रगतिको रोक देती हैं । भक्त साधकको अचल निष्ठाके साथ कर्तव्य कर्ममें प्रीति करके, महामुक्तिके पथका व्रती बनानेके लिये स्वामीजीके तपोलब्ध सिद्धान्त अमृत-तुल्य रसायन हैं । स्वामीजीके मतानुसार आत्मतत्त्वकी प्राप्ति ही जीवनका चरम लक्ष्य है तथा त्याग, संयम और ब्रह्मचर्य ही धर्म-साधनके मूल हैं । वे आत्म-

विस्मृतिको महामृत्यु तथा आत्मबोध, आत्मस्मृति और आत्मानुभूतिको यथार्थ जीवन बतलाकर आत्मविस्मृतिका निषेध कर गये हैं । और वीरता, पुरुषार्थ, मनुष्यत्व और मुमुक्षुत्वको मानव-जीवनका महापुण्य तथा दुर्बलता, भीरुता, कातरता, संकीर्णता और स्वार्थपरताको महापाप बतला गये हैं । उनके मतसे समस्त कार्योंमें धर्मस्थिरता और सहिष्णुता ही महाशक्ति है । आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और आत्ममर्यादा साधकके जीवनके महासंबल हैं । तथा आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, जडता, आन्तरिक षड् रिपु और इन्द्रियाँ—इनको 'पाप' कहकर इनसे पिण्ड छुड़ानेका आदेश स्वामीजीने दिया है । उत्साह, उद्यम और अध्यवसाय भक्त-साधकके परम मित्र हैं ।

श्रीरूपकलाजीकी भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीजयरामदेवजी)

विश्व-विख्यात भक्तमाल-तिलककार श्रीरूपकलाजीका जन्म वि० संवत् १८९७ में हुआ था । ये डिप्टी इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्सके पदपर काम करते हुए तीन सौ रुपये मासिक पाते थे; किंतु अपनी सारी आय आप भगवान्‌की सेवा तथा संत-सेवामें लगा देते थे । फलतः आपपर सर्वदा ऋण ही बना रहता था । श्रीरामानन्दीय सम्प्रदायके प्रसिद्ध महात्मा श्रीरामचरणदासजीसे आपने दीक्षा ली थी । गृहस्थाश्रममें ही आपने इतना मूल्यवान् साधन किया कि आपको श्रीरामजीके दिव्य दर्शन होने लगे । श्रीसीतारामजीकी सखीका भाव धारणकर आपने सखी-स्वरूपकी सिद्धि प्राप्त कर ली थी । आप ध्यान-भावनामें इतने तन्मय हो जाते थे कि नौकरीके समय इनके बदलेमें इनका रूप धारणकर भगवान्‌ने तीन बार कार्य किया और एक ही समयमें दो स्थानोंपर ये पाये गये । सन् १८९३ ई० में पेन्शन होनेपर आपने अयोध्या आकर चालीस वर्षतक अखण्ड भजन किया ।

आपके द्वारा लाखों भक्त बने । 'अखिलभारतीय श्रीरूपकला-हरिनाम-यश-संकीर्तन सम्मेलन' का आपकी ही प्रेरणासे श्रीगणेश हुआ, जिसके द्वारा कीर्तनका देशमें महान् प्रचार हुआ । आपकी भक्तिमयी मूर्तिका दर्शन करते ही कैसा भी नास्तिक नतमस्तक हो जाता था । आपके हृदयमें भगवद्दर्शनके लिये प्रबल विरह-वेदना भरी रहती थी । आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती । आप कहा करते थे—

जब लगि मन नाहीं मरत, तनहू नहिं जरि जात ।
तब लगि मूरति स्याम की, सपनेहूँ न लखात ॥

कभी-कभी रात्रिमें एकान्त मन्दिरमें वे गीत गाते एवं नूपुर बाँधकर नृत्य करके भगवान्‌को रिझाते । कभी मीठी-मीठी बातें ऐसे घुल-मिलकर करते, जैसे विदेशसे लौटे प्रिय पतिसे तरुण पत्नी वार्तालाप करती है । वे कहा करते थे कि "भगवान्‌से नित्य मिलन चाहो तो 'बतियाव योग' सीखो । एकान्तमें ध्यानद्वारा अथवा प्रभुकी मूर्ति या चित्रके सम्मुख बैठकर उन्हें अपने हृदयकी सब बातें सुनाना ही 'बतियाव योग' है ।" इस योगकी बड़ी महिमा वे बताते थे । सूक्ष्म-रूपमें 'परम विरहासक्ति' ही उनका प्रधान साधन था । वे गाया करते थे—

सखि ! मोहि केते दिन तलफत बीते,
सुधि न लीन्हि पिय बिरहिन हिय की ।
आह धुवाँ मुख हिय बिरहागी,
ठाढ़ी जरौं जैसे बाती दिय की ॥

अब हम संक्षेपमें उनके कुछ उपदेशोंको यहाँ देते हैं । इन वचनोंमें बड़ा प्रभाव है—

श्रीरूपकला-वचनामृत-संग्रह

(१) सावधान रहकर कर्तव्यका पालन करना चाहिये ।

(२) श्रद्धा-विश्वास ही परमार्थकी पहली सीढ़ी है । अटूट अध्यवसायके साथ ईश्वर-प्राप्तिके लिये बढ़ो तो भगवान् अवश्य कृपा करते हैं ।

(३) एकनिष्ठ होनेसे ही कार्य सधता है, तब मनुष्य देव-कोटिमें पहुँचता है । सच्चा प्रेम देखकर भगवान् साधकको अपनी ओर आकृष्टकर अपना निज जन बना लेते हैं ।

(४) जिसे आत्मोन्नतिकी लगन लग जाती है उससे कुमार्ग-कुकर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं । उसे परोपकार प्रिय लगने लगता है । उसकी चेष्टा यही रहती है कि जिस संसारमें उसका जन्म हुआ है, वह दिन-प्रतिदिन उन्नतिकी ओर अग्रसर हो ।

(५) परमार्थकी दूसरी सीढ़ी है—अपने प्रिय परमात्माके साथ अनन्यतापूर्ण तन्मयता । चाहे आकाश टूटकर गिर जाय; वह सच्चे सेवकको प्रभुसे अलग नहीं कर सकता । वह अपने प्रभुके लिये जान हथेलीपर लिये फिरता है । उसका मन पूर्ण वैराग्यसे भर जाता है । खाना, पीना, श्वास लेना भी उसे अच्छा नहीं लगता, यदि उनके कारण प्रियतम पलमात्रके लिये भी बिछुड़ता हो ।

(६) श्रीहनुमान्‌जीको केवल एक श्रीरामकी चिन्ता थी । उनका सारा बल था श्रीरामके लिये । अपनी एकांगी भक्ति-भावके बलसे ही वे एक कुलाँचमें समुद्र लाँघ गये थे ।

(७) भक्ति-भावको दृढ़ करना और इन्द्रिय-सुखकी वासनाओंको दमन करना प्रत्येक जीवका कर्तव्य है ।

(८) प्रत्येक मुहूर्तमें साधकको यह विचार करते रहना चाहिये कि मेरा समय कहीं आलस्यमें तो नहीं नष्ट हो रहा है, परमात्माके चिन्तनके अतिरिक्त कोई दूसरी चिन्ता तो नहीं सता रही है ।

(९) ईश्वर-दर्शनके लिये सतत प्रतीक्षा ही भक्तिका पूर्णप्रकाश है ।

(१०) भगवान्‌से एकान्तमें नित्य विनय करें कि 'मेरा चाहे जहाँ जन्म हो पर आपका विस्मरण न हो । मुझमें अभिमानका लेश भी न रहे । मेरा मन इतना नरम रहे कि उसमें कभी कठोरताका नाम भी न आने पाये ।

(११) युग-युगान्तरकी सोयी हुई कसक एवं आकर्षण-शक्तिको विरह ही जगाता है । जीवात्मा जो सोया पड़ा है, उसे जगाकर प्रभुसे मिलानेवाली सखीका काम विरह ही करता है । जो कार्य अन्य साधनोंसे लाखों जन्ममें नहीं हो सकता, वह कार्य विरह अतिशीघ्र बना देता है, जिससे जीवको प्रभुका साक्षात्कार इसी जन्ममें हो जाता है । विरहाकुल भक्तकी वेदना प्रभुसे नहीं सही जाती, वे तत्काल उसके नेत्रोंके सम्मुख प्रकट हो जाते हैं ।

भक्ति-कौस्तुभ*

(लेखक—पं० श्रीरामशंकरजी भट्टाचार्य)

आदि-विद्वान् भगवान् कपिलदेवके द्वारा जो महान् भक्तियोग प्रवर्तित हुआ, उसीका इस लोकमें पञ्चशिख आदि आचार्योंद्वारा विस्तारसे निरूपण किया गया । इस भक्तियोगको प्राचीन कालमें सर्वार्थ-साधक घोषित किया गया था । उसीका दार्शनिक पद्धतिसे यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जाता है । ऋषियोंद्वारा अनुभूत पदार्थोंका उपदेश जिन प्रक्रियाओंसे होता है, उन्हींके समन्वयका नाम दर्शन हैं ।

भक्तिका प्रयोजन

चित्तके स्वभाव-वैचित्र्यसे, गुणों एवं वृत्तियोंके विरोधसे एवं व्यक्त वस्तुके संयोगसे 'मैं दुःखी हूँ' ऐसी बुद्धि सभी प्राणियोंमें उत्पन्न होती है । पैरमें चुभे हुए काँटेको एवं उससे रक्षाके उपायको जाननेवाला व्यक्ति ही जैसे कण्टकके चुभनेसे होनेवाली व्यथाको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार भेदजनित दुःखके नाशका उपाय भी उसके ज्ञानसे ही सम्भव है; अतः उस ज्ञानको अब सुनें । भक्तिसे तत्त्वज्ञान तथा आत्मामें (स्वरूपमें) स्थिति होती है, और स्वरूप-स्थितिसे ही दुःखका सर्वथा नाश सम्भव है; अतः उसका विचार किया जाता है । विभिन्न प्रकारकी रुचि रखनेवाले साधकोंकी भक्ति-सिद्धान्तके अनुगमनसे लक्ष्यमें स्थायी रति उत्पन्न होती है ।

'यस्य देवे पराभक्तिः' (जिसकी भगवान्‌में पराभक्ति है), 'श्रद्धावान् भजते' (श्रद्धालु पुरुष मेरा भजन करता है), 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा' (या ईश्वरके प्रणिधान—भजन या शरणागतिसे भी समाधिकी सिद्धि होती है) इत्यादि शास्त्रवचन ही इसमें प्रमाण हैं ।

भक्तिके साधनका फल

लौकिक प्राणियोंकी दृष्ट एवं आनुश्रविक सुखमें आसक्ति होती है; वह सुख भक्तिद्वारा प्राप्त होता है यदि वह योग्यके प्रति की जाय । योग्यके प्रति भक्ति करनेपर व्यक्तचित्तसे जिस सुखमय पदकी अभिलाषा की जाती है, वह प्राप्त हो जाता है । द्रष्टा-दृश्यके विवेक तथा शाश्वत शान्तिरूप अपवर्गको भी भक्ति प्राप्त करा देती है, यदि वह योग्यके प्रति की जाय । यही भक्ति यदि किसी अतपस्वीद्वारा मोहवश अयोग्यके प्रति की जाती है तो मोक्ष या स्वर्गकी प्राप्तिकी

---

* लेखकके एक अप्रकाशित संस्कृत-पद्यमय ग्रन्थके कतिपय चुने हुए श्लोकोंका भावानुवाद ।

और साधककी प्रगति नहीं होती। स्वर्ग आदि व्यक्त ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिये ऐश्वर्यवानोंको ही भक्तिके योग्य विषय कहा गया है। किंतु अपवर्ग सिद्ध करनेकी योग्यता समर्थ गुरुमें तथा सगुण परमेश्वरमें ही होती है। सजातीय कारणसे सजातीय कार्यकी उत्पत्ति होती है—इस नियमसे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्यादि स्मृति (गीता)-वाक्यके अनुसार योग्य विषयके प्रति ही भक्तियोगका विधान किया गया है।

भक्तिका लक्षण

चित्तको अभीष्ट स्थिति प्रदान करनेवाली महापुरुष (परमपुरुष)-विषयक जो भक्ति है, वह सर्वतीर्थोंकी शीर्ष-स्थानीय कही गयी है। युष्मत्प्रत्ययगोचर (जिन्हें 'तुम' कहकर पुकारते हैं) और अस्मत्प्रत्ययगोचर (जिन्हें 'मैं' कहकर पुकारते हैं)—ये दो ही पुरुष हैं, उनके प्रति यह भक्ति शास्त्र तथा न्यायकी युक्तियोंसे अनुष्ठेय है। ऐश्वर्य-युक्त आत्मबाह्य पुरुष युष्मत्प्रत्ययगोचर है। अव्यय प्रत्येक्-चेतन अस्मत्-प्रत्ययगम्य है। भक्तिके साधनमें चित्तकी स्थितिका ही ग्रहण होता है और वह केवल वृत्तिस्वरूपा नहीं हैं; क्योंकि यह माननेसे अव्याप्तिका दोष आता है।

भक्ति-साधनाका प्रकार

कर्मयोगियोंकी त्वं-पद-गोचर वस्तुके प्रति स्वाभाविक श्रद्धा होती है, जब कि स्थिर चित्तवाले ज्ञानियोंकी श्रद्धा अस्मत्प्रत्ययलक्षित पदार्थमें होती है। श्रेष्ठ कर्मयोगी बाह्य आलम्बनद्वारा योगको सिद्ध करते हैं। तथा अस्मत्प्रत्ययाश्रित ज्ञानीजन अन्तश्चेतनात्मक प्रत्ययकी ख्यातिसे उसी योगको सिद्ध करते हैं। 'त्वं' पदार्थके भजनमें वृत्तिकी अनन्यता आवश्यक है, और प्रत्यगात्माकी भक्ति सभी वृत्तियोंके निरोधसे साध्य है। ईश्वरमें, उनके अधीनस्थ भक्तोंमें तथा पूज्य व्यक्तियोंमें अनुलोमक्रमसे महत्त्व-बुद्धि ही 'त्वं' पदार्थकी पूजा है। प्रत्यगात्मा ज्ञानरूप है। वही बुद्धिका प्रतिसंवेदक (ज्ञापक) है। उसका आश्रय लेकर स्थित होना ही प्रत्यगात्माकी भक्ति है। वह मोक्षकी साधिका है, जैसा कि—

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति', 'मत्संस्थामधिगच्छति'

—आदि वचनोंसे उपनिषदों तथा गीतादि ग्रन्थोंमें कहा गया है।

युष्मत्पदार्थविषयिणी भक्ति

'त्वं' पदार्थसे यहाँ ईश्वर तथा ऐश्वर्यवान् सिद्ध गुरुओं-का ग्रहण किया गया है। चित्तस्थितिक्रमसे संवेगद्वारा इसमें आस्था की जाती है। एकमात्र ब्रह्मकी शरण लेनारूप कार्य निश्चय ही श्रेयस्कर है। इसमें योगीजन अनुरागात्मिका श्रद्धा करते हैं। तत्पश्चात् प्रतीकके प्रति आत्मभावका साधन करके सान्द्रानन्दसंदोहमें मग्न हो जानेपर उनकी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। सारा विश्व मुझमें है, और मैं सबमें स्थित हूँ—इस प्रकारकी भावना सत्वकी शुद्धि चाहनेवालेको करनी चाहिये। यह भक्ति अपने हृदयमें ध्येयके गुण आदिके चिन्तनसे साध्य है। इसमें बाह्यालम्बनकी आवश्यकता है। यह भक्ति परार्थ होनेसे अपरा कहलाती है।

अस्मत्पदार्थविषयिणी भक्ति

सब दोषोंके समाप्त हो जानेपर उस साधककी, जिसका द्रष्टामें स्थिति ही एकमात्र लक्ष्य है, जिसका निर्बीज ध्यान सिद्ध हो गया है, जिसे पर-वैराग्यकी कामना है तथा सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधसे जिसका चित्त संस्कारमात्रशेष रह गया है, स्वभावसे ही द्रष्टामें एकान्त तथा अचल स्थिति हो जाती है। निरोधभूमिके साधकोंद्वारा यही पराभक्ति कही जाती है। आत्मज्ञान इसके गर्भमें (छिपा) रहता है। इसमें अन्य किसी पदार्थका ज्ञान नहीं रहता तथा वह परमशान्तिकी भूमि है। सांख्यप्रोक्त तत्त्वोंका निदिध्यासन करनेवाले ज्ञानियोंकी उपायज्ञानसे द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। जिससे प्रत्यगात्मामें स्थिति हो, वही परम धर्म है। आत्मा सभी पदार्थोंकी अपेक्षा परम प्रिय है। 'पुरुषान्न परं किंचित्'—'पुरुषसे परे कुछ नहीं हैं'—यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है।

* * *

रामकृपाका महत्त्व

काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥

(सुन्दरकाण्ड)

ज्ञान-कर्म-युक्त भक्ति

(लेखक—आचार्य लौटूसिंह गौतम, एम्० ए०,एल,टी, पी-एच्. डी, काव्यतीर्थ, इतिहासशिरोमणि)

आजका संसार बड़ा ही क्षुब्ध और अशान्त है; जहाँ देखिये वहीं भय, त्रास और आतङ्क है । अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें अनैतिकता, नास्तिकवाद और राष्ट्रगत स्वार्थभावनासे हमारा संसार श्मशान हो रहा है; फ्रांसकी क्रान्तिके एक इतिहास-लेखक (Stephens) ने क्रान्तिके पहले फ्रांसकी जो दशा चित्रित की है, वैसी ही दशा आज विश्वकी है । उस समय नास्तिकवाद, परस्पर अविश्वास और घृणित स्वार्थ-बुद्धि व्यापक थीं; आज भी देश-विदेशोंमें मानव इसी भयंकर अशान्तिका शिकार है । आज भी क्रान्ति आ रही है । और तो क्या, विश्वराष्ट्रसंघ स्थायी शान्तिके लिये परीशान है, पर उसे भी सफलताकी मात्रा बहुत कम अंशोंमें मिल पाती है । ऐसे समयमें मुझे षोडशकलावतार, लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी गीताका स्मरण हो आता है । श्रीगीता जीवन-दर्शनका अमूल्य प्रकाश है । यह सारे विश्वका व्यापक धर्मग्रन्थ है । यह नीतिशास्त्रका वह कोहनूर हीरा है, जिसका मूल्याङ्कन हो ही नहीं सकता । यह बौद्धिक जगत्‌की वह सूर्यकान्तमणि है, जिसके आलोकसे सारा विश्व देदीप्यमान हो रहा है । आज विश्व उसी प्रकार किंकर्तव्यविमूढ हो रहा है, जैसे रणाङ्गणमें अर्जुन अज्ञानजनित मोहके कारण शोकार्त और किंकर्तव्य-विमूढ था । जबतक संसारका अज्ञानजनित मोह दूर न होगा, तबतक स्थायी शान्ति नहीं मिल सकती । वह मोह कैसे दूर होगा, इसी विषयकी मीमांसा करनेके लिये कुछ विचार 'कल्याण'के पाठकोंके समक्ष रखनेका प्रयास किया जा रहा है । आशा है पाठकगण उन्हें समझनेका यत्न करेंगे ।

मैंने ऊपर निवेदन किया है कि विश्वमें सम्पूर्ण मानवताका जीवन-दर्शन जैसा गीताने उपस्थित किया है, वैसा किसी अन्य ग्रन्थने नहीं किया है । इसका कारण यह है कि गीताने मानवके कर्तव्य-शास्त्रका निश्चय आध्यात्मिक आधारपर किया है; अतः इसका विवेचन सभी कालों, सभी देशों तथा समस्त मानव-जातिपर लागू है। यह विवेचन चिरंतन सत्यपर अवलम्बित है । यों तो गीताके मुख्य विषयपर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत एवं द्वैत-सम्प्रदायके आचार्योंकी विशिष्ट टीकाएँ उपलब्ध हैं और उन सभी आचार्योंका दृष्टिकोण उन-उन मानवीय स्तरोंके अनुसार समीचीन है। इधर लोकमान्य तिलकका 'गीतारहस्य' भी आधुनिक जगत्‌का अमूल्य ग्रन्थ है । इसमें तिलकने गीताका लक्ष्य माना है—ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग । तिलकने ज्ञानयोग या संन्यासको कर्मयोगके अन्तर्गत माना है । यहाँ किसी टीकाकारकी आलोचनाके लिये स्थान और समय नहीं है; पर इतना तो निवेदन करना ही पड़ेगा कि कहीं-कहीं टीकाकार अपनी धुनमें या विचारकी बहकमें मूल गीतासे अलग हो गये हैं ।

उदाहरणके लिये जहाँ श्रीगीताके ५ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें भगवान्‌का स्पष्ट आदेश है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

—अर्थात् जो परमधाम ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है, वही परमधाम निष्काम-कर्मयोगियोंको भी प्राप्त होता है; अतः जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्कामकर्मयोगको एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

वहाँ लोकमान्य तिलकका यह कथन कि संन्यास कर्मयोगके अन्तर्गत है, बौद्धिक जगत्‌को मान्य नहीं हो सकता । अधिकारीके, साधकके मानवीय स्तरके अनुसार दो स्वतन्त्र मार्ग हैं—इनमेंसे किसी एकका अनुयायी होनेसे भगवत्प्राप्ति या मोक्ष या कैवल्य मिल जाता है । इसी प्रकार अन्य टीकाकारोंने भी यत्र-तत्र खींचातानी की है । इसी लिये मेरे मान्य मित्र स्वर्गीय स्वामी सहजानन्द सरस्वती कहा करते थे कि जो गीताका रहस्य समझना चाहता है, वह यदि श्रद्धासे गीता-माताकी शरण ले और सात्त्विक बुद्धिसे उसका गूढ़ रहस्य समझनेका प्रयत्न करे तो श्रीगीता-माता उसे अपने उपदेशामृतकी एक बूँद पिला ही देंगी और वह साधक मुक्त होकर आनन्दमग्न हो जायगा । वास्तवमें गीता बड़ा ही रहस्यपूर्ण ग्रन्थ है, जिसके विषयमें कहा गया है—'व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा । और सत्यतः जो सत्यका सूर्य है, उसे मानव भला, क्या समझे । वह तो अपनी ही बुद्धिके चश्मेसे उसे देखेगा; यद्यपि मनुष्य निर्बल और अपूर्ण है, तथापि श्रद्धा, भक्ति और भगवान्‌की कृपासे उसे गीताका यत्किंचित् ज्ञान हो ही जाता है। अतः टीकाकारोंके क्षेत्रसे बाहर निकलकर केवल मूल गीताके आलोकमें उसके प्रतिपाद्यकी मीमांसा की जायगी ।

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से लेकर **'ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम'** पर्यन्त श्रीगीताके उपदेशोंका सहारा लेकर ही श्रीगीताका

मुख्य ध्येय निश्चित करना होगा। अस्तु, अठारहवें अध्यायके ७२वें श्लोकमें भगवान् अर्जुनसे प्रश्न करते हैं—'हे पार्थ ! क्या तूने इस गीता-शास्त्रका एकाग्र चित्तसे श्रवण किया और हे धनञ्जय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?' इसका उत्तर अर्जुन इस प्रकार देते हैं—'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। पाठकगण अन्ततोगत्वा अर्जुनके मुखसे ही सुन लें कि उनका मोह कैसे नष्ट हुआ—'श्रीकृष्णकी कृपासे।' अतः हमलोग मूलका ही आश्रय लेकर चलें।

अर्जुन रणाङ्गणमें आते हैं। अपने सगे-बन्धुओंको देखकर उन्हें अपना क्षात्रधर्म भूल जाता है। 'हम भाई, भतीजे, आचार्य, चाचा, पुत्र, पितामह आदिको कैसे मारें ?'—ये विचार लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे विवेकपूर्ण जान पड़ते हैं, पर परमार्थकी दृष्टिसे हेय हैं। अर्जुन व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊपर उठ चुके हैं, पर उनमें परिवारगत और जातिगत स्वार्थकी भावना बनी हुई है। जबतक वे इन स्वार्थोंसे भी ऊपर उठकर परमार्थकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं करेंगे, तबतक उनका आचरण हेय ही कहा जायगा। अखिल विश्वके विशाल दृष्टिकोणसे अपने कर्तव्यका निश्चय करना नीतिशास्त्रकी आज्ञा है। आज नहीं, हजारों वर्षोंसे भौतिक उन्नतिमें लगे हुए वर्तमान जगत्के उन्नत कहलानेवाले देश अपने राष्ट्रगत स्वार्थसे ऊपर न उठ पाये। श्रीभगवान्ने जिस समय अर्जुनके संकुचित दृष्टिकोणको व्यापक बनाना चाहा, उस समय अर्जुनको अपने आत्म-स्वरूपका भान तो था, पर ज्ञान नहीं था; अतः अहंकारवश वह अपनेको कर्त्ता मान रहा था। 'इस सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चको एक वही नटनागर अखिलेश्वर चलाता है, मनुष्य केवल निमित्त है, भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनका दृष्टिकोण इसी उदात्त सिद्धान्तके अनुकूल बदलना चाहा। इसीको परमार्थदृष्टि कहते हैं।

सारे अज्ञानका कारण संकुचित दृष्टिकोण है। जबतक भारत जातीयता, प्रान्तीयता अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ या परिवारगत स्वार्थका शिकार था, तबतक हम पराधीन थे। इस बीचमें एक गीताध्यायी महात्मा हमारे राजनीतिक क्षेत्रमें आया। उसने हमारा—सारे भारतका दृष्टिकोण बदल दिया; हम क्षुद्र स्वार्थोंसे ऊपर उठकर राष्ट्रिय स्वार्थको अपना स्वार्थ मानने लगे। महात्माने कहा, यह भी ठीक नहीं है; हम तो विश्वके स्वार्थको भारतका स्वार्थ समझते हैं।' सारा देश उठ गया और फलतः विदेशी शासकोंको भारत छोड़ना पड़ा।

अस्तु, भगवान् श्रीकृष्णने आत्माकी विशालता और अमरत्वको समझाकर अर्जुनके प्रति ज्ञानयोगकी सविस्तर व्याख्या की; फिर निष्कामकर्मयोग भी समझाया। ध्यान-योगका वर्णन करते हुए उन्होंने छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें यह घोषणा की—

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठरूपमें मान्य है।

पतञ्जलिके योगमें 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्रके अनुसार आत्म-साक्षात्कार करनेके लिये ईश्वरकी उपासना वैकल्पिक है, पर गीतामें ईश्वरका एकान्त भक्त ही सर्वश्रेष्ठ योगी है। गीताका निष्कामकर्मयोगी अपना विहित कर्म पूरी इमानदारीसे, पूरी शक्तिसे, अनासक्त होकर, फलाशाके बिना, अहंकारशून्य होकर, अपनेको निमित्तमात्र मानता हुआ उच्च मानवीय दृष्टिकोणसे, ज्ञान और विवेकके प्रकाशमें भगवत्कृपासे करता है और करता है लोकसंग्रहके लिये। अतः वह भक्तशिरोमणि है। गीताका ज्ञानयोगी इससे ऊपरके स्तरका होता है। वह अपने कर्तव्यको इस प्रकार करता है, मानो उसके लिये वह प्राकृतिक क्रिया हो गयी है। गीताके पाँचवें अध्यायके आठवें और नवें श्लोकोंमें उसका इस प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है—'वह तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी या ज्ञानयोगी या संन्यासी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, जागता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, आँखोंको खोलता हुआ तथा मीचता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें वर्त रही हैं—इस प्रकार समझता हुआ यह माने कि मैं कुछ नहीं करता। इस प्रकरणको १० वें श्लोकमें समाप्तकर भगवान्ने ११ वें श्लोकमें कर्मयोगीका पुनः वर्णन किया है।

आगे चलकर सातवें अध्यायके १६ वें तथा १७ वें श्लोकोंका अध्ययन करनेपर विदित होगा कि भगवान्ने अपने भक्त चार प्रकारके बतलाये हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी; और ज्ञानीको 'एकभक्तिः' कहा है। 'ज्ञानी' भी भगवान्का एकान्त 'भक्त' होता है। यदि उसके ज्ञानमें भक्तिका समावेश न हो तो वह ज्ञान नीरस और व्यर्थ होता है। अतएव यह निर्विवाद है कि गीताका ज्ञा

भी भक्त है; पर उस भक्तमें कर्मशीलता प्रधान है। १२ वें अध्यायके १३ वेंसे २० वें श्लोकतक भक्तके लक्षणोंका सविशेष वर्णन है। १३ वें, १४ वें श्लोकोंकी टीकामें स्वामी रामानुजाचार्य कहते हैं—'इस प्रकारके कर्मयोग द्वारा जो मुझको भजता है, वह मेरा भक्त है। (गीताप्रेसका रामानुजभाष्य, पृष्ठ ४०४) अर्थात् अपने स्वार्थसे ऊपर उठकर जो सदा सेवामें लगे रहते हैं, वे भगवान्के प्यारे हैं। ऐसे ही भक्तोंको भगवान् वह 'बुद्धियोग' देते हैं, जिससे वे भगवत्साक्षात्कार या मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं—देखिये दशम अध्यायका दसवाँ श्लोक। इसी प्रसङ्गमें सातवें अध्यायके १४, १५, १६, १७; आठवें अध्यायके १४, १५, २२; नवें अध्यायके १३, १४, १५, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४; दसवें अध्यायके ९, १०; ११ वें अध्यायका ५४ वाँ; बारहवें अध्यायके १३ से २० तक; चौदहवें अध्यायका २६ वाँ तथा अठारहवें अध्यायके ६५, ६६ वें श्लोक द्रष्टव्य हैं। इस मीमांसासे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगीताका परमलक्ष्य है 'ज्ञान-कर्म-युक्त भक्ति'। भगवान् शंकराचार्यने तो १२ वें अध्यायके 'भक्त'को 'संन्यासी' मान लिया है। अर्थात् जो सच्चे संन्यासी हैं, वे लोकसंग्रहके लिये सदा परोपकारके कार्य करते रहते हैं। ज्ञानोत्तर कालमें उनका कर्म कर्म ही नहीं रह जाता। दूसरे शब्दोंमें श्रीगीताका कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों ही भगवान्की भक्तिमें लीन रहकर सदा 'यज्ञार्थ' कर्म किया करते हैं, चुपचाप नहीं बैठते। जो लोग गीताका परमलक्ष्य कर्मयोग मानते हैं, उनसे गीताके ११ वें अध्यायके ३३, ३४ श्लोकोंकी संगति नहीं बैठती; ऊपर दिखाया जा चुका है कि मानव निमित्तमात्र है, तात्त्विक दृष्टिसे सब कुछ भगवान् ही करते हैं। उपर्युक्त मीमांसासे स्पष्ट है कि श्रीगीताका ज्ञानयोगी अभेद-बुद्धिसे भगवान्का भक्त है और कर्मयोगी भेदबुद्धिसे; हैं दोनों 'भक्त'।

इसके अतिरिक्त श्रीगीतामें उन मौलिक चिरंतन सत्योंका स्पष्टीकरण है, जिनके प्रखर आलोकमें जीवन-दर्शनका रहस्य हृदयंगम हो जाता है। उदाहरणके लिये चाहे आप ज्ञानयोगी हों या कर्मयोगी, आपको कुछ मौलिक गुणोंको अपने अंदर लाना ही होगा। उन गुणोंमें सर्वप्रधान चरित्रबल है; सारे छठे अध्यायमें मन, शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिको संयमित करनेका उपदेश है। इसी बातको दूसरे अध्यायके ५८वें श्लोकमें कहकर ६१वेंमें इस प्रकार दुहराया गया है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

सारी गीताका आधार है चरित्रबल। ५ वें अध्यायके २३ वें श्लोकमें कहा गया है कि जो काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ है, वही योगी है और वही सुखी है। इस प्रकार स्थान-स्थानपर इन्द्रिय-जयपर विशेष बल दिया गया है। 'स्वालवम्बन' श्रीगीताका दूसरा मौलिक सत्य है (देखिये छठे अध्यायका ५ वाँ तथा ६ ठा श्लोक)। श्रीगीताका तीसरा मौलिक विषय है 'स्वधर्मपालन'। श्रीगीताके १८वें अध्यायके ४६वें श्लोकमें—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

—अपने कार्य-द्वारा भगवान्की पूजा करनेकी बात कही गयी है। श्रीगीताके उपदेशको ही 'कार्य ही भगवान्की पूजा है' (Work is worship) कहकर आजकल दुहराया जाता है। स्वधर्म-पालनका इतना सुन्दर उपदेश विश्वमें अन्यत्र कहीं नहीं उपलब्ध होता।

गीताका चौथा मौलिक सिद्धान्त है—'भावशुद्धि'। मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार ही धर्माधर्मका भागी होता है—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।

पाचवाँ मौलिक सिद्धान्त है—'समत्वबुद्धि'

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।

छठा सिद्धान्त है—'श्रद्धा'। बिना श्रद्धाके सारे कार्य असत् हैं। सातवाँ सिद्धान्त है—जो कुछ करो, फलाशा छोड़कर करो। गीता सकाम कार्योंकी निन्दा करती है। आठवाँ सिद्धान्त है—'आसक्ति न रखना'। इसीको महात्मा गांधीने 'अनासक्ति-योग' कहा है। नवाँ मौलिक तत्त्व है—'भगवदर्पण'। और भी अनेक मौलिक तत्त्व हैं, जिनका वर्णन इस छोटे-से लेखमें सम्भव नहीं है। स्थूल दृष्टिसे ये ही गीताके चिरंतन मौलिक सत्य हैं। किंतु सबसे महान् और सर्वप्रधान तत्त्व है—ईश्वर-की शरणागति। इसीको गीताके १८वें अध्यायके ६१वें, ६२वें श्लोकोंमें इस प्रकार समझाया गया है—

'हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मानुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य

शरणको प्राप्त हो; उस परमेश्वरकी कृपासे ही तू शान्तिको और परमधामको प्राप्त होगा।'

ऐसा लगता है कि यह भगवान्‌का सबसे उपादेय उपदेश है; भगवत्कृपाके बिना हम अपने कार्य भी तो सम्पादन नहीं कर सकते। **मामनुस्मर युध्य च**—भगवान्‌को स्मरण रखो और युद्ध करो। (८। ७) इसे मैं भगवान्‌के उपदेशका सार मानता हूँ। श्रीगीताका अन्तिम श्लोक इस ग्रन्थ-रत्नका सुन्दर उपसंहार है। 'जहाँ योगेश्वर कृष्ण भगवान् हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।' सारांश यह कि श्रीगीताका परम लक्ष्य है—ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति। भगवान् शंकराचार्यने अपने गीताभाष्यमें प्रश्न किया है—'गीताशास्त्रमें निश्चय किया हुआ परम कल्याण (मोक्ष) का साधन ज्ञान है या कर्म अथवा दोनों?' इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—'आत्मज्ञान ही परम कल्याण (मोक्ष) का हेतु है।' इसपर बड़ी मीमांसा की गयी है। मेरा तो स्पष्ट मत यह है कि ज्ञान-कर्मयुक्त भक्तिसे ही आत्मज्ञान हो सकता है और यही भक्ति मनुष्यके मोक्षका साधन बन सकती है। गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्व-विवेचनी (पृष्ठ १८) में कहा गया है—'उपक्रम-उपसंहारको देखते हुए गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है।' मेरा सुझाव है कि गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है, यह शिष्टता एवं विनयकी भाषा है। पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी श्रीगीताका अन्तिम लक्ष्य भगवद्भक्ति ही माना है। जी० ए० ग्रियर्सनने Imperial Gazetteer, द्वितीय भागके पृष्ठ ४१४ में लिखा है—"The doctrine of Bhakti or faith was originally propounded in the famous Sanskrit verse called the Bhagavadgita" अर्थात् भक्तिका प्रतिपादन मूलतः श्रीमद्भगवद्गीतामें किया गया है। और भी अनेक विद्वानोंने यही माना है। अतः आज समस्त विश्वमें श्रीगीताकी ज्ञान-कर्मयुक्त भक्तिद्वारा आत्माके अनुकूल विशाल दृष्टिकोणसे न्याय और स्नेहका साम्राज्य स्थापित करना ही मानवका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। इसीसे स्थायी शान्ति होगी। क्या भारत इस ओर अग्रसर होगा? भगवान्‌से प्रार्थना है कि वह भारतको इस पवित्र कार्यके सम्पादनके लिये यथेष्ट शक्ति और बुद्धि दें। ॐ शम्।

श्रीरामचरितमानसमें भक्ति

(लेखक—श्रीजयनारायणलालजी)

श्रीरामचरितमानस भक्तिप्राण मन्त्रमय दिव्य बृहत् सद्ग्रन्थ है। इसका सर्वव्यापी लोकोत्तर प्रचार ही इसकी अनुपम उपयोगिता तथा सर्वमान्यताका परिचायक है। इसके रचयिता भक्तप्रवर कविकुलचूडामणि पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इस ग्रन्थमें भक्ति-रस-रञ्जित पीयूषप्रवाहपरिप्लावित भावुक भक्तजनोंकी शुद्ध हृदय-भूमिकापर प्रेमभास्करके उदयार्थ रसमय रश्मियोंको बिखेर दिया है।

प्रेम तथा पराभक्तिके प्रसङ्गोंसे ग्रन्थ ओत-प्रोत है। इसके सभी पात्र राम-पादारविन्द-मकरन्द-मधुप, महानुभाव, सगुणोपासनाके प्रेमी, प्रेमादर्श तथा भक्ति-पथ-प्रदर्शक हैं। दशरथका सत्य-प्रेम, भरतकी भावुकता, जनकका योगनिहित गूढ़ स्नेह, केवटका प्रेम, निषादकी निष्ठा, गीधका त्याग, शबरीकी सरलता, सुतीक्ष्णकी सुजनता, सुग्रीवकी सुहृदता, विभीषणकी शरणागति, हनुमान्‌का सेवक-भाव इत्यादि भक्ति-रसके जाज्वल्यमान उज्ज्वल उदाहरण हैं।

इष्टदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखारविन्दोपदिष्ट नवधाभक्ति, भक्तियोग, संत-लक्षण इत्यादि एवं महर्षि वाल्मीकिद्वारा निर्देशित चौदह भक्तिस्थान, भेद-भक्ति विवेचन तथा इसके आगे काकोक्त भक्ति-चिन्तामणि-रहस्य—इस भक्तिपूर्ण प्रसङ्ग-रूप अमूल्य रत्न ग्रन्थमें पिरो दिये गये हैं।

आदि-मध्य-अवसानमें रामभक्तिकी ही प्रधानता है। बालकाण्डके नाम-वन्दना-प्रकरणमें 'बरषा रितु रघुपति भगति०', 'भगति सुतिय कल करन बिभूषन'से उपक्रम करके अयोध्याकाण्डमें भक्तिके साक्षात् अवतार श्रीभरतलालजीकी महान् भावपूर्ण प्रेमप्रदर्शिनीका उद्‌घाटन मध्यमें रखकर श्रीकाकजीके भक्तिपूर्ण दिव्य राम-तत्त्व-रहस्यमय सारगर्भित प्रवचनोंसे ग्रन्थका उपसंहार किया गया है—

एहि महँ आदि मध्य अवसाना।
प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

१—श्रीभक्ति-चिन्तामणि

श्रीकाकभुशुण्डिजी लोमशऋषिद्वारा षडक्षर राममन्त्रमें दीक्षित, बालरूप श्रीरामके ध्यानमें प्रीति रखनेवाले, माधुर्य

लीलाका रसास्वादन करनेवाले, श्रीदाशरथि रामके सेवक-भावापन्न परम अनन्य भक्त थे।

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें गोस्वामीजीने भक्तिके स्वरूपका सुन्दर चित्र खींचकर उसमें अपूर्व, अनुभूत, अनुकरणीय उपदेशोंको ग्रथित कर दिया है, जिसके अनुशीलन तथा अनुसरणसे मानव अपने चरम ध्येयको प्राप्त हो सकता है।

(१) भक्ति-पक्षका आग्रह रखनेसे लोमशऋषिका शाप आशीर्वादरूपमें परिणत हो गया और उन्होंने काकजीको विविध वरदानोंसे विभूषित किया। सत्य है, भगवद्भक्ति बिना प्रार्थना-याचनाके ही 'सकल अभिमत दातार' और 'सकल अमङ्गल मूलका नाशक' है तथा अखिल अकल्याणको कल्याण-में रूपान्तरित करनेकी सामर्थ्य रखती है।

(२) रामभक्ति चिन्तामणिके समान है। इसका प्रकाश दिन-रात एकरस रहता है। मणि केवल रात्रिमेंही प्रकाश देती है, दिनमें उसका प्रकाश सूर्यमें लय हो जाता है और प्रलयमें नष्ट हो जाता है। किंतु भक्तिरूपी मणिकी बात दूसरी है।

(३) भक्ति-मणिके प्रभावसे कर्तृत्वाभिमान निःशेष हो जाता है। स्वप्नमें भी उसकी स्फूर्ति पुनः नहीं होती। भक्त सर्वरूपेण भगवान्पर ही निर्भर रहता है, अपनी स्थिति-को भगवदर्पित कर देता है। उसका निश्चित विश्वास होता है कि परमेश्वर ही सबके प्रेरक हैं—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गुसाईं॥

(४) भक्तिके प्रभावसे मलिन वासनाएँ या संकल्प उत्पन्न ही नहीं होने पाते।

(५) भक्ति भगवान्से भी श्रेष्ठ है। भगवान् स्वयं भक्तकी भक्ति करते हैं।

(६) भगवान्को ही इन्द्रियोंका विषय बनाना भक्ति है। समस्त इन्द्रियोंको प्राकृत विषयोंसे हटाकर भगवान्में ही लगाना तथा यह निश्चय करना कि श्रवणेन्द्रियसे केवल भगवान्की ही कथा सुनेंगे, रसनासे भगवद्यश ही गायेंगे, नेत्रोंसे भगवद्विग्रहका ही दर्शन करेंगे, घ्राणेन्द्रियसे भगव-दर्पित गन्धोंको ही ग्रहण करेंगे, त्वचासे भगवान्का ही स्पर्श करेंगे, हाथोंसे भगवान्के अर्चाविग्रहकी पूजा ही करेंगे, पैरोंसे रामतीर्थोंमें ही जायँगे इत्यादि—इसीका नाम भक्ति है।

(७) दूसरे शब्दोंमें कहें तो संसारसे विमुख होना और राम-सम्मुख होना ही भक्ति है। बिना प्रीतिके भक्ति अन्तः-करणमें दृढ़ नहीं होती। शृङ्गारादि पाँचों रसोंमेंसे किसी रसात्मक भावके साथ भजन होना चाहिये।

(८) चतुर-शिरोमणि भक्त फलकी महत्तापर ध्यान न देकर भक्तिको ही साधन और फल-सिद्धि जानता है—

तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ।

(९) भक्ति वेद-पुराणोंकी राम-कथारूपी खानोंमें गुप्त है, संतोंकी कृपासे प्राप्त होती है। अर्थात् भक्ति क्रिया-साध्य नहीं, वरं कृपासाध्य है।

२—भक्तिपरक घोषणाएँ

(१) सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
(२) अस बिचारि जो कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥
(३) गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।
(४) कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भवभय नासा॥
(५) सब कर फल खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
(६) रामहि सुमरिअ गाइअ रामहि। संतत कहिअ राम गुन ग्रामहि॥
(७) बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
(८) भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
(९) जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

३—श्रीभरतलालजीके प्रति उपदेश

संतोंके लक्षणों अङ्गुल्यानिर्देश करते हुए मुग्धता, प्रेम और पराभक्तिके विषयमें श्रीमुखके वचन हैं—

(१) जबतक जीव-बुद्धि रहती है, तबतक मनुष्य नवधा भक्तिका अधिकारी रहता है। मुग्धभक्तोंमें देहाभिमान अधिक और ज्ञान कम रहता है। ऐसे भक्त भगवान्को प्राणप्रिय होते हैं। ये शरीरसे सेवा करते हैं। यह भक्ति ममताकी नाशक है। किंतु जब देहाभिमान और ज्ञान बराबर होते हैं, तब जीवबुद्धि आती है और मनुष्य प्रेमाभक्तिका अधिकारी हो जाता है। उसको प्रेमास्पदसे क्षणभरका वियोग असह्य हो जाता है। प्रेमी सदा आनन्दविभोर रहता है। सूक्ष्मशरीरा-भिमानी होनेपर प्रेमा-भक्ति आती है, इससे बुद्धिद्वारा मदका नाश होता है। पुनश्च कारणशरीराभिमान-शोधनके लिये पराभक्ति करनी चाहिये, इससे मानका नाश होता है। इसमें

देहाभिमान नहीं रहता, केवल आत्म-बुद्धि रहती है और भगवत्-रूपमें अविरल—तैलधारावत् अविच्छिन्न अनुराग स्थिर हो जाता है। ऐसे पराभक्त भगवान्को प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं।

४—पुरजनके प्रति उपदेश

पुरजनोंको उपदेश देते हुए भगवान्ने स्वयं कहा है—

भगति सुतंत्र सकल गुनखानी।
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

फलितार्थ यह है कि ज्ञान और कर्म भक्तिके परतन्त्र हैं और भक्ति-रसहीन होनेपर तो वे व्यर्थ ही हैं; यथा—

सो सब करम धरम जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जाग कुजोग ग्यान अग्यानू।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

किंतु भक्ति कदापि ज्ञान या कर्मके अधीन नहीं है।
रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

अतः भक्तिके भिखारीको सत्सङ्ग करना चाहिये। विना सत्सङ्गके भक्ति न तो मिल सकती है और न जीवित ही रह सकती है।

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होइँ अनुकूला॥

पुनश्च—

संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

भगवान् भूतभावन भक्तिके भंडार हैं, अतः उनकी आराधना भक्ति-दायिनी है।

५—भेद-भक्ति

भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—एक अभेदभक्ति, दूसरी भेदभक्ति। भेद-भक्तिसे तात्पर्य सगुणोपासना—सेवक-सेव्य-भावका है। यह शब्द मानसमें तीन स्थानोंमें आया है—

(१) अरण्यकाण्डमें शरभङ्गजीके विषयमें—

तातें मुनि हरि लीन न भयऊ।
प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

(२) लंकाकाण्डमें दशरथजीके विषयमें—

तातें उमा मोच्छ नहिं पायो।
दसरथ भेद भगति मन लायो॥

(३) उत्तरकाण्डमें श्रीकाकजीके प्रसङ्गमें—

तातें नास न होइ दास कर।
भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥

भेद-भक्तिवाले मुक्तिका निरादर करके भगवान्के त्रिपाद-विभूति नित्य वैकुण्ठधाममें नित्य कैंकर्य्य-सौभाग्यके इच्छुक होते हैं।

शरभङ्गजी परम योगी थे। प्रथमतः ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्ममें लीन होना चाहते थे ब्रह्माजीके साथ वे; किंतु भगवान्के शुभागमनका संवाद पाकर ठहर गये कि यहीं लीन होंगे। किंतु दर्शनोत्तर रूपमाधुरीने उनके विचारोंको परिवर्तित कर दिया और उन्होंने सेवक-भाव माँग लिया। दशरथजीने भी पर-वैकुण्ठ साकेतधाममें कैंकर्य स्वीकार किया और काकजी बाललीला-माधुरीमें लीन रहे।

६—नवधा भक्ति

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अरण्यकाण्डमें दो स्थलोंपर नवधा भक्तिका उपदेश किया है—एक श्रीलक्ष्मणजीके प्रति 'श्रवणादिक', जो प्रवृत्तिपरक गृहस्थाश्रमियोंके लिये है; और दूसरा श्रीशबरीजीके प्रति 'सत्सङ्गादिक', जो निवृत्तिपरक विरक्तोंके लिये है। सत्सङ्ग इत्यादि दोनों प्रकारकी नवधाभक्ति भगवदुक्त कल्याणकारी है। साधकके लिये इसका अनुसरण श्रेयस्कर है।

७—अन्तिम लालसा

कामिहि नारि पिआरि जिमि
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर
प्रिय लागहु मोहि राम॥

बोलो भक्त और भगवंतकी जय!

गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित श्रीरामचरितमानसकी विशेषता

'रामचरितमानस' प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजीका सर्वजनकल्याणकारी महान् ग्रन्थ है। इसके अनेकों संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। परंतु गोस्वामीजीके हाथका लिखा ग्रन्थ प्राप्त न होनेके कारण किसी भी संस्करणके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि यही संस्करण सर्वांशमें गोस्वामीजीका पाठ है, यद्यपि प्रायः सभी प्रकाशकोंने अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति-सुविधाके अनुसार शुद्ध पाठ रखनेका प्रयास किया है। इस दिशामें गीताप्रेसकी ओरसे भी यत्किंचित् प्रयास किया गया और हिंदीके प्रख्यात विद्वान् पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी और पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके द्वारा सम्पादित संस्करण पहली बार वि० सं० १९९७ में प्रकाशित किया गया। इस संस्करणमें इक्कीस प्रसिद्ध संस्करणोंके पाठभेद भी दिये गये। इसीका तीसरा संस्करण अभी प्रकाशित हुआ है, जिसका मूल्य ३) है। इसमें मूल पाठ एवं पाठभेदके साथ-साथ मानस-व्याकरण भी दिया गया है। इसीके पाठके अनुसार गीताप्रेससे अबतक मानसके कई मूल और सानुवाद संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यही सर्वांशमें गोस्वामीजीके हाथकी लिखी प्रतिका पाठ है, और यह भी निश्चित है कि प्रमादवश इसके सम्पादन और मुद्रणमें भी कई भूलें रही होंगी, जिनके संशोधनके लिये हम सदा प्रस्तुत हैं। तथापि इसमें यथासाध्य प्राचीन पाठकी रक्षा करने, क्षेपक न देने और मनमाने रूपमें शैली तथा शब्दोंके रूपोंको न बदलनेकी ओर विशेष ध्यान रखा गया है। इसमें बालकाण्डके पाठका श्रावणकुञ्ज, अयोध्याकी प्राचीन प्रतिके आधारपर, अयोध्याकाण्डके पाठका राजापुरकी प्राचीन प्रतिके आधारपर, सुन्दरकाण्डके पाठका दुलहीकी प्राचीन प्रतिके आधारपर सम्पादन किया गया है और शेष चार काण्डोंके पाठका आधार प्रमुखतया श्रीभगवतदासजीकी सं० १७२१ की प्रतिको माना गया है। इसमें निम्नाङ्कित आठ विशेषताएँ हैं—जिनका आधार प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ, नागरी-प्रचारिणी-सभाका मान्य पाठ, मानसपीयूषका पाठ, मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठीका पाठ आदि हैं। इसीसे मिलते-जुलते पाठ प्राचीन ग्रन्थोंके वैज्ञानिक सम्पादनके कार्यमें प्रचुर परिश्रम करनेवाले भाषाविद् डा० श्रीमाताप्रसादजी गुप्तके संस्करणमें तथा नागरी-प्रचारिणीके नवीन संस्करण आदिमें भी है। गीताप्रेसके इस पाठ-निर्णयमें परमहंस श्रीअवधविहारीदासजी (नागा बाबा), प्रसिद्ध रामायणी श्रीजयरामदासजी दीन, मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, श्रीरामदासजी गौड़ आदि मानसके मर्मज्ञ विद्वानोंकी पूर्ण सम्मति प्राप्त थी।

आठ विशेषताएँ

(१) प्राचीन प्रतियोंके अनुसार जहाँ-जहाँ आवश्यक था, वहाँ 'राम'के स्थानपर 'रामु' शब्दका व्यवहार किया गया है। प्रायः सभी प्राचीन प्रतियोंको 'रामु' शब्द स्वीकृत है। गोस्वामीजीके द्वारा अकारान्त शब्दोंमें 'उ' की मात्रा जोड़े जानेका निर्णयात्मक प्रमाण भी मिल चुका है। गोस्वामीजीने टोडरमलकी सम्पत्तिके बँटवारेके सम्बन्धमें जो 'पंचायतनामा' लिखा है, उसके ऊपरके दो श्लोक और एक दोहा गोस्वामी तुलसीदासजीके ही हाथके लिखे हैं। इनमें श्रीगोस्वामीजीने 'रामु' और 'धरमु' शब्दोंका प्रयोग किया है।

(२) इसी प्रकार अन्यान्य शब्दोंमें भी व्याकरणसम्मत 'उकार' रखा गया है—जैसे दसरथु, जनकु, भरतु, धरमु, करमु, 'तरु', 'बरु', 'चापु', 'जहाजु' आदि।

(३) शब्दोंपर जहाँ-तहाँ व्याकरणसम्मत 'अनुस्वार' का प्रयोग रखा गया है। मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजीने भी ऐसा ही किया था। इस सम्बन्धमें मानसके प्रसिद्ध टीकाकार हिंदीके सर्वमान्य विद्वान् पण्डित श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी लिखते हैं—

"मानसमें जहाँ-जहाँ 'राम' का 'रामु' आया है, सब व्याकरणसम्मत है और उसका स्वतन्त्र अर्थ है। इसी तरह 'अनुस्वारोंका प्रयोग' भी व्याकरणसम्मत है।"

(४) कथाकी संगतिके लिये क्षेपक नहीं बढ़ाये गये हैं—जैसे

'चहुँ दिसि रेख खँचाइ अहीसा। बार बार नायउ पद सीसा ॥' आदि आदि।

(५) अवधी भाषाके अनुसार प्राचीन पाठ ही रखा गया है, उसे बदला नहीं गया—जैसे

'मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥'

इसपर हिंदीके प्रसिद्ध भाषाविद् तथा मध्यकालीन कवियोंकी भाषाके मर्मज्ञ श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी लिखते हैं—

"……प्रसङ्गवश मलिक मुहम्मद जायसीकी 'पद्मावत'की एक पंक्ति स्मरण हो आयी। इसके बसंत खण्डवाले अंशमें एक अर्धाली इस प्रकार आती है—

जो देखैं जनु बिषहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा॥"

(६) अवधीके 'तद्भव' शब्दोंको संस्कृतके 'तत्सम' न बनाकर 'तद्भव' ही रखा गया है—जैसे पेम, पेमु, सीय, सीया, सरऊ, जागबलिक, पिय, सिव, स्याम आदि।

(७) अवधीके शब्दोंमें पञ्चम वर्णका प्रयोग न करके अनुस्वारका प्रयोग किया गया है—जैसे सुंदर, मंदिर, कंज, पुंज, संख आदि।

इस सम्बन्धमें प्रसिद्ध सर्वमान्य विद्वान् हमारे उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री लिखते हैं—"संस्कृतके जानकार होते हुए भी तुलसीदासजीने संस्कृतके तत्सम शब्दोंका बहुत कम व्यवहार किया है। आजकल उनके द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दोंको शुद्ध संस्कृतका जामा पहनानेकी जो प्रवृत्ति कहीं-कहीं दीख पड़ती है, वह ठीक नहीं है। वाङ्मयके विद्यार्थीको कविने जो लिखा है, उसे पढ़ना चाहिये। कविको क्या लिखना चाहिये था, यह उपदेश देना उचित नहीं है। इसी तरह मेरा विश्वास है कि तुलसीदासजीने पञ्चम वर्णका स्यात् कहीं भी प्रयोग नहीं किया। इन्होंने अनुस्वारसे ही प्रायः काम लिया है।"

(८) दोहे-सोरठे आदिकी संख्या प्राचीन प्रतियोंके अनुसार ही दी गयी है।

गीताप्रेसके 'मानस-पाठ'के सम्बन्धमें प्राप्त बहुसंख्यक सम्मतियोंमें दो-चारके संक्षिप्त अंश ये हैं—

संत विनोबा—

श्रीरामचरितमानसके पाठके विषयमें दिये गये आक्षेपोंका जो उत्तर आपने दिया है, वह मैंने पढ़ लिया। मुझे तो यह जँचा है।

उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री माननीय श्रीसम्पूर्णानन्दजी—

…"मेरा जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान है, उसके आधारपर मैं इतना कह सकता हूँ कि आपके संस्करणकी गणना अच्छे संस्करणोंमें होनी चाहिये। उसका पाठ वैसा ही है, जैसा कि प्रायः प्राचीन लिपियोंमें मिलता है।

प्रयाग विश्वविद्यालयके हिंदी विभागके अध्यक्ष, भाषाविज्ञानके सुप्रसिद्ध पण्डित डा० धीरेन्द्र वर्माजी—

"…मैंने गीताप्रेसके मानसके संस्करणको मँगवाकर उसके पाठोंको ध्यानपूर्वक देखा।……इस संस्करणके पाठोंमें प्रायः प्राचीन रूपोंको ही मान्य समझा गया है।……"

बिहार सरकारके समाज-शिक्षोपनिर्देशक श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव'—

"……अबतकके प्राप्त पाठोंमें गीताप्रेसका पाठ नितान्त शुद्ध, व्याकरणसे परिपुष्ट एवं सर्वथा प्रामाणिक माना जाना चाहिये।"

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानके पण्डित, पश्चिमबंग विधानपरिषद्के सभापति श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी—

हमारे पूर्वजोंमें इस विषयका हमारे उन बहुसंख्यक आधुनिक विद्वानोंकी अपेक्षा कहीं अधिक विवेक था, जो वस्तुस्थितिको हृदयंगम किये बिना ही केवल शुद्ध संस्कृत रूपोंकी दुहाई देते हैं। अतः मैं उन सिद्धान्तोंका सोलहो आने समर्थन करता हूँ, जिनके अनुसार आपलोगोंने गीतप्रेस, गोरखपुरके लिये रामचरितमानसका पाठ तैयार किया है।

× × ×

मैं इस भाषा (रामचरितमानसकी भाषा) के सम्बन्धमें लंबा विवेचन कर चुका हूँ और उसमें आप देखेंगे कि अपने रामचरितमानसके संस्करणकी बर्तनी तथा व्याकरणके सम्बन्धमें आपने जिन सिद्धान्तोंका अनुसरण किया है, वे ऐतिहासिक दृष्टिसे सर्वथा समीचीन हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१४, मार्च १९५८ { संख्या ३
पूर्णसंख्या ३७६

ग्वाल-मण्डलीमें मोहन

ग्वाल मंडली में बैठे मोहन बट की छाँह, दुपहर बेरिया सखानि संग लीने ।
एक दूध, फल, एक झगरि चबेना लेत, निज निज कामरी के आसननि कीने ॥
जेंवत ऽरु गावत हैं सारँग की तान कान्ह, सखनि के मध्य छाक लेत कर छीने ।
सूरदास प्रभु कौं निरखि, सुख रीझि रीझि, सुर सुमननि बरषत रस भीने ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम सच्चिदानन्दघन परमात्माके सनातन अंश, स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा हो । जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, ह्रास-वृद्धि—ये सब शरीरके धर्म हैं । तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । तुम न जन्मते हो न मरते हो, न बूढ़े होते हो न बीमार होते हो, न बढ़ते हो न घटते हो । तुम तो सदा एकरस हो; भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों अवस्थाओंमें सम और एकरूप हो ।

याद रक्खो—समस्त चराचर जगत् आत्मामें है और आत्मा समस्त चराचर जगत्में व्याप्त है । वह अविकारी सर्वभेदरहित आत्मा तुम हो ।

याद रक्खो—मैं-तू, मेरा-तेरा, आकाश-पाताल, पशु-पक्षी, वृक्ष-पर्वत, सुर-असुर, मानव-दानव आदि दृश्यमान सभी प्रपञ्च मायाका विस्तार है । वस्तुतः आत्माके सिवा और कुछ है ही नहीं और वह नित्य सनातन आत्मा तुम हो ।

याद रक्खो—तुममें न हानि है न लाभ, न मान है न अपमान, न स्तुति है न निन्दा, न अपना है न पराया, न भोक्ता है न भोग्य । तुम नित्य स्वरूपस्थित एक हो । ये सब तुम्हारे ही संकल्पसे बने हुए तुम्हारे ही स्वरूप हैं । तुमसे भिन्न अन्य कुछ भी है ही नहीं ।

याद रक्खो—तुम्हीं जगत् हो, तुम्हीं जगत्से अतीत हो; क्योंकि तुम नित्य सर्वगत सर्वातीत परमात्मासे अभिन्न हो ।

याद रक्खो—भक्तकी भाषामें तुम अपने भगवान्के नित्य दास हो, पर वहाँ भी भगवान् और भक्त—इन दोके सिवा तीसरा कोई नहीं है । भगवान् और तुम भक्त एक होते हुए ही लीलानन्दके लिये दो बने हुए एक दूसरेको देखते रहते हो । एक दूसरेको सुखी करते रहते हो । एक दूसरेको मनाते रहते हो । एक दूसरेसे प्रेम करते हो और एक दूसरेमें रमते हो । तुम प्रेमी हो, भगवान् प्रेमास्पद हैं; तुम रसमय हो, भगवान् आनन्दमय हैं । यह आनन्द-रस-लीला दिव्य, अनिर्वचनीय और नित्य है ।

याद रक्खो—जो लोग न तो अपनेको आत्मा मानते हैं और न भगवान्के दास—वे स्वरूपतः नित्य सच्चिदानन्दमय आत्मा या नित्य भगवत्-किंकर होते हुए भी मायाके नित्य दास बने रहकर मायाके चक्करमें पड़े विभिन्न दुःख भोगते रहते हैं । आनन्दमय होते हुए ही विषादमय बने रहते हैं, स्वयं अमृतरूपके अमरस्वरूप होते हुए ही बार-बार मरते रहते हैं । इन्हीं लोगोंको लेकर संसार नित्य दुःखालय और सदा अनित्य है ।

याद रक्खो—मानव-शरीर इसीलिये मिला है कि बार-बार मिथ्या मृत्यु देकर सतानेवाले इस अज्ञानराज्यसे निकलकर परमात्माके स्वरूपको समझ लें और फिर अपने स्वरूपको समझकर नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपमें पहुँच जायँ । फिर चाहे सदाके लिये मिल जायँ या सदा दो बने चिदानन्दरसका आस्वादन करते रहें ।

याद रक्खो—मानवशरीरमें ही यह सुअवसर प्राप्त है। अन्य योनियोंमें न यह ज्ञान होगा न प्रेम । इसलिये अन्य सारे कार्योंको छोड़कर, भूलकर या कम-से-कम उन्हें गौण मानकर इस परम प्रयोजनीय सबसे पहले सम्पादन करने योग्य कार्यमें लग जाओ ।

याद रक्खो—यह कार्य कठिन नहीं है; क्योंकि सत्य स्वरूपको पानामात्र है । यह निश्चित नित्य प्र तत्त्व है ।

'शिव'

स्वधर्मपालनकी आवश्यकता

(प्रेषक—श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल)

[आनन्द-गणेशघाट परमट, कानपुरमें होनेवाले गीताज्ञानयज्ञमें दिनाङ्क ३ दिसम्बर, १९५७ को श्रीस्वामी रामदेवजी महाराजद्वारा दिये गये उपदेशका सारांश]

आजकी दुनिया बहुत विचित्र है। धर्मके नामपर आज अनेकों धूर्त नाना प्रकारके पाखण्ड रच रहे हैं। ये अनेकों स्वाँग रचते हैं, अपनेको भगवान् और ब्रह्मा कहकर जनताको सुख और शान्ति प्राप्त करानेका लालच देते हैं। संतप्तहृदय जनता इन धूर्त प्रचारकोंके जालमें फँसकर पथभ्रष्ट हो जाती है। भोली-भाली नारियाँ अधिकतर इनका शिकार बनकर धन-धर्म दोनों खो बैठती हैं। इस प्रकारके पाखण्डोंमें विषय-वासना प्रधान होती है, इसलिये आजके अनेकों पढ़े-लिखे विषयी मनुष्य इनमें सम्मिलित हो जाते हैं और इनके प्रचारके मुख्य साधन बन जाते हैं।

धार्मिक ग्रन्थोंमें धर्मका सिद्धान्त बताया गया है। गीतामें भी भगवान्ने सिद्धान्त बताया है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कल्याणके लिये ही गीता सुनायी थी, जनताके कल्याणके लिये ही ऋषि-मुनि उपदेश करते थे। आज पाखण्ड-मत चल रहे हैं, जिससे सच्चे धर्मका ह्रास होता जा रहा है। रामायणमें कहा है—

जिमि पाखंड बाद तें लुप्त होहिं सदग्रंथ।

पाखण्ड-प्रचारकोंमें पापकी भावना रहती है और वह अनर्थमूलक सिद्ध होती है; उससे सुख-शान्ति तो मिलती ही नहीं, तृष्णा और विषय पल्लेमें पड़ जाते हैं। एक महात्मा-नामधारी जीव बीस आने लेकर भगवान्के दर्शन कराते थे। जब कोई बीस आने देकर समीप जाता था तो वे कह देते थे कि 'सभी भगवान् हैं, सभी ईश्वरका रूप हैं तथा मेरा भी ईश्वररूप है।' भोग-विलास और धन-सम्पत्तिके लिये आज अनेकों पाखण्ड धर्मके नामपर चल रहे हैं। यह सब धोखा है, पापमूलक है और धन-धर्म दोनोंको नष्ट करनेवाला है। अपनेको भगवान् और ब्रह्मा बताकर जो वे कहते हैं, उसे सुनना भी पाप है।

गीतामें भगवान्ने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सभी धर्मोंमें कोई-न-कोई दोष होता है; किंतु स्वधर्मपालन अच्छा होता है। अपना धर्म वही है, जो स्वभावके अनुसार हो। इससे श्रेयकी प्राप्ति होती है। अपना धर्म तजकर मनुष्य विषयोंमें लिप्त हो जाता है।

धनके लिये विद्या नहीं पढ़ी जाती, परंतु शान्ति और सुख पानेके लिये विद्या पढ़ी जाती है; क्योंकि धनसे शान्ति नहीं मिलती। इसीलिये ब्राह्मण धनसे विरक्त रहता था। परंतु आज तो ब्राह्मण भी धनके लोभसे शास्त्रकी बात भी ठीक-ठीक नहीं कहते। संन्यासीको विरक्त रहना चाहिये। उसे भिक्षा भी उतनी ही ग्रहण करनी चाहिये, जितनेसे जीवनका निर्वाह हो जाय। निर्धन गरीब-जैसा उसका जीवन होना चाहिये। यदि संन्यासी ठाटसे रहेगा तो गृहस्थको उससे क्या आदर्श मिलेगा। त्यागसे ही आत्माको शान्ति मिलती है।

जब धर्म अधिक होता है, तब पृथ्वीकी उर्वरा शक्ति भी अधिक होती है। आज चारों ओर पापका बाहुल्य है, इसीलिये पृथ्वीकी उर्वरा शक्ति क्षीण होती जा रही है। चारों ओर अकालके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रकृति भी विपरीत होती जा रही है। ये सब विनाश-

के लक्षण हैं। आज सच्चे महात्माओंके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं और यदि कहीं हो भी जाते हैं तो दुनिया उनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक सुनती नहीं। शास्त्रकी बात आज हम नहीं मानते, मर्यादाका पालन नहीं करते, फिर भी धर्म-धर्म चिल्लाते हैं। इस तरह आजका व्यापार चल रहा है। पाखण्डके आगे सच्चा धर्म लुप्त होता जा रहा है। अर्थात् अपने धर्म-ग्रन्थोंको हम पढ़ते नहीं, मनन नहीं करते, इसीलिये हमारा पतन होता जा रहा है। यदि आप सब धर्मके सच्चे स्वरूपको जानना चाहते हैं तो अपने धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन कीजिये और सच्चे संतोंका समागम कीजिये। जो सच्चे मन ईश्वरका भजन करेगा, वही इहलोक और परलोक कल्याण-प्राप्तिका अधिकारी होगा। भगवान् छल औ कपटसे कभी प्रसन्न नहीं होते। इसीलिये गीता स्वधर्म-पालनपर विशेष बल दिया गया है। गीता अभिप्रायको ठीक-ठीक समझ लेनेपर मानव किसी पाखण्ड-जालमें नहीं फँसता और स्वधर्मपालनसे उस अन्त:करण निर्मल हो जाता है। अन्त:करणकी निर्मल से भगवान्का ज्ञान अवश्य हो जायगा—इसमें को संदेह नहीं।

* * *

व्यापार बनाम जनसेवा

(लेखक—श्रीविनोबाजी)

आज व्यापारियोंकी एक सभा हुई, जिसमें मुख्य व्यक्ति आये थे। हमने देखा कि सर्वोदयके प्रति सबकी सहानुभूति थी। सर्वोदय-विचारकी एक खूबी है कि इसमें विरोध पैदा होनेके पहले ही शान्त हो जाता है। यह एक विशेष विचार है, जिसके अनुसार मनुष्य-मनुष्यके हितोंमें विरोध नहीं है। आजकल लोग समाजको दो टुकड़ोंमें बाँट देते हैं और उनके बीच विरोधकी कल्पना करते हैं, फिर उस विरोधको मिटानेके लिये कई बातें खड़ी करते हैं। यह सब-की-सब एक कल्पना-सृष्टिमात्र है। लेकिन कल्पना-सृष्टिको राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्रका रूप दिया गया है। इसलिये दुनियाभरमें जहाँ-कहीं देखें, झगड़े-ही-झगड़े चल रहे हैं। बहुसंख्यकके विरुद्ध अल्पसंख्यकका सवाल हर जगह खड़ा है। उससे समाजके दो टुकड़े बनते हैं और समाजको टुकड़ोंमें सोचनेकी आदत ही पड़ जाती है। विद्यार्थियोंका एक संघ बनता है, जो समझता है कि विद्यार्थियोंके हितका ख्याल करनेकी जिम्मेवारी उसकी है। उसके अलावा सारी दुनिया मानो उसके खिलाफ खड़ी है। इस तरह विद्यार्थीविरुद्ध शिक्षक, बूढ़ेविरुद्ध जवान, स्त्रीवि पुरुष, मजदूरविरुद्ध मालिक आदि पचासों विरोध नि होते हैं। क्या ये सारे विरोध वास्तवमें होते हैं? वास में अगर कोई विरोध होता है तो एक ही है—दै सम्पत्ति-विरुद्ध आसुरी सम्पत्ति। दुर्गुण और सद्गुण विरोध है, जिसकी लड़ाई हर एकके दिलमें चल रही है हर एकके मनमें कुछ अच्छी और कुछ बुरी वृ कम-बेशी मात्रामें रहती हैं, जिनका झगड़ा चलता र है। मन बड़ा कुरुक्षेत्र है, उसके अलावा दुनियामें कहीं भी झगड़ा नहीं है। अगर कहीं झगड़ा पैदा हु सा दीखता है, तो जो अंदर है, उसका वह प्रति स्वरूप है।

व्यापारी लोभवृत्ति दूर करें

मैं लोभी बन गया, संग्रह करता हूँ; मेरे मनमें का जो दोष पड़ा है, उसका परिणाम यह होता है समाजमें दूसरा प्रतिलोभ पैदा होता है। फिर निर्माण होते हैं, वे चोर तो निमित्तमात्र हैं। मेरे

जो लोभ है, जो मुझे नाहक संग्रह करनेके लिये प्रेरित करता है, वही चोरके रूपमें बाहर दिखायी देता है— इस बातको मैं नहीं समझता; बल्कि उस चोरको अपना विरोधी मानता हूँ। वास्तवमें उसके और मेरे बीचमें विरोध है नहीं, वह चोर तो मैंने पैदा किया है। मेरे मनमें अच्छी और बुरी वृत्तियोंकी जो लड़ाई चल रही है, उसमें अगर लोभ बलवान् बन गया तो सामने वह चोरका रूप लेकर खड़ा होता है। लेकिन अगर मैंने लोभको यहीं निर्बल बना दिया तो वह चोरके रूपमें बाहर खड़ा नहीं होता। लेकिन मैं इस बातको नहीं समझता और उस चोरके बंदोबस्तके लिये योजना करता हूँ। पुलिस, न्यायालय, न्यायाधीश और जेलकी योजना बनाता हूँ; लेकिन अपनी लोभ-निवृत्तिके लिये कोई भी योजना नहीं करता। अगर इधर लोभ रहेगा तो पुलिस और जेलके रहते हुए चोर बना ही रहेगा। यह समझनेकी बात है, हमने व्यापारियोंके सामने यह बात रखी।

अंग्रेजोंको भारतमें कैसे राज्य मिला ?

हमने उनसे यह भी कहा कि 'हिंदुस्तानमें अंग्रेज ७००० मीलकी दूरीसे आये और यहाँ सत्ताधारी बने; यह चमत्कार कैसे हुआ ?' उसका जो कारण हमने समझा है, हमने उनके सामने उसे रखा। अंग्रेज यहाँ व्यापार करनेके लिये आये। उन्हें उस समय कोई ख्याल नहीं था कि हमें हिंदुस्तानका राज्य हाथमें लेना पड़ेगा। कहाँ इंग्लैंड और कहाँ हिंदुस्तान। इतनी दूरसे बेचारे मुट्ठीभर लोग नौकामें बैठकर कुछ माल लेकर हिंदुस्तान आये और यहाँके लोगोंको अपना माल दिखाने लगे। उस हालतमें भी यहाँके लोगोंका प्रेम-सम्पादन करनेका काम ही वे कर सकते थे। दूसरा कुछ कर ही नहीं सकते थे। समझना चाहिये कि उन्होंने इतनी दूरसे इस विशाल देशमें आकर यहाँके लोगोंमें विश्वास पैदा किया। उस वक्त यहाँके जो व्यापारी थे, उनमें और साधारण समाजमें स्नेहबन्धन और परस्पर विश्वास नहीं था। अगर वह होता और यहाँके व्यापारी समाजकी सेवामें लगे होते तो अंग्रेजोंका राज्य यहाँ नहीं होता। लेकिन उन्होंने देखा कि यहाँके व्यापारी समाजको कष्ट देते हैं, अपनेको ऊँची और दूसरेको नीची श्रेणीका समझते हैं। यहाँ जाति-भेद पड़े हैं और यहाँके व्यापारी लोगोंका प्रेम प्राप्त करने और सेवाके ख्यालसे नहीं बरतते। अंग्रेजोंने यह सब देखा तो उनका पाँव यहाँ जम गया। फिर यहींके लोगोंके साथ व्यापार करके उन्होंने पैसा कमाया, यहींके लोगोंकी सेना तैयार की और यहाँपर जो जाति-भेद और परस्पर-विरोध बहुत थे, उनसे लाभ उठाकर आखिर उन्होंने राज्य अपने हाथमें ले लिया। अस्तु, जो हुआ सो हुआ, उससे दुःखित होनेकी बात नहीं है। वह तो अब एक स्वप्न हो गया है। अब हिंदुस्तानको स्वराज्य प्राप्त हुआ है। परंतु उस इतिहासके स्मरणकी बहुत जरूरत है, उससे हमें यह सीखना है कि व्यापारियोंको जनसेवकके तौरपर रहना चाहिये, तभी हिंदुस्तानकी ताकत बन सकती है। इतिहाससे और एक बात सीखनी है कि यहाँ जो व्यवस्थापक होते हैं, जो राज्यकर्ता कहलाते हैं, उनमें परस्पर-विरोध, झगड़े नहीं होने चाहिये। अगर ये दो बातें होती हैं तो आप देखेंगे कि हिंदुस्तानका कायापलट हो जायगा।

समाजमें वर्गकी कल्पना असत्य

हम कहना यह चाहते हैं कि समाजमें वर्गोंकी कल्पना करना ही गलत है; यह सारा वर्गोंका विचार पश्चिमसे आया है और उसके आधारपर पश्चिमवालोंने कई प्रकारके राजनीतिक विचार बनाये हैं। परंतु राजनीतिमें योरपके लोग बहुत अपरिपक्व हैं। इन दिनों उन्होंने विज्ञानमें बहुत प्रगति की है और हमें उनसे बहुत सीखना है। विज्ञानकी हमें बहुत जरूरत है। इसलिये

है कि हम अहिंसाको बढ़ाना चाहते हैं। जितना विज्ञान बढ़ेगा उतनी अहिंसा बढ़ेगी। विज्ञानसे मनुष्यके हाथमें जो शक्तियाँ आयी हैं, वे मनुष्यको एकत्र रहनेके लिये मजबूर करेंगी। सामूहिक साधना करनेकी जिम्मेवारी विज्ञान पैदा करेगा। व्यक्तिगत साधना तो हिंदुस्तानमें बहुत चली है, सामाजिक साधना भी कुछ चली है, इसीलिये भक्तिमार्ग बना है। उससे देश बहुत बच गया है। लोग भजन करनेके लिये एकत्र होते हैं, यह बहुत बड़ी बात है। यह अपने देशकी ताकत है। लोग मौज करनेके लिये नहीं, बल्कि भक्तिके लिये इकट्ठे होते हैं। ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाजके-जैसा कोई समाज नहीं बनाते हैं, लेकिन शामको इकट्ठे होकर भगवान्‌का नाम लेते हैं। यह हिंदुस्तानकी सबसे बड़ी सामूहिक वस्तु है। भक्तिमार्गने साधनाको सामूहिक स्वरूप देनेका कार्य प्रारम्भ किया। अब सारे जीवनको ही सामूहिक रूप देनेकी जरूरत विज्ञानने पैदा की है। भक्तिमार्गका जो अरुणोदयरूप था, उसीकी प्रभाको अब विज्ञानरूपी सूर्य बढ़ा रहा है। एक बड़ी विचित्र बात मैंने आपके सामने रखी है; क्योंकि आजकल जो विज्ञानको अध्यात्मका विरोधी माना जाता है, यह गलत विचार है।

विज्ञान अध्यात्मको परिपूर्ण बना रहा है। उसका आरम्भ हिंदुस्तानमें भक्तिमार्गने कर दिया है। अब लोगोंको यह समझाना है कि भाइयो! तुम भजनके लिये एकत्र हो जाते हो, अब जीवनके लिये भी एकत्र हो जाओ। इसीलिये हम विज्ञानको बहुत चाहते हैं; और हमारा विश्वास है कि विज्ञानकी शक्तिसे दुनिया बहुत आगे बढ़ेगी। योरप और अमेरिकामें विज्ञानका बहुत अच्छा आविष्कार हुआ है। परंतु वहाँका राजनीतिशास्त्र बिल्कुल कच्चा है, उनका समाजशास्त्र बिल्कुल पोला है और वे मानसशास्त्र भी विकसित नहीं कर पाये हैं। वे मनकी विविध आकाङ्क्षाओं, उसके विकारोंका परीक्षण और निरीक्षण करते हैं, उसीको मनोविज्ञान कहते हैं। परंतु उन्होंने मनको जीतनेका शास्त्र नहीं बनाया है। उसके परिणामस्वरूप उनका समाजशास्त्र भी समाजको टुकड़ोंमें बाँटता है। उन्होंने परस्पर-विरोधी हितोंका विचार पैदा किया है और उसे वे यहाँतक ले जाते हैं कि वे कहते हैं कि 'सृष्टिके साथ विरोध होता है; हम जमीन खोदते हैं, यह भी एक विरोध है। हम पेड़ोंके फल छीनकर खाते हैं तो पेड़ोंके साथ हमारा विरोध होता है। इस तरह वे दुनियामें सर्वत्र विरोध ही देखते हैं। जिसे हम सेवा समझते हैं-जैसे पेड़ोंकी सेवा, प्राणियोंकी सेवा—उसे भी संघर्ष कहते हैं। पेड़ोंके, प्राणियोंके, पृथ्वीके साथ संघर्ष। इस तरहसे उन्होंने संघर्षकी परिभाषा बनायी है। माताके स्तनोंमें दूध होता है, वह बच्चेको प्यारसे दूध पिलाती है—यह हमारा दर्शन है। परंतु उनका दर्शन यह है कि बच्चेके मुँहका माताके स्तनके साथ संघर्ष होता है और उसमेंसे दूध निकलता है, बच्चा उससे लाभ उठाता है। यह तो मैंने जरा विनोद किया।

योरपका समाजशास्त्र कच्चा

मैं कहना यह चाहता हूँ कि उन्होंने विज्ञान बढ़ाया परंतु उनका समाजशास्त्र कच्चा है। उनका विज्ञान उनके समाजशास्त्रके खिलाफ खड़ा है और इसके बावजूद कि मनुष्यके हाथमें विज्ञानकी खूब शक्तियाँ आयी हैं, आज सर्वत्र भय-ही-भय है। जितनी विज्ञानकी शक्ति पहले कभी नहीं थी, उतनी आज है। अब तो हम आकाशमें ग्रहोंको घुमा रहे हैं। इतनी शक्ति मनुष्यके हाथमें आयी है तो समाजमें कितना सुख होना चाहिये! परंतु आज उल्टी ही बात दिखायी देती है। आज दुनियामें जितना ज्ञान है, उतना पहले कभी नहीं था और आज दुनियामें जितना भय है, उतना पहले कभी नहीं था।

ज्ञानके साथ भय नहीं हो सकता, ज्ञानके साथ तो निर्भयता होनी चाहिये; परंतु उनका समाजशास्त्र बिल्कुल कच्चा है। हम पश्चिमका विज्ञान लेना चाहते हैं और यहाँके समाजशास्त्रको, जो आत्मज्ञानपर खड़ा है, विज्ञानके साथ जोड़ना चाहते हैं; यह कार्य सर्वोदय कर रहा है।

सर्वोदयका वैज्ञानिक विचार यह है कि जनताकी सेवा प्रतिनिधियोंद्वारा नहीं होनी चाहिये। जनताको स्वयं वह काम करना चाहिये। पश्चिमकी पद्धति यह है कि जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है, जिनकी सरकार बनती है, जो सेवा करती है। फिर लोग बिल्कुल पराधीन बन जाते हैं। आज अमेरिका, रूस, इंग्लैंड आदि सब देशोंके लोग पराधीन हैं। कोई 'आइक'के अधीन है, तो कोई 'माइक'के। अगर इन 'माइक' और 'आइक'का दिमाग बिगड़ जाय तो सारी दुनियामें आग लग सकती है। आज सारी दुनिया चार-पाँच लोगोंके हाथमें है। अगर उन्होंने चाहा तो वे सारी दुनियाको खत्म कर सकते हैं। अगर उनका दिमाग ठीक रहे तो हम सब सुरक्षित हैं। इस तरह हमारा सारा भला-बुरा करनेका अधिकार चंद लोगोंके हाथोंमें सौंपना अत्यन्त खतरनाक है। इसलिये हमने व्यापारियोंसे अपील की कि आपलोग जनसेवामें लग जायँ। आज आप जो व्यापार करते हैं, वह भी एक सेवाका प्रकार है। लेकिन आज उसे स्वार्थका रूप मिला है। अगर उस कामके साथ आप सेवा करेंगे तो आपका व्यापार मजबूत बनेगा और हिंदुस्तानमें स्वतन्त्र जनशक्ति विकसित होगी। हिंदुस्तानकी परतन्त्रता व्यापारियोंने प्राप्त की है, अब हिंदुस्तानकी आजादीको मजबूत बनानेका काम भी व्यापारियोंको करना चाहिये।

(पड़ाव—नायनहल्ली, मैसूर राज्य, ता० १३. १०. ५७)

* * *

प्रभुसे याचना

अपनी भगति दे भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु, नाहिनै रुचि आन॥
जरत ज्वाला, गिरत गिरि ते, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस॥
कामना करि कोपि कबहूँ करत कर पसु घात।
सिंह सावक जात गृह तजि इंद्र अधिक डरात॥
जा दिनातें जनमु पायौं, यहै मेरी रीति।
बिषय बिष हठि खात, नाहीं डरत करत अनीति॥
थके किंकर जूथ जम के टारे टरत न नेक।
नरक कूपनि जाइ जमपुर पर्‍यौ बार अनेक॥
महा माचल, मारिबे की सकुच नाहिन मोहि।
पर्‍यौ हौं पन किएँ द्वारें, लाज पन की तोहि॥
नाहिनै काँचौ कृपानिधि, करौ काह रिसाइ।
'सूर' तबहुँ न द्वार छाँड़ै, डारिहौ कढ़राइ॥

* * *

परमात्माका तत्त्व-रहस्य-सहित स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माका जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, वह एक, अद्वितीय, गुणातीत, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, क्रियारहित, आकाररहित, विकारशून्य, विशेषणोंसे रहित, गुणोंसे रहित, धर्मोंसे रहित, केवल, शुद्ध, चिन्मय, निर्विशेष है। वह प्रापणीय वस्तु है। वास्तवमें वह बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और ध्यानका विषय नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है। जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर तद्रूप ही बन जाता है। जो उस विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म होकर ही उसे जानता है, उससे भिन्न होकर नहीं। यह कथन भी वास्तवमें बनता नहीं, केवल जिज्ञासु साधकोंको समझानेके लिये ही है।

परमात्माका जो दूसरा सगुण स्वरूप है, उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है, इसीको त्रिगुणमयी माया कहते हैं (गीता ७।१४) और ईश्वर शक्तिमान् है। उसकी शक्ति उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी। तीनों गुणोंसे युक्त शक्ति जड है और परमात्मा चेतन है—इस दृष्टिसे तो वह शक्ति परमात्मासे भिन्न है तथा परमात्मा ही शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं, इस दृष्टिसे शक्ति परमात्मासे अभिन्न है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। प्रकृतिके कार्य होनेसे गुण प्रकृतिसे अभिन्न हैं तथा जैसे बर्फ जलसे ही उत्पन्न होती और जलमें ही विलीन हो जाती है, वैसे ही तीनों गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते और उसीमें विलीन हो जाते हैं। महासर्गके आरम्भमें उस प्रकृतिसे ही गुण उत्पन्न होते हैं (गीता १४।५), या यों कहिये कि प्रकृति गुणोंके रूपमें अभिव्यक्त होती है। समस्त जीवोंके संस्कार जो प्रकृतिके रूपमें स्थित हो रहे हैं, जीवोंको उनका फल-भोग करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् उसमें हलचल पैदा होती है। उस हलचलसे प्रकृतिमें दो विभाग हो जाते हैं। इनमें एकका नाम विद्या और दूसरेका नाम अविद्या है। विद्या सत्त्वगुण है और अविद्या तमोगुण है तथा जो प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह क्रियारूप हलचल (चञ्चलता) रजोगुण है। महाप्रलयके समय ये तीनों गुण उस प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं, वही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। जितने कालतक महासर्ग रहता है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। महाप्रलयके समय सम्पूर्ण जीव, संस्कारके रूपमें जीवोंके कर्म, तीनों गुण और गुणोंका कार्यरूप यह दृश्यवर्ग—जड संसार, वे सब-के-सब प्रकृतिसंयुक्त ब्रह्ममें विलीन रहते हैं। महाप्रलयके अन्त और महासर्गके आदिमें पुनः जीवोंके संस्काररूप कर्मोंका फल-भोग जीवोंको करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिसंयुक्त परमात्मामें सृष्टिकी उत्पत्ति और विलय बारंबार होते रहते हैं।

इस सगुणस्वरूप परमात्माके दो भेद हैं—(१) निराकार, (२) साकार।

(१) वे सगुण-निराकार परमात्मा अविद्यासे अति परे, अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त, बोधस्वरूप, कैवल्यरूप, सर्वत्र परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, अखण्ड, अतिदिव्य मङ्गलस्वरूप, सच्चिदानन्दमय हैं तथा क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त असीम अलौकिक अप्राकृत दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे परमात्मा निराकाररूपसे सारे संसारमें व्यापक हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
(९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

इसी स्वरूपका वर्णन गीतामें परम दिव्य पुरुषके नामसे किया गया है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(८।९-१०)

'जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य-चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परमपुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

(२) परमात्माका जो दिव्य गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूप है, वह चिन्मय है। इसी प्रकार भगवान्का परम धाम भी दिव्य चेतन है। एवं उस परम धाममें जानेवाले भक्तोंके स्वरूप भी चेतन हैं। वे ही क्षमा, दया, प्रेम, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त दिव्य चिन्मय गुणोंसे युक्त भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण साकार रूपोंसे प्रकट होते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिका अवतार-विग्रह अनधिकारी मूढ मनुष्योंके लिये भगवान्की त्रिगुणमयी मायासे आच्छादित रहता है, इसीलिये भगवान्के तत्त्वको न जाननेवाले वे मनुष्य उसे नहीं जान पाते। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु भगवान् अपने अनन्य विशुद्ध प्रेमी श्रद्धालु भक्तके लिये अपनी उस त्रिगुणमयी योगमायाका पर्दा दूर कर देते हैं, जिससे वह भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्के वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है तथा तत्त्वसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश भी किया (एकीभावसे प्राप्त किया) जा सकता हूँ।'

परंतु जिनका भगवान्में श्रद्धा-प्रेम नहीं है, ऐसे आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। अतः वे आसुर स्वभाववाले मूढ मनुष्य भगवान्को न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुष उस परमात्माके परम दिव्य स्वरूपको तत्त्वसे जानते हैं। एवं जो जानते हैं, वे संसारसे मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

संसारमें स्थित दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों तथा ज्ञानी महात्मा महापुरुषोंमें जो क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उन गुणोंमें और परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंमें

भी बहुत अन्तर है । पूर्णिमाके चन्द्रमाका एक तो असली स्वरूप होता है, जो आकाशमें स्थित दीखता है; और दूसरा दर्पणमें उसका वैसा-का-वैसा प्रतिबिम्ब-स्वरूप दीखता है । सगुण परमात्माके जो दिव्य गुण हैं, वे तो पूर्ण चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपकी भाँति हैं और चिन्मय हैं; तथा जो प्रकृतिके कार्यभूत विद्यारूप सात्त्विक गुण हैं, वे प्रकृतिके कार्य होनेसे जड हैं । ये गुण दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें, दर्पणमें पूर्णचन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति, परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंके ही प्रतिबिम्बभूत हैं ।

साधकके गुणों और सिद्ध महात्माके गुणोंमें भी भेद है । दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक साधक पुरुष तो गुणोंकी सत्ता अपनेमें मानता है और गुणातीत ज्ञानी महात्मा पुरुष इस देहके अभिमानसे रहित हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं । अतः उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ये गुण रहते अवश्य हैं, किंतु इन गुणरूप धर्मोंको अपनेमें माननेवाला कोई धर्मी नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं तो गुणोंसे अतीत हो सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ।

साधकों और महात्माओंके जो क्षमा, दया, प्रेम, ज्ञान, शान्ति, समता, संतोष आदि गुण हमलोगोंकी जानकारीमें आते हैं, वे दिव्य होते हुए भी ज्ञेय होनेके कारण जड हैं । किंतु परमात्माके स्वरूपभूत गुण दूसरेके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकते, उनको महर्षि और देवगण भी नहीं जान सकते । इसी प्रकार उनका दिव्यस्वरूप भी किसी दूसरेके जाननेमें नहीं आ सकता । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
(गीता १० । २)

‘मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका तथा महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ ।’

वे स्वयं ही अपने आपको जानते हैं । गीतामें अर्जुनने भगवान्‌के प्रति कहा है—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
(१० । १५ का पूर्वार्ध)

‘हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ।’

क्योंकि यदि भगवान्‌का स्वरूप किसी दूसरेके जाननेमें आ जाय, तब तो वह भी अन्य ज्ञेय पदार्थोंकी भाँति जड ही समझा जायगा । परमात्मा बुद्धिसे परे हैं, अतएव उनको बुद्धिके द्वारा कोई नहीं जान सकता; किंतु वे सबको जानते हैं । गीतामें भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
(७ । २६)

‘हे अर्जुन ! पूर्वमें हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ।’

ऊपर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दमय स्वरूप तथा सगुण निराकार एवं सगुण साकार स्वरूपोंकी बात कही गयी—इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा अनेक हैं। एक परमात्माके ही ये अलग-अलग स्वरूप उपासकोंकी दृष्टिसे ही बतलाये गये हैं । वस्तुतः इन सभी रूपोंमें एक अद्वितीय, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, केवल, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं ।

इसलिये उन परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको उनकी अनन्यभक्ति करनी चाहिये । उस अनन्य भक्तिका स्वरूप भगवान्‌ने अपने अनन्य भक्तके लक्षण कहकर इस प्रकार बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गीता ११ । ५५)

‘हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है, मेरे परायण है, मुझसे ही प्रेम करता है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।’

* * *

वैष्णव-सदाचार

(गताङ्कसे आगे)

निर्माल्य-धारण

गरुडपुराणमें आया है—

हरेर्मूर्त्यवशेषं तु तुलसीकाष्ठचन्दनम् ।
निर्माल्यं तु वहेद्यस्तु कोटितीर्थफलं लभेत् ॥

'श्रीहरिके श्रीविग्रहपर चढ़े हुए तुलसीकाष्ठ, चन्दन आदि निर्माल्यको जो धारण करता है, वह कोटि तीर्थोंमें भ्रमणका फल प्राप्त करता है ।'

स्कन्दपुराणका वचन है—

किं करिष्यति सुस्नातो गङ्गायां भूसुरोत्तम ।
यो वहेच्छिरसा नित्यं तुलसीं विष्णुसेविताम् ॥

'हे विप्रवर ! जो श्रीविष्णुके निर्माल्यस्वरूप तुलसीको नित्य अपने सिरपर धारण करता है, उसको फिर गङ्गास्नानकी आवश्यकता ही क्या है । अर्थात् गङ्गा-स्नानके बिना ही उसके सारे पाप दूर हो जाते हैं ।' तथा—

विष्णुमूर्त्तिस्थितं पुष्पं शिरसा यो वहेन्नरः ।
अपर्युषितपापस्तु यावद् युगचतुष्टयम् ॥

'विष्णुभगवान्‌के श्रीविग्रहस्थित पुष्प आदि निर्माल्यको जो मनुष्य सिरपर धारण करता है, चारों युगोंतक उसके पास कोई बासी पाप शेष नहीं रहता, अर्थात् उसके सारे पाप ध्वंस हो जाते हैं ।'

शङ्ख-माहात्म्य

शङ्खे हरेरधिष्ठानं यतः शङ्खस्ततो हरिः ।
तत्रैव सततं लक्ष्मीर्दूरीभूतममङ्गलम् ॥
शङ्खशब्दो भवेद् यत्र तत्र लक्ष्मीश्च सुस्थिरा ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु यः स्नातः शङ्खवारिणा ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

'शङ्खमें श्रीहरिका अधिष्ठान है; जहाँ शङ्ख है; वहाँ हरि हैं । वहाँ लक्ष्मी सदा विराजित रहती हैं तथा वहाँसे सारे अमङ्गल दूर हो जाते हैं; जहाँ शङ्खध्वनि होती है, वहाँ लक्ष्मी निश्चला होकर रहती हैं । जो शङ्खके जलसे स्नान करता है, उसने मानो सारे तीर्थोंमें स्नान कर लिया ।' पद्मपुराणमें आया है—

पयस्विन्याः शुभं क्षीरं शङ्खे कृत्वा तु नारद ।
यः स्नापयति देवेशं स गच्छेद् ब्रह्मणः पदम् ॥
क्षिप्त्वा गङ्गोदकं शङ्खे यः स्नापयति माधवम् ।
नमो नारायणेत्युक्त्वा मुच्यते योनिसंकटात् ॥

'हे नारद ! जो गायके पवित्र दूधको शङ्खमें डालकर उससे सर्वदेवेश श्रीविष्णुको स्नान कराता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है । जो गङ्गाजल शङ्खमें डालकर 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रसे माधवको स्नान कराता है, वह पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता ।' स्कन्दपुराणका वचन है—

शङ्खस्थितेन तोयेन यः स्नापयति केशवम् ।
कपिलाशतदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥
नाद्यं तडागजं वारि वापीकूपह्रदादिजम् ।
गाङ्गेयं च भवेत्सर्वं कृतं शङ्खे कलिप्रिय ॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया ।
शङ्खे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र तस्माच्छङ्खं सदार्चयेत् ॥

'जो मनुष्य शङ्खस्थित जलके द्वारा श्रीकृष्णको स्नान कराता है, वह एक सौ कपिला गौओंके दानका फल प्राप्त करता है । हे कलहप्रिय नारद ! नदी, तालाब, बापी, कूप और झील आदिका जल शङ्खमें रखते ही गङ्गाजल बन जाता है । हे विप्रवर ! त्रिभुवनमें जितने तीर्थ हैं, वे श्रीकृष्णकी आज्ञासे शङ्खमें निवास करते हैं; अतएव सदा ही शङ्खकी अर्चना करनी चाहिये ।' श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

अथ शङ्खोदकं तच्च कृष्णदृष्टसुधोक्षितम् ।
वैष्णवेभ्यः प्रदायाभिवन्द्य मूर्द्धनि धारयेत् ॥

'अनन्तर श्रीकृष्णकी दृष्टि-सुधासे सिञ्चित आरतीका शङ्खजल वैष्णवोंके मस्तकपर छींटकर प्रणामपूर्वक अपने सिरपर धारण करे ।'

शङ्खस्थितं तु यत्तोयं भ्रामितं केशवोपरि ।
वन्दते शिरसा नित्यं गङ्गास्नानेन तस्य किम् ॥
कृष्णमूर्ध्नि भ्रामितं तु जलं तच्छङ्खसंस्थितम् ।
कृत्वा मूर्द्धन्यवाप्नोति मुक्तिं विष्णोः प्रसादतः ॥
(स्कन्दपुराण)

'शङ्खमें रखकर श्रीकृष्णके मस्तकके ऊपर घुमाये हुए जलको जो सिर झुकाकर मस्तकपर धारण करता है, उसके लिये फिर गङ्गास्नानका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, अर्थात् उसके सारे पाप धुल जाते हैं ।

शङ्खस्थित जो जल श्रीकृष्णके मस्तकके ऊपर घुमाया जाता है, उसको सिरपर धारण करनेसे विष्णुके अनुग्रहसे मुक्ति प्राप्त होती है।'

घण्टा

स्नानार्चनक्रियाकाले घण्टानादं करोति यः।
पुरतो वासुदेवस्य तस्य पुण्यफलं शृणु॥
वर्षकोटिसहस्राणि वर्षकोटिशतानि च।
वसते देवलोके तु अप्सरोगणसेवितः॥
वादित्राणामभावे तु पूजाकाले हि सर्वदा।
घण्टाशब्दो नरैः कार्यः सर्ववाद्यमयो यतः॥
(स्कन्दपुराण)

'स्नान-पूजा आदि क्रियाके समय श्रीवासुदेवके आगे जो घण्टानाद करता है, उसके पुण्यफलको सुनो। वह मनुष्य अरबों वर्षतक अप्सराओंके साथ देवलोकमें वास करता है। अन्य वाद्ययन्त्रोंका अभाव हो, तो भी मनुष्यको पूजाके समय सदा घण्टानाद अवश्य करना चाहिये; क्योंकि घण्टा सर्ववाद्यमयी है।' नारद-पञ्चरात्रका वचन है—

आवाहनार्घ्ये धूपे च पुष्पनैवेद्ययोजने।
नित्यमेतां प्रयुञ्जीत तन्मन्त्रेणाभिमन्त्रिताम्॥
पूजाकालं विनान्यत्र हितं नास्याः प्रचालनम्।
न तया च विना कुर्यात्पूजनं सिद्धिलालसः॥

'देवताको आवाहन, अर्घ्य, धूप, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करते समय 'ॐ मन्त्रमातः स्वाहा' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए सदा घण्टानाद करे। पूजाकालके अतिरिक्त घण्टा बजानेसे मङ्गल नहीं होता। साथ ही जो सिद्धिकी कामना करते हैं, उनको बिना घण्टाके पूजा नहीं करनी चाहिये।'

पूजा-फलकी प्राप्ति

अगस्त्य-संहिताका वचन है—

न्यायार्जितैः साधनैश्च दानहोमार्चनादिकम्।
कुर्यान्न चेदधो याति भक्त्या कुर्वन्नपि द्विज॥
आराधनासमर्थश्चेद्दद्यादर्चनसाधनम्।
यो दातुं नैव शक्नोति कुर्यादर्चनदर्शनम्॥
निस्ताराय तदेवालं भवाब्धेर्मुनिसत्तम॥

'हे द्विज! न्यायसे कमाये हुए साधनोंके द्वारा दान, होम और पूजन आदि करने चाहिये। अन्यथा अन्यायसे उपार्जित साधनोंके द्वारा भक्तिपूर्वक अर्चा आदि करनेपर भी मनुष्यकी अधोगति होती है। मुनिश्रेष्ठ! जो व्यक्ति स्वयं पूजा करनेमें असमर्थ हो, वह पूजाकी सामग्री दान दे। जो इसमें भी असमर्थ हो, वह पूजाके दर्शन ही कर ले; क्योंकि पूजाका दर्शनमात्र निश्चय ही भवसागरसे तारनेमें समर्थ है।'

चरणामृत-धारण

श्रीहरिभक्तिविलासमें आया है—

कृष्णपादाब्जतीर्थं च वैष्णवेभ्यः प्रदाय हि।
स्वयं भक्त्याभिवन्द्यादौ पीत्वा शिरसि धारयेत्॥

'श्रीकृष्णका चरणामृत पहले वैष्णवोंको प्रदान करके पश्चात् स्वयं भक्तिपूर्वक प्रणाम करके पीकर सिरपर धारण करे।'

अशुचिर्वा दुराचारो महापातकसंयुतः।
स्पृष्ट्वा पादोदकं विष्णोः सदा शुद्ध्यति मानवः॥
हरेः स्नानावशेषं तु जलं यस्योदरे स्थितम्।
अम्बरीष! प्रणम्योच्चैः पादपांशुः प्रगृह्यताम्॥
शालग्रामशिलातोयं यः पिबेद्बिन्दुना समम्।
मातुः स्तन्यं पुनर्नैव स पिबेद्भक्तिमान्नरः॥
दहन्ति नरकान् सर्वान् गर्भवासं च दारुणम्।
पीतं यैस्तु सदा नित्यं शालग्रामशिलाजलम्॥
धृते शिरसि पीते च सर्वास्तुष्यन्ति देवताः।
प्रायश्चित्तं तु पापानां कलौ पादोदकं हरेः॥
(पद्मपुराण)

'अशुचि हो, दुराचारी हो या महापापी हो, मनुष्य विष्णुभगवान्के पादोदकके स्पर्शमात्रसे पवित्र हो जाता है। हे अम्बरीष! श्रीहरिके स्नानका अवशिष्ट जल जिसके उदरमें अवस्थित है, उसे उच्च स्वरसे प्रणाम करके उसकी पद-रज ग्रहण करनी चाहिये। जो भक्तिमान् पुरुष शालग्राम-शिलाके जलका बिन्दुमात्र भी पान करता है, उसको फिर माताका स्तनपान नहीं करना पड़ता, अर्थात् उसका फिर जन्म नहीं होता। जो लोग नित्य शालग्राम-शिलाका जल पान करते हैं, वे सारे नरकोंको तथा दारुण गर्भवासको जला डालते हैं। श्रीभगवान्का चरणामृत सिरपर धारण करने और पीनेसे सारे देवता संतुष्ट होते हैं। कलियुगमें श्रीहरिका चरणोदक सब पापोंका प्रायश्चित्त है।' चरणामृत लेनेका मन्त्र यह है—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

'अकालमृत्युको हरनेवाले तथा सब प्रकारके रोगोंको नष्ट करनेवाले विष्णुका चरणोदक पीनेसे पुनर्जन्म नहीं होता।'

पादोदकस्य माहात्म्यं देवो जानाति शंकरः ।
विष्णुपादच्युता गङ्गा शिरसा येन धारिता ॥

(स्कन्दपुराण ।)

'श्रीविष्णुभगवान्‌के चरणोदकके माहात्म्यको भगवान् शंकर जानते हैं, जिन्होंने विष्णुके चरणोंसे च्युत गङ्गाको अपने सिरपर धारण किया है ।'

तथा—

कृत्वा पादोदकं शङ्खे वैष्णवानां महात्मनाम् ।
यो दद्यात्तुलसीमिश्रं चान्द्रायणशतं लभेत् ॥
गृहीत्वा कृष्णपादाम्बु शङ्खे कृत्वा तु वैष्णवः ।
यो वहेच्छिरसा नित्यं स मुनिस्तापसोत्तमः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जो व्यक्ति श्रीविष्णुके चरणोदकको शङ्खमें रखकर उसमें तुलसीदल मिलाकर महानुभाव वैष्णवोंको प्रदान करता है, उसको सौ चान्द्रायण-व्रत करनेका फल मिलता है । जो वैष्णव श्रीकृष्णका पादोदक शङ्खमें रखकर नित्य अपने सिरपर धारण करता है, वह तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ है ।'

पूजा विना भोजनमें दोष

न त्वेवापूज्य भुञ्जीत भगवन्तं जनार्दनम् ।
न तत्स्वयं समश्नीयाद्यद्विष्णौ न निवेदयेत् ॥

(कूर्मपुराण)

'भगवान् श्रीजनार्दनकी पूजा विना किये भोजन तो करे ही नहीं; जो पदार्थ पहले भगवान् विष्णुको निवेदन न कर ले, उसे स्वयं न खाय ।'

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम् ।
अपूज्य भोजनं कुर्वन्नरकाणि व्रजेन्नरः ॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

'मनुष्य एक समय (प्रातःकाल), दोनों समय (प्रातः-सायं) अथवा तीनों कालमें (प्रातः, सायं एवं मध्याह्नमें) श्रीहरिकीपूजा करे । विना पूजा किये जो भोजन करता है, वह मनुष्य नरकोंमें जाता है ।'

ब्रह्माण्डपुराणका वचन है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम् ।
अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् ॥
अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।

'पत्र, पुष्प, फल, जल, अन्न-पानादि तथा औषध-पर्यन्त जो कुछ अपने खानेके लिये तैयार किया गया हो, उसे भगवान्‌को निवेदन किये विना ग्रहण न करे । अनिवेदित वस्तु ग्रहण करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका भागी होता है ।'

पद्मपुराणमें आया है—

अम्बरीष ! नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् ।
कृत्वा विष्णूपभुक्तं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवैः ॥

महर्षि गौतम कहते हैं—'हे महाराज अम्बरीष ! नया वस्त्र, फल, अन्न तथा रसादि सभी द्रव्य वैष्णव सर्वदा श्रीभगवान्‌को निवेदन करके ही सेवन करे ।'

अनिवेद्य तु यो भुङ्क्ते हरये परमात्मने ।
मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥

(विष्णुस्मृति)

'जो वैष्णव परमात्मा श्रीहरिको निवेदन किये बिना ही भोजन करता है, उसके पितर अनन्त कालतक नरकमें पड़े रहते हैं ।'

भोजन-विधि

विष्णुपुराणमें लिखा है—

पञ्चग्रासं महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ।
भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ॥
यथावत्पुनराचामेत् पाणी प्रक्षाल्य मूलतः ।
स्वस्थः प्रशान्तचित्तश्च कृतासनपरिग्रहः ।
अभीष्टदेवतानां च कुर्वीत स्मरणं नरः ॥

'मनुष्य पूर्व मुख या उत्तर मुख बैठकर, आचमन करके, मौनी होकर, प्राणादि पञ्चवायुओंकी तृप्तिके लिये पहले पाँच ग्रास भक्षण करके पश्चात् यथावत् भोजन करे । अनन्तर दोनों हाथोंको मूलपर्यन्त धोकर आचमन करे । पश्चात् आसनपर बैठकर स्वस्थ और प्रशान्त चित्तसे इष्ट देवताका स्मरण करे ।'

कूर्मपुराणमें आया है—

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्याभिमुखमेव वा ।
आसीनः स्वासने सिद्धे भूम्यां पादौ निधाय च ॥
पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात् भूमौ पात्रं निधाय च ।
उपवासेन तत्तुल्यं मनुराह प्रजापतिः ॥

उपलिप्ते शुचौ देशे पादौ प्रक्षाल्य वै करौ।
आचम्यार्द्राननोऽक्रोधः पञ्चार्द्रो भोजनं चरेत्॥

'अपने पवित्र आसनपर बैठकर, भूमिपर दोनों पैरोंको रखकर, पूर्वमुख या सूर्याभिमुख होकर अन्नादि भोजन करे। प्रजापति मनु कहते हैं कि भूमिपर पात्र रखकर पञ्चार्द्रभावसे भोजन करे। यह भोजन उपवासके तुल्य होता है, अर्थात् इससे रोगोत्पत्ति नहीं होती। पञ्चार्द्रका अर्थ है—(१) दोनों हाथ, (२) दोनों पैर और (३) मुँह धोकर, (४) क्रोधका परित्याग करके तथा (५) गोबरसे लिपे हुए शुद्ध स्थानमें भोजन करे।' तथा—

भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानकश्च यद्भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम्॥
नार्द्धरात्रे न मध्याह्ने नाजीर्णे नार्द्रवस्त्रधृक्।
न च भिन्नासनगतो न याने संस्थितोऽपि वा॥
न भिन्नभाजने चैव न भूम्यां न च पाणिषु।
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्॥
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्।

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'सिर ढककर, अग्नि आदि चार कोणों (विदिशाओं) में मुँह करके तथा जूता पहनकर जो भोजन करते हैं, उनकी वह सारी चेष्टा आसुरी होती है। मध्यरात्रमें, मध्याह्नमें, अजीर्णावस्थामें, गीला वस्त्र पहनकर, फटे आसनपर बैठकर, किसी सवारीपर बैठकर, फूटे बर्तनमें तथा भूमिपर या हाथमें अन्नादि रखकर भोजन नहीं करना चाहिये। कभी अतिभोजन भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह आरोग्यनाशक, आयुनाशक, स्वर्गप्राप्तिमें बाधक, पापजनक तथा लोकविरुद्ध है।'

विष्णुपुराणमें कहा गया है—

अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम्।
लवणाम्ले तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः॥
प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये च कठिनाशनम्।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति॥

'अन्नके प्रति निविष्टचित्त होकर पहले मधुर रस भोजन करे। मध्यमें लवण और अम्लरस तथा अन्तमें कटु-तिक्तादि रस खाये। मनुष्य पहले द्रव पदार्थ भोजन करे, मध्यमें कठिन (कठोर) पदार्थ तथा अन्तमें पुनः द्रव पदार्थ खाये। इससे उसका बल और आरोग्य बराबर बना रहता है।'

श्रीमूर्तिका दर्शन

तावद्भ्रमन्ति संसारे मनुष्या मन्दबुद्धयः।
यावद्रूपं न पश्यन्ति केशवस्य महात्मनः॥

'मन्दबुद्धि मनुष्य जबतक भगवान् केशवकी श्रीमूर्तिके दर्शन नहीं करते, तभीतक उनको संसारमें भ्रमण करना पड़ता है अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें भटकना पड़ता है।'

अग्निपुराणमें कहा गया है—

पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद्भक्तितो हरिम्।
श्रद्धया मोदयेद् यस्तु सोऽपि योगफलं लभेत्॥

'जो पूजित या पूजे जाते हुए श्रीहरिका भक्तिपूर्वक दर्शन करता है, अथवा जो श्रद्धापूर्वक इसका अनुमोदन करता है, वह भी योगफलको प्राप्त होता है।'

श्रीभगवदर्थ द्रव्यदान

स्कन्द पुराणका वचन है—

विष्णुमुद्दिश्य यत्किंचिद्विष्णुभक्ताय दीयते।
दानं तद्विमलं प्रोक्तं केवलं मोक्षसाधनम्॥

'श्रीविष्णु भगवान्के उद्देश्यसे वैष्णवको जो कुछ द्रव्य दिया जाता है, वह दान पवित्र कहलाता है और केवल उसीके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।'

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

यथा कथंचिद्यद्दत्तं देवदेवे जनार्दने।
अविनाशि तु तद्विद्धि पात्रमेको जनार्दनः॥
नवमन्नं फलं पुष्पं निवेद्य मधुसूदने।
पश्चाद्भुङ्क्ते स्वयं यश्च तस्य तुष्यति केशवः॥

'जिस किसी प्रकारसे देवदेव श्रीजनार्दनको जो कुछ दिया जाता है, समझ लो कि वह अक्षय हो गया। जनार्दन ही दानके एकमात्र पात्र हैं। जो नया अन्न, फल, पुष्प श्रीकृष्णको निवेदन करके पश्चात् स्वयं उपभोग करता है, श्रीकृष्ण उसपर प्रसन्न होते हैं।'

मन्त्रजप और जपमाला

तुलसीकाष्ठघटितैर्मणिभिर्जपमालिका।
सर्वकर्मणि सर्वेषामीप्सितार्थफलप्रदा॥

'तुलसीकाष्ठके बने मनियोंके द्वारा तैयार की हुई

जपमाला सब कामोंमें सबके लिये अभीष्ट फल प्रदान करनेवाली होती है ।' श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

जपस्य पुरतः कृत्वा प्राणायामत्रयं बुधः ।
मन्त्रार्थस्मृतिपूर्वं च जपेदष्टोत्तरं शतम् ॥
शक्तोऽष्टाधिकसाहस्रं जपेत्तं चार्पयञ्जपम् ।
प्राणायामांश्च कृत्वा त्रीन्दद्यात् कृष्णकरे जलम् ॥

'बुद्धिमान् मनुष्य जप करनेके पहले तीन बार प्राणायाम करके मन्त्रार्थका स्मरण करते हुए एक सौ आठ बार जप करे और सामर्थ्य होनेपर एक हजार आठ बार जप करे। जपके अंतमें तीन बार प्राणायाम करके—

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

—इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए तथा श्रीकृष्णके हाथमें जल अर्पण करते हुए उनको जप समर्पण करे।' नारदपञ्चरात्रमें आया है—

शनैः शनैः सुविस्पष्टं न द्रुतं न विलम्बितम् ।
न न्यूनं नाधिकं वापि जपं कुर्याद् दिने दिने ॥

'धीरे-धीरे अत्यन्त स्पष्ट रूपसे जप करे, परंतु जल्दी-जल्दी या रुक-रुककर तथा कभी न्यून और कभी अधिक जप न करे। अर्थात् प्रतिदिन नियमित संख्याका जप करे।' त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रमें कहा गया है—

तूष्णीमासीत संजल्पश्चाण्डालपतितादिकान् ।
दृष्ट्वा तान् वायुपस्पृश्याभाष्य स्नात्वा पुनर्जपेत् ॥
आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
यदि वा जपलोपः स्याज्जपादिषु कथंचन ॥
व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ॥

'मौन होकर बैठकर जप करे। जप करते समय किसी चाण्डाल या पतितको देख ले तो आचमन करके और उनके साथ बातचीत होनेपर स्नान करके पुनः जप करे। अपवित्र-पदार्थका दर्शन होनेपर आचमन करके पुनः यत्नपूर्वक जप करे। जप करते-करते यदि कदाचित् जपका नियम भङ्ग हो जाय तो विष्णु-मन्त्रका उच्चारण करे अथवा अव्यय विष्णुभगवान्‌का स्मरण करे।' जपके भेदोंके विषयमें नृसिंहपुराणका वचन है—

त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदान्निबोधत ।
वाचिकश्च ह्युपांशुश्च मानसश्च त्रिधा मतः ॥
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः ॥
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः ।
मन्त्रमुच्चारयेद्व्यक्तं जपयज्ञः स वाचिकः ॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयेत् ।
किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ॥
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् ।
शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः ॥

'जपयज्ञ तीन प्रकारका होता है—वाचिक, उपांशु और मानस। इनके भेदोंको सुनो। तीनोंमें पहले-पहलेकी अपेक्षा दूसरा-दूसरा श्रेष्ठ है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरके संयोगसे स्पष्ट शब्दयुक्त अक्षरोंके द्वारा स्पष्टरूपसे मन्त्रोच्चारण करना 'वाचिक जप' कहलाता है। जिसमें धीरे-धीरे मन्त्रका उच्चारण किया जाय, दोनों ओठ थोड़े-थोड़े हिलते रहें और जिसमें किञ्चिन्मात्र ही शब्द स्वयं सुननेमें आयें—इस प्रकारके जपको 'उपांशु जप' कहते हैं। जब मन-ही-मन मन्त्रके प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक पदका विचार करते हुए तथा उसके अर्थका बुद्धिके द्वारा चिन्तन करते हुए जो बार-बार मन्त्रकी आवृत्ति की जाती है, उसको मानस जप कहते हैं।'

उपांशुजपयुक्तस्य तस्माच्छतगुणो भवेत् ।
सहस्रो मानसः प्रोक्तो यस्माद् ध्यानसमो हि सः ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

'वाचिक जपकी अपेक्षा उपांशु जपका फल सौगुना अधिक होता है और सहस्रगुना अधिक फल होता है मानस जपका; क्योंकि मानस जप तो ध्यानके ही तुल्य होता है।' शिवागमका वचन है –

अनामामध्यमाक्रम्य जपं कुर्यात्तु मानसम् ।
मध्यमामध्यमाक्रम्य जपं कुर्यादुपांशुकम् ॥
तर्जनीं तु समाक्रम्य जपं नैव तु कारयेत् ।
एकैकमणिमङ्गुष्ठेनाकर्षन् प्रजपेन्मनुम् ॥
मेरौ तु लङ्घिते देवि ! न मन्त्रफलभाग्भवेत् ॥

'अनामिकाके मध्यको आक्रमण करके अर्थात् अनामिकाके मध्य भागमें जपमाला रखकर एक-एक मणिको अङ्गुठेसे खींचते हुए मानस मन्त्र जप करे और उपांशुजप मध्यमा अङ्गुलिके मध्यमें जपमाला रखकर करे ! परंतु तर्जनीके द्वारा मालाका स्पर्श करके जप कभी न करे। हे देवि ! मेरुका उल्लङ्घन करनेपर जपका फल नहीं प्राप्त होता। अर्थात् मेरुके पास जप करते-करते जब पहुँचे तो उसको लाँघे नहीं,

बल्कि वहींसे जप करता हुआ लौटे ।' नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है—

वदन्न गच्छन्न स्वपन्नान्यत् किमपि संस्मरन् ।
न क्षुज्जृम्भणहिक्कादिविकलीकृतमानसः ॥
मन्त्रसिद्धिमवाप्नोति तस्माद् यत्नपरो भवेत् ॥

'बातें करते, राह चलते, नींद लेते, दूसरी बातका स्मरण करते अथवा छींक, जँभाई और हिचकी आदिके द्वारा चञ्चलचित्त होकर जप करनेसे मन्त्रसिद्धि नहीं होती । अतएव जप करते समय सावधान रहना चाहिये ।' तथा—

अङ्गुल्यग्रेषु यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
असंख्या तं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥
(व्यासस्मृति)

'अङ्गुलिके अग्रभागसे जप करनेपर, मेरुका लङ्घन करनेपर तथा बिना संख्याके जप करनेपर वह सब जप निष्फल हो जाता है ।'

भूतराक्षसवेतालाः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।
हरन्ति प्रकटं यस्मात्तस्माद्गुप्तं जपेत्सुधीः ॥

'मालाको खुली रखकर जप करनेसे उसे भूत, राक्षस, बेताल, सिद्ध, गन्धर्व, चारण हर लेते हैं; अतः गुप्तरूपसे जप करना ही बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है ।'

पूजा-विधि-विवेक

न्यास, प्राणायाम, भूतशुद्धि, आवाहन, विसर्जन आदि नाना प्रकारके बाह्य अनुष्ठानोंके साथ जो पूजा होती है, उसको जपाङ्ग पूजा कहते हैं । परंतु श्रवण-कीर्तन आदि जो नौ प्रकारका अनुष्ठान है, वह भक्तिका अङ्ग है; उसको भक्त्यङ्ग पूजा कहते हैं । उसे भक्तिनिष्ठ साधक न्यास आदिके बिना भी कर सकता है ।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥

'यद्यपि श्रीविष्णुकी प्रतिमा-पूजा प्रसिद्ध सामग्रियोंके द्वारा सम्पन्न होती है, तथापि जो निष्काम भक्त है, उसकी पूजामें हृदयका भाव ही प्रधान होता है, सामग्री चाहे जो हो ।'

एकादशी-व्रत

तिथि और नक्षत्रका परिमाण ६० दण्ड (घड़ी) होता है । परंतु शास्त्रकार इनकी तीन अवस्थाएँ बतलाते हैं—सम्पूर्ण, क्षय और वृद्धि । सम्पूर्ण तिथिका मान ६० दण् होता है, क्षयका ६० दण्डसे कम और वृद्धिका ६० दण्डसे अधिक।

स्कन्दपुराणमें आया है—

प्रतिपत्प्रभृतयः सर्वा उदयादोदयाद्रवेः ।
सम्पूर्णा इति विख्याता हरिवासरवर्जिताः ॥

अर्थात् सूर्योदयसे लेकर दूसरे दिनके सूर्योदयतक व्याप तिथि सम्पूर्णा कहलाती है; परंतु एकादशीके विषयमें य बात नहीं है । क्योंकि—

आदित्योदयवेलायाः प्राङ्मुहूर्त्तद्वयान्विता ।
एकादशी तु सम्पूर्णा विद्धान्या परिकीर्तिता ॥
(भविष्यपुराण)

"एकादशी यदि सूर्योदयसे चार दण्ड पूर्व प्रवृत्त होक दूसरे दिन सूर्योदयतक रहे तो उसको 'सम्पूर्णा' कहेंगे, अन्यथा वह विद्धा हो जायगी ।"

एकादश्यां निराहारो यो भुङ्क्ते द्वादशीदिने ।
शुक्ले वा यदि वा कृष्णे तद्व्रतं वैष्णवं महत् ॥
(भविष्यपुराण ।)

'शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एकादशीको निराहार रहकर जो द्वादशीके दिन भोजन करता है, उसका यह व्रत महान् वैष्णव व्रत होता है अर्थात् यह व्रत विष्णुभगवान्को अति प्रिय है ।'

नमो भगवते तस्मै यस्य प्रियतमा तिथिः ।
एकादशी द्वादशी च सर्वाभीष्टप्रदा नृणाम् ॥
इत्थं च नित्यं कुर्वाणः कृष्णपूजामहोत्सवम् ।
हरेर्दिने विशेषेण कुर्यात्तं पक्षयोर्द्वयोः ॥
तत्र व्रतस्य नित्यत्वादवश्यं तत्समाचरेत् ।
सर्वपापापहं सर्वार्थदं श्रीकृष्णतोषणम् ॥
तच्च कृष्णप्रीणनत्वाद् विधिप्राप्तत्वतस्तथा ।
भोजनस्य निषेधाच्चाकरणे प्रत्यवायतः ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास ।)

'जिनकी परम प्रिय एकादशी और द्वादशी तिथियाँ मनुष्योंको सर्वाभीष्ट प्रदान करती हैं, उन श्रीभगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ । नित्य यथाविधि श्रीकृष्णकी पूजाक महोत्सव करते हुए उभय पक्षके हरिवासर अर्थात् एकादशी और द्वादशीके दिन यह पूजा-महोत्सव विशेषरूपसे करे। यह व्रत नित्य व्रत है, अतएव अवश्यकरणीय है । यह व्र

अनुष्ठान करनेपर सब प्रकारके पापोंका नाश, सर्वाभीष्ट-प्रदान तथा श्रीकृष्णकी संतुष्टि करनेवाला है। यह व्रत अवश्य ही करने योग्य है; क्योंकि इसके द्वारा श्रीकृष्ण संतुष्ट होते हैं। इसके करनेका शास्त्रमें विधान है, भोजनका इसमें निषेध किया गया है तथा इस व्रतका अनुष्ठान न करनेसे पाप लगता है।'

अरुणोदयवेलायां दशमीसंयुता यदि।
अत्रोपोष्या द्वादशी स्यात्त्रयोदश्यां तु पारणम्॥

(कण्वसंहिता)

बहुवाक्यविरोधेन संदेहो जायते यदा।
उपोष्या द्वादशी तत्र त्रयोदश्यां तु पारणम्॥

(नारदपुराण)

'यदि अरुणोदयके समय दशमी हो अर्थात् दशमीविद्धा एकादशी हो, अथवा एकादशीके सम्बन्धमें विभिन्न मतोंके कारण मनमें संदेह पैदा हो जाय तो द्वादशीको उपवास करके त्रयोदशीको पारण करे।'

एकादशी तथा षष्ठी पौर्णमासी चतुर्दशी।
तृतीया च चतुर्थी च अमावस्याष्टमी तथा।
उपोष्या परसंयुक्ता नोपोष्या पूर्वसंयुता॥

(शारदापुराण)

'एकादशी, षष्ठी, पौर्णमासी, चतुर्दशी, तृतीया, चतुर्थी, अमावास्या तथा अष्टमी—इन तिथियोंको व्रत करना हो तो पूर्वतिथिसे संयुक्त दिनको उपवास न करे, अगली तिथिसे संयुक्त होनेपर उपवास करे।' जैसे एकादशीव्रत करना हो तो दशमीविद्धा एकादशीमें न करे, बल्कि द्वादशीविद्धामें करे।

पद्मपुराणमें लिखा है—

वर्णानामाश्रमाणां च स्त्रीणां च वरवर्णिनि।
एकादश्युपवासस्तु कर्तव्यो नात्र संशयः॥

'ब्राह्मणादि चारों वर्णों, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों और स्त्रीजातिके लिये भी एकादशीका उपवास अवश्यकर्तव्य है।'

एकादश्युपवासं यः सदा तु कुरुते नरः।
स याति परमं स्थानं यत्र देवो हरिः स्थितः॥

(अग्निपुराण)

'जो मनुष्य सदा एकादशीका उपवास करता है, वह (मरनेपर) उस परम धामको जाता है, जहाँ श्रीहरि नित्य निवास करते हैं।' वैष्णवके लिये एकादशीका व्रत अनिवार्य है। गौतमीय तन्त्रमें लिखा है—

वैष्णवो यदि भुञ्जीत एकादश्यां प्रमादतः।
विष्णवर्चनं वृथा तस्य नरकं घोरमाप्नुयात्॥

'यदि वैष्णव प्रमादवश एकादशीको भोजन करता है तो उसकी विष्णुपूजा व्यर्थ जाती है और वह घोर नरकमें गिरता है।'

द्वादशी-व्रतकी महिमामें विष्णुपुराणका वचन है—

ॐकारः सर्ववेदानां यथा चाद्यः प्रपूजितः।
तथा सर्वव्रतानां च द्वादशीव्रतमुत्तमम्॥

'जैसे ॐकार सब वेदोंमें प्रथम पूजित होता है, उसी प्रकार सब व्रतोंमें द्वादशी-व्रत श्रेष्ठ है।' विष्णुरहस्यमें भी आया है—

मनसापि चिकीर्षन्ति द्वादशीं ये नरोत्तमाः।
तेऽपि घोरं न पश्यन्ति संसारदुःखसागरम्॥

'जो नरश्रेष्ठ मनमें भी द्वादशी-व्रत करनेकी इच्छा करते हैं, वे पुनः इस भयंकर संसाररूपी दुःखसागरको नहीं देखते, अर्थात् आवागमनसे छूट जाते हैं।'

काश्यप-पञ्चरात्रमें श्रीभगवान् कहते हैं—

मदुत्थाने मच्छयने मत्पार्श्वपरिवर्तने।
अन्नं वा यदि भुञ्जीत फलमूलमथापि वा।
अपराधमहं तस्य न क्षमामि कदाचन॥

'देवोत्थानी (कार्तिक-शुक्ला) एकादशी, देवशयनी (आषाढ शुक्ला) एकादशी तथा देव-पार्श्व-परिवर्तनी (भाद्रपद शुक्ला)—इन तीन एकादशियोंको अन्न अथवा फल-मूल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे दोष लगता है और उस दोषको भगवान् क्षमा नहीं करते।'

उपवासके पूर्व दिन प्रातःस्नान आदि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर धौतवस्त्र एवं सुन्दर वेश धारण करके वैष्णवको एकादशी-व्रतका इस मन्त्रसे संकल्प करना चाहिये—

दशमीदिनमारभ्य करिष्येऽहं व्रतं तव।
त्रिदिनं देवदेवेश निर्विघ्नं कुरु केशव॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'हे देवाधिदेव केशव! मैं दशमीसे आरम्भ करके तीन दिन आपका व्रत करूँगा। मेरे इस व्रतको निर्विघ्न पूरा करें।'

नारदपुराणमें कहा गया है—

प्रातर्हरिदिनं लोकास्तिष्ठध्वं चैकभोजनाः ।
अक्षारलवणाः सर्वे हविष्यान्ननिषेविणः ॥
अवनीतलपशयनाः प्रियासङ्गविवर्जिताः ।
स्मरध्वं देवमीशानं पुराणं पुरुषोत्तमम् ॥
सकृद्भोजनसंसक्ता द्वादश्यां च भविष्यथ ॥

'हे मनुष्यो ! कल भगवान् विष्णुका दिन (एकादशी) है; अतः आज केवल एक बार भोजन करो, क्षार और लवणका सेवन न करो । सब लोग केवल हविष्यान्न ग्रहण करो । भूमिपर शयन करो, स्त्रीप्रसङ्गका त्याग करो । पुराणपुरुष देवाधिदेव श्रीजनार्दनका स्मरण करो तथा द्वादशीको केवल एक बार भोजन करो ।'

एकादशीके दिन प्रातःस्नानादि कृत्य करके भगवान्की अर्चना करे और तत्पश्चात् इस प्रकार संकल्प करे—

एकादश्यां निराहारः स्थित्वाहमपरेऽहनि ।
भोक्ष्यामि पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत ॥

अर्थात् 'हे अच्युत ! हे पुण्डरीकाक्ष ! मैं आज एकादशीके दिन निराहार रहकर दूसरे दिन भोजन करूँगा । मुझे शरण प्रदान करो ।'

उच्चारयन्निमं मन्त्रं श्रीकृष्णचरणाब्जयोः ।
पुष्पाञ्जलिं समर्प्याथ मन्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥
अष्टाक्षरेण मन्त्रेण त्रिजप्तेनाभिमन्त्रितम् ।
उपवासफलं प्रेप्सुः पिबेत्तोयं समाहितः ॥

'उक्त संकल्प-मन्त्रका उच्चारण करके श्रीकृष्णके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदान करके मन्त्रपूत जल पान करे । उपवासके फलकी आकाङ्क्षा करनेवाला **'ॐ नमो नारायणाय'**—इस अष्टाक्षर मन्त्रको तीन बार पढ़कर उससे जलको अभिमन्त्रित करके समाहित चित्तसे पान करे ।' उपवास-शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

अर्थात् 'समस्त पापोंसे निवृत्त होकर गुणोंके साथ अवस्थित होनेका नाम उपवास है । उपवासमें समस्त भोगोंका त्याग करना आवश्यक है ।'

व्यासजी कहते हैं—

पुष्पालंकारवस्त्राणि गन्धधूपानुलेपनम् ।
उपवासे च दुष्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम् ॥

'पुष्प, अलंकार, वस्त्र, गन्ध, धूप और चन्दनादिलेप, दन्तधावन और अञ्जन—ये उपवासमें वर्जित हैं ।'

असत्यभाषणं द्यूतं दिवास्वापं च मैथुनम् ।
एकादश्यां न कुर्वीत उपवासपरो नरः ॥

'उपवासी मनुष्य एकादशीके दिन मिथ्याभाषण, जुआ खेलना, दिनमें सोना और स्त्रीप्रसङ्ग न करे ।' इसके सिवा—

विना जागरणं गौरि विष्णोर्दिनफलं न हि ।
(स्कन्दपुराण)

शिवजी कहते हैं कि 'हे पार्वति ! हरिवासरकी रात्रिमें जागरण किये बिना व्रतका फल नहीं मिलता ।' स्कन्दपुराणमें आया है—

शृणु नारद वक्ष्यामि जागरस्य तु लक्षणम् ।
येन विज्ञातमात्रेण दुर्लभो न जनार्दनः ॥
गीतं[1] वाद्यं[2] च नृत्यं[3] च पुराणपठनं[4] तथा ।
धूपं[5] दीपं[6] च नैवेद्यं[7] पुष्प[8]गन्धा[9]नुलेपनम्[10] ॥
फल[11]मर्घ्यं[12] च श्रद्धा[13] च दान[14]मिन्द्रियनिग्रहः[15] ।
सत्यान्वितं[16] विनिद्रं[17] च मुदा[18]युक्तं क्रिया[19]न्वितम् ॥
साश्चर्यं[20] चैव सोत्साहं[21] पापालस्यादिवर्जितम्[22] ।
प्रदक्षिणाभिः[23] संयुक्तं नमस्कार[24]पुरस्सरम् ॥
नीराजन[25]समायुक्तमनिर्विण्णेन चेतसा ।
यामे यामे महाभाग कुर्यादारात्रिकं[26] हरेः ॥
अभावे वाचकस्याथ गीतं नृत्यं च कारयेत् ।
वाचके सति देवेशि पुराणं प्रथमं पठेत् ॥

'हे नारद ! जागरणके नियम बतलाता हूँ, श्रवण करो । इसको जाननेके बाद श्रीजनार्दन दुर्लभ नहीं रह जाते । हे महाभाग ! श्रीहरिके जागरणमें एकाग्र चित्तसे गीत[1], वा नृत्य[3], पुराण-पाठ[4], धूप[5], दीप[6], नैवेद्य[7], पुष्प[8], गन्ध[9] (इ आदि), चन्दनादिका लेप[10], फल[11], अर्घ्य[12] और श्रद्धा[13] दान[14] और इन्द्रियसंयममें[15], सत्य[16]निष्ठा, निद्राहीनता[17], आनन्द प्रकाश[18], क्रियानुष्ठान[19], विस्मय[20] और उत्साह[21]प्रदर्शन, पाप और आलस्य आदिका त्याग[22], प्रदक्षिणा[23], नमस्कार[24], नीराजन[25] और पहर-पहरमें आरती[26] करे । इस प्रकार छब्बीस गुणोंसे युक्त होकर श्रीहरिकी उपासना करता हुआ जागरण करे । शंकर कहते हैं—'हे पार्वति ! वाचकका अभाव हो तो केवल गीत

नृत्यादि ही कराये। परंतु वाचकके रहनेपर पहले पुराण-पाठ कराये।'

पारणके दिन प्रातःकाल मङ्गल-आरती करके वैष्णवोंको प्रसाद देकर सम्मानपूर्वक विदा करे। पश्चात् प्रातःकालीन पूजा समाप्त करके सब कुछ श्रीकृष्णको समर्पण करे। समर्पणका मन्त्र—

अज्ञानतिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'हे केशव! मैं अज्ञानान्धकारसे अंधा हो रहा हूँ। इस व्रतके द्वारा हे प्रभो! तुम अनुकूल होकर मुझे ज्ञानदृष्टि प्रदान करो।'

द्वादशीके दिन श्रीहरिको स्नान नहीं कराना चाहिये, अतएव रात्रिमें स्नान कराये। परंतु पवित्रारोपण तथा दमनकारोपणके दिन रात्रिको भी स्नान कराना मना है।

नित्यकृत्यं समाप्याथ शक्त्या विप्रांश्च भोजयेत्।
कुर्वीत द्वादशीमध्ये तुलसीं प्राश्य पारणम्॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'नित्यकृत्य समाप्त करके यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराये और द्वादशीके भीतर तुलसीदल ग्रहण करके पारण करे।'

मन्त्रं जपित्वा हरये निवेद्योपोषणं व्रती।
अद्भिस्तु पारणं कुर्यात् संकटे विषमे सति॥

(कात्यायन)

'विषम संकट उपस्थित होनेपर व्रती मन्त्र-जप करके अपना व्रत श्रीहरिको समर्पण करे और भगवान्‌के चरणोदकके द्वारा ही पारण कर ले।'

अष्ट-महाद्वादशी

उन्मीलनी वञ्जुली च त्रिस्पृशा पक्षवर्द्धिनी।
जया च विजया चैव जयन्ती पापनाशिनी॥
द्वादश्योऽष्टौ महापुण्याः सर्वपापहरा द्विजाः।
तिथियोगेन जायन्ते चतस्रश्चापरास्तथा॥
नक्षत्रयोगाच्च बलात् पापं प्रशमयन्ति ताः॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

'उन्मीलनी, वञ्जुली, त्रिस्पृशा, पक्षवर्द्धिनी, जया, विजया, जयन्ती और पापनाशिनी—ये आठ महाद्वादशियाँ **महापुण्यस्वरूपिणी हैं तथा सब पापोंका नाश करनेवाली हैं।** इनमें प्रथम चार तिथियोगसे तथा दूसरी चार नक्षत्रयोगके बलसे आती हैं और ये बलपूर्वक पापका नाश करती हैं।' तथा—

एकादशी तु सम्पूर्णा वर्द्धते पुनरेव सा।
द्वादशी च न वर्द्धेत कथितोन्मीलनीति सा॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

"एकादशी सम्पूर्णा होकर यदि दूसरे दिन वृद्धिको प्राप्त होती है, परंतु द्वादशी (त्रयोदशीके दिन) बढ़ती नहीं, तो एकादशीमें व्रत न करके द्वादशीको व्रत करे। यह द्वादशी 'उन्मीलनी' कहलाती है।" द्वादशीमें उपवास करके त्रयोदशीमें पारण करनेसे सैकड़ों यज्ञका फल प्राप्त होता है। यह उन्मीलनी द्वादशी व्रतीकी संतानवृद्धि करती है।

द्वादश्येव विवर्द्धेत न चैवैकादशी यदा।
वञ्जुली तु भृगुश्रेष्ठ कथिता पापनाशिनी॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

"जब एकादशीकी वृद्धि न होकर, द्वादशी दूसरे दिन बढ़ती हो, तब वह 'वञ्जुली' कहलाती है और उस दिन उपवास करनेसे पापोंका नाश होता है।" पद्मपुराणमें लिखा है—

शुक्लपक्षे तथा कृष्णे यदा भवति वञ्जुली।
एकादशीदिने भुक्त्वा द्वादश्यां कारयेद्व्रतम्॥
पारणं द्वादशीमध्ये त्रयोदश्यां न कारयेत्॥

'शुक्ल या कृष्णपक्षमें जब वञ्जुली द्वादशी होती है, तब एकादशीको भोजन करके द्वादशीको व्रत करे। तथा त्रयोदशीके पहले वृद्धा द्वादशीमें ही पारण करे, त्रयोदशीको पारण न करे।'

अरुणोदय आद्या स्याद् द्वादशी सकलं दिनम्।
अन्ते त्रयोदशी प्रातस्त्रिस्पृशा सा हरेः प्रिया॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

"अरुणोदयके समय एकादशी, फिर दिन-रात द्वादशी और अन्तमें प्रातःकाल त्रयोदशी होनेपर वह 'त्रिस्पृशा द्वादशी' कहलाती है। यह श्रीहरिको अति प्रिय है और महापुण्यदायिनी है।"

दर्शश्च पौर्णमासी च सम्पूर्णा यदि वर्द्धते।
द्वितीयेऽह्नि नृपश्रेष्ठ सा भवेत् पक्षवर्द्धिनी॥

"यदि अमावास्या या पौर्णमासी सम्पूर्ण होकर प्रतिपदाके दिनतक वृद्धिको प्राप्त हो तो उसके पूर्वकी द्वादशी 'पक्षवर्द्धिनी' कहलाती है।' ऐसी स्थितिमें एकादशीको

छोड़कर द्वादशीको व्रत करना चाहिये । यह द्वादशी व्रतीको हजारों अश्वमेध यज्ञका फल प्रदान करती है ।

द्वादश्यां तु सिते पक्षे ऋक्षं यदि पुनर्वसुः ।
नाम्ना सा तु जया ख्याता तिथीनामुत्तमा तिथिः ॥
तामुपोष्य नरो घोरे नरके नैव मज्जति ।
अग्निष्टोमादियज्ञानां फलमाप्नोत्यसंशयः ॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

“शुक्लपक्षकी द्वादशीमें पुनर्वसु नक्षत्रका योग होनेसे उसको ‘जया’ कहते हैं । यह जया सब तिथियोंमें श्रेष्ठ है, इसमें उपवास करके मनुष्य नरकमें नहीं पड़ता । उसको निश्चयपूर्वक अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ।”

यदा तु शुक्लद्वादश्यां नक्षत्रं श्रवणं भवेत् ।
तदा सा तु महापुण्या द्वादशी विजया स्मृता ॥
होमस्तत्रोपवासश्च सहस्रगुणितो भवेत् ॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

“शुक्ल द्वादशीके साथ श्रवण नक्षत्रका योग होनेपर वह महापुण्यस्वरूपा द्वादशी ‘विजया’ कहलाती है । उसमें होम और उपवास करनेपर हजारगुना फल प्राप्त होता है ।”

यदा तु शुक्लद्वादश्यां प्राजापत्यं प्रजायते ।
जयन्ती नाम सा प्रोक्ता सर्वपापहरा तिथिः ॥

(ब्रह्मपुराण)

“शुक्ल द्वादशीमें रोहिणी नक्षत्रका योग हो तो वह ‘जयन्ती’ द्वादशी कहलाती है और वह सब पापोंको हर लेती है ।”

यदा तु शुक्लद्वादश्यां पुष्या भवति कर्हिचित् ।
तदा तु सा महापुण्या कथिता पापनाशिनी ॥

(ब्रह्मपुराण)

“शुक्ल द्वादशी जब कभी पुष्य नक्षत्रसे युक्त होती है, तब उस महापुण्यमयी तिथिको ‘पापनाशिनी’ कहते हैं ।” इसमें उपवास करनेसे सहस्रों एकादशीव्रतका फल प्राप्त होता है ।

भैमी एकादशी

यद्यष्टमीचतुर्दश्योर्द्वादशीष्वथ भारत ।
अन्येष्वपि दिनर्क्षेषु न शक्तस्त्वमुपोषितुम् ॥
ततः पुण्यामिमां भीम तिथिं पापप्रणाशिनीम् ।
उपोष्य विधिनानेन गच्छ विष्णोः परं पदम् ॥

(मत्स्यपुराण)

‘हे भीम ! अष्टमी, चतुर्दशी, द्वादशी तथा अन्य दिन या नक्षत्रमें यदि तुम उपवास करनेमें समर्थ न हो तो पातकहारिणी, पुण्यस्वरूपा भीमतिथिमें अर्थात् माघी शुक्ला एकादशीको विधिपूर्वक उपवास करके श्रीहरिके परम पदको अर्थात् श्रीवैकुण्ठधामको गमन करो ।’

गोविन्दद्वादशी

फाल्गुनामलपक्षे तु पुष्यर्क्षे द्वादशी यदि ।
गोविन्दद्वादशी नाम महापातकनाशिनी ॥
तस्यामुपोष्य विधिवन्नरः संक्षीणकल्मषः ।
प्राप्नोत्यनुत्तमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥

(ब्रह्मपुराण)

“फाल्गुन मासके शुक्लपक्षमें जब द्वादशी पुष्यनक्षत्रसे युक्त होती है, तब उसको ‘गोविन्दद्वादशी’ कहते हैं । वह महापातक-नाशिनी है । उसमें विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाप नष्ट होते हैं, श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है तथा मनुष्य जरा-मरणसे मुक्त हो जाता है ।”

निर्जला एकादशी

पितामह ह्यशक्तोऽहमुपवासे करोमि किम् ।
अतो बहुफलं ब्रूहि व्रतमेकमपि प्रभो ॥
वृषस्थे मिथुनस्थेऽर्के शुक्ला ह्येकादशी हि या ।
ज्येष्ठे मासि प्रयत्नेन सोपोष्या जलवर्जिता ॥
स्नाने वाऽऽचमने चैव वर्जयित्वोदकं बुधः ।
उपभुञ्जीत नैवान्यद् व्रतभङ्गोऽन्यथा भवेत् ॥
उदयादुदयं यावद् वर्जयित्वा जलं बुधः ।
स प्रयत्नादवाप्नोति द्वादशद्वादशीफलम् ॥
संवत्सरस्य या मध्ये एकादश्यो भवन्ति हि ।
तासां फलमवाप्नोति पुत्र मे नात्र संशयः ॥

(पद्मपुराण)

भीम बोले—‘हे पितामह ! मैं उपवास करनेमें असमर्थ हूँ, क्या करूँ ? आप बहुत फल प्रदान करनेवाले एक ही व्रतको बतला दीजिये ।’ तब व्यासजीने कहा—‘हे वत्स ! वृष या मिथुन राशिके सूर्यमें ज्येष्ठ मासमें जो शुक्ला एकादशी आती है, उसमें जल-त्याग करके उपवास करना चाहिये । और बुद्धिमान् मनुष्य स्नान और आचमनके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार जलका उपभोग न करे, करनेसे व्रत-भङ्ग हो जाता है । बुद्धिमान् पुरुष सूर्योदयसे सूर्योदयतक प्रयत्नपूर्वक जल-त्याग करे । यों करनेसे उसको बारह महीनों की द्वादशीका फल प्राप्त होता है । हे पुत्र ! इतना ही नहीं,

निस्संदेह उसको सालभरकी सभी एकादशियोंका फल मिल जाता है ।'

श्रवण-द्वादशी और विष्णुश्रृङ्खलयोग

स्कन्दपुराणका वचन है—

मासि भाद्रपदे शुक्ला द्वादशी श्रवणान्विता ।
महती द्वादशी ज्ञेया उपवासे महाफला ॥
बुधश्रवणसंयुक्ता सैव चेद् द्वादशी भवेत् ।
अत्यन्तमहती तस्यां दत्तं भवति चाक्षयम् ॥

"भाद्रपदकी शुक्ला द्वादशी यदि श्रवणनक्षत्रसे युक्त हो तो उसको 'महाद्वादशी' कहते हैं, उसमें उपवास करनेसे महान् फल होता है । वही द्वादशी यदि बुधवार और श्रवण-नक्षत्र दोनोंसे युक्त हो तो वह और भी अधिक महती तिथि हो जाती है; उसमें जो कुछ दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है ।" मत्स्यपुराणमें लिखा है—

द्वादशी श्रवणस्पृष्टा स्पृशेदेकादशीं यदा ।
स एव वैष्णवो योगो विष्णुश्रृङ्खलसंज्ञितः ॥
तस्मिन्नुपोष्य विधिवन्नरः संक्षीणकल्मषः ।
प्राप्नोत्यनुत्तमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥

यदि एक ही अहोरात्रमें किसी समय श्रवणयुक्ता द्वादशी शुक्ला एकादशीको स्पर्श करती है, अर्थात् व्रतविहित एकादशीके दिन यदि एकादशीके साथ द्वादशी और श्रवण-नक्षत्रका भी योग हो तो वह विष्णुविश्रृङ्खल योग कहलाता है। उस दिन जो मनुष्य विधिवत् उपवास करता है, उसके पाप भली-भाँति नष्ट हो जाते हैं, उसको आवागमनसे छुटकारा मिल जाता है और उसे अति उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ।' दूसरा विष्णुविश्रृङ्खल योग तब होता है, जब एकादशी और द्वादशी दोनों तिथियाँ एक ही दिन श्रवणनक्षत्रसे युक्त होती हैं । विष्णुधर्मोत्तरका वचन है—

एकादशी द्वादशी च वैष्णव्यमपि तद्भवेत् ।
तद्विष्णुश्रृङ्खलं नाम विष्णुसायुज्यकृद्भवेत् ॥

(क्रमशः)

मानसमें माता कौसल्याकी महत्ता

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानसमें माता कौसल्याका चरित्र उज्ज्वल, पवित्र तथा सौजन्यपूर्ण होनेके नाते अपना एक विशेष महत्त्व रखता है । वाणी और लेखनी-द्वारा उसका वर्णन हो नहीं सकता; फिर भी उनके महान् व्यक्तित्वकी एक झलक देखनेका प्रयत्न किया जाता है ।

पूर्वाभास—माता कौसल्या पूर्वजन्ममें स्वायम्भुव मनुकी धर्म-पत्नी शतरूपा रानीके नामसे विख्यात हैं । इन दम्पतिके उग्र तपसे प्रसन्न होकर—

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥

और फिर—

बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि ।
मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि ॥

तब स्वायम्भुव मनु अपनी इच्छा इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ॥

पहले 'एवमस्तु' कहकर फिर भगवान् कहते हैं—

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई । नृप तव तनय होब मैं आई ॥

पति-पत्नीके जन्म-जन्मान्तरका सम्बन्ध होनेके कारण शतरूपा रानीको यह समझनेमें देर नहीं लगती कि इन भगवान्को गर्भमें धारण करनेके सुखके साथ पुत्रके रूपमें इन-की प्राप्ति भी पहले मुझे होगी । अतः जब शतरूपाजीको हाथ जोड़े हुए देखकर भगवान् कहते हैं—

देबि मागु बरु जो रुचि तोरें ।

—तब वे तुरंत कह देती हैं—

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा । सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ॥

तत्पश्चात् पहले अपना संशय और फिर 'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई' में अपना विश्वास बताकर माँगती हैं—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं । जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥

कोमल, गूढ़ और मनोहर रचनायुक्त ऐसी वर-याचनाको सुनकर भगवान् भी कोमल वाणीसे कह देते हैं—

जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥

शतरूपाजीके मनमें जो कुछ भी इच्छा है वह सब भगवान् तुरंत ही दे तो देते ही हैं और फिर कहते हैं कि 'इसमें कोई संदेह नहीं समझना।' साधारणतया इसके आगे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, परंतु फिर भी भगवान् इतना दुहराते हैं—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥

स्वायम्भुव मनुको वरदान देते समय 'नृप' कहकर सम्बोधन करते हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है; परंतु शतरूपाजीको यहींसे भगवान् अपनी माता बना लेते हैं और कहते हैं कि 'माँग तो रही हो विवेक; परंतु तुम्हारे पास यह जो अलौकिक विवेक है, वह मेरी कृपासे कभी मिटनेवाला नहीं। स्पष्ट है कि शतरूपाजीके मनमें ऐसी उथल-पुथल तथा हलचल अवश्य होती रही है कि ऐसे ब्रह्मादिजनक, जगदीश, ब्रह्म, अन्तर्यामी, महान् लीलामय प्रभुकी माताके पदपर प्रतिष्ठित होकर मुझसे कभी कुछ ऐसा न बन जाय, जिसके कारण मेरे इन प्रभुको असमंजसमें पड़ना पड़े, अथवा इनके मातृपदपर कहींसे कोई बिन्दुमात्रका छींटा लग जाय। अतएव विवेक पानेके लिये ठीक ही याचना करती हैं। माताके इसी अलौकिक विवेकके सम्बन्धमें निम्नाङ्कित पंक्तियाँ लिखनेका प्रयास किया जाता है—

(१) आज पिछले पहर उठते समयसे ही माता कौसल्याके मनमें उमंगकी लहरें उठ रही हैं; क्योंकि श्रीरामजीका राज्याभिषेक होनेवाला है। इतनेमें सूर्योदय होते-होते कैकेयी-भवनसे सचिव-सुतको साथ लिये हुए श्रीरामजी प्रसन्न मुद्रामें माता कौसल्याके पास आते हैं। यथा—

मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ॥

और—

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातु पद नायउ माथा॥

बस, माताका हृदय आनन्दविभोर हो जाता है और वे—

दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावरि कीन्हे॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥
प्रेमु प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदबी जनु पाई॥
सादर सुंदर बदनु निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥
सुकृत सील सुख सीवँ सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥

जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥
पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥

आनन्दोल्लसित होकर एक साँसमें कितने काम कर ले हैं और कितनी बातें कह जाती हैं तथा इन सबके अनु मधुर उत्तर सुननेके लिये अपने लाड़ले लालका मुँह जो लगती हैं; परंतु सुनती क्या हैं—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥

बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान॥

यद्यपि श्रीरामजी इन वचनोंको बड़ी विनम्रता, मधुर तथा कुशलताके साथ कहते हैं, तथापि—

सर सम लगे मातु उर करके॥

और—

सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परें पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥

ऐसी आन्तरिक व्यथा माताको होती है, फिर भ धैर्य धारण करके वे पूछती हैं—

राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा॥

पतिको सदा निर्दोष मानकर पुत्रका अपराध पूछ हैं। तब—

निरखि राम रुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥

इस ढलती अवस्थामें माता कौसल्याने एक पुत्र पा है, सो भी कैसा—

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा॥
सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुख चंदु निहारी॥
सेवक सचिव सकल पुर बासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी॥
सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥

—आदि, आदि।

ऐसे सुन्दर, गुणवान्, परम प्रिय पुत्रका विछोह—सो भी दस-पाँच दिनके लिये नहीं वरं चौदह वर्षकी लंबी अवधके लिये और उसपर भी अपने राजपुत्रका वनमें वास करते हुए—ऐसे हृदयविदारक संवादको सुनकर केवल माता ही अपनी व्यथाको जान सकती है, कह तो वह भी नहीं सकती। वे तो धैर्य और धर्मकी मूर्ति राममहतारी कौसल्याजी ही हैं, यथा—

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥

'दोउ सुत सम जानी'के सम्बन्धमें आगे चलकर विचार किया जायगा। यहाँ तो धैर्य और धर्मका आश्रय पाकर माता कौसल्याका विवेक जाग्रत् हो उठता है; अतः वे कहती हैं—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

इस प्रकार अपना दुःख भूलकर पहले भरत, फिर भूपति और तत्पश्चात् प्रजापर आनेवाले प्रचण्ड क्लेशसे वे चिन्तित होने लगती हैं और—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

—को चरितार्थ करती हैं।

हाँ, तो—

तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

इस समय भरतजी ननिहालमें हैं, परंतु अयोध्या पहुँचनेके दिनसे चौदह वर्षकी अवधितक श्रीरामजीके वियोगमें भरतजीकी व्याकुलताको देख-देखकर माता कौसल्याके हृदयमें वेदना होती रही है। अभी तो भूपति अर्थात् अपने पतिकी ऐसे गाढ़े समयमें मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करनेके उद्देश्यसे ही पतिपरायणा राम-महतारी अपने एकमात्र लाड़ले पुत्रके साथ जानेसे रुक जाती हैं और वे कह देती हैं—

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू॥

× × ×

यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥

और तब—

दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलाप कलापा॥

ऐसे घोर दुःखसे उनका हृदय दग्ध होने लगता है; फिर भी जब श्रीरामजी सीता और लक्ष्मणसहित अन्तिम विदा माँगनेके लिये पिताजीके पास कैकेयीभवनमें आते हैं, तब 'सयानी' कौसल्याजी अपने पति (भूपति) दशरथजीकी दयनीय दशासे द्रवित होकर उनकी सार-सँभार करने और उन्हें ढाँढ़स बँधानेके लिये उनको अपने घर लिवा ले जाती हैं, यथा—

दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्या गृहँ गईं लवाई॥

और जब सुमन्त्रजी गङ्गापारतकका समाचार सुना देते हैं, तब—

कौसल्याँ नृपु दीख मलाना। रबिकुल रबि अँथयउ जियँ जाना॥
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥

× × ×

जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥

माता कौसल्या जानती हैं—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

और—

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

ऐसे ही समय नारीकी परीक्षा होती है, अतएव अपने दुःखको भूलकर माता दुखी पतिकी सेवामें संलग्न हो जाती हैं। ऐसी हैं विवेकमयी राम-महतारी।

(२) माता कौसल्याकी सहृदयताकी पराकाष्ठा तो उस समय देखनेमें आती है, जब मानवोंकी पीड़ासे तो क्या, वरं श्रीरामजीके घोड़ोंके दुःखसे व्यथित होकर वे कहती हैं—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरौ बनहि सिधावौ॥ १॥
जे पय प्याइ, पोषि कर पंकज, बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥ २॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे, मनहु कमल हिम मारे॥ ३॥
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु सँदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिन तें इन्ह को बड़ो अँदेसो॥ ४॥

(३) माता कौसल्याके चरित्रकी महत्ताकी ओर

ध्यान आकर्षित करनेवाली एक और विशेष महत्त्वपूर्ण बात है। दशरथजीसे लेकर जिन्होंने भी चौदह वर्षके लिये राम-वनवास-का समाचार सुना, वे सब कैकेयीके लिये कटु शब्दोंका प्रयोग किये बिना नहीं रह सके। यहाँतक कि सुमित्राजी भी—

समुझि सुमित्राँ राम सिय रूपु सुसीलु सुभाउ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥

और इन सबसे अधिक कठिन तथा हृदयको दग्ध करनेवाली अवर्णनीय व्यथासे माता कौसल्या संतप्त हो रही हैं। ऐसी दशामें अपने एकमात्र सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर सुकुमारको बिना किसी अपराधके चौदह वर्षकी लंबी अवधिके लिये जंगलमें भेजनेवाली कैकेयीके प्रति यदि राम-महतारीके मुखसे एक-दो कटु शब्द निकल भी पड़ते तो व्यावहारिक दृष्टिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। परंतु कटु शब्दका कहना तो दूर रहा, उनके मनमें किसी प्रकारकी कुत्सित भावनातक नहीं आती। उनका हृदय तो सरलतासे सराबोर है, अतः वे कहती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

यहाँ 'मातु' कैकेयीके लिये कहा गया है।

और तो क्या, ननिहालसे लौटनेपर जब कौसल्या माताके पास भरतजी आते हैं, तब वे कहते हैं—

कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रिय जन द्रोही॥

कैकेयीका ठेठ नाम लेते हैं, माता नहीं कहते। परंतु यहाँ भी माता कौसल्या उनकी हाँ-में-हाँ नहीं मिलातीं, वरं कहती हैं—

जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥
काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥
—आदि, आदि।

ऐसी है माता कौसल्याके हृदयकी विशालता, पवित्रता, सरलता, सरसता, सुशीलता, महत्ता और इन सबके मूलमें है उनका अलौकिक विवेक, जिसे उन्होंने पूर्व जन्ममें भगवान्‌से माँगकर प्राप्त किया है। विवेकयुक्त ऐसी भक्ति ही सर्वाङ्गसुन्दर और श्रेयस् होती है, जिसके लिये भगवान्‌के निज भक्त सदा-सर्वदा लालायित रहते हैं और उसे पानेके लिये अपने भगवान्‌से अहर्निश याचना करते रहते हैं।

माता कौसल्याका भरतपर स्नेह

गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानसमें राजा दशरथजीका रघुकुल एक आदर्श परिवारके रूपमें देखनेको मिलता है, जिसमें तीनों रानियाँ एक दूसरेके पुत्रोंको अपने पुत्रसे भी अधिक प्यार करती पायी जाती हैं। अतएव श्रीरामजीपर कैकेयीके प्यारकी चर्चा पहले करना इसलिये आवश्यक है कि भरतजीपर माता कौसल्या कितना अधिक स्नेह रखती हैं—इसपर सुगमतासे विचार किया जा सके।

श्रीरामजीको युवराजपद देनेका समाचार कैकेयीको जब मन्थरा दासी सुनाती है, उस समय शुद्धहृदया कैकेयी कहती हैं—

× × ×

राम तिलक जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥

× × ×

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह के तिलक छोभु कस तोरें॥

कैकेयीजी श्रीरामजीको बहुत प्यार करती रही हैं तथा सबसे ऐसा कहती भी रही हैं, जैसा कि कोपभवनमें वरदानके पश्चात् दशरथजी कहते हैं—

तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू॥

इसी प्रकार जब विप्रवधू, कुलमान्य जठेरी आदि कैकेयीको समझाने आती हैं, तब वे कहती हैं—

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहिं अपराध आजु बनु देहू॥

श्रीरामजीपर जितना स्नेह कैकेयीका है, उससे कहीं अधिक माता कौसल्याजीका भरतजीपर है। अन्तर केवल इतना ही है कि कैकेयी सबसे कह देती हैं, परंतु कहना तो दूर रहा, माता कौसल्या कम-अधिककी भावनातक अपने मनमें नहीं लातीं। वे तो जैसा ऊपर कहा गया है, 'रामु भरतु दोउ सुत सम जानी' की भावना रखती हैं। इसके बादसे भरतजीपर उनका स्नेह किस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, संक्षेपमें यही देखते चलना है।

(१) स्वर्गवासी पिताकी दाहक्रिया, दशगात्र आदि करनेके पश्चात् गुरु वशिष्ठजी राजसभामें भरतजीसे कहते हैं—

रायँ रजायसु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥

× × ×

करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥

× × ×

करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥

× × ×

सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥

अब कौसल्या माता सोचती हैं कि राजकाजमें व्यस्त हो जानेपर पिताकी मृत्युका, बड़े भाईके विछोहका और स्वयंकी आत्मग्लानिका दुःख भरतके मनसे शनैः-शनैः दूर होता जायगा और सबसे बढ़कर पूरी होगी कैकेयीके मनकी साध। अतएव गुरुजीकी आज्ञाका समर्थन वे बड़े सुन्दर ढंगसे करती हैं। यथा—

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥

× × ×

लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

पहले शब्द 'पूत' के सम्बोधनमें कितना लाड़-प्यार और दुलार भरा है। फिर 'मातु बलि जाई' अर्थात् तुम मेरे पुत्र और मैं तुम्हारी माता बलैया लेती हूँ। अस्तु, अन्य सबको तो भरतजी खासा खरा उत्तर दे देते हैं, परंतु अपने ऊपर माताके इस प्रेमकी स्वीकारोक्तिमें वे कहते हैं—

राम मातु सुठि सरल चित मोपर प्रेमु बिसेषि।
कहइ सुभायँ सनेह बस मोरि दीनता देखि॥

वैसे तो वे सरलहृदया हैं, स्वभावतः स्नेह करनेवाली हैं; परंतु मुझपर उनका विशेष प्रेम है।

(२) इसके बाद चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके पहले दिन—

बन सिय रामु समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहिं जाहीं॥

भरतजीपर विशेष प्रेम होनेके कारण सहृदया माता कौसल्यासे यह नहीं देखा जाता कि उनका भरत पैदल चले; अतः—

लाइ समीप राखि निज डोली। राम मातु मृदु बानी बोली॥
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥

कौसल्या माताके ऐसे प्रेममें सने हुए वचनोंको भरतजी कैसे टाल सकते हैं। अतएव—

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥

परंतु गङ्गाजी पार करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने पैदल यात्रा की है, इस विचारसे भरतजी फिर ऐसा प्रबन्ध कर लेते हैं कि उनके पैदल चलनेको माता देख ही नहीं पातीं और तब वे कुछ कह भी नहीं सकतीं। इस प्रकार एक ओर दुखी माताको अपने कारण और भी दुखी बनानेसे और दूसरी ओर माताकी आज्ञाकी अवहेलना करनेसे वे अपना बचाव कर लेते हैं।

(३) अब सारा समाज चित्रकूट पहुँच जाता है, मेल-मिलाप होता है, बैठकें होती हैं और अपने-अपने मनकी बातें कही जाती हैं। फिर जब जनकजीका आगमन होता है और उनकी धर्मपत्नी सुनयना रानी स्यापेके लिये कौसल्याजीके पास आती हैं, तब—

लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥

× × ×

अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेहँ सयानप थोरा॥

× × ×

कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि॥

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन। जौं यह मत मानै महीप मन॥
तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोचु भरत कर भारी॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

यहाँ प्रायः यह शङ्का उठायी जाती है कि 'माता कौसल्याने अभीतक भरतजीके प्रति जो लाड़-प्यार बताया है, वह केवल मौखिक अर्थात् दिखौआमात्र है। वास्तवमें भरतको श्रीरामजीके साथ वनको भेजकर वे कैकेयीसे बदला लेना चाहती हैं।' परंतु पूर्व प्रसङ्गपर विचार करनेसे यह शङ्का सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जाती है। प्रसङ्ग है, जब भरतजी अपनी माता कैकेयीसे राम-वन-गमनका समाचार सुनकर कौसल्याजीके पास आते हैं और कहते हैं—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत घन घोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥

× × ×

लोभा लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
पावौं मैं तिन्ह क गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा॥

× × ×

जे न भजहिं हरि नर तनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सोहाई॥
तजि श्रुति पंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ॥

तब—

मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।
कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥

और—

अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

यह 'थन पय स्रवहिं' क्या कभी ऊपरी या दिखौआ प्यारके कारण हो सकता है? यह तो भरतजीके प्रति आन्तरिक स्नेहके कारणसे ही हो रहा है। राम-मातुका ऐसा सरल स्वभाव ही है। यथा—

देखि सुभाउ कहत सबु कोई। राम मातु अस काहे न होई॥

माता कौसल्याके सरल स्वभावकी एक विशेषता यह भी है कि यौवराज्याभिषेकके दिन जब श्रीरामजी उनके पास आते हैं, तब इसी प्रकार—

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥

अन्तर इतना है कि जब श्रीरामजी आते हैं, तब कौसल्याजी राज्याभिषेकके आनन्दमें विभोर रहती हैं; परंतु जब भरतजी उनके पास आते हैं, तब एक ओर स्वर्गवासी पतिका शव दाह-संस्कारके लिये रखा रहता है और दूसरी ओर उनका एकमात्र प्यारा पुत्र चौदह वर्षके लिये वनको प्रस्थान कर चुका है। ऐसी दयनीय और दारुण दुःखकी दशामें भी कौसल्या माताके 'थन पय स्रवहिं'से उनका भरतजीपर अत्यधिक स्नेह सिद्ध होता है।

(४) प्रसङ्गवश इतना और कहे बिना नहीं रहा जाता कि श्रीरामजीके वन-गमनके समय माता कौसल्याको कहना पड़ा है—

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू॥

उस समय पति-सेवाको परम धर्म मानकर वे श्रीरामजीके साथ वनको नहीं जा सकीं; अतः चित्रकूटमें सब माताओंको बिदा करते समय यदि वे साथ चलनेको कहतीं तो इस आग्रहको श्रीरामजी एकाएक टाल नहीं सकते। अब उन्हें 'मोरें सोचु भरत कर भारी' जो हो रहा है— भरत, जो अपनी माता कैकेयीसे सदाके लिये विमुख गये हैं! यथा—

कैकेई जौलौं जियति रही।
तौलौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही॥
मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही।

—
(गीताव

और—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥
एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न

ऐसे संतत भरतजीकी अयोध्या लौटनेपर क्या दशा हो और किसकी छत्र-छायामें वे इस चौदह वर्षकी विषाद लंबी अवधिको बिता सकेंगे? अतएव माता कौस अब श्रीरामजीके साथ वनको जानेका विचारतक मनमें नहीं लातीं और लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी सुकुमार पुत्र-वधूको जंगलमें छोड़कर तथा उनके रहनेके अपने सुखका परित्याग करके वे अपने प्यारे भरत सार-सँभार, देख-रेख करने और उन्हें धैर्य बँधाते रहनेके चुपचाप सबके साथ अयोध्याको लौट पड़ती हैं।

तदनन्तर अवधि पूरी होते ही श्रीरामजी अयोध्या हैं, उनका राज्याभिषेक होता है और तब—

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कौस

—ऐसे अद्वितीय राजा श्रीरामजी अपनी माता कौसल्या से भी अधिक कैकेयीजीको मानते हैं, जैसा कि ऊपर लिखा है—'मानी राम अधिक जननी तें'। यह श्रीरामजीकी उदा तो है ही, परंतु इससे बढ़कर उदारता है माता कौस की—'जननिहु गँस न गही।' वे कैकेयीसे मनमुटाव रखतीं ही नहीं, अपितु इस बातका विचारतक मनमें लातीं कि उनके एकमात्र निरपराध पुत्रको वर्षतक जंगल-जंगल फिरानेवाली कैकेयीको उनका पुत्र उनसे भी अधिक मान देता है। ऐसी हैं विशाल राम-महतारी।

ऐसी त्यागमूर्ति, स्नेहमयी, उदार, सयानी,

विज्ञानमयी; सरलहृदया, विवेकशीला माताके सम्बन्धमें जो कुछ भी लिखा जाय, वह थोड़ा है । उनके परम पुनीत चरित्रमें रंचमात्रकी त्रुटिका आभासतक नहीं मिलता । परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजीके ऐसे महान् गौरवमय मातृ-पदपर प्रतिष्ठित होनेका सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ है और इतने बड़े पदका सर्वरूपेण निर्वाह इतने उत्तम ढंगसे उनके द्वारा सम्पन्न हुआ है; जितना कदाचित् ही अन्यत्र कहीं देखनेको मिले । उनके विवेकयुक्त चरित्रबलके वशीभूत होकर ही भगवान् श्रीरामजीने उनके आँचलके नीचे अवतरित होकर भक्तोंको सुख देनेवाली विचित्र लीलाएँ की हैं और माताने अपने विस्तृत आँचलके नीचे केवल श्रीरामजीको ही नहीं; वरं भरत-सदृश अन्य पुत्रोंको भी वात्सल्यमय आश्रय दिया है, जो विश्वके इतिहासमें आदर्शरूप है । अपने सुत-सेवकोंको स्वाञ्चलके नीचे आश्रय देनेके लिये वे सदैव तत्पर रहती हैं । नित्य प्रातःकाल उठते ही श्रीरामजी सबसे पहले उनके चरणोंमें माथा नवाते रहे हैं । भक्तजन उनका स्मरण करके और उनके पादपद्मोंमें नत-मस्तक होकर शान्ति और स्वर्ग-सुख पाते हैं ।

निराशामें आशा

(लेखक—श्रीडब्लू० डग्लस हार्टले)

अपने व्यवसायके पथपर पहले-ही-पहले तरुण मूर्तिकारके रूपमें जिस प्रतिमाका मैंने निर्माण किया, उसकी अनुभूति मेरे लिये जैसी चिरस्मरणीय बन गयी है, वैसी दूसरी नहीं होगी । तब मैंने सीखा था कि असफलता एवं सफलतामें कितना सूक्ष्म अन्तर हो सकता है ।

मैं विश्वविद्यालयसे लौटा ही था और गरमीके दिनोंमें काम करनेके लिये दूसरे विश्वविद्यालयमें जानेके पूर्व केवल दस दिनका अवकाश मेरे हाथमें था । यह समय मटरगश्तीमें बिताया जा सकता था, परंतु मैंने अपने नगरके मूर्तिनिर्माणके योग्य किसी व्यक्तिको ढूँढ़कर उसके केवल ऊर्ध्वाङ्ग (मस्तक, छाती एवं कंधों) की प्रतिमा बनानेका निश्चय किया । कलाके जगत्में कोई भी इस बातको स्वीकार कर लेगा कि दस दिनोंमें इस प्रकारके कामको पूरा करनेका संकल्प घोर दुस्साहस है । इस दुस्साहसकी सीमा ठीक-ठीक कितनी थी, इसका पता मुझको दो महीने बाद लगा ।

कई विशिष्ट नागरिकोंके सम्बन्धमें विचार करनेके बाद मैंने अपने कामके लिये श्रीक्यु. जी. नोबलिटको चुना । उस समय नोबलिट स्पार्कस इंडस्ट्रीजकी व्यवस्था-समितिके सभापति थे तथा बहुत दिनोंसे मेरी आँखोंपर चढ़े हुए थे । जब मैंने उनके साथियोंके सामने यह बात रखी कि श्रीनोबलिटके ऊर्ध्वाङ्गकी एक कांस्य-प्रतिमाका उपहार उनके प्रति सबके सम्मानका अच्छा प्रतीक होगा, तब वे सहमत हो गये । चार दिनों बाद श्रीनोबलिटने मूर्तिनिर्माणके लिये मेरे सामने दो घंटे बैठना स्वीकार किया ।

जब हमलोगोंका मिलन हुआ; उस समय यह बताना कठिन था कि किसके मनमें अधिक बेचैनी थी । उन्हें इस बातका भय था कि जीवित व्यक्तियोंकी आकृति उतारनेके सम्बन्धमें प्रचलित प्रथाके अनुसार मैं उनके चेहरेपर आर्द्रलेप चढ़ाने जा रहा हूँ । इधर मेरे मनमें इस बातपर विस्मय-युक्त प्रश्न हो रहा था कि क्या मैं सात दिनोंमें इस कार्यको पूरा कर लूँगा । जब श्रीनोबलिटने यह जान लिया कि उन्हें किसी लेपके फेरमें नहीं पड़ना है, तब उनका चित्त सुस्थिर हुआ ।

मूर्तिकारका पहला काम है मिट्टीके लोंदोंको ठीक सिरकी आकृतिमें जमाना । प्रथम दिन मेरा प्रारम्भ अच्छा रहा और दूसरी बार मिलनेपर मैंने थोड़ी-थोड़ी मिट्टी लेकर नाक, आँखें, मुँह तथा केश बनाना आरम्भ किया । धीरे-धीरे मूर्तिमें मेरे आदर्शका कुछ-कुछ रूप उतरने लगा । किंतु मुखाकृतिका ढाँचा बन जानेके बाद काम धीरे-धीरे और कठिनाईसे आगे बढ़ा ।

अपनी तीसरी बैठकमें मुझे यह अनुभव होने लगा कि समय बीता जा रहा है । तब मैंने अधिक परिश्रमसे काम किया । डेढ़ घंटेके बाद मुझे लगा कि पार्श्वसे तो मूर्ति प्रायः ठीक थी; किंतु सम्मुखसे सफल नहीं बनी थी । मैं बढ़ती हुई चिन्ताको लेकर घर लौटा ।

सोमवारके दिन अन्तिम दो घंटेकी बैठकमें मैंने जी-तोड़ परिश्रम किया । अब सामनेकी ओरसे भी आकृति सुचारुरूपसे मिलने लगी; किंतु मुखाकृतिमें बाह्य समानताके अतिरिक्त भी कुछ चाहिये । उसमें मूर्तिनिर्माणके लिये चुने

हुए व्यक्तिके व्यक्तित्वकी छाप होनी चाहिये। मुझे लगा कि मेरी मूर्तिमें 'जीवन'का अभाव था।

ढाँचेमें जान डालनेके लिये अगस्तमें घर लौट आनेपर श्रीनोबलिटने एक बार और इस कार्यके निमित्त अन्तिम समय देना स्वीकार किया। मैंने प्रतिमाको अपने घरके तलघरमें सुरक्षित रख दिया और पिताजीसे कह दिया कि वे कभी-कभी चिथड़ोंको भिगोते रहें, जिससे मिट्टी मुलायम बनी रहे।

दो महीने बाद मैं लौटा। जैसे ही मैंने घरमें प्रवेश किया मैं जान गया कि कुछ दालमें काला है।

पिताजीने कहा—'मूर्तिके साथ जाने क्या हो गया; तुम स्वयं ही आकर देख लो।'

व्यग्रचित्तसे मैं उनके साथ भूधरेमें गया। वहाँ मैंने देखा कि मेरी बनायी हुई श्रीनोबलिटकी प्रतिमा टूट गयी है और वह विद्रूप—तीन बेढंगे टुकड़ोंके रूपमें पड़ी हुई है। चेहरा चिपटा हो गया है; कानोंका पता नहीं है और सिरका दक्षिणभाग विलग हो गया है।

मैं समझ गया क्या बात हुई। मूर्त्तिको बहुत अधिक गीला कर दिया गया था और वह अपने ही भारसे टूट गयी थी। व्यवसायके क्षेत्रमें मेरा जो प्रथम निर्माण होता, वही अब गीली मिट्टीके ढेरके रूपमें मेरी असफलताका प्रतीक बना पड़ा था। मेरा क्रोध, मेरी निराशा और लज्जा सहने-योग्य नहीं रही। मैं एक बक्सपर बैठकर क्रन्दन करने लगा।

घरमें उस दिनकी संध्या आनन्दामोदसे सूनी रही। थोड़ी देर बाद माँ, जिस कमरेमें मैं उदास बैठा था, उसमें आयीं। उन्होंने पुस्तकोंकी आल्मारीके पास जाकर एक पोथी निकाली। 'तुमने कभी इसको पढ़ा है?' उन्होंने पूछा।

'मैं पुस्तकोंके सम्बन्धमें बात नहीं करना चाहता।' मैंने कहा। 'मैं बड़ी उलझनमें पड़ गया हूँ और अब क्या करना चाहिये, यही निश्चय करना है।'

माँने कहा, 'यह टामस कार्लाइल की लिखी हुई पुस्तक 'फ्रांसीसी क्रान्तिका इतिहास' है। हमारी भाषाके महान् ग्रन्थोंमेंसे यह शायद एक है।' यों कहते हुए उन्होंने मेरी ओर एक विचारपूर्ण दृष्टि डाली।

'उससे मुझे क्या लेना-देना है।' मैंने कहा।

'सम्भव है कुछ भी नहीं और सम्भव है बहुत कुछ। कार्लाइलने प्रथम खण्ड समाप्त करनेके बाद ही अपने मित्र जॉन स्टुअर्ट मिलसे उसे पढ़ जानेको कहा। मिलने पढ़कर उसे एक अन्य मित्रको दे दिया। पाण्डुलिपि जब कि मित्रके घरमें ही पड़ी थी, एक दासीने उसे रद्दी कागज समझकर आगमें झोंक दिया। महीनों, शायद वर्षोंका परिश्रम राख बन गया। और कार्लाइलने एक भी नोट नहीं बना रखा था।'

'कार्लाइलने क्या किया?' मैंने पूछा—

'वह केवल एक ही काम कर सकता था—उसे फिरसे लिखे। पहले जितना समय लगा था, दुबारा उसने उससे कम ही समयमें उसे समाप्त कर डाला।'

मैंने पूछा 'बिना किसी नोटके वे कैसे ऐसा कर सके?'

'पुस्तक उनके मस्तिष्कमें तब भी थी। उन्हें 'उसको केवल कागजपर उतारना था।' माँने यह कहकर पोथीको अपनी जगहपर वापस रख दिया और वे रसोईघरमें लौट गयीं।

कुछ ही क्षणों बाद भूधरेमें मैं अपने कामपर श्रमपूर्वक जुटा हुआ था। पुरानी मूर्तिके टुकड़ोंको मसलकर मैंने उसका अनपेक्षित जलीयांश निकाल दिया और पुनर्निर्माणका कार्यारम्भ किया। धीरे-धीरे मूर्ति प्रकट होने लगी। काम करते समय ऐसा लगा, मानो मेरे हाथोंको याद हो कि पहले उन्होंने क्या किया था। पहली बार मैंने जो भूलें की थीं, उनका इस बार निराकरण हो गया।

दूसरे दिन तड़के ही मैं फिर जुट गया। देरतक रात बीत जानेपर मुझे ऐसा लगने लगा कि दो महीने पूर्व प्रतिमा जिस दशामें थी, वह फिर उसी दशामें आ गयी।

कुछ दिनों बाद श्रीनोबलिट और मैं अन्तिम बार बैठे। जब मैंने मूर्तिको उघाड़ा तो उन्होंने चेहरेको ध्यानसे देखा।

'आपने इसे कुछ बदल दिया है, क्यों है न?' उन्होंने पूछा।

'जी हाँ, बदला तो है।'

'मुझको पहलेसे यह अच्छा लगता है। इसमें मुझे अधिक जीवन, अधिक भावव्यञ्जना दीख रही है। मुझे समझमें नहीं आता, इसमें अब और अधिक सुधार आप क्या कर पायेंगे।'

विश्वास नहीं होता था; किंतु सचमुच यह दूसरी अनुकृति पहलीसे उत्तम थी। ऊर्ध्वाङ्ग-प्रतिमा काँसेमें ढाली गयी

तथा फैक्ट्रीके स्वागत-कक्षकी एक ताखमें विराजित कर दी गयी ।

इस ऊर्ध्वाङ्ग प्रतिमाको मैं कभी नहीं भूलूँगा । जब मैंने इसे आरम्भ किया, मैं एक बच्चा था । जब मैंने इसे समाप्त किया, तब मैं प्रौढ़ मनुष्य बन चुका था । अपनी माँके उपदेशगर्भित व्यवहारसे मैंने वह शिक्षा प्राप्त की, जो प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त करनी चाहिये । वह यह है कि आवश्यक नहीं कि क्षति सुधारकी सीमासे बाहर हो । दृढ़ संकल्पके सहारे उसको मनुष्य सफलताके सोपानमें परिवर्तित कर सकता है । (अनु०—माधवशरण)

गुणानुरागी बनिये

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि जगत् उसका आदर करे, उसके गुणोंका लोग बखान करें, सर्वत्र उसका नाम हो; पर यह आशा तभी सफल हो सकती है कि जब वह उसके लिये योग्यता प्राप्त कर ले । मनुष्य यह भी जानता है कि आदर गुणोंका होता है, व्यक्तिका नहीं । एक ही व्यक्ति, जब उसमें गुणोंका आधिक्य होता है, विश्वद्वारा आदरणीय और यशोभाजन हो जाता है । उसी व्यक्तिमें जब दुर्गुण पनपकर गुणोंके ऊपर छा जाते हैं, तब उसकी चिर-संचित कीर्ति क्षणभरमें ही विलीन हो जाती है । हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति जाति और कुलसे हीन है, कुरूप है, आयुमें छोटा है, साधन और सम्पत्तिसे वञ्चित है, फिर भी यदि कोई गुण उल्लेखनीय रूपमें उसमें पाया जाता है तो उसकी बहुत-सी कमियाँ गौण हो जाती हैं और गुणोंकी मुख्यतासे वह आदरणीय बन जाता है । इसके विपरीत कोई उम्रमें बड़ा, जाति और कुलसम्पन्न, साधन-सम्पत्ति और बुद्धि—इन सब बातोंमें बढ़ा-चढ़ा हो, फिर भी उसमें दुर्गुणोंकी अधिकता हो, तो वह निन्दाका पात्र हुए बिना नहीं रह सकता । इसीलिये महाकवि भवभूतिने कहा है—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।

जिसमें अनेक सद्गुणोंका निवास हो, उसका आदर तो होना स्वाभाविक ही है; पर उत्कृष्ट मात्रामें यदि एक भी गुण किसीमें विकसित हो जाय तो वह व्यक्ति सबकी नजरोंमें चमक उठता है । बस, उस एक ही विशेष गुणसे लोग उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं और उसके छोटे-मोटे अन्य दोष दबसे जाते हैं । इसी तरह कोई दुर्गुण मनुष्यमें बढ़ जाता है तो उसके छोटे-मोटे अनेक गुण ढँक-से जाते हैं । अतएव मानवके लिये हर समय अपनी ओर, देखते रहकर दोष न बढ़ने पायें और गुण अधिकाधिक पनपते रहें, इसका लक्ष्य रखना परमावश्यक है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुणी बनना तो हम सभी चाहते हैं, पर संस्कार और सम्पर्क-दोषसे हममें जो दुर्गुण घुस जाते हैं, उन्हें हम दूर नहीं कर पाते । अपनी गुणोंकी योग्यताका विकास किये बिना उसके द्वारा होनेवाले फलको प्राप्त नहीं किया जा सकता । अतः हमारे मनीषियोंने स्वानुभवसे गुणी बननेके लिये एक बहुत सरल, सीधा और सच्चा रास्ता बतलाया है, जिसके द्वारा प्रत्येक मानव सहज ही गुणी बन सकता है और उसके दोष क्रमशः कम एवं दूर हो सकते हैं । वह उपाय है—मनुष्य गुणोंके प्रति अनुराग रखे, गुणीजनोंके प्रति आदर, सत्कार और भक्ति रखे । जैसे-जैसे मनुष्यमें गुणानुराग बढ़ेगा, वैसे-वैसे उसका खिंचाव गुणोंके प्रति बढ़कर वह गुणी बनता चला जायगा । वह क्रिया इतनी स्वाभाविक है कि इसमें विचार करने और श्रम करनेकी भी आवश्यकता नहीं होती । गुणीसे प्रेम और गुणोंके प्रति आकर्षण—यही पर्याप्त है । अवगुणग्राही वृत्तिको हटाकर गुण-ग्रहणकी वृत्तिको अपनाना तथा बढ़ाना चाहिये । सत्सङ्गका माहात्म्य और महापुरुषोंके नामस्मरण तथा गुण-कीर्तनका जो बड़ा भारी फल हमारे शास्त्रोंमें वर्णित है, उसका एकमात्र यही कारण है कि जिन व्यक्तियोंके साथ हमारा सम्पर्क होता है, उनके गुण-दोषोंका प्रभाव हमारेपर भी पड़े बिना नहीं रहता । महापुरुषोंमें गुणोंकी प्रधानता होती है; अतः मनुष्य उनके गुणोंको स्मरणकर या उनके प्रति आकृष्ट होकर यही चाहता है कि वह भी वैसा ही गुणी बन जाय । मनुष्यकी जैसी इच्छा होती है, उसीके अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है । जिस चीजकी इच्छा जितनी बलवती होगी, उसकी पूर्णता उतनी ही शीघ्रतासे हो सकेगी । इसीलिये कहा गया है—‘जैसा चाहो बन जाओ ।’ शास्त्रीय दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि भृङ्गी कीटको पकड़कर अपने बनाये हुए घरमें रख छोड़ती है । उसका गुंजारव सुनकर कीटकी यह इच्छा होती है कि मैं भी ऐसी ही भृङ्गी बन जाऊँ । इस

प्रबल इच्छासे ही वह कीट भृङ्गी बन जाता है। श्रीमान् चिदानन्दजीने आत्मा परमात्मा कैसे बन जाता है, इसका दृष्टान्तसहित उपाय बतलाते हुए कहा है—

आतम परमातम पद पावै, जो परमातम सूँ लय लावे।
सुनके शब्द कीट भृंगीका निज तन-मनकी सुधि बिसरावे।
देखहु प्रगट ध्यानकी महिमा, सोई कीट भृंगी हो जावे॥

वास्तवमें देखा जाय तो परमात्मपुरुष तो सिद्ध और बुद्ध हो चुके हैं, वे किसीका भला-बुरा नहीं करते; पर उनके निमित्तसे मनुष्यमें अच्छी भावनाओंका उदय होता है; गुणोंके प्रति आकर्षण बढ़ता है; अपने दोषों, दुर्गुणों और कमियोंका उसे भान होता है। गुणोंका आकर्षण जितना बढ़ेगा, दोषोंका सम्पर्क स्वयं उतना ही घट जायगा। गुणी व्यक्तिके स्मरण, भजन, कीर्तन और ध्यानसे गुणोंके प्रति आकर्षण बहुत सहजमें हो जाता है और वही आकर्षण बढ़ते-बढ़ते मनुष्यको तदनुरूप बना देता है। एक जैन कविने कहा है—

गुणी पुरुषने ध्यावताँ, गुण आवै निज अंग।

प्राणिमात्र गुणों और दोषोंके पुञ्ज हैं। किसीमें गुणोंकी अधिकता है तो किसीमें दोषोंकी। दृष्टिकी भिन्नतासे कभी-कभी किसीके गुण दोषरूप दीखने लगते हैं और दोष गुण-रूप। जिसकी दोष-दर्शनकी वृत्ति होती है, वह बड़े-बड़े महापुरुषोंमें भी कोई-न-कोई दोष ढूँढ़ निकालता है, जब कि गुण-दृष्टिवाला व्यक्ति भयंकर पापीमेंसे भी कोई-न-कोई गुण पा लेता है। थोड़े-बहुत गुण और दोष सभीमें होते हैं। देखनेवाला स्वयं जैसा होगा, या जिस गुण या दोषको महत्त्व देगा, उसको दूसरेमें वही दिखायी देगा। हमारेमें दोषोंकी इतनी प्रचुरता एवं गुणोंकी इतनी कमी क्यों है—इसपर जब हम गम्भीर विचार करते हैं, तब पता चलता है कि हमारी दृष्टि दूसरोंके अवगुणोंको देखनेमें लगी रहती है। दोषोंकी ओर बहुत बार और विशेषरूपसे ध्यान जानेके कारण ही हमारेमें दोषोंकी प्रबलता और अधिकता हो जाती है। यदि हम अपनी दृष्टिको गुण-ग्रहणमें लगा दें और जहाँ कहीं भी, जिस किसीमें छोटा-मोटा जो भी गुण देखें, उसे ग्रहण करनेका लक्ष्य रखें अर्थात् गुणग्राही बनें तो गुणवान् बननेमें देर नहीं लगेगी। केवल अपनी दृष्टि या वृत्तिमें ही परिवर्तन करनेकी देरी है, दोष-दृष्टिकी जगह गुण-दृष्टिको स्थान और महत्त्व देना है। फिर हमारा काम सरलतासे और शीघ्र हो जायगा। गुणग्राही व्यक्तिकी दृष्टि बहुत उदार और विशाल हो जाती है। उसमें साम्प्रदायिक, अनुदार तथा संकुचित भावना नहीं होती; क्योंकि गुण प्रत्येक मनुष्यमें पाये जाते हैं। वे किसी देश, जाति, सम्प्रदायकी ही बपौती नहीं। अतः गुणग्राही व्यक्ति जहाँ भी थोड़ा-बहुत गुण दिखायी देगा, उसके प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। संकुचित दृष्टिवाला अपने देश, जाति, सम्प्रदायवालोंके तो गुणोंका बखान करेगा; पर उस सीमाके बाहरके व्यक्तियोंके गुणोंकी ओर उसका ध्यान नहीं जायगा और लक्ष्यमें आ जानेपर भी वह उनके गुणोंकी स्तुति करनेमें हिचकिचायेगा। जैन परिभाषामें संकुचित वृत्तिको दृष्टि-रागकी संज्ञा दी गयी है। जब व्यक्ति संकुचितताका आश्रय लेता है, तब उसका सम्प्रदाय या व्यक्तिविशेषके प्रति इतना अधिक मोह हो जाता है कि उसे उसके दोष भी गुणरूप दिखायी देनें लगते हैं और दूसरोंके गुण भी दोषरूप। अतएव हमें यह सावधानी रखना अति आवश्यक है कि हमारी गुण-दृष्टि संकुचित और अनुदार न हो। जहाँ कहीं भी गुण दिखायी दे, उसका बिना हिचकिचाहटके स्तवन किया जाय और उसे अपनानेका प्रयत्न किया जाय।

किसी व्यक्तिसे लाभ उठानेके लिये हमें गुणग्राही बनना आवश्यक है, उसी प्रकार सद्ग्रन्थके स्वाध्यायमें भी गुण-ग्रहणकी दृष्टि हो, तभी उस ग्रन्थसे लाभ उठाया जा सकता है। वर्तमानमें हमारेमें इतनी संकुचित वृत्ति आ गयी है कि जिस प्रकार हम अपनेसे भिन्न सम्प्रदायके गुणी व्यक्तियोंके पास जाने-आने और उनसे लाभ उठानेमें हिचकिचाते हैं, वैसे ही दूसरोंके धर्मग्रन्थोंको पढ़कर उनकी अच्छी-अच्छी बातोंको अपनानेके लिये भी हमारा दिल तैयार नहीं होता। अन्यथा हम एक दूसरेके बहुत नजदीक आ सकते हैं; हमारे अलगाव, भिन्नता, वैमनस्य और विरोध कम हो सकते हैं। गुण-ग्रहणकी दृष्टिके अभावमें ही ऐसा नहीं हो पाता। अच्छी बातें सभी धार्मिक ग्रन्थोंमें पायी जाती हैं; पर दोष-दृष्टिवाला व्यक्ति उन ग्रन्थोंको पढ़ते समय उनकी ओरसे आँख मूँद लेता है और उनमेंसे कोई-न-कोई भूल या दोष पकड़कर उसको बाहर प्रचारित करनेमें लग जाता है। खण्डन-मण्डनसे वैर-विरोधकी वृद्धि होती है, उससे तात्त्विक निर्णय नहीं हो पाता। दूसरेका दोष बतलाकर उसके प्रति लोगोंमें अरुचि पैदा करना और स्वमतका प्रचार करना यही उसका उद्देश्य होता है। संक्षेपमें दोष-दृष्टिवाले व्यक्ति हजार गुणोंकी विद्यमानतामें भी कोई-न-कोई दोष ढूँढ़ निकालते हैं और गुण ग्रहण करनेवाला व्यक्ति

दोषोंकी उपेक्षा करके जो भी उसे अच्छाई मिलती है, उसे अपनानेका प्रयत्न करता है ।

ठंडे दिलसे विचार किया जाय तो पराये दोष-दर्शनसे अपनेको कुछ भी लाभ नहीं होता, गुणग्रहणसे लाभ-ही-लाभ है। तब जिससे अपनेको कुछ भी लाभ नहीं, उसे क्यों अपनाया जाय ? एक जैनाचार्यके द्वारा रचित 'गुणानुराग-कुलक' इस सम्बन्धमें अच्छा प्रकाश डालता है। अतः उसके कुछ पद्योंका भावानुवाद यहाँ दिया जा रहा है ।

'जिस पुरुषके हृदयमें उत्तम गुणानुराग निवास करता है, उसे परमात्मपदतककी ऋद्धियाँ भी दुर्लभ नहीं हैं, अपितु सुलभ हैं। जिसके हृदयमें सदा सद्गुणसम्बन्धी स्वाभाविक प्रेम जाग्रत् है, उन्हें धन्य, कृतपुण्य समझना चाहिये ।

'अधिक पढ़नेसे, तपस्या करनेसे तथा दान करनेसे क्या प्रयोजन है ? केवल सर्वसुखोंके स्थानरूप एक गुणानुरागका ही तू आदर कर ।

'कदाचित् तू अधिक तप करेगा, अधिक शास्त्रोंका अध्ययन करेगा और विविध कष्ट सहन करेगा; परंतु यदि गुणानुराग धारण न करेगा, दूसरेके सद्गुण देखकर प्रसन्न न होगा, तो तेरी सारी करनीको व्यर्थ समझना ।

'दूसरोंके गुणोंका उत्कर्ष सुनकर यदि तू द्वेष रखेगा तो जगत्में तू पराभव प्राप्त करेगा ।

'ईर्ष्याके जोरसे अंधा होकर जो तू गुणवान् जनोंके अवर्णवाद किसी प्रकारसे बोलेगा तो तुझे संसार-महाटवीमें भटकना पड़ेगा (और वहाँ अनेक प्रकारसे दुःखोंका कठोर अनुभव करना पड़ेगा । इसलिये प्रथमसे ही दूसरेके अवर्णवाद बोलनेसे पीछे हट जा) ।

'इस वर्तमान युगमें जीव जिस गुणका या दोषका अभ्यास करता है, उस गुण-दोषके अभ्यासद्वारा आगे चलकर वह उसीको प्राप्त करता है ।

'जो स्वयं सैकड़ों गुणोंसे भरा होनेपर भी द्वेषद्वारा दूसरोंके दोष देखता है, वह पण्डितपुरुषोंकी दृष्टिमें पलाल (भूसी) के ढेरके समान असार (हलका) दिखायी देने लगता है ।

'जो दुष्ट आशयद्वारा दूसरोंके दोष ग्रहण करता है, वह अपनी आत्माको निरर्थक पाप-बन्धनसे बाँधता है (जिससे भवान्तरमें स्वयं ही दुखी होता है ।)

'अतएव जिससे कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) की अग्नि पैदा न हो, वही कार्य करना चाहिये । परनिन्दा, ईर्ष्या-दोष, आदि अकार्य अवश्य ही त्याज्य हैं ।

'यदि तू सचमुच त्रिभुवनमें गुण-गौरव प्राप्त करना चाहता है तो दूसरोंके दोष-ग्रहण करनेकी दृष्टि अथवा परनिन्दा करनेकी बुरी टेवको सम्पूर्ण प्रयत्नद्वारा छोड़ दे । यही बड़प्पनका मार्ग है ।

'जगत्में सबके प्रशंसनीय चार प्रकारके पुरुष होते हैं— १. सर्वोत्तम, २. उत्तमोत्तम, ३. उत्तम और ४. मध्यम ।

'इसके उपरान्त घोर कर्मी और धर्मवासनारहित जो अधम और अधमाधम मनुष्य हों, उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । निन्दा तो सर्वथा वर्जनीय ही है; क्योंकि उससे निन्दित व्यक्तिको या स्वयं निन्दकको कोई भी लाभ नहीं होता । इसके विपरीत करुणा-बुद्धिसे प्रेरित होकर हितशिक्षा देनेसे अपनेको भी लाभ होता है । और जिसे शिक्षा दी जाती है, वह भी समझ जाता है । इसलिये शास्त्रकार यही करनेको कहते हैं ।

'उत्तम पुरुषोंके गुण जो तू बहुमानपूर्वक ग्रहण करेगा तो शीघ्र शिव-सुखको प्राप्त करेगा, यह निश्चय जानना; क्योंकि सद्गुणी होनेका यही सरल मार्ग है ।

'आजकल संयममार्गमें शिथिलता धारण करनेवाले और संयमक्रियाकी उपेक्षा करनेवाले हीनाचारी बहुत हैं । सभाके समक्ष उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, निन्दासे वे सुधर न सकेंगे; इसी प्रकार उनकी प्रशंसा करना पापोंको बल देना होगा ।

'दुष्ट और हीनाचारी व्यक्तिपर करुणा लाकर, यदि उसे पसंद हो तो, हितबुद्धिसे उसे सच्चा मार्ग बताना चाहिये । फिर यदि वह रोष करे तो उसके दोष-दुर्गुण (सभाके समक्ष) प्रकाशित न करें ।

'जो गुणरत्नोंसे अलंकृत पुरुषोंका शुद्ध एवं निष्कपट मनसे बहुमान करता है, वह उनके-जैसे गुणोंको प्राप्तकर सुखी होता है । सद्गुणोंके प्रति आकर्षण और गुणीजनोंका आदर करना ही गुणी बननेका अमोघ उपाय है ।'

एक दूसरे कविने भी बहुत ही अच्छा कहा है—

गुणग्राही बनिये सदा, लागत कछु नहि मोल ।
अवगुण जावे आपका, पावे सुख अनतोल ॥
पावे सुख अनतोल, जगतमें लोग सराहे ।
पर भव सुर अवतार, अन्तमें शिवपद पावे ॥
कहता कवि दरजोर, ज्ञानकी बातें सुनिये ।
लागत कुछ नहि मोल, गुणोंके ग्राहक बनिये ॥

महापुरुषोंने कहा है कि दोष देखना हो तो अपने देखो, जिससे उनका भान हो और दूर करनेका प्रयत्न भी किया जा सके। दूसरोंके तो गुण ही देखिये। यदि किसीका कोई दोष सहज ही नजर आ जाय तो हित-बुद्धिसे एकान्तमें उसे समझाइये। निन्दा करनेसे उसके दोष कभी नहीं दूर होंगे; उल्टे उसका आपके प्रति दुर्भाव हो जायगा, जिससे आपके कहनेका प्रभाव उसपर नहीं पड़ेगा। वह आपसे वैरभाव धारण किये रहेगा। आपका छिद्रान्वेषण करके, जैसे आपने उसके दोषोंको प्रकट किया है, वैसे ही वह आपके दोषोंको विशेषरूपसे प्रचारित करनेका प्रयत्न करेगा। दूसरेके दोषोंसे हमारी कोई हानि नहीं होती, हमारी हानि तो अपने ही दोषोंसे होती है। सज्जन पुरुषोंका लक्षण यही माना गया है कि वे दूसरेके मेरुसदृश दुर्गुणोंको सरसोंके समान मानकर उपेक्षा कर देते हैं और अपने सरसो-सरीखे दोषको भी मेरु-सदृश मानते हुए उसे जल्दी-से-जल्दी दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। अन्तर्निरीक्षण करनेपर महापुरुषों-के हृदयसे भी ये ही वाक्य निकले हैं—

बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न पाया कोय।
जो घट देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

सुभाषित-ग्रन्थोंमें भी गुणोंके महत्त्वके सम्बन्धमें कई अच्छे श्लोक मिलते हैं। यहाँ उनमेंसे कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं—

गुणैरेव महत्त्वं स्यान्नाङ्गेन वयसापि वा।
दलेषु केतकीनां हि लघीयस्सु सुगन्धता॥

अर्थात् मोटे शरीर या बड़ी उम्रसे ही मनुष्य महत्त्वको नहीं प्राप्त होता। महत्त्व तो गुणोंसे मिलता है। केतकीके पत्ते बहुत छोटे होते हैं, फिर भी सुगन्धके कारण दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उसी तरह जहाँ गुण होंगे, लोग खिंचे हुए चले आयँगे। उसके लिये ढिंढोरा पीटने या किसीको बुलानेकी आवश्यकता नहीं होगी। उसके गुणोंसे दूसरोंके हृदयमें आदर और श्रद्धा स्वयं जग उठेगी। नीच कुलमें जन्म लेकर भी जो गुणोंमें आगे बढ़ जाता है, वह अपने-आप प्रशंसाका पात्र बन जाता है। पञ्चतन्त्रमें कहा है—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोलोमतः
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात्।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना॥

अर्थात् रेशम कृमियोंसे उत्पन्न होता है। स्वर्ण पत्थरसे, कीचड़मेंसे कमल, समुद्रमेंसे चन्द्र, लकड़ीमेंसे अग्नि, साँपके फणमेंसे मणि तथा गायके पित्तसे गोरोचन उत्पन्न होता है। इनका उत्पत्तिस्थान अच्छा न होनेपर भी अपने गुणोंके कारण ये प्रसिद्धि और आदर पाते हैं।

गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम्।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः॥

अर्थात् गुण-ग्रहणमें ही यत्न करिये। बृहद् आडम्बरोंमें क्या धरा है? बिना दूधकी गायके गलेमें सुन्दर घण्टा बाँधे पर उसको कोई नहीं खरीदता; क्योंकि उसका मूल्य तो दूधपर ही निर्भर है। इसी प्रकार बाहरी दिखावट, टीमटाम और वाचालतासे मनुष्य आदर नहीं पा सकता, यदि उसमें गुण न हों।

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते॥

अर्थात् उच्चासनपर बैठनेसे ही मनुष्य गौरवका अधिकारी नहीं हो जाता। गौरव तो गुणोंसे ही मिलता है। कौवा यदि प्रासादके शिखरपर भी बैठ जाय तो वह गरुड़की शोभा नहीं प्राप्त कर सकता।

सर्वत्र निन्दासंत्यागो वर्णवादस्तु साधुषु।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं तद्वत् सम्पदि नम्रता॥
कस्यापि चाग्रतो नैव प्रकाश्यः स्वगुणः स्वयम्।
तुच्छत्वेन तुच्छोऽपि वाच्यः परगुणः पुनः॥

अर्थात् निन्दाका सर्वथा त्याग करें, सज्जनोंकी प्रशंसा करें, आपत्तिमें दीन न बनकर धैर्य रखें और सम्पत्तिमें नम्रता। किसीके सम्मुख अपने गुणोंका बखान स्वमुखसे न करें और दूसरेके छोटे-से-छोटे गुणको भी बड़ा मानकर अपनायें। यही गुणवान् बननेका सरल उपाय है। मानवकी न जाने क्या दुर्बलता है कि गुणीजनोंका आदर करने और गुण ग्रहण करनेकी वृत्ति रखनेके विपरीत वह गुणिजनोंसे ईर्ष्या और मात्सर्य रखने लगता है। इससे उसका जीवन बहुत-से दोषों-का भंडार बनता जाता है। हमारे प्राचीन विचारकोंने इसीलिये मैत्री, कारुण्य, प्रमोद और मध्यभाव रखनेपर विशेष जोर दिया है। अपनेसे अधिक गुणी, समृद्ध और सुखी व्यक्तिको देखकर हमारे हृदयमें हर्ष होना चाहिये, न कि ईर्ष्या और मात्सर्य। जो अपनेसे गुणहीन व्यक्ति हों, उनके प्रति

भी सहानुभूति और उन्हें ऊँचा उठानेके लिये कारुण्य-भाव रखना आवश्यक है। अधमाधम व्यक्तिपर भी हम द्वेषभाव न लायें; मध्यस्थ, उदासीन एवं उपेक्षाभाव ही रखें। समान गुणीके साथ तो मैत्रीभाव होना ही चाहिये।

गुणदृष्टिवाले व्यक्तिको सर्वत्र गुण ही दिखायी देते हैं। युधिष्ठिरको गुणहीन व्यक्तिकी खोजके लिये कहा गया तो उसे सभी व्यक्तियोंमें कुछ विशेषता और गुण दिखायी पड़े। और दुर्योधनसे कहा गया तो अवगुणी दृष्टि होनेसे उसे कोई गुणी व्यक्ति मिला ही नहीं। 'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि'। हम सदा गुण-ग्रहणकी रीति ही अपनायें।

* * *

शास्त्रोंमें वाराणसीका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०)

सरकारने बनारसका नाम 'वाराणसी'में परिवर्तित कर दिया। बनारस और वाराणसीका विवाद भी अब समाप्त हो गया।' हो सकता है—कुछ लोगोंने यह धारणा बना ली हो कि सरकारने बौद्ध-धर्मके प्रभावमें आकर ऐसा किया है। किंतु यह स्मरणीय विषय है—शास्त्रोंमें काशी और वाराणसीका समान महत्त्व प्रतिपादित है। शास्त्रोंमें काशी और वाराणसीका कुछ भी भेद नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें संक्षिप्तमें 'वाराणसी' के नाम और सीमाके महत्त्वको शास्त्रोंके आधारपर उपस्थित किया जा रहा है।

लिङ्गपुराणके एक श्लोकसे यह अवगत होता है कि भगवान् विश्वनाथने स्वयं कहा है—'वाराणसीपुरी सर्वदा मुझे प्यारी है और इस पुरीमें समस्त जीव-जन्तुओंको मोक्ष प्राप्त होता है।' उसी स्थलपर यह भी लिखा है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार और पुष्करकी अपेक्षा वाराणसीका महत्त्व अत्यन्त श्रेष्ठ है।

इदं गुह्यतमं क्षेत्रं सदा वाराणसी मम।
सर्वेषामेव जन्तूनां हेतुर्मोक्षस्य सर्वदा॥
नैमिषे च कुरुक्षेत्रे गङ्गाद्वारे च पुष्करे।
अन्येषां सेवनात् स्नानाच्च मोक्षः प्राप्यते यतः॥

(लिङ्गपुराण)

पाठक पत्रोंमें प्रकाशित कई विद्वान् लेखकोंद्वारा वाराणसीकी सीमाकी व्याख्या पढ़ चुके होंगे। 'वरणा' और 'असी' के बीचके भागको 'वाराणसी' कहते हैं, परंतु वाराणसीकी सीमाका आध्यात्मिक स्वरूप भी आप जान लें।

वाराणसीका आध्यात्मिक स्वरूप

'वरणा' और 'असी' के संगमके बीचमें वाराणसीकी स्थिति मानते हुए काशीखण्डके पाँचवें अध्यायमें उल्लेख मिलता है कि ब्रह्माने वाराणसीकी महिमा देवताओंसे बतलाते हुए कहा—

स होवाचेति जाबालिरारुणेऽसि रिडामता।
वरणा पिङ्गला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्॥
सा सुषुम्णा परा नाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ।

(काशीखण्ड अ० ५)

उपर्युक्त वाक्यसे यह प्रमाणित होता है कि असी नदी इडानामक नाडी है, वरणा- नदी पिङ्गला नाडी है और दोनों नदियोंके बीचमें अविमुक्तक्षेत्र सुषुम्णा नाडी है। तीनोंको मिलाकर 'वाराणसी' क्षेत्र बनाया गया है। योगियोंको योग-सिद्धिके लिये तीनों नाड़ियोंके ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है। जैसे बिना इंगला (इडा), पिङ्गला और सुषुम्णाकी साधना किये योगसिद्धि नहीं मिलती, उसी प्रकार वरणा, असी और अविमुक्तक्षेत्रकी सीमाको संयुक्त किये बिना वाराणसी क्षेत्रकी सीमा नहीं बन सकती। शास्त्रकारोंका यह निश्चित मत है कि भगवान् शंकर वाराणसीपुरीमें समस्त जीवोंको मृत्युके समय तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं और उसी तारक-मन्त्रके प्रभावसे जीव वाराणसीमें मोक्ष प्राप्त करता है। वाराणसीमें उस तारकके प्रभावसे योग-साधना किये बिना भी जीव ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर योगीके समान मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वाराणसीपुरी ऊसर भूमि है

शास्त्रोंमें यह भी प्रमाण मिलता है कि वाराणसीक्षेत्रमें किया हुआ पुण्य और पाप ऊसर भूमिमें बीज बोनेकी भाँति निरर्थक हो जाता है। जैसे ऊसर भूमिमें बीज बोनेसे बीज नहीं जमता, उसी प्रकार वाराणसीक्षेत्रके अन्तर्गत पाप और पुण्य नहीं लगता। इसका तात्पर्य यह है कि श्रुति-स्मृतिके अनुसार वर्णाश्रमधर्मका पालन करके सर्वदा सर्वप्रकारसे धर्मका आचरण करता हुआ जीव यदि वाराणसीपुरीमें शरीर छोड़ता है तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है और पापी जीव भी जब

वाराणसीमें शरीर छोड़ता है, तब वाराणसीक्षेत्र और तारक-मन्त्रके प्रभावके कारण उसे भी मोक्ष प्राप्त होता है। हाँ, धर्माचरण करनेवाले जीवोंका पाप गङ्गा-स्नान, देव-दर्शन, यज्ञ-दान आदिसे क्षीण होते रहकर मृत्युके समय वाराणसीके प्रभाव और तारक-मन्त्रके कारण सर्वतोभावेन क्षीण हो जाता है तथा जीवको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। किंतु स्मरणीय बात यहाँ यह है कि वाराणसीमें अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्त होता है। वाराणसी पाप और पुण्यके लिये ऊसर अवश्य है; किंतु इसका भाव यह नहीं कि वाराणसीमें रहकर कोई पापका आचरण करे। मृत्युका तो निश्चित स्थान जीव जानता ही नहीं कि वह कहाँ मरेगा, कब मरेगा। अतः वाराणसीपुरीमें रहकर पापका आचरण करनेकी बात तो मस्तिष्कमें आनी ही नहीं चाहिये।

'ऊषरः पुण्यपापानां धन्या वाराणसी पुरी।'
'इदं प्रिये क्षेत्रमिति प्रियं मे संसारबीजोषरमूषराणाम्॥'

पुण्य और पापका भोग तो वर्तमान शरीरद्वारा ही समाप्त होता है, यह सिद्धान्त भी काशीपुरीके निवासियोंके लिये ही चरितार्थ होता है। वाराणसीपुरीमें रहनेवाले जीव जब मरने लगते हैं, तब उनका मोक्ष हो ही जाता है। अतः उनके द्वारा पाप-पुण्यका उत्तम और निकृष्ट फल उसी शरीरको भोग लेना पड़ता है। यहाँपर दूसरा सिद्धान्त यह भी है कि वाराणसीपुरीमें पापका आचरण वज्रलेपकी भाँति अमिट हो जाता है। जिस जीवने काशीमें रहकर पापाचरण किया और उसकी मृत्यु अन्यत्र हुई तो उसके शरीरद्वारा किया पाप वज्रलेप बनकर जन्म-जन्मान्तरतक उसे कष्ट देता रहेगा—

वाराणस्यां कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।
(सनत्कुमारसं०)

वाराणसीके अधिपति भगवान् शंकरकी कृपासे वाराणसीमें शरीर छोड़नेवाले जीवोंके लिये जप, दान, व्रत आदिकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती; किंतु जिनकी अन्तिम गति वाराणसीमें होती है, उनके लिये ही यह सिद्धान्त लागू होता है।

जपध्यानविहीनानां ज्ञानवर्जितचेतसाम्।
व्रतस्वाध्यायहीनानां गतिर्वाराणसी नृणाम्॥
(सनत्कुमारसं०)

सनत्कुमारसंहितामें युधिष्ठिरके प्रति सम्बोधन करते हुए लिखा गया है कि 'हे राजन्! घोर कलिकालमें वाराणसीको छोड़कर शरणके लिये दूसरा कोई भी स्थान नहीं है। वाराणसीपुरीमें जप, तप, दान, स्वाध्यायसे विरत जीव भी शरी छोड़नेपर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं—

इदं कलियुगं घोरं सम्प्राप्तं पाण्डुनन्दन।
गतिमन्यां न पश्यामि मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम्॥
(सनत्कुमारसं

भगवान् शंकरने स्वयं वाराणसीपुरीके महत्त्वको मा पार्वतीसे बतलाते हुए कहा है कि वाराणसी क्षेत्रमें निद्रा ही योग है, चलना यज्ञ है, बैठना ही नैवेद्य है और विचा ही पवित्र दान है, बोलना जप है, लेटना प्राणायाम है। अतः शुद्ध मनसे काशीपुरी या वाराणसीमें निवासके लिये मोक्षको दुर्लभ और संसाररूपी दुःखको भयानक समझकर पत्थने चरणोंको तोड़कर वाराणसीमें बसनेकी बात जो कही जाती है उसका तात्पर्य यही है कि अन्तिम समय वाराणसी छोड़क अन्यत्र कहीं जानेका अवसर न मिले, अर्थात् हठ करके वाराणसीपुरीमें अन्तिम अवस्था आनेपर निवास करना चाहिये।

वाराणसीका शाब्दिक अर्थ

वाराणसीके आध्यात्मिक अर्थके बाद वाराणसीका शाब्दि भाव निम्नलिखित प्रकारसे है—

अस्यत्यसिर्वाऽस्यति प्रवेशे
कर्माणि जन्तोर्वरणा वरेण्या।
वाराणसी मध्यगता तयोश्च
निःशेषयत्यूषरता प्रभावात्॥
(सनत्कुमारसंहि

'वाराणसीमें प्रवेश करनेवाले प्राणियोंके पापकर्मोंको अ नदी निकालती है, वरणा नदी उन कर्मोंको पुनः वाराण जानेसे रोकती हैं और दोनों नदियोंके मध्यमें स्थि वाराणसीपुरी अपनी ऊसरताके प्रभावसे उन कर्मोंका समू नाश कर देती है।' वाराणसीपुरीकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें रा युधिष्ठिरको सम्बोधित करते हुए लिखा गया है कि हे राजन् शास्त्रोंमें अनेक तीर्थ मृत प्राणियोंको मोक्ष देनेवाले सुने हैं, परंतु उन तीर्थोंमें मरनेपर तुरंत मोक्ष नहीं मिलता। कि उनमें मरनेका फल होता है कि उस पुण्य-प्रभावसे उस जीव दूसरे जन्ममें मृत्युके समय वाराणसीक्षेत्र प्राप्त होता है

स्मरण रहे कि निम्नलिखित श्लोककी उपर्युक्त व्या आचार्य सुरेश्वरने की है।

तीर्थानि सर्वाण्यपि मोक्षदानि
श्रुतानि शास्त्रेष्वखिलेषु राजन् ।
वाराणसीं प्राप्य फलानि शीघ्रं
कायेन यातोऽप्यवधानवन्ति ॥

मोक्षके लिये ज्ञानकी आवश्यकता

वाराणसीमें मोक्षकी चर्चाके निमित्त प्रस्तुत लेख नहीं लिखा गया है। लेखका विषय है शास्त्रोंमें 'वाराणसी' शब्दकी महत्ता और यत्र-तत्र शास्त्रोंमें काशीके स्थानपर वाराणसीका नामोल्लेख.। फिर भी वाराणसी या काशीपुरीका प्रमुख शास्त्रीय विषय है—भगवान् शंकरकी पुरी होना और इस पुरीमें मरणोपरान्त मोक्षकी प्राप्ति दूसरा प्रधान विषय है। आजके इसी स्तम्भमें एक विद्वान् लेखकने लिखा था कि काशी-विश्वनाथ वाराणसी-विश्वनाथ नहीं हो सकते; परंतु मेरा ही नहीं, अनेक व्यक्तियोंका यह दृढ़ मत है कि जब काशी और वाराणसीमें भेद नहीं है, तब अवश्य बाबा विश्वनाथ वाराणसी-विश्वनाथ कहे जायँगे, कहे जाते रहे और कहे जाते हैं। एक भक्त कहता है—

गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापं
गौरीनिरन्तरविभूषितवामभागम् ।
नारायणप्रियमनङ्गमदापहारं
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥

(महर्षि वाल्मीकि)

वाराणसी-विश्वनाथकी स्तुति अनेक स्थानोंपर प्राप्त होती है। अनेक उद्धरणोंसे लेखका अत्यन्त विस्तार हो जायगा। एक प्रश्न और भी जटिल उत्पन्न होता है। वह प्रश्न यह है कि वाराणसीमें मरणोपरान्त क्या सभी जीव मुक्त हो जाते हैं, वे वह कितना ही पाप क्यों न कर चुके हों ? बात भी अत्यन्त संदेहकी है। यदि पापी और धर्मात्माके प्रति वाराणसीपुरीमें कोई भेद ही न रह जायगा तो सभी लोग पापाचरणमें निरत हो जायँगे। 'धर्म'का आचरण करना किसीको अच्छा ही न लगेगा और इस प्रकार वाराणसीपुरी अधर्मकी पुरी हो सकती है। अतः इस प्रसङ्गको भी संक्षिप्त विवेचनके ही साथ समाप्त करना उचित जान पड़ा। वाराणसीमें मरनेपर मुक्ति मिलती है; किंतु यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ मरनेवालोंको ज्ञानकी प्राप्ति 'तारक-मन्त्र' द्वारा होती है। मरनेके समय भगवान् शंकर उसीको तारकका उपदेश देते हैं, जिसपर उनकी कृपा होती है। उनकी कृपा भी उन्हींपर होती है, जो जीव धार्मिक होते हैं। वाराणसीमें रहकर पापाचरण करनेवाले जीवोंको मृत्युके पश्चात् भयानक यमयातना यमदूतोंद्वारा नहीं सहनी पड़ती, अपितु शिवदूतोंद्वारा उन्हें 'रुद्रपिशाच' योनिमें पहुँचाया जाता है और रुद्रपिशाच-योनिमें वैसे जीवोंको तीस हजार वर्षतक कठोर भैरवयातना सहनी पड़ती है, तीस हजार वर्षतक कठोर यातना सहनेके बाद जीव तारकमन्त्रका उपदेश प्राप्त करते हैं और तारक-मन्त्रके उपदेशके बाद उनकी मुक्ति होती है—

वाराणस्यां स्थितो यो वै पातकेषु रतः सदा ।
योनिं प्रविश्य पैशाचीं वर्षाणामयुतं त्रयम् ॥

(काशीखण्ड)

पद्मपुराणमें लिखा है कि वाराणसीमें मरनेवाले जीवोंकी मुक्ति अवश्य होती है; किंतु किसीकी मुक्ति तत्क्षण होती है, किसीकी मुक्ति कुछ काल बाद होती है। धार्मिक जीवोंको भगवान् शंकर तुरंत तारकमन्त्रसे ज्ञान देकर मुक्त कर देते हैं और पापी जीवोंको रुद्रपिशाच-योनिमें तीस हजार वर्षतक यातना भोग लेनेके बाद तारकमन्त्रके उपदेशसे मुक्ति देते हैं।

पद्मपुराणमें पुनः उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है कि पापी जीवोंकी मुक्ति बिना पिशाचयोनिमें गये नहीं होती। वाराणसीमें वास करने या मृत्यु प्राप्त करनेके पश्चात् दो या तीन अर्थात् बहुत थोड़े जीवोंको तत्क्षण मोक्ष प्राप्त होता है। जो जीव धार्मिक आचरण करनेवाले होते हैं, उन्हींको तत्काल मोक्ष मिलता है—

वाराणस्यां निवसतिरपवर्गफलप्रदा ।
द्वित्राणां च पवित्राणां कल्पते सत्वरं बले ॥

(पद्मपुराण)

काशीखण्डमें लिखा है कि जो जीव कर्मबन्धनोंमें बँधकर जन्म-मरणरूप संसारसे भयभीत हो रहे हैं, जो श्रुति-स्मृति-ज्ञानसे रहित हो, शौच तथा आचार छोड़ बैठे हैं। तथा जिनका मोक्ष कहीं भी सम्भव नहीं, उनकी मुक्ति एकमात्र वाराणसीमें हो सकती है—

संसारभयभीता ये ये बद्धाः कर्मबन्धनैः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥

यद्यपि यह प्रसङ्ग शास्त्रोंमें बार-बार आया है कि जिनकी कहीं भी गति नहीं हो सकती, उनकी वाराणसीमें मुक्ति होती है, तथापि यहाँ भी मुक्ति उन्हीं जीवोंकी होती है, जिन्हें तारक-मन्त्रका उपदेश मिलता है। तारक-मन्त्रका उपदेश प्राप्त

होनेसे जीवको ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्ति। ज्ञान और मोक्षको लेकर इन्हीं स्तम्भोंमें पुनः कभी विशेष विचार किया जायगा; क्योंकि यह विषय वाराणसी-नामपर ही उपस्थित किया गया है। पद्मपुराणमें लिखा है कि वाराणसीके अतिरिक्त अन्य तीर्थ तथा पुण्यक्षेत्र एवं भगवान्‌की भक्ति—ये समस्त साधन अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं और वाराणसी भी इस कार्यके लिये उन्हींके समान है। किंतु वाराणसीमें विशेषता इस बात की है कि यह पुरी तारकमन्त्रके उपदेशद्वारा ब्रह्मकी प्रा कराती है। अभिप्राय यह है कि वाराणसीमें मरनेवाले प्राणि पुनर्जन्म नहीं होता। यदि वह पुण्यात्मा है तो तत्‌ तारकमन्त्र पाकर मुक्त हो जाता है; और यदि पापकर्मा तो अपने-अपने पापके अनुसार अधिक-से-अधिक तीस ह वर्षोंतक रुद्रप्रदत्त भैरवी-यातनाको भोगकर अन्तमें तार मन्त्र पाकर मुक्त हो जाता है।

सहज त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'भगवान् अमरनाथके दर्शन होंगे।' श्रद्धा भरी थी स्वरमें। 'जो हम संसारके कर्म-कल्मषग्रस्त प्राणियोंको शुद्ध सत्त्वके सेवनका संदेश देनेके लिये सृष्टिकी आदिसे उस गिरिगह्वरमें उज्ज्वल हिमलिङ्गके रूपमें आसीन हैं, उन आशुतोषके अर्चनका हमें सौभाग्य प्राप्त होगा।'

'हम वहाँ महामाया वैष्णवीदेवीके पादपद्मोंमें प्रणत हो सकेंगे।' शक्तिके आराधकके लिये कम आकर्षण कहाँ है कश्मीरमण्डलमें। 'वे जगद्धात्री द्वापरान्तसे वहाँ तपस्या कर रही हैं। श्रीमूर्ति जो चर्मचक्षुओंको दृष्टिगत होती है, माया है वह तो उनकी। वे साक्षात् तपोनिरत हैं। कल्किके रूपमें युगान्तमें अवतीर्ण होनेवाले अपने नित्य आराध्यकी प्रतीक्षा कर रही हैं वे वहाँ।'

'सबसे महान् सौभाग्य हमारा कि हम भगवती हंसवाहिनीके वरद पुत्रका साक्षात्कार करेंगे।' सबमें वयोवृद्ध विद्वान् बोल रहे थे। 'श्रुतियोंके उन सचल स्वरूपका क्षण-सांनिध्य भी प्राप्त करना कितना महान् पुण्योदय है!'

प्रयागके प्रतिष्ठित पण्डितोंका समुदाय एकत्र था वहाँ उस दिन। जहाँ विद्वान् एकत्र होंगे, वहाँ विद्या, विद्वान् एवं शास्त्रोंकी चर्चा होगी ही। उस दिन एकने अकस्मात् कह दिया—'हम जिनके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे पण्डितराज कल्लट कैसे होंगे?'

आजका युग नहीं था। पुस्तकें छपती नहीं थीं। पत्रोंमें उनकी समालोचना नहीं निकलती थी। उनके प्रचारका साधन उनकी श्रेष्ठता ही थी। उन्हें इतना उत्कृष्ट होना चाहिये कि जो एक बार उनके पृष्ठ उलटे, वह इतना समुत्सुक हो उठे कि कई मास उनकी प्रतिलिपि कर होनेवाला श्रम उसे सहज स्वीकृत हो जाय। इस प्र प्रतिलिपि-परम्परासे ही उनका प्रचार-प्रसार सम्भव था।

आप अनुमान कीजिये, सुदूर कश्मीरकी किसी एका कुटियामें ग्रन्थ प्रणयन करनेवाले महापुरुषकी अपूर्व शक्ति उसके जीवनकालमें ही उसके ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ प्र एवं काशीतक पहुँच गयी थीं और इन संस्कृत विद्या महान् केन्द्रोंमें देशके सम्मानित विद्वान् उन प्रतिलिपियों आदर करते थे। वे अपने अध्यापनमें उनसे सहाय पाते थे।

ऐसे महत्तमके दर्शनकी उत्कण्ठा होना आश्चर्य बात तो थी नहीं। परंतु उन दिनों यात्राके लिये केवल भ पैरोंका आश्रय था। यात्राका संकल्प सरल नहीं था प्रयागसे कश्मीर—आज भी दूरी उतनी ही है। आप अ पैदल यात्राका एक बार अनुमान लगा देखें। भूलें न कि उस समय आजके समान स्वच्छ प्रदेश एवं उ सड़कें भी नहीं थीं। देश घोर अरण्योंसे व्याप्त था।

ब्राह्मणोंके लिये यात्रामें बहुत सुविधा थी। वनके व लोग, दस्यु भी अपना सौभाग्य समझते थे उनकी से करनेमें। ब्राह्मणका शाप सह लेनेका साहस क्रूरकर्मियोंमें नहीं था। तपस्वी, त्यागी था ब्राह्मण और जब उसमें ब्र तेज विद्यमान है, वन्यपशु भी उसके चरणोंमें मस्तक झुका सकता है।

'केसर और कवित्वकी जन्मभूमि कश्मीरमण्डल है! आज विद्वद्वर्गके कुछ सम्मान्य सदस्य समुत्सुक हो उठे

यात्राके लिये—'कश्मीरके महाराज विद्वानोंके आराधक कहे जाते हैं । उनकी श्रद्धाको स्वीकृति देना अनुचित नहीं होगा ।'

'अनुपम तीर्थ-यात्रा है ! सभी दृष्टियोंसे सर्वश्रेष्ठ !' एक तरुण विद्वान् उल्लासमें आये । 'भूस्वर्ग कश्मीरकी सुषमा सरस हृदयको सदा आकृष्ट करती है । ऊपरसे अमरनाथकी यात्रा और महापण्डित कल्लटका साक्षात्कार । भारतके सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण नरपालका आतिथ्य यात्रा-श्रमको दूर करनेके लिये वहाँ प्रथम उपस्थित मिलता है ।'

× × × ×

'प्रयागके प्रतिष्ठित विद्वान् पधार रहे हैं !' महाराजको बहुत पूर्व समाचार प्राप्त हो गया अपने सदा सावधान चरोंके द्वारा और उनका आदेश देशकी सीमातकके शासक अधिकारियोंके पास चला गया—'दीर्घकालकी कठिन यात्रासे वे सभी श्रद्धेय क्लान्त होंगे । हमें धन्य करने वे पधार रहे हैं । उनकी सुख-सुविधाकी व्यवस्थामें होनेवाला प्रमाद क्षम्य नहीं होगा । उनकी रुचिका हमें सम्मान करना है । उनकी इच्छा ही हमारे लिये आज्ञा है ।'

संतोष नहीं हुआ महाराजको अपने प्रबन्धसे । उन्होंने स्वयं यात्रा की । सम्मान्य अतिथि किसी संकोचमें न पड़ें, इस उद्देश्यसे साक्षात् सम्मुख उपस्थित होनेका साहस नहीं किया उन्होंने । 'राजशिविर साथ-साथ चले तो उन त्यागमूर्तियोंको असुविधा होगी !' नरेशने व्यवस्था इस प्रकार की कि वे अतिथियोंके आगमनसे पूर्व प्रस्थान कर दिया करेंगे एक पड़ाव आगे । इस प्रकार प्रथम पहुँचकर सब व्यवस्थाका स्वयं निरीक्षण कर लिया करेंगे वे ।

'वे विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, तप एवं तेजके स्वरूप हैं !' महाराज सतत सावधान थे । 'कहीं वे रुष्ट न हो जायँ ! उनके संयम, अर्चन एवं आह्निकमें कोई व्याघात न पड़े ।'

ब्राह्मणोंको यह बतानेकी भी अनुमति नहीं थी सेवकोंको कि उनका सत्कार स्वयं कश्मीरके अधिपति कर रहे हैं । उन विद्वानोंके लिये यह अनुमान कर लेना कठिन नहीं होगा, यह दूसरी बात ।

यात्रामें कष्ट तो होता ही है । एक योजनसे अधिक न चलनेवाले इन विप्रोंकी यात्रा ! त्रिकाल स्नान-संध्या, विस्तृत नित्यकर्म एवं पूजन—कैसे सम्भव है कि यह सब करते हुए कोई एक योजनसे अधिककी यात्रा एक दिन कर ले ! मार्गमें उन्हें चातुर्मास्य भी तो करने पड़े । प्रयागसे प्रस्थानके दिन उस समयका यात्री गिनने बैठ नहीं सकता था ।

उन तेजोमूर्तियोंको कहीं प्रतिकूलता प्राप्त नहीं हुई । देवता और दस्यु दोनों उनकी सेवा करके अपनेको भाग्यशाली मान सकते थे । उनसे सदा आग्रह ही किया मार्गमें पड़नेवाले नगरों एवं अरण्यके वासियोंने—'आप सब एक दिन और रुककर हमें पवित्र करते ।'

निर्जन अरण्य भी आये—कुछ अर्थ नहीं था । उनकी सेवाका सौभाग्य वहाँ अधिक प्राप्त होगा, इस प्रलोभनसे अनेक सुदूर ग्रामोंके सरल प्राणी पहले पहुँच जाया करते थे । अरणि-मन्थन करके अग्नि प्रकट करना पड़ता था केवल यज्ञके लिये और वारुण-मन्त्रोंका कभी प्रयोजन नहीं पड़ा । जलका अभाव सम्मुख आया नहीं । तपस्वी ब्राह्मणोंका वृन्द जब यात्रा करता हो, प्रकृति सत्त्व-परीक्षणकी धृष्टता नहीं कर सकती ।

× × × ×

'अतिथि महापण्डितके दर्शन करने पधारेंगे सर्वप्रथम !' महाराजको इसकी आशा पहलेसे थी । व्यवस्था उसके अनुरूप करनेमें कोई कठिनाई नहीं थी; किंतु महापण्डितके आश्रमपर तो कोई व्यवस्था की नहीं जा सकती ।

'भद्रे ! अतिथि पधारे हैं ! अर्घ्य !' महापण्डित अपनी लेखनी छोड़कर बड़ी आतुरतापूर्वक उठे थे । उन्होंने आज पता नहीं कितने वर्षोंके पश्चात् पत्नीको उच्च स्वरमें पुकारा था ।

गौरवर्ण, कृशकाय, उन्नतभाल, रजतश्मश्रु—जैसे कोई जनलोकका ऋषि धरापर उतर आया हो । शिलापर एक जीर्ण कुशासन पड़ा था और आसपास भूर्जपत्र बिखरे पड़े थे ।

मृत्पात्रमें अर्घ्यके लिये जल लेकर जब महापण्डितकी सहधर्मिणी उटजसे बाहर आयीं—सत्ययुगकी कोई ऋषिपत्नी अवश्य ऐसी ही होंगी ।

'हम आपके दर्शनार्थ आये हैं । साक्षात् न सही—आपके वाङ्मयके शिष्य हैं हम !' आगतोंने श्रद्धासमन्वित प्रणिपात किया । पण्डितराज उन्हें साष्टाङ्ग अभिवादन कर रहे हैं—यह अत्यन्त संकोचकी बात थी ।

'आज मैं धन्य हुआ ! आप ब्राह्मण-अतिथियोंके श्रीचरण यहाँ आये ! मेरा गार्हस्थ्य सार्थक हुआ ।' महा-

पण्डितके नेत्रोंसे बिन्दु नहीं टपकते थे—धारा चल रही थी। 'आप सत्त्वमूर्तियोंमें यह शील, विनम्रता, श्रद्धा स्वाभाविक है; किंतु आतिथ्य मेरा अधिकार है। मैं आपको संकोचमें नहीं डालूँगा। आप सब जैसे संतुष्ट हों।'

महापण्डितने स्वयं चरण-प्रक्षालनका आग्रह नहीं किया। उन्होंने देख लिया कि अतिथि इससे संकोच पा रहे हैं। जल देकर उन्होंने चरण धुलाये। शिलापर चटाई बिछा दी। तपस्वीके आश्रमका आतिथ्य उसके उपयुक्त ही तो होगा।

'आपकी सत्कीर्ति हमें ले आयी है।' आगतोंने अपना परिचय दिया। 'हम धन्य हुए इन चरणोंके दर्शन करके।'

लोकोत्तर विद्वानोंका मिलन हुआ था। उनकी विनम्रता अपूर्व थी। 'विद्या ददाति विनयम्' यह प्रत्यक्ष हो गया उस दिन वहाँ।

'अतिसांनिध्यादनादरम्।' तनिक एकान्त पाकर प्रयागके एक पण्डितने अपने सहचरोंसे धीरेसे कहा—'यहाँका नरेश ऐसे अमूल्य रत्नका भी आदर नहीं कर सका।'

'यह जीर्ण कुटीर! यह कंगाली और सरस्वतीके ऐसे वरद पुत्रके पास!' व्यथा सबके चित्तको पीड़ित कर रही थी। 'हम कल उसे धिक्कारेंगे। वह अपने परमपूज्यका उचित पालन भी कर नहीं सकता—कितना अधम है यहाँका नरपाल!'

× × × ×

'मैं आप सबकी आज्ञा शिरोधार्य करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझता हूँ।' महाराजने बड़ी ही नम्रतापूर्वक निवेदन किया। 'किंतु महापण्डितके सम्मुख इसे उपस्थित करनेका साहस मुझमें नहीं है। आप इसे उनतक पहुँचा देनेकी कृपा करें और वे यदि रुष्ट हों तो आप सब उन्हें शान्त कर लेंगे, यह आश्वासन मुझे दें!'

'आप भय न करें!' विद्वानोंने आश्वासन दिया। 'हम यह दानपत्र स्वयं महापण्डितको अर्पित कर देंगे।'

'हम इतना ही चाहते हैं कि यह कश्मीरभूमि उनके श्रीचरणोंसे धन्य बनी रहे!' दानपत्र प्रयागके पण्डितोंको अर्पित करते हुए महाराजके कर कम्पित हो रहे थे। 'आपके आश्वासनका मुझे अवलम्बन है। वही हमारा आधार है।'

प्रयागके विद्वान् राजसभामें पधारे थे। महाराजने उन श्रद्धा-समन्वित स्वागत किया था, उन्हें वस्त्राभरण ए विपुल दान-दक्षिणा प्रदान की थी; किंतु उन विद्वान् ब्राह्मणों नरेशके सम्मानके प्रति आस्था नहीं व्यक्त की। वे भारती भव्य पुत्र—उन्हें भय किसका! उन्होंने स्पष्ट सुना दिया— 'नरेश! तू हमें इस कञ्चनसे ठगना चाहता है? तू चाह है कि इसे लेकर हम तेरा स्तवन करें, तेरी कीर्तिका प्रस करें? कृपण! तेरे यहाँ अमूल्य रत्न है और तूने उसको मुट्ठी अन्न देनेकी व्यवस्था भी नहीं की। भारतका सर्वो विद्वान् तेरे यहाँ जीर्ण तृणकुटीरमें कच्चे फलोंपर जीवनया करनेको विवश है!'

'आप सब सत्य कहते हैं।' नरेशके नेत्रोंमें अश्रु आ गये। 'किंतु महापण्डित कुछ स्वीकार करेंगे, इस सम्भावना कहाँ……।'

'तूने प्रयत्न किया कभी?' विद्वानोंका रोष शान्त न हुआ था। अन्ततः उनका आदेश महाराजने डरते-ड स्वीकार किया। एक उत्तम जागीरका दानपत्र लिख उन्होंने और राजमुद्रासे उसे अङ्कित करके उन पण्डितों अर्पित कर दिया।

'क्या प्रश्न है? वैसे ही सुना दें आप सब!' वह दान लेकर जब विद्वानोंका समुदाय महापण्डितके आश्रममें पहुँ और उनके चरणोंके समीप उन्होंने वह दानपत्र धर दि तब महापण्डितने समझा कि कोई लिखित शङ्का इन विद्वा ने उनके सम्मुख रखी है।

'कोई प्रश्न नहीं।' नम्रतापूर्वक ब्राह्मणोंने कहा 'नरेशने निर्वाहयोग्य भूमि श्रीचरणोंमें अर्पित की है, उ यह दानपत्र है।'

'इतना साहस आ गया उसमें! अब वह इतना ग हो गया कि कल्लटको दान देने लगा है?' महापण्डि झटकेसे उठ खड़े हुए। दानपत्र शिलासे नीचे गिर प उन्होंने चटाई गोल करके बगलमें दबा ली और कम उठाया। पत्नीको आदेश दिया—'भद्रे! यह भूमि ब्राह्मणके रहने योग्य नहीं रही। इसके शासकमें ध आ गया। चलो, चलें यहाँसे।'

पतिव्रताको लेना क्या था, उटजमें उसकी कितनी थी। उसने अपना जीर्ण उत्तरीय मस्तकपर और द्वारसे बाहर आ खड़ी हुई।

'मुझे क्षमा कर दें! यह अपराध मैंने स्वतः नहीं

है।' कश्मीरनरेश वृक्षोंके पीछेसे निकले और चरणोंपर गिर पड़े।

'यह अपराध हमारा है। हमने महाराजसे अनुरोध किया था।' विद्वानोंने करबद्ध प्रार्थना की।

'आप सब तो अतिथि हैं!' महापण्डित शान्त हो गये। उन्होंने संकेत किया पत्नीको कुटियामें चले जानेका। चटाई शिलापर बिछा दी। कमण्डलु धर दिया। दानपत्र उठाकर फाड़ते हुए नरेशसे बोले—'जब ब्राह्मण आगे हों, क्षत्रिय क्षम्य हो जाता है। अब जा! फिर आश्रममें मत आना।'

'ब्राह्मणका—मनुष्यमात्रका आराध्य धन है धर्म!' महापण्डितके आसनकी शिलाके आस-पास दानपत्रके टुकड़े वायुमें उड़ रहे थे। वे महामानव प्रयागसे पधारे पण्डितोंको बता रहे थे। 'जिसके पास वह धर्मरूपी धन है, क्या करेगा वह इस स्वर्ण-भूमि आदिका; ये तो कंगालोंकी कौड़ियाँ हैं उसके सम्मुख!'

सेवाका तत्त्वज्ञान

(लेखक—श्रीमहेन्द्रजी मिश्र 'मस्त' साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

जगत्के महान् व्यक्तियोंने सेवाधर्मको अपनानेके लिये बहुत जोर दिया है। ईश्वरसेवा, सभी प्राणियोंकी सेवा, गो-सेवा आदि करनेवाले लोगोंको जनताने अपने आदरका पात्र बनाया। सभीके कल्याण अथवा हितमें लगे रहना सेवाके अन्तर्गत ही है। भगवद्गीता-रामायण आदि ग्रन्थोंमें जिस भक्तिकी महिमा बतलायी गयी है, वह 'भक्ति' शब्द भी 'भज्' धातुसे बना है—जिसका अर्थ है 'सेवा'। भगवान्की भक्ति या भजन अथवा भगवान्की सेवा एक ही अर्थके द्योतक हैं। भक्ति या सेवाके द्वारा मुक्ति-सरीखा दुर्लभ पदार्थ मिलता है। भक्तिको भक्तोंने इतना ऊँचा बताया है कि मुक्ति भी उसके सामने नगण्य है। इस विषयपर हम विचार करें कि सेवाके द्वारा हमें उस महान् पदकी प्राप्ति क्योंकर हो सकती है। महात्मा गांधी देश-सेवा इसलिये करते थे; क्योंकि उनका यह विश्वास था कि देश-सेवाके द्वारा उन्हें ईश्वर एवं सत्यका साक्षात्कार होगा। उनका यह कहना बिल्कुल ठीक था कि सेवाकी वृत्ति अपनानेमें लौकिक दृष्टिसे सर्वोदय और पारमार्थिक दृष्टिसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है।

वेद एवं संत-महात्माओंके कथनानुसार मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य ब्रह्म या ईश्वरका साक्षात्कार करना ही है। यह कैसे हो सकता है? इसका उपाय यह है कि मनुष्य अपने नित्यके जीवनमें प्रत्येक भूत-प्राणीमें ईश्वर-दर्शनका प्रयत्न करे। सृष्टिके सभी पदार्थोंके साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। वह एक अविभक्त-तत्त्व है, जो सभी जगह व्याप्त हो रहा है—इस सूक्ष्मताको समझ लेनेके बाद उसके लिये अपना कोई भिन्न स्वार्थ नहीं रह जाता है।

वह अनेकतामें एकता सिद्ध करते रहनेकी चेष्टामें रहता है। इस चेष्टाके सिलसिलेमें जो कार्य वह करता है, उसीको 'सेवा' कहते हैं। यानी सेवा उस साधनका नाम है, जिसके द्वारा हम अपने इर्द-गिर्द या परिवार या ग्राम, जिला, प्रान्त और देशके सभी जड-चेतनमें ही नहीं, अपितु अखिल विश्वके समस्त भूत-प्राणियों एवं स्थावर-जङ्गम पदार्थोंमें उस 'अविभक्त' ईश्वरके दर्शन करना।

वास्तवमें विभक्त दीख पड़नेवाले ये सभी नाम और रूप अविभक्त हैं। आइये, हम इसे सिद्ध करें। हम देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, आँख खोलते और मींचते एवं इसी तरहके बहुत-से काम करते हैं। यदि हम अविभक्त न होते तो इनमेंसे कुछ भी नहीं कर सकते थे। द्रष्टा, दृष्टि एवं दृश्य, घ्राता, घ्राण एवं घ्रातव्य आदिकी एकताको सिद्ध करनेकी चेष्टामें हम यहाँ नहीं पड़ेंगे; क्योंकि इनकी एकता तो हर तरहसे सिद्ध है। प्रतिदिनके पारस्परिक व्यवहारमें एक व्यक्ति अन्य लोगों एवं वस्तुओंके साथ कितना सम्बन्धित है, इसे ही हमें यहाँ सिद्ध करना है।

सीमेंटसे बनी हुई फर्शपर—जिसपर एक चटाई बिछी है, तथा चादर बिछी है—हम बैठे हैं। सीमेंटकी फर्श बनानेमें जिन साधनोंसे मदद मिली, उन सभीके साथ हमारा सम्बन्ध हो गया। ईंटे बनानेके लिये जहाँसे मिट्टी ली गयी, उस भूमिके साथ, मिट्टी खोदनेवाले मजदूरोंके साथ, ईंट पाथनेवाले श्रमिकोंके साथ, ईंटे ढोकर भट्ठा बनानेवाले कारीगरोंके साथ, जिस भूमिसे कोयला निकला, उस भूमिके साथ,

कोयला-खानका पता बतानेवाले भू-गर्भ-शास्त्रियोंके साथ, भूमि खुदवाकर खान तैयार करनेवाले मालिकोंके साथ, खान खोदनेवालोंके साथ, खान खोदनेमें अथवा उसका पता लगानेमें जिन यन्त्रों एवं औजारोंके प्रयोग हुए हैं, उनके निर्माण करनेवालोंके साथ, कोयला ढोनेवाली मालगाड़ियों या बैलगाड़ी बनानेवालोंके साथ, एवं इन्जिन, ड्राइवर, गार्ड, स्विचमैन एवं अन्य रेलवे-अधिकारियोंके साथ, उन बैलोंके साथ, जिन्होंने गाड़ियोंमें जुतकर उन्हें ढोया, सीमेंट बनानेवाली कम्पनीके मजदूरों, शेयर-होल्डरों, मैनेजिंग एजेन्टों, मैनेजरों एवं अन्य श्रमिकोंके साथ तथा उस भूमिके साथ, जहाँपर सीमेंट-निर्माणके लिये पत्थर या केमिकल्स उठाये गये, या उस देश अथवा उस देशके लोहेके साथ, जिसके द्वारा सीमेंट बनानेकी मशीन तैयार हुई, उन राजमिस्त्रियों एवं रेजा-मजदूरोंके साथ, जिन्होंने मकानकी गथनी की तथा सीमेंटका फर्श बनाया, चटाई बनानेवालेके साथ, जिस भूमिसे चटाईकी घास उपजी, उस भूमिके साथ, जिन साधनोंके द्वारा वह चटाई ढोकर लायी गयी और फर्शपर बिछायी गयी, उन सभी साधनोंके साथ, चादर बुननेवालोंके साथ, उसके धोनेवालोंके साथ, उसके सूत कातनेवालोंके साथ, उस रूई उपजानेवालोंके साथ, उस भूमिके साथ, जहाँ रूई उपजायी गयी। इस तरह लाखों मनुष्यों एवं प्राणियोंसे हमारा सम्बन्ध जुट जाता है। यदि गम्भीरतासे विचार करें तो समझमें आ जायगा कि हमारे इस साढ़े तीन हाथके शरीरका सभी जड-चैतन्यात्मक पदार्थोंसे अटूट सम्बन्ध है और इसीलिये भगवद्गीतामें कहा गया है कि आसुरी बुद्धिवाले व्यक्ति यही समझते हैं कि हमारा दूसरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। जो ऐसा समझते हैं कि हमको सेवासे कोई मतलब नहीं, हमको दूसरा कौन कमाकर खिला देगा, हमको अपने मतलबसे काम है, इत्यादि—ऐसे व्यक्ति सेवा-धर्मके महत्त्वको नहीं समझते। इसलिये वे मनुष्य राक्षसी स्वभावके कहे गये हैं।

हम भोजन करते हैं। दूध, दही, घी, गेहूँ, चावल, बेसन, तरकारी आदि खाते हैं। कड़ाही, तवा, बटलोही एवं उसी तरहके अन्य बर्तनोंका हम उपयोग करते हैं। हम यदि आत्मोदधिमें गोता लगायें तो हमें पता चल जायगा कि हमारा लाखों-करोड़ों प्राणियोंके साथ अटूट सम्बन्ध है। हम सड़कपर चलते हैं। हम अपने बच्चोंको स्कूलोंमें पढ़ाते हैं। हम अपने दैनिक जीवनमें इसी तरहके बहुत-से काम करते तथा करवाते हैं। हमारा नित्य ही करोड़ोंके साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है। हमारा इस सृष्टिसे, अनन्त विश्व ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध है। मनुष्य जब इस सम्बन्धको समझ जाता है, तब वह बोध करने लगता है कि वह एक साढ़े तीन हाथका शरीर नहीं, अपितु वह एक ऐसा तत्त्व है, जो सर्वव्यापी तथा सर्वगत है। वह सृष्टिका उत्पादक, संचालक, नियामक और संहारक है। वह सूर्योंका सूर्य है और है वह एक अद्वैत तत्त्व। इसको समझनेकी जो कला है, उसीका नाम है सेवा। इसी सेवाके द्वारा हम उस परमतत्त्वको जान सकते हैं। अतएव सेवाके तत्त्वज्ञानका अर्थ है—ईश्वरत्वके साथ अपनेको जोड़ना।

रामकृपा बिना शान्ति नहीं

कागभुशुण्डजी कहते हैं—

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(उत्तरकाण्ड)

श्रीभगवान्के चरणचिह्नोंका चिन्तन

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध अट्ठाईसवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें भगवान् श्रीकपिल सबीजयोग आदिकी उपासनाका वर्णन करते हैं, जिससे चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्माके मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है। वैसे तो श्रीमद्भागवतका एक-एक अक्षर भगवत्स्वरूप है। किसी भी स्थलका स्मरण-चिन्तन करें—सब कल्याणकारी है।

अज्ञात प्रेरणा या भगवद्-भावनासे अधिकारिभेद, काल-भेदका विचार करके स्थल-स्थलका चिन्तन करनेका उपदेश भागवतगणोंने किया है। वैसे ही निम्न श्लोकके स्मरणके साथ श्रीभगवच्चरणचिह्नोंका स्मरण करके हम अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं। प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल और रात्रिमें सोनेसे पहले यानी दिनभरमें चार बार इनका स्मरण कर लेनेमें कोई भी कठिनता नहीं है, अपितु यह कार्य सुसाध्य ही है। साथ ही विश्वमाता गौके सुखी होनेकी भावना करें तो और भी उत्तम है।

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८२। ४९)

श्रीगोपियोंने कहा—'हे कमलनाभ! अगाधबोध-सम्पन्न बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदय-कमलमें आपके चरण-कमलोंका चिन्तन करते रहते हैं। जो लोग संसारके कुएँमें गिरे हुए हैं—उन्हें उससे निकालनेके लिये ये चरण-कमल ही एकमात्र अवलम्बन हैं। प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके वे चरण-कमल घर-गृहस्थीके काम करते हुए भी सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान रहें, हम एक क्षणके लिये भी उन्हें न भूलें।'

यों दिवस और रात्रिमें चार बारका नियम रखनेसे अभ्यास हो जानेपर प्रतिक्षण ही स्मरण बना रहेगा। भगवान्के चरणचिह्नोंका ध्यान अधिकार, परिस्थिति, प्रयोजन अथवा विशुद्ध प्रेमके आधारपर किया गया है। चरणरेखाके प्रेमियोंमें जटायु उदाहरणीय हैं। रेखाओंके चिन्तनसे ही उन्होंने अन्तिम समयमें भगवान्के दर्शन और योगिदुर्लभ गति प्राप्त की।

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत रामचरन जिन रेखा॥

ऐसे ही हम आजकी इस विषम परिस्थितिमें भगवन्नामके साथ चरण-कमलोंके चिह्नोंका स्मरण करें तो निश्चय ही सफल होंगे। श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्धके अध्याय अट्ठाईसवेंमें इन चिह्नोंका वर्णन २१ वें श्लोकमें है।

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥

श्रीमन्मानस-रामायणमें है—

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥

विनयपत्रिकामें कहा है—

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन धाम बिबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और मागिहौं दीजै परम उदार॥
बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो॥

हैं श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यह जीव मोह रजु जेहिं बाँध्यो सोइ छोरै ॥
(पद १०२)

गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ ॥
(अरण्यकाण्ड १३)

यहाँ कृपारूपी डोरी, अङ्कुशरूपी बनसी, प्रीतिरूपी मृदु चारा लगाकर विषयरूपी जलमें जीवरूपी जटायुके मनमीनको फँसानेके लिये 'रहे परनगृह छाइ', तब गीधपतिको रेखाका स्मरण करते देखा, जो आहत होनेका कष्ट भूलकर चरणरेखाका स्मरण कर रहा था। तब क्या देर थी—

कर सरोज सिरु परसेउ कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर ॥
(अरण्य० ३०)

यह कृपा भगवान् जीवमात्रपर करते हैं। हम उसे लेते नहीं, भूल जाते हैं। प्रभु स्वयं जीवके कल्याणकी बाट देखते हैं। श्रीभगवान्के अनेक चिह्न एक महात्माने यों बताये हैं—दक्षिण पादमें—

१. अङ्गुष्ठमूलमें चक्र—भक्तोंके षडूर्मि-छेदनके लिये।
२. मध्यमा-मूलमें कमल—भक्त-चित्त-भ्रमरको लुभानेके लिये।
३. उसके नीचे ध्वज—सर्वानर्थपर विजय पानेके लिये।
४. कनिष्ठामूलमें वज्र—भक्तोंके पाप-पर्वत-भेदनके लिये।
५. पार्ष्णिसव्यमें अङ्कुश—भक्तोंके चित्तरूपी हाथीको वशमें करनेके लिये। बनसी भक्त-मन-मीनको मारनेके लिये या अपने वशमें करनेके लिये।
६. अङ्गुष्ठपर्वमें यव—भोग-सम्पत्तिके लिये।
७. स्वस्तिक—कल्याणके लिये।
८. ऊर्ध्वरेखा—ऐश्वर्यके लिये।
९. अष्टकोण वाम पादमें।
१०. इन्द्रचाप।
११. त्रिकोण।
१२. कलश।
१३. अर्धचन्द्र।
१४. अम्बर।
१५. मत्स्य।
१६. गोष्पद तथा एक चिह्न जम्बूफलसमाकार कहीं भी किसी भी स्थानमें एक या अनेक।

मन, इतनोई या तनु को परम फलु ।
सब अँग सुभग बिंदु माधव छबि तजि सुभाव अवलोकु एक पलु ।
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु नख दुति हृदय तिमिर हारी ।
कुलिस केतु जव जलज रेखबर अंकुस मन गज बसकारी ॥
(विनयपत्रिका ६३)

शास्त्रज्ञ विद्वानोंसे प्रार्थना है कि इसमें जो कुछ सुधार आवश्यक हो, करके हम जीवोंका कल्याण करें और सम्मान्य पत्र-सम्पादकोंसे विनय है कि वे इसका प्रचार करें, जिससे विश्वविनाशकारी महापाप, प्रकृतिमण्डलका घोर तमोगुणी कृत्य—विश्वमाता गौ (गावो विश्वस्य मातरः) का वध बंद हो। विश्वमें तभी सुख-शान्ति होगी। 'यतो गावस्ततो वयम्'—यह त्रिकाल सत्य है।

* * *

सत्सङ्गकी महिमा

सत संगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सत संगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥
(बालकाण्ड)

भक्त-गाथा

भक्तवर श्रीनन्दरामजी*

(लेखक—श्रीगङ्गाधरजी शास्त्री वैद्य)

पंजाबके करनाल जिलेके पवित्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें तीर्थस्थानसे आगे दस कोसकी दूरीपर स्कन्दपुराणमें वर्णित वर्णीश्वर तीर्थके किनारे यमुनासे निकाली गयी नहरसे डेढ़ फर्लांगकी दूरीपर संग्रामपुर (संगरोली) कसबा है। वर्णीश्वर तीर्थके लोगोंसे सुना जाता है कि महाभारतके युद्धमें मृत योद्धाओंके दाह-संस्कारके लिये पवित्र भूमिको खोजते समय श्रीव्यासजी महाराजने इसी भूमिका निर्देश किया था। यहींपर मृतकोंकी और्ध्वदैहिक क्रियाएँ सम्पन्न की गयी थीं। व्यासजी महाराजने इस भूमिको साक्षात् स्वर्गका सोपान कहा है। मृतकोंकी मुक्तिके लिये किये गये जप-यज्ञको इस प्रदेशमें वर्णी अब भी कहा जाता है। यहींपर महाराजा युधिष्ठिरने हजारों ऋषियोंसे सबकी मुक्तिके लिये यज्ञ करवाये थे, तभीसे इस तीर्थको 'वर्णीश्वर' कहा जाता है।

इसी तीर्थके किनारे बसे हुए संग्रामपुर (संगरोली) कसबेमें घृतकौशिकगोत्रीय ब्राह्मणोंका एक बड़ा परिवार रहता है। इसी परिवारमें हमारे चरितनायक गुरुदेव विद्यावारिधिजीके पितामह नत्थूरामजीका जन्म हुआ था। कसबेमें सैकड़ों घर रोड़ों (एक तरहकी जाट जाति) के, कुछ वैश्य परिवार एवं सिक्खोंके घर हैं। कुछ अन्य नाई, धोबी, चमार, मुसल्मान, कुम्हार आदिकोंके घर हैं। समस्त कसबेमें नत्थूरामजी ही प्रधान पंच थे। नहरके किनारे करीब डेढ़ सौ बीघोंमें विस्तृत उपजाऊ क्षेत्र 'गोलेवाला' प्रसिद्ध है। इसी क्षेत्रमें नत्थूरामजीके पिता शिवलालजीने एक छोटा-सा तालाब तथा ४० बीघामें एक सुन्दर बाग लगाया था, जिसमें कलमी आमोंके १०–१५ पेड़ तथा अन्य जातिके आम, अमरूद, नींबू, अनार सहतूत आदिके पेड़ हैं। १०० बीघोंके विस्तृत क्षेत्रमें नत्थूरामजी गेहूँ, चना, ईख, कपास आदिकी बड़े पैमानेपर खेती करते थे। कृषिकार्य करनेके कारण आपका परिवार बिल्कुल आत्मनिर्भर रहता था। नहरके किनारेसे सटा रहनेके कारण हर साल आपको बहुत अच्छा लाभ रहता था। इन्हीं पुण्यश्लोक नत्थूरामजीके घर हमारे चरितनायक विद्यावारिधिजीके पिता भक्त नन्दरामजीका जन्म हुआ।

भक्तवर नन्दरामजी बहुत ही सीधे-सादे नम्र स्वभावके भजनानन्दी व्यक्ति थे। सात-आठ वर्षकी अवस्थामें ही गाय-भैंसोंको जंगलमें ले जाकर नहरके किनारे चराया करते थे। दैवयोग कहिये या भगवत्कृपा, आपके घरके पुरोहित एक दिन कथा बाँचनेके लिये संग्रामपुरमें आये। सात दिनोंतक आपका श्रीमद्भागवतका सप्ताहपारायण श्रीनत्थूरामजीने करवाया। भक्तजीको उनकी सेवामें रखा गया। भक्तजीको और क्या चाहिये था! वे श्रद्धापूर्वक पुरोहितजीकी सेवा करने लगे और तल्लीन होकर कथा सुनने लगे। पुरोहितजीके पास एक शालग्रामजीकी मूर्ति थी, जिसे उन्होंने भक्तजीको सौंपकर कहा था कि जिनकी यह कथा है, वे ही कृष्णभगवान् ये हैं। भक्तजी शालग्रामजीको नहलाते और उनका पूजन करते तथा रातको दूधका भोग लगाकर शयन करवाते और आप भी श्रीभगवान्के चरणोंमें शयन करते। ज्यों-ज्यों कथाका प्रभाव आपपर होता गया, त्यों-त्यों आपकी भगवान्में श्रद्धा बढ़ती गयी। वे दिनभर

---

* शेखावाटीको शिक्षावाटी बनानेवाले भक्तवर आचारनिष्ठ महाविद्वान् पण्डित श्रीरामधारीजी शास्त्रीके जीवनचरित्रसे संकलित।

भगवान्की ओर दृष्टि लगाकर बैठते और तल्लीन होकर उनकी कथा सुनते ।

सात दिनके अंदर पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण या कथाके प्रभावसे उनका भगवान्में बहुत प्रेम हो गया । एक मिनट भी वे भगवान्के बिना नहीं रहते ।

कथा समाप्त हो जानेके आठवें दिन जब पुरोहितजी भगवान्को सिंहासनसहित पेटीमें बंद करके ले जाने लगे, तब वे रो पड़े और बड़े विनीत स्वरसे भगवान्को न ले जानेकी प्रार्थना की और कहा कि 'मेरे भगवान्को यहीं छोड़ जाइये, वहाँ इनको रातको दूध कौन पिलायेगा ? भगवान्के बिना मैं दूध किसको पिलाऊँगा ।' इस तरह पुरोहितजीके सामने वे गिड़गिड़ाने लगे । पुरोहितजी भला, भगवान्को क्यों देने लगे । अन्तमें इनका आग्रह देखकर पुरोहितजी कल आनेका बहाना बनाकर अपने गाँवको चले गये । दूसरे दिन दोपहरतक भक्तजी पुरोहितजीकी प्रतीक्षामें रास्तेमें बैठे रहे; किंतु जब पुरोहितजी भगवान्को लेकर नहीं लौटे, तब फिर भक्तको चैन कहाँ । अपनी गायोंको नहरके किनारे छोड़कर वे पुरोहितजीके गाँव पहुँचे ।

पुरोहितजी महाराज अभीतक यजमानोंके यहाँ ही चक्कर लगा रहे थे । ठाकुरजीकी पूजा नहीं हुई थी । भक्तजीको बड़ा दुःख हुआ । तुरंत स्नान करके उन्होंने भगवान्को भोग लगाया । इतनेमें ही पुरोहितजी भी आ गये । भक्तजीने पुनः उनसे भगवान्को देनेकी प्रार्थना की; किंतु जब भक्तको भगवान्के बिना टलता हुआ नहीं देखा, तब पुरोहितजी नहरके किनारेसे एक सफेद गोल चिकना पत्थर ले आये और भक्तराजसे बोले—'ये काले-काले तो भगवान्के भाई बलरामजी हैं । असली भगवान् तो ये हैं, तुम इनको ले जाओ । मैं भी रात-दिन इन्हींको अपने पास रखता हूँ । बलरामजी घरका पहरा देते हैं । इसलिये बलरामजीको यहीं छोड़ दो मेरे पास और इन सफेद भगवान्को ले जाओ ।' भक्तराजको यह बात जँची तो नहीं; किंतु पुरोहितजीके समझानेपर भोले भगत मान गये और उन्हीं सफेद भगवान्को श्रद्धापूर्वक पत्तेके सिंहासनमें बैठाकर घर ले आये और नोहरेमें लकड़ीका सिंहासन बनाकर उन्हें स्थापित कर दिया और वैसे ही नहलाने लगे । वे रोज घंटी बजाकर बड़े प्रेमसे उन्हें भोग लगाते और दिनभर उनके पास टकटकी लगाये बैठे माला फेरते रहते ।

गाय चराना छोड़ देनेके कारण भक्तजीके पिता नत्थूरामजी उनपर बहुत कुपित हुए । उन्होंने उनके उस सफेद भगवान्को उठाकर फेंक दिया और बोले—'कुछ पढ़ा है न लिखा है, झूठे ही भक्त बनता है; गाय-भैंसें खराब हो रही हैं, जा उनको सम्हाल । हम खेती करनेवालोंके घर ऐसी भक्ति कैसे निभ सकती है । खबरदार ! आगेसे पूजा-पाठका ढोंग लगाया तो । अपने तो भगवान् गाय-भैंस ही हैं, जिनसे अपना काम चलता है । भगवान् भी तो इन्हींसे अपना काम चलाते थे ।'

भक्तजी बेचारे दुखी होकर गाय-भैंस चराने निकले । किंतु दिनभर उनका मन नहीं लगा । दिन-भर विचारते रहे कि 'आज भगवान् बिना नहाये ही बैठे होंगे । उनके आज भोग कौन लगायेगा ? पिताजीने क्रोधमें आकर उनको नालीमें तो नहीं फेंक दिया ? वे बेचारे क्या खायँगे ? मैं उनको क्यों छोड़कर आया !' इस प्रकार विचार करते हुए चिन्तामग्न हो गये । घरसे लायी हुई रोटियाँ बँधी पड़ी रहीं । जलतक ग्रहण नहीं किया । सायंकाल आकर भगवान्को सम्हाला, किंतु नत्थूरामजी सायंकाल भी कब उनको पूजा करने देते । वे और नाराज हुए और भगवान्को उठाकर उन्होंने नालीमें फेंक दिया । भक्तजीने दुखी होकर रातको कुछ नहीं खाया । सबके सो जानेपर उन्होंने चुपचाप नालीमेंसे ढूँढ़कर भगवान्को निकाला, स्नान करके पूजा की और अपने

विवशताके लिये क्षमा माँगी। रातभर बिस्तरोंमें भगवान्‌को छिपाये रखा। सुबह शौचादिसे निवृत्त होकर गाय-भैंसोंके साथ भगवान्‌को भी पायचेमें छिपाकर खेतमें ले गये। वहीं गायोंको नहरके किनारे छोड़कर नहरमें स्नान करके एक बीहड़ कुञ्जमें छिपाकर भगवान्‌का सिंहासन स्थापित किया और उपलब्ध फल-फूलोंसे पूजा करके उन्हें भोग लगाया। फिर माला जपकर गायोंको सम्हाला, किंतु मन भगवान्‌में रहा। इस तरह यही उनका नित्यकर्म हो गया। यों ज्यों-ज्यों भक्तजी कुञ्जमें प्रतिदिन पूजा करते रहे त्यों-त्यों उनका मन अधिकाधिक भगवान्‌की ओर आकर्षित होता गया। अन्तमें गायोंका सम्हालना छूट गया और वे दिनभर कुञ्जमें छिपे भगवत्सेवामें रहने लगे। कभी-कभी तो इतने तल्लीन हो जाते कि गायें घर पहुँच जातीं और वे भजन करते आधी रात बिता देते, जिससे नत्थूरामजी कुपित होते और आपको ढूँढ़कर ले जाते। आपके इस ढंगसे नत्थूरामजी बहुत दुखी हुए और आपको साम, दान, दण्डद्वारा बहुत समझाया; किंतु वे तो 'सूरदासकी कारी कामर चढ़ै न दूजो रंग'के अनुसार भगवद्-रंगमें गहरे रंग गये थे। कब मानने लगे। उनका तो एक मिनट भी भगवान्‌के बिना कटना कठिन हो गया। सुबह भोजन बाँधकर ले जाते; किंतु स्नान, पूजन और भोगमें ही दिन बिता देते। इस तरह शरीर दुर्बल हो गया। अपनी एकमात्र संतानको इस तरह निकम्मा देखकर कृषिजीवी पिताको कब चैन पड़ती। वे वैद्योंको दिखाकर उनका इलाज करवाने लगे; किंतु वैद्य बेचारे क्या करते, वे तो प्रेमदिवाने थे।

दैवयोग कहिये या भगवत्कृपा, एक दिन भक्तजी सदाकी तरह गाय-भैंसोंको नदीके किनारे चरने छोड़कर पूजा करके माला फेरने लगे। इधर गायें नदीका किनारा छोड़कर खेतोंमें चरने लगीं। खेतवालोंको पहलेसे ही आपसे यह शिकायत थी, इसलिये कुपित होकर वे गायोंको पासके 'कौल' ग्रामके थानेमें जमा करवा आये। साथ ही थानेदारसे आपकी शिकायत भी बड़े जोरसे कर दी गयी।

जब नत्थूरामजीको यह ज्ञात हुआ, तब वे बहुत दुखी हुए और गायोंको थानेसे वापस लानेको थानेमें गये। थानेदारने आपको बहुत खरी-खोटी सुनायी और सौ रुपये जुर्माना जमा करके गायें ले जानेको कहा। जब बहुत समझानेपर भी थानेदार नहीं माना, तब अत्यन्त दुखी होकर वे लौट आये। रास्तेमें ही भक्तजीका कुञ्ज पड़ता था। भक्तजीको ढूँढ़ते हुए जब वे कुञ्जमें पहुँचे, तब क्या देखते हैं सामने बड़े सुन्दर पत्तोंके सिंहासनपर शालग्रामजी विराज रहे हैं। पासमें द्वादशवर्षीय बालक भक्त नन्दरामजी माला लिये ध्यानमग्न हैं। यह देखते ही दुखी ब्राह्मण आगबबूला हो उठे और शालग्रामजीपर झपटे। पर भक्तवर भला, ठाकुरजीको क्यों छोड़ने लगे? तुरंत ठाकुरजीको उन्होंने अपनी छातीके नीचे छिपा लिया और भक्त प्रह्लादकी तरह पिताजीकी लातें-घूँसे सहते रहे। पिताजीको बड़ा गुस्सा आया और वे कड़ककर बोले कि आज तुम्हारे ठाकुरको मैं नहरमें डुबा दूँगा; किंतु बहुत चेष्टा करनेपर भी वे भक्तसे भगवान्‌को अलग नहीं कर सके। अन्तमें चेतावनी देकर चले गये कि 'सायंकालसे पहले यदि गायोंको वापस न लाये तो मुझे मुँह न दिखाना। मुझे ऐसे कामचोर, निकम्मे पुत्रकी जरूरत नहीं। पर याद रखना, सायंकालतक गायें नहीं पहुँचीं तो तुम्हें और तुम्हारे ठाकुरको निश्चय ही नहरके पुलके नीचे फेंक दिया जायगा।' यों कहकर घर चले गये।

भोले भक्तजी भी अपने भगवान्‌को बड़ी विपत्तिमें पड़े समझकर भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करके गायें लाने थानेमें गये; किंतु बहुत अधिक कहा-सुनी करनेपर भी जब मुसलमान थानेदार नहीं माने, तब उन भगवद्भक्तको भी क्रोध आ गया। वे कहने लगे कि 'तू क्या

चीज है। मेरे भगवान् खुद मुझे गाय लाकर देंगे। मैं तुझे सौ रुपये तो क्या, सौ पैसे भी नहीं दूँगा। तू पछतायगा।' यों कहकर भक्तजी पुनः कुञ्जमें आकर ध्यानस्थ हो गये।

इधर भगवान्‌के दरबारमें भक्तकी आवाज पहुँची। दम्भी थानेदारके पेटमें अचानक भयंकर शूल हो गया और थानेदार साहब घबराये। डाक्टरोंको भी जवाब देना पड़ा। तब उन्हें दुःखमें भक्तजीकी याद आयी। उधर खिड़कमें सुबहसे गायें बंद थीं, अचानक पहरेदार सिपाहियोंको खिड़केमेंसे ंशी-जैसी सुरीली आवाज सुनायी दी। उन्होंने जब आकर देखा तो गायोंके सामने हरी-हरी घास पड़ी है और वे मजेमें चर रही हैं, घास ताजी लायी हुई है। यह देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि बंद खिड़कमें ताजी घास कौन डाल गया और यह वंशीकी आवाज कहाँसे आ रही है! अन्तमें वे बहुत डरकर थानेदारके पास पहुँचे। इधर थानेदार भी उदर-शूलसे परीशान था। तुरंत पेट पकड़े हुए खिड़कके पास आया, दूरसे वंशीकी ध्वनि उसे भी सुनायी दी। पास जाकर देखा तो गायें चर रही हैं और उसका पेट-दर्द भी कुछ कम था। आश्चर्यचकित होकर थानेदारने सिपाहियोंसे कहा—'शामको जो तुलसी-की माला पहने लड़का आया था, वह बहुत चमत्कारिक आदमी जान पड़ता है। वह कोई बड़ा भक्त है। उसने मुझे कहा था कि मेरी गायें भगवान् छुड़ायेगा। तुमको गायें छोड़नी पड़ेंगी और दुःख तुम पाओगे। तभीसे मैं सचमुच दुखी हूँ। अब मेरा पेट कुछ ठीक है। अतः अब उस भक्तकी गायें छोड़ दो।' तुरंत गायें संग्रामपुरकी ओर हाँक दी गयीं।

इधर सायंकाल जब गायें नहीं पहुँचीं, न भक्तजी ही आये, तब उनके पिता नत्थूरामजी चिन्तातुर होकर सौ रुपयेका नोट जेबमें डालकर 'कौल' थानेको चल पड़े। रास्तेमें उन्होंने भक्तजीकी कुञ्जको देखा तो उन्हें वैसे ही ध्यानस्थ देखकर उनको बहुत क्रोध आया। पुनः भक्तजीपर मार पड़ने लगी, पर भक्तने भगवान्‌को नहीं छोड़ा। उन्होंने भगवान्‌को छीनकर नहरमें डालनेकी बहुत कोशिश की, परंतु सब व्यर्थ। अन्तमें निराश होकर वे थानेकी ओर चल दिये; किंतु रास्तेमें अंटी सँभाली तो नोट गायब था। अन्तमें दुखी होकर नोट ढूँढ़ते हुए वे पुनः कुञ्जमें आये और भक्ति-मग्न पुत्रको पुनः ध्यानसे देखने लगे। मनुष्य कितना ही नास्तिक और स्वार्थी हो, दुःखमें उसे भगवान्‌का स्मरण अपने-आप हो जाता है। अतः उनके भी दोनों हाथ स्वतः ही जुड़ गये। पिताजीको भगवान्‌की ओर विनम्र-भावसे झुकते देखकर भक्तजी हर्षमग्न हो गये और बोले, 'पिताजी! सब कुछ भगवान्‌पर छोड़ दीजिये। देखिये, सब चिन्ता क्षणमात्रमें दूर हो जायगी। तनिक दुःखमें उस शरणागतभयहारीको पुकारिये तो। देखिये, क्या होता है।' पुत्रकी बातसे पिताकी आँखोंमें आँसू आ गये और बड़े भक्तिभावसे उन्होंने भगवान्‌को सिर नवाया। सिर नवाते ही उड़कर सिंहासनके नीचे गये हुए नोटको देखा। इधर जब उन्होंने नोट उठाया, उसी क्षण उधर गायोंके गलोंमें बँधी घंटियोंकी आवाज सुनायी दी। साथमें वंशीका मधुर स्वर भी। पिताने तुरंत ध्यानमग्न पुत्रकी ओर देखा। पुत्रने भी पिताको प्रणाम किया और कहा कि 'पिताजी! सब भगवान्‌की कृपा है। मेरे पहले भगवान् हैं, फिर आप भी भगवान्‌के समान हैं। अतः सब कुछ छोड़कर आप भगवान्‌की भक्ति करें।'

अन्तमें पिता-पुत्र दोनोंने मिलकर भगवान्‌की बड़ी श्रद्धासे पूजा की और उन्हें भोग लगाया। चरणामृत लेकर भगवान्‌का गुणगान करते हुए गाय-भैंसोंको लेकर दोनों घर आये। फिर उन्होंने भक्तजीको कुछ नहीं कहा। तबसे गाय और भैंसें किसीके खेतमें नहीं गयीं। भक्तजी

पुनः इसी तरह कुञ्जमें तल्लीन रहने लगे । गाँववालोंमें अब भी कई बूढ़े लोगोंके मुँहसे भक्तजीकी कई आश्चर्यजनक बातें सुनी जाती हैं । उनका कथन है कि हमने स्वयं भक्तजीकी गायोंके पीछे वंशीकी आवाज सुनी है । लोगोंका विश्वास है कि भक्तजीकी गायें खुद भगवान् चराते थे । भगवान्ने सदा भक्तके लिये संकट सहे हैं । यदि उन्होंने भक्तजीके लिये गायें चरायी हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

धन्य है भगवान् और उनके प्रिय भक्तोंको । बोलो भगवान् और उनके प्रिय भक्तकी जय !

◆

सीखनेकी बात

(लेखक—श्रीविजयमुनिजी साहित्यरत्न)

(१)

तीन वणिक्पुत्र

मनुष्य-जीवन पाकर भी जो साधना नहीं कर सका, लाभ नहीं उठा सका, जीवनको उच्चतर एवं सुन्दर नहीं बना सका, उसका जीवन व्यर्थ है, निष्फल है ।

एक नगरमें धनवान् वणिक् रहता था । उसके तीन पुत्र थे । वह बुढ़ापेमें जा पहुँचा था । उसने विचार किया—'अपने घरका भार कौन-से पुत्रको सौंपूँ ? कौन घरको सँभालकर रख सकता है ? मेरे जीवनका अब कोई भरोसा नहीं है ।'

चतुर वणिक्ने विचार किया कि इन पुत्रोंकी परीक्षा करनी चाहिये । तीनोंको एक-एक हजार देकर विदा किया और कहा—'विदेशमें जाकर व्यापार करो और फलो-फूलो ।' पिताका आशीर्वाद लेकर तीनों तीन दिशाओंमें चल पड़े । दायित्वका भार मनुष्यको चतुर बना देता है ।

बड़ा लड़का एक बड़े नगरमें गया । वहाँ सब लोगोंसे प्रेमका व्यवहार रखा । अल्पकालमें ही उसने हजारसे लाख कर लिये ।

बीचका लड़का लाभ नहीं कमा सका, वृद्धि नहीं कर सका । परंतु उसने मूल रकम सुरक्षित रखी । न पाया और न खोया ।

छोटा लड़का अयोग्य और आलसी था । पड़ा-पड़ा खाता रहा । अल्पकालमें ही दरिद्र हो गया । आय बिनाका व्यय मनुष्यको दरिद्र ही बनाता है ।

तीनों लड़के जब पिताके बुलानेपर वापस आये, तब बड़ा प्रसन्न था, बिचला भी खुश था, परंतु छोटा उदास और खिन्न था । चतुर पिताकी आँखोंने सब जान लिया । सबको अलग-अलग एकान्तमें पूछा । सबने अपनी राम-कहानी कह सुनायी । बड़ेने पिताके हाथोंमें लाख दिये । बिचलेने मूल पूँजी लौटा दी और छोटेने लज्जासे सिर नीचे झुका लिया ।

पिताने बड़ेको घरका स्वामी बनाया, बिचलेको धनकी रक्षाका भार सौंपा और तीसरेको घरसे बाहर निकाल दिया ।

संसारमें जीव भी तीन प्रकारके होते हैं । पुण्य पिताने मनुष्य-भवकी पूँजी सौंपी । एक मनुष्यसे देव बनता है, दूसरा मनुष्यका मनुष्य ही रहता है और तीसरा मनुष्यसे नारकी जीव और पशु बनता है । अपने लक्ष्यपर चलनेवाला कभी दुखी नहीं होता ।

(उ० अ० ७ गा० १४, १५ नि० गा० २४७)

(२)

विचारमूढ़

जो मनुष्य अल्प वस्तुके लिये प्रभूत वस्तुका परित्याग करता है, वह विचारमूढ होता है ।

एक दरिद्र मनुष्य था। विचार किया उसने—देशमें रहनेसे कुछ नहीं मिलता, विदेश चलकर धन कमाना चाहिये। धनकी तृष्णा बड़ी बलवती होती है। वह विदेश गया और वहाँ कठोर श्रम करके एक हजार स्वर्णमुद्राएँ कमाकर वापस लौट रहा था।

मार्गमें एक धर्मशालामें ठहरा। भोजन किया, विश्राम किया। फिर चलनेको तैयार होकर चल भी पड़ा। दो-चार कोस आगे जानेपर उसे ध्यान आया।

मेरी एक कौड़ी गिर पड़ी है या किसीने ले ली है। निश्चय ही मेरा यह नुकसान वहीं हुआ है, जहाँपर भोजन किया था। सावधानी जीवनमें आवश्यक है, परंतु अधिक चातुर्य भी बुरा होता है।

उसने विचार किया—मेरे पास जो धन है, उसे वहाँ ले जानेमें खतरा है। क्यों न उसे यहीं कहीं एकान्तमें गाड़कर अपनी कौड़ी ले आऊँ! उसने एक झाड़ीके पास अपनी हजार स्वर्ण-मुद्राएँ गाड़ दीं और कौड़ी लेने चल पड़ा।

एक चोर छिपा हुआ यह सब देख रहा था। वह ज्यों ही अदृश्य हुआ, त्यों ही चोर मुद्राएँ ले भागा। वहाँ उसे कौड़ी नहीं मिली और इधर भी धन गायब था। अपनी मूर्खतापर रोने लगा। पछतावा करने लगा। मनुष्य भूल करके रोता है, पहले वह सोच नहीं पाता। वह फिर दरिद्र-का-दरिद्र हो गया।

जिस प्रकार उस मूर्खने एक कौड़ीके लिये हजार मुद्राएँ खो दीं, उसी प्रकार मनुष्य विषयोंके लिये अपने अमूल्य मानव-जीवनको खो रहा है।

(उ० अ० ७, नि० गा० २४७)

(३)

काम-कुम्भ

अज्ञानी मनुष्य क्लेश पाता है और ज्ञानी सुखी रहता है। ज्ञानके बिना जीवन सूना है।

जंगलमें एक यक्षायतन था। वहाँ रहकर एक पुरुष यक्षकी भक्ति करता था। प्रसन्न होकर यक्षने उस विद्यावान् पुरुषको काम-कुम्भ दिया। वह प्रसन्न होकर वहाँसे चल पड़ा।

मार्गमें थक जानेसे वह एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँपर एक कठियारा भी था। विद्यावान्ने अपने काम-कुम्भसे कहा—

'मुझे खानेको भोजन, पीनेको शीतल जल और सोनेको कोमल शय्या लाकर दे।' कहते ही सब तैयार था। कठियाराने सोचा—'यदि इस विद्यावान्की सेवा मैं करूँगा तो यह सुख मुझे भी मिल सकता है। सेवामें अपार शक्ति है।' कठियाराकी सेवासे वह विद्यावान् पुरुष प्रसन्न हो गया। बोला—

'तुझे क्या चाहिये? काम-कुम्भ या काम-कुम्भकी विद्या।' कठियाराने सोचा—'विद्या-साधनमें बहुत क्लेश है और अनेक बाधाएँ भी हैं।' उसने काम-कुम्भ ही माँग लिया। मनुष्य शीघ्र ही फलकी अभिलाषा करने लगता है। कठियाराको काम-कुम्भ मिल गया। वह सुखी हो गया। सुख पाकर मनुष्य बेभान हो जाता है।

एक बार सुरा पीकर कठियारा नाचने लगा कि सिर-पर रखा काम-कुम्भ गिरकर फूट गया। कठियाराको अत्यन्त पीड़ा हुई। उसने सोचा—

'यदि मैं काम-कुम्भकी विद्या सीख लेता तो इतना दुःख न होता। अब काम-कुम्भ कहाँ मिलेगा?'

जैसे कठियारा विद्यावान् न होनेसे पश्चात्ताप करने लगा था, वैसे ही जो साधक स्वयं अपनी साधनासे ज्ञान प्राप्त नहीं करता, उसका सुख स्थिर नहीं होता और उसे पछताना पड़ता है। (उ० अ० ५, गा० १)

(४)

भिखारीकी माँग

मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। धन, जन और वैभवका मिलना सुगम है, परंतु मनुष्य-भव मिलना सरल नहीं है।

एक चक्रवर्तीके द्वारपर एक भिखारी आया । बारह सालके बाद उसे चक्रवर्तीके दर्शन हुए । चक्रवर्तीने उसे देखकर सोचा—यह गरीब है । सहायताकी अभिलाषासे आया है । चक्रवर्तीने पूछा—'क्या चाहता है ?' भिखारी बोला—

'मुझे अन्य कुछ भी नहीं चाहिये । केवल एक व्यवस्था चाहता हूँ । आपके राज्यमें जितने भी नगर हैं, जितने भी ग्राम हैं, उनमें एक-एक घरसे एक-एक दिन मुझे भोजन मिल जाना चाहिये । प्रारम्भ आपके घरसे होगा और जबतक दुबारा आपके घरकी बारी न आ जाय, तबतक यही क्रम चालू रहना चाहिये । इतने विशाल राज्यमें क्या कभी दुबारा बारी आ सकती है ?'

चक्रवर्तीने हँसकर कहा—'इतनेसे क्या होगा ? तुझे एक देशका राजा ही बना देता हूँ । राज्यसिंहासनपर बैठकर आनन्द करना ।' भिखारीने कहा—'नहीं महाराज ! मुझे राज्य नहीं, भोजन ही चाहिये ।' चक्रवर्तीने भोजन-व्यवस्था कर दी । वह प्रसन्न हो गया ।

पहले दिन चक्रवर्तीके यहाँ भोजन किया । प्रसन्नभावसे चक्रवर्तीने उसे वस्त्र-युगल और स्वर्णमुद्राएँ भी दीं । नगर और ग्रामके घरोंमें वह भोजन करता रहा । क्या कभी पुनः वह चक्रवर्तीके घर भी पहुँच सकेगा ? सम्भव है, कदाचित् पहुँच भी जाय ?

परंतु एक बार प्राप्त मनुष्य-जन्म पुनः प्राप्त होना कठिन है । (उ० अ० ३, नि० गा० १५९)

भारतीय नारी

(लेखक—डॉ० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी)

स्त्री और पुरुषकी समानताकी बात करना केवल एक प्रतिक्रिया है । ये वस्तुतः एक दूसरेके पूरक हैं । भारतवर्षके सर्वाधिक प्राचीन धर्मग्रन्थ मनुस्मृतिमें स्पष्ट उल्लेख है—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥
(१ । ३२)

अर्थात् उन हिरण्यगर्भने अपने उस शरीरके दो भाग किये, जिसमें आधेसे पुरुष और आधेसे स्त्री बन गया । उस स्त्रीमें ही उसने विराट् पुरुषकी रचना की ।

स्पष्ट है कि नारी नरकी पूरक ही नहीं, अपितु उसको जन्म देनेवाली भी है । इस विचारकी पुष्टि हमारे वैवाहिक वेद-मन्त्रोंद्वारा हो जाती है । वहाँ पुरुषको साम तथा स्त्रीको ऋक् कहकर यह बताया जाता है कि पतिका कर्तव्य पत्नीको सान्त्वना प्रदान करना है; परंतु सान्त्वना देनेकी शक्ति पतिको पत्नीसे ही प्राप्त होती है । सप्तपदीमें पति पत्नीको 'सखा' बनानेकी कामना करता है और धान बोनेवाले लोकाचारके अन्तर्गत पत्नी स्पष्ट कहती है कि 'जबतक चावलके साथ छिलका चिपका है, तभीतक धानका पल्लवित होना सम्भव है ।' आकाश और पृथ्वीके मिलनके समान पुरुष और नारीका मिलन भी लोक-कल्याणके लिये ही है ।

स्त्रीके दो स्वरूप हैं—माता और कामिनी । प्रथम वन्दनीय है, द्वितीय निन्दनीय । खेदका विषय है कि अधिकांश आधुनिक नारियाँ अपने मातृत्वको छोड़कर कामिनीत्वकी ओर ही अधिक ध्यान देने लगी हैं । कभी वे अविवाहित रहनेकी बात करती हैं और कभी अर्द्धनग्नावस्थामें रखनेवाले वस्त्र पहनकर अधिकतम पुरुषोंको अपनी ओर आकर्षित करनेमें प्रयत्नशील होती हैं । परिणाम सामने है । पुरुषवर्ग उनको केवल विलासकी सामग्री समझने लगा है । स्त्रीका कामिनीत्व

ही पुरुषके पशुत्वके अधिक अनुकूल पड़ता है; क्योंकि वह अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसको खरीद सकता है। हमारे विचारसे जो पुरुष नारी-स्वातन्त्र्यका ढिंढोरा पीटते हैं, उनमें अधिकांश नारीके कामिनीत्वको ऊपर उठाकर देखनेकी कामना करते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो वे अपने हृदयपर हाथ रखकर बतायें कि वे अपने घरमें अपनी बहिन, अपनी माता तथा अपनी पत्नीके प्रति किस प्रकारका व्यवहार करते हैं। यह देखकर हमारे हृदयको मार्मिक वेदना होती है कि आजके कामुकता-गर्भित वातावरणमें 'माताजी' एवं 'बहिनजी' आदि शब्द अपनी स्वाभाविक पवित्रताका परित्याग कर चुके हैं। माता अपनी संतानके प्रति अनन्य प्रेम रखती है। यह प्रेम सर्वथा निःस्वार्थ एवं अक्षय होता है। परमात्माके विपुल प्रेमका आभास हमको मातृप्रेममें ही प्राप्त होता है। उस आनन्दसागरके प्रेम-बिन्दुको हम मातृ-हृदयमें प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाते हैं। फलतः माताके स्वरूपकी जितनी वन्दना की जाय, थोड़ी है। यथा—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(मनु० २। १४५)

अर्थात् आचार्य उपाध्यायसे दसगुना, आचार्यसे सौ गुना अपना पिता और पितासे हजार गुनी श्रेष्ठ अपनी माता मानी गयी है। भगवान् श्रीरामने जब अपने वनवासका समाचार माता कौसल्याको सुनाया, तब उन्होंने एक ही उत्तर दिया था—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

भारतकी नारीने माता, कुल-ललना, गृहलक्ष्मी आदि रूपोंमें सुशोभित होना ही अपना सर्वस्व माना है और उसके इस स्वरूपके सम्मुख बड़े-से-बड़े पुरुषको नतमस्तक होना पड़ा है। अपने इस गौरवको अक्षुण्ण रखनेके लिये ही विदुषी महिलाओंने पातिव्रत-धर्मकी व्यवस्था की थी। कितने दुर्भाग्यकी बात है कि माताओंद्वारा व्यवस्थित धर्मको आजकी नारी पुरुषद्वारा नारीके ऊपर लादा जानेवाला बोझा मानने लगी है।

जन्मान्तरका सम्बन्ध, हाथकी पवित्रता, नारीका तपोमय स्वरूप, कन्यादानकी श्रेष्ठता, स्त्रीको प्रसन्न रखनेका यत्न, जाया-पद तथा दम्पतिकी एकरूपता—ये सात भाव सर्वोच्च आदिम-संस्कृतिके अन्तर्गत हैं, जो मानव-जीवनकी पूर्णता और दाम्पत्य-प्रेमकी पवित्रताके द्योतक हैं। उपनिषत्कारने स्पष्ट घोषणा की है कि नारीके दिव्य रूपका दर्शन किये बिना योगी कैवल्य प्राप्त नहीं कर सकता।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
(श्वेताश्वतर० १। ३)

लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, शक्ति आदिके अतिरिक्त विद्या और भक्ति-रूपोंमें भी नारीकी सत्ता ही विद्यमान है। उसका कामिनीत्व हमें नीचे गिराता है और मातृत्व हमें देवत्वकी ओर उठानेकी क्षमता रखता है। कामिनी अविद्या है और माता विद्या है। आत्म-त्याग मानवताका लक्षण है। मानवको इसकी शिक्षा अपनी माताके अञ्चलमें ही प्राप्त हो सकती है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग-तल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवनके सुन्दर समतल में॥

पतिमें प्रभुकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके नारी अपनत्वका समर्पण कर देती और वह आत्मनिवेदन इतना पूर्ण एवं गम्भीर होता है कि कोई परिस्थिति, यहाँतक कि मृत्यु भी उसे उसकी स्वात्मस्थितिसे च्युत नहीं कर सकती। ऐसे उच्च आदर्शपर सुदृढ़ भारतीय नारीके सम्मुख ब्रह्माण्डकी समस्त शक्तियाँ सदैव निस्तेज एवं निष्प्रभ रही हैं। सावित्री-सदृश सुभार्याके सम्मुख साक्षात् यमराज आज भी पराजित हो जायँगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

शारीरिक कसौटीपर नर और नारीमें मौलिक अन्तर है, परंतु मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियोंसे उनमें कोई अन्तर नहीं है। इस आधारपर कार्य-क्षेत्र विभिन्न होते हुए भी वे समानरूपसे उन्नति एवं विकास करनेके अधिकारी हैं। इस मार्गमें यदि कुछ बाधाएँ आ गयी हैं तो यह हमारी परिस्थितियोंका दोष है और हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें दूर कर दें। परंतु यह कहना कि चूँकि पुरुषवर्ग व्यभिचारी हो गया है, इस लिये स्त्रियोंका कल्याण भी उसी मार्गके अवलम्बनमें है, हमारे विचारसे मानवकी बुद्धि और उससे अधिक नारीके पवित्र नारीत्वका उपहास करना है। हमारी नारियोंको समझ लेना चाहिये कि भारतीय इतिहासको गौरवान्वित करनेवाली नारियाँ—केरलकी तारा, पद्मा, कलावती, दुर्गावती, कर्मदेवी, नीलदेवी, अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई आदि—न तो रातको पुरुषोंके साथ नाचनेके लिये जाया करती थीं और न वे घरका काम-काज छोड़कर, अपने पुत्र एवं पतियोंको घरपर बीमार अथवा भूखा छोड़कर, बड़ी-बड़ी सभाओंमें अपने स्वरूपकी झाँकी दिखानेको ही उधार खाये बैठी रहती थीं।

भारतीय नारीका स्वरूप 'श्री' या 'गृहलक्ष्मी' का है। इस स्वरूपकी पूजा करके ही समाज सुखी रह सकता है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
(मनु० ३।५६)

क्योंकि महर्षि गर्गके मतानुसार—

यद्गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद्गृहवासिनी।
देवताः कोटिशो वत्स न त्यजन्ति गृहं हि तत्॥

अर्थात् 'जिस घरमें सद्गुणसम्पन्ना नारी सुखपूर्वक निवास करती है, उस घरमें लक्ष्मीजी निवास करती हैं। हे वत्स! करोड़ों देवता भी उस घरको नहीं छोड़ते।'

पुरुषको नारीके प्रति उपेक्षाका भाव छोड़ना होगा और नारीको अपनी हीनत्वभावनाका परित्याग करना होगा। जिस नारीने महिषमर्दिनीके रूपमें असुरोंके गर्वको और उमा हैमवतीके रूपमें देवोंके मोहको चूर्ण किया था, उसी नारीको स्व-स्वरूपका स्मरण करके मानवका कल्याण करनेके लिये आगे आना है।

बड़भागिनी यशोदा

आनँद प्रेम उमंगि जसोदा खरी गुपाल खिलावै।
कबहुँक हिलकै किलकै जननी मन सुख सिंधु बढ़ावै॥
दै करताल बजावति गावति राग अनूप मल्हावै।
कबहुँक पल्लव पानि गहावै, आँगन माझ रिंगावै॥
सिव सनकादि सुकादि ब्रह्मादिक खोजत अंत न पावैं।
गोद लिएँ ताकौं हलरावै, तोतरे बैन बुलावै॥
मोहे सुर नर किंनर मुनिजन, रबि रथ नाहिं चलावै।
मोहि रहीं ब्रजकी जुवती सब, सूरदास जस गावै॥

श्रीरामचरितमानसमें स्वप्नप्रसङ्ग

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी)

निद्रावस्थामें हम सभी स्वप्न देखते हैं। यह एक रहस्यमय विषय है। निद्रित अवस्थामें स्वप्न-परियाँ हमें किसी दूर देशमें ले जाती हैं। इस विचित्र देशकी सारी बातें ही निराली हैं। हमें विचित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं। कभी-कभी हम अपनेको ही रोते हुए, हँसते हुए या गाते हुए देखते हैं। जाग्रत् अवस्थामें आते ही स्वप्न-परियाँ फुर्रसे एकके बाद एक उड़ जाती हैं। हम देखे हुए स्वप्नोंको पूरी तरह याद भी नहीं रख सकते। कुछ ही स्वप्न, जिनका स्पष्ट प्रभाव मनपर पड़ता है, हमें याद रह जाते हैं। हमें प्रतीत तो यह होता है कि हमने सारी रात स्वप्न देखनेमें बितायी है, परंतु वास्तवमें स्वप्न कुछ ही क्षणोंका होता है। अधिकांश स्वप्न निरर्थक और असत्य होते हैं, जैसा कि श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वयं वर्णन किया है—

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

परंतु कुछ स्वप्न आगामी दुःखपूर्ण या सुखपूर्ण प्रसङ्गोंके परिचायक होते हैं और प्रायः भविष्यमें सत्य निकलते हैं। शुद्ध और निर्मल चित्तवाले सज्जनोंके मनमें प्रायः भावी घटनाओंकी प्रतिच्छाया पड़ती है और वे इन घटनाओंके सूचक स्वप्न देखते हैं।

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित स्वप्न इसी कोटिके हैं।

× × × ×

सर्वप्रथम शिव-पार्वतीके विवाह-प्रसङ्गमें माता पार्वती-द्वारा स्वप्न देखे जानेका वर्णन है। दक्षकन्या सती अपने पति शिवकी आज्ञा न मानकर पिताके यज्ञमें भाग लेने गयीं। वहाँ शिवका अपमान देखकर उन्होंने योगाग्निद्वारा शरीरका परित्याग कर दिया। भगवान् शिव एकाकी रह गये। सतीने ही प्राणेश्वर शिवसे पुनर्मिलनके लिये पर्वतराज हिमाचलके गृहमें पार्वती-रूपसे अवतार ग्रहण किया। प्रभुकी इच्छावश देवर्षि नारद हिमाचलके यहाँ गये। पार्वतीके भविष्य-वर्णनके साथ ही उन्होंने उमा-महेश्वरके भविष्य सुखद मिलनका भी संकेत किया। साथ ही अपने स्वभावके अनुरूप शिवके अशिव वेषका अतिरञ्जित वर्णन उन्होंने किया। पुत्रीके अमङ्गलकी कल्पनासे शङ्कित होकर हिमाचल-पत्नी मैना गिरिजाको समझाने लगी। जगज्जननी गौरीने माताके बोधके हेतु अपनेद्वारा देखे हुए स्वप्नका वर्णन करके उनके मनका क्षोभ दूर किया और उसीके अनुसार वे तपमें प्रवृत्त हुईं। गोस्वामीजीने लिखा है—

बारहिं बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई।
जगत मातु सर्बग्य भवानी। मातु सुखद बोलीं मृदु बानी।
सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावउँ तोहि।
सुंदर गौर सु बिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि॥
करहि जाइ तपु सैल कुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी।
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा।
तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जगत्राता।
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा।
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी।
सुनत बचन बिस्मित महतारी। सपन सुनायहु गिरिहि हँकारी।
मातु पितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरषाई।
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए बिकल मुख आव न बाता।
बेदसिरा मुनि आइ तब सबहि कहा समुझाइ।
पारबती महिमा सुनत रहे प्रबोधहि पाइ॥

यह स्वप्न भविष्यमें सत्य निकला। गिरिकन्या पार्वतीके घोर तपने शम्भुके आसनको हिला दिया। हिमकन्याकी दृढ़ प्रीतिके फलस्वरूप श्रीशंकर और पार्वतीका पुनर्मिलन हुआ।

× × ×

दूसरे स्वप्नप्रसङ्गमें कैकेयीद्वारा स्वप्न देखे जाने

विवरण है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कैकेयीका स्वप्न सत्य तो अवश्य हुआ परंतु विकारयुक्त मानसवाली होनेके कारण वह उस स्वप्नका आशय गलत समझी। स्वप्न वास्तवमें उसके पति राजा दशरथकी मृत्यु, प्रियपुत्र भरतका क्षोभ और पुरवासियोंकी उसके प्रति घृणाका परिचायक था। श्रीमद्गोस्वामीजी कैकेयीके मुखसे मन्थराके प्रति कहलाते हैं—

फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली॥
सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकति मोरी॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥

× × × ×

इसीके साथ-साथ कैकेयीनन्दन भरतने अपने मामाके यहाँ निवास करते हुए दुःस्वप्नोंका अवलोकन किया। वे शुद्ध और निर्मल हृदयके महात्मा पुरुष थे। अतएव वे उनका मतलब समझ सके। साथ ही उनके निवारणार्थ उन्होंने प्रयत्न भी किया। यह प्रसङ्ग बड़ा करुण है। भरतजीके जीवन-सर्वस्व भगवान् श्रीराम जगज्जननी सीता और प्रिय भ्राता लक्ष्मणसहित पिताके आज्ञा-पालन हेतु वनको चले जाते हैं। अयोध्यामें महान् शोक छाया हुआ है। श्रीरामकी विरह-ज्वालामें दग्ध होकर महाराज दशरथ प्राणत्याग कर देते हैं। इस दुर्घटनाकी प्रतिच्छाया भरतजीको, जो अयोध्यासे सहस्रों योजन दूर केकय देशमें अपने ननिहालमें हैं, नित्यप्रति स्वप्नमें दीखती है। जबसे इस दुर्घटनाका सूत्रपात हुआ है, तभीसे उन्हें भयंकर स्वप्न आने लगते हैं। उनका साधु-हृदय शङ्कित हो उठता है। दुःस्वप्नके परिहार हेतु वे नित्यप्रति शिवार्चन और दान-पुण्य करते हैं। मानसकारने इस प्रसङ्गको निम्नलिखित प्रकारसे वर्णन किया है—

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥
बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥

एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।
गुरु अनुसासन श्रवन सुनि चले महेस मनाइ॥

इसके पश्चात् हुई घटनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि श्रीभरतजीका स्वप्न बिलकुल सत्य था।

× × × ×

इसके अनन्तर जगज्जननी सीताजीने स्वप्न देखा। भरतजी ननिहालसे अयोध्या पधारे। अपने प्राणधन श्रीरामके वनगमनका समाचार सुन उनके हृदयपर वज्रपात हुआ। प्रिय भ्राताका वनगमन और पिताका मरण केवल उनके कारण हुआ, इसकी कल्पना करके उनका हृदय रो उठा। वे साधुपुरुष तुरंत ही मन्त्रणा करके श्रीरामको लौटा लानेके उद्देश्यसे चित्रकूटकी ओर चल पड़े। भगवान् राम उस समय चित्रकूटमें पर्णकुटी बनाकर निवास कर रहे थे। भरतजीके आगमनकी घटनाको सीताजीने अपने स्वप्नमें देखा। भगवान् श्रीरामचन्द्रसे उन्होंने उसका वर्णन भी कर दिया। इसका तुलसीदासजीने निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखी सास आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोचबस सोच बिमोचन॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने॥

यह दुर्घटना, जिसकी छाया सीताजीने स्वप्नमें देखी, श्रीराम-भरतादिके आगामी मिलापकी परिचायक थी। इस समयतक महाराज दशरथ परलोक सिधार चुके थे, परंतु श्रीराम इत्यादिको इसका पता नहीं था। अतः जब सीताजीने महाराज दशरथकी पत्नियों अर्थात् अपनी सासोंको मलिन-मन, दुखी तथा और ही प्रकारकी अर्थात् विधवा-वेषमें देखनेका हाल श्रीरामसे कहा, तब उन्होंने पिताके अमङ्गलकी आशङ्कासे सोच किया। उनके नेत्र अश्रुपूरित हो गये। धर्मशास्त्रमें

दुःस्वप्नोंके परिहार-हेतु उल्लिखित विधिद्वारा उन्होंने इस स्वप्नका परिहार करना चाहा । तदनुसार—

अस कहि बंधु समेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥

अर्थात् भाई-समेत स्नानकर शिवपूजन किया और साधु पुरुषोंका सम्मान किया । यह घटना, जो सीताजीने देखी थी, श्रीभरतजीके स्वप्नकी ही भाँति भूतकालमें घटित हो चुकी थी । महाराज दशरथकी पत्नियाँ काफी समय पूर्व पतिका निधन हो जानेसे मलिन-मन, दुखी और विधवा हो चुकी थीं । केवल भरतमिलापकी घटना स्वप्न देखे जानेके कुछ काल बाद ही घटित हुई ।

× × × ×

अन्तिम स्वप्न-प्रसङ्गमें राक्षसी त्रिजटाद्वारा स्वप्न देखे जानेका विविध विवरण मिलता है । त्रिजटा लङ्कामें निवास करनेवाली रावणकी दासी थी । पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण वह भले विचारोंकी थी । श्रीराम-जानकीके चरणोंमें उसका स्वाभाविक स्नेह था । यही कारण है कि उसका देखा हुआ स्वप्न भी शत-प्रति-शत सत्य हुआ ।

जब दशानन रावण सीताको साम और दानकी नीतिसे समझाकर हार गया, तब उसने तीसरी (दण्डकी) नीतिका आश्रय लेना चाहा । भयंकर तलवार निकालकर वह सीताको मारने दौड़ा । उस समय राजमहिषी मन्दोदरीने उसके चरण पकड़कर विविध प्रकारसे समझा-बुझाकर उसका रोष शान्त किया । रानीके बाधा देनेपर रावणने सीताका प्राणवध तो नहीं किया, परंतु बहुत-सी दुष्टा राक्षसियोंको बुलाकर उन्हें सीताको त्रास देनेकी आज्ञा दे दी । वे मायाविनी निशाचरियाँ जगन्माता सीताकी महिमा न जानते हुए उन्हें विविध प्रकारके मायामय भयंकररूप दिखाकर डराने लगीं । सीता भयसे विह्वल हो गयीं । त्रिजटाने यह दशा देख कर सीताके दुःखका निवारण करनेके हेतु अपना स्वप्न राक्षसियोंको सुनाया । गोस्वामीजी लिखते हैं—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका । रामचरन रति निपुन बिबेका ॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥
सपनें बानर लंका जारी । जातुधान सेना सब मारी ॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा । मुंडित सिर खंडित भुज बीसा ॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई । लंका मनहुँ बिभीषन पाई ॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई । तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ।
तासु बचन सुनि ते सब डरीं । जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥

स्वप्न-सम्बन्धी फलादेश बतानेवाली पुस्तकोंमें ऐसे स्वप्नका विवरण और फल निम्नलिखित रूपसे लिखा है-

स्वप्नेषु नग्नान् मुण्डांश्च रक्तकृष्णाम्बरावृतान् ।
व्यङ्गांश्च विकृतान् कृष्णान् सपाशान् सायुधानपि ॥
स स्वस्थो लभते व्याधिं रोगी यात्येव पञ्चताम् ।

जो पुरुष अथवा स्त्री स्वप्नमें विकृत-अङ्ग, विकृत-वेश, मुण्डित, लाल अथवा काला वस्त्र पहने हुए अथवा नग्न होकर दक्षिण दिशा अर्थात् यमराजकी दिशाकी ओर जाती दिखायी देती है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है।

त्रिजटाने उन राक्षसियोंको इस प्रकार भयभीतकर सीताको त्रास देनेसे निवृत्त किया । त्रिजटाके स्वप्न और पूर्वलिखित स्वप्नोंमें अन्तर यह है कि पहले दोनों स्वप्नोंमें प्रायः ऐसी घटनाओंकी प्रतिच्छाया थी, जो घटित हो चुकी थीं, जब कि त्रिजटाद्वारा भविष्यमें घटित होनेवाली घटनाओंका वर्णन किया गया है ।

× × × ×

उपर्युक्त सभी स्वप्न सर्वथा सत्य और आगामी घटनाओंके परिचायक सिद्ध होते हैं ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपका पत्र मिला, उत्तर इस प्रकार है—

१—गोस्वामीजी श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार ॥

—यह लिखा है तथा फिर—

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥

ये दोनों ही ठीक हैं । ऊपरके दोहेका भावार्थ यह है कि विधाताने जो कुछ ललाटमें लिख दिया है, उसको देवता, राक्षस, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई भी नहीं मेट सकते । चौपाईमें दोहेमें कही गयी बातका विरोध नहीं किया गया है; भगवान्‌के नाम-जपसे विधाताके लेखको बदलनेकी बात कही गयी है, जो ठीक ही है । भगवन्नामके जपसे तो सब कुछ हो सकता है; किंतु ऊपर बतलाये हुए प्राणियोंकी सामर्थ्य नहीं है कि वे विधाताके लेखको मिटा सकें ।

२—पूजिअ बिप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना ॥

इस चौपाईमें गोस्वामीजीने ब्राह्मणोंका पक्षपात किया हो, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये । ब्राह्मण-जातिका महत्त्व जनानेके लिये ही गोस्वामीजीने यह बात कही है । शील-गुण-हीन ब्राह्मण जन्मसे ब्राह्मण होनेके कारण पूजनीय है, जातिकी दृष्टिसे शूद्र पूजनीय नहीं है—यहाँ जातिका महत्त्व समझाया गया है । जातिके कारण इतना अन्तर होनेपर भी मुक्तिके लिये गुण ही प्रधान है और मूल्यवान् वस्तु मुक्ति ही है । मुक्ति तो गुण, ज्ञान और आचरणसे होती है, न कि जातिसे—भले ही कोई ब्राह्मण हो अथवा शूद्र ही क्यों न हो ।

और—

३—'बिना प्रेम रीझै नहीं नागर नंद किसोर ।'
'तुलसी अपने रामको रीझ भजो या खीझ ।
खेत पड़े सो जामिहैं उलटा सीधो बीज ॥'

तथा—

'भाय कुभाय अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥'

—इन दोहे-चौपाइयोंमें वास्तवमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, दोनों ही ठीक हैं । बिना प्रेमके भगवान् जल्दी नहीं रीझते; उनके नामको चाहे जैसे भी लिया जाय; वह व्यर्थ नहीं जाता; उसका फल अवश्य होता है; किंतु साथमें प्रेम होनेसे भगवान् शीघ्र मिल सकते हैं—यह भाव इनका समझना चाहिये ।

४—गीता ३ । ३५ में भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने धर्मपर दृढ़ रहनेके लिये बहुत जोरके साथ कहा है सो ठीक है । वहीं १८ । ६६ में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कहकर उपर्युक्त श्लोकका विरुद्ध वचनके द्वारा खण्डन किया हो ऐसी बात नहीं है ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

—कहकर भगवान्‌ने यह कहा है कि 'सब धर्मोंको मुझमें छोड़कर यानी मुझमें समर्पण करके मेरी शरणमें आ जा ।' सब कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी बात भगवान्‌ने यहाँ नहीं कही है । धर्मपर दृढ़ रहनेके लिये जिन्होंने जगह-जगह बहुत जोर देकर कहा है, वे स्वरूपसे धर्मोंके त्यागनेकी बात कैसे कहते । ३ । ३५ के सिवा १६ है । २४ में भी भगवान्‌ने शास्त्रोक्त कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है । इससे उपर्युक्त श्लोकमें सब धर्मोंके स्वरूपसे त्यागनेकी बात नहीं समझनी चाहिये । सब धर्मोंको समर्पण करना ही भगवान्‌को मान्य है; क्योंकि भगवान्‌ने १८ । ५७ में स्पष्ट कहा है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

अर्थात् मनसे सब कर्मोंको मुझमें समर्पण कर दे और मेरी शरणमें आ जा । यही बात उस श्लोकमें भी कही गयी है । वहाँ **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** है, यहाँ **'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य'** है । केवल शब्दोंका अन्तर है, भाव एक ही है । जो बात पहले कह दी गयी किंतु बादमें नहीं है, उसको पूर्व प्रसङ्गसे अध्याहार कर लेना चाहिये—यह शास्त्रकी नीति है । 'सर्वधर्म' और 'सर्वशास्त्रविहित कर्म'का अर्थ एक ही है । तथा **'मामेकं शरणं व्रज'** और **'मत्परः'** ये दोनों शरणागतिके ही द्योतक हैं । भगवान्‌ने ६४ वें श्लोकमें पहलेकी कही हुई बातको दुहरानेकी बात कहकर ९ । ३४ में कही हुई बात ६५ वेंमें और १८ । ५७ की बात ६६ के पूर्वार्द्धमें कही है । प्रसङ्गको देखनेसे सब बातें आपकी समझमें आ सकती हैं ।

५—धार्मिक पुस्तकोंके स्वाध्यायमें आपकी रुचि है, सो बहुत ठीक है । इसमें मन रम जानेके कारण आफिसका काम न होनेसे अफसर लोग नाराज होते हैं, सो ज्ञात किया । अफसर लोगोंको नाराज नहीं करना चाहिये । ८ घंटे कामकी पूरी ड्यूटी देनी चाहिये । उसके अतिरिक्त १६ घंटोंमें ६ घंटे शयन तथा दो घंटे शौच-स्नान-भोजन आदिमें लगाने चाहिये । शेष ८ घंटे स्वाध्याय करना चाहिये । नौकरी छोड़नेसे आजीविका चलनी कठिन लिखी सो नौकरी तो कभी **नहीं छोड़नी** चाहिये । आपकी आकाङ्क्षा बहुत बड़ा विद्वान् **बननेकी है,** सो बहुत अच्छी बात है । आपकी यह **इच्छा ही इसकी**

पूर्तिमें बड़ी सहायक है, इस इच्छाकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये ।

हमें देखनेकी प्रबल इच्छा लिखी सो आपके प्रेम और भावकी बात है । मैं तो साधारण मनुष्य हूँ, हमलोग चैत्रसे आषाढ़तक ऋषिकेश रहा करते हैं । एक मासकी छुट्टी लेकर वहाँ आकर रह सकते हैं ।

(२)

आपका पत्र मिला । आपने हमें भगवत्प्राप्त ज्ञानी महात्मा लिखा सो इस प्रकार प्रशंसाके शब्द लिखकर संकोचमें नहीं डालना चाहिये । मैं तो साधारण मनुष्य हूँ । प्रशंसाके योग्य तो भगवान् ही हैं, अतः उन्हींकी प्रशंसा करनी चाहिये ।

आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

१–विषय-भोगोंमें सुख नहीं है, उनमें सुखका भ्रममात्र ही है—इतना मानते हुए भी जो मन विषयोंमें लिपटा रहता है, इसका कारण यही है कि हमने उपर्युक्त बातको सुनकर किसी अंशमें ही माना है, उसे पूरी तरहसे समझा नहीं । समझनेके बाद तो विषयोंमें आसक्ति रह नहीं सकती । विषयोंमें जो क्षणिक सुख दीखता है, उसीको हम सच्चा सुख मान बैठे हैं । जिस प्रकार किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसे पूर्व-दिशा पश्चिम-दिशा प्रतीत होने लगती है, वास्तविक दिशाका उसे जल्दी ज्ञान नहीं होता, वैसी ही बात यहाँ भी समझनी चाहिये । झूठे सुखको सच्चा समझ लेनेके कारण ही मनुष्य उसमें फँसा हुआ है । इसके विषयमें युक्ति और शास्त्र प्रमाण हैं । भगवान्में जितना सुख है, उतना सुख और कहीं भी नहीं है; संसारमें हमें जो सुख प्रतीत होता है, वह सारा मिलकर भी भगवान्‌रूपी सुखसागरकी बूँदके प्रतिबिम्ब-तुल्य भी नहीं है—इस बातको समझ लेनेपर जब संसारसे वैराग्य हो जाता है, तभी भगवान्में प्रेम हो सकता है । संसार दुःखरूप और विनाशशील है । सांसारिक विषय-भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं, दुःख-ही-दुःख भरा है—विचारद्वारा यह बात मनको समझानी चाहिये। यह बात भगवान्ने गीता ५ । २२ में कही है । भगवान्के शरण होकर गीता ९ । ३४ एवं १० । ९ के अनुसार साधन करना चाहिये । इससे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है ।

२–वीर्यकी कमीसे ही स्मरण-शक्तिकी कमी होती है । स्मरण-शक्तिको बढ़ानेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये । ब्राह्मी घृतका प्रयोग भी इसके लिये लाभदायक है । सांसारिक बातोंको तो अन्ततोगत्वा भुलाना ही है; परमात्मविषयक जिन बातोंको याद रखना है, उनको याद रखनेके उद्देश्यसे ही पढ़ना चाहिये और उनका मनन करना चाहिये तथा अपने सहपाठियोंके साथ उत्तर-प्रति-उत्तर करके समझना चाहिये। ऐसी चेष्टा करनेसे बातें अधिक याद रह सकती हैं ।

३–बुरे संकल्पोंके कारण ही रात्रिमें स्वप्नदोष हुआ कर है । इसके लिये रात्रिमें सोते समय भगवान्के गुण, प्रभा तत्त्व एवं रहस्यकी बातोंको याद करते हुए एवं जप-ध्य करते हुए ही शयन करना चाहिये। गर्म और गरिष्ठ पदा नहीं खाने चाहिये । दूध भी विशेष गर्म नहीं पीना चाहिये इस रोगको मिटानेके लिये सोनेके समय दो रत्ती ग-भ आधा तोला शहदके साथ लेकर ऊपरसे डेढ़ पाव दूध पी चाहिये । इससे लाभ हो सकता है । स्वप्नदोषके लि प्रायश्चित्त यही है कि स्त्रियों तथा युवा बालक-बालिकाओं किसी भी प्रकारका सम्बन्ध ही न रखे ।

४–गीतामें बताये हुए सात्त्विक लक्षणोंके अनुसार आ जीवन बिताना चाहते हैं सो बहुत अच्छी बात है; इसके लि मनमें खूब दृढ़ संकल्प रखना चाहिये और भगवान्के श होकर उनके आगे करुणाभावसे गद्‌गद होकर रोते हुए स्तु एवं प्रार्थना करनी चाहिये । उनकी कृपासे सब कुछ सकता है । गीतामें सात्त्विक आचरण, गुण और लक्षणों बात जगह-जगह बतायी गयी है—उदाहरणके लिये देखि गीता १३ । ७–११; १६ । १–३; १७।१४– १८ । ५१–५५ आदि-आदि । इन श्लोकोंका भ गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें पढ़कर सम सकते हैं । उस टीकाका मूल्य ४) है । आपके पास न हो गीताप्रेस (गोरखपुर) से मँगवा सकते हैं । गीतामय जी बनानेके लिये पहले गीताको समझना चाहिये । फिर उस अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

५–निष्काम कर्म, भगवान्के नामका जप तथा स्वरूप ध्यान और ज्ञान—इन तीनोंमेंसे किसी एक साधनसे मन शु हो सकता है । गीता ५ । ११ एवं ४ । २३ में निष्कामकर्म ९ । ३०-३१ में भगवान्के जप-ध्यानसे तथा ४ । ३६-३७ ज्ञानसे मन शुद्ध होनेकी बात कही गयी है । इन स्थलों गीतामें देखकर आप अच्छी प्रकार समझ सकते हैं ।

६–आपने अपनी दिनचर्या पूछी सो पहले अपनी वर्तम दिनचर्या लिखनी चाहिये; फिर उसमें कोई सुधार आवश्य होगा तो लिखा जा सकता है ।

७–आप अपने मनकी बात कहने और दूसरेके मन बात सुननेके लिये मित्र बनाना चाहते हैं सो ठीक है । स बढ़कर तो भगवान्को ही अपना मित्र बनाना चाहिये । दूस श्रेणीमें हमें अथवा चाहे जिसको मित्र बना सकते हैं। किसी कोई बुरा काम करते देखकर आप मना करते हैं सो अ

बात है। यदि कोई आपकी बात न माने तो आपको रुष्ट नहीं होना चाहिये। कोई आपकी बात न माने तो इसमें आपकी कोई हानि नहीं है।

८–भगवान्‌को तैलधारावत् भजनेकी बात गीता ८ । १४ में देखनी चाहिये और अनन्यभावसे भजनेकी बात ९ । २२ में कही गयी है, आप देख सकते हैं।

एक पैशाचिक उत्पात

सहायताकी प्रार्थना

इस उत्पातका किंचित् स्पष्ट आभास मुझे लखनऊमें रहते जनवरी १९३४ ई० में हुआ था। परंतु बादमें इन उपद्रवोंसे मुझे जो अनुभव हुए, उनसे अब स्मरण आता है कि कुछ वैसी ही घटनाएँ १९२५ ई० में नैनीतालमें भी हुई थीं; परंतु वह प्रारम्भावस्था होनेसे उधर ध्यान अत्यल्प ही गया। तब मेरा स्वास्थ्य सब प्रकार अत्युत्तम—सर्वाङ्गीण था, पूर्ण युवावस्था थी और स्वास्थ्य अच्छा होनेसे ही मैं अबतक, जब कि मेरी आयु ५५ वर्षकी है, इन उपद्रवोंका सामना करनेमें समर्थ रहा हूँ। ये उपद्रव विदित होता है सन् १९२५ ई० से ही चले, १९४२ ई० तक धीरे-धीरे बढ़ते रहे और उस वर्ष अचानक बड़े तीव्र वेग तथा उग्र रूपसे बढ़ने लगे और चौबीसों घंटे होने लगे। इन उपद्रवोंमें अब मुसलमान गुंडे प्रकट रूपमें आये और तभीसे मेरे कार्यालयमें और सड़कोंपर, निवासस्थानके निकट—जहाँ भी मैं जाऊँ, मेरे पीछे पड़े रहते हैं। परिणामस्वरूप अत्यन्त स्नायविक (Nervous)तनाव और मानसिक परीशानियाँ तथा उलझनें होनी ही थीं। उच्च पुलिस अधिकारियों और गुप्तचर विभागकी पुलिसकी सहायता भी, जो उस समयके गृहमन्त्री स्वर्गीय रफी अहमद किदवईकी कृपासे प्राप्त हुई थी, निष्फल रही; क्योंकि सुसंगठित गुंडोंकी करतूतोंसे उनको सदा यह रिपोर्ट मिलती रही कि कुछ वर्षोंसे मेरी मानसिक स्थिति विक्षिप्त-सी है। दिसम्बर १९४४ ई० से मैंने बहुत-से जप, अनुष्ठान स्वयं किये तथा करवाये। मैंने और मेरे मित्रों तथा हितैषियोंने स्थानीय तथा कानपुर, वाराणसी और दिल्लीके पण्डितों, मौलवियों और तान्त्रिकोंसे बातचीत की। परंतु सभी प्रयत्न अबतक पूर्णरूपेण असफल ही रहे और मूल उत्पात या तो पहलेकी ही तरह रहा है अथवा सुशिक्षित, अनुभवी और विज्ञ तान्त्रिकोंद्वारा पूर्णरूपसे शमन हो जानेके उपरान्त शीघ्र ही पूर्ण वेगसे पुनरुज्जीवित हो उठा। फलस्वरूप मुसलमान गुंडे और उनके सहचर अत्यन्त मुदित और उत्साहित हो गये और तज्जनित उत्पात दिनोदिन वृद्धिगत होता गया—यहाँतक कि शिक्षित या अशिक्षित दोनों प्रकारके स्त्री-पुरुष, चाहे वे हिंदू हों या मुसल्मान-ईसाई, युवा या वृद्ध, पुलिसके सिपाही, शासक (Officers), विधानसभाके सदस्य, कार्यालयके बाबू या निम्नवर्गीय कर्मचारी या पड़ोसी भी उन इस्लामी दुरात्माओंके प्रभावमें आकर बड़े उत्साहसे निर्लज्जतापूर्वक इस उत्पातमें भाग लेकर आनन्दका अनुभव करते हैं। इन सब उत्पातोंके होनेपर भी मैं जीवित हूँ और चित्तवृत्ति स्वस्थ है। मैं अपने सभी सांसारिक तथा पारमार्थिक कार्य पूर्णरूपसे निभाता आ रहा हूँ, यद्यपि मेरे बाह्य स्वातन्त्र्यमें वर्षोंसे अतीव तथा अविराम गतिसे बाधा उत्पन्न हो गयी है। इससे सांसारिक या बाह्य जीवनकी सीमा अत्यन्त संकुचित हो गयी है। इसने मुझे वस्तुतः शारीरिक, सामाजिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टिसे एक प्रकारसे मृतप्राय-सा बना रखा है। मेरे नैसर्गिक जीवनमें इतनी रुकावट आ गयी है कि मेरी स्वाभाविक योग्यता तथा क्षमताका पूर्ण विकास ही अवरुद्ध हो गया है। इस प्रकार दबा, कुचला और मुरझाया जीवन लगभग यन्त्रवत्—कोल्हूके बैलका-सा हो गया है। १९३०—४० ई० के मध्य मेरी धर्मपत्नीके तीन बार गर्भपात होनेके बाद मेरे कोई संतान नहीं हुई, यद्यपि डाक्टरों-

ने हम दोनोंको पूर्णरूपेण स्वस्थ बताया है। कुछ सज्जनोंने इसका नैमित्तिक कारण इसी विचित्र उत्पातको बताया है, जिसने मेरे अन्तर्गत अत्यधिक स्नायविक शोषण तथा तनाव उत्पन्न कर दिया है और स्नायुमण्डल ही मनुष्यशरीरका विधाता है । पीड़ा निरन्तर होनेसे अर्थात् सभी ऋतुओं और सभी प्रकारके जलवायुमें चौबीसों घंटे होते रहनेसे तथा पूर्णतया मानसिक होनेके कारण अत्यन्त तीव्र और कष्टदायक हो रही है ।

इसका यथार्थरूप—मैंने विचारपूर्वक प्रथम इस उत्पातकी गति तथा प्रभावका वर्णन किया है । अब मैं इसके यथार्थरूपका वर्णन करता हूँ, जिससे उत्पातकी उत्पत्ति हुई है । इस भूमण्डलमें जहाँ कहीं या जब कभी भी मैं जाता हूँ एक मानवाकार आकृति और एक मानव-ध्वनि कुछ दूरीसे सदा मेरा पीछा करती है, सामने कभी नहीं आती । वह आकृति अत्यन्त अपवादजनक दूषित अश्लील कुत्सित बीभत्सरसोत्पादक नारों (Slogans) का प्रयोग करती है । साधारणतया यह आकृति केवल मुझे १९३४ ई० से ही दिखायी देती रही है; परंतु उसमें यह शक्ति है कि चाहे तो किसीको भी दिखायी दे सकती है तथा वह लोगोंको प्रभावित करके उनसे भी अपने-जैसे ही अपशब्द कहलवाती है । यह आकृति प्रायः छः फुट ऊँची है, और उसका आकार २७-२८ वर्षकी आयुके सम्पूर्ण पुरुषका है । उसका वर्ण वर्षाकालीन मेघ-सा काला है और उसकी त्वचा चुपड़ी और चमकीली है । देखनेमें वह सुडौल है, कभी अर्धनग्न और कभी बार-बार नाना प्रकारके वस्त्र बदलते हुए, परंतु सदा नंगे पाँव, कोई भी अङ्ग-उपाङ्ग विकृत नहीं, सिर कभी घुटा हुआ, कभी तैलयुक्त कंघीसे सँवारे बालोंयुक्त दीखता है । वह अंग्रेजी, हिंदुस्तानी और कुमाऊँनी भाषामें पुकारता और उसके शब्द तथा वाक्य इतने स्पष्ट होते हैं कि उनमें सभी प्रकारकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति होती रहती है—क्रोध, आश्चर्य, करुणा, उपहास, अट्टहास आदि । स्वर कभी हल्का और कभी उच्च । भीड़-भाड़वाले और सार्वजनिक स्थानोंमें वे मेरे संनिकट सुनायी देते हैं; परंतु मेरे निवासस्थान, कार्यालय और एकान्त स्थानोंमें दूरसे आते हैं । विगत छः वर्षोंसे यह आकृति प्रायः अदृश्य-सी रहती है, केवल दस-बारह बार दृग्गोचर हुई है; परंतु इसका स्वर सदा उसी प्रकार सुनायी देता रहा है और कभी-कभी इस स्वरके साथ एक वास्तविक मनुष्यका स्वर भी रहता है, जो सबको सुनायी देता है । संतों, पण्डितों, मौलवियोंने इस आकृतिको एक दुष्ट प्रेत या ब्रह्मराक्षस या जिन्न बताया है और कहा है कि उसको किसीने दुष्प्रयोजन-सिद्धिके लिये पकड़ रखा है और उसे कोई मनुष्य (जिसे मैं तो दानव या राक्षस ही कहूँगा) अभिचार (काला जादू) द्वारा चलाता जा रहा है। जब कभी मैं पहाड़ोंपर लंबी छुट्टीपर गया हूँ, यह मानवरूपी राक्षस अपने एक रक्षक साथीको लेकर वहाँ भी पहुँचा; परंतु वह अपने अङ्गरक्षककी सक्रिय सहायतासे स्पष्ट ही अत्यन्त सावधान—चौकन्ना रहकर छलना करता रहा है, जिससे मेरे सहायक उसे पकड़ ही न सकें।

ऐसे उत्पातसे पीड़ित व्यक्तिकी यथार्थ दशा या स्थितिकी कल्पना ही की जा सकती है । उसका वर्णन क्या हो सकता है। संक्षेपमें, मानो वह निरन्तर ही तीक्ष्ण काँटोंके ऊपर चल रहा हो । केवल परमात्मापर अटल श्रद्धा-विश्वास और उसकी अनुकम्पासे ही यह व्यक्ति अपने जीवन-यापनमें समर्थ है और अपने अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण पदका कार्य, जिसका वेतन सात सौ रुपया प्रतिमाससे अधिक है और जिसमें उसके अधीन कभी-कभी प्रतिदिन बावन कर्मचारीतक एक साथ कार्य करते रहे हैं, निभाता आ रहा है । वह 'कल्याण'-परिवारमें गत १७ वर्षोंसे सम्मिलित है तथा उसके सभी पाठकोंसे विनीत निवेदन तथा अभ्यर्थना करता है कि वे सहायता करनेको तत्पर हो जायँ । जो भी सुयोग्य व्यक्ति इस पैशाचिक कृत्यको आमूल नष्ट कर सके, जो

जितने भी मानव, पिशाच या दानव (?) इस कार्यके पोषक या सहायक हों, सबका मूलोच्छेद कर सके, ऐसे परोपकारी सुयोग्य व्यक्तिसे सम्बन्ध स्थापित करा दें। 'कल्याण' के अगणित सुयोग्य मन्त्रज्ञ या तन्त्र-विशारद विद्वान् लेखक और पाठक होंगे । मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा इस भयंकर विपत्तिसे शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा अवश्य होगा; क्योंकि परमात्माकी सृष्टिमें जब प्रयत्नसे पुनर्जन्म तक नष्ट हो जाता है, तब सुज्ञ पुरुषके लिये यह छुटकारा दिलाना असम्भव नहीं। यदि ऐसे पर-पीड़ानुभवी, सहानुभूतियुक्त, आत्मविश्वासी पुरुष यहाँतक आनेका भी कष्ट कर सकें तो यथाशक्ति यात्राव्ययादि भी समर्पण करूँ । वे प्रथम 'कल्याण'-कार्यालयद्वारा ग्राहक-संख्या १६०३०से पत्रव्यवहार करनेका कष्ट करें । कृपापत्र मिलनेपर मैं फिर सीधा पत्र-व्यवहार करूँगा । मैं अपने सांसारिक कार्योंमें तुरंत ही हानि पहुँचनेकी सम्भावनासे अपना नाम-पता इस स्थलपर देनेमें असमर्थ हूँ । कोई भी सहज बुद्धियुक्त पुरुष इसको शीघ्र समझ लेगा कि यह तो संसार है ।

पढ़ो, समझो और करो*

(१)

'हरिःशरणम्' मन्त्रसे भीषण रोगनाश

कलकत्तेकी कुछ समय पहलेकी घटना है । उस समय कलकत्तेमें प्रतिवर्ष प्लेगका प्रसार होता था और उससे हजारों मनुष्य मरते थे । एक बड़े शिक्षित धनी बाबूको प्लेग हो गया । वे धनके साथ ही संस्कृत-ज्ञान और भगवान्की भक्तिसे भी सम्पन्न थे । अपने घरमें अकेले थे । स्त्री-पुत्रादि कोई न थे । नौकर-चाकर आदि सब काम करते थे । एक बहुत बड़े अनुभवी प्रख्यात डाक्टर देखने आये । बहुत जोरका ज्वर था । दोनों ओर गिल्टियाँ थीं । संनिपात आरम्भ हो गया था । डाक्टर कह गये थे कि रात्रिको किसी समय उनका प्राणान्त हो जायगा । उक्त सज्जनने अपने विश्वासी सेवकको बुलाकर गङ्गाजलसे गमछा भिगवाया और उससे सारा बदन पोंछवा लिया । कपड़े बदल लिये, भगवान् श्रीकृष्णका एक चित्र सामने रखवा लिया और तीनों ओर तकिये लगाकर वे बैठ गये । नौकरसे कह दिया कि बाहरसे किवाड़ बंद कर दो और तुम बाहर सो जाओ । या तो मैं खुलवाऊँ तब किवाड़ खोलना । मैं न खुलवाऊँ तो सूर्योदय होनेपर तुम खोल लेना । मर गया होऊँ तो अन्त्येष्टि-संस्कारकी व्यवस्था सब परिवारवालोंको समाचार देकर करा देना ।' नौकरने किवाड़ बंद कर दिये और बाहर बैठकर वह प्रातःकालकी प्रतीक्षा करने लगा ।

प्रातःकाल सूर्योदयसे दो घंटे पूर्व लगभग चार बजे अंदरसे आवाज आयी । नौकरने किवाड़ खोले । मालिकने कहा—'गङ्गाजीपर जाकर सौ ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे आओ और रसोइयोंको बुलाकर बढ़िया रसोई बनवाओ । दस बजेसे पूर्व ही ब्राह्मण-भोजन करवाना है ।' उस समय उनका ज्वर उतर चुका था । गिल्टियाँ बैठ गयी थीं । कहीं कोई दर्द न था ।

नौकरने आज्ञानुसार सारी व्यवस्था कर दी । ब्राह्मणभोजन हो गया । उधर डाक्टर महोदयको पता लगानेपर जब ज्ञात हुआ कि रोगी अभी जीवित है, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । अपने निर्णयपर उनको पूरा विश्वास था । ऐसा रोगी दो-तीन पहरसे अधिक जी नहीं सकता, यह उनका निश्चय था । वे इनसे बहुत प्रेम करते थे, अतएव स्वयं देखने आये । आकर साश्चर्य देखते हैं कि विधिवत् स्नान-संध्या किये हुए उक्त सज्जन पट्टवस्त्र पहने आसनपर बैठे हैं । ब्राह्मण-भोजनका यज्ञशेष चौकीपर चाँदीकी थालीमें परोसा हुआ है और वे स्वाभाविक रूपमें उसे पा रहे हैं । डाक्टर महोदयने पूछा—'बाबू ! यह सब किसकी सम्मतिसे

---

* इसमें अन्तिम तीन घटनाएँ 'अखण्ड आनन्द'से साभार ली गयी हैं । 'कल्याण'के सम्मान्य लेखकों तथा पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना है कि वे इस प्रकारकी छोटी-छोटी शिक्षाप्रद घटनाओंको लिख भेजनेकी कृपा करें ।—सम्पादक

खा रहे हैं ?' बाबूने कहा—'जिनकी दवासे प्लेग छूमन्तर हो गया, उन्हींकी आज्ञासे प्रसाद पा रहा हूँ ।' निपुण डाक्टरको यहाँ भी भ्रम हो गया । उन्होंने समझा कि बाबू संनिपातमें यह सब कर रहे हैं । वे जाते समय सेवकोंसे सावधान रहनेके लिये कह गये ।

पर बाबू तो रोगमुक्त हो चुके थे । तीन-चार दिनों बाद डाक्टरसाहबने आकर बाबूसे पूछा—'आपने किन चिकित्सकसे क्या दवा ली, यह बताइये ।' बाबू डाक्टर महोदयको ऊपर उसी कमरेमें ले गये, जिसमें वे उस दिन थे । वहाँ डाक्टरसाहबको कुर्सीपर बैठाकर वे पलंगपर बैठ गये और कहने लगे—"डाक्टर महोदय ! आप उस दिन कह ही गये थे कि रातको प्राणान्त हो जायगा । आपके जानेके पश्चात् मुझको श्रीमद्भागवतके माहात्म्यका वह प्रसङ्ग याद आ गया, जिसमें श्रीनारद-जीने सनकादिसे कहा है कि 'आप इसीसे चिरजीवी बालक बने हुए हैं कि आप निरन्तर **हरिः शरणम्** मन्त्रका जप करते रहते हैं ।' मैंने सोचा प्राणान्त तो होना ही है, मैं भी भगवान्के शरण होकर '**हरिः शरणम्**' मन्त्रका जप क्यों न करूँ—सम्भव है सनकादिको नित्य-बालक रखनेवाले इस मन्त्रसे मेरे प्राण न जायँ और यदि प्राण गये भी तो भगवान्का स्मरण करते हुए ही जायँगे । दोनों ही प्रकारसे लाभ है । यह सोचकर मैंने गङ्गाजलसे शरीर शुद्ध करके शुद्ध रेशमी वस्त्र पहन लिये और भगवान् श्रीकृष्णके चित्रको सामने रखकर '**हरिःशरणम्**' मन्त्रका जप करने लगा । कुछ ही समय-में मन तन्मय हो गया । मुझे बाहरकी सुधि नहीं रही । भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान होने लगा । जब बाह्यचेतना हुई, तब देखा कि शरीर हल्का हो गया है, ज्वर नहीं है, गाँठें बैठ गयी हैं, पूर्ण स्वस्थता आ गयी है । उस समय चार बजे थे । तब मैंने ब्राह्मणभोजनकी व्यवस्था करायी । आप पधारे थे, उस समय सब ब्राह्मण भोजन कर चुके थे और मैं भगवान्का प्रसाद पा रहा था ।"

'**हरिःशरणम्**' मन्त्ररूपी औषधसे भयानक प्लेगका तुरंत ही नाश हो गया और मरणासन्न रोगी स्वस्थ हो गया । इस प्रत्यक्ष चमत्कारको देखकर डाक्टर चकित हो गये ।

(२)

अनोखी उदारता

कई वर्षों पूर्वकी कलकत्तेकी घटना है । शेयर बाजारके एक प्रमुख व्यापारी फर्मके तीस हजारके शेयर चोरी हो गये । पता लगनेपर पुलिसमें रिपोर्ट दे दी गयी और कम्पनीको लिख दिया गया कि 'हमारे अमुक संख्या-के शेयर खो गये हैं । अतः नामपरिवर्तनके लिये कम्पनी-में आयें तो नाम-परिवर्तन न करके हमें सूचना दें ।'

कुछ दिनों बाद नाम-परिवर्तनके लिये शेयर कम्पनी-में आये । कम्पनीने सूचना दी । पता लगाया गया कि किस-किसके हाथोंसे होते हुए शेयर कम्पनीमें आये हैं और सबसे पहले कहाँसे चले हैं । खोज करनेपर पता लगा कि सबसे पहले उस व्यापारी फर्मके रोकड़ियेके द्वारा ही शेयर गये हैं । फर्मके स्वामीको सूचना दी गयी । उन्होंने पुलिसको खबर देने या रोकड़ियोंको बुलाकर डाँटनेके बदले तुरंत कम्पनीको पत्र लिखवा दिया कि 'हमारे शेयरोंका पता लग गया है । आप नाम-परिवर्तन कर दें ।' और पुलिसको शेयर मिल जानेकी खबर भेज दी गयी ।

व्यापारी महोदयके प्रधान मैनेजरने कहा—'बाबू-जी ! उसे पकड़वाइयेगा नहीं ।' वे बोले—'तीस हजार रुपयोंके लिये एक गृहस्थका जीवन बर्बाद कर दें ? उसके घरमें दस आदमी हैं, वे क्या खायेंगे ? उसने किसी विपत्तिमें पड़कर ही ऐसा काम कर लिया है ।' पर व्यापारी महोदय जहाँ इतने परदुःखकातर और दयाशील थे वहीं बड़े व्यापारकुशल भी थे । उन्हें उक्त रोकड़ियेकी दीन दशापर दया आयी, साथ ही उसे रोकड़के काम पर रखना उचित भी नहीं समझा—इसलिये कि कहीं फिर ऐसा न कर ले । उन्होंने दो-एक दिन बाद रोकड़ियेको बुलाकर उससे पूछा—'तुम्हारा कितना वेतन है, भैया ?' 'सौ रुपये ।' उसने कहा । 'सौ रुपयेमें कैसे काम चलता होगा ?' व्यापारी महोदयने कहा । 'तकलीफ ही रहती है, बाबूजी !' रोकड़ियेने रोते हु

की तरह कहा । व्यापारी महोदय बोले—'अच्छा ! देखो, रोकड़के काममें तो वेतन बढ़ाया नहीं जा सका । तुम अमुक दूसरे कामको सँभालो । आजसे तुम्हारा वेतन डेढ़ सौ रुपये कर दिया गया ।' व्यापारी महोदयने शेयरोंके बाबत उससे एक शब्द भी नहीं कहा । इस उदारताको देखकर सब लोग दंग रह गये ।

(३)

गोदुग्ध अमृत है

मैं एक ऐलोपैथिक चिकित्सक हूँ । मेरे पास एक महिला, जो सरकारी कर्मचारिणी हैं, इलाजके लिये आयीं । इन्हें सभी अच्छे डाक्टरोंने एक्सरेद्वारा तथा स्वयं मैंने भी तपेदिककी बीमारी बतायी, जिसमें दोनों फेफड़ोंमें व्रण हो गये थे । कई एक अस्पतालोंने तो उन्हें आखिरी स्टेज होनेके कारण भरती भी नहीं किया और घरपर जाकर मरनेकी अनुमति दी ।

वे निराश होकर मेरे पास आयीं और बोलीं—'मेरा शरीर सैकड़ों, करीब तीन सौ इनजेक्शनोंसे जर्जर हो गया है और खर्च तथा गरीबीके कारण मेरी नाकमें लौंग भी नहीं रह गयी है ।' मेरा हृदय भी उनकी दुर्दशा देखकर द्रवित हो गया । मैंने भगवत्-स्मरण किया और प्रार्थना की—'भगवन् ! इनका कष्ट अवश्य दूर हो ।' उनकी प्रेरणासे मैंने उन्हें गायका दूध, जितना पी सकें, पीनेको कहा तथा दो दवाइयाँ खानेको बतायीं । उन्होंने एक गाय खरीदकर उसकी सेवा करना शुरू किया तथा एक सेर दूध प्रातः, एक सेर संध्याको पीने लगीं । १५ दिनोंके भीतर उनका स्वास्थ्य काफी सुधर गया तथा बुखार-खाँसी सब गायब हो गये । दो मासमें वे बिल्कुल स्वस्थ हो गयीं और अबतक सरकारी काम कर रही हैं । बीमारीसे पहले उनके तीन पुत्रियाँ थीं । उसके बाद उनके एक पुत्र-रत्न हुआ, जो पूर्ण स्वस्थ है ।

यह है गौ माताकी कृपा तथा उनके दूधका महत्त्व । मैंने जिन-जिन भीषण रोगोंके रोगियोंको गोदुग्ध दिया, वे सब स्वस्थ हो गये, खास तौरपर क्षयरोगमें । समस्त वैद्यसमुदाय तथा ऐसे रोगियोंसे प्रार्थना है कि वे इसका अनुभव करें और लाभ उठायें ।

—डा० श्याममोहन कपूर

(४)

दरिद्रता और मनुष्यता

मानवके लिये दरिद्रता एक अभिशाप है । एक उच्चकुलोत्पन्न मनुष्य भी इस पिशाचिनीके हथकंडेमें पड़ किंकर्तव्यविमूढ़ और पथभ्रष्ट हो जाता है, एवं कुलको बट्टा लगानेवाले, अशोभनीय कुकर्म कर बैठता है । यह सब विधिकी विडम्बना है । ऐसी ही एक घटना गत दीपावलीसे पहली दीपावलीके ठीक चार दिन पहले अर्थात् ता० २९ । १० । ५६ को हमारे यहाँ घटी । शामके साढ़े सात बजे होंगे । दीपावलीकी सज-धजके लिये सफाई की जा रही थी, सामान सब इधर-उधर बिखरा पड़ा था । सब अपने-अपने काममें लगे हुए थे । मैं भी बाबुलनाथके दर्शन करके पेढ़ीपर आया ही था कि अचानक एक अजीब दृश्य मेरी आँखोंके सामने आया । देखता क्या हूँ कि हमारा पटेल रघुवीर एक अज्ञात नौजवानसे सीढ़ियोंके पास छीना-झपटी कर रहा है । पटेल कह रहा था कि मेरे देखते तू यहाँसे दरी चुराकर नहीं ले जा सकता । हम सबका ध्यान तुरंत ही उधर गया । वह मनुष्य इकहरे बदनका, श्यामवर्ण, स्वच्छ एवं नवीन वस्त्र धारण किये, पैरमें नयी चप्पल पहने, बालोंमें कंघा किये, विषपूर्ण कनक-घटके समान वाणीमें अमृतका मिठास भरे हुए था । आधुनिक हिंदीमें बोल रहा था ।

इतनेमें ही बड़ी बहादुरीसे उसे हमारा पटेल पेढ़ीके अंदर ले आया और चारों ओरसे उसपर थप्पड़ और मुक्कोंकी बौछारें होने लगीं । कारण स्पष्ट था कि वह रँगे हाथों पकड़ा गया था । उसने एक बड़ी खासा लंबी-चौड़ी दरी, जिसकी कीमत आजके दिन कम-से-कम ४०, ५०) रुपये तो होगी ही, चुरायी थी ।

'दूसरे मालके सेठने दी है' कहकर उसने झूठी दलील पेश की । किंतु यह सफेद झूठ कैसे चल

सकता था। जो भी आया, सबने अपनी सामर्थ्यभर उसे धिक्कारें दीं और कुछने गालियाँ बककर अपने कर्तव्यकी इति-श्री समझी। चित्त लेटकर मार खाते हुए ही करबद्ध उसने सभीसे विनती करके अपनी दयनीय दशाको चित्रित करनेका मिथ्या प्रयास किया।

वह कहता ही गया—'मुझे मारो, खूब मारो; मैंने यह जघन्य, निन्दनीय कुकर्म किया है—चोरी की है! मुझे पता है कि मैंने बुरा काम किया है, दूसरेकी वस्तु चुरानेकी अनधिकार चेष्टा की है; किंतु यह सब इस पापी पेटके लिये। मेरे बच्चे, स्त्री—सब भूखे पड़े बिलख रहे हैं। अन्य कोई उपाय न देखकर मुझे इस दुष्कर्मकी ओर झुकना पड़ा। मैं भी एक उच्च मुल्तानी घरानेमें उत्पन्न हुआ, पढ़ा-लिखा व्यक्ति हूँ; एक अच्छे फर्ममें काम कर रहा था। पर दुर्भाग्यवश मैं वहाँसे हटा दिया गया। अब बेकार इधर-उधर कामकी तलाशमें फिरता रहा हूँ। निराश होकर पेटकी नित्यप्रतिकी ज्वाला-की पूर्तिके लिये मैंने आज यह काम किया है।'

किसीने आवाज दी—'पुलिसमें दे दो!' 'मैं बहुत लाचार हूँ, मुझे पुलिसमें मत दो; मेरे निर्दोष बच्चोंकी ओर देखो, उनपर दया करो·······मैं आपके पैरों पड़ता हूँ, ईश्वरकी शपथ, मुझे पुलिसमें मत दो।' मैं उसके करुण-क्रन्दनको सुनकर अवाक्, स्तब्ध खड़ा रह गया। क्रोध दयामें बदल गया। मैंने पेढ़ीवालोंसे कहा—'अच्छा हो, आप सेठजीको इस घटनासे अवगत करा दें और उनके आज्ञानुसार कार्य करें।' सेठजीको फोन-पर सभी घटित बातें बतलायी गयीं। क्षमाशील, कृपालु हमारे सेठजीने घटित बातोंपर पर्दा डालते हुए तुरंत उत्तर दिया—'जाने दो; उससे कहो कि आगे ऐसा कुकर्म न करे, मजदूरी करके पेट पाले····।'

उस भूखे नादानने ईश्वरकी शपथके साथ इसे स्वीकार किया। पर मैं आज भी सोचता हूँ कि क्या उसने पेटकी ज्वालाकी विभीषिकाके रहते अपने वचनोंका ध्यान रखा होगा? क्या सेठजीका क्षमा-दान अपराधीके प्रति सही दण्ड या आदर्श बदला नहीं था? कौन ऐसा समझदार व्यक्ति होगा, जो उनकी मानवीयताकी सराहना किये बिना रह जाय।

—बाबूलाल बसावेका 'साहित्यरत्न'

(५)

कलेजेके आँक

गणेश-चतुर्थीका दिन था। सवेरे लगभग आठ बजे थे। हाथ-मुँह धोकर सब चाय-पानीकी तैयारीमें लगे थे कि बाहरसे आवाज आयी। भाई साहबने जाकर दरवाजा खोला, देखते हैं दो बैलोंकी रास हाथमें लिये एक चिथड़ेहाल ग्रामीण बाहर खड़ा है।

'कैसे हो, भैया?' दरवाजा खोलनेवाले भाई साहबसे बूढ़े ग्रामीणने पूछा। 'सब ठीक है।' संक्षेपमें ही भाई साहबने उत्तर दे दिया।

ब्याजबट्टेका धंधा करनेवाले हमारे पिताजीके जीवनकालमें ऐसे कितने ही ग्रामीण हमारे यहाँ आया करते। इस बूढ़ेका आना भी कोई नयी बात नहीं थी, परंतु बैलोंकी जोड़ीको साथ देखकर कुछ नयी-सी बात लगी।

बैलोंको बाहर बाँधकर धीरे-धीरे बूढ़ा भीतर आया और देहलीके पास बैठकर बोला—'भैया! बड़े बाबू मरते समय हमारे विषयमें कुछ कह गये थे क्या?'

पिताजीकी मृत्यु अचानक हृदयकी गति रुक जानेसे हुई थी; इस छोटी-सी बातकी तो चर्चा ही क्या, बड़ी-बड़ी महत्त्वकी बातें बिना बताये रह गयी थीं। अतएव भाई साहबने कहा—'बड़े बाबूने तो तुम्हारे बाबत कुछ नहीं कहा।'

'उनके बहीखातोंमें कोई लिखावट है?' फिर बूढ़ेने पूछा।

भाई साहबने तुरंत पिताजीके सब बहीखातोंको देख डाला, कहीं बूढ़ेके नामका कोई लेनदेन लिखा नहीं मिला। अतः उन्होंने कहा—'इनमें तो कहीं कोई लिखावट नहीं है।'

बूढ़ा जरा स्वस्थ होकर धीरेसे बोला—'भले भैया!

बड़े बाबू खातेमें लिखना भूल गये । पर मैंने अपने कलेजेपर लिख रखा है । ये कलेजेके आँक कैसे मिट सकते हैं । तुम तो, भैया, तब शहरमें पढ़ते थे, तुमको क्या पता । पर नहीं, परियार साल इसी गणेश चौथके दिन माँका कारज करनेके लिये मैं बड़े बाबूसे पाँच सौ रुपये ले गया था और इस साल गणेशचौथके दिन ब्याजसमेत कुल पाँच सौ और पचास रुपये लौटानेका मैंने वादा किया था । बड़े बाबू तो भगवान्‌के घर पहुँच गये, पर मेरा वादा थोड़े ही भगवान्‌के घर पहुँच गया । मुँहके बैन क्या कभी पलट सकते हैं ?'

'न दस्तावेज, न लिखा-पढ़ी और न बहीखातोंमें कहीं उल्लेख। कानूनके अनुसार कोई भी प्रमाण नहीं, इतनेपर भी यह ग्रामीण बूढ़ा केवल मुँहकी बातपर पाँच सौ ही नहीं, ब्याजके पचास रुपये जोड़कर पाँच सौ पचास दे रहा है और वह भी जिनसे लिये थे, उन बाबूको नहीं, उनके उत्तराधिकारीको । जिला अदालत, हाईकोर्ट, सुप्रीमकोर्ट और कायदे-कानूनके इस जमानेमें यह घटना कितनी आश्चर्यजनक है ।

'खूनी निर्दोष ठहरे और निर्दोष फाँसी चढ़े । लाखोंकी लूट लोप हो जाय और पावरोटी चुरानेवाला जेल जाय । कागजका टुकड़ा जो कहे, वह हो । मनुष्य तो मानो मनुष्य ही नहीं रहा । आँखोंदेखी बात झूठी साबित हो और कभी कल्पनामें भी न आनेवाली बात सच्ची सिद्ध हो । कानूनकी दुनिया ही निराली है । झूठ, प्रपञ्च, अनीति और अनाचारका आश्रय लेकर कानूनके पंजेसे छिटक जानेवाला चालाक और प्रवीण माना जाय । जो वकील अधिक मात्रामें झूठ बोल-बुला सके, वह होशियार बतलाया जाय । सत्य तो मानो धरतीके उस पार ही जा छिपा । चार आने पैसोंके कानूनके अनुसार सही सिक्के बनें—बस, मनुष्यका इतना भी मूल्य नहीं । यह है आजकी दुनिया और बस, यही है सुधार !' भाई साहबका मन विचार-सागरमें डूब गया ।

'भैया ! इन बैलोंको कहाँ बाँधूँ ?'—बैलोंकी रास खींचते हुए बूढ़ेने पूछा ।

विचारसागरमें डूबे भाई साहब कुछ कहें—इसके पहले ही बूढ़ेने फिर कहा—'यह मेरा मतवाली चाल चलनेवाला—अभी पिछले साल ही एक सिंधीसे सौ-सौ रुपयेके तीन ढेर लगाकर इसे लिया था और इस ललमुँहेको बीस मन बिनौले और दस मन गेहूँ देकर धन्ना सेठसे लिया था ।' यों कहते-कहते बूढ़ेका गला भर आया, आँखें छलछला उठीं । मानो पैर टूट गये हों, वह वहीं ढुलक पड़ा । मालिकको संकटमें समझकर बैल उसे चाटने लगे । बूढ़ा भी धीरे-धीरे बैलोंको थपकाने लगा । तुरंत ही सारी हिम्मत बटोरकर बूढ़ा खड़ा हो गया और चौखटके पास पड़ी हुई अपनी लाठी हाथमें लेकर भाई साहबसे 'जैरामजी की' करके चलते-चलते कहता गया—

'भैया ! घबराना मत; बड़े बाबू नहीं हैं, पर उनका यह पुराना चाकर अभी जी रहा है । बड़े बाबूने मेरे बहुत ढाँकन ढके थे । उनका गुण कैसे भूला जा सकता है । इन बैलोंकी कीमत साढ़े पाँच सौसे कम नहीं है । तो भी अगर पाँच सौ पचाससे कम रुपये उठें तो मुझे सँदेसा भिजवा देना, मैं अपने हल और खेत बेचकर भी पूरा कर्जा भर दूँगा ।'

इतना कहकर बूढ़ेने अपने सगे पूत-सरीखे बैलोंकी ओर एक नजर डाली और चल दिया । उसके डग-डगपर हृदयकी वेदना बोल रही थी ।

—श्रीजयन्ती साह

(६)

रूसी महिलाकी सज्जनता

मेरे एक मित्रके कपड़ेकी दूकान है, यह प्रसङ्ग उन्हींसे सुना हुआ है । इसे उन्हींके शब्दोंमें लिख रहा हूँ—

हमारी दूकानसे एक रूसी महिलाने बहुत-सा कपड़ा खरीदा । उन्हें अपने पतिके लिये एक स्वेटरकी

भी आवश्यकता थी । उन्हें वैसा स्वेटर बाजारमें नहीं मिला था । उन्होंने हमसे अनुरोध किया कि 'आर्डर देकर एक स्वेटर मँगवा दें ।' मैंने पंद्रह दिनों बाद स्वेटर ले जानेको कहा ।

ठीक पंद्रहवें दिन रूसी महिला आयीं । उन्हें देखकर मेरे होश उड़ गये; क्योंकि मैं उस बातको बिल्कुल भूल ही गया था । मैंने विनयपूर्वक सच्ची बात समझाकर कह दी । उन्होंने कुछ नाराज होते हुए कहा—'क्या तुम इंडियन मैन ! हमको दो-चार जगहसे ऐसा ही मौका मिला है ।' मुझे दुःख और क्षोभ दोनों हुए । मैंने अब निश्चय ही मँगवा देनेको कहा और फिर पंद्रह दिन बाद आनेका अनुरोध किया । इन पंद्रह दिनोंमें मैंने कम्पनीके साथ पत्र-व्यवहार किया । कम्पनीको स्वेटरके सम्बन्धमें कुछ पूछना शेष रह गया था, अतः ठीक पंद्रहवें दिन स्वेटर नहीं आ सका ।

पंद्रहवें दिन महिला फिर आयीं । मैंने अपनी परिस्थिति उनको समझा दी, उन्होंने मान लिया ।

दो-तीन दिन बाद वे फिर मेरी दूकानपर आकर कहने लगीं—'मैं रूस जा रही हूँ । मेरे पतिकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी । मुझे यहाँ कोई खास काम नहीं था, केवल स्वेटरके लिये ही आपसे मिलने आयी हूँ । क्या स्वेटर आ गया ?'

मैंने उनके पतिकी मृत्युके लिये दुःख प्रकट करते हुए कहा—'स्वेटर अभी नहीं आ सका है ।'

उन्होंने कहा—आपने आर्डर तो दे ही दिया, पैसे ले लीजिये । मैंने इनकार करते हुए कहा—'आर्डर कैन्सिल हो सकेगा ।' वे मेरी बातपर सहमत नहीं हो सकीं । बीस रुपये मेरी टेबलपर फेंककर वे सज्जन महिला तेजीके साथ सीढ़ियोंसे उतर गयीं; मैं उनकी सज्जनताको आँख फाड़े देखता ही रह गया ।

—श्री ल० दे० राठोर

(७)

हककी छाछ

जेठका महीना है । भीषण गरमी पड़ रही है, जहाँ दुधारू गायें भी सूख गयी हों; वहाँ दूध क्या, छाछका मिलना भी कठिन है । इसी समय हमा गाँवमें एक गृहस्थने छाछका सदावर्त खोला । छा गाँवका जीवन है । अतः इस छाछ-सत्रकी बड़ी प्रशंस हुई । सब ओर आशीर्वाद मिलने लगे ।

हमारे पड़ोसमें एक कोलीका घर है । उस बा बहिन एक दूसरे पड़ोसीके यहाँसे छाछ लाती औ बदलेमें पड़ोसीके पानी भर देती, अनाज पीस दे अथवा गोबर थाप देती ।

एक दिन मैंने उससे कहा—'बहिन ! तुम सदाव की छाछ क्यों नहीं लाती ? वह तो बहुत गाढ़ी औ अच्छी होती है । हम भी लाया करते हैं, फिर तु क्या आपत्ति है ?'

'भाई ! बड़ी भारी आपत्ति है । वह धर्मादा है उसका पावभर पानी भी हकका नहीं है । मेहन किये बिना खायें तो प्रभु राजी न हों । थोड़ा-बहु काम करनेपर पतली छाछ भी मिल जाय तो अच्छ है । वह पेटमें पचेगी और लाभ करेगी ।'

उस बहिनकी बात सुनकर मैं दंग रह गया इस बहिनको अज्ञान कैसे कहें । बहुत लोग को स्त्रियोंको मूर्ख—अबोध मानते हैं; परंतु उनका सिद्धा कितना ऊँचा है—यह जाननेका किसीको अवका नहीं है ।

मेरा अहं टूट गया और बिना परिश्रमके ग्रह करना पाप है—इस सूत्रको जीवनमें उतारनेवा बहिनने मुझको सचोट बोध प्रदान किया, प्रेरणा दी

—इच्छाशंकर पं

श्रीहरिः

चार नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीमन्महाभारतम् (मूलमात्रम्, तस्य तृतीयो भागः)

(कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री और शान्तिपर्व)

आकार २२×३० आठपेजी, तीस पौंडके मोटे कागज, पृष्ठ-सं० ७५६, चार सुन्दर बहुरंगे और एक सादा चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ६), डाकखर्च २।)।

पूरे महाभारतका मूल पाठ क्रमशः प्रकाशित करनेकी योजनाके अन्तर्गत प्रथम भागमें आदि, सभा और वन—ये तीन पर्व तथा द्वितीय भागमें विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोण—ये चार पर्व दिये जा चुके हैं। इस तीसरे भागमें कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री और शान्ति—ये पाँच पर्व हैं। शेष ६ पर्व भी यथासमय निकल ही सकते हैं। जिन्होंने दो भाग लिये हैं, वे इसे भी मँगवानेकी कृपा करें। शान्तिपर्वकी तो विशेषता है ही।

मार्क्सवाद और रामराज्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

आकार डिमाई आठपेजी, ग्लेज कागज, पृष्ठ-सं० ८१६, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ४), डाकखर्च १॥=)।

अभीतक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं, जिसमें प्राच्य और पाश्चात्त्य आधारभूत सिद्धान्तोंका इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया हो। केवल कम्युनिष्ट भाई ही नहीं, पाश्चात्त्यदर्शनके सभी विद्वान् यह पुस्तक पढ़कर सत्यका अन्वेषण करनेमें अग्रसर हो सकते हैं। इस एक ही पुस्तकमें इतनी अधिक सामग्री आ गयी है कि इसे दर्शन और राजनीतिका 'विश्वकोष' कहना भी अनुपयुक्त न होगा।

सटीक सूरसागरके पदोंके खण्डशः प्रकाशन-योजनाकी चौथी पुस्तक

श्रीकृष्ण-माधुरी (सरल भावार्थसहित)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ २८८, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=), डाकखर्च ॥।=)।

इसमें श्रीकृष्णके माधुर्यपरक लगभग साढ़े तीन सौ चुने हुए पदोंका समावेश है, जो काव्य-कला एवं भावकी दृष्टिसे अनुपमेय हैं। आरम्भके १४४ पदोंमें श्रीकृष्णकी विविध मधुर झाँकियोंके दर्शन होते हैं और आगेके पदोंमें मुरलीकी अलौकिक माधुरीका वर्णन है। सूरदासजीकी मुरली विषयक उक्तियाँ हिंदी-साहित्यमें बेजोड़ हैं। प्रेमी पाठक इस संग्रहका भी समुचित समादर करेंगे, ऐसी आशा है।

गोविन्दवैभवम् (भट्ट मथुरानाथजी शास्त्री प्रणीत)

(लेखककी स्वरचित संस्कृत-टीका एवं भाषानुवादसहित)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ २७६, एक बहुरंगा तथा दो सादे सुन्दर चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=), डाकखर्च ॥।=)।

यह ग्रन्थ आदिसे अन्ततक भक्ति-रससे ओतप्रोत है। इसकी रचनामें प्रसाद, माधुर्य, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार आदि सभी काव्यगुणोंकी छटा देखनेको मिलती है। इसके प्रत्येक पद्यमें अन्त्यानुप्रासका बड़े ही सुन्दर ढंगसे निर्वाह किया गया है। इसमें भगवान् गोविन्दके लोकाभिराम वैभवका उत्कृष्ट दिग्दर्शन है। काव्यानुरागी भक्तोंके लिये यह सर्वथा संग्रहणीय है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका चैत्र सुदी ५ दिनाङ्क २५ मार्चके लगभग ऋषिकेश, गीता-भवनमें पहुँचनेका विचार है। सदाकी भाँति उनका आषाढ़ शुक्ला १५ तक तो वहाँ ठहरनेका विचार ही है। सत्सङ्गके लिये आनेवाली स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लायें, जो उन्हें अलग निवासस्थानपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

श्रीरामचरितमानस (मूल-मोटा टाइप, पाठभेदवाली)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ८००, सुन्दर तिरंगा चित्र, मू० ३), डाकखर्च १॥=)।

इस तीसरे संस्करणमें मूल्यमें ॥) कमी कर दी गयी। पहले ३॥) था, वह घटाकर ३) कर दिया गया। पाठके टाइप उतने ही बड़े हैं। इस प्रतिमें पाद-टिप्पणीमें प्राचीन तथा अर्वाचीन मानस की इक्कीस खास-खास प्रतियोंके पाठ-भेद दिये गये हैं। भूमिका एवं मानस-व्याकरण देकर मानसके पाठपर विशेषरूपसे प्रकाश डाला गया है।

विक्रम-संवत् २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग

(सम्पादक—ज्यौतिषाचार्य ज्यौतिषतीर्थ पं० श्रीसीतारामजी झा, काशी)

आकार २४×३० आठपेजी, ग्लेज कागज, पृष्ठ ६४, सुन्दर टाइटल, मू० ।=) मात्र। बुकपोस्टसे मँगानेपर डाकखर्च =), कुल ॥=)। वी० पी० मँगानेपर रजिस्ट्रीखर्चसहित १=)। एक साथ अधिक मँगानेसे खर्च कम पड़ेगा।

सं० २०१४ के पञ्चाङ्गके तीन-तीन संस्करण छापनेपर भी अनेक लोगोंको निराश होना पड़ा। इस बार पञ्चाङ्गमें पञ्चाङ्गोपयोगी सूचनाओंके अतिरिक्त साधारण व्यवहारोपयोगी रेलभाड़ा, पार्सल तथा लगेजका भाड़ा, डाक-तार तथा इनकमटैक्स-सुपरटैक्सकी दरें आदि अनेक उपयोगी बातें भी दी गयी हैं। पचास हजार प्रतियोंके दो संस्करण समाप्त हो जानेपर पंद्रह हजारका तीसरा संस्करण छपा था, जिसमें थोड़ा ही बचा है; अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्रता करनेकी कृपा करेंगे।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

१–प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२–प्रकाशनकी अवधि—मासिक

३–मुद्रकका नाम—घनश्यामदास जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—साहबगंज, गोरखपुर

४–प्रकाशकका नाम—घनश्यामदास जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—साहबगंज, गोरखपुर

५–सम्पादकका नाम—(१) श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्०ए०, शास्त्री

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६–उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता–नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं, घनश्यामदास जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

ता० २८ फरवरी १९५८

घनश्यामदास जालान
प्रकाशक

7-1-15

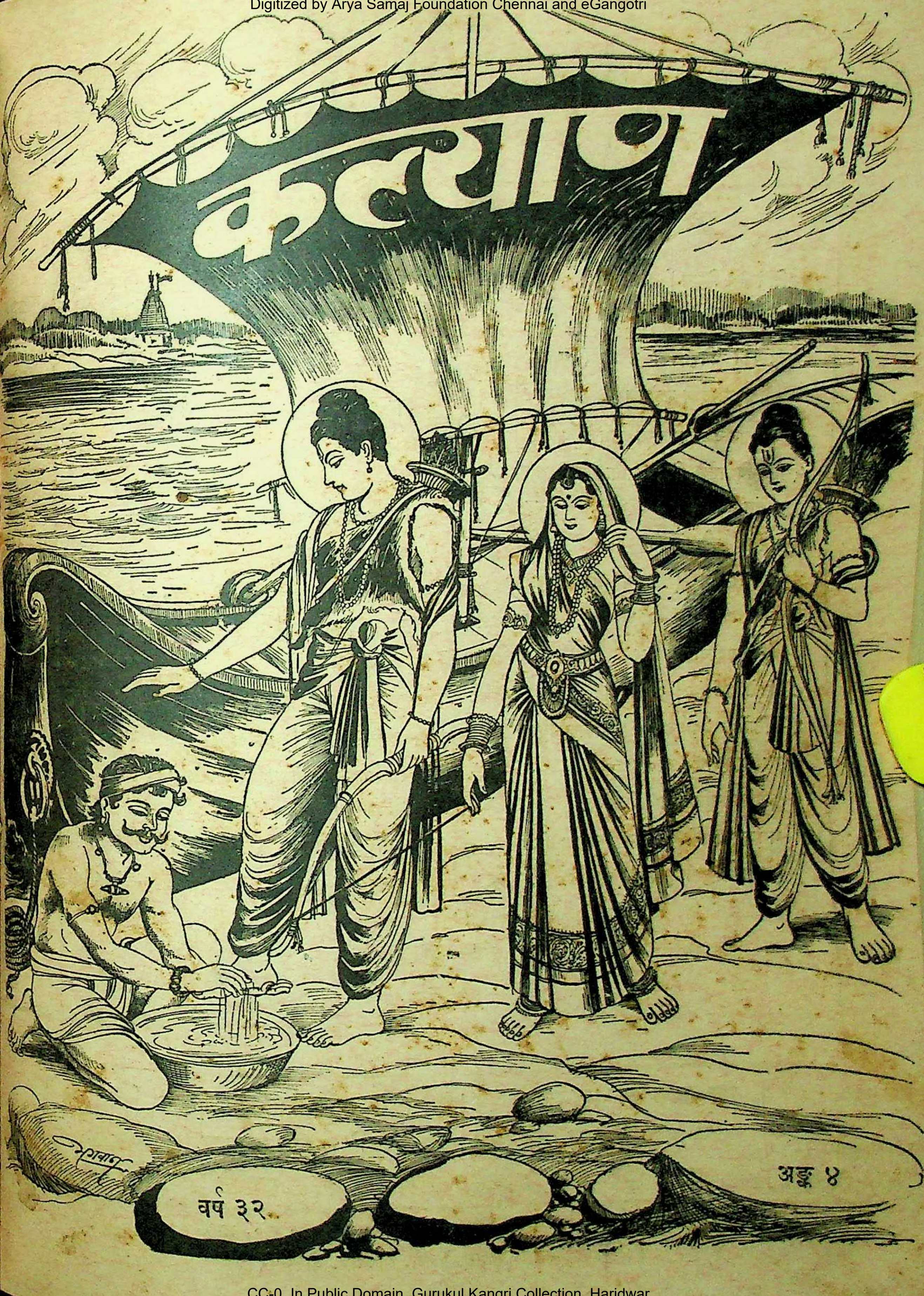
कल्याण
वर्ष ३२
अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१५, अप्रैल १९५८

विषय … पृष्ठ-संख्या
१–शिवजीसे विनय [कविता] … ८३७
२–कल्याण (‘शिव’) … ८३८
३–दुःखकी निवृत्तिका उपाय (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) … ८३९
४–बामगति चलैं काम करत हराम के [कविता] ८४२
५–गुण-विकासके लिये भक्ति अनुपेक्षणीय (संत श्रीविनोबा) … ८४३
६–प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … ८४७
७–वैष्णव-सदाचार … … ८५०
८–चंदके छल-छंद [कविता] … ८५८
९–भक्तिमें सर्वधर्मत्याग (श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए० बी० एल्०) … ८५९
१०–काशीका मुक्ति-दान [कविता] … ८६४
११–भगवान् महावीरके जीवनकी चार झाँकियाँ (मुनि श्रीसुशीलकुमारजी शास्त्री) … ८६५
विषय … पृष्ठ-संख्या
१२–गीताके वस्तुनिष्ठ (Objective) और आत्मनिष्ठ (Subjective) दृष्टिकोण (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार) … ८६९
१३–राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी) … … ८७१
१४–भक्त-गाथा … … ८७७
१५–एक मानसिक व्यथा—निराकरणके उपाय (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … ८८०
१६–क्षमा (श्रीपारसनाथसिंहजी एम्० ए०) ८८२
१७–कौन किसका है ? (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) … … ८८४
१८–पढ़ो, समझो और करो … ८८६
१९–दर्शनकी प्यास [कविता] … ८९४
२०–प्रार्थनामय जीवन (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) … … ८९५
२१–हमारे वितरण (श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) … … ८९८

चित्र-सूची

तिरंगा

१–हालाहल-पान … … … … ८३७

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२
गोरखपुर, सौर वैशाख २०१५, अप्रैल १९५८
संख्या ४
पूर्ण संख्या ३७७

शिवजीसे विनय

को जाँचिये संभु तजि आन ।
दीन दयालु भगत आरति हर, सब प्रकार समरथ भगवान ॥ १ ॥
कालकूट जुर जरत सुरासुर, निज पन लागि किए विष-पान ।
दारुन दनुज जगत दुख दायक, मारेउ त्रिपुर एक हीं बान ॥ २ ॥
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत श्रुति सकल पुरान ।
सो गति मरन-काल अपने पुर देत सदासिव सबहि समान ॥ ३ ॥
सेवत सुलभ उदार कलपतरु, पारबती पति परम सुजान ।
देहु काम रिपु राम चरन रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान ॥ ४ ॥

कल्याण

याद रक्खो—सच्ची शान्ति, सच्चे सुख और सच्ची सफलताका पूर्ण रहस्य ईश्वर-विश्वास या आत्मविश्वास है। जब तुम्हें यह विश्वास हो जायगा कि सुख, शान्ति और सफलता बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करतीं, वे तुम्हारे आभ्यन्तरिक विश्वासपर ही निर्भर हैं, तब तुममें उस विलक्षण शक्तिका उदय हो जायगा, जो बाहरी परिस्थितियोंको बदल देगी और सुख, शान्ति तथा सफलता सहज ही तुम्हें प्राप्त हो जायगी।

याद रक्खो—जब तुम्हें भगवत्कृपापर विश्वास होगा और भगवान्के अनुकूल चलने लगोगे, तब समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ तुम्हारी सहायता करने लगेंगी तथा सफलता तुम्हारे सामने घुटने टेककर अपनेको स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना करने लगेगी।

याद रक्खो—जब तुम्हारा ईश्वरपर विश्वास हो जायगा, तब तुम्हें यह अनुभव होगा कि तुम्हारे सारे योगक्षेमका भार ईश्वर वहन कर रहे हैं, वे प्रत्येक पतनसे तुम्हारी रक्षा करते हैं, तब तुम्हारे अंदर सहज ही निर्भयता और निश्चिन्तता आ जायगी।

याद रक्खो—ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसे तुम दूर न कर सको; ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसे तुम पार न कर सको; ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसपर तुम विजय प्राप्त न कर सको। बस ईश्वरपर, ईश्वरकृपापर और ईश्वरीय शक्तिपर तुम्हारा विश्वास होना चाहिये।

याद रक्खो—ऐसी कोई उत्तम स्थिति नहीं है। जो तुम्हें न प्राप्त हो सके; ऐसी कोई उत्तम स्थिति नहीं है, जो सत्य न हो और ऐसा कोई उच्च स्तर नहीं है, जिसपर तुम न पहुँच सको। भविष्यकी सारी विजय तुम्हारे हाथमें है; बस, तुम्हें सर्वशक्तिमान् नित्य परम-सुहृद् भगवान्की अमोघ कृपापर विश्वास होना चाहिये, भगवान्के शरण हो जाना चाहिये और उनके बलसे अपनेको परम बलवान् मान लेना चाहिये।

याद रक्खो—संसारमें सर्वोत्तम, सबसे अधिक संतोषजनक और निश्चित सफलता-पूर्ण सिद्धान्त यह है कि तुम अनन्त-शक्ति भगवान्की कृपापर विश्वास करो और उस कृपाके बलसे अपनी आत्मशक्तिको जाग्रत् करो। फिर बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियाँ तुम्हारा कुछ बिगाड़ तो कर ही नहीं सकेंगी, प्रत्युत उनका रूप बदल जायगा और वे तुम्हारे अनुकूल होकर तुम्हारी सफलतामें सहायक हो जायँगी।

याद रक्खो—अपनेको हीन समझना और परिस्थितियोंके सामने झुक जाना आत्महननके समान है। तुम्हारे अंदर ईश्वरीय शक्ति है, उस शक्तिके द्वारा तुम सब कुछ करनेमें समर्थ हो। परिस्थितियोंको बदलना भगवद्-कृपाके बलपर तुम्हारे हाथमें है। तुम हीन नहीं हो, तुम सर्वलोकपूज्य भगवान्के सनातन अंश हो। तुम दीन नहीं हो, तुम सर्वलोकमहेश्वर भगवान्की संतान हो। तुम निर्बल नहीं हो, सर्वशक्तिमान् महान् भगवान्का अनन्त बल तुम्हारी सहायताके लिये सदा प्रस्तुत है। तुम विश्वास करो और हीनताके मिथ्या संस्कारोंको मिटाकर महान् बन जाओ।

याद रक्खो—सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् तुम्हारे सुहृद् हैं। वे अपनी पूर्ण महानतासे नित्य तुम्हें महान् बनानेको तैयार हैं। तुम उनकी कृपापर विश्वास करो; उनकी शक्ति, सर्वज्ञता तथा सौहार्दपर विश्वास करो और पाओ, विरोधी परिस्थितियों तथा कष्टोंपर विजय प्राप्तकर सच्ची सुख-शान्ति और सफलताको प्राप्त करो।

'शिव'

दुःखकी निवृत्तिका उपाय

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

आकाशको चमड़ीके समान शरीरमें लपेटनेमें यदि मनुष्य समर्थ होगा, तभी वह देवके दर्शनके बिना, ईश्वरका साक्षात्कार किये बिना दुःखसे पार हो सकेगा । विधिमुखसे इसी बातको इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे आकाशको चमड़ीके समान शरीरमें लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार ईश्वरका दर्शन किये बिना दुःखसे पार पाना मनुष्यके लिये अशक्य है ।

यह श्लोक श्वेताश्वतर-उपनिषद्का है । इसके बादके तीन श्लोकोंमें यह कहा गया है कि श्रीश्वेताश्वतर ऋषिने बहुत दारुण तप किया था और उसके बाद उनको इस उपनिषद्का ज्ञान प्राप्त हुआ । अतएव किसी भी अनधिकारी पुरुषको इस उपनिषद्का ज्ञान नहीं देना चाहिये ।

परंतु आजके मुद्रणयन्त्रके वैज्ञानिक युगमें पैसेके अधिकारमें दूसरे सारे अधिकार समा जाते हैं । जैसे—एक निबन्धलेखकने लिखा, कुछ मासिक-पत्रोंमें वह प्रकाशित हुआ और उनके सारे ग्राहकोंको यह अमूल्य ज्ञान बिना मूल्य तथा बिना परिश्रमके मिल गया । ऐसी स्थितिमें मनुष्य अवश्य यह संतोष कर लेता है कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया । परंतु बाँच लेनामात्र कोई ज्ञान नहीं है । जबतक मनुष्य साधनसम्पन्न नहीं होता, तबतक ज्ञानकी बातका मर्म या रहस्य उसकी समझमें आता ही नहीं और इस कारण वह हृदयमें नहीं उतरता । ज्ञानको पचानेके लिये साधन-सम्पत्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है । अन्यथा वह ज्ञान केवल सुग्गेकी रट रह जाता है और केवल प्रदर्शन करनेमें ही उसका उपयोग होता है ।

ज्ञानके लिये अधिकारके विषयमें एक संतने बहुत सुन्दर बात लिखी है, उसे देखिये—भक्तिके बिना ज्ञान सम्भव नहीं है, शरणागतिके बिना भक्ति नहीं होती । सद्गुरुके बिना शरणागतिका भाव नहीं आता और मुमुक्षताके बिना सद्गुरुकी शरण नहीं मिलती । मैं कौन हूँ ? ईश्वर कौन है ? जगत् क्या है ? ज्ञान क्या है ?—यह जानकर स्वरूप-ज्ञान-प्राप्तिकी तीव्र इच्छाके बिना सच्ची मुमुक्षुता नहीं आती । वैराग्यके बिना तीव्र इच्छा नहीं होती । विषयका तिरस्कार हुए बिना वैराग्य नहीं टिकता । त्रिविध तापके संतापसे व्याकुल हुए बिना विषय-भोगके प्रति तिरस्कार नहीं होता । इन सब स्थितियोंमेंसे अपनी मनोदशाका विचार करके ही 'हे भगवन् ! मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'—यों कहनेका अधिकार मिलता है । भगवान्का ज्ञान नहीं है, अपना भी भान नहीं है और 'मैं भगवान्का भक्त हूँ, भगवान् मुझपर कृपा करके मुझको अवश्य दर्शन देंगे, मैं मुक्ति पाऊँगा'—ऐसा अनुमान करना व्यर्थ है । भगवान् कहेंगे कि तुझको अपनी फुरसतके समय भजन करनेकी आदत है तो मुझको भी अपनी फुरसतके समय ही सुननेकी आदत है ।

इस बातको शास्त्र इस प्रकार समझाते हैं—

विषयासक्तिनाशेन बिना न श्रवणं भवेत् ।
ताभ्यां विना न मननं न ध्यानं तैर्विना क्वचित् ॥

विषयासक्ति, भोग-लालसाका नाश किये बिना गुरु-उपदेशका यथार्थ श्रवण भी नहीं हो सकता । जबतक चित्त विषयोंमें ही भटकता रहता है, तबतक एकाग्रतापूर्वक श्रवण ही नहीं बन सकता । इसी प्रकार बाँचनेकी बात भी समझ लेनी चाहिये । जबतक श्रवण और पठन ठीक-ठीक नहीं होता, तबतक उसका मनन किस प्रकार हो सकता है ? और जिसका मनन न हो, वह विषय भला, अन्तःकरणमें स्थिर कैसे रह सकता है ?

और जो विषय अन्तरमें स्थिर न हो, वह जीवनमें कैसे उतर सकता है ?

फिर ज्ञानको स्थिर रहनेके लिये जगह चाहिये । ज्ञानके स्थिर होनेका स्थल है अन्तःकरण । उसमें यदि विषय-वासनाओंके जाले भरे हों तो वहाँ ज्ञान किस प्रकार रह सकेगा ? व्यवहारमें भी यही बात दीख पड़ती है । एक लोटेमें पानी भरा है; यदि उसमें दूध लेना हो तो पानी उँडेले बिना, यानी लोटेको खाली किये बिना उसमें दूध नहीं ले सकते । यही बात ज्ञानकी है । ज्ञानके लिये भी अन्तःकरणको खाली करना आवश्यक है । इस प्रकार ज्ञानके लिये अधिकारकी विशेष आवश्यकता है, उसके बिना ज्ञान नहीं होता ।

दुःखकी निवृत्तिके लिये जो देवके साक्षात्कारकी बात ऊपर कही गयी है, उसका स्वरूप समझाते हुए भगवान् श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

को देवो यो मनः साक्षी मनो मे ज्ञायते मया ।
तर्हि देवस्त्वमेवासि एको देव इति श्रुतेः ॥

शिष्य—देव कौन है ? देवका स्वरूप क्या है ?

गुरु—जो मनके व्यवहारको जानता है, वही देव है ।

शिष्य—अपने मनके व्यवहारको तो मैं ही जान सकता हूँ, दूसरा कोई भी नहीं जान सकता ।

गुरु—ऐसी अवस्थामें तुम स्वयं देव हो । तुम्हारा अन्तरात्मा ही वह देव है, जिसके दर्शनसे दुःखकी निवृत्ति होती है । इसका कारण श्रुति यह बतलाती है कि वह चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट हो, परंतु देव एक ही है और अद्वितीय भी है ।

उपर्युक्त संवादमें श्रीशंकराचार्यने श्रुतिका प्रमाण दिया है । वह श्रुति इस प्रकार है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

भले ही वह विभिन्न स्वरूपोंमें तथा स्थलोंमें प्रकट होते हों, तथापि जहाँ है वहाँ देव एक ही है । वह प्राणीमात्रके हृदयमें छिपा हुआ है । वह सर्वव्यापक है, यानी वह कहाँ नहीं है, यह कहना ही नहीं बनता । वह अप्रकट रहता है, फिर भी प्राणीमात्रमें अन्तरात्माके रूपमें स्थित है । उसके सांनिध्यमात्रसे प्राणी अपना-अपना व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं । वरं वही सचराचर जगत्को धारण कर रहा है । वही देव मन और बुद्धिके साक्षीरूपमें सर्वत्र प्रकट भी दीखता है; क्योंकि वह चिन्मात्र है, चैतन्यस्वरूप है । एक तथा अद्वितीय है तथा निर्गुण और गुणातीत भी है ।

उपर्युक्त मन्त्र भी श्वेताश्वतर उपनिषद्का है और उसमें ऋषि कहते हैं कि अन्तरात्मा ही देव है और आत्मसाक्षात्कारसे दुःखकी निवृत्ति होती है । इसी उपनिषद्में देवका सविशेष वर्णन इस रूपमें आता है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

उस देवका कोई शरीर नहीं और शरीर न होनेके कारण इन्द्रियाँ भी नहीं हैं, वह अद्वितीय है, यानी उसके जैसा दूसरा कोई नहीं है; उससे अधिक तो फिर कोई हो ही कैसे सकता है । श्रुति कहती है कि उसकी शक्तियाँ विविध और असाधारण हैं । परंतु उसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति स्वाभाविक रीतिसे ही काम करती रहती हैं । इन दोनों शक्तियोंकी स्वाभाविक क्रियाशीलताके कारण ही अनन्त ब्रह्माण्डोंका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ ही करता है ।

अब यदि दुःखकी निवृत्ति करनी है तो पहले उसका स्वरूप देखिये । साधारण अवलोकन करनेसे भी

हो जायगा कि बारंबार जन्मना और बारंबार मरना तथा उतनी ही बार गर्भवासकी यातनाएँ भोगना—इसके समान दूसरा कोई भी दुःख इस जगत्‌में नहीं है। आधि, व्याधि और उपाधि-जैसे दूसरे दुःख तो क्षणिक होते हैं और उनका परिपाक होनेपर वे निवृत्त भी हो जाते हैं तथा ये दुःख भी तो उन्हींको होते हैं, जिन्होंने जन्म लिया है। इसलिये इनका समावेश जन्मके दुःखके अन्तर्गत ही हो जाता है।

सुभाषित कहता है—

जन्म दुःखं जरा दुःखं जाया दुःखं पुनः पुनः।
अन्तकाले महादुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि॥

पहले गर्भवासका दुःख भोगना पड़ता है और फिर पाक-काल आनेपर जन्मका दुःख भोगना पड़ता है। यह दुःख कोई ऐसा-वैसा नहीं। जिस प्रकार कोल्हूमें पेरे जानेके बाद ईखका रस बाहर आता है, वैसे ही उस समयका यह दुःख है। उसके बाद वृद्धावस्थाके अनेकों दुःख भोगने पड़ते हैं। पुनः प्रत्येक जन्ममें स्त्री-पुत्र आदिके वियोगका दुःख भी भोगना ही पड़ता है और मृत्युका दुःख भी महाभयंकर होता है। इसीलिये सुभाषितकार कहते हैं—**जागृहि जागृहि** 'मोहनिद्रामें न पड़े रहो, ईश्वरका ज्ञान सम्पादन करो और जन्म-मृत्युरूपी समुद्रको पार कर जाओ।'

अब देवका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कारका स्वरूप देखकर निबन्ध समाप्त करेंगे। इसी उपनिषद्‌में इसका स्वरूप इस प्रकार समझाया गया है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

यह ब्रह्मचक्र इतना विशाल है कि इसमें सारे जीव अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते हैं और उसमें अवस्थित भी रहते हैं। इस ब्रह्मचक्रमें जीवात्मा (हंस) अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। क्यों उसे भ्रमण करना पड़ता है, इसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि वह अपनेको परमात्मासे भिन्न मानता है, इसी कारण उसे ब्रह्मचक्रमें भटकना पड़ता है। 'यह भटकना कैसे बंद हो?' इसका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि यदि जीवात्मा अपनेको परमात्मासे अभिन्न अनुभव करे तो उसी क्षण उसका भटकना बंद हो जाय और वह अपने मूल अजर, अमर और अविनाशी स्वरूपको प्राप्त हो जाय। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जबतक आत्मा अपनेको परमात्मासे पृथक् मानता है, तबतक वह जीव या जीवात्मा कहलाता है। जहाँ जीवभाव आया, वहाँ कर्त्ता-भोक्ताका अभिमान आता है और उससे जन्म-मरणकी परम्परामें भटकना अनिवार्य हो जाता है।

आत्मामें जीवभाव कैसे आता है, इसके विषयमें योगवासिष्ठमें लिखा है कि 'सृष्टिके आरम्भकालमें ब्रह्म ही सृष्टिरूप हो जाता है। ब्रह्मादिक, जो ब्रह्मरूप ही हैं; वे सृष्टिके आदिकालमें प्रकट हो जाते हैं; तथा दूसरे जीव भी, जो ब्रह्मरूप ही हैं, सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें प्रकट हो जाते हैं। जो अज्ञानके आवरणके कारण अपने ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको ब्रह्मसे पृथक् मानते हैं, वे रजोगुण और तमोगुणके द्वारा मिश्रित सत्त्वगुणके परिणाममें होनेवाले जीवभावको स्वीकार करके इस जगत्‌की वासनाके संस्कारसे युक्त होकर पहले मर जाते हैं। फिर प्रारब्धका भोग भोगनेके लिये उनका जन्म होता है; क्योंकि स्वयं ब्रह्मरूप होनेपर भी, इस बातको भूलकर वे जड देहादिमें आत्मबुद्धि करके जन्म-मरणके चक्रमें फिरा करते हैं। समयपर जब वे स्वयं ही अपने मूलस्वरूपको पहचान लेते हैं—मैं ही ब्रह्मरूप या परमात्मस्वरूप हूँ, यह निश्चय कर लेते हैं, तब उनका जन्म-मरण बंद हो जाता है। इस स्थितिको मोक्ष या मुक्ति कहते हैं।' (जिस अज्ञानके

आवरणके कारण जीव अपने ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको ब्रह्मसे पृथक् मानता है, उस अज्ञानको शास्त्र 'अविद्या' कहते हैं और वह मूलमें ही रहती है, अतएव उसे मूलाविद्या कहते हैं।)—यो० वा० नि० उ० सर्ग १४२।

अविद्याके कारण आये हुए इस जीवभावकी निवृत्तिके लिये इस नीचे लिखे श्लोकको खूब समझकर इसपर मनन करना चाहिये। ऐसा करते-करते जीव और शिवका अभेद समझमें आ जायगा और ब्रह्मचक्रमें भटकना बंद हो जायगा।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

इस शरीरको तो देवताका मन्दिर समझो। इसमें जो चैतन्य है जिसे जीव कहते हैं, वह स्वभावतः शिवस्वरूप ही है। अपने अज्ञानसे तुम व्यर्थ ही जीवरूप बन गये हो। अतएव इस अज्ञानरूपी निर्माल्यको शिवके ऊपरसे हटाकर मैं शिवस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा चिन्तन दृढतापूर्वक किया करो, इससे तद्रूप हो जाओगे।

इस बातका प्रमाण शास्त्रमें इस प्रकार मिलता है—

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमार्थतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकरूपताम्॥

क्रियामात्रसे आसक्ति हटाकर कीड़ा भ्रमरका ध्यान करते-करते भ्रमररूप हो जाता है। इसी प्रकार योगी, जो समस्त व्यवहारोंसे आसक्ति हटाकर केवल आत्माका ही ध्यान करता है, यदि तद्रूप हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इसीलिये श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्॥

प्रश्नोत्तरीमें प्रश्नरूपमें वे पूछते हैं कि रात-दिन किसका चिन्तन करना चाहिये? इसीका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह जन्म-मरणरूपी संसार मिथ्या है और मैं तो शिवस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये।*

◆

बाम गति चलैं काम करत हराम के।

राम गुन गान कौं प्रदान रसना जो भई,
तासौं गीत गाए काम के, ललाम बाम के।
सतत सरूप नासमान ही निहारे, जग
दरस किए न दृग स्याम अभिराम के।
हरि जस भाजन न श्रवन बनाए कवौं,
लहैं सुख सुनि निज जस निसि जाम के।
धरा धाम पै ह्वै दाम सेवक मुदाम नित
बाम गति चलैं काम करत हराम के।

—थानसिंह शर्मा सुभाषी

---

* शरीरका स्वास्थ्य तो ठीक है। ईश्वर-कृपासे उसमें कोई व्याधि या व्यथा भी नहीं है। तथापि वृद्धावस्थाके कारण अशक्ति बढ़ती जा रही है। इसलिये पत्र-व्यवहार चालू रखनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। अतएव कोई सज्जन पत्र लिखनेका कष्ट न करें, यह प्रार्थना है— चिदानन्द।

गुण-विकासके लिये भक्ति अनुपेक्षणीय

(संत श्रीविनोबा)

हमने देखा कि प्रकृति-शोधनकी प्रक्रियामें तीनों गुण सामने खड़े होते हैं और उनका शोधन करना पड़ता है। तमोगुणके निरसनके लिये शरीर-परिश्रम तथा अप्रमाद-वृत्ति ये दोनों साधन दीखते हैं। रजोगुणपर विजय पानेके लिये स्वधर्माचरण—सेवा-कार्यमें अच्छी तरह देह, मन और बुद्धिको सब साधनोंके साथ लगा देना चाहिये, जो सहज प्राप्त हैं और स्वाभाविक हैं।

आत्मस्वरूप ज्ञान बुद्धिसे भिन्न

आज मेरा सत्त्वगुणसे मुकाबला है। सत्त्वगुण हमें ज्ञानकी तरफ ले जाता है। इसलिये वह तारक गुण है। पर आत्माका स्वभावरूप जो ज्ञान है, वह एक चीज है और बुद्धि जो ज्ञानकी क्रिया है, वह दूसरी चीज है—जिसमें विद्वत्ता, पाण्डित्य, विश्लेषणात्मक ज्ञान-विज्ञान, सृष्टिके ज्ञान आदिका समावेश होता है। ये सारे ज्ञान मनुष्यके लिये लाभदायी भी होते हैं। फिर भी मनुष्यको इन ज्ञान-क्रियाओंका भान होता है। अगर सतत ज्ञानक्रिया करनेकी नौबत आये तो उससे बुद्धिको थकान आती है। इसलिये यह ज्ञान आत्मस्वरूप नहीं है।

सत्त्वका सत्त्वसे शमन

जो ज्ञान आत्मस्वरूप है, वह इससे भिन्न है। वह जीवनके लिये जरूरी है। वह सत्त्वगुणद्वारा प्राप्त होता है। अब आत्मस्वरूपसे भिन्न बुद्धिकी क्रियाके रूपमें जो ज्ञान मिलता है, उसके बोझसे कैसे छुटकारा मिले—यही सवाल हमारे सामने है। उसका नियमन कैसे किया जाय ? इसके लिये सूत्र यह है—'सत्त्वस्य सत्त्वेन' यानी 'सत्त्वस्य शमनं सत्त्वेन'। यहाँ शमनं अध्याहृत है। अर्थात् सत्त्वगुणद्वारा ही सत्त्वगुणका शमन होता है, जिसका मतलब यही होता है कि हम सत्त्वगुणको बढ़ाते ही चले जायँ। नदीके प्रवाहका वेग कैसे शमन होता है ? बीचमें बाँध डालकर रोकनेसे नहीं। उससे तो वह दूसरी दिशामें बह जायगी। उसे तो समुद्रतक जाने ही देना चाहिये। उत्कर्ष या प्राप्तव्य-स्थानपर पहुँचनेसे ही वह शान्त होता है। इसी तरह जब सत्त्वगुण अपने उत्कर्षतक पहुँच जाता और अपना प्राप्तव्य-स्थान प्राप्त कर लेता है, तभी उसका वेग शान्त होता और वह भी शान्त हो जाता है। जब बच्चा पहले बोलने लगता है, तब उसे और उसके मा-बापको उसके बोलनेका अभिमान होता है। पर बादमें जब बोलना उसके लिये स्वाभाविक हो जाता है, तब उसके बोलनेकी तरफ किसीका ध्यान भी नहीं रहता। वैसे ही जब बच्चा चलने लगता है, तब सबको अच्छा लगता है; पर जब चलना उसके लिये स्वाभाविक हो जाता है, तब भी क्या वैसा आदर मालूम होता है ? इसी तरह जब सत्त्वगुण मनुष्यके लिये स्वाभाविक हो जाता है, तब उसे उसका भान भी नहीं होता और उसका वेग भी शान्त हो जाता है। सूर्यको न तो अपने प्रकाशका और न अपने दातृत्वका ही भान होता है; क्योंकि प्रकाश देते रहना उसका स्वभाव है। नदीको अपने बहते रहनेके बारेमें कोई अभिमान नहीं होता; कारण, वह उसका स्वभाव ही है। वह उसके लिये कोई अभिमान-का विषय नहीं, अपने स्वभाववस्तुके लिये किसीको अभिमान नहीं हो सकता; जो बाहरसे प्राप्त गुण-स्वभाव होता है, उसके लिये अभिमान होता है।

स्वभावमें परिणत गुण अभिमान नहीं करता

सत्यनिष्ठ पुरुष हमेशा सत्य कहता है। उसका सत्य स्वभाव ही बन जाता है। उसे एक क्षणके लिये यह भास नहीं होता कि वह सत्य कहता है। हमने घड़ीको घड़ी कहा, तो कौन-सी बड़ी सत्य बात हुई ! उसके लिये क्यों अभिमान करें ? क्या मैं घड़ीको कलम कहता ? इसलिये सत्य बोलना तो उसके लिये स्वाभाविक बात है। उस हालतमें सत्यनिष्ठा क्या मालूम होगी ?

परंतु सत्य बोलनेमें किसीको अगर कुछ अभिमान होता है तो यह समझना चाहिये कि उसे सत्यनिष्ठा सधी नहीं है। उसने थोड़ा-सा सत्य बोलना आरम्भ किया है, लेकिन अभी भी उसमें काफी मात्रामें असत्य पड़ा है। इसलिये उसे सत्यका आभास होता है और इसीलिये वह जितना भी सत्य बोलता है, उसके लिये उसे अभिमान होता है।

यह मिसाल मैंने इसलिये दी कि इससे आपके ध्यानमें आ जायगा कि जबतक कोई गुण गुणके रूपमें रहता है और जबतक वह स्वभावमें परिणत नहीं हो जाता, तबतक उसके लिये मनुष्यको अभिमान हो सकता है। तबतक वह गुण उसके विकासमें, सम्पूर्ण सृष्टिके साथ एकरूप होनेमें बाधक हो सकता है। परंतु जब गुण स्वभावमें परिणत हो जाता है, तब सारी सृष्टिके साथ, दुनियाके साथ एकरूप होनेमें वह बाधक नहीं होता। फिर उस मनुष्यको समाजसे, दुनियासे अलग रहनेकी इच्छा भी नहीं होती। मनुष्यको यह लगता है कि समाजमें रहूँगा, दुनियाके साथ सम्बन्ध रखूँगा तो शायद मेरा वैराग्य ढीला पड़ जायगा, शायद मुझमें क्रोधका उदय होगा, मेरी सत्यनिष्ठा ढीली पड़ जायगी। किंतु इस तरह मनमें यह शायद होनेका मतलब है साधनामें कुछ कचापन, इसके कारण यह भय उत्पन्न हो रहा है। परंतु जब वह प्रेम, कारुण्य, सत्यनिष्ठा अपना स्वभाव ही हो जाता है, तब सारी दुनियासे—समाजसे एकरूप होनेमें किसी प्रकारकी तकलीफ नहीं और न किसी प्रकारकी बाधा ही होती है। इसलिये सत्त्वगुणके लिये यही उपाय है कि उसे बढ़ाते चले जाओ।

ब्रह्माण्ड-शक्तिके अनुग्रहसे सत्त्ववृद्धि

इसमें सवाल आता है कि सत्त्वगुण बढ़ानेमें आगे कुछ तकलीफ पेश आती है। उसके लिये कुछ मददकी जरूरत होती है। तो फिर क्या किया जाय? इसका उत्तर आगेके सूत्रमें है। 'भक्त्यैव तु विस्तार:'—भक्तिसे ही विस्तार है। उससे मदद मिलती है; क्योंकि अपने प्रयत्नकी भी एक हद है। उसके बाद कहींसे मदद मिलनी चाहिये, और वह मिलती ही है। वह सृष्टि मिलती है। मान लीजिये किसी मनुष्यके फेफड़े ठीक काम नहीं कर रहे हों, तो उसके लिये क्या उपाय करते हैं? मान लीजिये कि कोई क्षयरोगी है, उसे स्वच्छ हवा मिलनी चाहिये, तो हम उसे किसी ऊँची जगहपर ले जाते हैं; क्योंकि वहाँ उसको स्वच्छ हवा मिलेगी। जिसके फेफड़े अच्छे होंगे, वह तो वहीं कमरेमें भी अच्छी हवा खींच सकेगा; परंतु उस बीमारके लिये खुली हवा ही चाहिये; क्योंकि हवा खींचनेकी उसकी शक्ति क्षीण हो गयी है। इस तरह उसके फेफड़ोंको बाहरकी मदद दी जाती है, जो साधारण मनुष्यके लिये अनावश्यक है। हमारे इस शरीरमें किसी भी शक्तिकी कमी हो तो उसकी पूर्ति सृष्टिकी तरफसे होती है। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है? अगर किसीकी आँखें क्षीण हो रही हों, तो सूर्यकिरणोंकी मददसे वे दुरुस्त हो सकती हैं। इस तरह आँखोंका उपचार करते हुए मैंने एक भाईको देखा है, जो सूर्य-साधना कर रहे थे। सूर्यकी किरणें पर्वतोंपर पड़ती हैं, घासपर पड़ती हैं और वहाँसे जिन्हें परावृत किरणें कहते हैं, वे हमारी आँखोंमें आती हैं, तो उससे आँखें सुधर जाती हैं। इस तरह आँखोंकी जो शक्ति कम हुई थी, वह हमने बाहरसे हासिल की। यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब-न्यायके अनुसार होता है। हमारे शरीरमें जो तत्त्व या शक्ति है, वह सारे-के-सारे ब्रह्माण्डमें भी है। अगर शरीरमें उनकी कमी होती है, तो बाहरसे पूर्ति भी हो सकती है। हमारे शरीरमें खून है, तो सृष्टिमें पानी है। हमें आँखें हैं तो बाहर उसका तत्त्व सूर्यमें है। हमारे अंदर प्राण है, तो बाहर वायु है। हमारे खूनमें लोहा होता है तो बाहर सृष्टिमें भी वह रहता है। खूनमें लोहेका अंश कम होनेपर डाक्टर लोहा खानेके लिये कहते हैं यानी जिस चीजमें लोहेका अंश हो, ऐसी तरकारी खा गुड़ खानेके लिये कहते हैं। इस प्रकार बाहरसे मदद मिलनेकी प्रक्रियाको हम तत्त्वज्ञानकी भाषामें 'अनुग्रह' कहते हैं, हमारी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये हमारा

ब्रह्माण्ड-शक्तिका अनुग्रह होता है, ऐसी कोई शक्ति बाहर अवश्य है, जिसकी मदद आध्यात्मिकताके क्षेत्रमें जरूरत पड़नेपर हमें मिल सकती है।

अपनेको पहचानना आवश्यक

इसके लिये अपनेको अपने देहसे अलग करके पहचाननेकी जरूरत होती है। हमारे देहमें हम कौन हैं? इस शरीरमें कोई अलग चेतन वस्तु है, मैं स्पष्टत: अपने शरीरसे भिन्न हूँ। मेरा शरीर ही बीमार होता है, फिर वह दुरुस्त भी होता है। अगर मेरा एक हाथ या दूसरा कोई अवयव कट जाय तो मेरे 'मेरेपन' में कोई कमी नहीं होती। मेरा हाथ या आँख मैं नहीं, इसलिये मेरा वोटका अधिकार छीन नहीं लिया जाता। बुद्धिकी भी ऐसी ही बात है। मेरी स्मरण-शक्ति आजकल काम नहीं करती; ज्यादा चिन्तन करता हूँ तो थकान आती है; इसलिये मैं किसी डाक्टरसे जाकर शिकायत करता हूँ तो मेरी स्मरण-शक्ति या बुद्धिकी इस न्यूनताको जो पहचानता है, वह कौन है? स्पष्ट ही है कि वह कोई मेरी बुद्धिसे अलग वस्तु है। मेरा चरखा बिगड़ जाता है तो उसे दुरुस्त करनेके लिये मैं बढ़ईके पास ले जाता हूँ। लेकिन उस चरखेसे वह बढ़ई और मैं भिन्न हैं, वैसे ही वह डाक्टर और मैं दोनों ही मेरी बुद्धिसे भिन्न हैं। मेरी बुद्धिसे जितना वह डाक्टर अलग है, उतना ही अलग मैं हूँ। हम दोनों मिलकर उस बुद्धिको सुधारनेकी तरकीब निकालना चाहते हैं। मनुष्यकी बुद्धि क्षीण होती है। पर मनुष्य क्षीण नहीं होता, वह अक्षीण ही बना रहता है। इसीलिये वह बुद्धिको सुधारनेके निमित्त बाहरसे मदद माँग सकता है। इस प्रकार इस देह और बुद्धिसे भिन्न मैं हूँ।

इसी प्रकारसे सारी दुनियामें भी इस भौतिक सृष्टिसे भिन्न एक परमात्मा परमशक्ति है। उसका नाम कुछ भी दीजिये। उस शक्तिका अनुग्रह हमें मिल सकता है। सत्त्वगुणके उद्भवमें उसकी मदद मिल सकती है। सत्त्वगुणका उत्कर्ष करते हुए बीचमें उसका अभिमान न हो, अहंकार आरूढ़ न हो, इसलिये भी उसकी मदद माँगी जा सकती है। सत्त्वगुण तो तारक गुण है; परंतु अगर उसके अपनानेसे ही दोष पैदा होते हों तो उन दोषोंका वह स्वयं सुधार नहीं कर सकता। फिर उसका उत्कर्ष होकर उसके अपने स्वभावमें परिणत होनेतक जो बीचकी हालत है, उस समय होनेवाले तमोगुण और रजोगुणके हमलेसे मनुष्यको कौन बचायेगा? यहाँ उसका शास्ता है 'भक्त्यैव तु विस्तार:' इसलिये गुणविकासके लिये भक्तिका सहारा आवश्यक है और उस गुण-विकासकी प्रक्रियाका अन्त भी भक्तिमें करना पड़ता है। यह एक विशेषता आध्यात्मिक और पारमार्थिक साधनामें है।

बलवती बुद्धिकी मदद लेना भोलापन नहीं

हम अक्सर अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे निर्णय करनेकी बात कहा करते हैं। बहुत दफा कहते हैं, हम अपनी बुद्धिका निर्णय मानेंगे। यह क्या चीज है? अपनी बुद्धिका मतलब क्या है? बुद्धि-प्रामाण्यवादी कहते हैं कि बुद्धिके द्वारा निर्णय हो। यहाँतक तो यह ठीक है। निर्णय बुद्धिसे तो होना ही चाहिये। लेकिन जो यह मानते हैं कि निर्णय अपनी बुद्धिसे ही हो, वे अपनी बुद्धिका ही प्रामाण्य मानते हैं। उनका यह विचार बुद्धि-प्रामाण्यवाद नहीं। मैं मानता हूँ कि मेरा हाथ कमजोर है, इसलिये कई काम मैं अपने हाथसे नहीं कर सकता। अत: दूसरोंके मजबूत हाथोंसे वह काम करवा लेता हूँ। अगर मैं ही काम करता रहूँ हाथ टूट जाय तो भी परवा न करूँ, तो इसमें अक्लमन्दी नहीं है। वैसे ही अगर मैं जानता कि मेरी बुद्धि कमजोर है और दूसरेकी बुद्धि बलवान् तथा यह जानते हुए भी मैं अपनी ही बुद्धिसे निर्णय करूँगा—यह कहना मूर्खता है। जहाँ अपनी बुद्धि कमजोर हो, वहाँ अधिक बलवान् बुद्धिकी मदद लेना भोलेपनका लक्षण नहीं, वह अक्लकी ही प्रक्रिया है।

शक्तिभर बुद्धिका उपयोग न करना भी आलस्य

बुद्धि-प्रामाण्यवादी बुद्धिसे ही निर्णय करनेपर मानता है। लेकिन हमेशा स्वबुद्धि प्रमाण नहीं होती। अगर

वह सिर्फ अपनी बुद्धिको प्रमाण मानेगा तो उसके बलसे उसकी प्रगति तो होगी, लेकिन आगे उसमें बाधा आयेगी। जहाँ उसकी अपनी बुद्धिकी सीमा आयेगी, वहाँ आकर उसकी प्रगति रुक जायगी; लेकिन अपनी बुद्धिकी जहाँतक पहुँच है, उसके अंदर उसे उपयोगमें न लाना भी गलत होगा। अपने हाथसे मैं भारी काम नहीं कर सकता, पर एक लोटा उठा सकता हूँ। मेरा हाथ कमजोर है, परंतु उसमें एक लोटा उठानेकी ताकत है। अगर उतना भी करना नहीं चाहूँगा, उसके लिये भी दूसरेपर निर्भर रहूँगा तो वह आलस्यका लक्षण होगा। इसलिये अपनी बुद्धिकी पहुँचके अंदर उससे पूरा काम लेना चाहिये। लेकिन जहाँ उसकी पहुँच न होती हो, ज्यादा भार आता हो, वहाँ अपनी बुद्धिसे अधिक बलवान् बुद्धिकी मदद लेनेमें कोई दोष नहीं। हर बुद्धिका उपयोग करना हमारा कर्तव्य है। इसीलिये हम सज्जनोंका मार्गदर्शन लेते हैं। परस्पर विचार-विनिमय भी करना पड़ता है। कुरानमें एक वाक्य है कि इस्लामके अनुयायी भक्तगण परस्पर सलाह-मशविरेसे तय करते हैं। कुरानने तो इसमें भक्त-लक्षण माना है। परस्पर सलाह-मशविरा करना यह बुद्धिका ही लक्षण है।

परमेश्वरीय शक्ति काल्पनिक नहीं, अनुभव-सिद्ध है

परंतु दूसरोंकी बुद्धि भी कम पड़े तो क्या होगा? तो मानना होगा कि दुनियामें कोई एक परम शक्ति है, जिसे हम 'परमेश्वर' कहते हैं—उसका आधार मिलता है। उसका आधार लेते हैं तो मदद मिलती है। यह काल्पनिक वस्तु नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवकी चीज है। अपनी बुद्धि जहाँ कम पड़ती है, हम किसीको गुरु मानकर उनकी बुद्धिकी मदद ले सकते हैं फिर भी कम पड़े तो परमेश्वरका आश्रय ले सकते हैं। वह तो बैंक है, वहाँ हमारी पूँजी रखी हुई है। बापकी जैसी रखी है। वह उसका ट्रस्टी होकर बैठा है। माँगते ही वह हमें दे देता है। वह तो हमारा ही बैंक है। आपका पैसा कुछ ट्रंकमें है और कुछ बैंकमें। ट्रंकका पैसा खतम होनेपर माँगनेसे बैंकका पैसा मिल सकता है। वैसे ही आपकी बुद्धि ही वहाँ भरी है, लेकिन हम माँगते ही नहीं। बल्कि जानते भी नहीं कि कैसे माँगा जाता है। लेकिन वहाँ वह रखी है। उसीके सहारे विस्तार होता है।

सर्वत्र भक्तिकी जरूरत

इस तरह यहाँ भक्तिकी आवश्यकता होती है। भक्तिकी आवश्यकता गुण-विकासमें होती है। ज्ञानमें भी उसीकी जरूरत होती है। रजोगुण तथा तमोगुणके हमलोंसे बचनेके लिये भी भक्तिका सहारा लेना चाहिये। हर जगह उसकी जरूरत होती है। हमारी बुद्धि एक हदतक चलती है। मगर एक ऐसा बिन्दु होता है, जिसके बाद उससे नहीं चलता। उसकी शक्ति कम पड़ती है। उसके सप्लाईकी योजना विश्वमें मौजूद है। जो माँगकर ले सकेगा, उसे मिलेगी। जो माँगना नहीं जानता, उसे नहीं मिलेगी।

दरअसल भक्ति उस किनारेकी चीज है

मैं सोचता हूँ तो लगता है, लोग नाहक भक्तिको इस किनारे ले आते हैं। दरअसल वह तो उस किनारेकी चीज है। इस किनारे तो प्रयत्नवादका ही काम है। जहाँतक अपनी बुद्धि चलती है, वहाँतक तो प्रयत्न करते ही रहना है। लेकिन लोग गलत प्रकारसे भक्ति करते हैं। अपनी प्रयत्नकी शक्ति पूरी लगाये बिना वहाँसे माँग करते हैं। भगवान्ने जो पैसा दिया है, वह खर्च किये बिना—हमारे ट्रंकमें जो पैसे हैं, उनका उपयोग किये बिना अगर हम बैंकसे नये पैसे माँगें तो वे कहाँसे मिलेंगे? भक्ति तो वास्तवमें वहीं आती है, जहाँ हमारे सारे प्रयत्न टूट जाते हैं। पर हिंदुस्तानमें ऐसी ही भक्ति चलती है। इस आलसी भक्तिसे कैसे काम होगा? यह तो एक तरहसे ईश्वरदत्त शक्तिकी अवहेलना करना है। उस शक्तिकी अवहेलना करके अगर हम आलस्य-भक्तिसे काम लेना चाहें, तो उससे काम नहीं बनेगा।

प्रेषक—दुर्गाप्रसाद

प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ऋण लेनेवाला व्यक्ति ऋणदाताको जबतक ऋण नहीं चुका देता, तबतक उसका इस लोक या परलोकमें कहीं कभी छुटकारा नहीं हो सकता । मरनेके बाद ऋण लेनेवालेको दूसरे जन्ममें ऋणदाताके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र या गाय, बैल, घोड़ा आदि पशुके रूपमें जन्म लेकर ऋण चुकाना पड़ता है । ऋण चुकाये बिना ऋणसे मुक्ति हो ही नहीं सकती, फिर परमपदकी प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है । यहाँ सरकारके राज्यमें तो कानूनके अनुसार तीन वर्षके बाद रुपये लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है और भूमि, घर आदि स्थावर सम्पत्तिपर रुपया लेकर ऋणका कागज रजिस्ट्रेशन कराया हुआ हो तो बारह वर्षके बाद उन रुपयोंके भी लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है । किंतु भगवान्‌के यहाँ हजारों वर्ष बीत जानेपर भी ऋणकी इस प्रकार समाप्ति नहीं होती । व्याज (सूद) तो मूल रुपयोंसे अधिक न तो इस राज्यमें ही मिलता है और न परलोकमें ही । ऋणग्रहीता ऋणदाताका दिल दुखाकर जबरन् रुपयेका आठ आना या चार आना देकर उससे ऋण-मुक्तिका पत्र ले लेता है, तब भी शेष रुपयोंका ऋण ऋणग्रहीताके सिरपर रहता ही है । यदि ऋणदाताको मूलधन पूरा-का-पूरा दे दिया जाय और ब्याजको अनुनय-विनय करके क्षमा करा लिया जाय तो फिर ऋण तो सिरपर नहीं रहता, किंतु ऋणग्रहीता सहायता लेनेके रूपमें उसका उपकृत रहता है । यदि ऋणदाता अपना सर्वस्व भगवान्‌को समर्पण कर दे या वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय तो ऋणग्रहीता भगवान्‌का ऋणी होकर रहता है—जैसे इस लोकमें कोई मनुष्य मर गया और उसका कोई भी उत्तराधिकारी न हो तो उसके धनका स्वामित्व सरकारपर चला जाता है । एवं यदि उस मृत मनुष्यका कोई ऋणी है और वह उस ऋणके रुपयोंको सरकारको दे देता है तो वह ऋणसे मुक्त हो जाता है । यदि कोई ऋणदाता मर गया और उसके उत्तराधिकारी—लड़का, लड़की, भाई, बन्धुमेंसे कोई भी जीवित हों तो उनको ऋण चुका देनेसे ऋणग्रहीता ऋणसे मुक्त हो सकता है । यदि ऋणदाता तो जीता है और ऋणग्रहीता मर गया और ऋणग्रहीताके पिता, पुत्र, भाई, बन्धु या कुटुम्बके लोग ऋणदाताको ऋणग्रहीताका ऋण चुका दें तो ऋणग्रहीता उससे मुक्त हो सकता है; किंतु यदि उसके कुटुम्बवाले ऋण लेनेके समय उसके शामिल न रहे हों तो ऋण चुकानेवाले उन कुटुम्बीजनोंका ऋण-ग्रहीतापर उपकार माना जायगा ।

दान, दहेज और उपकार—इन तीनोंका अलग-अलग हिसाब है । इसे उदाहरणसे यों समझना चाहिये—

एक धनी वैश्यके एक विवाहिता लड़की थी । उस लड़कीके एक कन्या थी । उस कन्याके विवाहके लिये कम-से-कम दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता थी, किंतु उस लड़की और उसके पतिके पास किसी प्रकारका धन नहीं था; अतः लड़कीने अपने धनी पितासे कन्याके विवाहके लिये दो हजार रुपयोंकी इस प्रकार याचना की—'आप मुझे पाँच सौ रुपये तो जो मेरे आपके यहाँ जमा हैं, वे दे दीजिये; पाँच सौ रुपये घरके रीति-रिवाजके अनुसार आप दहेजमें देंगे ही । इनके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये आप कन्याके विवाहमें सहायता-के रूपमें दे दीजिये, तथा शेष पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दे दीजिये, जिन्हें मेरे पतिदेव उपार्जन करके चुका देंगे ।' इसपर वह वैश्य राजी हो गया और उसके कथनानुसार रुपये दे दिये, जिससे कन्याका विवाह हो गया ।

अब इन रुपयोंके सम्बन्धमें यों समझना चाहिये। पाँच सौ रुपये जो लड़कीके पिताके यहाँ जमा थे, वह तो पितापर ऋण था; अतः पिता उस ऋणसे मुक्त हो गया। तथा पाँच सौ रुपये जो पिताने दहेजके रूपमें दिये, उनपर उस लड़कीका अपना स्वत्व था, वह उसने पा लिया; अतः उन रुपयोंका किसीके साथ कोई लेन-देन नहीं रहा। पिताने जो पाँच सौ रुपये सहायताके रूपमें दिये, उनके लिये लड़की पिताकी उपकृत है, किंतु ऋणी नहीं। शेष पाँच सौ रुपये जो लड़कीने ऋणके रूपमें अपने पितासे लिये, उन रुपयोंको लड़की और उसके पतिको चुकाना होगा, चुकानेसे ही वे उस ऋणसे मुक्त हो सकते हैं। यदि इस जन्ममें वे रुपये नहीं चुकाये गये तो उन दोनोंको भावी जन्ममें किसी-न-किसी रूपमें उन्हें चुकाना पड़ेगा।

कोई मनुष्य किसीको दान देता है या किसीकी किसी प्रकारकी सहायता (उपकार) करता है या सेवा करता है तो उस दान या सहायता देने और सेवा करनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार फल मिलता है। यदि वह इस लोककी अथवा परलोककी किसी कामनाको लेकर ऐसा करता है, तब तो उसकी कामनाकी सिद्धि होती है और यदि कर्तव्य समझकर निष्काम भावसे करता है तो उसकी आत्मा पवित्र होकर उस उपकार अथवा सेवाके फलस्वरूप उसका उद्धार हो सकता है। दान या सहायता लेनेवाला और सेवा करानेवाला यदि उसका अधिकारी है—जैसे ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, माता-पिता, स्वामी, गुरु आदिका अपने पुत्र, भृत्य, शिष्य आदिसे सेवा करानेका अधिकार है—तो इस अधिकारके अनुसार दान, सहायता, सेवा लेनेवाले व्यक्ति उपकृत नहीं माने जाते। इनके अतिरिक्त जो भी किसीसे दान, सहायता या सेवा स्वीकार करता है, वह उसका उपकृत है; उसके बदलेमें उसकी सहायता, सेवा करना और उसका हित चाहना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता तो यह उसकी कृतघ्नता है। कृतघ्नता भी एक प्रकारका पाप ही है। जैसे पाप करनेवाला दण्डका भागी होता है और वह उस पापका फल भोगकर या ईश्वरके नामका जप, व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयमरूप तप, प्राणियोंका उपकार आदि या शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही वह कृतघ्न भी पापका फल भोगकर या उपर्युक्त साधन करके पापसे मुक्त हो सकता है। किंतु ऋणी तो ऋण चुकानेपर ही मुक्त होता है; किसी प्रायश्चित्तसे नहीं।

ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वर्णवालोंको अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दान लेनेका अधिकार नहीं है। पर इनमेंसे कोई आपत्तिकालमें यदि ऋण चुकानेके लिये किसीसे सहायताके रूपमें दान लेकर अपना ऋण चुका दे या ऋण छोड़ देनेके लिये ऋणदातासे अनुनय-विनय करनेपर ऋणदाता उसे सहायताके रूपमें ऋणमुक्त कर दे तो वह ऋणसे मुक्त हो सकता है। किंतु उसे सहायता देनेवालेकी अथवा ऋण छोड़ देनेवाले ऋणदाताकी बदलेमें समय-समयपर सेवा-सहायता करना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न समझा जाता है। इसीलिये धर्ममें आस्था रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दान या सहायता न लेकर ऋण ही लेते हैं; क्योंकि ऋणके रुपये चुकानेका तो उसपर भार रहता है, किंतु सेवा, दान और उपकारका विस्मरण भी हो जाता है, जिससे वे प्रत्युपकार नहीं कर पाते और फलस्वरूप कृतघ्न हो जाते हैं। यद्यपि ऋण और कृतघ्नता दोनों ही अपने-अपने स्थानपर बड़े भारी दोष हैं, तथापि उनमें कृतघ्नताका दोष तो जप, तप, व्रत, उपवास और प्रायश्चित्त आदि करनेसे दूर हो सकता है; किंतु ऋणसे छुटकारा तो ऋणदाताका ऋण चुकानेपर ही होता है।

इसलिये ऋणग्रहीता मनुष्यको, जिस-किसी प्रकारसे हो, ऋण चुका ही देना चाहिये। यदि ऋण चुकानेके लिये रुपये न हों तो अपने पास भूमि, घर, आभूषण आदि जो कुछ भी हो, उसे देकर ऋणदाताको संतुष्ट करना चाहिये। इससे भी ऋण पूरा न हो तो जितना ऋण बचे, उसके लिये ऋणदाताके कथनानुसार हैंडनोट आदि लिखकर संतोष कराये। अथवा यदि वह नौकरी-पर रखकर अपना रुपया वसूल करना चाहे तो उसकी नौकरी करके भी उसका ऋण चुका देना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय, यदि अपनेको अथवा अपनी स्त्री-पुत्र आदिको बन्धक रखने या बेचनेसे भी ऋण चुकाया जा सकता हो तो चुका देना चाहिये। यदि ऋणदाता नालिश कर दे तो हाकिमसे कह देना चाहिये कि मुझे यह रुपया देना है, आप मुझपर डिग्री दे दें।' उसपर भी ऋणदाता संतुष्ट न हो और ऋणग्रहीताको कैद कराना चाहे तो उसके संतोषके लिये प्रसन्नता-पूर्वक कैद भी भोग लेनी चाहिये, पर किसी भी अवस्था-में ऋणदाताका प्रतिकार नहीं करना चाहिये।

अतएव मनुष्यको, जहाँतक हो, प्रथम तो ऋण कभी लेना ही नहीं चाहिये। यदि परिस्थितिवश लेना ही पड़े तो उसे जीतोड़ प्रयत्न करके उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें न्याययुक्त रीतिसे चुका ही देना चाहिये।

अनाथालय, गोशाला, पाठशाला, धार्मिक संस्था, मठ, मन्दिर, क्षेत्र आदिके रुपये, अन्य किसी धार्मिक कार्यके लिये एकत्र किये हुए रुपये तथा ब्राह्मण, विधवा स्त्री, बहिन-बेटी आदिके रुपये तो अन्य ऋणोंकी अपेक्षा भी अधिक भाररूप होते हैं। इसलिये अपनेपर कभी आपत्ति आये तो मनुष्यको पहले इस ऋणको चुका देना चाहिये। यदि अपने पाससे भी दान देकर उनके नामसे खातेमें जमा कर लिया गया हो, तो भी वही बात समझनी चाहिये; क्योंकि जो रुपये जिसको दिये जा चुके, वे उसीके हो गये। इस विषयमें कोई-कोई व्यक्ति यह मान लेते हैं कि हमारे पिताने मरते समय इतने रुपये धर्मार्थ निकाले थे अथवा हमने ही ये रुपये धर्मार्थ निकाले थे, इनको यदि हम न भी दें तो कोई आपत्ति नहीं है; किंतु यह समझना भूल है। क्योंकि धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको कोई मालिक बनकर तो जबरन् वसूल करता नहीं, भगवान् भी प्रकटमें आकर माँगते नहीं; इसलिये उन रुपयोंका भार तो अपने ऊपर विशेषरूपसे मानना चाहिये।

ऐसे रुपयोंको या तो कहीं अन्यत्र जमा करके अच्छे आदमियोंका उनपर अधिकार कर देना चाहिये; या गोशाला, विद्यालय, मन्दिर आदि जिस कार्यके लिये रुपये जमा किये गये हों, उस कार्यमें तुरंत लगा देना चाहिये; अथवा अच्छे-अच्छे आदमियोंका एक ट्रस्ट बनाकर उनके हाथमें सौंप देना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर संकट और विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं और जब विपत्ति आती है तब पावनेदार तो जबरन् उनको वसूल कर सकता है; किंतु जिसका भगवान्‌के सिवा कोई मालिक नहीं है, उस धनको कौन वसूल करे। अतः वह ऋणीके सिरपर ही रह जाता है। जिस प्रकार लावारिश-के धनकी मालिक सरकार होती है, उसी प्रकार धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंके मालिक भगवान् हैं। अतः भगवान् उस ऋणीको इस जन्ममें या भावी जन्ममें सरकारके द्वारा अतिशय कर लगा देना, दैवी प्रकोपके द्वारा धन नष्ट कर देना आदि नाना प्रकारके संकटोंमें डालकर उससे रुपये वसूल करते हैं। अतएव मनुष्यको धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको गुरुतर समझकर शरीर रहते-रहते ही उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

* * *

वैष्णव-सदाचार

(गताङ्कसे आगे)

श्रीनृसिंहचतुर्दशी

वैशाखे शुक्लपक्षे तु चतुर्दश्यां महातिथौ ।
नृहरेरवतारात् तां यत्नतः समुपोषयेत् ॥
महापुण्यतमायां च सायं विष्णुं प्रपूजयेत् ।

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'वैशाख मासके शुक्लपक्षमें चतुर्दशी महातिथिको श्रीनरसिंहभगवान् अवतरित हुए थे । इस महापुण्यमयी तिथिमें उपवास करके संध्याकालमें भगवान् विष्णुकी पूजा करे ।' परंतु बृहन्नरसिंहपुराणमें त्रयोदशी-विद्धा चतुर्दशीमें उपवास-का निषेध है ।

जैसे—

वैष्णवैर्न तु कर्त्तव्या स्मरविद्धा चतुर्दशी ।

श्रीजन्माष्टमी-व्रत

इस व्रतके सम्बन्धमें गौतमीय तन्त्रमें लिखा है—

अथ भाद्रासिताष्टम्यां प्रादुरासीत्स्वयं हरिः ।
ब्रह्मणा प्रार्थितः पूर्वं देवक्यां कृपया विभुः ॥
रोहिण्यृक्षे शुभतिथौ दैत्यानां नाशहेतवे ।
महोत्सवं प्रकुर्वीत यत्नतस्तद्दिने शुभे ॥
राजन्यैर्ब्राह्मणैर्वैश्यैः शूद्रैश्चैव स्वशक्तितः ।
उपवासः प्रकर्त्तव्यो न भोक्तव्यं कदाचन ॥
कृष्णजन्मदिने यस्तु भुङ्क्ते स तु नराधमः ।
निवसेन्नरके घोरे यावदाभूतसम्प्लवम् ॥

'ब्रह्माके द्वारा प्रार्थित होनेपर स्वयं श्रीहरि दैत्योंका नाश करनेके लिये रोहिणी नक्षत्रसे युक्त शुभ तिथि भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीको कृपापूर्वक देवकीके गर्भसे प्रादुर्भूत हुए थे । अतएव उस शुभ दिनको यत्नपूर्वक महोत्सव करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करें, कदापि भोजन न करें । जो मनुष्य श्रीकृष्णके जन्मके दिन भोजन करता है, वह नराधम महाप्रलयपर्यन्त घोर नरकमें वास करता है ।' यह व्रत अवश्यकर्तव्य है । विष्णुरहस्यमें लिखा है—

कृष्णजन्माष्टमीं त्यक्त्वा योऽन्यव्रतमुपासते ।
नाप्नोति सुकृतं किंचिद् दृष्टं श्रुतमथापि वा ॥
धनधान्यवहा पुण्या सर्वपापहरा शुभा ।
समुपोष्या नरैर्व्रताज्जयन्ती कृष्णभक्तिदा ॥

'जन्माष्टमी-व्रतका परित्याग करके जो मनुष्य अन्य व्रतका अनुष्ठान करता है, उसको दृष्ट या श्रुत कोई भी पुण्य-फल नहीं प्राप्त होता । जयन्ती अर्थात् जन्माष्टमीमें उपवास करनेसे यह शुभ तिथि धन-धान्य और पुण्य प्रदान करती है, सारे पापोंको हर लेती है, मङ्गलविधान करती है तथा श्रीकृष्णभक्ति प्रदान करती है ।'

वर्जनीया प्रयत्नेन सप्तमीसंयुताष्टमी ।
विना ऋक्षेण कर्त्तव्या नवमीसंयुताष्टमी ॥

(पद्मपुराण)

'(रोहिणी नक्षत्र होनेपर भी) सप्तमीयुक्ता अष्टमीका व्रत नहीं करना चाहिये । यदि रोहिणी नक्षत्र न भी प्राप्त होता हो तो भी नवमीयुक्ता अष्टमीको ही उपवास करना ठीक है ।'

तथा—

पूर्वविद्धा यथा नन्दा वर्जिता श्रवणान्विता ।
तथाष्टमीं पूर्वविद्धां सऋक्षां च विवर्जयेत् ॥

(पद्मपुराण)

'जैसे दशमीविद्धा एकादशी श्रवणनक्षत्रसे युक्त होनेपर भी वर्जित है, उसी प्रकार सप्तमीविद्धा अष्टमी रोहिणी नक्षत्र-युक्त होनेपर भी वर्जित है ।' परंतु—

सप्तमीसंयुताष्टम्यां निशीथे रोहिणी यदि ।
भविता चाष्टमी पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

अर्थात् 'यदि सप्तमीयुक्त अष्टमीको आधीरातमें रोहिणी नक्षत्र आ जाय तो उस अष्टमीको व्रत करनेसे जबतक चन्द्र-सूर्य रहेंगे, वह तबतकके लिये पुण्यप्रदा होगी ।'

श्रीराधाष्टमी

भाद्रशुक्ला अष्टमीको 'राधाष्टमी'का व्रत करे । मध्याह्न-कालमें कलशपर स्थापित श्रीराधिकाजीकी स्वर्णमयी प्रतिमाका पूजन करे और एकभुक्त व्रत करे । शक्ति हो तो पूर्ण उपवास करे । दूसरे दिन भक्तिपूर्वक सुवासिनी स्त्रियोंको भोजन कराके पश्चात् स्वयं भोजन करे । राधाष्टमीका व्रत करनेसे व्रजका परम गुह्य रहस्य जाना जाता है और व्रतीको श्रीराधा-परिकरोंमें स्थान मिलता है—

व्रतेनानेन विप्रर्षे कृतेन विधिना व्रती ।
रहस्यं गोष्ठजं लब्ध्वा राधापरिकरे वसेत् ॥

श्रीवामनद्वादशी

भाद्रस्य शुक्लद्वादश्यां युक्तायां श्रवणेन हि ।
उपोष्य संगमे स्नात्वा देवं वामनमर्चयेत् ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'भाद्रपदमें शुक्लपक्षकी द्वादशी यदि श्रवण नक्षत्रसे युक्त हो तो उस दिन व्रती रहकर नदी-संगमपर स्नान करके श्रीवामनभगवान्‌की अर्चना करे ।'

नारदपुराणमें कहा है—

यदि न प्राप्यते ऋक्षं द्वादश्यां वैष्णवं क्वचित् ।
एकादशी तदोपोष्या पापघ्नी श्रवणान्विता ॥
दिनद्वयेऽपि श्रवणाभावे तद्योगहानितः ।
एकादश्यामुपोष्यैव द्वादश्यां वामनं यजेत् ॥

'यदि द्वादशीको किसी भी समय वैष्णव नक्षत्र (श्रवण) प्राप्त न हो तो श्रवणयुक्ता एकादशीको ही उपवास करना चाहिये । वह सब पापोंका नाश करती है । यदि दोनों तिथियोंमें श्रवण नक्षत्रका अभाव हो तो एकादशीको उपवास करके द्वादशीको वामनभगवान्‌की अर्चा करे ।'

संकल्प-मन्त्र—

एकादश्यां निराहारः स्थित्वा चैवापरेऽहनि ।
भोक्ष्ये श्रीवामनानन्त ! शरणागतवत्सल ॥

'हे शरणागतवत्सल ! हे अनन्त ! हे वामनदेव ! मैं एकादशीको निराहार रहकर दूसरे दिन भोजन करूँगा ।'

श्रीशिवरात्रि

शिवरात्रिव्रतं कृष्णचतुर्दश्यां तु फाल्गुने ।
वैष्णवैरपि तत् कार्यं श्रीकृष्णप्रीतये सदा ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'फाल्गुन मासकी कृष्णाचतुर्दशीको शिवरात्रि-व्रत होता है । यह व्रत सदा वैष्णवोंको भी श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये करना चाहिये ।' पद्मपुराणमें आया है—

सौरो वा वैष्णवो वान्यो देवतान्तरपूजकः ।
न पूजाफलमाप्नोति शिवरात्रिबहिर्मुखः ॥

'सूर्यका उपासक हो, वैष्णव हो, कोई दूसरा हो अथवा किसी अन्य देवताकी पूजा करनेवाला हो, शिवरात्रि-व्रत न करनेपर उसे पूजाका फल नहीं प्राप्त होता ।'

शिवरात्रौ च कर्तव्यं नियमेन त्रयं बुधैः ।
उपवासो महादेवपूजा जागरणं निशि ॥

'बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि शिवरात्रिको तीन बातें विधिपूर्वक करें—उपवास, शङ्करजीका पूजन और रात्रिमें जागरण ।'

व्रत-विधि

सायं शिवालयं गत्वा शुचिराचम्य च व्रती ।
कृत्वा शिवाग्रे संकल्पमारभेत तदर्चनम् ॥
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण शतरुद्रेण वा द्विजः ।
क्षीरादिभिश्च शुद्धाद्भिर्धारया स्नापयेच्छिवम् ॥
महार्चां विधिना कृत्वा गन्धपुष्पतिलादिभिः ।
समर्प्य धूपदीपादीन् शङ्खेनार्घ्यं निवेदयेत् ॥

'व्रती पवित्र होकर संध्याकालमें शिवालयमें जाकर आचमन करके शिवजीके आगे संकल्प करके उनकी पूजा आरम्भ करे । द्विज पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) मन्त्र या शतरुद्रिय मन्त्रोंका पाठ करके क्रमशः दुग्ध, घृत, मधु तथा विशुद्ध जलके द्वारा शिवजीको स्नान कराये । तत्पश्चात् विधिपूर्वक गन्ध, पुष्प, तिल आदिके द्वारा महापूजा करके धूप-दीप निवेदन करते हुए शङ्खके द्वारा अर्घ्य प्रदान करे ।'

अर्घ्य-प्रदानका मन्त्र

गौरीवल्लभ देवेश सर्पाढ्य शशिशेखर ।
वर्षपापविशुद्ध्यर्थमर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम् ॥

'हे गौरीवल्लभ ! हे देवेश ! हे सर्पविभूषण ! हे चन्द्रशेखर ! वर्षभरके पापोंको दूर करनेके लिये मैं यह अर्घ्य प्रदान करता हूँ, इसे ग्रहण कीजिये ।'

आचार्यं परिपूज्याथ दत्त्वा तस्मै च दक्षिणाम् ।
विधिवज्जागरं कृत्वा प्रातः पारणमाचरेत् ॥

'तत्पश्चात् आचार्य, पुरोहित अथवा पुजारीको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक जागरण करके प्रातःकाल पारण करे ।'

भगवान् शिव और विष्णुमें भेदबुद्धि न करे । भगवान् विष्णुके वचन हैं—

यः शिवः सोऽहमेवेह योऽहं स भगवान् शिवः ।
नावयोरन्तरं किंचिदाकाशानिलयोरिव ॥

(हयशीर्षपञ्चरात्र)

'जो शिव हैं, वही मैं हूँ; जो मैं हूँ, वही भगवान् शिव हैं । जैसे आकाश और वायुमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही शिवमें और मुझमें कोई भेद नहीं है ।'

भगवान् शिवने भी कहा है—

यो ह्यहं स हरिर्ज्ञेयो यो हरिः सोऽहमित्युत ।
नावयोरन्तरं किंचिद् दीपयोरिव सुव्रत ॥
एनं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि योऽन्वेत्येनं स मानुगः ॥
(स्कन्दपुराण, कुमार०)

'जो मैं हूँ, वही भगवान् शिव हैं, जो भगवान् विष्णु हैं, वही मैं हूँ । जैसे दो दीपकोंमें प्रकाशकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं होता, वैसे ही हम दोनोंमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है । जो उनसे द्वेष करता है, वह मुझसे ही द्वेष करता है । जो उनका अनुगमन करता है, वह मेरा ही अनुगमन करता है ।'

श्रीरामनवमी

चैत्रे मासि नवम्यां तु जातो रामः स्वयं हरिः ।
पुनर्वस्वृक्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्वकामदा ॥
सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत् ॥
नवमी चाष्टमीविद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः ।
उपोषणं नवम्यां वै दशम्यामेव पारणम् ॥
दशम्यां पारणायाश्च निश्चयान्नवमीक्षये ।
विद्धापि नवमी ग्राह्या वैष्णवैरप्यसंशयम् ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी नवमीको स्वयं हरि श्रीरामचन्द्रने अपनेको प्रकट किया था । पुनर्वसु नक्षत्रका योग होनेपर यह तिथि सब कामनाओंको सिद्ध करती है । मध्याह्न-समयमें पुनर्वसुका योग होनेपर तो यह तिथि महापुण्यस्वरूपा बन जाती है । वैष्णवोंको अष्टमीविद्धा नवमीका त्याग करते हुए शुद्धा नवमीमें उपवास करके दशमीको पारण करना चाहिये । दशमीको पारण करना ही चाहिये; अतएव यदि नवमीका क्षय हो तो अष्टमीविद्धा नवमीमें उपवास करे ।'

अगस्त्यसंहितामें लिखा है—

एकामपि नरो भक्त्या श्रीरामनवमीं मुने ।
उपोष्य कृतकृत्यः सन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

'मनुष्य यदि एक भी श्रीरामनवमी-व्रत भक्तिपूर्वक कर लेता है तो वह कृतकृत्य हो जाता है और सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।'

शालग्राम-पूजा

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

सेव्या निजनिजैरेव मन्त्रैः स्वस्वेष्टमूर्त्तयः ।
शालग्रामात्मके रूपे नियमो नैव विद्यते ॥
शालग्रामशिलास्पर्शात् कोटिजन्माघनाशनम् ।
किं पुनर्यजनं तत्र हरिसांनिध्यकारकम् ॥

अर्थात् अपने-अपने इष्ट-मन्त्रोंद्वारा श्रीशालग्राम-शिलामें अपने-अपने अभीष्ट देवकी अर्चना करे । इस पूजा-कार्यमें कोई नियम नहीं है । शालग्राम-शिलाके स्पर्शमात्रसे कोटि जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं । अतएव उनकी पूजा करनेसे जो फल होता है, उसे कहाँतक कहें । उसके द्वारा श्रीहरिके चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है ।'

पद्मपुराणमें शालग्राम-पूजाका माहात्म्य इस प्रकार मिलता है—

कामैः क्रोधैः प्रलोभैश्च व्याप्तो योऽत्र नराधमः ।
सोऽपि याति हरेर्लोकं शालग्रामशिलार्चनात् ॥
दीक्षाविधानमन्त्रज्ञश्चक्रे यो बलिमाहरेत् ।
स याति वैष्णवं धाम सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥

'इस संसारमें जो नराधम काम, क्रोध और लोभसे परिपूर्ण हैं, वह भी यदि शालग्राम-शिलाकी अर्चना करता है तो उसे विष्णुलोककी प्राप्ति होती है । दीक्षा-विधानके अनुसार जिसने मन्त्र ग्रहण किया है, वह यदि शालग्राम-शिलाको पूजोपहार प्रदान करता है तो वह विष्णुलोकको जाता है ।' स्कन्दपुराणका वचन है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां सच्छूद्राणामथापि वा ।
शालग्रामेऽधिकारोऽस्ति न चान्येषां कदाचन ॥

अर्थात् 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा सत्-शूद्र—इनका शालग्रामपूजामें अधिकार है । अन्यका अर्थात् असत् शूद्रका अधिकार नहीं है ।' पद्मपुराणका वचन है—

स्त्रियो वा यदि वा शूद्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियादयः ।
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदम् ॥

'स्त्री, शूद्र या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—कोई भी शालग्रामकी पूजा करके नित्यधाम वैकुण्ठको प्राप्त कर लेता है ।'

श्रीमूर्ति और उसकी पूजा

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा मता ॥
(श्रीमद्भागवत)

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं—'हे उद्धव ! मेरी प्रतिमा आठ प्रकारकी होती है—(१) पत्थरसे निर्मित, (२) दारुमयी अर्थात्

काष्ठद्वारा निर्मित; (३) धातुमयी अर्थात् स्वर्णादि धातुद्वारा निर्मित, (४) लेप्या अर्थात् मृत्तिका, चन्दन आदिके द्वारा अङ्कित या गठित, (५) लेख्या अर्थात् चित्रमयी या चित्रपटपर अङ्कित। (६) बालुकामयी अर्थात् बालुकाद्वारा निर्मित या बालुकाके ऊपर अङ्गुलिद्वारा अङ्कित। (७) मनोमयी अर्थात् कल्पनाद्वारा मानसपटपर अङ्कित तथा (८) मणिमयी अर्थात् मणि-माणिक्यादिद्वारा निर्मित।

> द्विभुजा जलदश्यामा त्रिभङ्गी मधुराकृतिः।
> सेव्या ध्यानानुरूपैश्च मूर्त्तिः कृष्णस्य दैवतैः॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'ध्यानानुरूप मूर्त्तियोंके द्वारा श्रीकृष्णकी अर्चना करे। यह मूर्ति द्विभुज, मेघके समान श्यामवर्ण तथा त्रिभङ्ग अर्थात् तीन स्थानोंमें वक्र हो; तथा मनको मोह लेनेवाली मधुर आकृतिसे युक्त हो।'

इसी प्रकार भगवान् विष्णु, भगवान् शिव या अपने इष्टदेवकी मूर्तिका शास्त्रवर्णनानुसार निर्माण करके उनकी पूजा करनी चाहिये।

आरात्रिक

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

> महानीराजनं कुर्यान्महावाद्यजयस्वनैः।
> प्रज्वालत् तदर्थं च कर्पूरेण घृतेन वा॥
> आरात्रिकं शुभे पात्रे विषमानेकवर्त्तिकम्॥

'महावाद्य और जयध्वनिके साथ-साथ महानीराजन अर्थात् आरती करे। इसके लिये सुवर्ण आदि धातुके बने उत्तम विस्तीर्ण पात्रमें कर्पूर या घृतद्वारा एक, तीन, पाँच आदि विषम संख्याकी अनेक वत्तियोंसे विशिष्ट दीप जलाये।'

> बहुवर्त्तिसमायुक्तं ज्वलन्तं केशवोपरि।
> कुर्यादारात्रिकं यस्तु कल्पकोटिं वसेद्दिवि॥

(स्कन्दपुराण)

'जो मनुष्य अनेक बत्तियों द्वारा प्रज्वलित दीपसे श्रीकेशवके मस्तकके ऊपर आरती करता है, वह कोटि कल्पोंतक स्वर्गमें वास करता है।'

तथा—

> मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यत्कृतं पूजनं हरेः।
> सर्वं सम्पूर्णतामेति कृते नीराजने शिवे॥

शिवजी कहते हैं कि 'हे पार्वति! श्रीभगवान्‌की पूजा यदि मन्त्रहीन और क्रियाहीन भी होती है, तो भी आरती करनेपर वह सारी-की-सारी पूर्णताको प्राप्त हो जाती है।'

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

> धूपं चारात्रिकं पश्येत् कराभ्यां च प्रवन्दते।
> कुलकोटिं समुद्धृत्य याति विष्णोः परं पदम्॥

'जो धूप और आरतीका दर्शन करता है तथा दोनों हाथोंसे उनकी वन्दना करता है, उसकी करोड़ पीढ़ियोंका उद्धार हो जाता है और वह विष्णुके परम धामको प्राप्त होता है।'

उत्सव-दर्शन

> रथस्थं ये निरीक्षन्ते कौतुकेनापि केशवम्।
> देवतानां गणाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

'जो लोग कौतुकवश भी रथमें अवस्थित श्रीकेशवके श्रीविग्रहका दर्शन करते हैं, वे यदि चाण्डालादि नीच जातिके हों, तो भी उनकी गणना श्रीविष्णुके पार्षदोंमें होती है।'

सेवापराध और उनका निवारण—

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

> यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे।
> देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः॥
> उच्छिष्टे वाथवाशौचे भगवद्दर्शनादिकम्।
> एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात् प्रदक्षिणम्॥
> पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यङ्कबन्धनम्।
> शयनं भक्षणं वापि मिथ्याभाषणमेव च॥
> उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः।
> निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम्॥
> कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः।
> अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम्॥
> शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम्।
> तत्तत्कालोद्भवानां च फलादीनामनर्पणम्॥
> विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके।
> पृष्ठीकृत्यासनं चैव परेषामभिवादनम्॥
> गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा।
> अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत् परिकीर्त्तिताः॥

'श्रीभगवान् विष्णुकी सेवामें बत्तीस प्रकारके अपराध बतलाये गये हैं, जैसे—(१) सवारीपर चढ़कर या चरण-पादुका धारण करके श्रीमन्दिरमें गमन करना, (२) जन्माष्टमी

आदि देवोत्सवोंमें शामिल न होना, (३) श्रीमूर्त्तिका दर्शन करके प्रणाम न करना, (४) उच्छिष्ट या अशुचि अवस्थामें भगवत्-दर्शनादि करना, (५) एक हाथसे प्रणाम करना, (६) श्रीविग्रहके सामने प्रदक्षिणा करना, (७) श्रीविग्रहके आगे पैर फैलाना तथा (८) दोनों घुटनोंको पकड़कर बैठना, (९) लेटना, (१०) भोजन करना, (११) मिथ्याभाषण, (१२) उच्च स्वरसे बोलना, (१३) आपसमें बातें करना, (१४) रोना-पीटना, (१५) झगड़ा करना, (१६) किसीको डाँटना या दण्ड देना और (१७) किसीके ऊपर अनुग्रह करना (आशीर्वाद या वरदान देना), (१८) किसीको कड़ी बात कहना, (१९) कम्बल ओढ़ना, (२०) परनिन्दा और (२१) परस्तुति करना, (२२) अश्लीलभाषण करना, (२३) अधोवायुका त्याग करना (६ से २३ तकके कार्य श्रीविग्रहके आगे करनेसे सेवापराध लगता है), (२४) शक्ति रहते हुए भगवान्‌की गौणरूपसे सेवा करना, (२५) भगवान्‌को बिना निवेदन किये ही भोजन करना, (२६) मौसिमी फल आदिको भगवत्समर्पण न करना, (२७) अपने उपयोगसे अवशिष्ट पदार्थको भगवान्‌के व्यञ्जनादिमें प्रदान करना, (२८) श्रीविग्रहकी ओर पीठ देकर बैठना, (२९) श्रीविग्रहके सामने दूसरोंको प्रणाम करना, (३०) श्रीगुरुके आनेपर उन्हें अभिवादन न करना, (३१) अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना, (३२) दूसरे देवताकी निन्दा करना। तथा—

ये वै न वर्जयन्त्येतानपराधान् मयोदितान्।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टाः पच्यन्ते नरके चिरम्॥

'जो मेरे बतलाये हुए इन अपराधोंका त्याग नहीं करते, वे सारे धर्मोंसे च्युत होकर चिरकालतक नरकभोग करते हैं।' स्कन्दपुराणमें आता है—

अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायं तु सम्पठेत्।
द्वात्रिंशदपराधैस्तु अहन्यहनि मुच्यते॥
तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्चनम्।
द्वात्रिंशदपराधांश्च क्षमते तस्य केशवः॥
द्वादश्यां जागरे विष्णोर्यः पठेत् तुलसीस्तवम्।
द्वात्रिंशदपराधानि क्षमते तस्य केशवः॥

'जो मनुष्य प्रतिदिन एक अध्याय गीतापाठ करता है, उसके प्रतिदिनके बत्तीस अपराध छूट जाते हैं। जो तुलसीके द्वारा शालग्राम-शिलाका अर्चन करता है, उसके बत्तीसों अपराधोंको केशव क्षमा कर देते हैं। जो द्वादशी-व्रतके जागरणमें तुलसीस्तोत्रका पाठ करता है, उसके बत्ती अपराधोंको केशव क्षमा करते हैं।'

यथाविधि भक्ति-साधन

शास्त्र कहते हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
(श्रीभक्तिसन्दर्भ)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं। जो मनुष्य वेद और स्मृतिका उल्लङ्घन करता है, वह मेरी आज्ञाकी अवहेलना करनेके कारण मेरा द्वेषी है। ऐसा मनुष्य मेरा भक्त होनेपर भी वैष्णव नहीं है।' अतएव विधिपूर्वक शास्त्रानुसार आचरण करते हुए भक्ति-साधना करनी चाहिये।

वैष्णव-माहात्म्य और वैष्णव-सेवा

श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी प्राप्तिके लिये उनकी उपासनाके साथ-साथ उनके भक्तोंका यथायोग्य सेवा-सत्कार करना परम कर्त्तव्य है। वैष्णव-सेवासे विहीन कृष्ण-सेवा कदापि सार्थक नहीं होती। पद्मपुराणमें लिखा है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम्॥

शिवजी कहते हैं—'हे पार्वति ! सब प्रकारकी आराधनाओंमें विष्णुकी आराधना श्रेष्ठ है और वैष्णवकी सम्यक्‌रूपसे अर्चना (सेवा-सत्कार) तो उससे भी बढ़कर है।' श्रीहरि-भक्ति-विलास (दशम-विलास) में लिखा है—

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥

श्रीभगवान्‌को वैष्णव प्रिय है। चारों वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि भक्त नहीं है तो उनको प्रिय नहीं हो सकता; इसके विपरीत यदि श्वपच (चाण्डाल) भी विष्णुभक्तिरत है तो वह प्रभुको प्रिय है। अतएव वह वैष्णव है। प्रभुके समान ही उसकी पूजा होनी चाहिये। उसको देना चाहिये, तथा उससे लेना भी चाहिये। यह प्रभुकी आज्ञा है।

समीपे तिष्ठते यस्य ह्यन्तकालेऽपि वैष्णवः।
गच्छते परमं स्थानं यद्यपि ब्रह्महा भवेत्॥
(गरुडपुराण)

'जिस मनुष्यकी मृत्युके समय पासमें वैष्णव उपस्थित रहता है, वह मनुष्य यदि ब्रह्महत्याका पापी हो तो भी परमपदको प्राप्त होता है।' यह वैष्णवकी महिमा है।

यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः ।
तत्र संनिहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः ॥
न गन्धैर्न तथा तोयैर्न पुष्पैश्च मनोहरैः ।
सांनिध्यं कुरुते देवो यत्र सन्ति न वैष्णवाः ॥
लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा विष्णुतत्पराः ।
पुनन्ति सकलाँल्लोकाँस्ते तीर्थमधिकं ततः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जिस स्थानपर राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित वासुदेव-परायण वैष्णवजन निवास करते हैं, उस स्थानमें श्रीविष्णु-भगवान् विद्यमान रहते हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। इसके विपरीत जहाँ वैष्णव नहीं हैं, वहाँ गन्ध, जल और मनोहर पुष्पों आदि पूजा-सामग्रीके उपस्थित होनेपर भी भगवान्‌का सांनिध्य नहीं होता। श्रीविष्णु-भगवान्‌की सेवामें तत्पर वैष्णव पापसे लिप्त नहीं होते, अपितु वे सब लोकोंको पवित्र करते हैं; अतएव वे महातीर्थस्वरूप हैं।

आदिपुराणमें श्रीभगवान् कहते हैं—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥

'हे अर्जुन! जो केवल मेरी भक्ति करते हैं (और मेरे भक्तोंका सत्कार नहीं करते, वे मेरे भक्त नहीं हैं। मेरे श्रेष्ठ भक्त वे हैं, जो मेरे भक्तोंकी भक्ति करते हैं, अर्थात् मेरे भक्तोंको सेवा-सत्कार प्रदान करते हैं।' पद्मपुराणमें यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसंगतिः ।
तेऽपि वः परिहार्याः स्युस्तत्सङ्गहतकिल्बिषाः ॥

'हे दूतो! जिनके घरमें वैष्णव भोजन करता है तथा जिनको वैष्णवका सङ्ग प्राप्त है, उनके पास भी तुमलोग मत जाना; क्योंकि वैष्णवोंके सङ्गसे उनके पाप नष्ट हो गये रहते हैं।'

वैष्णव-सम्मान-विधि

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेद्भुवि ।
उभयोरन्तरो विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥

(तेजोद्रविणपञ्चरात्र)

'वैष्णव वैष्णवको देखकर पहले दण्डवत् प्रणाम करे। क्योंकि शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीहरि दोनोंके अन्तरमें अवस्थित रहते हैं।

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं यद् यूयं गृहमागताः ।
दुर्लभं दर्शनं नूनं वैष्णवानां यथा हरेः ॥
मेरुमन्दरतुल्या वै पुण्यपुञ्जा मया कृताः ।
सम्प्राप्तं दर्शनं यद्वै वैष्णवानां महात्मनाम् ॥
दृष्ट्वा भागवतं दैवात् सम्मुखे यो न याति हि ।
न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् ॥

वैष्णव घरपर आये तो इस प्रकार कहकर उसकी अभ्यर्थना करे—'आपने हमारे घरपर पदार्पण किया, इससे हम धन्य हो गये, कृतार्थ हो गये; वैष्णवोंका दर्शन निश्चय ही श्रीहरिके दर्शनके समान दुर्लभ है। निश्चय ही हमने मेरु और मन्दराचलके तुल्य पुण्य राशि संचय की थी, जिसके फलस्वरूप आज हमें वैष्णव महात्माओंके दर्शन प्राप्त हुए।'

'जो मनुष्य अचानक भगवद्भक्तको आता हुआ देखकर उसके सामने नहीं जाता, भगवान् उसकी द्वादश वर्षकी पूजा ग्रहण नहीं करते।'

बृहन्नारदीय पुराणमें आया है—

हरिभक्तिरतान् यस्तु हरिबुद्ध्या प्रपूजयेत् ।
तस्य तुष्यन्ति विप्रेन्द्रा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥

'हे ब्राह्मणो! हरिभक्तिमें रत रहनेवाले वैष्णवोंकी हरि-तुल्य समझकर जो पूजा करता है, उसपर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी देवता संतुष्ट होते हैं।'

वैष्णव-निन्दाका त्याग

निन्दां कुर्वन्ति ये मूढा वैष्णवानां महात्मनाम् ।
पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते ॥

(स्कन्दपुराण)

'जो मूढ़ नर महात्मा विष्णुभक्तोंकी निन्दा करते हैं, वे अपने पितरोंके साथ महारौरव नरकमें गिरते हैं।' अतएव वैष्णवोंकी निन्दा भूलकर भी न करे। द्वारका-माहात्म्यमें लिखा है कि वैष्णवका अपमान करनेपर भगवान् सौ जन्मों-तक पूजित होनेपर भी प्रसन्न नहीं होते।

वैष्णवापराध

स्कन्दपुराणमें आता है—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति ।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट् ॥

'जो मनुष्य वैष्णवको मारता है, उसकी निन्दा करता है, उससे द्वेष करता है, वैष्णवको देखकर उसका अभिनन्दन नहीं करता, वैष्णवके प्रति क्रोध करता है तथा वैष्णवको देखकर आनन्दित नहीं होता—ये छः प्रकारके वैष्णवापराध करनेवाला व्यक्ति नरकमें जाता है।' वैष्णवको तनिक भी कष्ट देनेसे अथवा उसका अनिष्ट करनेकी चेष्टा करनेसे ही वैष्णवापराध होता है। वैष्णवके श्रीचरणोंमें शरणापन्न होकर क्षमा-प्रार्थना करनेसे ही वैष्णवापराध शमन हो सकता है।

वैष्णव कौन हैं ?

प्रशान्तचित्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः।
कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः॥
दयार्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः।
गुणेषु परकार्येषु पक्षपातसमन्विताः॥
सदाचारावदाताश्च परोत्सवनिजोत्सवाः॥
पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः।
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः॥
राजोपचारः पूजायां लालना सुकुमारवत्।

× × × × ×

विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते।
वितन्वते तु हि तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ॥
नित्यकर्तव्यताबुद्ध्या यजन्तः शंकरादिकान्।
विष्णुस्वरूपान् ध्यायन्ति भक्त्या पितृगणेष्वपि॥
विष्णोरन्यत्र पश्यन्ति विष्णुं नान्यत् पृथग्गतम्।
पार्थक्यं न च पार्थक्यं समष्टिव्यष्टिरूपिणः॥
जगन्नाथ तवास्मीति दासस्त्वं चास्मि नो पृथक्।
सेव्यसेवकभावो हि भेदो नाथ प्रवर्तते॥
अन्तर्यामी यदा देव सर्वेषां त्वं हृदि स्थितः।
सेव्यो वा सेवको वापि त्वत्तो नान्योऽस्ति कश्चन॥

इति भावनया कृतावधानाः प्रणमन्तः सततं च कीर्तयन्तः।
हरिमब्जजवन्द्यपादपद्मं प्रभजन्तस्तृणवज्जगज्जनेषु॥
उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्रं परकुशलानि निजानि मन्यमानाः।
अपि परपरिभावने दयार्द्राः शिवमनसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
दृषदि परधने च लोष्टखण्डे परवनितासु च कूटशाल्मलीषु।
सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्मच्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि।
भगवति सततप्रवर्तचित्ताः प्रियवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः कलुषमुषं शुभनाम चामनन्तः।
जयजयपरिघोषणां रटन्तः किमुविभवाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
हरिचरणसरोजयुग्मचित्ता जडिमधियः सुखदुःखसाम्यरूपाः।
अपचितिचतुरा हरौ निजात्मव्रतवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
रथचरणगदाब्जशङ्खमुद्राकृतितिलकाङ्कितबाहुमूलमध्याः।
मुररिपुचरणप्रणामधूलीधृतकवचाः खलु वैष्णवा जयन्ति॥
मुरजिदपवनापकृष्टगन्धोत्तमतुलसीदलमाल्यचन्दनैर्यै।
वरयितुमिव मुक्तिमात्तभूषाः कृतिरुचिराः खलु वैष्णवा जयन्ति॥
विगलितमदमानशुद्धचित्ताः प्रसभविनश्यदहंकृतिप्रशान्ताः।
नरहरिसमराक्षबन्धुमिष्टाः क्षयितशुचः खलु वैष्णवा जयन्ति॥

(स्कन्दपुराण)

“वैष्णवोंका चित्त अत्यन्त शान्त रहता है। वे सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये रहते हैं तथा मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते। उनका चित्त दयासे द्रवीभूत रहता है, चोरी और हिंसासे वे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं तथा सद्गुणोंके संग्रह एवं दूसरोंके कार्यसाधनमें प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं। सदाचारसे उनका जीवन सदा उज्ज्वल (निष्कलङ्क) बना रहता है, दूसरोंके उत्सवको वे अपना ही उत्सव मानते हैं, सभी प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते। दीनोंपर दया करना उनका स्वभाव होता है। वे सदा परहितसाधनकी प्रबल इच्छा रखते हैं। भगवान्की पूजा वे राजोचित उपचारोंसे (बड़े ठाट-बाटसे, विपुल धन व्यय करके) करते हैं और सेवा उनकी उन्हें अत्यन्त सुकुमार समझकर बड़े लाड़-प्यारसे करते हैं।······'अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे अरबगुनी अधिक प्रीतिका विस्तार वे भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं। नित्य कर्तव्यबुद्धिसे वे शंकर आदि देवताओंका पूजन करते हैं, पितरोंमें भी भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी ही बुद्धि रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते, न भगवान्को ही जगत्से पृथक् समझते हैं। समष्टिरूपमें उनका जगत्से पार्थक्य नहीं है। व्यष्टिरूपसे पार्थक्य है। 'हे भगवान् जगन्नाथ ! मैं आपका दास हूँ, आपके स्वरूपमें भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ। जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक—कोई भी आपसे भिन्न नहीं है।' इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगलचरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते

उनके नामोंका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण-बर्ताव करते हैं, जगत्के जीवोंका उपकार करनेमें जो कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही कुशल-क्षेम मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही वैष्णव (विष्णुभक्त) के नामसे प्रसिद्ध हैं । जो पत्थर, परधन और मिट्टीके ढेलेमें, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकके काँटेदार वृक्षोंमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं । जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्में सदा मन लगाये रहते तथा सदा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं । जो कंसारि भगवान्के पापहारी शुभ नाम-सम्बन्धी मधुर पदोंका जप करते और जय-जयकी घोषणाके साथ भगवन्नामोंका कीर्तन करते हैं, वे अकिंचन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं । जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जड-बुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, अपने आत्मस्वरूप भगवान्की पूजामें जो निपुण हैं तथा सबके प्रति विनययुक्त वाणीका प्रयोग करते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

जो अपनी भुजाओंके मूल और मध्यमें चक्र-गदा-पद्म-शङ्ख आदिकी आकृतियोंके तिलक धारण करते और मधुसूदन भगवान्के चरणोंमें प्रणाम करते हुए उनकी रजका ही कवच धारण करते हैं, वे वैष्णव सबके शिरोमणि हैं । जो (जगत्की ममतासे) मुक्त होनेके लिये ही मानो भगवान् मुरारिके श्रीअङ्गोंसे सम्पर्कित सुगन्ध, तुलसीदल, माला, चरण आदिसे जो अपने अङ्गोंको विभूषित करते हैं और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं, वे वैष्णव ही वास्तवमें सबके सिरमौर हैं । मद और अभिमान गल जानेके कारण जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो गया है, अहंकारका सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अत्यधिक शान्त हो गये हैं तथा देवताओंके विश्वसनीय बन्धु भगवान् नृसिंहका भजन करके जो शोकरहित हो गये हैं, ऐसे वैष्णव निश्चय ही सबसे बढ़कर हैं ।

कौन वैष्णव नहीं है ?

परंतु—

शुभचरितमपि द्विषन्ति पुंसां
स्वयमिह दुश्चरितानुबन्धचित्ताः ।
महदकुशलमप्यवाप्य सुस्था
भगवदन्यरसिका अवैष्णवास्ते ॥
परमसुखमयं हृदम्बुजस्थं
क्षणमपि नानुसजन्ति मत्तचित्ताः ।
वितथवचनजालकैरजस्रं
पिदधति नाम हरेरवैष्णवास्ते ॥
परयुवतिधनेषु नित्यलुब्धाः
कृपणधियो निजकुक्षिपूरणोत्काः ।
नियतिपरभयादि मन्यमानाः
नरपशवः खलु विष्णुभक्तिहीनाः ॥
अनवरतमनार्यसङ्गसक्ताः
परपरिभावकहिंसकातिरौद्राः ।
नरहरिचरणस्मृतौ विरक्ता
नरमलिनाः खलु दूरतो हि वर्ज्याः ॥

(स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड)

‘जो मनुष्योंके शुभ आचरणोंसे भी द्वेष करते हैं और स्वयं अपने चित्तको दुराचारमें ही बाँधे रखते हैं, अत्यन्त अशुभ स्थितिको पाकर भी (जडतावश) निश्चिन्त रहते हैं और भगवद्भिन्न विषयोंके रसमें ही सुखका अनुभव करते हैं, वे मनुष्य वैष्णव नहीं हैं, वे तो बहुत ही निम्न श्रेणीके मनुष्य हैं । अपने हृदयरूपी कमलमें विराजमान परमानन्दमय श्रीहरिके स्वरूपका जो क्षणभर भी चिन्तन नहीं करते, उन्मत्तभावसे रहते हैं और अपने झूठे वचनोंके जालसे भगवान्के नामको भी निरन्तर आच्छादित किये रहते हैं, वे भी वैष्णव नहीं हैं । जिनके मनमें परायी स्त्री और पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण बुद्धिवाले हैं और जो सदा अपना ही पेट भरनेमें लगे रहते हैं, जो नियतिके भरोसे तथा पराये भयसे पीड़ित बने रहकर कालक्षेप करते हैं, वे नरपशु विष्णुभक्तिसे सर्वथा रहित हैं—वैष्णव नहीं हैं । जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग रखते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते रहते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त क्रूर है तथा जो भगवान् नृसिंहके चरणोंके चिन्तनसे विरक्त रहते हैं, उन मलिन मनुष्योंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये ।’

कार्तिक-व्रत

श्रीस्कन्दपुराणमें आया है—

कार्तिकः खलु वै मासः सर्वमासेषु चोत्तमः ।
पुण्यानां परमं पुण्यं पावनानां च पावनम् ॥

द्वादशस्वपि मासेषु कार्तिकः कृष्णवल्लभः ।
तस्मिन् सम्पूजितो विष्णुरल्पकैरप्युपायनैः ॥
ददाति वैष्णवं लोकमित्येवं निश्चितं मया ॥

अर्थात् कार्तिक मास सब महीनोंमें श्रेष्ठ है, सभी पुण्य-कालोंमें परम पुण्य तथा सभी पवित्र वस्तुओंमें परम पवित्र है। बारहों मासोंमें कार्तिकका महीना विष्णुको अति प्रिय है। इस महीनेमें अत्यल्प उपचारोंके द्वारा भी पूजित होनेपर वे विष्णुलोक प्रदान करते हैं, यह मेरा निश्चय है।

कार्तिकेऽस्मिन् विशेषेण नित्यं कुर्वीत ब्राह्मणः ।
दामोदरार्चनं प्रातःस्नानदानव्रतादिकम् ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'वैष्णवको इस कार्तिकके महीनेमें विशेषरूपसे नित्य भगवान् दामोदरकी अर्चना, प्रातःस्नान, व्रत, दान आदिका अनुष्ठान करना चाहिये।'

दिनं च कृष्णकथया वैष्णवानां च संगमैः ।
नीयतां कार्तिके मासि संकल्पव्रतपालनम् ॥
आश्विने शुक्लपक्षस्य प्रारम्भो हरिवासरे ।
अथवा पौर्णमासीतः संक्रान्तौ वा तुलागमे ॥
दीपदानमखण्डं च दद्याद् वै विष्णुसंनिधौ ।
देवालये तुलस्यां वा आकाशे वा तदुत्तमम् ॥
(पद्मपुराण)

'कार्तिकके महीनेमें संकल्पानुसार व्रतका पालन करते हुए श्रीकृष्णकी कथा तथा वैष्णवोंके सत्सङ्गमें दिन व्यतीत करे। यह व्रत आश्विनमासकी शुक्ला एकादशी अथवा पूर्णिमा तुला-संक्रान्तिके दिनसे प्रारम्भ करे। महीनेभर श्रीविष्णु मूर्तिके सामने देवालयमें, तुलसीके समीप अथवा आका अखण्ड दीप दान करे।' तथा—

नित्यं जागरणायान्त्ये यामे रात्रेः समुत्थितः ।
शुचिर्भूत्वा प्रबोध्याथ स्तोत्रैर्नीराजयेत्प्रभुम् ॥
मौनेन भोजनं कार्यं कार्तिके व्रतधारिणा ।
घृतेन दीपदानं स्यात् तिलतैलेन वा पुनः ॥
(पद्मपुरा

'भगवान्‌को जगानेके लिये नित्य रात्रिके अन्तिम पह जागकर पवित्र होकर भगवान्‌को जगाकर स्तोत्रोंके द्वा मङ्गल-आरती करे। कार्तिकमें व्रत करनेवालेको मौन हो भोजन करना चाहिये। दीपदान घृतसे अथवा तिलके तै करना चाहिये। श्रीभगवान्‌का वचन है—

यत्किंचित् क्रियते पुण्यं विष्णुमुद्दिश्य कार्तिके ।
तदक्षय्यं भवेत्सर्वं सत्योक्तं तव नारद ॥
(स्कन्दपुरा

'हे नारद ! तुमसे मैं सत्य कहता हूँ कि कार्तिकके मही में भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे जो कुछ पुण्य किया जाता वह सब अक्षय हो जाता है।' इसी प्रकार मार्गशीर्ष वैशाखमास तथा पुरुषोत्तममासका भी बड़ा माहात्म्य है, महीनोंमें भी शास्त्रानुसार क्रियाके द्वारा भगवान्‌का अ करना चाहिये।

(क्रमशः

* * *

चंदके छल-छंद

ओज करि आपनो तुसार पृथिवी पैं रोज
रोजहू सरोजन के ओज हरिबो करै ।
बारिनिधि बसि कै कपाली सीस लसि कै
प्रदच्छिना सुभेस आस पास भरिबो करै ॥
छोटौ छोटौ ह्वै कै फेरि सोड़स कला सौं बढ़ै
नीके बुंद अमल अमी के झरिबो करै ।
बृंदाबन चंद नखचंद समता के हेतु
चंद यह मंद कोटि छंद करिबो करै ॥

भक्तिमें सर्वधर्मत्याग

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०)

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥*
(श्रीमद्भा० २ । ४ । १८)

श्रीशुकदेवजीने अपनी श्रीमद्भागवतकथाके आरम्भमें मङ्गलाचरणके जो श्लोक कहे हैं, उन्हींमेंसे एक यह भी है। उन्हींके पदचिह्नोंपर चलते हुए हम भी उन परमात्माको नमस्कार करते हैं, जिनके भक्तोंकी शरण ग्रहण करके किरातादि समस्त निम्नजातियोंके प्राणी तथा पापात्मा व्यक्ति भी शुद्ध हो जाते हैं। भगवद्भक्तोंकी कृपाके अतिरिक्त मनुष्योंके लिये अपार संसारसागरको पार करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः अन्य सारी चेष्टाओंको छोड़कर बस, उन्हींके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देना चाहिये।

हमारे सांसारिक जीवनके वास्तविक ध्येयको प्राप्त करानेवाला धर्म बस, एक ही है; जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवतके दूसरे श्लोकमें हुआ है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १ । २)

'इस श्रीमद्भागवतमें मत्सरहीन सत्पुरुषोंके निष्कपट अर्थात् फलाभिसंधिसे रहित केवल ईश्वराराधनरूप परम धर्मका तथा मायासे उत्पन्न तापत्रय—(१) अपने शाश्वत धर्मका अज्ञान, (२) भगवद्विमुखता और (३) शरीर एवं मनके प्रति अहंबुद्धि—को निवृत्त करनेवाली कल्याणकारिणी एवं जाननेयोग्य उस वास्तविक वस्तु, परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णका निरूपण किया गया है। जो इसका श्रवण करनेकी इच्छा करते हैं, उन भाग्यवान् पुरुषोंके हृदयमें आकर स्वयं भगवान् तुरंत ही बंदी हो जाते हैं।' इसके लिये दूसरे साधनोंकी क्या आवश्यकता है? हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवतके अन्तिम पाँच श्लोकोंके पूर्ववाले श्लोकमें कहा गया है कि इस भागवतपुराणमें उस विशुद्ध परम ज्ञानका वर्णन किया गया है, जो परमहंसोंको प्राप्त होने योग्य है तथा जिसमें (ईश्वर एवं जगत्के सम्बन्धविषयक) ज्ञान, वैराग्य (भगवान्की नित्यसेवाके विरोधी सभी तत्त्वोंके प्रति अनासक्ति) और भक्तिके सहित नैष्कर्म्य (अपने लिये किसी चेष्टाका अभाव) का निरूपण किया गया है। इसका भक्तिभावसे श्रवण, पाठ और साधुओंके साथ विवेचन करनेवाला पुरुष मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। इससे कुछ ही पूर्व श्रीमद्भागवतको सम्पूर्ण वेदान्तोंका सार बताया गया है; जो पुरुष उसके रसामृतसे छका हुआ है, उसकी कहीं अन्यत्र प्रीति नहीं हो सकती।

यह भक्तिरस ऐसा ही है। भगवान्के परम भक्त बिना किसी अन्य वस्तुकी चिन्ता किये इसके अतल तलमें डूबे रहना चाहते हैं। सामाजिक जीवनसे सम्बन्धित लोग पितृभक्ति, मातृभक्ति, स्वामिभक्ति, गुरुभक्ति, देवभक्ति आदि पदोंमें भक्तिका जिस अर्थमें व्यवहार करते हैं, उससे यह भक्ति नितान्त भिन्न है। उपर्युक्त भक्तियाँ तो सामाजिक गुण हैं। इनका आचरण हम उनके प्रति करते हैं, जिनके द्वारा हमारा शरीर एवं मन उपकृत होता है और इस नाते हम उनके सहज ही कृतज्ञ होते हैं; किंतु एकनिष्ठ भगवद्भक्तोंकी दृष्टिमें इन उपकारोंका कोई अर्थ नहीं है। उनके लिये शरीर एवं मनके प्रति किये हुए उपकारका कोई मूल्य नहीं होता। परंतु हरिसेवाके प्रति पराङ्मुखतारूप वास्तविक मृत्युसे पिण्ड छुड़ानेवाली निष्काम भक्तिका रास्ता दिखलानेवाले साधुजनोंके प्रति उनके मनमें महान् कृतज्ञता रहती है। इसका उदाहरण हमें सर्वश्रेष्ठ हरिभक्त श्रीनारदके चरित्रमें मिलता है, जिन्होंने अपने पूर्वजन्ममें सर्पदंशसे माताकी मृत्यु हो जानेको अशुभ नहीं माना वरं इसे एक प्रकारसे अपनी बन्धनमुक्ति तथा भगवान्की अनुकम्पा माना (श्रीमद्भा० १ । ६ । १०)।

भगवदावेशावतार श्रीऋषभदेवजी लोगोंको शिक्षा देनेके लिये अपने संयमी पुत्रोंसे इस प्रकार कहते हैं—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।

---

* किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियोंके मनुष्य तथा और भी पापी लोग जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे पवित्र हो जाते हैं, उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है।

दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम् ॥
(श्रीमद्भा० ५ । ५ । १८)

'जिसकी सहायतासे मनुष्य सिरपर आयी हुई मृत्यु अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्रसे अपनी रक्षा न कर सके, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है ।' निम्नलिखित उदाहरणोंसे इस शिक्षाकी मान्यता अनिवार्य हो जायगी । दैत्यराज बलिने अपने कुलगुरु श्रीशुक्राचार्यकी आज्ञा नहीं मानी; जिन्होंने उसे भगवान् वामनको अपना सर्वस्व समर्पित करनेसे रोकते हुए कहा था—

सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ।

'रे मूढ ! विष्णुको अपना सर्वस्व देकर तू किस प्रकार जीवन-यापन कर सकेगा ?' भक्त विभीषण अपने अग्रज रावणको त्यागकर भगवान् श्रीरामकी सेवामें चले गये । यद्यपि मृत्यु उनके सामने मुँह बाये खड़ी थी, फिर भी भक्त-चूडामणि प्रह्लादने अपने पिताकी इच्छा ठुकरा दी, जो यह चाहता था कि वह भगवान् विष्णुकी भक्ति करना छोड़ दे । भगवान् श्रीरामको अपने अधिकारसे वञ्चित करके तथा अयोध्याके राजसिंहासनपर स्वयं आसीन होकर अपनी माँ कैकेयीको संतुष्ट करना भरतलालने स्वीकार नहीं किया ।* भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये गोपराज नन्द तथा अन्य गोपोंने देवराज इन्द्रकी अवहेलना करके बदलेमें गिरिराज गोवर्द्धनकी पूजा की । वृन्दावनकी विप्रपत्नियोंने अपने पतियोंके यज्ञमें नैवेद्यके रूपमें व्यवहृत होनेवाले अन्नसे उन पतियोंकी आज्ञाके विरुद्ध भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् बलराम तथा उनके गोपबाल-सखाओंको अपने जीवनपर खेलकर प्रसन्न किया तथा अर्वाचीन इतिहासमें भी मीराँबाईने अपने देवर महाराणाकी इच्छा तथा उन्हें अन्तःपुरमें बंद रखनेकी चेष्टाका विरोध करके गिरधरलालको रिझानेके लिये घर-बार त्यागकर वृन्दावनका रास्ता लिया । भगवान्‌की सच्ची भक्तिके निमित्त इन सभीने सामाजिक दृष्टिसे अपने गुरुजनोंके प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्वको तिला दे दी; पर क्या इस कारण इन भक्तोंके आचरणको कि विवेकी व्यक्तिने आजतक कभी निन्दाके योग्य ठहरा है ? इसका उत्तर सब कोई एक स्वरसे यही देंगे—'न कदापि नहीं ।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ह माता-पिता तथा सम्बन्धी चाहे स्वर्गसे भी अधिक गौ सम्पन्न होनेका दावा करें क्योंकि कहा है—

'पिता स्वर्गः'; 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

किंतु व्यवहारमूलक सामाजिक शिष्टाचारके अति हमारी गम्भीर श्रद्धाके अधिकारी नहीं हो सकते यदि उ भगवान्‌की अटल और अनन्य भक्ति नहीं है और इस गुणके न होनेके कारण वे हमें भगवद्भक्तिरूपी जीवनके कल्याणकी प्राप्ति नहीं करा सकते । यदि वे सच्चे अ भक्त बन जायँ तो हम भी उनकी वास्तविक भक्ति क क्योंकि भक्तोंकी भक्ति ही हमें जगत्‌के प्रपञ्चसे ह भगवत्प्रेमके राज्यमें ले जा सकती है । भगवद्भक्तोंका ही बिना किसी अन्य धर्मका पल्ला पकड़े हमें सब प्रक पापोंसे सदाके लिये मुक्त कर सकता है । और इस प्र जो हमें भगवद्भक्तिमें लगाते हैं, भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कराते हैं ही हमारे परमपूज्य, परम आत्मीय हैं ।* बृहन्नारदीयपु यज्ञमाली-उपाख्यानमें यहाँतक कहा गया है—

हरिभक्तिपराणां हि सङ्गिनां सङ्गमाश्रितः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महापातकवानपि ॥

'हरिभक्तिपरायण पुरुषोंका सङ्ग करनेवालोंका करके महापातकी भी समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है यक्षपति कुबेरके दोनों पुत्रोंको वृक्षयोनिसे मुक्त भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'भगवद्भक्त साधु पु दर्शनमात्रसे मनुष्य मायासे उसी प्रकार छूट जाता है, सूर्योदय होनेपर आँखोंके आगेसे अन्धकार भाग जाता हरिभक्ति सुधोदयके वचन हैं कि बिना भक्तपूजाके को भक्ति नहीं पा सकता—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये ।
न ते विष्णुप्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः ॥

'जो भगवान् गोविन्दकी तो पूजा करते हैं, परंतु

---

* गोस्वामी तुलसीदासजीने गाया है—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
पिता तज्यो प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन्हि, भए मुद मंगलकारी ॥

* तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो ॥

भक्तोंकी पूजा नहीं करते, वे दम्भी पुरुष विष्णुकी कृपाके पात्र नहीं होते ।'

पद्मपुराणमें भी आया है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ॥

श्रीशिवजी भगवती श्रीउमादेवीसे कहते हैं—'सब पूजाओंसे बढ़कर विष्णुकी पूजा है और उससे भी श्रेष्ठ है भक्तोंकी पूजा ।'*

आदिपुराणमें कहा है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्तास्तु ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः ॥

भगवान् कहते हैं कि 'मेरे भक्तोंकी भक्ति किये बिना कोई भी मेरा भक्त नहीं बन सकता ।' भक्त बननेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियोंको कोई और तप करनेकी आवश्यकता नहीं है । उनकी भक्ति ही उनकी सुदृढ़तम संरक्षिका है, जिसे प्राप्त करनेके लिये उन्हें पहले परिपक्व सच्चे भक्तोंकी शरण लेनी पड़ेगी ।

भगवान् विष्णुके भक्त पापोंका दण्ड देनेवाले यमराजके अधिकार-क्षेत्रसे बाहर रहते हैं । पद्मपुराणमें माघमाहात्म्यके अन्तर्गत दूत कहते हैं—

प्राहास्मान् यमुनाभ्राता सादरं हि पुनः पुनः ।
भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुं चेद् भजते नरः ॥

'यमराजने हमसे बार-बार सम्मानपूर्वक कहा है कि विष्णुका भजन करनेवाले वैष्णवोंसे हमें अलग रहना चाहिये ।' अजामिलोपाख्यान (श्रीमद्भा० ६ । ३ । २५–२९) में भी यमराजने स्वयं अपने दूतोंसे कहा है—'विद्वान् कर्ममीमांसकोंकी गणना महाजनोंकी श्रेणीमें नहीं है; क्योंकि उनकी मायासे मोहित हुई बुद्धि वैदिक कर्मोंके रमणीय वचनोंसे जडताको प्राप्त हो जाती है। अतएव वे बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही लगे रहते हैं तथा भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता और महिमाको नहीं समझ पाते ।

'यों विचारकर बुद्धिमान् पुरुष दत्तचित्त होकर भगवान् अनन्तकी ही भक्तिमें लगे रहते हैं । अतएव उनसे कभी कोई पाप भी बन गया हो तो भी वे हमसे दण्डित होनेयोग्य नहीं हैं । श्रीहरि अपनी गदासे उनकी रक्षा किया करते हैं । जो श्रीकृष्णके भक्त नहीं हैं, केवल उन्हींको दण्ड देनेके लिये लाया करो ।'

स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें ब्रह्मा श्रीभगवान्से कहते हैं—

स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव ।

… … …

निःशेषधर्मकर्ता वाप्यभक्तो नरको हरे ।
सदा तिष्ठति भक्तास्ते ब्रह्महापि विमुच्यते ॥

'हे केशव ! हे हरि ! जो तुम्हारा भक्त है, उसके द्वारा सभी धर्मोंका आचरण हो जाता है । किंतु सब धर्मोंका आचरण करके भी जो तुम्हारा भक्त नहीं बना है, वह नरकमें वास करता है । परंतु तुम्हारा भक्त ब्रह्महत्यारा होनेपर भी छूट जाता है ।'

जीवोंका अपना स्वरूप है भगवान्का नित्य सेवक होना । इसलिये हम देखते हैं कि न तो इस पदपर पुनरासीन होनेके लिये न सांसारिक बन्धनोंसे मुक्ति पानेके लिये और न यदि कभी उनसे पाप बन गया है तो उसके परिणामसे छूटनेके लिये ही भक्तोंको किसी अन्य धर्मका आचरण करना पड़ता है ।

भक्तगण सिद्धियोंकी भी किंचित् परवा नहीं करते, यद्यपि सिद्धियाँ उनकी सेवामें उपस्थित रहती हैं । वे अपनी भक्ति-साधनामें इनको विघ्नस्वरूप मानते हैं ।

(श्रीमद्भा० ११ । १५ । ३२-३३)

जब देवताओंको वृत्रासुर बुरी तरह पराजित कर रहा था, तब वे आदिपुरुषकी शरणमें गये और अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना करते समय अन्य बातोंके साथ उन्होंने यह भी कहा कि 'केवल मूर्ख ही आपको छोड़कर दूसरेकी सहायताका भरोसा करते हैं । वे कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करनेकी इच्छा करनेवालोंके समान हैं । (श्रीमद्भा० ६ । ९ । २२) पद्मपुराणमें भी इसीकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है—

यथा धृत्वा शुनः पुच्छं तर्तुमिच्छेत्सरित्पतिम् ।
तथा त्यक्त्वा हरिं सेव्यमन्योपासनया भवम् ॥

'कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रको पार करनेकी इच्छाके समान ही सेवाके पात्र श्रीहरिको छोड़कर अन्यकी उपासनासे संसार-सागरको पार करनेकी इच्छा है ।' भक्तगण इस बातको जानते हैं, अतएव अपने कल्याणके लिये वे दूसरे धर्मोंका आश्रय नहीं लेते । श्रीनारदजीके प्रचेताओंके प्रति उपदेशके

---

* श्रीरामचरितमानसमें भरद्वाजमुनिने भक्तदर्शनको भगवान्के दर्शनका फल बतलाया है—

सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा । सहित प्रयाग सुभाग हमारा ॥

अनुसार (श्रीमद्भा० ४ । ३१ । ९–१२) वे यह भी जानते हैं कि तपस्या, योगसाधना, सांख्यालोचन या कल्याणके अन्य साधनोंमें कोई गुण या लाभ नहीं है यदि उनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रिय आत्मा श्रीहरिके चिन्तनका अभाव है । भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको सावधान किया है—

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २१-२२)

'मेरी अनन्यभक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है । मेरी भक्तिसे हीन पुरुषको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसे युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती ।' इस प्रकार जीवोंके वास्तविक कल्याणके लिये भक्ति ही आवश्यक है, अन्य कोई धर्म नहीं ।

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥

'करनेकी चीज है भगवान् विष्णुका निरन्तर स्मरण और न करनेकी चीज है उनका विस्मरण । अन्य सारे विधि-निषेध इन्हीं दोनोंके पीछे चलनेवाले किंकर हैं ।' हरि-सेवाके लिये अनुकूलभावसे युक्त स्मरणका ही नाम भक्ति है, जो उतनी ही पुष्ट होती जाती है जितना स्मरण प्रगाढ़ एवं दीर्घ होता है । इस दिशामें कोई अन्य धर्म हमारी सहायता नहीं कर सकता, अतएव भक्ति-कामीके लिये वह अनावश्यक है । इसलिये भक्त किसी ऐसे धर्मकी अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह उसको भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सच्ची भक्तिके मार्गसे विचलित करनेवाला होता है । एकमात्र श्रीकृष्णकी सेवा ही उसे शुद्ध कर डालेगी और उसकी भक्तिको दृढ़तर बना देगी । श्रीनारदजी श्रीव्यासदेवको उपदेश देते हैं (श्रीमद्भा० १ । ६ । ३६) कि बार-बार काम और लोभके वशीभूत होनेवाला चित्त श्रीमुकुन्द-चरणारविन्दके सेवनसे जैसी शान्ति लाभ करता है, वैसी यमादि योगाङ्गोंसे नहीं करता । श्रीभगवान्ने श्रीउद्धवके व्याजसे हमलोगोंको बताया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०)

'हे उद्धव ! मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार तो न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है ।' क्या यह इस बातके लिये पर्याप्त कारण नहीं है कि क्यों परम कल्याणको चाहनेवाला भक्त इन साधनोंसे दूर रहता है । ये केवल व्यर्थ ही नहीं वरं विघ्नस्वरूप हैं । भगवदावेशावतार श्रीकपिलदेवजी कहते हैं (श्रीमद्भा० ३ । २५ । ४४)— 'तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमें चित्त स्थिर करके मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त कर सकता है ।'

इस प्रकार इस बातको दर्शानेवाले अनेक प्रमाण हैं कि केवल भक्तियोग ही हमारा परम कल्याण-सम्पादन करनेमें समर्थ है, जब कि अन्य साधनोंमें यह शक्ति नहीं है । गीतामें भी श्रीकृष्ण भक्ति-योगियोंकी सबसे अधिक प्रशंसा करते हैं (६ । ४७) । और क्या भगवान्के कृपापात्र वेदोंसे अनुमोदित होनेपर भी अन्य साधनोंकी अपेक्षा कर सकते हैं । जैसा कि श्रीनारदजीने प्राचीनबर्हि राजाको उपदेश दिया है—

यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥

(श्रीमद्भा० ४ । २९ । ४६)

'हृदयमें बार-बार चिन्तन किये जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार तथा वैदिक कर्म-मार्गकी बद्धमूल आस्थासे छूट जाता है ।'

श्रुति विभिन्न प्रकृतिके लोगोंके लिये विभिन्न पद्धतियोंका विधान करती है, अतः वे सब सभी प्रकारके मनुष्योंके लिये समानरूपसे उपयोगी नहीं होतीं । जो भक्त हैं अथवा भक्त जिनका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं, उन्हें इन पद्धतियोंको न तो माननेकी आवश्यकता है और न मानना ही चाहिये; उन्हें तो केवल उन्हींको मानना चाहिये, जिनका सीधा सम्बन्ध शुद्ध भक्तिकी साधनासे हो । क्या भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे सब धर्मोंको त्यागकर केवल उन्हींकी शरणमें जानेके लिये स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा है ?—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

'यदि तुम डरते हो कि धर्मोंके त्यागसे पाप लगेगा तो मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि डरनेकी कोई बात नहीं, तुम्हारे सब पाप मैं धो डालूँगा, तुम चिन्ता न करो ।' हरि-स्मरणका समर्थन करनेवाले साधनोंको छोड़कर भक्तजन फिर दूसरे विधि-निषेधोंके फेरमें क्यों पड़ें ? भगवान् श्रीकृष्णने इसी प्रकार उद्धवको भी अपनी ऐकान्तिक भक्तिके लिये प्रोत्साहित किया है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३२)

'वेदोंमें मेरे द्वारा उपदेश किये गये अपने वर्णाश्रमादि धर्मोंके पालनमें गुण और त्यागमें दोष जानकर भी जो मेरे लिये उनकी उपेक्षा करके मुझे भजता है; वह साधुओंमें श्रेष्ठ है।' रक्षाके ऐसे प्रबल आश्वासनोंसे युक्त होनेपर कोई भक्त शास्त्रों एवं वेदोंद्वारा प्रतिपादित कर्तव्योंका भी त्याग करनेमें क्यों हिचकेगा ? जिसने भगवद्भक्तिका साधन आरम्भ किया है उसे भी, यदि वह सच्चा है तो, दूसरे प्रकारके धर्मोंको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अन्यथा वह अपनी यात्रामें आगे नहीं बढ़ सकेगा। जब अर्जुनने भगवान्से पूछा (गीता ६ । ३७-३८) कि इस प्रकारके त्यागसे भक्तियोगके मार्गपर जिसने अभी पैर ही रखा है, ऐसा साधक क्या दोनों ओरसे घाटेमें नहीं रहेगा, तब श्रीभगवान् बोले—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
(गीता ६ । ४०)

'ऐसे व्यक्तिको नितान्त पतनका कोई भय नहीं है।' इस सत्यकी व्याख्या श्रीनारदने श्रीव्याससे इस प्रकार की है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १७)

'जो पुरुष अपने वर्णाश्रम-धर्मोंको छोड़कर श्रीहरिके चरण-कमलोंका भजन करता है, वह यदि भजन सिद्ध होनेके पहले ही गिर जाय तो क्या उसका कहीं भी अमङ्गल हो सकता है ! अर्थात् नहीं हो सकता। किंतु जो भगवान्का भजन न करके केवल स्वधर्मका पालन करते हैं, उन्हें कौन-सा लाभ मिलता है अर्थात् कोई लाभ नहीं मिलता।' पहली दशामें, भगवान्की कृपासे, जहाँ पहली साधना छूटी कि वहींसे फिर आरम्भ करके जीव क्रमशः उन्नतिकी ओर बढ़ता जा सकता है; किंतु दूसरी अवस्थामें यदि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति भी हो जाती है तो वह शाश्वत नहीं होती। गीतामें भी यही प्रतिज्ञा की गयी है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
(६ । ४३)

'वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको वह अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है।'

यहाँपर एक प्रश्न उठ सकता है कि विष्णुसंहिताके अनुसार प्रत्येक वर्णाश्रमीको छः ऋण चुकाने रहते हैं—

देवतापितृबन्धूनामृषिभूतनृणां तथा ।
ऋणी स्यात्तदधीनश्च वर्णादिजन्ममात्रतः ॥

जैसा गरुड़पुराणमें लिखा है कि उसे इन ऋणोंको इस प्रकार चुकाना चाहिये—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

किंतु भक्त इन सब बन्धनोंसे मुक्त है। नौ योगीन्द्रोंमेंसे एक श्रीमत् करभाजनने राजा निमिकी सभामें कहा था।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१)

"गीता (३ । २७) में जिसे 'कर्ताहम्' कहा गया है उस 'कर्तृत्व-अभिमान'को छोड़कर जो सम्पूर्ण रूपसे ब्रह्मा-इन्द्रादिके भी एकमात्र शरण्य भगवान् श्रीमुकुन्दकी शरणमें चला जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण—किसीका भी किंकर अथवा ऋणी नहीं रहता।" वशिष्ठसंहितामें भी वैष्णवोंके लिये इस प्रकारके आचरणका निषेध है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं दानं संकल्पमेव च ।
दैवं कर्म तथा पैत्रं न कुर्याद् वैष्णवो गृही ॥*

स्कन्दपुराणका निर्देश है—

अर्चिते देवदेवेशे अब्जशङ्खगदाधरे ।
अर्चिताः पितरो देवा यतः सर्वमयो हरिः ॥

'शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णुकी अर्चना कर लेनेपर समस्त पितरों तथा देवताओंकी पूजा हो जाती है; क्योंकि भगवान् विष्णु सर्वदेवमय हैं।' बृहन्नारदीयपुराणका कथन है कि विशेषकर कलियुगमें केवल हरिभक्तोंकी ही परम कल्याणके लिये की गयी चेष्टा सफल होती है—

---

* वैष्णव गृहस्थके लिये नित्य, नैमित्तिक एवं सकाम कर्म, देवपूजा, पितृ-तर्पण, दान एवं संकल्प आदि करनेकी आवश्यकता नहीं है।

हरिनामपरा ये च हरिकीर्तनतत्पराः ।
हरिपूजापरा ये च ते कृतार्थाः कलौ युगे ॥*

कुछ लोग श्रुतिका हवाला दे सकते हैं कि—

ॐ कर्मफलासः कर्मी यजेद्द्रव्यकव्यमयैः कामवान् सर्वांश्च देवान् पितॄनतिथींश्च ।†

किंतु उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि यह आज्ञा कर्मफलासक्त कामवान् कर्मीके लिये है, भगवद्भक्तोंके लिये नहीं। इसके अतिरिक्त 'सर्वांश्च' शब्द तो उनके लिये भी भयावह है। अपने यज्ञके द्वारा उन्हें समस्त देवताओं, पितृगणों, पुरुषों और अतिथियोंको पूर्णरूपसे संतुष्ट करना चाहिये, उनमेंसे एक भी छूट न जाय। यदि कुछ संतुष्ट होते हैं और कुछ नहीं तो सब किया-कराया व्यर्थ हो जाता है। किंतु अच्युत भगवान् नारायणके भक्तोंके लिये दूसरा ही आदेश है। प्रचेताओंसे श्रीनारदजी कहते हैं—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १४)

'जिस प्रकार वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसका तना, शाखा, उपशाखा आदि सभी तृप्त हो जाते हैं तथा जैसे भोजनके द्वारा प्राणोंके तृप्त हो जानेसे सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका पूजन करनेसे देवता, पितृ पुरुष, इत्यादि सभीका पूजन हो जाता है। इस प्रकार भगवद्भक्तको देवतादिकी पृथक् पूजाके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती।'

भक्तोंका मूल सिद्धान्त कि संसारके दुःखोंसे छूटनेके लिये भक्तिके अतिरिक्त मनुष्यके पास दूसरा उपाय नहीं है—श्रीउद्धवके इन वाक्योंमें मिलता है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १९ ।

'हे प्रभो ! इस घोर संसार-मार्गमें तापत्रयसे पीड़ित हो संताप करनेवाले व्यक्तिके लिये आपके अमृतवर्षी चरणयु रूप छत्रके अतिरिक्त मुझे कोई और आश्रय दिख नहीं देता।'

हमें आशा है कि हमारे निष्पक्ष पाठकोंको इस ब विश्वास हो गया होगा कि जीवके लिये परम कल्या वस्तु निःश्रेयसके साधकके लिये—जिसकी साधना करनी ही चाहिये—हरिभक्तोंके प्रति भक्तिके अति जिसमें स्वयं भगवान्‌के प्रति की गयी भक्ति भी समावि अन्य सभी प्रकारके धर्म सरासर निस्सार हैं।

श्रीविष्णुयामलसंहिताके निम्नलिखित शब्दोंमें भग हरिको प्रणाम करते हुए हम अपने कथनको समाप्त करते हैं—

यत्पूजनेन विबुधाः पितरोऽर्चिताश्च
तुष्टा भवन्ति ऋषिभूतसलोकपालाः ।
सर्वे ग्रहास्तरणिसोमकुजादिमुख्या
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

'मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दकी आराधना करता जिनकी पूजासे देवताओं और पितरोंकी पूजा स्वतः हो जा तथा ऋषिगण, भूत एवं लोकपालगण, तथा सूर्य, च मंगल आदि समस्त ग्रह संतुष्ट हो जाते हैं।'

काशीका मुक्ति-दान

एक दिएँ जहँ कोटिक होत हैं, सो कुरुखेत मैं जाय अन्हाइय।
तीरथराज प्रयाग बड़े मन बांछित के फल पाय अघाइय॥
श्रीमथुरा बसि 'केसवदासजू' द्वै भुज तें भुज चार ह्वै जाइय।
कासीपुरी की कुरीति बुरी, जहँ देह दिएँ पुनि देह न पाइय॥

---

* जो भगवन्नामपरायण, भगवत्कीर्तनमें तत्पर तथा हरि-पूजनपरायण हैं, वे ही पुरुष कलियुगमें कृतार्थ होते हैं।

† कर्मफलमें आस्था रखनेवाले सकामकर्मीको चाहिये कि वह समस्त देवताओं, पितरों एवं अतिथियोंकी पूजा-सत्कार करे।

भगवान् महावीरके जीवनकी चार झाँकियाँ

(लेखक—मुनि श्रीसुशीलकुमारजी शास्त्री)

भारतके दो महापुरुष

भगवान् महावीर और बुद्ध दोनों एशियाके आध्यात्मिक गगनके देदीप्यमान नक्षत्रके रूपमें भारतमें प्रादुर्भूत हुए थे। वे दोनों ही महापुरुष महान् अहिंसक और समन्वयवादी होते हुए भी अपनी-अपनी मौलिक विशेषताओंसे युक्त हैं। इनमें भी निवृत्ति-परम्परा, कठोर साधना और अहिंसाके सूक्ष्मतम विश्लेषणके कारण महावीरका अनुपम महत्त्व है और अपनी इन्हीं विशेषताओंके कारण समूचे विश्वके महानतम पुरुषोंमें वे अपनी विशिष्ट स्थान रखते हैं। भगवान् महावीरके अनन्त ज्ञान और विशाल अनुभवसे लाभ उठानेके लिये हमें उनके मानवीय जीवनको जानना होगा। यद्यपि प्रत्येक-महापुरुषका जीवन अनन्त होता है, उनके चैतन्य और साधनाकी अतल गहराई मापना असम्भव है, तो भी उनकी जीवनव्यापी महत्ताका एक मोटा-सा रेखाचित्र हम अवश्य खींच सकते हैं।

भगवान् महावीरके जीवनको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—

१ गृहस्थ, २ साधक, ३ तीर्थङ्कर और ४ निर्वाण

गृहस्थ-जीवन—उनके जीवन-पुष्पका सौरभ पानेके लिये हमें उनके जन्म और बाल्यकालकी कोमल कलियोंकी एक झाँकी लेना भी समीचीन होगा।

जन्मकाल—भगवान् महावीरका जन्म ईसवी सन् ५८९ वर्ष पूर्व हुआ था। चैत्रमासकी शुक्ला त्रयोदशीकी मध्याह्नकी वेला थी, वासन्ती वायु बह रही थी। सम्पूर्ण दिशाएँ निर्मल हो रही थीं। ऐसे सुहावने समय कुण्डग्राम गणराज्यके अधिनायक महाराज सिद्धार्थके भव्य प्रासादमें महाराजकी प्रिय रानी त्रिशलाको इस महापुरुषको जन्म देनेका महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराज सिद्धार्थके समय वज्जि, मल्ल, काशी, कोसल आदि कितने ही राज्य प्रजासत्ताक थे। इन राज्योंकी व्यवस्थाका मूलसूत्र प्रत्येक जातिके निर्वाचित नायकोंके हाथमें रहता था। ये गणराज्य कहलाते थे। वज्जि या लिच्छवि गणराज्य इन गणराज्योंमें सर्वाधिक शक्तिशाली था। इस राजसंघमें आठ क्षत्रिय कुलोंके प्रतिनिधि सम्मिलित थे, जो राजा कहलाते थे। वे आठ क्षत्रिय-कुल (१) वृजि, (२) लिच्छवि, (३) क्षामिक, (४) विदेती, (५) उग्र, (६) भोग, (७) इक्ष्वाउ, (८) कौरव नामके थे। इनमेंसे लिच्छवि प्रधान था। इसकी राजधानी वैशाली थी। इसके अन्तर्गत ही कुण्डग्राम था, जिसके अधिनायक महाराज सिद्धार्थ थे। महावीरकी माता गणराज्यके अधिपति चेतककी बहन थी। भारतने अनेक विषम परिस्थितियों और संकटोंको पारकर जिस लोकतन्त्रीय पद्धतिका विकास किया है, उसका मूल आदर्श भगवान् महावीरके समयके ये गणराज्य ही थे। वास्तवमें लोकतन्त्रका मूल आधार राजनीतिक नहीं, आध्यात्मिक है। प्रत्येक व्यक्तिको पूर्णतः नागरिक मान लेने और उसे शासक बननेका अधिकार दे देने अर्थात् धर्मके शब्दोंमें समस्त जीवमात्रको आत्मवत् समझनेकी भावनाका स्थूल संस्करण इन गणराज्य-प्रणालीको कहा जा सकता है। ऐसे ही एक गणराज्य कुण्डग्राममें भगवान् महावीरका जन्म हुआ था।

जैनागमोंमें महावीरके जन्मसमयका वर्णन बड़े रोचक ढंगसे किया गया है—जैसे कि महावीरके गर्भप्रवेशके समय माताको महास्वप्न आना और अष्टाङ्गनिमित्तके जाननेवाले ज्योतिषियोंसे फलादेशका पूछना, उनके द्वारा महापुरुषके आगमनकी भविष्यवाणी करना आदि। किंतु संक्षेपमें इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि जन्मके बाद महावीरके शरीरपर महापुरुषोंके १००८ लक्षण दिखायी देते थे। उनका नाम वर्धमान रखा गया। वे काश्यपगोत्रीय क्षत्रिय थे। इसीलिये उन्हें ज्ञातृ-पुत्र, नायत्त तथा बौद्ध त्रिपिटक दीर्घनिकाय आदि ग्रन्थोंके अनुसार निगंठ नातपुत्त कहा जाता है।

बाल्यकाल—महावीरकी बाल्यावस्था विवेक, शिष्टता, शालीनता, निर्भयता आदि भद्र गुणोंसे भरी हुई थी। आठ वर्षकी अवस्थामें ही आपने विकराल सर्पके रूपमें आये देवको पछाड़ा था। पिशाच, भूत आदि किसी भी भयानक आकारसे वे नहीं डरते थे। उनका सामर्थ्य और साहस आश्चर्यजनक था। इसीलिये इन्द्रने उनके अतुल पराक्रमको देखकर उन्हें 'महावीर' नामसे सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया था।

उनकी विशाल देह, गौर वर्ण, पुष्ट स्कन्ध, चौड़ी छाती, उन्नत ललाट, तेजस्वी मुख और अधरपर सदा विलास करनेवाली स्थिर हास्यकी रेखा उनके मधुर और अलौकिक व्यक्तित्वके परिचायक थे।

विवाह—विवाहके विषयमें जैनाचार्योंमें दो मान्यताएँ हैं।

श्वेताम्बर आगमोंकी मान्यता है कि भगवान् महावीरका विवाह समावीर सामन्तकी राजकुमारी यशोधाके साथ हुआ था और उनके प्रियदर्शना नामकी पुत्री हुई थी । दिगम्बरोंने उन्हें आजीवन कुमार और बालब्रह्मचारी बताया है।

अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें उनके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। महावीरके मनमें वैराग्य तो जन्मकालसे ही संस्कारगत था। वे सदा जगत्‌की दशापर विचार किया करते थे। दुःख और उससे मुक्तिके उपायके बारेमें वे सदा चिन्तन और मनन किया करते थे। इसीके लिये वे घर और राजपाट सभी छोड़ना चाहते थे। अत्यन्त आग्रह करके ही महावीरके बड़े भाई नन्दिवर्धन उन्हें दो वर्षतक रोक सके। वे भाईके आग्रहको टाल न सके। वे रुके तो अवश्य, परंतु अपना समय अपनी सम्पत्तिको लोगोंमें बाँटनेमें लगाने लगे। प्रतिदिन प्रातःकालसे दोपहरतक वे कोटि-कोटि स्वर्ण-दीनारोंका दान करते थे।

तीस वर्षकी अवस्थामें जगत्‌के समस्त जीवोंके सुख और शान्तिके अमोघ उपायरूप धर्मतीर्थके प्रवर्त्तनके लिये वे घरसे निकल पड़े। सुवर्ण-रत्न, धन-धान्य, स्त्री-परिवार, राज-पाट—सबसे वे विरत हो गये।

भगवान्‌का गृहस्थ-जीवन तीस वर्ष लंबा होते हुए भी सुखपूर्ण था । राज्य-वैभवका विशाल स्तूप और सत्ताका विराट् कोष उनके चारों ओर बिखरा पड़ा था। किंतु भगवान्‌के मनमें सम्पूर्ण जीवोंको अमर शान्ति और प्राणियोंको निरन्तर त्रस्त करनेवाली मृत्युकी व्याकुलतासे मुक्ति दिलानेकी जो लालसा थी, उसने उन्हें किसी जागतिक आकर्षणमें न फँसने दिया। वे अकेले जंगलकी ओर चल पड़े साधनाके पथपर, अनन्त अमर आनन्दकी खोजमें।

साधक महावीर

भगवान्‌ने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमीको दिनके चौथे पहर हजारों नागरिकोंके सामने क्षत्रियकुण्डके बाहर ज्ञातखण्ड उद्यानमें अशोक वृक्षके नीचे अपने समूचे वस्त्र उतारकर, समस्त सांसारिक सम्बन्धोंसे विलग होकर प्रतिज्ञा कर ली कि 'आजसे मैं पूर्ण समभावको स्वीकार करता हूँ। मन, वचन, कायाके द्वारा पापकारी प्रवृत्तिसे सदाके लिये निवृत्त होता हूँ।'

भगवान् महावीर आध्यात्मिक महापुरुष थे । उन्होंने किसी सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहण नहीं की और न किसी मनुष्यको उन्होंने गुरु ही बनाया। वे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करके आत्मसाधनाके पथपर चल पड़े । आत्माकी सिद्धिमें शरीरका मोह बाधक बनता है। आगपर रखे बिना सोना कुन्दन नहीं बनता। ठीक इसी तरह हमारे शरीरको भी तपरूप अग्निकी भट्ठीपर चढ़ाये बिना कर्माकर्मके दोष धुलेंगे नहीं और आत्माका ज्ञानस्वरूप चमकेगा नहीं। परिश्रमका पसीना दरिद्रताके अभिशापसे छुड़ा देता है। चिन्तनकी गहराई बौद्धिक अविवेकको समाप्त कर देती है और निश्चल समाधि मनकी चञ्चलताको नष्ट कर देती है।

साधनाका पथ विकट है। प्रव्रज्या लेते ही उन्होंने पञ्च महाव्रतोंकी प्रतिज्ञा ली।

(१) मैं सर्वप्राणातिपातका त्याग करता हूँ। मैं स्थावर या, जङ्गम, सूक्ष्म और बादर (स्थूल)—किसी भी प्राणकी मन-वचन और कायासे स्वयं तो हिंसा करूँगा नहीं, दूसरोंसे भी नहीं करवाऊँगा और न हिंसा करनेका किसी प्रकार समर्थन-अनुमोदन ही करूँगा।

(२) मैं मन-वचन और कायसे कृत, कारित और अनुमोदित असत्यका त्याग करता हूँ।

(३-४-५) मैं सब प्रकारकी चोरी, मैथुन और परिग्रहका तीनों करण, तीनों योगसे प्रत्याख्यान करता हूँ।

अपनी प्रतिज्ञाओंके प्रति महावीरकी श्रद्धा अगाध थी। अपनी प्रतिज्ञामें वे अत्यन्त दृढ़ थे। अनेकों संकट आये, उपसर्ग हुए; किंतु अपने संकल्पसे वे रंचमात्र भी च्युत न हुए। यही कारण है कि महावीरकी साधक अवस्था निरी कष्टोंकी रोमहर्षण भयानक कहानी है। आत्माकी खोजके लिये संसारमें किसी महापुरुषने बारह वर्षतक इतना घोर कष्ट सहन किया हो, ऐसा उदाहरण हमें मिलता नहीं। महावीरमें तपकी पराकाष्ठा थी चिन्तनकी गहनता थी और थी समाधिकी अखण्डता।

बारह वर्ष पाँच माह पंद्रह दिनतक महावीर साधना करते, अपनी सिद्धिकी साधनामें 'वोसट्ठ-चत्त देहे'—शरीरको उत्सर्गकी बलिवेदीपर निछावरकर मुक्तिमार्गके अनन्त पथकी खोज करते रहे। वे आत्माके ध्रुव मार्ग तथा शाश्वत धर्मकी शोधमें लगे रहे। महावीर ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने सार्वभौम धर्म और शाश्वत मार्गकी खोजको ही अपना उद्देश्य बनाया था। इस शोधमें वे अपनी कायातककी सुध-बुध खो बैठे थे।

वे वृक्षके नीचे दोनों पैरोंको एकत्रितकर हाथोंको नीचे

कैला एक वस्तुपर त्रकटाके—निर्निमेष दृष्टि लगाकर शरीर और इन्द्रियोंको अधीन कर ध्यानमुद्रामें लीन रहते । उन्हें इस प्रकारकी समाधिमें कई दिन और रात बीत जाते ।

गर्मीकी झुलसती दुपहरियोंमें अंगारोंकी जलती चट्टानोंपर वे ध्यान लगाते, धधकते हुए रेतीले मैदानोंमें निश्चल हो चिन्तन करते । शीतमें भुजाओंको सदा फैलाकर रखते । शिशिर और हेमन्तकी ठंढी हवाएँ फुंकारें मारतीं; देहमें तीर-की भाँति लगतीं । ऐसे समयमें जब दूसरे साधु लकड़ी जला कर शीत मिटाते, भगवान् नंगे बदन चिर-समाधिमें लीन रहते ।

सर्पोंके बिलोंपर खड़े रहकर तपस्या करना ही उनका परीक्षण था । श्मशानों और निर्जन भूखण्डोंपर ही उनका डेरा लगता, दुराचारियोंके उत्पीड़न ही उनके स्वागत थे, और कामिनियोंके वासनाकुल कटाक्षभरे निमन्त्रण ही उनके लिये त्यागकी प्रेरणा थे । उनके पैरोंपर खीर उबाली गयी, उन्हें कुत्तोंसे चटवाया गया । लाट देशके म्लेच्छोंने उनका जी भरकर अपमान और उन्हें पीड़ित करनेका प्रयत्न किया, किंतु उस पार्थिव पिण्डमें रहे ज्योतिःस्वरूप महावीरने तो सब-पर करुणा और प्रेमकी ही वर्षा की ।

छः मासतक वे निराहार रहकर आत्मचिन्तन करते और कभी भोजन लेते भी तो रूखा-सूखा ठंढा पुराने उड़द-के बाकलोंका आहार करते । उस समय उनका अनुयायी कोई न था । वे सदा मौन रहा करते और निरन्तर आत्म-दर्शनकी ओर उन्मुख रहते । उत्कटुक, गोदोहन तथा वीरासन लगाकर ही वे प्रायः ध्यान लगाते । फिर चाहे उन्हें कोई डंडोंसे पीटता, केश खींचता, कुछ भी करता, वे निर्विकार निर्मल ध्यानमें तन्मय रहते ।

महावीरका जीवन अहिंसाका मूर्तिमान् रूप था । मार्गमें चलते हुए कबूतर दाने चुगते हुए दिखायी दे जाते अथवा श्रमण, अथवा ब्राह्मण भिखारी भीख माँगता दिखायी दे जाता तो महावीर उसी समय दूरसे ही मार्ग बदल देते । महावीर ऐसा कोई भी कार्य नहीं करते थे, जिससे किसीके भी मनमें द्वेष उत्पन्न हो ।

आचाराङ्ग-सूत्रमें इस अहिंसक महापुरुषको दी गयी यातनाओंका वर्णन करते हुए कहा गया है कि ‘अनार्य लोग महावीरको अपरिचित जानकर चोर आदिके भ्रमसे लाठियों, भुजालियों, भालेकी अणियों और हड्डियोंके खपरोंसे पीट-पीटकर घायल कर देते । किंतु अहिंसाका सूत्रधार अहिंसाकी साधनामें पीयूष-वर्षा करता हुआ आध्यात्मिक चिन्तनमें निश्चल और निर्विकार भावसे लगा रहता ।

भगवान् इसी कष्ट-सहनके बाद स्वयं सम्बुद्ध बने । उनकी साधनाका मूल उद्देश्य आत्म-सम्प्राप्ति था, जिससे वे अति दुखी प्राणियोंका कल्याण कर सकें । वे जानते थे कि जन्म दुःख है, आधि दुःख है, व्याधि दुःख है, जरा दुःख और मरण दुःख है । संसार दुःखसे जल रहा है । उसमें अहिंसा और सत्य ही परम शान्तिका मार्ग है । आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही अन्तिम सिद्धि है ।

साधनाके तेरहवें वर्षमें भगवान् प्रवेश कर चुके थे । मौतरूपी पिशाचको पछाड़नेमें भगवान् सफल हो रहे थे; बोधि-लाभका दिन आ पहुँचा । बुद्धको जैसे अश्वत्थ वृक्षके नीचे बैठे-बैठे बोधि-लाभ हुआ था, उसी प्रकार भगवान् महावीरको भी भाजुवालुकाके तटपर जृम्भिक ग्रामके बाहर शालवृक्षके नीचे वैशाख शुक्ला दशमीको दिनके अन्तिम प्रहरमें आतायतामें सूर्याभिगुप्त तप करते हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शनका लाभ हुआ । वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गये । समस्त विश्व उन्हें हस्तामलकवत् दिखायी देने लगा । उनकी जीवन-साधना पूरी हुई ।

तीर्थङ्कर महावीर

भगवान् महावीर तीर्थङ्कर थे । तीर्थङ्कर वे ही होते हैं, जो दुःखके दावानलमें जलते हुए प्राणियोंके लिये उद्धारका घाट बना सकें अथवा जिनके सहारे तरा जा सके । अहिंसा-तीर्थसे समूचा जगत् तर सकता है । इस प्रकारके तीर्थकी स्थापना करनेवाले महावीरसे पहले भी तेईस तीर्थङ्कर हो चुके हैं । महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे । जैन-तीर्थङ्कर पूर्णज्ञान प्राप्त किये बिना धर्मका प्ररूपणा (प्रवचन) नहीं करते । पूर्ण बोधि होनेपर ही वे उपदेश देते हैं ।

भगवान् महावीरने जृम्भिक ग्रामसे चलकर मध्यम पावापुरीमें अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया और इस प्रकार धर्मचक्र प्रवर्तन किया । उनके उपदेशमें अलौकिक शक्ति थी । उनकी भाषाको सब समझ सकते थे । उनके भावोंका आत्मापर प्रभाव पड़ता था । एक-एक शब्द मर्मस्पर्शी था उनका ।

जनताके प्रति उनका पहला उपदेश था—असंयमसे संयमकी ओर चलो । संसार शून्य नहीं, वास्तविक है । जड़ और चेतन —ये दो मूल तत्त्व ही जगत्के निर्माणमें काम करते हैं ।

पदार्थ अपने मूलमें नित्य है, पर्यायमें परिवर्तनशील है। यही कारण है कि संसार मूलमें नित्य होते हुए भी उत्पाद-विनाशशील है। यह समूचा विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन्हीं छः द्रव्योंका समुदाय है।

आत्मा है, उसे अनुभूति और उपभोगसे जाना जा सकता है; किंतु जीव कर्मोंके पटोंसे आवृत हो गया है, उसे अपना रूप नहीं दिखायी देता। अहिंसा, संयम और तपके द्वारा कर्मोंका विनाश और आत्माका बोध हो सकता है।

भगवान्‌की पावनवाणी गङ्गाकी धाराकी भाँति प्रवाहित हो उठी। जन-जनका मानस एक नये आलोकसे भरने लगा। घर और बाजारोंमें—सब कहीं यह लोक-जीवनकी चर्चाका विषय बन गया।

एक बार अग्निभूति, फिर वायुभूति आदि ग्यारह महाविद्वान् अपनी विद्वन्मण्डली और शिष्य-परिवारके साथ उनके पास आये और महावीरने प्रत्येकके मनका संदेह दूरकर उनका समाधान किया। भगवान् महावीर कहते गये—

'अग्निभूति ! तुम्हें कर्मकी सत्तापर संदेह है।'

'वायुभूति ! तुम्हें शरीरातिरिक्त आत्माकी सत्तापर विश्वास नहीं।'

'आर्यव्यक्त ! तुम्हारा विश्वास है कि ब्रह्मके सिवा सारा जगत् शून्य है।'

'और सुधर्मा ! तुम्हारी धारणा है कि समस्त प्राणी मरकर उसी योनिमें उत्पन्न होते हैं।' आदि।

भगवान्‌ने इन ग्यारह पण्डितोंके मनकी शङ्का-ग्रन्थियोंको खोलकर रख दिया। तब पण्डितोंने संदेहसे मुक्त होकर अपना मस्तक भगवान्‌के चरणोंमें झुका दिया। उनका सारा अभिमान गल गया।

उन्होंने अपने शिष्य-समुदायके साथ भगवान्‌का शिष्यत्व स्वीकार करके प्रव्रज्या ले ली और यों एक ही दिनमें भगवान् महावीरके अनुयायी ४४११ साधु बन गये। ये ग्यारह विद्वान् ही आगे चलकर महावीरके शिष्य-समुदायमें 'गणधर' कहलाये।

भगवान् महावीरने पहली उद्घोषणामें कहा था—

'विश्वास करो कि जीव और अजीव हैं।

पाप और पुण्य हैं।

बन्ध और मोक्ष हैं।

सिद्धि और सिद्धिका स्थान है।

संसारके नागरिको ! आत्माका कल्याण आचारमें अहिंसा और विचारमें अनेकान्तकी प्रतिष्ठा किये विना नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर जीवन-साधक थे। उन्होंने जीवोंके कल्याणके लिये, धार्मिक सुव्यवस्थाके लिये चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) की स्थापना की। परहितके साधनमें जुट जाना ही प्रभुने साधकका उद्देश्य बताया। साधकोंको चार भागोंमें विभक्तकर भगवान्‌ने उपदेश दिया। प्रत्येक मुमुक्षु साधकके लिये प्रभुने चार 'शरण' दिये—

अरिहंतकी शरण
सिद्ध (परमात्मा) की शरण
साधुकी शरण
धर्मकी शरण

आठ उद्‌बोधन दिये:—

असंयमसे संयमकी ओर चलो
अब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचर्यकी ओर चलो
अकल्पनीयसे कल्पनीयकी ओर चलो
अज्ञानसे ज्ञानकी ओर चलो
अक्रियासे क्रियाकी ओर चलो
मिथ्यात्वसे सम्यक्त्वकी ओर चलो
अबोधिसे बोधिकी ओर चलो
अमार्गसे मार्गकी ओर चलो

छः द्रव्य, नौ तत्त्व, चार निक्षेप, सप्त नयसे वस्तुतत्त्वको समझो। आन्तर और बाह्य असम रेखाओंको समभावसे मिटाओ। पूर्ण साम्यभोग और आत्मस्वरूपकी पूर्णताकी सिद्धि प्राप्त करो।

संघकी सुदृढ़ और सुन्दर व्यवस्थाके कारण उसकी दिनोदिन उन्नति होने लगी। भगवान् महावीरके समय ही उनके साधु और साध्वियोंकी संख्या ५०००० हो गयी थी। इसी प्रकार उनके अनुयायी श्रावक-श्राविकाओंकी संख्या ४७७००० तक पहुँच गयी थी। भगवान् महावीरके श्रमण संघकी अद्वितीय संगठन-प्रणालीका ही यह सबूत है कि आज २५०० वर्षोंके अनेक अंधड़ और तूफानोंके बाद भी जैन श्रमणपरम्परा त्यागपर चट्टानकी तरह अडिग अडोल-भावसे खड़ी हुई है।

भगवान् तीन वर्षतक मगध, कोसल आदि देशोंमें धर्म-प्रचार करते रहे । उनका विहार-क्षेत्र विस्तृत है । प्रभुके प्रभावका आलोक कितना सर्वव्यापी था, इसका उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थोंतकमें मिलता है । उनका अहिंसात्मक सूक्ष्म ज्ञान अद्वितीय और अनुपम था । विश्वका वह जन्मजात अहिंसक महापुरुष आयुके अन्तिम श्वासतक अहिंसाधर्मका प्रकाश फैलाता रहा ।

परिनिर्वाण

भगवान् महावीरका अन्तिम चातुर्मास्य मध्यम पावापुरीमें हुआ था । आपने महाराज हस्तिपालकी रज्जुक सभामें अन्तिम वर्षावास बिताया था । अन्तमें ७२ वर्षकी अवस्थामें आपने कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रात्रिकी अन्तिम घड़ियोंमें अहिंसाके ज्योतिर्धरने जन्म, जरा, आधि, व्याधिके बन्धनको छोड़कर सिद्ध बुद्ध मुक्त अवस्था प्राप्त की । उस समय देवों, गणराजाओं और अन्य मनुष्योंने भगवान्के निर्वाणको अत्यन्त उल्लाससहित मनाया और दीपावली प्रज्वलित की । लोकमें तभीसे दीपावली प्रचलित हो गयी ।

भगवान् महावीरने निर्वाण प्राप्त करनेसे पहले अन्तिम उपदेशमें कहा था—‘हे गौतम ! मेरे निर्वाणके बाद लोग कहेंगे—निश्चय ही अब कोई जिन नहीं हैं ! पर हे गौतम ! मेरा उपदिष्ट और अनेक दृष्टियोंसे अतिमानित अहिंसा और अनेकान्तात्मक समन्वयमार्ग पथ-प्रदर्शकके रूपमें रहेगा । ग्राम, नगर—जहाँ भी जाओ, संयत रहकर शान्तिमार्गकी वृद्धि करना और अहिंसा-मार्गका प्रचार करना ।’

भगवान् महावीरके निर्वाणके अनन्तर संघका भार पाँचवें गणधर सुधर्मा स्वामीको सौंपा गया ।

सुधर्मा स्वामीने भगवान्को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए मार्मिक शब्दोंमें कहा था—

‘योद्धाओंमें जैसे वासुदेव, पुष्पोंमें जैसे अरविन्द श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ऋषियोंमें भगवान् महावीर श्रेष्ठ हैं ।

‘दानोंमें अभयदान, सत्यमें निरवद्य सत्य, तपमें ब्रह्मचर्य जैसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार लोकमें ज्ञातृपुत्र महावीर श्रेष्ठ हैं ।’

गीताके प्रति वस्तुनिष्ठ (Objective) और आत्मनिष्ठ (Subjective) दृष्टिकोण

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

गीताके पहले अध्यायमें अर्जुनको जो विषाद हुआ, उसके पीछे एक छोटी-सी भूमिका है । महाभारतका अध्ययन करनेसे इसका परिचय मिलता है । गीताके पहले अध्यायके पहले श्लोकमें धृतराष्ट्रका यह प्रश्न कि ‘मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें क्या किया ?’ बड़ा साभिप्राय है । महाभारतके उद्योगपर्वमें एक अध्याय संजययानके नामसे है । इसमें संजयकी उस यात्राका वर्णन है, जो उसने धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे पाण्डवोंके निवासस्थानकी ओर की थी । धृतराष्ट्रने संजयको इस गुप्त संदेशके साथ भेजा था कि वह पाण्डवोंको—विशेषतः धर्मराज युधिष्ठिरको युद्धकी निरर्थकता समझाये और धर्म, शान्ति तथा भ्रातृप्रेमके नामपर उन्हें युद्ध करनेसे रोके । संजयने इस कामको अच्छी तरह किया; पर प्रतीत होता है कि वह विशेष सफल नहीं हो सका । इसलिये धृतराष्ट्रका यह प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक था कि इतना समझाने-बुझानेके बाद भी दोनों पक्षोंने क्या किया ।

विषादके दो स्वरूप

पहले अध्यायमें अर्जुनका विषाद दो प्रकारका है, एक वस्तुनिष्ठ (Objective) और दूसरा आत्मनिष्ठ (Subjective) । पहलेमें वह अपने सम्मुख खड़े स्वजनोंको देखता है । उसका शरीर काँप जाता है और हाथसे गाण्डीव खिसकने लगता है । आत्मनिष्ठ विषादमें वह व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और मानवताके विनाशका बड़ा भयंकर चित्र खींचता हुआ अपनी आत्माके अन्तस्तलमें प्रसुप्त आशङ्काओंको प्रकट करता है । व्यक्तिगत दृष्टिसे वह इस युद्धके परिणामस्वरूप मित्र-द्रोह, पारिवारिक दृष्टिसे कुलपरम्पराओंका नाश, सामाजिक दृष्टिसे महिला-बालकोंके कुपथगामी होनेका भय, राष्ट्रिय तथा जातीय दृष्टिसे वर्णसंकर और समस्त मानवसमाजकी दृष्टिसे मानवताका नरकमें डूब जाना—ये सब आपत्तियाँ और संकट इस युद्धके फलस्वरूप होंगे, ऐसी घोषणा स्पष्ट शब्दोंमें करता है । इस प्रलयकालीन महाविनाशका मूल क्या है ? अर्जुन कहता है कि ‘राज्यके लोभ’ से मुक्त होनेकी कामना करता हुआ वह निःशस्त्र ही सशस्त्र सेनाके द्वारा मारे जानेकी एकमात्र कामना करता है ।’

वस्तुनिष्ठ विषादका निराकरण

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी इन दोनों प्रकारकी आशङ्काओंका निवारण बड़ी बुद्धि और युक्तिसे करते हैं। वस्तुनिष्ठ (objectvie) शङ्काओंके बारेमें श्रीकृष्णने कहा—'इस विश्वमें कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है, वह सतत परिवर्तनशील है। कुछ समय पूर्व एक वस्तु नहीं होती, कुछ समय बाद वह फिर नष्ट हो जायगी। इन दो किनारोंके बीच कुछ समयके लिये उस वस्तुकी सत्ता होती है, तब इस अस्थायी सत्ताके लिये मोह क्यों करना?' वस्तुनिष्ठ (objectvie) घटनाओंके बारेमें श्रीकृष्णकी यह युक्ति बड़ी अकाट्य है कि जिस प्रकार यह शरीर बचपनसे जवानी और जवानीसे बुढ़ापेमें आता है और कोई मनुष्य चाहे कितना ही बलवान् और विद्वान् क्यों न हो—इस परिवर्तनको रोक नहीं सकता, उसी प्रकार मृत्युसे सर्वथा निर्भय होकर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये तैयार रहना चाहिये।

कौरवोंकी विशाल सेनाको देख अर्जुनके हृदयमें भयंकर विषाद, भय और त्रास पैदा हो गया था। श्रीकृष्णने आत्माकी अमरताका उपदेश देकर इसका निराकरण किया। इन महापुरुषके ये वाक्य कि इस आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकता और जिस प्रकार मानव पुराने कपड़ोंको फेंककर नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीर ग्रहण करता है। * सचमुच बड़े बलदायक, स्फूर्तिप्रद और निराश आत्मामें आशाका संचार करनेवाले हैं।

आत्मनिष्ठ विषाद

अब अर्जुनके आत्मनिष्ठ (Subjective) भयको दूर करना जरूरी था। अर्जुनने युद्धके फलस्वरूप पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और समूची मानवतापर आनेवाले जिन महान् संकटोंकी ओर इशारा किया था, उन सबका मूलोच्छेदन श्रीकृष्णने एक ही युक्तिसे कर दिया। वह यह कि 'हे अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो; क्षत्रियका धर्म है कि वह युद्ध करे, इससे बढ़कर उसका कोई धर्म नहीं है। अपना धर्मपालन—यही मानवका एकमात्र लक्ष्य है। कर्तव्यपालनसे कटु परिणाम भी निकल सकते हैं। पर ऐसे परिणाम कर्तव्य-पालनके बाद प्राप्त होनेवाले आत्मसंतोष और आत्म-आनन्दकी तुलनामें सर्वथा गौण हैं। अगर क्षत्रिय युद्धमें विजयी होता है तो वह धर्मराज्यकी स्थापना करके युद्धजनित संकटोंका उपाय कर सकता है। यदि वह युद्धमें मर जाता है तो उसे स्वर्ग अर्थात् उत्तम गति प्राप्त होती है। यदि वह हार जाता है तो भी धर्म-पालनसे प्रादुर्भूत आत्मिक आह्लाद उसकी पराजयकी वेदनाका अन्त कर देगा। यदि क्षत्रिय युद्धभूमिसे भाग जाय, तो इतिहासमें वह सदाके लिये अपयशका भागी बनेगा। लोग उसकी कायरतापर हँसेंगे और उत्तम पुरुषके लिये अपयश मृत्युसे भी अधिक घातक है।'

इस सारे उपदेशको देते हुए अन्तमें श्रीकृष्णने कहा—'हे अर्जुन! अब तू वीर बनकर खड़ा हो और युद्धके लिये तैयार हो जा।'

लोकसंग्रहकी भित्ति

पर इस आत्मनिष्ठ धर्मपालनकी भित्ति जीवनके एक ऐसे **स्वर्णसिद्धान्तपर** है, जो कहनेमें सहज है पर करनेमें कठिन है। यह कर्मयोगकी चतुस्सूची है। गीताका सारा आधार इसीपर है। एक शब्दमें कहें तो यही निष्काम की भावना है। श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन! तुम कर्तव्यकी भावनासे ही अपने कर्म करो, उसके फलकी कामना मत करो; तुम्हारा अधिकार कर्म करनेतक ही है। फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(गीता २।४७)

पर इसके साथ तीसरा सिद्धान्त यह भी कह दिया कि 'कर्म-फलकी इच्छा ही तुम्हें कर्ममें प्रेरित करनेवाली न हो।' कर्मयोगका चौथा सूत्र यह कहा कि इसका यह अभिप्राय नहीं कि तुम कर्म ही न करो—

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।
(गीता २।४७)

'कर्म तो तुम्हें अवश्य करने होंगे, इच्छा और अनिच्छा दोनों प्रकारसे करने होंगे; क्योंकि कोई प्राणी एक क्षणके

---

* नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

लिये भी बिना कर्मके नहीं रह सकता । इसलिये जब कर्म करने ही हैं, तब क्यों न लोकसंग्रहकी भावनासे कर्म किये जायँ ?

सकामद्वारा निष्काम कर्म

श्रीकृष्ण यह जानते थे कि सामान्य मनुष्यके लिये सीधे निष्काम कर्म करना सम्भव नहीं है । मानव स्वभावतः किसी आशा और आकाङ्क्षासे ही कोई कर्म करता है। इसलिये अर्जुनको पहले स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छासे युद्धमें प्रवृत्त होनेका उपदेश श्रीकृष्णने दिया । यह सकाम कर्म है। सकाम कर्मके बाद ही निष्काम कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है। शुभकर्मोंको सकाम भावनासे करनेके बाद ही निष्काम भावनाको लाया जा सकता है । इसीका नाम लोकसंग्रह है । इसके द्वारा मानव उन सब संकटोंसे छुटकारा पा जाता है, जिनका संकेत अर्जुनने वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टिसे गीताके आरम्भमें किया था ।

वस्तुतः कर्मका मापदण्ड उसका फल नहीं है, किंतु उसके पीछे रहनेवाली भावना है—जैसे किसीको जानसे मार डालना पाप है; पर जब राजाकी आज्ञासे सिपाही किसीको प्राणदण्ड देता है, तब सिपाहीको कोई पाप नहीं लगता; क्योंकि घातक और सिपाहीकी भावनामें भेद है । इसलिये अपने कर्तव्योंका ठीक प्रकारसे पालन करना और समबुद्धिके साथ करना, यही सच्चा योग है । इस प्रकारके योगीको, गीताकी परिभाषामें, 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है ।

* * *

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[भाग ३१, सं० १२, पृष्ठ १३८८ से आगे]

८८—उत्सव

'माँ ! आज उत्सव है न ?' गो-चारणसे लौटे तो श्यामसुन्दरको देर हो चुकी । वह स्नान कर चुका । मैयाने उसे थोड़ा-सा पुष्पोंसे सजा दिया है । अब घर आये सखाओंसे पता नहीं क्या बातचीत कर आया है कि माता रोहिणीकी गोदमें सहसा आ बैठा है और उनके कण्ठमें दोनों भुजाएँ डालकर बड़े भावसे पूछ रहा है ।

'अनन्त-चतुर्दशीका उत्सव तो दिनमें होता है, बेटा ! व्रजराजने बड़ी श्रद्धासे भगवान्‌का पूजन कर लिया ।' माँकी गोदमें कृष्ण जब इस प्रकार आ बैठता है, वे वात्सल्यमें बेसुध-सी हो जाती हैं । झरने लगता है उनके वक्षका अमृत ।

'नहीं माँ ! उत्सव इसी समय है । तू बहुत-सा पूए, खीर, हलुआ बना ले ।' श्यामसुन्दर कोई नवीन योजना लाया है ।

'किसका उत्सव है ?' माँको तो कोई उत्सव स्मरण नहीं आता । 'दाऊ दादाका ।' कन्हाईको जैसे अपना दाऊ दादा ही सदा दीखता है ।

'क्या है दाऊका आज ?' माँको हँसी आ गयी ।

'उत्सव है ।' श्याम नहीं जानता कि उत्सवके लिये कुछ और भी होना चाहिये ।

'अच्छा लाल ! तू जब कहे, तभी उत्सव !' भला माँको क्या आपत्ति कि उनका कृष्ण यदा-कदा उत्सवके बिना भी उत्सवकी धूम कर ले । उन्होंने पूछा—

'किंतु इस उत्सवमें खायगा कौन ? ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करना है क्या ?'

'मैं खाऊँगा, दाऊ दादा खायगा, सुबल खायगा, भद्र खायगा—सब खायँगे ।' मोहनके सब सखाओंका उत्सव है यह । 'अपना मधुमङ्गल ब्राह्मण है न ?'

'अच्छा, तो थोड़ी देरमें तुम सब आ जाओ ।' माँ हँसकर उठ गयी तैयारी करने । किसीको निमन्त्रण नहीं देना है, नित्यके ही देवता आज भी भोग लगायेंगे ।

'यह क्या हो रहा है ?' मैयाने चौंककर माता रोहिणीसे पूछा ।

'कृष्ण कहता है कि उसके बड़े भाईका उत्सव है आज ।' माँ हँस रही हैं और बड़ी तत्परतासे पक्वान्न बनानेमें लगी हैं ।

'रातको यह धूमधाम ?' बाबा भी एक बार चौंके, पर वे कहते हैं—'कृष्ण ठीक ही तो कहता है । आज अनन्त-चतुर्दशीको रात्रि-जागरण करके भगवान् नारायणका कीर्तन करना चाहिये था हम सबको । हम यह बात भूल गये थे ।'

अब वे गोपोंको एकत्र करके गोष्ठमें रात्रि-संकीर्तनकी व्यवस्थामें लग गये हैं । अनन्तचतुर्दशी और दाऊके उत्सवका समन्वय वे क्यों ढूँढ़ें ।'

उत्सव दाऊ दादाका है, नन्हे गोल-मटोल काले-काले गुमसुम शालग्रामजीका पूजन भी इसमें हो जाय तो श्यामसुन्दरको आपत्ति नहीं, पर वह अपना उत्सव पृथक् करेगा । उसने बड़े भाईसे कहा—'दादा ! तू शङ्ख बजा, मैं श्रृङ्ग बजाऊँगा; भद्र भेरी पीटेगा, सुबल ढोल । ऋषभ······ सब कुछ-न-कुछ बजायेंगे, कुछ न हो तो ताली ही । गायें, वृषभ, बछड़े—सब खोल दिये हैं इस समय बालकोंने । अन्ततः वे भी उत्सव मना लेंगे ।'

वर्षाका धुला मेघहीन गगन, उज्ज्वल चन्द्रिका—इस चतुर्दशीकी चन्द्रिकाके सामने शरद्की पूर्ण चन्द्रिका भी झूठी हो गयी है । फुदक रहे हैं चारों ओर बछड़े; कूद रही हैं, नाच रही हैं गायें; हुँकार रहे हैं वृषभ । भद्रकी भेरी, सुबलका ढोल, किसीका मृदङ्ग, किसीकी तुरही और बहुतोंका करताल या किसीका वर्तनको ही बजानेका शब्द । गूँज रही हैं दिशाएँ और इस महाशब्दमें सबसे ऊपर गूँज रहा है श्यामके श्रृङ्ग और दाऊके शङ्खका महानाद । आज उत्सव है—नवीन उत्सव है और इस उत्सवमें गायों, बछड़ों, वृषभों, गोपकुमारोंसे घिरे राम-श्याम होड़-सी लगाकर शङ्ख और श्रृङ्ग बजा रहे हैं । अब व्रजराजने गोपोंके साथ जो संकीर्तन आरम्भ किया है, उसकी ध्वनि क्या इस ध्वनिमें सुनायी पड़ सकती है ?

८९–मैं रोऊँगा

'दादा ! मैं गुञ्जा ले जाऊँ ?' कृष्णचन्द्र बहुत कम पूछता है कोई बात अपने भाईसे; किंतु आज इसे कुछ दूर जाना है, अकेले जाना है । लौटनेमें देर हुई तो दाऊ डाँटेगा । बड़े भाईकी ओर कुछ सामने होकर यह आगेको झुका सटकर बैठ गया है ।

'चल ! मैं साथ चलता हूँ ।' दाऊने उठनेका उपक्रम किया ।

'मैं अभी आ जाऊँगा । तू यहीं बैठ ।' श्यामसुन्दरने कल सायंकाल बड़े सुन्दर पके हुए लाल-लाल गुञ्जाफल देखे हैं । उस समय तो गायें गोष्ठको लौट पड़ी थीं, किंतु उन गुञ्जाफलोंकी माला बनाकर बड़े भाईको पहिनानेकी बात तभी आ गयी थी इसके मनमें । अब यदि दाऊ भी साथ जाय तो फिर माला पहिनानेमें आनन्द क्या रहेगा ।

'अच्छा; तू सुबल और भद्रको साथ ले जा ।' कन्हाई अकेला जाय, यह दाऊको अच्छा नहीं लगता ।

'ये मेरे गुञ्जा-फल ले लेंगे । मैं किसीको साथ नहीं लूँगा ।' श्यामने एक बार सखाओंकी ओर मुड़कर देखा । सब बालक थोड़ी दूर खेलमें लगे हैं । कन्हाई भी उनके साथ खेल ही रहा था । सहसा उसे गुञ्जाकी बात स्मरण हो आयी और दाऊके पास दौड़ आया है वह ।

'तू मत जा ! मैं तेरे लिये जितने गुञ्जा कहे, मँगा देता हूँ ।' वह स्थान पर्याप्त दूर है, जहाँ जानेकी बात श्याम कहता है । वैसे केवल गुञ्जा लेकर लौटना हो तो वहाँ जाकर आधी घड़ीमें लौट आया जा सकता है; किंतु इस चपलका क्या ठिकाना । यहाँसे जाकर वह पता नहीं क्या करे और कितनी देरमें लौटे ।

'दादा ! मैं झटपट आ जाऊँगा । और कहीं भी नहीं जाऊँगा । मैं फिर कभी तुझसे दूर जानेको नहीं कहूँगा ।' कितना अनुरोध, कितना अनुनय, कितना स्नेह है इस कन्हैके स्वर एवं नेत्रोंमें । अपने हाथसे दाऊका चिबुक पकड़कर पूछ रहा है यह—'तो जाऊँ, दादा ?'

'मैयाने क्या कहा है ?' सीधे मना करना अब दाऊके लिये शक्य नहीं रहा है । श्याम इस प्रकार पूछे तो 'ना' कैसे कहा जाय ।

'तू मुझे नहीं जाने देगा तो मैं रोऊँगा ।' मैया तो नित्य बार-बार कहती है कि दाऊको छोड़कर कन्हाई कहीं न जाने पाये; किंतु मैयाकी बात क्यों कहता है दाऊ ! श्यामसुन्दरने दोनों हाथोंसे मुख ढक लिया है और दाऊकी गोदमें अपना सिर रख दिया है ।

'क्यों रोयेगा तू ? रो मत ।' दाऊको हँसी आ गयी । वह अपने अनुजकी अलकोंपर हाथ फेर रहा है ।

'मैं रोऊँगा । नहीं तो, तू जाने दे मुझे । मैं झटपट आ जाऊँगा ।' मुख उठाकर कृष्णने फिर अनुरोधपूर्वक पूछा—'जाऊँ, दादा ?'

अब दाऊ कैसे रोक दे इसे । इसका रोना कहाँ सहा जाता है दाऊसे । और यह रो पड़ेगा—यह बात तो झूठी नहीं है ।

'दादा ! यह मेरे केश खींचकर भाग आया है ।' श्रीदामका सहज पाटल-सा मुख क्रोधसे और लाल हो गया

है। वह वेगपूर्वक दौड़ा आया है। कन्हाईको वह मार्गमें पकड़ नहीं पाया और अब दाऊके पास तो अभियोग ही उपस्थित किया जा सकता है।

'क्यों कनूँ ?' दाऊने दाहिना हाथ पीछे करके छोटे भाईका हाथ पकड़ा और सामने ले आनेके लिये खींचा सहज-भावसे; किंतु कन्हाई सामने नहीं आना चाहता। वह पीठसे चिपककर खड़ा है।

'मैं इसके केश क्यों खींचूँगा ? इसने मेरा पुष्प अपने केशोंमें लगाया क्यों ?' श्याम इतना भोला है कि इसे ठीक झूठ भी नहीं बोलना आता है।

'दाम ! अब जाने दे इसे तू। तुझसे तो यह छोटा ही है।' दाऊने छोटे भाईका हाथ छोड़ दिया और श्रीदामको मनानेकी चेष्टामें लगा।

'यह छोटा है मुझसे।' कृष्णचन्द्र यह कैसे सहते कि वह श्रीदामसे छोटा है।

'दादा ! देखो, यह अब भी मुझे चिढ़ा रहा है। तुम इसे मना कर दो।' श्रीदाम क्या करे। यह कनूँ अपने बड़े भाईके पाससे हटे तो समझा सकता है वह इसे; किंतु यहाँ दाऊके पास तो झगड़ा किया नहीं जा सकता।

'तू इसे यहीं रहने दे, और सखाओंमें जाकर खेल। यह है ही ऊधमी। अब इसके साथ मत खेलना।' दाऊ श्रीदामको भी असंतुष्ट तो करना नहीं चाहता और उसका वह अनुज, बड़ा नटखट है यह।

'तू भाग जा। आँख बंद कर ले तू।' स्वर्णगौर नील-वसनधारी अपने बड़े भाईकी पीठसे चिपककर कदम्बके नीचे खड़ा यह पीताम्बरधारी मयूरमुकुटी नटखट। यह हँस रहा है, मुख बना रहा है, दाँत दिखा रहा है, नेत्र मटका रहा है और अँगूठा दिखा रहा है। क्या भय है इस समय इसे। अग्रजके आश्रयमें खड़े इसका भला कोई क्या बिगाड़ लेगा।

सामने क्रोधमें भरा श्रीदामा। दाऊ कहता है कि वह अब इस श्यामसे न बोले, न खेले इसके साथ; किंतु यह कैसे हो। इसका साथ क्या छोड़ा जा सकता है ? छूट सकता है !

९२—वृक्षपर

'कनूँ !' दाऊको अपना छोटा भाई दो पल भी न दीखे तो वह तुरंत पता लगाना चाहता है कि वह कहाँ है, क्या कर रहा है, आस-पास है भी या नहीं।

'कू !' श्यामसुन्दर कोकिलके स्वरमें कूककर उत्तर दे रहा है अपने अग्रजकी पुकारका।

'अरे, कहाँ छिपा कूक रहा है तू ?' अब दाऊ ऊपर वृक्षोंकी ओर मुख उठाकर देखने लगा है।

'खाँ, खाँ, खाँ' यह नटखट कन्हाई रुष्ट बंदरकी भाँति बोल रहा है। 'म्याउँ' यह दूसरा स्वर निकाला उसने और अब तो क्रम चल पड़ा। कभी मयूरकी 'केका'में बोलता है, कभी कुत्तेकी भाँति 'भौं-भौं' करता है और कभी बछड़ेकी भाषाका अनुकरण करता है।

'तू इतने ऊपर चढ़ा है ?' दाऊ आकर ठीक उस शाखाके नीचे खड़ा हो गया है। ऊपर उठा है उसका मुख। अपने छोटे भाईको एकटक देख रहा है वह।

एक खूब सघन भली प्रकार फूले हुए कदम्बकी मोटी शाखापर श्यामसुन्दर पेटके बल लेटा है। दोनों हाथोंसे शाखा पकड़ रखी है उसने। दोनों चरण कभी शाखाके दोनों ओर फैलाकर हिलाता है और कभी पीठकी ओर उठाकर नचाता है। नीचे खड़े अपने बड़े भाईकी ओर देख-देखकर हँसता जा रहा है और अनेक प्रकारके पशुओं, पक्षियोंकी बोली बोलता जा रहा है।

'तू नीचे आ।' दाऊने अपना दाहिना हाथ उठाकर उँगलियाँ हिलाते हुए बुलाया।

'आऊँ, दादा ?' यह लो, उचककर शीघ्रतासे डालपर बैठ गया कृष्णचन्द्र। दोनों हाथ डालपर टिके हैं और दोनों चरण एक ही ओर लटक रहे हैं। नीचे मुख करके वह ऐसे पूछ रहा है कि यदि बड़ा भाई उसे गोदमें झेल लेनेको प्रस्तुत हो तो कूद पड़ना चाहता है यहींसे।

'अरे, कूद मत। उतरकर आ।' बड़ी शीघ्रतासे दाऊने दोनों हाथ ऊपर करके रोका।

'अभी आया मैं।' अब मोहन बंदरकी शीघ्रतासे उतरता आ रहा है।

'धीरे-धीरे उतर। जल्दी मत कर। धीरे उतर।' दाऊकी पुकार कभी सुनता है यह चपल। यह तो केवल बीच-बीचमें मुख घुमाकर हँसते हुए देख लेता है बड़े भाईको और उतरता आ रहा है—उतरता आ रहा है। शीघ्रतासे उतरकर समीप आनेका इसका सदाका स्वभाव……।

९३—तितली

'दादा ! देख, कितनी सुन्दर तितली है ।' सचमुच पाटलके पुष्पपर खूब बड़ी-सी रंग-बिरंगे पंखोंवाली बहुत सुन्दर तितली बैठी है । श्यामसुन्दर दो क्षण देखता रहा स्थिरतासे उसे और फिर दबे पैर धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ने लगा ।

'देख, यह तो मेरी उँगलीपर बैठ गयी है ।' मोहनने हाथ तो बढ़ाया था तितलीको पकड़नेके लिये, किंतु तितली स्वयं उड़कर उसके दाहिने हाथकी अनामिकाके अग्रभागपर आ बैठी । इतना सुरंग, इतना सुरभित पुष्प उसे बैठनेको कहाँ मिलेगा ।

'दादा ! भगा दे तू इसे ।' कृष्णचन्द्र पहिले तो प्रसन्न हो गया । तितलीको देखता रहा वह थोड़े क्षण । फिर उसने हाथ धीरे-धीरे हटाया और बड़े भाईके पास आया । अपने हाथपर बैठी तितली दाऊको दिखायी उसने । किंतु यह तितली तो अपने पंख एकमें चिपकाकर उसकी उँगलीपर अड्डा ही बना बैठी है । कभी-कभी एक टाँग हिला देती है और बस । न हाथ हिलानेसे उड़ती, न उँगली हिलानेसे । भला, श्यामसुन्दर इसे कबतक अपनी उँगलीपर बैठाये रहे ।

'कहाँ गयी भागकर वह ?' दूसरे हाथसे उड़ानेका प्रयत्न करनेपर तितली उड़ गयी । अब कन्हाई इधर-उधर मुख घुमाकर उसे देख लेना चाहता है ।

'गयी कहाँ, यह क्या तेरी अलकोंपर बैठी है ।' सुबल हँस रहा है ।'

'दादा ! भगा दे तू इसे ।' यह कोई बात है कि हाथसे उड़कर यह सिरपर डेरा जमा ले ।

'दादा ! दादा !' श्यामसुन्दर ताली बजाकर नाचने लगा है । दाऊ उसकी अलकोंपरसे तितलीको उड़ाने लगा तो वह दाऊकी उँगलीपर ही बैठ गयी । बड़े भाईके हाथपर उसे बैठी देख मोहन बहुत प्रसन्न हुआ है ।

'रह, इसे मैं भगाता हूँ ।' दाऊने हाथसे उड़ाया तो वह उसकी अलकोंपर जा बैठी । भला, कन्हाई किसीको अपने बड़े भाईके केशोंपर बैठे रहने दे सकता है । लेकिन तितली भी कम चतुर नहीं है । उसे चार स्थान मिल गये हैं । जो केशोंपरसे उसे हटानेको हाथ बढ़ाता है, उसकी उँगलीपर बैठ जाती है और वहाँसे हटानेपर अलकोंपर । राम और श्याम उसे बार-बार हटा रहे हैं और वह कभी एककी उँगली या अलकपर बैठती है और कभी दूसरेकी उँगली या अलकपर ।

'रह, तुझे पकड़ूँगा मैं ।' और इससे अधिक अच्छी बात दूसरी क्या होगी कि यह नीलसुन्दर अपनी लाल सुकुमार उँगलियोंसे किसीको पकड़ ले ।

९४—काली नहीं, सफेद

'कनूँ ! दामकी कृष्णा बछिया लायी है ।' भद्रने बड़े उत्साहसे दौड़ते हुए आकर समाचार दिया ।

'बछिया तो मेरी है ।' श्यामसुन्दर दौड़ा आया और दौड़ आये सब गोपकुमार । सब चारों ओरसे घेरकर खड़े हैं और बड़े स्नेहसे, बड़े कुतूहलसे उस गायको देख रहे हैं । वह अभी अपनी नवजात बछियाको चाटनेमें लगी है । कन्हाई सीधे पहुँच गया है बछियाके पास और उसे गोदमें उठा लेना चाहता है ।

'बछिया मेरी है, तू उसे अभी छेड़ मत ।' श्रीदाम गाय-को कुछ खिलानेके प्रयत्नमें व्यस्त है । वह बाँसकी पत्तियाँ तोड़ लाया है, किंतु यह कृष्ण बड़ा झगड़ालू है । अभीसे यदि इसने बछियाको अपना लिया तो सदा लड़ता रहेगा उसके निमित्त ।

'बछिया मेरी है । चल, दादासे पूछ ले ।' श्यामसुन्दर बछियाको छोड़कर श्रीदामकी ओर घूमकर खड़ा हो गया है । वह स्वत्वका निर्णय पहले कर लेना चाहता है और सब विवादोंका परम निर्णायक तो उसका दाऊ दादा ही है न !

'चल !' श्रीदाम भी झगड़ा समाप्त कर देना चाहता है । दाऊ कभी निर्णयमें पक्षपात नहीं करेगा ।

'दादा ! मेरे वनमें गैयाने बछिया दी तो वह मेरी हो गयी न ?' बड़े रोबसे कन्हाई चलता आया है । मौलिश्रीके नीचे अपनी मौजमें दाऊ इस समय अकेला बैठा है । श्यामने आकर उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया और देखा श्रीदाम-की ओर । श्रीदामको कुछ कहनेकी आवश्यकता जान ही नहीं पड़ती ।

'बछिया तो उस कृष्णाकी है ।' दाऊ हँस पड़ा और श्री-दाम प्रसन्न हो गया ।

'हाँ, उसकी तो है, पर दामकी नहीं है । मेरी है वह ।' कृष्णचन्द्र ऐसे झटपट माननेवाला कहाँ है ।

'हाँ लाल, वह तेरी ही है । गैया भी तेरी और बछिया भी तेरी ही । मैं तेरे गोष्ठमें अभी पहुँचाये देता हूँ उसे । तू दूध

पियेगा न इस गैयाका ?' अरे, वनमें ये श्रीवृषभानु बाबा गोपोंके साथ कैसे आ गये ? गैयाके ब्यानेका समाचार पाकर तो नहीं आये ? सब-के-सब बालक संकोचसे चुप हो रहे ।

'बाबा ! मैं काली बछिया नहीं लूँगा । मैं सफेद बछिया लूँगा । तुम इसे दामको दे दो ।' बाबाके साथ सब आये गायके पास । श्यामसुन्दरने फिर देखा बछियाको । उसका मत सहसा बदल गया है । बड़े भोलेपनसे, बड़े प्रेमसे दोनों हाथोंसे बाबाका हाथ पकड़कर वह अपनी बात कह रहा है ।

'लाल ! अभी तू इसीको ले ले । कपिलाको बछिया देने दे तो तुझे सफेद बछिया भी दूँगा ।' बाबा आनन्दसे पुलकित हो रहे हैं ।

'नहीं, मैं काली बछिया नहीं लूँगा ।' अब श्यामसुन्दरने बड़े भाईका हाथ पकड़ लिया है—'दादा ! हम सफेद बछिया लेंगे न ?'

'बाबा ! कपिला कब बछिया देगी ? तुम उसे कल बछिया देनेको कह दो ।' अब बाबा क्या कह दें किससे और क्या कहें इस भोले नीलसुन्दरसे । उनके कण्ठसे तो इस समय चाहनेपर भी शब्द नहीं निकल पाता और अपने अग्रजका हाथ पकड़े यह कनूँ कहता जा रहा है······'मैं काली बछिया नहीं लूँगा, सफेद लूँगा ।'

९५—मान

'कनूँ ! श्यामसुन्दर !' किंतु अब कहाँ बोलनेवाला है श्यामसुन्दर ! इतनी देरसे कन्हाई अकेला कुञ्जमें बैठा है और कोई उसके पास नहीं आया । किसीने खोज-खबर नहीं ली उसकी । यह दाऊ दादा भी उसका ध्यान नहीं रखता । नहीं बोलेगा अब वह किसीसे । किसीके पास नहीं जायगा । दाऊ पुकारता है तो पुकारे, वह नहीं बोलेगा । मान किये बैठा है आज श्याम । वह रूठ गया है सखाओंसे और अपने अग्रजसे भी ।

'कनूँ ! कहाँ है तू ?' अरे देख, कितना सुन्दर पक्षी आया है यहाँ ।' दाऊ पुकार रहा है । उसने देख लिया था कि उसका छोटा भाई सखाओंसे पृथक् एक सघन कुञ्जमें जा छिपा है । ये बालक कृष्णको थका देते हैं । थोड़ी देर वह अकेले विश्राम करना चाहता है तो अच्छा ही है । उसके एकान्तमें बाधा नहीं देनी चाहिये । किंतु अब तो देर हो गयी । अब उसे बाहर आना चाहिये । इस सुन्दर पक्षीको देखकर प्रसन्न होगा वह ।

'सुन्दर पक्षी आया है ।' श्यामका जी चाहता है कि उठकर दौड़ चलें उसे देखने; किंतु नहीं, वह रूठा बैठा है । दाऊके पास नहीं जाना है उसे । वह अकेला ही उस पक्षीको देखता रहे । जब वह श्यामके पास नहीं आता तो श्याम ही क्यों उसका पक्षी देखने जाय ।

'तू सो गया क्या ?' दाऊ आ रहा है कुञ्जकी ओर । अब श्याम सचमुच लेट गया और नेत्र बंद कर लिये इसने ।

'कनूँ !' कहीं सोया और जागता व्यक्ति छिपता है । दाऊ पास आकर बैठ गया । छोटे भाईकी पीठपर धीरेसे हाथ रखा उसने ।

'तू मुझे मत छू । जा, तू अपने पक्षीको देख और उसीके साथ खेल ।' कृष्णचन्द्रने बड़े भाईका हाथ अपने शरीरसे हटा दिया और कुछ दूर लेटे-लेटे ही खिसक गया ।

'तू रूठ गया है ? मैंने तो कुछ किया नहीं ।' दाऊके अधरोंपर मन्द हास्य आया । वह अपने छोटे भाईके पास खिसक आया ।

'तू अबतक क्यों मेरे पास नहीं आया ? मैं तुझसे नहीं बोलूँगा ।' श्यामने फिर हाथ हटाया और फिर एक ओर हटा । इसने मुख दूसरी ओर कर लिया है, जिसमें दाऊ इसके भरे नेत्रोंको देख न ले ।

'कनूँ ! उठ तो सही तू !' किया क्या जाय । यह दाऊ बलपूर्वक छोटे भाईको अङ्कमें उठा रहा है । श्याम चाहे जितना हाथ-पैर हिलाये, परंतु इससे छूटने-जितनी शक्ति कहाँ है उसमें और अब इसका मुख अपने सामने कर दिया है दाऊने । 'तू उस पक्षीको देखने चल ।'

अब दाऊके मुखकी ओर देखकर कैसे रूठा रहा जा सकता है और फिर वह पक्षी—कहीं उड़ गया वह तो ?

९६-रीझ

'कनूँ ! तू इसे सखा बनायेगा ?' आज एक नवीन गोपकुमार आया है । कहीं पासके गाँवका होगा । बेचारा संकुचित हो रहा है । दाऊने अपने छोटे भाईको उसकी ओर आकर्षित कर दिया और इतना ही तो बहुत है ।

'हाँ, हाँ !' कन्हाई तो सदा उत्सुक रहता है किसीसे भी मित्रता करनेको । कोई भी, कैसा भी—इसे तो बस, मित्र चाहिये । यह झटसे पहुँच गया है उसके पास और उसका हाथ पकड़ लिया है इसने । 'तू मुझसे लड़ेगा तो नहीं ? लड़ेगा तो मैं भी लड़ूँगा और झगड़ेगा तो चिढ़ाऊँगा ।'

न नाम पूछा इसने और न गाँव, लग गया उसे परिचित बनानेमें ।

‘श्याम, यह कुछ बलवान् तो दीखता नहीं।’ एक सखाने कहा ।

‘तुम सब मुझे पटक देते हो, मैं इसके साथ मल्लयुद्ध किया करूँगा।’ कृष्णचन्द्रको सब अनुकूलता ही दीखती है ।

‘कहीं यह घमंडी निकला तो?’ एक औरने शङ्का की। ‘बड़ा मजा आयेगा इसे चिढ़ानेमें।’ कन्हाईको अब कोई त्रुटि मैत्री करनेसे रोक नहीं सकती ।

‘तू तनिक ठहर तो।’ एक बुद्धिमान् सखा समझा रहा है—‘हम सब पता लगा लें कि इसमें कोई दोष तो नहीं।’ ‘क्यों रे, तू कहाँ रहता है?’

‘तुम सब मुझमें ही क्या कम दोष बताते हो?’ श्यामसुन्दर सदा यही समझता है कि जैसे ये बालक और गोपियाँ उसे झूठ-मूठ दोष लगाती हैं, वैसे ही लोग दूसरोंको भी व्यर्थ ही दोष दिया करते हैं। वह किसी नये सखाको तंग नहीं करने देगा।’ तू मेरे साथ नाच। नाचना आता है तुझे?’

उसे नाचना आता हो या न आता हो, कन्हाई तो सिखानेवाला है ही। गोपबालक श्यामसे दो पद आगे हैं। सब घुल-मिल जाना चाहते हैं उसके साथ। यह तो कनूँको चिढ़ानेके लिये उसकी परीक्षा लेनेकी चर्चा उठायी थी उन्होंने ।

‘यह मोटा तो खूब है।’ बालक हँस रहे हैं।

‘मुझे पीठपर ढोयेगा यह।’ श्यामको गुण-ही-गुण दीखते हैं उसके।

‘दादा! तू इसे छाक खिला।’ अब वह कितना भी संकोच करे, न यह मयूरमुकुटी माननेवाला है और न उसका यह दादा ही।

‘अच्छा सखा मिला है तुझे।’ यह दाऊ विचित्र ही है। इसे अपनोंके गुण-ही-गुण दीखते हैं। किसीको अपनाकर यह उसके दोष देखना जानता ही नहीं और उसका यह अनुज—यह तो दोषोंको भी गुण देखता है। उन दोषोंको भी अपने आनन्दका साधन मानता है। इसकी यह रीझ—किंतु यह तो स्वयं रीझ-ही-रीझ है। दोनों भाई दो ओर बैठ गये हैं और अब ये छीकेके पदार्थ—नये सखाका भोजन किये बिना छुटकारा नहीं।

९७-दीनबन्धु

‘दादा! यह कौन है?’ गो-चारणसे लौटते ही श्यामकी दृष्टि मार्गमें खड़े एक भिक्षुकपर पड़ गयी है और अब गायोंको गोष्ठमें पहुँचाना भूल गया है यह।

कोई भिक्षुक—आज इस भाग्यहीनके जन्म-जन्मान्तरों सारे पुण्य एक साथ जग गये हैं। आज यह नन्दगाँव आ है। अभी-अभी ही आया है यहाँ। अभी किसी द्वार पुकारतक नहीं सका है। एक अद्भुत स्वर कानोंमें पड़ा कौ मार्गमें मूर्ति-सा खड़ा रह गया। कौन है इस अमृत-ध्वनि विस्तार करनेवाला? और जब वह अधरोंपर मुरली धरे चपल गायोंके पीछे, सखाओंसे घिरा, अग्रजके साथ झूम सा आता दिखायी पड़ा—भिक्षुक जैसे भूल गया है कि कौन है और कहाँ है।

‘मैली-फटी कटिमें कछनी, कंधेपर एक चिथड़ हाथमें एक टेढ़ी-मेढ़ी लठिया। शरीरकी नस-नस दीख है। हड्डी-हड्डी गिनी जा सकती है इसकी। इतना दुर्ब भी मनुष्य होता है? श्याम इसे देखते ही चौंक गया है।

‘तू कौन है?’ दाऊ पास आकर हाथ पकड़कर झक कर पूछ रहा है। यह बोलता क्यों नहीं? यह तो रो है, रोता ही जा रहा है।

‘किसने मारा है तुझे? तू रो मत। दादा उसे मारे श्यामसुन्दर अपने पटुकेसे आँसू पोंछ रहा है उसके।

‘तेरी मैया कहाँ है?’ दाऊको एक विचित्र बात है। यह अपने घरसे भाग आया होगा। भला, मैया पास हो तो इसके कपड़े इतने मैले और फटे कैसे रहते?

‘तेरे बाबाने मारा है?’ कन्हाई आँसू पोंछता ही रहा है उसके।

‘मेरी मैया और बाबा नहीं हैं। वे भगवान्के घर गये।’ बूढ़ेको इन बालकोंके भोलेपनपर हँसी आ गयी।

‘मैया नहीं है और बाबा भी नहीं?’ कृष्णचन्द्र आ पड़ गया है। ‘ओह, कितनी बुरी बात है। बिना मैया-बा के बेचारा कैसे रहता होगा।’

‘तू हमारे घर चल। भूख लगी है न तुझे? मैया तो खिलायेगा कौन? भूखा तो यह होगा ही।’ दाऊने नीला पटुका उसके कंधेपर डाल दिया है।

‘तेरी कछनी फट गयी है। तू मेरा पटुका पह श्यामसुन्दर हठ कर रहा है। ‘मेरी मैया तुझे मारेगी न तू पहन इसे।’

हक्का-बक्का हो रहा है भिक्षुक और ये व्रजराज हैं। ये भिक्षुकसे राम-श्यामकी बात मान लेनेका कर रहे हैं और ये दोनों भाई उसे हाथ पकड़कर लिये जा रहे हैं घरकी ओर।

भक्त-गाथा

भक्त कृपासिन्धुदास

पश्चिममें लीलावनीपुर नामक एक गाँव था। कृपासिन्धुदास इसी गाँवमें निवास करते थे। विष्णुभक्तिपरायण कृपासिन्धुके घर किसी बातकी कमी नहीं थी। उनके तीन पुत्र थे, दो कन्याएँ थीं। कृपासिन्धुकी पत्नीका नाम था श्रद्धावती। अपनेको स्वामीकी सेवामें लगाकर उसने अपने इस पितृदत्त नामको चरितार्थ कर दिया था। जीवमात्रके प्रति दया करनेवाले ये ब्राह्मणदम्पति साधुसङ्ग, हरिकथा और पुराणश्रवणमें अपना जीवन बिताते थे। प्राणपणसे सत्यका पालन करते थे। असत्-संसर्गका सर्वतोभावेन त्याग करके वे अपने जीवनको सर्वथा सन्मार्गपर चलाते थे। साधु, ब्राह्मण, वैष्णव—कोई भी उनके घरसे विमुख नहीं लौटता था। वस्त्र, भोजन आदि पदार्थोंके द्वारा कृपासिन्धु सदा-सर्वदा याचकका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये प्रस्तुत रहते थे। इसीलिये लोग उन्हें धन्य-धन्य कहते। यद्यपि वे निःस्पृह थे, उनमें भोगासक्ति नहीं थी, फिर भी गरीबों, असहायोंको यथेच्छ दान करनेकी इच्छासे उनकी धनोपार्जन तथा धन-संग्रहमें कुछ आसक्ति-सी होने लगी। सदिच्छा या सदुपयोगके लिये ही क्यों न हो, धनासक्ति प्रभुसे विमुख करानेवाली होती है। साथ ही बालकोंमें भी उनका मोह बढ़ रहा था, अतः उनकी धनासक्ति तथा मोहका सर्वथा नाश करनेके लिये मङ्गलमय प्रभुके मङ्गलविधानने विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। एकके-बाद-एक उनके पाँचों पुत्र-कन्या कालके ग्रास बन गये। धन-सम्पत्ति भी घटने लगी। इससे इनके प्रति उनके जीवनका आकर्षण दूर हो गया। कुछ लोगोंने मिलकर उनका सब कुछ हड़प लिया। वे सर्वथा अकिञ्चन हो गये। अकिञ्चनप्रिय भगवान्‌ने स्वयं उनका वित्त बननेके लिये यह व्यवस्था की। इसीसे तो भगवान् 'अकिञ्चन-वित्त' कहलाते हैं।

इतना सब होनेपर भी कृपासिन्धुदासका भाव बदलना तो दूर रहा, उनमें प्रभु-भक्ति और भी दृढ़ हो गयी। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'भगवान्‌ने बड़ी कृपा की, जो हमें धनासक्ति और ममता-मोहसे छुड़ा दिया। अब तो भजनके सिवा और कुछ करना ही नहीं है।' यों सोचकर कृपासिन्धु विशेष उत्साहके साथ अक्षुब्ध अन्तरसे रात-दिन श्रीहरिके भजनमें ही संलग्न रहने लगे। घरका बचा-खुचा सब अतिथिसेवामें लगने लगा। कुछ ही समयमें वे सर्वथा असहाय हो गये। घरमें जो कुछ पीतल-काँसीके बर्तन थे, उन्हें भी बेचकर अतिथिसेवामें लगा दिया गया। अब न पहननेको वस्त्र रहा न कोई वस्तु रही। चारों ओर 'नहीं-नहीं' रह गया।

एक दिन दुखी होकर ब्राह्मणीने कहा—'स्वामिन्! इस अवस्थामें आप न तो कुछ काम ही कर सकते हैं न भीख माँगना ही आपके लिये सम्भव है; फिर उदर-पूर्तिका काम कैसे चलेगा? अब तो केवल मृत्यु ही सामने दीख रही है।'

ब्राह्मणने कहा—'भगवान्‌के मङ्गलविधानके अनुसार जो कुछ होना है, वही होगा; तुम चिन्ता क्यों करती हो?'

ब्राह्मणीने जरा रुष्ट होकर कहा—'आपकी तो बस, यही एक रट है; परंतु पेटमें कुछ भी नहीं पहुँचेगा तो प्राण कैसे बचेंगे? इसकी तो कुछ-न-कुछ व्यवस्था करनी ही पड़ेगी।'

ब्राह्मणने कुछ देर सोचकर कहा—'तुम्हारा यही आग्रह है तो अच्छी बात है, मैं पुरी जाऊँगा। वहाँ मेरा एक आढ़ती है। उसमें हमारे बहुत रुपये पावने हैं। मुझे अबतक उसकी याद ही नहीं आयी थी। उसके पास रुपये भी हैं। वह यदि हमारे पावने रुपयोंमेंसे

कुछ हिस्सा भी दे देगा तो हम दो प्राणियोंके दिन मजेमें कट जायँगे । मैं पाँच-सात दिनोंमें ही लौट आऊँगा, परंतु तुम्हें एक काम करना होगा । कहींसे माँग-जाँचकर कुछ आटा उधार लाओ । उसकी दसेक रोटियाँ बना लो । कुछ मुझे दे दो और कुछ अपने लिये रख-लो तो काम चल जायगा ।'

श्रद्धावती पतिकी आज्ञा शिरोधार्यकर आटा उधार लाने चल दी । एक बन्धुके घर जाकर उसने सारी सच्ची परिस्थिति सुना दी । बन्धुकी घरवालीने उसे आटा दे दिया । वह लेकर घर लौट आयी । कृपासिन्धुने कहा—'तुम रोटी बनाओ । मैं कल सबेरे ही पुरीकी ओर चल दूँगा ।'

पतिकी यह बात सुनकर श्रद्धावतीने कहा—'स्वामिन् ! मैं तो छायाकी भाँति सदा आपके साथ रही हूँ, आज मुझे अकेली छोड़कर आप क्यों जाना चाहते हैं ? आपके बिना मैं कैसे रहूँगी ?' वह यों कह रही थी और उसकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे । यह देखकर कृपासिन्धुके मनमें करुणा छा गयी । उन्होंने मधुर वाणीसे कहा—'प्रिये ! तुम इतनी अधीर क्यों हो रही हो ? हम सभीके एकमात्र बन्धु भगवान् हैं । वे ही हम सबकी चिन्ता करते हैं । वे सदा सर्वत्र हैं । वे ही हमारे परम आश्रय हैं । तुम निश्चयपूर्वक अपनेको उनकी देख-रेखमें समझो । जरा भी घबराओ नहीं । जाओ, रोटी बनाओ ।'

श्रद्धा उठकर रसोईघरमें चली गयी और आग जलाकर रोटी बनानेकी तैयारी करने लगी ।

इसी बीच किसीने दरवाजा खटखटाया । श्रद्धाने उठकर किवाड़ खोले । देखा, एक साधु पधारे हैं । सिरपर जटा है, शरीरपर भस्म लगी है, ललाटपर तिलक है, गलेमें तुलसीकी माला है, कटिमें कौपीन है । हाथमें एक ताँबेका कमण्डलु है । मानो साक्षात् शंक ही आ गये हैं । शरीर अत्यन्त दुर्बल है, वृद्ध है । शरीरकी एक-एक नस दीख रही है, पेट-पीठ ए हो रहे हैं । बैठने-उठनेमें भी कष्ट होता है । शरीर इत क्षीण होनेपर भी उनका रूप अत्यन्त ज्योतिर्मय है ।

श्रद्धावतीने दौड़कर पतिको बताया कि दरवाजे अतिथि पधारे हैं । कृपासिन्धुको यह सुनकर बड़ा ह आनन्द हुआ । वे दौड़े आये अतिथिकी अभ्यर्थना लिये । द्वारपर समुपस्थित उस तेजोमय मूर्तिको देखकर कृपासिन्धुका हृदय श्रद्धासे भर गया । उन्होंने प्रणाम किया और बड़े सम्मानके साथ उन्हें अंदर लाकर आसनपर विराजित किया । कृपासिन्धुने कहा—'महाराज ! आज्ञा कीजिये, मैं आपके संतोषके लिये क्या करूँ ?' साधुने कहा—'भक्तवर ! मैं बहुत दूरसे तुम्हारी गुणावली सुनता आ रहा हूँ । इस देशमें शायद तुम-जैसा उदा दाता और कोई नहीं है । यह सुनकर मैं तुम्हें देखने आ गया । तीन दिनोंसे कुछ भी खाया नहीं है । सबसे पहले बात यही है कि मैं बड़ा ही भूखा हूँ । अब कुछ खाये बिना मुझसे बोला भी नहीं जाता । हो सके तो मुझे कुछ खानेको दो; नहीं तो अन्यत्र कहीं जाकर चेष्टा करूँ ।'

कृपासिन्धुने कहा—'आप-सरीखे अतिथिको संतु करनेयोग्य मेरे पास क्या है । पर जो कुछ है, जो कुछ दे सकूँ, उसे अनुग्रह करके ग्रहण कीजियेगा । जरा ठहरिये मैं अभी व्यवस्था करता हूँ ।' इतना कहकर कृपासिन्धु अंदर जाकर गृहिणीसे कहा कि 'अतिथिको इसी सम भोजन कराना होगा ।' कृपासिन्धुका आज ही बाहर जानेका विचार है । उसे साथ ले जानेको चाहिये और घरमें पत्नीके लिये भी कुछ छोड़ जाना है । पतिको इ चिन्तामें देखकर ब्राह्मणीने कहा—'आप चिन्ता न करें आप अपने साथ कुछ ले जाइयेगा । आपके लौटनेतक मैं जल पीकर ही प्राण बचा लूँगी । आप मेरा हिस्

अतिथिको खिला दीजिये । इसके लिये जरा भी घबरायें नहीं । और बात पीछे, पहले अतिथिसेवा कीजिये ।' कृपासिन्धुने मूर्तिमान् श्रद्धावती पत्नीकी बात सुनकर कहा, 'धन्य हो तुम, देवी ! जहाँ तुम्हारी-जैसी उदारता और सहिष्णुता है, वहाँ क्या कभी कोई दुःख रह सकता है ।'

अतिथिके लिये आसन बिछा दिया गया । वे उसपर आकर बैठ गये । भक्तने उनके चरण धोये और चरणोदकको मस्तकपर धारण किया तथा घरमें सब ओर छिड़क दिया । इनका ऐसा विश्वास था कि साक्षात् भगवान् ही अतिथिके रूपमें उनके घर पधारे हैं । रोटी परोसी जाती है, पर अतिथिका पेट नहीं भरता । दो-दो रोटियाँ दी जाती हैं, साधु तुरंत उनको चट करके खाली थाली लिये बैठे रहते हैं फिर रोटी पानेके लिये । छः रोटियाँ वे खा चुके हैं । अन्तर्यामी अतिथि जानते हैं कि अब केवल चार ही रोटियाँ और बची हैं । अतिथि आज नहीं जायँगे । उन्होंने कहा—'रातको यहीं खा-पीकर कल सबेरे जाऊँगा ।' इतना कहकर अतिथिनारायण आसनसे उठे और हाथ-मुँह धोकर बोले—'आज इस शुद्ध आहारसे हमारी बड़ी ही तृप्ति हुई ।'

कृपासिन्धुने पत्नीसे परामर्श किया—'बड़े भाग्यसे अतिथिसेवा प्राप्त होती है । न रहे हमारे घरमें एक दाना; जहाँतक होगा अतिथिसेवासे हम किसी भी तरह विमुख न होंगे । देखो न, साधु कितने दुर्बल हैं, कहीं भी जानेकी इनमें शक्ति नहीं है । हमलोगोंकी अच्छी स्थिति होती, तब तो इनको कुछ दिन और यहीं रखते, कहीं जाने ही न देते । कोई बात नहीं, हमलोग उपवास कर लेंगे, पर अतिथिको किसी तरह असंतोष नहीं होना चाहिये ।'

बातों-ही-बातोंमें संध्या हो गयी । संध्याके बाद साधु भोजन करने बैठे । एक-एक करके चारो रोटियाँ परोस दी गयीं । सरल श्रद्धायुक्त हृदयसे दी हुई रोटी प्रेमपूर्वक साधुने पा ली और उठकर आचमन किया । साधारण-से बिछौनेपर सोकर साधु महाराज सोचने लगे—'अतिथि-सेवापरायण इस निष्कपट भक्त-दम्पतिका जीवन धन्य है । अपने भोजनकी जरा भी चिन्ता इन्हें नहीं है । स्वयं उपवासी रहकर अतिथिको सब कुछ दे देना सहज बात नहीं है । अब पूरी परीक्षा हो चुकी ।'

इधर कृपासिन्धु पत्नीसे कह रहे हैं—'हमारा महान् भाग्य था जो हम अतिथिको दोनों समय भोजन करा सके । बड़ा ही आनन्द मिला । घरमें तो कुछ था ही नहीं; तुम आटा उधार लायी थी, तभी तो अतिथि-सेवा हुई । जिसके घर तुम-जैसी धर्मपत्नी हो, वह महान् भाग्यवान् है । तुमने निज-सुखको कभी बड़ा नहीं माना । साधु-महात्माओंकी सेवासे ही हमारा जीवन उन्नत होगा ।' यों कृपासिन्धु कह ही रहे थे कि अकस्मात् उनके सामने महान् प्रकाश हो गया और एक उज्ज्वल प्रकाशपुञ्जस्वरूप दिखायी दिया । वे दुर्बल कृशकाय साधु अतिथि ही अपूर्वदर्शन भगवत्स्वरूपमें बदलकर सामने उपस्थित हो गये । कृपासिन्धु और उनकी पत्नी श्रद्धावती दोनो आश्चर्यचकित और आनन्दविह्वल होकर भक्तिपूर्ण हृदयसे उनके चरणोंमें भूमिपर लोट गये । उन करुण देवताने हँसकर कहा—'तुम्हारी अकपट अतिथिसेवा, तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति-भावनासे मैं अत्यन्त संतुष्ट हूँ । तुम्हें कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है । तुम्हारा घर, जबतक तुम जीओगे, खाद्य पदार्थोंसे भरा रहेगा । तुम्हारी अतिथि-सेवा अविरल चलती रहेगी और तुम्हें मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी ।' यों कहकर वे अपरिचित अतिथि-देवता तुरंत अन्तर्धान हो गये । ब्राह्मणदम्पतिका जीवन धन्य हो गया ।*

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

---

* 'प्राणगौर' से साभार ।

एक मानसिक व्यथा—निराकरणके उपाय

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

एक सज्जन लिखते हैं, 'मेरा एक अभिन्न-हृदय सखा बहुत दिनोंसे उद्विग्न-सा रहता था । एक दिन मैंने उससे एकान्तमें पूछा, मित्रवर ! मैं तुम्हें चिरकालसे उदासीन-मुख तथा कुछ चिन्तित-सा देख रहा हूँ । यदि कोई मानसिक व्यथा हो और उसे बतानेमें कोई आपत्ति न हो तो इसका रहस्य बताकर मेरा कौतूहल अवश्य दूर कीजिये ।'

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥

उसने अपनी व्यथा-गाथा सुनाते हुए कहा,—'गत दो वर्षोंसे मेरा एक जीव-विशेष (सम्भवतः किसी नारी) से प्रेम था; वह प्रेम मोहमें, मोह आसक्तिमें परिणत हो गया । फलतः उसके देखे बिना चित्तमें चैन नहीं आता था । कभी-कभी उसके न मिलनेपर मैं मन-ही-मन रो उठता था और मानसिक अशान्ति इतनी बढ़ जाती थी कि मैं आत्महत्या-तकके लिये उद्यत हो जाता था । अन्ततोगत्वा चारो ओरसे निराश हो गया·········अब मेरा उस दुःखद व्यक्तिके साथ वार्तालाप और लगाव छूट गया है । मैं नहीं चाहता कि उससे मिलूँ, सम्पर्क बढ़ाऊँ और नैतिक मर्यादाएँ तोड़कर यों अशान्त रहूँ । अपनी ओरसे मैं यह प्रयत्न करता रहता हूँ कि उसके अशुभ दर्शन न हों, जिससे मेरा मन फिर उधर दौड़े । पर मैं एक विचित्र मानसिक स्थितिमें हूँ । गत दो वर्षोंसे उस स्मृतिने मुझे महान् मानसिक रोगसे पीड़ित कर रखा है । मैं स्वयं इस अज्ञानजन्य क्लेशके कारण ऐसा घृणित जीवन बिताता रहा हूँ । बहुत प्रयत्न करता हूँ कि किसी प्रकार वह गुप्त बन्धन छूट जाय; फिर भी साधारणतया उस दुःखप्रद व्यक्तिका स्मरण हो आता है तो मेरा ध्यान बरबस उस ओर चला जाता है । ऐसा क्यों हो रहा है ? मैं कैसे इस मानसिक व्यथासे मुक्त हो सकता हूँ ? आपका मनोविज्ञान और धर्म क्या मुझे इस अशान्तिसे किसी प्रकार मुक्त कर सकते हैं ? दिनमें चलते-फिरते, उठते-बैठते तो मनका संतुलन ठीक रहता है, चित्तवृत्ति शान्त रहती है; परंतु संध्योपासनके समय मनमें अवाञ्छनीय विचारधाराका प्रबल आक्रमण क्योंकर होता है ? इस विषयमें आपका सत्परामर्श अपेक्षित है । कुछ उपाय बतलाइयेगा ?'

……

मनुष्यके मनके दो भाग हैं—एक बहिर्मन, दूसरा गुप्त मन । जो बात हमारे गुप्त मनमें दृढ़तासे एक बार पैठ जाती है, वह उसे मजबूतीसे पकड़ लेता है । बहिर्मन हमारी चेतनावस्थामें हमारे शरीर और संकल्पको प्रभावित करता है। जब हम दिनमें चलते-फिरते रहते या काम करते रहते हैं, तब हमारा बहिर्मन हमारे इच्छानुसार कार्य करता रहता है; परंतु हमारी प्रसुप्त वासनाएँ चुपचाप गुप्त मनमें बैठी-बैठी शरीरपर अपना अधिकार जमानेकी बाट देखा करती हैं । जब निद्रावस्थामें बहिर्मनका प्रभाव शिथिल हो जाता है, तब अव्यक्त या गुप्त वासनाएँ चेतनाके स्तरपर आ जाती हैं और शरीरको अपनी ओर ले जाती हैं। सुप्त और अव्यक्त भावनाओंका विवेकके साथ द्वन्द्व होता रहता है । इससे मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहता। चित्तवृत्ति अशान्त रहती है । व्यक्त और अव्यक्त वासनाओं और विवेकका द्वन्द्व ही मानसिक रोग है । जबतक गुप्त मनमें बैठी हुई अनैतिक वासनाएँ या प्रसुप्त—गुप्त इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं या उन्हें विवेक-बुद्धिके द्वारा उचित मार्ग-निर्देश नहीं होता, तबतक मानसिक संतुलन स्थिर नहीं रह सकता । व्यक्त और अव्यक्त मन तथा इच्छाओंके पूर्ण मतैक्य (Harmony) का नाम ही आनन्द या मोक्ष है। इस अवस्थामें आत्मा पूर्ण तृप्त रहती है । जिस अनुपातमें ये दोनो मन संतुलित रहते हैं, उसी अनुपातमें तृप्ति या आनन्द रहता है ।

उपर्युक्त मानसिक रोगीके गुप्त मनमें किसी व्यक्ति-विशेष, सम्भवतः किसी नारीके प्रति वासनामूलक आकर्षण था । समाजके नैतिक नियन्त्रण और लोकलाजके भयसे बहिर्मन उसे बुरा-बुरा कहता रहा, पर गुप्त मनमें प्रेमभावना मजबूतीसे जड़ पकड़ गयी । यह अतृप्त या अपूर्ण वासना दबकर गुप्त मनमें एक वासनाग्रन्थि (Complex) बन गयी, दबकर कोई भी वासना अधिक दिनतक काबूमें नहीं रह सकती । वह परितृप्तिका मौका ढूँढ़ती रहती है । रात्रिमें जब बाह्य मन सो जाता है, तब अव्यक्त वासनाएँ चेतनाके स्तरपर आकर शरीरको उसी ओर खींचती हैं । उपर्युक्त रोगीका बाह्य मन सामाजिक और नैतिक पतनके विचारसे अव्यक्त वासनाको दबाता है, पर गुप्त मन अवसर पाकर शान्ति पानेके लिये अपयशका विचार न करके, फिर अपने व्यक्तिविशेषकी ओर दौड़ता है । जबतक गुप्त मनकी इन रुकी हुई अतृप्त वासनाओंका रूपान्तर नहीं हो जाता या उनकी गतिकी दिशा

नहीं बदल दी जाती, तबतक मानसिक रोग बना ही रहेगा। यही अवस्था अनेक व्यक्तियों, बड़े-बड़े कवियों, लेखकों, सैनिकोंकी हुई है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास आदिने अपनी वासनाओंको भक्ति, ज्ञान, काव्य, साहित्यके रूपमें बदल दिया अर्थात् नया रूपान्तर दे दिया। इस रूपान्तरसे वासनाओंको एक स्वस्थ दिशामें प्रवाहित होनेका मौका मिला। ये व्यक्ति स्वस्थ भी हो गये और संसारके ज्ञानभंडारमें भी वृद्धि हुई। वासनाओंका रूपान्तर(Sex-transmutation) वह उपाय है, जिसके द्वारा अव्यक्त या प्रसुप्त वासनाओंका द्वन्द्व दूर कर उन्हें चरितार्थ होनेकी एक नयी स्वस्थ दिशा प्रदान की जा सकती है। तभी दबी हुई मानसिक रोग उत्पन्न करनेवाली वासनाको उपयोगी बनाया जा सकता है। स्वस्थ और आनन्दित रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मन दुर्वासनाओंसे मुक्त रहे और विवेकरहित गंदी विचारधाराओंका उसमें प्रवेश ही न हो।

अतः इस लेखमें वर्णित रोगीको आरोग्य और आनन्दमय जीवन बनाने और मानसिक रोगसे बचनेके लिये निम्न सुझाव दिये गये—

१–स्थानपरिवर्तन—

प्रत्येक विचार या वासनाका सम्बन्ध स्थान-विशेषसे होता है। एक विशेष स्थानमें रहनेसे हमारे मनमें एक विशेष प्रकारकी इच्छाएँ पैदा होती हैं। स्थानके इर्द-गिर्द एक प्रकारके विचारोंका गुप्त वातावरण छाया रहता है। मन्दिरमें जानेसे पवित्र विचारोंका प्रवाह स्वतः आने लगता है। इसके विपरीत दूषित स्थानोंमें एक बार गुजरनेमात्रसे मन गंदी वासनाओंसे भर जाता है। अतः उपर्युक्त रोगीको यह सलाह दी गयी कि वे उस व्यक्तिविशेषसे सम्बन्धित स्थानका परित्याग करके किसी रमणीय धार्मिक स्थान, तीर्थस्थान या प्रकृतिके रमणीय प्राङ्गणमें स्थित किसी सुरम्य वाटिकामें निवास करें। नये स्थानकी नयी परिस्थितियोंमें नये-नये स्वस्थ विचार उत्पन्न होंगे। गंदी वासनाएँ फीकी पड़ जायँगी। भोग-भावना कम होगी। यज्ञ तथा विद्वानोंके भाषणोंसे पवित्र की हुई भूमिमें उत्तम और पवित्र विचार ही उत्पन्न होते हैं। कुछ वर्ष दूसरे स्थानमें इस प्रकार निवास करनेसे मानसिक संस्थान नये रूपमें बनने लगता है। पुरानी वासनाएँ फीकी पड़कर उनके स्थानपर नयी भाव-भूमिका निर्माण होता है।

२–नये स्वस्थ विरोधी विचारोंका विकास—

जिस गंदे विचार या वासनाको दूर करना है, उसे दबानेके स्थानपर उसके विरोधी शुभ भाव या विचार विकसित करने चाहिये। क्रोधको दूर करनेके लिये प्रेम और शान्त भावोंका विकास करना चाहिये। इसी प्रकार अति उत्तेजक वासनासे सताये हुए व्यक्तिको वैराग्य और ईश्वरके प्रति भक्ति-भावनाके पवित्र भावोंकी वृद्धि करनी चाहिये। शोक-विषादको मिटानेके लिये भगवान्के आनन्दमयरूपका ध्यान करके सर्वत्र आनन्दकी भावना करनी चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, विवेकके शुभ विचारोंमें निरन्तर रमण करने, पुनः-पुनः उन्हें मनमें भरे रखने और वैसे ही विचारोंमें अधिक समय बितानेसे व्यक्तित्वके इस अङ्गका धीरे-धीरे विकास होने लगता है और वासनाओं या तुच्छ इच्छाओंका प्रभाव क्षीण हो जाता है। तुलसीदासजीने भक्तिका मार्ग ही पकड़ा था। अपने आराध्य रामकी भक्तिमें वे इतने तन्मय हो गये थे कि उसकी आसुरी वासनाएँ दग्ध हो गयीं। भक्तिका प्रकाश उनके मनमें फैल गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि 'असली सुख, शान्ति और भक्तिका भंडार तो राम है और वे राम आत्माके रूपमें मेरे भीतर ही विराजमान हैं। प्रेम, भक्ति, दया और करुणाके प्रतीक राममें वे ओतप्रोत हो गये। वासनाका कल्मष बह गया। स्वच्छ निर्लेप आत्मा अपने सत्-चित्-आनन्दरूपमें बिखर आयी। विषय-सुखकी निस्सारता प्रकट हो गयी।

३–स्वस्थ मानसिक जीवन-निर्माणके संकेत या सजेशन—

नये संस्कारोंका निर्माण संकेत-पद्धति (System of Auto-Suggestion)से होता है। रोगीको नये स्वस्थ संकेत अपने गुप्त मनको बार-बार देने पड़ते हैं। रोगी पूर्ण निष्ठा और विश्वासपूर्वक शान्तचित्तसे कुछ स्वस्थ विचारोंको मुँहसे उच्चारण करता है, बार-बार उनके निगूढ़ अर्थोंपर विचार करता है और उनमें इतना तन्मय हो जाता है कि वे अन्तमें उसके गुप्त मनका भाग बनने लगते हैं। उपर्युक्त रोगीको प्रतिदिन सायं और शयनसे पूर्व ये संकेत अपने गुप्त मनको देनेका आदेश दिया गया—

'मुझे अनुभव हो गया है कि जहाँ वासनाकी कालिमा है, वहाँ शान्ति नहीं है। जहाँ विवेकका राज्य है, वहाँ वासना कैसे ठहर सकती है। इसलिये मैं वासनासे चिपटा नहीं रहता। मेरे मनमें अब शान्ति और संतुलन आ रहा है। जहाँ शान्ति और संतुलन है, उस जगह वासना कदापि नहीं ठहर सकती। जब ज्ञानका प्रकाश हो रहा है, तब वासनाका अन्धकार कैसे ठहर सकेगा।

'वासनासम्बन्धी कलुषित विचारोंका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो विवेकशील, शान्त, स्थिरचित्त आत्मा

हूँ । अपवित्र और कुत्सित वासनाके विचार मुझे अपने मायाजालमें नहीं फँसा सकते ।

'मेरा हृदय वासनारहित है । मैं निर्विकार हूँ । हाड़-माँस, मल-मूत्रके शरीरमें मुझे अब आकर्षण नहीं दीखता । मैं तो इन विकारोंपर दृढ़ नियन्त्रण रखता हूँ । दुष्ट विचार मुझे मेरे उच्च सात्त्विक मार्गसे विचलित नहीं कर सकते ।

'मुझे विवेक हो गया है कि वासनाओंके बढ़ाने और तृप्त करनेसे परम सुखकी प्राप्ति नहीं होती । मैं तुच्छ विकारोंका दास नहीं हूँ । क्षणभङ्गुर पदार्थोंके पीछे अब मैं नहीं छटपटाता फिरता हूँ । सांसारिक भोग-विलासकी वासनाके स्थानपर मुझे आध्यात्मिक सम्पत्तिमें अधिक सुखका अनुभव होता है ।'

प्रतिदिन प्रातः अथवा सायंकाल एकान्त स्थानमें शान्त-चित्त हो नेत्र मूँदकर बैठ जाइये और शरीर तथा मनको शिथिलकर सब विचारोंको हटाकर उपर्युक्त भावनामें दस मिनिट चित्तको एकाग्र कीजिये । इस प्रकारका अभ्यास करनेसे मन स्वस्थ दिशामें लगता है और क्षुद्र वासनासे मुक्ति मिल जाती है ।

४—गीताजीके वचनामृतका पान

श्रीगीताजीकी शरणमें जाने और निरन्तर मनोयोग-पूर्वक श्रीमद्भगवद्गीताका स्वाध्याय करनेसे प्रबल मानसिक रोग शान्त हो जाते हैं और मनमें शान्तिका प्रादुर्भाव होता है । गीता नैतिक पतनसे रक्षा करनेवाली माता है । श्री-गीताके निम्न श्लोकोंको बार-बार पढ़ना और उनके अर्थपर विचार करना चाहिये । ये श्लोक रामबाणके समान प्रत्यक्ष चमत्कार दिखानेवाले हैं । इन्हें पुनः-पुनः रटना चाहिये, यहाँतक कि ये मानसिक संस्थानका एक अङ्ग बन जायँ—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

(२ । ६२)

अर्थात् विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(२ । ६३)

क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है । फिर बुद्धि—ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है । बुद्धि नाश होनेसे वह पुरुष अपने श्रेयः-साधनसे गिर जाता है ।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(६ । २४-२६)

अर्थात् मनुष्यको चाहिये कि संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे अच्छी तरह वशमें करके क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ वैराग्यको प्राप्त हो । धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थिर करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे । परंतु जिसका मन वशमें न हुआ हो, उसे चाहिये कि वह स्थिर न रहनेवाला चञ्चल मन जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस-उससे मनको रोककर बारंबार परमात्मामें ही निरुद्ध करे ।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(९ । ३०)

तथा—

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

(१८ । ३८)

इन श्लोकोंके अर्थका स्वाध्याय, मनन, चिन्तन करके और श्रद्धा-भक्तिसहित अभ्यास करनेसे विषय-वासनाओंसे मुक्ति मिल जाती है । इनके अक्षर-अक्षरमें परम रहस्य भरा हुआ अनुभव निहित है । इनके अतिरिक्त गायत्री-जपसे भी अन्तःकरण निर्भय, निर्मल और वासनारहित बनता है । उच्च चिन्तन तथा ईश्वरीय शक्तियोंके ध्यानके बलसे ही प्रत्येक ऋषि-मुनिने अध्यात्म-जगत्में उन्नति की है । संसार वैसा ही बन जाता है, जैसा आप दृढ़तासे चिन्तन करते हैं—

The world is what you make it;
The sky is green or blue
Just as your soul may paint it;
It's not the world, it's you.

'आकाश आपको अपने मनकी स्थितिके अनुरूप ही हरा या नीला दिखायी देता है । वास्तवमें परिवर्तन संसारमें नहीं, हमारे मानसिक दृष्टिकोणमें होते रहते हैं । हमारा संसार वैसा ही बन जाता है, जैसा वस्तुतः हम चाहते हैं ।'

क्षमा

(लेखक—श्रीपारसनाथसिंहजी एम्० ए०)

क्षमा एक प्रकारकी चित्तवृत्ति है, जो तितिक्षाके अन्तर्गत मानी गयी है। तितिक्षा सरदी-गरमी आदि सहन करनेकी सामर्थ्यको कहते हैं और क्षमा वह वृत्ति है, जिससे हम दूसरेके द्वारा पहुँचाये गये कष्टको चुपचाप सह लेते हैं और उसके प्रतीकारका प्रयत्न नहीं करते। यह दैवी गुण है मानव-धर्मके दस लक्षणोंमें इसका प्रमुख स्थान है; यह पाशवप्रवृत्तियोंपर अनायास विजय प्राप्त कर लेता है।

क्षमा विश्वके सभी महान् धर्मोंका मेरुदण्ड है। हिंदू-धर्मकी आधारशिला यही क्षमा है। विष्णु और भृगु मुनिके प्रसङ्गको कौन नहीं जानता। क्षमा-धरित्री-सी व्यापक एवं शाश्वत क्षमाका गुण-गान हिंदू-धर्मका मूल राग है। पृथ्वीतलपर मातृत्वसे गौरवमय दूसरा कोई नहीं और इस मातृत्वकी गरिमाका सम्यक् दर्शन क्षमाशीलतामें ही है। बौद्ध-धर्मके भव्य भवनका स्वर्ण-कलश भी यही क्षमा है। विश्वात्मवाद और भूतदयाकी सम्पोषिका क्षमावृत्ति बौद्ध दार्शनिकताका प्राण है। कलिङ्गविजयी अशोककी प्रतिहिंसाका उपशम 'क्षमा'के संकेतपर ही हुआ। यवनदेश, स्वर्णभूमि, सिंहलद्वीप, तिब्बत, चीन आदि प्रशस्त भूभागोंमें क्षमाका एकच्छत्र राज्य शताब्दियोंतक रहा और बौद्ध-धर्मके प्रभावमें सहस्राधिक वर्षोंतक समस्त मानवता क्षमाका सम्बल लेकर ही अपना पथ सुगम बनाती रही। ईसाई धर्मका तो कहना ही नहीं। बाइबल मूलतया क्षमाकी ही गुण-गाथा है। क्षमाके अवतार महात्मा ईसाके अनेक उपदेश दूसरोंके दोषों, अपराधों और त्रुटियोंको स्वेच्छासे सहन कर लेनेका पाठ पढ़ाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि मानव-संस्कृतिके मौलिक तत्त्वोंमें क्षमाका विशिष्ट स्थान है और मनुष्य-जातिके अबतकके प्रमुख धर्मोंमें इसको अनिवार्य माना गया है।

क्षमाकी प्रकृति द्विविध है। यह दोहरी शक्तिसे सम्पन्न है। यह ढाल भी है और तलवार भी। एक ओर यह विपक्षीका आघात सहन करती है, दूसरी ओर उसे निरस्त्र और पराजित भी करती है।

क्षमा खड्ग लीन्हे रहें, खल कौ कहा बसाय।

कटु वचनसे लेकर विरुद्धाचरण एवं अनिष्ट-साधनतक जितने भी उद्वेगजनक कार्य-व्यापार हैं, क्षमा सबको प्रभावशून्य बना देती है। क्रोध, प्रतिहिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, अपकार, कृतघ्नता, प्रतारणा आदि समस्त गर्हित मनोवेगों तथा तज्जन्य प्रभावोंका उपशम और निरसन इसके ही द्वारा होता है। यह वह दृढ़ चट्टान है, जिससे टकराकर शतशः दुर्वृत्तियाँ लहरोंकी भाँति चकनाचूर हो जाती हैं। जिस प्रकार क्षमा दुष्ट भावनाओंका दमन करती है, उसी प्रकार अनेक सद्भावनाओंको, जन्म देती है। सहिष्णुता, दया, परोपकार एवं करुणा आदि भाव इसीसे उद्भूत तथा परिपुष्ट होते हैं। यह धृतिकी कसौटी और नैतिक साहसकी धात्री है। सुधांशुकी शीतल किरणोंकी भाँति क्षमाका प्रभाव शान्तिप्रद और व्यापक है। यह वह शीतल उपचार है, जो अनेक मनस्तापोंके लिये महौषधि है—रामबाण है।

क्षमा व्यक्तिका ही विभूषण नहीं, यह समाजके लिये भी वरदानस्वरूप है। इसका सामाजिक मूल्य आँका नहीं जा सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति 'शाइलक'का-सा व्यवहार करने लगे और यदि प्रतिशोधकी ही भावनाका प्रत्येक क्षण बोलबाला रहे तो फिर समाजकी स्थिति ही असम्भव हो जाय। समाज तो एक संविदा है, जहाँ विभिन्न रुचि और सिद्धान्तके लोगोंको एक दूसरेके लिये अपनेको नियन्त्रित करना पड़ता है और यह नियन्त्रण क्षमाका ही पर्याय है। इतिहास इसका साक्षी है कि इसी क्षमा-शक्तिके आवश्यक मात्रामें न होनेसे समाजको अनेक अवाञ्छित धार्मिक विप्लवों, साम्प्रदायिक संघर्षों, राजनीतिक विद्रोहों और आर्थिक संकटोंका सामना करना पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने समाजके धर्मरूपी रथके बल, विवेक, दम और परहित नामक चारों घोड़ोंको परस्पर सम्बद्ध करनेवाली रस्सियोंमें 'क्षमा'को सर्वप्रथम माना है। वस्तुतः अतिवादी प्रकृतिवाले मनुष्यको मध्यम मार्गपर लाने और समाजमें रहनेके योग्य बनानेमें क्षमा-शक्तिकी नितान्त आवश्यकता है।

किंतु क्षमाकी शोभा बलपर ही निर्भर है। बलहीनका क्षमा विवशताके अतिरिक्त और कुछ नहीं। अशक्त यदि सहनशील न होगा तो करेगा ही क्या। शक्तिशाली होनेपर भी जो दूसरेके प्रतिकूल और अनुचित व्यवहारोंको सहन कर लेता है, वही क्षमाशील है। अंग्रेजीमें एक सूक्ति है—'दानवकी भाँति बलयुक्त होना अच्छा है, किंतु उस बलका प्रयोग दानवकी भाँति करना अच्छा नहीं है।' रावण रामसे

कदाचित् कम बलशाली नहीं था, किंतु रामकी भाँति वह शीलवान् नहीं था। उसका बल अधर्ममें प्रयुक्त होता था, इसीसे ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी वह राक्षस माना गया। वह क्षमा करना तो जानता ही नहीं था, सीताहरण और विभीषण-को पाद-प्रहार इसके पर्याप्त उदाहरण हैं; किंतु ऐसे क्षमा-शून्य रावणका अन्त क्या हुआ ? सकुल सवैभव विनाश। इसके विपरीत राम ईश्वरके अवतार माने गये। क्षमाके बलपर ही उन्होंने दुर्दान्त परशुरामको नतमस्तक और श्रीहत किया और उनकी क्षमाशीलताने ही कैकेयीका मानसिक परिष्कार किया। निष्कर्ष यह है कि बलहीनकी क्षमा और क्षमाहीनका बल दोनों अशोभन हैं, दोनों विघातक हैं। हाँ, बलसे तात्पर्य केवल शारीरिक बलसे ही नहीं, वरं बौद्धिक और आध्यात्मिक बलसे भी है।

आज संसारको क्षमाकी जितनी आवश्यकता है, कदाचित् ही और कभी रही हो। विज्ञानके कारण मदोन्मत्त मनुष्य आज अपनेको नियन्ता और नियामक समझ बैठा है। फलतः अकाण्ड-ताण्डव कर रहा है। उसके पास हृदय नहीं रह गया है; वह तो बुद्धि—नहीं, दुर्बुद्धिका पुतला और यन्त्र मानव बन गया है। वह आत्मनिरत, आत्मकेन्द्रित, संकीर्ण एवं स्वार्थलिप्त हो दूसरेके प्रति अपने कर्त्तव्योंको भूल बैठा है। श्वानवृत्तिसे प्रेरित प्रतिहिंसक समाजका परित्राण क्षमाके प्रभावमें ही हो सकता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। यदि हम अपना और समाजका कल्याण चाहते हैं तो हमें एक दूसरेके प्रति अपनी भ्रान्त धारणाओंको मिटाना होगा और समाजके ऊर्ध्वनयनके लिये एक दूसरेकी त्रुटियोंको विस्मृत करना होगा। आइये, 'हम भूल जाओ और क्षमा करो, (forget and forgive) को अपना महामन्त्र बना लें।

कौन किसका है ?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

यास्कने २००० वर्ष पूर्व अपने 'निरुक्त'में लिखा है कि जब सत्ययुगकी समाप्तिपर ऋषिलोग पृथ्वीसे विदा हुए, तब मनुष्योंने देवताओंसे पूछा कि 'अब हमलोगोंका पथ-प्रदर्शन कौन करेगा ?' तब उत्तर मिला—'तर्क'।

ऋषिषु उत्क्रामत्सु मनुष्याः देवानब्रुवन् को नः ऋषिः स्यादिति। ते तर्कमृषिं प्रायच्छन्।

जिस तर्ककी इतनी मर्यादा थी, वह आज तर्कके स्थान-पर कर्त्त हो गया है, कैंची बन गया है। हम हरेक बातको काटनेका, बिना सोचे ही गलत सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं। तर्कद्वारा, मनमें समझ-बूझकर किसी निष्कर्षपर पहुँचनेकी क्रिया हमको निरर्थक प्रतीत होती है। इसीलिये आज मनुष्यका जीवन काफी दुःखमय तथा संकटमय हो गया है। यदि हम बाहरी वस्तुओंसे ज्ञान प्राप्त करनेका कार्य बंद करके अपने चित्तके भीतर बैठकर कुछ सोचने-समझने-का प्रयास करें तो मानव-जीवन सार्थक ही नहीं, सफल भी हो जायगा।

आज पग-पगपर हमको निराशा होती है, जो घबराता है। निराशा तब होती है, जब आशा की जाती है। हमने अपने विषयमें, अपने अहंभावमें ऐसी ऊँची धारणा बना रखी है कि हमारा मन तब बड़ा उदास हो जाता है, जब हमारी इच्छा पूरी नहीं होती। अष्टावक्रने अपनी गीतामें हमको समझाया था कि जो दूसरोंसे आशा करता है, वह संसारका दास हो जाता है—

'ते दासाः सर्वंल्लोकस्य'

पर जो आशाको ही अपनी दासी बना लेता है, यानी जो किसीसे कुछ भी आशा नहीं करता, वह संसारका स्वामी बन जाता है। हम पग-पगपर दूसरोंकी कृपाके आश्रित हैं। मालिककी—स्वामीकी कृपा चाहिये। पत्नी, पुत्र या पतिकी कृपा चाहिये। माता-पिताकी कृपा चाहिये। मित्रोंकी कृपा चाहिये। संसारमें जो कुछ अच्छा दिखायी पड़ता है, वह सब हमको चाहिये। कृपाका भिखारी कभी यह सोचनेका प्रयास नहीं करता कि वह कृपाका पात्र है भी या नहीं। किसी वस्तुकी प्राप्तिका पात्र बननेके लिये तदनुकूल प्रयत्न करना होता है। हम प्रयत्न नहीं करना चाहते, पात्र बनना चाहते हैं।

हम अपने कुटुम्ब या परिवारसे ही नहीं कृपा चाहते या स्नेह माँगते हैं, हमको भगवान्से भी बहुत कुछ माँगना है। उससे प्राप्त होनेवाली वस्तुओंकी सूची बहुत लंबी है। हम उसकी पूजा करते हैं, पाठ करते हैं। यही पारिश्रमिक है, जिसे चुकाकर हम उससे बदलेमें अपनी असंख्य होने

अनहोनी, अच्छी-बुरी माँगें पूरी करना चाहते हैं। पर यदि हमारी माँग पूरी नहीं होती तो हम क्रोधसे उबल पड़ते हैं। मैंने प्रायः लोगोंको कहते सुना है—'बड़ा अन्यायी है भगवान्।'

मैंने कितने ही लोगोंको भगवान्पर इतना क्रोध करते देखा है कि वे पूजा-पाठ छोड़ बैठते हैं। मेरे एक मित्रने मूर्ति उठाकर नदीमें फेंक दी थी। तब हम उनसे एक प्रश्न पूछना चाहते हैं। बालक माताके सामने मचल जाता है कि एक सड़ी मिठाई जरूर खायेगा। पितासे रुष्ट हो जाता है कि उसने उसे जाड़ेमें पानीसे खेलने नहीं दिया। पर क्या वह बालक जानता है कि माता-पिताकी इस अस्वीकृतिमें बालकका ही हित है, उसीके कल्याणके लिये यह कठोरता बरती जा रही है ?

इसी प्रकार भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं। वह जानता है कि किसीकी झोलीमें कितना भरा जा सकता है और उसमें कितना बोझ सँभालनेकी शक्ति है। भगवान् जो देता है, वह हमारी मर्यादा, हमारी साधना, हमारे कर्मफल, हमारे अधिकार तथा हमारी शक्ति और योग्यताके अनुपातसे देता है। प्रसिद्ध दार्शनिक शापेनहॉरने लिखा था कि 'यदि तुमको एक रोटी खानेको मिले तो याद रखो कि तुम्हारी करनी आधी रोटी पानेकी थी। आधी भगवान्ने जोड़ दी है।' एक उर्दू कविने यह समझाया है कि भगवान्से प्राप्त सुख-वैभवमें कमी या बेशीपर बहस करना बेकार है। वह जानता है कि किसको कितना मिलना चाहिये—

मयकशो मय की कमी बेशी पै नाहक जोश है।
यह तो साक़ी जानता है किसको कितना होश है॥

यह प्रसिद्ध है—

राम झरोखे बैठ के सबका मुजरा लेत।
जाकी जैसी चाकरी, तैसा ई फल देत॥

परिश्रम करें या नहीं ?

तब प्रश्न यह हो सकता है कि हम क्या करें। जब भगवान् ही हमारे भाग्यका निर्णय करके हमको हमारी प्यासके बराबर पानी देनेवाला है तो हमारा परिश्रम बेकार है। बात ऐसी नहीं है। परिश्रमसे संस्कार परिमार्जित हो जाता है। भविष्यका संस्कार बनता है। सफलताकी भूमिका बन जाती है। और फिर, भगवत्कृपा तो सर्वोपरि है ही; पर संसारका सब कुछ सम्बन्ध हरेकसे होते हुए भी हमलोग शास्त्रका यह वचन क्यों भूल जाते हैं कि संसारमें कोई किसीका नहीं है ? समूची नातेदारी, रिश्तेदारी, प्रेम, मेलजोल,—सब स्वार्थका सौदा है। जिसका जबतक स्वार्थ सधता है, तबतक वह उसका है। शास्त्रमें केवल एक माताको ही इस स्वार्थसे परे या ऊपर समझा गया है—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

पर कलियुगमें या आजकलके जमानेमें उसका भी अपवाद होने लगा है। हम किस सीमातक अपना स्वार्थ समेटे किसके साथ हैं, इसका अनुमान भी नहीं लग पाता। देखनेमें सभी मित्र मालूम पड़ते हैं। 'बिनु काज दाहिनेहु बाएँ' लोगोंको छोड़कर सभी साथी तथा स्नेही प्रतीत होते हैं; पर हमारी परख तो तब होती है, जब स्वार्थ कहींपर टकराता है—

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं
न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा॥

व्यवहारसे ही पता चलता है कि कौन मित्र है और कौन शत्रु। भारतीय नारीका त्याग तथा उसकी तपस्या संसारमें अपरिमेय है, पर अपने स्वामी तथा सौभाग्यकी रक्षाकी भावनामें क्या उसका स्वार्थ तथा आत्मरक्षाकी भावना नहीं है ? धनहीनके लिये तो लिखा है —

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता पुत्रो न सम्भाषते।

'माता उसकी निन्दा करती है। पिता आदर नहीं देता, पुत्र बोलतातक नहीं।' इसीलिये न कि वह अभागा धनहीन है ? तब फिर केवल भगवान्को छोड़कर गुणहीन, धनहीन तथा प्रश्रयहीनका सहारा और क्या है तथा क्या हो सकता है ? सचमुच सोचिये तो इस संसारमें कौन किसका है। वाल्मीकिके सभी घरवालोंने उसके पापके फलका हिस्सा लेना अस्वीकार कर दिया था। जिस पापजाल तथा धूर्त्ततासे हम धन कमाकर अपने परिवारका पोषण करते हैं, उसका फल हमको ही भोगना पड़ता है, पड़ेगा। यमराजके यहाँ हमारी साक्षीमें कोई नहीं जायेगा ? श्मशानतक सभी पहुँचा आते हैं, उसके बाद कोई किसीका नहीं। रोना-पीटना भी दिन बीतते कम हो जाता है। नित्यका जीवन बिताना है। कौन रात-दिन बीते हुए युगकी याद करे, बिछुड़े हुए साथीके लिये आँसू बहाता रहे, सब प्रेम जीवित रहनेतक है। हाँ, अपवाद हो सकते हैं।

हाँ, तो हम बातें कह रहे थे अपने-परायेकी। कबीरदासजीने स्पष्ट लिखा है—

कबिरा या जग आइके कोउ काहूका नाहिं।
घर की नारी क्या करै, तन की नारी नाहिं॥

जब शरीरकी नारी (नाड़ी) साथ छोड़ देती है, तब घरकी नारीकी क्या कहिये। जिसे हम अपना सब कुछ समझते हैं—सम्पत्ति, घर, वैभव, वह सब हमारा कुछ नहीं है—

ना घर तेरा, ना घर मेरा,
चिड़िया रैन बसेरा रे॥

और यदि आप सोचते हों, कोई तो कहीं सहारा देगा, तो याद रखिये उन पंक्तियोंको, जो काशीमें मणिकर्णिका घाटकी दीवारपर लिखी हुई है—

भोजन मलाई दूध करि कै सरीर पाल्यो,
बँगला में आसपास सुंदरी खरी रही।
कफ्फन लपेट के सुतायो रथी पै अंत,
चूर होके खोपरी मसान में परी रही॥

तब फिर कौन किसका है? व्यर्थकी आशा, व्यर्थका माया-मोह, व्यर्थका तर्क-कुतर्क छोड़ दो और केवल यही याद रखो कि कोई किसीका नहीं है। इस जीवनमें हम एकाकी हैं। अकेले आये हैं अकेले चलना है, भवसागरको अकेले पार करना है, यमलोक या परलोक अकेले जाना है। अपनी करनीका अपने ही फल भोगना है। सभी सुखके साथी हैं। व्यर्थके पाप और उत्पातसे कोई लाभ नहीं है। इस अन्धकारमय जीवनमें एकमात्र आधार है—'भगवान्।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हर्षका सागर उमड़ पड़ा

कुछ वर्ष पहलेकी बात है—गङ्गातटपर बसे हुए एक बहुत बड़े नगरमें दो नवयुवक मित्र गङ्गास्नान करने जा रहे थे। रास्तेमें उन्हें कीचड़में कोई चमकती हुई चीज दिखलायी दी। उन्होंने कौतूहलवश कीचड़से उस चीजको निकालकर देखा तो वह बहुमूल्य हीरेका हार था—कम-से-कम एक लाख रुपये मूल्यका। वे दोनों स्वयं पहले धनी घरानेके थे, उन्हें हीरोंकी पहचान थी। उनमेंसे एक मित्र बहुत अधिक अर्थसंकटमें था। उसने कहा—'भाई! मालूम होता है भगवान्ने मेरी पुकार सुन ली। इसीसे तो यह बहुमूल्य हार मिला है। आज ही इसे ले जाकर तुड़वा लेंगे और हीरे बंबई ले जाकर बेच देंगे। हमलोगोंका बहुत बड़ा संकट टल जायगा।' दूसरा मित्र भी अर्थसंकटमें था, पर वह बोला, 'भैया! पराये धनपर मन चलानेसे कभी संकट दूर नहीं होगा। जरा सोचो तो, कोई बहिन गङ्गास्नानको जाती हुई इसे गिरा गयी होगी, वह घर जाकर हार सम्हालेगी और नहीं मिलेगा तो उसके चित्तको कितना भारी दुःख होगा। फिर, पराया धन कभी लाभदायक भी नहीं होता तथा वह टिकता भी नहीं। अतएव भैया, मैं तो घर जाते ही कपड़े पहनकर किसी समाचार-पत्रके दफ्तरमें जाऊँगा और उसमें यह सूचना छपवाऊँगा कि 'हमें एक हार मिला है; जिनका हो, वे प्रमाणित करके ले जायँ। मैं इसे मारवाड़ी असोसियेशनमें जमा करा दूँगा, वे लोग पता लगाकर जिनका होगा, उन्हें दे देंगे।' पहले मित्रको बात तो कुछ जँची; पर उसके मनमें लोभ था और वह समझ रहा था—सहज ही जब संकट टलनेका साधन मिल गया है, तब इसे क्यों छोड़ा जाय? अतएव कई तरहके युक्तिपूर्ण तर्क उपस्थित करके उसने मित्रको समझानेकी चेष्टा की; पर वह नहीं माना और आखिर यही निश्चित हुआ कि चलकर अखबारमें सूचना छपवायी जाय।

ने गङ्गास्नानका विचार छोड़कर घरकी ओर मुड़ गये। थोड़ी ही दूर गये थे कि देखते हैं एक अधेड़ उम्रका पुरुष तीन-चार आदमियोंको साथ लिये कीचड़में किसी चीजको खोज रहा है। बड़ा परीशान है। उसके

आँखोंसे आँसू बह रहे हैं, चेहरेपर गहरी उदासी छायी है । दोनों मित्रोंने उसको देखा और सोचा कि शायद वह हार ही खोजा जा रहा होगा । उनमेंसे एकने आगे बढ़कर पूछा—'बाबू ! आप क्या खोज रहे हैं, क्या आपकी कोई चीज खो गयी है ? आप इतने उदास क्यों हैं ?' उसने यह बात सुनकर सिर पीट लिया और कहा—'भाई ! क्या बताऊँ, मैं बेमौत मारा गया । गजब हो गया । हार न मिला तो मैं मुँह नहीं दिखाऊँगा—आत्महत्या कर लूँगा; पर क्या होगा—आत्महत्यासे ? मेरा कलङ्क थोड़े ही उतरेगा । हाय !' इतना कहकर वह पुनः खोजमें लग गया । इसपर इन मित्रोंने फिर पूछा, तब उसने कहा—'भाई ! बतानेसे क्या होगा ? हमलोग भी पहले पैसेवाले थे । आज बहुत गरीब हालतमें हैं । मेरी एक लड़की अमुक करोड़पतिके यहाँ अमुक स्थानमें ब्याही है । हम धनी थे, तब तो परस्पर बड़ा प्रेम था । पर अब तो हम उनके प्रेमके नहीं, घृणाके पात्र हैं । यही नहीं, उनकी दृष्टिमें चोर हैं । धनियोंकी दृष्टिमें गरीब चोर ही होता है । देखिये, मेरी लड़कीका गहना हमारे यहाँ पड़ा था, उसे उन्होंने मुझपर अविश्वास करके—यह समझकर कि कहीं यह गहना बेचकर खा न जाय, चालाकीसे मँगवा लिया । मुझे कोई दुःख नहीं था । उनकी चीज उनके पास रहे । मैं तो बड़ी जोखिमसे बचा । वे मेरी लड़कीको भी मेरे यहाँ भेजनेमें अविश्वास मानकर, अपनी तौहीन समझकर आनाकानी करने लगे । मुझ मुफलिसके घर करोड़पतिकी बहू भला कैसे आ सकती है ।' लड़कीकी माँका बुरा हाल था । मैंने बड़ी आर्जू-मिन्नत की तो उन्होंने मेरी लड़कीको पाँच-सात दिनोंके लिये भेजा । पक्का इकरार करा लिया कि सात दिनके बाद उसे वापस भेज देना पड़ेगा । यहाँतक कि रेलके टिकट भी रिजर्व करा लिये गये ।

'लड़कीको आये पाँच दिन हुए हैं, आज बहुत तड़के ही वह अपनी माँके साथ गङ्गास्नानको आयी थी । रास्तेमें कहीं उसके गलेका हीरेका नेकलेस (हार) गिर गया । मैं तबसे खोज रहा हूँ, पर मिल नहीं रहा है । हार न मिला तो वे यही समझेंगे कि लड़कीको फुसलाकर मुफलिस माता-पिताने हार हड़प लिया है । पता नहीं, वे मेरी भोली लड़कीको क्या-क्या कहेंगे, कैसी-कैसी गालियाँ देंगे । मुझे तो चोर-डाकू समझेंगे ही । अच्छा होता, लड़की घर आती ही नहीं । हाय ! अब मैं क्या करूँ ?”

उसकी दीन दशा देखकर दोनों मित्रोंको बड़ी दया आयी । उन्होंने सोचा—हो-न-हो, हार इन्हींका है । उन्होंने कहा—'बाबू ! आप घबराइये नहीं । भगवान् किसी ईमानदार तथा सच्चे पुरुषपर कलङ्क क्यों लगने देंगे ? एक हार हमें रास्तेमें मिला है । अभी कीचड़में सना है । आप घर चलिये—वहाँ आपकी लड़की हार देखकर पहचान लेगी तो आप और हम उसे लेकर उसके ससुराल चलेंगे और सारी बातें उनको समझा देंगे ।' यों कहकर उन्होंने हार दिखलाया । हार देखते ही वह नाच उठा, अब उसकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी धार बह चली । वह गद्गद होकर उन दोनों मित्रोंके चरणोंमें लिपट गया । आम रास्ता था, लोग इकट्ठे होने लगे । तब उन मित्रोंने हो-हल्लेसे बचनेकी नीयतसे हार जेबमें डाला और उस सज्जनको साथ लेकर वे उसके घर पहुँचे । घरमें कुहराम मचा था । लड़कीकी माँ बुरी तरह रो रही थी और बेटी पास बैठी उसे समझा रही थी ।

इतनेमें ही लड़कीके पिताने आकर रोते हुए कहा—'बेटी ! रो मत । दो देवता आये हैं—तेरा हार लेकर । देख, पहचान और इनके चरणोंमें नमस्कार कर ।' हार पहचान लिया गया । उन गृहस्थ-दम्पतिके सुखका क्या ठिकाना । उनका रोम-रोम उन दोनों मित्रोंको आनन्दाश्रुओं-

के साथ कृतज्ञतापूर्ण आशीर्वाद दे रहा था। वे दोनों भी बड़े ही प्रसन्न थे। उन्हें अर्थसंकटसे मुक्त होनेपर कैसा क्या सुख मिलता ? सो तो अलग बात है। पर इस दृश्यको देखकर तो उनके हृदयमें हर्षका सागर ही उमड़ रहा था।

—विद्यानन्द

(२)

माँगने आये कि देने ?

कुछ वर्षों पहलेकी घटना है। एक बड़े व्यापारी सज्जन, जिनके बड़ा कारोबार था, जो प्रसिद्ध उदार तथा दानी कहलाते थे, अपने घरके बाहरके हिस्सेकी आफिसमें बैठे फाइलोंको देख रहे थे। इतनेमें बाहरसे दरबानने आकर कहा— 'बाबूजी ! बाहर एक सज्जन खड़े हैं, मिलना चाहते हैं।' बाबूजी मनमें बहुत कुढ़े, बोले—'ये माँगनेवाले जरा भी दम नहीं लेने देते, सुबहसे ही आने लगते हैं !' पर अपनी सभ्यताकी रक्षा करनेके लिये बोले—'अच्छा भेज दो।' दरबान लौट गया और एक सादी पोशाकका सुन्दर नवयुवक अंदर आ गया। बाबूके संकेतसे वह एक कुर्सीपर बैठ गया। बाबूने फाइलोंसे जरा दृष्टि हटाकर रूखे स्वरमें पूछा—'क्यों कैसे आये ? क्या काम है ? आजकल तो मैं तंग आ गया हूँ। ये माँगनेवाले कभी भी आरामसे काम नहीं करने देते। आप किस कामसे आये हैं, बताइये।' आगन्तुक तरुणने मुसकराते हुए कहा—'बाबू ! मैं तो माँगने नहीं आया हूँ, मैं तो एक विशेष कामसे आपके पास आया हूँ। आपसे कुछ जरूरी बात कहनी है।' फिर दोनोंमें निम्नलिखित बातें हुईं—

बाबू—'बोलिये तो, क्या बात कहनी है ?'

आगन्तुक तरुण—दो साल पहले आपके………… कारखानेका राजेन्द्रनामक एक आदमी चोरीके अपराधमें पकड़ा गया था। उसे सालभरकी जेल हो गयी थी, आपको याद है न ?

बाबू—(बिना रुख जोड़े) हाँ, याद है।

तरुण—क्या यह भी याद है कि आपने उसको निर्दो जानते हुए भी स्वार्थवश रिश्वत देकर, वकीलों पर पैसा खर्चकर तथा अन्यान्य प्रकारसे प्रय करके जेल भिजवाया था और फिर वह अपीलमें छूट गया था।

बाबू—(जरा कड़े स्वरमें) हाँ, किया होगा।

तरुण—तो बाबू, वह राजेन्द्र मैं ही हूँ।

बाबू—(कुछ डरे हुए, कुछ तमतमाते हुए) तो क्या बदला लेने आये हो ?

तरुण—हाँ, आया तो हूँ बदला लेने ही।

बाबू—तो ? क्या करोगे ?

तरुण—आप खातिर रखिये, मैं आपको मारूँगा नहीं; केवल आपसे दो बातें कहकर चला जाऊँगा।

बाबू—(नरम होकर) अच्छा तो कहो।

तरुण—जिन लोगोंके कहनेसे आपने स्वार्थवश उस समय मुझको जेल भिजवाया था तथा जिनके साथ मिलकर आपने पीछे बहुत बड़ा अवैध कारोबार किया था, उनसे साझेदारीको लेकर आपसे झगड़ा हो गया था—यह तो आप जानते ही हैं। अब मुझे उनके एक भयानक षड्यन्त्रका पता लगा है और मैंने अच्छी तरहसे सारी जाँच-पड़ताल कर ली है, तब आपको सावधान करने आया हूँ। बात यह है कि उन लोगोंने उस कामपर तथा उसमें लगी सारी पूँजीपर अपना पूरा अधिकार कर लेनेकी इच्छासे आपको संसारसे उठा देनेकी पूरी व्यवस्था कर ली है। इसके प्रमाणमें अमुकके हाथका अमुकके नाम लिखा हुआ यह पत्र है। आप हस्ताक्षर पहचानते ही हैं। (इतना कहकर उसने पत्र पढ़वाया

और फिर कहा—) कल रातको आपको जो दावत देनेकी व्यवस्था की गयी है, वह उन्होंने ही उस अमुक व्यक्तिको लालच देकर करवायी है, जिसको आप अपना मित्र माने हुए हैं। दावतके बाद ही आपको समाप्त कर देनेकी योजना है। आपने मेरे साथ बुरा व्यवहार किया था; परंतु मेरा यह सिद्धान्त है—मुझे गुरुजीने यह कहा था कि तुम्हारा बुरा तुम्हारे प्रारब्धके बिना कोई कर नहीं सकता! करना चाहता है तो वह अपना ही बुरा करता है—इसलिये वह दयाका पात्र है, क्रोधका नहीं। अतएव मुझे जब पता लगा और पक्का प्रमाण मिल गया, तब मैं आपको सूचना देने आ गया। आप बचनेकी व्यवस्था कर लें। अच्छा! अब मैं जाता हूँ। आपके शत्रुओंको कहीं यह पता लग गया कि मैंने आपको इसकी सूचना दी है, तो वे मुझे मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। मैं अपनी जानपर खेलकर इसीलिये आपके पास आया हूँ कि यही मेरा पुनीत कर्तव्य है।' (यों कहकर वह चल दिया।)

बाबूजी आँख फाड़े देखते रह गये। सोचने लगे, 'कहाँ मैं नीच स्वार्थवश झूठे मुकदमेमें फँसाकर निर्दोष नवयुवकको जेल भिजवानेवाला और कहाँ यह महान् उच्च हृदयका नवयुवक, जो मुझ नीच नराधमको मृत्युसे बचानेके लिये जानपर खेलकर मुझे सावधान करने आया है! मैंने इसको माँगनेवाला समझकर इसका तिरस्कार किया था, पर यह तो मुझे प्राणदान करने आया है।'

बाबूके हृदयमें पश्चात्ताप, दैन्य, कृतज्ञता, सत्पुरुष-महिमा और ईश्वर-कृपा आदि अनेकों भावोंकी विविध तरङ्गें उठने लगीं। षड्यन्त्रकी बात सच्ची थी ही। सारी व्यवस्था हो गयी, षड्यन्त्रकारी पकड़े गये और उन्हें यथायोग्य दण्ड भोगना पड़ा।

—सोहनलाल गुप्त

(३)

'राखे राम तो मारे कौन?'

"यह घटना अनुमानतः पंद्रह-सोलह वर्ष पूर्वकी है। जिस स्थानकी यह घटना है, भारतवर्षका वह हिस्सा अब पूर्वी पाकिस्तानमें है। बरीसाल जिलान्तर्गत 'भोला' नामक द्वीपमें हमलोग व्यापारके निमित्त सपरिवार रहा करते थे।

"एक दिन रात्रिमें हमलोग अपनी दूकानमें बैठे हुए थे। रात्रिके नौ बजे होंगे, बरसातके दिन थे। जोरोंसे वर्षा हो रही थी, कुछ-कुछ तूफान भी आ रहा था। हमारे यहाँ सुपारीका व्यापार होता था। मजदूर लोग रातको ग्यारह-बारह बजेतक उस काममें लगे रहा करते थे।

"उस रात्रिकी घटनाके वर्णन करनेके पूर्व यह बतला देना अत्यन्त आवश्यक है कि मैंने अपने बाल-बच्चोंको कुछ दिन पूर्व ही कलकत्ते भेज दिया था। हमारी दूकानके पीछे ही गोदाम बने थे, वहींपर मजदूर काम किया करते थे। 'भोला'में सभी मकान टीनोंके ही बना करते थे—दीवार भी टीनोंकी एवं छप्पर भी टीनोंके ही।

"पानी तो अकसर बरसा ही करता है। इसमें कोई खास बात नहीं थी। थोड़ी ही देर बाद मजदूरोंका सरदार आया और कहने लगा कि गोदामोंमें नीचेकी ओरसे पानी आना शुरू हो गया है। इसपर हमलोग सोच ही रहे थे कि क्या करें। इसी बीचमें बड़े जोरोंकी साँय-साँय आवाज आने लगी; सरदारने कहा—'तूफान बड़े जोरोंसे आ रहा है' एवं साथ ही देखा गया तो जिस दूकानमें हमलोग बैठे थे, उसमें भी नीचेसे पानी आना प्रारम्भ हो गया। पानीका वेग क्रमशः बढ़ रहा था, कुछ भी उपाय नहीं समझमें आ रहा था। बुद्धि भी काम नहीं दे रही थी। जैसे-जैसे पानी बढ़ने लगा, अगल-बगलके सैकड़ों लोग भी हमारी दूकानमें आने लगे;

क्योंकि उन सबके मकानोंसे हमारा मकान काफी मजबूत था। देखते-ही-देखते पानी घुटनोंतक आ गया।

"अब तो सब लोगोंने प्रायः प्राणोंकी आशा छोड़ दी और बचावका उपाय सोचने लगे। तूफान इतना भयंकर था कि आसपासके मकानोंकी टीनें उड़-उड़कर गिरने लगीं, नारियल और सुपारीके बड़े-बड़े पेड़ भी टूट-टूटकर गिरने लगे। प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया। उधर बाढ़का पानी कमरसे थोड़ा ही नीचे रह गया। यह सब इतनी शीघ्रतासे हुआ कि कठिनतासे बीस मिनट समय लगा होगा। किसी-किसीने दूकानपर बनी हुई लटानपर चढ़ जानेकी सलाह दी। लेकिन तूफान और बाढ़के जलका इतना वेग था कि किसी भी समय दूकान-गृह टूट सकता था।

"सब लोग सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारने लगे। अब तो जीवनका अन्तिम क्षण उपस्थित था। मेरे मनमें अब भी माया छा रही थी। मैंने सारे बहीखाते तिजोरीमें बंद कर दिये और उपस्थित लोगोंसे कहा कि—आपलोगोंमेंसे यदि कोई जीवित रहे तो हमारी खोजमें हमारे घरसे जो लोग आयें, उन्हें कह देना कि बहीखाता सब इस तिजोरीमें ही है।'

"इसके बाद फिर सब लोग भगवान्‌का नाम-कीर्तन करने लगे। इतनी देरमें जैसे मुझे कुछ संकेत मिला। थोड़ी ही दूरपर हमारे एक परिचित एवं मित्र उत्पलबाबू वकील रहा करते थे। उनका मकान ईंट-चूनेसे दुमंजिला बना था और काफी मजबूत था। हमने सोचा उत्पलबाबूसे हमारा इतना मेल है, क्या इस संकटके समय वे हमको शरण नहीं देंगे? कुछ संकोचके साथ ही हमने उनके दो-मंजिले मकानपर जानेकी ठान ली और उपस्थित सब लोगोंसे भी हमने चलनेके लिये कहा। हम सब लोग साथ-साथ चले।'

"कमरतक पानीमें, नंगे पैर, जमीनपर लोहे-लक्कड़, टीनोंका ढेर पार करते हुए, सिरपर बारिश और तूफानका वेग सहते हुए करीब चार फर्लांगकी दूरीपर हमलोग उत्पलबाबूके मकानपर किस तरह सकुशल पहुँच गये, यह भगवान् ही जानें। उस बातका जब स्मरण होता है, तब अब भी बदनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

"उत्पलबाबूने हमलोगोंका स्वागत किया। हम तो संकोचके साथ ही उनसे प्रार्थना करनेवाले थे कि 'आप इस संकटमें हमको आश्रय दीजिये।' परंतु इसका उन्होंने मौका ही नहीं दिया। हमारे पहुँचते ही उन्होंने एक नयी धोती और नयी बनियान लाकर मुझको दी और कहा—आप कपड़े बदल डालिये। मैंने उनसे बहुत ही विनय की कि 'आप इतना कष्ट न कीजिये, आपकी इतनी दया ही यथेष्ट है।' किंतु वे कब माननेवाले थे। आखिरकार कपड़े बदल मैं एक कुरसीपर बैठ गया एवं इष्टदेवका स्मरण करने लगा। नाना प्रकारके विचार मेरे मानस-पटपर सिनेमाके चित्रोंकी तरह आ-जा रहे थे। मैं सोच रहा था, 'कल मैं क्या था और आनेवाले सुबह मैं क्या हो जाऊँगा? पानी उतर भी गया तो मैं बिना पैसे-कौड़ी कैसे कलकत्ते पहुँच पाऊँगा? क्या जहाजवाले मुझे बिना टिकटके ले जायँगे, हालाँ कि इस जहाजकम्पनीने आजतक मेरा माल ले जाकर काफी रकम उपार्जित की है। कल मैं खाऊँगा भी क्या? क्योंकि सभी चीजें पानीमें बह गयी होंगीं····इत्यादि-इत्यादि' तरह-तरहके विचारोंका द्वन्द्व चल रहा था।

"अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ भगवान्‌की महत्ताको क्या जाने। जानता होता तो अपने लिये या अपने निर्वाहके लिये इतना चिन्तन न करके उन मङ्गलमय प्रभुका ही चिन्तन करता, जो सब कष्टोंको मिटानेके लिये सदा कटिबद्ध रहते हैं।

"धीरे-धीरे पौ फटने लगी। वर्षा भी रुक गयी, तूफान भी शान्त हो गया एवं प्रकाश भी होने लगा।

छतपर जाकर देखा तो बड़ा प्रलयकारी दृश्य देखा जा रहा था ।

“बाढ़का पानी उतर चुका था। चारों ओर हृदय-विदारक दृश्य था । टूटे घर, दरवाजे, बिखरे टीनोंके छप्पर, धराशायी वृक्षोंके ढेर आदि चारों तरफ नजर आ रहे थे । यह पहचानना कठिन था कि कौन-सा घर किसका है; क्योंकि छतोंपर छप्पर शायद ही किसी मकानपर बचा था ।

“अब विचार हुआ कि किसी मनुष्यको भेजकर पता लगायें कि हमारे घरका क्या हाल है । वहाँ एक गाय भी अपने बछड़ेके साथ बँधी थी, और भी दो-तीन आदमी वहाँ रह गये थे । एक आदमीको भेजा गया । करीब दो घंटे बीत गये, वह वापस नहीं लौटा, जब कि दूरीके हिसाबसे पंद्रह मिनटमें ही उसे लौट आना चाहिये था। फिर दूसरा आदमी भेजा गया, वह भी नहीं लौटा । कारण कुछ समझमें नहीं आ रहा था । निश्चय करनेके लिये हमलोग सब-के-सब दूकानकी ओर चले । जिस रास्तेको तय करनेमें दस मिनटसे ज्यादा समय नहीं लगना चाहिये था, वह रास्ता डेढ़ घंटेमें तय कर पाये; क्योंकि रास्ता कहीं था ही नहीं । सब जगह घर-दरवाजोंके टूटे-फूटे हिस्से, पेड़, कूड़ा-करकट आदि पड़े थे । जमीन कहीं दिखायी ही नहीं दे रही थी ।

“यही कारण था कि पहले जिन दो व्यक्तियोंको भेजा गया था, वे किसी तरह गन्तव्य स्थानतक पहुँच तो गये, परंतु वापस आना उनके वशकी बात नहीं थी ।

“जाकर देखा तो हमारे घर-दरवाजे तो सही-सलामत थे, परंतु एक बछिया मर गयी थी और बाढ़के पानीसे सारा माल भीग गया था । सामान सब मौजूद था, किंतु सब भीगा हुआ ।

“अब चिन्ता हुई कि पेटकी ज्वालाको कैसे शान्त किया जाय; क्योंकि पानीसे सब कुछ बह गया था । पीनेका शुद्ध जल भी मिलना कठिन था । तालाब सब बाढ़के पानीसे भर गये थे एवं वहाँ तालाबका पानी ही पीनेके काममें आता था । परंतु भव-भयहारी परमात्माने सब व्यवस्था कर रखी थी । एक मिट्टीके मटकेमें करीब एक मन चावल था, जो पानीपर तैरता रह गया, एवं कमरेके दरवाजे बंद होनेके कारण बाहर बहकर नहीं निकल पाया । सब लोगोंने उसीमेंसे चावल बनाकर भोजन किया । एवं शहरके सरकारी तालाबके किनारे काफी ऊँचे थे, इस कारण उसमें बाढ़का पानी नहीं जा सका था । अतः उसका पानी पीनेको मिल गया ।

“धीरे-धीरे स्थिति सुधरने लगी । सरकारी सहायता भी पहुँचने लगी, अन्य संस्थाएँ भी आयीं । खबर पाकर कलकत्तेसे हमारे घरसे भी लोग आये । इतना बड़ा प्रलय हुआ; किंतु जैसे कोई आँच ही आयी हो, ऐसा लग रहा था । इतनी बड़ी घटनाको देखते हुए हानि कुछ भी नहीं थी । एक बछियाकी दुःखद घटनाके अतिरिक्त गृहहानि, मनुष्यहानि, अर्थहानि कुछ भी नहीं हुई । अर्थहानि इसलिये नहीं समझी गयी कि उक्त घटनाके कुछ दिनों बाद ही जो वस्तुएँ बाढ़के जलसे भीग गयी थी, उनका मूल्य बढ़ता गया एवं सब माल ऊँचे दामोंमें बिक गया । यह सभी भगवान्का विधान था । सबसे बड़ी कृपा तो यही थी कि हमने बाल-बच्चोंको कुछ दिन पहले ही कलकत्ते भेज दिया था । वे होते तो सम्भवतः काफी कष्टका सामना करना पड़ जाता एवं सबके प्राणोंकी रक्षा होना भी सम्भव न होता ।

“हमलोग उस भीषण रात्रिमें कैसे उत्पलबाबूके यहाँ पहुँच गये एवं कैसे वे चावल बाढ़से अछूते बच गये ? कैसे सरकारी तालाबका पानी शुद्ध बचा रह गया ! इन बातोंका अब भी जब स्मरण होता है, तब विश्वके रक्षक, दीनदयालु परमात्माकी दयाका कोई पार नहीं मिलता ।”

—रामजीवन चौधरी

(४)

प्रार्थनाका सुफल

"लगभग साढ़े नौ वर्ष पहलेकी बात है। मेरे पतिकी मृत्युके बाद मैं सर्वथा अकिंचन हो गयी थी। उस समय मेरी उम्र ५१ वर्षकी थी और मैंने कभी अपनी जीविकाके लिये कुछ कमाया न था। मुझे बड़ा भय हो गया। मेरा हृदय भयसे भर गया। मुझे नींद हराम हो गयी। मैं रातों जाग-जागकर सोचा करती 'मुझे क्या करना चाहिये ?' अनिद्राके कारण मेरी स्थिति और भी बिगड़ने लगी।

"मैंने अनुभव किया कि सबसे पहले मुझे इस भयसे छुटकारा पाना चाहिये। मैं प्रतिदिन प्रातःकाल भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी कि वे मेरे भयको मिटा दें। तीन सप्ताहके पश्चात् मेरे हृदयमें पूर्ण शान्ति और स्थिरता आ गयी। मेरा सारा भय जाता रहा।

अब मैंने ईश्वरसे यह प्रार्थना की कि वे मुझे काम पानेके लिये ठीक स्थानपर पहुँचा दें। एक दिन बड़ी वर्षा और आँधी आ रही थी, उस दिन मुझे किसीसे भी मिलने नहीं जाना चाहिये था। पर मेरे अंदर प्रेरणा हुई कि मैं आज ही जाकर अमुक सज्जनसे मिलूँ। मुझे पता ही न था कि कामके लिये कहीं कैसे दरख्वास्त देनी चाहिये और पहलेसे मिलनेका समय निश्चित करा लेना चाहिये। मैं जब उन सज्जनके कार्यालयमें पहुँची, तब उनके सेक्रेटरीने मुझे बताया कि वे बिना पहलेसे समय निश्चित किये कभी किसीसे नहीं मिलते। जो कुछ भी हो, मैंने सेक्रेटरी महोदयके द्वारा अंदर कार्ड भिजवाया। मुझे तुरंत बुला लिया गया और वे मेरे साथ अच्छी तरहसे मिले। पहली बात उन्होंने यह कही कि तुम्हारा बड़ा भाग्य है, जो तुमने इस पानी बरसते दिनको मिलनेके लिये चुना (यद्यपि मैंने नहीं चुना था, यह तो ईश्वरने ही चुना था); क्योंकि आज ही मैं बाहर जानेवाला था, पर बरसातके कारण रुक गया। उन्होंने फिर कहा कि 'तुम बहुत ठीक समयपर पहुँची; क्योंकि मैं अभी अपनी संस्थाके लिये कुछ नये लोगोंकी नियुक्ति करनेवाला था।' उन्होंने मुझे उसी समय काम दे दिया और तबसे मैं वहीं काम कर रही हूँ। मुझे आशा है कि मेरे इस लेखसे उन लोगोंको सहायता मिलेगी, जो मेरी ही भाँति पचास वर्षके ऊपरके हैं और वैसे ही डरे हुए हैं।

—ई० एस्० पी० (एक अमेरिकन महिला)

(५)

गरीबोंके सहायक

कुछ वर्षों पहले वढवाण शहर और उसके आस-पासके भागोंमें महामारी फैल गयी थी। बालक-वृद्ध, छोटे-बड़े, गरीब-धनी—सभी इस रोगके शिकार हो गये थे। रोज दर्जनों आदमी ईश्वरके दरबारमें पहुँचते थे। गरीबोंकी स्थिति तो अत्यन्त करुणाजनक थी। जहाँ पेट भरनेका साधन न हो, बच्चे दूधके अभावसे तिलमलाते हों, वहाँ दवाकी तो बात ही कैसे सोची जाय ?

इसी समय उसी गाँवके एक दयालु पुरुषने गरीबोंके लिये अपने भंडार खोल दिये। वह अनाज, कपड़ा, दवा रोगियोंके घर-घर पहुँचाने लगा। सूनी-अँधेरी रात हो, साँय-साँयकी आवाज करती ठंडी हवा चलती हो, कड़कड़ाता जाड़ा हो, यह दयालु पुरुष रातों घर-घर फिरता और यथासाध्य सबकी जरूरतें पूरी करता। रातको सोये लोगोंको किवाड़ खड़काकर जगाता। बाहरसे आवाज देता—'भाई! तुम्हें किसी चीजकी जरूरत है क्या ? मैं तो तुम्हारे कुटुम्बका ही आदमी हूँ, मुझे दूसरा मत समझना। बताओ, क्या करूँ ?' यों कहता हुआ उनको आवश्यक वस्तु देकर तुरंत ही दूसरे घरकी ओर जाता और ऐसे ही

मीठे आत्मीयताभरे शब्दोंसे बातचीत करके आवश्यक वस्तुएँ देता । उसके मनमें उस समय गाँवभरको बचा लेनेकी ही एकमात्र कामना थी ।

एक दिन एक बुढ़ियाका भरपूर जवान पुत्र महामारीका शिकार होकर चल बसा । वृद्धाका एकमात्र सहारा टूट गया । सबको अपनी-अपनी पड़ी थी । बेचारी बुढ़ियाको आश्वासनके दो मीठे वचन कौन सुनाता । कौन उसका सहारा बनता । इस दयालु सज्जनको पता लगते ही तुरंत यह बुढ़ियाके पास पहुँचा और उसे आश्वासन देते हुए बोला—'तुम्हारा वह पुत्र चला गया तो क्या, मैं तो अभी जीवित हूँ । आजसे तुम मुझीको अपना पुत्र मानना ।' यों कहकर यह दयालु सज्जन उस बुढ़ियाको आदरपूर्वक अपने घर ले गया—एक पुत्र अपनी माताको जिस आदर और प्रेमसे ले जाता है, उसी आदर और प्रेमसे ।

भगवान्की कृपासे महामारीका प्रकोप धीरे-धीरे कम होने लगा तथा अन्तमें शीघ्र ही सर्वथा शान्त हो गया । आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उस समय वहाँ ऐसा एक भी घर नहीं बचा था, जहाँ किसी रोगीकी चारपाई न हो । परंतु इस दयालु सज्जनके घरमें कोई भी इस रोगका शिकार नहीं हुआ । यह सज्जन स्वयं तो रात-दिन रोगियोंकी जमातमें ही बैठा रहता—उनकी दवा-दारू करता, उन्हें जरूरी चीजें देता, आश्वासन देता; इतनेपर भी रोगके अंशमात्रने भी इसका स्पर्श नहीं किया, मानो रोगियोंकी सेवा करनेके लिये ही ईश्वरने इसको रोगसे सर्वथा मुक्त रखा था । —रमणीक गोसलिया

मानवता

(१)

जिसका व्यवहार सदा ही गंदा समझा जाता है, उस पुलिसविभागमें जब कोई दयालु और सज्जन पुरुष दिखायी देते हैं, तब लोगोंको आश्चर्य होता है । एक ऐसा ही प्रसङ्ग सौराष्ट्रके केशोद ग्राममें देखा गया ।

केशोदमें एक भाई तमंचा साफ करके उसे भर रहे थे । भरनेके बाद वे उचित स्थानपर उसे रख रहे थे कि तमंचा अचानक छूट गया और उससे उनकी छातीकी दाहिनी ओर गहरी चोट लगी । नवयुवक चेतनाहीन होकर जमीनपर गिर पड़े ।

इस दुर्घटनाका समाचार मिलते ही पुलिसजमादार श्रीगेरैया तुरंत वहाँ पहुँचे । जाकर देखते ही उनको लगा कि यदि इस नवजवानको तुरंत ही जूनागढ़ अस्पतालमें ले जाकर इसका इलाज कराया जाय तो यह बच सकता है । परंतु उस गाँवमें उसका न तो कोई कुटुम्बी था न सगा-सम्बन्धी । जूनागढ़ ले जानेका सवारी-खर्च कौन दे, यह प्रश्न सामने आया । गाँवमें कोई भी इसके लिये तैयार नहीं हुआ । इस प्रकारके दृश्यको देखकर भी मानव-हृदय द्रवित नहीं हुए ! समय बीत रहा था और नवयुवककी स्थिति बिगड़ती जा रही थी । इससे अन्तमें पुलिस-जमादार श्रीगेरैयाने जूनागढ़तकका मोटर-किराया ३०) रुपये अपने पाससे देकर उस जवानको तुरंत जूनागढ़ पहुँचाया और यों बुझते हुए एक जीवन-दीपको इस दयालु पुलिसमैनने बचा लिया !

केवल ८०) वेतन पानेके कारण आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेपर भी तथा बड़े कुटुम्बके निर्वाहका भार अपने ऊपर होते हुए भी, एक मानव-प्राणके सामने इस रकमको नगण्य समझकर श्रीगेरैयाने अपनी हैसियतसे कहीं अधिक पैर बढ़ाया । धन्य !

मानवता

(२)

मेरे पड़ोसीका लड़का अचानक बीमार पड़ गया । आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेके कारण इलाजकी व्यवस्था ठीक न हो सकी और इससे उसकी बीमारी

बढ़ती ही गयी। पता लगानेपर मैं एक अच्छे डाक्टरको लेकर उसके घर गया। डाक्टरने देख-भालकर एक इंजेक्शन लिख दिया और कहा कि यह 'इंजेक्शन तुरंत दे दिया जाय तो रोगीका बच जाना सम्भव है।' जहाँ घरमें खानेका ही टोटा हो, वहाँ इंजेक्शनके लिये पैसे कहाँसे आयें। मैंने तुरंत डाक्टरके हाथसे कागज ले लिया और एक किरायेका रिक्शा लेकर इंजेक्शन लानेके लिये मैं मेडिकल स्टोर्सकी ओर चल दिया। आधे रास्ते पहुँचनेपर याद आया कि घरसे पैसे तो लाया ही नहीं। पर मनमें यह आशा हुई कि किसी अच्छे दूकानदारके पास जाकर सारी परिस्थिति समझा दूँगा तो वह इंजेक्शन दे देगा और मैं उसे पीछे दाम दे आऊँगा। मैं एक अच्छे मेडिकल स्टोरमें पहुँचा। वे भाई खद्दरधारी थे और समझदार भी थे, ऐसा उनकी बोल-चालसे लगा। मैंने इंजेक्शन लेकर उनको सारी परिस्थिति समझा दी। कुछ ही देरमें दूकानदार महोदयके चेहरेका भाव बदल गया और उन्होंने उधार न देनेकी बात कहते हुए 'terms cash' साइनबोर्डकी ओर मेरी दृष्टि खींची। मैंने अपना परिचय देकर पता बताया; पर पैसेके पुजारी वे मेरी बात क्यों सुनने लगे। दिये हुए इंजेक्शनको मेरे हाथसे वापस लेते हुए उन्होंने कहा—'पैसा हो, तब ले जाइयेगा।' उन्हें यों कहते जरा भी संकोच नहीं हुआ!

मैं दूकानपर पहुँचा था, तब इन दूकानदार भा कितनी सुन्दर प्रेमपूर्ण मानवताकी मुहर मुझ लगायी थी। उसके साथ इस समयके इस कोरे व्यापा की तुलना नहीं हो सकती। पहली मुहर धोखे चीज निकली और मैं इंजेक्शन लिये बिना ही दूकान बाहर निकला।

रिक्शेवालेने मेरे हाथमें इंजेक्शन न देखकर सह ही पूछा—'भाई! इंजेक्शन ले आये?' मैंने स हकीकत उसे सुना दी। और मेरे आश्चर्यके बी किरायेपर रिक्शा चलानेवाले तथा मुश्किलसे दो रु रोज कमानेवाले उस रिक्शाचालक भाईने मेरे हाथ दस रुपयेका नोट निकालकर रख दिया और कहा—जाइये, इंजेक्शन ले आइये।' मैं नोट लेते झिझका औ मैंने बहुत-सी दलीलें कीं; पर उसने इतना ही कहा—'दुःखके समय मनुष्य मनुष्यके काम न आये तो क मनुष्य कैसा?' मैं इंजेक्शन ले आया और इस प्रका एक रिक्शेवालेकी मानवताने एक मरते मनुष्यको बचा लिया।

मजदूरी करके पेट पालनेवाला रिक्शाचालक जन्मसे ही भला था, इसलिये वह आजतक वैसा ही भला बना रहा। इधर, नाटक करता हुआ वह व्यापा समयपर मानवताकी नकाब फेंककर अपने मूलस्वरूप आ गया।*—महेश आचार्य

दर्शनकी प्यास

अखियाँ तव दरसन की प्यासी।
जिमि चकोर मन चंद लखे बिन घेरे रहत उदासी॥
दरसन देहु बिदेह लली पिय! जानि आपनी दासी।
'मोहनिदास' बेगि अब काढहु बिरह बिथा की गाँसी॥

---

* यह 'स्तम्भ' गताङ्कसे ही आरम्भ किया गया है। कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी और उ की जाती है कि वे ऐसी छोटी-छोटी सच्ची उपदेशप्रद घटनाएँ लिख भेजें। इस बार पिछली दो घटनाएँ 'अखण्ड आनन्द' साभार ली गयी हैं।—सम्पादक

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[भाग ३१, पृष्ठ १२७९ से आगे]

(५)

अमृतके बिन्दु

जब भी हम प्रार्थना करते हैं, तभी हर बार हमें अमृतकी एक बूँद प्राप्त होती है, जो हमारी आत्माको तृप्त करती है। प्रार्थना हमारी आत्माकी खूराक है। जहाँपर भी दो व्यक्ति साथ बैठकर ईश्वर-प्रार्थना करते हैं, उतनी देरके लिये वह स्थान मन्दिर या तीर्थ बन जाता है। प्रार्थनाके समय या तो हमारी आत्मा भगवान्‌के पास पहुँच जाती है या भगवान् हमारे पास आ जाते हैं; जैसे भी हो, हम उस समय भगवान्‌के साथ आमने-सामने खड़े होकर बातें करते हैं। भगवान् हमारी प्रार्थना सुनते हैं और हमें उत्तर देते हैं।

किसी भी क्षणकी प्रार्थनामें प्राप्त हुई अमृतकी बूँद हमारी आत्मामें पड़ी रहती है और सदैवके लिये हमारे जीवनको प्रभावित करती रहती है। इसके विषयमें भी कह सकते हैं कि इस धर्मका थोड़ा-सा भी पालन महान् भयसे उबार लेता है। इसकी तुलना बरगदके बीजसे की गयी है, जो देखनेमें जितना छोटा होता है उसका वृक्ष उतना ही बड़ा होता है, जिसपर आसमानके पंछी बसेरा लेते हैं। इसकी तुलना दहीके जामनसे की जाती है, जो स्वयं जरा-सा होता है परंतु सारे दूधको जमाकर दहीमें परिणत कर देता है। ईश्वर-प्रार्थनामें बिताया हुआ एक क्षण भी सर्वनाशसे हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकता है; क्योंकि यह एक ऐसा बीज होता है, जो बड़ा होकर कल्पवृक्ष बन जाता है। इस अमृतकी बूँदमें समुद्र छिपा रहता है, जो समय आनेपर प्रकट हो जाता है।

जिसके लिये भी हम ईश्वरसे प्रार्थना करेंगे, उसे उसी समय ईश्वरकी कृपारूपी अमृत-बिन्दु प्राप्त होगा और यह अमृत उसे सजीव रूपमें एक ठोस पदार्थकी तरह अनुभव होगा। हमारे कष्टोंको नष्ट करनेके लिये प्रार्थना एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है, जिसका वार कभी खाली नहीं जाता। प्रार्थना एक ऐसा कवच या दुर्ग है, जो प्रत्येक भयसे हमारी रक्षा करता है। प्रार्थना ही वह दिव्य रथ है, जो हमें सत्य, ज्योति और अमृतकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होता है।

ईश्वरको अभी और इसी समय प्राप्त करनेका बिलकुल सरल और अमोघ उपाय ईश्वर-प्रार्थना है। अभी आप प्रार्थना कीजिये और अभी प्रभुसे आपका मिलन होगा और वे आपको अपने साम्राज्यका युवराज बना देंगे, अपने भंडारकी कुंजी आपको दे देंगे, उनकी समस्त प्रभुता और पूर्णता आपकी हो जायगी। चरम सुख और परम आनन्दकी बेला आ गयी है। भगवान् आपके सामने खड़े हैं और आप उनकी ओर देख नहीं रहे हैं; वे आपको जगाने आये हैं और आप सोये पड़े हैं। प्रार्थनारूपी जलके छींटे देकर अपनी आत्माको जगायें और जो पाने योग्य है, उसे प्राप्त करें।

(६)

महान् संकल्प

प्रार्थना एक महान् इच्छा, आशा और विश्वास है। जैसी हमारी इच्छा होगी, वैसी ही हमारी आशा होगी और वैसा ही विश्वास होगा। यदि हमारी इच्छा कुछ है और विश्वास कुछ और तो वह इच्छा वास्तविक नहीं है। हार्दिक इच्छाका जन्म एक सजीव विश्वासके रूपमें होता है। स्थूल पदार्थ या कार्यके रूपमें परिणत होनेवाला सजीव विश्वास एक प्रार्थना है।

हमारा जीवन हमारे विश्वासोंका बना हुआ है। यह समस्त संसार हमारे मनका ही खेल है। जगत् वास्तवमें मनोमय है। 'जैसा जिसका मन, वैसा उसका जीवन; जैसे जिसके विचार, वैसा उसका संसार।' हमारा प्रत्येक विश्वास, प्रत्येक आशा और प्रत्येक इच्छा, हमारा प्रत्येक भाव और विचार हमारे समस्त जीवनपर स्थायी प्रभाव डालता है। यही कारण है कि हमें अपने विचारोंके प्रति सजग रहना चाहिये। एक विषका घूँट हमारी उतनी हानि नहीं करेगा, जितनी हानि एक अशुभ विचार कर सकता है। प्रत्येक शुभ विचार हमारे लिये अमृतका एक बिन्दु बन जाता है।

हमारे विचार ही हमारी वाणीके रूपमें प्रकट होते हैं और हमारे विचार हमारे ही कार्य बन जाते हैं। हमारे विचार हमारे आस-पास आनेवाले हर व्यक्तिको स्पर्श करते और उसको प्रभावित करते हैं; वे दूर-दूरतक जाते हैं और संसारका कोई भी कोना उनके असरसे अछूता नहीं रह जाता। इस विश्वको बनाने या बिगाड़नेमें हर मनुष्यका और उसके हर विचारका हाथ है। हमारा हर विचार एक

विष या अमृतकी बूँद है, जो इस विश्वरूपी समुद्रको जहरीला या जीवनदायक बनाती है ।

यदि हम इस विश्वको या अपने जीवनको अच्छा या सुखमय बनाना चाहते हैं तो हमें सदैव शुभ इच्छाएँ करनी चाहिये और अपनी शुभ इच्छाओंको आशाओं और विश्वासोंमें परिणत करना चाहिये । व्यक्तिगत एवं सामूहिक सुख-शान्तिके लिये हमें सदैव आशावादी दृष्टिकोण रखना चाहिये और अपनी मङ्गलमयी इच्छाओंको अपने मनमें स्थिर रखना चाहिये । सजीव विश्वास बनकर वे वास्तविकतामें परिणत हो जायँगी । प्रत्येक शुभ इच्छा पूर्ण होती है, यदि उसे बीचमें ही छोड़ न दिया जाय । जो मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है और जिसका समस्त जीवन उस इच्छाके अनुकूल होता है, वह अपने अभीष्ट अर्थको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है, बशर्ते कि वह बीचसे विरत न हो जाय । इच्छाको जाग्रत्, आशाको चैतन्य और विश्वासको अचल रखनेसे समयपर सफलता अवश्य प्राप्त होती है; दैव भी उस सफलतामें बाधक नहीं बन सकता ।

हमें अपना दृष्टिकोण व्यापक रखना चाहिये और लक्ष्य ऊँचा बनाना चाहिये । ऐसा काम करना चाहिये, जिससे बहुत लोगोंका भला हो । हमारी कामना जितनी ही महान् होगी, उतने ही अधिक लोग हमारे सहयोगी बन जायँगे; पशु-पक्षी भी हमारी सहायता करेंगे और समस्त प्रकृति हमें सफल बनानेके लिये प्रयत्नशील हो जायगी । ऐसे अज्ञात स्रोतोंसे हमें सहायता मिलेगी, जिनकी हमने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की थी । प्रत्येक शुभ विचार एक ईश्वरीय संदेश है, जो सफल होनेके लिये ही इस जगत्में भेजा जाता है । प्रत्येक महान् इच्छा एक ईश्वरीय प्रेरणा है, जिसका हमें स्वागत करना चाहिये और ईश्वरीय महिमाके इस पृथ्वीपर अवतरणमें सहायक बनना चाहिये । प्रत्येक लोक-कल्याणकारी विचारके रूपमें ईश्वरीय शक्ति प्रकट होती है । उस शुभ विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये यदि प्रभु आपको माध्यम बनाना चाहते हैं तो आप हिचक छोड़िये और आगे बढ़कर प्रभुकी इस कृपाको शिरोधार्य कीजिये ।

हमें केवल भगवान्का ही सेवक बनना चाहिये और केवल उन्हींका काम करना चाहिये । इस विश्वका प्रत्येक काम हमारी भावना और कार्यशैलीके अनुसार या तो भगवान्का काम बन जाता है या शैतानका । हम एक ही समयमें भगवान् और शैतान दोनोंके सेवक नहीं बन सकते । हम या तो भगवान्की ही सेवा कर सकते हैं या शैतानकी ही । अपने प्रत्येक कार्य, शब्द और विचारमें हमें भगवान्का ही सेवक बनना चाहिये । यह हम अपने मनमें शुभ इच्छाएँ रखकर ही कर सकते हैं । अपने लिये भी और दूसरोंके लिये भी हमें हर समय शुभ इच्छाएँ रखनी चाहिये और प्रभुसे यही प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारी इच्छाएँ हर समय शुभ हों । हे प्रभो ! शुभ इच्छाके रूपमें आप हमें अपनी प्रेरणा प्रदान कीजिये, शुभ आशाके रूपमें आप हमें अपनी स्फूर्ति प्रदान कीजिये, शुभ विश्वासके रूपमें आप हमें अपना आशीर्वाद प्रदान कीजिये । हे प्रभो ! सबकी इच्छाएँ मङ्गलमयी हों; हर व्यक्तिकी प्रत्येक इच्छा सदैव कल्याणकी ओर जानेवाली और ले जानेवाली हो । शुभ विचार ही हमारा नेता है, शुभ संकल्प ही हमें सत्य, प्रकाश और जीवनकी ओर ले जाता है । हे शुभसंकल्प ! हमें मार्ग दिखा और प्रभुकी ओर ले चल ।

(७)

आरोग्य और चिकित्सा

हमारा मन और शरीर इस प्रकार एक-दूसरेके आश्रित हैं कि मानसिक प्रसन्नतासे हमें शारीरिक आरोग्य प्राप्त होता है और यदि हम प्रसन्नताका अभिनय करते हैं तो वह अभिनय हमारी उदासी और निराशाको दूर करके हमें प्रफुल्लित कर देता है, बशर्ते कि हमारे अभिनयमें सचाई हो, हम ईमानदारीसे प्रसन्नताका आह्वान करना चाहते हों । जैसी हम मुख-मुद्रा धारण करते हैं, वैसा ही भाव हमारे मनमें पैदा हो जाता है । ऐसा प्रदर्शन बड़ा कठिन है कि हमारे मनमें भाव तो कुछ और हो और हम उसके विपरीत भाव अपनी मुख-मुद्रासे प्रदर्शित करें । इस प्रकारका धोखा सबको नहीं दिया जा सकता, रोगीको तो बिल्कुल नहीं दिया जा सकता । प्रत्येक रोगीकी भाव-ग्रहणकी शक्ति बढ़ जाती है । उसकी ग्यारहवीं इन्द्रिय अर्थात् मानसिक शक्तियाँ बड़ी तीव्र हो जाती हैं और आपके बिना कहे ही वह अपने रोग-विषयक आपके भावोंको, आपकी आशाओं और निराशाओंको पढ़ लेता है ।

रोगीके आसपास प्रसन्नता या शान्तिका वातावरण रखना बड़ा जरूरी होता है। परिजनों और परिचारकोंकी दुश्चिन्ताएँ और आशङ्काएँ रोगीके लिये घातक सिद्ध होती हैं। इसके विपरीत शुभ कामनाएँ उसके लिये अमृत तुल्य सिद्ध होती हैं। यदि उसका रोग असाध्य है, तो भी जबतक उसका जीवन है कम-से-कम तबतक तो उसे प्रसन्नता, शान्ति और आशाका

वातावरण प्रदान करना चाहिये । ये आशाएँ झूठी नहीं, बल्कि शुभ-कामनारूपी सच्ची आशाएँ होनी चाहिये और प्रसन्नताके वातावरणका यह अर्थ नहीं कि आप रोगीके पास ढोल या शहनाई बजायें । जिनसे उसे प्रसन्नता हो, ऐसे बहुत-से काम किये जा सकते हैं—जैसे उसे कोई उच्च कोटि-की सरस कहानी पढ़कर सुनायी जा सकती है, या कोई मधुर गीत सुनाया जा सकता है, या कोई मनोरञ्जक चुट-कुला सुनाया जा सकता है । इस प्रकार एक ओर जहाँ रोगी-का मनोरञ्जन होगा, वहीं साथ-साथ परिचारकोंके मनसे भी दुश्चिन्त निकल जायगी । निराशाको भुला देना ही उसको नष्ट करना है । रोगी जितनी देरके लिये अपने कष्टको भूल जाता है, उतनी देरके लिये वह अपने कष्टसे मुक्त हो जाता है । यदि वह अधिक समयतक अपने कष्टको भूला रहे तो रोगसे यह मुक्ति अधिक स्थायी हो जाती है ।

परिचारकों और परिजनोंका रोगीके प्रति सबसे बड़ा धर्म यही है कि वे ईश्वरमें और उसके मङ्गलमय विधानमें विश्वास रखें । जो कुछ होना चाहिये, वही होगा । प्रत्येक घटना मङ्गलमयी होती है । चिकित्सा मङ्गलमयी है और रोग भी मङ्गलमय है । सबके प्रति, अपने प्रति और अपने रोगके प्रति मैत्रीभाव रखना रोगके इलाजका अचूक उपाय है । रोगीके मनमें इस सहस्रमुखी विराट् मैत्री-भावनाको उत्पन्न करना उसके परिचारकों और परिजनोंका कर्तव्य है । रोगसे स्वयं रोगीको तथा उसके मित्रोंको भी ऐसे बहुत-से लाभ होते हैं, जिनसे रोग न होनेपर वे लोग वञ्चित रह जाते हैं । प्रत्येक विपत्तिमें उसीके समान शक्तिवाली एक सम्पत्तिका बीज रहता है । प्रत्येक रोगमें आरोग्यका और मृत्युमें जीवनका बीज रहता है । एक दिशामें दुर्बल होनेसे हम किसी-न-किसी अन्य दिशामें पहलेसे अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं । रोग हमारे पापोंको धो डालता है और हमें नया जीवन प्रदान करता है । जिस व्यक्ति या घटनाको हम अपना शत्रु समझते हैं, वह शत्रु सिद्ध होती है; जिसे हम मित्रके रूपमें देखते हैं, वह मित्र बन जाता है । हमारे मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोणसे रोग और कष्ट भी हमारे मित्र यानी आरोग्य और सुख बन जाते हैं ।

रोगीके प्रति हमारी शुभकामनाओंसे चिकित्सा करने-वाली शक्तियाँ उसकी ओर आकर्षित होती हैं । उसके इलाज-के लिये जब रोगीके परिजन और परिचारक रचनात्मक दृष्टि-कोणसे विचार-विमर्श करते हैं, तब पथ्य-परहेज और सेवा-टहलके विषयमें तथा चिकित्साके विषयमें भी कई ऐसी चीजें निकल आती हैं, जो जादूका असर करती हैं । चिकित्सक भी जो जितना अधिक परोपकारी होता है, वह उतना ही सफल सिद्ध होता है । जब वह स्वार्थको अलग करके रोगीकी भलाईके बारेमें सोचता है, तब उसकी बुद्धि अधिक तत्परतासे कार्य करती है और चिकित्साके क्षेत्रमें चमत्कार हो जाते हैं । श्रेष्ठ चिकित्सकोंकी दवा तो असर करती ही है, उनका परोपकारी व्यक्तित्व दवासे भी अधिक प्रभावशाली होता है । इसीलिये उनको पीयूषपाणि कहा जाता है । उनका हाथ लगते ही रोगी ठीक होने लगता है ।

आजकल देखा जाता है कि रोग जब असाध्य हो जाता है, तभी पूजा-पाठ किया अथवा करवाया जाता है । यहाँतक यह धारणा लोगोंके मनमें बैठ गयी है कि छोटी-मोटी बीमारीमें पूजा-पाठके आयोजनको कई लोग अशुभ समझ बैठते हैं । यह एक गलत और भ्रामक तरीका है । छोटी-से-छोटी बीमारीमें भी हमें प्रभुको याद करना चाहिये । यदि वे हमारी छोटी बीमारी नहीं दूर कर सकते तो कोई बड़ी बीमारी दूर करना या मोक्ष प्रदान करना तो और भी कठिन काम है । यह सब हमारे विश्वासपर ही निर्भर करता है । यदि हम छोटी-छोटी चीजोंके लिये उनपर निर्भर नहीं कर सकते तो बड़ी चीजोंके लिये भगवान्‌को पुकारना अपने आपको धोखा देना है । जो सर्वशक्तिमान् हमें स्वर्ग या मोक्ष प्रदान कर सकते हैं, वे हमारे पेटके या सिरके दर्दको भी तुरंत दूर कर सकते हैं । जो आदमी एक मन वजन उठा सकता है, वह एक तोला तो और भी आसानीसे उठा सकता है । जो भगवान् हमें अनन्त जीवन प्रदान कर सकते हैं, वे हमारी कायाको नीरोग तो अवश्य ही कर सकते हैं ।

भगवान्‌पर अपने विश्वासको बढ़ानेका क्रम यही है कि पहले हम अपनी छोटी-से-छोटी बीमारीको दूर करनेके लिये उनसे प्रार्थना करें, और अपने छोटे-से-छोटे लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये उनकी कृपाका वरदान माँगें । जैसे-जैसे हम सफलता प्राप्त करते जायँगे, हमारा विश्वास स्वयमेव बढ़ता जायगा और अन्तमें हमें यह विश्वास हो जायगा कि जो कुछ हमें माँगनेसे प्राप्त हुआ है, वह हमारे न माँगनेपर भी हमें अवश्य प्राप्त होता । जबतक हमें इस प्रकारका विश्वास न हो जाय, तबतक हमारा जीवन प्रार्थनामय होना चाहिये । भगवान् बिना माँगे भी देते हैं, इस प्रकारका स्मरण ही उत्तम प्रार्थना है ।

हमारे वितरण

(लेखक—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

भारतकी अनोखी परम्पराओंकी झाँकी करा देना ही इस लेखका लक्ष्य है। भारतीय मानव-जीवन कितना वैराग्यमय, साधनासम्पन्न और व्यवस्थासे पूर्ण था—इसपर दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्या राजा और क्या साधारण जन, सबका क्रम आत्मविरति रहा है। इसमेंसे प्रत्येक ही दूसरोंकी सेवा किये बिना अपनेको अन्न ग्रहण करनेतकका अधिकारी नहीं मानता था। निर्लेपताका भाव यह था कि माता सबेरे बालकको स्तनपान कराकर खेत, खलिहान, आँगनमें पड़ा छोड़ देती थी प्रकृतिकी गोदमें और आप तन्मय होकर घर या खेतमें काम करने लग जाती थी। धूल, धूप, आतप, वर्षा, खुली हवा और फल, फूल तथा पक्षियोंके बीच पलकर बालक बड़ा होता था और आत्माकी नैसर्गिकता लिये भला-भोला नागरिक बनता था।

कहनेकी बात तो यह थी कि वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज थे और शूद्र नीचे वर्णके; पर लोक-सेवक तो प्रत्येक ही वर्ग था। ब्राह्मणकी अपनी आवश्यकताएँ सबसे कम थीं और वह संतोषी था। विद्या और ज्ञान-दान ही उसका धर्म था। लोकाचरणको यह वर्ग दिशा देता था, मानव-मनकी उलझनोंको सुलझाता था और आनन्द, मङ्गल और ऐक्यकी व्यवस्था करता था। क्षत्रिय था राजपुत्रवर्गमेंसे जहाँ एक ओर उसका काम हुकूमत करना था, वहाँ दूसरी ओर धन-जनकी सुरक्षा उसका धर्म थी। बल-विक्रम, शक्ति-शौर्य, उदारता और मानवोचित व्यवहार तथा शस्त्र-संचालन-नैपुण्य उसके सहज गुण थे। वैश्य खेती करता, पशु-पालन करता और व्यापार-व्यवस्था करता था। उसका धर्म था चारों वर्णोंकी उदरपूर्ति और धर्माचरणसंयुक्त लेन-देन। शूद्र-वर्ग तो था ही सबका सेवक; पर सेवा भी एक धर्माचरण था और उसकी भी अपनी एक गति-विधि थी।

हमारे भीतर अकारण किसीके विनाशकी भावना नहीं थी, उत्पादन और निर्माणके सहज भाव थे। लोकरक्षण और जगकल्याण हमारे सहज गुण थे। जंगल बनते थे, बाग लगाये जाते थे, सड़कोंके किनारे वृक्षारोपण होता था और खेतमें लगे वृक्ष भी काटे नहीं जाते थे। मुख्य-मुख्य वृक्ष जो दीर्घजीवी एवं छाया-प्रदानमें समर्थ होते थे और जिनमें तैलांश अधिक होता था, उनको देवताओंकी श्रेणीमें रखकर जल दिया जाता था। सरिताओंके किनारे घाट और ऊपर पुल बनाये जाते थे, उनको गहरा रखनेकी व्यवस्था चलती रहती थी और तटोंको पुनीत रखनेके विचारसे जगह-जगह आश्रम, क्षेत्र, तीर्थ और उद्यान प्रस्तुत किये जाते थे। जलाशयों और सरोवरोंका निर्माण होता था। पर्वतोंपर अमराइयाँ और जलस्रोत खोजे जाते थे और देवालय बनाये जाते थे, सड़कें बनती थीं। गिरि-आश्रमोंकी स्थापना होती थी। यहींतक नहीं, वातावरण और भावनाके परिष्कारकी क्रियाएँ भी चलती रहती थीं। कहीं सुमधुर गायन हो रहा है, कहीं वेदोच्चार और कहीं भजन-कीर्तन तथा रात्रिजागरण। अनेकानेक हवनोंद्वारा निर्मित सात्त्विक मेघ सुधाधारा बरसाते थे। मधुर भाषण और प्रेमाचरणका बोलबाला था। सत्य और सद्व्यवहार जीवनका क्रम था।

हम मानव एक प्रकारसे जड और चेतनके संरक्षक और परिपालक थे। आखेट और मृगया होते थे शस्त्र चलानेके अभ्यासके लिये, मनोरंजनके लिये और हिंसक जन्तुओंपर मानवकी विजय घोषित करनेके लिये। वैसे राजाओंके

यहाँ बड़े-बड़े लखपेड़े बाग तैयार होते थे; उद्यान, वाटिकाएँ और अमराइयाँ बनती थीं; लाखों-करोड़ों गौएँ दानके लिये रक्षित रहती थीं और गाय, बैल, हाथी, घोड़े, ऊँट, खच्चर, भैंसे, कुत्ते, मेंढ़े इत्यादि पाले जाते थे। चिड़ियाघरमें बनमानुस, ऊदबिलाव, गैंड़े, सर्प, हिरन, बंदर, मछली, तोता, मैना, बटेर, काकातुआ, जलमुर्ग, बाज, बुलबुल, शेर, चीते, भालू, भेड़िये सब रहते थे। कुछ जीव आहाररूपमें, कुछ विनोदकी सामग्रीके रूपमें और कुछ सामान ढोनेमें काम आते थे। बाज और कुत्ते प्राय: आखेटके काममें आते थे। इस रूपसे बहुसंख्यक पशु-पक्षियोंका पालन राजा करता था। प्रजामें भी कबूतर, तीतर, बटेर, लालमुनी, तोता, मैना, चकोर, सारस, मुर्गी, बत्तख, कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, चूहे, मछली, गधा, घोड़ा, बकरी, खच्चर, गाय, बैल, भैंस आदि पाले जाते थे। कहीं चिड़ियोंको और जानवरोंको जल पिलानेकी व्यवस्था थी, कहीं चींटियोंको आटा और चीनी डाली जाती थी और कहीं मछलियोंको रामनामकी गोलियाँ चुगायी जाती थीं। कहीं गायको लोई और गोग्रास खिलाया जाता था, कौओंके लिये कौर डाला जाता था और बची जूठन कुत्तोंको खिलायी जाती थी। इस प्रकारसे अनेकानेक पशु-पक्षियोंका पालन नित्यप्रति सहज ही होता रहता था।

राजाके यहाँ सदाव्रत बँटता था, यज्ञ और भोज होते थे, अभ्यागतों, अतिथियोंकी सेवा होती थी, गरीबोंको धन, अन्न-वस्त्र दिये जाते थे और विशेष अवसरोंपर विशेष दान (तुलादान इत्यादि) दिये जाते थे। राजकोषसे नित्य ही कुछ धन संस्थाओंपर, स्नातकोंपर, पुजारियोंपर तथा कन्याओंके विवाहादिपर व्यय होता था। देशके विविध निर्माणकार्य भी चलते रहते थे। जाड़ोंमें वस्त्र वितरित होते थे, अकालके समय अन्न बाँटा जाता था और जनताके लोगोंको गुजारेके लिये भूमि दी जाती थी। राजा अकेले कभी भोजन नहीं करता था। गुणियोंको बहुसंख्यक धन चला जाता था। जनताको उद्योग-धंधे दिलानेके लिये नहरों, सड़कों, कुओं, तालाबों, इमारतों, घाटों, पुलों इत्यादिका निरन्तर निर्माण होता रहता था। वाणिज्य-व्यवसाय और यातायातके साधन उपलब्ध थे और नव-नव उपनिवेश बसाये और सजाये जाते थे। जनगणनाका कार्य सुचारुरूपसे चलता था और इसकी पूरी व्यवस्था थी कि कहाँ, किसको किस संख्यामें बसाया जाय। भूमिके किसी एक भागपर अत्यधिक भार नहीं डाला जाता था। वैसे राजधानियों और व्यावसायिक केन्द्रोंकी छटा अनूठी थी।

जनताको कामसे लगाये रखनेका एक और साधन था। वह था तीर्थयात्रा तथा देशाटन। मेले, पर्व, उत्सव तो होते ही थे, स्थानविशेष और तीर्थविशेषके दर्शनका बड़ा महत्त्व माना जाता था। उन स्थानविशेषोंकी व्यवस्थाका कार्य, सड़कोंकी मरम्मत, धर्मशालाओंका प्रबन्ध और सुरक्षा और साधन-सामग्री आदि जुटानेके कार्य पर्याप्त थे। राजाके निजी चाकर, फौजके सिपाही तथा मनसबदार और दरबारी तो बहुत थे ही; एक नीति यह भी थी कि पहलवानोंका, गायकोंका, पण्डितोंका, कवियोंका, कलाकारोंका पालन भी होता रहता था और बहुधा दूर देशोंके मल्ल तथा कलाकार आये-गये बने ही रहते थे।

देख लेना चाहिये कि एक ठौरपर अधिक भार न हो जाय, इसके लिये जनताके सहयोगके क्या प्रकार थे। मान्यता यह थी कि संतानकी आवश्यकता केवल तीन कर्मोंके लिये है—वंश चलानेके लिये, पितरोंको जल देनेके लिये और लोकरक्षणके लिये (मातृभूमिकी सेवाके लिये)। इस कारण सद्गृहस्थ अधिक संततिका लोभी न था। आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार ४, ५ वर्षकी आयुतक ही बालक माता-पिताके संरक्षणमें रहता था। तदनन्तर उसे गुरुकुल भेज दिया जाता था, जहाँ उसकी शिक्षा-दीक्षाका भार आचार्योंपर जा पड़ता था। घरपर छोटा बालक कम वस्त्र पहनता, कम भोजन

करता और स्वल्प आवश्यकताएँ रखता था। इसके माता-पिता भी अक्सर व्रत-उपवास करते थे और लोक-सेवामें निरत रहते थे। आश्रममें भी बालककी आवश्यकताएँ सूक्ष्म थीं। वह लुंगी और कौपीन धारण करता था, चटाईपर सोता था, कमण्डलुसे पानी पीता था, एक समय भिक्षाटन करता और स्वाध्याय तथा आचार्य-सेवामें लगा रहता था। परिपक्व और पूर्ण युवा होकर २५ वर्षकी आयुमें जब वह गुरुकुलसे घर आता था, तब महात्माओंका तेज उसके मुखपर विराजता था और शस्त्र-शास्त्रमें पारंगत होकर वह लोक-रक्षकके रूपमें निकलता था। तब उसका विवाह होता था। इस रूपसे बाल-विवाह न होते थे। प्रत्येक कुटुम्बसे कम-से-कम एक आदमीको राजा अथवा देशकी सेवाके लिये जाना पड़ता था (फौजमें भर्ती होना पड़ता था)। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समझकर उसे इस लोक और परलोकका ध्यान रहता था और वह माता-पिता और बन्धुओंकी निष्कपट सेवा करता था, अभ्यागत-सत्कार करता था, दान देता था तथा धर्मयात्राओंके लिये धन-संचय करता था। यह सब करते-करते ही उसका गृहस्थाश्रम समाप्त हो जाता था और स्त्रीको साथ ले वह पर्यटनको निकल पड़ता था।

वैसे उस युगमें धनका इतना अधिक प्रयोग न था, जितना आज है। आदान-प्रदानकी व्यवस्था दूसरी ही थी। यात्राएँ बहुत होती थीं, पर बहुधा पैदल या घोड़ोंपर ही होती थीं और दलोंमें होती थीं। हाथी, घोड़ों, ऊँटों, खच्चरों या बैलगाड़ियोंपर भी होती थीं, पर मार्ग थोड़े थे और बैलगाड़ियाँ भी कम थीं। एक वस्तुके बदले दूसरी वस्तु प्राप्त हो जाती थी और नाजके बदले तो प्रायः सारी ही वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं। गङ्गास्नानके पर्व होते थे, जहाँ महीनों मेले पड़े रहते थे। ज्ञान-चर्चा और प्रवचन होते थे, नियमित जीवन चलता था और वृत्ति सात्त्विकी हो जाती थी। फिर देशके एक भागसे दूसरेकी (उत्तरसे दक्षिणकी) यात्राएँ होती रहती थीं और आपसमें व्यापार-व्यवसाय होते थे। दूरी इन यात्राओंमें कभी बाधा उपस्थित नहीं कर पाती थी। मनुष्य पुरुषार्थी और घुमक्कड़ था, जिज्ञासु था। इस रूपसे उसे देश और समाजका ज्ञान होता था और उधर संस्कृतिकी एकता स्थापित रहती थी। एक ओर जहाँ सह-संसर्ग होता था, वहाँ दूसरी ओर संगृहीत वस्तुओंका वितरण, धर्म-प्रथाओंका ज्ञान और लोकाचारका आदान-प्रदान तथा ऐक्य, उत्साह और आनन्दका वर्धन होता था। मनुष्यमें स्वावलम्बन और साहसके भाव उदित होते थे। वह अपना ज्ञान देकर दूसरोंके अनुभव लेता था। इन यात्राओंमें लोक-नृत्य और लोकगीतोंकी परम्परा भी चलती रहती थी।

पुरुषमें सहज वैराग्यकी भावना समाहित थी। लोकरक्षणार्थ उसके लिये कुछ भी अदेय नहीं था। यदि वह समर्थ होता और धनपति होता तो बहुधा क्षेत्रविशेषमें धर्मशाला, विद्यामन्दिर, अनाथाश्रम, मठ, घाट, देवालय, पुस्तकालय आदि बनवाता था। राजा भी कभी-कभी महात्माओंकी सिद्धवाणी सार्थक करनेके लिये धनकोषका खुलकर वितरण किया करता था। रोगियोंकी परिचर्या और जड़ी-बूटियोंका सफल प्रयोग तो एक सामान्य पथिक भी जानता था। व्यापारियोंके यहाँ धर्मखाते और धर्मगोले खुले हुए थे और व्यापारका क्रम था—'भूल-चूक लेना-देना।' यह भूल-चूक परलोकतक सङ्ग जाती थी। इस प्रकारसे जन, मन और धन, धर्म सबका आदान-प्रदान चलता रहता था। वर्षमें एक बार तो प्रायः सभी अपना धन-धाम छोड़ देते थे और गङ्गावास या तीर्थाटन करते थे और आत्मतोषका [illegible] प्राप्त करते थे। इस रूपसे अपने अनुभव, ज्ञान और अर्जनका वितरण हो जाता था और एक बार फिर शुद्धबुद्धि मानव अपनी दैनिक चर्यामें लग जाता था।

◆

श्रीहरिः

पंजाब सरकारद्वारा स्वीकृत गीताप्रेसकी १६१ पुस्तकें

पंजाब राज्यकी सरकारने अपने राज्यके पुस्तकालयोंमें संग्रहार्थ तथा पारितोषिक-वितरणके लिये गीताप्रेसकी निम्नलिखित पुस्तकें स्वीकृत की हैं। वहाँके शिक्षा-विभागके निर्देशक महोदयने अपने शिमला कार्यालयसे पत्र सं० ४-३। ४-५८-B-४५८६ दिनाङ्क २२ जनवरी १९५८के द्वारा राज्य भरके विद्यालयों और कालेजोंके क्षेत्रीय निरीक्षकों और प्रधानाचार्योंको यह सूचित किया है कि गीताप्रेसके प्रकाशन चरित्र-निर्मापक और सदाचार सिखानेवाले हैं तथा साथ ही अत्यधिक सस्ते हैं। इसलिये वे स्कूल-कालेजोंके पुस्तकालयोंके लिये और पारितोषिक-वितरणके लिये स्वीकार किये जाते हैं।

पुस्तकोंका विवरण

क्रम	पुस्तक	मूल्य
१	गीता-शांकर भाष्य ...	२।।।)
२	गीता-रामानुजभाष्य ...	२।।)
३	गीता-मूल हिन्दी अनुवादसहित	१)
४	श्रीविष्णुपुराण ...	४)
५	वेदान्त-दर्शन ...	२)
६	मानस-रहस्य ...	१।)
७	मानस-शङ्का-समाधान ...	।।)
८	वैराग्य-संदीपनी ...	=)
९	हनुमान-बाहुक ...	-)।।
१०	सूर-रामचरितावली ...	।।≡)
११	श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी ...	।।।=)
१२	प्रेमयोग ...	१।।)
१३	श्रीतुकारामचरित्र ...	१।=)
१४	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	१।)
१५	मानसिक दक्षता सजिल्द ...	१।।)
१६	शरणागति-रहस्य ...	।।।=)
१७	पातञ्जलयोगदर्शन ...	।।।)
१८	लघुसिद्धान्तकौमुदी ...	।।।)
१९	महत्त्वपूर्ण शिक्षा ...	१)
२०	परम साधन ...	१)
२१	तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १)	।।=)
२२	,, ,, (भाग २)	।।।=)
२३	,, ,, (भाग ३)	।।≡)
२४	,, ,, (भाग ४)	।।।-)
२५	,, ,, (भाग ५)	।।।-)
२६	,, ,, (भाग ६)	१)
२७	तत्त्व-चिन्तामणि (भाग ७)	१=)
२८	श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली ,, (भाग १)	।।।=)
२९	,, (भाग २)	१=)
३०	,, (भाग ३)	१)
३१	,, (भाग ४)	।।=)
३२	,, (भाग ५)	।।।)
३३	स्वर्णपथ ...	।।।)
३४	सत्सङ्गके बिखरे मोती ...	।।।)
३५	एक महात्माका प्रसाद ...	।।।)
३६	संत-वाणी ...	।।=)
३७	विदुर-नीति ...	।।-)
३८	सुखी जीवन ...	।।)
३९	सत्सङ्ग-सुधा ...	।।)
४०	सती द्रौपदी ...	।।)
४१	भगवच्चर्चा (भाग १)	।।)
४२	,, (भाग २)	।।)
४३	,, (भाग ३)	।।।)
४४	,, (भाग ४)	।।।-)
४५	,, (भाग ५)	।।।)
४६	,, (भाग ६)	।।।)
४७	लोक-परलोकका सुधार ,, (भाग १)	।=)
४८	,, (भाग २)	।=)
४९	,, (भाग ३)	।।)
५०	,, (भाग ४)	।।)
५१	,, (भाग ५)	।।)
५२	श्रीभीष्मपितामह ...	।≡)
५३	जीवनका कर्तव्य ...	।≡)
५४	उपनिषदोंके चौदह रत्न	।=)
५५	नारी-शिक्षा ...	।=)
५६	तत्त्व-विचार ...	।=)
५७	संगीत-रामचरितमानस	।=)
५८	विवेक-चूडामणि ...	।-)
५९	भवरोगकी रामबाण दवा	।-)
६०	प्रेमदर्शन ...	।-)
६१	भक्त-भारती ...	।≡)
६२	भक्त नरसिंह मेहता ...	।=)
६३	भक्त नारी ...	।-)
६४	भक्त-पञ्चरत्न ...	।-)
६५	आदर्श भक्त ...	।-)
६६	भक्त-सप्तरत्न ...	।-)
६७	भक्त-चन्द्रिका ...	।-)
६८	भक्त-कुसुम ...	।-)
६९	प्रेमी भक्त ...	।-)
७०	प्राचीन भक्त ...	।।)
७१	भक्त-सरोज ...	।=)
७२	भक्त-सुमन ...	।=)
७३	भक्त-सौरभ ...	।-)
७४	भक्त-सुधाकर ...	।।)
७५	भक्त-महिलारत्न ...	।≡)
७६	भक्त-दिवाकर ...	।≡)

क्रम	पुस्तक	मूल्य
७७	भक्त-रत्नाकर	।≡)
७८	भक्तराज हनुमान्	।-)
७९	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	।-)
८०	प्रेमी-भक्त उद्धव	≡)
८१	महात्मा विदुर	=)॥
८२	भक्तराज ध्रुव	≡)
८३	परमार्थ-पत्रावली (भाग १)	।)
८४	” ” (भाग २)	।)
८५	” ” (भाग ३)	॥)
८६	” ” (भाग ४)	॥)
८७	कल्याण-कुञ्ज (भाग १)	।)
८८	” ” (भाग २)	।-)
८९	” ” (भाग ३)	।=)
९०	श्रीकृष्णरेखा-चित्रावलि- ” ” (भाग १)	।=)
९१	” ” (भाग २)	।=)
९२	बाल-चित्रमय बुद्धलीला	।-)
९३	बाल-चित्रमय चैतन्यलीला	।-)
९४	बाल-चित्र-रामायण (भाग १)	।)
९५	” ” (भाग २)	।)
९६	भगवान्पर विश्वास	।)
९७	मानस-व्याकरण	।)
९८	गीताप्रेस-लीला-चित्र-मन्दिर-दोहावली	।)
९९ १००	इन संख्याओंपर भूलसे ९७ और ९८ संख्याओंकी पुस्तकोंका ही दुबारा नामोल्लेख हुआ है	
१०१	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	।)
१०२	सती सुकला	।)
१०३	सत्सङ्ग-माला	।)
१०४	प्रार्थना	≡)
१०५	मानव-धर्म	≡)
१०६	आदर्श नारी सुशीला	≡)
१०७	आदर्श भ्रातृ-प्रेम	≡)
१०८	दैनिक कल्याण-सूत्र	≡)

क्रम	पुस्तक	मूल्य
१०९	गीता-निबन्धावली	=)॥
११०	मनन-माला	=)॥
१११	नवधा भक्ति	=)
११२	बाल-शिक्षा	=)
११३	श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति	=)
११४	गीता-भवन-दोहा-संग्रह	=)
११५	भजन-संग्रह (भाग १)	=)
११६	,, ,, (भाग २)	=)
११७	,, ,, (भाग ३)	=)
११८	,, ,, (भाग ४)	=)
११९	,, ,, (भाग ५)	=)
१२०	बालकोंकी बोलचाल	=)॥
१२१	बालकोंको सीख	=)
१२२	बालकके आचरण	=)
१२३	बाल-प्रश्नोत्तरी	-)॥
१२४	नारी-धर्म	-)॥
१२५	गोपी-प्रेम	-)॥
१२६	मनुस्मृति—दूसरा अध्याय	-)॥
१२७	ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	-)॥
१२८	मनको वश करनेके कुछ उपाय	-)।
१२९	श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श-शिक्षा	-)।
१३०	ईश्वर	-)।
१३१	मूल-रामायण	-)।
१३२	सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन	-)
१३३	ब्रह्मचर्य	-)
१३४	दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य	-)
१३५	बाल-अमृत-वचन	-)
१३६	रामाज्ञा-प्रश्न	।=)
१३७	मनुष्य-जीवनकी सफलता	१)
१३८	वल्लभाचार्य (नाटक)	॥)
१३९	जानकी-मङ्गल	≡)
१४०	श्रीपार्वती-मङ्गल	=)

क्रम	पुस्तक	मूल्य
१४१	बालककी दिनचर्या	=)
१४२	वर्तमान शिक्षा	-)
१४३	बालकके गुण	≡)
१४४	स्वास्थ्य-सम्मान और सुख	-)
१४५	स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी	-)
१४६	आनन्दमय जीवन	॥-)
१४७	अपरोक्षानुभूति	=)
१४८	साधन-पथ	=)
१४९	मासिक महाभारत (मूल श्लोक तथा भाषानुवाद-सहित)	२०) प्रति

B. English Publicati

150.	The Philosophy of Love	14
151.	Gems of Truth (First Series)	0-1
152.	Gems of Truth Second Series)	0-1
153.	What is Dharma?	0-
154.	Bhagavadgitā (with English Translation)	0-
155.	Gopīs' Love for Sri Krishna	0-
156.	Way to God-Realization	0-
157.	Divine Name and Its Practice	0
158.	Wavelets of Bliss	0
159.	The Immanence of God	
160.	What is God ?	
161.	The Divine Message	

दिल्ली-दूकानका पता—२६०९, नयी सड़क, दिल्ली ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपु

कल्याण

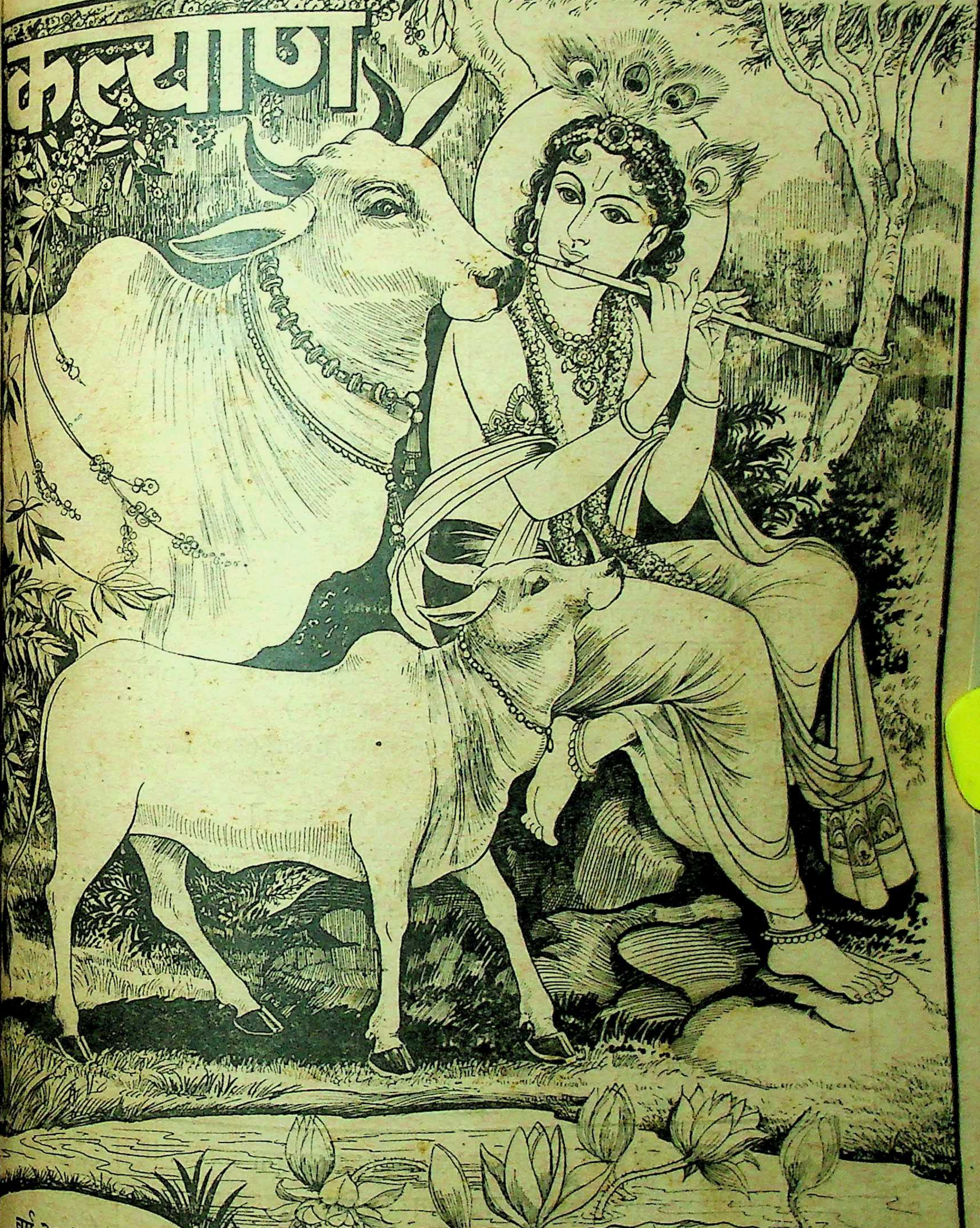

वर्ष ३२] [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीता-राम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०१५, मई १९५८

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–माताकी व्याकुलता [कविता] ...	९०१
२–कल्याण ('शिव') ...	९०२
३–जीवका दुःख दूर कैसे होता है? (स्वामी श्रीचिदानन्दजी) ...	९०३
४–रहीमकी रुचि [कविता] ...	९०६
५–गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग–तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	९०७
६–प्रत्येक नागरिक अध्ययनशील और संयमी बने (आचार्य संत विनोबा) ...	९१४
७–सत्यसंकल्प श्रीराम [विभीषणका सौभाग्य] (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	९१७
८–श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी) ...	९२२
९–मनको प्रबोध [कविता] (श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय 'साँवरा') ...	९२५
१०–भक्त परमानन्ददासजी [एक भाव-विश्लेषण] (क० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ...	९२६
११–श्वासका भरोसा नहीं [कविता] ...	९३०
१२–केनोपनिषद्का हिंदी पद्यानुवाद [कविता] (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) ...	९३१
१३–प्रार्थनामय जीवन [गुप्त प्रार्थना] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ...	९३४
१४–गृहस्थ संत श्रीपोपट भाई (श्रीमुरलीधरजी गणोदवाले, एम्० ए०) ...	९३६
१५–धन चाहिये? लो धन (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)	९३९
१६–सूक्ष्मताकी ओर (श्रीशिवकुमारजी शुक्ल शास्त्री, शास्त्राचार्य) ...	९४०
१७–हिंदी-कवियोंकी गो-भक्ति (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) ...	९४१
१८–राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)	९४४
१९–सच्चा प्रेम [कविता] ...	९५२
२०–रूप-ज्योति (डा० श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०, डी० लिट्०) ...	९५३
२१–पढ़ो, समझो और करो ...	९५९

चित्र-सूची

तिरंगा

१–मातासे वनवासके लिये बिदाई ९०१

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।)
(१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१५, मई १९५८ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ३७८

माताकी व्याकुलता

राम ! हौं कौन जतन घर रहिहौं ?
बार बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं ॥ १ ॥
इहिं आँगन बिहरत मेरे बारे ! तुम जो संग सिसु लीन्हे ।
कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत ! बहु बिनोद तुम कीन्हे ॥ २ ॥
जिन्ह श्रवननि कल बचन तिहारे सुनि सुनि हौं अनुरागी ।
तिन्ह श्रवननि बन गवन सुनति हौं, मोतें कौन अभागी ? ॥ ३ ॥
जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन ! बदन कमल बिनु देखे ।
जौं तनु रहै बरष बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे ? ॥ ४ ॥
तुलसीदास प्रेमबस श्रीहरि देखि बिकल महतारी ।
गदगद कंठ, नयन जल, फिरि फिरि आवन कह्यो मुरारी ॥ ५ ॥

कल्याण

याद रक्खो—रुपये-पैसे, मकान-जमीन सच्चा धन **नहीं हैं; सच्चा धन है**—मनुष्यका वह आदर्श जीवन, **जिसमें** भलाई-ही-भलाई भरी होती है । ऐसा सच्चा **चरित्रका** धनी पुरुष किसीको वाणीसे उपदेश नहीं करता, उसके आचरण ही सबको उसीकी भाँति जीवन निर्माण करनेका उपदेश दिया करते हैं । उसके उपदेश किसी ग्रन्थ-विशेषके आधारपर नहीं होते, उसके अपने जीवनसे ही उनका प्रकाश होता है ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुषोंके द्वारा सहज ही सदा सबकी भलाई होती है; क्योंकि उनके पास बुराई रहती ही नहीं, जिसे वे किसीको दें । मधुर भाषण, विनम्रता, सत्य, सेवा, हितकारिता क्षमा, त्याग, शान्ति, आनन्द—ये उनके जीवनके सहज स्वरूपभूत गुण होते हैं ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुष विषयासक्ति, भोग-कामना, निराशा, भय, विषाद, शोक, दुःख या अशान्तिके शिकार कभी नहीं होते । वे सदा शान्त, सुखी रहते हैं और अपने आचरण तथा सद्व्यवहारसे दूसरोंके भय-विषादादिको मिटाकर उन्हें भी सुख-शान्ति प्रदान करते हैं ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुष हर हालतमें प्रसन्न तथा अपने सत्य आचरणपर डटे रहते हैं । भयंकर-से-भयंकर संकटमें भी वे अपने सत्यसे नहीं डिगते । वे न घबराते हैं, न अशान्त होते हैं और न किसीका अनिष्ट चाहते हैं । हर अवस्थामें प्रशान्त, निश्चल और सबके सहज कल्याणकारी होते हैं ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुष प्रभुपर, प्रभुकी कृपापर, प्रभुकी उदारतापर, प्रभुके सौहार्दपर पूर्ण विश्वास रखते हैं । वे किसीपर भी—निन्दा, अपमान, बुराई और अहित करनेवाले व्यक्तियोंपर भी कभी क्रोध नहीं करते, कभी उनका अहित नहीं चाहते, बदला लेनेकी तो कल्पना ही नहीं करते; वरं कुछ हुआ ही नहीं, यों मानकर सहज ही सबका ससम्मान हित करनेमें ही लगे रहते हैं ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुष यह जानते हैं कि जो किसीको दुःख पहुँचाना चाहता है, अपमान करता है, गाली देता है, हानि करता है, वह वस्तुतः मूर्ख है; क्योंकि दूसरेकी हानि तो वह उसका वैसा प्रारब्ध हुए बिना कर नहीं सकता; अतः वह अपनी ही हानि करता है । उस अपने द्वारा ही अपनी हानि करनेवाले मूर्खपर वे दया करते हैं । जो बदला लेनेकी इच्छा करते हैं, वे तो उसीकी भाँति मूर्ख बन जाते हैं । सत्पुरुष वैसी मूर्खता नहीं करते ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुषोंका मन पूर्णरूपसे आत्मस्थ या स्वस्थ रहता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, भय, चिन्ता आदि रोग उनके मनको कभी दूषित नहीं कर सकते । उनका मन सदा-सर्वदा सद्भावोंसे भरा रहता है । वे सबमें सदा अपनेको तथा अपनेमें सदा सबको भरा देखते हैं । अतएव वे कभी किसीको भी पराया नहीं मानते । अतः उनके द्वारा किसीका अनिष्ट या अहित कभी हो ही नहीं सकता, वे तो सदा सहज ही अपने शुद्ध भावोंका वितरण करते हुए सबको शुद्ध बनाते रहते हैं ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुष शान्तिके समुद्र, प्रेमके अटूट भंडार और सुखके अपरिमित स्रोत होते हैं । जो इनके सम्पर्कमें आता है, वह भी शान्ति, प्रेम तथा सुखको प्राप्त कर लेता है ।

याद रक्खो—इस प्रकारके आदर्शजीवन पुरुषोंके जीवनको ही अपना परम आदर्श मानकर चलोगे तो तुम भी आदर्शजीवन बनकर अपना और अन्य अनन्त प्राणियोंका कल्याण कर सकोगे ।

'शिव'

जीवका दुःख दूर कैसे होता है ?

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

इस प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देना हो तो इस प्रकार दे सकते हैं कि देहमें जो अहंबुद्धि हो गयी है, अर्थात् देहाध्यास हो गया है, उसकी निवृत्ति होते ही जीवके सारे दुःख दूर हो जाते हैं। दूसरे प्रकारसे कहें तो यों कह सकते हैं कि जीवको जो अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है, उस विस्मृतिको दूर करके जब उसको अपने स्वरूपका भान होता है, तब उसके दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

परंतु यह बात जान लेनेसे ही दुःखकी निवृत्ति नहीं हो जाती। देहाध्यास अथवा स्वरूपकी विस्मृति क्यों और किस कारण होते हैं, यह जानना चाहिये; क्योंकि कारणका नाश हुए विना उसके कार्यका नाश नहीं होता। उदाहरणार्थ, एक मनुष्यको यदि ज्वर हो गया है, तो सद्वैद्य पहले ज्वर होनेका कारण खोजेगा और पश्चात् उस कारणका नाश करके ज्वरको दूर करेगा। ज्वरको दूर करनेके लिये किसी अलग उपचारकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार यदि जीव अपने दुःखका कारण खोज निकाले और फिर उस कारणके नाशके लिये प्रयत्न करे तो उस प्रयत्नके सफल होते ही दुःख अपने-आप निवृत्त हो जायगा।

जीव भगवान्‌का ही सनातन अंश है, इसलिये उसके ऊपर भगवान्‌की सदा ही अहैतुकी कृपा रहती है। जीव ईश्वर-विमुख हो जानेके कारण इस कृपाका अनुभव नहीं कर सकता। भगवान्‌ने अपनी कृपा-परवशताके कारण गीताके दो श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक बतला दिया है कि जीवको देहाध्यास कैसे होता है। उस ओर दृष्टि जाते ही इसका अनुभव होगा। वे श्लोक ये हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

जीव अनादिकालसे चौरासी लाख योनियोंमें विविध शरीर धारण करता चला आ रहा है। प्रत्येक शरीरमें इन्द्रियोंके बहिर्मुख होनेके कारण वह विषयोंको ही ग्रहण करता आ रहा है। फलतः विषयोंके निरन्तर सेवनसे उन्हींका ध्यान करता रहता है। विषय-सेवनके सतत अभ्याससे उनका सङ्ग उसको प्रिय लगता है और फिर विषयोंमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। विषयोंके प्राप्त होनेपर वह क्षणिक सुखका अनुभव करता है और प्राप्तिमें विघ्न पड़ जानेपर क्रोध उत्पन्न होते ही जलने लगता है। इस जलनकी व्यथा असह्य हो जानेके कारण स्वयं मूढ़ बन जाता है और परिणामस्वरूप उसको सारासार या कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाता। इस मूढ़ताके कारण उसको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है और देहको ही अपना स्वरूप मानकर उसके सुख-दुःखको भोगनेवाला बन जाता है। इसके फलस्वरूप बुद्धि कुण्ठित हो जाती है तथा 'मैं कौन हूँ और क्या कर रहा हूँ'—इस प्रकारका विचार भी उसको नहीं होता। इस प्रकार भगवान् कहते हैं कि जीव अपने स्वरूपको भूल जाता है और देहको ही अपना स्वरूप मान लेता है तथा फलतः जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें ही भटकता रहता है।

सारांश यह है कि विषयोंका चिन्तन करनेसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिके कारण जीव भगवद्विमुख हो जाता है। तथापि करुणाके

सागर भगवान् कभी उससे विमुख नहीं होते, अर्थात् उसे नहीं भूलते। वे इसका उपाय जीवको बतलाते हैं। उस उपायको काममें ले या न ले, यह जीवके अधिकारकी बात है। श्रीभगवान् भागवतमें कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंकी ओर दौड़ा करता है; परंतु यदि विवेकसे चित्तको विषयोंसे हटाकर मेरे चिन्तनमें जोड़ दिया जाय तो चित्त मुझमें ही लीन हो जाता है। इसलिये कल्याणकी कामना करनेवाला जीव विषय-चिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करे। अर्थात् संसारके प्राणी-पदार्थोंका आश्रय छोड़कर भगवान्के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये। इसीका दूसरा नाम 'भगवान्की शरणागति' है।

अब भगवान्की शरणागति स्वीकार किये बिना अर्थात् भगवान्की शरणमें गये बिना जीवका बन्धन नहीं छूटता, यह बात एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये। एक कोयला है। वह ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर—सर्वत्र काला-ही-काला है; उसको तोड़कर चूरा-चूरा करो तो उसका प्रत्येक कण तक काला दीखेगा। यदि इस काले कोयलेको उजला करना हो तो यह कैसे होगा? हजार बार उसे दूधसे धोओ तो भी वह उजला नहीं होगा। छः महीने या पूरे वर्षतक सोडा और साबुनमें उसे डुबाये रखो और रोज उसको धोओ, तो भी उसका कालापन नहीं जायगा। उस कोयलेको उजला करनेके लिये अनेक प्रकारके जप-तप, होम-हवन, यज्ञ-याग, व्रत-नियम और तीर्थभ्रमण या यात्रा आदि करनेपर भी वह उजला नहीं होगा। परंतु हमें तो उसको उजला करना है। इसके लिये यह खोजना पड़ेगा कि कोयलेमें कालापन आया कहाँसे है। विचार करनेसे ज्ञात होगा कि यह कोयला आगमें था, उस आगसे वियुक्त होनेके कारण ही इसमें कालापन आ गया है। इसके कालेपनको दूर करना हो तो इसका फिर अग्निके साथ संयोग कराना चाहिये। एक सुलगती हुई अँगीठीमें उस कोयलेको डाल दीजिये। वह कोयला मिटकर अग्निरूप हो जायगा। उसका कालापन नष्ट हो जायगा। यही नहीं, उसका कोयला नाम भी नहीं रह जायगा और देखते-ही-देखते कोयला अपने नाम-रूप दोनोंको छोड़कर दूधके फेनके समान उजली राखका स्वरूप धारण कर लेगा। कोयला और उसकी कालिमा कहाँ गयी, इसकी खबर भी नहीं मिलेगी।

इसी प्रकार जीव जब भगवान्के सांनिध्यमें था, तब तो वह भगवद्रूप ही था और इससे अनन्त ऐश्वर्य अक्षय सुख और निरतिशय आनन्द भोगता था। पञ्चमहाभूतोंकी खोली प्राप्त होते ही वह भगवद्विमुख हो गया और फलस्वरूप जो ऐश्वर्य, सुख और निरतिशय आनन्द वह भोग रहा था, वे अदृश्य हो गये। केवल उनकी स्मृति रह गयी। अब पञ्चमहाभूतोंकी खोलीमें रहते-रहते, वह बहिर्मुख इन्द्रियोंसे जगत्के प्राणी-पदार्थोंमें अपने अनुभव किये हुए निरतिशय सुख और आनन्दकी खोज करने लगा। जिस प्राणी या पदार्थको वह देखता है, उसीमें सुखकी आशा बाँधकर आसक्त हो जाता है; परंतु सुख उसे कहीं भी हाथ नहीं लगता, बल्कि अतृप्तिकी वेदना ही भोगनी पड़ती है। प्रकृति स्वयं परिवर्तनशील है, उसमें—उसकी रचनामें अपरिवर्तनशील सुख या आनन्द कहाँ हो सकता है, जो जीवको प्राप्त हो। संसारमें तो सब कुछ क्षणिक है, क्षण-क्षणमें बदला करता है। संसारमें सुख भी क्षणिक है और दुःख भी क्षणिक। फिर संसारकी रचना ही द्वन्द्वात्मक है अर्थात् सुखके साथ दुःख जुड़ा हुआ है, विजयके साथ पराजयका भय लगा हुआ है, लाभके साथ हानि झाँकती रहती है। इस प्रकार द्वन्द्वोंके बीचमें रहकर जीव अपने भोगे हुए निरतिशय सुख

और आनन्दकी खोज चाहे कल्पपर्यन्त करता ही रहे, परंतु वहाँ हो वह तब तो हाथ लगे । जो वस्तु जहाँ नहीं है, वहाँ उसको खोजनेसे वह कैसे मिलेगी ? कोई पुस्तक ढूँढ़नी हो तो वह गल्लेकी मंडी या लकड़ीके बाजारमें कैसे प्राप्त हो सकती है । और अन्न लाना हो तो वह लोहेकी मंडी या शेयर बाजारमें कहाँसे मिलेगा । इसी प्रकार संसारके पदार्थोंमें सुखकी खोज करता हुआ जीव अनादिकालसे भटकता आ रहा है और सच्चा सुख उसे जबतक नहीं मिलेगा, तबतक यह सुखकी खोज चलती रहेगी एवं जबतक अस्थानमें सुख खोजता रहेगा, तबतक जीवका संसारमें भटकना भी बंद नहीं होगा ।

'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'

—का चक्र चलता रहेगा ।

हम ऊपर देख आये हैं कि अनन्त सुख और निरतिशय आनन्द आदि भगवान्‌के चरणोंमें ही हैं तथा जीव जबतक भगवान्‌के चरणोंमें था, तबतक वे उसको प्राप्त भी थे; परंतु जीव भगवान्‌से दूर हो गया और भगवान्‌को भूल गया, इसी कारण वह सुख और वह आनन्द उसको प्राप्त नहीं होते । इसलिये खोये हुए सुख और आनन्दको पुनः प्राप्त करना हो तो वे भगवान्‌के चरणारविन्दमें ही हैं, अन्यत्र कहीं नहीं हैं—ऐसा निश्चय करके, जीवको संसारका आश्रय छोड़कर, संसारके भोग-पदार्थोंसे आसक्ति हटाकर भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये । जिस प्रकार अग्निके साथ संयोग हुए बिना कोयलेका कालापन नहीं मिटता, उसी प्रकार भगवच्छरणागतिके बिना जीवका भटकना भी बंद नहीं होता ।

जीवको संसारका अभ्यास सुदीर्घकालसे है, अनादिकालसे वह भगवान्‌से दूर हो गया है और सुखकी खोजमें विषयोंमें भटका करता है; इससे भगवान्‌की शरणमें जानेकी बात झटसे उसके गले नहीं उतरती । अतएव नित्य उसको नीचे लिखा उपदेश देना चाहिये, जिससे वह विषयोंकी ओरसे दृष्टि हटाकर भगवान्‌की ओर देखे और यदि एक बार उधर दृष्टि गयी तो फिर बेड़ा पार जानो । भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है कि एक बार उसकी झाँकी मिल जाय तो दृष्टि दूसरी ओर जाय ही नहीं । इसलिये—

रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः
पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य ।
पुत्राः कलत्रमितरे नहि ते सहायाः
सर्वं विलोकय सखे ! मृगतृष्णिकाभम् ॥

'अरे मेरे चित्त ! अथवा हे मेरे जीव ! भगवान्‌के चरणारविन्दका ही तू चिन्तन कर; और सब त्याग दे । जन्म-मरणरूपी संसार-सागरको पार करना हो तो इसके सिवा दूसरा उपाय भी नहीं है । इस संसारके प्राणी-पदार्थ, स्त्री-पुत्रादि तथा धन-वैभव भव-सागरके तरनेमें कुछ भी मदद नहीं करते । इतना ही नहीं, बल्कि इनमें यदि आसक्ति हो जाती है तो ये बन्धनको अधिक दृढ़ करनेवाले बन जाते हैं । अतएव इन सबको तू मृगमरीचिकाके समान निरर्थक समझ । यदि मृगमरीचिकासे किसीकी प्यास बुझती हो तो इन विषयोंसे तृष्णा शान्त होगी । इसलिये दूसरी सारी वस्तुओंको छोड़कर श्रीभगवान्‌के चरणोंका ही आश्रय ले ।' भगवान्‌ने गीतामें भी यही बात अन्तिम उपदेशमें कही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

'दूसरी सारी बातें छोड़कर, केवल मेरे शरणमें आ जा ।' फिर तुझे और कुछ भी करना नहीं पड़ेगा, तू सब प्रकारसे निर्भय हो जायगा ।

परिशिष्ट

अध्यासके विषयमें कुछ विचारवान् सज्जन पूछते हैं कि परमात्मस्वरूप आत्मामें जीवभाव आता ही कैसे है ? सबका समाधान करनेवाला एक ही उत्तर इस प्रश्नका नहीं

हो सकता । प्रसङ्गानुसार अधिकारी-भेदसे यह बात विभिन्न रीतिसे समझायी गयी है । उसीके कुछ नमूने देखिये—

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यही प्रश्न श्रीवसिष्ठजीसे पूछा था—

सर्वानुभवरूपस्य तथा सर्वात्मनोऽप्ययम् ।
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य देहेऽपि किमहंग्रहः ॥

'सबका अनुभवस्वरूप अनन्त आत्मतत्त्व सबका आत्मरूप होनेपर भी उसकी देहमें अहंबुद्धि (अर्थात् मैं देहरूप हूँ, यह अहंकार) क्योंकर होती है ?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि जैसे देहधारी जीवको हाथमें हाथपनका अभिनिवेश हो जाता है, उसी प्रकार सबके आत्मरूप चेतन तत्त्वको भी देहमें अभिमान हो जाता है ।

जैसे जल स्वभावतः ही अनेकों तरङ्ग, भँवर, बुलबुला और फेन आदि रूपोंमें हो जाता है, उसी प्रकार अनन्त आत्मतत्त्व मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके साथ तद्रूप हो जाता है ।

अन्यत्र भी कहा है—

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया ।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥

शूद्र-स्त्रीकी कामनासे एक विप्र जैसे शूद्रप्राय बन जाता है, उसी प्रकार ईश्वररूप आत्मा भी अन्तःकरणके भोगोंमें आसक्त होकर तद्रूप बन जाता है, जीवभावको अङ्गीकार कर लेता है ।

इसी बातको श्रीमद्भागवतकार इस प्रकार समझाते हैं—

गायतो नृत्यतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥

'एक सभामें गान और नाच सुनते और देखते उसका अपने-आप अनुकरण होने लगता है, सभी प्रेक्षक ताल देने लगते हैं, सिर हिलाने लगते हैं, उसी प्रकार पूर्णकाम आत्मा भी अन्तःकरणका भोग देखकर उसके साथ एकरूप हो जाता है ।'

आचार्य श्रीगौडपाद कहते हैं—

ईश्वरस्य स्वभावोऽयं पूर्णकामस्य का स्पृहा ।

'ईश्वर अपने स्वभावसे ही जीवभावको अङ्गीकार करता है, नहीं तो पूर्णकामको शरीरके भोगके लिये स्पृहा कैसे हो सकती है ?' श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रसङ्गको इस प्रकार समझाया है—

अपरा प्रकृति ही स्थूल-सूक्ष्म द्विविध शरीर है, परा प्रकृति ही चैतन्य है । इन दोनोंके संयोगसे ही आत्मामें जीवभाव आता है और ऐसा होनेसे ही यह संसृति-चक्र चलता रहता है ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।
(७।५)

आत्माके जीवभावको प्राप्त होनेका कारण अविद्या है और उसको शास्त्र अनिर्वचनीय कहते हैं । अनिर्वचनीयका अर्थ अज्ञेय, यानी 'जो जाना न जा सके,' यह नहीं है । मन-वाणीके द्वारा जिसका 'इदन्तया' निर्वचन नहीं हो सकता हो, वह अनिर्वचनीय कहलाता है ।

अवश्य किसी अचिन्त्य रीतिसे, अतर्क्य रीतिसे या किसी अलौकिक रीतिसे आत्मामें जीवभाव आ जाता है—इस प्रकार अपने मनका समाधान कर लेना ही श्रेयस्कर है । इसलिये अपना हित चाहनेवाले साधकको 'जीवभाव कैसे आता है—इस पचड़ेमें न पड़कर उसकी निवृत्ति करनेका प्रयत्न करना चाहिये । ऐसा करनेमें—जीवभावकी निवृत्ति करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है; क्योंकि जीव-भावकी निवृत्ति ही मोक्ष कहलाता है । पातञ्जल योग कहता है—

कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः ।

जीवभावकी निवृत्ति करके आत्माको उसके शुद्ध-बुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेका नाम ही आत्माका कैवल्य या मोक्ष है ।

* * *

रहीमकी रुचि

जग मैं जीवौ जवहि लौं दीवौ पड़ै न धीम ।
बिन दीवौ जीवौ जगत हमहि न रुचै रहीम ॥

गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अद्वैतवादी आचार्योंका कथन है कि गीता ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है; वह अद्वैतामृतवर्षिणी है। उसमें मलदोषके नाश (अन्तःकरणकी शुद्धि) के लिये कर्मयोग, विक्षेपदोषके नाशके लिये भक्तियोग और यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगका वर्णन है। इस प्रकार पहली सीढ़ी कर्मयोग, दूसरी सीढ़ी भक्तियोग और फलरूप अन्तिम तीसरी सीढ़ी ज्ञानयोग है। उनके सिद्धान्तके अनुसार यह प्रणाली बहुत उत्तम है।

द्वैतवादी आचार्योंका कथन है कि गीता भक्तिप्रधान ग्रन्थ है। वे कहते हैं कि उसमें कर्मयोगका साधन अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये और आत्मज्ञानका साधन आवरणनाशके लिये है एवं साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति तो भक्तिसे ही होती है। इस प्रकार कर्मयोग पहली सीढ़ी, ज्ञानयोग दूसरी सीढ़ी और फलरूप अन्तिम तीसरी सीढ़ी भक्तियोग है। उन लोगोंकी मान्यताके अनुसार यह प्रणाली भी बहुत ही ठीक है।

कर्मयोगी महानुभावोंका कथन है कि गीता कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ है; क्योंकि अर्जुन गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यासाश्रमका अनुसरण करना चाहते थे (गीता २ । ५); किंतु भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'जनकादि महापुरुष गृहस्थमें रहकर ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तुमको भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे गृहस्थाश्रममें रहकर ही कर्म करना चाहिये' (गीता ३ । २०) तथा अर्जुनने किया भी वही। अतः गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही है। भक्ति परमेश्वरके ज्ञानकी प्राप्तिका एक सुगम साधन है। ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका त्याग 'सांख्ययोग' है और ज्ञानोत्तरकालमें ईश्वरार्पणबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करना 'कर्मयोग' है। इन दोनोंमेंसे गीतामें ज्ञानमूलक भक्ति-प्रधान कर्मयोगका ही प्रतिपादन है। अतः पहले तो चित्त-शुद्धिके निमित्त और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर केवल लोकसंग्रहार्थ मरणपर्यन्त निष्काम कर्म करते रहना चाहिये। इन कर्मयोगी महानुभावोंकी दृष्टिके अनुसार यह पद्धति भी ठीक ही है।

कोई-कोई आचार्य महानुभाव इनसे भी भिन्न बात कहते हैं। अपनी-अपनी दृष्टिसे इन सभीका कथन शास्त्रसंगत और युक्तियुक्त है। किसी भी आचार्य या महापुरुषके प्रति यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने पक्षपात किया है। उन महापुरुषोंके अन्तःकरणमें जैसा-जैसा भाव प्रकट हुआ, उन्होंने शुद्ध नीयतसे वैसा ही कहा है। यदि किसीमें पक्षपात हो तो न तो वह महापुरुष है और न ज्ञानी महात्मा ही। साधन-कालमें जिनकी जैसी श्रद्धा, विश्वास और रुचि रही है, उसीके अनुकूल साधन उनको प्रिय लगा और उसी दृष्टिसे उन्होंने गीताका अध्ययन किया; इसलिये उनको गीता वैसी ही प्रतीत होने लगी। वास्तवमें गीताका सिद्धान्त, तत्त्व और रहस्य सम्पूर्णतया भगवान् ही जानते हैं, उनका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहर है। फिर भी अपने कल्याणके लिये मनुष्यको किसी-न-किसी प्रणालीको अपनाना ही होगा; इसी उद्देश्यसे मैंने भी गीताका साधारणतया विचार और मनन किया, यद्यपि मेरा अध्ययन बहुत ही अल्प है। क्योंकि गीता तो ज्ञान, कर्म, भक्ति, वैराग्य और सदाचारका भंडार है; इसके अभ्याससे मनुष्यके हृदयमें नित्य नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं। गीता तो उपदेशका सागर है, इसका कहीं पार नहीं है। एक जन्ममें ही नहीं, यदि मैं सैकड़ों जन्मोंतक गीताका ही अभ्यास करता रहूँ तो भी गीताके उपदेशों और भावोंकी समाप्ति नहीं हो सकती। जब मैं अपनी ओर देखता हूँ, तब गीताके प्रतिपाद्य विषयपर लिखनेमें मुझे संकोच ही होता है; क्योंकि भगवान्ने अर्जुनको जिस उद्देश्यसे जो बात कही है, उसका यथार्थ ज्ञान तो भगवान्को ही है। मैं तो अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार अनुमान ही कर सकता हूँ: क्योंकि मैं सर्वज्ञ तो हूँ नहीं, एक साधारण मनुष्य हूँ।

मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार मेरी समझमें यह बात आयी है कि उपर्युक्त आचार्य महानुभावोंकी बतलायी हुई पद्धतियोंका आदर करते हुए उनके अनुसार साधन करनेपर साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु इसके सिवा और भी शिक्षाप्रद भाव गीतामें भरे पड़े हैं, जिनका आविष्कार अभी नहीं हुआ है, किसी समय भविष्यमें हो भी सकता है। मेरी समझमें गीताके सिद्धान्तानुसार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनों ही साधन स्वतन्त्र हैं और तीनों ही साधनोंके द्वारा परमात्माका यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति हो

सकती है। जिसको गीतामें कहीं परम शान्ति, कहीं परमपद, कहीं अनामय पद, कहीं परमधाम, कहीं परम गति, कहीं निर्वाण ब्रह्म, कहीं शाश्वत पद, कहीं परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति आदि नामोंसे कहा गया है, वह परमात्माकी प्राप्ति उक्त तीनों ही साधनोंके द्वारा हो सकती है। एवं अधिकारी-भेदसे ये तीनों ही साधन उत्तम (श्रेष्ठ), सुगम, शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाले, सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाले, परमात्माके यथार्थ ज्ञान तथा परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं।

गीतामें इन छहों बातोंका उक्त तीनों साधनोंमें ही पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराया गया है, जिसको संक्षेपमें नीचे बताया जाता है—

कर्मयोग

आत्मकल्याणके विषयमें कर्मयोगको ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥
(गीता ५ । २)

'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।'

इतना ही नहीं, कर्मयोग अभ्यास, विवेक, ज्ञान और ध्यानसे भी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गीता १२ । १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग रूप कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

कर्मयोग श्रेष्ठ है, इतनी ही बात नहीं, वह सुगम भी है; क्योंकि कर्मयोगके साधनसे साधक अनायास ही सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीताके पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें बतलाया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

कर्मयोगका साधन सुगम तो है ही, इसके सिवा उसके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। भगवान् गीताके पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

'परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

इसमें यह भी बतला दिया गया कि पहले कर्मयोगका साधन किये बिना ज्ञानयोगकी सिद्धि होनी कठिन है। किंतु कर्मयोगीको ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं, इसके लिये वह बाध्य नहीं है; इसलिये कर्मयोग स्वतन्त्र भी है।

एवं कर्मयोगके द्वारा पापोंका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि भी हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

'जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे निष्काम भावसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(गीता ५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

इसके सिवा कर्मयोगके साधकको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति भी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर अपने-आप हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(गीता ४ । ३८ का उत्तरार्ध)

'उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके अतिरिक्त केवल कर्मयोगसे ही अनामय पद और परम शान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गीता २ । ५१)

'समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर निस्संदेह जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको पा लेते हैं।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गीता ५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इस कर्मयोगके साथ यदि भक्तिका समावेश करके कर्मोंका आचरण भगवदर्पण या भगवदर्थ बुद्धिसे किया जाय, तब तो कहना ही क्या है! उसे तो भगवान्की कृपासे भगवत्प्राप्ति शीघ्र होती ही है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(गीता ९ । २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त करेगा।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
(गीता १२ । १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही पायेगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
(गीता १८ । ५६)

भगवान् कहते हैं—'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त कर लेता है।'

गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग—इन सभी साधनोंको स्वतन्त्र तथा सभीका अन्तिम फल एक ही बतलाया गया है। किसी साधककी रुचि कर्मयोगमें, किसीकी ज्ञानयोगमें और किसीकी भक्तियोगमें एवं किसीकी ध्यानयोगमें होती है; किंतु इनके फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्ने कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता ५ । ४-५)

'संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको पा लेता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
(गीता १३ । २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इससे यह निश्चय हो गया कि कर्मयोगीको कर्मयोगका साधन करनेके पश्चात् भक्तियोग या ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं है। यदि कोई करे तो अच्छी बात है; किंतु वह करनेके लिये बाध्य नहीं है; क्योंकि केवल कर्मयोगसे ही पापोंका नाश होकर यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो सकती है।

अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अवश्य निष्काम भावसे ही कर्म करना चाहिये। गीताके तीसरे अध्यायमें, जो कर्मयोगके नामसे प्रसिद्ध है, भगवान्‌ने इस बातपर विशेष जोर दिया है। गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकामें तीसरे अध्यायके २९ वें श्लोकका ३० वें श्लोकके साथ सम्बन्ध बतलाते हुए कर्मकी अवश्यकर्तव्यतापर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

भक्तियोग

गीतामें कर्मयोगके विषयमें जो उपर्युक्त छः बातें बतलायी गयी हैं, वे सब भक्तियोगके विषयमें भी कही गयी हैं। भक्तोंके लिये सबसे बढ़कर भक्तियोगका ही साधन है। अतः भक्तोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तियोगका साधन करना चाहिये। परमात्मविषयक ज्ञान और परमपदकी प्राप्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो सकती है; किंतु भगवान्‌का साक्षात् दर्शन तो अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है, कर्मयोग और ज्ञानयोगसे नहीं। अनन्य भक्तिसे साक्षात् दर्शन ही नहीं, आत्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान और परमात्मामें प्रवेशरूप सायुज्यमुक्ति भी हो जाती है। भगवान्‌ने गीताके ११ वें अध्यायके ५४ वें श्लोकमें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार के रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश किया अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

अतः भक्ति सब साधनोंसे उत्तम है और इस कारण ही भगवान्‌ने अपने भक्तको सर्वोत्तम बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, अष्टाङ्गयोगी और भक्तियोगी—इन सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा (मन-बुद्धि) से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

भक्तिमार्गमें सगुण-साकार या सगुण-निराकार—किसी भी स्वरूपकी उपासना बहुत ही सरल है। भगवान्‌ने सगुण-साकार और सगुण-निराकारके उपासकके लिये अपनेको सुलभ बतलाते हुए कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(गीता ९ । १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको मैं पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा। यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

सगुण-साकारकी उपासनामें और भी सुगमता दिखलाते हुए कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

उदाहरणके लिये द्रौपदीके केवल सागकी पत्ती अर्पण करनेसे, गजेन्द्रके केवल पुष्पकी भेंट चढ़ानेसे, शबरी (भीलनी) के केवल फल अर्पण करनेसे और रन्तिदेवके केवल जल प्रदान करनेसे ही भगवान् प्रसन्न हो गये थे। इस प्रकार इन भक्तोंको भगवान् सुगमतापूर्वक ही मिल गये।

भक्तिमार्ग सुगम तो है ही, उससे भगवान्की प्राप्ति शीघ्र होती है और भगवान्की भक्ति करनेवाले पुरुषका भगवान् स्वयं मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करते हैं।

भगवान्ने कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका तो शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला मैं होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।'

उदाहरणके लिये ध्रुव, प्रह्लाद और उद्धव आदि भक्त भगवान्की भक्तिद्वारा शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो गये।

ये सब भक्त तो पहलेसे ही श्रेष्ठ थे; किंतु यदि कोई बड़ा भारी पापी हो तो उसका भी भक्तिके द्वारा शीघ्र ही उद्धार हो सकता है। उदाहरणके लिये अजामिल, बिल्वमङ्गल आदि भक्त पहले पापी थे, किंतु भगवान्की भक्तिसे उनका शीघ्र ही उद्धार हो गया। अतः गुण, जाति और आचरण आदिसे कोई कैसा भी नीच क्यों न हो, भक्तिसे उसका भी शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी विनाश नहीं होता।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्की भक्ति करनेवाले प्रेमी भक्तको भगवत्कृपासे परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी और परम पदरूप परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(गीता १० । ११)

'हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार गीतामें और भी अनेक स्थलोंमें भक्तिके द्वारा यथार्थ ज्ञान और परम पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

ज्ञानयोग

इसी प्रकार ज्ञानयोगके विषयमें भी उपर्युक्त छहों बातें बतलायी गयी हैं। गीताके तेरहवें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक जितने साधन बतलाये गये हैं, उनको भगवान्ने ज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण 'ज्ञान'के नामसे कहा है; उनका जो फल है, वही वास्तवमें परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। भगवान्ने उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये फलसहित साधनोंका वर्णन प्रकारान्तरसे १८ वें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक किया है। इनके सिवा गीतामें ज्ञानका विषय चौथे, पाँचवें और चौदहवें अध्यायोंमें भी आया है। तेरहवाँ अध्याय तो सारा-का-सारा ज्ञानके वर्णनसे ओतप्रोत है। उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानी महात्माओंकी शरणमें जानेसे, ज्ञानके साधनोंके अनुष्ठानसे तथा श्रद्धा-विश्वास, सत्सङ्ग और स्वाध्याय आदि अनेक उपायोंसे होती है।

गीतामें ज्ञानयोगको भी सब साधनोंसे उत्तम बतलाया गया है। साधनरूप ज्ञान और फलरूप ज्ञान दोनोंकी ही भगवान्ने प्रशंसा की है। भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(गीता ४ । ३३)

'हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।'

ज्ञानका मार्ग सर्वोत्तम तो है ही, सुगम और पापनाशक भी है। यों तो गीताके १२ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें इसे कठिन बतलाया गया है; किंतु वहाँ देहाभिमानी पुरुषोंके लिये ही उसे कठिन बतलाया गया है, ब्रह्मभूत यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित पुरुषोंके लिये नहीं, प्रत्युत उनके लिये तो बहुत ही सुगम बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
(गीता ६ । २७-२८)

'जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुए योगीको निस्संदेह उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

इतना ही नहीं, श्रद्धा-विश्वास होनेपर तत्त्वज्ञानसे तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने चौथे अध्यायके ३९ वें श्लोकमें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानको प्राप्त करके वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको पा लेता है।'

चाहे मनुष्य कैसा भी पापी हो, तत्त्वज्ञानसे उसके

सारे पापोंका नाश हो जाता है । भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(गीता ४ । ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निस्संदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(गीता ४ । ३७)

'क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनके ढेरको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देता है ।'

अतः ज्ञानयोगीको ज्ञानयोगके साधनद्वारा तत्त्वज्ञान होकर उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है । साथमें निष्काम कर्म या भक्तियोगका साधन हो, तब तो कहना ही क्या ! किंतु कर्मयोग या भक्तियोग करनेके लिये वह बाध्य नहीं है; क्योंकि ज्ञानयोग स्वतन्त्र साधन भी है । इसलिये केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान और परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है । भगवान्‌ने कहा है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
(५ । २४)

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखका अनुभव करता है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानका अनुभव करता है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको पा लेता है ।'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(गीता १८ । ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है । ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभावना करनेवाला योगी ज्ञानयोगकी परानिष्ठारूप मेरी पराभक्तिको प्राप्त कर लेता है । उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ—ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है ।'

ज्ञानयोगके साधनोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(गीता ४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म हैं और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्त्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।'

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
(गीता ४ । २५ का उत्तरार्ध)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं ।'

इस प्रकार गीताके श्लोकोंसे ही यह दिखलाया गया कि कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक, पापनाशक, यथार्थ ज्ञानप्रद और परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। गीतामें भगवान्‌ने जो इन सभीकी इस प्रकार प्रशंसा की है, वह झूठी प्रशंसा नहीं है एवं न इससे उनके वाक्योंमें परस्पर विरोधका ही दोष आता है । वस्तुतः अधिकारीभेदसे ही तीनों मार्गोंकी प्रशंसा की गयी है । जो जिस मार्गका अधिकारी है, उसके लिये वही मार्ग श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र फलदायक, पापनाशक, यथार्थ-ज्ञानप्रद और परमात्मप्राप्तिकारक है; क्योंकि सबकी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, प्रकृति और बुद्धि एक-दूसरेसे भिन्न हुआ करती है । इसीलिये गीतादि शास्त्रोंमें अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न साधन बतलाये गये हैं । सभी साधन बहुत ही उत्तम और उपयोगी हैं । अतएव मनुष्यको अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त किसी भी मार्गका अवलम्बन करके तत्परतापूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये ।

प्रत्येक नागरिक अध्ययनशील और संयमी बने

[आचार्य संत विनोबा]

इस देशके सभी नागरिक, खास करके शहरोंके नागरिक विद्यार्थी होने चाहिये । ऐसा कोई नागरिक नहीं होना चाहिये, जो अध्ययन न करता हो। इन दिनों ऐसा माना जाता है कि विद्याध्ययन स्कूल-कालेजमें ही किया जाता है । कालेजकी शिक्षा समाप्त करनेके बाद अध्ययन करनेका सवाल ही नहीं रहता । देखा यह जाता है कि हमारे देशके बहुत नागरिक अध्ययनविहीन होते हैं । उनको नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता । ज्ञानकी तृष्णा जिस देशके नागरिकमें नहीं है, वह देश उन्नति नहीं कर पायेगा । अपने गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए भी अध्ययन जारी रखना चाहिये । जैसे जबतक हम खाते रहते हैं, तबतक शरीर टिकता है, वैसे ही प्रतिदिन हमें अध्ययन करना चाहिये ।

व्यापक सामाजिक अध्ययन

व्यापारी अपने व्यापारकी बातोंका, वकील अपने व्यवसायका, डाक्टर अपने धंधेका अध्ययन करता है । लेकिन वह काफी नहीं है । सबको सारे समाजका अध्ययन करना चाहिये । सबको समाजकी परिस्थितिका अध्ययन करना चाहिये । व्यापारी यदि समाजशास्त्र जानता है, नीतिशास्त्र जानता है, मानसशास्त्र जानता है, विज्ञानका भी उसको अभ्यास है और धर्मविचार भी वह कर सकता है, तब उसके व्यापारमें ताकत आती है । वकील वकालत करता है तो कानूनका अध्ययन तो उसे करना ही पड़ता है । वह तो उसके धंधेका एक अङ्ग है । क्या उससे वह अध्ययनशील कहलायेगा ? उसको भी व्यापक अध्ययन करना चाहिये । अब दुनियामें कौन-से विचार आ रहे हैं और समाजपरिवर्तन कर रहे हैं, उसका अध्ययन करना चाहिये । इस प्रकार हर एक प्रकारका अध्ययन हम करेंगे तो हमारा देश ऊँचा उठेगा ।

विविध-भाषा-ज्ञान

भिन्न-भिन्न भाषाओंका ज्ञान भी हमें होना चाहिये । प्रत्येकको दो-चार भाषाएँ तो आनी ही चाहिये । नहीं तो हमारा देश इतना बड़ा है, कई भाषाएँ उसमें हैं, तो हमारी ताकत कैसे बढ़ेगी । देशको एकहृदय करना है तो सिर्फ मातृ-भाषाके ज्ञानसे काम नहीं चलेगा । दो-चार भाषाएँ आनी ही चाहिये, तब देश एकहृदय हो सकता है । इसलिये हमारी विभिन्न भाषाओंकी अध्ययन-वृत्ति रहनी चाहिये ।

ज्ञान-प्राप्तिका प्रवाह

बाबाका अध्ययन निरन्तर चलता है । वह एक दिन भी नहीं रुका बचपनसे आजतक ! वह जब कालेजमें था, तब तो अध्ययन करता ही था । फिर आश्रममें आया, तब भी अध्ययन चलता था । उसमें तरह-तरहके काम किये, फिर भी अध्ययन चलता ही रहा । जेलमें तो बहुत अध्ययन हुआ । अब साढ़े छः साल भूदानयात्रामें भी वह हर-रोज चल रहा है । अध्ययनसे बुद्धि निरन्तर ताजी रहती है, जैसे नया-नया पानी नदीमें आता है तो नदीका पानी ताजा रहता है अगर नदियोंका प्रवाह रुक जाय तो पानी गंदा हो जाता है । नया ज्ञान-प्राप्तिका प्रवाह अगर जारी नहीं रहा और पुराना ज्ञान ही रह गया तो हमारे दिमागमें ताजगी नहीं रहेगी ।

शरीर क्षीण किंतु बुद्धि विकसित हो

आज हम देखते हैं कि कई वृद्ध पुरुष शरीरसे तो क्षीण होते ही हैं, उनकी मानसिक शक्ति भी क्षीण होती है । ऐसा कोई कारण नहीं है

बुढ़ापेमें मानसिक शक्ति क्षीण हो ही । फल ज्यों-ज्यों पकता जाता है, त्यों-त्यों उसका बीज मजबूत बनता है; आखिरमें पककर फल सड़ जाता है, तब भी बीज और मजबूत बना रहता है । वैसे ही शरीर जीर्ण हो, क्षीण हो; फिर भी अंदरकी विचार-बुद्धि बुढ़ापेमें भी मजबूत होनी चाहिये । बुद्धि, स्मरणशक्ति ही बीज है । ऊपरका शरीर क्षीण हो जाय, वह तो स्वाभाविक है; लेकिन उसके साथ बुद्धि भी यदि क्षीण हो जाय तो फिर प्रगति कहाँ हुई ? शरीर जैसे-जैसे क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे बुद्धि और विकसित होती है——ऐसा अनुभव हो सकता है । यह अनुभवकी बात बाबा बोल रहा है ।

अध्ययन और इन्द्रियनिग्रह जरूरी

हमें दो बातोंकी जरूरत है——(१) निरन्तर अध्ययनशीलता और (२) इन्द्रियनिग्रह यानी संयम । अगर इन्द्रियनिग्रहका अभ्यास नहीं रहा, तब भी मानसिक शक्ति क्षीण हो जायगी । इसलिये शास्त्रकारोंने कैसी आश्रमकी योजना बनायी ! बचपनमें ब्रह्मचर्याश्रम । उसमें तो अध्ययन ही मुख्य माना गया है । फिर यह गृहस्थाश्रम, गृहस्थाश्रममें भी अतिथि-सत्कार और अध्ययन होना चाहिये । सबको धार्मिक बनाना है, ऐसा उपनिषद् कहता है । थोड़े दिन गृहस्थाश्रमका अनुभव लेना है और उसके बाद वानप्रस्थाश्रम । आज तो गृहस्थाश्रम नाम मात्रका रह गया है । उसमें संयमका अभ्यास नहीं होता । अश्लील साहित्य बढ़ रहा है, सिनेमा भी रातको देरतक चलता है । १२–१ बजेतक लोग विलासमें रहते हैं तो मानसिक शक्ति क्षीण होती है । फिर बुढ़ापेमें तो और भी जीर्ण बनेगी कि मजबूत ? फिर बुढ़ापेमें बच्चोंपर हम अपनी सेवाका भार डालेंगे ।

गृहस्थाश्रमसे हमको कौन छुड़ायेगा ? यह अत्यन्त दुःखदायक बात है । जल्द-से-जल्द गृहस्थाश्रमसे मुक्ति पाकर वानप्रस्थवृत्ति हो जानी चाहिये । फिर इन्द्रियनिग्रहका अभ्यास, तपश्चर्या और साथमें अध्ययन; तब प्रज्ञा बढ़ेगी । इन्द्रियनिग्रहका अभ्यास तो पूरे जीवनमें रहना चाहिये । उससे मनकी शक्ति बढ़ती है । साथ-साथ अध्ययन भी चले । इन्द्रियाँ हमारे वशमें रहनी चाहिये । व्यवहारके लिये जरूरी उपयोग करना हो तो करें । जैसे घोड़ेको उसके मुँहमें लगाम लगाकर हम अपने वशमें रखते हैं, जरूरत पड़नेपर उसका उपयोग करते हैं, वैसे ही इन्द्रियरूपी घोड़ेपर काबू होना चाहिये; तब हम समर्थ बन सकते हैं । हम मानते हैं कि देशके समस्त नागरिकोंको अध्ययनशीलता और इन्द्रियनिग्रह करनेका शिक्षण मिलना चाहिये ।

स्वतन्त्रताकी आकांक्षा

बचपनमें हम स्कूल-कालेजमें पढ़ते थे । अनेक विषयोंका अध्ययन रहता था । फिर भी हमारे मनमें निरन्तर आता था कि हमारा देश कब आजाद होगा । हमको लगता था कि जबतक हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तबतक यह सब विद्या फीकी है । अध्ययन करते थे और मनमें संकल्प किया था कि सारी जिंदगी अपने देशको स्वतन्त्र करनेमें खर्च करेंगे । हजारोंने प्रयत्न किया, तब हमारा देश आजाद हुआ । अब आपलोग स्वतन्त्र देशके नागरिक हैं । आपलोगोंके मनश्चक्षुके सामने विशाल क्षेत्र खुल गया है । उस दिन हमारा विचार था——'स्वातन्त्र्य-प्राप्ति हमारा जन्मसिद्ध हक है' तो स्वातन्त्र्य मिल गया । उस दिन और भी एक बात हम कहते थे कि अपने देशके प्रान्त भी एक भाषाके बनायेंगे । एक भाषा बोलनेवाले लोग ४-५ हिस्सोंमें बँटे हुए हैं तो विकास नहीं होता । यह एक आकांक्षा थी, वह भी पूर्ण हो गयी । अब तो संयुक्त कर्नाटक हो गया । अब क्या सोचते हैं ? इन बच्चोंके मुँहसे शब्द निकलता है—— 'जय जगत्' । बच्चे-बच्चे 'जय जगत्' बोलते हैं । यह क्या है ? जमानेकी आकांक्षा बच्चोंके मुँहसे निकल रही है । पहले हम 'जय हिंद' कहते थे, आज भी कहते हैं । 'जय कर्नाटक' भी कहते हैं । लेकिन ये नारे छोटे

हैं। नये जमानेमें वे नीरस होंगे। जबतक सारी दुनियाकी जय नहीं होती, तबतक नागरिकका समाधान नहीं होता।

क्या अमेरिका, रूस आदि आजाद हैं ?

आज कौन देश आजाद है ? क्या अमेरिका आजाद देशका नाम है ? इंगलैंड, भारत, पाकिस्तान, चीन, जापान, क्या आजाद हैं ? जो देश आजाद है, वह अपना नियोजन स्वतन्त्ररूपसे करता है। कौन-सा देश अपनी योजना स्वतन्त्ररूपसे करता है ? इन सब बातोंको जाननेके लिये अध्ययन करना चाहिये। आज क्या है ? क्या अमेरिकाके पास सेनाकी कमी है ? फिर भी वह कमी महसूस करता है। वह कहता है कि रूसकी दृष्टिसे हमारी सेना कम है; उसे और बढ़ाना पड़ेगा। वह अपनी कांग्रेसके सामने बिल पेश करता है कि सेनाके लिये बजट बढ़ाना पड़ेगा। तो क्या अमेरिका अपने देशकी योजना अपने ढंगसे करता है ? अरे, उसकी योजना रूस करता है। यह कैसी आजादी है ? और क्या रूस अपनी योजना स्वतन्त्र बुद्धिसे करता है ? वह कहता है कि हमारे चारों ओर अमेरिकाने अड्डे बनाये हैं तो अपने देशके रक्षणके लिये हमें नये-नये शस्त्र बढ़ाने पड़ेंगे। हम देशमें बैठे-बैठे जिनसे अमेरिकाका नाश कर सकें ऐसे शस्त्र बनायेंगे। बड़े भयानक हैं ये अमेरिकाके लोग। वैसे ही नाक, कान, आँखवाले वे भी हैं। लेकिन आज मनुष्य शेरसे जितना डरता है उससे ज्यादा मनुष्यसे डरता है।

दुनियाकी लाचारी

इसलिये रूसको सेनाके पीछे कितना खर्च करना चाहिये, वह अमेरिका तय करता है। क्या यह राष्ट्रिय नियोजन है ? यह नियोजन नहीं है, यह तो लाचारी है। अरे, इतने दूरकी बात क्या करें। अपने भारत देशके नेता पण्डित नेहरू महात्मा गाँधीके विचारको आगे चलानेवाले हैं। वे क्या सेनापर खर्च बढ़ाना चाहते हैं ! नहीं, अगर उनकी चले तो वे सेनाका खर्च कम कर दें और कुल-के-कुल पैसे अपने देशको विकसित करनेमें तथा गरीबोंकी उन्नति करनेमें लगायें। पर क्या उनकी चलती है ? अरे पाकिस्तान तय करता है कि हिंदुस्तान शस्त्रके पीछे कितना खर्च करे। क्या यह आजादी है ? जहाँ कोई भी देश अपना नियोजन अपने लिये नहीं कर सकता—क्या वहाँ आजादी है ? अगर यह आजादीकी व्याख्या है तो गुलामीकी व्याख्या क्या है !

यही गुलामी है। इसमेंसे मुक्तिकी राह क्या है, यह सोचना होगा। आजका मुख्य विचार यही होना चाहिये। हम सैनिक शक्तिका आश्रय न लें। सारे-के सारे देश बिल्कुल लाचार हो गये हैं। दीन, अनाथ हो गये हैं। पुलिस और सेनाके बिना चलता ही नहीं। आन्तरिक शान्ति भी हम अपनी शक्तिसे नहीं रख सकते।

इसलिये हमको चिंतन करना चाहिये कि इस हालतसे हम अपने देश और दुनियाको किस तरहसे बचायेंगे। हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हम शान्तिमय तरीकोंसे देशका रक्षण करेंगे, पूरे अर्थमें उसे आजाद बनायेंगे। आज देश और दुनिया भयभीत हैं। हम उन्हें निर्भय बनायेंगे। इसलिये जो समाज-रचना बदलनी पड़ेगी, उसको बदलनेके लिये हम कमर कसेंगे।

शान्ति-स्थापनका उपाय

पुरानी समाज-रचनामें रहकर हम शान्ति स्थापित नहीं कर सकते। कुछ मालिक हैं, कुछके पास अधिकार है और कइयोंके पास नहीं है। यह भयानक स्थिति है। इसमें शान्ति नहीं हो सकती। ऐसी समाजरचनाको हमें बदलना है। परदेशी सत्ता गयी, फिर भी हमारा देश आजाद नहीं हुआ। देशको पूरे अर्थमें आजाद करना है। इसके लिये विषमता मिटानी होगी। इसलिये पहला काम यह होगा कि जमीन और कारखानोंपर व्यक्तिगत मालकियत नहीं रहेगी। उसे समाजको समर्पण

करना होगा। यह छीननेकी बात नहीं। छीननेसे भय होता है, भयमुक्ति नहीं होती। कार्य और बुद्धि जैसे परिवारको अर्पण होते हैं, वैसे ही ये सारी शक्तियाँ समाज-को प्रेमसे समर्पण करनी हैं। ऐसे नये विचारपर समाज-रचना करनी पड़ेगी।

स्व-रक्षाकी जिम्मेदारी हम स्वयं लें

और हमारे रक्षणका जिम्मा भी हमपर होना चाहिये। देशके अन्तर्गत रक्षण-कार्यके लिये हम पुलिसको तकलीफ नहीं दें, यह बात होनी चाहिये। आज क्या था? आज कोई मारपीट नहीं थी, दंगा नहीं हुआ था। लोग हमारे स्वागतके लिये प्रेमसे आये थे। यहाँ भी व्यवस्थाके लिये पुलिस थी। नागरिकोंको शर्म आनी चाहिये। क्या नागरिक व्यवस्था नहीं कर सकते? हमने कहा कि पुलिस हट जाय। व्यवस्थापक हट जायँ। लोगोंकी भीड़का मुकाबला हम करेंगे।

ये व्यवस्थापक लोग ही व्यवस्था करते हैं। हमारा समाज आज इस व्यवस्थापक-वर्गसे तंग है। कोई धर्मके व्यवस्थापक हैं, कोई व्यापारके व्यवस्थापक बने हुए हैं, कोई राजनीतिके, कोई शिक्षणके और कोई रक्षणके व्यवस्थापक बने हैं और ये स्वयं व्यवस्थित नहीं बनते, दूसरेको बनाते हैं। इन व्यवस्थापकोंका बोझ इतना है कि दुनिया उनसे हैरान है। बड़ी मीटिंग हुई या दंगा हुआ तो क्या हम व्यवस्था नहीं कर सकते? अरे, कभी थोड़ी मार भी पड़ गयी तो क्या सहन नहीं कर सकते? इतना भी नहीं कर सकते तो स्वातन्त्र्य कैसे टिकेगा।

प्रेषक—दुर्गाप्रसाद

सत्यसंकल्प श्रीराम

विभीषणका सौभाग्य

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

विज्ञाननिधान विभीषण आरम्भसे ही विष्णुभक्त थे—

नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिग्यान निधाना॥

जब रावण सीताको हर लाया, तब उन्होंने रावणके कल्याणके लिये उसे उचित परामर्श दिया कि 'तुम सीताको सादर वापस कर दो।' पर उसने इसके बदले विभीषणको लात मारी और कहा कि 'तू अब उन रामसे ही मिलकर उन्हें अपनी नीति बतला।' विभीषणने कहा कि "तुम बड़े भाई हो; मारा सो अच्छा किया"। तथापि तुम्हारा हित तो श्रीरामकी शरणागति—भजनमें ही है। किंतु तुम ऐसा नहीं करते। करोगे भी क्यों? श्रीरामचन्द्रजी सत्यसंकल्प हैं; उन्होंने जब देखा कि ब्रह्माजीने तुझ अत्याचारीको मनुष्यके ही हाथ मरनेका वचन दिया है, तब उसे सत्य करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना-पर मनुष्यका ही रूप ग्रहण किया—

रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधिबचन कीन्ह चह साँचा॥

संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात्॥
तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परंतप।
त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परंतप॥
एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः।
अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान्॥
भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम्।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम्॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम्॥

(वाल्मी० रामा० बालका० १५, १६)

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥

(वाल्मी० अयोध्या० १)

और इसीलिये राजपाट छोड़कर वे वनमें आ गये—

शृणु नारद मे किञ्चिद् विद्यतेऽविदितं क्वचित्।
प्रतिज्ञातं च यत्पूर्वं करिष्ये तन्न संशयः॥

रावणस्य विनाशाय श्वो गत्वा दण्डकाननम्।
चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक्॥
सीतामिषेण तं दुष्टं सकुलं नाशयाम्यहम्॥

(अध्यात्मरामा० अयोध्या० १ । ३६–३९)

"और उनके इस संकल्पानुसार ही तुमने सीताका अपहरण किया है, जो राक्षसोंके लिये कालरात्रि ही है। अब निश्चय ही तुम्हारी सभा कालके वशीभूत है और ये सभी राक्षस तुम्हारे साथ कालग्रस्त हो गये हैं; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकवनमें भी ऋषियोंकी अस्थियाँ देखकर पृथ्वीको राक्षसविहीन करनेकी प्रतिज्ञाको दुहराया है—

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

अस्थीनि केषामेतानि किमर्थं पतितानि वै।
तमूचुर्मुनयो राम ऋषीणां मस्तकानि हि॥
राक्षसैर्भक्षितानीश प्रमत्तानां समाधितः।
अन्तरायं मुनीनां ते पश्यन्तोऽनुचरन्ति हि॥
श्रुत्वा वाक्यं मुनीनां स भयदैन्यसमन्वितम्।
प्रतिज्ञामकरोद् रामो वधायाशेषरक्षसाम्॥

(अध्यात्म० अरण्य० २ । २०–२२)

"इसपर यद्यपि सीताजीने उन्हें इस क्रूर कार्यसे विरत रहनेके लिये प्रार्थना भी की, फिर भी उन्होंने साफ कह दिया—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

(वाल्मी० अरण्य० ३ । १० । १९)

"सीते! मैं अपना प्राण छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मणसहित तुम्हारा भी परित्याग कर सकता हूँ; किंतु प्रतिज्ञा करके, विशेषकर जो ब्राह्मणोंके लिये की गयी हो, उसे कदापि वापस नहीं ले सकता, छोड़ नहीं सकता।' अतः वे अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण ही किया चाहते हैं। मैं तो उनकी शरणमें चला, अब मेरा कोई दोष नहीं रहा।"

यों कहकर वे वहाँसे चले और नानाविध मनोर करते हुए भगवच्चरणोंमें पहुँचे। भगवान्ने उन्हें देख ही, 'लङ्केश' कहकर लङ्काका राज्य देनेका संकल्प ही न कर लिया अपितु उनके 'ना', 'ना' कहते रहनेपर भी दरसन अमोघ जग माहीं।' कहकर मस्तकपर रा तिलक भी कर दिया और आकाशसे भारी पुष्पवर्षा हुई—

अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा।

अस्तु !

रामो द्विर्नाभिभाषते

वस्तुतः भगवान् श्रीराम सत्यकाम, सत्यसंक सत्यव्रत, सत्यसंध, सत्ययोनि तथा सत्यके भी सत्य हैं—

एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशो विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः'

(छान्दो० ८ । १ । ५

सत्यसंकल्पः आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्ध सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः

(छा० ३ । १४ । २

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च' (वेदान्तदर्शन १ । २ । २

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

(इस श्लोकके 'सत्यव्रत' शब्दकी व्याख्यामें स श्रीधरस्वामी, जीवगोस्वामी, सिद्धान्तप्रदीपकार शुक सुदर्शनसूरि, वीरराघवाचार्य, वंशीधर आदि सभीने स संकल्प' अर्थ ही किया है।) श्रीरामसहस्रनाममें उन एक नाम 'सत्य' तथा एक 'सत्यसंध' भी आता है—

उत्तमः सात्त्विकः सत्यः सत्यसंधस्त्रिविक्रम

(रामसहस्रनाम

भगवान् रामका परिचय कराते हुए 'मूलरामाय श्रीनारदजी महर्षि वाल्मीकिसे कहते हैं—

---

१. 'वितथा हि संसारिणां कामाः। ईश्वरस्य विपरीताः। ……'संकल्पाः कामाश्च शुद्धसत्त्वोपाधिनि ईश्वरस्य चित्रगुवत्' (शांकरभाष्य)

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ।
(१२)

यहाँ 'सत्यसंध' की टीकामें गोविन्दराज तथा रामायण-शिरोमणिकार शिवसहायजी पूर्वोक्त **'अप्यहं जीवितं जह्याम्'** आदि श्लोकको उपन्यस्त करते हुए लिखते हैं—

'सत्या यथार्था संधा—प्रतिज्ञा यस्य स सत्यसंधः'

अर्थात् जिसकी प्रतिज्ञा सच्ची हो, वह सत्यसंध है । तिलक-टीकाकार श्रीभट्टजी लिखते हैं—

सत्या अमोघा संधा प्रतिज्ञा यस्य

अर्थात् जिसकी प्रतिज्ञा अमोघ—अव्यर्थ हो, वह सत्यसंध है। रामायणतत्त्वदीपिकाकार माहेश्वरतीर्थ लिखते हैं—

सत्या यथार्था संधा प्रतिज्ञा यस्य सः ।

सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी। भरत राम आयस अनुसारी ॥

—आदि चौपाइयोंमें गोस्वामीजीने भी ठीक यही भाव प्रकट किया है । इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् श्रीराम भी अपना स्वभाव इस प्रकार प्रकट करते हैं—

करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ।
(वाल्मी० रा० २ । १८ । ३०)

मुखाद्विनिर्गतं वाक्यमेकमेव विनिश्चितम् ।
न क्रियते मृषा तच्च नोच्यते ह्यपरं वचः ॥
(आनन्दरामा० विलासका० ७ । १२)

द्विः शरं नाभिसंधत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ।
(हनुमन्ना० १ । ४८; महानाटक[१] २ । २४)

इसकी व्याख्यामें कालीपाद शर्मा तथा जीवानन्दजीने जो कुछ लिखा है, उसका सार इस प्रकार है कि श्रीरामचन्द्र किसी बाणका एक ही बार संधान करते हैं; आश्रित—शरणागत जनोंकी एक ही बार स्थापना करते—बसाते हैं, क्योंकि उसे कोई पुनः उजाड़ नहीं सकता; अर्थिजन—याचकोंको एक ही बार देते हैं, उसे पुनः माँगना नहीं पड़ता; साथ ही उनके पास जाकर कोई अर्थी निराश भी नहीं जाता—

तादृशे वदान्ये नास्ति प्रार्थनाभङ्गभीतिरपि ।

—तथा जो एक बार कह देते हैं, उसे अन्यथा नहीं करते; अतः उस सम्बन्धमें किसीको भी चिन्ता-आशङ्का करना व्यर्थ है ।

गोस्वामीजी महाराजकी व्याख्या

गोस्वामीजीके शब्दोंमें इन चारों पदोंकी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—

द्विः शरं नाभिसंधत्ते—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥

दुंदुभि अस्थि ताल देखराए । बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए ॥
—इत्यादि ।

द्विःस्थापयति नाश्रितान्—

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माहिं ।
पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं ॥

उथपे तेहि को, जेहि रामु थपै, थपि है तेहि को, हरि जौं टरि हैं।
को भरिहै हरि कें रितएँ, रितवै पुनि को हरि जौं भरि हैं॥
(कवितावली; उत्तर० ४७)

द्विर्ददाति न चार्थिभ्यः—

जग जाँचिय कोउ न, जाँचिय जौं जियँ जाँचिय जानकी जानहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे।
गति देखु बिचारि बिभीषन की, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे ।
तुलसी भजु दारिद दोष दवानल संकट कोटि कृपानहि रे ॥
(कवितावली उत्तर० २८)

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥
जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्ही ।
सोइ संपदा बिभीषन को अति सकुच सहित हरि दीन्ही ॥
तुलसी तिलोक की समृद्धि, सौंज, संपदा, सकेलि चाकि राखी
रासि, जाँगरु जहान भो ।
ईसहि चढ़ाइ सीस बीसबाहु बीर तहाँ रावन सो राजा तप
तेज को निधान भो ।

---

[१] हनुमन्नाटकमें यह वचन श्रीरामद्वारा ही कहा गया है, पर महानाटकमें श्रीलक्ष्मणद्वारा ।

तीसरें उपास बनबास सिंधु पास सो समाजु महाराजजू को
एक दिन दानु भो ॥
(कवितावली, सुंदर० ३२)

बल्कल भूषन, फल असन, तृन सज्या, द्रुम प्रीति ।
तिन समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति ॥
कहा बिभीषन लै मिल्यो, कहा दियो रघुनाथ ।
तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मीजिहैं हाथ ॥

और भी कहा है-—

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शंकरात् ।
दर्शनाद् रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥
(महाना० ६ । ७६)

एकै दानि सिरोमनि साँचो ।
जेहिं जाँच्यो, सोइ जाँचकता बस फिर बहु नाच न नाचो ॥
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि, कोउ न देत बिनु पाए ।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाएँ ॥
हरिहुँ और अवतार आपनें राखी बेद बड़ाई ।
लै चिउरा निधि दई सुदामहि जद्यपि बाल मिताई ।
कपि, सबरी, सुग्रीव बिभीषन, केहि नहिं कियो अजाँची ॥

एक अद्भुत बात

भवभूतिकृत महावीरचरित नाटकमें तो इस सम्बन्धमें एक बड़ी ही अद्भुत बात आती है । यद्यपि तुलसीदासजीने भी—

'कहु लंकेस कुसल परिवारा ।' और
'बोलि, लंकेस कहि, अंक भरि भेंट प्रभु तिलक दीयो ।'
(गीतावली)

—आदिसे विभीषणके मिलते ही 'लंकेस' कहनेकी बात लिखी है, तथापि महावीरचरितमें भवभूति लिखते हैं कि पहले विभीषणने श्रीरामचन्द्रजीको एक पत्र लिखा था, जिसमें लिखा था—

स्वस्ति श्रीरामदेवं प्रणम्य विभीषणो विज्ञापयति ।
विशिष्टभागधेयानां त्रयी नः परमा गतिः ।
धर्मः प्रकृष्यमाणो वा गोप्ता धर्मस्य वा भवान् ।
(५ । ३०)

बस, इस पत्रको देखते ही भगवान् उन्हें लङ्काका राज्य देनेका संकल्प कर लेते हैं और लङ्केश्वर कहते हैं

वत्स ! ब्रूहि किं संदिश्यतामेवंवादिनः प्रिय-
सुहृदो लङ्केश्वरस्य महाराजविभीषणस्य ।
(४ । १

—और फिर उसे विधिवत् क्रिया एवं फल परिणत कर देते हैं और विभीषणको कल्पान्त निष्कण्टक राज्य मिल जाता है ।

योगदर्शनका एक सूत्र है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।
(२ । ३६

अर्थात् सत्यकी दृढ़ साधनासे मनुष्यके शाप, दान, संकल्प—सब सत्य हो जाते हैं[1] ।

भगवान् श्रीराम सत्यपालनमें सर्वाधिक तत्पर हैं—

मैं सोइ सत्य सुलभ करि पावा । तजे तिहूँ पुर अपजस
(आदि

अधिक क्या, वे साक्षात् सत्य-धर्मके विग्रह ही हैं भागवतकारके शब्दोंमें वे सत्यकी योनि हैं, अतः उन कोई संकल्प असत्य कैसे हो सकता है । सत्यके तो वे ही हैं ।

जो कछु कहा सत्य सब सोई । सखा बचन मम मृषा न होई ।
तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा । जस काछिय तस चाहिय नाचा ।
—

उपसंहार और एक आवश्यक निवेदन

अस्तु ! प्रणतरक्षा, धर्म-रक्षाका व्रत उनका दृढ़ है—

---

[1] इस सूत्रके भाष्यमें श्रीव्यासजी कहते हैं—
'धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः—अमोघाऽस्य भवति ।'
इसके योगवार्तिकमें विज्ञान-भिक्षु लिखते हैं—
'एवं प्रकारेणास्य योगिनो वाक् सत्या भवति । अत्र मनसोऽप्युपलक्षणम् ।'
—अर्थात् ऐसे योगीके वचनके साथ संकल्प भी जाते हैं । यहाँ भाष्यकारका 'वाक्' शब्द मनका भी उपल

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(विष्णुधर्मोत्तर १ । ३८ । १०; गीता ४ । ७)

—वह चाहे कोई भी युग हो[1] । इस समय भी धर्म-रक्षार्थ भगवान्‌की चेष्टाके संकेत मिल रहे हैं । विचार करनेपर इस समय धर्मपर आपत्ति भी अत्यधिक दीखती है । वर्णव्यवस्था तथा धर्म-कर्मको नष्ट करने, देव-मन्दिर आदिको भ्रष्ट करनेका सिरतोड़ प्रयत्न किया जा रहा है। सीता-सावित्रीके पातिव्रत्यकी खिल्ली उड़ायी जा रही है तथा प्राचीन संस्कृतिके प्रति अश्रद्धा प्रकटकर राष्ट्रद्रोह करते हुए भी लोग अपनेको राष्ट्रभक्त, देशरत्न कह रहे हैं । साधारण जनताको मार्गका ही ज्ञान नहीं रहा । समाजवाद और साम्यवादके द्वारा जडवादका प्रभाव बड़ी तेजीसे फैल रहा है । बड़े-बड़े शिक्षालय तो जैसे नास्तिकोंको उत्पन्न करनेके कारखाने ही बन रहे हैं । जब ईश्वर ही नहीं, तब परलोक और पाप-पुण्यका विचार कैसा । फिर तो ईमानदारी और नेकनीयती भी स्वप्नकी वस्तुएँ हैं । फलतः देशमें प्रतिदिन सर्वत्र सहस्रशः डाके, चोरी, हत्या, लूट, बेईमानी, धोखा, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि भीषण अनर्थ हो रहे हैं । दीनता-दरिद्रताकी सीमा हो रही है । खानेको अन्न नहीं, तन ढकनेको वस्त्र नहीं, पैसेका कोई मूल्य नहीं और इतनेपर भी रात-दिन चोरी आदिकी चिन्तासे नींद और शान्ति हराम । यह अवनति नहीं तो और क्या है ? इस प्रकारकी अनियन्त्रित तथा धर्महीन, विचारहीन स्थिति विनाशका ही संकेत है । अणुबम, हाइड्रोजन बमोंका निर्माण तथा भीषण युद्धकी आशङ्का भी विनाशके ही संकेत हैं । आगामी सं० २०१८ की माघ कृष्णा चतुर्थीसे शुक्ला चतुर्थीतक पूरे पक्षभर ७ ग्रहोंका तथा त्रयोदशीसे प्रतिपदा (सन् १९६२ की फरवरी ३ से ५) तक ८ ग्रहोंका एकत्र होना और ९वें ग्रह केतुका उनपर दृष्टिपात करना भी भीषण विनाशके ही संकेत हैं । विगत महाभारत-युद्धमें भी इतने ग्रह एकत्र नहीं थे । सन् १९३४की जनवरीमें, जब बिहार आदिमें भीषण विनाशकारी भूकम्प हुआ था, उस समय भी केवल छः ग्रह ही एकत्र थे । पर यहाँ तो समस्त ग्रह ही एकत्र हो रहे हैं । सभी ग्रहोंके एकत्र होनेका फल शास्त्रोंमें एक प्रकारसे प्रलय ही बतलाया गया है । इसमें 'विनाशाय च दुष्कृताम्' का स्पष्ट ही प्रबल संकेत है । इतने ही नहीं, और भी बहुत-से ऐसे योग एवं ज्यौतिष-सम्बन्धी तथा साधन-अनुष्ठानकर्ताओंके ध्वनि, स्वप्न आदिके विविध संकेत उपलब्ध हैं, जिनसे शीघ्र ही कुछ वर्षोंमें भारी परिवर्तन और हेर-फेरकी आशङ्का है । ऐसी दशामें हमारी तो प्रत्येक व्यक्तिसे हाथ जोड़कर यही प्रार्थना है कि वे यदि अपना तथा संसारका कल्याण चाहते हों और भीषण विनाशसे बचना-बचाना चाहते हों तो बस, भगवान्‌के शरणागत होकर आगेसे कोई भी बुरा कर्म न करने, निरन्तर शुभ क्रियाओंमें ही प्रवृत्त रहनेका संकल्प कर लें तथा इसके लिये दृढ़ प्रयत्नशील बनें । यदि ऐसा हुआ तो भगवत्कृपासे भारतका तथा विश्वका बड़ा उपकार होगा; क्योंकि 'सकृदेव प्रपन्नाय' आदिके रूपमें प्रणत रक्षाका अनादि शुभ संकल्प भी भगवान् भूल नहीं सकते ।

◆

---

[1] रावण आदिकी मृत्यु ब्रह्माजीने मनुष्यके हाथ कही थी, अतः प्रभुको वैसा ही शरीरधारण—अवतरण आवश्यक हुआ । अन्य युगों, अवस्थाओंमें अन्य विग्रहों, आवेशावतारों या अन्य उपायों या केवल संकल्पादिके द्वारा ही यह कार्य प्रभु करते हैं ।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी)

[गतवर्षके पृष्ठ १०६० से आगे]

परम पवित्रसलिला भगवती त्रिवेणीके भाग्यवान् मनोरम तटपर भक्तिमयी गङ्गाकी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। आज श्रीतीर्थराज प्रयागकी प्रसन्नताका पारावार नहीं है। वे अपनेको विश्वका सर्वश्रेष्ठ भाग्यवान् समझ रहे हैं। क्यों न समझें; आज उनके परम पुनीत वक्षःस्थलको श्रीरामप्रिय प्रजाने अलंकृत जो किया है। परंतु यह उपस्थित जनसमुदाय पूर्ण प्रसन्न नहीं प्रतीत हो रहा है। यह समाज तो किसीकी प्रतीक्षामें संलग्न है। किसीके शुभ दर्शनार्थ प्रत्येकके नेत्र लालायित हैं। श्रीतीर्थराज प्रयाग भी अपनेको महाभाग्यवान् मानकर भी किंचित् न्यूनताका अनुभव कर रहे हैं। वे सोचते हैं—“मुझे सानुज सीयसमेत महाप्रभु श्रीरघुनाथने सनाथ किया और उनकी मङ्गलमयी प्रजाने भी भलीभाँति अपनाया; परंतु मेरे ‘तीर्थराज’ नामकी सार्थकता तभी सिद्ध होगी; जब ‘श्रीभक्तराज’के पावन चरणोंसे मैं अपने हृदयको सुशोभितकर, परम पुनीत हो, कृतार्थ हो जाऊँगा, उनके भावमय मुखचन्द्रको निहार लूँगा, उनकी भावमयी वाणी कर्णगत कर लूँगा एवं भक्ति और प्रेमकी साकार प्रतिमा—उस महान् श्रीरामभक्तको आज अपने सांनिध्यमें पाकर, उनके मुनि-जन-अभिनन्दित, भक्त-जन-वन्दित युग्म पाद-पद्मोंका सेवन करके धन्य हो जाऊँगा।’ इस प्रकार आकुल-नयन-मन एवं निःशब्द होकर सभी प्रतीक्षामें व्यस्त हैं।

उपस्थित जनसमूह सतर्क हो गया। समस्त समाजमें किंचित् प्रकम्पनकी स्थिति समुत्पन्न हो गयी। मन आकुल हो गया। नेत्र दर्शनार्थ समुत्कण्ठित हो गये। श्रोत्र श्रवणार्थ समुत्सुक हो गये उस अव्यक्त ध्वनिको, जो ध्वनि सुमधुर होनेके साथ-साथ चित्ताकर्षक एवं हृदयद्रावक भी है। लो! ध्वनि स्पष्ट हो गयी। उसे भलीभाँति श्रवण करके ‘जिय-जरनि’का शमन कर लो। सुनो, अहा! वाणी कितनी सुधासिक्त है; कैसी दिव्य माधुरी है उसमें, जिसके श्रवण मात्रसे ही हृदय बरबस अनुरक्त हो जाता है। क्यों न हो, उस वाणीमें श्रीयुगल-सरकारका नाम ही तो विद्यमान है। प्रभुका नाम है ही अत्यन्त मधुर एवं मनोहर—‘आखर मधुर मनोहर दोऊ।’ वह नाम भी समुच्चरित है एक भावुक-हृदय भक्तराजकी पाषाण-द्रावक सुमधुर गिरासे। इन पुरवासियों एवं श्रीतीर्थराजकी भाँति ही इन भक्तराजके दर्शनार्थ आपके भी भाग्यवान् नेत्र ललक रहे होंगे। व्याकुल न हों। लीजिये, विश्ववन्द्य महाकविके शब्दोंमें ही सुदर्शनका सुमधुर सुयोग लें—

> ‘भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
> कहत रामसिय रामसिय उमगि उमगि अनुराग॥

यद्यपि श्रीभरतलाल आज पैदल ही चलकर आये हैं, उनके युगल चरण-कमल झलकोंसे संयुक्त हैं, तथापि उन्होंने क्षणमात्र भी विश्रामकी आवश्यकता नहीं अनुभव की। उनके मनमें चिन्ता है—‘मेरे विलम्बसे आनेके कारण कहीं मेरे प्राणप्रिय श्रीरामकी मङ्गलमयी प्रजा क्लेश-भाजन तो नहीं हुई? उसे विशेष प्रतीक्षा तो नहीं करनी पड़ी? वे पुरवासी लोग स्नानादि कृत्यसे निवृत्त हुए अथवा नहीं? उनका नित्यकर्म समोद सम्पन्न हुआ अथवा नहीं” धन्य हैं वे श्रीराम-पुरवासी, जिन्हें श्रीभरतके हृदय-कमलमें स्थान प्राप्त है, जो श्रीभरतलालकी कर-कमल-छायामें सुरक्षित हैं, जिनकी चिन्ता वे स्वयं करते हैं। क्यों न करें। प्रियतमकी प्रियवस्तु कौन सँजोकर रखना नहीं चाहेगा। प्रियतमके प्रिय लोगोंको कौन प्राणाधिक प्रिय न समझेगा? ये पुरजन श्रीभरतलालके परम प्रियतम, परम प्रेमास्पद, परमाराध्य, परमप्रभु श्रीराघवके परम कृपापात्र हैं। कृपापात्र ही क्यों, उनकी ममताके केन्द्र भी हैं। प्रभुकी वह कृपामयी ममता भी अल्पमात्रामें नहीं है इनपर—‘ममता जिन पर प्रभुहि न थोरी।’ अस्तु, श्रीभरतलाल तो श्रीरामके अनुज ही हैं। जिनपर प्रभुकी ममता हो, श्रीभरतको उनकी चिन्ता होनी स्वाभाविक है।

> खबरि लीन्ह सब लोग नहाए।

श्रीअवधनिवासियोंकी ओरसे सुनिश्चिन्त होकर श्रीत्रिवेणी-की वन्दना की भैया श्रीभरतलालने। श्रुति-शास्त्रानुमोदित विधिसे ‘सितासित’ जलमें स्नान किया। तीर्थ-स्नानके पश्चात् दान-दक्षिणाके द्वारा भूसुरवृन्दको परितुष्ट करना भी स्नानका एक आवश्यक अङ्ग है। धर्मप्रवीण श्रीभरतलालने

यह आवश्यक अङ्ग अवशिष्ट कैसे रह सकता था । सात्त्विक दानमें अभिमानका अत्यन्ताभाव एवं दानपात्रका सम्मान सुप्रशंसित है । विमलकीर्ति श्रीभरतके द्वारा यदि सात्त्विक दान आदृत न हुआ तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा ।

……………………'कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहिं आए ॥
सबिधि सितासित नीर नहाने । दिए दान महिसुर सनमाने ॥

× × × ×

देखत स्यामल धवल हिलोरे । पुलकि सरीर भरत कर जोरे ॥

श्रीत्रिवेणीमें श्रीगङ्गा: श्रीयमुना एवं श्रीसरस्वतीकी सम्मिलित तीन पवित्र धाराएँ हैं । इनमें श्रीसरस्वतीकी धारा गुप्त है । प्रत्यक्ष दो हैं—श्रीगङ्गा और श्रीयमुनाकी । इनमें एक श्वेत है, दूसरी श्यामल । भक्तिस्वरूपा भगवती भागीरथीकी शुक्ल धाराको निहारनेपर परम भावुक श्रीभरतलालके मनमें उसी धाराके समान सुपवित्र भक्तिस्वरूपा श्रीमैथिलीकी एवं श्रीयमुनाकी मङ्गलमयी श्यामल धाराका अवलोकन करनेपर 'श्यामल तनु' श्रीरामचन्द्रकी स्मृति सबल हो गयी । इस प्रकार 'श्यामल धवल हिलोरे' देखकर श्रीभरतलालने तीर्थराज प्रयागमें ही अपने परम उपास्य श्रीयुगल स्वरूपके पवित्र दर्शन कर लिये । यही तो प्रभुभक्तका लक्षण है । उत्कृष्ट कोटिका प्रेमी विश्वके अणु-अणुमें अपने श्रीरामको निहार कर आनन्दार्णवमें डुबकियाँ लगाता रहता है । 'निज प्रभु मय देखहिं जगत'—यही तो लक्षण है श्रीरामके परम पावन प्रेमी भक्तका । श्रीभरतलालके समग्र शरीरमें प्रेमके लक्षण आविर्भूत हो गये । पुलकावलि छा गयी । धैर्य धारण किया और कराञ्जलिको सम्पुटित करके लगे विनयसंयुक्त प्रार्थना करने—

सकल कामप्रद तीरथ राऊ । बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥
माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू । आरत काह न करइ कुकरमू ॥
अस जियँ जानि सुजान सुदानी । करहिं सुफल जग जाचक बानी ॥

'हे तीर्थराज ! आप संसारके सभी जीवोंकी सम्पूर्ण अभिलाषाओंको परिपूर्ण करनेवाले हैं । आपके अङ्कमें आकर कोई याचक निराशाका अवलम्बन नहीं करता । आपका महत्त्वपूर्ण प्रभाव भगवती श्रुति जानती हैं । आपका प्रभाव समस्त विश्वमें प्रत्यक्ष है । आज मैं अपने क्षात्र-धर्मसे विमुख हो याचक बनकर 'भीख' माँग रहा हूँ । आर्त दुखी होकर प्रत्येक कर्म कर लेता है । उसकी दृष्टिमें कुकर्मकी चिन्ता हेय रहती है । विज्ञ एवं उदार दाता स्वानुभवसे याचकका हृदय परख लेते हैं । परखते ही नहीं, वे उसे संतुष्ट भी करते हैं—वह जो भी माँगता है, उसे उदारताके साथ प्रदान करते हैं । याचककी वाणी व्यर्थ नहीं होने पाती ।

त्यागि निज धरमू—यद्यपि धर्मकी गति परम गहन है । उसका विशेष विवेचन भी यहाँ असम्भव है, तथापि इस प्रसङ्गसे सम्बन्धित किंचित् धार्मिकी व्याख्याका उल्लेख करके ही आगे बढ़ना श्रेयस्कर होगा ।

धर्मके दो भेद हैं—सामान्य और विशेष । विशेषमें सामान्य लय हुआ करता है—विशेष पदार्थ सामान्य पदार्थको उदरस्थ कर लेता है । यह एक प्राकृतिक नियम है । भगवान् भुवनभास्कर उदयाचलपर उदय होते ही चन्द्र-ज्योत्स्नाको विलीन कर देते हैं अर्थात् सूर्यका विशेष प्रकाश चन्द्रके साधारण प्रकाशको उदरस्थ कर लेता है । विश्वके सम्पूर्ण धर्म सामान्य धर्म हैं । उन सामान्य धर्मोंमें श्रेष्ठतम धर्म सत्य है—'धर्म न दूसर सत्य समाना ।' विशेष धर्म है—'भगवच्चरणानुराग' परम आवश्यक कृत्य होनेपर विशेष धर्मके लिये सामान्य धर्मका परित्याग वाञ्छनीय होता है । अर्थात् श्रीरामप्राप्तिके लिये, श्रीराम-सुख-सम्पादनके लिये सत्यतकका परित्याग किया जा सकता है । अलौकिक-ज्ञान-सम्पन्ना श्रीराममाता देवी कौसल्याने स्पष्टतः इस सिद्धान्तकी घोषणा की है—

सुनहु राम मेरे प्रानपियारे ।
वारौं सत्य वचन श्रुति सम्मत, जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे ॥
बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो, सो तो नाहिं सँभारे ।
हरि तजि धरमसील भयो चाहत, नृपति नारि बस सरबस हारे ॥
रुचिर काँचमनि देखि मूढ़ ज्यों करतल तें चिंतामनि डारे ।
मुनि लोचन चकोर ससि राघव, सिव जीवन धन, सोउ न बिचारे ॥
जद्यपि नाथ तात माया बस सुखनिधान सुत तुम्हहि बिसारे ।
तदपि हमहि त्यागहु जनि रघुपति, दीनबंधु दयालु मेरे बारे ॥
(गीतावली)

—मेरे प्राणाधिक प्रिय, मेरे राम ! 'सत्य' सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है । सत्यकी प्रशंसा भगवती श्रुति भी करती हैं । इस वेद-प्रशंसित सत्यको भी मैं तुम्हारे ऊपर न्योछावर करती हूँ । अर्थात् यदि तुम्हारे वियोगमें श्रुति-प्रतिपाद्य सत्य भी सहायक है तो उस महान् धर्म सत्यको भी मैं परित्याग करनेको प्रस्तुत हूँ । सम्पूर्ण साधनोंके परिणामस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।

सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसनु पावा ॥'

—वह ब्रह्म श्रीरामके रूपमें हमें अनायास ही सम्प्राप्त है। फिर भी उस ब्रह्मकी सँभाल नहीं की जा सकी, इसके विपरीत उसी ब्रह्मका परित्याग करके धर्मशील होनेको प्रस्तुत हैं श्रीअवधनरेश ! जिस प्रकार कोई मूढ़ व्यक्ति सुरम्य काँच मणिका अवलोकन करके करतलप्राप्त चिन्तामणि-जैसी अलभ्य मणिका परित्याग कर दे, उसी प्रकार वन्द्य नरेशने स्त्रीके वशमें होकर अपना सर्वस्व गँवा दिया। श्रीराघवेन्द्र राम मुनियोंके नेत्ररूपी चकोरको आनन्द देनेवाले चन्द्र हैं और भगवान् भूतभावन शंकरके जीवनधन हैं। यह बात भी सोचनेमें श्रीमहाराज असमर्थ ही रहे। मेरे लाल ! पूज्य श्रीमहाराजने परम सुखद पुत्रको विस्मृत कर दिया। इसमें मायाकी ही प्रबलता है। हे दीनबन्धु, परमकृपालु रघुनन्दन, मेरे वत्स ! अपने पिताके कारण अपनी इस दीना माँका परित्याग न करो।"*

इसी आशयको लेकर भगवान् यादवेन्द्र आनन्दकन्द ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने परमभागवत श्रीअर्जुनको उपदेश दिया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अस्तु, श्रीभरतलाल सामान्य धर्मकी चिन्ता न करके भगवच्चरणारविन्दानुराग स्वरूप विशेष धर्मके संरक्षणमें प्रयत्नशील हैं। इस विशेष धर्मके सुरक्षित रहनेसे सामान्य धर्म स्वयमेव सुरक्षित रहते हैं। इस विशेष धर्मके विनष्ट हो जानेसे परिरक्षित रहनेपर भी साधारण धर्म भगवद्-विमुख हो जाते हैं।

जाँति पाँति धन धरम बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

पाठक विचार करें। क्या जलके बिना भी जलदका अस्तित्व है ? अब आइये, श्रीभरतलालकी पवित्र गिराकी माधुरीका आनन्द लें।

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

'हे सुजान दानी ! अर्थ, धर्म एवं कामकी मुझे इच्छा नहीं है। ये वर्गत्रय तो मुझे स्वयमेव सुलभ हैं। अर्थ राज्य पितृदेवने दिया ही है, जिस राज्यको मैं श्रीरामके चरणोंमें समर्पित करना चाहता हूँ। धर्म एवं काम भी मुझे उपलब्ध हैं। अतः इन वर्गत्रयकी प्राप्तिमें मेरी मति नहीं है। अप्राप्त मोक्षकी समुपलब्धि मैं करना नहीं चाहता। मैं सगुणोपासक हूँ और सगुणोपासककी वृत्ति मोक्षमें कदापि नहीं रहती। वह तो चाहता है अपने श्रीरामके मुनि-जन-चुम्बित भक्त-जन-लालित श्रीविदेहजासेवित पूत पाद-पद्मोंकी परम पावनी सुभक्ति। अतः अन्य वरदानोंकी अपेक्षा आप मुझे यही वरदान दें—'मैं अपने स्वामी श्रीराघवेन्द्र सरकारके श्रीमैथिली-कर-सरोज-लालित चरण-सरसिजोंका रसास्वादन लुब्ध मधुपकी भाँति करूँ। अर्थात् श्रीरामभद्रके चरणोंका अनुरागी बनूँ। मेरा वह अनुराग किसी विषम परिस्थितिमें भी न्यून न हो। स्वामी मुझे कुटिल समझें, अथवा लोग मुझे गुरुद्रोही और स्वामिद्रोही कहें—इसकी चिन्ता मुझे रञ्चमात्र भी नहीं है। मैं अपने परम प्रेमास्पद, श्रीशंकर-मानस-राजमराल, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र एवं निखिल-कल्याणकर्त्री, भक्तजनवन्दिता भगवती श्रीजनककिशोरीके चरणोंमें दिनोदिन अनुरागको वृद्धिंगत कर सकूँ—यही मेरी अभिलाषा है।'

प्रेमियोंकी अभिलाषाएँ भी बड़ी विचित्र होती हैं। प्रथम तो वे कोई अभिलाषा करते ही नहीं; करते भी हैं तो विचित्र—आत्मत्यागकी महान् भावनासे भावित होकर 'प्रियतमके पास समाचार भी न पहुँच सके कि मैं आपका प्रेमी हूँ और मैं प्रियतमके स्मरणमें जन्म-जन्मान्तर मगन रहूँ।' कैसी विचित्र एवं अनुपम अभिलाषा है। धन्य हैं प्रेमी और बलिहारी है उनकी अभिलाषाओंको।

श्रीभरतके अनुरागमय वचनोंको श्रवण करनेके अनन्तर श्रीगङ्गा, यमुना और सरस्वती स्वयं अनुरागग्रस्त हो गयीं और वे अपने विभिन्न-विभिन्न वाक्योंसे प्रेममूर्ति श्रीभरतलाल-को संतोष प्रदान करती हुई अपने-अपने सौभाग्य एवं महत्त्वको वृद्धिंगत करने लगीं।

---

* यहाँपर पाठकोंके मनमें एक प्रश्न अनायास ही उठ सकता है। 'यदि प्रेमी लोग श्रीरामचरणदर्शनके लिये—श्रीरामसुखसम्पादनके लिये सत्यका भी परित्याग कर सकते हैं तो सत्य-प्रेमी महाराज श्रीदशरथजीने श्रीरामसुख एवं श्रीरामकी अपेक्षा सत्यको श्रेयस्कर क्यों समझा ? उन्होंने सत्यका परित्याग करके श्रीरामके वनगमन-सदृश विषादपूर्ण कार्यको स्थगित क्यों नहीं कर दिया !' इस प्रश्नका उत्तर अत्यन्त मनोरम है। परंतु प्रसङ्गसे असम्बद्ध होनेके कारण एवं लेखका कलेवर विस्तृत होनेके भयसे प्रस्तुत लेखमें इसका उत्तर नहीं दिया जा रहा है। पुनः कभी इस प्रश्नपर प्रकाश डालनेका विचार है।

साक्षात् वाग्देवता भगवती शारदाने कहा—“तात भरत ! आप समस्त गुणसम्पन्न हैं । आप यह सोचते हों कि ‘मेरे कारण ही श्रीरामका वनगमन हुआ है, इसीलिये श्रीराम मुझे कुटिल समझेंगे अथवा समझ रहे होंगे । लोग मुझे गुरु-द्रोही एवं स्वामिद्रोही समझ रहे हैं ।’ तो ऐसी भ्रममूलक चिन्ता आप न करें । आप तो सब प्रकारसे साधु हैं—परोपकार-रत हैं—

राम भगत परहित निरत परदुख दुखी दयाल ।
भगत सिरामनि भरत ते जनि डरपहु सुरपाल ॥

“श्रीरामके वनगमनमें दोष तो सब मेरा है । आगे चलकर महर्षि भरद्वाज भी यही कहेंगे—

ई गिरा मति धूति ।’ ‘तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू ।’’

अखिल-जग-पावनी भगवती सुरसरिताने कहा—‘भक्त-श्रेष्ठ ! श्रीरामके चरण-सरसिजोंमें आपका अनुराग अगाध है । अर्थात् उस अनुरागको वृद्धिंगत करनेकी बात तो पृथक् रही, हमलोग तो उस अगाध अनुरागकी थाह पानेमें भी असमर्थ हैं—

राम चरन अनुराग अगाधू ।

श्रीसूर्यतनया देवी यमुनाने कहा—हे भावुक भरतलाल ! आप अपने मनमें व्यर्थ ही ग्लानि कर रहे हैं । श्रीरामको आपके सदृश प्रिय अन्य कौन होगा ? श्रीराम आपको कितने प्रिय हैं और प्रभुका आपपर कितना महान् स्नेह है, मैं भली भाँति जानती हूँ । जिस समय श्रीरामभद्र यहाँ स्नान कर रहे थे, उस समय मेरी श्यामताका अवलोकन करके आपके स्मरणमें वे विह्वल हो गये थे ।

बादि गलानि करहु मन माहीं । तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं ॥

× × ×

तनु पुलकेउ हियँ हरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल ।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिं फूल ॥

त्रिवेणीकी मङ्गलमयी अनुकूल वाणीको श्रवण करके श्रीभरतलालके शरीरमें पुलकावली छा गयी । हृदय हर्ष-विभोर हो गया । इस प्रकारके स्नेहपूर्ण वातावरणको देखकर जन-समुदाय परमानन्दमें निमग्न हो गया । अमरगण भी प्रसन्न होकर पुष्पवर्षण करनेके सौभाग्यसे अपनेको वञ्चित रखनेमें असमर्थ हो गये । उनकी वाणीसे ‘धन्य-धन्य’ की मङ्गलमयी ध्वनि स्वयमेव झंकृत हो उठी । इस प्रकार मनमें मोद भरकर, वचनसे ‘धन्य-धन्य’ कहकर और कर्मसे सुमन-वर्षणकी क्रिया सुसम्पादित करके अमरगण मन-वचन-कर्मसे श्रीभक्त-राजकी सेवामें सलग्न हो गये ।

श्रीभरतलालके ससैन्य पधारनेके संवादसे श्रीनिषादकी ही भाँति प्रयागके निवासी भी श्रीभरतके प्रति अनुकूल धारणा बनानेमें अक्षम थे । वे शङ्कित हो गये थे । दुःखकी मात्रा भी कुछ न्यून नहीं थी उनके मनमें । परंतु श्रीत्रिवेणीके सम्मिलित प्रशंसात्मक वचनोंको श्रवण करनेके बाद श्रीभरतलालकी दैन्यसंयुक्त वाणीने एव उनके मधुर शील-स्वभावने इनकी भ्रममूलक शङ्काओंको समूल नष्ट कर दिया । इनकी शङ्कामात्र ही नष्ट नहीं हुई अपितु यह समुदाय श्रीभरतके अद्भुत स्नेहके कारण एक अलौकिक एव दिव्यातिदिव्य आनन्दका अनुभव करने लगा ।

प्रमुदित तीरथराज निवासा । बैखानस बटु गृही उदासा ॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा । भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा ॥

इस प्रकार भावमय भैया श्रीभरतलालकी एक विकट परीक्षा और होते-होते रह गयी ।

मनको प्रबोध

(रचयिता—श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय ‘साँवरा’)

मेरौ कह्यौ करि मन एह ।
सकल जग तजि, गहि सु गिरिधर, करि लतन तर गेह ॥
अति सुसंजम जुत रहै सहि, उष्न सीतल मेह ।
भूख लगि ब्रज टूक माँगहि, अधिक नहिं कछु लेह ॥
मुख जपै हरिनाम अविरल, बिसरि सुधि बुधि देह ।
तन पुलकि ब्रज धूरि लोटहि, भीजि ‘साँवर’ नेह ॥

भक्त परमानन्ददासजी

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—क० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न)

जीवनके सत्य-शिव-सुन्दरकी अभिव्यक्ति ही कला है। जो वस्तु सीधे मर्मको स्पर्शकर दर्शक या श्रोताको भावनिमग्न कर दे, कलाका उत्कर्ष वही है। किंतु इस अभिव्यक्तिमें मार्मिकता तब आती है, जब कलाकार स्वयं आत्मविस्मृति और तन्मयतामें अपनेको खो दे, भुला दे। ऐसा भावुक हृदय ही कवि, चित्रकार, गायक आदि विविध रूपोंमें व्यक्त होता है। प्रेमी और भक्त भी इसी कोटिमें आते हैं। वे भी जीवनके उसी सत्य, शिव, सुन्दरको अन्तरतममें अनुभूतियोंके स्तरपर लाकर, उसमें अपनेको तदाकार पाते हैं और तब उनकी वाणी, उनकी कृति और गति-विधिसे वही भाव-विभोरता फूट पड़ती है, जो सहज ही काव्य, चित्र, संगीत-सरीखी कलाओंकी माधुरी देकर शत-शत जीवनोंको चिरंतन सौन्दर्य प्रदान करती है।

अष्टछापके भावुक कवि परमानन्ददास भी ऐसे ही भक्ति-कलाकार हैं, जो श्यामसुन्दरकी रूप-माधुरी और उनके अनुराग-रागमें पगी परम भाग्यवती व्रजाङ्गनाओंके सरस हृदयके अभिव्यक्त रूप हैं—तद्रूप प्रेमके प्रतीक हैं। उनके भावुक हृदयमें नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनीकी प्रथम स्नेह-तन्मयताका कितना सुन्दर चित्र उतरता है, देखिये—

> प्रथम सनेह कठिन मेरी माई !
> दृष्टि परी बृषभाननंदिनो, अरुझे नयन निरवारे न जाई ॥
> बछरा छोरि खरिक में दीनौ, आपुन झिमिक तिरीछी माई ।
> नोवत वृषभ, गईं चलि गइयाँ, हँसत सखा कहा दुहत कन्हाई ॥
> चारो नैन मिले जब संमुख, नँदनंदन सों रुचि उपजाई ।
> 'परमानंददास' उहि नागरि नागर सों मनसा अरुझाई ॥

प्रथम स्नेहमें कितनी तल्लीनता है ! वृषभानुनन्दिनी सामने दृष्टि पड़ जाती हैं। नन्दनन्दनके नेत्र उनके रूप-सौन्दर्यमें जा उलझते हैं। गोदोहनका समय है। नेत्र मिलते ही मानो सुध-बुध भूल गये—कहाँ गयी दोहनी, कहाँ गये बछड़े, कहाँ गयीं गौएँ ! ध्यान भी नहीं रहा—किसीकी रूप-मादकतामें चूर होकर वृषभके नीचे बैठ गये, दुहने लगे। कितना कुतूहलमय दृश्य है—सखा—ग्वाल-बाल सब इस तन्मयता, आत्मविस्मृतिकी स्थितिको देखकर हँसने लगते हैं। आँखोंके डोरे एक बार उलझ जाते हैं तो भला, सुलझ सकते हैं ? 'चार नज़रें' होते ही प्रिया-प्रियतम एक-दूसरेके प्रेम-पाशमें बँध गये, उलझ गये, एकरूप हो गये। आखिर 'नागरी-नागर' जो ठहरे !

अब तो जितना अधिक वे रूप-रसका पान करते हैं, उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है। इस प्यासका स्वाद—इस अतृप्तिमें भी तृप्तिकी अनुभूति वृषभानुनन्दिनी-सरीखी कोई 'सुहागिन' ही कर सकती है। वह तो आज परम सौभाग्यवती है, जिसकी 'सुहागरात' श्यामसुन्दरके वदनाम्बुज-परिमलके अनुपम सौन्दर्य-सुधा-पानमें बीत रही है—प्रेम-चकोरी राधिका अपने चन्द्रानन प्रियतमको देखती ही रह जाती है, एक पलके नेत्र-निमीलन वा पलक गिरनेसे व्यवधान नहीं लाती, मानो उसके मुख-विधुकी समग्र सुधाको निचोड़कर अपनी आँखोंमें भर लेना चाहती है, एक बूँद भी छोड़ना नहीं चाहती। उधर नन्द-नन्दन भी अपनी प्रियतमा स्वामिनीके प्रति—उनके अनन्त निरवधि प्रेमके लिये अपना सर्वस्व समर्पण किये हैं। इस प्रकार 'एक प्रान बपु दोइ' की स्थिति आ गयी है। प्रेमकी इस उत्कृष्ट कोटिका रहस्य स्वानुभव प्राप्त कवि परमानन्द-सरीखे कोई विरले ही जान सकते हैं। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

> कमल मुख देखत त्रिपति न होइ ।
> उह सुख कहा दुहागिन जानै, रही निसा भरि सोइ ॥
> ज्यों चकोर चाहत उडुराजहि, चंद्र बदन रहि जाइ ।
> नेकु अँकोरि देति नहिं राधे चाहत पियो निचोइ ॥
> उन तो अपुनो सरबसु दीनौ, एक प्रान बपु दोइ ।
> भजन भेद न्यारो परमानँद जानत बिरलो कोइ ॥

यही भजन-भेद है—प्रेम, भक्ति और भावनाका निगू तम अनिर्वचनीय रहस्य है।

मनकी यह आसक्ति, रूप—सौन्दर्यकी यह चुभन अ अन्तरतमको बेध जाती है, चित्त समग्ररूपसे सिमिटकर अ प्रेमपात्रमें केन्द्रित हो जाता है। श्यामसुन्दर जब गोधू वेलामें सायंकाल गोधनको साथ लेकर मधुर वेणुवादन क हुए व्रजगोष्ठको लौटते हैं, उस समय प्रियतमके वियो

सम्पूर्ण दिवसके तापसे मुरझायी हुई व्रजाङ्गनाओंको प्रियदर्शनके लिये कितनी उत्कण्ठा—लालसा जाग जाती है, भुक्तभोगी कविकी वाणीमें ही सुनिये—

मेरौ मन उहाँई चाह करै ।
वह मुसुकानि बंक अवलोकनि हिरदै तें न टरै ॥
जब गुपाल गोधन सँग आवत मुरली अधर धरै ।
मुख की धूरि दूरि अंचर करि जसुमति अंक भरै ॥
संध्या समै घोष में डोलत वह सुधि क्यों बिसरै ।
परमानंद प्रीति अंतरगत सुमिरत नैन भरै ॥

मनको रोकते हैं; किंतु वह किसी संयमको, विधि-निषेधको नहीं मानता। गोपाल कृष्णकी उस मन्द मधुर मुसकानको—उनकी बंक अवलोकनिकी चुभनको हृदय भूलता नहीं। वेणुधर गोचारी वनमाली रह-रहकर आँखोंके सामने नाच उठते हैं। गोधूलिमें लिपटी कोमल उत्फुल्ल अलकावलियाँ—व्रज-रज-विलसित मधुर आननकी वह सुषमा, जिसे माताका वात्सल्यपूरित अञ्चल आतुर हो सहज समेट लेता है, गोपाङ्गनाओंके हृदयमें, मनमें, आँखोंमें समायी हुई है—छायी हुई है। यह प्रेमविह्वलता, अन्तरगत प्रीतिकी गम्भीरता उन व्रज-ललनाओंको तो आत्मविभोर कर ही रही है; भावुक कविकी आँखोंमें भी उसके स्मरणसे प्रेमाश्रु छलछला उठते हैं। कितनी भावावेशकी स्थिति है !!

हृदयका हृदयके प्रति आकर्षण प्रेमीके मनको कितना रसमग्न, आतुर और किसी भी मर्यादामें बँधे रहनेमें असमर्थ बना देता है ! प्रियतमकी एक-एक चेष्टा, उसके सौन्दर्य-शृङ्गारकी विधि, उसकी एक-एक मधुर बोली हृदयको—अङ्ग-अङ्गको बलात् उसकी ओर खींच ले जाती है। कविने उसका भावपूर्ण चित्रण किया है—

ता दिन तें मोहि अधिक चटपटी ।
जा दिन तें देखे इन नैनन गिरिधर बाँधे माई पाग लटपटी ॥
चले जात मुसुकाइ मनोहर हँसि जु कही इक बात अटपटी ।
हौं सुनि स्रवन भई अति आतुर, परि जु हिऐं मेरे मदन सटपटी ॥
कहा री कहौं गुरुजन भए बैरी, बैर परे मोसों करत खटपटी ।
परमानँद प्रभु रूप बिमोही, या ढोटा सों प्रीति अति जटी ॥

स्यामसुन्दरकी एक ही बात—'अटपटी' बात मदनकी 'सटपटी' जगानेके लिये पर्याप्त है। फिर उसके साथ उनकी मोहन मुसकानका पुट। अब नेत्र, कान, हृदय विवश क्यों न हो जायँ। ऐसी चटपटीमें गुरुजनोंकी मर्यादा-रेखाके भीतर कैसे बँधा रहा जा सकता है ? इसीलिये आज वे बैरी-से प्रतीत हो रहे हैं। इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें जो अकारण बाधा दे, वही तो बैरी है।

परंतु जब हृदय हार चुका—किसीकी रूप-सुधाके माधुर्यका आस्वादन पाकर, तब मन-प्राण उससे आबद्ध हो गये। स्यामसुन्दरके मधुर प्रेममें—उनके अनूप रूपकी मोहिनीमें हृदय विवश हो गया—

कैसें छूटै स्याम सगाई ।
कोऊ निंदौ कोऊ बंदौ, अब तो इहै बनि आई ॥
मोहन मदन मनोहर मूरति सकल काल सुखदाई ।
देखत रूप अनूप स्याम कौ नैननि परै जुड़ाई ॥
लोक बेद की लाज तजी मैं, जिनि कोउ बरजहु माई ।
परमानँद प्रभु स्वामी पै जैहौं, मिलिहौं ढोल बजाई ॥

'कैसे छूटै स्याम सगाई ?' एक समस्या है, उलझन है; विवशता है। किंतु यह सब कुछ है दूसरोंके लिये ही—उन्हींके लिये, जो लोक-वेदकी मर्यादाओंमें बँधे हुए हैं, जिन्हें निन्दा-स्तुति वा यश-अपयशकी चिन्ता है। यहाँ तो 'कोऊ निंदौ कोऊ बंदौ', परवा ही नहीं। जो कुछ बन पड़ा, सो बन गया। यही उस समस्याका हल है। सकल कामनाओंके पूरक, समग्र सुखोंके दानी मदनमोहनका पल्ला पकड़ लिया—उनसे सगाई कर बैठे, फिर 'वर्ज्य' रहा क्या ? लोकस्तरपर ही तो सारे विधि-निषेध हैं; यह सगाई तो अलौकिक है—प्रेम-सगाई है। मर्यादाओंकी जड़ शृङ्खलाएँ इसकी गतिको पङ्गु कैसे कर सकेंगी ? यह कोई बन्धन, मर्यादा नहीं मानती। युग-युगके बन्धन टूट गये—युग-युगकी पराधीनताएँ विनष्ट हो गयीं। अब तो निर्भय उद्घोष है—'मिलिहौं ढोल बजाई।' कोई छिपाव नहीं, कोई दुराव नहीं—सारा लोक स्याम-सगाईका मङ्गल संवाद जान ले। चिरवियोगिनी—रूपकी प्यासी जलती आँखोंने आज यह मदवेला कठिनाईसे पायी है, जब कि—

देखत रूप अनूप स्याम कौ नैननि परै जुड़ाई ।

प्रेमकी चरम कोटिमें प्रेमी 'लोक-हँसाई' की भी चिन्ता नहीं करता। मन, तन, वचनसे नन्दनन्दनका अनुपम चिन्तन करनेवाली कोई गोपिका तो स्पष्ट घोषणा कर रही है—

करनि दै लोकनि कौं उपहास ।
मन क्रम वचन नंदनंदन को निमिष न छाड़ों पास ॥
सब कुटुंब के लोक चिकनियाँ मेरे माएँ घास ।
अब तो जियँ ऐसी बनि आई, क्यों मानोंगी त्रास ॥

अब क्यों रह्यो परै सुनि सजनो, एक गाउँ को बास ।
ए बातें नीकें जानतु हैं जन 'परमानँद दास' ॥

कितनी मानस उत्क्रान्ति है ! कितना भीषण विद्रोह है—खुला विद्रोह—कुटुम्बियोंके प्रति, समाजकी बाँधी भित्तियोंके प्रति। मर गया लोकापवाद उसके लिये—वह एक निमिषमात्रके लिये भी नन्दनन्दनका वियोग सहन नहीं कर सकेगी। कुटुम्बी उसके लिये तृणवत् हैं, अपदार्थ हैं। 'चिकनियों'के दिये त्रासको—उनके बरजने-रोकनेको अब वह नहीं मानेगी। 'अब तो जियँ ऐसी बनि आई'—भला, एक गाँवमें रहकर—आमने-सामने बसकर भी 'उससे' विलग रहा जा सकता है ? उस लगनको परमानन्ददास-सरीखे कोई प्रेमी ही जान सकते हैं।

यदि कुछ पलोंके लिये श्यामसुन्दर विलग भी हो जाते हैं तो गोपी उन्हींकी रूपमाधुरीमें डूब जाती है—तन्मयतामें उन्मत्त-सी बड़बड़ा उठती है—

आँखिन आगेंहुँ मूँदे, स्यामहुँ कहन लागी गोपी कहाँ गए स्याम।
आदिहुँ स्याम, अंतहू स्याम, रोम-रोम रम रह्यो काम॥
मधुबन आदि सकल बन ढूँढ्यो, ढूँढति फिरी कुंज बन धाम !
'परमानंद दास'कौ ठाकुर अंग अंग अभिराम॥

भीतर-बाहर—सर्वत्र श्यामसुन्दर विद्यमान हैं। आँख खोलती है तो अपनी तल्लीनतामें डूबी अणु, परमाणु, लता, बेल, पल्लव, गुल्म, तृण—सबमें उसी श्याममनोहरकी रूप-छटा बिखरी-निखरी दिखायी देती है ! आँख मूँदती है तो भी हृदयमें, रोम-रोममें श्याम रम रहे हैं। श्याम ही आज मनोज काम-रूपसे रग-रगमें समाया मालूम होता है। ओर-छोर सभी श्याममय है।

कहन लागी गोपी, कहाँ गए स्याम।'

वन-वन, कुञ्ज-कुञ्ज भटकती डोलती है—श्याम नहीं मिले, श्याम नहीं मिले। उस अङ्ग-अङ्ग अभिरामको अब वह कहाँ पायेगी, कौन जाने। पाकर भी खोयी हुई-सी और खोकर भी पायी हुई-सी—कैसी विलक्षण गति है !!

प्रियतमके विरहमें वह उन्मादिनी-सी फिर रही है। एक-एक क्षण युग-युगकी भाँति बीत रहा है। जितना समय काट पाती है, उससे शतगुणित वियोगके क्षण सामने पहाड़-की तरह अडिग-से अड़े दिखायी देते हैं—उसके साथ ही विरहकी तपन भी तीव्रतम होकर अङ्ग-अङ्गको जलाये जा रही है। वियोगकी अवधिकी असह्यता कविने कितनी मार्मिकतासे व्यक्त की है—

भए हैं पहार से दिना।
निघटत नाहिन सुन री सजनी ! मदनगुपाल बिना॥
स्याम समीप कछू नहिं जान्यो, जुग सम जात छिना।
'परमानंद' बिरहिनी हरिकी तोरिऽब चली है तिना॥

संयोग और वियोगकी बेलामें कितना महान् अन्तर है ! परिमाणमें भी और परिणाममें भी ! संयोगमें युग बीत जाते हैं; फिर भी ऐसे लगते हैं, मानो कुछ क्षण ही तो बीते हैं ! अनन्तकालके संयोग-सुखसे भी मनकी तृप्ति नहीं होती। थोड़ा और थोड़ा और—प्यास बढ़ती ही जाती है। आँखोंसे आँखें मिली हुई हैं—हृदयका अनुराग पलकोंकी प्यालियोंसे छलक-छलककर दो प्रेमियोंको इतना सराबोर किये रहता है कि उन्हें बाह्यजगत्के अस्तित्वका भान ही नहीं रहता। जब अपना ही अस्तित्व खो बैठते हैं, तब कालकी गतिका अनुसंधान किसे रहे ? किंतु प्रियतमको खोकर लुटे और ठगे-से इस शून्य जगत्के बीच प्रेमी अपने-को एकाकी पाते हैं और तब एक-एक क्षण बिताना उन्हें कितना कठिन हो जाता है ! आज मदनगोपालके बिना गोपीकी भी यही गति है। सूर्यकी गति मानो कुण्ठित हो गयी—वह अस्ताचलको एक तृणभर भी आगे नहीं बढ़ता। वह आज पर्वत-सा अचल है गतिमें और विशाल है अपनी छायामें—अपने ताप-दापमें। इसीलिये वह कराह उठती है—

भए हैं पहार से दिना।

किंतु वियोगकी साधना भी एक महान् साधना है। भीषण अग्नि-परीक्षामेंसे होकर ही तप्त काञ्चन निखार और शोभा पाता है ! वियोगावस्था ऐसी ही अग्नि-परीक्षा है, जिसमें प्रेमी झुलसकर, जलकर, तपकर निर्मल-मानस बनता है। एक लंबी निष्ठा और तपके बाद उसे प्रेमसरीखा अमोलक तत्त्व प्राप्त होता है। प्रेमी वस्तुतः एक साधक है, प्रेम साध्य और विरह उसका साधन ! इसीलिये कवि कहता है—

बिरह बिनु नहीं प्रीति कौ खोज।
बिनु लागें कैसें आवत है इन ननननि कों रोज॥
स्याम मनोहर बिछुरे सखी री, बैरी भयो मनोज।
'परमानंद' निसूगे जे नर, ते हैं राजा भोज॥

'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है। विरह एक अगाध, अनन्त जलनिधि है। इसमें एक

ओर आँधी और तूफान हैं, तो दूसरी ओर प्रशान्त गम्भीरता और गहनता है। एक ओर उत्तालतरङ्गित जल-राशि है तो दूसरी ओर तरलित मृदुल हिलोरोंका मादक विलास है—शीतल सीकरोंका मधुर उच्छ्वास है। यहाँ आलोडन और विलोडन भी है, गहराइयोंके अन्तःस्रोतोंका अस्फुट संगीत भी। ऐसे वियोगरूपी गहन सिन्धुके किसी निभृत तलपर प्रेमके उज्ज्वल मुक्ताओंकी राशियाँ सो रही हैं। इन्हें पानेके लिये वियोगजनित सभी उथल-पुथल, उत्थान-पतन सरल-सहज भावसे सहने पड़ते हैं—उत्तुङ्ग तरङ्गोंके थपेड़े सहकर ही उनके तलमें विलसित अनन्त अमोल निधि प्राप्त होगी। जबतक हृदयपर विरहकी चोट नहीं लगती, आघातसे हृदय कराह नहीं उठता, पीड़ासे विगलित नेत्रोंके अश्रुमुक्ताओंसे प्रेमीका शृङ्गार नहीं हो पाता। 'बिनु लागे कैसें आवत है इन नैननि कों रोज'—ठीक ही तो है। पाषाण-खण्डोंके कुलिश-कठोर हृदयोंपर जब चोट पड़ती है, तब उनके अन्तःस्रोतोंकी प्रसुप्त चेतना भी अविरल निर्मल निर्झरिणीके रूपमें फूट पड़ती है। लगी हुई बुरी होती है—चोट भी, आग भी। प्रीति भी चोट और आगकी तरह जहाँ लग जाती है, संयोग और वियोगकी अनेक कोटियोंमेंसे होकर विविध अनुभूतियोंमें हृदयको रँगती-पागती हुई—हास और अश्रुओंके अनेक खेल खिलाती हुई—परिपुष्ट रसकी उपलब्धि कराती है। किंतु इन सब कोटियोंमें वियोगकी कोटि प्रेमीके लिये—विरहीके लिये ऐसी कोटि है, जिसमें प्रियतमके विलग होते ही सारा जग वैरी हो जाता है। सम्बलके टूटते ही, निर्बल पाकर उसे कोई भी आ दबाता है। यहाँ भी श्याममनोहरके बिछुड़ते ही सबसे पहिला वैरी विरहिणी व्रजाङ्गनाओंके लिये उनका मनोज ही हो गया; क्योंकि अब सम्पूर्ण कामनाओंके पूरक प्रिय श्यामसुन्दरका सम्बल टूट गया। अबला गोपियाँ उस प्रबल पुष्पधन्वाके आगे असहाय बन गयीं।

उस वियोगावस्थामें कामके द्वारा दी हुई पीड़ा गोपियोंके लिये अनेक रूपमें व्यापती है। दिवा-निशि इकटक प्रियतम नन्दनन्दनके आगमनकी प्रतीक्षामें, उनका वियोग-व्याकुल हृदय उद्वेगमें कराहता हुआ उद्वेलित हो रहा है। अखण्ड रात्रिका जागरण श्यामघनकी बाट जोहते-जोहते साधा जा रहा है। बेकलीकी भी कोई सीमा नहीं। प्रियतमके अनुचिन्तनके बिना एक क्षण भी नहीं बीतता। आज चिन्तामणि जो हाथसे छूट गयी है—इतनी बड़ी निधि खो जानेपर चैनकी साँस कौन लेगा? यह तो पपीहाकी प्रीति है—इसमें पी-पीकी रट उसका मूलमन्त्र है।

कल्पना तो कीजिये, किस तरह ये विरहिणियाँ शून्य दृष्टिसे अनन्त आकाशसे अपने खोये प्रियतमको ढूँढ लानेकी चेष्टा कर रही हैं। मानो अपनी ही कल्पनाओंके रंगोंसे निरभ्र गगनकी नीलिमाके निर्मल पटपर 'घनश्याम'का चित्र आँक रही हैं। कितनी तन्मनस्कता है! कवि स्वयं ऐसी ही विरहिणियोंकी अनुभूतियोंसे अपने हृदयका तार मिलाकर कह उठता है—

> नींद तो ताहि परै, जाहि लालु न भावै।
> चारि जाम निसि बैठी जागौं कबहिं स्यामघन आवै॥
> जाकी छूटि जाइ चिंतामनि, सो कौनें ढँग सोवै।
> उपजति प्रीति पपीहा की सी सदा गगन तन जोवै॥
> जाकौं मन जाही सौं बेध्यो, सो ता हाथ बिकानो।
> परमानंद हिलग है ऐसी, कहा रँक कहा रानो॥

यह कैसी 'हिलग' है, मनकी अटक है? जो रंक-राजा सभीके हृदयमें उठे बिना नहीं रहती। मन-विहङ्गको जिसने अपनी प्रीतिके बाणसे बेधा, बस, वह उसीका हो गया—बिना मोल उसीके हाथ बिक गया। जब मन पराया हो गया, परवश हो गया, तब उन्मत्त-मूक-जडवत् स्थिति हो गयी। विरह-व्यथित राधाकी स्थितिका कितना सजीव अङ्कन कविने इन शब्दोंमें किया है—

> अनमनी बैठी ये रहै।
> अंतरगत की बिथा मोहिनी काहू सौं न कहै॥
> सूखी बदन, अधर कुम्हिलाने, नैननि नीर बहै।
> रजनी निंदा डरत चंद्र की अलकावली दहै॥
> तुम्हरें बिरह बियोग राधिका बासरघाम सहै।
> बेगि मिलहु 'परमानँद' स्वामी, दूती बचन कहै॥

आज वह अनमनी-सी है— मनसे वञ्चित, ठगी और छली हुई। हृदयकी व्यथा व्यक्त करते नहीं बनती, मनकी चिन्तन और तर्ककी शक्ति विलुप्त हो गयी। अब हृदयकी चेतनामात्र है, जो अनुभूतितक ही सीमित है—अभिव्यक्तिमें पङ्गु है। फिर व्यथाका ढिंढोरा नहीं पीटा जाता। चुपचाप, लबोंपर 'उफ' लाये बिना सारी चोट सहकर रह जाते हैं। प्रीति तो परम गोपनीय तत्त्व ठहरा। प्रीतिकी व्यथा वह व्यथा नहीं, जो पीड़ा दे, जलन दे। उच्चकोटिमें पहुँचकर तो वह सारी पीड़ा भी रसमय हो जाती है—सब कुछ मधुर,

आस्वाद्य हो जाता है। वह भी तो अपने 'मधुर प्रिय'की ही दी हुई है, अतः वह भी मधुरतम है। इसीलिये 'शिकवा-शिकायत' करके वे प्रेमको कलङ्कित नहीं करना चाहतीं। 'काहू सों न कहै' का यही रहस्य है।

फिर भी हृदयके अनुभाव छिपाये नहीं छिपते। चित्तकी उन्मनता, वाणीका मौन, अन्तर्व्यथाका गोपन, मुखकी शुष्कता वा विवर्णता, अधरोंका कुम्हला जाना, नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह, चन्द्रकी सुधा-शीतल ज्योत्स्नाकी भी निन्दा अथवा अरुचि, अलकावलियोंका दाह, दिवसके उत्तापका सहन आदि ऐसी चेष्टाएँ वा गति-विधियाँ हैं, जो उसके अन्तःक्षोभ और अन्तर्द्वन्द्वकी वेदनाको स्पष्ट व्यक्त करती हैं। प्रियतमके मधुर मिलनके बिना यह सारी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। 'बेगि मिलहु'—यही इस समग्र रोगका उपचार है।

कितना अनन्य अनुराग है श्यामसुन्दरके प्रति! जगत्‌की सारी ममताओंके बन्धनोंको तोड़कर प्रियतममें एकनिष्ठ तन्मयता बड़े भाग्यसे प्राप्त होती है। जिन रस-लोभी भक्त-मधुपोंको प्रभुके चरणारविन्दकी गहन भक्तिका आस्वाद प्राप्त हो गया है, वे उन्हें छोड़कर जगत्‌में यहाँ-वहाँ क्यों भटकेंगे? अव्यभिचारिणी प्रीति तो एक ही स्थानपर रहेगी। कविने इसी तथ्यका निरूपण कितना सुन्दर किया है—

प्रीति तो एकहि ठौर भली।
इहब कहा मति चरन कमल तजि फिर जो चली चली॥
ते जाने जे सब बिधि नागर सार सार ग्रहि लोग।
पायो स्वाद मधुप रस लोभी स्याम धाम संजोग॥
'परमानंद दास' गुन सुंदर नारदादि मनि ज्ञानी।
सदा विचार विषय रस त्यागी जसु गावत मधु बानी॥

विशुद्ध प्रेममें 'सब बिधि नागर सारासारग्राही' 'मधुप रस-लोभी' और 'नारदादि मुनि ज्ञानी' की भाँति 'सदा विचार-विषय-रस-त्यागी' होना चाहिये। तभी 'एकहि ठौर की प्रीति' का सम्यक् निर्वाह हो सकता है।

किंतु इस 'एकहि ठौर की प्रीति' के निर्वाहमें व्रज-सीमन्तिनियोंके आगे एक और बाधा है। उनके श्यामसुन्दर 'माखनचोर' और 'चितचोर' जो ठहरे। उन्हें व्रजकी गोपियोंके 'घर-घर' जाकर उनके 'दधि नवनीत' की चोरीका स्वाद लग गया है। वे तो 'मधुप रस-लोभी' हैं—स्वयं 'एक ठौरकी प्रीति' के पालक नहीं। तब ऐसे 'चोर-जार-शिखामणि' को अपने स्नेहानुबन्धमें सदाके लिये एक स्थानपर कैसे रखा जाय? इसके लिये भी एक रसवती नायिकाकी बड़ी सरस योजना है—

चित को चोर अबहिं जो पाऊँ।
द्वार कपाट बनाइ जतन करि नीकें माखन दूध खवाऊँ॥
जैसें निसंक धसत मंदिरमें तिहिं औसर जो अचानक आऊँ।
गहि अपने कर सुदृढ़ मनोहर बहुत दिन की रुचि उपजाऊँ॥
लै राखौं कुच बीच निरंतर प्रतिदिन कौ तन ताप बुझाऊँ।
"परमानंद" नंदनंदन कौ घर घर को परिभ्रमन मिटाऊँ॥

वह श्यामसुन्दर माखन-दूधके साथ ही उनके चित्तको भी चुराकर, आँख बचाकर भाग निकलता है। उसने कितनी ही बार चोरको पकड़ना चाहा, पकड़ न सकी। इस बार हाथ लगनेपर वह उसे नहीं छोड़ेगी। बड़े यत्नसे द्वारको बंद कर वह अपने ही हाथों अच्छे प्रकारसे दधि-नवनीत खिलायेगी—हृदयका चिर-संचित मधुर 'नवनीत' भी तो उसे खिलाना है। उसके भवनमें वह जैसे ही निर्भय घुसेगा, अचानक पीछेसे आकर वह उसे अपने सुदृढ़ बाहुपाशमें बाँध लेगी—अन्तःस्तरमें छिपी हुई उसकी चिरकालकी अभिलाषा पूरी हो जायगी। किंतु प्रश्न है कि बाहु-बन्धनमें कबतक बाँधे रहेगी? उसे स्थायी रूपमें बसायेगी कहाँ? इसके लिये भी उसके पास उत्तुङ्ग कुचोंसे घिरा हुआ सुदृढ हृदयगढ़ सुरक्षित है, जहाँ निरन्तर—निरन्तरके लिये उसे वह बंदी बना लेगी। युग-युगीन विरह-ताप और कामानलसे जली-झुलसी गोपी प्रियतमका मधुर-मंदिर आश्लेष पाकर—अन्तस्तलमें उसे चिर-मधुर वास देकर—अपनेको शीतल, परितृप्त कर लेगी। श्यामसुन्दर नन्दनन्दन सदा-सर्वदाके लिये 'उसके अपने' हो जायँगे।

सर्वस्वात्मसमर्पण और सर्वस्व-अधिग्रहणकी उत्कट कामना ही तो प्रेमी-युगलोंका चरम लक्ष्य है।

* * *

श्वासका भरोसा नहीं

स्वासन स्वासन कृष्न रट, बृथा स्वास मत खोय।
कहा भरोसौ स्वास कौ, यही अंत कौ होय॥

केनोपनिषद्का हिंदी पद्यानुवाद

(लेखक—श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

वैदिक साहित्यमें ब्रह्मविद्याका बोध करानेके लिये 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। वेदोंकी विभिन्न शाखाओंमें एक अथवा अनेक उपनिषदोंका वर्णन है। इनमें ब्रह्मतत्त्वका उपदेश तथा इसी विषयपर शिष्योंद्वारा उठायी गयी शङ्काओंका समाधान मिलता है। उपनिषदोंकी योजना प्रश्नोत्तरके रूपमें होनेसे ब्रह्मविद्या-जैसे गहन विषयको भी सुगम एवं मनोरञ्जक बनाया जा सका है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे मनुष्यको शान्ति एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है। संसारके सभी बन्धनोंसे मुक्ति पाना मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है। जिस ज्ञानसे यह कार्य सम्भव और सुलभ है, उसका निरूपण इन्हीं उपनिषदोंमें किया गया है।

वेद चार हैं और प्रत्येकमें कई उपनिषद् मिलते हैं। कुछ उपनिषदोंका नाम तो उस ऋषिके नामसे प्रसिद्ध है, जिसके द्वारा उसमें दिया गया उपदेश संकलित है; किंतु कुछ ऐसे भी उपनिषद् हैं, जिनके उपदेष्टा ऋषि अज्ञातनामा हैं। ऐसे उपनिषदोंका नामकरण बहुधा उनके प्रारम्भिक पदसे कर दिया गया है। 'केनोपनिषद्' इसी प्रकारका है। यह सामवेदके ब्राह्मणभागका उपनिषद् है और इसका प्रथम मन्त्र 'केन' शब्दसे प्रारम्भ होता है एवं उसमें एक साथ कितने ही प्रश्न भी निहित हैं। इस उपनिषद्का दूसरा नाम 'तलवकार' उपनिषद् भी है। किंतु वह नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं।

केनोपनिषद्में चार खण्ड हैं, जिनमेंसे प्रथम दो खण्डोंमें ब्रह्मको इन्द्रिय-विषयसे परे बतलाया गया है, किंतु तृतीय और चतुर्थ खण्डोंमें एक यक्षका आख्यान प्रस्तुतकर ब्रह्मकी सत्ताका ज्ञान मनोरञ्जक कथा-शैलीके द्वारा कराया गया है। इसी ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये कर्म, उपासना, सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन तथा वेदोंका अध्ययन होता है। जो मनुष्य इस तत्त्वको समझ लेते हैं, वे फिर अन्य वस्तुकी कामना ही नहीं करते।

केनोपनिषद्के चार खण्डोंमें कुल चौंतीस मन्त्र हैं। प्रथम दो खण्डोंमे ब्रह्मका निरूपण करनेकी बात है तथा अन्तिम दोमें एक आख्यानमें उदाहरण है। ब्रह्मविद्याका विषय गूढ़ होनेसे उनके मन्त्रोंकी विस्तृत व्याख्या कितनी ही बातोंको प्रकट करती है। किंतु यहाँ जो पद्यानुवाद उपस्थित किया जा रहा है, उसमें मन्त्रके अर्थके निकट रहते हुए उसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न है। प्रथम दो खण्ड अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रत्येक उपनिषद्के आदि और अन्तमें शान्तिपाठके उच्चारणका नियम है। अतः शान्ति-पाठका भी अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है—

शान्ति-पाठ

सभी इन्द्रियाँ पुष्ट रहें, मम अङ्ग बनें बलशाली।
वाणी-प्राण-चक्षु-श्रवणोंमें व्यापे शक्ति निराली॥
क्योंकि उपनिषद्-वेद्य ब्रह्म इन सब में ही रहता है।
विमुख न होऊँ मैं उससे, वह मुझको तजे न खाली॥
इस विधि अनिराकरण परस्पर रहे अखण्डित मगमें।
जो-जो हैं, उपनिषद्-धर्म, वे भरे रहें रग-रगमें॥
मुझमें हों वे धर्म आत्मरत, यही कामना करता।
शान्ति सदा हो, शान्ति सदा हो, शान्ति सदा हो जगमें॥

अब मूल केनोपनिषद्के मन्त्रोंके पद्यानुवादको पढ़िये—

(१)

किसकी इच्छासे प्रेरित मन विषयोंमें पड़ता है?
और प्राण किसके प्रभावसे युक्त हुआ चलता है?
किस निमित्तसे प्राणी यह वर वाणी बोल रहे हैं?
कौन देवता नेत्र-श्रवणका संचालन करता है?

(२)

जो श्रवणोंका श्रवण, सुमनका मन, वाणीकी वाणी।
वही प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु प्रेरणा-दानी॥
इस प्रकारकी मतिसे धीर पुरुष जगको तज करके।
मुक्ति प्राप्तकर अमर हुए हैं आत्मतत्त्वके ज्ञानी॥

(३)

नेत्र और वाणी-मन उसतक कभी नहीं जा पायें।
इससे हम यह नहीं जानते, कैसे उसे बतायें॥
रहा विदितसे विलग और अविदितसे परे हुआ भी।
पूर्वजनोंके प्रवचन हमको ऐसा उसे जनायें॥

(४)

जिसे बतानेकी शब्दोंमें शक्ति नहीं आती है।
वाणी लेकिन जिसकी सत्तासे प्रकाश पाती है॥
उसे ब्रह्म तू जान; किंतु यह ब्रह्म नहीं, जिसके प्रति।
देश-काल-अविच्छिन्न वस्तुकी संस्तुति की जाती है॥

(५)
नहीं वृत्तियोंवाले मनसे जो जाना जाता है।
लेकिन जिससे मनन किया मन ही माना जाता है॥
उसे ब्रह्म तू जान; किंतु यह ब्रह्म नहीं है, जिसको—
उपासनाके द्वारा मनसे पहिचाना जाता है॥

(६)
जिसे नेत्रके द्वारा कोई देख नहीं सकते हैं।
किंतु नेत्र जिससे प्रेरित हो विषयोंको लखते हैं॥
उसे ब्रह्म तू जान; किंतु यह ब्रह्म नहीं है, जिसका—
साधारण जन चर्मचक्षुओंसे दर्शन करते हैं॥

(७)
सम्भव नहीं कानके द्वारा भी जिसका सुनना है।
किंतु श्रवण-इन्द्रियमें जो सुननेकी शक्ति बना है॥
उसे ब्रह्म तू जान; किंतु यह ब्रह्म नहीं है, जिसमें—
देश-काल-अविछिन्न वस्तुकी लौकिक उपासना है॥

(८)
जिसे प्राणका विषय बोध हित कोइ न बतलाता है।
बल्कि प्राण जिससे नियमित हो विषयोंमें जाता है॥
उसे ब्रह्म तू जान; किंतु यह ब्रह्म नहीं है, जिसको—
प्राण-वायुके संयमसे सुगम्य माना जाता है॥

(इति प्रथम खण्ड)

द्वितीय खण्ड

(१)
'भली भाँति मैं जान गया हूँ' यदि तूने यह माना।
तो निश्चय ही ब्रह्मरूपको थोड़ा ही पहिचाना॥
मुझे तथा देवोंको क्या मालूम, शिष्य ! कुछ सोचो।
गुरुवर ! मुझे लग रहा ऐसा ब्रह्म कि मैंने जाना॥

(२)
नहीं मानता हूँ कि ब्रह्मको पूर्ण रूपसे जाना।
नहीं समझता हूँ कि अभीतक उसे नहीं पहिचाना॥
अतः जानता हूँ मैं, इसमें निहित तत्त्व जो समझा।
हम शिष्योंमें सुलभ उसीको परम ज्ञानका पाना॥

(३)
जिसको है अज्ञेय ब्रह्म, बस, वही ब्रह्मका ज्ञाता।
ज्ञात समझनेवाला लेकिन उसका पता न पाता॥
भली प्रकार समझनेवाले अविदित उसको कहते।
पर अज्ञानी भ्रमवश उसको विदित हुआ बतलाता॥

(४)
बुद्धिजनित सारी प्रतीति उससे ही अवभासित है।
वही ब्रह्म है, इसी ज्ञानसे अमृतत्व निश्चित है॥
आत्मज्ञानसे बल मुमुक्षु-जन यह संचित करते हैं।
विद्यासे अज्ञान-तिमिरकी ही निवृत्ति ज्ञापित है॥

(५)
आत्माको यदि जान लिया तो जीवन सुफल सुगति है।
नहीं समझ पाये तो जन्म-मरणकी बड़ी विपति है॥
बुद्धिमान जो उसे चराचर जीवोंमें लख लेता।
जगको तजकर वही ब्रह्ममय होता अमर सुमति है॥

(इति द्वितीय खण्ड)

तृतीय खण्ड

(१)
देवासुर-संग्राम मध्य अति विकट समय जब आया।
तभी ब्रह्मने देवोंको उसमें विजयी करवाया॥
अभिमानी असुरोंका दल इस बलसे हुआ पराजित।
परब्रह्मकी उस जयका देवोंने गौरव पाया॥

(२)
लगे सोचने देव विजय-महिमा यह सभी हमारी।
तब ही प्रादुर्भूत हुआ वह परब्रह्म उपकारी॥
उसका अद्भुत रूप देखकर देव चकित थे सारे।
जान न पाये 'कौन यक्ष यह है सुन्दर तनधारी!'

(३)
कहने लगे अग्निसे वे, 'हे जातवेद तेजस्वी!
पता लगाओ तो, वह कौन खड़ा है यक्ष तपस्वी॥
पूजनीय वह कौन महाप्राणी है, यह समझो तो।
'देव, बहुत अच्छा !' उत्तरमें बोला अग्नि यशस्वी॥

(४)
जिज्ञासाको लिये अग्नि ज्यों ही समीपमें आया।
'तुम आगन्तुक कौन ?' शीघ्र यह प्रश्न यक्षसे पाया॥
तब अपना गौरवमय परिचय देनेकी इच्छासे।
अग्नि नामसे विदित जातवेदा निजको बतलाया॥

(५)
यह सुनकर तब बात यक्षने फिर पूछी इतनी है—
जात 'वेदमें शक्ति कौनसी भरी और कितनी है?'
अहंकारसे पूर्ण अग्निने कहा कि 'मैं निज बलसे।
भस्म बना सकता हूँ सारी पृथ्वीभर जितनी है॥'

(६)
इसी परीक्षा हेतु यक्षने तिनका एक बताया।
हारा सारा वेग अग्निका, पर तृण जला न पाया॥
लज्जित होकर फिरा देवताओंको उत्तर देने।
'कौन यक्ष यह, इसका परिचय मेरे समझ न आया॥'

(७)

तब देवोंने कहा वायुसे, 'यह अपना ही हित है ।
आप चलायें पता, वहाँपर कौन यक्ष यह स्थित है ॥'
मनमें कहने लगा वायु, 'यह तो कुछ काम नहीं है ।
पर ऊपरसे बोला वह, 'आदेश मुझे स्वीकृत है ॥'

(८)

जिज्ञासाको लिये वायु ज्यों ही समीपमें आया ।
'तुम आगन्तुक कौन ?' शीघ्र यह प्रश्न यक्षसे पाया ॥
तब अपना गौरवमय परिचय देनेकी इच्छासे ।
वायु नामसे विदित मातरिश्वा निजको बतलाया ॥

(९)

सुनकर ऐसी बात यक्षने फिर यह प्रश्न उठाया—
'कहें, मातरिश्वा ! कैसा सामर्थ्य आपने पाया ?
सन-सन करता हुआ प्रभञ्जन कहने लगा कि मैंने ।
पृथ्वीकी सब वस्तु उड़ानेका पुरुषार्थ कमाया ॥

(१०)

इसी परीक्षा हेतु यक्षने तिनका एक बताया ।
हारा सारा वेग वायुका, पर तृण उड़ा न पाया ॥
लज्जित होकर फिरा देवताओंको उत्तर देने—
कौन यक्ष यह, जिसका परिचय मेरे समझ न आया ॥

(११)

देवराजसे कहा देवताओंने, 'भगवन्, जाकर—
ज्ञात करें यह यक्ष कौन है, इतना पता लगाकर ॥'
स्वीकृति देकर इन्द्र यक्षके निकट जभी था पहुँचा ।
तुष्ट हुआ वह तभी वहाँ मघवाको सम्मुख पाकर ॥

(१२)

जहाँ व्योममें यक्ष इसी क्षण अंतर्धान हुआ था ।
वहीं सुशोभित एक सुन्दरीका अनुमान हुआ था ॥
उसी हिमालयसुता उमासे मघवाने यह पूछा ।
रहा कौन यह यक्ष, यहाँपर जिसका भान हुआ था ?

(इति तृतीय खण्ड)

चतुर्थ खण्ड

(१)

कहा उमाने, 'यक्ष-वेशमें वही ब्रह्म था आया ।
जिसकी विजय-श्रीकी महिमाको तुमने अपनाया ॥
इससे अब तुम तत्त्व समझ लो, प्रेरक शक्ति वही है ।
इस क्षणसे ही देवराजने ज्ञान ब्रह्मका पाया ॥

(२)

अग्नि, वायु औ इन्द्र निकट ही उसके खड़े हुए थे ।
समीपस्थ संस्पर्श ब्रह्मका करके अड़े हुए थे ॥
इतने ही तो ब्रह्मज्ञानको सर्वप्रथम पाया था ।
इस कारण ये अन्य देवताओंसे बड़े हुए थे ॥

(३)

देवोंका सिरमौर इसीसे इन्द्र गया है माना ।
क्योंकि ब्रह्मसे समस्पर्शका इसको मिला ठिकाना ॥
उस विभूतिके अधिक निकट तक इसका भाव गया था ।
तथा ब्रह्मका ज्ञान इसीने सबसे पहले जाना ॥

(४)

उसका यह दृष्टान्त कि जैसे बिजली चमक गयी हो ।
रूप दिखाकर अधिदैवत, फिर वनमें थमक गयी हो ॥
पलक मारनेके क्षणमें तमका अनुभव हो जितना ।
स्वानुभूतिकी किरण-दीप्ति दामिनि-सी दमक गयी हो ॥

(५)

अब आध्यात्म-उपासनका उपदेश इस तरह जानो—
मन जो जाता हुआ कहा जाता है, ब्रह्म बखानो ॥
क्योंकि ब्रह्मका बार-बार मन मनन किया करता है ।
इससे सब संकल्पोंमें अभिव्यक्त ब्रह्म अनुमानी ॥

(६)

है परोक्ष यह ब्रह्म किंतु भजनीय सगुण लहता है ।
इस कारण 'वन' की संज्ञासे लोक इसे कहता है ॥
जो जन उसको इस प्रकारसे भजते हैं, उनके प्रति ।
सभी प्राणियोंका आकर्षण उसी भाँति रहता है ॥

(७)

कहा शिष्यने, 'गुरुवर ! अब उपनिषद् सुनावें मुझको ।'
गुरु बोले—उपनिषद्-ज्ञान मैं बता चुका हूँ तुझको ॥'
आत्माकी उपासना-विषयक सब प्रसङ्ग कह डाले ।
ब्राह्मी विद्या कहना अब तो शेष नहीं है मुझको ॥

(८)

ब्रह्मचर्य आदिक तप, इन्द्रिय-निग्रहसे जो कसता ।
तथा सुकर्मोंके आश्रयपर स्थित होकर जो लसता ॥
ज्ञान-प्राप्ति हित तुमको उसका ध्यान सदा रखना है ।
वेद अंग हैं उसके, सत्य निकेतनमें वह बसता ॥

(९)

इसी उपनिषद्-ज्ञानकी कली जिस मनमें खिलती है ।
उससे पाप-बन्धनोंकी जड़ क्षीण हुई हिलती है ॥
सुख-स्वरूप उस परम तत्त्वसे महाअनन्त समय तक—
स्वर्गलोकमें उसे प्रतिष्ठा मिलती है, मिलती है ॥

(इति चतुर्थ खण्ड)

प्रार्थनामय जीवन

गुप्त प्रार्थना

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कके पृष्ठ ८९७ से आगे]

(८)

हमारे जीवनको बनाने और बिगाड़नेमें हमारे भाग्य और परिस्थितिका बहुत बड़ा हाथ रहता है । हम बहुत बार देखते हैं कि प्रतिकूल भाग्य और परिस्थितिके आँधी-तूफानमें हमारे अपने संकल्प और निश्चय तिनकेके समान उड़ जाते हैं और हम अपने-आपको बिल्कुल पराधीन और असहाय अनुभव करते हैं ।

परंतु यह हमारा अज्ञान ही है जो हम स्वयं ही अपने-आपको पराधीन और असहाय समझते हैं । वास्तवमें हम अपने जीवनको बनाने या बिगाड़नेमें हर प्रकारसे स्वतन्त्र और समर्थ हैं । अपनी परिस्थितियोंके स्वामी और अपने भाग्यके विधाता आप स्वयं हैं । आपके जीवनमें आनेवाले हर पतझड़ और वसन्तका संचालन आपके अन्तरात्माकी प्रकट या गुप्त आज्ञाओंके द्वारा ही होता है । आपकी गुप्त चेतना या आत्मा आपसे छिपाकर भी बहुत-से आदेशपत्र जारी करती है, जो आपके सामने कार्य-रूपमें परिणत होनेके बाद ही आते हैं और आपको पता भी नहीं चलता कि यह सब आपके नामकी राजमुहरद्वारा ही निर्देशित हुआ है । इसीलिये कहा जाता है कि अपने-आपको जानो और अपने स्वामी बनो । ऐसा न हो कि तुम्हारा अपना आत्मा ही दो टुकड़ोंमें विभाजित हो जाय और एक टुकड़ा दूसरेके विरुद्ध खड़ा हो जाय ।

यह सही है कि स्वतन्त्रता आपका जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे आप प्राप्त कर सकते हैं; लेकिन अपने इस अधिकारको आप भूले हुए हैं और अपने-आपको आपने दूसरी शक्तियोंके हाथोंमें सौंप रखा है । दूसरे लोग आपको जैसी प्रेरणाएँ देते हैं, वैसे ही आप बन जाते हैं और दूसरे लोग आपको जैसा समझा देते हैं, वैसे ही कार्य आप करने लगते हैं ।

अपने भाग्य और परिस्थितियोंके अधीन हम तभीतक हैं, जबतक अपने आन्तरिक जगत्में हम स्वयं अपने स्वामी नहीं बन जाते । जीवनमें प्राप्त होनेवाला प्रत्येक अच्छा या बुरा फल पहले हमें मानसिक जगत्में प्राप्त होता है । हमारा मानसिक जगत् ही घनीभूत होकर हमारा स्थूल जगत् बन जाता है । यही कारण है कि यह स्थूल संसार हर व्यक्तिके लिये एक पृथक् अर्थ रखता है । एक ही समयमें यह विश्व किसीके लिये नरक और किसीके लिये स्वर्ग होता है, किसीके लिये मर्त्यलोक और किसीके लिये मुक्तिलोक है । जैसा जिसका दृष्टिकोण है, वैसा ही उसका संसार है । जैसे एक ही खाद मिट्टीमें पड़नेपर भी विभिन्न प्रकारके बीज अलग-अलग प्रकारके वृक्ष और फल पैदा करते हैं, उसी प्रकार यह संसार भी हमारे विचारोंके अनुसार हमें सुख या दुःख प्रदान करता है ।

हमारा मन अपने-आपमें एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है, जिसके ओर-छोरका हमें कुछ भी पता नहीं है । इस अनन्त आन्तरिक आकाशमें जो असंख्य ग्रह, उपग्रह, सौरमण्डल और नक्षत्र-मालाएँ हैं, उनका हमें नगण्य ज्ञान है । हमारे इस मानसिक ब्रह्माण्डमें असंख्य लोक हैं, जिनमें हमारे अच्छे और बुरे विचार और भावपूर्ण सजीवता और सक्रियतासे निवास करते हैं । इन अज्ञात लोकोंमें रहते हुए हमारे अपने ही गुप्त विचार और गुप्त आकाङ्क्षाएँ हमारे जीवनको प्रभावित करती रहती हैं । अपने मनपर विजय पानेका अर्थ है अपने मानमिक ब्रह्माण्डके इन असंख्य लोकों तथा ग्रह-उपग्रहोंपर विजय प्राप्त करना । यह अधिक नहीं तो कम-से-कम उतना ही कठिन है, जितना बाहरी या स्थूल जगत्में प्रकृतिपर विजय प्राप्त करना ।

कई बार हम सज्जनोंको विपत्तिका जीवन व्यतीत करते देखते हैं और दुर्जनोंको ऐश्वर्य भोगते पाते हैं । ऐसे उदाहरण देखकर कई बार हमें यह भ्रम होता है कि संसारमें न्याय नहीं है; परंतु यदि हम पूरी गहराईके साथ इन उदाहरणोंमें कारण-कार्यकी छान-बीन कर सकें तो हम देखेंगे कि कष्ट पानेवाले संतके मानसिक जगत्में किसी-न-किसी लोक या प्रदेशमें कोई ऐसी गुप्त विचारधारा बह रही है, जिसका स्वाभाविक फल वह कष्ट है, जो उसे प्राप्त हो रहा है । इसी

प्रकार सुख भोगनेवाले पापीके अन्तर्जगत्में हम देखेंगे कि कहीं-न-कहीं कोई पुण्यतोया सरस्वती उसके हृदय-देशमें गुप्तरूपसे अवश्य बह रही है, जिसका मधुर फल उसे सुखके रूपमें प्राप्त हो रहा है। यह ध्रुव सत्य है कि अच्छाईका फल सुख और बुराईका फल दुःख होता है। अतः हमें यही मानकर चलना चाहिये कि सत्य और ईमानदारीसे ही हमें वैभव और कल्याण प्राप्त होता है, असत्य और बेईमानीसे हमें दारिद्र्य और सर्वनाश प्राप्त होता है। हमें सदैव यह विश्वास रखना चाहिये कि सृष्टिमें सर्वत्र न्याय होता है। यदि हम न्यायपर विश्वास रखेंगे तो हमारे साथ न्याय अवश्य होगा।

जिस बातपर हम विश्वास करते हैं, वही होता है और जिसकी हम आकाङ्क्षा करते हैं, वही हमें प्राप्त होता है। अनचाहा मेहमान हमारे यहाँ कभी नहीं आता। जो भी हमारे यहाँ आता है, वह हमारे प्रकट या गुप्त निमन्त्रणसे ही आता है। हमारी प्रत्येक आत्मिक आकाङ्क्षाको प्रकृति देवी हमारी प्रार्थना मान लेती है और मारी प्रत्येक हार्दिक अभिलाषाको वह अवश्य पूर्ण करती है। हमारी आत्मिक आकाङ्क्षा कभी तो आशा और विश्वासके रूपमें तथा कभी निराशा, भय और संशयके रूपमें प्रकट होती है। जब हम अपने मनको सुन्दर आशाओं और विश्वासोंसे पूर्ण नहीं रखते हैं तब हमारे मनमें निराशा और भय घुस आते हैं और हमें हानि पहुँचाते हैं। निराशा और भयके आक्रमणसे बचनेका उपाय यह है कि सुन्दर कल्पनाओं और आकाङ्क्षाओंसे अपने मनको पूर्ण रखिये।

आप वही हैं, जो आप बनना चाहते हैं। हर मनुष्य अपनी इच्छाओंका पुतला है। यदि आप जागकर उठ बैठना चाहते हैं तो यह नहीं हो सकता कि आप सोये पड़े रहें; यदि आप उठ खड़े होना चाहते हैं तो यह असम्भव है कि आप बैठे रह जायँ; यदि आप चल पड़ना चाहते हैं और आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह असम्भव है कि आप एक जगहपर खड़े रह जायँ; यदि आप ऊपरकी ओर जाना चाहते हैं तो यह असम्भव है कि आप नीचेकी ओर जायँ; यदि आप सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो यह असम्भव है कि आप वे कार्य करें, जिनसे दुःख प्राप्त होता है। हर मनुष्य अपनी आकाङ्क्षाओंके अनुसार ही कार्य करता है। किसी भी मनुष्यके आचरणको देखकर हम उसके आदर्शों और स्वप्नोंके विषयमें ठीक-ठीक अनुमान लगा सकते हैं।

यहाँपर यह ध्यान रखनेकी बात है कि पाप और पुण्यका तथा सुख और दुःखका हम व्यापक अर्थ ले रहे हैं। प्रत्येक कुविचार एक पाप है और मानसिक शान्ति ही सबसे बड़ा सुख है। भोग-विलासके साधनोंको हम सुखके साधनोंमें गौण स्थान देते हैं; क्योंकि ऐसे उदाहरण हम नित्य ही देखते हैं कि भोग-विलासके प्रचुर साधनोंके स्वामी भी घोर कष्टमय जीवन व्यतीत करते हैं। दूसरी ओर कितने ही धन-साधनहीन साधु-महात्मा प्रीति और शान्तिसे पूर्ण दिव्य जीवन व्यतीत करते हैं। पवित्र जीवन और मानसिक संतुलन ही हमें आरोग्य, सुख और शान्ति प्रदान करता है।

यदि हम एक पूर्ण ईश्वरीय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमें ईश्वरसे गुप्त प्रार्थना करनी चाहिये। सबको दिखाकर और सुनाकर जो प्रार्थना की जाती है, वह प्रायः ऊपर-ही-ऊपर रह जाती है; वह प्रार्थना हमारी आत्माकी गहराइयोंमें नहीं उतरती। जो प्रार्थना सबसे छिपाकर की जाती है, वह हमारी आत्माकी गहराइयोंमें गूँजती है और हमारे हृदयाकाशकी ऊँचाइयोंको गुँजा देती है; उस प्रार्थनासे हमारा मानसिक ब्रह्माण्ड हिल उठता है और भगवान्का भी आसन डोल उठता है। उस प्रार्थनामें जो कुछ माँगा जाता है, वह सब हमें प्राप्त होता है।

भगवान्से हमें यह गुप्त प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! मेरे मनपर आप अधिकार कर लीजिये। मेरे मानसिक ब्रह्माण्डके असंख्य लोक-लोकान्तरोंको आप अपने शासनमें ले लीजिये। मेरे मानसिक-जगत्में सर्वत्र आपका साम्राज्य स्थापित हो जाय। मेरे मानसिक प्रदेशमें हर स्थानपर आपकी दिव्य ज्योति प्रकाशित हो जाय। मेरे विचारोंका समुद्र आपके अमृतसे पूर्ण हो जाय और मेरे हृदयका कोई भी कोना आपके स्पर्शसे अछूता न रह जाय। मेरा यह समर्पण सच्चा और पूर्ण हो। हे प्रभो! मेरी यह प्रार्थना अवश्य पूर्ण हो। आपका सनातन सत्य मुझे सर्वत्र स्पर्श करे।'

इस गुप्त प्रार्थनामें और पहले वर्णन की गयी सामूहिक प्रार्थनामें परस्पर कोई विरोध नहीं है। सामूहिक प्रार्थनामें भी हमें इस तथ्यके प्रति जागरूक रहना चाहिये कि हम उस प्रार्थनामें प्रदर्शन या पाखण्डके लिये नहीं, अपितु पूर्ण सचाई और हार्दिकताके साथ सम्मिलित हों और प्रार्थनामें तल्लीन होनेपर हमें प्रभुके साथ एकान्त-मिलनकी अनुभूति होनी चाहिये। प्रार्थना प्रारम्भ करते समय हम एक समूहके

सदस्य हैं; परंतु प्रार्थनाकी चरम परिणतिमें हम एकाकी रह जाते हैं, जहाँपर हमारे एकमात्र साथी, सखा या स्वामी भगवान् ही होते हैं। भगवान्के साथ इस एकान्त-मिलनमें सामूहिक प्रार्थना सहायक होती है; क्योंकि वह हमारे अज्ञात या गुप्त मानसिक जगत्को प्रभावित करती है। परंतु यदि सामूहिक प्रार्थनाका सुयोग न प्राप्त हो तो इसे भी हमें प्रभुसे एकान्त-मिलनका स्वर्ण अवसर समझना चाहिये और अपने स्वामी एवं प्रियतमके सम्मुख अपना हृदय खोलकर रख देना चाहिये। उनसे कुछ भी दुराव-छिपाव न रखते हुए उनके साथ सीधा सजीव सम्बन्ध स्थापित करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे हमारे हृदयको और हमारी आकाङ्क्षाओंको, हमारी आशाओं और विश्वासोंको पवित्रता और दिव्यता प्रदान करें। भगवान्के नाममें ही कुछ ऐसी शक्ति है, जिससे प्रार्थना हमारी गुप्त या अज्ञात चेतनाको प्रभावित कर लेती है और वह अज्ञात चेतना भी हमारे साथ प्रार्थना करने लगती है। जब-जब हम इस प्रकार एकचित्त होकर प्रार्थना करते हैं, तब-तब हमें सफलता अवश्य प्राप्त होती है। हमारी अज्ञात चेतनाको प्रभावित करनेवाला वास्तविक तत्त्व हमारा विश्वास है।

गृहस्थ संत श्रीपोपटभाई

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी गणोदवाले, एम्० ए०)

राह दिखलाना सरल है, पर राहपर चलना बड़ा कठिन है। गीतामें वर्णित निष्काम कर्मयोगीके लक्षण कोई प्रवचनकार अत्यन्त विशदरूपसे बता सकता है, पर उनके अनुसार आचरण करना ही वस्तुतः गीताका वास्तविक पठन है। सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी श्रीपोपटभाई संसारसे बिल्कुल अलिप्त स्थितप्रज्ञ पुरुष थे। आजके इस भौतिकवादी युगमें, जब लोग 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्' का आदर्श सामने रख आहार-निद्रा-मैथुनको ही सच्चा सुख मानकर उन्हींमें आसक्त हैं, श्रीपोपटभाईका जीवन एक 'आलोक-स्तम्भ' है, जो भौतिक सुखोंके पीछे दौड़नेवाले मानव-पशुओंको उचित पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

पोपटभाईका महान् जीवन प्रारम्भसे ही विलक्षण था। प्राचीके प्रसिद्ध धाम श्रीजगन्नाथपुरीसे जिस जीवनका उदय हुआ, उसका अस्त भी श्रीजगन्नाथके श्रीचरणोंमें क्यों न होता ? पुरीके प्रसिद्ध चौवलिया मठके पास ही 'श्रीनानजी मूलजी टांक' नामक एक गुर्जर क्षत्रिय जातिके ठेकेदारके घर वि० सं० १९६६ की आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी बुधवारको श्रीपोपटभाईका जन्म हुआ। मठके महंत बाबा गिरधारीदासने बुद्ध-स्वरूप शान्त एवं प्रफुल्लित बालकको देख और बुधवारका जन्म होनेके कारण भी बालकका चालू नामकरण 'बुधिया' नामसे किया। २१ वें दिन अपने प्रिय बुधियाको महंतजीने स्वयं अपने हाथों ले जाकर 'श्रीजगन्नाथजी' के श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया एवं प्रसादस्वरूप चन्दनका तिलक लगा दिया। रुदनसे अपरिचित शिशुका सस्मित वदन चन्दन-चर्चित होकर और भी खिल उठा और अन्ततक वह प्रफुल्लित ही बना रहा। यहाँतक कि मृत्युके कठोर कर भी उस अक्षय मुसकानको न छीन सके।

बालकको घर लाकर गरीब भिखारियोंको भोजन दान दिया गया। 'बाबा गिरधारीदास' का बालकके प्रति निस्सीम प्रेम था। वे भागवत आदि ग्रन्थ बाँचते समय भी उस नन्हेसे शिशुको चादरमें लपेटकर अपने पास ही लिटाये रखते थे। पुरीमें जगन्नाथके श्रीचरणोंका पावन स्पर्श, बाबा गिरधारीदासका वरद हस्त और भगवान्का नाम-गुण-संकीर्तन-मय वातावरण—यह सब शैशवावस्थासे ही प्राप्त होनेके कारण इनके जीवनपर आध्यात्मिकताकी जो गहरी छाप पड़ी, वह शुभ संस्कारों एवं सत्संगतिकी महिमाको ही प्रकट करती है। विश्वके अनेक महापुरुषोंके जीवनपर जिस प्रकार उनकी माताके शील-चारित्र्यका गहरा प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार पोपटभाईकी पूजनीया माता परम साध्वी श्रीगोमती देवीके सदाचार, साधुस्वभाव, सुशीलता एवं धार्मिकताका प्रभाव बालक पोपटभाईपर निश्चितरूपसे पड़ा। साध्वी माताका वह साधु पुत्र जब कच्छस्थित 'सिनोग्रा' ग्रामके 'खोड़ारामजी ए० वी० स्कूल'में पढ़ता था, तब घरके सामनेके मन्दिरमें निवास करनेवाले साधु बाबा धनीदासके सत्सङ्गमें बैठकर आध्यात्मिक चर्चा सुना करता एवं बाबाकी तथा माताके पाद

आनेवाले अन्यान्य साधु-संतोंकी सेवा किया करता था। तत्पश्चात् कच्छभुजस्टेट हाईस्कूलमें पढ़ते समय भी ११-१२ वर्षका यह बालक सारहीन स्कूली पढ़ाईकी उपेक्षा करके सरकारी अस्पतालमें आये हुए दीन-दुखी रोगियोंकी सेवाके लिये तत्परतापूर्वक दौड़ पड़ता था और रात-दिन एक कर देता था। अंग्रेजीकी सातवीं कक्षाके बाद पोपटभाई अहमदाबाद पढ़ने गये; परंतु गुलामीकी जंजीरोंसे जकड़ी हुई भारतमाताकी पुकार तथा उसकी मुक्तिके लिये पूज्य महात्मा गाँधीजीका आह्वान सुन, उन्होंने मैट्रिककी पढ़ाई छोड़, उनके असहयोग आन्दोलनमें सहयोग दिया। तभीसे वे खादी पहनने लगे और आमरण खादीका ही उपयोग करते रहे।

पढ़ाई छूट जानेके पश्चात् आप बामरास्टेटमें अपने पिताजीके पास चले गये और ठेकेदारीके कार्यमें उन्हें सहायता देने लगे। इसी वर्ष सत्रह वर्षकी आयुमें इनका विवाह कच्छके अखार-निवासी हीरजी भाईकी ज्येष्ठा कन्या त्रयोदश-वर्षीया वेलूबेनके साथ हुआ। छः बहनोंमें एक ही भाई, माता-पिताका आज्ञाकारी पुत्र वंशको जीवित रखनेके लिये ही विवाह-बन्धनमें बँधा। कुछ दिनोंके पश्चात् वे बहनोई श्रीरणछोड़ भाईके साथ ठेकेदारीका काम करने पटना गये; परंतु उन्होंने शैशवावस्थामें ही बाबा गिरधारीदास तथा बाबा धनीदासकी कृपासे 'रामरतन धन' का जो अमूल्य खजाना पाया था; वह इतना विशाल था कि ठेकेदारीसे प्राप्त तुच्छ वृत्तिका मृत्तिका-तुल्य धन उन्हें अपनी ओर आकर्षित न कर सका। कुटुम्बके प्रति अपने कर्तव्यको पहचानकर एवं कुल-परम्पराकी रक्षाके हेतु तीन वर्षके संयमके पश्चात् विवाहके चौथे वर्ष उन्होंने पुत्र-कामना की एवं भूपेन्द्र नामक पुत्र-रत्न उन्हें प्राप्त हुआ। भूपेन्द्र भी सदाचार, सादगी और नम्रतामें माता-पिताकी मानो प्रतिमूर्ति ही है। दो वर्ष बाद दिलीप नामक द्वितीय पुत्र प्राप्त हुआ। यह बालक आठ वर्षकी अल्पायुमें ही मृत्युका ग्रास हो गया। पिताको मानो ईश्वरीय संकेत था। पुत्रकी इस मृत्युसे संसारका रहा-सहा मोह भी समाप्त हो गया। भगवान् बुद्धके ही अंश-रूप इस बुधियाका कञ्चन और कामिनीसे प्राप्त सुखोंकी दुनियासे मानो यह महाभिनिष्क्रमण था। तबसे मृत्युपर्यन्त उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया तथा ईश्वरोपासना एवं सेवा-कार्यमें ही जीवन व्यतीत किया। जीविकोपार्जन एवं कुटुम्ब-पालनके लिये गीताके 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः' के अनुसार रायपुरमें कपड़ेकी दूकान चलाकर सत्य-व्यवहारयुक्त क्रय-विक्रय करने लगे। आपकी दूकानसे कोई भी ग्राहक बिना हिचकिचाहट माल खरीद सकता था; क्योंकि वहाँ ठगे जानेकी कोई आशङ्का ही नहीं रहती। जहाँ अन्य व्यापारी ब्लैकसे माल बेचकर लाखों कमा रहे थे, वहाँ पोपटभाई-सरीखे सच्चे और ईमानदार व्यक्तिको देखकर आजकी दुनियामें आश्चर्य किये बिना नहीं रहा जाता। किसीकी लाचारीसे वे लाभ कभी नहीं उठाते। सरकारी दफ्तरोंमें पोपटभाईकी ऐसी साख थी कि अधिकारीगण बेखटके इनके बही-खातोंपर हस्ताक्षर कर देते; क्योंकि वहाँ किसी प्रकारके धोखे या असत्य व्यवहारकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये प्रामाणिकतासे धनार्जनके लिये जितना समय आवश्यक था, उतना ही उसमें लगा, शेष सारा समय सेवाकार्य और ईश्वरोपासनामें व्यतीत करते थे। किसी भी सार्वजनिक संस्थाकी सेवाके लिये वे सदा तत्पर रहते, पर 'लोकैषणा' की वासना तिलमात्र भी नहीं थी। किसी सभा, प्रवचन आदिमें पोपटभाईका स्थान मञ्चपर या विशेष कक्षमें न रहकर सबसे पीछे रहता, जहाँ वे किसीको पानी पिलाने या लोगोंको स्थान बनाकर बैठानेमें व्यस्त दिखायी देते। कांग्रेसद्वारा आयोजित सफाई सप्ताहमें वे उत्साहपूर्वक भाग लेते; परंतु जब कि अन्य जन कैमेराके सामने झाड़ू लेकर सड़कके किसी स्वच्छ भागपर नाटकीय ढंगसे काम करते, तब पोपटभाई सबके पीछे दूर किसी गंदी नालीकी सफाई करते हुए दिखायी देते, इस तरह कीर्ति-पराङ्मुख होकर उन्होंने आमरण निस्स्वार्थ सेवा की। कोई भी कार्य करते समय कभी भी उन्होंने किसीके मनको नहीं दुखाया। उनका प्रफुल्ल वदन सर्वदा अपने चारों ओरके लोगोंपर स्निग्धता-की वर्षा करता। वे सचमुच सच्चे अहिंसावादी एवं अजात-शत्रु थे। एक समयकी बात है पोपटभाईके घर एक लकड़ी फाड़नेवाला धूपमें लकड़ियाँ फाड़ रहा था। ग्रीष्म ऋतुकी धूप थी। थका-भूखा लकड़हारा चक्कर खाकर गिर पड़ा। इतनेमें पोपटभाई पहुँचे और उन्होंने उसका योग्य उपचार करके दिनभरके पूरे पैसे दे उसे विदा किया तथा तबसे अपने घरकी लकड़ियाँ वे स्वयं फाड़ने लगे। अपनी सुविधाके लिये दूसरोंको कष्ट होते वे देख नहीं सकते थे। जिस कार्यमें पोपटभाई हाथ बँटाते, उस कार्यमें सभी निस्संकोच सहयोग देते। दिनभर सेवाके कार्योंमें व्यस्त रहकर तथा दूकानका यथोचित कार्य देख वे रात्रिको एक दरीपर भूमिपर शयन करते तथा मध्य रात्रिको जगकर एकान्तमें अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न हो जाते। परिवारवाले समझते कि आप

निद्रित हैं । पर यदा-कदा उनकी पत्नी रात्रिको उठती तो पतिदेवको अपने इष्टदेवके ध्यानमें मग्न पाती । इतना सब करते पोपटभाईको अपने वृद्ध माता-पिताका भी ध्यान रहता था । माता-पिता कच्छमें निवास करते थे । अतः वे बीच-बीचमें उनके दर्शनार्थ जाते रहते । एक बार उनकी माताने तीर्थयात्राकी इच्छा व्यक्त की, पोपटभाई उन्हें तीर्थयात्राके लिये ले गये । मृत्युकाल ज्यों-ज्यों समीप आता गया, त्यों-ही-त्यों उनकी साधना और भी कठोर होती गयी । मृत्युके एक वर्ष पूर्व अन्न-जलका परिमाण अत्यन्त सीमित हो गया । उनका भोजन अत्यन्त सात्त्विक था । निर्व्यसनी तो वे प्रारम्भसे ही थे । चाय-काफी, पान-सुपारी अथवा बीड़ी-सिगरेट इनको तो आजीवन उनका हाथ ही नहीं लगा था । हाथसे सूत कातकर उससे प्राप्त खादी वे पहनते । इस तरह जीवनके प्रत्येक पहलूपर उनका पूर्ण संयम था । यहाँतक कि निद्रापर भी उन्होंने विजय प्राप्त की थी—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

मृत्युके तीन मास पूर्वसे ही आप रात्रिके ग्यारह-बारह बजेसे प्रातः चार बजेतक पद्मासनमें बैठे ध्यानावस्थित रहने लगे । प्रातःकाल नित्य वायु-सेवनके लिये जाते । दिनमें दूकानपर बैठते, परंतु चित्त तो सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण-परमात्माके चरणोंमें ही लगा रहता । सत्संगतिकी महिमा सभीने गायी है । पोपटभाई-जैसे साधुपुरुषके सहवासमें उनके कुटुम्बियोंका भी जीवन क्यों न विकसित होता । उनके सुपुत्रका तो उल्लेख हो ही चुका है । उनकी धर्मपत्नी वेलूबेन भी पतिके समान ही शान्त, गम्भीर एवं अत्यन्त नम्र हैं । सांसारिक सुखकी तुच्छ लालसाने उन्हें कभी भी पतिकी साधनामें बाधक नहीं बनाया; बल्कि पोपट-भाई-जैसे पतिके सहवासको ईश्वरका आशीर्वाद समझ उनकी निष्काम सेवामें ही अपने जीवनकी सफलता उन्होंने समझी ।

मंगलवारका दिन था । अत्यन्त आग्रह किये जानेपर उन्होंने पत्नीद्वारा लौकीका शाक बनवाकर (उबली हुई लौकीमें नमक डलवाकर) उसे नाममात्र ग्रहणकर उपवास तोड़ा । रात्रिको उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि 'कल बुधवारको साढ़े सात बजे मैं इस संसारसे प्रस्थान करूँगा । तुम मुझे वचन दो कि रोओगी नहीं । मुझे मेरा काम शान्तिसे पूर्ण करने देना । फिर इसमें घबरानेकी बात ही क्या है । मैं मरनेवाला नहीं, मैं तो सदा तुम्हारे साथ रहूँगा; मैं अमर हूँ ।' कैसा भयानक आदेश था एक पत्नीके लिये ! पर उन्होंने अपनी पत्नीको भी लगभग अपने ही समान बना लि था । तभी तो उस नारीमें एक अलौकिक साहस जाग्रत् हु और उन्होंने पतिकी आज्ञा स्वीकार की । नित्यकी त पोपटभाई अपने प्रभुके ध्यानमें लीन हो पद्मासनस्थ बैठ गये अचानक पत्नीकी नींद खुली और उन्होंने पतिके कम जाकर देखा तो ध्यानावस्थित उस योगीका मुखमण्डल ए अलौकिक प्रभासे देदीप्यमान था । वे कुछ क्षण चकित- देखती रहीं । फिर शीघ्र ही जाकर उन्होंने जल तथा पूजन सामान ला पतिके चरण-कमल पखारकर उनकी पूजा की पतिने धीरे-धीरे अपनी स्नेहमयी आँखें खोलीं, पत्नी आशीर्वाद दिया और कहा कि तूने ठीक ही किया कि चरणामृत ले लिया । तू उसका पान कर, तुझे सब सहनेकी शक्ति प्राप्त होगी ।' पत्नीने श्रद्धासे चरणामृत ग्रहण कि पति फिर समाधिस्थ हो गये ।

दूसरे दिन प्रातःकाल छः बजे फिर वे जाग्रत् हुए परिवारके सभी लोग आपके समीप उपस्थित थे । उन्होंने स्मित वदनसे अपनी स्नेहमयी दृष्टि सबपर बिखेर दी और तुरंत ही फिर समाधिस्थ हो गये । परिवारवालोंने डाक्टरोंको बुला मृत्युके कोई लक्षण नहीं थे । डाक्टरोंने परीक्षा करके अ विवशता प्रकट की । वह तो ऐसा रोग था जो मीरां शब्दोंमें—

जाको लागे, सोई जाणै; और न जाणै कोय ।

—कहकर ही बताया जा सकता है ।

बुधवारके ठीक साढ़े सात बजे उस इच्छामरणी आत्मा सूर्यमण्डलको भेदकर परब्रह्ममें लीन हो गयी । भाद्रपद कृष्णा नवमी संवत् २०१३ को पोपटभाईकी लौकिक लीला समाप्त हो गयी । पर उन्होंने मृत्युके पूर्व जो था कि मैं अमर हूँ, उसका अनुभव लोगोंको तब हुआ, शवयात्राके पूर्व शवके समीप पत्नीकी चूड़ियाँ फोड़ी जाने थीं । मामूली काँचकी चूड़ियाँ पत्थरके अनेक प्रहारोंसे नहीं टूटीं । किसकी इतनी शक्ति थी, जो उस अमरात्म सहधर्मिणीका सौभाग्य-चिह्न उससे छीन ले । अनेक प्रत्यक्ष यह दृश्य देखकर आश्चर्यचकित रहे । उसे वैसा ही शवयात्रा चल पड़ी ।

पोपटभाईका पार्थिव शरीर तो चला गया, पर उन साधु-जीवन सर्वदा हमें सन्मार्गपर चलनेके लिये प्रेरणा रहेगा । उनकी अमरात्मा अन्तरिक्षसे हमपर सदैव रहेगी । स्नेहामृतकी वर्षा करती रहेगी ।

धन चाहिये ? लो धन

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

हमारे यहाँ, गुजरातसे, नर्मदातटपर कहीं पहाड़में रहनेवाले एक साधक आये थे। उन्होंने अपनी चर्या सुनायी। बहुत धीरे बोलते थे।

गायत्री-जप करते रहते हैं। किसीसे कुछ माँगते नहीं। बिना दिये किसीकी वस्तु छूते नहीं। जमीनमेंसे खोदकर कन्द भी नहीं निकालते। अहिंसक हैं। जमीन खोदनेमें सम्भव है किसी जीवकी हत्या हो जाय। पेड़ भी नहीं काटते। ठेकेदार लोग जंगल कटवाते हैं, उसमेंसे बची हुई, छँटी हुई, सूखी लकड़ियाँ उठा लाते हैं, जिन्हें ठेकेदारोंने छोड़ दिया हो। नर्मदा-तटपर आने-जानेवाले यात्री कुछ दे देते हैं तो ले लेते हैं; कुछ न हुआ तो पेड़-झाड़ियोंसे नीचे गिरा पका हुआ जंगली फल, पत्ते इकट्ठे करके रख लेते हैं; उन्हींको खाते हैं। बहुधा इसी प्रकार दिन गुजरते हैं। जंगली फल-बूटी-पत्तोंकी पूरी परीक्षा, पहचान न होनेसे एक बार कोई जहरीली पत्ती उन्होंने खा ली थी, जिससे शरीरमें उसके विकारी गुण प्रकट हुए, जप-साधनमें बाधा आयी। तब अन्य साधकसे पूछा—उसने बताया—'इस पत्तीको सेरभर पानीमें उबालो; पावभर पानी रह जाय तब पानी फेंक दो, पत्तीको पुनः सेरभर पानीमें उबालो। इस प्रकार तीन बार उबालकर उसका पानी फेंक देनेपर पत्तीको निचोड़कर, पश्चात् खाओ; तब वह निर्विकार होगी।' इसी प्रकार अन्य वनस्पतियोंपर भी गुजर करते हैं।

रुपये-पैसेकी वहाँ आवश्यकता नहीं। कोई दे भी तो उसका उपयोग वहाँ क्या और कैसे करें। कहीं दूकान, बाजार नहीं। पास गाँव भी नहीं और वे कहीं जाते भी नहीं। आने-जानेवाले यात्री अपनी इच्छा, श्रद्धा-भक्तिसे जो कपड़ा, अन्न या सामग्री दे दें, उसे ही स्वीकार करते हैं। चार अंगुल कपड़ेकी कौपीन लगाये जप किया करते हैं, पहाड़की किसी चट्टानके नीचे, कुछ आड़ बनाकर, आसन बना लेते हैं। न दरवाजा, न खिड़की, न ताला। ठंढमें रातको धूनी जलाकर रहते हैं, बरसातमें ऊपरसे बूँदें टपकीं तो इधर-उधर खिसक गये।

जंगली हिंसक जन्तु भी आते हैं, दहाड़ते हैं। कोई भय नहीं; खाओ तो आओ, खा जाओ। वे वहाँ अकेले नहीं हैं। उनके समान अन्य भी ढाई-तीन सौ ऐसी वृत्तिवाले साधक वहाँ एक दूसरेसे बिखरे हुए, अलग-अलग अपनी चर्यामें रहते हैं। उन्होंने बताया—गङ्गाकिनारे भी गये थे, किंतु वहाँ इतना एकान्त शान्त स्थल नहीं मिला। उन्होंने अपनी देखी एक पुराने साधककी बात सुनायी, जिनको सब साधक गुरु मानते थे।

ये महात्मा हमेशा अपनी दृष्टि नासिकाग्रपर रखते थे, सामने या बात करनेवालेको कभी आँख उठाकर नहीं देखते थे। कोई भी हो। उस जंगली प्रान्तमें अकेले-दुकेले आप कुछ भी सामग्री लेकर जायँगे, रास्तेमें ही लुट जायँगे; भील लूट लेते हैं। नर्मदाकी परिक्रमा करनेवाले तो झुंड-के-झुंड चलते हैं और भील लोग यात्रियोंकी ऐसी भीड़पर डाका नहीं डालते। अकेले-दुकेलेको उधर जानेमें सरकारी अधिकारी रोकते हैं। उक्त नासिकाग्रदर्शी महात्मासे किसी ऐसे अवसरपर कोई ऊँचा सरकारी अधिकारी भिड़ बैठा। 'जंगलमें तुमलोग कैसे गुजर करते हो? वहाँ मत जाओ, भील लूट लेंगे।'

महात्मा बोले—'भगवती नर्मदा सबको देती है; मेरे पास कौपीनके सिवा है ही क्या, जो भील लूट लेंगे? मुझे अपने स्थानपर जाने दो।'

बातचीतके सिलसिलेमें अधिकारीने जिद पकड़ ली। एक नावमें महात्माजीको बैठाकर, अन्य

अधिकारियोंसहित स्वयं बैठकर नर्मदाकी बीच गहरी धारामें ले पहुँचे और सवाल किया—'महात्माजी ! भगवती आपको देती है तो आप मुझे दीजिये, दिलाइये धन—यहींपर, इसी समय चाहिये ।'

महात्मा बोले—'मेरे पास तो कुछ है नहीं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ ? भगवतीसे ही माँगिये । मुझको, सबको देती है; आप भी माँग लीजिये ।'

अधिकारीने जिदपूर्वक कहा—'हम तो आपको जानते हैं; आपसे ही माँगते हैं ।'

इस बातचीतके सिलसिलेमें वास्तवमें हुआ भी वैसा । धनकी थैलियाँ नर्मदामेंसे उठकर नावपर पड़ने लगीं । इस क्रमसे नाव थैलियोंसे भर गयी, थैलियाँ आती ही रहीं, बोझसे नाव दबने लगी, नावमें पानी आने लगा ।

अब अधिकारी घबराये । 'महाराज ! अब नहीं चाहिये; बस, बंद करो । हम सब डूब जायँगे, बचाओ ।'

महात्माने कहा—'बचना है तो थैलियाँ उठा-उठाकर भगवतीको वापस कर दो ।'

सब थैलियाँ वापस कर दी गयीं । सब लोग सकुशल लौट आये । तबसे साधकोंको वहाँ जानेपर कोई अधिकारी नहीं रोकता ।

सूक्ष्मताकी ओर

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी शुक्ल शास्त्री, शास्त्राचार्य)

जिसका न कहीं आदि है न अन्त, उसका सभी जगह मध्य-बिन्दु है । अनन्त सृष्टिके ऐसे ही एक मध्य-बिन्दुपर वैज्ञानिकके रूपमें खड़ा मनुष्य इसके रहस्यकी खोज न जाने कबसे कर रहा है । सूक्ष्मताके पथपर वह आगे बढ़ा और अणुओंके पास जाकर रुक गया । उसने सोचा—यही सबसे अधिक सूक्ष्म है । तब अणु चिल्ला उठे—जिन परमाणुओंसे हमारी रचना हुई है, वे तो हमसे भी अधिक सूक्ष्म हैं, भाई ! तनिक उन्हें तो गिनो !

वैज्ञानिकने अणुके अवयवभूत परमाणुओंको देखा, गिननेकी चेष्टा की; किंतु गिन चुकनेके पहले ही वह बुरी तौरसे थक गया ।

तभी परमाणुओंने अपना द्वार अचानक खोल दिया और वैज्ञानिक बेचारा दाँतोंतले अँगुली दबाकर चकित रह गया ।

उसने परमाणुओंकी अननुमेय सूक्ष्मतम डिब्बीके भीतर एलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन, न्यूट्रोन आदि लगभग एक दर्जन भाइयोंको क्रीड़ा करते देखा ।

उसने देखा एलक्ट्रोन लाखों मील प्रति सेकेंडकी गतिसे प्रोट्रोन तथा न्यूट्रोनकी परिक्रमा कर रहे हैं ।

वैज्ञानिक आश्चर्यके समुद्रमें गोते लगाता हुआ यह नहीं समझ सका कि ये वास्तवमें हैं क्या । किसीने कहा—ये विद्युत्की तरङ्गें हैं; तो कोई बोल उठा—नहीं, ये विद्युत्के शक्तिकण हैं—फोटोन । किसीने निर्णय किया कि मनकी स्थितिके अनुसार ये दोनों ही हो सकते हैं ।

वैज्ञानिक इनके नाभि-केन्द्रका पर्यवेक्षण करने लगा । अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह उसका रूप तो न देख सका । किंतु इस नाभि-कणके भीतर अनन्त एवं अगाध शक्तिके समुद्रको लहराता हुआ देखता रहा !

वह देखता रहा इस घनीभूत शक्तिसे विरचित सूक्ष्मसे स्थूल, पोलसे ठोस एवं गतिशीलसे अचल वस्तु-जालकी रचना, जो अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण गणितके अचूक नियमोंके अनुसार व्यवस्थित ढंगसे अनादिकालसे चली आ रही है ।

'यह सब कैसे सम्भव है ?' उसने घबराकर विचार किया । तभी किसीने मधुर-स्वरमें उससे कहा—जिसे आजतक न कोई समझ सका है और न भविष्यमें समझ सकेगा, वह इस अनन्त जड-शक्तिको वशमें रखनेवाली केवल ज्ञानमयी सत्ता ही सबसे अधिक सूक्ष्म है, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जड जगत्में ओतप्रोत है और हम सबका नियन्त्रण करती रहती है ।

हिंदी-कवियोंकी गो-भक्ति

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

हमारे वेद एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे लेकर पुराण तथा धर्म-शास्त्रोंतक सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य गो-माताकी महिमासे ओत-प्रोत है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, महाभारत, रामायण, उपनिषद्, ब्राह्मण धम्मिय सुत्त, जातक ग्रन्थ तथा उपासक दशाङ्ग सूत्र प्रभृति ग्रन्थरत्नोंमें ससम्मान गो-चर्चा मिलती है। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक विश्वास, संस्कार तथा विचार-वैभिन्न्य होनेपर भी गायके प्रति सभीने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है और भारतीय संस्कृतिके मूलतत्त्वों एवं प्रतीकोंमें गो-माताका कितना महत्त्व माना जाता रहा है। दैनिक जीवनकी विविध आवश्यकताओंके फलस्वरूप उसका सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं कहा जा सकता।

जहाँ गो-माताका हमारे जीवनके सभी क्षेत्रोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, वहाँ वह हमारे साहित्यमें एक प्रमुख वर्ण्य विषय बन चुकी है और यह स्वाभाविक ही है। उसकी करुणा एवं ममतासे काव्य-क्षेत्र विशेषरूपेण सम्पन्न और समुन्नत हुआ है। मध्ययुगके संत एवं भक्त कवियोंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ गो-गुण गान करके उसे उनके साथ अभिन्न और अमर कर दिया। सूरदास, नरहरिदास, गुरु गोविन्दसिंह, बंदा वैरागी एवं रामसिंह आदि कवियोंकी रचनाएँ इसका प्रमाण उपस्थित करती हैं। परवर्ती हिंदी-कवियोंने गो-माताको माध्यम बनाकर जिन रचनाओंकी सृष्टि की, वे हिंदी-साहित्यकी स्थायी सम्पत्ति बन चुकी हैं। भक्तिकाल तथा उसके अनन्तर हुई काव्य-रचनाओंमें गो-माताका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। सूरकी प्रेम तथा भक्ति-रसमयी भावधाराका अनुसरण करनेवाले कवियोंमें नन्ददास, परमानन्ददास, रसखान आदि अनेक भक्त कवि उल्लेखनीय हैं। सूरदास तो इस विषयके अग्रणी और आदर्श हैं ही।

राष्ट्रिय चेतनाके विकासके साथ-साथ जहाँ हमारे आधुनिक हिंदी-कवियोंने नवजागरण तथा राष्ट्रोद्बोधनका सफल प्रयास किया, वहाँ उन्होंने गो-रक्षा तथा गो-वधके महत्त्वपूर्ण प्रश्नको लेकर इस दिशामें भी हमारा पर्याप्त निर्देशन किया। आइये, हम-आप भक्ति एवं राष्ट्रिय भावनाओंसे ओतप्रोत उन कवियोंकी कतिपय पंक्तियोंका रसास्वादन करें।

सर्वप्रथम व्रजभारतीके मुकुटमणि भक्तप्रवर सूरदास-जीका ही राग सुनें। देखिये, आप क्या कह रहे हैं—

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
बृंदावनके भाँति भाँति फल अपने कर मैं खैहौं॥
ऐसी बात कहौ जनि बारे, देखो अपनी भाँति।
तनक तनक पग चलिहौ कैसे, आवै ह्वै है राति॥
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरौ कमल बदन कुम्हिलैहै, रेंगत घामहि माँझ॥
तेरी सौं मोहि घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक।
सूरदास प्रभु कह्यौ न मानत, पर्यौ आपनी टेक॥

उपर्युक्त पंक्तियोंमें लाड़ले कान्ह एवं यशोदा मैयाकी प्रश्नोत्तरीके व्याजसे गो-महिमा एवं भक्तिका कितना सुमधुर उदाहरण सामने रखा गया है।

अब रसिकवर रसखानजी इस सम्बन्धमें जो कुछ कह रहे हैं, उसे भी सुनना हमारा-आपका कर्तव्य है। देखिये, वे कह रहे हैं—

कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक सौ जु कर्यौ जदुरैया।
गाइगौ तान, जमाइगौ नेह, रिझाइगौ प्रान, चराइगौ गैयाँ॥

× × ×

सोहत हैं चँदवा सिर मौर के जैसियै सुंदर पाग कसी है।
तसियै गोरज भाल विराजति जैसी हियें बनमाल लसी है॥

× × ×

मानुष हौं तौ वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पशु हौं तौ कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥

इनकी कोमलकान्त पदावलीमें जो चित्र अङ्कित है, उसमें गोचारण साकार है। और 'चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन'में कितनी प्रगाढ़ तल्लीनता है कि जिसका वर्णन रसखानके ही वशकी ही बात हो सकती है।

कविकुलचूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजीने भी '**मानस**' में अनेक स्थलोंपर गो-महिमाका वर्णन किया है। उसमें भी ज्यौतिषशास्त्रके अनुसार गो-धूलि-वेलाके महत्त्वका पुष्टीकरण जो उन्होंने किया है, वह हिंदी-साहित्यमें अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य उदाहरणोंके अनन्तर अन्तमें उसे भी आप देखें—

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

× × ×

हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ।
× × ×
गज रथ तुरग हेम गो हीरा । दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा ॥
× × ×
जे अघ मातु पिता सुत मारें । गाइ गोठ महिसुरपुर जारें ॥
× × ×
धेनु धूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल ।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल ॥

अष्टछापके कवि नन्ददासजी भी गोवंशकी माधुरीपर रीझनेसे वञ्चित नहीं रहे । उनकी लेखनीने भी ये पंक्तियाँ अङ्कित कर ही दीं—

गोरज राजत साँवरें अंग ।
देख सखी बन ते ब्रज आवत गोबिंद गोधन संग ॥
× × ×
बन ते आवत गावत गौरी ।
हाथ लकुटिया गायन पाछे ढोटा जसुमति कौ री ॥
× × ×

आजतक गोवध-बंदीके लिये जो काम हम-आप एवं हमारी सरकार नहीं कर पायी है, वह काम आजसे कई सौ वर्ष पूर्व भक्त कवि तथा अकबरके दरबारके नवरत्नोंमेंसे एक श्रीनरहरिदासजीकी कतिपय पंक्तियोंने कर दिखाया था । एक बार वे निम्नाङ्कित छप्पय कागजपर लिखकर, गायके गलेमें बाँधकर दरबारमें ले गये—

अरिहु दंत तृन धरहिं ताहि मारत न सबल कोइ ।
हम संतत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ ॥
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं ।
पय विसुद्ध अति स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं ॥
सुनु साह अकब्बर ! अरज यह करत गऊ जोरे करन ।
सो कौन चूक मोहि मारियतु मुएहुँ चाम सेवत चरन ॥

परिणामतः शाही फरमानसे तत्काल गो-वध बंद हो जानेपर फिर नरहरि कविने यह कविता अकबरको सुनायी थी—

नरहरि कबीते गऊ की बिनती कौं सुनि
है गए अकब्बर सबीह जैसे नकसी ।
दीन्हौ है हुकुम करवाय आम खास बीच
बंद भयौ गोवध खबरि फेरि बकसी ॥
फैलि गयौ सुजस दिलीप सौ जहान बीच,
हिंसक समाज बैठि बोले अकबक सी ।
आनँद कसाइन कौ गाइन कौं दीन्हौ, और
गाइन की मौत लै कसाइन कौं बकसी ॥

अब हम कविसम्राट् स्व० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'जीकी ओर मुड़ते हैं । कृष्णके विरहमें गोकुलकी दशाका कारुणिक चित्र कितना मार्मिक है—

दौड़ा ग्वाला व्रजनृपतिके सामने एक आया ।
बोला गायें सकल वनको आपकी हैं न जाती ॥
दाँतों से हैं न तृण गहती हैं न बच्चे पिलाती ।
हा ! हा ! मेरी सुरभि सबको आज क्या हो गया है ॥

इसी प्रकार गो-वंशके प्रति हम भारतीयोंकी ऋणीभाव भी स्पृहणीय है । देखिये, कविकी भावाभिव्यञ्जना क्या कह रही है—

गो-सुत-गात-विभूति से अन्नराशि उद्भूत है ।
भारतीय गौरव सकल गो-गौरव-संभूत है ॥

राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तने तो अपने नामके अनुसार गौमें भी किस राष्ट्रियताका रूपकालंकार देखा है, इसका अनुमान निम्नाङ्कित पंक्तियोंसे सहजमें ही लगाया जा सकता है—

गाय कहूँ वा तुझको माय !
अयि आबाल-वृद्ध हम सबकी जीवन भरकी धाय ॥
तेरा मूत्र और गोबर भी पावे, सो तर जाय ।
घर ही नहीं, खेत की भी तू सबकी एक सहाय ॥
न्योछावर है उस पशुता पर यह नरता निरुपाय ।
आ, हम दोनों आज पुकारें—कहाँ कन्हैया हाय ॥

वर्तमान समयके सुप्रसिद्ध आशुकवि पं० जगमोहननाथ अवस्थीजीकी प्रेरणा भी उन्हें इस ओर खींच लायी । उनकी कल्पना देखिये—

धन्य हो नृप दिलीप की सिद्धि,
तुम्हीं युग-युग की परम समृद्धि ।
× × ×
नरक का सेतु, स्वर्ग-सोपान,
धर्म का केतु विश्व-कल्याण ।
सुरों की सेव्य सनातन शक्ति,
मनुज की सम्पति, शुचि अनुरक्ति ।
× × ×

हलकते सुर भी सुरभी हेतु,
यही है धर्म-शक्तिका केतु।
नन्दिनी-कामधेनुका रूप,
घूमते जिनके पीछे भूप।

अब पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्नके उन चौपदोंका आनन्द लें, जिनकी रचनामें वे सिद्धहस्त माने जाते हैं। देखिये, क्या कलापूर्ण कथनशैली है—

नहीं है यह श्री गोमाता,
दया यह देहधारिणी है।
शक्तिदा महाशक्ति है यह
भगवती सौख्यकारिणी है॥

× × ×

नहीं यह होती तो होते
यहाँ क्यों रघु दानवहारी--
और फिर कैसे हो पाते
राम भी महाधनुर्धारी।

× × ×

रमापति विष्णु शेषशायी
कहाँ पर जाकर के रहते--
क्षीरसागर को भरने को
नहीं जो इसके थन बहते।

साहित्य-जगत्के चिरपरिचित कवि पाण्डेय पण्डित रामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' के भी कतिपय छन्द यहाँ उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं हो पाता। अतः इनपर भी एक नजर डाल लें। देखिये, वे क्या रंग ला रहे हैं—

गौओंकी महिमा कौन भला बतलाये,
जिनके गुण-गौरव वेदोंने भी गाये॥
जिनकी सेवा के हेतु अरे इस जगमें--
भगवान स्वयं मानव बनकर थे आए॥

× × ×

इनके भीतर धन-धान हमारे सोये।
इनके भीतर अरमान हमारे सोये॥
ये कामधेनु हैं क्षीरसमुद्र धराका।
इनके भीतर भगवान हमारे सोये॥

स्वर्गीय पण्डित सतीप्रसाद त्रिपाठी 'सिद्ध' की गयी वाणीमें गोमाताकी गुहारमें कितनी मार्मिक पुकार छिपी है! उसे भी देखना ही होगा। वे लिखते हैं—

मोकों समान हिंदू तुरुक इसाई सबै,
पालत सभी कौ मैं पियूषपय प्याय कै।
मरिबे पै चामहू तो चरन चरनदासी होइ,
नित्तप्रति सेवै नेकु सोचौ चित्त लाय कै॥
'सिद्ध' कहैं पाप परिताप के न राह चलौं,
जीवन बितावौं नित घास-तृन खाय कै।
मोहि कलपै है सो तो नाहिं कलपैहै,
कहौ, कैसे कलपैहै कोऊ मोहि कलपाय कै॥

इसी प्रकार श्रीजगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामी महाराजने भी कतिपय बड़ी मार्मिक पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका कहना है—

तिनका भी यदि पड़ा आँख में, आँसू अरे! निकलता है।
गोमाता की व्यथा-कथा सुन मानव! क्यों न पिघलता है॥

× × ×

महादेव भी जिस नन्दी पर बैठ सदा सुख पाते हैं।
महाविष्णु भी जिस गोधन के लिये कृष्ण बन आते हैं॥

× × ×

हैं गोमय-गोमूत्र शुद्धतम इनके पावन और पवित्र।
जिनके सेवनसे होते हैं दूर भूरि भव-रोग विचित्र॥

पण्डित जगन्नारायणदेव शर्मा 'कविपुष्कर' जीने उद्बोधनके मिस जो उपालम्भ हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वह कालिदासके रघुवंशमें वर्णित गोभक्तिका पूरा भावानुवाद-सा हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। इसके भी कुछ उदाहरण लीजिये—

कहाँ हैं वे जमदग्नि दिलीप,
कृष्ण-अर्जुन-जैसे गोभक्त।
आज भी है जिनका इतिहास
धेनु-रक्षा-पालन-अनुरक्त॥

चढ़ें जिनके गोबर पर फूल,
बनाकर गौरी आद्या शक्ति।
निरर्थक जीवन उनका सत्य,
न जिनमें है कुछ इनकी भक्ति॥

सदा जो है गङ्गाकी धार
और तुलसी की नाशिनि रोग।
तथा गीता-सी गुणकी खान,
जिसे गृहमें रखते हैं लोग॥

सनातन चलता जिससे धर्म,
कराती वैतरणी के पार।

नरक से लेती अहो ! उबार,
स्वर्ग का दिखला देती द्वार॥

स्वर्गीय रसराज नागर तो 'गो-पुकार' शीर्षकसे सौ छन्द लिखनेके लिये दृढ़संकल्प थे; किंतु बली कालके सामने उनके इस संकल्पको हार माननी पड़ी और वे केवल ग्यारह छन्द लिखते-लिखते ही इहलोकसे प्रयाण कर गये। उनकी रसमयी अनुभूति एवं प्रौढ़ भाषाका अनुमान एक छन्दसे ही पाठकोंको लगा लेना चाहिये—

मोर पखा छहराइये सीस पै, बाँसुरिया कर मैं हरि ! लीजै।
प्रेम भरी बृषभान लली की गुही बनमाल हिएँ धरि लीजै॥
साध यहै, ब्रजराज कुमार जू ! एक दिना तो कही करि लीजै।
माखन सौं मुख चारु बनाइ कैं गोरज सौं अलकैं भरि लीजै॥

इसी प्रकार श्रीगुरुदियालीमल सिंगला सुनामी भी इस विषयकी समस्याका समाधान किस बारीकीसे ढूँढ़ लेते हैं, वह भी देखने योग्य है—

जननी जनकर दूध पिलाती केवल साल-छमाही भर।
गोमाता पय-सुधा पिलाकर रक्षा करती जीवन भर।

पण्डित रामाधार पाण्डेयने तो छोटे बच्चोंके लायक पहेलीमें गोमाताके विषयको इतना साफ और सुलझाकर रख दिया है कि देखते ही बनता है। पढ़िये—

मोली-भाली प्यारी-प्यारी।
सुमधुर पयदायी सुखकारी॥
सुतन देखि नित लेत बलैया।
क्या सुत, मैया ? नहिं मा गैया॥

इस प्रकार इन भाग्यशाली कवियोंकी वाणीका रसास्वादन तथा भारतीय शासनमें गोवधबंदी-कानूनकी मङ्गल-कामना करते हुए हम इस लेखको विराम देते हैं और आशा करते हैं कि निम्नाङ्कित सूक्तिपर हम सभी गम्भीरतापूर्वक मनन करेंगे तथा कविके स्वरमें स्वर मिलाकर गायेंगे—

गाय मरी तो बचता कौन ?
गाय बची तो मरता कौन !!

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्क पृष्ठ ८७६ से आगे]

९८–जन्मतिथि

'कनूँ, तू कर क्या रहा है ?' सब सखा एकत्र हो गये, गायें गोष्ठसे निकलकर द्वारपर हुंकार करने लगीं और अभी-तक यह कृष्णचन्द्र चलता क्यों नहीं दीखता ? मैयाने तो आज शीघ्र इसे छुट्टी कर दी खिला-पिलाकर, फिर यह इस घरसे उस घरमें दौड़धूप क्या कर रहा है ?

'दादा ! आज जन्मतिथि है न।' यहाँ नित्य ही किसी-न-किसीकी जन्मतिथि रहती है। बहुत थोड़े मनहूस दिन एवं अशुभ नक्षत्र हैं, जिनमें किसी सखाकी जन्म-तिथि नहीं पड़ती।

'किसकी जन्मतिथि है ?' श्यामकी जन्मतिथि तो है ही नहीं और दाऊकी जन्मतिथि भी नहीं। किसी सखाकी जन्म-तिथि होनी चाहिये, पर किसकी ?

'दादा ! किसकी जन्मतिथि है ?' अब इस भोलेपनकी कोई सीमा है ? स्वयं जन्मतिथि मनानेका उद्योग कर रहा था यह और स्वयं ही पूछ रहा है कि जन्मतिथि किसकी है।

'मुझे तो पता नहीं है ?' दाऊ हँस पड़ा। 'दाम ! तेरी जन्मतिथि नहीं है ?' और जब श्रीदामाने अस्वीकार कर दिया तो 'भद्र ! तेरी ?'

'दादा ! बता न किसकी जन्मतिथि है ?' यह कैसा दादा है कि कन्हाईको जन्मतिथि नहीं बताता। श्याम जब बड़े सवेरेसे सम्भारमें लगा है, तब किसी-न-किसीकी जन्मतिथि तो होनी चाहिये।

'अरे, तुम सब क्या कर रहे हो ?' माता रोहिणीको लगा कि आज बालकोंको कोई असुविधा तो नहीं हो रही है। नित्य तो ये सब गोचारणके लिये वनमें जानेको उतावले रहते हैं और आज खड़े क्यों हैं ?

'माँ ! किसकी जन्मतिथि है आज ?' दौड़कर कन्हाईने माताका हाथ पकड़ा।

'जन्मतिथि ?' मैयाके कानोंमें बात पहुँची और वह चौंक गयी। इतनी बड़ी बात भूल गयी वह ! कैसी है उनकी देवरानी कि अपने बच्चेकी जन्मतिथि भी स्मरण नहीं रखती। उमंगसे गोदमें भर लिया मैयाने श्यामसुन्दरको—'तेरे छोटे भाई तोककी जन्मतिथि है, लाल !'

'तोककी जन्मतिथि है !' कन्हाई नाचने लगा है। उसने कितनी महत्त्वपूर्ण बात सुझायी है।

'दादा ! मैंने तेरे लिये भी बहुत-सी वस्तुएँ एकत्र कर ली हैं।' तोककी जन्मतिथि है। उसे आज उपहार देना है। श्यामसुन्दरने ढेरों वस्त्र, आभूषण, खिलौने और पता नहीं क्या-क्या एकत्र कर रखे हैं। बड़े सवेरेसे वह इसी आयोजनमें लगा था। अपने बड़े भाईका हाथ पकड़कर वह अपनी एकत्र वस्तुओंकी राशि बड़े उत्साहसे दिखा रहा है—'दादा ! हम दोनों मिलकर तोकको यह सब देंगे।'

९९—व्रजका राजा

'दादा ! तू यहाँ बैठ !' आज श्यामसुन्दर पूरी उमंगमें है। वनमें आते ही उसने बड़े भाईके लिये एक ऊँची, समतल चिकनी शिला अपने पटुकेसे झाड़कर स्वच्छ कर दी है और ढेरसे पुष्प बिछा दिये हैं उसपर।

'क्यों ? तूने सजाया है इसे, तू बैठ।' दाऊको अब पता लगा कि इतनी देरसे उसका छोटा भाई इस शिलाको उसके लिये सजानेमें जुटा था।

'बाबाने कह दिया है कि राजा तू है, अब बैठ तू।' कन्हाईने दाऊका हाथ पकड़ा।

कल दिनभर दोनों भाइयोंमें यही विवाद रहा कि व्रजका राजा कौन है। श्यामसुन्दरका पक्ष था कि राजा दाऊ है और दाऊ कहता था कि राजा कन्हाई है। यद्यपि गोपकुमार कृष्णचन्द्रके पक्षमें थे, फिर भी दाऊ कहाँ किसीकी बात मानता है। गोचारणसे लौटनेपर घरमें जानेके बदले श्याम सीधे बाबाके पास गया और उनका हाथ पकड़कर पूछने लगा—'बाबा, अपने व्रजका राजा तो यह दाऊ दादा है न ?'

'हाँ, हाँ ! तेरा दादा तो जन्मसे ही राजा है। हम सबका, पूरे व्रजका यही राजा है।' बाबाने हँसते हुए कहा।

'यह कन्हाई राजा है, बाबा !' दाऊने भी बाबाका हाथ पकड़ा।

निर्णय बदला नहीं। श्यामकी विजय हो चुकी थी। बाबाने स्नेहसे पुचकारते हुए कहा—'राजा तो बड़ा भाई होता है। छोटा भाई तो युवराज होता है। कृष्ण व्रजका युवराज है।'

कृष्ण तो है ही व्रजका नित्य युवराज; किंतु युवराज क्या होता है, यह समझनेका अवकाश उस समय कृष्णको नहीं था। वह विजयी हो चुका था। उसका दादा व्रजका राजा है। बड़ी उमंगसे मैयासे, माता रोहिणीसे और जो कोई मिला, उससे उसने यह मङ्गल-समाचार दौड़-दौड़कर सुनाया। सबने उसका समर्थन किया। किसी एकने भी तो विरोध नहीं किया था।

आज अब कल सायंकालकी अपनी विजयको सार्थक करनेमें श्याम जुट गया है। उसने अपने व्रजके राजाके लिये शिलापर सिंहासन सजाया है और अब दाऊ क्यों उसपर बैठनेसे मना करता है ? अब तो उसे बैठना ही पड़ेगा। वह राजा जो है।

राजा बनना सबसे बड़ी उलझन है। दाऊ क्या करे ? बाबाके निर्णयको वह टाल भी देता; पर यह कन्हूँ ऐसा करने कहाँ देता है। पुष्पोंसे सज्जित शिलातलका यह सिंहासन, पुष्पित कदम्बकी झुकी लहराती डालका छत्र—किस चक्रवर्तीका सिंहासन इससे भव्य होगा। इस सिंहासनस्थ मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट सजाये यह नीलाम्बरधारी और उसके दाहिनी ओर हाथमें कमलको चवँर बनाये खड़ा श्यामसुन्दर—सहस्रशः पंक्तिबद्ध बालकोंसे पूर्ण यह राजसभा।

अमरावतीके अधीश्वर इस राजसभाके बाहरी द्वारपर ही प्रणिपात कर सकते हैं।

१००—प्यास

'दादा ! मुझे प्यास लगी है !' मैया नित्य प्रातः वनमें चलते समय दाऊको बार-बार सचेत करती है कि वह अपने छोटे भाईको यमुनाके पास न जाने दे। आज श्यामसुन्दरको प्यास लग गयी है। यहाँ आस-पास कोई झरना भी नहीं दीखता कि वह स्वयं जल पी आये।

'तू जल पी आ !' दाऊके स्वभावका कुछ ठीक नहीं। कभी तो वह छोटी-छोटी बातोंपर भी ध्यान रखेगा और कभी कहीं जमकर बैठेगा तो फिर पूरा बाबाजी बन जायगा। कन्हाई चाहे जो धूम करे, उधर देखेगा ही नहीं।

'तू चल। नहीं तो मैया मुझसे झगड़ेगी !' ये सखा बड़े वैसे हैं। कोई-न-कोई मैयासे अवश्य कह देगा। ये सब तो झूठे ही दोष लगाया करते हैं; फिर श्याम अकेला जल पीने जाय तो कहेंगे नहीं ? वह अकेला नहीं जायगा। बड़े भाईका हाथ पकड़ लिया उसने।

'अच्छा, चल।' दाऊ धीरेसे उठा। उसने देख लिया है कि उसके छोटे भाईके पतले-पतले लाल-लाल ओठ प्यासके कारण कुछ सूखे-से जान पड़ते हैं।

'ना, तू पिला दे।' कनूँ भी कम अद्भुत नहीं है। कभी तो वह धूम करता घूमेगा और कभी सीधा बन जायगा तो इतना कि दूसरा कोई ढूँढ़े भी न मिले। दाऊने कमलका एक चिकना, कोमल नया पत्ता तोड़कर उसका दोना बना दिया और उसमें जल भरकर कन्हाईको देने लगा; किंतु श्याम अपने हाथमें दोना लेकर जल नहीं पीना चाहता। वह खिसककर दाऊके पास आ गया है। बड़े भाईके हाथसे ही जल पीना है उसे।

कमलका यह नवीन पत्र अभी पूरा हरा नहीं हुआ है। कुछ पीलेपनकी झलक है इसमें। इसके दोनेमें भरा स्वच्छ, शीतल झिलमिल करता जल। दाऊ अपने खिले पद्म-से करमें दोना लिये है और यह झुका है श्यामसुन्दर। मयूरपिच्छ दाऊके कण्ठ तथा चिबुकको बार-बार छू लेता है। पल्लव-से अधर लगे हैं दोनेमें। एक हाथसे दाऊका एक घुटना पकड़ रखा है इसने और दूसरे बायें हाथमें मुरलिका लिये उसे भूमिपर टिकाये है।

'तेरी प्यास गयी नहीं?' कितना प्यासा था यह सुकुमार! दो-तीन दोने जल पी चुका। दाऊ बार-बार दोनेको भरता है। लेकिन अब यह नटखट जल कहाँ पी रहा है। इसने तो दोनेसे मुख लगा रखा है और चिबुकके पाससे जल गिराता जा रहा है।

'और?' दाऊ हँस रहा है और नेत्र तथा भौंहोंसे 'और'को स्वीकृति देकर नेत्रोंमें ही यह भी हँस रहा है। बार-बार नेत्र ऊपर करके बड़े भाईकी ओर देखता है। घुटने और पीताम्बर भीग रहे हैं। जल धीरे-धीरे गिर रहा है मुखके पल्लेसे। भला, ऐसी प्यास काहेको बुझेगी। यह अद्भुत प्यास……।

'अब बस!' दाऊने हाथ रोकना चाहा।

'एक और!' श्यामके इस अनुरोधकी जो शोभा है, अद्भुत है वह और एक और दोना जल पीकर उसका 'बस!'—कितनी तृप्ति, कितना आनन्द, कितना माधुर्य है इस 'बस'की स्मित-रेखामें।

'आ!' दाऊ अपने पटुकेसे मुख पोंछ रहा है इसका।

१०१—फल-संचय

'दादा, मैं आम खाऊँगा। देख न, उस वृक्षमें कैसे लाल-लाल आम हैं।' कन्हाई जब बहुत प्रसन्न होता है, तब इस प्रकार आकर पास बैठकर किसी वस्तुकी माँग करता है। वृक्षपर चढ़कर आम तोड़ लेना इसके लिये बहुत सीधा काम है। संकेत पाते ही कोई सखा ढेरों फल लाकर सामने रख देगा। और यह सब करनेकी आवश्यकता क्या है! वृक्षके नीचे जाकर यह अपना लाल-लाल हाथ फैलाये तो फल स्वतः चू पड़ेगा। किंतु आज तो अग्रजसे लेकर फल खाने हैं इसे।

'आ!' दाऊ सदा कम बोलता है। वह उठ खड़ा हुआ और वृक्षके पास पहुँच गया है।

'तुम सब मेरे आम मत लेना।' कृष्णचन्द्रने अभीसे पटुका फेंटमें कस लिया है। ये सब सखा दौड़ आये हैं वहाँ। ये बड़े चञ्चल हैं, कन्हाई इन्हें अपने फल नहीं छूने देगा।

'तू रोकता क्यों है? सबको खा लेने दे।' दाऊ हँसा।

'नहीं दादा! ये सब अच्छे आम ले लेंगे। मेरे लिये छोटे-छोटे खट्टे फल छोड़ देंगे। मैं अपने आप सबको बाँट दूँगा।' कोई गड़बड़ करे, यह व्रजराजकुमारको कैसे सहन हो। वैसे वे स्वयं सबसे अधिक गड़बड़ कर लेते हैं, यह दूसरी बात।

'अच्छा, तुम सब वृक्षके नीचेसे हट जाओ। दूर हट जाओ।' दाऊ वृक्षपर चढ़नेसे रहा। वह तो तनेको नीचेसे पकड़कर पूरे वृक्षको एक साथ झकझोर देगा।

'कनूँ! अभी नहीं, रह। नीचे मत आ।' दाऊने पीछे मुड़कर देखा। उसका छोटा भाई फल उठानेको उत्सुक हो रहा है। अभी भदाभद फल गिर रहे हैं। उसे नीचे नहीं आना चाहिये।

'कोई मेरे फल छुयेगा तो हाँ।' श्यामसुन्दर बार-बार लपककर पासके फलोंको उठा लेता है। वह एक छोटी ढेरी बना चुका है। दूसरे सब सखा चुपचाप खड़े हैं दस-पाँचको छोड़कर। किया क्या जाय, तोक तथा उसके समान नन्हे सखाओंको कन्हाई रोकनेकी बात ही कह सकता है। उनसे झगड़ा नहीं किया जा सकता।

'बस, दादा! बस।' दोनों हाथोंसे वृक्षको पकड़कर दाऊ हिला रहा है। लाल, पीले, सिन्दूरी रंगके सुन्दर आमोंसे भूमि पट गयी है। फल गिरते ही जा रहे हैं। श्यामसुन्दर अब

इन फलोंको एकत्र करनेके लिये उत्सुक है। ये नन्हे सखा मना करनेसे माननेवाले हैं नहीं, अतः शीघ्रता करनी है उसे।

'तू सबको फल एकत्र कर लेने दे। सब तेरी ढेरीपर ही एकत्र करेंगे ?' दाऊ वृक्षसे नितम्ब भाग टिकाये खड़ा हो गया है और देख रहा है दौड़ते, झुकते, पटुकेमें जल्दी-जल्दी फल समेटकर ढेरीपर एकत्र करते अपने छोटे भाईको।

'नहीं दादा, ये सब मेरे फल ले लेंगे और फिर मुझसे लड़ेंगे।' कन्हाई उमंगमें है। हँस रहा है बार-बार बड़े भाईकी ओर देखकर। उसके दादाने कितने फल गिरा दिये हैं! वह स्वयं संचय करेगा सबका। अकेले एकत्र करके बाँटेगा। घिरी आती हैं मुखपर अलकें और लगा है वह एकत्र करनेमें।

१०२—अभ्यास

'कनूँ, आ!' लाठी चलाने और गदायुद्धका दाऊ जन्मजात परमाचार्य है। दूसरी बात यह कि श्यामसुन्दर दूसरे बालकोंके साथ लाठीका अभ्यास करे, यह इसे स्वीकार नहीं है। कन्हाई बहुत सुकुमार है। दूसरे गोपकुमार उमंगमें आनेपर पूरी सावधानी रख नहीं पाते। कहीं किसीका हाथ चूक गया और······

'आ' दादा !' कृष्णचन्द्र पहले ही प्रस्तुत हो गया है। अपनी लठिया सम्हाल ली है उसने और मैदानकी भूमिपर दोनों हाथों उसका एक सिरा दृढ़तासे पकड़े, दूसरे सिरेको दूर पृथ्वीपर टेके कुछ तिरछे खड़ा है वह तनिक झुका हुआ।

सुविस्तृत भूमि है, वृक्षों एवं लताओंका घेरा है इस मैदानके चारों ओर और मैदानकी भूमि हरित दूर्वासे मञ्जुल हो रही है। गायें चारों ओर वृक्षोंके मध्य चर रही हैं। गोपकुमार पूरे मैदानकी सीमाको घेरकर मण्डलाकार खड़े हैं इस अभ्यासको देखनेके लिये।

पटुके, वनमाला, शृङ्ग, वेत्र आदि उतारकर पर्याप्त दूर रख दिये हैं दोनोंने। अलकोंको समेटकर बाँध दिया गया है मस्तकके ऊपर जटा-मुकुटकी भाँति। कछनी कस ली गयी है। मस्तकसे किंचित् ऊँची सुदृढ़ लाठियाँ लिये दोनों एक दूसरेके सामने बीच मैदानमें आ खड़े हुए हैं।

'तू इधर-उधर मत देखना। मेरी लाठीकी ओर भी मत देखना। मेरे नेत्रोंकी ओर बराबर देखता रह और प्रयत्न कर मुझे लाठी लगानेका।' दाऊ अपने छोटे भाईको आदेश दे रहा है।

'मैं तुझे लाठी नहीं मारूँगा।' श्याम अपनी लठिया फेंकने जा रहा है।

'मेरी लाठीपर लाठी मार।' हँसा दाऊ। "मुझे तेरी लाठी नहीं लगेगी। तू डर मत। चल।"

अब यह तड़ातड़, ये पैंतरे और यह आगे-पीछे उछलना वर्णनमें कैसे आये ? अरुण हो उठा है कन्हाईका सुन्दर मुख। नन्हे हीरक-कण जैसे नीलकमलके दलोंपर बिखेर दिये गये हों—स्वेद-सीकर चमकने लगे हैं।

'तू कहाँ देखता है ?' श्याम बीचमें चाहता है सखाओंकी ओर देख लेना। कितनी सुन्दर लाठी चलाता है वह ! किंतु दाऊ तत्काल सावधान करता है उसे।

'तू थक गया। रहने दे अब।' कृष्णचन्द्रकी कोमल भुजाएँ कबतक यह श्रम सह सकती हैं।

'मैं थका नहीं हूँ। ले, रोक, दादा !' लेकिन यह मानता नहीं। बड़े उत्साहसे उछल रहा है। चल रहा है इसका अभ्यास।

१०३—दादा कहाँ है ?

'दादा ! दादा ! दादा !' कन्हाई चाहे जैसे खेलमें लगा हो, तनिक-तनिक देरमें अपने बड़े भाईकी ओर अवश्य देख लेगा। दाऊ आसपास है, यह देखकर वह निर्भय-निश्चिन्त हो जाता है। उसका दादा पास है, फिर उसे क्या चिन्ता। किंतु इस बार उसे दादा दीखा नहीं और भूल गया श्याम खेलना। वह इधर-उधर देख रहा है और पुकार रहा है।

'भद्र ! दादा कहाँ है ?' श्यामसुन्दर ऐसे ढूँढ़ रहा है, जैसे बड़ी भारी भीड़में माता या पितासे पृथक् हुआ बालक व्याकुल होकर—कातर होकर उन्हें इधर-उधर देखता है।

'अभी तो यहीं था।' भद्र कहाँ समझता है कृष्णचन्द्र-की आकुलता को।

'सुबल ! तूने देखा है दाऊ दादाको ?' पूछनेके साथ मोहन इधर-उधर उचककर देखता जा रहा है।

'वह किसी वृक्षके नीचे या किसी कुञ्जमें बैठा होगा।' सुबलका उत्तर संतोष दे सकता है कन्हाईको ?

'कनूँ! तू डर मत ! दाऊ दादाको कोई राक्षस चुरा नहीं ले जायगा।' यह नन्हा तोक कुछ नहीं समझता। दाऊ दादाके पास राक्षस पहुँचा तो वह उसका एक घूँसेमें कचूमर निकाल देगा, सो तो ठीक; किंतु है कहाँ दाऊ दादा !

कन्हाई उसके बिना अपनेको जो अकेला पाकर व्याकुल है।

'दादा! दादा! कहाँ है तू!' कृष्णचन्द्र वृक्षपर चढ़ गया है। वह पूरी शक्तिसे पुकार रहा है।

× × ×

स्वर्णयूथिकाके ढेरों पुष्प सामने रखे दाऊ कुञ्जमें छिपा बैठा है। वह माला बना रहा है—खूब मोटी-सी बड़ी-सी माला।

'दादा! दादा!' कनूँ पुकार रहा है। उसके स्वरमें बहुत व्यग्रता है। दाऊके हाथ शीघ्रतासे चल रहे हैं। उसे अपनी यह माला पूरी करनी है।

'दादा! दादा!' कन्हाई इधर-उधर ढूँढ़ रहा है। उसका स्वर रुआँसा हो रहा है।

'कनूँ!' दाऊने माला पूरी करते-करते पुकारा।

'दादा! दादा! कहाँ है तू!' श्यामके स्वरमें उल्लास आ गया है। उसके नूपुर बज रहे हैं। वह दौड़-दौड़कर एक-से दूसरी कुञ्जमें झाँक रहा है।

'दादा!' यह आया कन्हाई। खिल उठे हैं आनन्दसे इसके नेत्र। 'तू यहाँ छिपा है' दादा!'

'कनूँ!' दाऊने उठकर अपनी पीली मोटी माला छोटे भाईके गलेमें डाल दी। यह श्याम दोनों हाथोंमें मालाको वक्षसे कुछ उठाकर देख रहा है। कितनी सुन्दर है यह माला।

नाच रहा है आनन्दसे वह।

१०४-फिसलन

'कनूँ! तू मेरे पीछे बैठ।' दाऊ ठीक तो कहता है। यहाँसे फिसलनेपर जो आगे होगा, उसीके ऊपर तो पीछेवाला नीचे लुढ़केगा।

'नहीं, दादा! मैं आगे चलूँगा।' कन्हाई पीछे नहीं रहना चाहता। वैसे सदा वह अपने अग्रजके पीछे चलता है, किंतु आज आगे चलनेकी धुन है उसे।

'अच्छा, आ, चल तू।' दाऊ चाहता है कि उसका सुकुमार छोटा भाई पहिले फिसलकर बढ़ जाय। जब वह नीचे उठकर खड़ा हो जाय, तब दूसरे चलें। कोई उसके ऊपर ही न लुढ़क पड़े।

वर्षा हुई है। वृक्ष एवं लताओंके पत्तोंसे बूँदें टपक रही हैं। पृथ्वी अभी भीग रही है और भीग रहा है पुलिन। बड़ी ऊँची तिरछी चिकनी शिला है और उसके नीचे सुकोमल रेत है भीगी हुई। शिला भीगकर और भी चिकनी हो गयी है। उसका दूसरा ऊँचा सिरा एक टीलेपर है, जिसपर सरलतासे बालक चढ़ सकते हैं। खूब चौड़ी है शिला। तीन-चार एक साथ उसपर फिसलें तो भी उनके मध्यमें और इधर-उधर बहुत स्थान बच रहेगा। हाँ, ये जो दस-बारह साथ चल पड़ते हैं, धक्कम-धक्का करना ही तो इन बालकोंका आनन्द है।

गायें चरनेमें लग नहीं पा रही हैं। एक तो वे तृप्त हो गयी हैं, दूसरे घास बहुत भीगी है अभी। वे सब खड़ी-खड़ी पागुर कर रही हैं। कुछ बछड़ियाँ कान-पूँछ उठाकर कूद रही हैं इधर-से-उधर।

बालकोंने पटुके, मालाएँ, शृङ्ग, वेत्र, छीके आदि इधर-उधर डालियोंपर, भूमिपर, शिलाओंपर धर दिये हैं। केवल कछनी है कटिमें। बड़े उत्साहसे दौड़कर एक दूसरेको ठेलते हुए टीलेपर चढ़ते हैं और फिसलते हैं शिलापरसे। नीचे एक दूसरेके ऊपर लद्बद् गिरते हैं, हँसते हैं खुलकर, रेतमें लोट-पोट होते हैं और फिर हँसते-चिल्लाते टीलेपर दौड़ते चढ़ जाते हैं। अब भला, इनमें आगे-पीछेका क्रम कैसे रह सकता है।

गीली रेतसे सनी कछनी, सर्वाङ्गमें रेत लगी है और अलकोंतकमें भर गयी है। दोनों हाथ उठाकर कन्हाई फिसल रहा है शिलासे। बड़ा प्रसन्न है वह। बगलमें सरकते सखाओंको जान-बूझकर हाथसे, देहसे, धक्का देता जा रहा है।

'दादा! आ तू।' शिलासे सटकर रेतपर घुटनोंके बल हो गया है श्याम। यह चाहता है कि दाऊ इसकी पीठपरसे लुढ़के।

'तू हट।' दाऊ छोटे भाईको बचाना चाहता है।

'तू आ।' अब इसका आग्रह कैसे टाला जाय। दाऊ फिसलता आया और लुढ़क गया छोटे भाईकी पीठपरसे रेतमें; किंतु यह कनूँ उसे झटसे पकड़कर पकड़े-ही-पकड़े लोट-पोट हो गया है और अब हँस रहा है, ताली बजा रहा है अपनी कुशलतापर।

'चल, चल दादा!' बड़े भाईका हाथ पकड़कर यह फिर फिसलने जाना चाहता है बड़े उत्साहसे।

'तुझे चोट तो नहीं लगी?' किंतु दाऊके प्रश्नका उत्तर देनेका अवकाश किसे है।

श्याम उसे हाथ पकड़े लिये जा रहा है फिर ऊपर।

१०५–अब क्या हो ?

'दादा ! दादा ! देख, मैं कितने अच्छे जामुन ले आया हूँ ।' श्यामसुन्दर दौड़ता आ रहा है । अपने पटुकेमें ढेरसे जामुन उसने भर रखे हैं—बिना यह सोचे कि पटुकेमें इन फलोंके काले-काले धब्बे पड़ जायँगे । दोनों हाथोंसे फलोंकी गठरी सम्हाले बड़ी प्रसन्नतासे उमंगमें भरा आ रहा है वह । दूरसे ही अपने अग्रजको पुकारने लगा है ।

कनूँ आ रहा है । बड़े उल्लाससे फल लिये आ रहा है । किंतु इस प्रकार दाऊके लिये फल या सुन्दर फूल लेने बहुत दूर-दूर भटका करता है यह सुकुमार । जामुनकी शाखाएँ शीघ्र टूटनेवाली होती हैं और बड़े भाईके लिये उत्तम फल लेने बहुत ऊपरतक चढ़ जाता है यह । भला क्यों इतना हैरान होता है ? क्यों इतना थका है ? क्यों वृक्षपर चढ़ता है ? दाऊ रूठ गया है इससे । वह नहीं लेगा इसके जामुन । उसने मना किया था, कहा था कि दूर मत जा; फिर क्यों नहीं सुना इसने ? क्यों भाग गया यह ? नहीं देखेगा वह इस समय इसकी ओर ।

कनूँ आ रहा है; कितनी उमंगसे पुकार रहा है, किंतु इस प्रकार तो यह वनमें भटकना छोड़ेगा नहीं । कुछ भी हो, मन कुछ कहे, आज दाऊ छोटे भाईकी ओर इस समय नहीं देखेगा ।

'दादा ! दादा ! यह क्या ?' दादा दूसरी ओर मुख करके क्यों बैठा है ? वह बोलता तो सदा कम है, पर देखता क्यों नहीं ? श्यामकी गति मन्द पड़ गयी, उमंग चली गयी । मुख कुछ उतर गया ।

'दादा !' दादा तो सम्मुख जानेपर भी नेत्र ऊपर नहीं उठाता । वह तो रूठ गया जान पड़ता है । उसका मुख तो गम्भीर हो गया है । उसके नेत्र भरे-भरेसे दीखते हैं । हाथ ढीले पड़ गये । काले-काले जामुन हरी घासपर बिखर गये ।

'तू मेरी बात नहीं मानता; दूर-दूर भटकता है; मैं नहीं बोलूँगा तुझसे ।' दाऊने मुख दूसरी ओर कर लिया ।

'दादा रूठ गया ? वह नहीं बोलेगा ? अब क्या हो ?' कन्हाईके लिये तो इतने सब सखा होनेपर भी जैसे कोई नहीं रहा । जैसे वह इस पूरे वनमें एकाकी हो गया ।

'दादा ! मैं अब कहीं नहीं जाऊँगा । कभी तेरी बात नहीं टालूँगा ।' स्वरमें अपार अनुनय है और भर आये हैं कमल-लोचन; किंतु दादा तो देखता ही नहीं ।

'दादा !' श्यामसुन्दर दोनों हाथोंसे मुख ढककर गिर पड़ा है फट्से बड़े भाईकी गोदमें ।

'कनूँ ! कनूँ !' ओह, यह कनूँ तो फफक-फफककर रोने लगा है । यह तो हिचकियाँ ले रहा है । व्यग्र, व्यस्त हो उठा है दाऊ । उसका कनूँ रो रहा है, हिचक रहा है । क्या करे वह ? अब क्या हो ?

१०६—दयामय

'दादा, इसका पैर दुखता होगा । क्या लगाना है इसके पैरमें ?' श्यामसुन्दर एक मृगशावकके पास बैठा है—उसे गोदमें लेकर उसके एक पैरको सहलाते हुए ।

नवजात मृगशावक—बेचारा कूदते फाँदते एक लतामें उलझकर गिर गया । मोहनने देखा और दौड़ पड़ा । कहीं गिरा पटुका और कहीं छूटी मुरलिका । मयूरपिच्छ खिसककर बहुत तिरछा हो गया है इसका ।

'तू चुपचाप बैठ ! मैं तेरा पैर मल देता हूँ ।' हिरनका बच्चा झटपट खड़ा हो गया, किंतु उसकी एक अगली टाँग ठीक नहीं पड़ रही है । वह लँगड़ा रहा है । कुछ चोट लगी है उसे । मोहनने दौड़कर उसे पकड़ लिया और बैठाने लगा । मृगशिशु भागता तो भला क्या, वह अपनी चोट भूलकर श्यामसुन्दरको सूँघने लगा है ।

'तुम सब इसको तंग मत करो ।' और भी गोपकुमार दौड़ आये हैं । कन्हाई नहीं चाहता कि उसके मृगशावकको दूसरा कोई छूए । बालक घेरकर खड़े हो गये हैं उसे और बड़ी सहानुभूतिसे देख रहे हैं उस बच्चेकी ओर । एक-दो उसके लिये दूर्वाङ्कुर भी चुनने लगे हैं, किंतु अभी तृण चरना सीखा कहाँ है उसने ।

'अब इसका पैर नहीं दुखता । कुछ लगाना नहीं पड़ेगा इसे । क्यों रे, दुखता है तेरा पैर ?' नीलाम्बर फहराते दाऊ आया और अपने छोटे भाईके सामने बैठ गया । प्रेमसे पुचकारा उसने मृगशावकको और उसके मस्तकपर हाथ फेरा ।

हिरनके बच्चेने गर्दन लंबी कर दी है । दाऊकी गोदमें मुख रखकर वह सो जानेकी तैयारी कर रहा है । उसके नेत्र झपकने लगे हैं । कन्हाईने उसके पैरको सहलाया—सहला रहा है; अब कहीं दर्द रह सकता है पैरमें । इस भोले बच्चेको इसकी चिन्ता नहीं कि गोपबालकोंकी एक पूरी भीड़ उसे घेरे है । श्यामसुन्दरकी गोदमें सटा है उसका पीठका भाग और दाऊकी गोदमें है सिर उसका । इतना उत्तम स्थान, इतना श्रेष्ठ उपधान—तकिया कहाँ मिल सकता है । सोनेके लिये भूमिपर अपने चारों पैर फैलाकर कड़े करके अँगड़ाई ली उसने और शिथिल-देह हो सोने लगा ।

श्याम पुचकारता जा रहा है; हाथ फेरता जा रहा है

उसके देहपर। दाऊ उसके मस्तकपर अपने कमल-कर रखे बैठा है। पास खड़ी मृगी अपने बड़े नेत्रोंसे निर्निमेष देख रही है इन दयामय बन्धुओंको। अपने बच्चेके सौभाग्यपर वह क्या सोचती है—आप स्वयं सोच लें।

१०७—अभिन्न

'दादा! कोई सखा पुकार रहा है।'

'कू!' यह कन्हाई कोकिलके स्वरमें कूककर उत्तर दे रहा है पुकारका। जब छोटा भाई पास है तो बड़ा भाई क्यों बोले।

'दादा! दादा!' गोपकुमारको संतोष नहीं। वह अभी गिरिराजके नीचे है। लताओंकी ओटसे देख नहीं पाता कि ऊपर दाऊ है या नहीं है। कहीं श्याम उसे छकाता तो नहीं?

'क्या है? कहता क्यों नहीं तू?' कृष्णचन्द्रने अब इस बार स्पष्ट पूछा। भला, ऐसा क्या काम हो सकता है, जिसके लिये श्यामके रहते दाऊको कुछ करना पड़े।

'तू क्यों बीचमें बोलता है? वह तो दाऊको पुकार रहा है।' यह श्रीदाम भी श्यामसुन्दरसे झगड़नेके लिये उधार ही खाये रहता है।

'मेरे ही दादाको तो पुकारता है।' कन्हाईने इस प्रकार देखा, जैसे उसकी दृष्टि कह रही है—मेरा दादा मुझसे पृथक् है क्या? दादा बोले या मैं बोलूँ, दो बात कहाँ है।

'दादा! देख मैं कितना सुन्दर फल लाया हूँ। कनूँ, तू ले अपना फल।' यह तो मण्डलीभद्र आम ले आया है। दाऊके लिये पृथक् और श्यामके लिये पृथक् फल लाया है यह। दाऊके हाथमें लाकर देगा यह; पर कन्हाईको थोड़ी दूरसे झेल लेनेके लिये फल उछाल दिया इसने।

'दादा! यह कनूँका है। तेरे लिये तो यह लाया हूँ मैं।' श्यामसुन्दरके बदले दाऊने फल झेल लिया दोनों हाथोंमें, किंतु मण्डलीभद्र तो दाऊके लिये दूसरा फल ले आया है।

'ला!' अब श्याम उद्यत हुआ है दूसरा फल झेलनेको।

'यह दादाका है।'

'तू फेंक तो सही।' दाऊने अपनी अनुमति प्रकट कर दी।

'तू ले लेना, दादा!' किंतु जब श्यामसुन्दर झेलना चाहता है, तब दाऊ बीचमें भला क्यों पड़ने लगा।

गिरिराज गोवर्द्धनकी सबसे ऊँची चोटीपर खड़े हैं ये पाँच-सात गोपकुमार। गायें नीचे बिखरकर चर रही हैं। शेष गोपकुमार पर्वतपर इधर-उधर पुष्प-फल आदि चुननेमें लगे हैं। इन पाँच-सात गोपकुमारोंके आगे एक दूसरेके कंधेपर हाथ धरे, वन्यपुष्पोंसे सजे, गैरिक, रामरज, खड़ियासे अङ्गोंको चित्रित किये थे। नील-पीतवसनधारी अपने एक-एक हाथोंमें आमका एक-एक पका फल लिये एक दूसरेकी ओर देख रहे हैं।

किसका फल किसके हाथमें है? किस हाथका फल किस मुखमें जायगा? आप सोचते हों तो सोचें, पर फल लानेवाले मण्डलीभद्रको तो कुछ सोचना नहीं। ये दोनों दो हैं कहाँ कि इनका भाग कोई पृथक्-पृथक् करेगा।

१०८—वर्षगाँठ

'लाल! तू बाबाको और माँको भी प्रणाम कर आ!' आज कृष्णचन्द्रकी वर्षगाँठ है। ब्राह्ममुहूर्त्तमें ही महर्षि शाण्डिल्यने ब्राह्मणोंके साथ पूजन कराया है। पूरे व्रजमें आज महामहोत्सव है। आनन्दसे जैसे सब लोग उन्मत्त हो रहे हैं। पूजनके अनन्तर मैयाने अपने कुमारको समस्त गुरुजनोंका नाम ले-लेकर प्रणाम करनेको कहा है। अब सबके पीछे बाबा और माता रोहिणीको भी तो प्रणाम करना चाहिये उसे।

श्यामसुन्दरकी आजकी शोभा देखने ही योग्य है। मैयाने भरपूर सजाया है आज नीलसुन्दरको। चरणोंमें नूपुर, कटिमें पीताम्बरकी कछनीके ऊपर रत्नमेखला, कण्ठमें हारोंकी लड़ियाँ और घुटनोंतक लटकती वनमाला, कमरमें पटुका, उँगलियोंमें अँगूठियाँ, कलाइयोंमें कङ्कण, भुजाओंमें रत्नाङ्गद, कर्णोंमें झिलमिल करते रत्नकुण्डल, मस्तकपर रत्नजटित कुलहीके ऊपर फहराता मयूरपिच्छ, भालपर गोरोचनकी खौरके मध्य महर्षि शाण्डिल्यद्वारा किया कुङ्कुम तिलक और उसपर चिपके अक्षतके अरुणाभ पाँच दाने, अञ्जनरञ्जित दीर्घ दृग—कन्हाई रुनझुन करता एक ओरसे दूसरी ओर दौड़ रहा है। मैया जिसे-जिसे बतलाती है, उन्हें उसे दौड़कर पास जाकर प्रणाम करता है और फिर मैयाके पास दौड़ आता है।

बड़ी भीड़ है नन्दभवनमें। गोप, गोपियाँ और गोपकुमार सब अपने-अपने उपहार लिये चले आ रहे हैं।

'मैया! दादाको प्रणाम नहीं करना है क्या?' सबको जब प्रणाम किया गया, तब दादाको ही क्यों नहीं? श्यामसुन्दरने स्वयं स्मरण किया अग्रजको।

'हाँ लाल! अब तू अपने दादाको भी प्रणाम कर आ!' मैयाने उल्लासपूर्वक आदेश दिया।

'दादा! दादा!' किंतु आज दादा है कहाँ! आज इतनी देरसे दीखता क्यों नहीं है?

'पुकारते नहीं बेटा! प्रणाम पास जाकर करते हैं!' मैयाने स्नेहसे समझाया।

'कनूँ !' वह निकला एक कक्षमेंसे दाऊ। छोटे भाईकी पुकार सुन ली है इसने। वह अपने छोटे भाईको आज उपहार देगा। अपने उपहार ही तो सजा रहा था वह। आज इस नीलाम्बरधारीकी शोभा भी अतुलनीय है। स्वयं मैयाने ही इसे भी सजाया है। अङ्ग-अङ्गमें रत्नाभरण जगमग कर रहे हैं।

'दादा !' छम-छम करता श्याम आया और घुटनोंके बल बैठकर बड़े भाईके चरणोंपर मस्तक धर दिया इसने।

गोप, गोपियाँ, गोपकुमार शान्त, स्थिर देख रहे हैं। आँगनमें यह अग्रजके पदोंमें प्रणत श्यामसुन्दर ! दाऊ झुककर दोनों हाथोंसे पकड़कर छोटे भाईको हृदयसे लगानेके लिये उठा रहा है, पर आज यह श्यामसुन्दर उठता नहीं। यह तो पड़ा ही रहना चाहता है प्रणाम करते।

१०९–दाऊ और कनूँ

एक ही जीवनके घनतत्त्वने दो देह धर लिये हैं। उसका एक देह है स्वर्णगौर और दूसरा शरीर है इन्दीवरसुन्दर। दोनोंके शरीरोंके रंग ही दो हैं। एक ही प्राण हैं दोनोंमें। एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता।

कौन कहता है कि दोनोंमें भेद नहीं है। भेद बहुत है, बहुत है। फिर भी दोनों अभिन्न हैं, एक हैं।

यह दाऊ है—जैसे सारी गम्भीरता इसमें बचपनमें ही पैर तोड़कर आ बैठी है। किसमें साहस है जो इसकी तनिक भी उपेक्षा कर दे या इसकी हँसी उड़ा सके। बड़े-बूढ़े मुनि भी इसकी ओर सिर झुकाकर ही बैठते हैं।

और यह कनूँ है—सारी चञ्चलताका यही केन्द्र है। विश्वमें सारा-का-सारा नटखटपन इसीकी चंचल अँगुलियोंके संकेतसे आता है। यह जानता ही नहीं कि शान्त कैसे बैठा जाता है। बड़ी-बड़ी उजली दाढ़ीवालोंको भी यह अँगूठा दिखा आता है और इसे चिढ़ानेका जिसका मन न हो, वह तो कोई पुराना खड्डूस ही हो सकता है।

दाऊ और कनूँ—इनमें परस्पर ही क्या कम भेद है। 'दादा ! दादा ! दादा !' कनूँ प्रायः पुकारता ही रहता है। प्रायः उसके पुकारनेका कोई तात्पर्य नहीं होता। वह तो पुकारनेके लिये ही पुकारता है। उसका दादा उसके पास सटकर बैठा हो तो भी मजेमें जोरसे पुकारता है और दाऊ है कि केवल हँस देता है। श्यामके पुकारनेपर कदाचित् ही वह बोलता है। वह कन्हाईकी ओर देखता है और मुस्कराता है। मुस्कराता है और देखता है।

'कनूँ !' जब कन्हाई देरतक दीख न पड़े, जब संध्याको वनसे गायें लेकर लौटना हो, जब कोई आशङ्काकी बात हो, तबकी बात छोड़ दीजिये। केवल ऐसे ही अवसरोंपर दाऊ अपने छोटे भाईको सचमुच पुकारता है। नहीं तो वह केवल सम्बोधन करता है। कन्हाई कितनी दूर बैठा है या खेलनेमें लगा है, यह कुछ नहीं। दाऊ तो धीरेसे कहेगा—'कनूँ !' जैसे उसका कनूँ उससे सटकर ही बैठा है।

श्याम खेलनेमें लगा हो तो माता रोहिणी पुकारते-पुकारते थक जाती हैं, वह सुनता ही नहीं। मैया यशोदाकी पुकार उसके कानोंमें ही नहीं जाती। उस समय वह किसीका बुलाना नहीं सुनता, किंतु अपने बड़े भाईका सम्बोधन सुननेके लिये कन्हाईके कान बड़े तेज हैं। दाऊ दूर बैठा है—पर्याप्त दूर आँगनमें। कनूँ 'बाहर गलीमें खेल रहा है'। 'कनूँ !' कब धीरेसे दाऊने यों ही कह लिया, पास बैठी उसे पुचकारती मैया भी नहीं सुन पाती। वह मुँहमें बोलनेका ही अभ्यासी है।

'कनूँ !' किंतु अपने दादाका यह सम्बोधन खेलमें लगा कन्हाई अवश्य सुन लेगा। खिलौने धरे रहेंगे, घरौंदा अधूरा पड़ा रहेगा, गूँथनेको हाथमें ली हुई मालाके पुष्प मार्गमें बिखर जायँगे, श्याम घरमें हो या वनमें, छोटेसे बड़े होनेतक इसमें कभी अन्तर नहीं पड़ा कि वह दाऊके पुकारते ही दौड़ेगा। हाथमें धूल, खिलौने, पुष्प—जो भी हो, लिये आयेगा—'दादा !' वह आकर बड़े भाईकी ओर ऊपर मुख उठाकर उससे सटकर बैठ जायगा। किसीको कुछ कहना नहीं रहता। दाऊ मुस्करायेगा। कनूँ खिलखिलाकर हँसेगा और दो क्षणमें उठकर अपने दादाके सामने या चारों ओर घूम-घूमकर कूदेगा, फुदकेगा, नाचेगा।

कनूँ और दाऊ—दोनों अपनेमें एक-जैसे हैं। कोई कनूँके आगे दाऊको कुछ कह तो दे; वह लाठी ही नहीं, पूरा ऊखल उठाकर उसके सिरपर पटक देनेको खड़ा हो जायगा। कहनेवालेकी नाक, कान, चुटिया जो हाथमें आ जाय—बस, उसकी कुशल नहीं समझनी चाहिये।

दाऊके भालपर तनिक-सा स्वेद झलका और श्याम दौड़ा कमलका पत्ता तोड़ने। संसारमें जितनी सुन्दर, स्वादिष्ट और अच्छी वस्तुएँ हैं, सबपर वह मानता है कि उसके दादाका स्वत्व है। सब उसके दादाके लिये सुरक्षित रहनी चाहिये। दाऊ—जिसके सिरको यमराज अपने घर ले

जाना चाहें, वह दाऊके आगे श्यामको कुछ कहनेका साहस करे। कन्हाईका मुँह तनिक झुका और दाऊ घूँसा बाँधता है—किसने तुझे खिझाया है ?' और दाऊका घूँसा—वह जिसपर पड़ेगा, वह क्या फिर पानी माँगेगा ?

'श्याम थक गया है।' 'कनूँ भूखा है।' 'मोहन इस फूलको लेकर प्रसन्न होगा।' 'कन्हाई यहाँ नाचेगा।' दाऊको अपने छोटे भाईको छोड़कर कुछ सूझता ही नहीं। कोई उससे पूछे कि संसार भरमें क्या-क्या है, तो वह सम्भवतः बड़े मजेसे कहेगा 'कन्हाई !' और चुप हो जायगा। बस, जैसे संसारमें उसका कन्हाई-ही-कन्हाई है।

दाऊ और कनूँ—कनूँ और दाऊ। क्या हुआ कि दोनोंके शरीर गौर और श्याम हैं। क्या हुआ कि एक गम्भीर और एक चपल है। हैं दोनों एक ही, सर्वथा एक। गौर श्याम—श्याम गौर।

◆

सच्चा प्रेम

मेरे इक जीवनधन घनस्याम।
चोखे-बुरे, दयाल-निरदई, वे मम प्रानाराम॥
चाहे वे अति प्रीत करैं, नित राखैं हिय लपटाय।
रास बिलास करैं नित मो सँग, अन्य सबै छिटकाय॥
मेरे सुख तें सुखी रहैं नित, पलक पलक सुख देहिं।
मो कारन सब अन्य सखिन महँ दारुन अपजस लेहिं॥
आठौं जाम रहैं मेरे ढिग, नित नूतन रस चाखैं।
नित नूतन रस मोहि चखावैं, मधुरी बानी भाखैं॥
अथवा वे अति बनैं निरदई, मोरे दुख सुख मानैं।
मोय दिखाइ दिखाइ अन्य जुवतिन कौं नित सनमानैं॥
जो वे प्राननाथ सुख पावैं मेरे दुख ते सजनी।
तौ मैं अति सुख मानि चहौं, वह बनो रहै दिन रजनी॥
प्राननाथ कौ जिय जेहि चाहै, सो जदि करै गुमान।
मेरे हेतु करै नहिं कुटिला, प्रियतम कौ सनमान॥
तौ मैं जाइ चरन परि ताके करि मनुहार मनावौं।
दासी बनी रहूँ जीवन भर, कबौं न मान जनावौं॥
जा बिधि तिन्हैं होय सुख, ताही बिधि मैं अति सुख पाऊँ।
प्राननाथ कौं सुखी देखि पल पल मैं मन हरखाऊँ॥
जो तिय निज इंद्रिय सुख चाहै, इहि कारन पिय सेवै।
गाज गिरै ताके सिर, जो इहि बिधि पिय तें सुख लेवै॥
मैं तौ तिन के सुख सुख पाऊँ, वे मम जीवन प्रान।
केहि बिधि होयँ सुखी वे प्यारे, एक यही मन ध्यान॥

रूप-ज्योति

(लेखक—डा० श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्०, ए०, डी० लिट्०)

मोक्षप्राप्तिका उपाय क्या है ? संसारसे निवृत्तिका उपाय क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुति एक-दो बार नहीं; सौ-सौ बार कहती है कि ब्रह्मज्ञान ही संसारसे मुक्ति-लाभका उपाय है—

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

ब्रह्मण्यदेवको जान लेनेपर ही संसारके सारे बन्धन छिन्न हो जाते हैं । पुनः—

अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

(श्वेताश्वतर २ । १५)

नित्य; निर्विकार; निरुपाधि; शुद्ध; ज्योतिर्मय तत्त्व-स्वरूप ब्रह्मको जान लेनेपर ही संसारके सारे मोह-पाशसे जीव मुक्ति प्राप्त करता है ।

य एको जालवानीशते ईशनीभिः । 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।'

मायाधिपति विविध शक्तियोंके द्वारा विश्वका शासन करते हैं । उस मायाधिपति ब्रह्मको जो जानता है, वही अमृत-लाभ करता है; जरा-मरणपर विजय प्राप्त करता है । इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञानकी बात ही पुनः-पुनः उपदिष्ट हुई है । परंतु यह ज्ञान ही उपनिषद्का एकमात्र विषय, एकमात्र उपदेश नहीं है । ज्ञानकी अपेक्षा भी निगूढ़ विषयका उपनिषद् उपदेश करता है ।

तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावात्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।

विश्वमायाकी निवृत्तिका उपाय अर्थात् मोक्षका उपाय बतलाते हुए कहते हैं—(१) ब्रह्मका अभिध्यान; (२) ब्रह्मका योजन—अध्यात्मयोग—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

(३) तत्त्वभाव अर्थात् ब्रह्म-भावानुगति । ये ही मोक्षके उपाय हैं । ध्यान, योग, भाव इत्यादिके अनेक अर्थ हैं, नाना-दिग्व्यापी अर्थ हैं । ध्यान तत्त्वका भी होता है और रूपका भी होता है । परंतु प्रधानतः रूपका ही ध्यान हुआ करता है । जैसे—

'विद्युद्दामसमप्रभां मृगपतिस्कन्धस्थितां……दुर्गां त्रिनेत्रां भजे ।' अथवा **'सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्……चिन्तयेच्चेतसा कृष्णं……,'**

इस प्रकार ध्यानकी धारा चलती है । योग कहनेसे ज्ञान-योग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि अनेकोंका बोध होता है । परंतु 'योग' न कहकर ऋषिने 'योजन' कहा है । योजनका अर्थ संयोजन अर्थात् सम्यक् मिलन करनेपर दोष न होगा । तथा तत्त्वभावका अर्थ ब्रह्मभाव, ब्रह्मात्मैकत्वभाव या ब्रह्मनिर्वाण आदि ही करना होगा—ऐसी कोई बात नहीं है । पुनः-पुनः श्रुति तत्त्वको ' देव ' कहकर उल्लेख करती है—**क्षरात्मानावीशते देव एकः**—इत्यादि । देवका अर्थ है—ज्योतिर्मय पुरुष, लीलामय पुरुष । तत्त्व-भावका अर्थ है—उस देवताके प्रति भक्तिभाव । तत्त्व-भावका अर्थ है—परम प्रेम; जो भाव सब भावोंका मूल है । यह अर्थ करनेपर व्याकरण या कोषकी दृष्टिसे असंतोषप्रद नहीं होता । लोगोंने जिस प्रकार निर्भेद ब्रह्मके अनुसंधानकी ओर अर्थकी जो खींचातानी की है, उसमें श्रुतिके साथ बहुत अन्याय किया गया है ।

ज्ञान, विद्या, तप, तत्त्वभाव आदिकी बात करते-करते चटपट कहते हैं—

'सत्येनैवं तपसा योऽनुपश्यति ।' तथा **'देवं पश्येन्निगूढवत् ।'**

फिर ज्ञान और विद्याका उपदेश देते-देते ऋषि कहते हैं—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मविद्या साधनाके अन्तिम विषय नहीं हैं । श्रुति पुनः-पुनः ज्ञानके व्यूह, विद्याके अभ्यूह अर्थात् तर्क-सिद्धान्तानुसरणकी वृत्तिको भेदकर, अतिक्रम करके जाती है ब्रह्म, दर्शनके दिव्यदेशकी ओर । **'पश्यति-अनुपश्यति, तस्मिन् दृष्टे, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** इत्यादि वाक्य पद-पदपर ध्वनित होते हैं उपनिषद्के पन्ने-पन्नेमें । **'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।' 'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्'**—इत्यादि होते-होते **'तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः'**— **'पश्यति'** आ गया । और साथ-साथ **'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।'** एवं **'प्रज्ञाने नैनमाप्नुयात्'** और फिर **'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या**

सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' । फिर कुछ आगे चलकर **'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।'** **'निचाय्य'** का अर्थ है जानकर—समझकर अर्थात् ब्रह्मज्ञानके द्वारा मृत्युञ्जयको जीतना पड़ता है ।'

इस प्रकार भावोंका द्वन्द्व और इस भावद्वन्द्वका चञ्चल हिंडोला उपनिषद्-साहित्यमें अविरत चलता है । ज्ञान-से दर्शनमें और दर्शनसे ज्ञानमें क्षण-क्षण गमनागमन, क्षण-क्षण मिलन-विरहका झूलन चलता रहता है । ऋषिकी भाषामें 'भावसे रूपमें अविराम आना-जाना' चलता है । श्रुतिके चित्तमें क्या इस विषयमें अनिश्चयता है ?—यह सम्भव नहीं । श्रुति सिद्धायोगिनी है, तत्त्वदर्शिनी देवी है । फिर उसके उपदेशमें अनिश्चय क्यों है ? संशय सृजन क्यों करती हैं ? अवश्य ही इसका कोई निगूढ़ उद्देश्य है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य—इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें एक रहस्य-विलास निश्चय है । कहते हैं कि परब्रह्मका रूप चक्षु आदि इन्द्रियोंके ग्रहण-योग्य प्रदेशमें नहीं रहता । उसका अर्थात् उस परब्रह्मतत्त्वका कोई चक्षुद्वारा दर्शन नहीं कर सकता । इसका सहज-सरल अर्थ यही है कि परब्रह्मका रूप है । वह रूप कभी प्राकृत नयन-गोचर नहीं होता । उस रूपका प्रतिबिम्ब हृदय-हृदयमें विद्यमान है—**'हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।'** उस अन्तः-प्रतिफलित रूपका अन्तर्नयनसे दर्शन करना होता है । परंतु श्रुति-ने उल्लिखित स्थानमें प्रत्याशित दर्शन-सूचक किसी शब्दका व्यवहार नहीं किया—यही कहा कि **'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।'** **'हृदा हृदिस्थं मनसा च'**—उसको जो मन-ही-मन, प्राण-प्राणमें जानता है (**हृदा मनसा च**) तथा कठोपनिषद्का—**'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः,** तथा ब्रह्मसंहिताका—**'प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन, सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति'**—तत्त्वतः एक ही बात है । प्रकृत अर्थ-भेद कुछ नहीं है । परंतु फिर भी दर्शन-वाचक क्रियापदका व्यवहार न करके श्रुति जो ज्ञानवाचक क्रियापदका प्रयोग करती है, इसका निश्चय ही कोई तात्पर्य है । सरूप ब्रह्मका प्रसङ्ग उठाकर ब्रह्मदर्शनका उल्लेख न करके ब्रह्मज्ञानके आभासमें वाक्यको समाप्त किया गया है ।

श्रीमद्भागवत १० । २ । ३६ पर श्रीधरस्वामीकी टीकाकी संक्षिप्त भूमिका इस संशयके समाधानमें हमारी सहायता करेगी—

एवं तावद्भक्तानामभ्युदयापवर्गार्थं रूपाणि बिभर्षीत्युक्तः । तान्यपि भजनीयानि केवलं न तु ज्ञातुं शक्यन्ते, अनन्तत्वादतर्क्यत्वाच्च मनोवचसोरगोचरत्वात् ॥

भक्तोंके अभ्युदय तथा अपवर्ग अर्थात् संसारसे निवृत्तिके उद्देश्यसे भगवान् नाना प्रकारके रूप धारण करते हैं। वे सब रूप भी भजनीय और साधनीय हैं। वे सहज लभ्य नहीं हैं। उस रूपका गम्भीर विज्ञान है । वह रूप अनन्त, अतर्क्य, मनोवचनके अगोचर है। अतएव वह रूपदर्शन साधन-साध्य है, अनायास प्राप्य नहीं है। साधना करनेका अर्थ साधारणतः तत्त्वसाधना और भावसाधना ही ज्ञानीगण समझते हैं। परंतु रूप-साधना और भी गम्भीर तथा निविड़ व्यापार है; क्योंकि जो तत्त्वका आश्रय है, जो भावका प्राण है, वही रूप है। अरूपका अर्थ है—असत्ता और अमल। अतएव वह अवस्तु है । वस्तुशक्ति वस्तुसे भाव-विच्छेद करके ज्ञानकल्पनामें जब पृथक् विवेचित और विचिन्तित होती है, तभी अरूपकी, निराकारकी छायाका आविर्भाव दीख पड़ता है । चारों ओर सूर्य-किरणें बीचमें मेघकी चञ्चल छायाको अचञ्चल कर देनेपर जैसी होती है, अरूप भावना भी वैसी ही होती है ।

परंतु ज्ञानवादियोंके पक्षको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अव्यक्त-भावना अकारण नहीं है, बल्कि एकान्त आवश्यक है । रूपसाधनाकी दिशासे भी वह एकान्त आवश्यक है । सिद्ध अवस्थाकी बात मैं नहीं कहूँगा। परंतु साधनावस्थामें अव्यक्तभावसे विभाजितभावमें विभाजित होनेपर रूप अपनी स्वरूपान्तर्गत महिमा और ऐश्वर्यसे विच्छिन्न होकर प्राकृत, खण्डित नश्वर रूपमात्रमें परिणत हो जाता है। रूप असीम भाव-सरोवरका चिरप्रफुल्ल कमल है। सरोवर-गर्भमें जैसे सुदृढ़ मूलवाले मृणालदण्डसे छिन्न होनेपर प्राकृत कमल-पुष्प शीघ्र शुष्क होकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार असीम भाव-सिन्धुसे पृथक् भावमें विचिन्तित होनेपर दिव्य निजरूप अनित्य मर्त्यरूपमें परिवर्तित होता है, अर्थात् दिव्यरूप तिरोहित हो जाता है । पार्थिव रूप आकर उसका स्थान ग्रहण कर लेता है । कमलके अवचित होकर सूख जानेसे सरोवरकी कोई क्षति नहीं होती । सरोवर जैसे-का-तैसा रहता है । परंतु प्रत्येक साधकके परमार्थ-राज्यमें, अव्यक्त भावनाके देशमें, रूपका कमल अवज्ञात और परिहृत होनेसे सर्वशोभासम्पन्न भाव-सरोवर सूख जाता है और आकार प्राय ज्ञानावशेषमें परिणत होता है । समस्त शोभा-सौन्दर्य

तिरोहित हो जाता है। प्राकृत भूमिमें सरोवर स्वतन्त्र है, कमलके अधीन नहीं है, वह कमलका आश्रय और जन्म-स्थान है। अप्राकृत भूमिमें तत्त्वरूप कमल ही तत्त्व-भाव-सिन्धुका आश्रय है तथा तत्त्वभाव सिन्धुके सम्बन्ध और तत्त्वरूप वैभव प्रकाशका अपरिहार्य हेतु है। यह साधन-कालकी बात है। रूप-साधनामें सिद्धि समधिकृत होनेपर साधक अनन्त आनन्दरूप-राज्यमें प्रवेश करता है, तब भावानुचिन्तन अनावश्यक होता है; क्योंकि तब भाव रूपके अन्तर्गत होता है। भाव-चैतन्य शुद्ध रूप-चैतन्यमें पर्यवसित हो जाता है।

अब प्रश्न होता है कि क्या अव्यक्तभावानुशीलनके बिना, ज्ञानानुशीलनके बिना रूपानुशीलन सम्भव नहीं है?—असम्भव नहीं है। शुद्धरूपकी साधना भी है रूपकी साधना और भक्तिकी साधना भिन्न नहीं, एक ही है। भक्तिकी साधनामें ज्ञान गृहीत भी नहीं होता और परिहृत भी नहीं होता—यह नहीं कह सकते। दूरसे गृहीत ही होता है, परिहृत नहीं होता। उपलक्षित होता है, लक्षित नहीं होता। जिस ज्ञानका लक्ष्य अरूप अक्षरतत्त्व, निर्विकल्प ब्रह्म है, उस ज्ञानका भक्ति विषवत् वर्जन करती है। अन्यथा

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते—

—यह नीति भक्ति-साधनामें भी स्वीकृत होती है; परंतु '**ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**' यह नीति सर्वोपरि है जिनका चित्त प्रीतिप्रवण है, जिनको अरूपमें आनन्द नहीं होता, उनकी भक्ति-साधनामें ज्ञानभावनाकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। वैष्णव कवि कहते हैं—

वेद-विद्या दुई किछु नाहि जानत
से यदि गौराङ्ग जाने सार।
नयनानन्द भने सेई से सकल जाने
सर्वसिद्धि करतले तार॥

अर्थात् जिसके हृदयमें भक्तिका उदय हुआ है, उसको ज्ञानमें अनादर प्रकट करनेका अधिकार है। परंतु भक्तिलाभ करनेके पहले ही भक्तिके वर्णनसे मुग्ध होकर जो लोग ज्ञान-विज्ञानको तुच्छ समझते हैं, वे भक्ति पानेके योग्य नहीं हो सकते बल्कि निम्नगामी होकर अन्धकारको प्राप्त होते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

उस युगमें बालक ध्रुवके लिये ज्ञान अर्थहीन था। इस युगमें भी बिल्वमङ्गल और मीराबाईका चित्त ज्ञानातीत उज्ज्वल भूमिमें विचरण करता रहा। इन सब बातोंको सामने रखकर हम कहेंगे कि ज्ञान-विज्ञान सब प्रकारसे आवश्यक है। अव्यक्त-भावना अवाञ्छनीय नहीं है, ज्ञान और भक्ति दोनों ही पथके पथिकोंके लिये उपकार करनेवाली हैं।

श्रीमद्भागवतके अन्तिम वक्ता श्रीसूत गोस्वामी श्रीमद्भागवतको सीधे तौरपर भक्तिशास्त्र घोषित नहीं करते। उन्होंने इस महामहिमान्वित महापुराणके प्रारम्भमें इसका वर्णन करते हुए इस 'अखिलश्रुतिसारमेकम्' 'अध्यात्मदीपम्' इत्यादि विशेषणोंसे विभूषित किया है और ग्रन्थके उपसंहारमें विशेषणके रूपमें '**सर्ववेदान्तसारम्**' '**ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्**' इत्यादि गम्भीर अर्थयुक्त शब्दोंका प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवत शास्त्र ज्ञान-विज्ञान—तत्त्वदर्शनका गम्भीर गवेषणामय परमशास्त्र है। केवल अश्रुमयी भक्तिबालिकाका ललित लीलास्थलमात्र नहीं; यह परम ज्ञानीके, परमतत्त्वज्ञ दार्शनिकके, वेदोज्ज्वल-बुद्धि पण्डितके लिये एकान्त आराधनीय ग्रन्थ है। जिन्होंने किसी रूपमें श्रीमद्भागवतके पन्ने उलटे हैं, वे इस तथ्यके शतशः प्रमाण संग्रह कर सकते हैं।

सुविशाल दशम स्कन्धमें श्रीशुकदेवजीने रूपब्रह्मका विपुल राज्य खोल दिया है। परब्रह्म परम रसधाम श्रीकृष्णकी अनिर्वचनीय लीलाका वह अनिर्वचनीय साम्राज्य है; उसके अपूर्व वर्णनसे पूर्ण नब्बे अध्याय हैं। ज्ञानियोंके शिरोमणि, विश्ववासियोंके पूजनीय शुकदेवजीने आनन्दरूप, अमृत पुरुषकी अमृतमयी नरलीलाका मुनिजन-मनोहर आलेख्य प्रबन्ध स्थान-स्थानपर ललित कला-नैपुण्यसे पूर्ण करके सजा दिया है पन्ने-पन्नेमें, पंक्ति-पंक्तिमें। यह रूपमयकी रूपरसलीला है, सारा ही रूपका स्तोत्र है, रसकी किरणोंका प्रवाह है, पुण्यजीवनकी सुधा-तरङ्गिणी है। इस दिव्यरसोज्ज्वल वर्णनमें निमज्जित होकर भी, इस रूपवर्णाङ्कनसे व्याप्त होकर भी शुकदेवजी क्षणभर भी नहीं भूलते कि इस लीला-नाटकका नायक रूपमय व्यक्ति, यह 'वनितोत्सवरूपशील' पुरुष अव्यय, अव्यक्त, अमेय और अनन्त है। पुनः-पुनः शत-शत बार लीलावर्णनके बीच-बीचमें, विवरण-वाक्योंके हिस्से-हिस्सेमें श्रीकृष्णके अव्यक्त तत्त्वस्वरूपका विषय, परब्रह्मभावका विषय, निर्विशेष निर्गुण तत्त्वका विषय उन्होंने सावधानीसे लिपिबद्ध किया है। मानो ऋषिके हृदयमें यह शङ्का-भावना है कि पीछे कोई मानवलीलाका अनुसरण करनेवाले भगवान्

श्रीकृष्णको मानव समझकर उनके रूपब्रह्मकी लीला-प्रकटनके उद्देश्यको व्यर्थ न कर दे । जो लोग लीलापरिकर हैं, वे कहीं श्रीकृष्णके अव्यक्ततत्त्वकी बात भूल न जायँ । वसुदेवजी सद्योजात शिशु श्रीकृष्णको सम्बोधन करके बोले—'केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्' देवकीजी शिशुसे बोलीं, 'तुम—'ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारं सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहम् ।'

—यह तत्त्व हो ।' मा यशोदा वात्सल्यवती, स्नेहमुग्धा हैं । वे श्रीकृष्णकी भगवत्ता स्वीकार नहीं करतीं । बालकके दुर्व्यवहारसे कुपित होकर बालकको बाँधनेके लिये उद्यत होकर व्यर्थ श्रमित हो रही हैं—यह देखकर शुकदेवजी कहते हैं—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥

श्रीकृष्णके साथ व्रजके बालक खेलते हैं । शुकदेवजी तत्त्वदृष्टिसे दर्शन करके वर्णन करते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥
(१० । १२ । ११)

व्रजबालकोंने विहार किया था किसके साथ ? वह व्यक्ति कौन है ? शुकदेव कहते हैं—वह ब्रह्मसुखानुभवस्वरूप है । वह परदैवत है । नन्दनन्दन श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्मानन्द हैं । वसुदेवसुत श्रीकृष्ण परदैवत परमेश्वर हैं । जो मायामुग्ध हैं, वे श्रीकृष्णको बालक समझते हैं—ऋषि यह बात लिखना नहीं भूलते । रासलीलाविलासी श्रीकृष्णका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥
(१० । २९ । ४२)

ये जो नृत्यगीतरतिरङ्गरसिक किशोर हैं, ये ही महायोगेश्वरेश्वर हैं । ये ही आत्माराम हैं अर्थात् नित्यावाप्तसमस्तकाम हैं । सत्यसंकल्प-शक्तिस्वरूप हैं । इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें प्रत्यक्षरूपमें कहीं तत्त्व विच्छिन्न नहीं होता, और अविचिन्त्य तत्त्व कभी रूपविरहित नहीं होता । सुदुर्गम, सुदुर्बोध तत्त्व और सर्वजनमनोरम रूपसौन्दर्य—इन दोनोंके प्रगाढ़ आलिङ्गनसे समुत्पन्न है महाग्रन्थ श्रीमद्भागवत ।

बाह्यरूपानुभूति, जिसे दार्शनिक भाषामें रूपसंवित् कहते हैं और चिन्मयरूप संवित्में आकाश-पातालका अन्तर है । बाह्यरूप बाहरका ही व्यापार है, बाहरका ही विषय है । बाह्यरूपानुभव गीताकी भाषामें 'मात्रास्पर्श' मात्र है । बाह्य- दर्शनमें 'गुणागुणेषु वर्तन्ते' इतना ही है । बाह्य वस्तु प्रतिबिम्बित किरणें स्वभावतः चक्षु-इन्द्रियके यन्त्र नेत्रफलककी पुतलियोंमें प्रतिफलित होती हैं । दोनोंका संयोग या प्रतिस्पर्श होता है तज्जनित 'वेदना' या Sensation को मन ग्रहण करता है उससे पहले अहंकार उसका अनुग्रहण करता है तथा साथ-साथ आत्माद्वारा वह 'प्रतिसंविदित' होता है अर्थात् आत्मा उसपर दृष्टि डालता है, उसके साथ सहानुभूति करता है । यह बाह्यरूप-दर्शनका मनस्तत्त्व है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

दिव्यरूपदर्शनकी प्रणाली इससे सम्पूर्णतया भिन्न है । दिव्यरूप बाह्य जगत्के अन्तर्गत नहीं है । वह त्रिपादविभूति का प्राणभूत है । छान्दोग्य-उपनिषद्में कहा है कि परब्रह्म चतुष्पाद है (३ । १२ । ६); उसका एक पाद विश्वब्रह्माण्ड है और तीन पाद ब्रह्माण्डके अतीत—'तमसः परस्तात्' हैं । अनिर्वाण आलोकोज्ज्वल परव्योममें अवस्थित नहीं है परव्योम ही है । वह परव्योमके अन्तरस्थित परब्रह्मका स्वरूप स्वरूप-वैभव—अप्राकृत-रूप-रस-माधुर्य है । सब परव्योममें अनन्त महिमामें विद्यमान हैं—'स्वे महिम्नि ।' परव्योमका विषय छान्दोग्य-उपनिषद्में वर्णित है—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठे सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषु लोकेषु । इदं वाव तद् यदिदमस्मि न्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः । (३ । १३ । ७)

विश्वके उस पार सकल ब्रह्माण्डके परे परव्योम है । वह तत्त्वतः सर्वव्यापी है । ब्रह्माण्ड उसके अन्तर्गत होनेपर भी त्रिगुणरूप उपादानसे समुद्भूत होनेके कारण पाञ्चभौतिकरूपसे पृथक् विवेचित होता है । अनुत्तम अर्थात् उत्तम-से-उत्तम लोकसमूह उसी परव्योममें अवस्थित हैं । वे सारे लोक आनन्दचिन्मय रूपके राज्य हैं, दिव्यरूपके अन्तर्गत हैं । परन्तु इस रूपसंस्थानके आगे एक रहस्यमय स्थान है । उपर्युक्त श्रुतिवाक्यका शेषांश विशेष ध्यान देने योग्य है । जीवमात्रके अन्तरमें एक दिव्य अमृतरूप ज्योति है । परव्योममें अनन्तरूप ज्योति है, उस ज्योतिकी ही एक-एक रश्मि प्रत्येक जीवके हृदयमें निगूढ़ रहती है । इसीसे श्रुति कहती है—

यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः ।

दर्शनीय रश्मि है । छान्दोग्य-उपनिषद् अन्तर्में दि कहता है(८ । १ । १)—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं
पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ।
तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं
तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

मानव-शरीरके भीतर है एक फुल्ल पद्माकृति गुप्त गृह। उस गृहरूप कमलके भीतर एक छोटा आकाश है, एक अवकाश है। उस आकाशमें छिपी है एक अपूर्व वस्तु। श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है कि ध्यान और जपके द्वारा वह वस्तु देखी जा सकती है। भागवतकी भाषामें—

……'धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोषे स्फुरितं तडित्प्रभम्।

—हृदयरूपी पद्मकोषमें ही उसका प्रकाश होता है। श्रुति कहती है—

'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।'

उस हृत्पद्ममें स्थित रहस्यमय वस्तुके लिये श्रुतिने पहले 'देव' शब्दका प्रयोग किया है—'देवं पश्येत्।' 'देव'का अर्थ है दीप्तिमय। वह पुरुष है या नहीं, यह नहीं कहा गया। उसके आगे श्रुति कहती है—'शबलात् श्यामं प्रपद्ये।' अतएव वह दीप्ति श्याम दीप्ति है। श्यामसुन्दर हैं या नहीं—यह नहीं कहा गया। वह श्याम दीप्ति 'आनन्दमय' और वह 'पुरुषविध' है। यह बात विशेषरूपसे सूचित करती है तैत्तिरीय श्रुति। श्रुतिने रहस्यका अवसान नहीं किया है।

'निखिलश्रुतिसारमेकम्' श्रीमद्भागवत। यहाँ श्रीमद्भागवतने रहस्यकी 'मायाजवनिका'को हटा दिया है।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति।
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।
(२।२।८-९)

भक्त योगीजन इस रूपको भी विलासरूप कहते हैं। स्वरूपरूप ब्रह्म जो ब्रह्माके हृदयपद्ममें प्रस्फुटित होकर संस्तुत हुए हैं, उनका चित्र इस प्रकार है—

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

इसी रूपमें साधनसिद्ध भक्तियोगीजन—

सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।

हमने परव्योम-संचारी रूप तथा हृत्पद्मस्थ रूपका जो आभास दिया है, उसमें ये दोनों रूप विभिन्न प्रतीत हो सकते हैं। परंतु ये भिन्न नहीं हैं। हृदाकाश और परमाकाश—परव्योम दो नहीं हैं, एक ही हैं। ब्रह्मोपनिषद्में यह विषय वर्णित है—

हृद्याकाशे तद्विज्ञानमाकाशम्। तत्सुषिरमाकाशम्। तद्वेद्यं हृद्याकाशं तस्मिन्निदं यत्र विचरति यस्मिन्निदं सर्वमोतं प्रोतम्।

चैतन्यमय आकाशसदृश ब्रह्मको हृदयाकाशमें उपलब्ध करना पड़ता है। बाह्याकाश शून्यमय है। ब्रह्माकाश पूर्ण है, आनन्द-चैतन्य-ज्योतिर्मय है। सब कुछ हृदयाकाशमें विद्यमान है। सारा ब्रह्माण्ड जिसकी इच्छासे विधृत है, वह ब्रह्मपदार्थ भी हृदाकाशमें वेदितव्य है।

सारा ही बाह्यरूप प्राकृत है। बाह्यरूपका दर्शन बाह्य व्यापार है, मात्रास्पर्शमात्र है—यह पहले कह चुके हैं। दिव्यरूप अप्राकृत है, चिन्मय है, अन्तरके अन्तस्तलमें हृदयकमलमें प्रतिष्ठित है। दिव्यरूपका दर्शन गम्भीर अध्यात्म व्यापार है। वह प्रकृतिकी गुणवृत्तिके द्वारा निर्वाहित नहीं होता। वह भूतेन्द्रियका भोगाभोग मात्र नहीं है। बाह्यरूप दर्शनकी वृत्ति अवरुद्ध होनेपर, निवृत्त होनेपर दिव्यरूप, गुह्यरूप, हार्दरूपका दर्शन सम्भव होता है। प्रत्याहार, ध्यान, धारणा आदि योग प्रणालीके द्वारा, अध्यात्म-साधनद्वारा बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंका प्रत्याहार होनेपर, चित्त स्फटिकवत् स्वच्छ होनेपर हृदयके अन्तर्हृदयसे रूपज्योति स्फुरित होती है। अव्यक्त ब्रह्मतत्त्वके अन्तर्गत जो विज्ञानरूप है, उस रूपकी छटा अभिव्यक्त होती है, वह दिव्य किरण विकीर्ण होती है। साथ-ही-साथ परमानन्द-दर्शन निष्पन्न होता है। यह बाह्य विषयके साथ, भूत-भौतिकके साथ गुणमय इन्द्रियोंके संनिकर्षका कोई व्यापार नहीं है। इसमें दर्शनेन्द्रिय, दृश्य रूप, दर्शन तथा दर्शन-स्थानभूत आकाश—सभी एक चिन्मय तत्त्व हैं, एक चिच्छक्तिके ही विभिन्न विभावविकार हैं।

इस चिन्मनस्तत्त्वके व्यापारका वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद्में इस प्रकार है—

एवमेवैष सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

इस प्रकार अमूत रूपके आविर्भावके सम्बन्धमें

शत-शत विवरण, शत-शत आभास श्रीमद्भागवतमें दिये गये हैं—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।
(३।९।११)

योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥
(३।२५।२७)

इस परमरूपके सम्बन्धमें कठोपनिषद्में कहा गया है कि रूप-दर्शन अति दुरूह व्यापार है। क्योंकि—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

अध्यात्मयोग-साधनाके बिना रूपदर्शन असम्भव है। भक्तियोग-साधना भी अध्यात्मयोगके अन्तर्गत है। वस्तुतः भक्तियोग ही सर्वोत्तम अध्यात्मयोग है, सब शास्त्रोंमें यह घोषित हुआ है। अभिव्यक्त भगवत्-रूप अव्यक्त ब्रह्मानुरूपके अन्तर्गत है। अव्यक्तकी अभिव्यक्ति रसतत्त्व है। ब्रह्मरूपमूर्त्ति, रूपसौन्दर्यमय श्रीभगवान्‌के सम्बन्धमें भागवत कहती है—

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतः
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः॥
(१०।१२।१२)

अनेक जन्मोंके तपोयोगादि साधनाके द्वारा जितेन्द्रिय योगीजन भगवान्‌के पाद-पद्म-दर्शन और पाद-पद्म-रेणु-ग्रहणकी योग्यता प्राप्त करते हैं। रूप केवल रूप है, सदा सहज लभ्य है—दिव्य रूपके सम्बन्धमें यह धारणा होनेपर दर्शनकी आशा निष्फल होती है। साक्षात् भगवत्-रूपका भी प्राकृत दृष्टिसे, अविशुद्ध हृदयमें, बाह्य भावमें दर्शन करनेपर दिव्य-रूप-दर्शन नहीं होता, मर्त्य-रूप-दर्शन होता है। काम-क्रोध-दम्भ आदिके द्वारा जिनका चित्त विकृत, आच्छन्न है, उन असुरोंके दृष्टिगोचर होनेवाला भगवत्-रूप मर्त्यमानवका रूपमात्र है। दर्शन तभी सम्पन्न होता है, जब रूप हृदयके अभ्यन्तरसे आविर्भूत होकर बाहर दृश्यमान होता है।

हृदयनिभृत, गुप्तप्राणकी कमलकर्णिकामें निहित दीप्त-रूपके प्रकाशके लिये दीर्घकालतक साधना करनी पड़ती है। बाह्यभावमें रूपके मोहसे मुग्ध होनेपर, प्राकृतभावमें लालसाविह्वल होनेपर साधनप्रवृत्ति सम्भव नहीं होती। सौन्दर्य प्रभाव-विस्तार करता ही है। मूर्त्त ज्योति चञ्चल पतङ्गको आकर्षण करती ही है। परंतु उस आकर्षणके वश प्राकृतभावसे युक्त मन अमृतरूपकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। इस आकाङ्क्षाके सामने अलौकिक रूपप्रभा आलोक-प्रहेलिकामें प्रायः मिल जाती है। इसी कारण उपनिषद्-शास्त्र, पुराणशास्त्रतक रूपके साथ-साथ अरूपका इतना अनुशीलन करते हैं। अभिव्यक्तके साथ-साथ अव्यक्त-की भावना — अव्ययका विचार इतना विस्तारपूर्वक किया गया है, पुनः-पुनः उपदेश दिया गया है, आभास दिया गया है। रूप केवल रूप नहीं, भूमा है। रस केवल रस नहीं, अखण्ड विज्ञान है, अद्वय ज्ञान-तत्त्व है। सौन्दर्य केवल सौन्दर्य नहीं, सनातन ब्रह्मज्योति है। वह केवल चाहनेसे ही नहीं मिलता। योगसाधनसे रूप-विद्युत्‌को भीतर-बाहर प्रदीप्त करना पड़ता है। आकाशमें विद्युत् रहता है, परंतु मेघके बिना कभी नहीं दीखता। एकाग्र चित्तसे गम्भीर घनीभूत ध्यान-समाधिके मेघका संचार किये बिना इस रूप-सौदामनीका स्फुरण नहीं होता, प्रभु अपने स्थिर ज्योतिर्मय रूपका प्रकाश नहीं करते।

रूपाकाङ्क्षा करनेवाली कृष्णकामिनी याज्ञिक ब्राह्मण-पत्नियोंको अमृतरूपमय श्रीकृष्णने जो उपदेश दिया था, उसका उल्लेख कर प्रबन्ध समाप्त करेंगे। उन्होंने मूर्त्त सौन्दर्यसारभूत श्रीकृष्णसङ्ग की प्रार्थनाकी, तब श्रीकृष्णने कहा—

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥
(१०।२३।३२)

'अङ्गसङ्ग—रूपसङ्गसे न प्रीति और न अनुराग होता है, रूपकी आशा दूराकाशमें भावाभासमें मिल जाती है। आप लोग भगवद्भक्तियोगका साधन करें—

तन्मनो मयि युञ्जानाः

भगवान्‌को आत्माका और आत्माको भगवान्‌का स्वरूप जानकर निरन्तर ध्यान करें। दीप्तरूपकी ज्योतिमें प्राकृत दृष्टि झलमला जाती है। ज्ञानबुद्धिमें अन्धकार हो जाता है। रूपज्योति अन्तराकाशको उद्भासितकर स्फुटित होगी। साथ ही अन्तः-दृष्टि, दिव्यदृष्टि उन्मीलित होगी। केवल रूपदर्शन ही नहीं, रूपप्राप्ति भी होगी। नित्यरूपके राज्यमें प्रवेश होगा। केवल रूप ही सत्य है; और जो कुछ है, वह सब रूपान्वेषणके पथकी गोधूलिका प्रकाश है—इस विज्ञानका उदय होगा। भीतर-बाहर रूपमय हो जायगा।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वह कौन था ?

घटनाको लगभग पंद्रह वर्ष बीत चुके, किंतु वह आज भी स्मृतिपटपर नवीनकी भाँति अङ्कित है। मेरे पूज्य पिता प्रधान अध्यापकके पदपर स्थानान्तरित होकर एक ग्राममें, जो मध्यप्रदेशके अन्तर्गत बीना जंकशनसे ग्यारह मीलकी दूरीपर स्थित है, चले गये थे। उनसे मिलने मैं जा रहा था। साथ मेरे लघु भ्राता भी थे। हम दोनों भ्राता करीब साढ़े पाँच बजे दिनमें बीना जंकशनपर ट्रेनसे उतरे। अब वहाँसे आठ मील पैदल चलना था। अतः पूछ-ताछकर हमलोग रेलवे-लाइनके किनारे-किनारे चले। मनमें भय था कि यहाँका मार्ग देखा नहीं है, अतः सायंकालतक ग्रामतक पहुँचना सम्भव नहीं है। बरसातका मौसम था, आठ मील गेट नं० ८ तक लाइन किनारे जाना था। पश्चात् तीन मील वहाँसे ग्रामका मार्ग तय करना था। हमलोग लगभग दो मील आगे बढ़े होंगे कि एक पथिकने कहा—'भैया! लाइन किनारे होकर जानेमें तुम्हें बहुत चक्कर पड़ेगा; तुमलोग इस पगडंडीसे जाओगे तो जल्दी पहुँच जाओगे।' अतएव उसकी बतलायी पगडंडीसे हमलोग चलने लगे। कुछ दूर चलनेपर वह मार्ग समाप्त हो गया। अतः हमलोग पुनः वापस होकर लाइनके समीपसे राह तय करने लगे। उस समय सूर्यास्त हो चुका था। यह मुझे खूब स्मरण है——भयभीत हृदयसे ही समझिये, हम दोनों भ्राता बीना जंकशनसे पैदलका मार्ग शुरू होते ही बारी-बारीसे 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' बोलते चल रहे थे। एक अर्धाली मैं कहता दूसरी मेरा भाई। इस प्रकार प्रभु-नाम उच्चारण करते हुए हमलोग रात्रिके लगभग आठ बजे सेमरखेड़ी गेट नं० ८ तक पहुँच गये। वहाँ कोई भी चौकीदार नहीं था, जिससे पूछकर निर्दिष्ट ग्रामतक पहुँचा जा सकता। अब यह निर्णय करना कठिन था कि ग्राम पहुँचनेके लिये किस दिशामें चला जाय। यहाँतक कि कोई प्रकाश भी किसी ओर दिखायी नहीं दिया। पश्चिमकी ओर सघन वृक्षोंको देखकर हमलोग कुछ दूर चले। मार्गकी बड़ी कठिनाई थी। जगह-जगह पानी भरा था। आगे बढ़नेको कोई मार्ग नहीं दिखायी दिया। अतः वापस गेटपर लौटनेके हेतु हम मुड़ना ही चाहते थे कि सामने अपने कंधेपर बड़ी लाठी रखे एक व्यक्ति दिखायी दिया। उसे देखते ही एक बार तो हमलोग डर गये, पर मैंने साहस करके पूछा—'भाई! तुम कहाँ जा रहे हो?' उसने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया—'मेरी भैंस खो गयी है, उसकी खोजमें आगासौद जा रहा हूँ, तुम कहाँ जा रहे हो?' यह सुनकर मानो हमें प्राण मिल गये। सारी घबराहट दूर हो गयी। मैंने कहा—'हमें भी वहीं जाना है।' वे आगे होकर मार्गप्रदर्शन करते हुए बहुत आरामसे हमें ले गये। मेरे लघु भ्राताको उन्होंने कंधेपर बैठानेका बहुत आग्रह किया, किंतु मैंने अस्वीकार कर दिया। हृदय उनके प्रति कृतज्ञतासे भर रहा था। वहाँ पहुँचते ही मैं पिताजीसे मिलकर कुछ मार्गकी कठिनाइयोंका वर्णन करने लगा। फिर बाहर आकर देखता हूँ तो वहाँ कोई व्यक्ति नहीं था। न कानीहौसमें कोई भैंस ही आयी थी। आज भी सोचता रहता हूँ कि वह कौन था—मानव, भगवान् या भगवन्नाम!

—रामकृष्ण वैद्य

(२)

मैं तुम्हारा मित्र हूँ

लगभग तीस वर्ष पहलेकी बात है—कलकत्तेमें एक दिन मैं अपने पड़ोसी मित्र रामप्रतापके साथ गङ्गा नहाने जा रहा था। रास्तेमें भीड़ थी। हम लोगोंके स्वभावमें कुछ उद्दण्डता तथा अल्हड़पन था। जवान उम्र, घरमें पैसे, किसीका नियन्त्रण नहीं। हम दोनों गङ्गा-स्नानके पुण्यके लिये नहीं, मौजके लिये नहाने जाया करते थे। रास्तेमें मनमाना बोलते, हँसते, राह चलतोंकी-दिल्लगियाँ उड़ाते चलते थे। रास्तेमें

कीचड़ था। एक सज्जन—कुछ अधेड़ उम्रके, चश्मा लगाये हमारे आगे-आगे जा रहे थे। शायद कुछ श्लोक-पाठ कर रहे थे। मैंने उनको तंग करनेके लिये छेड़खानी की। उन्होंने मुड़कर हमलोगोंकी ओर देखा और मुस्कराकर शान्तिसे चलने लगे। हमलोग तो उनकी शान्ति भङ्ग करना चाहते थे, अतएव बेमतलब अनाप-शनाप बकने लगे। इसपर भी उनकी शान्ति भङ्ग नहीं हुई। वे बीच-बीचमें हमारी ओर देखकर मुसकरा देते। पर हमलोगोंकी उद्दण्डता उनकी हँसीको कैसे सह सकती थी। मैंने बगलसे निकलकर कोहनीसे बड़े जोरसे धक्का दिया, वे कीचड़में गिर पड़े और मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा। इतनेमें देखा—मेरा साथी रामप्रताप भी फिसलकर गिर पड़ा है। शायद उन सज्जनके गिरनेकी खुशीमें वह अपनेको सँभाल न सका हो और उसका पैर फिसल गया हो। लोग इकट्ठे हो गये। कीचड़में लथपथ वे सज्जन उठकर खड़े हो गये। उनका चश्मा टूट गया था। धोती, चद्दर, नहाकर पहननेको लाये हुए कपड़े, सारा शरीर कीचड़से लथपथ हो गया था। चश्मेके काँचकी नाकपर एक खरौंच लगी थी। शायद और अङ्गोंमें भी चोट लगी हो। उन्होंने उठते ही मेरी ओर देखा, फिर पास ही गिरे हुए मेरे साथी रामप्रतापको सँभालकर उठाने लगे। रामप्रतापके दाहिने हाथमें काफी चोट आयी थी। वह बहुत बेचैन था। उन्होंने तथा मैंने बड़ी कठिनतासे उसे उठाया। वह बेदनाके मारे अत्यन्त व्याकुल था।

कुछ दूर खड़े कंस्टेबलको उन्होंने पुकारा। पुकारते ही वह आया और उन सज्जनकी ओर देखकर तथा मानो उन्हें पहचानकर उसने बड़े अदबसे सलाम किया और आज्ञा माँगी—'क्या करूँ?' उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा—'एक घोड़ागाड़ी लाओ, इन्हें अस्पताल ले जाना है।' कंस्टेबलने बड़े सम्मानसे कहा—'हुजूरके कपड़े भी कीचड़से भर गये हैं। हुजूर गङ्गास्नानको पधारें। मैं अभी थानेसे दारोगाजीको कहकर और सिपाही ले आता हूँ। हुजूर हुक्म दें तो दारोगाजीको ही ले आऊँगा और इनको अस्पताल ले जाऊँगा। इलाजकी सब व्यवस्था हो जायगी।' मैं समझ गया कि ये सज्जन पुलिसके कोई बड़े अधिकारी हैं। मैं रो पड़ा और थर-थर काँपने लगा। मैंने उनके पैर पकड़ लिये। उन्होंने हँसते हुए कहा—'भैया! तरुणावस्थामें अल्हड़पन हुआ ही करता है। आप डरिये नहीं। हाँ, भविष्यमें इतना ध्यान रखिये कि जिसमें अपना तथा किसी भी दूसरेका किसी प्रकार भी नुकसान या अहित होता हो, वैसी अल्हड़ता मत किया कीजिये।' मुझसे इतना कहकर उन्होंने कंस्टेबलसे कहा—'तुम ड्यूटीपर हो, इसलिये थाना जानेकी जरूरत नहीं है। सिर्फ एक घोड़ागाड़ी ले आओ। इनको मैं ही अस्पताल ले जाऊँगा। सहायताके लिये इनके साथी ये सज्जन मेरे साथ जायँगे ही।'

मेरी विचित्र दशा थी। शरीरमें पसीना आ रहा था। डर तो था ही। साथ ही इन देवता पुलिस-अफसरके बर्तावसे मैं आश्चर्यचकित था और मैं यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा था कि मेरा स्वभाव या जीवन ही बड़ी तेजीसे बदल रहा है। मुझे अपनी करनीपर पश्चात्ताप था। भविष्यमें वैसा कोई भी कर्म न करनेकी मैंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की। मेरा मन उन देवमानवके चरणोंके प्रति भक्ति-श्रद्धासे अवनत हो रहा था।

गाड़ी आयी। मैंने तथा उन्होंने रामप्रतापको सहारा देकर गाड़ीपर चढ़ाया। वे उसी कीचड़सने शरीरसे अस्पताल पहुँचे। उन्हें कोई लाज-शरम नहीं आयी। उन्होंने वहाँ अपना परिचय दिया; तब पता लगा कि वे पुलिसकप्तान (सुपरिटेंडेंट) हैं और बड़े सम्भ्रान्त कुलके सज्जन हैं।

डाक्टरोंने बड़े सम्मानके साथ उन्हें बैठाया। हाथ-पैर धुलवाये। उन्होंने कहा—'हम दोनों ही कीचड़में फिसलकर गिर गये।' रामप्रतापकी समुचित चिकित्सा हुई। हड्डी नहीं टूटी थी। दवा लगाकर पट्टी बाँध दी गयी। एक दूसरी घोड़ागाड़ी मँगवाकर उन्होंने हम दोनोंको

विदा करते हुए कहा——'भाई, डरना नहीं । मुझे तो बड़ा दुःख इस बातका है कि आपलोगोंका मजा इन्हें चोट लगनेसे किरकिरा हो गया । मैं ही गिरा होता तो मेरा कुछ बिगड़ा नहीं था और आपका मनोरञ्जन हो जाता । मैं तो गङ्गा-स्नान करने जा ही रहा था । कीचड़ वहाँ धुल जाता । पर भाई ! जैसा मैंने इनसे कहा है, ऐसे मनोरञ्जनकी चेष्टा मत किया करो, जिससे आपकी तथा दूसरेकी हानि हो या अहित हो । मुझे अपना मित्र मानना, सचमुच तुम मेरे मित्र हो और मैं तुम्हारा मित्र हूँ । कभी कोई मेरे योग्य कार्य हो तो निस्संकोच मिलना । मेरा×××××नाम है ।'

हमलोग तो सुनकर चकित हो गये । मैंने भक्ति-विनम्र स्वरसे उनके चरणोंमें प्रणाम किया । सचमुच वे हमारे यथार्थ मित्र ही थे और मित्र ही बने रहे । उनसे शुभकी ओर जीवन-परिवर्तनमें समय-समयपर बड़ी सहायता मिली । मित्रका धर्म ही है——

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा ।

हमलोगोंका जीवन——जो हजारों उपदेश-वाक्योंसे अबतक नहीं बदला था और आगे भी नहीं बदल सकता था; क्योंकि हमें अपनी उद्दण्डताके सामने न किसीका उपदेश सुननेकी फुरसत थी न श्रद्धा ही थी—आज इन दैवपुरुषके आचरणसे अकस्मात् बदल गया और तबसे हम भी बदल गये ।

——गजानन शर्मा

(३)

विलक्षण सद्व्यवहार

जगन्नाथजी और महानन्दजी सगे भाई थे । बड़ा प्रेम था । घरका बँटवारा हो चुका था । परंतु परस्पर कोई भी स्वार्थजनित भेद नहीं था । बड़े भाई जगन्नाथजीकी मृत्यु होनेके बाद उनके पुत्र सम्पतरामने अपने चचा महानन्दका एक बार कहना नहीं माना, बड़ी बुरी तरह पेश आया और उनकी इच्छाके विपरीत कोई ऐसा काम अपने मनसे कर लिया, जिससे उनके कुलकी प्रतिष्ठामें बड़ा धब्बा लगता था । इस बातको लेकर बड़ा मनमुटाव हो गया और वह यहाँतक बढ़ा कि दोनों परिवारोंमें परस्पर बोलचाल बंद हो गयी । बोलना बंद भी पहले सम्पतरामने ही किया ।

एक बार किसी झूठे मुकदमेमें सम्पतराम फँस गया और पकड़ लिया गया । भाग्यवश सम्पतरामकी आर्थिक स्थिति उस समय बहुत कमजोर हो गयी थी । मामला था तो झूठा, पर बड़ा संगीन था । जमानतकी बड़ी चिन्ता हुई । चचा महानन्द सब प्रकार समर्थ थे, पर उनसे वह सहायताके लिये कैसे कहता । उसके मनका भाव यही था कि कहनेपर भी महानन्दजी सहायता नहीं करेंगे; क्योंकि वह उनका बड़ा अपमान कर चुका था । फिर महानन्दजी वहाँ थे भी नहीं । सम्पतरामने अपनेको सर्वथा असहाय अनुभव किया ।

महानन्दजीको उनके लड़के लक्ष्मीनारायणने तारद्वारा समाचार भेजा । लक्ष्मीनारायणके मनमें सहानुभूति नहीं थी । उसने केवल सूचना दी थी । सूचना देनेमें भी उसका क्या अभिप्राय था, पता नहीं । पर सूचना मिलनेकी देर थी, महानन्दजी पहली ट्रेनसे आये और सीधे कोर्टमें जाकर उसकी जमानत ली और छुड़ाकर अपनी ही गाड़ीमें सम्पतरामको घर ले आये । सम्पतरामकी विचित्र दशा थी । वह अपनी करनीपर पश्चात्ताप करता हुआ रो रहा था । महानन्दजी पहले बोले । कहा——'बेटा ! घबराओ नहीं । तुम नहीं बोलते थे——मैं भी नहीं बोलता था । पर इससे तुम पराये थोड़े ही हो गये थे ।' बड़े प्यारसे महानन्दजीने सम्पतरामके सिरपर हाथ फेरा । उसे नहला-धुलाकर चाचा-चाचीने अपने पास बैठाकर स्नेहसे भोजन कराया । उसकी पत्नी तथा बच्चोंको भी बुला लिया गया ।

अच्छे वकीलोंकी नियुक्ति की गयी । मामला संगीन होनेपर भी झूठा था । इससे सम्पतराम बेदाग छूट गया । चाचा-चाचीको बड़ी खुशी हुई ।

इसके बाद महानन्दजीने सम्पतरामको फिरसे पैतृक सम्पत्तिमें और कारोबारमें हिस्सेदार बना लिया ।

दरिद्रावस्थाको प्राप्त सम्पतराम पुनः लखपती हो गया। अब तो सम्पतराम अपने चाचा श्रीमहानन्दजीको ईश्वरके तुल्य मानकर उनकी रुचिका अनुसरण करने लगा।

इस व्यवस्थासे सम्पतरामको सुखी देखकर चाचीको सबसे अधिक प्रसन्नता हुई; क्योंकि सम्पतरामकी माताका बहुत छोटी अवस्थामें देहान्त हो गया था। सम्पतरामको चाचीने ही बड़े लाड़-चावसे पाला था। सम्पतराम भी उसे माँ ही मानता और कहता था। सङ्ग दोषसे बीचमें बुद्धि बिगड़ी थी। अब इस विपत्ति तथा विपत्तिके समय किये हुए चाचा-चाचीके अतुलनीय सद्व्यवहारने उसकी बुद्धिको पुनः सात्त्विक बना दिया। सारी दोषाग्नि चाचाकी स्नेह-सुधा-वर्षासे सदाके लिये शान्त हो गयी।

लक्ष्मीनारायणको पहले कुछ यह व्यवस्था प्रतिकूल-सी लगी; परंतु पीछे वह भी समझ गया और सारा परिवार दिव्य आनन्दसमुद्रमें लहराने लगा।

—रामकुमार गुप्त

(४)

क्रोधपर विजय

यद्यपि मैंने सत्यके सम्बन्धमें अध्ययन किया है और उसके स्वरूपको समझती भी हूँ, फिर भी अपने सप्तवर्षीय पुत्रके प्रति मेरे स्वभावमें बड़ा क्रोध भर गया था। जबसे उसने घुटनोंके बल चलना आरम्भ किया, तभीसे वह कुछ ऐसी चेष्टाएँ करने लगा, जिससे मुझे क्रोध आ जाता। शुभकी शक्तिमें मेरा विश्वास होनेपर भी उसके प्रतिकूल तथा शान्तिके लिये प्रार्थना करते रहनेपर भी, मैं उसपर बरस पड़ती (कभी-कभी तो पीटने भी लग जाती)। मैं प्रायः आपेसे बाहर हो जाती।

मैं जानती हूँ कि मेरे क्रोधी स्वभावने ही मुझे एक असाध्य चर्मरोग प्रदान कर दिया, जिसे मैं पाँच वर्षोंसे भोगती आ रही हूँ। मेरे छोटे बच्चेको भी नासूर हो गया, जिससे वह बीच-बीचमें बहुत कम सुनने लगा। यह जानते हुए भी कि हमारे विचारोंका हमारे शरीरपर कितना अधिक प्रभाव पड़ता है, मैं अपने क्रोधपर विजय नहीं पा सकी। वास्तवमें क्रोधका कारण मेरे पुत्रकी चेष्टाएँ उतना नहीं थीं, जितना उन चेष्टाओंसे भभक उठनेकी मेरी प्रकृति!

गतवर्ष लेन्टनामक व्रतके आनेके पहले मैंने क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका निश्चय किया। मेरे कई मित्रोंने उस पर्वपर अमुक-अमुक वस्तुओंका परित्याग करनेकी बात कही, तो मैंने क्रोधके परित्यागका संकल्प किया।

लेन्टके प्रथम दिन ही मैंने अपने बच्चोंसे कहा कि 'मैंने अब भगवान्‌को क्रोध न करनेका वचन दे दिया है और अपने वचनपर दृढ़ रहनेके लिये मुझे समस्त परिवारकी सहायता आवश्यक है।' बच्चे बड़े प्रभावित हुए और एक सप्ताहतक—पूरे एक सप्ताहतक घरमें सुख-शान्तिका राज्य रहा।

फिर पहली स्थिति आने लगी। बच्चोंने फिर अपनी छेड़खानी शुरू की; साथ ही जो काम उन्हें करने चाहिये थे, उन्हें करना छोड़ दिया। इधर मुझमें भी अपना पारा चढ़ता हुआ लगा। मैं प्रायः उच्च स्वरमें पुकार उठती, 'भगवन्! कृपा करके मेरी सहायता करो, जिससे मुझे क्रोध न आये।' तथा जब स्थिति सरल बन जाती और फिर सुव्यवस्था छा जाती, तब मैं पुनः निश्चय करती—'मैं क्रोधित नहीं हूँगी' और फिर कहती, 'प्रभु! तुझे धन्यवाद है।'

बच्चोंने भी मेरे सत्संकल्पका समर्थन करना आरम्भ किया। मैं सुनती कि वे अपने सोनेके कमरेमें कह रहे हैं, 'आओ, और कुछ करनेके पहले हम अपने बिस्तरे ठीक कर लें, जिससे भगवान्‌के सामने दिये हुए अपने वचनको माँ निभा सके।'

अब हमारे घरमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि क्रोधको दबाये रखनेके अपने निश्चयपर जब मैं अडिग न रह सकती, तब मैं सचमुच अपने बच्चोंके सामने घुटने टेककर भगवान्‌से अपनेको तथा जिस बच्चेके कारण क्रोध आया होता, उसको क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करती।

फिर मैं बच्चोंके साथ बैठकर बात करती, मैं उनसे कहती 'तुमलोग मुझे वैसे ही क्षमा करो जैसे कि मैंने तुमलोगोंको क्षमा कर दिया है।' और फिर उनको बताती कि 'हमारे परस्परके क्षमादानके कारण भगवान्‌ने भी हमको क्षमा कर दिया है।' इसके परिणाममें हमको स्वर्गीय सुख मिला है।

और हाँ, चर्मरोगमें भी सुधार दिखायी दे रहा है। हमें कुछ ऐसी क्रियाएँ बतायी गयी थीं, जिनके फलस्वरूप मेरे बच्चेका नासूर भी अच्छा हो रहा है और उसकी श्रवणशक्ति अब प्रायः ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि इस सुधारके यथार्थ कारणको हम जानते हैं और हमारा हृदय कृतज्ञतासे परिप्लुत है।*

—एम० एस० (एक अमेरिकन महिला)

(५)

भगवान्‌की सर्वसमर्थ कृपाशक्ति

गतसप्ताह अचानक एक खर्चा आ गया, इससे कुछ बँधे आवश्यक खर्चेके लिये रुपयोंकी कमी पड़ गयी। जब मैंने अपने बैंककी किताब सँभाली तो पता लगा कि जितने रुपयेकी आवश्यकता थी, बैंकमें उससे कम ही हैं। मैं व्यग्र हो उठा, किंतु फिर मेरा मन भगवान्‌की सर्वसमर्थ एवं सर्वव्यापिनी कृपाशक्तिकी स्मृतिसे भर गया। मुझे विश्वासपूर्वक निश्चय हो गया कि भगवान्‌को मेरी आवश्यकताका पता है और वे उसे पूरी करेंगे।

लगभग दो घंटे बाद एक युवक, जिसने कुछ मास पूर्व मेरे लिये कुछ काम किया था, मेरे घर आया। मैं तो एकदम आश्चर्यचकित रह गया। गतवर्ष बड़े दिनोंके कुछ समय पहले वह मुझसे विदा हुआ था। तबसे उसका कोई समाचार नहीं मिला था। इसलिये मैं सोचता था कि वह किसी दूसरे प्रान्तमें रहता होगा। उसने नमस्कार करते हुए पचास डालर मेरे हाथपर रख दिये। महीनों पहले जब वह मुझसे विदा हुआ था, उससे पहले ही उसने मुझसे रुपये उधार लिये थे। मैं यह तो जानता था कि उसके पास पैसे आते ही वह मुझे लौटा देगा; किंतु यह नहीं जानता था कि यह कार्य ठीक उसी समय होगा, जब कि उसके द्वारा मेरी आवश्यकताकी पूरी-पूरी पूर्ति होगी।

आर० जी० आर० (एक अमेरिकन सज्जन)

(६)

सच्ची मानवता

घटना सात वर्ष पहलेकी है। उस समय मैं अपने कामके लिये बीच-बीचमें फर्रुखाबाद जाया करता था। सूती तथा रेशमी कपड़ेकी छपाईके लिये यह नगर प्रसिद्ध है। यह काम प्रधानतया एक ही कौमके हाथमें है। उन्हें 'साध' कहते हैं। साध लोग डेढ़-दो सौ वर्ष पहले राजस्थानसे आकर यहाँ बसे थे। इस समय वे अधिकांश फर्रुखाबाद और मिर्जापुरमें रहते हैं। उनका जीवन सादा और शान्त होता है। वे उच्च विचारके तथा अपने विचारोंको जीवनमें उतारनेवाले होते हैं।

एक दिन अचानक एक धनी साधका लड़का बस-दुर्घटनामें आकर मर गया। बसके मुसाफिरोंने आवेशमें आकर ड्राइवरको इतना मारा कि वह बेहोश होकर गिर पड़ा। इसी बीच खबर मिलते ही लड़केका

---

* मानसिक भावों, विचारों तथा क्रियाओंका शरीरपर न्यूनाधिक रूपसे बड़ा प्रभाव पड़ता है। 'काम' के विचारोंसे पागलपन, नपुंसकता, मधुमेह और प्रमेहके रोग उत्पन्न होते हैं। विषाद, भय और निराशाके विचारोंसे शरीरमें अशक्ति, कम्पन, अनिद्रा, सिरदर्द आदि; क्रोधके विचारोंसे पामा (एकजिमा), कुष्ठ, हृद्रोग आदि; लोभके विचारोंसे अपचन, उदरव्याधि, यकृत्-शूल आदि। इसी प्रकार अन्यान्य कुविचारोंसे विभिन्न रोग उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं। इसी तरह शम, दम, तितिक्षा, क्षमा, त्याग, भगवद्विश्वास, आत्माकी नित्य पूर्णता, निरामयता और अमरताके विचारोंसे रोगनाशके साथ ही विलक्षण स्वस्थता प्राप्त होती है।—सम्पादक

वह धनी पिता तुरंत वहाँ आया और देखा कि लड़का मर गया है और ड्राइवर बेहोश पड़ा है। वह तुरंत किसीकी मोटर माँगकर ड्राइवरको अस्पताल ले गया और उसके इलाजकी व्यवस्था कराकर मरे हुए अपने लड़केके पास आया और तब उसने उसका अन्तिम संस्कार किया।

दो-चार दिनों बाद किसीने पूछा—'तुमने यह क्या काम किया? लड़केको मरा छोड़कर ड्राइवरको अस्पताल ले गये?' तब उसने कहा—'मैंने बहुत ही ठीक किया। ड्राइवर गरीब आदमी है। मेरा लड़का वापस आ जाय, ऐसी आशा तो थी ही नहीं; ड्राइवरका जीवन बच सकता था। एक मर गया, एक बच गया। मेरे इस कार्यसे ईश्वर प्रसन्न होंगे और मेरे पुत्रकी आत्माको शान्ति मिलेगी।' इसके उत्तरमें पूछनेवाले भाई क्या बोलते? मनमें भले ही बड़बड़ाये हों। कलियुगमें भी सच्ची मानवता अभी मर नहीं गयी है।

—जेठालाल कानजी शाह

(७)

मानवताका झरना

यहाँ रातको आनेवाली अन्तिम गाड़ीका समय बहुत ही अड़चनभरा है। साढ़े बारहका समय है और कहीं लेट हो गयी तो दो-ढाई बज जाते हैं। कुछ दिनों पहले हमारे एक मेहमान आनेवाले थे, इसलिये उन्हें लेने मैं स्टेशन गया था। पौषका महीना—इसपर ठंडी हवा—जाड़ेके मारे शरीरके रोंगटे खड़े हो रहे थे। भाग्यसे गाड़ी उस दिन लेट आयी। इससे तथा बहुत सर्दीके कारण बहुत-से ताँगेवाले लौट गये थे। सिर्फ छः-सात ताँगे थे। मुसाफिर ज्यादा और ताँगे कम—इससे उनके भाव बढ़ गये। डेढ़के बदले पाँच रुपये हो गये। ताँगेवालोंको कुछ कम लेनेके लिये कहा, प वे अपनी बातपर अडिग थे। मैं एक ताँगेवालेसे झक-झक कर ही रहा था कि एक दूसरे ताँगेवालेने कहा—'चलिये बाबू! मेरे ताँगेपर आइये, यह खाली है।' मैंने मन-ही-मन कहा—'तुम्हारा ताँगा तो खाली है, प इधर मेरी जेब जो खाली है।'

मैंने पूछा—'क्या लोगे?'

'दो रुपये बाबू'—ताँगेवालेने कहा।

'हैं! क्या दिल्लगी कर रहे हो?'

'बाबू! आपसे मैं दिल्लगी करता?'

इस ताँगेवालेने जब दो रुपये कहे, तब एक दूसरा ताँगेवाला इससे चिढ़कर कहने लगा—'यह महमदा ही भाव बिगाड़कर मुसाफिरोंको ले जाता है। किसी दिन इसको मजा चखाना पड़ेगा।'

हमलोग महमदेके ताँगेपर सवार हो गये। ताँ चलनेपर मैंने पूछा—'महमद! तुमने दो रुपये कै कहे?'

'बाबू! जरा खुदाका भी तो डर रखना चाहिये न? आपको परेशानीमें पड़े देखकर—आपकी परेशानी-से फायदा उठाकर आपसे दोके बदले पाँच रुपये लें खुदाकी नजरमें बेईमानी होगी। खुदाकी मेहरबानी जब जरूरतके माफिक मिल जाता है, तब बेईमानी करके ज्यादा पैसे लेकर क्या करना है।'

एक मामूली आदमीके हृदयमें इस प्रकार मानवता-का झरना बहता देखकर मेरा मन उसके सामने झुक गया। मैंने उसको बहुत दबाकर तीन रुपये दिये—वह एक पैसा भी अधिक नहीं लेना चाहता था।*

—मधुकान्त भ

* * *

---

* 'कल्याण' के सहृदय पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी, तदनुसार कुछ घटनाएँ आयी हैं। पुनः निवे है कि चमत्कारवाली घटनाएँ कम लिखकर काम-क्रोध-लोभादिके दमनकी तथा प्रेम, अहिंसा, सद्व्यवहार, सत्यपालन, द उदारता, निर्वैरता, क्षमा, सेवा आदि मानवताको उच्चस्तरपर उठानेवाले विषयोंकी सच्ची घटनाएँ लिखनेकी कृपा करें।—सम्पा

श्रीहरिः

मासिक महाभारत वर्ष २ सं० २ (दिसम्बर १९५६) में प्रकाशित अनेक चित्रोंसे सुसज्जित, सटीक, श्रीमद्भगवद्गीता

टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

पृष्ठ-संख्या २२४, बहुरंगे चित्र १५, इकरंगे ७, लाइन ३ (फर्मोंमें) मूल्य डाकखर्चसहित बुकपोस्टसे २), रजिस्ट्री या वी० पी० से २॥); बुकपोस्ट या रजिस्ट्रीसे मँगवानेके लिये मूल्य मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

महाभारतके भीष्मपर्वके २५ वें अध्यायसे ४२ वें अध्यायतकके १८ अध्यायोंका नाम श्रीमद्भगवद्गीता है, जो गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित मासिक-महाभारतके वर्ष २ सं० २ में विस्तृत व्याख्या एवं बहुरंगे-एकरंगे २२ चित्रोंसहित प्रकाशित हुई है। उसमें गीताके मूल—श्लोकोंका शब्दार्थ तो गीता-तत्त्वविवेचनी नामक टीकासे प्रायः ज्यों-का-त्यों लिया गया है। विस्तृत व्याख्यामें उसके प्रश्नोंको छोड़कर उत्तर-भागमेंसे सार-सार विषय टिप्पणियोंके रूपमें ले लिये गये हैं। २) में यह गीता बहुत सुन्दर और संग्रहणीय ग्रन्थ है।

व्यवस्थापक—महाभारत, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

बिहार-राज्य शिक्षा-विभागद्वारा स्वीकृत गीताप्रेस-बाल-साहित्यकी २१ पुस्तकें

माध्यमिक विद्यालयोंके लिये	
१-महाभारतके कुछ आदर्श पात्र ...	।)
२-रामायणके कुछ आदर्श पात्र ...	।=)
३-पिताकी सीख (स्वास्थ्य और खान-पान) ...	।=)
४-बालकोंकी बातें	।)
प्राथमिक विद्यालयोंके लिये	
५-उपयोगी कहानियाँ	।-)
६-भक्तराज ध्रुव	≡)
७-दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ ...	≡)
८-भगवान राम भाग १	।)
९-गुरु और माता-पिताके भक्त बालक ...	।)
१०-वीर बालक	।)
११-भक्त बालक	।-)
१२-भगवान श्रीकृष्ण भाग १	।-)
१३-सच्चे और ईमानदार बालक ...	।)
१४-वीर बालिकाएँ	≡)
१५-बालप्रश्नोत्तरी	-)॥
१६-बाल-चित्रमय चैतन्यलीला	।=)
१७-,, ,, रामायण भाग १ ...	।)
१८-,, ,, ,, भाग २ ...	।)
१९-,, ,, बुद्ध-लीला	।-)
२०-,, ,, कृष्णलीला भाग १ ...	।=)
२१-बालकोंकी बोलचाल	=)॥

नित्य पाठ करने योग्य तीन छोटी-छोटी नयी पुस्तकें

(१) **श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्**—(मूलमात्र), पृष्ठ ६४, मू० ...	=)
(२) **गङ्गालहरी**—हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४०, मू०	-)
(३) **रामरक्षास्तोत्रम्**—हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ २०, मू०	)॥

तीनों पुस्तकें एक साथ बुकपोस्टसे मँगवानेके लिये ।-) तथा रजिस्ट्रीद्वारा मँगवानेपर ।॥-) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

कल्याणका 'भक्ति-अङ्क'

कल्याणके 'भक्ति-अङ्क' की भारतके प्रायः सभी प्रदेशोंके भक्तों तथा विद्वानोंने बड़ी प्रशंसा की है।

शृंगेरीके जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं—

'……यह अङ्क भक्तोंके लिये बड़ा ही उपकारी है।……'

दक्षिणके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमहालिंगम् लिखते हैं—

" 'भक्ति-अङ्क'—अत्यन्त श्लाघ्य वस्तु है। आपलोग बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं—"

बंगालके महान् विद्वान् श्रीभूपेन्द्रनाथ राय चौधरी लिखते हैं—

'एक विशिष्ट विषयके सम्बन्धमें इस प्रकार तथ्यबहुल विचार आजतक किसी भी मासिकपत्रमें नहीं देखा गया है। इस सुसम्पादित अङ्कके लिये अत्यन्त प्रीतिके साथ मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।'

पंजाबके साहित्याचार्य, शास्त्री, विशिष्ट विद्वान् पं० श्रीचेलालालजी मोहला काव्यतीर्थने लिखा है—

'……'भक्ति-अङ्क' आध्यात्मिक प्रेरणाका छलकता हुआ स्रोत है। भारतीय भक्तिधाराके विभिन्न पहलुओं तथा विशेषताओंपर विशद एवं सुविस्तृत प्रकाश डालनेवाला हिंदी-जगत्‌में ऐसा कोई विशेषाङ्क अबतक नहीं निकला है।……'

'सौराष्ट्र'के श्रीप्रतापरायजी भट्ट लिखते हैं—

'भक्त तथा भक्तिके विभिन्न सब अङ्गोंकी इसमें विवेचनापूर्ण विशद और प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है—सचमुच एक ही ग्रन्थमें ऐसा संग्रह विरल है—'

बम्बई 'वेदान्त सत्सङ्ग-मण्डल'के प्रधान प्रसिद्ध महात्मा स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज लिखते हैं—

''ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, धर्म और सदाचारके धुरन्धर प्रतिपादक मासिक पत्र 'कल्याण'के बत्तीसवें वर्षका विशेषाङ्क है—'भक्ति-अङ्क'। इसमें प्रभु-प्राप्तिके सुलभ साधन भक्तिके विभिन्न रूप एवं अङ्ग उपयुक्त रीतिसे संगृहीत हुए हैं।……सुतरां यह अङ्क कर्मप्रेमी, भावप्रेमी, ज्ञानप्रेमी आदि सभी प्रकारके प्रेमियोंके लिये एक उपादेय वस्तु बन गया है।—'

काशी विश्वविद्यालयके प्रसिद्ध विद्वान् डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवालका लिखना है—

'आपका परिश्रम श्लाघनीय है। अति रोचक और उपयोगी सामग्री संगृहीत की है। भगवद्भक्तिका उज्ज्वल प्रकाश मनमें आ जाय तो कल्याणकी यह सेवा धन्य है और सफल है।'

अनेक पत्रोंमेंसे कुछ ही पत्रोंका यह सार है। 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'के ग्राहक बनावें। इससे हम तो कृतज्ञ होंगे ही, वे भी सद्भावोंके प्रचारका पुण्य लूटेंगे। 'भक्ति-अङ्क'के संग्रहके लिये भी सभी महानुभावोंको शीघ्र ही इसका ग्राहक बन जाना चाहिये। मूल्य ७॥) वार्षिक है।

सम्पादक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

11-6-58

कल्याण

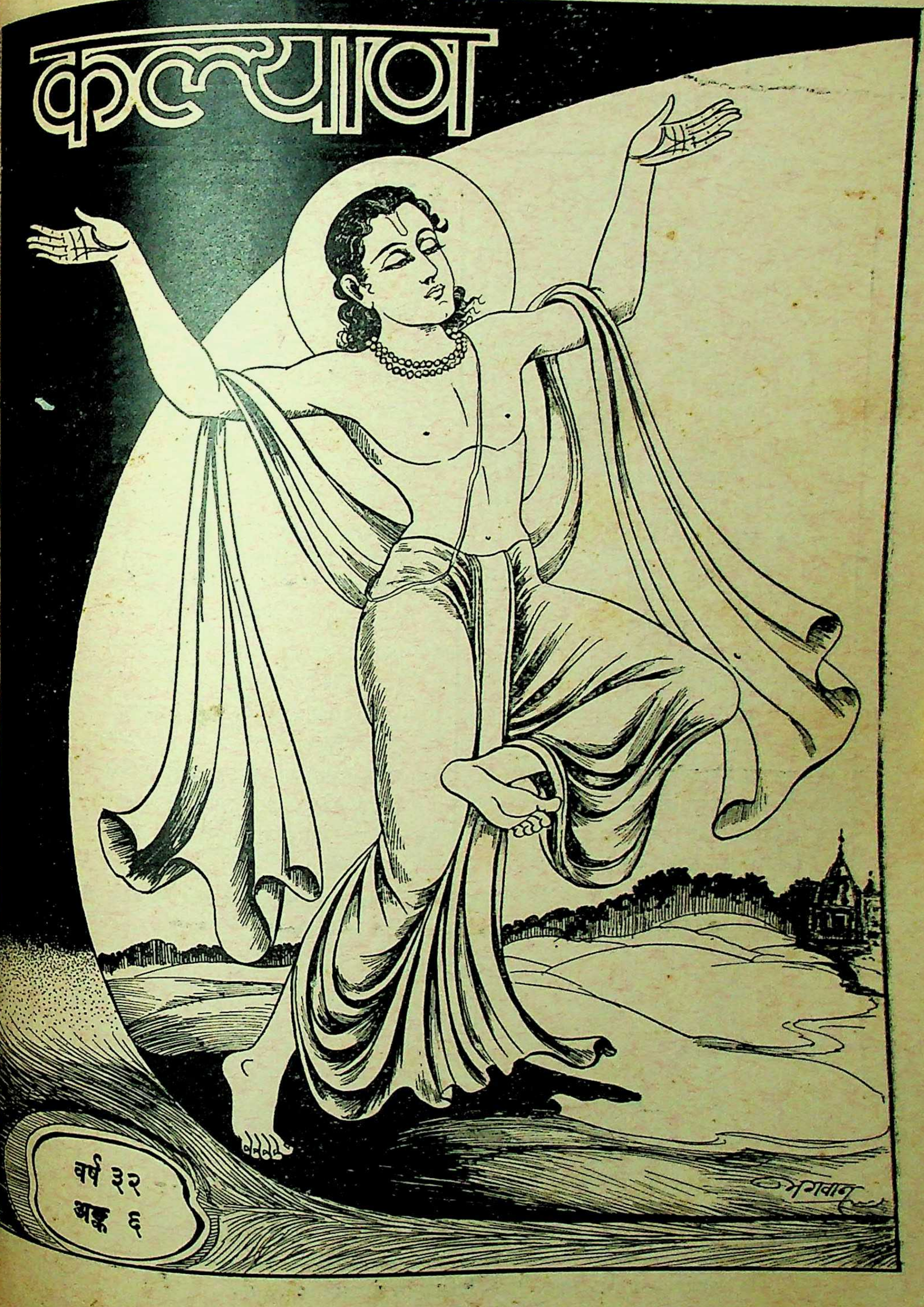

वर्ष ३२
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०१५, जून १९५८

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–सूर्य-स्तवन [कविता] … ९६५
२–कल्याण ('शिव') … ९६६
३–ईश्वरकी प्राप्ति सुलभ है या दुर्लभ ? (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) … ९६७
४–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) … ९७१
५–कामना [कविता] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) … ९८०
६–वैष्णव-सदाचार … ९८१
७–भक्ति बिनु तन-मन मैलो [कविता] (श्रीव्यासजी) … ९८८
८–महर्षि वशिष्ठकी गोदमें श्रीराम (पं० श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी) … ९८९
९–रामनाम (महात्मा गाँधी) … ९९२
१०–विवेकका आश्रय (साधुवेषमें एक पथिक) … ९९३
११–चोखी सीख … ९९४
१२–समाजकी मौन-स्वीकृतिसे अपराध होता है (श्रीमनोहर मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न) … ९९५
१३–प्रार्थनामय जीवन [दिव्यताका प्रारम्भ] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) … ९९६
१४–मेरी चाह … ९९८
१५–मानवताकी पुकार [कहानी] (श्री'चक्र') … ९९९
१६–प्रश्न [कविता] … १००१
१७–गीतामें ज्ञानयोग (पं० श्रीगिरिजादत्तजी शुक्ल 'गिरीश') … १००२
१८–समाज-कल्याणका मूलमन्त्र [सहयोगकी भावनाका विकास] (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … १००३
१९–तुम्हीं मेरे सर्वस्व [कविता] … १००६
२०–मूर्तिमान् परोपकार [कहानी] (स्वामीजी श्रीपारसनाथजी सरस्वती) … १००७
२१–जीवनकी मूलभित्ति (श्रीलावेल फिल्मोर) … १०१०
२२–एक प्राण दो शरीर [कहानी] (श्रीआचार्य सर्वे) … १०११
२३–तूँवर भगवान (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) … १०१३
२४–शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेके साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १०१५
२५–अखण्ड नाम-स्मरणसे साक्षात् दर्शन (संकलित) … १०२०
२६–पढ़ो, समझो और करो … १०२१

चित्र-सूची

तिरंगा

१–भगवान् भास्कर … … … … ९६५

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≈)
विदेशमें ॥≈)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०१५, जून १९५८ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ३७९

सूर्य-स्तवन

दीन दयालु दिवाकर देवा । कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा ॥ १ ॥
हिम तम करि केहरि करमाली । दहन दोष दुख दुरित रुजाली ॥ २ ॥
कोक कोकनद लोक प्रकासी । तेज प्रताप रूप रस रासी ॥ ३ ॥
सारथि पंगु दिब्य रथगामी । हरि संकर बिधि मूरति स्वामी ॥ ४ ॥
बेद पुरान प्रगट जस जागै । तुलसी राम भगति बर मागै ॥ ५ ॥

कल्याण

याद रक्खो—जब तुम किसीके सम्बन्धमें यह निश्चय कर लेते हो कि वह तुम्हारा विरोधी है, तब उसके मनमें तुम्हारे प्रति जरा भी विरोध न होनेपर भी तुम्हारा असत् निश्चय तुम्हारे व्यवहारमें उसके प्रति विरोधकी और उसके अनिष्टकी भावना उत्पन्न कर देगा, जो उसको प्रत्यक्ष दिखायी देगी और जब वह तुम्हारे व्यवहारमें अपने प्रति बैर-विरोध देखेगा, तब उसके मनमें भी तुम्हारे प्रति सहज ही वैर-विरोधका भाव उत्पन्न हो जायगा और तब तुम्हें अपने प्रति होनेवाले उसके व्यवहारमें स्पष्ट ही वैर-विरोध दिखायी देगा ।

याद रक्खो—जब तुम्हें उसके व्यवहारमें वैर-विरोध दिखायी देगा, तब तुम्हारा यह निश्चय और भी बद्धमूल हो जायगा तथा तुम यह निश्चितरूपसे मान लोगे कि वस्तुतः यह तुम्हारा वैरी ही है और तुमने उसके साथ जो असत्-व्यवहार किया था, वह उचित ही था। तथा इस प्रकार उसे वैरी मानकर फिर तुम सहज ही उसे हानि पहुँचानेके कार्य करने लगोगे और बदलेमें वह भी वैसे ही करेगा। वैरकी जड़ जम जायगी और पुष्पित-फलित होकर विष-वृक्षका विस्तार करने लगेगी।

याद रक्खो—न तो वह पहले तुम्हारा वैरी था, न उसके व्यवहारमें ही तुम्हारे प्रति कोई वैर-विरोध था। तुम्हींने अपनी मिथ्या धारणासे उसे अपना वैरी बना लिया और इस प्रकार तुम्हीं अपना तथा उसका अहित करनेमें स्वयं कारण बने ।

याद रक्खो—यदि तुम्हारा कोई वैरी है भी तो, वह तुम्हारे वैसे प्रारब्धके बिना तुम्हारा जरा भी अनिष्ट नहीं कर सकता, बल्कि तुम्हारे प्रति अनिष्ट भावना करके वह अपना ही अनिष्ट-साधन कर रहा है। इसलिये तुम्हें चाहिये कि तुम उसके प्रति विरोधी भाव न रखकर उसका कल्याण चाहो। जब तुम उसका अनिष्ट न चाहकर हित चाहोगे तो तुम्हारे व्यवहार-बर्तावमें सहज ही उसके प्रति सद्भाव तथा उसके हितका प्रयास होगा। इसके परिणामस्वरूप उसे अपनी भूल दिखायी देगी और वह विरोधीभावको छोड़कर तुम्हारा मित्र बन जायगा एवं एक बड़े अहितसे अपनेको बचा सकेगा। इसमें तुम्हारा तो हित होगा ही ।

याद रक्खो—तुम अपने भ्रान्त निश्चय तथा असद्भावसे दूसरोंको अपना वैरी बना लेते हो और सद्भावसे वैरीको भी मित्र बना लेते हो। जो सबके प्रति मैत्री-भावना करता है, वह स्वयं तो सबका मित्र है ही, सबको सहज ही अपना मित्र बनाकर सबसे सुख-सुविधा तथा सहयोग-सहायता प्राप्त करता रहता है। इसके विपरीत जो दूसरोंके प्रति सदा संदेह करता तथा विरोध-भाव रखता है, वह सहज ही मित्रोंको भी वैरी बनाकर अपने तथा उनके जीवनको भयभीत, सशङ्क, संत्रस्त और दुखी बना देता है।

याद रक्खो—तुम्हारा वैरी कोई भी नहीं है। तुम्हारी स्वेच्छाविहारिणी इन्द्रियाँ, तुम्हारा न जीता हुआ मन और विपरीत निर्णय करनेवाली तुम्हारी बुद्धि ही वैरी है।

'शिव'

ईश्वरकी प्राप्ति सुलभ है या दुर्लभ ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्यंनाप्नोति मामृतम् ॥

'बुद्धिमान् मनुष्योंकी बुद्धि तथा चतुर मनुष्योंकी चतुराई धन इकट्ठा करनेमें नहीं है, वैभव प्राप्त करनेमें नहीं है तथा भोग-पदार्थ संग्रह करके उनको भोगनेमें नहीं है; बल्कि इस विनाशशील और क्षणभङ्गुर शरीरसे अविनाशी मुझ (भगवान्) को प्राप्त कर लेनेमें है ।'

मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता ईश्वरकी प्राप्ति कर लेनेमें ही है । 'विषयः खलु सर्वतः स्यात्' विषयभोग तो सब शरीरोंमें बिना परिश्रमके ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

अब 'ईश्वर-प्राप्ति सुलभ है या दुर्लभ ?' इस प्रश्नका उत्तर यदि अति संक्षेपमें देना हो तो इस प्रकार दे सकते हैं । अधिकारीको ईश्वर-प्राप्ति अति सुलभ है और अनधिकारीको वह दुर्लभ ही नहीं, असाध्य है । अधिकारके बिना संसारकी सामान्य वस्तु भी नहीं मिलती, फिर ऐसी अमूल्य निधि तो कैसे मिलेगी ?

पहले तो, सुलभ क्यों है—यह देखिये । भगवान् श्रीमुखसे गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

तात्पर्य यह है कि 'जो योगी अपने मनको अन्यत्र कहीं नहीं जाने देता, उसे नित्य—चौबीसों घंटे मुझमें ही लगाये रखता है, 'तस्य अहं सुलभः' उस योगीको मैं सहज प्राप्त हूँ ।' यहाँ 'नित्ययुक्त' शब्द बहुत ध्यान देने योग्य है । एक भक्त-कवियित्रीने इस भावको बहुत सुन्दर रीतिसे समझाया है—

सौ बातोंकी एक ही सुण ले राजा बीर ।
सुरत तारमें पोय ले राम-नामका हीर ॥

कहती है—सौ बातोंकी एक ही बात कहती हूँ—बीर नरेश ! सुनो, सुरत—स्मरणरूपी तारमें रामनामके हीरको पिरो लो अर्थात् व्यवहारमें जो-जो आचरण करो, उसको भगवत्स्मरणपूर्वक करते रहोगे तो सहज ही संसारसे तर जाओगे । फिर, भगवान्की प्राप्ति जैसे सुलभ है, वैसे ही उस प्राप्तिका साधन भी सुलभ है । उसमें किसी प्रकारके बलिदानकी या कष्ट-सहनकी अथवा पैसा खर्च करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

सुलभं भगवन्नाम जिह्वा च वशवर्तिनी ।
तथापि नरके यान्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

अभिप्राय यह है कि भगवान्का नाम बिना मूल्य सर्वसाधारणको प्राप्त है और भगवान्का नाम लेनेमें कोई विशेष परिश्रम भी नहीं करना पड़ता क्योंकि जीभ तो मुँहमें है ही और वह मनुष्यकी आज्ञाके अनुसार चलती है । केवल उसको आज्ञा देनेभरकी देर है । इतनी अधिक सुगमता प्रभुने कर रक्खी है, इसपर भी मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति न करके प्रतिदिन नरकमें जाता हुआ दीखता है । इससे बढ़कर अधिक आश्चर्यजनक बात क्या हो सकती है ?

मनुष्यकी ऐसी भयंकर परवशताको देखकर, दयाके सागर भगवान् अपनी कृपापरवशतासे मनुष्यको कहते हैं कि ऐसा सरल साधन भी यदि तुझसे नहीं बन पड़ता है तो,

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'साधनमात्रका आधार छोड़कर केवल मेरे शरण आ जा, मैं तुझको शुद्ध कर लूँगा और फिर अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा दूँगा ।' शरण जानेमें भाव कैसा होना चाहिये, इस विषयका श्लोक यह है—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः ।
नान्यत् किंचिद् विजानामि त्वमेव शरणं मम ॥

'हे प्रभो ! मैं तो दीन-हीन हूँ, मैं निरा अबोध बालक-जैसा हूँ । मेरी बुद्धि कुण्ठित हो रही है और मेरी सारी युक्तियाँ समाप्त हो चुकी हैं । मैं कोई भी

साधन नहीं कर सकता। तुम्हारे सिवा मेरा और कुछ भी अवलम्बन नहीं **है**। हे कृपासिन्धो! मुझे अपना लो, मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, इसके सिवा मैं और कुछ नहीं जानता।'

यह लिखते समय शरणागतिका एक श्लोक स्मरणमें आ जाता है, उसे भी देख लीजिये—

परमकारुणिको न भवत्परः
परमशोच्यतमो न हि मत्परः।
इति विलोक्य हरे मयि पामरे
यदुचितं यदुनाथ तदाचर॥

'हे करुणासिन्धु श्रीकृष्ण! आपके-जैसा दयालु दूसरा कोई मैं नहीं देखता तथा मेरे-जैसा दीन-हीन भी दूसरा कोई नहीं **है**। हे प्रभो! मुझ पामरके ऊपर कृपादृष्टि करो और फिर आपकी दयालुता सुशोभित हो, ऐसा प्रबन्ध करो। अपनी स्थिति मैंने आपके सामने उपस्थित कर दी है, आपको जो उचित जान पड़े वही करो, मैं और क्या कहूँ?'

यहाँतक हमने देख लिया कि भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ तो है। परंतु पहले कहा जा चुका है कि अधिकारीको सुलभ है, इसलिये अब अधिकारका स्वरूप देख लेना चाहिये। अधिकारी होनेमें केवल करना यही है कि अन्तःकरणको शुद्ध कर लेना चाहिये। 'विषयोंके उपभोगसे सुख मिलेगा' इस आशासे अन्तःकरणमें विषय-प्राप्तिकी इच्छाएँ उठा करती हैं, यही अन्तःकरणका दोष है। अतएव अन्तःकरणको शुद्ध करनेका अर्थ इतना ही हुआ कि इच्छामात्रका त्याग करे। यह त्याग तभी हो सकता है, जब अन्तःकरणमें ईश्वर-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा जाग्रत् हो। जबतक तीव्र इच्छा नहीं जागती, तबतक विषय-वासना कम नहीं हो सकती। तीव्र इच्छा अग्निरूप है, इसलिये अन्तःकरणमें रहनेवाली सारी भोग-वासनाओंको वह जला डालती है और तब अन्तःकरणकी कैसी स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हुए एक संतने गाया है—

तिन खान-पान नहिं भावै है।
नहिं कोमल बसन सुहावै है॥
तिन विषय भोग सब खारा है।
हरि-आशिकका मग न्यारा है॥

कबीर साहब भी इस प्रसङ्गको समझाते हुए कहते हैं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं, मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

भाव यह है कि जबतक अन्तःकरणमें संसार है अर्थात् सांसारिक सुखकी एक भी अभिलाषा है, तबतक वहाँ ईश्वरका वास हो नहीं सकता; क्योंकि जगह इतनी अधिक साँकरी है कि उसमें संसार और भगवान् दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

इसी प्रसङ्गको श्रीतुलसीदासजी इस प्रकार कहते हैं—

जहाँ काम तहाँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँक रहि सकैं रबि रजनी इक ठाम॥

यदि सूर्य और रात दोनों एक समय एक साथ रह सकें तो संसार और भगवान् भी रह सकते हैं।

इस प्रसङ्गका उल्लेख करते हुए एक भाईने (चाहे विनोदमें ही) मुझसे कहा था, उसकी याद आनेपर उल्लेख किये बिना मैं नहीं रह सकता। उनका कहना था कि 'भगवान्‌के घरमें क्या कोई कमी थी जो उसने मनुष्यको एक ही अन्तःकरण दिया। इसीके कारण सारी माथा-पच्ची है; क्योंकि उसमें संसार रहे तो भगवान् न रहे और भगवान्‌को रखना हो तो संसारको निकाल बाहर करना होगा। ऐसा न करके भगवान्‌ने यदि दो अन्तःकरण दिये होते तो एकमें संसार रहता और दूसरेमें भगवान्‌को रक्खा जाता। ऐसा होता तो सारी उपाधि टल जाती।'

संसारके सामान्य नियमसे देखें तो कोई भी मनुष्य गंदी जगहमें रहनेसे प्रसन्न नहीं होता। साधन होनेपर मनुष्य रेलगाड़ीकी यात्रामें भी दूसरोंके सम्पर्ककी गंदगीसे बचनेके लिये स्वतन्त्र जगहका प्रबन्ध करता है और स्टेशनसे घर जाते समय भी घोड़ागाड़ी या मोटरकी भी स्वतन्त्र व्यवस्था करता है और यहाँ तो भगवान्

को पधराना है, अतएव उनके लिये स्थान पवित्र और निर्मल तथा एकान्त होना चाहिये । इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं । प्रत्येक मनुष्य पवित्र और स्वतन्त्र स्थान चाहता है, अतएव यदि भगवान्‌को पधरानेके लिये वैसा स्थान तैयार करता है तो मनुष्य क्या विशेष कर डालता है ? और उसमें बुराई भी क्या है ? किसी सम्मान्य व्यक्ति, राजा या अधिकारीको या किसी साधु-संतको हम घर बुलाते हैं, तब भी स्वच्छताकी और उनको दूसरोंकी उपस्थितिसे परेशानी न हो, इसकी कितनी भारी चिन्ता रखते हैं; तब क्या भगवान्‌के लिये हम इतना भी नहीं कर सकते ?

यहाँतक हमने देख लिया कि ईश्वर-प्राप्ति सुलभ है और इसके लिये अधिकार चाहिये । अधिकारकी प्राप्तिके लिये ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छाको अति तीव्र बनाना चाहिये । अर्थात् ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छाके सिवा दूसरी कोई इच्छा अन्तःकरणमें नहीं रहनी चाहिये ।

'ईश्वर-प्राप्ति दुर्लभ है' 'यह बहुत कठिन काम है' ऐसी-ऐसी बातें कहकर ईश्वर-प्राप्तिको अति विषम बनानेवाले ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनको करना तो कुछ होता नहीं, केवल व्यर्थकी बातें करते हैं । इस प्रकार बोलनेवालोंमें ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती, इसीलिये वे व्यर्थ कहा करते हैं कि ईश्वर मिलता ही नहीं । संसारमें घुल-मिलकर विषयोंको भोगते हुए यदि कहीं ईश्वर सामने मिल जाय तो वे उनसे मिलनेके लिये तैयार होते हैं । देखा-देखी या अपनी प्रतिष्ठा जतलानेके लिये वे कभी-कभी भजन करते भी दीखते हैं; परंतु उनके भीतर ईश्वर विषय-भोगकी प्राप्तिका एक साधनमात्र होता है । पूजा करके वे ईश्वरसे माँगते हैं—'मुझको धन दो, स्त्री-पुत्रादि दो, कीर्ति दो, ऐश्वर्य दो, दीर्घ आयु दो—' इस प्रकार मायिक पदार्थोंकी वे माँग करते हैं । अर्थात् उनमें ईश्वरके भजनसे ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती, बल्कि संसारके भोगोंकी प्राप्तिकी ही इच्छा होती है । परंतु मुँहसे यह कहते हैं कि 'भाई ! भजन तो बहुत करते हैं, पर भगवान् मिलते नहीं ।'

इन विषय-विमुग्ध मनुष्योंकी मनोवृत्ति बतानेवाला एक भिखारीका दृष्टान्त दिया जाता है । एक छोटे-से राज्यका राजा बिना वारिसके मर गया, तब राजगद्दी-पर किसको बैठावें, यह प्रजाके लिये एक कठिन प्रश्न हो गया । अन्तमें पुरानी प्रथाके अनुसार एक हथिनी-के सूँड़में एक हार दिया गया और यह निर्णय किया गया कि वह जिसको हार पहना दे, उसीको गद्दी दी जाय । सारे प्रजाजनको आश्चर्यमें डालते हुए उस हथिनीने वह हार एक भिखारीको पहना दिया । प्रजा-जन उस भिखारीके पास गये और उससे विनती करने लगे कि अब यह भिखारीका वेष उतार डालो और राजाकी पोशाक धारण करो तथा राजगद्दीके ऊपर बैठो । भिखारीने कहा कि 'मुझको अपना भिखारीपन नहीं छोड़ना है, इसलिये इसी वस्त्र और इसी व्यवहारके साथ (भिखारीके व्यवहारके साथ) मैं राजगद्दीपर बैठूँगा ।' प्रजाको यह बात पसंद नहीं आयी और उसको गाँवसे निकाल बाहर कर दिया ।

इसी प्रकार विषयी मनुष्योंको विषय-भोगका भिखारी भी रहना है और भगवान्‌की गद्दीके ऊपर भी बैठना है । परंतु जबतक विषय-भोगरूपी चिथड़ा नहीं फेंक दोगे, तबतक राजगद्दीके ऊपर—ईश्वरकी गद्दीके ऊपर बैठनेका अधिकार नहीं मिलेगा ।

मैं अपने निजी अनुभवके ऊपर सच कहता हूँ कि संसार चलाने-जैसा कठिन कार्य ईश्वर-प्राप्तिका कदापि नहीं है । संसारकी रचना ही ऐसी विचित्र है कि उसका संचालन करते हुए मनुष्यका दम घुट जाता है । परंतु ईश्वरकी मायासे दुःखमें सुख-बुद्धि हो गयी है, इसलिये झंझट भी सुखरूप दीख पड़ता है । उदाहरणार्थ—एक गृहस्थ जब बहिनको खुश करने जाता है तो भाभी नाराज हो जाती हैं और जब भाभीको रिझाने जाता है, तब माता क्रोधसे भर जाती है, माताको प्रसन्न करनेमें लगता है तो स्त्री रिसा जाती है और स्त्रीको मनाने जाता है तो पिता कहते हैं कि लड़का स्त्रैण हो गया । इस प्रकार संसार

निभानेमें बहुत कड़वी घूँट पीनी पड़ती है और वह भी मुँह बंद करके तथा हँसते-हँसते। फिर गृहस्थीको चलानेके लिये धन भी कमाना चाहिये। इसके लिये एड़ी-चोटीका पसीना एक करना पड़ता है तथा ऐसा करते हुए भी किसी भाग्यशालीको ही वर्षके अन्तमें आमद-खर्चका आँकड़ा समान पड़ता है। वह तो परम भाग्यशाली कहलाता है, जिसको 'श्रीरोकड़ बाकी' लिखनेका मौका मिलता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जबतक अन्तःकरणमें भोगवासना भरी है, तबतक ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती। यह बात हमारे गुरुजी बहुत ही सरल युक्तिसे समझाते हैं, यह देखने योग्य है।

वे कहते हैं कि एक मनुष्यके पास एक ही बर्तन है और उसमें उसने छाछ डाल रक्खी है। संध्याको ग्वाला गाय दुहने आता है और बर्तन माँगता है। अब उस मनुष्यको छाछ भी रखनी है और गाय भी दुहवानी है। पर बर्तन एक ही है फिर क्या किया जाय? छाछ रखकर उसी बर्तनमें गाय दुहवाये तो दूध बिगड़ जायगा और यों छाछ भी चली जायगी तथा दूध भी चला जायगा। इसलिये यदि उस आदमीको दूध ही आवश्यक है तो छाछका मोह छोड़ना चाहिये। भाव यह है कि दूधरूपी ईश्वरकी प्राप्ति करनी हो तो संसारके सुखकी इच्छारूपी छाछका पूर्णतया त्याग करना चाहिये; क्योंकि उस बर्तनमें यदि छाछका स्पर्श भी हो जायगा तो दूध दूधरूपमें नहीं रह सकेगा। संसारके अधिकांश मनुष्य इसी प्रकारके होते हैं और ईश्वर-प्राप्ति कठिन है—ऐसा व्यर्थ ही शोर मचाते रहते हैं।

इसी बातको भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बहुत ही सरस रीतिसे समझाते हुए कहा है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

भगवान् कहते हैं कि जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें भोग-वासना है, तबतक वह जन्म-मरणके चक्रमें घूमा ही करता है। परंतु पूर्वपुण्यके प्रतापसे तथा इस जीवनमें सदाचारके सेवनसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वही मनुष्य मेरा भजन करके मुझको प्राप्त करता है। यहाँ भी भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि भोग-वासनाओंसे दूषित अन्तःकरण जन्म-मरण प्रदान करता है, और विशुद्ध यानी वासनारहित अन्तःकरणसे मनुष्यको मेरी प्राप्ति होती है।

यही बात श्रुति भगवती इस प्रकार कहती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठ०)

अर्थात् जबतक मनुष्यने अपने अन्तःकरणको निर्मल नहीं किया, जबतक उसका चित्त शान्त न हुआ और जबतक मन भोगकी इच्छाओंका ही चिन्तन करता रहता है, तबतक केवल पुस्तकें बाँचनेसे या चर्चा करनेसे ही ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरणको विषय-प्राप्तिकी इच्छासे मुक्त किये बिना ईश्वर-प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

इससे यह सिद्ध हो गया कि अधिकारीके लिये अर्थात् जिसमें तीव्र इच्छा है और इसलिये जिसने भोग-वासना मात्रका त्याग करके अन्तःकरणको विशुद्ध बना लिया है, इस प्रकारके अधिकारीके लिये ईश्वर-प्राप्ति अति सुलभ है। परंतु जिसने यह अधिकार प्राप्त नहीं किया, अर्थात् जो वासनाओंका त्याग नहीं कर सकते, ऐसे अधिकारीके लिये ईश्वर-प्राप्ति केवल दुर्लभ ही नहीं, बल्कि असम्भव है।

श्रीबोधसारमें ठीक ही लिखा है—

वाङ्मयं खं हि सर्वत्र वाचा मूकस्य दुर्लभम्।
चिन्मयं ब्रह्म सर्वत्र विद्याहीनस्य दुर्लभम्॥

तात्पर्य यह है कि शब्द गुणवाला आकाश तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; तथापि गूँगा मनुष्य एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता। उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप ब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, तथापि अधिकार बिना उसका अनुभव—साक्षात्कार नहीं होता।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर प्रणामपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) शरीर आदिसे आत्मा अलग होते हुए भी मनुष्यने यह स्वीकार कर लिया है कि मैं शरीर हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं भिखारी हूँ, मैं लड़का हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ इत्यादि । इसी कारण यह शरीरके सुख-दु:खसे सुखी-दुखी होता रहता है । जब मनुष्य विवेकसे यह समझ ले कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; अत: न तो यह शरीर मैं हूँ और न यह मेरा ही है ।' फिर इसके सुख-दु:खका इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । शरीरसे अपनेको अलग समझनेका सरल उपाय उसके द्वारा किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा या कामना न करना है, जो कि विचार या विश्वासपूर्वक सहजमें ही हो सकता है ।

(२) समस्त प्राणियोंमें परमात्मा तो एक है । वह कहीं जाता-आता भी नहीं । सर्वत्र समभावसे व्याप्त है, पर जीव एक नहीं है, अनेक है । उसका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें और लोकान्तरमें जाना-आना सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे होता है ।

(३) ध्यानकी बातें तत्त्वचिन्तामणिमें अनेक प्रकारसे लिखी हैं, अपनी रुचिके अनुसार पढ़ लें; पत्रमें कहाँतक लिखी जायँ ।

(४) जो कुछ दीखता है, वह उस रूपमें नहीं है—यह तो प्रत्यक्ष है, इसे तो सभी मानते हैं; क्योंकि दृश्यमात्रका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, वह कभी भी एक रूपमें नहीं रहता । आप विचार करें—इन्द्रियोंसे जो कुछ दिखायी देता है, क्या बुद्धिसे उसकी अनित्यता प्रतीत नहीं होती ? यदि दिखायी देती है तो हमें बुद्धिके ज्ञानका आदर करके यह क्यों नहीं मान लेना चाहिये कि इस विनाशशील दृश्यसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । यह तीन कालमें है या नहीं—यह निर्णय करनेके झंझटमें न पड़कर साधकको चाहिये कि इससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, जिसका सम्बन्ध नहीं रहेगा, उसपर इसका कोई प्रभाव नहीं रहेगा ।

× × ×

(२)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए । आपका पत्र पढ़नेमें और उत्तर देनेमें यदि मैं तकलीफ मानूँ तो यह मेरी कमजोरी है । वास्तवमें तो जो कुछ मनुष्यको मिला है, सब उसी विश्वेश्वरका है । उसे जगज्जनार्दनकी सेवामें लगा देना ही उसका कर्तव्य है । उसमें तो आनन्द ही होना चाहिये ।

आपकी आयु तेइस वर्षकी है और आपके माता-पिता आपका विवाह करना चाहते हैं तो उनकी प्रसन्नताके लिये एवं जिस वासनाको विचारद्वारा न मिटाया जा सके, उसे नियमित भोगद्वारा उसके परिणामका दर्शन करके मिटानेके लिये भी विवाह करना अच्छा है ।

आपका इरादा मोक्ष पानेका है—यह बड़ी अच्छी बात है, पर मोक्ष पानेका उपाय घर छोड़ना है, यह समझना गलत है । यदि घर छोड़नेसे मोक्ष मिलता होता तो आजकलके साधु-समाजको क्यों नहीं मिल जाता ?

सद्गुरुकी शरणमें जाना बड़ा अच्छा है, पर पहले

सद्गुरुकी पहिचान कैसे हो ? अतः साधकको चाहिये कि वह जिस परिस्थितिमें है वहीं रहकर अपने विवेकका आदर करे और विवेकसे जो कुछ प्राप्त है, उसका विवेकपूर्वक सदुपयोग करे । प्राप्त शक्ति, योग्यता और वस्तुओंको सब समुदायके हितमें लगाते रहना, बदलेमें उनसे कुछ न लेना, उनसे किसी प्रकारके सुखभोगकी आशा न करना, यही प्राप्तका सदुपयोग है । आपने अबतक जगत्से जो कुछ लिया है, उसे वापिस लौटाकर जगत्से उऋण होइये । उससे पहले घर छोड़नेकी बात सोचना कैसे उचित हो सकता है ? बन्धनसे छूटनेका नाम मोक्ष है । किसीका देनेदार रहकर मनुष्य मुक्त कैसे हो सकता है ? गम्भीरतासे विचार करें ।

आपने लिखा कि संसार बहुत विकारयुक्त लगता है, पर साथ ही आपका शरीर, जो संसारका ही एक हिस्सा है, वह विकारवान् क्यों नहीं लगता ? उसे अपना स्वरूप मानते हुए या अपना मानते हुए आप संसारका त्याग कैसे कर सकेंगे ?

यदि संसारमें रहते हुए होनेवाले साधन कष्टकर हैं तो क्या मनुष्य संसारसे बाहर हो सकता है ? वह संसारसे बाहर कहाँ जायगा ? जहाँ जायगा वहीं उसके साथ संसार रहेगा । अतः किसी प्रकारके सुखके लोभमें पड़कर या मानसिक कष्टके भयसे घर छोड़ा जाय तो उसे कभी साधनमें सुगमता नहीं मिल सकती । जबतक मनुष्य किसी भी परिस्थिति, व्यक्ति या अवस्थासे सुखभोगकी आशा रखता है, वह पराधीन ही बना रहता है । पराधीनतामें कहीं भी सुख नहीं है ।

भगवान्का चिन्तन तो उनके प्रेमसे होता है । प्रेम उनके साथ सम्बन्ध होनेसे होता है । सम्बन्ध विश्वाससे होता है । अतः साधकको चाहिये कि एक भगवान्को छोड़कर किसीपर विश्वास न करे, किसीको अपना न माने और किसीमें आसक्त न हो,—इस प्रकार सब ओरसे प्रेम हटकर जब एकमात्र भगवान्में हो जायगा, तब अटल स्मरण अपने आप होगा । इसके विपरीत जबतक किसी भी व्यक्तिमें मोह रहेगा, वह चाहे कुटुम्बवाला हो, चाहे साधु-वेषधारी हो, भगवान्का अटल चिन्तन नहीं हो सकेगा । औरकी तो कौन कहे, अपने शरीरमें मोह रहते हुए भी अटल भगवच्चिन्तन नहीं हो सकता । घर और कुटुम्बीजनोंमें मोह और आसक्तिका त्याग करना ही साधन है । उनकी सेवाका त्याग करके उनसे अलग हो जाना साधन नहीं है ।

आपने लिखा कि 'कुटुम्बमें मानस-दुःख बहुत है, इससे मन ठीक नहीं रहता ।' इसपर विचार करना चाहिये कि इसका कारण क्या है ? विचार करनेपर पता चलेगा कि दुःखका कारण दूसरा कोई नहीं है । दुःख अपना माना हुआ है । अतः साधकको चाहिये कि कुटुम्बको साधन-सामग्री समझे । भगवान्के नाते सबके मनकी हितपूर्ण बात पूर्ण करता रहे, उनसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशाका सर्वथा त्याग कर दे, उनपर अपना कोई अधिकार न माने और उनके अधिकारकी रक्षा करता रहे ।

ऐसा करनेसे मन शुद्ध हो जायगा । हृदयमें शान्ति उमड़ पड़ेगी । सब प्रकारकी कठिनाइयाँ उस प्रभुकी कृपासे अपने-आप मिट जायँगी । समझना चाहिये कि अधिकार-लालसा और दूसरोंसे सुखकी आशा ही कुटुम्बको दुःखदायी बनाती है ।

जिसके द्वारा घरमें रहकर साधन नहीं हो सकता, वह घर छोड़कर साधन कर सकेगा, यह समझना भूल है । आसक्ति और स्वार्थका त्याग ही साधनकी नींव है, जो हरेक परिस्थितिमें किया जा सकता है । जो साधक अपने साधनके लिये उन वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिकी आशा करता है, जो उसे अपने-आप प्राप्त नहीं है, वह अपने अमूल्य मनुष्य-जीवनका समय व्यर्थ खो रहा है । साधकको यही चाहिये कि भगवान्के

कृपासे उसे वर्तमानमें जो कुछ प्राप्त है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करके सब प्रकारकी कामनासे रहित हो जाय और एकमात्र प्रभु-प्रेम प्राप्त करनेके लिये लालायित हो उठे ।

आपने लिखा कि 'मेरे त्यागसे घरवालोंको कोई हर्ज नहीं होगा'—इसपर गम्भीरतासे विचार करें । त्याग क्या है ? घर छोड़ देनेका नाम त्याग नहीं है । आसक्ति और स्वार्थका त्याग ही वास्तविक त्याग है ।

माता-पिताकी सेवा करनेवाले तीन भाई और हैं, यह ठीक है, पर वे जो सेवा करेंगे, उससे तो उनके कर्तव्यका पालन होगा, आपका नहीं । उससे आप उनके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकेंगे, अपितु आपके वियोगसे जो माता-पिताको मोहवश शोक होगा, उस दोषके भागी आप बनेंगे ।

'विवाह करके आप उनके लिये बोझा बनेंगे, उनको आर्थिक दुःख होगा'—यह मानना भी आपकी भूल है । अपना बोझा आप उनपर क्यों डालना चाहते हैं, जब कि उन्होंने आपको समर्थ बना दिया है । अब तो उनकी भी आर्थिक सहायता करना आपका फर्ज हो गया है न कि उनसे सहायता लेना । लेनेका नाम सेवा नहीं है ।

यह सर्वथा सत्य है कि मनुष्य-जीवन आत्मकल्याणके लिये है । अतः उसके लिये प्रभुके चरण-कमलोंमें मन लगाना परम आवश्यक है । सद्गुरुकी शरण लेना भी बड़ा अच्छा है, पर यह भी समझना परम आवश्यक है कि हाड़-मांसका शरीर सद्गुरु नहीं है । महापुरुषोंका जो दिव्य-ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है । किसी व्यक्तिके शरीरको गुरु मानकर उसमें मोह करनेसे तो साधनमें उलटा विघ्न हो जाता है । अतः साधकको चाहिये कि जिसपर उसकी श्रद्धा हो, उसके दिव्य-ज्ञानका आश्रय ले । ऐसा सद्गुरु यदि प्रत्यक्षमें दिखलायी न दे तो पूर्वमें होनेवाले महापुरुषोंके दिव्य-ज्ञानका आश्रय लेकर या प्रभुका आश्रय लेकर साधनपरायण हो जाय ।

इस कार्यके लिये विलम्ब करना आवश्यक नहीं है, न कोई सोचनेकी ही बात है । जहाँ और जिस परिस्थितिमें आप हैं, वहीं तत्काल साधन आरम्भ कर दीजिये । माया-जाल कहीं बाहरसे नहीं आया है, आपका ही बनाया हुआ है । अतः इससे निकलनेमें आप सर्वथा समर्थ हैं; क्योंकि इसके लिये आप जो कुछ कर सकते हैं; उससे अधिककी जरूरत नहीं है । तथा अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिकी भी आवश्यकता नहीं है । अभी जो अपने विवेकका अनादर और प्राप्त शक्ति और समयका दुरुपयोग कर रहे हैं, उसका त्याग करना है और उनका सदुपयोग करना है, जो कि बड़ी ही सुगमतासे किया जा सकता है ।

आश्चर्य तो इस बातका है कि आप मुझसे परामर्श भी करना चाहते हैं और उत्तर भी अपने ही मनका चाहते हैं, पर मुझे उसमें आपका हित प्रतीत न होता हो, तब मैं वह सम्मति कैसे दूँ । आप सब बातोंपर गम्भीरतासे विचार करें, उसके बाद आपको जो उचित जान पड़े सो करें ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आपको मालूम होना चाहिये कि मैं स्वामी नहीं, एक साधारण गृहस्थाश्रमी मनुष्य हूँ । जातिका भी वैश्य हूँ ।

× × ×

आप सत्सङ्गके लिये यहाँ आना चाहते हैं, यह अच्छी बात है । माता-पिताको राजी करके उनकी आज्ञा लेकर ही आना चाहिये । सत्सङ्गकी चाह भी सत्सङ्गका फल दे दिया करती है; क्योंकि वास्तवमें चाह ही प्रधान है ।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१) सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना, स्त्रीका सङ्ग मन, इन्द्रिय और शरीरसे न करना, स्त्रियोंमें आसक्त

पुरुषोंका भी सङ्ग न करना, उनमें रुचि उत्पन्न करनेवाले साहित्यको न पढ़ना, वीर्यनाशसे होनेवाली हानियोंको समझना—ये सभी ब्रह्मचर्य-रक्षाके साधन हैं।

(२) किसी भी प्राणीको अपने सुखभोगके लिये किसी प्रकारका कष्ट न देना, किसीका बुरा न चाहना, किसीके दोषोंको न देखना, न कहना और न चिन्तन ही करना, किसीपर क्रोध न करना, किसीको गाली न देना, किसीको चोट न पहुँचाना—ये सभी अहिंसाके साधन हैं।

(३) किसी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिमें ममता न करके अर्थात् उन सबको अपना और पराया न मानकर सबको भगवान्का मान लेनेसे राग-द्वेषका नाश हो जानेपर सुख-दुःखमें समता आ सकती है।

(४) परमात्माका तत्त्व समझ लेनेसे या इस बातपर दृढ़ विश्वास होनेसे सर्वत्र परमात्माका दर्शन हो सकता है। प्रेम होनेपर सर्वत्र प्रेमास्पदके दर्शन होने लग जाते हैं।

(५) मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरसे सम्बन्ध टूटकर जब पुरुष अकेला रह जाता है, तब उस स्वरूप-स्थितिको ही 'कैवल्य' कहते हैं।

(६) जंगलमें रहनेसे ही एकान्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ भी असंख्य जातिके प्राणी निवास करते हैं। वास्तवमें एकान्त तो वही है, जिस स्थितिमें साधक सबसे रागरहित होकर एकमात्र प्रभुसे ही घुला-मिला रहता है।

(७) समस्त भोग-सामग्रीके संग्रहके त्यागको अपरिग्रह कहा है। अतः किसी भी भोग्य वस्तु और व्यक्तिको अपना न मानना और उनसे अनासक्त रहना ही अपरिग्रहका सरल साधन है।

(८) कोई भी वस्तु इच्छासे नहीं मिलती—इस तत्त्वको समझकर इच्छारहित हो जाना ही संतोषी बननेका सरल और सुगम उपाय है। इच्छारहित मनुष्य ही संतोषी हो सकता है और वही सुखी हो सकता है।

(९) भगवान्में प्रीति होनेका वास्तविक और सहज उपाय यही माळूम होता है कि साधकको जहाँ-जहाँ भगवान्से भिन्न किसी दूसरेमें प्रीति माळूम हो, वहाँ-वहाँसे प्रीति उठा ले, जिसके साथ जो सम्बन्ध मूढ़तासे स्वीकार कर लिया है, उसे छोड़कर एकमात्र भगवान्को ही संदेहरहित विश्वासपूर्वक अपना मानकर प्रेम करे।

(१०) निद्राका सदुपयोग करनेसे अर्थात् थकावट दूर करके क्रियाशक्ति प्राप्त करनेके लिये जितने समय विश्राम करना आवश्यक हो, उससे अधिक न सोनेसे और आवश्यक समयपर निश्चिन्त होकर सो जानेसे अनावश्यक निद्राका त्याग अपने-आप हो जाता है।

(११) मनको वशमें करना मनोदण्ड है। इसीको शम कहते हैं। वाणी आदि इन्द्रियोंको वशमें कर लेना ही वाग्दण्ड है, इसीको दम कहते हैं। शरीरकी व्यर्थ चेष्टाओंका त्याग ही कर्मदण्ड है।

(१२) भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेसे, उनके गुण और महिमाका ज्ञान होनेसे और संसारका ध्यान छोड़ देनेसे भगवान्का ध्यान सुगमतासे हो सकता है।

(१३) भगवान्के नाम, गुण, लीला, तत्त्व एवं प्रभावकी बातोंको विश्वास और प्रेमपूर्वक सुनना ही श्रवण है एवं उनका वर्णन करना ही कीर्तन है। भगवान्से सम्बन्ध होनेसे ये साधन सुगम हो जाते हैं।

(१४) स्त्री, पुत्र, गृह एवं सम्पत्ति आदिको अपना न मानना और ये सब उसीके हैं, जिसका समस्त विश्व है, यह मान लेना ही भगवान्के सर्वस्व अर्पण करना है। इनके साथ-साथ स्वयं अपनेको भी भगवान्का मानकर समर्पित हो जाना चाहिये। इसीमें साधकका कल्याण है।

(१५) भगवान्‌में प्रेम होनेसे उनके भक्तोंमें प्रेम होना स्वाभाविक है ।

(१६) सबको भगवान्‌का मानकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उन्हींकी कृपासे मिले हुए विवेकसे, उन्हींसे प्राप्त हुए पदार्थ और सामर्थ्यके द्वारा सबको सुख पहुँचाना, माता-पिता और वृद्ध पुरुषोंका हमपर जो अधिकार है, उसको पूरा कर देना, उनसे बदलेमें कुछ नहीं चाहना—ऐसा करनेसे भगवान्‌के भक्तोंकी, वृद्धोंकी और भगवान्‌की—सबकी सेवा बड़ी ही सुगमतासे की जा सकती है ।

(४)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए । आपके कार्डोंका उत्तर पत्रद्वारा भी आपको दिया गया था । 'कल्याण'में तो आपके पत्रोंकी प्रतिलिपि पीछे छपी होगी; फिर आपको डाकसे उत्तर न मिलनेका कारण समझमें नहीं आया ।

पत्रोत्तर एक पक्षके भीतर देनेके लिये लिखा, सो मेरे सामने परिस्थिति ही कुछ ऐसी है कि मैं पत्रोंका उत्तर यथासमय इतना शीघ्र नहीं दे पाता । काम बहुत अधिक रहते हैं, समय बहुत कम मिलता है । आँखोंकी ज्योति खराब हो जानेके कारण पत्र दूसरोंसे ही लिखवाने पड़ते हैं ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) साधकके जीवनमें वैराग्य तो होना ही चाहिये । जबतक सुखभोगकी लालसा है, उसके साधनोंमें राग है, तबतक संतोषजनक साधन कैसे बन सकेगा ? अतः बिना वैराग्यके सभी साधन अधूरे हैं—यह बात सर्वथा ठीक है । इसमें कोई विवाद नहीं है । संसारके भोगोंमें दुःख और अनित्य-बुद्धि करनेसे तथा प्राप्त विवेकका आदर करके प्राप्त वस्तुका सदुपयोग करनेसे बड़ी सुगमतासे वैराग्य हो सकता है एवं प्राप्तका दुरुपयोग न करके सदुपयोग करनेमें हरेक मनुष्य स्वतन्त्र है । इसमें कोई कठिनाई नहीं है । देहात्म-बुद्धि भी अविवेक-सिद्ध है । विवेकका आदर करनेपर सुख-दुःखसे अतीत परमात्माकी प्राप्तिकी लालसाका जाग्रत् हो जाना भी स्वाभाविक है । विचार करनेपर समाधान होनेमें क्या अड़चन है ?

(२) ईश्वर-विश्वास होनेका मुख्य कारण तो यह मालूम होता है कि जिनपर विश्वास नहीं करना चाहिये, जो विश्वासके पात्र नहीं हैं, जो नित्य नहीं हैं, परिवर्तनशील हैं, ऐसे बहुत-से पदार्थों, व्यक्तियों और परिस्थितियोंपर मनुष्यने विश्वास कर लिया है । उनसे सुखप्राप्तिकी आशा कर रक्खी है । उन्हींके साथ-साथ ईश्वरपर विश्वास करना चाहता है । यदि उन सबका विश्वास और माना हुआ सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र प्रभुपर विश्वास कर ले और उनसे ही सम्बन्ध जोड़ ले, उनको अपना मान ले तो सहजमें ही विश्वास दृढ़ हो सकता है ।

(३) परमात्माकी महिमा सुनी तो बहुत जाती है, पर जबतक उसे मनुष्य मान नहीं लेता, तबतक उस महिमाका जीवनपर असर नहीं पड़ता ।

(४) अभिनिवेशरूप क्लेश, जिसको मरण-भय भी कहा जा सकता है, उसका सर्वथा नाश भगवान्‌की कृपासे मिले हुए विवेकका आदर करके जब मनुष्य इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, इसके नाशसे मेरा नाश नहीं होता; मैं अजर-अमर हूँ'—तभी हो सकता है; या प्रभुपर सर्वतोभावसे निर्भर हो जानेपर हो सकता है, अन्यथा होना असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही ।

(५) 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' आदि प्रभु-महिमाको जान लेने या दृढ़ विश्वासपूर्वक मान लेनेपर अनवरत तैल-धारावत् भगवत्स्मरण न हो, ऐसी बात नहीं है । मनुष्य

केवल श्रवणको ही जान लिया मानकर इस प्रकारकी शङ्का करने लगता है।

अस स्वभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥
उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥

—ये तो विश्वास करनेकी बातें हैं। इनके लिये दिमागकी जरूरत नहीं, हृदयकी जरूरत है। इनपर दिमाग लगाकर व्यर्थ बुद्धिको परिश्रम देनेसे उसका क्षुब्ध और अशान्त होना निश्चित ही है।

लिखते-लिखते आँसुओंका न रुकना, कण्ठावरोध हो जाना भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका दर्शन है। इसमें साधकको किसी प्रकारकी अपनी विशेषताका अभिमान नहीं होना चाहिये।

मन, प्राण और शरीरको तो प्रभु-प्रेमके रूपमें ही सुख मिल सकता है। उसकी चिन्ता साधकको क्यों होनी चाहिये। वे सब जिसके हैं, वे स्वयं उनकी खबर रख सकते हैं।

(६) गोपी-प्रेममें और संतोंने जो प्रेमके लक्षण किये हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि गोपियोंको अपना शरीर और कुटुम्बी-जन या घरकी कोई भी वस्तु सुख-भोगके लिये आवश्यक नहीं थी। वे इन सबको भगवान्‌की ही समझकर उन्हींको आनन्द प्रदान करनेके लिये इनकी रक्षा और सेवा किया करती थीं। उनको प्राण-विछोहका डर कभी नहीं था।

(७) विश्वास न होनेका कारण दूसरे प्रश्नके उत्तरमें लिखा ही है। विश्वास ही साधनका प्राण है। बिना विश्वासके साधन टिक ही नहीं सकता।

(८) जप किया जाता है; इस कारण वह क्रियात्मक साधन है। जो मनसे चिन्तन या ध्यान मानसिक क्रियाके रूपमें साधक श्रमपूर्वक करता है, वह भी क्रियात्मक ही साधन है। इससे वह स्मरण, जो प्रभुसे श्रद्धापूर्वक सम्बन्ध हो जानेपर प्रेमपूर्वक होने लगता है, बहुत श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें क्रिया या श्र नहीं है। अतः वह निरन्तर हो सकता है। उसके बाद जो चिन्तन और ध्यान होता है, वह तो भगवान्‌की परम कृपाका प्राकट्य है।

अन्यमनस्क भगवन्नामका उच्चारण तो स्मरण नहीं है। इसमें कहना ही क्या है? उनके स्वरूपका ध्यान भी जो श्रमपूर्वक किया जाता है, वह भी वह स्मरण नहीं है, जो कि प्रेमसे अपने-आप स्वभावसे होनेवाला स्मरण है, जिसमें कर्तापनका भी भास नहीं है।

(९) भगवान्‌की लीला, कथा, धाम, नाम इनमेंसे किसी एकका भी स्मरण स्मरण कहा जा सकता है। यदि वह प्रेमवश अपने आप होता हो और उत्तरोत्तर प्रेममें नवीनता उत्पन्न करनेवाला हो।

(५)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) आपने 'कल्याण' के लेखका उदाहरण देकर श्वासद्वारा होनेवाले जपके विषयमें पूछा, सो उसमें जो कुछ लिखा है, वह ठीक है। पर सब साधकोंके लिये कोई एक ही युक्ति या एक ही प्रकार ठीक हो ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि हरेक साधककी योग्यता, विश्वास और रुचिमें भेद होता है। जिस साधनमें इन तीनोंकी एकता नहीं हो जाती, वह साधन साधकका जीवन नहीं बनता, उसमें परिश्रम मात्र होता है। इस कारण थकावट आती है और वह साधन तैलधारावत् निरन्तर नहीं हो सकता तथा साधनका अभिमान रहनेके कारण भी प्रभुकी महिमाका अनुभव और उनपर निर्भर होनेका भाव भी जाग्रत नहीं होता।

(२) जपके साथ स्मरणकी बड़ी आवश्यकता है। स्मरण और चिन्तन जो किया जाता है, वह

निरन्तर नहीं हो सकता, पर प्रभुपर दृढ़ विश्वासपूर्वक सम्बन्ध हो जानेपर, उनमें अपनापन हो जानेपर जो अपने-आप उनका मधुर स्मरण होता है, वही निरन्तर हो सकता है; क्योंकि उसमें अलौकिक रस है। उस रसका स्वाद मिल जानेके बाद साधक अपने प्रभुको भूलनेमें असमर्थ हो जाता है। व्रजगोपियाँ इसकी साक्षी हैं।

(३) आप यदि श्वासद्वारा जप करना चाहें तो उसमें संख्याकी गणना रखना मेरी समझमें आवश्यक नहीं है। संख्या तो उस जपकी रखनी चाहिये जो नियमित रूपमें करना हो। निरन्तर किये जानेवाले जप और स्मरणके लिये संख्याकी आवश्यकता नहीं है।

(४) श्वासद्वारा जप करनेवालेको जिह्वासे उपांशु जप करनेकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे मन स्थिर होना कठिन है। कारण, उसकी गति दोनों ओर होती रहती है।

(५) श्वास आते-जाते समय जो उसका कण्ठ-प्रदेशमें स्पर्श होता है, उसीके साथ जपकी भावना और उस नामके अर्थ-स्वरूप अपने इष्टका स्मरण अपने-आप होते रहना चाहिये। आप एक श्वासमें एक नाम या अनेक नाम जैसा सुगमतासे ले सकें, वैसा करनेसे बीचमें दूसरा संकल्प न हो, वही आपके लिये अच्छा होगा, यह मेरी राय है।

(६) संसारका कोई काम आपके जिम्मे नहीं रहा—यह प्रभुकी बड़ी भारी कृपा है। खाना-पीना, सोना-बैठना आदि जो कुछ शरीरसम्बन्धी काम बचे हों, उनको भी यदि आप अपना काम न मानें, भगवान्का काम समझकर उन्हींकी दी हुई सामर्थ्य और सामग्री-द्वारा उनकी प्रसन्नताके लिये करते रहें, प्रत्येक प्रवृत्तिमें ऐसा भाव रक्खें कि मेरेद्वारा इस कामको ठीक-ठीक होता देखकर भगवान्को इतनी प्रसन्नता होती है, जिसकी कोई हद नहीं है। इस भावसे भावित होकर हरसमय प्रभुके प्रेममें विभोर रह सकें तो यह बहुत ही उत्तम साधन है।

(७) आपकी दिनचर्यामें व्यर्थ समय न खोनेकी बात लिखी यह भी बड़ी अच्छी बात है। यदि समय व्यर्थ बातोंमें और व्यर्थ संकल्पोंमें न जाय तो फिर प्रभु-स्मरणके अतिरिक्त होगा ही क्या? निरन्तर स्मरण होनेमें कठिनता ही क्या रह गयी? यह विचारणीय है।

(८) आशीर्वाद देनेकी तो मुझमें सामर्थ्य नहीं है। यदि मेरे आशीर्वादसे किसीको भगवत्प्राप्ति हो सकती है, ऐसा मुझे विश्वास हो जाय तो जगत्में किसी भी प्राणीको मैं उससे वञ्चित न रहने दूँ। पर क्या किया जाय, मुझमें ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है।

(९) जो मनुष्य प्रभुकी कृपापर दृढ़ विश्वास करके उसके आश्रित हो जाता है, जिसके हृदयमें भगवत्प्राप्तिकी आवश्यकता जाग पड़ती है, भगवत्प्राप्तिके बिना जो चैनसे नहीं रह सकता, उसे भगवान्की प्राप्ति इस जन्मके थोड़ेसे समयमें ही हो सकती है, जीवन-समाप्ति तकका विलम्ब नहीं होता; क्योंकि भगवान् और साधकमें देश-कालका अन्तर नहीं है। वह सदैव साधकके पास विद्यमान है और उसके भावको देखता रहता है।

(६)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपकी इच्छा मुझसे मिलनेकी है, यह आपके प्रेमकी बात है। वास्तवमें मुझमें कोई विशेषता नहीं है। जहाँ कहीं जो कुछ विशेषता आपको प्रतीत होती हो, उसे प्रभुकी ही विशेषता समझकर उनके दर्शनकी अभिलाषाको प्रबल करना चाहिये, अन्य व्यक्तियों और वस्तुओंमें क्या रक्खा है?

आप 'हरे राम' मन्त्रका जप और एक अध्याय

गीताका नित्य-पाठ करते हैं—यह बड़ी अच्छी बात है। मन्त्र-जपके साथ-साथ जिनके वे नाम हैं, उनको भी गुण और प्रभावके सहित याद रक्खें और उन्हींको अपना समझें एवं गीता-पाठ करते समय यह समझनेकी कोशिश करें कि भगवान्ने क्या कहा है; उनके आज्ञानुसार मुझे अपने जीवनमें कौन-सा परिवर्तन करना है और मैं उस प्रकार अपना सुधार क्यों नहीं कर रहा हूँ। ऐसा करनेसे भगवान् शीघ्र मिल सकते हैं—ऐसी मेरी मान्यता है। भगवान्को प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा होनी चाहिये। जपकी संख्या न रक्खी जाय तो कोई हानि नहीं, पर हर समय प्रभुको याद रखना परम आवश्यक है। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवान्का होकर उनकी कृपासे उनका तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, सत्संग भी इसके लिये सहायक है।

(२) संसारकी असारता और अनित्यताको जानकर उसका सम्बन्ध त्याग देनेपर अर्थात् उसको अपना न माननेपर और उससे किसी प्रकारके सुख-भोगकी इच्छा न रखनेपर उससे अनायास ही वैराग्य हो जाता है एवं प्रभुको अपना मान लेनेपर, उनकी महिमापर दृढ़ विश्वास कर लेनेपर उनसे प्रेम भी अनायास हो सकता है।

(३) किसीको भी अपना मान लेनेका नाम ममता है। किसी भी सांसारिक वस्तु और व्यक्तिको सुखरूप मानकर जो उसमें प्रियता होती है, उसका नाम आसक्ति है। सांसारिक सुखकी इच्छाका त्याग करके प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालन-बुद्धिसे तथा कर्म करनेकी आसक्तिको मिटाकर कर्मोंका करना ही आसक्तिरहित होकर करना है।

(४) सब कुछ उसी अनन्तशक्तिसम्पन्न प्रभुसे ही प्रकट हुआ है। अतः जिस शरीरको एवं वस्तु और व्यक्तियोंको मैंने भूलसे अपना मान लिया है, वे वास्तवमें मेरे नहीं हैं। जिस परमात्माका यह विश्व है, उसीका यह सब कुछ भी है। अतः प्रभुकी कृपासे मिली हुई सामर्थ्य और सामग्रीको प्रभुकी प्रसन्नताके लिये प्रभुके काममें लगा देनेपर अर्थात् प्रभुकी प्रेरणासे उसका यथावश्यक उनकी सेवामें उपयोग करनेपर समस्त चेष्टा भगवान्के ही लिये अपने-आप होने लगती है; कोई कठिनाई नहीं रहती।

(५) भगवान्को याद रखना ही उनका स्मरण है। यही आगे चलकर चिन्तन और ध्यान बन जाता है। भगवान्पर श्रद्धा और उनके साथ अपनत्व होनेपर स्मरण और प्रेम बड़ी सुगमतासे हो सकते हैं।

(६) दूसरे प्रश्नके उत्तरमें लिखे अनुसार संसारका सम्बन्ध छोड़ना ही उसे दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रसे छेदन करना है एवं पहले प्रश्नके उत्तरमें लिखी हुई साधनासे उनकी खोज की जा सकती है।

(७) दूकानदारी करते समय यह भावना रक्खे कि प्रभुने मुझे जो सामर्थ्य और सामग्री प्रदान की है, एक दूकानदारका स्वाँग दिया है तो उनकी प्रसन्नताके लिये ग्राहकोंके रूपमें उनकी सेवा करना अर्थात् उनकी आवश्यकताकी पूर्ति प्रभुके आज्ञानुसार करते रहना ही मेरा काम है। उनकी दूकानको और इस शरीरको सुरक्षित रखनेके लिये एवं इसके सम्बन्धियोंका पालन-पोषण करनेके लिये जो उचित नफा लेना है, वह भी उन्हींकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी सेवा करना है। ऐसी भावनासे काम करनेपर कर्मयोगका साधन बड़ी सुगमतासे हो सकेगा।

'हरे राम' मन्त्रका जो रागरहित कीर्तनके रूपमें गाना है—यही उच्च स्वरसे जप करना है। इसमें आपने अर्थके विषयमें क्या पूछा, समझमें नहीं

आया। हरि, राम और कृष्ण—तीनों एक ही प्रभुके नाम हैं।

प्रभुकी स्मृतिसे ही हर समय सात्त्विक बुद्धि रह सकती है। सात्त्विकी बुद्धिके सम्बन्धमें एक लेख भाई हरिकृष्णका ३०वें वर्षके कल्याणके दूसरे अङ्कमें छपा है, उसे पढ़ सकते हैं।

दूसरे पत्रका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) 'कल्याण'-पढ़ना, हरे-रामका जप करना, गीता-पाठ करना बड़ा अच्छा है—इसमें दोष क्या हो सकता है। सुधारके लिये सब बातें प्रथम पत्रके उत्तरमें लिखी ही गयी हैं।

(२) अन्तःकरण-शुद्धिके लिये निम्नलिखित साधन संक्षेपमें हैं—

(क) न तो किसीका अहित (बुरा) करना, न चाहना और न किसीके अहितमें प्रसन्न ही होना।

(ख) निष्कामभाव अर्थात् किसीसे कुछ न चाहना, दूसरे किसीको भी दुःख-सुखका कारण नहीं मानना।

(ग) अपने स्वार्थका त्याग और कर्तव्यका पालन करना तथा दूसरोंके कर्तव्यकी ओर न देखना।

(घ) प्रभुका प्रेमपूर्वक स्मरण।

(ङ) किसीके दोषोंको न तो देखना, न सुनना, न कहना और न उनका चिन्तन ही करना।

(च) अपने दोषोंको सावधानीके साथ देखना, सुनना, उनसे दुखी होकर पुनः न करनेका दृढ़ संकल्प करके मिटा देना।

(छ) किसी प्रकारके भी गुणका अभिमान न करना, साधनको अपना जीवन मानना और भगवान्‌की कृपाका दर्शन करके उनके प्रेममें निमग्न होना।

(ज) अपने प्रतिकूल व्यवहार करनेवालेके अपराधको क्षमा कर देना अर्थात् उसका अपराध ही नहीं मानना, किसी प्रकार भी उसका बदला न चाहना एवं अपने द्वारा किसीके भी प्रतिकूल व्यवहार भूलसे भी हो जाय तो ज्ञान होते ही तत्काल उससे क्षमा माँग लेना। और भी बहुत-से उपाय हो सकते हैं। पत्रमें कहाँतक लिखा जा सकता है।

(३) प्रभुका आश्रय ले लेनेपर निरन्तर उनका स्मरण करनेपर वे स्वयं ही अज्ञानका नाश कर देते हैं तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके उपर्युक्त सभी साधन अज्ञानका नाश करनेवाले हैं।

(४) प्रभुकी कृपासे मिले हुए विवेकसे अपने दोषोंको देखकर उनको पुनः न करनेपर एवं दैवी-सम्पदाके महत्त्वको समझ लेने, मान लेने और सेवन करनेपर आसुरी सम्पदाका नाश और दैवी सम्पदाका संग्रह सहजमें हो सकता है।

(५) गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंके अध्ययनका वास्तविक फल उनका अर्थ और भाव समझकर उनके उपदेशानुसार अपना जीवन बनानेसे हो सकता है।

(६) भगवन्नामकी महिमापर विश्वास और नाममें या नामीमें श्रद्धा-प्रेम होनेपर अधिक जप और निरन्तर स्मरण हो सकता है।

(७) आसक्तिका ही दूसरा नाम राग है। यह अनुकूलतामें रहता है। इसके विपरीत जो प्रतिकूलतामें क्षोभ-वृत्ति होती है, उसे द्वेष कहते हैं। यह दुःखकी अनुभूतिके साथ रहता है। क्रोध और भय आदि इसके कार्य हैं।

(८) सत्त्वगुण बढ़नेपर रजोगुण और तमोगुण अपने आप क्षीण हो जाते हैं। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सत्त्वगुण बढ़ता है।

(९) प्रभुकी कृपासे मिले हुए विवेकसे संसारकी

वास्तविकताको जानकर कामको मिटाया जा सकता है।

(१०) श्रीरामकृष्ण परमहंस किस प्रकार जप करते थे, यह तो वे ही जानें। मैं कैसे बता सकता हूँ। उनकी जीवनी पढ़कर समझ सकें तो समझनेकी चेष्टा करें।

(११) राग-द्वेषका अभाव हो जानेपर जो अपने-परायेका भेद नष्ट होकर समभाव हो जाता है, उसे समत्व-बुद्धि कहते हैं। निष्कामभावका साधन ही इसको प्राप्त करनेका सरल उपाय है।

(१२) आपके लिये कौन-सा साधन उपयुक्त होगा—यह आप विचारपूर्वक समझनेकी चेष्टा करें। जिस साधनमें आपका अटल विश्वास हो, पूर्ण रुचि हो, जिसको आप प्राप्त परिस्थितिमें ही सुगमतासे कर सकें, जिसके करनेमें आप पराधीन न हों, दूसरोंका सहारा न लेना पड़े, वही साधन आपके लिये सर्वोत्तम है।

(७)

सादर हरिस्मरण। पत्र मिला। पहले पत्रमें भी आपने अपना पता नहीं लिखा था और इसमें भी नहीं लिखा, अतः उत्तर देनेमें कठिनाई है। हरेक पत्रका उत्तर 'कल्याण' में नहीं दिया जा सकता। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) सांसारिक दुःखकी निवृत्तिके निमित्त लिये हुए किसी नियमसे यदि माँ-बापको हार्दिक संताप या आर्थिक कष्ट हो तो उस नियमको बड़ी खुशीके साथ छोड़ देना चाहिये।

(२) गायत्री-मन्त्रका जप स्त्रियोंके लिये मना है।

(३) भागवतका अध्ययन स्त्रियाँ कर सकती हैं।

(४) प्रदोषका व्रत रजस्वला स्त्रियोंको छोड़ देना चाहिये। उसके अन्य नियमोंका पालन मनसे कर सकती हैं।

(५) आपत्तिकालमें स्त्री अपने चरित्रको सुरक्षित रखती हुई स्वावलम्बी बन सकती है।

(६) पुरुष विरक्त होकर घरसे निकल जाय तो स्त्रीको चाहिये कि साध्वी-धर्मके अनुसार सदाचारमें रहे, प्रभुमें अपना मन लगावे, सब प्रकारके विषय-भोगोंकी कामनाका त्याग कर दे और मन-इन्द्रियोंका संयम रखती हुई सबकी निर्दोष सेवा करे।

कामना

मैं जनप्रिय बन जाऊँ।
सबका मित्र, हितैषी सबका, सबका प्रिय बन जाऊँ॥
दुखियोंका दुखदर्द बँटा लूँ, उनका दुख घट जाए।
जिस उत्सवमें जाऊँ उसका सुख दुगना हो जाए॥
मेरा स्पर्श घावपर मलहम गुणकारी बन जाए।
मेरे दर्शनसे मित्रोंका हृदय-कमल खिल जाए॥
करूँ प्रार्थना सच्चे मनसे, दुख-दारिद्र्य मिटाऊँ।
अपने चारों ओर मैत्रीकी किरणें बिखराऊँ॥
सबका दुख मेरा हो जाए, मेरा सुख हो सबका।
सब मेरे अपने हो जायँ, मैं हो जाऊँ सबका॥
हर जनमें देखूँ अपनेको, मैं सबमें खो जाऊँ।
सबके सुखमें सुखी रहूँ मैं, सबका प्रिय बन जाऊँ॥

—मधुसूदन वाजपेयी

वैष्णव-सदाचार

(संख्या ४ पृष्ठ ८५८ से आगे)

बृहन्नारदीयपुराणमें आता है—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते ।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्वसंचितैः ॥

'भगवद्भक्तके सङ्गसे भक्ति उत्पन्न होती है और पुरुषको पूर्वसंचित पुण्योंके फलस्वरूपमें सत्सङ्गकी प्राप्ति होती है ।'

अतः श्रीभगवद्भक्तजनानां संगतिः सदा ।
कार्या सर्वैः प्रयत्नेन द्वौ लोकौ विजिगीषुभिः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'अतएव जो लोग इस लोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें श्रीभगवान्‌के भक्तोंकी सङ्गति सदा सम्पूर्ण प्रयत्नसे करनी चाहिये ।'

असत्सङ्ग-त्याग

शास्त्रका वचन है—

भगवद्भक्तिहीना ये मुख्यासंतस्त एव हि ।
तेतां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि ॥

'जो लोग भगवद्भक्तिसे विहीन हैं, वे ही मुख्यतः असंत हैं; वे यदि सच्चरित भी हों तो भी उनकी निष्ठा कभी शुभ नहीं हो सकती ।'

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति संक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु योषित्क्रीडामृगेषु च ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ॥

'जिनका सङ्ग करनेसे सत्य, शौच, दया, मौन (मननशीलता), सदसद्विवेक, लज्जा, श्री, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्यका नाश होता है, उन अशान्त, मूढ़, स्त्री-रति-लोलुप, लम्पट, शोचनीय, देहाभिमानी असाधु पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये ।'

श्रीभगवन्नाम

सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः ।
यथाभिरोचते नाम तत् सर्वार्थेषु कीर्तयेत् ॥
सर्वार्थसिद्धिमाप्नोति नाम्नामेकार्थता यतः ।
सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणो हरेः ॥

(विष्णुधर्मोत्तर०)

'सब प्रकारकी अभीष्ट-सिद्धि करनेमें समर्थ भगवान् देवदेव चक्रपाणिका जो भी नाम रुचता हो, सभी कार्योंके लिये उसका कीर्तन करना आवश्यक है । परब्रह्म श्रीहरिके सभी नाम एकार्थबोधक हैं; अतः सभी नामोंसे सम्पूर्ण अर्थोंकी सिद्धि होती है ।' आदिपुराणमें लिखा है—

नामैव परमा मुक्तिर्नामैव परमा गतिः ।
नामैव परमाराध्यो नामैव परमो गुरुः ॥

'नाम ही परम मुक्ति है, नाम ही परम गति है, नाम ही परम आराध्यदेव है और नाम ही परम गुरु है ।'

गोविन्देति तथा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः ।
दहते सर्वपापानि युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥

(स्कन्दपुराण)

'प्रलयकी अग्नि जैसे समस्त विश्वको भस्म कर देती है, वैसे ही भक्तिपूर्वक या बिना भक्तिके किया हुआ गोविन्द नामका उच्चारण समस्त पापोंको भस्म कर देता है ।'

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥

(श्रीमद्भागवत)

'पुत्रादिके संकेतसे हो, हँसी-दिल्लगीसे हो, गीतालापकी पूर्तिके लिये हो या अवज्ञापूर्वक हो, भगवान्‌का नामोच्चारण करते ही पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है ।'

नारायणमिति व्याजादुच्चार्य कलुषाश्रयः ।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'घोर पापी अजामिल भी जब पुत्रके बहाने नारायणका नाम लेकर भगवान्‌के धामको पहुँच गया, तब श्रद्धापूर्वक नाम लेनेका फल तो कौन बता सकता है ।'

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

'कलियुगमें केवल हरिनाम ही सार है, हरिनाम ही सार है, हरिनाम ही सार है; इस हरिनामको छोड़कर और कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ।'

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

(बृहद्विष्णुपुराण)

'पाप हरण करनेकी हरिनाममें जितनी शक्ति है, उतना पाप पापीजन कर ही नहीं सकते।' लघुभागवतामृतका वचन है—

वर्तमानं तु यत्पापं यद्भूतं यद् भविष्यति।
तत् सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्तनात्॥

'वर्तमान, भूत और भविष्यकी सारी पापराशि श्रीगोविन्दके नामसंकीर्तनरूपी अग्निके संस्पर्शसे शीघ्र ही भस्मीभूत हो जाती है।'

सर्वपापप्रशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्।
सर्वदुःखक्षयकरं हरिनामानुकीर्तनम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'श्रीहरिनामकीर्तन समस्त पापोंका नाश करता है; सारे उपद्रवोंको नष्ट कर देता है और सारे दुःखोंका क्षय कर देता है।'

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥

(स्कन्द० प्रभासखण्ड)

'हे भृगुवर! समस्त मधुर पदार्थोंमें अत्यन्त मधुर, सब मङ्गलोंके मङ्गल, समस्त वेद-शास्त्ररूपी लताका सुन्दर फल, चैतन्यस्वरूप, कृष्णनाम जिसने श्रद्धापूर्वक या अवज्ञासे ही एक बार भी कीर्तन कर लिया, उस मनुष्यका चाहे वह किसी भी वर्ण या जातिका क्यों न हो—उद्धार हो गया।' विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

जितं तेन जितं तेन जितं तेनेति निश्चितम्।
जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

'जिसकी जिह्वापर 'हरि' ये दो अक्षर विराजमान रहते हैं, उसने निश्चय ही भगवान्‌को वशीभूत कर लिया, वशीभूत कर लिया, वशीभूत कर लिया।'

लघुभागवतामृतमें लिखा है—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'हे राजन्! वे मनुष्य निश्चयपूर्वक भाग्यशाली हैं और कृतार्थ हो गये हैं, जो कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम स्मरण करते हैं और दूसरोंसे स्मरण कराते हैं।'

तथा—

जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम्॥

(नारदपुराण)

'जिसकी जीभके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर वास करते हैं, वह पुनरावृत्तिरहित श्रीविष्णुधाम वैकुण्ठको प्राप्त होता है।'

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते॥

(नारदपुराण)

'यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि श्रीहरिनामके रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर काटते हैं।'

हरिरिति सहसा ये संगृणन्तिच्छलेन
जननिजठरमार्गात्ते विमुक्ता हि मर्त्याः।
मम पटविलिपिं ते नो विशन्ति प्रवीणा
दिविचरवरसंघैस्ते नमस्या भवन्ति॥

यमराज कहते हैं—'जो मनुष्य किसी दूसरे बहानेसे भी अनायास 'हरि' नामका उच्चारण कर लेते हैं, वे माताके गर्भसे छुटकारा पा जाते हैं। वे चतुर मनुष्य मेरे पटलेखमें (मेरे यहाँ रहनेवालोंकी सूचीमें) नहीं आते और देवताओंके समुदाय भी उनको नमस्कार करते हैं।'

स्कन्दपुराणमें आया है—

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥

'जो कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!' कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ।'

जीवितं जन्म सफलं मुखं तस्यैव सार्थकम्।
सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति॥

'उसीका जन्म और जीवन सफल है तथा उसीका मुख सार्थक है, जिसकी जिह्वा सदा 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करती है।'

गोविन्द माधव मुकुन्द हरे मुरारे
शम्भो शिवेश शशिशेखर शूलपाणे।

दामोदराच्युत जनार्दन वासुदेव
त्याज्या भटा य इति संततमामनन्ति ॥

यमराज कहते हैं—'जो मनुष्य गोविन्द, माधव, मुकुन्द, हरि, मुरारि, शम्भु, शिव, ईश, चन्द्रशेखर, शूलपाणि, दामोदर, अच्युत, जनार्दन और वासुदेव इत्यादि नामोंका सदा उच्चारण करते रहते हैं, उनको दूरसे ही त्याग देना।'

गङ्गाधरान्धकरिपो हर नीलकण्ठ
वैकुण्ठ कैटभरिपो कमठाब्जपाणे।
भूतेश खण्डपरशो मृड चण्डिकेश
त्याज्या भटा य इति संततमामनन्ति ॥

'जो लोग सदा गङ्गाधर, अन्धकरिपु, हर, नीलकण्ठ, वैकुण्ठ, कैटभारि, कमठ (कच्छप), पद्मपाणि, भूतेश, खण्डपरशु, मृड, चण्डिकेश आदि नामोंका जप करते रहते हैं, वे तुम्हारे लिये सर्वथा त्याज्य हैं।'

विष्णो नृसिंह मधुसूदन चक्रपाणे
गौरीपते गिरिश शंकर चन्द्रचूड।
नारायणासुरनिबर्हण शार्ङ्गपाणे
त्याज्या भटा य इति संततमामनन्ति ॥

'विष्णु, नृसिंह, मधुसूदन, चक्रपाणि, गौरीपति, गिरिश, शङ्कर, चन्द्रचूड, नारायण, असुरनिकन्दन, शार्ङ्गपाणि इत्यादि नामोंका जो लोग सदा कीर्तन करते रहते हैं, उन्हें भी दूरसे ही त्याग देना उचित है।'

प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्।
तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं हरिनाम हरेदघम् ॥

'जैसे आगकी चिनगारी भूलसे भी छू जाय तो वह जला ही देती है, उसी प्रकार होठोंसे श्रीहरिनामका स्पर्श होते ही वह समस्त पापोंको हर लेता है।'

नामापराध और उसका निवारण

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमु सहते तद्विगर्हाम्।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः ॥
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं
तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि-
र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ॥
धर्मव्रतत्यागहुतादिसर्व-
शुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति
यश्चोपदेशः शिवनामापराधः ॥
श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितो नरः।
अहंममादिपरमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ॥
जाते नामापराधेऽपि प्रमादेन कथंचन।
सदा संकीर्तयेन्नाम तदेकशरणो भवेत् ॥

(पद्मपुराण)

(१) साधुओंकी निन्दा करनेसे नामका गुरुतर अपराध होता है; क्योंकि साधुओंके द्वारा प्रकटित नाम उन्हीं साधुओंकी निन्दा कैसे सह सकते हैं। (२) इस लोकमें जो मनुष्य शिव और विष्णुके नाम-गुण आदिमें बुद्धिसे भिन्नता देखता है, वह निश्चय ही हरिनामके सामने अपराधी है। (३) जो गुरुकी अवज्ञा करता है। (४) वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करता है, (५) हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना करता है, अर्थात् नामकी महिमाको सूचित करनेवाला अर्थ त्यागकर व्यर्थ ही अन्य प्रकारके अर्थकी कल्पना करता है (अथवा यह समझता है कि हरिनामके माहात्म्यका वर्णन स्तुतिवाद मात्र है, अतएव मिथ्या है), (६) नामके बलसे जो पापमें प्रवल होता है, अर्थात् यह समझकर पापमें रत रहता है कि नाम जपनेसे ये पाप दूर हो जायँगे, उसको चिरकालतक यम-यातना भोगनी पड़ती है। (७) जो धर्म, व्रत, दान, होम आदि शुभकर्मोंकी नामसे तुलना करता है। (८) श्रद्धा-विहीन तथा श्रवणविमुख व्यक्तिको उपदेश देता है, (९) जो नाम-माहात्म्य सुनकर भी उसमें श्रद्धा-भक्ति नहीं रखता तथा (१०) जो 'मैं और मेरा' के चक्करमें—विषयभोगोंमें आसक्त रहते हैं—ये सभी नामापराधी हैं। किसी प्रकारसे भी प्रमादवश नामापराध हो जानेपर एकमात्र भगवन्नाम-संकीर्तनके ही शरणापन्न होना ठीक है। नामापराधका निवारण नाम-जप-कीर्तनसे ही होता है।

श्रीभागवत-कथा

अहो हरिकथा लोके पापघ्नी पुण्यदायिनी।
शृण्वतां ब्रुवतां चैव तद्भावानां विशेषतः ॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

'अहा! हरि-कथा इस संसारमें पापोंका नाश करनेवाली तथा पुण्य प्रदान करनेवाली है। हरिकथाके भावोंको सुनने

और कहनेका और भी विशेष फल होता है।' अन्यत्र भी कहा गया है—

तत्रैव गङ्गा यमुना च वेणी गोदावरी तत्र सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः॥

'जहाँ भगवान् अच्युत (श्रीकृष्ण)की ललित कथा होती है, वहीं गङ्गा, यमुना, त्रिवेणी, गोदावरी, सरस्वती आदि समस्त पवित्र तीर्थ निवास करते हैं।'

स्कन्दपुराणमें श्रीभगवान्‌का वचन है—

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम्।
मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम्॥

'जो मेरी कथा बाँचता है, मेरी कथा श्रवण करनेमें लीन रहता है तथा मेरी कथा सुनकर जिसका चित्त प्रसन्न होता है, ऐसे पुरुषको मैं कभी त्यागता नहीं।' साथ ही हरिकथासे विमुख होनेमें दोष भी पर्याप्त होता है—

न शृण्वन्ति न हृष्यन्ति वैष्णवीं प्राप्य ये कथाम्।
धनमायुर्यशो धर्मः संतानश्चैव नश्यति॥

(स्कन्दपुराण)

'जो मनुष्य श्रीविष्णुकी कथा होते हुए देखकर भी न सुनते हैं और न प्रसन्न होते हैं, उनका धन, आयु, यश, धर्म और संतति नष्ट हो जाती है।'

यत्र यत्र महीपाल वैष्णवी वर्तते कथा।
तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला॥

(स्कन्दपुराण)

'महीपाल! जैसे संतानवत्सला गौ बछड़ेके पीछे-पीछे दौड़ती है; वैसे ही श्रीहरि भी, जहाँ हरिकथा होती है, वहाँ दौड़े जाते हैं।'

नित्यं कृष्णकथा यस्य प्राणादपि गरीयसी।
न तस्य दुर्लभं किंचिदिहलोके परत्र च॥

(स्कन्दपुराण, द्वारका-माहात्म्य)

'श्रीकृष्ण-कथा जिसको नित्य प्राणोंसे भी अधिक प्रिय लगती है, उसके लिये इस लोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।'

श्रीभगवद्धर्म-कथा-जिज्ञासा

वैष्णवे वैष्णवं धर्मं यो ददाति द्विजोत्तम।
ससागरमहीदाने यत् फलं लभतेऽधिकम्॥

(स्कन्दपुराण)

'हे विप्रवर! जो वैष्णवको वैष्णवधर्मकी शिक्षा देता है, उसको समुद्रसहित पृथ्वीका दान करनेसे जो फल होता है, उसकी अपेक्षा भी अधिक फल होता है।' इसके विपरीत—

नाख्याति वैष्णवं धर्मं विष्णुभक्तस्य पृच्छतः।
कलौ भागवतो भूत्वा पुण्यं याति शताब्दिकम्॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'कलियुगमें यदि कोई विष्णुभक्त वैष्णव-धर्म-विषयक जिज्ञासा करता है और भगवद्भक्त होकर भी जो उसकी उपेक्षा करके धर्मोपदेश नहीं करता, उस पुरुषके सौ वर्षोंका अर्जित किया हुआ पुण्य क्षीण हो जाता है।'

नृत्य-गीत

गीतं वाद्यं च नृत्यं च नाट्यं विष्णुकथां मुने।
यः करोति स पुण्यात्मा त्रैलोक्योपरि संस्थितः॥

(स्कन्दपुराण)

'हे मुने! जो विष्णुकथाका अवलम्बन करके गीत, वाद्य, नृत्य और अभिनय करता है, वह पुण्यात्मा है और त्रिलोकीसे ऊपर विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है।'

चातुर्मास्य-व्रत

सनत्कुमार-संहिताका वचन है—

एकादश्यां तु गृह्णीयात् संक्रान्तौ कर्कटस्य तु।
आषाढ्यां वा नरो भक्त्या चातुर्मास्योदितं व्रतम्॥

'मनुष्यको भक्तिपूर्वक आषाढ़ शुक्ला एकादशी, पूर्णिमा या कर्क-संक्रान्तिके दिन नियमपूर्वक संकल्प करके चातुर्मास्य-व्रत ग्रहण करना चाहिये।'

संकल्पके समय यह प्रार्थना करे—

इदं व्रतं मया देव गृहीतं पुरतस्तव।
निर्विघ्नं सिद्धिमायातु प्रसादात् तव केशव॥
गृहीतेऽस्मिन् व्रते देव पञ्चत्वं यदि वा भवेत्।
तदा भवतु सम्पूर्णं प्रसादात् ते जनार्दन॥

'हे देव! हे केशव! तुम्हारे सामने यह चातुर्मास्य-व्रत मैंने ग्रहण किया है। तुम्हारी कृपासे यह निर्विघ्न पूरा हो। यदि इस व्रतके पूर्ण होनेसे पहले ही मेरी मृत्यु हो जाय तो हे जनार्दन! तुम्हारी कृपासे यह पूर्णताको प्राप्त हो।'

इस व्रतमें जप-होम, नाम-संकीर्तन, हरि-कथा-श्रवण-पठन, हरि-सेवा आदि अनुष्ठान नियमपूर्वक करने चाहिये। व्रतका विलासकी वस्तुओंका सेवन नहीं करना चाहिये और

अभक्ष्य-भोजन करना चाहिये। भूमिपर सोना चाहिये। इसके सिवा श्रावणमें शाक, भाद्रपदमें दधि और आश्विनमें दुग्ध वर्जित है।

अखिलकर्मार्पण

साधु वासाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया ।
तत्सर्वं भगवन् विष्णो गृहाणाराधनं परम् ॥

‘हे भगवन् ! हे विष्णो ! मैंने सत् या असत् जो कुछ कर्म किया है, उसको मेरी परम आराधनाके रूपमें स्वीकार कीजिये—इस प्रकार प्रतिदिन अखिल कर्मोंको श्रीभगवान्‌को अर्पण करे ।’

श्रीहरिनाम-महामन्त्र

श्रीराधातन्त्रमें लिखा है—

दशवर्षे तु सम्प्राप्ते द्वादशाभ्यन्तरे सुत ।
शृणुयाद्धरिनामानि षोडशानि पृथक् पृथक् ॥
हरिनाम विना पुत्र कर्णशुद्धिर्न जायते ।
द्वादशाभ्यन्तरे श्रुत्वा कर्णशुद्धिमवाप्नुयात् ॥

‘हे वत्स ! दस वर्षकी अवस्था प्राप्त होनेपर द्वादशवर्षकी आयुके भीतर पृथक्-पृथक् सोलह नामवाले हरिनाम-महामन्त्रको श्रवण करे । हे पुत्र ! हरिनाम श्रवण किये बिना कानोंकी शुद्धि नहीं होती, अतएव द्वादश वर्षकी अवस्थाके भीतर हरिनाम महामन्त्रको सुनकर कर्ण-शुद्धि प्राप्त करे । वह महामन्त्र इस प्रकार है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

कलियुगमें यही महामन्त्र तारकब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध है । इस महामन्त्रके ग्रहण करनेकी दो विधियाँ हैं—(१) जपके द्वारा तथा (२) कीर्तनके द्वारा । जपके द्वारा नाम ग्रहण करनेमें संख्या रखना आवश्यक होता है और उसमें प्रतिदिनकी जप-संख्याका एक नियम-पालन करना पड़ता है । जपके लिये मालाका होना भी आवश्यक है । कीर्तनके लिये नियमका कोई बन्धन नहीं है ।

वैष्णवमें जाति-बुद्धि-दोष

शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा ।
वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम् ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

‘भगवद्भक्त शूद्र हो, निषाद हो अथवा चाण्डाल ही क्यों न हो, उसको भागवतके रूपमें ही देखना उचित है । उसको जातिसामान्यके रूपमें देखकर (जो उसका) अपमान करता है, वह निश्चय ही नरकमें जाता है ।’

अष्टादशाक्षर-मन्त्रराज-माहात्म्य

गोपालतापनीय श्रुतिमें श्रीसनकादि मुनि श्रीब्रह्माजीसे पूछते हैं—(१) सर्वश्रेष्ठ देवता कौन है ? (२) मृत्यु किससे भय खाती है ? (३) किसको जान लेनेपर सब जाना जाता है ? (४) किससे यह संसार सृष्ट हुआ है ? श्रीब्रह्माजी उत्तरमें कहते हैं—(१) श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं; (२) मृत्यु गोविन्दसे भय खाती है, (३) गोपीजनवल्लभको जान लेनेपर सब जाना जाता है, (४) स्वाहाके द्वारा संसार सृष्ट होता है ।

मुनियोंने फिर पूछा—(१) कृष्ण कौन हैं ? (२) गोपीजनवल्लभ कौन हैं ? और (३) स्वाहा कौन है ?

श्रीब्रह्माजी बोले— (१) जो पापको कर्षण करते हैं वे ही कृष्ण हैं; (२) जो स्वर्ग,भूमि और वेदमें विदित हैं तथा जो इन सबको जानते हैं, वे गोविन्द हैं । (३) ‘गोपीजन’ शब्दका अर्थ है—सम्यक् विद्या या भगवद्विषयक ज्ञान; उसके वल्लभ या प्रेरक अर्थात् जिनकी कृपासे वह ज्ञान प्राप्त होता है, वे ही गोपीजनवल्लभ हैं । और (४) स्वाहा शब्दका अर्थ है माया । यह सब परब्रह्म है । जो इनका ध्यान करता है, कीर्तनादिद्वारा इनका आस्वादन करता है, भजन करता है, वह मुक्त हो जाता है । मुनियोंने फिर पूछा—(१) इनका रूप क्या है ? (२) इनका आस्वादन कैसा है ! तथा (३) इनका भजन किस प्रकार होता है ?

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—श्रीकृष्ण गोपवेषधारी हैं, नव-जलधर-श्याम हैं, नित्य-किशोर हैं, कल्पवृक्षके मूलमें अवस्थित हैं । श्रीकृष्णके प्रति भक्ति (भजन) का अर्थ है—इस लोक और परलोककी उपाधि अर्थात् भोगाभिलाषका परित्याग करके श्रीकृष्णमें ही मनको लगाना । ब्राह्मण श्रीकृष्णकी नाना प्रकारसे पूजा करते हैं और नित्यस्वरूप गोविन्दका ध्यान अनेक प्रकारसे करते हैं । गोपीजनवल्लभ ही सारे भुवनोंका पालन करते हैं, वे स्वाहाका आश्रय लेकर जगत्‌की सृष्टि करते हैं ।

जिस प्रकार वायु जगत्‌में प्रवेश करके प्रत्येक शरीरमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँच रूपोंमें विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण एक होकर भी जगत्‌के

हितार्थ अठारह अक्षरोंके इन पाँच पदोंमें विभक्त होकर (क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा) इस अष्टादशाक्षर मन्त्ररूपमें विराजते हैं । जो पुरुष श्रीगोविन्दके इस मन्त्रको प्रणवसे पुटित करके जपते हैं, गोविन्द उनको अपनी गोपालमूर्तिके दर्शन देते हैं ।

विष्णुसहस्रनाम-माहात्म्य

स्कन्दपुराणमें लिखा है—

श्लोकेनैकेन देवर्षे सहस्रनामकस्य यत् ।
पठितेन फलं प्रोक्तं न तत् क्रतुशतैरपि ॥
उक्त्वा नामसहस्रं तु नान्यो धर्मोऽस्ति कश्चन ।
कलौ प्राप्ते गुडाकेश सत्यमेतन्मयेरितम् ॥

'हे नारदजी ! श्रीविष्णुसहस्रनामके एक श्लोकका भी पाठ करनेसे जो पुण्यफल प्राप्त होता है, वह फल सैकड़ों यज्ञोंके द्वारा भी नहीं प्राप्त होता । और कलियुगमें सहस्रनामका पाठ कर लेनेपर तो कोई अन्य धर्म उसके समान फलप्रद नहीं रह जाता । हे गुडाकेश ! यह मैंने तुमसे सत्य ही कहा है ।' अतएव वैष्णवके लिये प्रतिदिन सहस्रनामका पाठ करना अत्यावश्यक है ।

श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्य

महाभारत तथा स्कन्दपुराणका वचन है—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयी यतः ।
सर्वधर्ममयी यस्मात् तस्मादेतां समभ्यसेत् ॥

अर्थात् गीता स्वयं पद्मनाभ भगवान् श्रीकृष्णके मुखपद्मसे निःसृत हुई है, इसलिये गीताका ही सुचारुरूपसे पाठ करनेकी आवश्यकता है; नाना प्रकारके अन्यान्य शास्त्रोंका प्रयोजन ही क्या है ? गीता सर्वशास्त्रमयी है, सर्वदेवमयी है तथा सर्वधर्ममयी है, अतएव गीताका ही सम्यक् अभ्यास करे ।

श्रीमद्भागवत माहात्म्य

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने ।
अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥
(स्कन्दपुराण)

'हे मुने ! जो मनुष्य प्रतिदिन यत्नपूर्वक भागवतके एक श्लोकका भी पाठ करता है, उसको अष्टादश पुराणोंके पाठका फल प्राप्त होता है ।'

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥

'भागवत-शास्त्र समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाला वेदरूपी कल्पवृक्षका मधुर फल है, जो शुकमुनिरूप तोतेके मुखसे निकलकर भूमण्डलपर अखण्डरूपसे गिरा हुआ है । अतएव हे रसिकजन ! हे रसविशेषकी भावनामें प्रवीणजन ! अमृतद्रवयुक्त इस रसमय फलका बारंबार आस्वादन करो।'

'यह श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदान्तका सार है, जो मनुष्य इसके रसामृतसे परितृप्त हैं, उनकी अन्यत्र कहीं भी रति नहीं होती ।' तथा—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥

'इस श्रीमद्भागवतको सुननेपर परमपुरुष श्रीकृष्णके प्रति भक्ति उत्पन्न होती है, जो मनुष्यके शोक, मोह और भयका नाश कर देती है ।'

वैष्णवशास्त्र-माहात्म्य

वैष्णवानि च शास्त्राणि ये श्रृण्वन्ति पठन्ति च ।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥
देवतानामृषीणां च योगिनामपि दुर्लभम् ।
विप्रेन्द्र वैष्णवं शास्त्रं मनुष्याणां च का कथा ॥
(स्कन्दपुराण)

'जो लोग वैष्णव शास्त्रोंका श्रवण तथा पाठ करते हैं, वे लोग इस संसारमें धन्य हैं । उनके ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं । हे विप्रेन्द्र ! वैष्णवशास्त्र देवताओं, ऋषियों और योगियोंके लिये भी दुर्लभ हैं, मनुष्योंकी तो बात ही क्या !' अतएव—

सर्वस्वेनापि विप्रेन्द्र कर्त्तव्यः शास्त्रसंग्रहः ।
वैष्णवैस्तु महाभक्त्या तुष्ट्यर्थं चक्रपाणिनः ॥

'हे नारदजी ! वैष्णवोंको भक्तिपूर्वक अपना सर्व

आकर भी चक्रपाणि श्रीकृष्णकी संतुष्टिके लिये वैष्णव-शास्त्रों-का संग्रह करना चाहिये ।'

श्रीभगवत्-शास्त्रवक्ताका माहात्म्य

स्कन्दपुराणमें श्रीभगवान् कहते हैं—

मम शास्त्रप्रवक्तारं मम शास्त्रानुचिन्तकम् ।
चिन्तयामि न संदेहो नरं तं चात्मवत् सदा ॥

'वैष्णवशास्त्रके प्रवक्ता तथा वैष्णवशास्त्रका चिन्तन करनेवाले पुरुषको मैं सदा आत्मवत् समझता हूँ।' अतएव—

भगवद्धर्मवक्तारं भगवच्छास्त्रवाचकम् ।
वैष्णवं गुरुवद् भक्त्या पूजयेज्ज्ञानदायकम् ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जो वैष्णवधर्मके व्याख्याता हैं तथा जो वैष्णवशास्त्रके वक्ता हैं, उन ज्ञान प्रदान करनेवाले वैष्णव भक्तको गुरुके समान भक्तिभावसे पूजना चाहिये ।'

श्रीमन्दिर-निर्माण-माहात्म्य

हयशीर्ष-पञ्चरात्रमें लिखा है—

देवागारं करोमीति मनसा यस्तु चिन्तयेत् ।
तस्य कायगतं पापं तदह्ना विप्र नश्यति ॥
कृते तु किं पुनस्तस्य प्रासादे विधिनैव तु ॥

'हे विप्र ! जो मनमें यह चिन्तनमात्र करता है कि मैं देवालय बनवाऊँगा, उसके शारीरिक पाप उसी दिन नष्ट हो जाते हैं और फिर विधिपूर्वक भगवन्मन्दिरका प्रासाद बनवानेपर जो फल होगा, उसकी तो बात ही क्या है ।'

भवेद् बहुविधं तच्च वेश्म तत्र स्वशक्तितः ।
शास्त्रानुसारतः कुर्यादेवं वासोचितं प्रभोः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'प्रासाद, मण्डप आदि भेदसे मन्दिर नाना प्रकारके होते हैं; अतएव अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार यथाशास्त्र प्रभुके निवासके योग्य मन्दिर बनवाना चाहिये ।'

जीर्ण-मन्दिर-संस्कार-माहात्म्य

श्रीविष्णुरहस्यमें लिखा है—

पतितस्य च यः कर्त्ता पतमानस्य रक्षिता ।
विष्णोरायतनस्येह स नरो विष्णुलोकभाक् ॥

'गिरे हुए देवालयका जो पुनः निर्माण करता है तथा गिरते हुए देवालयकी मरम्मत कराते हुए जो उसकी रक्षा करता है, वह मनुष्य विष्णुलोकको प्राप्त होता है ।'

शयन-विधि

ततोऽनुज्ञां प्रभोः प्रार्थ्य दण्डवत्तं प्रणम्य च ।
सायं भुक्त्वा यथान्यायं सुखं सुप्यात् प्रभुं स्मरन् ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'निशाकालीन सेवा-पूजा समाप्त करके, प्रभुसे अनुमतिकी प्रार्थना करके और उनको दण्डवत्-प्रणाम करके, यथायोग्य भोजन करके प्रभुको स्मरण करते हुए शयन करे ।' रक्षामन्त्र—

सबाह्याभ्यन्तरं देहमापादतलमस्तकम् ।
सर्वात्मा सर्वशक्तिश्च पातु मां गरुडध्वजः ॥
इति रक्षां पुरस्कृत्य स्वपेद् विष्णुमनुस्मरन् ॥

सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान्, गरुडध्वज भगवान् विष्णु आपादतलमस्तक मेरे समस्त शरीरकी बाहर और भीतर रक्षा करें—इस रक्षामन्त्रको पढ़कर विष्णुको स्मरण करता हुआ शयन करे और दुःस्वप्नके निवारणके लिये इस मन्त्रका पाठ करे—

रामं स्कन्दं हनूमन्तं वैनतेयं वृकोदरम् ।
शयने यः स्मरेन्नित्यं दुःस्वप्नस्तस्य नश्यति ॥

'शयन करते समय जो राम, स्कन्द, हनूमान, गरुड़ एवं भीमका स्मरण करता है, उसके दुःस्वप्नका नाश हो जाता है ।'

शरणागत-लक्षण

स्कन्दपुराणका वचन है—

गोविन्दं परमानन्दं मुकुन्दं मधुसूदनम् ।
त्यक्त्वान्यं वै न जानामि न भजामि स्मरामि न ॥
न नमामि न च स्तौमि न पश्यामि स्वचक्षुषा ।
न स्पृहामि न गायामि न वा यामि हरिं विना ॥

(स्कन्दपुराण)

'परमानन्दमय मुक्तिदाता मधुसूदन श्रीगोविन्दके सिवा मैं किसी दूसरेको नहीं जानता, न भजन करता, न स्मरण करता, न नमस्कार करता, न स्तुति करता; और न अपनी आँखों से देखता हूँ । हरिके बिना मैं न किसीकी स्पृहा करता हूँ, न गुणगान करता हूँ, न किसीके निकट जाता हूँ ।' शरणापन्न भक्तको श्रीगोविन्द सर्वमय, सर्वदेवमय दीखते हैं ।

चार धाम

(१) बदरिकाश्रम, (२) द्वारका, (३) पुरी और

(४) सेतुबन्ध रामेश्वर—इन चारों धामोंके दर्शन और परिक्रमा करना वैष्णवोंका कर्तव्य है ।

गोपूजन और गोग्रास

गावः प्रदक्षिणीकार्या वन्दनीया हि नित्यशः ।
मङ्गलायतनं दिव्याः सृष्टास्त्वेताः स्वयम्भुवा ॥
अप्यागाराणि विप्राणां देवतायतनानि च ।
यद्गोमयेन शुद्ध्यन्ति किं ब्रूमो ह्यधिकं ततः ॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च ।
गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत् ॥
गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

'गौओंकी परिक्रमा करनी चाहिये । वे सदा सबके लिये वन्दनीय हैं । गौएँ मङ्गलका स्थान हैं, दिव्य हैं । स्वयं ब्रह्माजीने इन्हें दिव्य गुणोंसे विभूषित बनाया है । जिनके गोबरसे ब्राह्मणोंके घर और देवताओंके मन्दिर भी शुद्ध होते हैं, उन गौओंसे बढ़कर अन्य किसको बतायें । गौओंका मूत्र, गोबर, दूध, दही और घी—ये पाँचों वस्तुएँ पवित्र हैं और सम्पूर्ण जगत्‌को पवित्र करती हैं । गायें मेरे आगे रहें, गायें मेरे पीछे रहें, गायें मेरे हृदयमें रहें और मैं गौओंके मध्यमें निवास करूँ ।'

जो प्रतिदिन तीनों संध्याओंके समय नियमपरायण एवं पवित्र होकर 'गावो मे चाग्रतो नित्यं' इत्यादि श्लोकका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और स्वर्गलोकमें जाता है ।

गोग्रासका मन्त्र

सौरभेयी जगत्पूज्या नित्यं विष्णुपदे स्थिता ।
सर्वदेवमयी ग्रासं मया दत्तं प्रतीच्छताम् ॥

'सुरभिकी पुत्री गोजाति सम्पूर्ण जगत्‌के लिये पूज्य है, वह सदा विष्णुपदमें स्थित है और सर्वदेवमयी है । मेरे दि हुए इस ग्रासको गोमाता ग्रहण करें ।'

गोपाष्टमी-व्रत

कार्तिक शुक्ला ८ के दिन गोपाष्टमीका व्रत करे । इसमें गौओंकी पूजा करना, गोग्रास देना, गौओंकी परिक्रमा करना, गौओंकी रक्षा करना और गोदान करना चाहिये । श्रीकृष्ण गो-सेवासे बहुत प्रसन्न होते हैं ।

श्रीगोवर्द्धन-पूजा और अन्नकूट-महोत्सव

श्रीकृष्णदासवर्योऽयं श्रीगोवर्द्धनभूधरः ।
शुक्लप्रतिपदि प्रातः कार्तिकेऽर्च्योऽत्र वैष्णवैः ॥
(स्कन्दपुराण)

'यह गिरि गोवर्द्धन श्रीकृष्णके दासोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव वैष्णवलोग कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाके प्रातःकाल इनकी पूजा करें ।'

गोवर्द्धन-पूजा-मन्त्र

गोवर्द्धन धराधार गोकुलत्राणकारक ।
विष्णुबाहुकृतोच्छ्राय गवां कोटिप्रदो भव ॥
(पद्मपुराण)

'हे गोवर्द्धन गिरि ! हे गोकुलका त्राण करनेवाले ! तुमको श्रीकृष्णने अपनी भुजाओंसे ऊपर उठाया था ! तु हमको कोटि-कोटि गौएँ प्रदान करो ।'

श्रीकृष्णाय नमः

* * *

भक्ति बिनु तन-मन मैलो

हरिकी भक्ति बिनु तन मन मैलो ।
जैसें बिनु लाद्यो बिनु जोत्यौ
गायनि माँझ फिरत खल बैलौ ॥
आपु न जानत कही न मानत,
अजहूँ गुरुहिन करत असैलो ।
अपुन बिगारि बिगारत औरनि,
ज्यौं जल-नायैं काचौ घैलौ ॥
जुग-जुग जनम-जनम याही तैं
अजहुँ न भरयौ बिषै कौ थैलौ ।
'व्यास' बचन मानै बिनु जानैं,
नरक परैगौ ऐलौ पैलौ ॥

—श्रीव्यासजी

महर्षि वशिष्ठकी गोदमें श्रीराम

(लेखक—पं० श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी)

बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई ।
जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई ॥
बाल बिनोद करत रघुराई ।
बिचरत अजिर जननि सुखदाई ॥

अभी भगवान् श्रीरामजी छोटे ही हैं । घरसे बाहर नहीं निकलते हैं । सारी बालक्रीडाएँ राजप्रासादके अंदर ही करते हैं, जिनको देख-देखकर माताएँ प्रसन्न होती रहती हैं । जिन लोगोंने भगवान्के दर्शन किये हैं, वे उनकी चर्चा अयोध्यानगरीमें जहाँ-तहाँ बैठकर करते हैं और कहते हैं कि ऐसा अनुपम बालक कभी किसीको देखनेको नहीं मिला है । माता कौसल्या कहती हैं कि 'अभी बालक छोटा है, महलसे बाहर कैसे ले जाया जाय । जब बड़ा होगा एवं शुभ मुहूर्त होगा तभी बालकको भवनसे बाहर निकाला जायगा ।' अयोध्याके नर-नारी, जो राजभवनमें जाने योग्य नहीं हैं, सभी लालायित हैं कि उस विश्वविमोहन मुनिमन-मोहन विश्वाराम रामका मुख कब देखनेको मिलेगा । जो—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

स्वयं गुरु वशिष्ठजी भी उस मनमोहन रामको देखनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा रखते हैं । वे जानते हैं कि आज ब्रह्माजी देख गये । कल श्रीभूतभावन कैलासपति शङ्करजी कागभुशुण्डिके साथ ज्योतिषीका रूप धारण कर अखिलभुवनाराम श्रीरामजीको गोदमें लेकर खिला गये । शङ्करजीने तो ऐसी चाल चली कि जिसके कारण रंगमहलसे महारानीजीकी ओरसे निमन्त्रण भेजा गया कि 'आओ और बालकका हाथ देखो ।' इस विनोदको श्रीगोस्वामीजीने इस प्रकार व्यक्त किया है—

अवध आजु आगमी एकु आयो ।
करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुतन्ह परिचौ पायो ॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो ।
सँग सिसु सिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥
पायँ पखारि, पूजि दियो आसन, असन बसन पहिरायो ।
मेले चरन चारु चार्‌यो सुत माथे हाथ दिवायो ॥
नख सिख बाल बिलोकि बिप्र तनु पुलक, नयन जल छायो ।
लै लै गोद कमल-कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो ॥
जनम प्रसंग कह्‌यो कौसिक मिस, सीय स्वयंबर गायो ।
राम, भरत, रिपुदवन, लखन को जय सुख सुजस सुनायो ॥
'तुलसिदास' रनिवास रहस बस, भयो सब को मन भायो ।
सनमान्यौ महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो ॥

(गीतावली, बालकाण्ड)

भगवान्की इस रूप-माधुरीको देखकर कैलासवासी भगवान् शङ्कर कैलासको छोड़कर अवधकी गलियोंमें विचरने लगे; क्योंकि नित्य तो बुलावा कठिन-सा था । एक दिन कहीं दाँव लग गया । नित्य-नित्य जानेसे इस चोरीका कहीं भेद न खुल जाय, मनमें यह शंका भी बनी रहती थी, इस कारण यह प्रतीक्षा थी कि कभी भी राजमहलसे बाहर निकलेंगे तो अवश्य दर्शन होगा । अब तो—

परमानंद प्रेम सुख फूले । बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥

कागभुशुण्डिजीने भी अपने निवासस्थान नीलगिरि पर्वतको त्यागकर पाँच वर्षके लिये अवधहीमें रहनेका संकल्प कर लिया 'बरष पाँच तहँ रहेउँ लुभाई' और अपनी निष्ठामें वे शङ्करजीसे भी आगे निकले । अब तो काग बनकर दशरथ-अजिर-विहारीकी आँगनकी नित-नयी क्रीडाएँ देखते थे, जिसके लिये स्वयं भुशुण्डिजी कहते हैं—

पीत झीनि झगुली तन सोही ।
किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी ।
नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी ॥

मोहि सन करहिं बिबिधि बिधि क्रीड़ा ।
बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं ।
चलउँ भागि तब पूप देखावहिं ॥

आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं ।
जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं ॥
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

महर्षि यह सब जानते थे कि बड़े-बड़े देवता, सिद्ध, साधक भगवान्के दर्शनके लिये नित्य अयोध्या आते हैं तथा किसी-न-किसी प्रकार भगवान्के दर्शन करके अपनेको कृतार्थ करते हैं । हाय ! मैं उस आनन्द-सिन्धुकी एक विन्दुमात्र झलक कैसे पाऊँ ? आजतक पुरोहिती कर्म, जो वेदों-शास्त्रोंद्वारा निन्दनीय है, केवल इसी एक अभिलाषासे कर रहा हूँ कि भगवान्के दर्शन होंगे, उन्हें अपनी गोदमें खिलाऊँगा । वे बालक्रीड़ाएँ जिस समय मेरे सम्मुख करेंगे, तब तो मैं अपनेको परम धन्य मानूँगा । यह सही है, जब वे बड़े होंगे तो विद्या पढ़ने मेरे पास ही आयेंगे, पर तब तो वे शिष्टाचार-सम्पन्न होंगे और वह सुख उस समय मुझे नहीं प्राप्त हो सकेगा, जो आज है । जब मैं राजसभामें बैठता हूँ और उस समय जब वे अपने आँगनमें नाचते हैं अथवा दौड़ते हैं, उस समय वह नूपुरकी ध्वनि मेरा चित्त अपनी ओर बरबस खींच लेती है । 'नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ।'

महर्षि वशिष्ठ, जिनकी प्रतिभामें मानसकारने लिखा है—

गुरु बिबेकसागर जगु जाना । जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ॥

ऐसे ज्ञानी वशिष्ठ जब संध्या, अग्निहोत्र, पूजा, वेदाध्ययन आदि, जो भी नित्यकर्म करते हैं, उनका ध्यान वहाँसे हटकर मनमोहन श्रीरामको गोदमें खेलानेके लिये करता है । वे यही सोचते हैं कि 'तुलसी अस बालक सों नहि नेह कहा जप जोग समाधि किए ।'

प्रभुने इस भावको जान लिया, वे तो भक्तवत्सल हैं । वे अपने प्रेमीको प्रसन्न करनेके लिये उसकी भावनाके अनुसार चलते हैं ।

राम सदा सेवक रुचि राखी । बेद पुरान साधु सुर साखी ॥

ऋषि नित्य प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्तमें सरयू-स्नान करके रास्तेमें वेदमन्त्रोंको गुनगुनाते हुए अपने आश्रमपर लौटते थे । वे कह ही रहे थे कि—

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं
लम्बोदरं सुन्दरं
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्ध-
मधुपव्यालोलगण्डस्थलम् ।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः
सिन्दूरशोभाकरं
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं
सिद्धिप्रदं कामदम् ॥

यह गणेश-वन्दना कर चुके, तब फिर उसी चितचोर बालकका ध्यान चित्तमें आ गया । अब वेदमन्त्रोंको भूलकर वे उसी बालकका स्मरण करते हुए कहते हैं—

प्रातः स्मरामि रघुनाथमुखारविन्दं
मन्दस्मितं मधुरभाषि विशालभालम् ।
कर्णावलम्बिचलकुण्डलशोभिगण्डं
कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम् ॥

अथवा—

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि
मंजु बनी मनिमाल हिएँ ।
नवनील कलेवर पीत झँगा
झलकैं पुलकैं नृप गोद लिएँ ॥
अरबिन्दु सो आनन रूप मरंदु
अनंदित लोचन-भृंग पिएँ ।
मन मो न बस्यौ अस बालकु जौं
'तुलसी' जगमें फल कौन जिएँ ॥
(कवितावली, बालकाण्ड)

अथवा—

वर दंत की पंगति कुंदकली,
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगै
छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर
कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करैं 'तुलसी'
बलि जाउँ लला इन बोलन की॥
(कवितावली, बालकाण्ड)

इधर प्रातःकाल हो रहा है, रामजी कुछ सो रहे हैं, कुछ जाग भी रहे हैं, उस समय उनके मुख-कमलकी शोभाको देखकर माता कौसल्या पुनः-पुनः कह रही हैं—

जागिए रघुनाथ कुँवर, पंछी बन बोले ॥
चंद-किरन सीतल भई, चकई पिय मिलन गई ,
त्रिबिध मंद चलत पवन पल्लवद्रुम डोले ॥ जागिए··
प्रात भानु प्रगट भयो रजनी को तिमिर गयो ,
भृंग करत गुंज गान कमलन दल खोले ॥ जागिए··
ब्रह्मादिक धरत ध्यान सुर-नर-मुनि करत गान ।
जागन की बेर भई नयन पलक खोले ॥ जागिए··
'तुलसिदास' अति अनंद निरखि के मुखारबिंद ।
दीनन को देत दान भूषन बहु मोले ॥ जागिए रघुनाथ··

रामजी उठ बैठे, माताजीने उन्हें हृदयमें लगा लिया। आज उठते ही रामजी रोने लगे तथा इतने मचल गये कि दूध भी पीना छोड़ दिया। माता कौसल्या घबरा गयी, रामजीको पालनेमें झुलाती है, गोदमें लेती है, तरह-तरहके खिलौने देती है, परंतु वे चुपकते नहीं हैं तथा रुदनकी गति तेजीसे बढ़ती ही जा रही है। अब तो महारानी कौसल्या नाना प्रकारकी मान-मनौती करने लगी, देवी-देवता मनाने लगी—

पूजीं ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा॥
जेहि बिधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू॥

माता देवी-देवता मना चुकी, बालकको घी-तेलकी तुलासे तौल चुकी, परंतु रामजीने रोना बंद नहीं किया। माता कौसल्या अपनी सखियोंसे कहती है—'क्या करूँ, न जाने किस दुष्टाकी बालकको नजर लग गयी, जो यह चुप होता ही नहीं। अब मेरे मनमें एक बात याद आ रही है कि जिन कुलगुरुकी कृपासे यह बालक पैदा हुआ, ऐसे समयपर उन्हींको बुलाना उचित होगा। जब वे अपने अमृतमय कर-कमलोंसे बालकका मस्तक स्पर्श करेंगे तभी यह रोना बंद करेगा।' इसी भावको लेते हुए कविकुल-कुमुद-सुधाकर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी 'गीतावली' में कहते हैं—

आजु अनरसे हैं, भोर के, पय पियत न नीके।
रहत न बैठे, ठाढ़े, पालने झुलावत हू,
रोवत राम मेरो, सो सोच सबही के॥ १॥
देव पितर, ग्रह पूजिए तुला तौलिए घी के।
तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसहि अरत जब
परत दृष्टि दुष्ट ती के॥ २॥
बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह
मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के॥ ३॥
जासु नाम सरबस सदा सिव पारबती के।
ताहि झरावति कौसिला, यह रीति
प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के॥ ४॥

महर्षि तो इसी प्रतीक्षामें थे ही। वे जान गये कि भगवान्‌ने स्वयं माया रची है। आज प्रभु मेरे लिये ही रो रहे हैं, वे तुरंत दौड़ते हुए आये और बालकके मस्तकपर अपना अमृतमय हाथ रख दिया।

माथे हाथ ऋषि जब दियो राम किलकन लागे।
महिमा समुझि, लीला बिलोकि गुरु
सजल नयन तनु पुलक, रोम रोम जागे॥ १॥
लिए गोद, धाए गोद तें, मोद मुनि मन अनुरागे।
निरखि मातु हरषी हिए आली ओट
कहति मृदु बचन प्रेम के से पागे॥ २॥

तुम्ह सुर तरु रघुबंस के, देत अभिमत माँगे।
मेरे बिसेषि गति रावरी, तुलसी प्रसाद
जाके सकल अमंगल भागे॥ ३॥

(गीतावली, बालकाण्ड)

इस प्रकार महर्षिने भगवान् श्रीरामको गोदमें लेकर अपनेको परम धन्य माना। महारानी कौसल्याने जब वशिष्ठकी गोदमें रामजीको हँसते, किलकते तथा मुनिके साथ बाल-विनोद करते देखा, तब उन्होंने मीठे वचनोंद्वारा मुनिका अभिनन्दन किया। मुनि भगवान्‌को स्पर्श करते ही विदेह हो गये, उनका सारा ज्ञान भगवान्‌के बाल-चापल्यके आगे भाग गया और रामके प्रति एक अद्वितीय स्नेह उत्पन्न हो गया तथा यह वचन कहते हुए वे अपने गृहको चले गये—

जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता।
ते जन बंचित किए बिधाता॥

रामनाम

(महात्मा गाँधी)

रामनाम कुछ थोड़े लोगोंके लिये नहीं है, यह सबके लिये है। जो रामनाम लेता है, वह अविध्वंसी कोषका अधिकारी बन जाता है और यह कोष ऐसा है कि जितना ही आप इसका उपयोग करें, उतनी ही इसमें वृद्धि होती जाती है। यह अनन्त कोष है। जैसा कि उपनिषदोंने कहा है कि अनन्तमेंसे अनन्त निकाल लेनेपर भी अनन्त ही शेष रहता है। यह शारीरिक, आध्यात्मिक और मानसिक—सभी प्रकारके रोगोंकी रामबाण ओषधि है। रामनाम ईश्वरके असंख्य नामोंमेंसे एक है। चाहे 'राम'के स्थानपर 'कृष्ण' कह लीजिये या ईश्वरके असंख्य नामोंमेंसे और कोई नाम ले लीजिये, कोई अन्तर न पड़ेगा। मुझे रामनामका मन्त्र बचपनमें अपनी धायसे मिला था। मुझे भूतों और अन्धकारमें रहनेवाले दैत्योंसे डर लगता था। मेरी धाय मुझसे कहती थी—'रामनाम लेते रहो, भूत और दैत्य गायब हो जायँगे।' मैंने बच्चे-जैसे निश्चित विश्वाससे उसकी यह सलाह मान ली। उससे मेरी कायरता दूर हुई। यदि एक बच्चेका यह अनुभव है तो वयस्क व्यक्तिको तो श्रद्धापूर्वक रामनामका जाप करनेसे कितना महान् अनुभव हो सकता है! पर यह जाप हृदयसे ही होना चाहिये।

क्या आपके मस्तिष्कमें कुविचार आते हैं? और क्या तृष्णा और विषय-सुखने आपको परेशान कर रखा है? तो इनका रामनामसे बढ़कर कोई उपचार नहीं है। मान लीजिये, आपके मनमें इच्छा होती है कि बेईमानीसे और बिना मेहनत किये, बहुत-सा रुपया जमा कर लूँ। तब, यदि आपकी रामायणमें श्रद्धा है, तो आप स्वयंसे कहेंगे—'मैं अपने बच्चों और पत्नीके लिये धनसंग्रह क्यों करूँ जब कि यह निश्चित है कि वह उसका अपव्यय करेंगे। मैं क्यों न उन्हें उच्च-चरित्र, उच्च-शिक्षा प्रदान करूँ, जिसके सहारे वे आगे चलकर श्रम और मेहनतद्वारा जीवन-निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकें।' रामनामके सतत जापसे आपके भ्रम और मोह दूर होंगे और आपको यह सजीव अनुभूति होगी कि आप अपने प्रियजनोंके लिये लाखों रुपये संग्रह करके मूर्ख ही बनते हैं, इसके स्थानपर उन्हें रामनाम-का अमूल्य कोष प्रदान कीजिये, जो सबको भव-बन्धनों और बार-बार जन्म लेनेके क्रमसे बचाता है। इस अनुभूतिके हर्षमें डूबा व्यक्ति अपनी पत्नी और बच्चोंसे कहेगा—'तुम्हारे लिये मैं **वह** कोष तो नहीं ला सका, जिसकी कामना मैंने आरम्भमें की थी, पर अब मेरे पास उससे भी कीमती कोष है।' वे अविश्वासपूर्वक पूछेंगे—'कहाँ है वह कोष? दिखाइये ना!' तब वह उत्तर देगा—'वह कोष **है** रामनाम, जो सब कोषों-से अधिक कीमती है; क्योंकि इससे सब प्रकारके कोषके संग्रहकी प्यास मिटती है। यह मेरे हृदयमें **प्रतिष्ठित है।' (संकलित)**

विवेकका आश्रय

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

जिस प्रकार नेत्रोंकी सार्थकता प्रकाशके संयोगसे होती है, उसी प्रकार बुद्धिकी सार्थकता विवेकके संयोगसे है। किसीकी बुद्धि तीव्र हो, पर विवेक न हो तो उसे जीवनके लक्ष्यका या लक्ष्य-प्राप्तिके साधन-पथका, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य और सत्य-असत्यका ज्ञान नहीं हो सकता। न्याय तथा करुणापूर्ण दैवी विधान तथा सेवा और तपके फलसे मानव-देह मिल जानेपर भी जबतंक दैवीकृपाके संयोगसे विवेक सुलभ नहीं होता है अथवा विवेक सुलभ होनेपर भी जबतक प्रत्येक कर्म, भाव और विचारके साथ विवेक नहीं लिया जाता तबतक मानव-आकृतिके पीछे मानवी प्रकृतिका निर्माण नहीं हो पाता है।

संतकी यह सुन्दर खरी अनुभूति है कि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है; शक्तिका अविवेकपूर्वक भोगमें ही उपयोग होना पशु-जीवन है। अविवेकपूर्वक शक्ति, सम्पत्ति तथा अधिकारका उपभोगके साथ अभिमान रहना आसुरी जीवन है। शक्ति, सम्पत्ति तथा अधिकारके द्वारा दूसरोंकी सेवा और सबके हितका ध्यान रखना मानवी प्रकृति है। दूसरोंकी सेवा तथा सर्वहितकारी प्रवृत्तिकी गतिविधिके द्वारा ही विवेकका परिचय मिलता है। शिक्षित होते हुए भी विवेकहीन व्यक्तिद्वारा अपने सुख-स्वार्थकी लोलुपतासे अनेक बुराइयोंका ही प्रसार होता रहता है; इसीलिये शिक्षाके साथ दीक्षा आवश्यक है। दीक्षा मिलनेपर विवेक होता है। दीक्षा वही है जिसके द्वारा प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति और योग्यताके सदुपयोगका ज्ञान होता है। विवेकको निरन्तर साथ लेकर ही परमार्थका प्रेमी साधक सद्गति—परम गति प्राप्त करता है। विवेकके द्वारा ही साधककी तपस्या सफल होती है। कामना तथा दोषोंका त्याग सुगम हो जाता है और बिखरी हुई प्रीति सब ओरसे सिमिटकर पूर्ण परमात्मासे मिलकर साधकको पूर्णता प्रदान करती है। विवेकी मानव राग-द्वेषकी सीमासे अपने-आपको अलग रखते हुए प्रतिकूल परिस्थितिमें कष्टसहिष्णु, गम्भीर तथा शान्त चित्तवाला और अनुकूल परिस्थितिमें उदार, दानी, विनम्र तथा अभिमानरहित होता है। विवेकका परिचय हर्ष-शोक, सम्मान-अपमान, संयोग-वियोग तथा लाभ-हानिके अवसरपर बुद्धिकी समतासे मिलता है। विवेकीका सारा पुरुषार्थ तृष्णाके त्याग, वासनाके नाश, सर्वहितकारी सेवा तथा सहायता और बुद्धिको सम तथा स्थिर रखनेके लिये होता है।

अविवेकी प्राणी सुखोपभोग तथा मान-मायाका रागी-लोभी बनकर जीवनमें मिली हुई शक्ति-सम्पत्ति-योग्यता तथा अधिकारका दुरुपयोग करते हुए विनाशका दुःख देखता है। विवेकी मानव सुखासक्तिको त्यागकर मान-मायाके प्रलोभनसे मुक्त रहकर प्राप्त शक्ति-सम्पत्ति, योग्यता तथा अधिकारका सदुपयोग करते हुए दैवी गुणोंके विकासका अलौकिक सुख देखता है। अविवेकी मानवमें दुर्बलताओं तथा दोषोंकी वृद्धि होती है; विवेकीमें उनकी निवृत्ति होती है। अविवेकी प्राणी आलसी, प्रमादी और स्वच्छन्दमनवाला होता है; विवेकी सदा तत्पर, इन्द्रियजित्, सत्यनिष्ठ और बुद्धियुक्त होता है। अविवेकी प्राप्त बलोंका भोगी होनेके कारण उनका अभिमानी होता है, विवेकी उनका सेवामें सदुपयोग करनेके कारण उन बलोंका स्वामी होता है। अविवेकी प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि वृत्तियोंके द्वारा अपने जीवनमें सब कुछ अशुद्ध-असुन्दर बना डालता है, विवेकी मानव ऐसी परिस्थितिमें क्षमा, दया, सहिष्णुता, उदारता, नम्रता, सरलता और

संतोष-धैर्य आदि दैवी सम्पत्तिसे अपना समग्र जीवन शुद्ध-सुन्दर बना लेता है। अविवेकी असार सुखोंके लोभसे जीवन व्यर्थ खो देता है, विवेकी शाश्वत शान्ति तथा अखण्ड आनन्दके लिये तप, त्याग, दान, ज्ञान और ध्यान कहीं भी शिथिल नहीं होने देता है। अविवेकी प्राणी जितना अधिक भोगी होता है उतना ही अधिक उसे जड़ता, पराधीनता तथा शक्तिहीनताका दुःख देखना पडता है।

विवेक वही है जिसके द्वारा संयोगके रहते ही वियोग, जीवनके रहते ही मृत्यु, सुखमें ही उसका अन्त दुःख दीख पड़े; इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी सुखद—सत्य-सा प्रतीत होता है वही बुद्धि-दृष्टिसे परिवर्तनशील—असत् दीखने लगे। विवेकके प्रकाशमें जीवको संसारसे कुछ पानेकी लालसा नहीं रहती; जो कुछ मनके द्वारा असत् स्वीकार किया था, उसके त्यागकी ही इच्छा रहती है। विवेकके प्रकाशमें सब कुछ असत्—परिवर्तनयुक्त दीखता है, जो विवेककी कमीमें सत्य, स्थिर तथा सुखद दीखता था। विवेकके प्रकाशमें सत्यसे मानी हुई दूरी मिटा दी जाती है और संसारसे माना हुआ सम्बन्ध—वस्तु-व्यक्तिसे अपनत्वकी स्वीकृतिका सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। विवेकके बिना सारी साधनाएँ कहीं धन तो कहीं मान या अधिकार भोगके बदलेमें बिक जाती हैं। विवेकके योगके बिना आर्थिक समृद्धि विलास-वृत्तिको प्रोत्साहन देती है; पदाधिकारकी उन्नति कहीं दीन तो कहीं अभिमानी बनाती है। विवेकपूर्वक संतोष और संयमका आश्रय ही कल्याण-साधनाकी भूमि है। विवेकका आश्रय लिये बिना जीवनका सारा पुरुषार्थ भूल—भ्रान्ति-अज्ञानसे आच्छन्न रहता है। विवेकी मानवको ही लक्ष्यका ज्ञान होता है और जीवनकी गतिमें उसी ज्ञानका ध्यान रहता है। विवेकके प्रकाशमें अपने आपको सेवक बना लेना और सेवा करना साधनाका आरम्भ है; त्यागी तथा पूर्ण दानी होना साधनाका मध्य है; पूर्ण प्रेमी होना साधनाका अन्त है।

विवेकके प्रकाशमें मानव प्राप्त वस्तुको अपनी न मानकर दाताकी दी हुई जानता है; परायी वस्तुके प्रति लालची नहीं होता है; किसीका अहित नहीं चाहता है; सदा अभिमान-मोह-लोभरूपी बन्धनसे मुक्त रहता है और जब चाहता है, तब अपने परम प्रियतमका भक्त बन जाता है।

* * *

चोखी सीख

आसक्ति करनी हो तो भगवान्‌के नामरूपमें करो॥
कामना करनी हो तो निर्मल भजनकी करो।
क्रोध करना हो तो अपने दुर्गुणोंपर करो॥
लोभ करना हो तो भगवान्‌के स्मरणका करो।
मोह करना हो तो भगवान्‌की लीलामें करो॥
मद करना हो तो भगवत्-प्रीतिका करो।
अभिमान करना हो तो भगवान्‌के दासत्वका करो॥
वैर करना हो तो अपने दुराचारोंसे करो।
हिंसा करनी हो तो अपने अज्ञानकी करो॥
समीप रहना हो तो भगवच्चरणोंके रहो।
दूर रहना हो तो बुरे संगसे रहो॥

समाजकी मौन-स्वीकृतिसे अपराध होता है

(लेखक—श्रीमनोहर मुनि शास्त्री साहित्यरत्न)

वनकी झुटपुटमें प्रशान्त महासागर-सा शान्त योगी खड़ा है। एक ग्वाला गायें लिये आया और इधर-उधर चरती हुई गायोंको योगीके सुपुर्द कर हवामें कुछ कहता-सा लौट गया। संध्याको ग्वालेने देखा—प्रस्तर-प्रतिमा-सा योगी खड़ा था पर गायें नदारद। गायोंको न पाकर उसकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। उसका संदेह रुक-रुककर सामने खड़े योगीपर जाता था। वेश योगीका और काम चोरके? ग्वालेकी आँखोंसे अंगार बरसने लगे। गायोंको बाँधनेके लिये लायी हुई कीलें उसने योगिराज महावीरके कानोंमें ठोंक दीं।

अपने प्रभुपर विपत्तिका पहाड़ टूटते देख देवराज इन्द्रका खून खौल उठा, 'आज्ञा दीजिये, देव! एक ग्वाला मेरे आराध्यपर इतनी बर्बरता बरसाये? इन्द्रकी आँखें सह नहीं सकतीं। जल्दी कीजिये देव! हाथोंसे वज्र फिसला जा रहा है।'

और महावीर बोले—

'अधीर न हो, देवेन्द्र! वाणीमें मिश्री घोलते हुए महावीरने फिर कहा—'तुम्हें विश्वास है, देवेन्द्र! तुम्हारा वज्र ग्वालेको समाप्त कर सकता है?'

'हाँ हाँ भगवन्! वज्रका एक ही प्रहार काफी है। मूर्ख ग्वालेका सिर धूलमें लोटने लगेगा।' देवेन्द्रने कहा।

'भोले न बनो देवेन्द्र! तुम्हारा वज्र शरीरको मार सकता है। पर क्या आत्माको भी मार सकता है? आत्मदर्शन जरा गहराईसे समझो। तुम्हारे एक नहीं, हजार अस्त्र भी आत्माके एक अणुको मारनेमें असमर्थ हैं; क्योंकि हर आस्तिक दर्शन आत्माकी शाश्वत मुसकानमें विश्वास रखता है। जबतक आत्माकी दुर्वृत्तियाँ न मरीं, तबतक शरीरको मार देना कोई महत्त्व नहीं रखता।'

'दर्शनकी पहेलियोंको बुझाना दार्शनिकोंका काम है। वहाँ मुझ-जैसोंका प्रवेश नहीं है भगवन्! पर योगीश्वरका अपमान देखनेकी ये आँखें आदी नहीं हैं।'

देवेन्द्रकी अबोधतापर महावीर मुसकरा उठे और बोले, 'देवेन्द्र! दण्डशक्तिकी असफलता तो ये आँखें देख चुकी हैं। तीस वर्षोंतक पिताके साम्राज्यमें दण्डशक्तिके प्रयोग देखे हैं। यदि दण्डका डंडा जीवनको बदल सकता तो मुझे वनकी राह न लेनी पड़ती। पुलिसकी हथकड़ियाँ अपराधीको मिटा सकती हैं, अपराधको नहीं। वह व्यक्तिको समाप्त कर सकता है, वृत्तिको बदल देनेकी क्षमता न वज्रमें है, न लोहेकी बेजान शृंखलाओंमें। तलवारकी धार यदि जीवनको बदल सकती तो ऋषिकी उपदेश-धारा अवतरित ही नहीं होती।'

अपराध और अपराधीकी मनोवृत्तिका विश्लेषण आगे बढ़ाते हुए महावीर बोले—'तुम और तुम्हारे समाजकी आँखें केवल अपराधीको देखती हैं, किंतु परिस्थितियोंके वे धागे उनकी स्थूल आँखोंमें नहीं समाते, जिनसे बँधकर वह अपराधके लिये प्रेरित होता है।'

जीवनके शान्त एकान्त क्षणोंमें कभी एक क्षण भी सोचा था कि व्यक्ति जीवनकी सीमा-रेखाका अतिक्रमण करता है पर इसके लिये उसे विवश करनेमें तुम और तुम्हारे समाजका कितना हाथ है? यदि अपराधीको तुम घृणासे न देख स्नेह और सहानुभूतिके आलोकमें देखनेका प्रयास कर सको और कोलाहलमें उसके

धड़कते दिलकी धड़कन सुन सको तो तुम्हें उसकी सरलता—पवित्रताके दर्शन हो सकते हैं और यह भी निश्चित है कि बिना समाजकी मौन स्वीकृतिके एक व्यक्ति अपराध कर ही नहीं सकता। चर्खेका एक धागा टूटनेपर चतुर जुलाहा पूरे चर्खेको देखता है।

जल्दी न करो देवेन्द्र! शीघ्रता कभी अनर्थ भी करा देती है। अपराधीके मनोविज्ञानको देखो।'

और महावीर मौन हो गये। जीवनके अन्तर्विज्ञानको पाकर देवेन्द्र गद्‌गद हो गये और भगवान् महावीरके चरणोंसे लिपट पड़े।

प्रार्थनामय जीवन

दिव्यताका प्रारम्भ

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कके पृष्ठ ९६१ से आगे]

(१)

जब भी कोई घटना हमारे सूक्ष्म मानसिक जगत्‌में घटित होती है, उस समय वह घटना स्थूल भौतिक जगत्‌में भी घटित होती है; और जिस समय कोई घटना स्थूल जगत्‌में घटित होती है, उसी समय वही घटना बिलकुल उसी रूपमें हमारे मानसिक जगत्‌में भी घटित होती है। हमारा मानसिक जगत् और यह भौतिक जगत् इस प्रकार एक-दूसरेमें ओत-प्रोत है कि एकसे दूसरेको अलग नहीं किया जा सकता। इस कथनमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि यह समस्त विश्व हमारे मनका ही विराट् रूप है। इसीलिये यह कहा जाता है कि हमारा मन ही हमारे बन्धन और मोक्षका मूल कारण है।

हम जो कुछ भी हैं, अपने विचारोंके ही फलस्वरूप हैं और यदि हम अपने जीवनमें कोई सुधार या अभ्युदय करना चाहते हैं तो हमें अपने विचारोंका सुधार और अभ्युदय करना चाहिये। ऊँचे विचारोंद्वारा ही हम ऊपर उठ सकते हैं। दिव्य जीवनकी प्राप्तिके लिये यदि हम और कुछ न कर सकें तो कम-से-कम उसकी आकाङ्क्षा, आशा और कल्पना तो कर ही सकते हैं। दिव्य जीवनकी इच्छा या कल्पना ही दिव्य जीवनका प्रारम्भ है। दिव्य जीवनकी कामना ही दिव्य जीवनकी ओर हमारा पहला कदम है। जहाँ चाह है वहाँ राह है। दिव्य कामना स्वयं ही हमारे लिये दिव्य जीवनका मार्ग प्रशस्त करती है और हमारा पथ-प्रदर्शन करती हुई हमें दिव्य जीवनकी ओर ले जाती है।

आजकल महत्त्वाकाङ्क्षाओंकी चर्चा होने लगी है। यह प्रसन्नताकी बात है; क्योंकि हमारी महत्त्वाकाङ्क्षाएँ ही हमें दिव्य जीवनकी ओर ले जा सकती हैं; परंतु इस विषयमें यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि हमारी महत्त्वाकाङ्क्षाका संतुलन संतोषके द्वारा बना रहे। हमारी आकाङ्क्षा भौतिक शक्ति या ऐश्वर्यके लिये न होकर आध्यात्मिक सुख-शान्तिके लिये होनी चाहिये। हमारा आदर्श या लक्ष्य एक भला, दयालु और शान्तिपूर्ण जीवन होना चाहिये। हमें विनम्रता और सेवासे पूर्ण कर्तव्यपरायण जीवन व्यतीत करनेकी कामना और कल्पना करनी चाहिये। यही आदर्श महत्त्वाकाङ्क्षा है। धनपति, सेनापति या राष्ट्रपति बननेकी आकाङ्क्षा बुरी नहीं है, न किसी वस्तुको अप्राप्य समझना ही उचित है, परंतु हमें स्वप्न महान् बननेके नहीं, बल्कि सज्जन और सच्चरित्र बननेके देखने चाहिये। सज्जनको तो शक्ति और समृद्धि स्वयं ही वरण करती हैं। विजय सच्चे वीर पुरुषके पीछे घूमती है और कीर्ति सच्चे महापुरुषको खोजती-फिरती है। समस्त भौतिक विभूतियाँ सद्गुणोंकी दासियाँ हैं। महापुरुषोंके पास सफलता बिना बुलाये चली आती है। कामनाका महत्त्व इसीलिये है; क्योंकि वह हमें योग्यता प्रदान करती है; परंतु यदि वह योग्यता हमारे अंदर है तो कामनाके अभावमें भी हमें वे सब वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी, जिनकी पात्रता हममें है। इस विश्वमें हर वस्तुका एक न्यायोचित मूल्य है; वह मूल्य चुका देनेपर वह वस्तु हमें बिना माँगे ही प्राप्त हो जाती है। मूल्य चुका देना ही अन्तिम काम है; कामना करना, माँगना या प्रार्थना करना तो प्रारम्भिक बातें हैं। जिन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी योग्यता या पात्रता हममें होती है, उनकी ही आकाङ्क्षा हमारे हृदयमें होती है और वे वस्तुएँ हमें प्राप्त हो जाती हैं।

हम जैसी कल्पना करते हैं वैसा ही हमारा जीवन बनता है। अपनी कल्पनाके द्वारा हम अपने भविष्यको ही नहीं, बल्कि अपने भूतकालको भी बदल सकते हैं; क्योंकि देश-कालका अस्तित्व हमारी कल्पनामें ही है। अपनी असाधारण पवित्रता और दिव्यताके द्वारा हम अपनी भावी संतानोंकी ही नहीं, बल्कि अपने पूर्वजोंकी भी सेवा कर सकते हैं। एक ही परम तत्त्व समस्त विश्वमें रम रहा है और उसके द्वारा तीनों कालकी हर वस्तु और हर व्यक्तितक हमारी सीधी पहुँच है। अपने बिछुड़े हुए स्वर्गीय बन्धुओंके साथ हम इस समय भी सीधा मानसिक सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और शुभ कामनाओंके रूपमें उनतक अपना प्रेम पहुँचा सकते हैं।

अपने जीवनमें यदि हम अचानक ही कोई बड़ा परिवर्तन करनेमें असमर्थ रहें तो हमें निराश नहीं हो जाना चाहिये। हमें धैर्य रखना चाहिये और जितनी भी सफलता मिले, उससे संतोष रखते हुए दिव्यजीवनकी पूर्णताकी ओर निरन्तर आगे बढ़ना चाहिये। जैसे भी हम विचार करते हैं वैसी सफलता हमें तत्काल मिलती है। शान्तिके विचारोंसे शान्ति और संतोषके विचारोंसे सुख हमें अविलम्ब प्राप्त होता है। संतोषका अर्थ है हर अवस्थामें प्रसन्न रहना और अपनेको प्राप्त वस्तुओंका आदर करना तथा उनके लिये ईश्वरको धन्यवाद देना। संतोष ही परम सुख है और यह ऐसा सुख है, जिसे हम चाहे जब प्राप्त कर सकते हैं। मानसिक शान्तिके बिना हम किसी कार्यमें सफल नहीं हो सकते और मानसिक शान्ति हम संतोषके बिना नहीं प्राप्त कर सकते। शान्तिमय जीवन ही दिव्य जीवन है।

जब भी हम अशान्त या उद्विग्न हों तभी शान्तिकी प्राप्तिके लिये हमें शान्त आकारवाले भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। जब हम यह कल्पना करते हैं कि समस्त प्राणियोंके जीवन-दाता भगवान् प्रसन्नतापूर्वक सो रहे हैं, तब हमारे मनका बोझ हल्का हो जाता है और हमें मानसिक विश्राम प्राप्त होता है तथा नींद आ जाती है।

शान्तचित्तमें ही दिव्य विचार आते हैं। शान्तिपूर्ण विचारधारा ही हमें दिव्य जीवनकी ओर ले जाती है। शान्तिके सरोवरमें स्नान कर लेनेसे हमारी मानसिक थकान दूर हो जाती है और सद्गुणोंके दिव्य वस्त्र धारण करके हम नये जीवनको अपनानेके लिये तैयार हो जाते हैं। यह एक ऐसा पुनर्जन्म है, जिसमें आपका केवल शरीर ही नहीं बदल जाता, बल्कि आपके प्राण, इन्द्रियाँ, मन, आत्मा और समस्त भौतिक पदार्थ भी बदलकर एक नये ही रूपमें आपके सामने आते हैं। आपका जीवनदर्शन बदल जानेसे आपका संसार बदल जाता है। आपके जीवनमें एक विराट् क्रान्ति होकर युगपरिवर्तन हो जाता है। वेदका वचन है कि पड़े हुए सोते रहनेका नाम कलियुग है; जगकर बैठनेका नाम द्वापर है; उठकर खड़े होनेका नाम त्रेता है और अपने लक्ष्यकी ओर कदम उठाकर चल पड़नेका और चलते रहनेका नाम सत्ययुग है। चलते रहो, चलते रहो, यही प्रगतिके लिये वेदका सनातन संदेश है। रुकना ही मृत्यु और आगे बढ़ना ही जीवन है।

आप स्वयं अपने भाग्यविधाता और युग-निर्माता हैं। दिव्य जीवन स्वयं ही आपकी ओर आ रहा है। आपको केवल यह करना है कि अपने आपको उसके लिये तैयार कीजिये और आगे बढ़कर उसका स्वागत कीजिये। आधे रास्तेमें ही उससे आपकी भेंट हो जायगी। आपकी आत्माकी प्रत्येक आकाङ्क्षा पूर्ण होगी और जिन वस्तुओंकी आपको आवश्यकता है, वे आपको अवश्य प्राप्त होंगी। प्रकृतिके अपार भण्डारसे वे वस्तुएँ चल पड़ी हैं और आपकी ओर आ रही हैं। अपनी आशाओंसे हम उनको अपनी ओर बुलाते हैं; और निराशा, आशङ्का या भयद्वारा उनको पीछे हटाते हैं। हर वस्तु वहीं जाती है जहाँ उसको बुलाया जाता है और जहाँ उसका स्वागत किया जाता है। आकाङ्क्षाके द्वारा हम अपनी प्रिय वस्तुओंको निमन्त्रित करते हैं और आशाके द्वारा उनका स्वागत करते हैं।

हम अपने जीवनको जैसा भी बनाना चाहते हैं उसका एक परिपूर्ण नक्शा हमें अपने कल्पना-पटपर अङ्कित कर लेना चाहिये। जैसा हम अपने आपको बनाना चाहते हैं उसकी एक वैसी ही मूर्ति हमें अपने कल्पनाजगत्‌में बना लेनी चाहिये। अपने जीवनकी इमारत हम पहले अपने कल्पना-जगत्‌में बनाते हैं तभी वह भौतिक जगत्‌में बनती है। कल्पना-जगत्‌का यह निर्माणकार्य हमें उतने ही अध्यवसायसे करना चाहिये जितने अध्यवसायसे हम स्थूल-जगत्‌में निर्माण-कार्य करते हैं। चित्रकार, मूर्तिकार और कवि अपनी श्रेष्ठ कलाकृतियोंके निर्माणमें वर्षोंकी अनवरत साधना लगा देते हैं। कई कलाकृतियोंके पीछे तो उनके निर्माताओंकी जीवन-

व्यापी साधना रहती है । हमारी अपनी जीवन-योजना भी ऐसी ही कलाकृति है जिसमें हमें जीवनभर संशोधन-परिवर्धन करके उसे पूर्णतातक पहुँचाना चाहिये । राष्ट्रके नेता जैसे राष्ट्रनिर्माणकी योजनाएँ बनाते हैं, वैसे ही हमें अपने जीवनकी योजनाएँ बनानी चाहिये और उनको सफल बनानेके लिये अपनी समस्त मानसिक शक्तियोंका उपयोग करना चाहिये । हमारी अज्ञात चेतनामें बहुत-से शक्तिके प्रवाह बह रहे हैं, जिनपर आत्मसंयमका बाँध लगाकर हम दिव्य शक्तियोंका उत्पादन करके उनसे बड़े चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकते हैं । हमारे मनरूपी राष्ट्रके नागरिक हमारे विचार हैं । अपने विचारोंको अनुशासनमें रखकर ही हम अपने जीवनका पुनर्निर्माण कर सकते हैं ।

हमें सदैव पुरुषार्थ और सफलताके विचार करने चाहिये; समृद्धि और दयालुताका आदर्श अपने सम्मुख रखना चाहिये; सेवा और शान्तिसे पूर्ण जीवनको ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिये, प्रेम और पूर्णताकी कल्पना करनी चाहिये; वैभव और कल्याणकी आशा करनी चाहिये; और सबके प्रति मैत्रीपूर्ण और मङ्गलमय दृष्टिकोण रखना चाहिये ।

अपने दृष्टिकोणको रचनात्मक बनानेका उत्तम उपाय यह है कि हम अपने साथियों और पड़ोसियोंको रचनात्मक प्रेरणाएँ प्रदान करें । जैसे सुझाव हम अपने मित्रोंको देते हैं, वैसे ही सुझाव हमें भी उनसे प्राप्त होते हैं । अपने मित्रोंसे सदैव यही कहना चाहिये कि 'मित्र ! मैं हर अवस्थामें तुम्हारे साथ हूँ । तुमसे मुझे बहुत-सी आशाएँ हैं । तुम मेरी आशा हो । तुम पवित्र और दिव्य जीवनकी ओर बढ़ो । मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा । हमलोग अपने पवित्र लक्ष्यको अवश्य प्राप्त कर लेंगे ।'

और यदि आपका कोई मित्र आपको निराशापूर्ण सुझाव देते हुए कहे कि 'तुम बिल्कुल मूर्ख और दुष्ट हो । तुमसे संसारमें कुछ नहीं हो सकता । तुम पृथ्वीके भार हो ।' तो अपने मित्रसे प्रकट और मौनरूपमें भी कहिये कि 'हे मित्र ! यह असम्भव है कि तुम्हारे-जैसे बुद्धिमान् और सज्जनका मित्र मूर्ख और दुष्ट हो । तुम्हारे सत्सङ्गसे लाभ उठाकर और तुमसे प्रेरणा लेकर मैं भी संसारमें कुछ कर जाऊँगा । अब मैंने तुम्हें अपना मित्र बना लिया है, इसलिये अब मैं पृथ्वीपर भार नहीं हूँ । तुम्हारे साथ अब सेवा, संयम और पुरुषार्थका पथ मैंने भी अपना लिया है । तुम्हारी ओर मुँह करके अब मैंने भी दिव्य जीवनकी ओर मुँह कर लिया है ।'

एक-दूसरेको दिव्यताकी प्रेरणाएँ देते हुए हमें दिव्य पथका पथिक बनना चाहिये । अपने किसी एक मित्रको या स्वयं अपने आपको दिव्यताकी प्रेरणा देना ही दिव्य जीवनका प्रारम्भ है । इस प्रेरणाका श्रेष्ठरूप है—ईश्वरसे दिव्य गुणोंके लिये प्रार्थना !

* * *

मेरी चाह

प्रभो !

मैं यह नहीं चाहता कि आप मेरी विपत्तियोंका नाश कर दें और संसारकी मारसे मुझे बचा लें । मैं चाहता हूँ—प्रत्येक विपत्तिमें मुझे आपके मंगलमय आशीर्वादका और संसारकी प्रत्येक मारमें आपके मधुर मनोहर प्यारका और कोमल कर-स्पर्शका सुखद अनुभव हो ।

मैं यह नहीं चाहता कि आप मेरे शत्रुओंको मार दें । मैं चाहता हूँ—आप मेरे जीवनमें ऐसा विलक्षण सद्भाव भर दें जिससे सभीको मेरा मित्र बनना पड़े ।

मैं यह नहीं चाहता कि आप संसारकी वस्तुस्थितियोंसे मेरी कामनाओंको पूर्ण करें । मैं चाहता हूँ—मेरे लिये आपके सिवा संसारमें ऐसी कोई वस्तु या स्थिति रहे ही नहीं, जिसकी ओर मेरा कभी मन चले ।

मैं यह नहीं चाहता कि आप मुझे संसारमें अचल कीर्ति और अमित यश दें । मैं चाहता हूँ—कीर्ति-यशकी चाह करनेवाला 'अहं' ही मुझमें न रहे ।

मैं यह नहीं चाहता कि मेरा शरीर अमर रहे । मैं चाहता हूँ—शरीरमें स्थित मैं स्वयं ही शरीरसे सदा अपनेको अलग देखूँ ।

मैं यह नहीं चाहता कि आप मुझे मोक्ष प्रदान करें । मैं चाहता हूँ—मेरी बन्धनकी कल्पनाका ही नाश हो जाय ।

आप मेरी इन चाहोंको—यदि ये आपकी चाहके अनुकूल हों तो पूर्ण कर दें, नहीं तो, अपनी चाहके अनुसार ही करें । मेरी चाहोंकी कोई परवाह न करें ।

मानवताकी पुकार

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'हे ईश्वर !' उडसनको एक प्रकारका उन्माद हो गया था। कोई स्वस्थ सबल पुरुष, कोई सुन्दर शिशु या सुन्दरी युवती देखते ही वह जहाँ-का-तहाँ खड़ा हो जाता था। दोनों हाथोंसे अपने नेत्र ढक लेता था और उसके पैर काँपने लगते थे। वह कुछ बड़बड़ाने लगता था। इस रोगका परिणाम यह हुआ था कि वह नगरोंके भीड़भरे मार्गोंसे भय खाने लगा था। उसे अपने एकान्त कमरेमें बंदी रहना प्रिय था और यदि वहाँसे निकलना ही आवश्यक हो तो वह तब निकलना पसंद करता, जब उसे मार्गमें किसीके मिलनेकी सम्भावना न हो।

'मस्तिष्कको धक्का लगा है। मानसिक विकृति है। वह पागलपन धीरे-धीरे दूर होगा।' चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकोंने कोई अच्छी सहायता नहीं दी। उन्होंने केवल सम्मति दी। बेचारी लेडी उडसन—उडसन तो अपनी पत्नीसे भी घबराने लगा था। वह उसके सम्मुख भी नेत्र बंद कर लेता और काँपने लगता।

'ईश्वरके लिये भागो ! भागो जल्दी ! भूगर्भगृहमें भाग जाओ।' प्रारम्भमें उडसन प्रायः चिल्ला पड़ा करता था। 'पिशाच आ रहे हैं। वे पिशाच जो नापाम बमोंसे सारे संसारको भून देनेपर तुले बैठे हैं।'

बेचारा उडसन—उसे क्या पता कि नापाम बम तो बहुत पीछे छूट चुके। मनुष्य तो अब ऐसा पिशाच हो गया है कि उसने अणु बमसे भी आगे बढ़कर हाइड्रोजन बम बना लिया है और उससे भी अधिक घातकतम अस्त्रोंकी शोधमें लगा ही है। वह चाहता है कि दूर बैठा बटन दबा दे और एक भारी नगर जिसे वह शत्रु-नगर मानता है, अपने समस्त भवनों, लक्ष-लक्ष मानव-प्राणियों, पशुओं एवं विपुल वस्तुओंके साथ आधे क्षणमें इस प्रकार भस्‌से भस्म हो जाय जैसे धुनी रूईकी नन्हीं राशिपर प्रज्वलित अग्नि गिरी हो।

अणु एवं हाइड्रोजन बमोंकी उडसनने बात सुनी है—सुनना था उसे; क्योंकि वह एक हवाई सैनिक था। बात कितनी भी भयानक सुनी जाय, वह परोक्ष रहनेतक मनमें मूर्त नहीं होती। उसकी भयानकताका अनुमान हम लगा नहीं पाते। उडसनको सौभाग्यवश हिरोशिमा या नागासाकीके भस्मावशेष देखनेका अवसर नहीं मिला था। यद्यपि वह उत्सुक बहुत था उन्हें देखनेके लिये। यदि उसने उन्हें देख लिया होता—आज उसकी दशा और दयनीय होती।

'वे पिशाच ! वे गिरा रहे हैं नापाम बम !' उडसन अपनी दोनों आँखें बंद करके काँपता हुआ चिल्ला उठता था—'भगवान्‌के लिये भाग जाओ ! वे तुम्हें भूनकर धर देंगे !'

डाक्टरोंने ठीक कहा था। उसका उन्माद धीरे-धीरे घटने लगा है। अब वह चिल्लाता नहीं है। लेकिन लगता है कि अब भी वह उसी प्रकार बड़बड़ाता है। अन्तर इतना पड़ा है कि अब केवल उसके होंठ हिलते हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं—'यह अच्छे लक्षण हैं। उसका मस्तिष्क सावधान होने लगा है। उसमें इतनी समझ आ गयी है कि सबके सामने चिल्लाना बुरी बात है। इसी प्रकार सोचना जारी रहेगा तो वह शीघ्र समझ जायगा कि उसका भय अकारण है !'

क्या सचमुच उसका भय अकारण है ? क्या मानव—ये मानवताके ठेकेदार शक्तिसम्पन्न राष्ट्रोंके कर्णधार अपनी पैशाचिकताका परित्याग करनेको प्रस्तुत हो गये हैं ? क्या उन्होंने विश्वको भूनकर धर लेनेकी अपनी प्रलयंकर योजनाओंमें कोई शिथिलता आने दी है ?

× × ×

उडसन कोरिया युद्धमें था। वह हवाई सैनिक ठहरा, अपने यानपर जमा बैठा था। उसका बमबाज यान आज दिनमें उड़ान ले रहा था। एक, दो, तीन—उडसनको आदेश मिला और उसने बटन दबा दिया। यानके नीचे बँधे बम बन्धनसे छूट गये। बड़ी शीघ्र गतिसे यान आगे बढ़ गया और पर्याप्त ऊपर उठ गया।

उडसनको कुछ नहीं हुआ उस समय। उस समय तो उसे प्रसन्नता ही हुई। नीचेसे धुआँ और लपटोंका अम्बार उठ रहा था। नापाम बमोंने अपनेमें भरी पेट्रोलकी कीच नीचे बिखेर दी थी और उसमें आग लग चुकी थी। शत्रु जल रहा था—शत्रु ! वह शत्रु जिससे उडसनको घृणा करना सिखलाया गया था। शत्रु जिसके सम्बन्धमें कहा गया था कि वह नरकके कीटसे भी घृणित और शैतानसे भी अधिक दुष्ट है !

आक्रमण सफल रहा। उडसनका यान लौटा तो उसे समाचार मिला कि शत्रु पीछे हट गया है। अग्रगामी सैनिकोंने शत्रुकी सीमाके भीतर एक चौकीपर अधिकार कर लिया है।

उडसनका दुर्भाग्य! कितना अच्छा हुआ होता कि उसे उस दिन मित्रोंसे, सहयोगियोंसे, अफसरोंसे वह प्रशंसा न मिली होती। वह उस महत्त्वपूर्ण चौकीको लक्ष्य बनानेमें चूक गया होता। उसका यान गिर जाता और वह स्वयं जल गया होता अपने यानमें तो भी इतना क्लेश उसे न होता। परंतु यह सब होना नहीं था, नहीं हुआ।

उडसनकी प्रशंसा हो रही थी। अफसर उससे हाथ मिला रहे थे। शत्रुकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चौकी आज उसने भस्म कर दी और अपनी सेनाने अवसरका लाभ उठाकर उसपर अधिकार कर लिया।

'आप मुझे उस चौकीको देखनेकी अनुमति देंगे?' उडसनका दुर्भाग्य उस दिन उससे भरपूर बदला लेनेपर तुला था। क्या बिगड़ जाता वह यदि उत्साहातिरेकमें यह अनुमति न माँगता?

'अवश्य!' अफसरने बाधा नहीं दी। 'यद्यपि अभी वहाँ खतरा है; किंतु अपने एक अच्छे योद्धाका उत्साह हम तोड़ना नहीं चाहेंगे। हवाई जहाज वहाँ उतर नहीं सकेगा। तुम जीपसे जा सकते हो।'

'हे भगवन्!' उडसनको मार्गमें ही मूर्छा-सी आने लगी। उसके समीपसे जो एम्बुलेन्स (चिकित्सा गाड़ियाँ) जा रही थीं, उनमेंसे दारुण चीत्कारें उठ रही थीं। उनमेंसे जलते मांसकी गन्ध आ रही थी—जलता मांस—तो क्या उसने मनुष्योंको भून दिया है?

जब जीपसे उतरा वह, सामने ही एक शव पड़ा था। कोई आठ-दस वर्षका बालक होगा। उसके शरीरके वस्त्रोंका क्या पता लगना था, चमड़ा एवं मांसकी परत तक जल गयी थी। उसका वर्ण काला, झुलसा, स्थान-स्थानसे फटा और उसमेंसे बाहर आया मांस'''''''उडसनने नेत्रोंपर हाथ धर लिये।

कहाँतक वह नेत्र बंद किये रहता। कुछ स्त्रियाँ चीखती-चिल्लाती उसीकी ओर आ रही थीं। सैनिकोंने उन्हें थोड़ी दूरपर रोक दिया। कई गिर पड़ीं वहीं। वे उन्मत्त हो चुकी थीं। उन सबके सिरके केश जल गये थे। मुख ही नहीं, पूरा शरीर काला पड़ गया था। झुलसकर फट गया था स्थान-स्थानसे। वे पागल विकराल दिगम्बर दौड़ती पिशाचिनें-सी प्रतीत हो रही थीं।

उडसन बैठ गया वहीं पृथ्वीपर। उसको चक्कर आ रहा था। 'शत्रु-शत्रु।' कोई उसके सिरमें चिल्ला रहा था—'ये अबोध बच्चे, ये सुकुमारी युवतियाँ, ये तुम्हारी शत्रु हैं! तुमने इन्हें भून डाला है! पिशाच कहींके।'

उडसनको स्वयं पता नहीं कि वह कब चिल्ला पड़ा था और क्या-क्या कहता जा रहा था। उसे वहाँसे कैसे लौटाया गया और कब युद्धस्थलसे पीछे भेज दिया गया, इसका भी उसे कुछ पता नहीं। उसका प्रभाव दूसरे सैनिकोंपर प्रतिकूल पड़नेका भय था। स्वदेश लौटा दिया गया उसे और वहाँ चिकित्सकोंके प्रबल प्रयत्नसे पूरे तीन महीने पश्चात् वह इस योग्य हुआ कि स्वयं अपना दैनिक जीवन चलाने लगा है।

'अभी सावधानी अपेक्षित है।' चिकित्सकोंने श्रीमती उडसनको सम्मति दी है। 'इन्हें समाचार-पत्र एकदम न दिये जायँ। धीरे-धीरे मस्तिष्कके विशेष दोष भी दूर हो जायँगे।'

× × ×

'शान्ति! हमें शान्ति चाहिये!' उडसन जब शान्तिकी बात कहता है, तब उसकी वाणीमें एक अद्भुत उत्तेजना होती है। वह सैनिक रह चुका है और युद्धकी दारुण विभीषिकाको उसने देखा है। वह कहता है—'भगवान्के लिये अब युद्धकी बातें बंद कर दो। मनुष्यको पिशाच नहीं बनना है तो प्रत्येक मूल्यपर उसे युद्धकी भावना भगा देनी होगी।'

'भारत सदासे विश्वका पथदर्शक रहा है। वह अन्धकारमें गिरते मानवका महान् उद्धारक है, संसारमें बहुत-से लोग भारतकी प्रशंसा करते हैं। सहस्रों नहीं, लाखों और करोड़ों कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी, ऐसे मनुष्य हैं जो भारतीय शान्तिप्रियता-से प्रेम करते हैं। किंतु उडसनका प्रेम और ढंगका है। वह भारतका स्मरण करके भावविह्वल हो उठता है। उसके हृदयका केवल एक स्नेहाधार है, उसकी आशा एक ही स्थानपर अटकी है और वह है भारत। वह चर्चा चलते ही कहता है—'केवल भारत हमें युद्धके भयसे बचा सकता है।'

'ओह! कितनी अंधी है जनता! इन युद्धपिपासु पिशाचोंको जेलमें बंद क्यों नहीं कर दिया जाता!' उडसन अब पागल नहीं है; किंतु वह अत्यधिक भावुक है। युद्धने उसके मस्तिष्कको दुर्बल कर दिया है। अपने और पराये राष्ट्रका भेद वह समझानेपर भी समझ नहीं पाता। कितनी

राष्ट्रके नेता जब युद्धकी चर्चा करते हैं, शस्त्रास्त्र बढ़ानेके लिये कहीं कोई बजट आता है, उडसन आगबबूला हो उठता है—'ये दुष्ट मनुष्यको मनुष्यका मित्र नहीं बनने देंगे। इन्हें तो गोली मार दी जानी चाहिये।'

'भारत सेना एकत्र कर रहा है हमारी सीमापर। वह शस्त्रास्त्र ले रहा है अन्य देशोंसे!' इस प्रकारका प्रचार तो विदेशोंमें पाकिस्तानकी ओरसे चलता ही रहता है। कोई उडसनको चिढ़ाना चाहे तो ऐसे समाचार उसे सुना दे। वह उबल उठेगा—'झूठ! धूर्त कहींके। इन्हें कोर्टमें खड़े करके कोड़े लगाने चाहिये। भारत कहीं किसीपर आक्रमण कर सकता है?'

उडसनकी श्रद्धा अडिग है। आप उसे अर्धविक्षिप्त कह सकते हैं; किंतु वह है सीधा और अब भी उसमें सैनिकका अक्खड़पन है। उसका स्वप्न है—'भारतका सत्प्रयास सफल होगा। युद्धके पिपासुओंको अन्ततः जनता अवश्य जेलमें बंद कर देगी। मेरी रायमें उन्हें एकदम मार देना चाहिये। विश्वके सब मनुष्य समान हैं। वे परस्पर भाई हैं। उनका एक राष्ट्र क्यों नहीं बन सकता? और जबतक एक राष्ट्र नहीं बनता, भारतकी शुभ सम्मति मानकर वे परस्पर प्रेमपूर्वक तो रह ही सकते हैं।'

'विश्वके राष्ट्रोंमें बहुत वैभिन्न्य है। उनके आदर्श परस्पर विपरीत हैं। उनका प्रेमपूर्वक रह पाना शक्य नहीं है।' उडसनसे यह बात कह देना सरल नहीं है। अभी वह बहुत शीघ्र उत्तेजित हो जाता है। वह 'युद्ध अनिवार्य है' इस कल्पनाको भी सह नहीं सकता।

'मेरा पड़ोसी निरामिषभोजी है और कुत्ते पालता है!' उडसनको कुत्ते बहुत अप्रिय हैं तथा सैनिक जीवन व्यतीत कर लेनेके कारण उसे आमिष अप्रिय नहीं है। वह जानता है कि उसका पड़ोसी उसका यह स्वभाव पसंद नहीं करता—'हम क्या परस्पर सिर फोड़ लें। मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि प्रलयतक हम दोनों इसी प्रकार पड़ोसी रह सकते हैं और कभी नहीं लड़ेंगे।'

'आप दोनों बुद्धिमान् हैं! सुसंस्कृत हैं।' आप उडसनको यही कह सकते हैं।

'राष्ट्रोंमें मनुष्य ही तो हैं। भारत यही तो कहता है कि सब बुद्धिमान् सुसंस्कृत पड़ोसीके समान रहें।' उडसनको बड़ा क्रोध है युद्धकी भावना बनाये रखनेवाले कुछ लोगोंपर—'मुट्ठीभर मूर्ख अपने स्वार्थके लिये पिशाच बन गये हैं। वे संसारको भून देना चाहते हैं। उन्हें पकड़कर बंद कर दो! बस!'

उन्हें ही पकड़कर बंद कर दिया जा सकता—बेचारा उडसन! वह कहाँ समझ पाता है कि उन्हें पकड़ना कितना कठिन है। भय तो यह है कि उनका कोई चर किसी दिन उडसनको ही कहीं पकड़कर बंद न कर दे पागलखानेमें या शत्रुका प्रचारक कहकर।

उडसनका बंद हो जाना असम्भव नहीं है; किंतु क्या मानवताकी वह पुकार बंद हो जायगी जो पागल उडसनके अन्तरमें अकस्मात् जाग उठी है? वह क्या अकेले उडसनका प्रलाप है? क्या वह आहत, भीत मानवताकी करुण पुकार नहीं है? और यदि सचमुच वह मानवताकी पुकार है तो—तो उसे क्या पिशाच कभी दबा सका है जो आज दबा लेगा।

मानवता—ईश्वरका विश्वको सर्वश्रेष्ठ वरदान मानवता और वह घृणा, द्वेष, बर्बर पैशाचिकतापर विजयिनी होकर रहेगी!

* * *

प्रश्न

भजन-धनको छोड़कर और कौन-सा धन चाहोगे?
प्रेम-अमृतको छोड़कर और कौन-सी सुधा पीओगे?
सत्संगके लाभको छोड़कर और किस लाभको सोचोगे?
सेवा-सम्पत्तिको छोड़कर और कौन-सी सम्पत्ति चाहोगे?
पर-हितको छोड़कर और कौन-सा धर्म साधोगे?
भगवान्के चिन्तनको छोड़कर और किसका चिन्तन करोगे?
भगवच्चरणोंमें रति छोड़कर और किसमें प्रीति करोगे?
मनके कुविचारोंको छोड़कर और किस शत्रुको मारोगे?

गीतामें ज्ञानयोग

(लेखक—पं० श्रीगिरिजादत्तजी शुक्ल 'गिरीश')

जीवनमें हम निरन्तर ज्ञानकी खोजमें लगे रहते हैं। ठोकरोंके लगनेसे हम उस कारणको समझनेकी चेष्टा करते हैं, जो ठोकरें लगनेके मूलमें हैं। संसारमें भ्रमणशील होकर महात्मा बुद्धने भी इन ठोकरोंकी पीड़ाका अनुभव किया था। जिस ज्ञानसे अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनोंमें ही लगनेवाली ठोकरोंका सदाके लिये अन्त हो जाय, उसीकी प्राप्तिके लिये उन्होंने जंगलकी राह ली थी। श्रीमद्भगवद्गीता भी हमें इसी ज्ञानका प्रकाश दिखलाती है।

गीताके अनुसार वही ज्ञान सच्चा ज्ञान है, जिसके द्वारा हम जड, चेतन एवं चराचरमें व्याप्त अविनाशी तत्त्वको सम भावसे देख लें। जबतक हममें कहीं और किसी प्रकारकी आसक्ति बची-खुची पड़ी रह जायगी, तबतक हम सर्वोपरि अविनाशी-तत्त्वके प्रति पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण नहीं कर सकते, उसके प्रति पूर्ण आकर्षण नहीं अनुभव कर सकते, जब उक्त ज्ञानके प्रति हमारा आत्मसमर्पण, आकर्षण परिपूर्ण स्थितिको पहुँचता है, तब यह कहा जाता है कि हम ज्ञानयोगके अधिकारी हुए।

गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोगका इतना सुन्दर समन्वय हुआ है कि इनमेंसे किसी एककी प्रधानता और द्वितीयकी गौणता उसमें दिखाना सम्भव नहीं है; यह और ही बात है कि अपने युग-विशेषके उपयोगके लिये हम उसकी शिक्षाओंको एक विशेष दिशाकी ओर ढलती हुई दिखानेमें भी सफल हो जायँ। गीताकारने स्वयं कहा है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

'जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी कामना करता है, उसे संन्यासी ही समझना चाहिये। हे अर्जुन! ऐसा पुरुष अनायास ही बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

'ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंको जो लोग एक दूसरेसे पृथक् बतलाते हैं, वे पण्डित नहीं हैं, अनुभवशून्य बालक हैं। जो व्यक्ति एकमें भी व्यवस्थित होता है, उसे दोनों हीके फलस्वरूप परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है।'

इस विषयको और भी स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

'सांख्ययोग, ज्ञानयोगके द्वारा जिस स्थानकी प्राप्ति होती है, उसीकी उपलब्धि कर्मयोगके द्वारा भी हो सकती है। जो सांख्ययोग तथा कर्मयोगको अभिन्न मानता है, उसीकी दृष्टि निर्मल है।'

श्रीकृष्णने अपने भक्तोंकी चार श्रेणियाँ बतायी हैं—(१) आर्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी, (४) ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित ज्ञानी विशेष उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वतः जाननेवाला ज्ञानी बहुत प्रिय लगता है और ऐसा ज्ञानी मुझे भी बहुत प्यार करता है।'

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

'मेरे भक्तोंकी चारों श्रेणियाँ उत्तम हैं, किंतु ज्ञानी तो मुझसे अभिन्न ही है, मेरा स्वरूप ही है, अचञ्चल बुद्धिसे सम्पन्न होनेके कारण वह मुझमें ही अच्छी प्रकारसे व्यवस्थित है।'

गीताके एकादश अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपका परिचय दिया है। इस प्रसंगसे व्यासजीने अद्वैत तत्त्वको वाणीके बन्धनमें लानेका सफल प्रयास किया है जैसा शायद संसारके साहित्यमें कहीं देखनेको न मिल सके। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उस तत्त्वकी प्राप्ति ही ज्ञानयोगका परम लक्ष्य है। यह तत्त्व वही आत्मतत्त्व है जिसके सम्बन्धमें द्वितीय अध्यायमें ही कहा गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

'न आत्माको शस्त्र काट सकते हैं और न आग जला सकती है, न उसे पानी भिगो सकता है और न हवा उसको सुखा सकती है।'

श्रीकृष्ण जब अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराते हैं, तब उसमें आत्माकी ये सभी विभूतियाँ भी समाविष्ट रहती हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस रूपके दर्शनसे, इस तत्त्वको हृदयङ्गम करनेसे ही ज्ञानयोगकी परम सिद्धि सम्भव है।

इसीलिये कर्मयोगकी समस्त महत्ताका प्रतिपादन करके भी श्रीकृष्ण अन्तमें ज्ञानयोगका उत्कर्ष दिखलाते हुए कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'सर्वधर्मोंको, आंशिक महत्त्ववाले कर्तव्योंको त्यागकर मेरी शरणमें आओ; मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा; खेद मत करो।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

'मेरा भक्त बनो, मुझमें अपने मनको लीन करो; मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। ऐसा करके तुम मुझको ही प्राप्त होगे। मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो।'

गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोगका अद्भुत समन्वय हुआ है पर उसकी ओर हमारे आधुनिक साहित्यकी रुचि नहीं है; आधुनिक कवि, उपन्यासकार, नाटककार आदि अब ज्ञान और कर्मकी विरोधी दिशाएँ इङ्गित करनेमें ही अपनी लेखनीकी कुशलता समझने लगे हैं; किंतु यह हमारा बहुत बड़ा भ्रम है, हमें इस अन्धकारसे मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

◆

समाज-कल्याणका मूलमन्त्र

सहयोगकी भावनाका विकास

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

विश्वमें जितने प्राणी हैं, सभी अकेले—स्वतन्त्ररूपसे ही जन्म लेते हैं और उनमें अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता, विशेषता, गुण, दोष, रूप-रंग, आकृति, ध्वनि आदिकी पृथक्ता भी होती है; पर चैतन्य गुण सबमें समानरूपसे व्यापक रहता है। इसलिये उन असमानताओंमें भी एक समानता रही हुई है। जगत्में नाना प्रकारके कार्य चलते रहते हैं और उनके संचालनमें विविध प्रकारकी शक्तियोंकी आवश्यकता होती है या यों भी कह सकते हैं कि विविध प्राणियोंकी रुचि, स्वभाव, योग्यता आदिसे कार्योंमें भी विभिन्नता दिखायी देती है। पर बहुत-सी बातोंमें, रुचि आदिमें समानता होती है, उनका एक संगठन समाज कहलाता है। व्यक्ति और समाजका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे अन्योन्याश्रित हैं। एकका प्रभाव दूसरेपर पड़ता ही है।

व्यक्तियोंका समूह ही समाज है। बहुत-से काम व्यक्ति भी कर लेते हैं पर जो अकेला एक व्यक्ति नहीं कर पाता, कई व्यक्तियोंका दल जुट जानेपर वैसे बहुत बड़े-बड़े काम भी सरलतासे सम्पन्न हो जाते हैं। समझदारीके साथ एक दूसरेको सहयोग देनेकी भावनासे जो संगठन होता है, वही वास्तवमें 'समाज' की संज्ञा पाता है। अभी समाजके इस दायरेको हमने बहुत सीमित बना रखा है, इसीलिये भिन्न-भिन्न समाज पृथक्-पृथक् टुकड़ोंमें बँटे हुए हैं। आवश्यकता है इन छोटे-छोटे समाजोंके संगठित और एकीकरण होनेकी। हमारी सीमित आत्मीयता या समाजगत भावना क्रमशः विस्तृत होती जाय और ये छोटी-छोटी भेद-रेखाएँ, जो हमारी दृष्टिको संकुचित बनाकर बाधक बन रही हैं, मिट जायँ और फिर न बनें, सारे मानव-समाजकी एकताका ही हमारे सामने एक चित्र हो। जाति, सम्प्रदाय, देशकी दीवारें, हमें अलग-अलग न कर सकें। सब सुखी तो हम सुखी, कोई भी दुखी तो हम दुखी। इस तरहकी भावनाका विकास क्रमशः बढ़ता ही चला जाय। जब समाजके दुःख-कष्टको व्यक्ति अपने दुःख-कष्टके रूपमें अनुभव करता है, तभी स्वस्थ समाजका निर्माण होता है।

समाज अनेक प्रकारके—विभिन्न रुचि-स्वभाववाले व्यक्तियोंका संगठन होता है। उस संगठनको बनाये रखनेके लिये सहिष्णुताकी परमावश्यकता है। जो व्यक्ति अपनी रुचिके प्रतिकूल काम करते हैं, उन्हें भी सहन करना पड़ता है। हम अच्छे विचारोंको उनमें फैलायें और उनका हृदय-परिवर्तन करके उन्हें अपने अनुकूल बना लें। पर किसीपर

जबरदस्ती अपने विचारोंको न लादें; अपने कहे अनुसार ही सब चलें; इस प्रकारकी बाध्यता न की जाय। हिल-मिलकर सब एक दूसरेको जहाँ जिस परिमाणमें सहयोग देना आवश्यक हो और अपने लिये सम्भव हो, सहयोग देकर एक-दूसरेकी समस्या, कठिनाई और दुःखको कम करनेका प्रयत्न करें। यथासम्भव सहारा देकर सबको सुखी बनाने और सबको ऊँचा उठानेका प्रयत्न सभी व्यक्ति करें, तभी समाजका कल्याण सम्भव हो सकता है।

प्रत्येक प्राणीका जीवन एक-दूसरेके सहयोग या अनुग्रहपर ही बहुत कुछ निर्भर है। जन्म एकाकी रहनेपर भी उसके पालन, पोषण-परिवर्द्धनमें माँ और कुटुम्बीजनोंका सहयोग आवश्यक होता ही है और ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं और भी अनेक व्यक्तियोंका सहयोग लेकर या पाकर ही जीवनको सुखी, समृद्ध और उच्चस्तरका बना सकते हैं। यदि कोई किसीको किसी भी प्रकारका सहयोग न दे तो जीवनकी प्रगति रुक जायगी; प्राणी शायद जीवित भी न रह सकेंगे।

जबतक मनुष्यकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं और उनकी पूर्ति प्रकृतिप्रदत्त साधनोंसे सहज हो जाती थी, तबतक सामाजिक संगठन चाहे उतना आवश्यक और बड़े परिमाणका न था, पर जब आवश्यकताएँ बढ़ीं और साधनोंको जुटानेमें काफी प्रयत्न करना आवश्यक हो गया, तब अकेले व्यक्तिको कठिनाई होने लगी। इसीसे परिवार-प्रथाका विकास हुआ और क्रमशः उसका दायरा बढ़ते-बढ़ते समाजका निर्माण हुआ। फिर भी प्राचीनकालमें यातायातके साधन बहुत सीमित थे; अतः देश, राष्ट्र, विश्वसे सम्बन्ध जोड़ने और सहयोग देनेका प्रयत्न आज-जैसा सम्भव न था; परंतु धर्मके द्वारा मनुष्यने समस्त जीवजगत्की मङ्गलकामनाकी व्यापक भावना पायी और अहिंसा या प्रेम-धर्मके विकासने एक शान्तिपूर्ण वातावरणकी सृष्टि कर दी। समस्त जीवोंमें, जो एक-से चैतन्यका विकास है, इस तत्त्वदर्शनने मनुष्यको एक नयी दृष्टि दी। ससीमकी ओरसे असीमकी ओर बढ़ता हुआ मानव परमात्मा या परमशक्तिके पदतक पहुँच गया। महात्माओंने उस व्यापक चैतन्यकी अनुभूतिके द्वारा संकुचित दृष्टि सीमा-भेद मिटा दिये और किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारका कष्ट न पहुँचाया जाय; ऐसी 'अहिंसा' भावनाको धर्मका प्रधान अङ्ग ठहरा दिया तथा प्रेमके लचीले धागेसे सारे विश्वके प्राणियोंको एक सूत्रमें बाँध दिया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उसी विश्व-प्रेमका परिचायक महान् सूत्र है।

प्रत्येक व्यक्ति दूसरोंके पारस्परिक सहयोगकी आवश्यकता प्रतिपल और भलीभाँति अनुभव करता है। पारस्परिक सहयोगसे काम अधिक और सुन्दर होता है। एक ही कामको सम्पन्न करनेके लिये अनेक प्रकारके साधन जुटाने पड़ते हैं और प्रत्येक व्यक्ति ही यदि इन सब साधनोंको जुटाने जाय तो उसका सीमित जीवन उनके जुटानेमें ही समाप्त हो जायगा। जुटानेके बाद जो काम करनेकी भावना है, वह हो ही नहीं सकेगा। मान लीजिये एक ही मनुष्य अपने खाने, पहनने, ओढ़ने आदि जीवनकी प्रत्येक आवश्यकताकी सामग्री मूलरूपसे लेकर अन्तिम परिणतितक स्वयं ही तैयार करनेका प्रयत्न करे तो उसे कितने लंबे समय और श्रमका भोग देना होगा। पर विविध व्यक्ति विविध प्रकारके काम करते रहते हैं, इसलिये विविध प्रकारकी सामग्री सहज ही प्रचुर मात्रामें मिल जाती है। इससे सभीकी कठिनाइयोंका हल हो जाता है। एक खेतीके कामको ही लें, उसमें भी कितने व्यक्तियों और कितने व्यक्तियोंके निर्मित साधनोंका उपयोग करना पड़ता है। जिस प्रकार आज अलग-अलग परिवारकी अपनी खेती होती है, यदि वह सामूहिक रूपसे अधिक परिवारोंकी या सारे गाँवकी एक साथ होने लगे तो अवश्य ही सब काम बाँटकर सभी लोग श्रम करेंगे तो थोड़े समय और श्रमसे अधिक और अच्छा उत्पादन किया जा सकेगा।

बहुत-से व्यक्ति जब एक साथ मिलते हैं, तब उनमेंसे प्रत्येकमें जो अलग-अलग प्रकारकी योग्यता है और जिसकी प्रत्येक काममें आवश्यकता होती है; वे शक्तियाँ एक साथ जुट जाती हैं और काम सुगमतासे हो जाता है। किसी काममें शारीरिक बल अधिक आवश्यक होता है तो किसीमें बुद्धिबल। यदि प्रखर बुद्धि और सशक्त मनुष्य परस्पर मिलकर काम करेंगे तो जहाँ जिसकी जिस रूपमें आवश्यकता होगी, उसकी पूर्ति दोनोंके सहयोगद्वारा होती रहेगी। इतना ही नहीं, दो या अधिक व्यक्तियोंके मिलनेपर विचार-विनिमयके द्वारा नये-नये तरीके, जिनके द्वारा काम और भी अधिक सुगमतासे और अच्छा हो सकता है, सोचनेकी सुविधा हो जायगी। एककी कमीकी पूर्ति दूसरेसे होगी ही, पर उस कामकी त्रुटियोंका भान भी दूसरेसे सहजहीमें हो जायगा। बहुत बार अपनी दृष्टि और बुद्धिमें तो मनुष्य काम ठीक ही करता है, पर कई बारीक बातें उसके ध्यानमें न आनेसे उसे इच्छानुरूप सफलता नहीं मिलती। यह अपनी कमी

मनुष्यको सहजहीमें कम ध्यान आती है। अतः दूसरे सहयोगीद्वारा इस कमीको जानकर वह शीघ्र ही उचित सुधार कर सकता है और मनचाहा फल प्राप्त कर सकता है।

साधारणतया एक और एक (१ + १) के मिलनेपर दो (२) होंगे, कहा जाता है; पर वास्तवमें एकके आगे एक, इस प्रकार जोड़नेसे संख्या दो की न होकर ग्यारह (११) की हो जाती है। इसी तरह जितनी भी एक-एक संख्या और जोड़ते जायँगे, संख्याका धनत्व दसगुनेसे सौ गुना, हजार गुना, लाख-करोड़ गुना बढ़ता ही चला जायगा। इसी तरह व्यक्तियोंके संगठनमें भी अपार शक्ति है। सहयोगकी भावनासे जितने अधिक व्यक्ति एक साथ जुटेंगे, उनकी आवाज और शक्ति उतनी ही प्रबल होगी। यदि सभी अपनी-अपनी डफली अलग-अलग बजाते रहेंगे तो परस्पर संघर्ष होगा और उससे तो विनाश ही होगा। सबकी शक्तियोंका परस्पर टकराना, खण्ड-खण्ड ही करनेवाला होता है जब कि शक्तियोंका मिलन महान् कार्यवाही होता है।

प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनेको ही सुखी एवं समृद्ध बनानेमें लगा रहेगा तो थोड़े समयके लिये वह दूसरोंसे ऊँचा उठ गया, कह सकता है; पर वह भी वास्तवमें दूसरोंके सहयोगसे ही आगे बढ़ता है; पर जो दूसरोंका शोषण कर उनको दुर्बल और दरिद्र बनाकर दुखी बनाता है, उस व्यक्तिका सुख अधिक दिन टिक नहीं सकता; क्योंकि सब दिन सबकी परिस्थिति एक-सी नहीं रहती। शोषित और दलित व्यक्तियोंकी आहें अवश्य ही एक दिन उसे ऊँचे महलसे नीचे गिरा ही देंगी। व्यक्ति स्वयं सुखी हो और दूसरोंको सुखी बनाये, इसीमें उसका कल्याण और उसके जीवनकी सार्थकता है। पर आज हो यह रहा है कि व्यक्तिको अपनी ही चिन्ता अधिक है। पड़ोसी और समाजकी कुछ भी परवा नहीं, वे चाहे भूखों मर जायँ, कष्टसे दिन बितायें, रोगसे पीड़ित हों, आपदाओंसे घिरे रहें; पर व्यक्ति अपने सुखके लिये ही साधन जुटाता रहता है। दूसरे या पड़ोसीका चाहे इसमें कितना ही विनाश हो जाय; प्राप्त साधनोंको वह दूसरोंके हितके लिये उपयोगमें नहीं लाता। इसीलिये आज समाजकी यह हालत है कि अन्नके अभाव और उपयुक्त काम न मिलनेसे लोग अपनी और परिवारकी हत्या तक करनेको बाध्य होते हैं, जबकि उसी दुखी व्यक्तिका पड़ोसी या गाँवके लोग चैनकी बाँसुरी बजाते रहते हैं। वे आवश्यकतासे अधिक आनन्दित जीवन-निर्वाहके उपयोगी साधनोंको जुटाकर आनन्द लूटते हैं। यदि उनमें सहयोगिताकी भावनाका विकास हो तो कभी कोई व्यक्ति भूखों नहीं मर सकता। मान लीजिये दो रोटी ही एक व्यक्तिके पास है और वह परिवारके सब लोगोंको बाँटकर खाता है तो सभी जीवित रह सकते हैं, पर यदि उन्हें वह अकेला खा जाय तो दूसरे भूखों मरेंगे ही। आखिर वस्तुओंका एकदम अभाव तो होता ही नहीं है। पर एक व्यक्तिके आवश्यकतासे अधिक संग्रह कर लेनेके कारण दूसरेके लिये वह दुर्लभ हो जाती है। यदि सहयोगकी भावना हो तो जो भी थोड़े साधन हैं, उन सबको मिलकर बाँटकर काममें लायेंगे। आज एक व्यक्तिके पास अन्नकी कमी है, दूसरेके घरमें भंडार भरे पड़े हैं; यदि वह उस व्यक्तिको अपना ही अङ्ग समझकर आवश्यक अन्नादि दे दे तो वह जीवित रहकर अवश्य ही मौका मिलनेपर उसका बदला अच्छे रूपमें चुकायेगा और न भी चुका सका तो मानवता भी तो यही है। यदि कल देनेवालेकी स्थिति खराब हो गयी और लेनेवालेकी अच्छी हो गयी तो अवश्य ही लेनेवाला, देनेवालेकी मदद करेगा ही। हमारे धर्मनेताओंने इसीलिये दान, सेवा, परोपकारको धर्मका प्रधान अङ्ग बनाकर मानवके करुणा, कोमलता, उदारता और प्रेमभावको विकसित किया है। इनके विकाससे ही सबका कल्याण होता है।

जीवनके प्रत्येक कामको पारस्परिक सहयोगसे सफल और सुन्दर बनाया जा सकता है, थोड़े समय और श्रमसे अधिक और अच्छे काम हो सकते हैं, समय और श्रमकी बहुत बड़ी बचत हो सकती है और उस शक्तिको अन्य कामोंमें लगानेसे उत्पादन, समृद्धि, शान्ति और सुख बढ़ता है ही। समय एवं श्रमकी बचत जीवनको सार्थक बनानेमें बहुत सफलता दे सकती है।

अपने शरीरको ही लें, उसके जितने अङ्ग हैं, सबका अपना उपयोग है, महत्त्व है। सब अङ्ग एक दूसरेको सहयोग देकर काम करते हैं, वहींतक यह शरीररूपी मशीन ठीकसे और इच्छित काम कर सकती है। यदि हमारे अङ्ग एक दूसरेको सहयोग देना बंद कर दें तो कितनी कठिनाई होगी, जीवन दूभर हो जायगा। इसी तरह सभी प्रकारकी मशीनें अनेक प्रकारके पुर्जोंके सहयोगसे ही चलती और कार्य सम्पन्न करती हैं। अकेला व्यक्ति ऊब जाता है, निराश और हताश हो जाता है। कामको छोड़ बैठता है; एकसे दूसरा मिलते ही आनन्द-

का अनुभव होने लगता है । यदि उसका सहयोग विचार-विनिमय या प्रवृत्तिमें तनिक भी मिल जाय तो इसका अटका या रुका हुआ काम आगे बढ़ जाता है ।

सहयोग तो एक दूसरेको आज भी देते हैं या देना पड़ता है, पर उसमें स्वार्थकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ी हुई है । जहाँतक अपना स्वार्थ हुआ, दूसरेको सहयोग दिया; पर दूसरेका काम हुआ तो सहयोग नहीं दिया जाता । मनुष्य लेना अधिक जानता है, देना नहीं । वास्तवमें यह कृतघ्नता ही है । देना अधिक और लेना कुछ नहीं, यही भारतीय संस्कृतिका आदर्श है । दूसरेसे किसी भी प्रकारकी वस्तु कम-से-कम लेकर अधिक-से-अधिक देना, यही संतोंका सहज धर्म है । संतलोग अपने जीवनकी आवश्यकताओंको बहुत ही घटाकर समाजसे कम-से-कम लेते हैं और अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंका कल्याण हो, इसके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं । व्यक्ति एवं समाजके दोषों एवं दुर्गुणोंको कम और दूर करके उनमें सात्त्विक गुणोंका अधिकाधिक विकास करना ही उनके जीवनका लक्ष्य बन जाता है । वे अपने जीवनको सबके लिये तथा सबके कल्याणमें ही अपना कल्याण समझते हैं, अपने स्वार्थके लिये मनुष्य समाजका हित नहीं देखता, यही वर्तमान युगकी सबसे बड़ी खराबी है । पूर्वकालमें व्यक्तिपर समाजका अङ्कुश सदा लगा रहता था । यद्यपि वह समाज अपनी जाति और धर्मतक ही सीमित था, फिर भी मनुष्य ऐसा कोई काम नहीं करता, जिससे समाजकी हानि हो । उसे नीचा देखना पड़े । एक बुरा मनुष्य या उसका कृत्य सारे समाजको बरबाद कर डालता है; क्योंकि साधारणतया लोग अन्धानुकरण ही अधिक करते हैं और अवगुणोंकी ओर मानवकी प्रवृत्ति सहज ही हो जाती है । अतः व्यक्ति सदा यह ध्यान रखकर व्यवहार करे कि उसके किसी भी आचार-व्यवहार और प्रवृत्तिसे समाजका अहित न हो, समाज बदनाम न हो ।

व्यक्ति स्वयं संयमसे रहे और अपनी शक्ति, सम्पदा और समयको दूसरोंकी भलाईमें लगाता रहे । सेवा या त्याग ही उसका आदर्श हो । जन्मसे लेकर सारी जिंदगी वह किसी-न-किसी रूपमें दूसरोंसे, समाजसे उपकृत होता रहा है । उसने जो कुछ अर्जन किया है, उसमें अपने श्रमके साथ-साथ समाजके सहयोगका भी बड़ा हाथ रहा है, अतः उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह समाजकी सेवा करे एवं एक दूसरेको सहयोग देकर अपने ऋणका परिशोध करे । समाजको ऊँचा उठाने और उसके दुःख तथा अभावोंको मिटानेमें अपना उत्सर्ग कर दे ।

समाजके संकुचित दायरेको हम विस्तृत करें । सदा मानव-समाज एक है, इससे भी आगे बढ़कर सारे प्राणीमात्र हमारा ही चेतन-समाज है । सबके कल्याणकी भावना और प्रकृति हो, यही भारतीय आदर्श है । हम सब यथासम्भव इसी आदर्शको जीवनमें प्रतिष्ठित करें ।

तुम्हीं मेरे सर्वस्व !

प्राणनाथ ! तुम्हारे बिना जगमें है कौन मेरा ?
तुम्हारे ही स्नेहने मुझको है सब ओर घेरा ॥
किसीमें, कहीं भी, कैसे भी, न लगता चित्त मेरा ।
पा लिया मैंने बस, तुम्हारे चरणोंमें ही डेरा ॥
तुम्हीं मेरे हो सर्वस्व, और कोई नहिं मेरा ।
न भोग, न लोक, न परलोक, न घर, न रैनबसेरा ॥
तुम्हारा रूप, नाम व गुण ही है परम धन मेरा ।
तुम-सा न पाया कहीं, कोई भी, खोजा घनेरा ॥
बसे रहो सुखसे नित्य, तुम्हारा घर है मन मेरा ।
बसूँ मैं भी सदा तुममें, न कुछ रहे मेरा-तेरा ॥

मूर्तिमान् परोपकार

[कहानी]

(लेखक—स्वामीजी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

वह आपादमस्तक गंदा आदमी था । मैली धोती और फटा हुआ कुर्ता उसका परिधान था । सिरपर कपड़ेकी एक पुरानी गोल टोपी लगाता था, जिसमें एक सूराख भी था । उसकी कमर कमान बन गयी थी । बाल चाँदी और मुँह वेदान्ती । चेहरेपर झुर्रियाँ थीं । दो भूरी आँखें गहरे गड्ढोंमेंसे झाँकती थीं । उसके शरीरकी हड्डियाँ और नसें उभरी हुई थीं । कहीं-कहीं मांस सिकुड़कर लटक गया था ।

स्कूलके सामनेवाली झोंपड़ीमें उसने एक छोटी-सी दूकान बना रक्खी थी । जहाँसे बच्चोंको स्याही, कलम, पेंसिल, कापी आदि छोटी-छोटी चीजें प्राप्त हो जाया करती थीं । उसी दूकानसे उसका जीवन-निर्वाह होता था । सुना जाता था कि उसके पास कुछ खेती भी थी और वह एक गाँवमें रहता था । उसके लड़कोंने खेती छीन ली थी और उसे घरसे निकाल दिया था । उसने भी कभी अच्छे दिन देखे थे । अब तो वह किसी प्रकार जीवनके दिन पूरे कर रहा था ।

सभ्यताके नाते, मैं उस गंदे और गरीब आदमीको 'बाबाजी' कहा करता था । वास्तवमें मुझे उसकी सूरतसे, चाल-ढालसे और उसकी बोल-चालसे अत्यन्त घृणा थी । हाथमें एक चिलम लिये, जिसमें एक छोटा-सा चीमटा बँधा रहता था, जब शामको वह धीरे-धीरे चलता हुआ मेरे पास स्कूलमें आता था, तब मैं अपने मनमें उसे कई दर्जन गालियाँ दिया करता था ।

कई बार मैं ऐसी हरकतें करता, जिससे वह स्कूलके चबूतरेपर बैठकर चिलम पीना और खाँसना छोड़ दे । मैं नहीं चाहता था कि वह मेरे पास आया करे । जब वह आकर बैठता, तब मैं उठकर अलहदा टहलने लगता था । जब वह मुझसे बातें करने लगता, तब मैं कोई किताब पढ़ने लगता । मगर मेरी इस बेज़ारीका कोई असर उसपर नहीं पड़ता था । जहाँ शाम हुई और वह चिलम लेकर आ बैठा । कभी-कभी कहता—

'मास्टर साहबने रोटी तो बना ली होगी ?'
'हाँ—बना ली ।'
'सब्जी क्या बनायी थी ?'
'आलू बनाये थे ।'
'थोड़ी सब्जी बची भी होगी ?'

इस प्रकार वह रोज़ाना मुझसे कुछ सब्जी या दाल ले लिया करता था; फिर एक काले रूमालमें बँधे दो बाजरेके टिक्कर निकालता और बैठकर खाने लगता । यह देखकर मेरा जी जल उठता । गंदे कपड़े, गंदी रोटियाँ और खानेका गंदा तरीका । वह यह तो जानता ही न था कि सफाई क्या वस्तु होती है, उस बूढ़ेने मेरा जीवन दूभर कर डाला था । जितना खून रोज़ाना बनता था, उससे दूना जल जाता था । उसे स्कूलमें आनेसे कैसे रोकूँ, यही चिन्ता मुझे दिन-रात सताती रहती थी । अन्तमें एक दिन मैंने एक तरकीब निकाली । शामको जब वह स्कूलके चबूतरेपर आकर बैठा; तब मैं गरजकर बोला—

'बाबाजी ! कल शामको जब तुम आये थे, तब मेजपर दस रुपयेका एक नोट रक्खा था ।'

'ना महाराज ! मुझे तो पता नहीं ।' हाथ जोड़कर रूआसे स्वरमें उसने उत्तर दिया ।

'इस हाथ जोड़कर गिड़गिड़ानेसे; तुम यह साबित नहीं कर सकते कि तुमने नोट नहीं उठाया । मैं तुम-सरीखे नीच लोगोंको खूब पहचानता हूँ ।'

'पहचानते होंगे—महाराज ! भगवान् जाने जो मैंने वह नोट देखा भी हो ।'

'बगला भगतोंवाली बातें छोड़ो । अगर तुम बुरे न होते तो तुम्हारे लड़के तुमको घरसे क्यों निकालते ? कमीना कहाँ-का—भाग जा यहाँसे—खबरदार जो फिर कभी इधरका रुख किया ।'

वह मेरी तरफ देखता हुआ, चिलम उठाकर चल दिया । मैंने उसका चेहरा देखा । वहाँपर दिल हिला देनेवाला एक दुखी दिखलायी पड़ा । उसका दिल टूट गया था । उसकी आँखें कह रही थीं—'मैं गरीब हूँ—असहाय हूँ—निर्बल हूँ—परंतु इतना नीच नहीं हूँ कि किसीकी चोरी करूँ !'

× × ×

उस दिनसे उसका आना-जाना बंद हो गया। बोलचाल-का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरहसे मेरे दिन आरामसे कटने लगे। दिल-दिमागकी बेचैनी खतम हो गयी। मैं प्रसन्न रहने लगा।

कुछ दिनों बाद वर्षाऋतु शुरू हो गयी। प्रायः प्रतिदिन रातको वर्षा होने लगी। खैर, कोई बात नहीं। वर्षाऋतुमें वर्षा तो होगी ही। परंतु एक रातको तो वर्षाने सीमा तोड़ दी। संध्या-समयसे जो वर्षा शुरू हुई तो थमनेका नाम ही न लिया। मैंने जल्दीसे भोजन बनाया और स्कूलके बरामदेमें चारपाईपर लेट गया। नींद नहीं आ रही थी। तीन घंटे बीत गये, परंतु वर्षा समाप्त न हुई। न मालूम क्यों आज पहली बार मुझे भय लगा। वर्षाके शोरके अलावा कोई आवाज़ नहीं आ रही थी। उस स्कूलसे गाँव आधा मील दूर था। न तो किसी आदमीकी आवाज़ सुनायी पड़ती थी और न कोई रोशनी ही दृष्टिगोचर हो रही थी। कुत्ते भी नहीं भौंक रहे थे। चारों तरफ घोर सन्नाटा छाया हुआ था। झींगुरोंकी झाँझ बज रही थी, मेढकोंका तबला बज रहा था और बरसात झमाझम नाच रही थी। केवल बाबाजीकी झोंपड़ी अवश्य सामने थी परंतु, शायद आज वह भी सबेरे सो गया था। खाँसनेकी भी आवाज़ नहीं आ रही थी।

मुझे जो भयका वातावरण घेरे हुए था, वह अकारण न था, थोड़ी देर बाद जब मैं लघुशंकाके लिये उठकर चारपाई-से नीचे उतरा तो मेरी चीख़ निकल गयी। मैं उछलकर चारपाईपर जा बैठा। मेरा हृदय जोर-जोरसे धक-धक करने लगा। चारपाईके नीचे एक साँप लेटा हुआ था। मैंने तकियेके नीचेसे दियासलाई निकाली। वह सरदी खा गयी थी। कई तीलियाँ रगड़ीं परंतु वह जली नहीं।

लाचारीसे मैंने जोरसे दूसरी चीख मारी। शायद बाबाजीने सुनी हो। परंतु वह बेचारा मेरी सहायताके लिये क्यों आने लगा?

मरता क्या न करता? मैंने भगवान्‌का नाम लिया। हिम्मत बाँधकर, चारपाईके सिरहानेसे उतरकर कमरेमें गया। बक्समेंसे नयी दियासलाई निकाली और लालटेन जलायी। एक हाथमें लाठी और दूसरे हाथमें लालटेन लेकर बाहर निकला। परंतु साँप गायब था। मैं लालटेन फर्शपर रखकर चारपाईपर बैठ गया। परंतु भयके कारण हृदय काँप रहा था। उधर वर्षाने और भी जोर पकड़ रक्खा था। क्षण-क्षणमें बिजली चमक रही थी। बादल भी खूब गरज रहे थे। अन्तमें सोच-विचारकर शर्मको एक तरफ रखकर लालटेन उठायी और मैं लाठी लिये हुए बाबाजीकी झोंपड़ीके सामने जा खड़ा हुआ। मैंने धीरेसे पुकारा—'बाबाजी!'

परंतु—कोई उत्तर न मिला।

बाबाजी-बाबाजी, लगातार जोरसे मैंने दूसरी और तीसरी आवाज़ लगायी। शायद बाबाजी गहरी नींदमें सो रहे थे। फिर मुझे यह भी विचार आया कि कहीं किसी साँपने, उसे काट न खाया हो—चटाईपर जमीनपर सोता था बेचारा, परंतु यह असम्भव था; क्योंकि वह एक माना हुआ सँपेरा था। तब मैंने जोरसे झोंपड़ीका दरवाज़ा खटखटाया। अंदरसे आवाज आयी—

'कौन है?'

'मैं हूँ।'

'कौन? मास्टरजी?'

'हाँ।'

'क्या बात है?' बाहर आकर वह बोला।

'मुझे वहाँ डर लगता है। तुम वहाँ चलो।'

'कहाँ चलूँ?'

'स्कूलमें।'

'क्यों?'

'अभी-अभी एक भयानक साँप, मेरी चारपाईके नीचे लेटा था।'

'ना, महाराज! मैं स्कूलमें नहीं जाता। मैं तो चोर हूँ।'

'बाबाजी! वह बात और ही थी। मुझे मुसीबतसे बचाओ।'

'चले जाओ—यहाँसे!' उसने गरजकर कहा।

मैं निराश होकर लौट चला। मुझे बाबाजीपर बड़ा क्रोध आ रहा था। सहसा वह बोला—'मास्टरजी! ज़रा सुनो तो!'

मैंने सोचा कि दयालु भगवान्‌ने उसके दिलमें दया भर दी है। मैं लौटकर उसके पास जा खड़ा हुआ। वह बोला—

'कितना बड़ा साँप था?'

'होगा कोई दो गज़ लम्बा!'

हूँ'—कहकर उसने मुँह फेर लिया।

'हूँ—क्या बाबाजी?' मैंने नम्रतासे पूछा।

'कुछ नहीं। कोड़िया नाग होगा। उसका काटा पानी नहीं माँगता।'

'तो फिर ?' मैंने गिड़गिड़ाकर कहा।

'तो फिर मैं क्या करूँ ? तुम जाओ।' उसकी जीभ लड़खड़ा रही थी।

मुझे बड़ी निराशा हुई। उसने वापस बुलाकर मेरा भय और भी बढ़ा दिया था। मैंने सोचा कि इस बूढ़ेका शरीर जितना गंदा है, उससे भी ज्यादा इसका मन गंदा है। मेरे जीमें आया कि इस स्वार्थी बूढ़ेकी गरदन मरोड़ दूँ।

मैं फिर मुड़ा। उसका चेहरा देखा तो उसके आँसू बह रहे थे। मैं पश्चात्तापकी आगमें जलने लगा। वह कठोर हृदय न था—भावुक हृदय था। मैंने पास जाकर कहा—'मुझे क्षमा करो—बाबाजी ! मैंने चोरीकी बात झूठ कही थी।' मेरी आवाज आँसुओंमें डूब गयी।

'रोते हो मास्टरजी ? भला, इसमें तुम्हारा क्या अपराध ! जब मेरे लड़कोंने ही मुझे घरसे निकाल दिया, तब दूसरोंकी क्या शिकायत ? अपना-अपना भाग्य है—बाबू !' उसने चुपकेसे अपने आँसू पोंछ लिये।

'नहीं बाबाजी ! मैं बड़ा पापी हूँ।' मेरी हिचकी बँध गयी।

'पागल हो गये हो—मास्टरजी !'

वह बातें करता हुआ मेरे साथ स्कूलमें आ गया। काफी देरतक बैठा-बैठा मुझे साँपोंके किस्से सुनाता रहा। अन्तमें वह बोला—

'कितना ही जहरीला साँप हो, मैं उसे हाथसे पकड़ सकता हूँ।'

'तो साँप काटेका मन्त्र भी है—आपके पास—बाबाजी ?'

'मन्त्र होता तो है—मास्टरजी ! परंतु मुझे मालूम नहीं। मैं तो मुँहसे चूसकर जहर बाहर निकाल देता हूँ।'

'मुँहसे ? और जहर तुमपर असर नहीं करता ?'

बाबाजीने हँसकर उत्तर दिया—'असर अवश्य करता है—बाबू ! परंतु, उसके लिये मेरे पास एक दवा है। झोंपड़ीमें एक काली-सी बोतल रक्खी है। उसमें एक बूटीका अर्क भरा है। जहर चूसकर उसे थूक देता हूँ और उस अर्कसे तुरंत दो कुल्ले कर डालता हूँ। फिर कोई असर नहीं होता। जब मैं किसीका जहर खींचने जाता हूँ, तब वह काली बोतल साथ लेता जाता हूँ।'

बातें करते-ही-करते बाबाजी वहीं फर्शपर लेट गये और तुरंत सो गये। उनकी नाक बजने लगी। परंतु मुझे नींद कहाँ। चारपाईपर करवटें बदलते-बदलते काफी देर हो गयी। मुझे प्यास लग आयी। पानीका घड़ा कमरेके अंदर था। साँपके डरसे एक बार फिर कलेजा काँप गया। लेकिन यह सोचकर साहस बाँधा कि बाबाजी तो पास ही हैं। मैं पानी पीनेके लिये उठा। चारपाईसे उतरकर जूता पहिना। लेकिन यह क्या ? पैरपर मानो किसीने जलता हुआ अँगारा रख दिया। उसी साँपने कहींसे आकर मेरे पैरमें जोरसे डँस लिया था। मेरी आत्माने कहा—'तुमने चोरीका मिथ्या दोष लगाकर बाबाजीका दिल बेकार दुखाया था, उसका बदला महामायाने ले लिया। दिल दुखानेकी सजा बड़ी भयानक होती है; क्योंकि दिलमें दिलदारका निवास होता है !'

इसके बाद मैं बेहोश हो गया।

× × ×

जब मैं होशमें आया तो धूप फैल रही थी। आकाश साफ था। मेरे आस-पास स्कूली बच्चोंका और कुछ किसानोंका जमाव था। स्कूलके आस-पास जिनके खेत थे, वे किसान लोग जमा थे। मेरा सिर घूम रहा था। निर्बलताके कारण उठा नहीं जाता था। पैरमें अब भी कुछ जलन हो रही थी। मैंने किसानोंसे पूछा—'बाबाजी कहाँ हैं ?'

'बाबाजी, भगवान्‌जीके पास पहुँच गये !' एक किसान बोला।

'कैसे क्या हुआ—?' मैंने अचकचाकर पूछा।

वही किसान कहने लगा—'सुबह जब लड़के स्कूल आ रहे थे तो उनकी लाश झोंपड़ीके पास पड़ी मिली। जहरसे सारा शरीर नीला पड़ गया था। जीभ सूजकर बाहर निकल आयी थी। मालूम होता है कि रातमें आपको साँपने काटा था। बाबाजीने जहर खींच लिया। परंतु दवाकी बोतल झोंपड़ीमें थी। वहाँतक जाते-जाते जहर अपना काम कर गया !'

'बेशक मुझे साँपने काटा था। लेकिन उनको चाहिये था कि बोतल ले आकर जहर खींचते !' मैंने कहा।

'तबतक आप मर भी जाते—मास्टरजी !' वही किसान बोला। मैं फिर बेहोश हो गया।

× × ×

मैंने बाबाजीकी लाश जलायी। उस स्थानपर पक्का चबूतरा

बनवा दिया । वहाँ एक पत्थर लगवा दिया जिसपर लिखा था—

''मूर्तिमान् परोपकारी बाबाजी,

जिनको मैंने झूठी चोरी लगायी थी । पर जिन्होंने मेरे पैरका जहर खींचकर अपने प्राण दे दिये । इस बलिदानकी पराकाष्ठा कह सकते हैं । परमात्मा उनकी आत्माको शान्ति दें । किसीका शरीर गंदा देखकर यह नहीं सोचना चाहिये कि उसका हृदय भी गंदा होगा'' मास्टरजी ।

जीवनकी मूलभित्ति

(लेखक—श्रीलावेल फिल्मोर)

यदि कोई व्यक्ति हमारे परिवारके सदस्योंकी या हमारी राजनीतिकी अथवा हमारे पहनावेकी आलोचना करता है तो हमें उस आलोचनाका प्रभाव अपने ऊपर नहीं होने देना चाहिये । यदि हम अपने मनका संतुलन एवं शान्ति बनाये रहें तो इस प्रकारकी आलोचनाएँ हमें स्पर्श नहीं कर सकेंगी । अन्य द्वारा की गयी आलोचनासे क्रोधित हो उठना, उत्तेजनामें आ जाना अथवा दुखी हो जाना किसी भी रूपमें हमारी स्थितिको सुधार नहीं सकता और न हम अपनेको अच्छी परिस्थितिमें अनुभव कर सकते हैं । इसके विपरीत, यदि हम आलोचकको उसकी आलोचनाके लिये क्षमा कर दें, या उसके शब्दोंको सर्वथा भूल जायँ और उसके प्रति शुभभाव जाग्रत् करें तो हम भगवान्‌की महान् संनिधिकी महत्त्वपूर्ण चेतनाके साथ तादात्म्य बनाये रख सकते हैं ।

यदि वर्तमान जगत् आपकी रुचिके अनुकूल नहीं है तो अभीसे एक सुन्दर जगत्‌के निर्माणका कार्य सच्चे रूपमें आरम्भ कीजिये । भगवान्‌को इसकी आधारभित्ति बनाइये; इससे आपको सुन्दर जगत्‌के निर्माणका ढंग स्वतः ज्ञात होगा । आपको दिन-प्रति-दिन यह अनुभव होगा कि आप सचमुच कितने सुन्दर जगत्‌में रह रहे हैं, परंतु आपने कभी इसको ठीकसे समझा नहीं ।

हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी तथा सच्चे अर्थमें जीवनका सुन्दरसे सुन्दर उपयोग करनेकी सुनिश्चित पद्धति यह है कि हम प्राप्त परिस्थितियोंकी प्रशंसा करें एवं उनके प्रति शुभ भावना करें । साथ ही हम दूसरोंकी अच्छाइयोंके प्रति कृतज्ञ होनेमें कभी न चूकें ।

भगवान् यह कभी नहीं चाहते कि आप कष्टमें पड़े रहें, भयभीत हों, अथवा विषादके शिकार बने रहें । भगवान् पूर्ण प्रेमस्वरूप हैं । पूर्ण प्रेम सम्पूर्ण भयोंको निर्मूल कर देता है । पूर्ण प्रेम हमारी प्रत्येक आवश्यकताकी पूर्ति करता है । भगवान् आपके लिये आवश्यक शुभ आपके चाहनेके पूर्व ही आपको दिये हुए हैं ।

हम इस लक्ष्यतक पहुँचनेसे वञ्चित रह जाते हैं; क्योंकि हम इस ओर दृष्टि ही नहीं करते । जिसकी लक्ष्यकी ओर दृष्टि नहीं है, वह उसका भेदन कैसे कर सकता है ? लक्ष्य यह है---भगवान्‌की संतान होनेके नाते हम भी भगवदीय हैं और भगवान्‌के अंश होनेसे हम प्रेमी, दयालु, ईमानदार, सुखी, समृद्ध, स्वस्थ एवं विवेकी हैं ।

प्रत्येक व्यक्ति वास्तवमें केवल शुभकी खोजमें है; किंतु कुछ व्यक्ति यह भूलकर कि शुभकी अभिलाषाका विकृतरूप ही तुच्छ वस्तुओंकी कामनाके रूपमें व्यक्त होता है, ऐसा सोचा करते हैं कि शुभमें रोचकता नहीं । वे अपनी कामनाओंकी तहमें ठीकसे पहुँच ही नहीं पाते । शुभके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुसे उनकी कभी तृप्ति नहीं हो सकेगी ।

भयने कभी किसीको समृद्धिशाली नहीं बनाया । साहस एवं प्रेमने अनेकोंको समृद्धिमान् बनाया है ।

निरन्तर प्रसन्नमुख रहनेसे मनुष्य आशावादी बनता है और आशावादी बड़ा सुखी होता है ।

आप भगवान्‌के अंश हैं, आप भगवान्‌को उतने ही प्यारे हैं, जितना कि पौराणिक आख्यानमें आवारा पुत्र पिताको प्यारा था । जब वह घर लौटा, तब उसके पिता भुजा भरकर उससे मिले और उनके पास जो भी अच्छी वस्तुएँ थीं, उन सबमें उसका हिस्सा रहा । हम भी अपने पिताके पास कैसे लौटें ? इसका उपाय है—हम अपनी दृष्टिको घृणा, द्वेष, लोभ, भय, काम और संदेहसे हटाकर परमपिता परमात्माके प्रेमसे सराबोर करें ।

हम इस संसारमें रहनेके लिये और यह सिद्ध कर देनेके लिये हैं कि हम भगवान्‌की संतान हैं, सर्वोत्कृष्टकी आशा न कर सदा अर्धमृतकी भाँति निकृष्टसे भयभीत रहकर अपना जीवन बितानेके लिये नहीं ।

(अनुवादित)

एक प्राण दो शरीर

[कहानी]

(लेखक—श्रीआचार्य सर्वे)

यह कहानी वहाँसे शुरू होती है जहाँसे आत्माओंकी सीमाओंका आरम्भ होता है।

बहुत पुराने समयकी बात है जब कि पाप अभी सो रहा था, एक युवक और एक युवती जो एक-दूसरेको पति और पत्नीके रूपमें जानते थे, अपनी छोटी-सी गृहस्थीकी बैलगाड़ीपर जीवनके अन्तिम पड़ावतक पहुँच गये थे। उन्होंने देखा कि सामने उत्तरका काला पहाड़ था। जिसके हिमस्नात शिखरोंपर व्यभिचार और हिंसाके काले धब्बोंवाली मृत्यु-बालाएँ द्रुतगतिसे नृत्य कर रही थीं। पीछेकी ओर छूटे हुए उत्तप्त भूखण्डमें राखके अनेकों ढेरोंके अलावा और कुछ न बचा था। पीछे लौटना व्यर्थ था, आगे मौत थी और फिर भी, उनकी बैलगाड़ी किसी अव्यक्त शक्तिद्वारा खिंची-सी चली जाती रही।

अन्तिम क्षण आ पहुँचा। दोनोंने एक-दूसरेकी ओर पूर्ण-प्रणयसे निहारा और पुनः उनके शीश किसी अनन्त शक्तिके प्रति सदाके लिये नत हो गये। यही वह 'आदि-युगल' था जिसने कि विश्वमें सबसे पहले आजीवन साथ रहनेका व्रत लेकर विवाहित जीवनका श्रीगणेश किया था।

अगले सुबह—

हिमालयकी तराईमें प्रतिदिवसकी भाँति 'नया-विहान' जाग उठा था। चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। ऊँची-ऊँची बर्फीली चोटियोंकी परछाइयाँ सुनील जल-राशिपर तैर रही थीं। उनके हिमानी-शिखर टूट-टूटकर फिसल रहे थे। प्रपातोंके तटोंपर उगे हुए कोमल पौधे सिर हिला-हिलाकर नाच रहे थे। पत्ते ताल दे रहे थे। काँटे पहरा दे रहे थे। कलियाँ चटक रही थीं। उन्हें उस मस्तीमें अपनी ओर तेजीसे सरकती हुई बर्फीली मौतका आभासतक न था और तब, जब कि सब कुछ, जीवनकी मदहोश रङ्गिनियोंमें विभोर था, दो-आत्माएँ, बर्फके नीचे दबी हुई एक गाड़ीकी सलवटोंसे निकलकर मुक्त-गगनकी ओर उड़ गयीं। दो तिलगोजेके पेड़ उसी जगह उभर आये थे। दो पशु अब स्वच्छन्दतापूर्वक चर रहे थे। पहाड़ और मैदानका क्रम भी पूर्वकी भाँति चल रहा था मानो कुछ हुआ ही न हो।

ठीक इसी समय दो देवदूत, एक देवदारके वृक्षके नीचे खड़े हुए, उड़कर जाती हुई उन चिरपरिचिता आत्माओंकी ओर टकटकी लगाये थे। दो कबूतर उसी समय किसी दिशासे आकर इस देवदारके पेड़की उच्चस्थ फुनगियोंसे टकराते हुए सर्राटा भर गये।

दोनों देवदूत, एक ही गुण, कर्म और स्वभावके प्रतीत हो रहे थे। इनमेंसे एकको उस युवकका अधिरक्षक बनाकर भेजा गया था और दूसरेको युवतीका। अब उनके प्राणान्त होनेके कारण ये भी स्वच्छन्द थे। फिर भी इन दोनोंको अभी उस अवधितक इसी भूखण्डमें ही निवास करना था जबतक कि हिमकी तहोंके नीचे दबे हुए वे दोनों शरीर पञ्चभूतोंमें विलय नहीं हो जाते।

एक दिन सुनील आकाशसे एक तेजोमय पिण्ड उतरता दृष्टि पड़ा। वे दोनों शान्त हो सुनने लगे। एक ओजस्विनी वाणी मुखरित हो रही थी—

'उन्हें प्रेमकी महत्तम गरिमाके प्रभावसे मुक्ति प्राप्त हुई। अब तुम भी स्वतन्त्र हो।' यह सुनकर विनम्रतासे वे बोल उठे। 'देवाधिदेव! हम मुक्ति नहीं चाहते। हम उन पुनीत प्रेमियोंके देहोंकी पूजाका ही अधिकार आपसे चाहते हैं।'

इसपर वायु-मण्डलमें कुछ लयबद्ध कम्पन-सा थिरक उठा। जिसके साथ मधुरिमा-स्नात-सी ध्वनि गूँज उठी—

'आसक्ति तो अपराध है, देवदूतो! तुम्हें अब अवकाश ग्रहण करना ही होगा। हम तुम्हारे कार्यसे संतुष्ट हुए। आजसे तुम्हें मोघकर्मा देवदूतोंकी श्रेणियोंमें बैठनेका अधिकार रहेगा। तुमने मानवी-हृदयमें ईश्वरीय प्रेमके दिव्याङ्कुर प्रस्फुटित कर एक महान् कार्य किया है। तुमने देवलोकमें मृत्युलोकके लिये अलौकिक काव्यानन्दके एक दिव्य स्वरूपका प्रतिष्ठान किया है। तुम्हारे अधिरक्षणमें स्थित वे दोनों आत्माएँ बहुत सबल, पवित्र और धार्मिक प्रमाणित हुई हैं। तुम अब स्वतन्त्र हो।'

एक अव्यक्त ध्वनि पुनः प्रादुर्भूत हुई।

दोनों देवदूत हाथ जोड़कर मस्तक नवाते हुए बोले—'देवाधिदेव! विश्वनियन्ताके हम सेवक हैं, जैसी आज्ञा! किंतु अपराध क्षमा हो तो इतने बड़े कार्यके बदलेमें स्वामीसे कुछ पुरस्कार माँगें?'

'पुरस्कार लेनेसे कर्मका दिव्यांश सुरक्षित रहते हुए भी पार्थिव-अंश शिथिल पड़ जाता है, फिर भी हम तुमसे प्रसन्न हैं, माँग सकोगे।' उत्तर मिला।

'हम दोनों युगयुगान्तरतक कभी पृथक् न हों। जब-जब वे आत्माएँ पुनः शरीर धारण करें, तब-तब पुनः हम दोनों जने भी प्रेमयुक्त हो एक दूसरेसे मिल सकें।'

'तुम मूर्ख हो। सो तो होगा ही। तुम अब सदाके लिये उस स्वर्गीय जोड़ेके समान ही एक हो चुके। तुम्हें अब कोई कर्म-फल पृथक् नहीं कर सकेगा। तुम्हें कुछ और पुरस्कार माँगना चाहिये था।' एक सुमधुर हास्य-ध्वनिसहित पुनः उत्तर प्राप्त हुआ।

दोनों देवदूतोंने हाथ मलते हुए एक-दूसरेकी ओर देखा। आँखों-ही-आँखोंमें कुछ मन्त्रणा की और पुनः ऊपरकी ओर देखते हुए बोले—

'महाप्रभो!' हम मुग्ध हो गये हैं। हमारी अज्ञता क्षमा हो। हम दूसरा वर माँगना चाहते हैं। हमें अनुमति मिलेगी?'

'क्यों नहीं!' पीताम्बरके फटकनेके हलकेसे शब्दके साथ-साथ एक व्यङ्गमिश्रित अधिहसित स्वर सुन पड़ा। प्रभु भी अपने सेवकोंसे परिहास करनेमें आनन्द अनुभव करते हैं। देखिये न! लीलामय स्वयं अपने सेवकोंकी मूर्खतासे प्रेम करने लगे हैं।

वे दोनों—सच्चिदानन्दघन! तो हम यह चाहते हैं कि हमारी उन आत्माओंको कोई कष्ट न हो। हमें वे बहुत प्रिय हैं। वे जन्म-मरण, हानि-लाभ, सुख-दुःख और ईर्ष्या-आसक्ति आदिके विचित्र जंजालसे मुक्ति पा जायँ।

'देरतक मृत्युलोकके प्राणियोंकी संगतिमें रहनेके कारण तुम्हारी बुद्धिपर जडताका चित्र उभर आया है, प्रतीत हुआ। अच्छा; तो जाओ, हमें विलम्ब हो रहा है।' सुदूर गगनमें लोक-लोकान्तरोंके जन्म-जन्मान्तरों तकको पवित्र कर देनेवाला एक मुक्त हास्य सुन पड़ा।

दोनों देवदूत, अपनी अज्ञतापर कुछ संकुचितसे होते हुए प्रसन्न मुद्रामें एक दूसरेकी ओर अर्ध-निमीलित नेत्रोंसे निहारने लगे।

कुछ क्षण बाद, उन्होंने कहा—'प्रभु मिले भी उन दोनों हुतात्माओंके प्रतापसे, किंतु कुछ माँग न सके। हमें माँगना भी न आया। और वे अपनी भूलपर कहकहा लगाकर एक दूसरेकी ओर देखते हुए अपने उपवस्त्र कंधोंपर जँचाकर चलनेको समुद्यत हुए।

दूसरे ही क्षण, वे स्वेच्छापूर्वक स्वर्गीय-गगनमें विहार कर रहे थे।

पहलेने दूसरेको पूछा—

'क्यों! पक्षाणु, भला तुम ही सोचो कि आज हमें किस बड़े कार्यके लिये इतना सम्मान प्राप्त हुआ है?'

दूसरेने कहा—'मुझे यह सब सोचनेका अवकाश कहाँ! मुझे तो बरसोंसे तुम्हारा अनुगमन करनेके कारण 'चिन्तन' करना ही भूल गया है। मैं तो बस, उसे सुननेका अभ्यस्त हो गया हूँ, जो तुम सुनाते चलो। मेरी अब कोई स्वतन्त्र भावसत्ता ही नहीं और न मैं चाहता ही हूँ। मुझे तो तुम्हारे निर्णय, तुम्हारे आदेश और तुम्हारी इच्छाएँ अपनी ही प्रतीत होने लगी हैं सो तुम स्वयं सोचो और मुझे बताओ कि हमने कौन-सा बड़ा कार्य कर डाला है।'

पहला देवदूत कुछ मुस्कराया और दूसरे देवदूतको आलिङ्गन करते हुए बोला—

'तुम नहीं जानते और शायद जानोगे भी नहीं कि हमारे दृष्टान्तसे पहले, मृत्यु-लोकमें मानव और मानवीका सम्बन्ध अमैत्री-पूर्ण था।'

'तुम्हारा मतलब?' दूसरेने कुछ चकित हो प्रश्न किया।

'मेरा मतलब यही कि पति और पत्नीका सम्बन्ध ही राष्ट्रके पवित्र एवं सुगठित उत्थानका मूल है।

'कुछ और स्पष्ट करो।' दूसरेने मुस्कराकर कहा।

'मतलब यह कि जिस राष्ट्रमें पति और पत्नीके सम्बन्धको भौतिक दृष्टिकोणपर कसा जाय, वह राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता और लगभग सभी राष्ट्रोंमें यही एक ढंग मानव और मानवीको बाँधनेका था और चूँकि पार्थिव सम्बन्ध सदैव नश्वर हैं, अतएव अबतक मनुष्यमें ईश्वरीय प्रेमका समावेश न हो पाया था। एक दूसरेके प्रति घृणा और अविश्वासका बाजार गर्म था। बड़े-बड़े गृहकलह और उनसे भी बड़े साम्प्रदायिक विद्वेष तथा उनसे भी अधिक भयावने राष्ट्र-संघर्ष इस मानव-जगत्को हिंसाकी लपलपाती हुई जिह्वाओंकी भेंट चढ़ा रहे थे।

'तो इस सबका कारण क्या पति-पत्नी सम्बन्धसे जुड़ा हुआ कोई अदृश्य दोष था?'

'क्यों नहीं; तुमने ठीक सोचा पक्षाणु, क्योंकि कभी-कभी तुम ठीक वही बात पहले ही कह डालते हो जो मैं कहना चाहता हूँ।' पहलेने मृदुतापूर्वक कहा।

'सो तो तुम्हें याद ही है न कि तुम युवकके अधिरक्षक थे और मैं युवतीका। पत्नीको पतिके प्रति पूर्ण जिज्ञासाका भाव रहना ही चाहिये। पत्नी तो पतिके हृदयमें इसी गुणके कारण समावेश कर जाती है। जिस पत्नीमें पतिके प्रति आत्म-त्यागका प्रशस्त भाव न हो, वह भला पवित्र प्रेमसम्बन्धको कैसे शाश्वत बना सकेगी? पुरुष तो स्वभावसे ही कठोर है, यदि पत्नी सहनशीला न हुई तो प्रेम कैसे बना रह सकेगा!

'और फिर अनेकों गृह-कलह जन्म लेकर क्रमशः कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र और विश्व-कलहमें परिवर्तित न हो जायँगे क्या ?'

पहले देवदूतने पुष्टि की।

दूसरेने कहा—'सूर्याणु, तुमने उचित कहा है। विश्व-अशान्तिका मूल, गृह-अशान्ति ही है और गृह-अशान्तिका मूल पति और पत्नीमें एक दूसरेके प्रति मैत्रीभावका न होना है। एकका दूसरेपर सर्वतोभावेन न्यौछावर न होना है, किंतु ऐसा न हो सकनेका कारण ?'

पहला बोला—'जहाँतक मैं समझ पाया हूँ; इसका मूल कारण अज्ञान ही है। जब लोग स्वार्थसे ऊपर परमार्थको, हिंसासे ऊपर अहिंसाको, भोगसे ऊपर त्यागको, बदलेकी भावनासे ऊपर आत्मोत्सर्गको और व्यभिचारसे ऊपर ब्रह्मचर्यको अनुभवद्वारा समझने लग जायँगे, उसी क्षणसे चिरन्तन-सत्यका प्रकाश जगमगा उठेगा। जिसकी सुनहरी रेखाओंपर 'विश्व-प्रेम' अग्रसर होगा और सम्पूर्ण विश्वमें सभी प्रकारके कष्ट शान्त होकर संतुलित सुख और कल्याणका समन्वयी साम्राज्य व्याप्त हो जायगा।'

इससे आगेकी वार्ता सुनी न जा सकी। एक प्राण-गोलक-द्वारा अधियन्त्रित वे दोनों शरीर व्योम-विहारमें रत इन्द्रियोंके अनुभूति-क्षेत्रसे परे जा चुके थे।

तूँवर भगवान

(लेखक—पण्डित श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

बसन बढ़े कुंती बधू त्यों 'तूँवर भगवान'के
(श्रीनाभादासजी)

भगवान्‌के भक्तोंका ढंग बड़ा निराला होता है। इस संसारमें रहकर भी वे यहाँसे अलग रहते हैं। उनकी क्रियाएँ भी हम सांसारिक व्यक्तियोंसे सर्वथा विपरीत होती हैं। हम माया-मोहमें लिपटकर अनेक प्रकारकी यातनाएँ सहकर रोते-कलपते हैं, पर उसमें लिपटते ही जाते हैं; किंतु भगवान्‌के भक्त माया-मोहसे मुक्ति पानेके लिये भगवान्‌की चरण-शरण ग्रहण कर लेते हैं और उससे दूर रहनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। विपत्तियोंका आक्रमण उनपर भी होता है, दुःख उनके पास भी आते हैं, यातनाएँ उन्हें भी सताती हैं; किंतु वे उन सबका भगवान्‌का—अपने स्वामीका प्रेमभरा आशीर्वाद और प्रसाद समझकर सादर अभिनन्दन करते हैं। घोर कष्टके आवर्तमें पड़कर भी वे हँसते रहते हैं, माया उन्हें छल नहीं पाती। हमारा हृदय जितना अधिक छल-कपटपूर्ण होता है, भगवद्भक्त उतने ही सरल होते हैं। भीतर-बाहर उनका एक-सा होता है। हम संसारमें रचे-पचे रहते हैं और इसीमें उन्नतिके लिये उद्योग करते हैं, परंतु वे संसारमें 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' की भाँति रहकर करुणा-वरुणालय प्रभुके चरणोंकी ओर बढ़ते जाते हैं। उन्हीं प्रभुके मङ्गलमय तारण-तरण चरणोंकी प्राप्तिके लिये उनकी सारी क्रियाएँ होती हैं। कौन क्या कहता है, इसकी वे चिन्ता नहीं करते।

तूँवर जातिमें श्रीभगवानदास नामके एक परम भगवद्भक्त हो गये हैं। धर्म-कर्ममें इनकी दृढ़ आस्था थी। धर्मपालन ही इनके जीवनका मुख्य उद्देश्य था। इस कारण ये साधु-ब्राह्मणोंकी बड़ी सेवा करते थे। वृन्दाविपिनविहारी श्रीकृष्णचन्द्रमें इनकी अद्वितीय भक्ति थी ही। इस कारण ये प्रत्येक वर्ष एक बार मथुरा जाते। वहाँ कालिन्दीमें स्नान करके बड़े प्रेमसे रासलीला कराते।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंको देखकर इनका हृदय आनन्दकी तरङ्गोंमें तरङ्गित होने लगता था। इनकी आँखोंसे प्रेमके आँसू बहने लगते। रोम-रोम पुलकित हो जाते। रासलीला समाप्त हो जानेपर ये स्वर्णादिका दान करते। इसके बाद संतोंके चरण प्रक्षालन करके बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे उन्हें भोजन कराते थे। फिर उन्हें पहननेके लिये नूतन वस्त्र देते थे, इसके बाद ब्राह्मणोंको भी भोजन तथा वस्त्रादि दिया करते।

श्रीभगवानदासजी नियमपूर्वक प्रतिवर्ष प्रेमोन्मत्त होकर अपने प्राण-वल्लभ श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये

ऐसा करते थे, किसीको असंतुष्ट करनेका उद्देश्य उनका कदापि नहीं था, किंतु इतनेपर भी मथुराके कुछ ब्राह्मण इनपर मन-ही-मन कुपित रहते थे। वे अपना भाव मिथ्या अहम्मन्यताके कारण भक्त भगवानदासजीपर प्रकट नहीं कर पाते थे।

एक बार अवर्षणके कारण घोर अकाल पड़ गया। मनुष्य और पशु अन्न-जलादिके बिना त्राहि-त्राहि करने लगे। ऐसे समयमें भगवानदास-जैसा भक्त अपने पास धन किस प्रकार संचित रख सकता था। उन्होंने अपनी सम्पत्ति जनता-जनार्दनकी सेवामें लगा दी और इसी कारण उस वर्ष मथुरामें बहुत कम धन लेकर गये।

उनका हृदय अत्यन्त पवित्र था। छल-छद्मसे वे सर्वथा अपरिचित थे। उन्होंने ब्राह्मणोंको बुलाकर बड़े प्रेम और विनयसे निवेदन किया—'इस वर्ष मेरे पास धनका अभाव है। जो कुछ है वह आपलोगोंके सामने है। इतनेमें ही आपलोग रासलीला करायें या संतोंको भोजन-वस्त्र दें या ब्राह्मणोंमें वितरित कर दें। आपलोग जो उचित समझें वही करें।'

ब्राह्मण मन-ही-मन मुदित हुए। उन्हें भक्तकी कीर्ति नष्ट करनेका अच्छा अवसर मिला। प्रपञ्चहीन भक्त श्रीभगवानदासकी सम्पत्ति लेकर पहले उन लोगोंने आटा, घृत, शाक तथा चीनी आदि आवश्यक खाद्य सामग्रियाँ मँगवाकर रख लिया और सर्वप्रथम ब्राह्मणोंको दान देना प्रारम्भ किया। ब्राह्मणोंके मनमें उनकी कलुषित भावना काम कर रही थी। आन्तरिक द्वेषके कारण वे भक्तके माथे अपयश-तिलक लगानेकी चेष्टा कर रहे थे, किंतु जिसने अपना तन-मन त्रैलोक्यनाथके चरणोंमें छोड़ दिया है, जिसे एकमात्र विश्व-नियन्त्रककी ही आशा है, जो दयानिधान भगवान्के अतिरिक्त और किसीको कुछ जानता ही नहीं, उसे यश-अपयशसे क्या लेना-देना है? राग-द्वेषका प्रभाव उसपर नहीं पड़ता। सुख-दुःखसे वह विचलित नहीं हो पाता 'जो होता है, वह भगवान् करते हैं।' अपने इस दृढ निश्चयके कारण वह सदा प्रेमानन्दमें छका रहता है, निर्भय और निश्चिन्त रहता है। मस्त रहता है औ सचमुच उसका आनन्द और उसकी मस्ती मिट नहीं पाती। स्थायी बनी रहती है। समष्टिसंचालक स्व उसकी चिन्ता करते हैं। उसका योग-क्षेम वे स्वयं वहन करते हैं। अर्जुनसे अपने ही मुखारविन्दसे उन्होंने कहा था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

भगवान्का तो यह स्वभाव ही है। जो समस्त आशा छोड़कर केवल उन्हें ही भजते हैं, उनकी वे उसी प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार अबोध शिशुकी रक्षा जन्मदायिनी अत्यन्त प्रेमसे करती है। भगवान् श्रीरामने अपने इसी स्वभावको महामुनि श्रीनारदजीपर स्पष्ट प्रकट कर दिया था।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥
(रामचरितमानस)

ब्राह्मणोंने चाहा सारा धन केवल ब्राह्मणोंमें ही व्यय कर दें, किंतु वे जिस वस्तुमेंसे जितना निकालते थे, उसमें शतगुणी वृद्धि हो जाती थी। इस प्रकार स्वर्ण-मोहरें भी जितनी निकाली जातीं, उनमें शतगुणी वृद्धि होती गयी।

ब्राह्मणोंने एक-एक ब्राह्मणोंको बीस गुना दान दि और भिजवाया भी, किंतु कोई सामग्री कम नहीं हो सकी। यह आश्चर्यजनक घटना देखकर ब्राह्मण मन-ही-मन सशङ्कित होकर भक्तराजके गुणोंकी प्रशंसा क भगवान्की महिमाका गान करने लगे।

उस बार भी बड़े समारोहपूर्वक रासलीला हुई। ब्राह्म साधुओंका अपूर्व सत्कार तो हो ही चुका था।

भगवान् और उनकी कृपा धन्य है।

शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेके साधन

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से भाई मुझसे पूछा करते हैं कि 'परमात्माकी प्राप्ति कितने समयमें हो सकती है ?' इसका उत्तर मैं यह दिया करता हूँ कि इसके लिये कोई समय निर्धारित नहीं है। इसमें तो साधकके भावकी ही प्रधानता है। (१) ईश्वर और महापुरुषोंमें परम श्रद्धा, (२) परमात्माके स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान, (३) निष्काम कर्म और (४) अनन्य प्रेम (अनन्य भक्ति) पूर्वक भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा—ये सब भाव हैं। ये सभी भाव परमात्माकी प्राप्तिके उत्तम साधन हैं। इनमेंसे प्रत्येक भावमें परमात्माको प्राप्त करा देनेकी शक्ति है। साथमें समता और अभिमानके अभावपूर्वक तीव्र अभ्यास और वैराग्य हो, तब तो बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। महर्षि श्रीपतञ्जलिने कहा है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः । (योग० १ । २१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यके साधनकी गति तीव्र है, उनका योग शीघ्र सिद्ध होता है।'

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।

(योग० १ । २२)

'किंतु अभ्यास-वैराग्यके साधनकी मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होनेके कारण तीव्र संवेगवालोंमें भी कालका भेद हो जाता है।'

इसलिये जिनका साधन तीव्र होता है तथा भाव भी उच्च कोटिका होता है, उनको शीघ्रातिशीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

(१) जैसे बिजलीकी फिटिंग हो जाने और पावर-हाउससे कनेक्शन प्राप्त हो जानेपर स्विच दबानेके साथ ही रोशनी क्षणमात्रमें हो जाती है; इसी प्रकार मनुष्य जब पात्र बन जाता है अर्थात् जब वह परम श्रद्धालु बन जाता है, तब उसे परमात्माकी प्राप्ति तत्क्षण हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

जो ईश्वर और महापुरुषोंमें भक्ति एवं प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है, वह श्रद्धा है और उनमें जो भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, वह परम श्रद्धा है। प्रत्यक्षसे बढ़कर श्रद्धा कैसी होती है—इसको समझनेके लिये राजा द्रुपदके चरित्रपर ध्यान देना चाहिये। पहले जब राजा द्रुपदके कोई संतान नहीं थी, तब उन्होंने संतानके लिये भगवान् शङ्करकी उपासना की थी। भगवान् शङ्करके प्रसन्न होनेपर राजाने उनसे संतानकी याचना की। तब शिवजीने कहा—'तुम्हें एक कन्या प्राप्त होगी।' राजा द्रुपद बोले—'भगवन् ! मैं कन्या नहीं चाहता; मुझे तो पुत्र चाहिये।' इसपर शिवजीने कहा—'वह कन्या ही आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो जायगी।' इस वरदानके फलस्वरूप राजा द्रुपदके घर कन्या उत्पन्न हुई। राजाको भगवान् शिवके वचनोंपर पूर्ण विश्वास था, इसलिये उन्होंने उसे पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध किया और उसका नाम भी पुरुष-जैसा 'शिखण्डी' रक्खा। इतना ही नहीं, उन्होंने दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्यासे उसका विवाह भी कर दिया। यद्यपि प्रत्यक्षमें तो वह लड़की है, पर राजाको पूर्ण विश्वास है कि वह समयपर लड़का बन जायगा और हुआ भी वैसा ही। यह लौकिकविषयक प्रत्यक्षसे बढ़कर श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा परमात्मामें हो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अवताररूपमें पृथ्वीपर विद्यमान थे, उस समय जिन भीष्म, अर्जुन आदि पुरुषोंकी उनमें परम श्रद्धा थी, उनको तो वे प्राप्त ही थे; किंतु जिन दुर्योधनादिकी भगवान्‌में श्रद्धा नहीं थी, उनको भगवान् प्राप्त होकर भी अप्राप्त ही थे। जैसे किसीके पास पारस तो है परंतु उसे पारसका ज्ञान नहीं है तो उसे पारस प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त ही है, वैसे ही जिनको भगवान् श्रीकृष्णके परमात्मा होनेका विश्वास और अनुभव नहीं था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त ही थे; क्योंकि अनुभव होनेसे ही श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही भगवान्‌में प्रेम होकर उनकी प्राप्ति होती है। जैसे भक्त सुतीक्ष्णका भगवान् श्रीरामके परमात्मा होनेमें विश्वास था, इसीसे वे भगवान्‌के प्रेममें मग्न हुए, उनका दर्शन करनेके लिये आतुर हो चल पड़े तथा प्रेममें इतने विह्वल हो गये कि उन्हें अपना भान भी नहीं रहा और वे

मार्गमें ही बैठ गये । उनके प्रेमके कारण भगवान् तुरंत उनके निकट आ पहुँचे । उनकी इस प्रेमावस्थाका वर्णन श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना । नाम सुतीछन रति भगवाना ॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा । करत मनोरथ आतुर धावा ॥

… … … …

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए । देखि दसा निज जन मन भाए ॥

इस प्रकार भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेसे भगवान्की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, भगवत्प्राप्त महापुरुषमें श्रद्धा-प्रेम होनेसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है ।

जैसे पतिव्रता स्त्री पतिकी आज्ञाके अनुसार चलती है, जैसे मातृ-पितृ-भक्त मनुष्य माता-पिताकी आज्ञाके अनुसार चलता है और जैसे ईश्वरका भक्त ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार चलता है, उसी प्रकार जो महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आचरण करता है, उसको भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है । छान्दोग्य उपनिषद्में कथा आती है कि जबालाके पुत्र सत्यकामका श्रीहारिद्रुमत गौतमकी कृपासे—उनकी आज्ञाके पालनसे ही उद्धार हो गया और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेसे उपकोसलका उद्धार हो गया ।

सूत्रधार कठपुतलीको जैसे नचाता है, वैसे ही वह नाचती है; उसी प्रकार जो महापुरुषके प्रति अपने-आपको सौंपकर वे नचावें वैसे ही नाचता है, उसको बहुत ही शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । फिर जो जैसे छाया पुरुषका अनुसरण करती है, उसी प्रकार महापुरुषके संकेतके अनुसार चलता है, उसका अतिशीघ्र उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ! एवं महापुरुषके सिद्धान्तोंको समझकर उनके अनुसार चलनेका जिसका स्वभाव बन गया है, वह तो परमात्माको प्राप्त ही है । जैसे दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब दीखनेकी भाँति एक ईश्वरभक्तको ईश्वरके मनकी बात मालूम हो जाती है, पतिव्रता स्त्रीको पतिके मनकी बात मालूम हो जाती है, इसी प्रकार महापुरुषमें परम श्रद्धा रखनेवाले पुरुषको महापुरुषके मनकी बात मालूम हो जाती है । तब उस परम श्रद्धालुकी सारी क्रियाएँ महापुरुषके मनके अनुकूल स्वाभाविक ही होने लगती हैं । यह है महापुरुषमें सबसे बढ़कर परम श्रद्धा । ऐसी परम श्रद्धा होनेपर महापुरुषकी कोई भी क्रिया अपने मनके विपरीत होनेपर भी विपरीत नहीं लगती । वास्तवमें महापुरुषोंकी कोई भी क्रिया शास्त्रविपरीत नहीं होती; बिना समझे हमें विपरीत दीख सकती है । यदि वास्तवमें शास्त्रविपरीत क्रिया होती है तब तो वह महापुरुष ही नहीं है । महापुरुषमें जिसकी परम श्रद्धा है, उसको तो उनकी सारी क्रियाएँ लीलाके रूपमें दीखने लगती हैं, चाहे वे उसके मनके कितनी भी विपरीत क्यों न हों । अपने मनके अनुकूल क्रिया तो सभीको आनन्द देनेवाली होती है; किंतु महापुरुषकी अपने मनके विपरीत क्रिया देखकर भी जिस परम श्रद्धालुको ऐसी अतिशय प्रसन्नता होती है और वह उसमें इतना मुग्ध हो जाता है कि उसमें यह प्रसन्नता समाती ही नहीं तथा उस प्रसन्नतामें वह अपने-आपको भी भूल जाता है, उस परम श्रद्धालु साधकको श्रद्धाके प्रभावसे भगवान्की प्राप्ति उसी क्षण हो सकती है । इसके लिये मैंने शास्त्रमें तो कोई उदाहरण नहीं देखा, किंतु यह मेरे हृदयका उद्गार है ।

(२) परमात्माके स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान भी एक उच्चकोटिका भाव है । जैसे स्वप्नावस्थामें स्वप्नके संसारके सम्बन्धमें जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह स्वप्नका संसार है, तब उसी क्षण उस मनुष्यकी जाग्रत् अवस्था हो जाती है, इसी प्रकार इस संसारको स्वप्नवत् समझ लेनेपर जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब क्षणभरमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । उपनिषद्में बतलाया है—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डक० ३ । २ । ९)

'निश्चय ही जो कोई भी उस ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है ।'

कभी मनुष्यको ऐसा दिग्भ्रम हो जाता है कि वह दिग्भ्रम वर्षोंतक दूर नहीं होता, किंतु अपने जन्मस्थानपर आनेसे उसी क्षण दूर हो जाता है । इसी प्रकार जब मनुष्य परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब यह संसारका भ्रम क्षणभरमें दूर हो जाता है ।

यह जो कुछ दीखता है, जो कुछ समझमें आता है और जिनके द्वारा देखा और समझा जाता है, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ—सभी मायाके कार्य हैं और जड हैं, किंतु आत्मा चेतन है । जब मनुष्यको इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह उसी क्षण परमात्माको प्राप्त हो जाता है । गीतामें भगवान्ने कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
(१३ । ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

(३) निष्कामता भी एक उत्तम भाव है। इसकी प्रशंसा सभी शास्त्रोंमें की गयी है। कठोपनिषद्में निष्कामी नचिकेताकी बड़ी सुन्दर कथा है। जब नचिकेताने यमलोकमें जाकर यमराजसे आत्मतत्त्वके विषयमें प्रश्न किया तो उस समय यमराजने उसकी परीक्षा करनेके लिये बहुत-से प्रलोभन दिखलाते हुए कहा—'नचिकेता! तुम हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलके महान् साम्राज्यको माँग लो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्षोंतक जीनेकी इच्छा हो, उतने वर्ष जीते रहो तथा जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सम्पूर्ण भोगोंको तुम इच्छानुसार माँग लो। रथ और नाना प्रकारके बाजोंके सहित इन स्वर्गकी अप्सराओंको अपने साथ ले जाओ। मनुष्योंको ऐसी स्त्रियाँ निस्संदेह अलभ्य हैं। मेरे द्वारा दी हुई इन स्त्रियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ। नचिकेता! मरनेके बाद आत्माका क्या होता है—इस बातको मत पूछो!'

इस प्रकारका प्रलोभन दिये जानेपर भी नचिकेताका चित्त उनमें नहीं लुभाया, बल्कि उसने यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
……………………'वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥
(कठ० १ । १ । २६-२७)

'यमराज! जिनका आपने वर्णन किया, वे क्षणभङ्गुर भोग मनुष्यके अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको क्षीण कर डालते हैं। इसके सिवा, समस्त आयु, चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो, अल्प ही है। इसलिये ये आपके रथ आदि वाहन और ये अप्सराओंके नाच-गान आपके ही पास रहें, मुझे ये नहीं चाहिये। मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मविषयक वर ही है।'

यह सुनकर यमराज प्रसन्न हो गये और बोले—'नचिकेता! तुम विद्याके सच्चे अभिलाषी हो; क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुमको नहीं लुभा सके। हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें।' यह है निष्काम भाव।

श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित निष्कामभाव तो इससे भी बढ़कर है। गीतामें तो यहाँतक बतला दिया गया है कि निष्काम भाव अभ्यास, ज्ञान और परमात्माके ध्यानसे भी बढ़कर है (गीता ५ । २; ६ । १; १२ । १२)। इतना ही नहीं, यह साधन सुगम भी है (गीता ५ । ३) तथा यह स्वतन्त्र भी है (गीता ५ । ४-५; १३ । १४)।

यदि कहें कि शास्त्रमें यह कहा गया है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—बिना ज्ञानके कल्याण नहीं हो सकता' सो ठीक है। किंतु कर्मयोगके साधनके प्रभावसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माका यथार्थ ज्ञान भी स्वतः ही प्राप्त हो जाता है (गीता ४ । ३८)।

यदि कहें कि पापोंका नाश हुए बिना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती सो ठीक है। इस निष्काम कर्मसे पापोंका सर्वथा नाश भी हो जाता है (गीता ४ । २३; ५ । ११)।

इतना ही नहीं; कर्मयोगके साधकको परम शान्तिकी प्राप्ति भी इसी साधनसे हो जाती है (गीता २ । ७१, ५ । १२)। एवं परम शान्तिकी प्राप्तिके साथ ही अनामयपदकी और परमात्माकी प्राप्ति भी हो जाती है (गीता २ । ५१; ३ । १९)।

इसके सिवा इस निष्काम कर्मके साधनसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति उसी क्षण हो जाती है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
(५ । ६)

'अर्जुन! कर्मयोगके बिना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना ही कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।'

साथमें भगवान्की भक्तिका समावेश हो, तब तो कहना ही क्या है! उसके लिये तो भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'वह निःसंदेह मुझे प्राप्त हो जाता है।' गीताके १८ वें अध्यायके ४९वेंसे ५५ वें श्लोकतक वर्णित ज्ञाननिष्ठाके अनुसार जो परमात्माकी प्राप्ति संसारके विषय-भोगों और राग-द्वेषके त्यागसे, एकान्तवास, अतिशय वैराग्य और परमात्माके ध्यानसे मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेपर होता है, वह

भगवान्‌की शरणपूर्वक सदा-सर्वदा कार्य करते हुए भगवान्‌की कृपासे सहज ही हो जाती है (गीता १८।५६)। यह कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्तिका समावेश कर देनेकी विशेष महिमा है। भगवान्‌ने अर्जुनसे गीतामें आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भी कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

निष्काम भावसे कर्म करनेवाला पुरुष विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, तब वह पुरुष कर्म करता और विषयोंको भोगता हुआ भी परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निष्काम भावके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि, सम्पूर्ण दुःखों, पापों और विकारोंका नाश, चित्तकी प्रसन्नता और परम शान्तिकी प्राप्ति—ये सभी बातें स्वतः ही आ जाती हैं तथा कार्य करते समय धैर्य, उत्साह और प्रसन्नता रहती है; किंतु लोग निष्काम कर्मके तत्त्वको नहीं समझते। इसमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, भावकी प्रधानता है। दूसरोंके हितके लिये मनुष्य धन, पदार्थ, शरीरका आराम और स्वार्थका त्याग करके भी तबतक निष्कामी नहीं समझा जाता, जबतक उसमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा और प्रीति रहती है; क्योंकि मनुष्य मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये उपर्युक्त सभी स्वार्थोंका त्याग कर सकता है। एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग होनेपर भी जबतक ममता, आसक्ति और अभिमानका त्याग नहीं होता, तबतक वह वास्तवमें निष्कामी नहीं समझा जाता। इन सबके त्याग होनेपर भी यदि वह अपनेको निष्कामी समझता है तो यह भी उसके लिये दोष है। लोग स्वार्थका त्याग करके कर्म करते हैं और अपनेको निष्कामी मान लेते हैं, किंतु उनकी यह मान्यता गलत है। निष्कामी पुरुषको लोग ही निष्कामी कहते हैं, वह अपनेको निष्कामी नहीं मानता।

मनुष्य जब राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है, उसके अन्तःकरणसे राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब उसके प्रभावसे उसके मन-इन्द्रिय तो स्वाभाविक ही वशमें हो जाते हैं। वह विषयोंसे उपराम हुए बिना ही, विषयोंमें विचरण करता हुआ ही सहज ही परमात्माको प्राप्त कर लेता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(२।६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंमें भगवद्भक्तिका समावेश करके निष्काम-भावसे कर्म करना चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान् व्यापक हैं, वे सब भगवान्‌के हैं और मैं भी भगवान्‌का हूँ एवं भगवान् मेरे हैं तथा मैं जो कुछ करता हूँ; भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करता हूँ—इस भावसे भावित होकर कर्म करना भगवद्भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका साधन है। इस प्रकार कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यों भक्तिसंयुक्त निष्काम कर्म करनेवाला मनुष्य व्यवहार करते समय पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, पितर और मनुष्य आदि सभीमें भगवद्भाव रखता है और भगवद्भावसे भावित हुआ सबके हितमें रत रहता है। वह अतिथिकी सेवा करते समय अतिथिमें, भूतयज्ञ करते समय गौ, कुत्ते आदिमें, श्राद्ध-तर्पण करते समय पितरोंमें, श्रुति-स्मृतिका स्वाध्याय करते समय ऋषियोंमें और पूजा-होम आदि करते समय

देवताओंमें भगवद्भाव रखता है। यह भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग है। निष्कामभाव ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर परिपक्व होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके चित्तमें प्रसन्नता; शान्ति; परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान, ईश्वरमें प्रेम और संसारसे वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। जो लोग निष्कामी होनेका दावा रखते हैं, वे निष्कामी नहीं हैं। जो निष्कामी होता है, वह निष्कामी होनेका दावा नहीं रखता। उसका जीवन ही निष्काम हो जाता है। निष्कामभाव बहुत ही ऊँची श्रेणीकी वस्तु है। यह अभ्यास, वैराग्य; ज्ञान और ध्यान आदिसे भी श्रेष्ठ है (गीता १२। १२)।

(४) अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छाका होना बहुत ही उत्तम है। जब मनुष्यकी संसारसागरसे उद्धार होनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है, तब उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। इसे नीचे लिखी कहानीसे समझना चाहिये।

एक जिज्ञासुने किसी समुद्रतटवर्ती महात्माके पास जाकर पूछा—'महाराजजी ! संसारसे उद्धार होनेमें कितना समय लगता है ?' महात्माने उत्तर दिया—'यदि उद्धार होनेकी तीव्र इच्छा हो तो एक मिनटमें संसारसे उद्धार हो सकता है।' जिज्ञासुने कहा—'ऐसा ही उपाय बताइये, जिससे एक मिनटमें कल्याण हो जाय।' महात्मा बोले—'स्नान करनेके बाद बतलाऊँगा। चलो अभी हम समुद्रमें स्नान कर आवें।' फिर दोनों स्नान करनेके लिये समुद्रके तटपर गये और दोनोंने ही समुद्रमें प्रवेश किया। महात्माका शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ था। स्नान करते समय महात्माने जिज्ञासुके शरीरको जोरसे दबा दिया और उसे एक मिनटतक दबाये ही रहे। इससे वह बहुत छटपटाने लगा। तब महात्माने उसको बाहर निकाल दिया। उस समय जिज्ञासु कुछ उत्तेजित होकर बोला—'आप मुझे यहाँ किसलिये लाये थे ?' महात्माने उत्तर दिया—'एक मिनटमें कल्याण किस प्रकार होता है—यह बात बतलानेके लिये तुझे यहाँ लाया था।' जिज्ञासुने कहा—'क्या समुद्रमें डुबो देनेसे एक मिनटमें कल्याण होता है ?' महात्मा बोले—'नहीं।' जिज्ञासुने कहा—'तब फिर आपने समुद्रमें मुझको दबाकर क्यों रक्खा ?' महात्माने उत्तर दिया—'तुम्हें अनुभव करानेके लिये। बताओ जब तुमको मैंने दबा रखा था, तब तुम्हारे मनमें बारंबार क्या बात आती थी ?' जिज्ञासुने कहा—'उस समय बार-बार मेरे मनमें यही आता था कि किस प्रकार शीघ्र-से-शीघ्र समुद्रसे बाहर निकलूँ। मैं शक्तिभर प्रयत्न भी करता रहा पर मैं स्वयं निकल नहीं सका। आपने निकाला तभी निकला।' महात्मा बोले—'इसी प्रकार संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छासे जब मनुष्यका जी छटपटाने लगता है, तब भगवान् उसका शीघ्रातिशीघ्र संसारसागरसे उद्धार कर देते हैं। तुम्हारी जैसी तीव्र इच्छा इस खारे समुद्रसे बाहर निकलनेकी हुई, ऐसी ही इस दुःखके घर संसारसागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यही एक मिनटमें संसारसागरसे उद्धार होनेका उपाय है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान, सत्संग; स्वाध्याय आदि अनेक उपाय हैं। उनमेंसे शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेका यह एक विशेष उपाय है—भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छाका होना। जब मनुष्य भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, भगवान्‌से मिले बिना रह ही नहीं सकता; तब भगवान् भी उससे मिले बिना नहीं रह सकते, भगवान् उसको शीघ्र दर्शन दे देते हैं। श्रीरामके वियोगमें जब भरतजी विरहव्याकुलतामें मग्न हो गये, तब उसी समय भगवान्‌के पहुँचनेका संवाद सुनाने श्रीहनुमान्‌जी उनके पास आ पहुँचे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

जब पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे, उस समय एक दिनकी बात है कि द्रौपदीके भोजन कर चुकनेपर महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंके साथ उनके पास आकर उनके अतिथि हुए। तब द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई। उस समय उसने व्याकुल होकर मन-ही-मन करुणाभावसे भगवान्‌को इस प्रकार पुकारा—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय।
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन॥
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर॥

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३ । ८–१०,१६)

'हे कृष्ण ! हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो । अविनाशी प्रभो ! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो । शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो ! भगवान् ! पहले कौरवसभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो ।'

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः ।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः ।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः ॥

(महा० वन० २६३ । १७–१८)

'द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्तवत्सल भगवान् केशवको यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है । फिर तो वे शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे ।'

श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण शारदीय पूर्णिमाको गोपियोंके मध्यमें रास करते-करते अदृश्य हो गये तब सभी गोपियाँ उनके विरहमें व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करने लगीं; तब भगवान् गोपियोंको अतिशय व्याकुल देखकर उनके सम्मुख तुरंत प्रकट हो गये ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । १–२

'परीक्षित् ! गोपियाँ भगवान्के विरहके आवेशमें इ प्रकार भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं । अप प्रियतम श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं । ठीक उस समय उनके बीचोबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रक हो गये । उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिल हुआ था । गलेमें वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हु थे । उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डाल वाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था ।'

इन सब उदाहरणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि प्रेमपूर्वक विरहकी व्याकुलतामें भगवान्के मिलनेकी अतिश तीव्र इच्छा होनी चाहिये । यह तीव्र इच्छा ही सबसे बढ़क और क्षणभरमें भगवान्की प्राप्तिका उपाय है । जैसे जलके वियोगमें मछली जलके बिना तड़प-तड़पकर मर जाती है वैसी ही तड़पन भगवान्के विरहमें होनी चाहिये । यदि को कि मछली तो तड़पकर मर ही जाती है, उसे जल तो नहीं मिलता सो ठीक है, किंतु जल तो जड है, अतः उसमें मिलनेकी इच्छा नहीं होती । परंतु भगवान् तो चेतन औ सुहृद् हैं अर्थात् बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवा हैं । वे एक क्षणका भी विलम्ब कैसे कर सकते हैं ।

अतएव हमलोगोंको भगवान्के शरण होकर औ उनके विरहमें व्याकुल होकर उनके मिलनेकी तीव्र इच्छा पूर्वक करुणाभावसे पुकार करनी चाहिये । फिर भगवान्के आनेमें कोई विलम्ब नहीं है । भगवान्में अनन्य प्रे (अनन्य भक्ति) होनेसे ही साधककी ऐसी स्थिति हुआ करती है ।

◆

अखण्ड नाम-स्मरणसे साक्षात् दर्शन

दिवा निशि च संध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत् ।
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

दिन, रात्रि और संध्या—सभी समय भगवान्के नामोंका स्मरण करना चाहिये । रात-दिन अखण्ड नाम-स्मरणसे भगवान् श्रीकृष्णके इन आँखोंसे—साक्षात् दर्शन हो सकते हैं ।

पढ़ो, समझो और करो*

(१)

ईमानदारीका उत्तराधिकार

मोहनलाल और भानीराम दोनों हिस्सेदार थे। व्यापार करते थे। मोहनलालकी रकम लगती थी, भानीराम काम करता था। परस्पर बड़ा विश्वास था। खूब प्रेम था। व्यापारमें इतनी कमाई होती थी कि मोहनलालको अपनी रकमका पर्याप्त ब्याज मिलकर भी कुछ बच जाता था। भानीरामके चार-पाँच बच्चे थे। बड़ा परिवार था, इससे कुछ बचता तो नहीं था, र खर्चका निर्वाह अच्छी तरह होता था। कुछ वर्षों बाद मोहनलालकी इच्छा कारबार न करके अलग रहनेकी हुई। स्त्री-पुरुष दो ही थे। अवस्था बड़ी हो गयी थी। 'व्यापारमें कहीं घाटा लग जाय तो फिर कठिनाई होगी।' इस विचारसे मोहनलालने भानीरामसे कह दिया कि 'मेरी रकम मुझे दे दो, तुम अपना व्यापार अकेले करो।' व्यापार चल निकला था। अच्छी साख हो गयी थी, इससे कोई खास अड़चन नहीं थी। रकम दूसरे लोगोंसे उधार मिल सकती थी। भानीरामकी इच्छा नहीं थी। वह इस समय अलग होना नहीं चाहता था। उसमें एक कारण था, जिसे वह बताना भी नहीं चाहता था। परंतु मोहनलालके विशेष जोर देनेपर भानीरामने बात मान ली। मोहनलालका हिस्सा निकाल दिया गया। उनकी असली रकम ब्याज तथा नफे समेत कुछ दिनोंमें दे दी गयी, फाड़खती लिख दी गयी। मोहनलाल पत्नी सहित अलग रहने लगे।

भानीरामका व्यापार चलने लगा। पर भानीरा उदास रहता। पाँच-छः वर्षों बाद भानीरामको संग्रहणी की बीमारी हो गयी। दवा की गयी, पर रोग बढ़ता ही गया। स्थिति बिगड़ गयी। तब एक दिन उसने अपने बड़े पुत्र भगवानदासको एकान्तमें बुलाकर कहा— 'बेटा! मेरा शरीर अब नहीं रहेगा। पर मेरे मनमें एक चीजका बड़ा दुःख है। भाई मोहनलालकी हिस्सेदारीमें मैं काम करता था, उन्हींकी रकम लगती थी, इसे तुम जानते ही हो। उनका मुझपर बड़ा विश्वास था। उन्होंने कभी भी लेखा-जोखा नहीं देखा। मैंने जो कुछ बताया सो मान लिया। मैंने भी कभी विश्वासघात नहीं किया, न करना ही चाहता था। एक दिन तुम्हारे फूफा रामकुमारजी आये। उनके व्यापारमें घाटा लगा था और उनका फर्म फेल होने जा रह था। उन्होंने दस हजार रुपये माँगे। मैंने सब स्थिति समझ ली। न देनेपर उनका फर्म अवश्य ही फेल हो जाता और वे सदाके लिये बर्बाद हो जाते। उन्होंने पहले कभी मोहनलालजीसे अनुचित व्यवहार किया था तथा उनसे लड़ लिये थे। अतएव उनसे छिपाकर रुपये लेना चाहते थे। उन्हें मालूम होनेपर वे देते भी नहीं। मेरे पास अलग रुपये थे नहीं। मैंने रामकुमारजीकी बड़ी दयनीय दशा देखकर और शीघ्र ही वाप

---

* 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंके द्वारा भेजी हुई बहुत-सी घटनाएँ मिली हैं, परंतु वे प्रायः सभी चमत्कारकी हैं। उन्हें प्रकाशित करनेमें बहुत समय लग सकता है, अतः अब चमत्कारकी घटनाएँ न भेजकर सत्य, ईमानदारी, अहिंसा, प्रेम, दया, सहिष्णुता, त्याग, इन्द्रियदमन, सेवा आदि सम्बन्धी छोटी-छोटी सच्ची घटनाएँ भेजनेकी कृपा करें। इस बार भी घटना ६ | ७ | ८ साभार 'अखण्ड आनन्द'से ली गयी हैं।

अप्रैलके अङ्कमें प्रकाशित 'राखे राम तो मारे कौन!' शीर्षक घटना श्रीटोरमलजी चौधरीके 'भोला' अवस्थानकालमें घटित हुई थी। श्रीरामजीवनजी चौधरी (श्रीटोरमलजीके सुपुत्र) तो घटनाके प्रेषकमात्र हैं।

लौटा देनेका वचन देनेपर उन्हें रुपये दे दिये। मैंने सोचा था, रामकुमारजी लौटा देंगे। पर वे लौटा नहीं सके। मैंने संकोचवश मोहनलालजीसे कभी कुछ कहा नहीं। मेरे पास इतने रुपये अबतक हुए नहीं, नहीं तो, मैं जमा करवा देता। मोहनलालजीके अलग होनेके समय भी मैंने उनसे कुछ कहा नहीं। पर रुपये तो उनके मुझको देने ही हैं। अपना कारबार अब ठीक चल रहा है। मेरा अनुमान है अगले छः महीनेतक तुम्हारे पास उन्हें लौटानेके लिये इतने रुपये नफेके हो जायँगे। अतएव मेरा अनुरोध है कि ज्यों ही तुम्हारे पास रुपये हों, व्याजसमेत तुरंत जाकर लौटा देना। इससे मेरी आत्माको बड़ी शान्ति मिलेगी। मैं तुम्हें उत्तराधिकारमें यह कर्तव्य भी दे जाता हूँ। भाग्यकी बात है, अभी उस दिन मोहनलालजीके घर चोरी हो गयी तथा जिनको उन्होंने कुछ रुपये दे रक्खे थे उनका भी काम बिगड़ गया। अतएव उनका हाथ बहुत तंग हो गया है। वे बड़े अभावमें हैं। तुम उन्हें रुपये दोगे तो उनको बड़ी प्रसन्नता होगी और मेरी आत्माको बहुत सुख पहुँचेगा।' सुपुत्र भगवानदासने पिताकी आज्ञाको सहर्ष स्वीकार किया। भानीरामजीका देहान्त हो गया!

× × ×

एक दिन मोहनलालजी अपनी पत्नीके पास बैठे थे कि भानीरामके लड़के भगवानदासने उनके पास पहुँचकर दोनोंके चरणोंमें प्रणाम किया। दोनोंने शुभाशीर्वाद देकर कहा—'बेटा! तुमलोग प्रसन्न रहो। मेरे तो दिन ही बदल गये हैं। आजकल खर्च चलना मुश्किल हो रहा है। भाई भानीरामसे अलग न होता तो यह दशा क्यों होती। खैर!' भगवानदासने तेरह हजार चार सौ रुपयेके नोटोंकी गड्डी उनके चरणोंमें रखकर मरते समय पिताकी कही हुई सारी बातें एक-एक अक्षर उनसे कह दीं। मोहनलाल सब सुनकर चकित हो गये। उनके नेत्रोंसे आँसू बह चले। उन्होंने बड़ी मुश्किलसे रुपये लेने स्वीकार किये। दोनों (पति-पत्नी) ने भगवानदास तथा भानीरामके सारे परिवारको सैकड़ों आशीर्वाद गद्‌गदवाणीसे दिये। कहा—'बेटा! इस समय हमारी इस दुखी हालतमें तुमने ये रुपये देकर बड़ा ही उपकार किया है। तुम्हारे स्वर्गीय पिता धन्य हैं। मुझे तो इन रुपयोंकी कोई कल्पना ही नहीं थी। उन्होंने घरमें रुपये बरते भी नहीं थे। फिर भी मृत्युके समय उनको इतना ख्याल रहा। वे तुमसे कह गये और तुम धन्य हो, सच्चे उत्तराधिकारी सपूत हो, जो रुपयोंका जरा भी लोभ न करके व्याजसमेत मुझे रुपये देने आये हो। भगवान् तुम्हारा भला करें। हमारा रोम-रोम तुम्हें आशीर्वाद देता है। पर बेटा! मैं व्याजके रुपये नहीं लूँगा, इन्हें तुम वापस ले जाओ!'

भगवानदासने कहा—"चाचाजी! मैं तो पिताजीके आज्ञानुसार ही कर रहा हूँ। आपके आशीर्वादसे मैं बहुत कमा लूँगा। ये रुपये तो आपको रखने ही पड़ेंगे। पिताजीने आपके प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हुए मुझसे कहा था कि 'भाई मोहनलालजीके मुझपर बड़े उपकार हैं।' सो चाचाजी! हम उनके लड़के हैं। अतः उनकी जगह अब आप ही हमारे माता-पिता हैं। जबतक आपलोग जीयें, हमारी सेवा स्वीकार करते रहें। आपके भोजनादिकी सारी व्यवस्था हम आपके पुत्र करेंगे और आपको कृपा करके हमारी प्रार्थना माननी पड़ेगी।"

जैसे पिता, वैसा ही पुत्र! मोहनलाल और उनकी पत्नी दोनोंने आँसुओंकी धारा बहाते हुए सब स्वीकार कर लिया!

—तोलाराम गु

(२)

सच्ची मानवता और पड़ोसीधर्म

देशमें दुर्दिन थे। हिंदू-मुसलमानोंमें जहाँ-तहाँ

मार-काट मची थी । पड़ोसके एक गाँवमें, जहाँ हिंदुओंकी संख्या कम थी, मुसलमानोंने बड़े अत्याचार किये । घरोंमें आग लगा दी, सम्पत्ति लूट ली, बच्चों तथा बूढ़ोंतकको बेरहमीसे कत्ल कर दिया । बहिन-बेटियोंका धर्म भ्रष्ट करके उन्हें उड़ा ले गये । कोई भी जुल्म बचा नहीं । आस-पासके गाँवोंमें हिंदुओंमें बदलेकी दुर्भावना जागी । एक गाँवमें, जहाँ मुसल्मानोंकी संख्या कम थी, हिंदू युवकोंने बदला लेना चाहा । उनका खून खौल रहा था । उन्होंने वैसे अत्याचार तो नहीं किये । स्वभाव न होनेसे कर ही नहीं पाये । पर मुसल्मानोंको, उनका सब कुछ छीन-छानकर भगा दिया । दो-तीन गुंडोंको मार भी दिया । आतंक छा गया । लाला लखपतरायके बगलमें ही एक मुसल्मान बोहरेका घर था । घरके सब लोग भाग गये । घर लूट लिया गया । एक तरुणी लड़की बुखारके कारण न भाग सकी, उसको उसकी तक़दीरपर घरवाले छोड़ गये । वह घरके पीछे खड़ी काँप रही थी । कुछ हिंदू गुंडे उसे पकड़ना चाहते थे । उसने पीछेसे लाला लखपतरायकी पत्नीको पुकारकर कहा—'चाची ! मुझे बचाओ !' लाला लखपतरायजीकी पत्नीने करुण आवाज सुनी । उसने दौड़कर लखपतरायजीसे कहा, जो बाहर उपद्रव शान्त करनेमें लगे थे । वे दौड़े आये और लड़कीसे बोले—'बेटी, डर मत, तेरी चाचीके पास चली आ ।' तेज मिजाजके जोशभरे कुछ हिंदू युवक यह नहीं चाहते थे, उन्होंने रोकना चाहा; पर लाला लखपतरायजीने उनसे कहा—'देखो भैया ! यह मेरी धरमकी बेटी है; अतः तुमलोगोंकी बहिन है, अब इसकी ओर बुरी नजरसे ताकना बहिनकी ओर ताकना है । तुम मेरी बात मानकर चले जाओ ।' यद्यपि वे तरुण यह चाहते नहीं थे, पर लाला लखपतरायजीको सब मानते थे । गाँवमें ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं था जो लालाजीके सद्व्यवहारोंके सामने सिर न झुकाता हो और उनके उपकारोंका ऋणी न हो । वे सब चले गये । लड़की तो पहले ही चाचीके साथ घरमें आ गयी थी । कहना नहीं होगा कि उन्होंने बेटीके समान ही सहज-सनेहसे उसे घरमें रक्खा और उपद्रव शान्त होनेपर पता लगाकर उसके रिश्तेदारोंके पास सुरक्षित पहुँचाकर सच्ची मानवता और पड़ोसी-धर्मका आदर्श परिचय दिया । —लेखराज मेहरा

(३)

दिल्लीका ईमानदार मजदूर

उस दिन दिल्ली स्टेशनपर हमलोग उतरे । सामान बहुत था, इसलिये एक रिटायरिंग रूम किरायेपर लेकर उसमें रखवा दिया गया । हमलोग सब आवश्यक सामान साथ लेकर मोटरोंपर सवार हो गये । पण्डित श्रीगोवर्धनजी भी सपरिवार उसी ट्रेनसे साथ आये थे । उन्होंने भी कुछ सामान रिटायरिंग रूममें रखवा दिया । एक पेटी—जिसमें उनके ठाकुरजी तथा कुछ जोखिमकी चीजें भी थीं और बिस्तर, कुलीके सिरपर रखकर वे बाहर आ गये । मोटरें जानेवाली थीं । वे सामानकी बात भूल गये, कुली शायद आगे-पीछे रह गया था, और पत्नीसहित मोटरपर सवार हो गये । नयी दिल्लीमें पहुँचकर जब सामान देखा तो नहीं मिला । मिलता कैसे, वह तो रखवाया ही नहीं था । बड़ी निराशा तथा चिन्ता हुई । सामान मिलनेकी आशा बहुत ही कम थी । वे वापस स्टेशन जाकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगे । इतनेमें किसीने पुकारा—'बाबूजी ! इधर आइये, यह अपना सामान सम्हालिये ।' इन्होंने जाकर देखा, कुली बेचारा सामान रक्खे खड़ा है । उसने कहा, 'मैंने आपको ढूँढ़ा, आप मिले नहीं, तबसे मैं बाट देख रहा हूँ ।' सारी चीजें पण्डितजीको सुरक्षित मिल गयीं । बड़ी प्रसन्नता हुई । कुलीको एक रुपया उन्होंने इनाम दिया । दिल्लीके कुली—जहाँ बहुत बदनाम हैं, वहाँ इस गरीब कुलीकी

यह अद्भुत ईमानदारी वहाँके कुलियोंके प्रति सद्भाव तथा श्रद्धा पैदा करती है।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

(४)

सद्गुरुकी महिमा

छः साल पहलेकी बात है। जिस समय हम कलकत्तेके 'तिलजाला' विभागमें रहते थे। जिस मकानमें हम रहते थे, वहाँ बिजली नहीं थी और आसपासका प्रदेश बिलकुल देहाती मालूम पड़ता था। इसलिये कोई अच्छा-सा मकान ढूँढ़नेका विचार चल रहा था।

हर शनिवारके दिन मेरे पति आफिससे दो बजेतक घर लौट आया करते थे। परंतु उस शनिवारको आफिस जाते समय बोले—'मैं आज आफिससे सीधा एक मकान देखने जाऊँगा। आनेमें पाँच बज जायँगे।'

ये आफिस चले गये। दुपहरमें दोसे पाँच बजेतकका समय मैंने सिलाई, पढ़ाई वगैरहमें बिताया। पाँच बजनेके बाद मैंने इनकी राह देखना शुरू किया। छः साढ़े छः हो गये, तब मैं चिन्ता करने लगी। फिर भी मनमें सोचती रही कि थोड़ी देरमें तो आ ही जायँगे। पर सात बजनेके बाद मुझसे नहीं रहा गया। मनमें तरह-तरहके कुविचार आने लगे और आँखोंसे आँसू गिरने लगे। आध घंटा मैं खूब रोयी। रोते-रोते सोचने लगी—'यदि रातभर ये घरमें नहीं लौट सके तो मेरा क्या होगा? कलकत्तेमें मैं तो बिलकुल नयी हूँ। इनको ढूँढ़ने कहाँ जाऊँ? सुना है इस शहरमें एक्सीडैन्ट (दुर्घटना) भी बहुत होते हैं। पिताजीको तार देने जाऊँ तो मुझे पोस्ट-आफिसका रास्ता भी ठीक मालूम नहीं था।' और इधर रात होती जा रही थी।

साढ़े सात बजे मेरा रोना कुछ कम हुआ। मुझे कुछ ख्याल आया। घरमें गुरु महाराजका एक छायाचित्र (फोटो) था, जिसकी ये मनोभावसे पूजा करते थे। मैंने गुरु महाराजको कभी देखा नहीं था, इसलिये मेरे मनमें उनके प्रति कोई भक्ति नहीं थी। परंतु इनके साथ मैं भी प्रतिदिन फोटोको प्रणाम अवश्य करती थी। उसी फोटोकी मुझे रोते-रोते याद आ गयी। मैं फोटोके पास जाकर प्रणाम करके बोली—'यदि गुरु महाराज सच्चे होंगे तो ठीक आठ बजे अपने भक्तको यानी मेरे पतिको घरमें पहुँचा देंगे। आठ बजेतक यदि इनका आना न होगा, तब तो मैं इन गुरु महाराजपर कभी विश्वास नहीं करूँगी।'

बस, इतना कहकर मैंने घड़ी गुरु महाराजके फोटोके सामने रख दी और मैं दीवालके पास जाकर बैठ गयी। घड़ीकी सूई अपनी गतिसे चल रही थी। इधर मेरे मनकी अस्वस्थता बढ़ती जा रही थी। इतनेमें पौने आठ हो गये। अब पंद्रह मिनटमें 'गुरुपर विश्वास करना या न करना'—इसका फैसला मैं करनेवाली थी।

आठ बजनेमें पाँच मिनट रहे, तब मेरे मनमें विचार आया कि अब ये नहीं आ सकते। और इतना सोचते ही मैंने आँखें बंद कर लीं। एक ही मिनट बाद मेरे कानोंमें इनके पैरके जूतोंकी आवाज आयी। मैंने आँखें खोलीं। मैं विश्वास न कर सकी अपनी आँखोंपर। इन्होंने मेरी रोयी-सी सूरत देखी और कहा—'तुम रो रही थी क्यों? क्या करूँ, मुझे बहुत देर हो गयी, मैं ठीक समयपर घर नहीं लौट सका।'

मैंने इनकी बातोंपर ख्याल नहीं किया। इनको देखते ही मेरी नजर घड़ीकी ओर गयी। आठ बजनेमें सिर्फ तीन मिनट बाकी थे। एकाएक मेरी नजर गुरु महाराजके फोटोपर गयी और मैंने जमीनपर सिर रखकर प्रणाम किया। गुरुचरणोंमें मेरा यही सर्वप्रथम भक्तिपूर्ण प्रणाम था। तबसे गुरुचरणोंमें मेरी श्रद्धा दृढ़ हो गयी। फिर मैंने इनको सारी कहानी सुनायी। ये बोले—'अरे! मेरे गुरु महाराजको तुमने कितना कष्ट दिया।' और

इस तरह गुरुकी परीक्षा नहीं ली जाती। गुरुचरणोंमें मन-ही-मन विश्वास करना चाहिये।' फिर प्रणाम करके बोले—'सद्गुरुनाथ ! मेरी पत्नीका अपराध क्षमा कीजिये।'

—श्रीमती तारा पण्डित एम्० ए०

(५)

गङ्गाजलका प्रभाव

यों तो आयुर्वेदमें गङ्गा-स्नान एवं उसके जलपानका विशेष महत्त्व बताया गया है; किंतु जिसकी चर्चा नहीं की गयी है, वह भी मेरे अपने व्यवहारमें प्रत्यक्ष हो गया है। बात यह है कि मेरे पेटमें अक्सर दर्द हो जाया करता था। उस समय 'सल्फा दवाइयों' का प्रचलन न हो सका था, जिसके कारण डाक्टरोंकी शरणमें जाना आवश्यक हो जाता था और उसके लिये अनावश्यक व्यय करते-करते मैं तंग आ गया था। एक बार गाँवमें हैजेका प्रकोप हो उठा, इसलिये सभी कुओंमें 'ब्लीचिंग पाउडर' डाल दिया गया। फलस्वरूप कुएँका पानी पीना कठिन हो गया। बरसातका समय था, फिर भी मैंने गङ्गाजल (जो कि लाल रंग हो जाता है) पीना शुरू कर दिया। स्वाद अच्छा लगनेके कारण मैं सालों वही पीता रहा और यह क्रम तबतक जारी रहा, जबतक मैं यहाँसे पटना न चला गया। वहाँ होस्टलमें रहकर पढ़ रहा था, अतः गङ्गाजल पीना कठिन था। बी० ए० (ऑनर्स) करनेके बाद एम्० ए० की पढ़ाई समाप्त होनेपर आयी तो पेटमें पुनः दर्द आरम्भ हो गया। अब मैं समझ गया कि इस छः सालमें दर्द न होनेका मुख्य कारण गङ्गाका पहलेका पीया हुआ पावन जल ही था, जिसका असर आजतक था। अतः मैंने फिर गङ्गाजल पीना शुरू कर दिया (१९५२) और आज छः सालसे ऊपर हो रहा है—ईश्वरकी कृपासे आजतक मेरे पेटमें दर्द न हो सका है।

अबतक यह मेरा वैयक्तिक प्रयोग था; किंतु मैंने इसे अपने गाँवके अन्य लोगोंको भी बताया और ईश्वरकी कृपासे उन्हें भी लाभ हुआ है।

अतः आज मानव-समाजकी भलाईकी दृष्टिसे इसे आपके पास भेज रहा हूँ कि धर्मकी दृष्टिसे न भी हो तो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे गङ्गाजलका सेवन बड़ा लाभप्रद है। इसे सभी जाति एवं सम्प्रदायके लोगोंको व्यवहार करके अवश्य देख लेना चाहिये।

—रमेन्द्रप्रसादसिंह 'विद्यार्थी'

(६)

लन्दनके टैक्सीवालेकी सहृदयता

रूस और इंग्लैंडकी यात्रासे लौटी हुई एक विदुषी महिलाने अपना लन्दनका एक अनुभव सुनाया था। उसमें वहाँके टैक्सीवालेकी सहृदयताका एक बड़ा सुन्दर चित्र खींचा गया था। उन्होंने कहा—

मैं लन्दनके एक बगीचेमें बैठकर पुस्तक पढ़ने लगी। पुस्तकमें इतना रस आया कि उसको पूरा करनेके बाद मैंने देखा तो रात्रिके ग्यारह बजे थे। सारा लन्दन शहर आरामसे सो रहा था। शहरकी ट्रामें तथा बसें बंद हो चुकी थीं। दूर राहपर नजर डालनेपर टैक्सीका भी मिलना मुश्किल था।

मेरा निवासस्थान बगीचेसे कई मील दूर था। अतः बिना सवारीके वहाँ जाना मेरे लिये अशक्य था। मैं खड़ी सोच रही थी कि क्या किया जाय। इसी बीचमें मुझे वहाँ खड़ी देखकर दूरसे एक टैक्सीवाला मोटर लेकर वहाँ पहुँचा और अत्यन्त विनयपूर्वक उसने मुझसे मोटरमें बैठनेके लिये अनुरोध किया तथा मुझे कहाँ जाना है, पूछकर नाम-पता नोट कर लिया। मोटर चली। रास्तेमें हमलोगोंने कोई बात नहीं की। ठिकानेपर पहुँचकर मोटर रुकी। दरवाजा खोलकर मोटरवालेने मुझे विनयपूर्वक उतारा

और सलाम करके कहा—'मैडम ! गुड नाइट !'

मैंने पूछा—'कितने पैसे दूँ ?'

उसने कहा—बहिन ! कुछ भी नहीं देना है। आज रात्रिको मैं आपको हमारे देशकी अतिथिके रूपमें यहाँ लाया हूँ। मैंने देखा—आप अकेली हैं, रातका समय है और घर जानेके लिये सवारीकी बाट देख रही हैं। मुझे कमाईकी आवश्यकता नहीं थी, परंतु लन्दनके टैक्सीवाले परदेशियोंके प्रति अपने कर्तव्य-पालनमें सदा तत्पर हैं, इसका विश्वास दिलानेके लिये ही मैं आपको यहाँ छोड़ने आया हूँ। सलाम !'

इतना कहकर उसने शिष्टतापूर्वक अभिवादन किया और टैक्सी चला दी। उस दिन मैंने देखा कि पाश्चात्त्य संस्कृतिके लिये हम चाहे सो कहें, परंतु सभ्यता, ईमानदारी और नारी-सम्मानके लिये मैं सदा उनकी प्रशंसा करूँगी। भारतको पाश्चात्त्य प्रजासे ये गुण सीखने चाहिये।

—शान्तिलाल दीनानाथ मेहता

(७)

सच्ची सराफी

एक साधारण व्यापारी था। उसका नाम था—सत्यदेव। इस छोटे-से व्यापारीने सच्ची तंगीके समय काम आवे, इसके लिये बचा-बचाकर दो सौ रुपये इकट्ठे किये और उन्हें धर्मचन्द नामक एक व्यापारीके यहाँ अमानत जमा करा दिया। इसके बाद धीरे-धीरे सत्यदेवका व्यापार बढ़ा और वह लाखोंका आसामी बन गया। शहरके पैसेवालोंमें उसकी गिनती होने लगी। पर सदा सबके एक-से दिन नहीं रहते। समय पलटा और सत्यदेव बड़े नुकसानमें आ गया। सारा कारबार नष्ट हो गया और दीवाला निकल गया। यहाँतक कि भोजनके लिये चिन्ता रहने लगी।

एक दिन सत्यदेव सोचने लगा—'क्या करूँ—। इतनेमें उसे याद आया कि धर्मचन्द सेठके यहाँ उसने दो सौ रुपये अमानत जमा करवाये थे। उसने बही उठायी और धर्मचन्द सेठका खाता निकालकर देखा, तब पता लगा कि दो सौ रुपयोंके नामके बदलेमें उनके दो हजार रुपये अपने खातेमें जमा हैं। उसे याद आ गया कि दो हजार रुपये उनसे खाते पे व्याजपर उधार लिये थे और फिर एक पैसा भी उनको वापस दिया नहीं गया। बही नीचे रखकर सत्यदेव बड़े विचार और चिन्तामें पड़ गया।

ईश्वरके इच्छानुसार उसी समय धर्मचन्द सेठका मुनीम दो सौ रुपये लेकर आया और रुपये सत्यदेवकी गोदमें रखकर बोला—हमारे सेठने ये आपके अमानत रक्खे हुए दो सौ रुपये भेजे हैं और साथ ही यह कहलवाया है कि 'कभी काम पड़े तो याद कीजियेगा। हमारे जो दो हजार रुपये आपमें बाकी निकलते हैं, उनके लिये चिन्ता न करें। वे रुपये तो व्यापारके लिये हमने व्याजपर दिये थे। उन रुपयोंका आपके व्यापार-खातेसे सरकारकी ओरसे जो कुछ हिस्सा सबको मिलेगा, हमको भी मिल जायगा। व्याजू रुपयोंसे अमानतके रुपयोंका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

धर्मचन्दकी जगह दूसरा व्यापारी होता तो वह अपने खातेमें जमाखर्च करके बचे हुए १८००) रु व्याज लगाकर जितनी रकम होती, उसको शीघ्र चुका देनेके लिये अपने मुनीमको इस बुरी स्थितिमें भी—सत्यदेवके पास भेजता !

—लल्लूभाई बकोरभाई पटेल

(८)

कानूनी कर्तव्यसे ईश्वरीय कर्तव्यकी श्रेष्ठता

मेरे एक मित्रने एक तारबाबूकी ईश्वरीय कर्तव्य निष्ठाका वर्णन सुनाया—'जैतपुरसे मेरा पडधरीको तबादला हो गया। पहले मैं अकेला ही वहाँ गया

एक दिन संध्याको मैं घूमकर आया तो घरपर एक अनजान आदमीको मैंने खड़े देखा। उसने मेरा नाम पूछकर तुरंत कहा--'आपका पुत्र सख्त बीमार है और आपकी पत्नीने आपको अभी बुलाया है।' 'आप कौन हैं? आपको कहाँसे खबर मिली? किसने आपको समाचार भेजा?' आदि मेरे एक ही साथके बहुत-से प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही उसने कहा—'ट्रेनका समय हो गया है, अतः जल्दी चलिये। अपने ट्रेनमें बात करेंगे।' मैं तुरंत चल दिया।

रास्तेमें उसने बतलाया—'मैं तार-आफिसमें काम करता हूँ। आपकी पत्नीका दिया हुआ तार मैंने पढ़ा। जल्दीमें वे 'लेट फीस' भरना भूल गयी होंगी। अतएव कानूनसे वह तार आपको कल सबेरे मिलता। पर तार देरसे मिलनेका परिणाम मैं पहले भोग चुका हूँ। तार देरसे मिलनेके कारण ही मैं अपनी स्वर्गीया पत्नीसे अन्तकालमें न मिल सका था। उस दिनसे मैं इस प्रकारकी स्थितिमें अवैधरूपसे लोगोंकी सहायता करना चाहता हूँ। यद्यपि कानूनकी दृष्टिसे आपको यह समाचार पहुँचाना मेरे लिये अपराध है। तो भी मैं तुरंत नौकरीके समयमें भी छुट्टी लेकर बसपर सवार हो यहाँ दौड़ा आया हूँ। ईश्वरने चाहा और सब भले चंगे मिले तो मैं अपने इस प्रयत्नको सफल समझूँगा।'

कानूनी कर्तव्यसे मानवताकी भावना कितनी ऊँची है, इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति उन्होंने मुझे करवा दी। 'मैं आपका बड़ा ऋणी हो गया।' मैं इस प्रकार कहने जा रहा था कि बीचमें ही उन्होंने मुझे रोककर कहा—'अपने विभागके द्वारा सौंपे हुए कर्तव्यका पालन करते-करतेमें ही ईश्वरके द्वारा सौंपे हुए कर्तव्यका पालन करनेका सौभाग्य मुझे आपकी मार्फत मिला, इसलिये मैं आपका ऋणी हूँ।'

मैंने मन-ही-मन उनको नमस्कार किया। मेरे लिये उनको आर्थिक नुकसान न हो, यह सोचकर मैंने उनको बस तथा ट्रेनका किराया देना चाहा, परंतु उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा—'कर्तव्य-पालनके संतोषको पैसोंसे मत ढकिये।' कैसी मानवता! कर्तव्यका कितना सुन्दर अर्थ!

रात्रिको मैं ठीक समयपर पहुँच गया। मैंने देखा मेरा अनिल मानो अन्तिम श्वास खींच रहा है····परंतु ईश्वर कितना दयालु है। मेरे मिलनेके आनन्दसे अथवा ईश्वरीय संकेतसे उसके स्वास्थ्यमें तुरंत सुधार दिखायी दिया और थोड़े ही दिनोंमें वह अच्छा हो गया। डाक्टरने भी इसे चमत्कार माना और कहा कि 'आप ठीक समयपर न पहुँचे होते तो ऐसी आशा नहीं थी।'

आयुकी डोरी तो ईश्वरके हाथ है; यह सत्य है। परंतु एक मनुष्यकी मानवताने ही मेरे पुत्रको बचाया, मुझे तो ऐसा लगता है।

—एच्० एच्० त्रिवेदी

(९)

नवरात्र-व्रतकी महिमा

सन् १९२७ ई० की बात है। अपनी मूर्खताके कारण ही सेंट जोन्स कालेज आगरेकी दो सौ माहवारकी प्रोफेसरी छूट गयी थी। मुझे और मेरे परिवारको बड़ी परेशानी हुई। बुलंदशहरमें वकालत शुरू की; पर मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं Teacher (शिक्षक) से Cheater (धोखेबाज) बन गया। फिरसे कालेजमें कहीं नौकरी मिले, चाहे वह १००) माहवारकी ही हो—इस परेशानीमें और कुछ प्रायश्चित्तके रूपमें मैंने नवरात्र-व्रत रखनेका संकल्प किया। पूज्य माताजीने भी व्रत मेरे कल्याणके लिये रक्खा। व्रतके नियम-विधि-विधान इत्यादि मुझे कुछ नहीं आता था। दिनभर एकान्तमें बैठकर गायत्री-मन्त्र जपता रहता था। शामको फलाहार कर लेता था। सातवें दिन चित्तकी अपने-आप ही कुछ ऐसी एकाग्रता हो

गयी कि जब मैं पासके कुएँकी प्याऊमें बैठा हुआ जप कर रहा था, उसी समय किसीने भाई डाक्टरकी दुकानपर खबर दी कि हमारे घरमें आग लग गयी है। सभी पानी लेकर दौड़े। उसी प्याऊमेंसे मेरे पास ही रक्खे हुए सब पानीसे भरे घड़े और डोल इत्यादि लेकर शीघ्रतासे घर गये। अग्नि शान्त हो गयी। पर सच बात है कि मेरे कानोंमें न आग लगनेकी और न कुएँपरसे पानी ले जाने और न सबके घरको दौड़नेकी आवाजें पड़ीं और मैं अपने जपमें एकाग्रतासे लगा रहा। जप समाप्त होनेपर मुझे सबने दिखावटी, बनावटी, ढोंगी और मूर्ख कहा कि मैं आग बुझानेको न दौड़ा। मैंने सबको विश्वास दिलाया कि मुझे जरा भी आग लगनेका भास होता तो मैं अवश्य ही मालाको फेंककर और जप छोड़कर आग बुझानेमें लग जाता—पर किसीको विश्वास क्यों होने लगा? सच बात तो यह है कि इन तीस वर्षोंमें भी मुझे ऐसी एकाग्रताका बहुत प्रयत्न करनेपर भी फिर अनुभव आजतक नहीं हो पाया। भविष्यकी प्रभु ही जानें। नौ दिनके व्रत बड़े आनन्दपूर्वक समाप्त हुए। आर्यसमाजी परिवारमें पले होनेके कारण मुझे विधिपूर्वक यह व्रत करनेका कुछ भी ज्ञान नहीं था और न कभी इसको जाननेका ही प्रयत्न किया था।

दसवें दिन, मुझे रात्रिमें स्वप्नमें भगवान् श्रीकृष्णजीके दर्शन हुए। उन्होंने मुझसे कहा कि 'बच्चे! गीता पढ़ो' यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये।

दूसरे दिन, आर्यसमाजी होनेके कारण इस स्वप्नपर मैंने अधिक ध्यान न दिया। मैं कृष्ण भगवान्‌की महिमाको जानता ही नहीं था। मैं उनको अवतार भी नहीं मानता था। हाँ; उन्हें एक महान् योगिराज मानता था। पर आश्चर्यकी बात यह हुई कि स्वप्नमें गीताके पढ़नेका आदेश देकर ही उनकी मुझपर कृपाका अन्त नहीं हुआ। तीसरे ही दिन, एक हमारे निकटके रिश्तेदार दिल्लीसे बहुत-सी पुस्तकें खरीदकर लाये थे और नैनीताल जानेसे पहले वे एक रातको हमारे यहाँ ठहरे। जाते समय वे अपनी सब पुस्तकें साथ ले गये, पर भूलसे ज्ञानेश्वरी गीता मेरी मेजपर ही छोड़ गये। जब एक दिन बाद मैंने ज्ञानेश्वरीको देखा और कुछ पढ़ा, तब मुझे स्वप्नकी फिर याद आयी कि भगवान् श्रीकृष्ण महाराजने केवल मुझे गीता पढ़नेका ही आदेश नहीं किया बल्कि अपनी महान् कृपासे गीता भी मेरे पास भेज दी। उसे पढ़ते-पढ़ते ही मैं मूर्तिखण्डकसे मूर्तिपूजक न जाने कैसे बन गया और तबसे शायद कोई गीताकी पुस्तक ही ऐसी रही हो जो मैंने न पढ़ी हो। सिवा उसके पढ़नेके मुझे किसी और विषयकी पुस्तक पढ़नेमें आनन्द ही नहीं आता—यह सच बात है। नवरात्रव्रतके समाप्त होनेके दस दिन बाद मेरी 'श्रीराम कालेज ऑफ़ कॉमर्स' दिल्लीमें १५०) माहवारपर प्रोफेसरीके पदपर नियुक्ति हो गयी। चार वर्ष हुए, वहाँसे ६१०) माहवारी पाते हुए मैं रिटायर हुआ था और उसके पश्चात् यहाँ जम्मूमें एक डिग्री कालेजका प्रिंसिपल हूँ।

लिखनेका अभिप्राय यही है कि नवरात्र-व्रतसे मेरे सब संकट दूर हो गये। तबसे अबतक मैं और मेरी माताजी दोनों नवरात्र-व्रत करते रहे हैं। मैं बहुत-से दुखी मनुष्योंको नवरात्र-व्रतका नुसखा बताता है और खुशी इस बातकी है कि इस व्रतके करनेसे सबके ही संकट दूर हो गये और वे सब नियमपूर्वक प्रत्येक नवरात्र-व्रत रखते हैं। 'कल्याण' के पाठक इसके पढ़नेसे व्रतकी महिमा स्वयं समझकर गीता और नवरात्र-व्रतको अपनायेंगे, इसी उद्देश्यसे उनकी सेवामें कुछ अपने बारेमें लिखनेका साहस किया है।

—एम्० एल्० शाण्डिल्य

* * *

श्रीहरिः

कल्याणके चार विशेषाङ्क अब भी प्राप्य हैं ।

१—संक्षिप्त महाभारताङ्क, चौथा संस्करण

पूरी फाइल सजिल्द (दो खण्डोंमें), पृष्ठ-संख्या १८४२

तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फर्मोंमें), मूल्य डाकव्ययसहित १०)

इस अङ्कमें अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष--चारों ही पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है। धर्मके तो प्रायः सभी अङ्गोंका वर्णन है । वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, स्त्रीधर्म एवं मोक्षधर्म आदि विविध धर्मोंका शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें बहुत विशद वर्णन किया गया है। भारतका पञ्चमवेद इसको माना गया है ।

२—हिंदू-संस्कृति अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेखसंख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मूल्य ६ रु० ५० पैसा । साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य ।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं ।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

३—संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क सजिल्द पूरी फाइल

पृष्ठ-सं० १५२४, तिरंगे चित्र ३१, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), डाकव्ययसहित मूल्य ८ रु० ७५ पैसा

इस अङ्कमें भगवान्की अनेक विचित्र लीलाएँ, तीर्थ-व्रतोंकी विलक्षण महिमा, भक्तोंकी मधुर मनोहर उपदेशभरी जीवनियाँ तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष एवं छन्द—इन छहों वेदाङ्गोंका विशद वर्णन है । भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण और हनुमान् आदिकी उपासना, प्रत्येक मासकी प्रत्येक तिथिके व्रत, श्रीगङ्गाजीकी उत्पत्ति, योग, भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, नाम-माहात्म्य, वर्णाश्रम-धर्म, दया, दान आदिके बड़े सुन्दर-सुन्दर प्रसङ्ग हैं ।

४—संतवाणी अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० पैसा, सजिल्दका ८ रु० ७५ पैसा

इस अङ्कमें संतोंकी पवित्र, जीवन-निर्माणमें सहायक, जीवनको उच्चस्तरपर पहुँचा देनेवाली निर्मल वाणियोंका अभूतपूर्व संकलन है, जो कुमार्गपर जाते हुए जीवनको वहाँसे हटाकर सच्चे सन्मार्गपर लानेके लिये परम सुहृद् बन्धु है। प्रबल मोह-सरिताके प्रवाहमें बहते हुए जीवोंके उद्धारके लिये सुखमय सुदृढ़ जहाज है। मानवतामें आयी हुई दानवताका दलन करके मानवको मानव ही नहीं, महामानव बना देनेके लिये दैवी शक्तिसम्पन्न संचालक और आचार्य है। जन्म-जन्मान्तरोंके संचित भीषण पाप-पादपोंसे पूर्ण महारण्यको तुरंत भस्म कर देनेके लिये उत्तरोत्तर बढ़नेवाला भीषण दावानल है । भगवान्की मधुरतम मुखछविका दर्शन करानेके लिये संत-वचन भगवान्के नित्य सङ्गी प्रेमी पार्षद हैं । इस प्रकार इस अङ्कमें ५८५ संतोंकी वाणियोंको अनेक गद्यों एवं पद्योंमें संग्रह किया गया है ।

श्रीहरिः

विवाहके अवसरपर नवपरिणीता (कन्या या वधू) को देने योग्य भारतीय संस्कृतिके अनुरूप अन्यतम भेंट ।

सच्चे अर्थोंमें नारीको वास्तविक और आदर्श भारतीय नारीका पाठ सिखानेवाला

कल्याणके २२ वें वर्षका विशेषाङ्क नारी-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ८००, लेख-संख्या ४४९, कविता ३२, संगृहीत ४७, चित्र सुनहरे २, रंगीन ९, इकरंगे ४४ तथा लाइन चित्र १९८, मूल्य डाकव्ययसहित ६ रु० १९ नये पैसे, सजिल्द ७) ४४ नये पैसे ।

इस अङ्कमें नारी-धर्मकी महत्ता, नारी-जगत्का आदर और अधिकार, दर्शन-शास्त्रमें नारी-जातिका माहात्म्य, अध्यात्मवादकी कसौटीपर नारीधर्म, नारी-शक्तिका सदुपयोग, नारीका उच्च आदर्श, भारतीय नारी क्या करे, नारी-तत्त्व-गौरव, भारतीय नारीमें पराशक्ति, भारतीय संस्कृतिमें नारीधर्म, भारतीय नारीका स्वरूप और उसका दायित्व, नारीकी आत्मकथा, वैदिक साहित्यमें नारी, नारी और वेद, उपनिषदोंमें नारी, स्मृति-ग्रन्थोंमें नारी, आधुनिक नारी, आदर्श नारी, जीवनकी पाठशालामें नारी, हिंदू विवाहमें पत्नीका समादृत स्थान, विवाह-विच्छेद, हिंदू-विवाहकी पवित्रता, नारी-उन्नति, सतीत्वका तेज, मानसमें नारी, हिंदी काव्यमें नारी, स्त्री-शिक्षा, लड़कियोंकी शिक्षा, वर्तमान स्त्री-शिक्षामें परिवर्तनकी आवश्यकता, 'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्', लज्जा नारीका भूषण, बीसवीं सदीमें नारी, भारतीय नारीका कर्तव्य, नारी त्यागका सर्वोत्तम आदर्श, नारीकी देशसेवा, स्त्रियोंके रोग और उनकी घरेलू चिकित्सा, शिशुरोग, बालकोंकी शिक्षा, नारीके भूषण, नारीकी समस्याएँ, नारी और भोजन-निर्माण-कला आदि विविध विषयोंपर सम्माननीया देवियों एवं सम्मान्य बड़े-बड़े विद्वानोंके बहुत-से लेख प्रकाशित किये गये हैं ।

इसके अतिरिक्त इस अङ्कमें ब्रह्मवादिनी, भक्तिमती, वीराङ्गना, पतिव्रता, सती-साध्वी पवित्र स्त्रियोंके लगभग सवा तीन सौ चरित्र भी प्रकाशित हुए हैं ।

व्यवस्थापक—

कल्याण, पो० गीताप्रेस, (गोरखपुर)

13-9-58

कल्याण

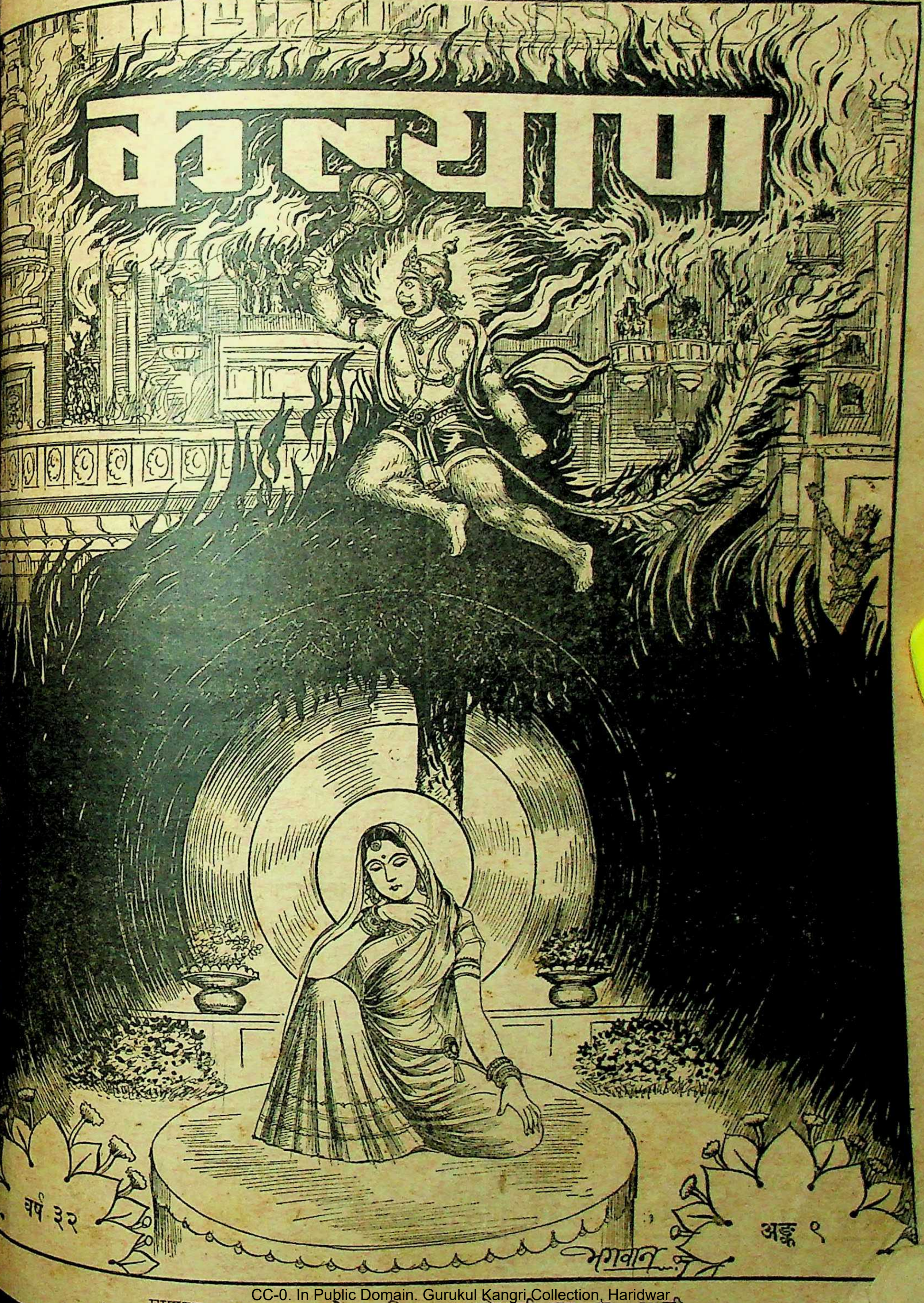

वर्ष ३२

अङ्क १

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०१५, सितम्बर १९५८

विषय पृष्ठ-संख्या

१–इन्द्रका सीताको चरुदान [कविता] ··· ११५७
२–कल्याण ('शिव') ··· ११५८
३–बन्ध-मोक्ष-विचार (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· ११५९
४–भगवान् मुझसे सम्बन्धित सम्पूर्ण बातोंका नियन्त्रण करते हैं ··· ११६१
५–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ··· ११६२
६–बुद्धि और इन्द्रियाँ दो वस्तु हैं या एक ही ? (सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचंदजी 'प्रतापसेठ') ··· ··· ११६६
७–रईसोंका धन [कविता] (बाबू मावलीप्रसादजी श्रीवास्तव) ··· ११६६
८–भक्तियोग [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन' एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ११६७
९–निष्काम कर्म ही क्यों ?–तर्ककी दृष्टिसे (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार) ··· ११६८
१०–प्रेम ही ईश्वरीय विधानको पूर्ण बनाता है ··· ··· ११७०
११–सत्यकी रक्षा करनेवाला अन्तमें विजयी होता है (हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक भाषणसे) ··· ··· ११७१
१२–कुम्भनदास (श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग बी० ए०, साहित्यरत्न) ··· ११७७
१३–गीत [कविता] (श्रीसरजूप्रसादजी सैनी) ११७९
१४–प्रार्थनोपचार या आध्यात्मिक चिकित्सा (श्रीमधुसूदनजी बाजपेयी) ··· ११८०

विषय पृष्ठ-संख्या

१५–प्रबोध ! [कविता] (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') ··· ··· ११८५
१६–ताहि बोउ तू फूल (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ··· ··· ११८६
१७–भगवान् सदा मेरे साथ हैं ··· ११८८
१८–भक्त तहसीलदार (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) ··· ··· ११८९
१९–बच्चोंको उच्च-चरित्र बनाया जाय (श्रीमहावीरजी त्यागी) ··· ··· ११९२
२०–साधकके उद्गार ··· ··· ११९४
२१–मा कर्मफलहेतुर्भूः [कहानी] (श्री'चक्र') ११९५
२२–प्रफुल्लता (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक) ११९८
२३–कुंजमें आगमन [कविता] (सरसमाधुरीजी) ··· ··· ११९९
२४–एशियाका हृदय भारत (आचार्य श्रीरघुवीरजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, संसद्-सदस्य) ··· १२००
२५–गुणी ही विनयी होता है (संकलनकर्ता–श्रीबालचन्द्रजी कोठारी) ··· १२०२
२६–कामके पत्र ··· ··· १२०३
२७–निसिबासर राम रटो [कविता] ··· १२०६
२८–पढ़ो, समझो और करो ··· १२०७
२९–हम अपने चुनावमें स्वतन्त्र हैं ··· १२१६
३०–श्रीमद्भागवतका एक अध्याय (श्रीअनन्तकुमारजी पाषाण) ··· १२१७

चित्र-सूची

तिरंगा

१–इन्द्रका सीताजीको चरु देना ··· ··· ··· ··· ११५७

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≤)
विदेशमें ॥-)
(१० पैं)

मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमथयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१५, सितम्बर १९५८ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ३८२

इन्द्रका सीताको चरुदान

सीताका कर हरण दुष्ट रावण जब लङ्कामें लाया ।
दिए प्रलोभन अमित, विविध विधिसे फुसलाया, समझाया ॥
क्रोधातुर हो सती जानकीजीने जब उसको फटकारा ।
रखकर सीताको अशोक वन, लौट गया वह मन-मारा ॥
जगज्जननि जानकिको जब सुरपतिने देखा दुःख-अधीर ।
अति दुःखित हो, चरु लेकर तब आये, शुचि, शचिपति सुर-वीर ॥
आश्वासन दे, कहा—'जननि ! रावणका कर सवंश संहार ।
विजयी हो रघुवर, तुमको ले जायेंगे निज संग उद्गार ॥
कुछ दिन धीरज धरो, करो अनुचरकी यह सेवा स्वीकार ।
दिव्य देव-हवि-अन्न ग्रहण कर क्षुधा-तृषासे पाओ पार ॥
भूख प्यासकी बाधा मैया ! कभी न होगी तुमको अब ।
सीताने सुरपतिको जब पहचाना, लिया दिव्य चरु तब ॥
माताकी शुभ आशिष पाकर सुखसे लौट गए सुरराज ।
धन्य वही, जिसका तन-मन-धन लगता सदा रामके काज ॥

कल्याण

याद रक्खो—भगवान् सदा तुम्हारे अंदर हैं और तुम सदा भगवान्में हो। भगवान्से तुम्हारा अलगाव या बिछोह कभी होता ही नहीं। परंतु जबतक तुम इस सत्यपर विश्वास नहीं करते, तबतक तुम्हें इसका अनुभव नहीं होता और तुम झूठ-मूठ ही डरकर अपनेको आसुरी मायाके वश मानकर भयभीत, विषादग्रस्त, शोकाकुल और चिन्तामय हुए रहते हो। इसीसे रात-दिन अशान्ति और अन्तर्दाहसे जलते रहते हो।

याद रक्खो—जिस क्षण तुम विश्वास कर लोगे 'मङ्गलमय, कल्याणमय, आनन्दमय, कृपामय, प्रेममय भगवान् नित्य तुम्हारे पास हैं। उनका वरद हस्त सदा तुम्हारे मस्तकपर रहना चाहता है।' उसी क्षण भगवान्का वरद हस्त तुम्हारे मस्तकपर आ विराजेगा और उसी क्षण तुम्हारे हृदयमें एक अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा। तुम अपने चारों ओर मङ्गल, कल्याण, आनन्द, कृपा और प्रेमका मधुर वातावरण देखोगे। सारा भय, सारा विषाद, सारा शोक, सारी चिन्ताओंका समूह नष्ट हो जायगा, उसी तरह जैसे सूर्योदयके साथ ही अन्धकार नष्ट हो जाता है।

याद रक्खो—फिर तुम्हारा जीवन आशामय, हर्षमय, सम्पत्तिमय और शान्तिमय हो जायगा। वह आशा, वह हर्ष, वह सम्पत्ति और वह शान्ति नहीं, जो क्षणभरकी अनुकूल परिस्थितिसे प्राप्त होते हैं और कुछ ही समय बाद प्रतिकूलता आते ही चले जाते हैं।

याद रक्खो—भगवद्विश्वास और भगवत्कृपासे जो आशा, हर्ष, सम्पत्ति और शान्तिरूप प्रसाद प्राप्त होगा, वह भगवत्स्वरूप ही होगा। अतः वह नित्य, शाश्वत, भारर और सदा वर्धनशील होगा।

याद रक्खो—संसारके अनुकूल पदार्थोंकी, सांसारि प्राणियोंके द्वारा अनुकूल व्यवहारोंकी, सांसारिक अनुकूल परिस्थितियोंकी आशा ही तुम्हें नित्य दुःख देती रहती है। ऐसी आशा कभी सुख देनेवाली होती ही नहीं; क्योंकि यह सर्वथा पराधीन, अनित्य और दुःखमयी है। इस आशासे सर्वथा मुक्त हो जाओ। यहाँकी यह आशा, संसारके प्राणि-पदार्थ-परिस्थितियोंपर सुखका यह विश्वास-भरोसा जबतक रहेगा, तबतक भगवान्पर पूरा विश्वास नहीं होगा, और भगवान्पर विश्वास हुए बिना कभी अशान्ति और तज्जनित दुःखोंका नाश नहीं होगा।

याद रक्खो—तुम्हें अपने जीवनमें वह क्षण लाना ही पड़ेगा, उस स्तरपर पहुँचना ही पड़ेगा, जहाँ संसारके प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिपर आशा, भरोसा, विश्वास नहीं रहेगा। तभी तुम्हारे जीवनकी गति ठीक दिशाकी ओर होगी और तभी तुम सुखी हो सकोगे। पर इसके लिये समयकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान् तुम्हारे अंदर हैं, तुम सदा भगवान्में हो, उनकी अत्यन्त समीपता तुम्हें प्राप्त है। उनकी मंगलमय कृपा-शक्ति सदा तुम्हारे जीवनको निर्विघ्न और उल्लासयुक्त सन्मार्गगामी बनानेके लिये तैयार है—इस बातपर विश्वास करो।

याद रक्खो—भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकमहेश्वर हैं और तुम्हारे परम सुहृद्रूपसे नित्य तुम्हारी सहायता करनेको तैयार हैं। इस बातपर विश्वास करो। विश्वास दृढ़ होते ही अनुभव होने लगेगा; क्योंकि यह परम सत्य है। और इस सत्यकी अनुभूति तुम्हारे जीवनको भगवन्मय बना देगी।

'शिव'

विदेश

(१५ शिलि

बन्ध-मोक्ष-विचार

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[एक लघु दृष्टान्त]

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥

श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—देखो, अब मैं तुमको संसारका स्वरूप समझाता हूँ । मनुष्यके चित्त अर्थात् अन्तःकरणमें जब अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश घर कर बैठते हैं, तब सुख-दुःखरूप संसारकी प्रतीति होती है । परंतु सद्गुरुके बतलाये हुए साधनोंका आचरण करनेसे अन्तःकरण जब क्लेशरहित, वासनाशून्य हो जाता है, तब सुख-दुःख आदिकी प्रतीति नहीं होती । वासनाशून्य अन्तःकरणमें यथार्थ ज्ञान अपने-आप प्रकट होता है और यथार्थ ज्ञान होनेका नाम ही मुक्ति है । इसी बातको दूसरे प्रकारसे समझाते हैं—

राम वासनया बन्धो मुक्त्यै निर्वासनं मनः ।
तस्मान्निर्वासनीभावमानयस्व विवेकतः ॥

हे रामचन्द्रजी ! भौतिक पदार्थोंमें, इन्द्रियोंके भोगकी सामग्रीमें आसक्ति होनेसे, उनसे सुख प्राप्त करनेकी इच्छा होती है । और यह इच्छा ही बन्धन कराती है । इसलिये मुमुक्षु लोग विवेकके द्वारा वैराग्यकी प्राप्ति करते हैं, पदार्थ मात्रमेंसे आसक्ति हटा लेते हैं । मनको समझाते हैं कि भोग-पदार्थोंसे कोई सुख नहीं मिलता । आसक्तिके कारण उनमें सुखबुद्धि आती है, और तब उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न होता है, और इस प्रकार प्रवृत्त होते-होते संसारका विस्तार होता है । अतएव सब प्रकारके बन्धनोंका कारण जो वासना, भोग-वासना है, उसका त्याग करना चाहिये ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

फिर हे रामचन्द्रजी ! यह मन ही बन्धनमें डालता है । मन संसारके भोगपदार्थोंमें आसक्त हो जाता है, और उनकी प्राप्तिके लिये, बंदरके समान, एक पदार्थसे दूसरे पदार्थके लिये उछल-कूद मचाता रहता है; वह कदापि विषय-भोगसे अघाता नहीं, और रोज नये-नये भोगके लिये छटपट करता रहता है । इस प्रकार प्राणी-पदार्थोंका संग्रह करनेमें ही सारा जीवन बीत जाता है, तथापि उसको तृप्ति नहीं होती । अतृप्त वासनाओंके कारण ही एकके बाद दूसरा यों अनेक प्रकारके देह धारण करता जाता है । अतएव सब अनर्थोंका मूल कारण मन ही है । परंतु यह मन यदि विषयोंसे हटकर ईश्वरमें लग जाय, तो वही भव-बन्धनको काट डालता है । जब अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तो उसमें ईश्वरका साक्षात्कार होते देर नहीं लगती । इसलिये मुक्ति दिलानेवाला भी यह मन ही है । अतएव जैसे भी हो, इस मनको शान्त करना चाहिये ।

दूसरे प्रकारसे देखनेपर हे रामचन्द्रजी ! न बन्धन है और न मोक्ष ही है । केवल देहाध्यासके कारण आत्माको संसार प्राप्त होता है ।

अनात्मन्यात्मधीर्बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
बन्धमोक्षौ न विद्येते नित्यमुक्तस्य चात्मनः ॥

शरीर आत्मासे भिन्न है, विलक्षण है तथा विरुद्ध धर्मवाला है । तथापि मायाके कारण आत्मा अपनेको शरीररूप मानता है, और इतना ही बन्धनका स्वरूप है । देहात्मबुद्धिका नाश, अर्थात् 'मैं देह हूँ'—इस भ्रान्तिको छोड़ देना ही मोक्षका स्वरूप है । वस्तुतः बन्ध-मोक्ष कुछ है ही नहीं । आत्मा स्वभावसे ही नित्य मुक्त है, अतः उसमें बन्ध या मोक्ष सम्भव

नहीं है । सूर्यमें यदि दिन-रात हो तो आत्मामें भी बन्ध-मोक्षकी कल्पना घट सकती है ।

इस प्रकार आत्मा नित्य मुक्त है तथा बन्ध-मोक्षकी कल्पनासे भी परे है । तथापि जबतक सद्गुरुकी कृपासे 'मैं नित्य-मुक्त आत्मा हूँ'—यह दृढ़ निश्चय नहीं होता, तबतक वस्तुतः न होते हुए भी, आत्माका संसार-भ्रमण चलता रहता है ।

यह सुनकर हे प्रिय रामचन्द्रजी ! तुम्हें यह शङ्का नहीं लानी चाहिये कि 'यह जन्म-मरणरूप संसार केवल मिथ्यारोपित है अतएव इसकी निवृत्तिके लिये किसी साधनकी आवश्यकता नहीं । मिथ्याकी निवृत्ति अपने-आप होनी चाहिये ।'

इसका उत्तर यह है कि मिथ्याकी निवृत्तिके लिये भी जबतक मिथ्यात्व समझमें नहीं आता, तबतक प्रयत्न करना ही पड़ता है । रज्जुमें सर्प दीखना, केवल मिथ्या प्रतीति है, तथापि जबतक प्रकाशकी सहायतासे रज्जुका ज्ञान नहीं होता, तबतक मिथ्या सर्पकी निवृत्ति नहीं होती । जबतक मनुष्य अज्ञान-निद्रासे नहीं जाग जाता, तबतक स्वप्नका अनर्थ मिथ्या होनेपर भी निवृत्त नहीं होता ।

मिथ्याऽऽरोपितसंसारो न स्वयं विनिवर्तते ।
विषयान् ध्यायमानस्य स्वप्ने मिथ्यागमो यथा॥

यद्यपि यह सुख-दुःखादि संसार केवल मिथ्या—आरोपित है, तथापि जबतक इसका मिथ्यात्व समझमें नहीं आता, तबतक यह अपने-आप शान्त नहीं होता । दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे स्वप्नका अनर्थ जागे बिना दूर नहीं हटता उसी प्रकार यह संसार भी निवृत्त नहीं होता । यही कारण है कि संसारकी निवृत्तिके लिये शास्त्र साधना करनेको कहते हैं ।

× × ×

इस प्रकार विभिन्न प्रकारसे ऋषि वसिष्ठजीने मुक्तिके उपाय बतलाये । तब श्रीरामचन्द्रजीने पूछा कि 'हे भगवन् ! आप-जैसे समर्थ गुरु हैं, और मुझ-जैसा अधिकारी मुमुक्षु आपके पास बैठकर श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, तथापि गुरुजी ! मुझे बोधकी दृढ़ता क्यों नहीं होती ? यह आश्चर्यकी बात है !

उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—

जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

मुझे बोध होनेमें विलम्ब हो रहा है, इसका कारण यह नहीं है कि मुझमें कोई कमी है, अथवा तुम्हारेमें कोई अपरिपक्वता है । परंतु अनेक जन्मोंसे चित्तमें संसारको दृढ़ कर रक्खा है, इसलिये उसको निर्मूल करनेके लिये भी बहुत समय चाहिये । संसारका अभ्यास अनन्त जन्मोंसे चला आ रहा है, इसलिये उस अभ्यासको दूर करके नया अभ्यास, अर्थात् मैं संसाररूप नहीं, बल्कि उसका द्रष्टा हूँ—ऐसा अभ्यास दृढ़ करनेमें समय अवश्य लगेगा । जैसे फल पकनेपर वृक्षके ऊपर नहीं रह सकता, उसी प्रकार निष्ठा परिपक्व होनेपर साक्षात्कारमें देर नहीं लगती । इसलिये साधनामें धीरज रखना जरूरी है । परिपाकके समय सब कुछ अपने-आप ही हो जाता है ।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—भगवन् ! यह तो मैंने समझ लिया कि संसार-बन्धन किस प्रकार कटा जाय । और यह भी मेरी समझमें आ गया कि बन्धनके टूटनेमें देर लगती है, इसके लिये धैर्य रखना आवश्यक है । परंतु यथार्थ ज्ञान होनेके बाद भी प्रारब्ध-क्षय पर्यन्त देह धारण तो करना ही पड़ता है । इसलिये वह जीवन कैसे बिताया जाय, इसे आप कृपा करके बताइये ।'

तब श्रीवसिष्ठजी प्रसन्न होकर बोले—ज्ञान होनेके बाद जीवन्मुक्तका जीवन कैसा होना चाहिये, यह तुमको मैं संक्षेपमें समझाता हूँ, ध्यान देकर सुनो ।

बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्रजी ! संसारके व्यवहारमें ऊपरसे जरा क्रोध दिखलाना अर्थात् सर्पके दृष्टान्तके समान फुफकारना, पर काटना नहीं, परंतु अन्तःकरणमें जरा भी क्रोध न आने देना, अर्थात् उसे शान्त ही रखना । इसी प्रकार शरीरसे यथायोग्य व्यवहार करना, परंतु अन्तःकरणमें 'मैं यह करता हूँ'—ऐसा अहङ्कार न होने देना । इस प्रकार संसारमें रहनेसे इसका बन्धन नहीं होगा ।

अन्तस्संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिस्सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥

अन्तःकरणसे सब आशाओंको निकाल डालो, राग-द्वेषसे परे हो जाओ, और वासनाको निर्मूल कर डालो । पश्चात् संसारमें यथायोग्य व्यवहार करते हुए जीवन-निर्वाह करो । इस प्रकार संसारमें रहनेसे बन्धन नहीं होता ।

* * *

भगवान् मुझसे सम्बन्धित सम्पूर्ण बातोंका नियन्त्रण करते हैं

जब कोई अवस्था या परिस्थितिविशेष मेरी मानसिक शान्तिको भंग करना चाहती है, अथवा मुझे उत्तेजित और चिन्तित बनाने लगती है तो मैं इस विश्वासको दोहराता हूँ कि 'भगवान् मुझसे सम्बन्धित सम्पूर्ण बातोंका नियन्त्रण करते हैं ।' मुझे केवल इतना करना है कि अन्तर्मुख होकर इस विश्वासको पुष्ट करूँ कि 'यदि मैं भगवान्‌के प्यारको अपनेमें सक्रिय होने दूँगा तो भगवान् मेरे जीवनसे सम्बन्धित प्रत्येक बातका नियन्त्रण स्वयं करेंगे ।' मैं भगवान्‌में आगे बढ़ने और प्रत्येक कार्यको करनेका विश्वास प्राप्त करता हूँ ।

इस विश्वाससे कि 'भगवान् मेरे जीवनका नियन्त्रण करते हैं' मैं कभी भयभीत नहीं होता । भगवान्‌का प्रेम मुझे परिव्याप्त करता है तथा मेरी रक्षा करता है । भगवान्‌का विवेक मेरे प्रत्येक कदमको संचालित करता है और सदा मुझे उस ओर प्रवृत्त करता है, जिसमें मेरा परम हित हो । भगवान्‌की शक्ति मेरी नस-नसमें परिव्याप्त है और मुझमें बाधाओंपर विजयी होनेका विश्वास भरती है । मैं अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌की संनिधि ही मेरी सहायताका मूल है । यह विश्वास कि 'मैं किसी भी समय भगवान्‌पर निर्भर कर सकता हूँ'—मुझे किसी भी आवश्यकताकी ओरसे चिन्तित नहीं होने देता और छोटी-बड़ी सभी आवश्यकताएँ मुझे समान अनुभव होती हैं । इस विश्वासके साथ कि मेरी प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण हो जायगी, क्योंकि मेरे जीवनका नियन्त्रण भगवान्‌के हाथमें है, मैं निरन्तर आगे बढ़ता रहता हूँ ।

भगवान् मुझसे सम्बन्धित सम्पूर्ण बातोंका नियन्त्रण करते हैं ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। पत्रोंकी अधिकता एवं कार्यव्यस्तताके कारण उत्तरमें विलम्ब हुआ, इसके लिये विचार न करेंगे।

भक्तिभावसे विमुख होना, सूर्योदयके बाद ८ बजे उठना और काम-धंधेमें आसक्त होना, समयको व्यर्थ नष्ट करना—यह सर्वथा प्रमाद है। इसका तो त्याग करना ही चाहिये। प्रमादको बनाये रखकर कोई भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१–२) मनकी शुद्धि आप करना कहाँ चाहते हैं? क्योंकि उसके लिये जो उपाय बताये गये हैं, उनको आप काममें नहीं लाते, तब उसकी शुद्धि कैसे हो? इसमें मनका क्या दोष है? आप स्वयं तो भोगोंका सुख भोगें और मनको भगवान्‌के भजनमें लगावें-यह नहीं हो सकता। मन तो आपके साथ रहेगा क्योंकि उसमें अपना बल नहीं है। वह जो कुछ करता है, आपके बलपर ही करता है। जगत्‌में रहना तो भगवान् शङ्करकी सेवा करके उससे उऋण होनेके लिये है, न कि भोगवासनाको पूरी करनेकी लालचसे। घरका और दूकानका काम यदि भगवान् शङ्करका काम समझकर शङ्करकी आज्ञाके अनुसार उनकी कृपासे मिले हुए पदार्थों और सामर्थ्यसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सेवाभावसे किया जाय, बदलेमें किसीसे किसी प्रकारकी कामना न की जाय तो वह भगवान् शङ्करकी पूजा हो जाती है और उससे मन अपने-आप शुद्ध और स्थिर हो सकता है। फिर भगवान् शङ्करकी पूजामें विघ्न आनेका कोई कारण नहीं रहता, और सब प्रकारसे दुःखप्रद संसार आनन्दमय शिवस्वरूप प्रतीत होने लग जाता है।

(३) भक्तिमें मन लगानेका यह कारण नहीं है कि वह काममें न लगे। इसका कारण तो कामको भक्तिसे भिन्न मान लेना है। यदि कामको भी भगवान्‌का समझकर भक्तिके रूपमें किया जाय, तो दोनोंका भेद मिट सकता है। सद्ग्रन्थोंको पढ़ना अच्छा है। पर साथ-साथ उनमें कही हुई बातोंको समझकर उनके अनुरूप अपना जीवन बनानेकी आवश्यकता है। केवल पाठसे यह लाभ नहीं मिल सकता, जो उनके कथनानुसार जीवन बनानेसे मिलता है।

केवल भगवान्‌में प्रेम लगा रहना तो बहुत ही उत्तम है। पर उसमें किसी प्रकारका अभिमान या सुख-भोगकी कामना नहीं होनी चाहिये।

(४) यह अभ्यास तो साधनके लिये बहुत ही उपयोगी है कि जिस काममें लगे, उसका अन्तिम आनन्द न प्राप्त कर लेनेतक उसे न छोड़े।

(५) दुखीको देखकर हृदयका द्रवित हो जाना बड़ा अच्छा है। साथ-ही-साथ उनकी सेवा करना भी आवश्यक है। केवल संसारको दुःखरूप समझना ही उस घटनाका उच्चतम सदुपयोग नहीं है।

(६) आप किसी समाजमें न जायँ, किसीको अपना मित्र न बनायें, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किंतु प्रभुके नाते सभीमें मित्रभाव रखना चाहिये। यही सबसे अच्छा है।

पिताजीकी आज्ञा बिना आप एक घंटा भी अन्यत्र नहीं जा सकते, यह बहुत ही अच्छी बात है। भगवान्‌की कृपा है जो आपके पिताजी और घरवाले आपके शरीरकी इतनी देख-रेख करते हैं।

आप इसमें बन्धन मानते हैं, इसमें पराधीनता और

दुःख अनुभव करते हैं, इससे छुट्टी मिलनेको छुटकारा मानते हैं और प्रसन्न होते हैं, यही सबसे बड़ी भूल है। हरेक कामको भगवान्का काम—उन्हींकी पूजा समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लये सेवाके रूपमें करने लगो, तो उसका करना बन्धन नहीं लगना चाहिये। उससे छुट्टी मिलनेमें प्रसन्नता नहीं होनी चाहिये। वास्तवमें पराधीनता तो विषयासक्ति एवं मनकी इच्छा पूरी करनेमें है। उसका त्याग कर देनेपर कोई पराधीनता नहीं रहती—पूर्णतया स्वतन्त्रता मिल जाती है।

घरवाले आपके विचारोंको तभीतक खराब समझते हैं, जबतक आप उनके अधिकारकी धर्मानुकूल पूर्ति अपने कर्तव्य-पालनद्वारा नहीं करते। यदि आप अपने कर्तव्यका पालन करके भगवान्के नाते उनको सुख देने लग जायँ, तो कोई भी आपके विचारोंको बुरा न समझे। इसमें घरवालोंको दोषी समझना भूल है।

(७) आपने साधु बननेका विचार छोड़ दिया, यह तो ठीक है, पर आपने जो साधु-समाजके दोषोंका वर्णन किया, यह अच्छा नहीं है। किसीके भी दोषोंको देखना और उसकी निन्दा करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है।

(८) व्यापारमें झूठ बोलनेवाला ही सफल हो सकता है, ऐसी बात कदापि नहीं है तथा बिना झूठ-कपटके व्यापार नहीं चल सकता, ऐसी बात भी नहीं है। यह धारणा गलत है।

यह तो उनकी मान्यता है, जिनका न तो कर्तव्य-पर विश्वास है, न ईश्वरपर और न प्रारब्धपर ही। वास्तवमें तो बात यह है कि छल-कपट छोड़कर सबकी सेवाभावसे सत्य व्यापार करनेवाला व्यापारमें जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी झूठ बोलनेवाला कभी नहीं कर सकता। आपका सम्बन्धी, जो आपकी दूकानपर काम करता है, उससे व्यापारकी युक्ति तो सीखनी चाहिये, पर उसके झूठ-कपटका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

झूठ-कपट करनेवालेको नरकका दुःख भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं, उससे भी बड़ा नुकसान यह है कि उसका नैतिक पतन हो जाता है। वह प्रभुकी ओर बढ़ नहीं सकता। मनुष्य-जन्मके परम लाभसे वञ्चित रह जाता है।

आपके पिताजी, जो आपकी दूसरोंके सामने निन्दा करते हैं, उसका आपको दुःख नहीं करना चाहिये।

पिताजीमें किसी प्रकारका दोषारोपण भी नहीं करना चाहिये। उनके कथनको शिक्षा समझकर अपने दोषोंकी खोज करनी चाहिये। यदि ऐसा कोई दोष समझमें आ जाय जो त्यागनेके लायक हो, जिसके कारण पिताजीको दुःख होना उचित प्रतीत होता हो, उसे तुरंत त्याग देना चाहिये।

(९) आप गीता अध्याय ४ श्लोक ११ का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेते, तो उसमें डरनेकी या साधनको छोड़नेकी अथवा भगवान्को कष्ट होनेकी कोई बात है, ऐसी मान्यता ही नहीं होती। आपने उसका अर्थ गलत समझकर ही ऐसी धारणा कर ली है, उसे छोड़ देना चाहिये।

उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'जो मेरे भक्त मुझे जिस-जिस प्रकारसे, जिस-जिस भावसे भजते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको भजता हूँ अर्थात् उनके भावानुसार ही उनसे प्रेम करता हूँ।' इसका विस्तार गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' टीकामें उपर्युक्त श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।

अधूरी पूजाको छोड़ देना, जपको पूरा न करके बीचमें छोड़ देना, दिनभर काफी झूठ बोलना—यह तो प्रमाद है। इसका नाम भजन नहीं है। अतः इन सब दोषोंका तो दृढ़ विश्वासके साथ त्याग कर

देना चाहिये । पूजा और जपसंख्या आदिका नियम और समय पहलेसे ही समझ-सोचकर निर्धारित करना चाहिये, जिसमें कोई विघ्न न आ सके ।

(१०) मीराँने भक्ति की और सर्वस्व तन, मन, धन प्रभुको अर्पण कर दिया, यह ठीक है । उसी प्रकार आप भी बड़ी सुगमतासे कर सकते हैं । इसमें कठिनाई ही क्या है ? जिस तन, मन, धनको गलतीसे आपने अपना मान लिया है, उसको अपना न मानकर प्रभुका मान लेना एवं अपने-आपको उनका सेवक मानकर जिस प्रकार भरतजी अयोध्याके राज-काजको भगवान्‌का काम समझकर करते थे, उसी प्रकार समस्त काम प्रभुका समझकर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाके पालनके रूपमें करना—यही तो भक्ति है ।

घरवाले जो यह कहते हैं कि 'भक्ति भी करो और अन्य कार्य भी करो'—इसमें कोई बुराई नहीं है । वे तो अपनी समझके अनुसार ठीक ही कहते हैं । आपको चाहिये कि वे जिसे दूसरा काम समझते हैं, उसे भी आप भगवान्‌का काम समझकर भक्तिका अङ्ग बना लें । ऐसा करनेसे भक्ति अधूरी नहीं रहेगी—पूर्ण हो जायगी । और उनका कथन भी रह जायगा ।

घरवाले जो यह कहते हैं कि आनन्द लूटो, मजा लो, उनको उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं । मनमें समझो कि भगवान्‌की स्मृतिमें जो आनन्द और मजा है, वही सच्चा आनन्द और मजा है । संसारमें न मजा है और न आनन्द ही । भोले भाई लोग जिसे आनन्द कहते हैं, वह तो दुःखका ही दूसरा रूप है; क्योंकि उसमें अभावकी पूर्ति नहीं है ।

नित्यकर्म—पूजापाठके लिये यदि घरवाले प्रसन्नतापूर्वक दो घंटेका समय देते हैं तो बड़ी अच्छी बात है । वह समय भगवान्‌के काममें लगाना चाहिये । और बाकी समय भी भगवान्‌की सेवाके रूपमें ही लगाना चाहिये यानी उसके द्वारा घरवालोंके और दूसरोंके हृदयमें स्थित प्रभुकी सेवा करनी चाहिये । उन सबको हितपूर्ण सुख देना और बदलेमें उनसे सुख-भोगकी कामना न करना—यही प्रभुकी उत्तम सेवा है । इससे आपका भविष्य बड़ा ही सुन्दर और उज्ज्वल बन सकता है । घबरानेकी बात नहीं है ।

आपने जो यह समझा कि भक्तिको छोड़ देना ही अच्छा है, अधूरी भक्ति करनेसे उल्टा पाप सिरपर चढ़ता है, इत्यादि । आपकी यह समझ बिल्कुल गलत है । भगवान्‌की भक्ति तो मनुष्य जितनी करे, उतनी ही अच्छी है, उसमें पापकी तो कोई बात ही नहीं ।

(११) आपने लिखा कि अभी मेरी किसी चीजमें रुचि नहीं है, सो यह तो अच्छी बात है । रुचि तो सब ओरसे हटकर एकमात्र भगवान्‌में हो जाय, यही सर्वोत्तम जीवन है, पर इसका अर्थ घरवालोंसे या अन्य किसीसे द्वेष करना नहीं है ।

काम करना बुरा नहीं है । भगवान्‌को स्मरण रखते हुए उनका काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये सेवाके रूपमें काम करना तो भक्ति ही है । इसका भक्तिसे कोई विरोध नहीं है । अतः काम करूँ या भक्ति करूँ ? यह प्रश्न नहीं बनता ।

(१२) तन, मन, धनसे प्रभाकरकी परीक्षाकी तैयारी करना अच्छा है । उसके बाद बी० ए० आदि कर लेना भी अच्छा है; पर नौकरीके लिये, किसी प्रकारके अधिकारकी प्राप्ति या धन-प्राप्ति आदिके लिये नहीं । प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उनके आदेश पालन करते हुए उनकी सेवाके लिये ही सब कुछ करना है, इस लक्ष्यको कभी नहीं भूलना चाहिये ।

(१३) आपने लिखा कि 'जब मैं कुछ कमाने लायक हो जाऊँगा, तब मुझे कोई कुछ नहीं कह सकेगा ।' इससे यह पता चलता है कि अब घरवाले

आपको जो कुछ कहते हैं, वह आपको बुरा लगता है, आप उनको अपने काममें बाधक समझते हैं, सो यह समझना गलत है। उनका कहना बुरा नहीं लगना चाहिये। उनके कथनमें जो अच्छी बात हो, उसे भगवान्की ओरसे भेजी हुई चेतावनी मानकर उसके अनुसार अपना सुधार करना चाहिये। भक्तिमें दूसरा कोई बाधा नहीं डाल सकता, भक्तिका काम तो हर समय हरेक परिस्थितिमें चल सकता है। उसके लिये यह मानना कि जब मैं कमाने लग जाऊँगा तब भक्तिका काम निरन्तर चलता रहेगा, बड़ी भारी भूल है।

सरकारी नौकरीकी खोज करना भक्तिमें आवश्यक नहीं है। घरवाले इसमें आपत्ति करते हैं, यह उचित ही है। नौकरीमें तो सब प्रकारसे पराधीनता है। भक्तिके लिये भविष्यकी आशा नहीं करनी चाहिये। भक्ति बड़ी सुगमतासे वर्तमान परिस्थितिमें ही की जा सकती है, उसमें कोई कठिनाई नहीं है।

(१४) मनुष्य रातमें सोया, सुबह उठा, शरीरका शौच-स्नान एवं भोजनादि काम किया, सम्भोग किया—इस प्रकार जीवन व्यतीत करना यदि सुखभोगके लिये है तो वह पशु-जीवन है। इससे मनुष्य-जन्मके उद्देश्यकी पूर्ति नहीं होती, यह सर्वथा ठीक है। झूठ बोलना तो पाप है। वह तो मनुष्यताका दुरुपयोग है। अतः साधकको चाहिये कि ऊपर बताये हुए आवश्यक कर्मोंको भी दूसरोंके हितकी बुद्धिसे भगवान्की प्रसन्नताके लिये सेवाके रूपमें ही करे एवं उन सबको करते हुए अपने प्रभुको कभी न भूले।

(१५) आपके अन्तिम पाँच प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(क) मनकी शुद्धि भावकी शुद्धिसे होती है। निश्चित नाम-संख्या उसमें कारण नहीं है। माला फेरना तो नाम-जपकी संख्या रखनेके लिये आवश्यक है।

(ख) भगवान्को विश्वासपूर्वक अपना मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप-ध्यान करनेसे पापीसे भी पापीका मन भगवान्में लग सकता है।

(ग) प्राणोंके संयम (रोकने) का नाम प्राणायाम है। उसकी रीति गीताप्रेससे प्रकाशित 'योगदर्शन' के दूसरे पाद एवं गीता-तत्त्व-विवेचनीमें चौथे अध्यायके २९-३० वें श्लोकोंकी टीकामें देख लें।

(घ) धनमें प्रीति रखना सर्वथा हानिकर है। प्रेम तो एकमात्र भगवान्में होना चाहिये। संध्या कैसे करनी चाहिये, यह संध्याकी पुस्तकमें देखें या अपने ग्राममें किसी पण्डितसे सीखें; पत्रद्वारा इसे नहीं समझाया जा सकता। संध्या भाव एवं अर्थ समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विधिके अनुसार करनी चाहिये। गीताप्रेससे प्रकाशित 'नित्यकर्मप्रयोग' नामक पुस्तकसे आपको सहायता मिल सकती है।

(१६) प्रभुके दर्शन पानेकी चिन्ता बड़ी अच्छी है। इसके साथ और कुछ पानेकी इच्छाका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। इसका उपाय प्रभुमें अनन्य प्रेम ही है। अपने आपको भगवान्का मानकर उनका हो जाना और उनपर ही निर्भर रहना, यही उनकी शरण लेना है। भगवान् तो शरण देनेके लिये हर समय तैयार हैं। उनकी शरण लेने मात्रसे ही जीवन आनन्दमय अपने-आप हो जाता है।

बुद्धि और इन्द्रियाँ दो वस्तु हैं या एक ही ?

(लेखक—सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचंदजी 'प्रतापसेठ')

यदि बुद्धि और इन्द्रियाँ एक ही हों तो बुद्धिद्वारा ग्रहण की हुई वस्तुको प्रत्यक्ष करनेके लिये हम अपनी इन्द्रियोंका उपयोग क्यों करते हैं ? इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ असम हैं । और भी हम देखते हैं कि बुद्धिमें विचार तो अनेक आते हैं, किंतु इन सभी विचारोंमें इन्द्रियोंका उपयोग नहीं होता । इससे यह प्रतीत होता है कि बुद्धि और इन्द्रियाँ एक न होकर पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं और उनके काम भी पृथक्-पृथक् हैं । बुद्धिका काम है देश-कालादि शर्तें लगाकर वस्तुका ज्ञान करा देना, और इन्द्रियोंका काम है वस्तुको प्रत्यक्ष करना ।

इससे ऐसा विदित होता है कि बुद्धि तथा इन्द्रियोंमेंसे एकका काम बंद होनेपर अन्यका काम बंद नहीं होना चाहिये । यह कहना ठीक नहीं कि बुद्धिका काम बंद होनेपर इन्द्रियोंका काम भी बंद हो जाता है । किंतु प्रायः यह कहा जाता है कि बुद्धिके बिना अकेली इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं । इसपर हमारा यह कहना है कि जब आप कहते हैं कि 'हमें कुछ नहीं दीखता' तब आप अभावका अनुभव करते हैं । अब प्रश्न यह है कि इस अभावका अनुभव केवल इन्द्रियोंको होता है या बुद्धिको ? वह बुद्धिके विषयोंका है या इन्द्रियोंके विषयोंका ?

उक्त प्रश्नका उत्तर यह है कि अभावका स्वरूप तो बुद्धिविशिष्ट ही है और हो सकता है । अभाव इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता । 'कुछ नहीं दीखता'—यह बुद्धिका ही विधान है । भाव-अभाव इत्यादि समझना तो बुद्धिका ही काम है । इन्द्रियाँ तो केवल वस्तुकी सत्ताको, उनके 'है-पन' को ग्रहण करती हैं ।

समस्त इन्द्रियोंके विषयरूप ब्रह्मका अनुभव हम ही करते हैं । यानी हम ही ब्रह्मको देखते हैं, ब्रह्मको सुनते हैं इत्यादि-इत्यादि । बुद्धिविशिष्ट समस्त इन्द्रियाँ अनुभवमें एकत्रित हो जाती हैं । यही इन्द्रियोंका एकत्व है । समस्त इन्द्रियोंकी ज्ञानवत्ता—यही एक आँख है । कहा है न—

'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।'

रईसोंका धन

(रचयिता—बाबू मावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

चापलूसी, श्वानवृत्ति, भय, भ्रम, पशुभाव,
दाँतोंका निकालना है काम कामी कीसोंका ।
चालिस करोड़ रहे आये कल चले आज
रहा नाम बाकी बस गिने दस बीसोंका ॥
सुनो प्यारे देशबन्धु कहूँ मैं विचार तत्त्व,
धन-लोभ, सत्ता-प्रेम धन है रईसोंका ।
साधना, विनय, शील, साहस, विवेक, आशा,
संयम, कुपंथ त्याग धन है रईसोंका ॥

भक्तियोग

गीताका बारहवाँ अध्याय*

(रचयिता--श्री 'बच्चन' जी)

सोरठा

सुनि अनन्य कै रीति गुनातीत भगवंत सन ।
पूछेउ पार्थ सप्रीति प्रस्न मथत जो भगत मन ॥

चौपाई

भजहिं मानि तोहि जे सुरभूपा । नित्य चतुर्भुज सगुन-सरूपा ॥
भजहिं जे तोहि कहि अलख अनूपा । निरगुन अव्यय अच्छय रूपा
दोउन महँु मोहि कहहु मुरारे । जोग-मरमु को जाननिहारे ॥
अर्जुन कै दुविधा पहिचानी । बोलेउ हरि निर्नयकर बानी ॥
कुंतिसुवन ! मोहि सन चित लाई । मन महुँ श्रद्धा-भगति बसाई
मोहि अविराम भजइ जो कोई । सो जोगिन्ह महुँ उत्तम होई ॥
इंद्रिन्ह कहुँ संजम सन साधी । बुद्धि राखि सब द्वंद-अबाधी ।
उर धरि मोहि ध्रुव-व्यापक-रूपा । नित्य एकरस अचल अरूपा ॥
ग्यान-गिरा-गोतीत अमाना । अज अव्यय अच्छय भगवाना ॥
जो सब कर हित कर जग माहीं । सोउ निस्चय आवइ मोहि पाहीं ॥
पै निरगुन नहिं सहज धराई । गहत अरूप बहुत कठिनाई ॥
पुनि जेहि दस-दिसि घेरै खेहा । देखै केहि विधि अगुन अदेहा ॥
जे मोहि महुँ आपुन चित लाई । जोग जुगुति मोहि भजहिं सदाई
जे सब कर्म करहिं मोहि लागी । मोहि समरपहिं फल-रुचि त्यागी ॥
मैं तिन्ह कहुँ करि द्रुत उद्धारा । पहुँचावउँ भव-सागर पारा ॥

दोहा

अरजुन मोहि महुँ बासि बुधि, राखि मोहि मन माहिं ।
ते मोहि महुँ निवसहिं सतत, एहि महुँ संसय नाहिं ॥

चौपाई

जौं मन तोर न मोहिं थिराई । तोहि कहउँ मैं अपर उपाई ॥
करु अभ्यास बाँचि सुनि गाई । मोर चरित गुन रीति बड़ाई ॥
जौं अभ्यासउ नहिं करि जाई । तोहिं कहउँ मैं अपर उपाई ॥
तैं करु कर्म सकल मोहि लागी । तो कहुँ सिद्धि मिलिहि बड़ भागी ॥
जौं तोहि सन एहु नहिं करि जाई । तौ करमन्ह-फल सकल बिहाई ॥
तैं करु निज मन पर अधिकारा । तैं गहु मोर जोग आधारा ॥
अभ्यासोपरि ग्यान बखाना । ग्यानोपरि हरि-ध्यान सुजाना ॥
ध्यानोपरि करमन्ह-फल-त्यागा । त्याग से सांति मिलइ सुख भागा ॥

दोहा

जो सब के प्रति दोष तजि, करुन सबन्ह प्रति होय ।
मीत होय जो सबन्ह कर, ममता मन तें धोय ॥
छमावान रहि सबन्ह प्रति, अहंकार नहिं आन ।
जोग-जुक्त जो नित समुझ, सुख-दुख एक समान ॥
इंद्रिन्ह कहँ संजमित करि, दृढ़ निस्चय उर आनि ।
जो समान संतुष्ट रह, लाभ होउ कै हानि ॥
जो निज बुद्धि समर्पि मोहि, मन महुँ मोहि थिराहि ।
मोर भगत रह सर्वदा, समुझु मोर प्रिय ताहि ॥

चौपाई

जो उदवेगइ नहिं संसारा । जेहि जग नहिं उदवेगइ पारा ॥
हर्ष भीति इरिषा नहिं जाही । समुझु मोर प्रिय अरजुन ! ताही ॥
जो गत-दुःख विगत-प्रत्यासा । जो तन-मन सुचि दच्छ उदासा ॥
कर्मारंभ-दंभ नहिं जाही । समुझु मोर प्रिय अरजुन ताही ॥
राग-रोष नहिं जेहि पर छावा । जेहि नहिं चाह न जेहि पछतावा ॥
कर्म सुभासुभ छाप न जाही । समुझु मोर प्रिय अरजुन ताही ॥
सत्रु-मित्र जेहि एक समाना । एक समान मान-अपमाना ॥
आतप-हिम सुख-दुख सम जाही । समुझु मोर प्रिय अरजुन ताही ॥
संग-मोह जेहि नहिं समुहाना । अस्तुति-निंदा जो सम जाना ॥
जासु बिचार-बचन भल सासा । जाकर थिर बुधि अस्थिर बासा ॥
जो जेहि-तेहि बिधि देह-निबाही । समुझु मोर प्रिय अरजुन ताही ॥

दोहा

श्रद्धाजुत मोहि परम गति मानि धरें हिय मोहि ।
जे मम धर्मामृत पिअहिं ते अतिसय प्रिय मोहि ॥

---

* हिंदीके प्रसिद्ध कवि सम्मान्य श्रीहरिवंशराय 'बच्चन'जीद्वारा श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर रचित शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली 'जन-गीता'का एक अध्याय ।

निष्काम कर्म ही क्यों ?—तर्ककी दृष्टिसे

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

गीताका सार यदि एक शब्दमें कहना हो तो वह 'निष्कामकर्म' है। गीताका यह सिद्धान्त उपनिषदोंपर आधारित है। इसीलिये गीताको उपनिषद्रूपी गायका दूध कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'गीता' यह शब्द वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्का संक्षिप्त रूप है। इसीलिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु·······अध्यायः' ऐसा कहा गया है। फलतः गीताके 'निष्कामकर्मके' सिद्धान्तका मूलभूत सूत्र ईशोपनिषद्के इस दूसरे श्लोकमें स्पष्ट दिखायी देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

'कर्म करता हुआ ही इस संसारमें सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा कर, कर्ममें लिप्त न हो; इसके अतिरिक्त तेरे लिये कोई मार्ग नहीं है।'

तीन प्रकारके मार्ग

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय गीताको छन्दोबद्ध किया गया, उस समय 'निष्कामकर्म' के बदले 'निष्कर्मण्यता'—कर्म ही न करना—इसका अधिक प्रचार हो गया था। इसीलिये 'निष्कामकर्म' की पुष्टि कई युक्तियोंसे और नामोंसे सबल शब्दोंमें की गयी है। 'निष्कामकर्म' को ही 'कर्मयोग' अथवा केवल 'योग', 'स्थितप्रज्ञ', 'समत्व', 'समदर्शी', 'आत्मोपम' इत्यादि शब्दोंसे कहा गया है। गीताके इस सिद्धान्तकी पुष्टि महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी मिलती है। निम्न श्लोक श्रीआनन्दगिरिने कठोपनिषद्के शांकरभाष्यकी टीकामें उद्धृत किया है—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कारिता ।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥

'विवेकशील पुरुष सब कर्म करता हुआ भी श्रीकृष्ण और जनकके समान अकर्ता, अलिप्त और सर्वदा मुक्त रहता है।' महाभारतके शान्तिपर्वमें जनक-सुलभा-संवादमें राजा जनक कहते हैं—

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः ।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः ।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥
प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम् ।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥

(३२० । ३८-४०)

'मोक्षकी विद्या जाननेवाले मोक्ष-प्राप्तिके लिये तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतलाते हैं—(१) ज्ञान प्राप्तकर सब कर्मोंका त्याग कर देना, इसको मोक्षशास्त्रज्ञ 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं; (२) दूसरे सूक्ष्मदर्शी कर्म-निष्ठाको ही मार्ग बतलाते हैं; परंतु (३) केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों निष्ठाओंको छोड़कर यह तीसरी निष्ठा—अर्थात् ज्ञानसे कर्ममें आसक्तिका क्षयकर कर्म करनेकी निष्ठा—मुझे उस महात्मा (पञ्चशिख) ने बतलायी है।'

अध्यात्मरामायणमें श्रीराम लक्ष्मणसे कहते हैं—

प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यसे ।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥

(२ । ४ । ४२)

'कर्ममय संसारके प्रवाहमें पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकारके कर्तव्यकर्म करके भी अलिप्त रहता है।'

ब्रह्मसत्ता और प्रकृतिसत्ता

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'निष्कामकर्मके लिये जो युक्तियाँ दी हैं, वे बहुत सीधी, सरल और स्पष्ट हैं। उन्हें समझनेके लिये तर्कशास्त्रके गम्भीर सिद्धान्तोंकी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि क्रियामें लानेके लिये अथक साधनाकी आ है। गीताका कहना है—इस महान् ब्रह्माण्डका एक आधार ब्रह्म है और वही परम सत्य है; परंतु इस संसार सत्तासे भी तो इन्कार नहीं किया जा सकता। पर इन दोनों सत्ताओंमेंसे कौन-सी मुख्य है ? निस्संदेह संसार तो नि परिवर्तनशील है, क्षणभङ्गुर है और देश, काल, अनुसार विभिन्न व्यक्तियोंपर विभिन्न प्रभाव पैदा करता है इसलिये 'यथार्थ सत्ता और अन्तिम सत्ता शरीरकी नहीं आत्मा

है—जड प्रकृतिकी नहीं, चेतन ब्रह्मकी है। गीताका उपदेश है—क्योंकि शरीर है, इसलिये इससे काम करो। जिस संसारमें हम रहते हैं, वह संसार और उसमें हमारा क्षणभर जीवित रहना भी तो कर्म ही है। तब कर्म छोड़कर कहाँ जा सकते हो ? यदि इस संसारमें रहना है—और जबतक आयु है तबतक रहना ही पड़ेगा—चाहे हँसकर रहो, चाहे रोकर, और यदि इस कर्मसे छूटनेके लिये शरीर-का ही अन्त कर दोगे तो आत्महत्याका महापातक लोगे—और जबतक यह देह है तबतक भूख, प्यास, आँखोंका झपकना आदि विकारोंसे छूट नहीं सकते, तब उनके निवारणके लिये उचित उपाय करो। यदि कहो कि भिक्षा माँगकर गुजारा कर लेंगे तो गीताका कहना है कि आत्मा, बुद्धि और शरीरके रहते भिक्षा माँगना-जैसा नीच कर्म क्यों करते हो ? क्यों नहीं अपने हाथ-पैर हिलाकर, गीताके शब्दोंमें 'शरीरयात्रा' ठीक प्रकार चलाते ? यदि तुम कहते हो कि अपने धंधेके चुननेमें स्वतन्त्रता होनेसे हम भिक्षा माँगकर गुजारा करनेके लिये स्वतन्त्र हैं तो गीता पूछती है कि अन्य व्यावहारिक कर्म भी स्वतन्त्रतापूर्वक क्यों नहीं करते ? यदि यह कहते हो कि कर्म करनेसे कर्म-पाशमें फँसकर ब्रह्मानन्दसे वञ्चित होनेका डर है तो इसका मतलब यह है कि अभीतक तुम्हारा मनोनिग्रह कच्चा है और इस कच्चे मनोनिग्रहके साथ संन्यास-मार्गपर चलना तामस अथवा मिथ्या आचरण है। (गीता १८ । ७० और ३ । ६)

मनोनिग्रहके लिये निष्कामबुद्धि

इसका उपाय ? गीताके शब्दोंमें ऐसे कच्चे मनोनिग्रह-वाले व्यक्तिको शुद्ध चित्तके साथ निष्कामबुद्धि-प्रेरक यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, एकान्तचिन्तन इत्यादि गृहस्थ आश्रमके कर्म सांसारिक व्यवहारोंको गौण समझते हुए करने चाहिये। महाकवि कालिदासके शब्दोंमें—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

'जिन कारणोंसे विकार उत्पन्न होते हैं, उन कारणों अथवा सांसारिक विषयोंके सामने रहनेपर भी जिनका अन्तःकरण मोहके पंजेमें नहीं फँसता, वे ही पुरुष धीर कहे जाते हैं।'

इसी युक्ति-शृङ्खलाको आगे ले जाते हुए गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि तुम यह कहते हो कि 'मेरा मन वशमें तो है और चित्तशुद्धि भी प्राप्त हो चुकी है और कर्म करनेसे उसके बिगड़नेका डर भी नहीं है; पर ऐसे व्यर्थ कर्म करके हम शरीरको कष्ट क्यों दें ? हम दूसरोंके लिये बेकारके झमेलोंमें क्यों पड़ें ?' भगवान् इसका उत्तर देते हैं कि तुम्हारी कर्म-त्यागकी यह भावना राजस है; क्योंकि कायक्लेशका यह भय क्षुद्रबुद्धिसे किया गया है। इस प्रकारकी राजस-बुद्धिके व्यक्तिको 'कर्म-त्याग' का फल नहीं मिलता। (गीता १८ । ७-८)।

इन साधनोंसे गीता क्रमशः साधकको उस केन्द्र-बिन्दुपर लाकर खड़ा कर देती है, जहाँ वह 'कर्मत्याग' की अपेक्षा 'कर्मफलत्याग' के श्रेयस्कर मार्गका अवलम्बन करके मोक्षको प्राप्त करता है।

ब्रह्मका ईक्षण और निष्काम कर्म

गीतामें एक अन्य दृष्टिसे भी निष्काम कर्मका प्रतिपादन किया गया है। ज्ञानमार्गी यह कह सकता है कि 'सब कर्म माया सृष्टिके हैं, अतएव अनित्य हैं; नित्य आत्माको अपने नित्य मोक्षको प्राप्त करनेके लिये ऐसे अनित्य साधनोंके झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये।' गीतामें भगवान् इस शङ्काका निवारण इस प्रकार करते हैं—जिस मोक्षको जीवनका लक्ष्य माना गया है, उसका अभिप्राय क्या है ? यही कि ब्रह्ममननमें लीन होना। पर जिसके आनन्दमें लीन होता है, वह ब्रह्म कैसा है ? क्या वह निश्चेष्ट, क्रियाशून्य और केवलमात्र—कूटस्थ है। कहीं उपनिषद्के शब्दोंमें ब्रह्मकी इस क्रियाशक्तिका नाम 'ईक्षण' है। गीतामें तो स्पष्ट कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८ । ६१)

'वह ईश्वर सब प्राणियोंके हृदय-देशमें ठहरा हुआ सबको अपनी मायासे उसी प्रकार प्रेरणा दे रहा है, जिस प्रकार यन्त्रपर रखी हुई वस्तुको चालक प्रेरणा देता है।' इस श्लोक-में 'भ्रामयन्' शब्दसे श्रीकृष्णभगवान् स्पष्ट संकेत करते हैं कि वह ब्रह्म अहर्निश, प्रतिक्षण सक्रिय है और इस विशाल ब्रह्माण्डका एकमात्र सजातीय-विजातीय अविच्छिन्न संचालक है। ऐसे ब्रह्मको प्राप्त करनेका इच्छुक साधक निष्क्रिय हो, कर्म त्याग कर दे—यह भला, कहाँतक समीचीन हो सकता है।

साध्य, साधन, सिद्धि और साधक

पर फल-त्यागका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य परिणामके सम्बन्धमें लापरवाही करे। साध्य, साधन और सिद्धि—इन तीनोंका विचार साधकके लिये आवश्यक है। इस त्रिकोणको दृष्टिमें रखते हुए जो फलकी इच्छाके विना विहित कर्ममें संलग्न रहता है, वही निष्कामकर्मी है।

फल-त्यागका यह अभिप्राय भी नहीं है कि साधक अपने कर्मका फल भोगता ही रहे। ईश्वरीय नियमके अनुसार प्रत्येक प्राणीको अपने कर्मका फल तो भोगना ही पड़ता है। इसमें किसी प्रकारकी रियायत व सिफारिश नहीं चल सकती। पर गीताके निर्देशके अनुसार फल-त्यागी प्रसन्न और निर्द्वन्द्व होकर कृत कर्मोंका फल भोगता है। निष्काम कर्ममें उसका उत्साह तब भी कम नहीं होता है। गीताका निम्न श्लोक इस सिद्धान्तकी कितने सुन्दर ढंगसे पुष्टि करता है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
(१८।२६)

'सात्त्विक कर्ता कौन है? वही जो सब प्रकारके सङ्गोंसे मुक्त, अहंकाररहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सफलता-असफलतामें समबुद्धि रखनेवाला है।' इस प्रकारके फल-त्यागी पुरुषको तो हजारगुना फल स्वयं भगवान्‌की ओरसे मिलता है; पर तभी, जब इसमें उसे अपरिमित श्रद्धा हो। इसीमें मानवकी परीक्षा होती है।

कुछ लोग यह समझते हैं कि गीताका यह मार्ग व्यवहार्य नहीं है। ऐसी धारणा सर्वथा भ्रान्त है। गीताने जिस जीवनमार्गका निर्देश किया है, वह सर्वथा क्रियामें उतारा जा सकता है। गीताकी यही विशेषता है कि वह सर्वथा व्यावहारिक है। इस मार्गका अवलम्बन करनेसे मानव बहुतेरे संकटोंसे अनायास त्राण पा लेता है।

यह वह मार्ग है, जिससे मानवजीवन सरल बन जाता है। और सरलतामें ही वास्तविक शान्ति निहित है।

◆

प्रेम ही ईश्वरीय विधानको पूर्ण बनाता है

आज मैं अपने जीवनको—जीवनके 'सब कुछ' को ईश्वरीय विधानके अधीन कर रहा हूँ। मुझे संदेहके विचारोंको दूर हटाकर अपने कार्योंका नियमन करनेके लिये पूर्णरूपसे भगवान्‌पर विश्वास करना चाहिये।

मैं मानता हूँ नियमन सर्वप्रथम भीतरसे आरम्भ होता है। अतः मैं अपना दिन शान्त प्रार्थनासे आरम्भ करता हूँ। प्रार्थनाके द्वारा मैं भगवान्‌के साथ तादात्म्य करता हूँ; मैं अपना हृदय खोलकर भगवान्‌के सामने रखता हूँ और मेरे विचार नियमित हो जाते हैं।

प्रार्थनाके पश्चात् जब मैं अपना दैनिक कार्य आरम्भ करता हूँ, तब भगवान्‌के प्रेमके बलपर मेरे हृदयमें शान्ति विद्यमान रहती है और उस शान्ति एवं प्रेमकी अभिव्यक्ति मेरे द्वारा हुए प्रत्येक कर्ममें होती है तथा मैं अपने सम्पर्कमें आनेवालोंके प्रति स्नेह और न्यायका आचरण कर पाता हूँ। प्रत्येक छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कार्य सुव्यवस्थित रूपमें सम्पन्न होता है और मेरी दैनिक क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मैं पहले योग्य कार्योंको पहले हाथमें लेता हूँ और इसके बाद अपने जिम्मेके प्रत्येक कार्यको यथावत् करता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक कार्य समयसे एवं सुव्यवस्थित रूपमें पूर्ण होता है। अस्त-व्यस्तताके दूर होनेपर सुव्यवस्था अपने-आप आ जाती है; विभिन्न कार्योंसे सम्बन्धित सभी पहलू अपने-आप सुव्यवस्थित रूपमें स्थिर हो जाते हैं। मेरा हृदय प्रसन्न रहता है और मेरे सब काम सुव्यवस्थित एवं सफल हैं; क्योंकि भगवान्‌का प्रेम-विधान बड़ा प्रभावात्मक एवं सब स्थितियोंको पूर्ण करनेवाला है; वही मेरे सम्पूर्ण क्रिया-कलापका नियन्त्रण किये है।

प्रेम ही ईश्वरीय विधानको पूर्ण बनाता है।

◆

सत्यकी रक्षा करनेवाला अन्तमें विजयी होता है

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक भाषणसे)

व्यापारी जगत्का यह साधारण प्रश्न है—वे कहते हैं कि हमलोग सत्यकी रक्षा करना चाहते हैं; पर इतने नये-नये टैक्स लग गये हैं और दिनों-दिन उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है तथा उनके मारे सत्यको बचाना बहुत कठिन हो गया है। आय-कर, विक्रय-कर, सम्पत्ति-कर, व्यय-कर, मृत्यु-कर, दान-कर—कर-ही-कर है। इन सबमें यदि पूरा पैसा भरा जाय तथा ऊपरकी आमदनी न की जाय तो कुछ भी बचना कठिन है। हम यदि सचाईपर रहते हैं तो हमारे पड़ोसी व्यापारी, जो सचाईपर नहीं रहते, हमको व्यापारके क्षेत्रमें पीछे ढकेल देते हैं, हमारा कारोबार ठप हो जाता है, हम असफल हो जाते हैं और उनका काम चल निकलता है। हम भी बाल-बच्चेवाले हैं, गृहस्थ हैं। खर्चका स्टैंडर्ड बढ़ रहा है, महँगी सुरसाके मुखकी तरह बढ़ती चली जा रही है। ऐसी अवस्थामें सत्यकी रक्षा कैसे हो, और क्योंकर छिपाकर पैसा न कमाया जाय या न बचाया जाय ?

प्रश्न ठीक है; कठिनाई बहुत अधिक बढ़ गयी है और बढ़ती ही जा रही है, यह सत्य है। तथापि यह तो कभी नहीं कहा जा सकता कि आप झूठ बोलें, चोरी—जालसाजी करें, अनाचार-भ्रष्टाचार करें, दो तरहके बहीखाते बनायें, लोगोंको धोखा दें, कम तौलें, ज्यादा लें, बात करके मुकर जायँ अथवा नकली चीजको असली बनाकर या मिलावट करके बेचें; क्योंकि यों करनेसे परिणाममें निश्चय ही हानिके सिवा लाभ होता ही नहीं। तब क्या करें ? इसका उत्तर यह है कि सत्यपर दृढ़ता रखनी हो तो कष्ट सहन करनेके लिये तैयार रहें; नहीं तो अपनी परिस्थिति समझकर जो ठीक जँचे, वही करें।

असल बात तो यह है कि सत्यकी रक्षाके लिये हम तैयार ही नहीं हैं। एक बहुत बड़ी चीज हमारे जीवनमेंसे निकल गयी—ईश्वरपर विश्वास और दूसरे दर्जेमें प्रारब्धपर विश्वास। यह अत्यन्त सत्य और निश्चित सिद्धान्त है कि भगवान्का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है और सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धके अनुसार ही होता है। जितना, जो कुछ लाभ या हानि होनी है उतनी ही होगी और वही होगी। हम प्रयत्न करके न तो उसमें कम-बेशी कर सकते हैं और न उसे बदल ही सकते हैं। हम झूठ बोलकर, धोखा देकर, चोरी-जालसाजी करके, किसी प्रकार भी बुराई या पापका आश्रय लेकर अधिक लाभ उठा लेंगे—यह धारणा ही सर्वथा भ्रान्त है। होगा वही, जो होना है; निमित्त चाहे जो हो। उपर्युक्त भ्रान्त धारणाको लेकर हम जो पाप करेंगे, वह पाप हमारे पल्ले बँध जायगा, जो आगे चलकर नाना प्रकारके दुःखोंके रूपमें प्रकट होगा। यहाँ लाभ उतना ही होगा, जितना होना है। हाँ, लाभकी आशामें जलते जरूर रहेंगे। लाभ दीखेगा भी, पर दूसरी ओर नुकसान हो जायगा; कहीं पैसे डूब जायँगे, कहीं और कुछ हो जायगा। बचेगा उतना ही, जितना बचना है। पाप करनेवाले या सब कुछ भूलकर अधिक-से-अधिक प्रयत्न करनेवाले अधिक कमा लेते हों—यह बात नहीं है; ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं कि बहुत बड़े-बड़े तथा बहुत अधिक संख्यामें व्यापार करनेवाले बड़े बुद्धिमान् लोग रात-दिन चिन्ता, भय, विषादका अनुभव करते तथा अथक परिश्रम करते हुए भी अन्तमें बहुत थोड़े नफेमें या कहीं-कहीं घाटेमें देखे जाते हैं, और उनसे कहीं कम उद्योग करनेवाले अधिक कमा लेते हैं। बड़े कामवालोंके जब बड़ा घाटा लगता है, तब उनकी जो दुर्दशा होती है, वैसी दुर्दशा छोटे तथा थोड़े काम करनेवालोंकी नहीं होती। सांसारिक हानि-लाभमें प्रारब्धकी प्रधानता है, पुरुषार्थकी नहीं। पापके लिये तो कोई स्थान ही नहीं है। पर आजके अविश्वासी युगमें किसीसे कैसे क्या कहा जाय। सत्यका रक्षण करनेपर यदि प्रारब्धवश काम खराब हो जाय, नुकसान हो जाय या उसमें कुछ अव्यवस्था आ जाय तो लोग प्रारब्धका परिणाम न मानकर यही मानने लगेंगे कि 'हमने सत्यकी रक्षाका प्रयत्न किया, इसीसे हमको यह हानि उठानी पड़ी। हम बड़े धोखेमें आ गये। सबकी तरह हम भी करते तो ऐसी स्थिति क्यों होती।' यद्यपि यह मान्यता है सर्वथा मिथ्या, तथापि ऐसा होना सम्भव है। इसलिये कुछ भी कहना नहीं बनता।

मैंने बहुत-से ऐसे प्रसङ्ग देखे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जैसे हानि बिना इच्छा तथा बिना प्रयत्नके हो जाती है, वैसे ही लाभ भी जब होना होता है, हो जाता है। एक सज्जन एक समय बड़े संकटमें थे। भूलसे तारमें जो लिखना चाहते थे, उससे विपरीत लिखा गया या पढ़ा गया और

उसीके अनुसार कोई चीज बड़े पैमानेपर खरीद ली गयी या बेच दी गयी, ठीक याद नहीं है। और उस सौदेमें उनके तीस-पैंतीस लाख रुपये आ गये, सारा संकट मिट गया; वे जो लिखना चाहते थे, उसीके अनुसार काम होता तो उन्हें उलटा घाटा लगता, जिसे वे चुका ही नहीं सकते तथा संकट और भी बढ़ जाता। यह तो एक बड़ी घटना मैंने बतायी है। छोटी-छोटी ऐसी बातें अनायास सभीके जीवनमें प्रायः होती हैं, जिनसे कल्पनामें न आया हुआ हानि-लाभ हो जाता है और आश्चर्य करना पड़ता है। अतः पाप या अन्यायका आश्रय लेनेसे हम हानिसे बच जायँगे अथवा अधिक लाभ उठा लेंगे, यह मानना सर्वथा भ्रम है।

प्राचीन समयमें—अभी कुछ ही वर्षों पूर्वतक व्यापारी लोग असत्यसे, चोरीसे डरते थे; दूसरेका पैसा बेहकका घरमें न आ जाय, इससे सावधान रहते थे। बहीखातोंमें सच्चे ही जमा-खर्च करते थे। उनका सत्यपर अटल विश्वास था। सत्यको सहज ही नहीं छोड़ते थे, बल्कि असत्यके द्वारा दीखनेवाले प्रत्यक्ष लाभको छोड़ देते थे। हम कह सकते हैं कि उस समय सादा जीवन था। इतना खर्च नहीं बढ़ा था, चीजें बहुत सस्ती थीं, आवश्यकता कम थी। साथ ही करोंका इतना भार नहीं था। न्यायानुकूल कर लगता था, सरकार यों लूटती नहीं थी। यह सब सत्य है। तथापि इस बातका समर्थन नहीं किया जा सकता कि किसी भी हालतमें हमें चोरी, बेईमानी, झूठ-कपट, ठगी-डकैती, धोखा-विश्वासघात करना चाहिये, व्यापारके नामपर इन पापोंका आश्रय लेना चाहिये। जो सत्यपर अटल रहता है, वह सत्यको देखेगा, पैसेको नहीं। पर वास्तवमें बात तो यह है कि सत्यका विश्वासी या सत्यपर दृढ़ रहनेवाला पुरुष परिणाममें कभी घाटेमें रहेगा ही नहीं। प्रारब्धवश पैसा तो जितना आना है, उतना ही आयेगा; पर सत्यकी रक्षा करनेवाले पुरुषपर भगवान्‌की कृपा-सुधा बरसेगी। उसका चरित्र उज्ज्वल होगा। उसके जीवनमें जलन न होकर शान्ति आयेगी। वह मानव-जीवनकी सफलता प्राप्त करके अन्तमें सच्चे अर्थमें विजयी और सफल होगा।

परंतु जो प्रलोभनमें पड़कर अपने सत्यसे डिग जाते हैं, उनका सत्य तो मिट ही जाता है, परिणाममें उनको आर्थिक दृष्टिसे भी हानि उठानी पड़ती है। बुरेका फल कभी अच्छा नहीं हो सकता। दूसरोंको धोखा देकर उनका हक ले लेना, फुसला—बहकाकर ले लेना, झूठ-कपटसे ले लेना, दूसरोंकी वस्तुपर दृष्टि डालना, उसे लेनेकी इच्छा करना, जबर्दस्ती ले लेना—ये सभी चोरी-डकैती हैं। बाहरसे डराकर-मारकर लूटनेका काम करनेवाले लोग 'डाकू' कहलाते हैं। पर इन डाकुओंको डाकू कहनेवाले लोग स्वयं कलमसे तथा अपनी बुद्धिका दुरुपयोग करके रात-दिन डकैती करते रहते हैं। यह सोनेके रंगके चमकीले घड़ेके अंदर भरे हुए जहरकी भाँति भलाईकी आड़में छिपी हुई भयानक बुराई—'सभ्य डकैती' (Civilzed dacoity) है। यह कौशलपूर्ण सभ्य डकैती आफिसोंमें कुर्सियोंपर बैठे-बैठे की जाती है। और यह अधिक व्यापक होनेके कारण बलपूर्वक की हुई खुली डकैतीसे कहीं अधिक भयानक होती है। जब सत्यका तथा भगवान्‌का भय मनमें नहीं रहता, तब कानून कुछ नहीं कर सकता। कानून मनवानेवाले सत्ताधिकारी तथा कानून माननेवाले लोग—दोनों मिल जाते हैं, तब कानून किताबोंमें रह जाते हैं और सभ्य डकैतियाँ बड़े धड़ल्लेसे चलती हैं। अवश्य ही यह भी भ्रम ही है कि इस प्रकारकी डकैतीका धन रह जायगा। वह किसी और सूत्रसे निकल जायगा। सच बात तो यह है कि अन्यायका धन जाता तो है ही, पर वह आने तथा जानेमें मानव-जीवनकी बहुत कुछ अमूल्य सम्पत्ति भी साथ ले जाता है।

पर ऐसा एक मोह है जो इस घृणित काममें अच्छे कहलानेवाले लोगोंको भी लगा देता है। बहुत दिनों पहलेकी बात है। दूसरे महायुद्धको समाप्त हुए थोड़े ही दिन बीते थे। मैं किसी एक कामसे आसाम गया था। रात्रिके समय मैं एक कारसे जा रहा था। उस समय आसाममें लड़ाईसे बचे हुए बिक्री (Disposal) के मालके बड़े-बड़े सरकारी डीपो जंगलोंमें बने थे। मैंने देखा—उन डीपोंके सामने ट्रकें खड़ी थीं। कहीं पाँच, कहीं दस, कहीं पंद्रह। मैंने साथवालोंसे पूछा—'क्या बात है?' तब उन्होंने बताया कि 'इन गोदामोंमें डिस्पोजलका माल है। यहाँके व्यापारियोंसे अधिकारी मिले हुए हैं। इतने टनकी ट्रकके पीछे इतने रुपये अधिकारियोंको व्यापारी देते हैं और रात्रिके समय मनमाना माल भरकर ले जाते हैं। जाँच करनेपर बात सत्य निकली। इस निशाचरी वृत्तिको देखकर मेरे मनमें आया कि 'क्या यही व्यापार है? क्या यही वैश्योंका आचरणीय धर्म-वाणिज्य है! क्या यह चोरीका धन ठहरेगा?' पर मेरी बात तो मेरे ही मनतक ही रह गयी! उसे सुनता कौन? कामनासे क्रोध या लोभ, उससे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश और स्मृतिनाश-

से बुद्धि नष्ट होकर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। भगवान्ने पतनका यह क्रम बताया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

कामना जब विवेकको ढक लेती है, तब स्मृति ही नहीं रहती कि इसका क्या परिणाम होगा। वह अंधेकी भाँति लपककर चिपक जाता है, किसी कोमल वस्तुसे; पर यदि वह कोमल वस्तु विषधर सर्प होता है और उसे काट लेता है, तब हाय-हाय करता है। भगवान्ने विषय-सुखको इसी प्रकारका बतलाया है। वे कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

'विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर पहले जो सुख अमृतके समान प्रतीत हो, परंतु परिणाममें जो विषके समान काम करे, उसको राजस सुख कहा गया है।'

आज मनुष्य विषय-सुखपर विमुग्ध है और इसीसे वह अन्याय-असत्य, चोरी-डकैती, छल-कपटसे धन बटोरकर सुखी और सम्मानित होना चाहता है। और इसी भोग-बुद्धिके कारण आज समाज भी 'चोरपूजक' बन गया है। 'चोर-पूजा' का अर्थ यह है कि कोई किसी भी प्रकार अन्याय, अधर्म, चोरी, बेईमानीसे धन कमा ले, समाज यह नहीं देखेगा कि धन कैसे आया है। समाज केवल धनको देखेगा और उस पापसे कमाये हुए धनके धनीका सम्मान करेगा, उसे समाजका अग्रगण्य मानेगा, उसको ऊँचा आसन देगा और उसकी प्रशंसा करेगा। यही 'चोर-पूजन' है। जब समाज इस प्रकार 'चोर-पूजक' बन जाता है, तब चोरका समाजमें इतना सम्मान देखकर सबके मनमें उसी प्रकारका बननेकी लालसा जाग्रत् हो जाती है। चोरोंमें पक्के चोरकी बड़ाई होती है, चोरीमें लगनेवालेको ठीक उचित काममें लगा हुआ समझा जाता है। तब कुछ धर्मभीरु लोगोंको छोड़कर अधिकांश समाज चोर बन जाता है। फिर चोरकी पीठ ठोंकी जाती है और उसीमें गौरव माना जाता है। आज हमारे समाजकी प्रायः यही दशा हो चली है। जबतक मनुष्य बुरेको बुरा समझता है, तबतक कभी किसी भी कारणसे उसके द्वारा कोई बुरा कर्म बन जाता है तो वह पश्चात्ताप करता है और समाज भी उसे बुरा बतलाता है। इससे वह अपने बुरे कर्मको छिपाता है तथा भविष्यमें बुरा कर्म करनेसे अपनेको बचाना चाहता है; परंतु जब उसकी बुरे काममें महत्त्व बुद्धि हो जाती है और समाज भी उस बुरा काम करके सफल होनेवाले मनुष्यका सम्मान करता है अर्थात् वह सफल मनुष्य समाजमें पूजनीय, समाजका अगुआ माना जाता है, श्रेष्ठ माना जाता है, तब प्रायः दूसरे सभी लोग उसका अनुकरण करके वैसा ही आचरण करने लगते हैं।

मेरे एक परिचित मित्रने पहले बताया था कि 'कलकत्तेके जहाज-घाटोंपर आयात-निर्यातका बहुत-सा माल पड़ा रहता है। वहाँके अधिकारियोंसे मिलकर, उन्हें अमुक रकम देकर, चाहे सो माल उठाकर लाया जा सकता है, यों अनायास ही अच्छी कमाई हो जाती है और बहुत-से लोग यह घृणित काम करते हैं। मुझे पता नहीं यह बात कहाँतक सत्य है; पर यदि सत्य है तो हमारे पतनका प्रत्यक्ष परिचय है।

एक भाईने मुझको पहले बताया था कि 'एक सज्जन अमुक कम्पनीको माल सप्लाई करते हैं। पर वहाँके अधिकारी, ये सज्जन जितना माल सप्लाई करते हैं, उससे दूनेका बिल बनवाते हैं, और उसमेंसे आधा इन्हें मिलता है और आधा वे ले लेते हैं। इन्हें जो आधी रकम मिलती है, उसमेंसे अमुक हिस्सा उन अधिकारियोंको देना पड़ता है, जो इन्हें वह ठेका दिलवाते हैं। ये यदि ऐसा न करें तो इनके हाथसे वह काम ही छिन जाता है।' यह भी हमारे पतनका एक परिचय है।'

हम बेचते हैं ब्राह्मी आँवला तेल, देते हैं नकली सेंट-मिला तेल; बेचते हैं काली मिर्च, देते हैं पपीतेके बीज, बेचते हैं पीपल, देते हैं कच्चे शहतूत। बेचते हैं अमुक प्रकारका बढ़िया माल, देते हैं बहुत घटिया माल। यह सभी हमारे पतनके चिह्न हैं। हमारे जीवनका स्तर ही नीचा हो गया।

लोग कहते हैं यह 'अर्थयुग' है, इसीलिये अर्थकी इतनी महत्ता है। जहाँ ब्रह्मचारीका गुरुकुल-प्रवेश ब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छासे होता था—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।

—वहाँ आज शुरूसे ही अर्थकी इच्छासे विद्यारम्भ होता है। इसीसे उस युगके गुरुकुलवासी ब्रह्मचारीके जीवनमें और आजके छात्रावासोंमें रहनेवाले छात्रोंके जीवनमें आकाश-पातालका अन्तर हो गया है। कहाँ वह त्यागमय पवित्र जीवन, कहाँ विलासमय अपवित्र आचरण। भोगकी महत्तासे अर्थकी महत्ता बढ़ी और अर्थकी महत्तासे अनर्थमय जीवन हो गया। श्रीमद्भागवतमें कहा है—एक अर्थसे पंद्रह अनर्थ पैदा होते हैं—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १७—२३)

“धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ानेमें, उसकी रक्षा करनेमें, उसे खर्च करनेमें, उसका नाश हो जानेमें तथा भोग करनेमें मनुष्यको सदा परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें अर्थ (धन) के कारण ही उपजते और पनपते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि स्वार्थ और परमार्थके विरोधी इस ‘अर्थ’नामक अनर्थका दूरसे ही त्याग कर दे। भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहके बन्धनमें बँधे बिल्कुल एक हुए रहते हैं, वे ही सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। ये जरा-से धनके लिये क्षुब्ध होकर क्रोधमें भर जाते हैं, बात-की-बातमें सारी सुहृदता छोड़ देते हैं, स्पर्धा करने लगते हैं और सहसा हत्या कर डालनेके लिये तैयार हो जाते हैं। जिसकी देवता भी चाह करते हैं, ऐसे मनुष्य-शरीर तथा उससे भी श्रे ब्राह्मण-शरीरको पाकर उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थकी हत्या करके अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं। अतः स्वर्ग और मोक्षके द्वार इस मानव-शरीरको पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा जो अनर्थोंके धाम इस अर्थ (धन) में आसक्त रहे।’

यह सब होनेपर भी आज हमने ‘कामोपभोग’को ही जीवनका सार-सर्वस्व समझ लिया। इससे सत्य, न्याय, धर्म और भगवान्‌का हमें कोई भी ध्यान नहीं रहा। किसी भी तरहसे धन कमाना और उसे भोगना हमारे जीवनका एकमात्र ध्येय और उसके लिये बुरे-से-बुरा काम करना हमारे जीवनका कर्तव्य हो गया। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥

× × ×

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(१६। ११-१२, १६)

‘वे जीवनके अन्तिम क्षणतक रहनेवाली अपरिमित चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं। काम और उपभोगके परायण रहते हैं और इसीको जीवनका निश्चित सिद्धान्त मानते हैं। अतएव वे विषय-सुख-आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे रहते हैं और काम-क्रोधको ही अपना बल मानकर अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रह करनेमें लगे रहते हैं।

× × ×

‘ऐसे वे अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले और मोह-जाल से अच्छी तरह ढके हुए कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त लोग अशुचि नरकोंमें गिरते हैं।’

कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मान लेनेपर जो परिणाम होता है, वही आज हमारे सामने है। आज हम जीवनका स्तर ऊँचा उठानेकी बात बड़े जोरोंसे कहते हैं। पर जीवनका ऊँचा स्तर आचरणोंकी उच्चता नहीं, सदाचारकी प्रगति नहीं, दैवी सम्पदाका अभ्युदय नहीं—यह है भोगोंकी अधिकतासे भरा असंयमी जीवन। बढ़े खर्चसे दबा संकुचित परंतु प्रमादी जीवन।’ आज समाजमें इसी कारण अर्थ-महत्त्व

तथा अर्थ-महत्ताके साथ चोर-पूजाका प्रसार हो रहा है। कैसे भी आयें, अर्थ और अधिकार आने चाहिये और जिसके पास अर्थ और अधिकार, वही समाजका पूज्य पुरुष !!

एक भाईने मुझसे कहा—आप व्याख्यान देते हैं; पर आपको जरूरत हो, तब पता लगे। बच्चा बीमार है, घरमें दवा नहीं है, दूधके लिये पैसा नहीं है। जाड़ेमें वह सिकुड़ रहा है, पर ओढ़ानेके लिये कपड़ा नहीं है। महिलाकी लाज ढकनेके लिये पर्दा नहीं है। ऐसी अवस्थामें क्या किया जाय ?' यह बात सर्वथा सत्य है और बड़ी ही दुःखद है। इसका शीघ्र-से-शीघ्र मिटना आवश्यक है। पर यह भी कामोपभोगपरायणताका तथा अर्थ-लोलुपताका ही दुष्परिणाम है। अन्यायसे अर्थ-संचयकी प्रवृत्ति न होती तो इन दुखी भाई-बहनोंके दुःख-कष्ट बहुत कुछ मिट जाते। हम यदि बेहकका पैसा, दूसरेके स्वत्व-का धन लेना छोड़ दें तो इन भाइयोंकी दशामें बहुत कुछ सुधार हो सकता है।

हमने भोगपरायणताके कारण अर्थकी आवश्यकता अत्यन्त बढ़ा ली, इससे समाजमें दुःख और भी बढ़ गया। प्राचीन युगमें 'अर्थ'की प्रधानता नहीं थी, 'त्याग'की थी। और 'अधिकार'के स्थानपर 'कर्तव्य'की प्रधानता थी। इससे 'त्याग' और 'कर्तव्य'में ही गौरव तथा महत्त्व माना जाता था। सादा पवित्र जीवन आदर्श था। कश्मीरके प्रकाण्ड पण्डित श्रीकैयटके जीवनकी बात है। वे अत्यन्त सादगीसे जीवन बिताते थे। काशीसे आये हुए कुछ विद्वानोंके अनुरोधसे कश्मीरनरेशने कैयटजीको कुछ गाँव लेनेके लिये प्रार्थना की तथा यह कहा कि 'महाराज! जिस राजाके राज्यमें विद्वान् ब्राह्मण कष्ट पाते हैं, वह राजा पापका भागी होता है।' इसपर त्यागमूर्ति कैयटजी अपनी चटाई बगलमें दबाकर खड़े हो गये और अपनी धर्मपत्नीसे बोले—'हमारे यहाँ रहनेसे महाराजको पाप लगता है तो चलो, और कहीं चलें। तुम मेरी पुस्तकें ले लो।' यों कहकर चलते बने। कश्मीरनरेशने चरणोंपर सिर रखकर बड़ी कठिनतासे उनको रक्खा। उन्होंने राजासे कह दिया कि 'मुझे कभी किसी वस्तुका प्रलोभन मत देना। यही मेरी सर्वोत्तम सेवा होगी।'

उस समय इस प्रकारका सहज त्याग था और त्यागमें ही गौरव था। समाजमें सम्मानित और पूज्य पुरुष त्यागी ही समझे जाते थे और बड़े-बड़े धनी-मानी उनके चरणोंपर अपना मस्तक टेककर अपनेको धन्य मानते थे। न इतनी भोगपरायणता थी न धनलोलुपता। राजालोग समय-समयपर अपना सर्वस्व—धातुके लोटे-थालीतक प्रजामें वितरण कर देते थे, जिससे समाजमें कोई भूखा नहीं रह पाता था। आजकी तरह राजनीतिक गुटबंदी नहीं थी। मिथ्या देशोन्नतिके नामपर मानव-द्रोह या जीव-द्रोह बहुत कम था। इसीसे इतनी महँगी भी नहीं थी। बहुत दिनों पहलेकी बात नहीं है, कुछ ही शताब्दियाँ पूर्व बंगालमें शाइस्ता खाँके जमानेमें एक रुपयेके आठ मन चावल बिकते थे। अभी-अभी सन् १९१६ में मैं पश्चिम बंगालके एक गाँवमें राजनीतिक कारणोंसे नजरबंद था, उस समय वहाँ डेढ़ रुपये मन बढ़िया चावल मिलते थे। रुपयेका डेढ़ सेर शुद्ध घी मिलता था। अब तो वह जमाना स्वप्न ही हो गया। इसका कारण खोजनेपर एक प्रधान कारण मिलेगा—हमारी भोगपरायणता और अर्थलोलुपताकी वृद्धि। हम यदि ईश्वरका विश्वास करके भोगवासनासे रहित हो सत्यपरायण हो जायँ तथा हमारे आचरणोंमें परहित-रूप धर्म आ जाय तो बहुत-सी समस्याएँ हल हो जाती हैं और जीवनमें एक अपूर्व शान्ति छा जाती है। आज तो चारों ओर अशान्तिका हाहाकार है। अर्थ और अधिकारकी भयानक छीना-झपटी मची हुई है। तब शान्ति कैसे हो। शान्ति अंदरसे आती है। वह बाजारमें नहीं मिलती। न किसी दूकानमें बिकती है। वह है त्यागमें—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'**। शान्तिका उपाय बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२।७१)

अथवा—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२९)

'जो सारी भोगकामनाओंको छोड़कर, निःस्पृह, ममता-रहित और अहंकाररहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है' अथवा 'जो भगवान्को समस्त यज्ञ-तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महान् ईश्वर (सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, सर्वेश्वर) तथा उनको जीवमात्रका सुहृद् होनेके नाते अपना सुहृद् जान लेता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

या तो सारी कामना, अपेक्षा, ममता और अहंताको छोड़ो, या सहज सुहृद् भगवान्के हो जाओ—तभी शान्ति मिलेगी। भोगोंसे न आजतक किसीको शान्ति मिली है न मिल ही सकती है।

जबतक भोगकामना है, तबतक हृदयमें आग जलती ही रहेगी और वह अग्निमें आहुति पड़नेपर अग्निके ज्यादा भड़कनेकी भाँति भोगोंकी प्राप्तिसे और भी बढ़ती रहेगी। सारे जहानको जबर्दस्ती जलानेवाली यह याचकता ही है। तुलसीदासजी कहते हैं—भगवान् राघवेन्द्रसे याचना करनेपर यह याचकता जल जाती है—

जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय, जो जारत जोर जहानहि रे।

अतः भगवान्पर विश्वास करके भोगपरायणताको अपने जीवनसे निकाल दीजिये। संसारमें जो कुछ हानि-लाभ होता है, वह तो होगा ही। जैसे बिना बुलाये हानि या दुःख आते हैं, वैसे ही बिना बुलाये लाभ या सुख भी अपने-आप आयेंगे। निमित्त कुछ भी हो, जो मिलना है, वह मिलेगा ही; आप स्वेच्छासे बुराईमें निमित्त बनकर अपनेको पाप-पङ्कमें मत फँसाइये। भगवान्पर तथा सत्यपर डटे रहिये।

सरकारी करके सम्बन्धमें एक दलील दी जाती है, जो आपद्धर्मकी दृष्टिसे नीतिके क्षेत्रमें कुछ औचित्य भी रखती है। वह यह है कि 'यदि कोई डाकुओंका जबर्दस्त दल हमारे घरमें घुस जाय और लूटनेके लिये हमसे धनका पता पूछे तो उस समय जैसे उससे छिपाना उचित होता है, वैसे ही कोई सत्तारूढ डकैतोंकी तरह निर्दय होकर जनताके धनको लूटनेपर उतारू हो जाय तो उस समय उससे धनको छिपाना उचित क्यों नहीं है?' बात तो कुछ ठीक है; पर सत्य और भगवान्में विश्वास रखनेवालोंके लिये सत्य और धर्मकी रक्षाका जितना मूल्य और महत्त्व है, उतना धन-रक्षाके लिये मिथ्याचरणका नहीं है। वरं धर्म-रक्षाके साथ मिथ्याचरणकी तुलना ही नहीं हो सकती।

सत्य तथा भगवान्पर विश्वास रखनेवालेपर प्रारब्धवश एक बार विपत्ति आती दीख सकती है; परंतु उस प्रारब्ध-फलका भोग समाप्त होते ही भगवान्की ओरसे उसको सत्य-रक्षा तथा भगवद्विश्वासका जो महान् पुरस्कार मिलेगा, उसकी तुलना किसी भी लाभसे नहीं हो सकती। धर्म-रक्षामें कष्ट सहना ही तो तप है। जो इस प्रकार तप करता है, वह भगवान्को अत्यन्त प्रिय होता है। भगवान्पर, उनकी कृपा-पर, उनके मङ्गलविधानपर विश्वास करके, बन्धनमें डालनेवाले इस संसारको फटकारना चाहिये। भगवान्के सामने अपनेको अत्यन्त नीच, पापी माननेवाले श्रीगोस्वामीजी भगवान्के बलपर संसारको ऐसी फटकार बताते हुए कहते हैं—

मैं तोहि अब जान्यौ संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार॥
देखतहीं कमनीय, कछू नाहिन पुनि किएँ बिचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महामोह मृगजल सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहिं बार॥
सुनु खल! छल बल कोटि किएँ बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदयँ न नंदकुमार॥
तासों करहु चातुरी, जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें, बूझै नहिं ब्यवहार॥
निज हित सुनु सठ! हठ न करहि, जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासन तजि भजहि जहाँ मद मार॥

'अरे संसार! मैंने तुझको जान लिया, तू प्रत्यक्ष ही कपटका घर है; पर मेरे पास भगवान्का बल है, अतः तू मुझे नहीं बाँध सकता। तू देखनेमें ही सुन्दर है, पर विचार करनेपर तो कुछ है ही नहीं। जैसे केलेके पेड़में देखो तो उसमेंसे कभी गूदा निकलता ही नहीं। अरे, तेरे लिये मैं अनेक जन्मोंमें भटकता फिरा, पर तेरा पार नहीं पाया। तू मुझे महामोहरूपी मृग-तृष्णाकी नदीमें बार-बार डुबाता रहा। अरे दुष्ट! सुन; तू चाहे करोड़ों छल-बल क्यों करे, भगवान्का श्रेष्ठ भक्त तेरे वशमें नहीं हो सकता। तू अपनी सेनाके साथ कहीं जाकर रह; जिस हृदयमें भगवान् नन्दनन्दन न बसते हों। जो तेरा मर्म न जानता हो, उसीको अपनी चतुराई दिखा। रस्सीरूप साँपसे डरकर तो वही मरेगा, जो उसका भेद न जानता होगा। अरे शठ! अपने हितकी बात सुन; जो परिवारसहित अपनी कुशल चाहता है तो हठ मत कर। तुलसीदासके प्रभु श्रीरामजीके सेवकोंको छोड़कर तू उन्हींका सेवन कर, जहाँ मद और काम हों।

जो भगवान्के बल-भरोसेपर काम करेगा, वह कभी परास्त नहीं होगा। अर्जुनने भगवान्की शरण ग्रहण करके उनके आज्ञानुसार युद्धारम्भ किया। युद्धमें कई बार ऐसे अवसर दिखायी दिये कि अब अर्जुन हारे, अब तो मर ही गये। पर भगवत्कृपासे वे सर्वथा सुरक्षित रहे और अन्तमें उनको विजय प्राप्त हुई। संजयने बहुत ठीक कहा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८।७८)

'जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—यह मेरा मत है।' हरिः ॐ तत्सत्।

◆

कुम्भनदास

एक भाव-विश्लेषण

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग बी० ए०, साहित्यरत्न)

अष्टछापकी अमर काव्य-वाणीने भारतीय साहित्यमें जो अविरल रस-निर्झरिणी प्रवाहित की है, वह भारतीय वाङ्मयके लिये ही नहीं, विश्वसाहित्यके लिये एक अनूठी देन है। अष्टछापके महानुभावोंने अष्टसखाके रूपमें जहाँ अपने सुहृद् वृन्दावनविहारीके साथ सख्यभावकी प्राप्ति की है, वहाँ उन्हें अविरल अगाध भक्ति-भावनाका अनुगामी एक सरस कवि-हृदय भी मिला है, जो उसी मनमोहनकी विश्व-विमुग्धकारिणी वेणु-स्वर-लहरीसे प्रतिक्षण अभिगुञ्जित रहता है और जिसके साथ उनकी काव्यवाणीने स्वरमें स्वर मिलाकर समग्र जन-जीवनको प्रतिपल अनुप्राणित करनेकी अपूर्व क्षमता पायी है।

इन महानुभावोंमें एक ओर उस नन्दनन्दनकी रूप-माधुरीमें गहन आसक्ति है, तन्मयता है, भाव-विभोरता है, तो दूसरी ओर जगत्के सुखमय भासमान यावन्मात्र पदार्थोंके प्रति एक गहरी विरक्ति है। इसी अनुराग और विरागके अद्भुत सम्मिश्रणके साथ उनकी वाणी-वीणासे अविरत निस्सृत भावगीतोंकी धाराने काव्य-कलाका प्रशस्त आधार लेकर भावुक भक्त, कवि और कलाकारोंके समक्ष साहित्य-संगीत-कलाके एक मनोरम रूपकी प्राण-प्रतिष्ठा की।

इस प्राणवान् त्रिवेणी-संगम-साधनाने एक ऐसा पावन केन्द्र-विन्दु दिया है, जिसमें जन-जनकी बिखरी भाव-धाराएँ एकत्र परिनिष्ठित हुईं और उनके सामने एक दिव्य पुण्य आराध्यकी साकार सजीव प्रतिमा खड़ी हो गयी। एक ओर नटवर-वेष नन्दनन्दन मुरलीमनोहरके रूपमें और दूसरी ओर युगल प्रिया-प्रियतम श्यामा-श्यामके रूपमें इस आराध्यके प्रति सख्य, वात्सल्य और श्रृङ्गार—इन त्रिविध रूपोंमें अष्टसखाओंकी पुनीत भावना प्रस्फुटित हुई। इन महानुभावोंने इसी त्रिविध भावनासे समय-समयपर निज-निज रुचिके अनुसार मधुर गीतिधारा बहायी और सभीने उसमें गति एवं जीवन देकर जन-जनका अशेष कल्याण सम्पादन किया।

परम भावुक कवि कुम्भनदासका इन अष्टसखाओंमें एक अन्यतम स्थान है। वे 'यशोदोत्सङ्गलालित' 'गोप-गोकुलनन्दन' और 'गृहीतमानसाव्रजस्त्रीरमण' श्रीकृष्णकी त्रिविध स्वरूपोंकी विविध व्रजलीलाओंके दर्शक, उपासक और अन्तरङ्ग सखा हैं। अतएव उनका काव्य भी वात्सल्य, सख्य और श्रृङ्गार—इन तीनों भावनाओंसे भीगा और पगा हुआ है। तथापि उनके काव्यके निकट अनुशीलनसे यह सहज विदित होता है कि उनका मन श्यामा-श्यामकी निकुञ्जलीला और युगल-भावनामें अधिकांश रमा है। इसमें कविकी रूपासक्ति और गोपी-भाव-विभावित विरहासक्तिकी तीखी अभिव्यञ्जना संवलित है। देखिये—

जब वे पावसकी सघन घन-घटाओंके बीच श्यामा-श्यामकी युगललीलाका भाव-तन्मयतामें अनुचिन्तन करते हैं, तब मानो वे अपनेको कालिन्दीके कल-कूलोंपर एक अन्तरङ्ग सखीकी भाँति खड़ा पाते हैं और उनके अन्तरतमको युगल-स्वरूपके मधुर दर्शनकी उत्कट लालसा विरहाकुल कर उठती है। उनकी हृदय-वीणाके सोये तार मानो इन भावोंको लेकर झंकृत हो उठते हैं—

भींजत कब देखौंगी नैना।
दुलहिन जू की सुरँग चूनरी, मोहन कौ उपरैना॥
स्यामा स्याम कदँब तर ठाड़े, जतन कियौ कछु मैं ना।
'कुंभनदास' प्रभु गोबर्द्धनधर जुरि आई जल सैनो॥

कविका चिरवियोग-तप्त-उन्मथित हृदय अन्तःपीडाओंकी उमड़ती-घुमड़ती धुँआधार श्याम-घटाओंसे ढँक जाता है। उसके अन्तरकी अधित्यकामें घुटती, सिमटती धारा-प्रवाहिनी रसवर्षा उसके संतप्त लोचनोंके मार्गसे प्रेमाश्रुओंके रूपमें प्रस्रवित हो जाती है और तब उसे मानो 'सुरँग चूनरी' और 'उपरैना'से विलसित कदम्ब-तले खड़े श्यामा-श्याम प्रत्यक्ष दर्शन दे देते हैं। प्रिया-प्रियतमके अनुराग-राग-संवलित सुरङ्ग सौन्दर्यकी लालिमा कविके सजल लोचनोंको अनुरञ्जित कर देती है। एक ओर तो वर्षाके सजल जलदोंका गगनव्यापी समूह और दूसरी ओर कविके हृदयप्रदेशसे उमड़नेवाली 'जल-सेनाएँ'! ऐसा न हो कि वह इस प्रेमाश्रु-प्लावनमें बह जाय। इसीलिये वह अपने त्राणके लिये प्रभु 'गोवर्द्धनधर' की शरणमें आकर आर्तभावसे कृपा-याचना करता है। इस युगल-दर्शनके लिये भी तो कवि मानता है कि 'जतन कियौ कछु मैं ना' अर्थात् उसके आराध्यकी

अहैतुकी कृपाकी ही यह देन है, उसका अपना प्रयत्न कुछ नहीं। यही तो 'अनुग्रह-मार्ग' या 'पुष्टि-भक्ति'का सिद्धान्त है और कवि है उसका साधक पथिक।

इस प्रकार कुम्भनदास बेसुध और विह्वल दशामें अहर्निश श्यामसुन्दरकी सौन्दर्य-सुधाका निर्निमेष दृष्टिसे पान करते हुए छके रहते हैं। किसी रूप-ठगी, थकी-सी, चित्रकी लिखी-सी व्रजाङ्गनाके शब्दोंमें ही उनके रस-लोभी हृदयको परखिये—

लोचन मिलि गए जब चारयो।
है हौं रही ठगीसी ठाढ़ी उर अँचरा न संभारयो॥
अपने सुभाइ नंदजू कें आई, सुंदर स्याम निहारयो।
टगटगि लगी, चरन गति थाकी, जिउऽब टरत नहिं टारयो॥
उपजी प्रीति मदनमोहन सों, घर कौ काज बिसारयो।
'कुँभनदास'गिरिधर रस लोभी, भलौ आरजपथ पारयो॥

व्रजराजकुमार नन्दनन्दनकी रूप-माधुरीमें मोहिनी और मादकता ही ऐसी है कि एक पल भी जिसने उसका आस्वाद लिया, 'आँखें चार' हुईं कि वह अपना आपा भूल जाता है, नेत्र और चरणोंकी गति तो ठीक, हृदय भी उसमें अटककर, ठिठककर रह जाता है। फिर कैसा गृह-काज, कैसा 'आरज-पथ' और कैसी लोकलाज?

कुम्भनदासमें भी यही रूपासक्ति है। उनके प्रभु अपरिमित सौन्दर्य-निधि हैं—ऐसी निधि, जो प्रतिपल नवीन, विलक्षण और विकासमान है। अङ्ग-प्रत्यङ्गकी नूतन कान्ति, उनके सौभाग्य-सीमाकी परिमिति तथा इयत्ता बतानेमें उनकी दृष्टि और कल्पना असमर्थ है, उनकी ही थकित वाणीमें—

छिनु छिनु बानिक औरहिं और।
जब देखौं तब नौतन सखि री, दृष्टि जु रहति न ठौर॥
कहा करौं परिमिति नहिं पावत, बहुत करी चित दौर।
'कुँभनदास' प्रभु सौभग सीवाँ गिरिधरधर सिरमौर॥

अनन्त सृष्टिके अणु-अणुके सौन्दर्य-द्रष्टा कविकी उन्मुक्त उडानभरी कान्त कल्पना भी इस माधुर्यके आगे पङ्गु और पराभूत हो गयी।

ऐसे निस्सीम नित-नूतन लावण्यको भला, कविका तरल हृदय कैसे भूल सकता है। मिलन और वियोग—दोनों ही क्षणोंमें उस रूप-मदिराको पीकर उसकी आँखोंमें प्रेमोन्माद छलकता रहता है। हृदयसे वह माधुरी मूर्ति किसी भी क्षण टाले नहीं टलती। वियोगके क्षणोंका रू तो और भी सजल और मञ्जुल हो जाता है। प्राणोंके अन्तरतमसे उठी हुई मूक पीड़ाकी कसक सम्पूर्ण अङ्गोंमें एक सिहरन और कम्पन पैदा कर देती है। किसी विरहिणी व्रजाङ्गनाकी गद्गद वाणीमें ही कविके विरहाग्नि-संतप्त उद्‌गार सुनिये—

कहा करौं उह मूरति मेरे जिय तें कबहुँ न टरई।
सुंदर नंदकुँवर के बिछुरें निसिदिन नींद न परई॥
बहुविधि मिलनि प्रानप्यारे की एक निमिष न बिसरई।
वे गुन समुझि समुझि चित नैंननु नीर निरंतर ढरई॥
कछु न सुहाइ तलाबेली मन, बिरह अनल तन जरई।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु समाधान को करई॥

कितनी बेबसी है! प्राणप्यारेकी 'बहुविधि मिलनि' के बीते मधुर क्षणोंकी मादक स्मृतियाँ कवि-हृदयकी अलसाई भावनाओंको कितनी गहरी भावनाओंके साथ अँगड़ाइयाँ लेनेको विवश कर देती हैं। आँखोंमें समायी साँवली सलोनी मूर्ति भला, नींदको अवकाश क्यों देने लगी! फिर जहाँ निरवधि वियोगाश्रु-सलिलका स्रोत उमड़ा करता है और प्रियतमके विरहकी धू-धू करती ज्वाला-मालाएँ रग-रग, प्राण और आत्माको झुलसा रही हों, वहाँ 'तलावेली' का क्या कहना। इस उन्मनताका शमन 'लाल गिरिधर' के ही हाथ है। 'सुंदर नंदकुँवर' में आकर्षण और उनके गुणोंमें मोहिनी ही ऐसी है। प्रेमकी इस तीखी पीरका अनुभव करके ही तो वे प्रेम-बटोहियोंको सावधान कर रहे हैं—

प्रीति तौ काहू सों नहिं कीजै।
बिछुरत कठिन परै मेरी माई, कहु कैसें कै जीजै॥
रति रति कै कर जोरि जोरि कै हिलिमिलि सरबसु दीजै।
एक निमिष सम सुख के कारन जग समान दुख लीजै॥
'कुँभनदास' इह जानि बूझि कै काहें बिषु जल पीजै।
गोबर्द्धनधर सब जानतु हैं, उपजि खेद तन छीजै॥

युग-युगकी संचित अनुराग-निधिको, हृदयकी सरल और तरलतम भावनाओंको, जिन्हें कण-कण करके सहेजा गया है, मिलनके अल्पकालीन क्षणोंमें सर्वस्व-समर्पणके रूपमें अपने प्रियतमको सौंप देना और दूसरे ही क्षण उन्हें विछोहके शून्य—रिक्त पलोंमें हार देना कितनी विडम्बना है! एक पलके सुखके बदलेमें युग-युगीन अतृप्ति और पीड़ाओंको समेटना है। अमिय-तुल्य मिलनका अवश्यम्भावी

परिणाम है—वियोग-विषकी जलन। यह जानते हुए भी, सर्वाङ्गमें उस जलन और तड़पनकी टीस देनेवाले विषाक्त विरहानलको अङ्गीकार कर लेना कितना करुण और जीवनके अस्तित्वके लिये घातक है—कुम्भनदास-से भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकते हैं।

किंतु इन भोले प्राणियोंसे कोई पूछे कि फिर जान-बूझकर इस 'विषुजल' के लिये तुम्हारा हृदय क्यों लालायित है? 'प्रीति तौ काहू सों नहिं कीजै' के शब्दोंमें उन्मुक्त उद्घोष वा निषेधादेश करनेवाले भक्तके हृदयमें भी फिर उसी 'सुंदर स्याम मनोहर' के साथ केलिकी एक अतृप्त लालसा होती है, कितनी विलक्षण और अनिवार्य स्वाभाविक स्थिति है!

कब हौं देखिहौं भरि नैननु।
सुंदर स्याम मनोहर इह अँग अंग सकल सुख दैननु॥
बृंदावन विहार दिन दिन प्रति गोपबृंद सँग लैननु।
हँसि हँसि हरषि पतौआ पीवन बाँटि बाँटि पय पैतनु॥
कुंभनदास किते दिन बीते किये रैनि सुख सैननु।
अब गिरिधर बिनु निसि अरु बासर मन न रहत क्योंहु चैननु॥

कितनी बेचैनी, कितनी तन्मयता है! वृन्दावनविहारीकी विविध लीला-माधुरीके दर्शनके लिये नेत्रोंमें कितनी उत्कट प्यास है, आकुल उत्कण्ठा है! एक-एक निमिष कोटि-कोटि युग-कल्पोंके समान बीत रहा है, उन गिरिधर सुन्दर श्यामके बिना। कविकी इस वियोग-व्यथाकी मार्मिक पीड़ाको कौन जान सकता है? ये विषके बुझे विरह-बाण मर्म-स्थलको सीधा ही बेधते हैं और विरहीकी रग-रग उसकी चोटसे सिहर उठती है। यह वर्णनातीत है, वाणीसे परेकी अनुभूति है; तथापि एक क्षीण आभास तो इन शब्दोंसे प्रतिबिम्बित होता ही है—

विरह बान की चोट जाहि लागै सोई जान।
भोगइये तो समुझि परै जिय कहै कहा मानै॥
जैसे कांड सु बधिक चनकटि होत है बिषु साने।
भरमत नख सिख अंग ततच्छिनु थोरेहूँ तानै॥
होत न चैनु निमिष निसि बासर बहुत जतन आनै।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु बिथा कौन मानै॥

इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट कतिपय पदोंके भावविश्लेषणसे सहृदयजन समझ सकेंगे कि व्रज-लीलाके रसिक भक्त, कवि-हृदय कुंभनदासजी काव्य और भक्तिके क्षेत्रमें, गीति-लालित्यके तरलित आधारपर अष्टछापके कवियोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। विप्रलम्भ-काव्यसे उनका काव्य विलसित है, जिसमें तदाकार—तद्रूप होकर वे अपने श्याम-सुन्दरके सौन्दर्य-सुधा-सागरमें सतत सर्वदा अवगाहन-निमज्जन करते रहते हैं।

गीत

(रचयिता—श्रीसरजूप्रसादजी सैनी)

आ रही पदचाप किसकी।
नीलिमामय यवनिका के
पृष्ठसे, मधु गीतिकाके
सरस सुन्दर गीत गाती, गूँजती ध्वनि आज किसकी।
आ रही पदचाप किसकी।
किस मृदुलतम बीनके स्वर,
चढ़ सुरभि-सिञ्चित मलय पर
आ रहे, बेसुध हुआ मन, सुन मधुर झंकार जिसकी।
आ रही पदचाप किसकी।
खोल अवगुण्ठन निशाका
रूप लखता हर दिशाका
छाँह देखी, किंतु अबतक देख पाया छवि न उसकी।
आ रही पदचाप किसकी।

प्रार्थनोपचार या आध्यात्मिक चिकित्सा

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

'दूसरी शक्तियोंकी तरह आध्यात्मिक शक्ति भी मनुष्यकी सेवाके लिये है। सदियोंसे थोड़ी-बहुत सफलताके साथ शारीरिक रोगोंको ठीक करनेके लिये उसका उपयोग होता रहा है।'

उपर्युक्त शब्द महात्मा गांधीके हैं। उन्होंने किसी भाईको मलेरियाके इलाजके लिये राम-नामका सुझाव दिया था। परंतु शारीरिक बीमारियोंके लिये आत्मिक शक्तिपर भरोसा करना उन भाईकी समझके बाहरकी बात थी। अतः उन्होंने गांधीजीको लिखा—

'आपने राम-नामसे मलेरियाका इलाज सुझाया है। मेरी कठिनता यह है कि शारीरिक बीमारियोंके लिये आत्मिक शक्तिपर भरोसा करना मेरी समझसे बाहर है। मैं पक्की तरहसे यह भी नहीं जानता कि मुझे अच्छा होनेका हक भी है या नहीं। और क्या ऐसे समयमें, जब मेरे देशवाले इतने दुःखमें पड़े हैं, मेरा अपनी मुक्तिके लिये प्रार्थना करना ठीक होगा ? जिस दिन मैं राम-नाम समझ जाऊँगा, उस दिन मैं उनकी मुक्तिके लिये प्रार्थना करूँगा; नहीं तो मैं अपने-आपको आजसे अधिक स्वार्थी अनुभव करूँगा।'

इस पत्रका सार्वजनिक उत्तर देते हुए गांधीजीने लिखा—

'मैं मानता हूँ कि ये मित्र सत्यकी सच्ची तलाश करनेवाले हैं। उनकी इस कठिनताकी खुल्लमखुल्ला चर्चा मैंने इसलिये की है कि उन-जैसे बहुतोंकी कठिनाइयाँ इसी तरहकी हैं।

'दूसरी शक्तियोंकी तरह आध्यात्मिक शक्ति भी मनुष्यकी सेवाके लिये है। सदियोंसे थोड़ी-बहुत सफलताके साथ शारीरिक रोगोंको ठीक करनेके लिये उसका उपयोग होता रहा है। इस बातको छोड़ भी दें, तो भी यदि शारीरिक बीमारियोंके इलाजके लिये सफलताके साथ उसका व्यवहार हो सकता हो तो उसका उपयोग न करना सख्त गलती है; क्योंकि आदमी जड भी है और चेतन भी और इन दोनोंका एक-दूसरेपर असर होता है। अगर आप मलेरियासे बचनेके लिये कुनैन लेते हैं और इस बातका खयाल भी नहीं करते कि करोड़ोंको कुनैन नहीं मिलती तो आप उस इलाजके इस्तेमालसे क्यों इनकार करते हैं, जो आपके अंदर है ? क्या सिर्फ इसलिये कि करोड़ों अपनी जहालत (अज्ञान) की वजहसे उसका इस्तेमाल नहीं करते ? अगर करोड़ों अनजाने, या हो सकता है जान-बूझकर भी, गंदे रहें तो क्या आप अपनी सफाई और स्वास्थ्यका ध्यान छोड़ देंगे ? दानकी गलत कल्पनाके कारण अगर आप साफ नहीं रहेंगे तो गंदे और बीमार रहकर आप उन्हीं करोड़ोंकी सेवाका फर्ज भी अपने ऊपर नहीं ले सकेंगे; और यह बात तो पक्की है कि आत्माका रोगी या गंदा होना (उसे अच्छी और साफ रखनेसे इनकार करना) बीमार और गंदा शरीर रखनेसे भी बुरा है।

'मुक्तिका अर्थ यही है कि आदमी हर तरहसे अच्छा रहें। अगर आप अच्छे रहेंगे तो दूसरोंको अच्छा रहनेका रास्ता दिखा सकेंगे, और इससे भी बढ़कर अच्छा होनेके कारण आप दूसरोंकी सेवा कर सकेंगे। लेकिन अगर आप अच्छे होनेके लिये पेनिसिलिन लेते हैं, हालाँ कि आप जानते हैं कि दूसरोंको वह नहीं मिल सकती, तो जरूर आप स्वार्थी बनते हैं।

'मुझे पत्र लिखनेवाले इन मित्रकी दलीलमें जो गड़बड़ है, वह साफ है।

'हाँ, यह जरूर है कि कुनैनकी गोली या गोलियाँ खा लेना राम-नामके उपयोगके ज्ञानको पानेसे ज्यादा आसान है। कुनैनकी गोलियाँ खरीदनेकी कीमतसे इसमें कहीं ज्यादा मेहनत पड़ती है। लेकिन वह मेहनत उन करोड़ोंके लिये उठानी चाहिये, जिनके नामपर और जिनके लिये लेखक राम-नामको अपने हदसे बाहर रखना चाहते हैं।'

इस प्रकारकी आध्यात्मिक चिकित्साके उदाहरण हमें संतोंके जीवनमें प्रत्येक देश और प्रत्येक युगमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये आचार्य विनोबा भावेके निम्नोक्त वचन देखें—

'मेरी तो यह धारणा है कि समस्त रोगों और कष्टोंकी अचूक दवा ईश्वरमें श्रद्धा रखकर भक्तिभावसे उपासनामें तल्लीन रहना ही है। यदि आसपास भगवद्भक्तिका वातावरण रहे, भक्तोंद्वारा भजन होता रहे, तब तो कुछ पूछना ही नहीं है। इससे रोगीको परम शान्ति मिलेगी और उसके जीवनकी बीमारी भी दूर हो जायगी।

'दो दिन मुझे बुखार आया, पर सुबह और शामको

प्रार्थना ज्यों-की-त्यों चलती रही । मेरी धारणा है कि बीमार मनुष्यके आस-पास भगवान्‌के भक्तोंद्वारा, संतों और महात्माओं-द्वारा लिखित भजनोंको मधुर स्वरमें गान करनेसे बेहतर न तो कोई दवा हो सकती है और न तो कोई सेवा । जो शान्ति और आराम नाम-स्मरणसे प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । और जहाँ अनेक भक्त मिलकर सामुदायिक प्रार्थना करते हों, भजन गाते हों, वहाँका तो पूछना ही क्या है ।

'इस प्रकारकी श्रद्धा न सिर्फ हमारे ही देशमें है, बल्कि दूसरे देशोंमें भी है । परंतु लोग श्रद्धारूपी अचूक दवाके रहते हुए भी नाना प्रकारकी, नाना रूपकी कृत्रिम दवाएँ देते हैं ।'

आध्यात्मिक चिकित्साका इतिहास बहुत पुराना है । आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्साके पूर्व अपने शारीरिक और मानसिक रोगोंसे मुक्त होनेके लिये संसारका भोला-भाला मानव जिस चिकित्साकी शरण लेता था, वह आध्यात्मिक चिकित्सा ही थी । भगवान् बुद्ध और महात्मा ईसाकी जीवनियोंमें यह पाया जाता है कि बहुत-से शारीरिक और मानसिक रोगी उनके पास व्याधि लेकर आते थे और वे इन रोगियोंको अपनी सद्भावना मात्रसे स्वस्थ बना देते थे ।

महात्मा ईसाने अपने उपदेशोंमें बार-बार विश्वासकी ही साधनाके सुझाव दिये हैं । एक बार प्रातःकाल जब वे नगरको लौट रहे थे, तब शिष्योंको उपदेश देनेके लिये उन्होंने अपने विश्वासका एक चमत्कार दिखाया । बात यह हुई कि उस समय उनको भूख लगी थी । सड़कके किनारे एक अंजीरका पेड़ देखकर वे उसके पास गये, परंतु उसमें पत्तोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं था । यह देख उन्होंने उस वृक्षसे कहा—'अबसे तुझमें फिर कभी फल न लगे ।' और अंजीरका पेड़ तुरंत सूख गया । यह देखकर चेलोंने अचंभा किया और कहा, 'यह अंजीरका पेड़ क्योंकर तुरंत सूख गया ?' महात्मा ईसाने उनको उत्तर दिया कि 'मैं तुमसे सच कहता हूँ—यदि तुम विश्वास रखो और संदेह न करो तो न केवल यह करोगे जो इस अंजीरके पेड़से किया गया है; परंतु यदि इस पहाड़से भी कहोगे कि 'उखड़ जा; और समुद्रमें जा पड़' तो यह हो जायगा । और जो कुछ तुम प्रार्थनामें विश्वाससे माँगोगे, वह सब तुमको मिलेगा ।'

मनुष्यके मनमें दूरकी तथा भविष्यकी बातें जानने, दूरके लोगोंको प्रभावित करने, अपने-आप आरोग्य प्राप्त करने तथा रोगीको आरोग्य प्रदान करनेकी विलक्षण शक्ति है । हम इन शक्तियोंको जाग्रत् करके और इनका सदुपयोग करके अपना जीवन सुखी और कल्याणकारी बना सकते हैं । विश्वासके द्वारा हम अपनी इन सुप्त शक्तियोंको जाग्रत् कर सकते हैं । मनुष्य अपनी शक्तियोंको अपनी भावनाके अनुसार विकसित करता है । जो व्यक्ति अपने विषयमें जैसा विचार करता है, वह अपने आपको वैसा ही बना लेता है । जिस व्यक्तिका जैसा निश्चय है, वह तद्रूप है । कोई भी विचार विरोधी विचारके अभावमें अपने-आप ही कार्यमें परिणत हो जाता है । यदि किसी कल्पनाकी विरोधिनी कल्पना हमारे मनमें नहीं रहती तो वह कल्पना अवश्य ही क्रियाका रूप ले लेती है । जो व्यक्ति विश्वास करता है कि उसका भविष्य उज्ज्वल है और जो आशावादी कल्पनाओंको सदा मनमें लाता है, वह अवश्य ही कुछ चमत्कार कर दिखाता है ।

यदि मनसे सभी विचारोंको अलग करके मनुष्य किसी विशेष प्रकारकी भावना करने लग जाय और प्रतिदिन उसी भावनाको दृढ़ करे तो उस भावनाके अनुरूप उसकी मानसिक शक्ति बढ़ जाती है । मान लीजिये, हम बिच्छूका मन्त्र सिद्ध करना चाहते हैं । तो हमें उस मन्त्रको जपते हुए मनमें कल्पना करनी चाहिये कि हम बिच्छूसे कटे अनेकों मनुष्योंका दुःख दूर कर रहे हैं । वास्तवमें इस प्रकारकी भावना ही उस विश्वासको उत्पन्न करती है, जिसके कारण साधु लोग हाथ फेरकर अनेक प्रकारके रोग नष्ट कर डालते हैं ।

प्रोफेसर श्रीलालजीराम शुक्लने अपने एक शिष्यके विषयमें लिखा है, जिसको साँप काटनेका मन्त्र सिद्ध था । उसने दस-पंद्रह आदमियोंको अच्छा भी किया था । एक दिन उसके शिक्षकने उससे इस मन्त्रके बारेमें पूछा । छात्रने बता दिया । शिक्षक संदेही मनोवृत्तिके थे । उन्होंने कहा कि 'भाई ! समझमें नहीं आता कि मन्त्रसे कैसे साँपका विष चला जा सकता है ।' इस घटनाके पश्चात् उस विद्यार्थी-की साँपका विष झाड़नेकी शक्ति ही जाती रही । वास्तवमें अब उक्त शिक्षकका संदेह विद्यार्थीके मनमें आ गया और यही संदेह उसके विष झाड़नेके कार्यमें बाधक हो जाता था । वह चित्तकी एकाग्रताको नष्ट कर देता था ।

संशयकी मनोवृत्ति संक्रामक होती है। इसी प्रकार विश्वासकी मनोवृत्ति भी संक्रामक होती है। प्रबल आध्यात्मिक शक्तिवाले शान्त मनके महात्माका ध्यान करके किसी प्रकारका कार्य करनेसे आश्चर्यजनक शक्ति मनमें उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार एक विद्युत्से भरे पदार्थसे दूसरेका सम्पर्क होनेपर दूसरेमें भी वह विद्युत् आ जाती है, उसी प्रकार महात्माओंका ध्यान करनेसे अर्थात् उनके साथ मानसिक सम्पर्क होनेसे उनकी शक्ति हमें मिल जाती है।

अमेरिकन गृहयुद्धके बादकी बात है। अक्टूबर महीनेकी एक रातको एक बेघर-बार भटकनेवाली अभागी नारीने एक दरवाजेपर दस्तक दी। उस मकानकी स्वामिनी श्रीमती वेब्सटरने दरवाजा खोला तो उनको एक छोटा-सा कृशकाय प्राणी दिखायी दिया, जो मुश्किलसे एक सौ पौंड वजनका ढाँचा मात्र था। आगन्तुक नारी थीं श्रीमती ग्लोवर, जो किसी मकानमें शरण चाहती थीं, जहाँ रहकर वे एक महत्त्वपूर्ण समस्यापर मनन तथा प्रयोग करना चाहती थीं। वह दिन-रात उसी एक प्रश्नपर विचार कर रही थीं।

श्रीमती वेब्सटरने उत्तर दिया—'यहीं क्यों न रहो ? मैं तो इस इतने विशाल घरमें बिल्कुल अकेली हूँ।'

श्रीमती वेब्सटरके साथ श्रीमती ग्लोवर रहने लगीं। कुछ समय बाद गृहस्वामिनीके जामाता श्रीविल एलिस न्यूयॉर्कसे छुट्टियाँ बिताने आये। उन्होंने जो श्रीमती ग्लोवरको घरमें देखा तो चिल्लाकर बोले—'मैं यहाँ किसी भिखारिनको नहीं रहने दूँगा।' और उन्होंने श्रीमती ग्लोवरको घरसे निकाल दिया। उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी। कुछ मिनट तो श्रीमती ग्लोवर काँपती हुई वर्षामें खड़ी रहीं और फिर शरणकी खोजमें सड़कपर चल पड़ीं।

जिसको श्रीविल एलिसने घरसे निकाल दिया था, यह 'भिखारिणी' नारी आज मानव-इतिहासकी प्रमुखतम नारियोंमेंसे एक मानी जाती है। समस्त संसारमें फैले हुए अपने लाखों अनुयायियोंमें यह नारी 'श्रीमती मेरी बेकर एडी' के नामसे प्रसिद्ध है। श्रीमती मेरी बेकर एडी पाश्चात्त्य देशोंमें प्रार्थनोपचार-विद्या (Christian Science)की आविष्कर्त्री मानी जाती हैं।

परंतु उपर्युक्त घटना घटित होनेके समयतक श्रीमती एडीने अपने जीवनमें बीमारी, कष्ट और दुर्भाग्यके अलावा कुछ नहीं देखा था। उनके प्रथम पति विवाहके कुछ ही समय बाद स्वर्गवासी हो गये थे। उनके दूसरे पति उनको छोड़कर और एक अन्य विवाहिता नारीको साथ लेकर भाग गये थे। बादमें उनकी एक अनाथालय (Poor house) में मृत्यु हो गयी। श्रीमती एडीको अपनी एकमात्र संतान अपने पुत्रको भी अपनी गरीबी, बीमारी और ईर्ष्या-द्वेषके कारण चार सालकी अवस्थामें त्याग देना पड़ा था। इसके बाद इकतीस वर्षतक उनको अपने पुत्रका कुछ भी पता नहीं चल सका था।

स्वयं अपना स्वास्थ्य खराब रहनेके कारण श्रीमती एडीकी दिलचस्पी 'मानसिक उपचार-विद्या'में अर्थात् मानसिक उपायोंद्वारा रोगोंकी चिकित्सा करनेके विज्ञानमें थी। परंतु उनके जीवनमें नाटकीय परिवर्तनका अवसर अब आता है। एक दिन बड़े जोरोंकी सर्दी पड़ रही थी। सड़कपर बरफ जमी हुई थी। उसीपर चलते-चलते वह पैर फिसलनेसे गिर पड़ीं और बेहोश हो गयीं। रीढ़की हड्डियोंमें ऐसी चोट आयी कि वे तड़पती रहीं। डॉक्टरको उनके जीवित रहनेकी कोई आशा नहीं थी। चिकित्सकने कहा कि यदि किसी अलौकिक चमत्कारसे वह जीवित रह भी गयी तो भी जीवनमें अब कभी चल-फिर नहीं सकेगी।

श्रीमती मेरी बेकर एडी अपने बिस्तरेपर पड़ी थीं, जिसे उन्होंने अपनी मृत्यु-शय्या समझ रखा था। तभी उन्होंने अपनी धर्मपुस्तक खोली। श्रीमती एडीने अनुभव किया कि उस समय उनको भगवान्‌का पथप्रदर्शन प्राप्त हुआ; जिसके कारण पुस्तक खोलते ही उनकी दृष्टि निम्नोक्त वचनोंपर पड़ी—

'और देखो, कई लोग एक बातके मारे हुएको खाटपर रखकर उसके पास लाये, महात्माने उनका विश्वास देखकर उस बातके मारे हुएसे कहा—हे पुत्र, ढाढ़स बाँध; तेरे पाप क्षमा हुए। उठ ! अपनी खाट उठा और अपने घर चला जा। वह उठा, और अपने घर चला गया।'

श्रीमती एडीने बादमें बताया है कि महात्माके उपर्युक्त शब्दोंने उनके अंदर एक ऐसा बल, एक ऐसा विश्वास, चिकित्सा करनेवाली संजीवनी शक्तिकी एक ऐसी लहर पैदा कर दी कि वे तत्काल ही बिस्तरसे उठीं और पैदल चल दीं।

श्रीमती एडीने लिखा है—इस अनुभवसे ही मैंने स्वयं आरोग्य प्राप्त करने तथा दूसरोंको आरोग्य प्रदान करनेके विज्ञानका आविष्कार किया।''मुझे यह पूर्ण विश्वास है

गया कि मन ही समस्त घटनाओंका मूल कारण है; यह समस्त जगत् केवल मानसिक जगत् ही है।'

इस प्रकार श्रीमती मेरी बेकर एडीने प्रार्थनोपचार-विद्याका आविष्कार किया। उनके अनुयायी इसको एक नये धर्म किंवा सम्प्रदायके रूपमें मानते हैं और श्रीमती एडीको इसकी प्रवर्तिका मानते हैं। किसी नारीद्वारा प्रवर्तित यह एकमात्र महान् धर्म है, जिसके अनुयायी संसारके प्रत्येक देशमें हैं।

यहाँपर आगे बढ़नेसे पूर्व हम योगिराज श्रीअरविन्दका एक वचन आधुनिक यूरोपवासियोंके विषयमें उद्धृत करना चाहते हैं—

'आधुनिक यूरोपवासियोंको देखकर हमें प्राचीन कालके ऋषियोंकी याद आ जाती है; जिनके सामर्थ्यके सामने देवता भी पराजित थे। लोग कहा करें कि यूरोप विनाश-पथपर अग्रसर है; किंतु मेरी तो यह धारणा है कि आजका यूरोप एक महान् क्रान्तिकी सिद्धिके मार्गसे गुजर रहा है और परिवर्तनके ये द्रुत चरण उसके द्वारा एक नवीन विश्वका सृजन करायेंगे।'

पाश्चात्य जगत्में आज आध्यात्मिक उपायोंसे चिकित्सा करनेवाले बहुत-से केन्द्र चल रहे हैं। एक केन्द्रका नाम है 'ऐवलान हीलिंग सेंटर'। पैडिंगटन, लंदनमें इसका कार्यालय है। श्रीपीटर लाइटफुट यहाँपर चिकित्साका काम करते हैं। दूसरा केन्द्र 'लारेंस हीलिंग सेंटर, विम्बलदन, लंदनमें है। लंदन-स्थित श्रीरामकृष्ण-वेदान्त-केन्द्र भी यही काम कर रहा है। पश्चिमी आस्ट्रेलियाके पर्थ नामक स्थानमें कालविन अनविन यही कार्य कर रहे हैं।

अमेरिकाके कनसास सिटीमें 'यूनिटी स्कूल ऑव क्रिश्चिऐनिटी' नामकी बड़ी प्रसिद्ध आध्यात्मिक संस्था है। इसके संस्थापक श्रीचार्ल्स फिल्मोर महाशय थे। श्रीफिल्मोर स्वयं जन्मसे लूले-लँगड़े थे। उनके बच्चे और स्त्री सब क्षयरोगसे पीड़ित थे। दवा-दारू करके सब तरहसे निराश हो गये थे। पासमें एक पाई भी न रही। ऐसी अवस्थामें उनकी पत्नीको प्रेरणा हुई कि प्रार्थनासे सब आधि-व्याधि दूर होगी। सब प्रार्थना करने लगे। थोड़े ही दिनोंमें प्रार्थनाके अद्भुत प्रभावसे नीरोग हो गये। लोगोंमें प्रार्थनाका प्रचार करनेके लिये संस्था स्थापितकर; केवल प्रार्थनाके बलसे स्वयं तथा कुटुम्बियोंको रोगमुक्त करके आधी शताब्दीसे भी अधिक समयतक उक्त संस्थाका संचालन कर केवल भगवत्प्रार्थनासे श्रद्धालु पुरुषोंकी आधि-व्याधि, दरिद्रता, रोग-शोक मिटाकर सुख-शान्तिमय जीवन प्रदान करते रहे। आजकल उनके सुपुत्र श्रीलावेल फिल्मोर इस संस्थाके संचालक हैं। (उनके लेख 'यूनिटी' पत्रिकासे उद्धृत करके 'कल्याण' में प्रायः छपते रहते हैं।) यूनिटी नामका एक छोटा-सा नगर बस गया है। 'यूनिटी डेली वर्ड' आदि कई मासिक पत्र प्रतिमास दस लाख छपते हैं। चार हजार पत्र डाकसे नित्य आते हैं। छः हजार पार्सल-पैकेट नित्य बाहर भेजे जाते हैं। यूनिटीके नित्य एक हजार ग्राहक बनते हैं। बीस लाख नोट-पेपर प्रतिवर्ष व्यवहार किये जाते हैं। प्रार्थनासे रोग मिटानेके लिये प्रायः एक हजार प्रार्थना-पत्र नित्य आते हैं। ये पत्र कई भाषाओंमें प्रकाशित होते हैं। यहाँसे बच्चों और युवकोंके लिये प्रतिमास अलग-अलग मासिक पत्र निकलते हैं। अंधोंके लिये अलग साहित्य प्रकाशित होते हैं। इस संस्थाके कई विभाग हैं—

(१) रोगीको बिना देखे, प्रार्थनासे इलाज करना (रोगी चाहे कितने ही हजार मील दूरीपर हो)।

(२) गरीब, दरिद्र, दिवालिये और बेरोजगारोंके रोजगार और समृद्धिके लिये प्रार्थना करना।

(३) शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कठिनाइयोंको प्रार्थनाके बलसे दूर करना।

संस्थाका खर्च लोगोंके प्रसन्नता या प्रीतिके दानसे चलता है। लगभग एक सौ आदमी नित्य तीनों समय प्रार्थनाके लिये उपस्थित रहते हैं। समस्त कार्यकर्ता मांससे परहेज करते हैं अर्थात् शाकाहारी हैं। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तको मानते हैं। सब धर्मोंके प्रति पूज्य और आदरभाव रखते हैं।

भारतवर्षमें भी आध्यात्मिक उपायोंसे अनेक स्थानोंपर मानसिक और शारीरिक रोगोंकी चिकित्सा होती है। स्वर्गीय डा० दुर्गाशंकर नागर उज्जैनमें इसी विधिसे अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक रोगोंकी चिकित्सा करते थे। काशी मनोविज्ञानशालामें प्रोफेसर लालजीराम शुक्ल मैत्री-भावना और आनापानसतिके अभ्यासके द्वारा अनेक प्रकारके मानसिक और मनोजात शारीरिक रोगोंकी चिकित्सा करते हैं।

आधुनिक युगमें डा० विलियम ब्राउनने आध्यात्मिक चिकित्साको वैज्ञानिक रूप देनेकी चेष्टा की है। उनका कथन है कि चिकित्सा-विज्ञानको अभीतक मनुष्यके मनकी सम्पूर्ण शक्तियोंका ज्ञान नहीं हुआ है। हम अपने मनकी जितनी

शक्तिको जानते हैं, वह हमारे सम्पूर्ण मनकी शक्तिका क्षुद्र भाग है। हमें बुद्धिद्वारा जो ज्ञान अपने मनकी शक्तिके विषयमें प्राप्त हुआ है, वह बहुत ही थोड़ा और विकृत है। जैसे-जैसे मनुष्यका अपने मनके विषयमें ज्ञान बढ़ रहा है, वह जानने लगा है कि जिन बातोंको पहले वह चमत्कार मानता था, वे वास्तवमें सर्वथा वैज्ञानिक हैं। यदि चिकित्सक दृढ़ इच्छा-शक्तिका व्यक्ति है, यदि वह तपस्वी और परोपकारी ऋषि है, तो उसके स्पर्शमात्रसे कोई भी जटिल रोगी अपने रोगसे मुक्त हो जा सकता है। इतना ही नहीं, भले पुरुषकी सद्भावना दूरमें रहनेवाले व्यक्तिके स्वास्थ्यको भी प्रभावित करती है। यदि हम अपने मनोबलको बढ़ायें तो रोगीको केवल फोटोग्राफके द्वारा अनेक प्रकारका मानसिक लाभ पहुँचा सकते हैं। डा० विलियम ब्राउनने इस प्रकारकी आध्यात्मिक चिकित्साकी सम्भावना अपनी 'साइकॉलाजी एण्ड साइकोथेरेपी' नामक पुस्तकमें बतायी है।

आधुनिक विज्ञानके अनुसार समस्त सृष्टि विद्युत्मय है। प्रत्येक पदार्थ विद्युत्-कणों और विद्युत्-तरङ्गोंसे बना हुआ है। हमारी मानसिक विद्युत्मेंसे प्रतिक्षण जो लहरें उठती हैं, उन्हें 'विचार' नामसे पुकारते हैं। विचार केवल शब्द नहीं है, वरं एक मूर्तिमान् पदार्थ है, जिसे वैज्ञानिक यन्त्रोंकी सहायतासे प्रत्यक्ष देखा जाने लगा है। वैज्ञानिकोंने ऐसे छायाचित्र खींचनेके कैमरे बना लिये हैं, जो विचारोंके फोटो (चित्र) साफ-साफ खींच लेते हैं। आप जिस वस्तुका चिन्तन कर रहे हैं, उसी वस्तुके समान मानस-चित्र बनने लगते हैं। उन यन्त्रोंकी सहायतासे स्थूल वस्तुओंकी तरह उन मानस-आकृतियोंका भी छाया-चित्र खिंच जाता है। विचार हर क्षण मस्तिष्कमेंसे निकलकर बाहरकी ओर उड़ते रहते हैं। उन उड़ते हुए विचारोंका चित्र ठीक वैसा ही आता है, जैसी कि मनुष्यकी कल्पना होती है।

विचार मानसिक विद्युत् (तेजस्) की लहरें हैं, जो विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त आकाश (ईथर) तत्त्वमें उठती हैं। आकाश अनन्त है; उसका कहीं अन्त न होनेके कारण उन लहरोंका भी कहीं अन्त नहीं होता और वे निरन्तर बहती रहती हैं।

यदि विचार-शक्तिकी गतिकी प्रकाशकी गतिके प्रवाहके साथ तुलना की जाय तो आपको विदित होगा कि प्रकाशकी गतिका प्रवाह एक सेकंडमें ईथर (आकाश-तत्त्व) द्वारा एक लाख छियासी हजार मीलपर पहुँच सकता है; परंतु विचार-शक्तिकी गतिका प्रवाह चार हजारसे लेकर आठ पद्म मील पर्यन्त एक सेकंडमें जा सकता है।*

विचारकी लहरें होती हैं और विचार एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ईथरद्वारा बिना किसी रोक-टोकके जा सकता है। हमारी कल्पना-शक्ति, एकाग्रता और इच्छा-शक्तिपर विचार-गतिका प्रवाह निर्भर है। इनके बिना मिले विचारमें कम्पन उत्पन्न नहीं हो सकते।

मनुष्य जिस प्रकारके विचार करता है, उसी प्रकारके विचारोंको अपनी ओर आकर्षित करता है और वैसा ही बन जाता है। यदि एक ही समय एक ही प्रकारके विचार एक ही सिद्धान्तके मनुष्य मिलकर करते हैं, तो इन एकत्रित विचारोंके परमाणुओंसे आकाशमें एक शक्तिशाली वायुमण्डल बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति उस वायुमण्डलकी शक्तिको अपने विचारद्वारा बढ़ाता है और उस वायुमण्डलमेंसे उसी एक विचारकी लहरको अपनी ओर खींचता है, जो उसको अपने इच्छानुकूल कार्यमें सफलता प्राप्त कराती है। यही सत्सङ्ग, सामूहिक प्रार्थना और कीर्तनका माहात्म्य है।

एक प्रसिद्ध महात्माका वचन है—'फिर मैं तुमसे कहता हूँ—यदि तुममेंसे दो जन पृथ्वीपर किसी बातके लिये, जिसे वे माँगें, एक मनके हों तो वह भगवान्‌की ओरसे उनके लिये हो जायगी; क्योंकि जहाँ दो या तीन मेरे नामपर इकट्ठे होते हैं, वहाँ मैं उनके बीचमें होता हूँ।'

हमारे यहाँ भी देवर्षि नारदके प्रति भगवान्‌का यह वचन प्रसिद्ध है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

भक्तोंद्वारा जहाँ प्रेमसे भजन गाये जाते हैं, वहाँ भगवान् निश्चित रूपसे रहते हैं और जहाँ सामुदायिक भजन श्रद्धावान् भक्तोंद्वारा हो, वहाँ तो ईश्वरका रहना लाजमी ही है। फिर जहाँ स्वयं भगवान् हों, वहाँ रोग-शोक कैसा ?

आयुर्वेदके प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरिके वचन हैं—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

---

* प्रो० एलिशा ग्रे कृत 'मिरैकल्स आव नेचर (Miracles of Nature)

प्रह्लादने रामनामको सर्व रोगोंकी एकमात्र दवा बतलाया है—

सर्वतापशमनैकभेषजम्

परमात्माके नामोंका उच्चारण करनेसे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं—अपने भी रोग तथा उनके भी, जिनके आरोग्यके लिये हम प्रार्थना करें ।

अपने युगान्तरकारी आविष्कारके कारण नोबल-पुरस्कार प्राप्त करनेवाले, संसार-प्रसिद्ध चिकित्सक और सर्जन डॉ० एलेक्सिस कैरलने लिखा है कि 'उन्होंने स्वयं अपनी आँखोंसे देखा है कि घाव, फोड़े, कैंसर, पाण्डु (पीलिया), क्षय (टी० बी०) आदि रोग केवल ईश्वर-प्रार्थनासे कुछ ही क्षणोंमें ठीक हो गये ।'

इस लेखके प्रारम्भमें उद्धृत वचनमें महात्मा गांधीने कहा है कि 'इस कार्यमें कहीं ज्यादा मेहनत पड़ती है ।' डॉ० एलेक्सिस कैरलका 'मैन द अननोन' (मनुष्यकी अज्ञात शक्तियाँ) ग्रन्थ आजके लोकप्रिय ग्रन्थोंमें एक है । इस ग्रन्थके एक अध्याय 'मनुष्यका पुनर्निर्माण'में डॉ० कैरल भी वही बात कहते हैं । इस महान् उद्योगका भार वहन करनेके लिये कैसे आदमी चाहिये, इस बातका विवेचन करते हुए डॉ० कैरलने लिखा है—

'अपना जीवन इस कार्यको अर्पित करनेवाले ये थोड़े मनुष्य जीवन-यापनकी सामान्य पद्धतिका परित्याग करनेवाले होंगे । उन्हें गोल्फ या ब्रिज खेलनेको न मिलेगा; सिनेमामें वे न जा सकेंगे, न रेडियो सुन सकेंगे; भोजनकी पार्टियोंमें भाषण न दे सकेंगे, न किसी कमिटीके सदस्य या साक्षी हो सकेंगे; वैज्ञानिक समितियों, राजनीतिक समारम्भों या विद्वत्परिषदोंमें वे भाग न ले सकेंगे, न समुद्र पार करके अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनोंमें ही भाग ले सकेंगे । उन्हें चिन्तन-शील साधुओंके समान जीवन बिताना होगा, विश्वविद्यालयोंके उपाध्यायोंके समान नहीं, और व्यवसायियोंके समान तो सर्वथा नहीं । सभी महान् राष्ट्रोंका इतिहास अनेक व्यक्तियोंके स्वार्पणका ही इतिहास है । बलिदान प्रगतिका नियत कारण है ।…… जिसके हृदयमें महान् साहसकी ज्वाला धधक रही हो, उसके लिये बलिदान कोई असम्भव वस्तु नहीं ।…'

यहाँपर हमें एक बार फिर श्रीअरविन्दका यह वचन स्मरण हो आता है—

'हमारे सामने आज आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकारकी एक ऐसी मिलित आशा तथा एक ऐसी मिलित भवितव्यता जगमगा रही है, जिसके लिये पूर्व और पश्चिम दोनोंको मिल-जुलकर काम करनेकी जरूरत है ।'

आइये, पाठक ! बातें तो बहुत हो लीं । सार-वस्तु एकमात्र भगवान् हैं । आइये, कुछ देर उनका पावन स्मरण करें । श्रीलवेल फिलमोर लिखते हैं—

'सदा स्मरण रखिये कि ईश्वरने हमें सुख एवं प्रसन्नता दे रखी हैं और ये हमारी चेतनामें वैसे-वैसे ही विस्तार पायेंगी जैसे-जैसे हम इनको अपनायँगे तथा इन्हें अपनेमें रहने देंगे ।

'हमें विश्वास करना होगा कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक स्थान-पर विद्यमान है । हमारे विश्वासके बलसे वह अच्छी वस्तु हमें प्राप्त हो जायगी, जिसे परमपिताने हमारे लिये बनाया है ।

'भगवान्ने हमें सभी वस्तुएँ दी हैं; किंतु हमें यह सीखना चाहिये कि अपने जीवनमें हम इनका किस प्रकार व्यवहार करें जिससे ये हमारे काम आने लायक हो जायँ । भगवान्के दिये हुए बीजको लेकर हम बो देते हैं; किंतु उस बीजकी वृद्धि भगवान् ही करते हैं और एक बीजके बदलेमें हमें मनों अनाजका ढेर दे देते हैं ।

'सुखके लिये भविष्यकी अपेक्षा न कीजिये । इसी समय उसे अपनाइये और अभी भगवान्के आनन्द-स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाइये । फिर देखिये, समस्त सृष्टि भगवान्की स्तुति करनेमें आपका साथ देगी ।'

प्रबोध !

सदा-सर्वदा कब किसके घर, बजी यहाँ सुखसे शहनाई ?
अकस्मात् ही राजतिलककी, रुक जाती है यहाँ बधाई !
क्या ऐसा मधु-बन है कोई, जिसके सुमनोंकी अरुणाई—
अचल रही ?—ढल सकी न जिसके, तरुओंकी सुरभित तरुणाई ?

—ब्रह्मानंद 'बन्धु'

ताहि बोउ तू फूल

(लेखक--पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

स्वेट मार्डनका एक संस्मरण है—बढ़िया, प्रेरक, मजेदार।

एक बुढ़िया ट्रेनसे यात्रा कर रही थी।

बीच-बीचमें वह खुली खिड़कीसे मोटा नमक-सा कुछ पदार्थ बाहर फेंक देती।

बोतल खाली हो जाती तो वह उसे फिर झोलेसे भर लेती। और फिर उसका वही क्रम। बोतल भरना और उसकी सामग्री बाहर फेंकना। बादमें पता चला कि यह नमक-सा पदार्थ और कुछ न था, वह था—फूलोंके बीज!

× × ×

फूलोंकी शौकीन इस बुढ़ियाका सिद्धान्त था—‘जिस मार्गसे गुजरो, जिस रास्तेसे निकलो, उसमें फूल बिछाते जाओ। पता नहीं, फिर कभी इस राहसे गुजरना हो, न हो।

कैसा बढ़िया सिद्धान्त।

रेलकी पटरीके आसपास फूलोंके बीज बिखेरकर उसने मीलों भूमिको पुष्पोंसे हरा-भरा और रंगीन बना दिया है। जिस रास्तेसे वह गुजरी है, उसमें सौन्दर्य लहलहाने लगा है।

तुलसी बाबा तो कोसते ही रह गये—

जौं जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा॥

पर इस बुढ़ियाने तो सचमुच ‘सुमनमय मारग’ बना ही दिया।

× × ×

फूल!

गुलाब और बेला, चम्पा और चमेली, जुही और हरसिंगार—खुशबूदार फूलोंकी अदा तो निराली है ही। बिना खुशबूवाले रंग-बिरंगे फूल भी दिलको बाग-बाग किये बिना नहीं रहते।

प्रकृति सुन्दरीकी गोदमें खिले पुष्प हों, चाहे गुलदस्तेमें सँजोये, वे दर्शकको मुग्ध किये बिना नहीं मानते।

जो देखता है, उसका दिल बाग-बाग हो उठता है।

स्वामी कृष्णानन्दने तो फूलोंको स्वास्थ्यवर्द्धनका अद्भुत साधन बता रखा है। लिखते हैं वे—

श्रीरघुवीरसे मेरा परिचय, जब वे बंबईमें रहते थे, कोई पचीस बरस पहले हुआ था। उस समय उन्हें अग्निमान्द्यका रोग था। वे बहुत दुबले-पतले थे, मुखपर मुर्दनी छायी रहती थी। थोड़ा भी काम करनेपर वे थककर चूर हो जाते।

पर दस साल पहले जब मैं उनसे गाजीपुरमें मिला, तब वे बहुत स्वस्थ एवं सुन्दर दिखायी पड़े। जोश उनकी रग-रगसे टपकता था, उत्साह उनमें उमड़ा पड़ता था। बंबईमें वे कुर्क थे, गाजीपुरमें भी। कभी उनको पेटभराईसे अधिक पैसा नहीं मिला, फिर यह परिवर्तन हुआ तो कैसे।

श्रीरघुवीरको गाजीपुरमें जो घर मिला था, उसके आगे-पीछे थोड़ी जमीन भी थी। उस जमीनको उन्होंने सँवारा, उसमें कुछ तरकारियाँ लगायीं और अनेक तरहके फूलोंके पौधे। फूलोंमें मौसमके अनुसार सभी तरहके फूल थे, कई तरहके विलायती फूल भी—जिनमें रूप-रंग अधिक, पर गन्ध कम, या नहींके बराबर थी। श्रीरघुवीर दफ्तर जानेतक अपने इस बागमें जुटे रहते। शामको आकर अपने बागसे फूल चुनते और उनके छोटे-छोटे बहुत-से गुलदस्ते बनाते। इन गुलदस्तोंको वे एक डलियामें सजाते तो एक बड़ा गुलदस्ता प्रतीत होता। और इन गुलदस्तोंको वे अपनी मुस्कराहटमें सराबोर करके पासके अस्पतालके रोगियोंमें बाँट आते। रोगी उन्हें कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करते। कई तो उनकी बाट ही देखते रहते—गुलदस्तेसे अधिक गुलदस्तेके साथ मिलनेवाली रघुवीर-जीकी मुस्कराहटके लिये।

श्रीरघुवीर इस खुशी बाँटनेमें ही अपना रोग भूल गये और उनके बढ़िया स्वास्थ्य प्राप्त करनेका यही रहस्य है।

× × ×

तो ये फूल किसे पसंद नहीं?

बच्चे और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, किशोर और युवक, रोगी और भले-चंगे, भक्त और भगवान्—सभी तो फूलोंको प्यार करते हैं।

फूलोंकी शोभा, फूलोंका सौन्दर्य, फूलोंकी खिलखिलाहट, फूलोंकी सुगन्ध किसे नहीं भाती।

मनहूस होगा वह, जो फूलोंसे प्यार न करता हो।

× × ×

आकाशके तारे और धरतीके फूल।

जीवन और स्फूर्ति, प्रेरणा और बलके प्रतीक फूल।

आँखें उनका रूप देखकर, नासिका उनकी सुगन्ध लेकर, हाथ उनका कोमल स्पर्श पाकर, हृदय उनकी अनुभूति लेकर आनन्दमें डूब जाता है, जिसमें रोगी अपना रोग भूल जाता है, चिन्तित अपनी चिन्ता भूल जाता है, भक्त अपनी हस्ती भूल जाता है और साधारण मनुष्य दुनियाभरके झमेले भूल जाता है ।

एक-एक फूल कई-कई मिनटतक हमारा ध्यान अपनी ओर खींच लेता है, इसका अनुभव किसे नहीं !

मेरी छोटी-सी फुलवारीमें जब बेला या चमेली, गेंदा या गुलाबकी कोई कली चटकती है, कोई फूल खिलता है, कली 'अपनी पँखुड़ियाँ खोलकर अपनी लाल-पीली झलक दिखाती है, तब मन कितना प्रसन्न हो उठता है, मैं ही जानता हूँ। लतामें जब कोई फूल खिल उठता है, गमलेमें जब कोई कली आने लगती है, तब कभी-कभी घंटों मस्त होकर उसे निहारता रहता हूँ । छोटी-सी प्रकाश उसे देखते ही दौड़ पड़ती है—'बप्पा, फुल्ला !'

कोई ठिकाना है इस मस्ती और आनन्दका !

× × ×

मैं चाहूँगा कि आप भी फूल बोयें ।

घरमें थोड़ी-सी भी जमीन हो, तो उसमें फूल बोयें । न हो तो गमले कहाँ गये हैं ।

सच मानिये, आप जिन फूलोंको बोयेंगे, जिन फूलोंके पौधोंको रोज बिला नागा सींचेंगे, रोज जिनकी मिट्टी कुरेदेंगे, उनकी एक-एक कली आपके जीवनमें आनन्द बिखेरेगी, उनकी एक-एक पंखुड़ी आपको वह प्रसन्नता देगी, जो बाजारमें कहीं खरीदे मिल नहीं सकती ।

जरा इस ओर कदम बढ़ाइये भी तो !

× × ×

और घरमें आपने फूल बोना शुरू किया नहीं कि आप अपने जीवनमें भी फूल बोने लगेंगे । आप सोचने लगेंगे कि हम जीवनके जिस मार्गपर चल रहे हैं, उसमें भी क्यों न फूलोंके बीज बोते चलें ! जिन लोगोंके बीच रहते हैं, जिन लोगोंके बीच होकर गुजरते हैं, उनमें भी क्यों न हम अपने जीवनकी सुवास फैलाते चलें ?

ऐसा सोचते ही यह धरती स्वर्ग बन बैठेगी ।

× × ×

कितनी छोटी जिंदगी है हमारी, कलका सूर्योदय देखनेको मिलेगा, इसका भी तो कोई ठिकाना नहीं ।

तब क्यों न हम पल-पल क्षण-क्षण जहाँसे गुजरें, वहाँ फूलोंके बीज बिखेरते चलें इस पुष्प-प्रेमी बुढ़ियाकी तरह । तब क्यों न हम श्रीरघुबीरकी तरह रोगियोंको अपने बगीचेके गुलदस्ते भेंट करते चलें अपनी मुस्कराहटमें डुबोकर । मुश्किल इसमें रत्तीभर नहीं है, खर्च इसमें नाममात्रका है ।

It costs nothing to be kind!

किसीपर दया करनेमें, किसीसे दो मीठे बोल बोलनेमें, किसी बीमारसे सहानुभूति दर्शानेमें, किसीको फूलोंका एक गुलदस्ता भेंट करनेमें लगता क्या है ।

पर उसका मूल्य !

सोने और चाँदीमें, रुपये और पैसेमें आँक सकता है कोई उसका मूल्य ?

× × ×

फूल प्रतीक हैं प्रेमके, सौन्दर्यके, प्रसन्नताके, मस्तीके, खिलखिलाहटके ।

आपका जीवन भी प्रतीक हो प्रेमका, सौन्दर्यका, प्रसन्नताका, मस्तीका, खिलखिलाहटका ।

जहाँसे आप गुजरें, जिन लोगोंसे आप मिलें, जिनके आप सम्पर्कमें आयें, वे भी आपको देखकर, आपसे मिलकर खुश हो उठें, प्रसन्न हो उठें, खिलखिला उठें—तब माना जायगा कि आप फूल बो रहे हैं ।

× × ×

और आपका फूल बोना तो उस दिन सार्थक होगा, जिस दिन यह देखा जायगा कि आपने उसके लिये फूल बोये हैं, जिसने आपके लिये काँटे बो रखे थे—

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल ।

जीवनकी सफलता इसीमें है कि जिसने हमसे दुश्मनी ठान रखी है, जो हमपर प्रहार करता है, जो हमें दुरदुराता है, जो हमारा अपमान करता है, जो हमसे घृणा करता है, जो हमसे द्वेष करता है, जो हमसे ईर्ष्या करता है, उससे हम प्रेम करें ।

जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि जो हमपर खड्गहस्त है, उसपर हम वरद हस्त फेरते रहें ।

जीवनकी उपयोगिता इसीमें है कि जो हमारा अपकार करता है, उसका हम सदा उपकार करें ।

× × ×

शामल भट्टका एक छप्पय है—

'पाणी आपने पाय, भलूं भोजन तो दीजे।
आवी नमात्रे शीश, दंडवत कोडे कीजे॥
आपणे आये दाम, काम महोरोनुं करीए।
आप उगारे प्राण, ते तणा दुखमां मरीए॥
गुण केडे तो गुण दशगणो, मन वाचा कर्मे करी।
अवगुण केडे जो गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही॥'

अर्थात्—

'जो हमें पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन करायें।

जो हमारे सामने आकर सिर झुकाये, उसे हम उमंगपूर्वक दण्डवत् करें।

जो हमारे लिये एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरोंका काम कर दें।

जो हमारे प्राण बचाये, उसका दुःख मिटानेके लिये हम मर मिटें।

उपकारीके प्रति तो मनसा, वाचा, कर्मणा दसगुना उपकार करना ही चाहिये; पर संसारमें जीवन तो उसीका सार्थक माना जायगा जो अपकारीके प्रति भी उपकार करता है।'

अपने बचपनमें बापूने कहीं इस छप्पयको पढ़ लिया और तबसे यह उनके हृदयका हार बन बैठा। आत्मकथामें वे लिखते हैं—

'नीतिका यह छप्पय हृदयमें बस गया। अपकारका बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है। यह बात जीवनका सूत्र बन गयी। उसने मुझपर साम्राज्य चलाना शुरू किया। अपकारीका भला चाहना और करना मेरे अनुरागका विषय बन गया। मैंने उसके अनगिनत प्रयोग किये।'

आइये, हम-आप भी इस छप्पयको अपना पथ-प्रदर्शक मानकर जीवनमें इसके प्रयोग करें और फिर तो हमारा रोम-रोम पुकार उठेगा—

'खंजर को चूस चूस के कहते हैं मेरे जख्म,
ज़ालिम ! मजे भरे हुए तुझमें कहाँ के हैं।'

◆

भगवान् सदा मेरे साथ हैं

जहाँ कहीं भी, जिस किसी भी परिस्थितिमें मैं हूँ, मैं सदा भगवान्के साथ हूँ, मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं।

मैं भगवान्के साथ हूँ। मैं चिन्ताओंसे मुक्त हूँ। अभावका कोई भी विचार मेरे मस्तिष्कमें स्थान नहीं पा सकता। जैसे एक स्नेही पिता अपनी संतानके लिये सभी आवश्यक वस्तुओंको जुटाता है, वैसे ही भगवान् मेरे लिये पर्याप्त सामग्रियाँ सँजोते रहते हैं। मैं यथेच्छ उनका उपभोग करता हूँ, फिर भी वे बच रहती हैं।

भगवान् सदा मेरे साथ हैं। मैं भयसे मुक्त हूँ। भगवान्की उपस्थिति भयके अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर देती है और मैं सदा प्रकाशमें रहता हूँ। जब मैं शान्तभावसे कहता हूँ—'भगवान् ही एकमात्र मेरे आश्रय हैं, मैं किसी भी स्थितिमें विचलित नहीं होऊँगा', तो बाहरी भय, प्रतिकूलताएँ एवं कठिनाइयाँ तत्क्षण विलीन हो जाती हैं।

मैं सदा भगवान्के साथ हूँ। जब मैं भगवान्की संनिधिको अनुभव करता हूँ, तब अपनेको पूर्ण स्वतन्त्र—समस्त भयों और प्रतिकूलताओंसे सर्वथा मुक्त पाता हूँ। मेरा जीवन विस्तृत एवं अभाव-रहित है और मेरा हृदय भगवदीय प्रेमसे भरा है। मैं कभी भी अपनेको दुखी या अकेला अनुभव नहीं कर सकता; क्योंकि भगवान् सदा मेरे साथ हैं।

भगवान् सदा मेरे साथ हैं।

—

◆

भक्त तहसीलदार

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

लाला मथुरादासजी एक योगभ्रष्ट व्यक्ति थे। इनका जन्म विक्रम संवत् १९३० में लाला नारायणदास सेठीके गृह लाहौरमें हुआ था। इनके पूज्य पिता एकाउंटेंट-जनरल पंजाबके कार्यालयमें सुपरिंटेंडेंट थे। यह तो इनकी प्रभु-निर्मित जीविका-वृत्ति थी। परंतु इनका मन सदा साधनमें लगा रहता था। प्रातःकाल प्रतिदिन तीन बजेसे पहले उठकर स्नान करके आसनपर बैठ जाते और आठ बजेके बाद उठते।

इनकी माता परम भक्तिमती सरलहृदया स्त्रीरत्न थीं। वे प्रातःकालसे ही गुरुवाणीका पाठ करने लगतीं और नित्य दोपहरतक घरका काम-काज भी करती रहतीं और पाठ भी चलता रहता। हाथ काममें, मन भगवान्में—यह इनकी कर्म-विधि थी। इनकी पहली संतान जाती रही थी। फिर कई वर्ष कोई संतान नहीं हुई। मातृ-हृदय पुत्रके लिये छटपटाने लगा। वे कहा करतीं कि एक बार मेरे पुत्र हो जाय तो फिर चाहे मेरा शरीर न रहे। भवितव्यता ही इनसे ये वचन कहलाती थी। क्योंकि इनको प्रसवके दूसरे दिनसे ही प्रसूतिज्वर आने लगा और चालीसवें दिन ये हमारे चरित्रनायकको मातृहीन करके परलोक सिधार गयीं। इनको पालनेके लिये एक ब्राह्मणी धायरूपसे नियत कर दी गयी थी। इन्होंने अपनी माताका दूध नहीं पिया।

योगभ्रष्ट होनेके कारण इनको बहुत ही छोटी आयुमें अपने महामना पिताकी सेवा करनेकी प्रवृत्ति जाग्रत् हो गयी। यह उनके हाथ धोनेके लिये मिट्टी तथा जल ला देते। इनको पंखा करते और चरण-सेवा भी करते। इनके पिताके मित्रने इनको बाल-सुलभ खेल-कूद छोड़कर बड़े प्रेम तथा विनयसे अपने पिताकी सेवा करते देख इनसे कहा था कि यह बालक विलक्षण है, जो इतनी छोटी आयुमें इस प्रकार दत्तचित्त होकर आपकी सेवा करता है। इनके पिताने उत्तर दिया कि 'मैं तो नहीं देखूँगा, परंतु यह एक दिन न्यायकी गद्दीपर आसीन होगा।'

इन्होंने अपने पितासे विनयपूर्वक रात्रिको अपने मित्रसे इनके विषयमें की हुई भविष्यवाणीके सम्बन्धमें पूछा तो उन्होंने कहा कि 'तुम छोटे पदसे जीवन आरम्भ करके एक गण्य-मान्य अधिकारी हो जाओगे। उस समय मेरी यह एक शिक्षा स्मरण रखना कि सदा निष्पक्ष न्याय करना। पाँच-छः वर्षकी अवस्थामें ही इनके पिता इनको अनाथ छोड़कर कैलासवासी हो गये थे।

उस समयकी प्रथाके अनुसार इनका विवाह छोटी आयुमें ही हो गया था, परंतु ये पढ़ने-लिखनेमें मन लगाये रहे। इन्होंने एक ही वर्षमें कलकत्ता तथा लाहौर विश्वविद्यालयोंकी प्रवेशिका परीक्षाओं (मैट्रिक) में बहुत उच्च स्थान प्राप्त किया। इस बीच इनके दादा-दादीका भी देहान्त हो गया। इनके चचा इनको अपने साथ रखना नहीं चाहते थे। इसलिये इनको बाध्य होकर पहले एक व्यवसायीके यहाँ लाहौरमें रहना पड़ा और फिर इनके मामाके प्रयत्नसे, जो सेनामें अधिकारी थे, इनको अम्बालामें शाही-सेवा-सेनाके निरीक्षक (Inspector Imperial Service Troops) के कार्यालयमें स्थान मिल गया और यह अपनी विमाता तथा स्त्रीसहित अम्बालामें रहने लगे।

जो व्यक्ति जैसा होता है, उसको सङ्ग भी वैसा ही मिल जाता है अथवा वह स्वयं ढूँढ़ लेता है। अम्बालामें इनको एक सच्चे संत ईश्वरसिंहजीका सत्सङ्ग प्राप्त हुआ, जो एक अनुभवी महात्मा थे और डाकबाबूका काम करते थे। उनकी कृपासे इनको स्वप्नमें श्रीगोपीनाथके दर्शन हुए और उन्होंने इनके मोहको दूर कर दिया।

ये एक बार अपने अंग्रेज अफसरके साथ धूरीमें दौरेपर गये। शीतकाल था। कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था। बरफानी वायु चल रही थी, जो तीरकी भाँति शरीरको लगती थी। एक फकीर इस जाड़ेमें खड़ा काँप रहा था, उसके दाँतसे दाँत बज रहे थे। इन्होंने पूछा—शाह साहिब! क्या हाल है ?

फकीर बोला—क्या आप देख नहीं रहे ?

इन्होंने कहा—मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?

फकीरने उत्तर दिया—यह भी क्या पूछनेकी बात है ?

फकीरके वास्तविक कष्टको देखकर इनका हृदय दयासे द्रवित हो गया और इन्होंने अपना नया ऊनी कोट, जो यह पहिली ही बार पहनकर दौरेपर आये थे, उतारकर फकीरको पहना दिया। डेरेपर आये तो ध्यान आया कि अफसरके सामने कोट बिना जाना उचित नहीं है तो आज्ञा लेकर

अम्बाला गये और वहाँसे अपना पुराना कोट पहिनकर आये। एक समय ये अपनी सेनाके साथ चीन देश गये। वहाँ इनको अपनी सेनाके साथ घोर हिमपातके समय पैदल यात्रा करनी पड़ी। अत्यन्त शीतसे पीड़ित, यात्रासे क्लान्त तो थे ही, क्षुधाने व्यथित कर दिया। ये प्रेमसे भगवच्चिन्तन कर रहे थे कि इनको एक रेलका स्टेशन दृष्टि पड़ा, जिसका नाम टूफा था।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

श्रीभगवान्‌से अपने भक्तका कष्ट सहा नहीं गया। एक व्यक्ति स्टेशनसे आया और इनको कहने लगा कि चलिये, प्रसाद पाइये। वहाँ एक पंजाबी सज्जन थे, जिन्होंने इनको भोजन करनेके लिये बुलाया था। इन्होंने उससे पूछा कि 'भाई साहब! मेरा और आपका कोई परिचय नहीं, फिर आपने मुझे भोजनके लिये कैसे निमन्त्रित किया?' वे कहने लगे कि 'मैंने सेवकसे प्रातः दो व्यक्तियोंके लिये भोजन बनानेको कहा था; परंतु उसने भूलसे तीनके लिये बना लिया। यह बात मुझे अभी ज्ञात हुई थी और मैंने आपको सामने आते देखा तो मनमें प्रेरणा हुई कि ये यात्रासे थके होंगे और इन्हें क्षुधा भी लग रही होगी, इसलिये इन्हें भोजन करा दो।' इन्होंने प्रभुकृपाका प्रत्यक्ष अनुभव किया और गद्गद हो गये। प्रेमसे प्रसाद पाया। आती बार रेलद्वारा आप जब स्टेशनपर पहुँचे तो इनके मित्र एक सूबेदारने इनसे कहा कि 'आपके लिये चाय स्टोवपर धरी है।' धन्य हैं भक्तवत्सल भगवान्, जो अपने भक्तोंकी सदा सार-सँभाल रखते हैं।

इनकी कर्तव्यपरायणता और कार्यनिपुणता तथा अन्य सद्गुणोंके कारण इनकी उत्तरोत्तर पद-वृद्धि तथा वेतन-वृद्धि होती गयी और इनको इसी सेना-विभागके मुख्य कार्यालयमें शिमले स्थानान्तरित कर दिया गया। वहाँ इनको मास्टर फकीरचन्द्रजीके सत्सङ्गका लाभ मिला। मास्टरजी सच्चे महात्मा थे। ये उनकी भक्ति, ज्ञान, प्रभु-प्रेमपर मुग्ध हो गये और उनसे दीक्षाकी प्रार्थना की। मास्टरजीने उत्तर दिया कि 'भाई साहब, हम तो सहपाठी हैं। आपके गुरु तो एक महापुरुष हैं, जिनके मिलनेमें अभी विलम्ब है।'

सम्राट् जार्ज पञ्चम वेल्सके राजकुमारके रूपमें भारतकी यात्राके लिये आये थे। उनके सैनिक-सचिवके पदपर इनके अफसरको नियत किया गया और उन्होंने इनको अपना यात्रासहायक कर्मचारी नियत किया। यह कार्य बड़े महत्त्वका था। हैदराबादकी यात्रामें राजकुमारके आखेट-शिविरपर उनकी निजी पताका, जो भूलसे नहीं लगायी गयी थी, इन्होंने हैदराबादसे मोटरद्वारा मँगाकर लगा दी; नहीं तो इनके अफसरकी बड़ी अपकीर्ति होती। जब सभी कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न हो गया और राजकुमार अपने देशके लिये लौट गये, तब इनके अफसरने इनको बुलाकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और इनको इनके इच्छानुसार तहसीलदार बनाये जानेका आदेश दिलवा दिया; परंतु किन्हीं कारणवश तहसीलदार बनाये जानेमें विलम्ब हो गया। तबतक राजकुमार सम्राट् जार्ज पञ्चम बनकर सन् १९१२ में भारतमें राज्याभिषेकके लिये पधारे। इनके अपने अफसर अबकी बार महारानी मेरीके निजी सचिव (Private Secretary) बने और ये फिर उनके यात्रासहायक कर्मचारी नियत हुए। इस बार भी इन्होंने इतनी दक्षताके साथ कार्य किया कि इनको सम्राट्‌ने स्वयं बुलाकर अपनी महारानी तथा अपनी ओरसे प्रसन्नता प्रकट की और इनको राय साहबकी उपाधि दिये जानेकी आज्ञा दे दी। इनको अब तहसीलदार नियत किये जानेका आदेश हो गया।

उस समय पंजाबमें तहसीलदारका पद बड़े गौरव तथा उत्तरदायित्वका माना जाता था। इस पदपर काम करनेके पहले मालका कार्य सीखनेके लिये पटवारीका काम सीखना होता है। इनको इस सम्बन्धमें दिल्ली प्रान्तमें सिंही ग्राममें भेजा गया, जहाँसे थोड़ी दूरपर एक संत रहते थे, जो सरकारी कर्मचारी तथा अधिकारी लोगोंसे दूर रहते थे। उनको इन्होंने पृथ्वीपर गिरकर सविनय दण्डवत्-प्रणाम करके प्रसन्न कर लिया। फिर सत्सङ्ग तथा कीर्तनका आनन्द आने लगा, जिसमें सारे गाँवकी जनता प्रेमसे भाग लेने लगी। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर इनको तहसीलदारके पदका भार दिया गया।

अब इनको अपने महामना पिताकी शिक्षाका स्मरण हुआ। इन्होंने यह नियम बना लिया था कि हर एक मुकदमेका फैसला लिखनेके पूर्व ये प्रभुसे प्रार्थना करते कि मेरा न्यायादेश (फैसला) केवल सत्यपर निर्धारित हो। इसलिये इनके न्यायादेश प्रायः उच्च न्यायालयोंमें पुष्टि प्राप्त करने लगे।

भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्वजगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' इन्होंने अपने सरकारी कामको सदा प्रभु-पूजारूपमें देखा। इनका विचार था कि 'यह पद मुझको भगवान्ने दिया है और यह काम भी भगवान्का ही है। मेरा कर्तव्य इतना ही है कि प्रभुदत्त बुद्धिके अनुसार सभी कार्य निष्पक्षभावसे उत्तम-से-उत्तम रूपसे करूँ।'

इनकी पहली धर्मपत्नी दो बालक और एक कन्या छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी थी। इन नन्हे-नन्हे बाल-बच्चोंको पालनेके लिये इनको दूसरा विवाह करना पड़ा, जिससे चार कन्याएँ हुई। जिनमें देवी कृष्णा आयुमें कनिष्ठ परंतु आध्यात्मिक गुणोंमें सर्वोत्कृष्ट हैं। इनको सच्चे गुरुकी खोज तो बहुत समयसे थी; जब ये स्यालकोटमें तहसीलदार थे, तब इन्होंने एक दिन गोलोकवासी श्री १००८ मधुसूदन गोस्वामीजीसे दीक्षा लेनेका निश्चय कर लिया और कचहरीसे सीधे ही अपनी धर्मपत्नी तथा चपरासीको लेकर वृन्दावनके लिये चल पड़े। इन्होंने पंजाबी अधिकारी-वर्गके प्रथानुसार कोट, पैंट, हैट, कालर, नकटाई पहन रखे थे। इनकी वेष-भूषाको देखकर कोई अनुमान नहीं लगा सकता था कि ये भी एक भक्त हैं, जो गुरु-दीक्षाके लिये श्रीवृन्दावन धाममें पधारे हैं; परंतु इनके गुरु महाराजने अपने शिष्यको पहचान लिया और एक सज्जनके पूछनेपर कि आप कौन हैं कह दिया कि यह भी श्रीराधाकृष्ण-कृपाधिकारी हैं, जिससे इनका मन प्रफुल्लित हो उठा। उन्होंने इनको विधिवत् दीक्षा दी।

राय साहब श्रीमथुरादासजी कहा करते थे कि जितना आनन्द मुझको दीक्षा लेनेपर हुआ, उतना जीवनमें कभी नहीं हुआ। इनकी विचित्र दशा देखकर इनके अरदली अमरनाथने इनकी आज्ञासे श्रीगुरु महाराजके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—महाराजजी ! न मेरे पास धन है, न विद्या है और न बुद्धि है—मेरा कल्याण कैसे होगा ? गुरु महाराजने कहा कि 'तुम्हारा कल्याण तुम्हारे तहसीलदार तथा उनकी धर्मपत्नीसे भी पहले होगा।' और उसको भी विधिवत् दीक्षा दे दी। कुछ समय पश्चात् अमरनाथको मोतीझरा हो गया। लाला मथुरादासजी अपना आश्रित तथा गुरुभाई होनेके नाते उसकी प्रेमपूर्वक सेवा-शुश्रूषा करते रहे। जब उसका अन्त समय आ गया, तब वह प्रफुल्लित हो उठा कि श्रीराधाकृष्ण तथा श्रीगुरुमहाराजने कृपा करके मुझे दर्शन दिये हैं; और आनन्दसे प्रभुचरणोंमें लीन हो गया।

जब इनकी सरकारी सेवाका समय समाप्त होने लगा, तब इनके अफसरोंने इनको दो वर्ष अधिक समय सेवाके लिये देनेका प्रस्ताव किया; क्योंकि वे इनसे बहुत ही प्रसन्न थे; परंतु श्रीकृष्णप्रेमी लालाजी तो श्रीधामवृन्दावनके लिये छटपटा रहे थे। इन्होंने नकारात्मक उत्तर दे दिया—

रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

घर-बार, जाति-परिवारको त्यागकर ये श्रीकृष्णप्रेमी भक्त श्रीधामवृन्दावनमें अपनी धर्मपत्नी तथा कनिष्ठ सुपुत्री देवी कृष्णाको लेकर आ गये। इन्होंने अपनी संतानके प्रति अपने कर्तव्यको पूरा कर लिया था। पुत्रोंके विवाह तथा जीविकाका प्रबन्ध हो चुका था और कन्याओंके विवाह भी कर दिये थे; परंतु श्रीकृष्णचकोरी कृष्णादेवीने विवाह तथा गृहस्थीके जंजालमें न पड़कर श्रीकृष्णको पानेका लक्ष्य स्थिर कर लिया और एक विरहिणी गोपिकाकी भाँति तप-वैराग्य, भजन-कीर्तनको अपना सर्वस्व मानकर वृन्दावन-विहारीके चरणोंमें जीवन बिताया और अन्तमें संन्यास ले लिया।

देवी कृष्णा बिना इनको वृन्दावन सूना-सूना लगने लगा और ये कृष्णनगर मथुरामें रहने लगे, जहाँ इनको अबसे तीन मास पहले अप्रैलके अन्तमें व्रजरज प्राप्त हो गयी, जिसके लिये सभी कृष्णभक्त तथा देवगण ललचाया करते हैं।

वृन्दावनमें इनका जीवन भजन-पूजनमें ही लगता रहता। श्रीयमुनाजीमें स्नान करके श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शन और तीसरे पहर गोपीनाथबाजारमें बँगला-कथा सुनना—यह इनका नित्यका कार्य था। इनके घरमें संत-महात्माओंका आगमन तथा सत्सङ्ग देवी कृष्णाके अलौकिक भावपूर्ण कीर्तनके कारण होता ही रहता था, जिनकी ये बड़े प्रेमसे सत्कार-सेवा किया करते थे।

एक प्रेमी भक्तका अपने परमप्रिय भगवान्के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह उसके अपने गोप्य अनुभवकी बात होती है और प्रायः गुप्त ही रहती है; परंतु कभी-कभी कोई विचित्र घटना ऐसी भी हो जाया करती है, जिसका गुप्त रखना असम्भव हो जाता है।

अभी तीन-चार वर्ष पहलेकी बात है। इनकी आयु अस्सी वर्षकी होगी और अभी ये वृन्दावनमें ही वास करते थे कि अक्षयतृतीयाको एक ऐसी ही घटना घटी।

श्रीबिहारीजी महाराजके श्रीचरणोंके दर्शन वर्षभरमें केवल एक दिन—अक्षयतृतीयाको होते हैं, नहीं तो वे सदा वस्त्राच्छादित रहते हैं। उस दिन दर्शनोंके लिये सदा ही अपार भीड़ एकत्रित होती है और भीड़में धक्कम-धक्का भी हो जाता है। ये अपनी धर्मपत्नीके साथ दर्शनके लिये गये तो भयानक भीड़में घिर गये। इनका वृद्ध शरीर था, इसलिये इनकी धर्मपत्नी इनको भीड़से निकालकर एक सुरक्षित स्थानमें ले गयी, जहाँ केवल महिलाएँ ही खड़ी थीं। मन्दिरके एक गोस्वामी स्वरूपने महिलाओंमें एक पुरुषको देखा तो वह आपेसे बाहर हो गया और उसने इनको बुरी तरहसे फटकारा। इससे दुःखित होकर इन्होंने मनमें श्रीबिहारीजीसे कहा कि आपके अपने मन्दिरमें तो मेरे साथ ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये। यह विचार आते ही श्रीबिहारीजी महाराज इनके सम्मुख प्रकट हो गये और कहने लगे कि प्र गोस्वामी स्वरूपका ऐसा ही स्वभाव है, इनको क्षमा कर दो और फिर अपने लक्ष्मीपूजित अलौकिकमणिविभूषित चरणों को इनके आगे करके कहने लगे कि 'लो, चरणदर्शन करो।' इनका हृदय प्रभुकी अभूतपूर्व कृपाका अनुभव करके द्रवित हो गया और इनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। गोस्वामी स्वरूपने यह समझा कि मेरी फटकारसे रो रहे हैं और वह विनयावनत होकर इनसे क्षमा-प्रार्थना करने लगा। उसी दिन सायंकाल जब इनके दर्शन हुए, तब वे प्रभुदर्शनके आनन्दमें झूम रहे थे। इनके जीवनमें अनेक अलौकिक घटनाएँ हुई थीं, जैसा सभी प्रभुभक्तोंके जीवनमें होता है; परंतु उनका लिखना आवश्यक नहीं।

'बोलो भक्त और भक्तवत्सल भगवान्‌की जय!'

◆

बच्चोंको उच्च-चरित्र बनाया जाय

(लेखक—श्रीमहावीरजी त्यागी)

'स्टेशनमास्टर साब! पापा आज नहीं जायँगे, तुम अपनी रेलको जल्दी-जल्दी छोड़ देना।' टेलीफोनपर कोई ऊटपटांग नंबर मिलाकर नानू (मेरे ४ वर्षके नाती)-ने उपर्युक्त वाक्य कहकर टेलीफोन रख दिया, और मुझसे आकर कहा—'पापा! मैंने रेलवालोंको बोल दिया है कि पापाको देर हो जायगी, तुम रेलको रोकते रहना। तुम धीरे-धीरे खाना खाओ और फिर कुछ देर आराम करके स्टेशन जाना।' नानूने पहली बार इतने बड़े जाल-बट्टेका खेल खेला। मुझे रातकी गाड़ीसे देहरादून जाना था। सीट बुक हो चुकी थी, और बिस्तरा बँध रहा था। उन्हें मेरा बाहर जाना पसंद नहीं है, क्योंकि वे रोज रातको मेरे पास सोते हैं और कहानी सुनते हैं। दिनमें कई बार अपनी अम्मीकी शिकायत लगाकर जिद करते हैं कि अम्मीको डाँटो। मैं झूठ-मूठ "खबरदार! मेरे नानूको तंग किया तो" कह देता हूँ। फिर उसके मुँहको देखकर कहते हैं—'पापा, इतने जोरसे डाँटो कि अम्मीको रुला दो।' वह झूठ-मूठ रो देती है। हमारा सबका ख्याल था कि घरभरमें ये नानू मुझको सबसे ज्यादा प्यार करते हैं। आज मैंने परीक्षा ले ली; पूछा कि 'नानू! तुम मेरे साथ देहरादून चलोगे या अम्मीके साथ दिल्ली रहोगे?' उन्होंने दोनोंकी ओर बारी-बारीसे देखा और अम्मीकी गोदकी ओर बढ़ते हुए बोले 'मैं अम्मीके पास!' वैसे तो मैं जानता था कि खून पानीसे गाढ़ा होता है; फिर भी जरा मलाल हुआ कि कैसा छलिया है यह! कागज तो मेरे फाड़ता है, दिन-रात बंदरके बच्चेकी तरह मेरे पीछे-पीछे लगा रहता है; पर सचमुच वह प्यार करता है अपनी अम्मीको।

फिर उसकी टेलीफोनवाली बात याद करके तो

मुझे सचमुच अपनेसे ग्लानि होने लगी; क्योंकि वास्तवमें दोषी मैं ही हूँ । उसने आजतक जो कुछ भी सीखा है, मुझसे सीखा है । मैं ही हूँ कि जो अपने दुधमुँहे निर्दोष नातीके मानसिक विकासमें जहर-भरे इंजेक्शन लगा रहा हूँ । कहनेको तो हम सब बड़ी उम्रवाले बच्चोंको खेलाते हैं; पर, जैसा कि मेरे एक मित्रने बताया, 'वास्तवमें हम बच्चोंको खेलानेके बजाय खुद उनसे खेलते हैं । वे हमारे खिलौने हैं, उनसे हम जी बहलाते हैं और उनके बहाने हम चाहे जितना नाचें-गायें, खेल करें, कुत्तेकी बोली बोलें या बिल्लीकी, दुनिया हमारी हँसी नहीं उड़ाती । 'यह देखो बिल्ली आयी ।' कौवे ! नानूका कान पकड़के इसे पेड़पर ले जा ।' मत आना कौवे; पापा तुझे पकड़के अपनी जेबमें छिपा लेंगे, फिर रोते फिरोगे, हाँ ।' कभी मुट्ठीमें पैसे छिपाकर उसे छूमंतरसे उड़ा देता है—चिड़िया ले गयी । हमारी तरह वह भी छूमंतर, 'काली कलकत्तेवाली' कहकर चीजोंको छिपाने लगा । मैं मजे ले रहा हूँ । रातको रोज कहानी सुनानी पड़ती है । कहाँतक नित-नयी कहानियाँ सुनाऊँ, झूठ-मूठकी मनगढ़ंत सुनानी पड़ती हैं—वह भी चोर-उचक्के, भूत-प्रेत, जेबकतरे, ठग, शराबी, पागल और तीतर-बटेरकी । जो भी हमें स्वयं प्रिय लगता है, उसी विषयकी सुनाता हूँ और उसी स्तरकी खिलवाड़ करता हूँ । ठीक उन्हीं दिनोंमें, जब उसके भावी चरित्र और प्रारब्धकी नींव पड़ रही है—दो वर्षकी आयुसे सात वर्षकी आयुतक—हम अपनी संतानके मनमें स्वार्थ, भय, लालच, चोरी-जारी, जालसाजी, कतल, खून और बदमाशीके संस्कार ऐसे कूट-कूटकर भर देते हैं कि जैसे किसी विशाल भवनकी नींव कूटी जाती हो । इन बुनियादी विषैले भावोंकी जड़ मजबूत तथा बड़ी हो जानेपर उसे ऊँची-से-ऊँची धर्म-शिक्षा भी नहीं काट सकती । इसी तरह अपने हाथों हम अपनी संतानको चरित्रहीन बनाकर उम्रभर रोते हैं । मेरा विश्वास है कि हर व्यक्तिके चरित्रमें अपने बचपनकी झलक अवश्य मिलती है । इसीलिये बड़ोंने कहा है कि पूतके पाँव पालनेमें ही दीख जाते हैं ।

एक डाक्टरको, जो बीस वर्षसे विलायतमें काम करते हैं और जो कुछ दिनोंके लिये दिल्ली आये थे, मैंने उनकी मुस्कराहटसे पहचान लिया कि वे श्रीराजगोपालाचार्यके निकटसम्पर्कमें रहे होंगे । उन्हें आश्चर्य हुआ; क्योंकि जैसा उन्होंने बताया, वे बचपनसे राजाजीके साथ खेले और पढ़े थे ।

हमारी सरकार भारतके उत्थानके लिये तरह-तरहकी आयोजनाएँ बना रही है और आर्थिक संकटोंका सामना भी कर रही है; पर आर्थिक नीति, विज्ञान, उपयोग और व्यवसायकी वृद्धिसे हमारा क्या लाभ होगा यदि हमारा नैतिक स्तर ऊँचा न हो सका, आज हम देखती आँखों अपनी संतानका ह्रास देख रहे हैं । यह ह्रास केवल स्कूल-कालेजके बच्चोंको अनुशासनकी शिक्षा देनेसे नहीं रुकेगा; इसके लिये हमें अपनी माके पास सोते हुए उन बच्चोंको पकड़ना होगा कि जो कहानी सुननेके लिये उतावले हो रहे हैं । वास्तवमें ये कहानियाँ नैतिक उत्थानकी रामबाण गोलियाँ हैं । आज किसी माँको भी आदर्श कहानियाँ याद नहीं है, न किसीको यह अधिकार है (चाहे वह माँ ही क्यों न हो) कि भारतकी भावी संततिके संस्कारोंको आजन्म रोगी बना दे ।

सरकारको चाहिये कि वह मनोविज्ञानके पण्डितोंका एक ऐसा बोर्ड बिठाये कि जो एक ऐसी प्रतियोगिताकी घोषणा कर दे, जिससे भारतके तमाम भाषाओंके लेखक अच्छी-से-अच्छी कहानियाँ लिखें और उनमेंसे जिनकी कहानियाँ 'अबोध-शिक्षा-कोष' के लिये स्वीकार हो

जायँ, उनको प्रति कहानीके लिये कम-से-कम (१००) रु० पुरस्कार दिया जाय। फिर इस प्रकार इकट्ठी की हुई सारी कहानियाँ समाजके विकासके अनुसार दो वर्षसे सात वर्षके बच्चोंके लिये छः पुस्तकोंके रूपमें हर भाषामें छपवा दी जायँ और उनकी कम-से-कम एक करोड़ प्रतियाँ घर-घरमें मुफ्त बाँट दी जायँ।

मेरी यह भी सलाह है कि रोज रात्रिको साढ़े आठ बजे कम-से-कम एक कहानी रेडियोपर बच्चोंको हर भाषामें सुना दी जाय। यदि भारतको उठाना है तो उसकी नींव मजबूत करनी पड़ेगी।

साधकके उद्गार

(१)

× × × जब मैं यमुना-पुलिनपर जाता हूँ, तब कालिन्दीकी नील-कृष्णधाराको देखकर प्रभु श्रीकृष्णकी स्मृति अत्यधिक बढ़ जाती है। श्रीराधा-माधवके चरण-कमल-मकरन्दका चित्त-चञ्चरीक रस-पान करने लगता है। संसार वहाँ नहीं रहता। मेरे मानस-सरोवरमें अद्भुत आनन्द और महान् शान्तिकी ऊर्मियाँ उठने लगती हैं। मैं अपने-आपको भूल जाता हूँ। उस समय मुझे कितना सुख मिलता है, इसकी कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। मनमें आ रही है—कहीं एकान्त स्थान हो, जन-समुदायका आवागमन वहाँ न हो, वहाँ यमुना-पुलिनपर जाकर बैठा रहूँ और श्रीराधा-माधवके चरणोंकी प्रेम-सुधा-सरितामें इतना निमग्न हो जाऊँ कि संसारकी कोई कल्पना भी मनमें न उठने पाये। प्रभुसे प्रार्थना है वे ऐसा सुअवसर और सौभाग्य दें, जिसमें उनकी चरण-स्मृतिके स्मरण-दर्शनके अतिरिक्त और कुछ मेरे लिये रह ही न जाय।

(२)

प्रभो! आप महान् हैं; मैं अत्यन्त तुच्छ, नगण्य, अघमूर्ति। पर आप कितने दयालु हैं, कितने अकारण सुहृद् हैं कि अपने दयामय परम कोमल स्वभावकी ओर देखकर मुझपर कृपा-प्रेम करते हैं। मेरा विश्वास है आपकी कृपाकी, प्रेमसुधाकी वृष्टि सदा सर्वत्र यों ही होती रहेगी। मुझ नगण्यके प्रति आपका प्यार उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जायगा। मैं तो असंख्य दुर्बलताओंसे भरा हूँ। कहाँ आप, कहाँ मैं। जैसे दिन और रात्रिका भेद है, जैसे सूर्य और अन्धकारमें अन्तर है, वैसा ही आपमें और मुझमें महान् अन्तर है। मैं अपनी ओर देखता हूँ तो आपकी कृपाका एक कण भी पाने योग्य नहीं हूँ। पर आपकी कृपा, आपका स्नेह इस प्रकार मिल रहा है कि जिसका कहीं कोई ओर-छोर ही नहीं है। इसीसे मन सदा प्रभुके चरणोंमें ही लगा रहना चाहता है। इस मनको इस प्रकार अपने चरणोंकी प्रीति-सुधा-समुद्रमें डुबा दीजिये कि फिर यह कभी बाहर निकले ही नहीं। संसारकी किसी भी वस्तु, स्थिति या प्राणीमें ममता-आसक्ति हो ही नहीं। सारी ममता, सारी आसक्ति प्रभुके श्रीचरणोंमें आकर एकत्र हो जाय—एकमात्र प्रभुके चरणोंमें ही समा जाय।

मा कर्मफलहेतुर्भूः

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'आप रक्षा कर सकते हैं—आप बचा सकते हैं मेरे बच्चेको ।' वह वृद्धा क्रन्दन कर रही थी । 'आप योगी हैं । आप महात्मा हैं । मेरे और कोई सहारा नहीं है ।'

उस वृद्धाका एकमात्र पुत्र रोगशय्यापर पड़ा था । आज तीन महीने हो गये, कुछ पता नहीं चलता कि उसे हुआ क्या है । उसे भूख लगती नहीं, मस्तकमें भयंकर पीड़ा होती है । पड़े-पड़े कराहता तो क्या, आर्तनाद किया करता है ।

वृद्धाके और कोई नहीं । उसके बुढ़ापेका सहारा उसका यह युवा पुत्र—इसी वर्ष उसका द्विरागमन होना था—अब क्या होगा ? वैद्य-हकीम सभी तो कर लिये । घरमें जो कुछ था—गहने ही नहीं, बर्तनतक बिक गये । जिसने जो बताया, वही किया; किंतु रोग है कि बीससे उन्नीस होनेका नाम नहीं लेता ।

झाड़-फूँक, टोने-टोटके, यन्त्र-मन्त्र—कुछ बाकी नहीं । दुखी पुरुष इधर-उधर हाथ मारता है । बेचारी वृद्धा बहुत ही दुखी—अत्यन्त आर्त है । पता नहीं, किसके-किसके उसने पैर पकड़े हैं । आज सुना कि बंदा बैरागी आये हैं तो दौड़ पड़ी । उसने सुना है कि बंदा योगी हैं । गुरुने अपना तेज दे दिया है बंदाको । वे महापुरुष हैं । अकाल पुरुषकी ज्योति उनमें उतरी है । वे अत्यन्त दयालु हैं, तब क्या उसपर दया नहीं करेंगे ।

बंदाके पास पहुँचकर वह सीधे उनके पैरोंपर गिर पड़ी । दोनों हाथोंमें उनके पैर पकड़कर लिपट गयी । जबतक महापुरुष कृपा नहीं करेंगे, वह उनके पैर नहीं छोड़ेगी ।

'माँ !' बंदा चौंक पड़े । उन्होंने बड़ी कठिनाईसे वृद्धाको अपने पैरोंपरसे उठाया । वृद्धाने रोते हुए कहा—'मेरा बेटा मरणासन्न है; आप आशीर्वाद दें, वह अच्छा हो जाय । आपके आशीर्वादसे वह अवश्य रोगमुक्त हो जायगा ।'

'मैं क्या आशीर्वाद दूँगा । मेरे पास तो न कोई सिद्धि है, न तपस्याकी शक्ति और न पुण्य ।' बन्दाने समझानेका प्रयत्न किया । 'कुछ कार्य मेरे द्वारा होता भी है तो वह परम पुरुषकी कृपा और गुरुकी प्रेरणासे । मैं कौन होता हूँ । जिसकी शक्ति कार्य कराती है, कार्यके फल उसके ।'

'आप एक चिटकी भस्म दे दें !' बुढ़िया इस समय उपदेश सुनने-समझनेकी स्थितिमें नहीं थी । वह गिड़गिड़ा रही थी ।

'जैसी जगदम्बाकी आज्ञा !' बंदा अत्यन्त गम्भीर हो उठे । उन्होंने उस बुढ़ियाको मस्तक झुकाया—'आप जगदम्बा ही तो हैं । बच्चेसे जो कराना हो, करा लें ।' और बंदाके अनुचरोंने देखा कि उनका वह प्रसिद्ध सेनानी, आततायियोंका चमत्कारी मूर्त आतङ्क आज सचमुच एक बैरागी बन गया है । एक साधुकी गम्भीरतासे बंदाने वृद्धाके पैरोंके पाससे ही एक चिटकी धूलि उठायी, उसे मस्तकतक ले गये, एक बार दृष्टि आकाशकी ओर गयी और वह धूलि उन्होंने वृद्धाके हाथपर रख दी ।

'मेरा बेटा अब जी जायगा !' बुढ़िया उल्लासपूर्वक उठ खड़ी हुई । उसने नहीं देखा कि बंदाके नेत्र भर आये हैं । 'तुम्हारी तपस्या पूरी हो ! तुम

अकाल पुरुषके प्यारे बनो !' आशीर्वादोंकी वर्षा करती वह लौट पड़ी अपने घरकी ओर ।

× × ×

'सूबेदारकी सेना आ रही है । लगता है उसे आपके यहाँ होनेका पता लग गया है । बहुत बड़ी सेना है ।' एक घुड़सवार सिख घोड़ा दौड़ाता आया था । कुछ दूर ही घोड़ेसे वह कूद पड़ा और बंदाके सामने आकर मस्तक झुकाकर खड़ा हो गया । उसका घोड़ा पसीनेसे लथपथ हो रहा था । मुखसे झाग गिरा रहा था । स्पष्ट था कि वह पर्याप्त दूरीसे अत्यधिक वेगपूर्वक दौड़ाया गया है और उसे बीचमें तनिक भी दम नहीं लेने दिया गया है ।

'हमारे साथ इस समय केवल पचीस सैनिक हैं ।' बंदाके समीप खड़े, सुदृढ़काय, विशालदेह पुरुषने बंदाकी ओर देखा—'आप आज्ञा करें तो हमलोग अब भी पर्वततक पहुँच सकते हैं ।'

'छिः !' बंदाके नेत्रोंमें चमक आयी । 'अपने प्राणोंके मोहसे बैरागी इन ग्रामीणोंको भेड़ियोंकी कृपापर छोड़कर भाग जायगा ? तुम्हें भय लगता है ?'

'धीरसिंह कभी डरा नहीं है !' उस भीमकाय पुरुषके नेत्र भी कठोर हुए और उसने अपनी मूँछोंपर हाथ फेरा—'आप सुरक्षित निकल जायँ तो हमारा नेता ही नहीं, हमारा भाग्य सुरक्षित हो गया । मेरे साथ चार सैनिक छोड़ दीजिये, मैं इन आनेवाले कुत्तोंसे सुलझ लूँगा ।'

'अकाल पुरुषके हाथोंमें हम सबका भाग्य सुरक्षित है ।' बंदाने कवच धारण करते-करते कहा । 'बैरागी अपने मित्रोंको शत्रुके बीच छोड़ जायगा, ऐसी आशा तुम उससे नहीं कर सकते !'

'सूबेदारकी सेना आ रही है हमें लूटने और बैरागीने तल्वार उठा ली है ।' अच्छा बड़ा ग्राम था—साधारण कस्बा । बात फैलते देर नहीं लगी । पंजाबी युवकका रक्त कभी शीतल नहीं रहा है और इस समय तो बहती गङ्गामें हाथ धोना था—'बंदा बैरागीका साथ देनेका हमें सौभाग्य मिला है । बैरागी—महाकाली खप्पर लिये युद्धमें जिनके आगे चलती हैं ।'

पूरे पंजाबमें बंदा बैरागी अतिमानव—लोकोत्तर चमत्कारी महापुरुष माने जाते थे । वे पराजित भी किये जा सकते हैं, यह बात कोई सोचतक नहीं सकता था । शत्रु-सेना पाँच सौ है, पाँच हजार है या पचास हजार है—कोई सोचना नहीं चाहता । विजय तो बैरागीके चरणोंमें रहती है । उनके नेतृत्वमें शस्त्र उठाकर यशका लाभ ही तो लेना है ।

'धीरसिंह !' अपने घोड़ेपर बैठते-बैठते बंदाने सहचरको सम्बोधित किया—'हमारे पास केवल पचीस सैनिक नहीं हैं ।'

'मैं आपके नामका प्रताप समझता हूँ ।' धीरसिंहने देखा कि हल पकड़नेवाले हाथ अब भाला या तल्वार उठाये हैं । ग्रामीण तरुणोंकी संख्या बढ़ती जा रही है । वृद्धतक दौड़े आ रहे हैं ।

'प्रताप तो सर्वत्र परमात्माका !' बंदाने किसी अलक्ष्यके प्रति मस्तक झुकाया । 'मिट्टीके किसी पुतलेका प्रताप क्या हो सकता है । तुम इन नवीन सैनिकोंको सँभाल लोगे ?'

'जैसी आपकी आज्ञा !' धीरसिंहने ग्रामीण तरुणोंको परिस्थिति समझायी और व्यूहबद्ध करना प्रारम्भ किया । इतना अनुशासन—कोई दीर्घकालीन सुशिक्षित सेना भी चकित रह जाय; क्योंकि धीरसिंह कह रहे थे—'आप सबके सेनापति इस समय बंदा बैरागी हैं—महायोगी बैरागी । आपको उनकी आज्ञाके एक-एक अक्षरका पालन करना है ।'

'हम पालन करेंगे !' बैरागीकी आज्ञा तो परमात्मा-

की आज्ञा है। उसे अस्वीकार कोई कैसे कर सकता है।

पता नहीं था कि शत्रु किधरसे आक्रमण करेगा, वह ग्रामपर घेरा डालेगा या सीधे घुस पड़ना चाहेगा; किंतु बैरागीने शत्रुकी संख्या या उसके व्यूहकी अपेक्षा कम की है। उनका अश्व जैसे वायुमें उड़ रहा था। उनके आदेश यन्त्रकी भाँति उनके सैनिक—ग्रामीण पालन कर रहे थे। घड़ीभरमें तो गाँवसे एक कोस दूरतक चारों ओर मोर्चा जम गया। वृक्षोंके शिखर, ऊँचे टीले, गहरे खड्ड—सब कहीं बैरागीके सैनिक सावधान बैठ चुके थे और मैदानमें बंदाके साथ चुने हुए दस घुड़सवार धूलि उड़ाते दौड़ लगा रहे थे।

× × ×

सचमुच विजय बंदा बैरागीके चरणोंके पीछे चला करती है। शत्रुका सैन्यदल ठीक कितना था, पता नहीं—पाँच हजारसे अधिक ही होगा। बैरागीके पास सैनिक कुल पचीस थे; और ग्रामीणोंको भी गिन लें तो पाँच सौसे अधिक नहीं। किंतु युद्ध कठिनाईसे तीन घंटे चला होगा।

सेना सूबेदारकी ही थी; किंतु वह न बैरागीको लड़ने आयी थी न उनसे युद्ध करनेको प्रस्तुत थी। वे लोग तो आये थे—गाँवके निरीह लोगोंको लूटने—काफिरोंको कत्ल करके गाजी बनने, साथ ही जेबें गरम करने और हो सके तो कोई सुन्दर-सी लड़की ले जाने! उनके सैनिकोंके भाव इसी प्रकारके थे। सिरका सौदा करनेको उनमें कोई तैयार नहीं था। बैरागीसे सामना हो जायगा, यह उन्हें पता होता तो इधर कदम रखनेकी भूल वे कर नहीं सकते थे।

'अल्लाहो अकबर !' की पुकार करती आततायियोंकी समुद्र-सी उमड़ती वह सेना; किंतु उसने सुना—'सत् श्रीअकाल !', 'वाह गुरुकी फतह !' 'बंदा बैरागीकी जय !' और उनके मुखोंसे 'अल्लाहो अकबर !' बंद हो गया। वे 'या खुदा ! या अल्लाह !' चिल्लाने लगे।

'बंदा बैरागी—शैतानका फरिश्ता यह काफिर !' हवाइयाँ उड़ने लगी शत्रु-सैनिकोंके मुखपर—'शैतान इसके तीरोंको सौगुना कर दिया करता है। मल्कुल मौत इसके साथ दौड़ती है।'

सचमुच मौत दौड़ रही थी बंदाके अश्वके साथ। उनका अश्व जिधरसे निकल जाता था, उनके बाणोंकी बौछार उधर भूमिको लाशोंसे ढक देती थी।

'बैरागी आ गया ! कयामत उतर आयी उसके साथ !' बहुत शीघ्र शत्रुके पैर उखड़ गये। अपने घायलों तकको कराहते छोड़कर वे भागे और भागते चले गये। उन्हें बंदा नहीं, बंदाका भय खदेड़े चला जा रहा था; क्योंकि भागते शत्रुको तो न बैरागी कभी खदेड़ते न उनपर चोट करते।

× × ×

'आपकी कृपासे हमने विजय प्राप्त की !' बंदा युद्धसे लौटे थे और अपने सदाके नियमके अनुसार वे किसी पर्वतपर अकेले ध्यान करने जाना चाहते थे। धीरसिंहने आग्रह किया—'शत्रुसे छीनी सामग्रीके वितरणका तो आप आदेश दे जायँ।'

'आप साक्षात् भगवान् हैं ! आपने मेरे पुत्रको जीवित कर दिया !' सहसा वृद्धा आ गिरी बैरागीके चरणोंपर। उसके साथ आया था उसका पुत्र। अब भी वह बहुत दुर्बल था, किंतु उसके मुखपर आरोग्यकी चमक आ चुकी थी।

'माता, परमात्माको धन्यवाद दो ! तुम्हारे पुत्रको उस दयामयने अच्छा किया है।' बंदा बैरागीने धीरसिंहकी ओर मुख किया—'और भाई तुम भी। विजय उस प्रभुकी हुई और उसीकी शक्तिसे हुई।'

'फल हुआ—वह प्रभुकी कृपा, उनका प्रसाद !' बैरागी अश्वपर बैठते बोले। 'उसे अपने कर्मका फल मानकर पूरे कर्मका उत्तरदायित्व क्यों सिरपर लेते हो !

अपनेको—कर्मफलका कारण कभी मत बनाओ, फलको भगवान्‌पर छोड़ दो। कोई कर्म तुम्हें बाँध नहीं सकेगा।'

बैरागीका अश्व उड़ चला। विजयमें प्राप्त श्रेय तथा सम्पत्ति न कभी वे लेते थे न उसकी व्यवस्थाका आदेश करते थे। वे वीतराग ····

····

प्रफुल्लता

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

मनकी प्रफुल्लता जीवन-संग्राममें सफलता प्राप्त करनेका बड़ा उपयोगी साधन है। इससे मनुष्यके मित्र और प्रशंसक अधिक, और शत्रु एवं विरोधी कम बनते हैं।

मनकी प्रफुल्लतासे मन हल्का रहता है। हल्के मनवाले व्यक्तिका स्वास्थ्य उत्तम रहता और वह दीर्घजीवी होता है। सूर्यकी धूप फूलोंके लिये जो काम करती है, वही मनकी प्रफुल्लता मानवसमाजके लिये करती है; इससे मानवसमाजका बड़ा हित होता और मनुष्यका जीवनमार्ग प्रकाशित और सरल रहता है। मनुष्य महान्-से-महान् विपत्ति और उग्र-से-उग्र परीक्षणमें सहज ही विजयी होता हुआ निकल जाता है। बीमारी, निर्धनता और विपत्ति इन तीनोंका मनुष्यके मनपर बहुत बोझ पड़ता है। हँसमुख व्यक्ति इस बोझके नीचे नहीं दबता, जब कि चिड़चिड़े स्वभावका व्यक्ति इस बोझसे घबराकर, अपना मानसिक संतुलन खोकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। उसकी सहनशीलता सहज ही जवाब दे देती है, जिससे उसका अपना और दूसरोंका अहित हो जाता है।

कार्लायलने एक स्थानपर कहा है कि 'मुझे ऐसे व्यक्ति दे दो, जो अपना काम करते समय गीत गाते हों।' इसका आशय यह है कि हँसमुख व्यक्ति मुहर्रमी सुरतवालोंकी अपेक्षा अधिक पसंद किये जाते हैं; क्योंकि वे लोग कामको अधिक तत्परता, दृढता और शीघ्रतासे कर लेते हैं। मनुष्यका परम पुरुषार्थ यह होता है कि वह संसारके हर्षसमुदायमें अधिक-से-अधिक योग दे। मनकी प्रफुल्लता इस काममें परम सहायक होती है। कुछ लोग तो विपत्ति, असफलता तथा मिथ्या निराशाका कल्पना करके सदा उदास रहते हैं। उन्हें मनकी प्रफुल्लताके अभ्याससे बहुत लाभ होता है, इस प्रकारके व्यक्तिके चारों ओर जीवन और ज्योति छायी रहती है। वह जहाँ जाता और जहाँ रहता है, वहीं आनन्द और आकर्षणका केन्द्र बन जाता है।

प्रफुल्लताके साथ भगवद्विश्वास, मनकी पवित्रता और गम्भीरताका होना आवश्यक है, जिससे मन सदा शुभ संकल्पवाला बने। यजुर्वेदके अ० ३४ के प्रथम ६ मन्त्रोंमें मनको शिव-संकल्पमय बनानेकी प्रार्थनाएँ की गयी हैं। इन तीनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यकी बाहरी और भीतरी सुन्दरता और पवित्रतामें चार चाँद लग जाते हैं। जो चेहरा कभी नहीं मुस्कराता, वह सुघड़ नहीं बन सकता; और जिस चेहरेपर आन्तरिक वा आध्यात्मिक पवित्र मुस्कराहट नहीं आती, वह कभी सुघड़ नहीं बन सकता। क्रोधकी, घृणाकी, अहंकारकी, भयकी, चिड़चिड़ेपनकी भी मुस्कराहट होती है। वे सब आन्तरिक सुघड़तासे शून्य होनेसे अशोभन होती हैं। इस प्रकारकी मुस्कराहटसे हमें बचना चाहिये। संसार ऐसी मुस्कराहट देखना पसंद करता है, जो प्रथम बच्चेके जन्मपर माताके होठोंपर आती है अथवा

घोर-से-घोर आपत्ति, कष्ट और मृत्युके समय भी महान् पुरुषोंके ओठोंपर खेलती है। यह मुस्कराहट भगवद्विश्वास, दिव्यता और प्रेमसे ओतप्रोत होती है। महर्षि दयानन्दके चेहरेपर मृत्युके समय जो मुस्कराहट आयी थी, वह कितनी चामत्कारिक थी—इसका अनुमान इसी बातसे लगाया जा सकता है कि उसने गुरुदत्त-जैसे नास्तिकको आस्तिक बना दिया था। परमात्माकी ओरसे प्रत्येक मनुष्यके लिये आनन्द और प्रकाश प्रवाहित होता है। इस प्रकाश और आनन्दको वे ही व्यक्ति धारण कर पाते हैं, जो अपने जीवनका लक्ष्य दिव्यानन्दकी प्राप्ति बनाते और जिनका अभ्यन्तर आध्यात्मिक प्रफुल्लतासे ओतप्रोत रहता है। वे जन अपने मनकी पवित्रता और प्रसन्नतासे अपने चारों ओर मधुर सुगन्धमय वातावरण बनाकर दुनियाको कैदखाना बनानेके स्थानमें दिव्य धाम बना देते हैं।

प्रफुल्लताकी प्राप्तिके साधन हमारा शरीर और आत्मा दोनों ही हैं। शरीरकी प्रफुल्लता, शुभविचार, स्वास्थ्य और शारीरिक बलसे आती है। सात्त्विक भोजन, दृढ़ पाचन-शक्ति, खानपानके समयका प्रसन्नताका भाव, शयन और जागरणके समय मानसिक शान्ति आदि शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक प्रसन्नतामें बड़ा योग देते हैं।

भला बनने और भलाईका जीवन व्यतीत करनेसे आत्माकी उच्चता और प्रसन्नताका सम्पादन होता है। जो आत्मा दया, दाक्षिण्य, सहानुभूति, प्रेम और परहितसे ओतप्रोत तथा अशोभन दृश्यों और कृत्योंसे मुक्त रहता और घटनाओंके उज्ज्वल पक्षपर दृष्टि रखता है, वह सदैव प्रसन्नताकी धूपसे अपनेको ऐसे सेकता रहता है। सत्-ज्ञान, और सत्कृत्य स्वयं प्रसन्नताके अधिकारी होते हैं और ये दोनों जीवनके अन्ततक मुस्कराते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति मनुष्योंके जीवनको प्रकाशित करते और परमात्माके संनिकट रहते हैं, जो आनन्दका अटूट भंडार है।

मनुष्य श्रेष्ठता और गुणोंकी मुस्कराहटसे ही शोभायुक्त बनते हैं अर्थात् प्रकृति यह चाहती है कि मनुष्य प्रफुल्लता और सामाजिक ज्योतिका पुञ्ज बने, न कि निराशा और उदासीकी यादगार बने। प्रकृतिकी इस माँगको पूरा करनेमें हमें कोई प्रयत्न उठा न रखना चाहिये। हँसते हुए पूर्ण चन्द्रमाकी ओर समुद्रकी लहरें स्वतः उठ जाती और ऊँची उठकर अपने खारे पानीको मीठा बना लेती हैं। हँसते हुए फूल वन-प्रदेशको आनन्दमय बना देते हैं। वे परमात्माकी श्रेष्ठताकी मुस्कराहट होते हैं, जिनमें सुन्दरता और निर्दोषता निहित होती है।

कुञ्जमें आगमन

बन तें आवत कुंज भवन में।
लटक लटक झुक झूम झमक दोउ, नाहिं समावत फूले मन में॥
फूल सिंगार किएँ नख सिख लौं, मनु फूली फुलवारी तन में।
किंकिनि कुनित कटिन, पग पायल, ज्यों पंछी बोलत बन घन में॥
मुख अंबुज मकरंद माधुरी महक रही कछु मंद हँसन में।
अलबेली अनुरागिनि अलि गन मगन फिरत सब संग लगन में॥
स्याम संग सोभित श्रीस्यामा, संध्या फूली मनहुँ गगन में।
सरस माधुरी अतुलित सोभा इक रसना नहिं आत कहन में॥

—सरसमाधुरीजी

एशियाका हृदय भारत

(लेखक—आचार्य श्रीरघुवीरजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, संसद्-सदस्य)

हम भारतवासी हैं, इसलिये हमारे लिये यह स्वाभाविक है कि हम जानना चाहें कि भारतका एशियामें अथवा संसारमें क्या स्थान है।

स्वतन्त्रताके पश्चात् भारत अपने-आपको पहचानना चाहता है। अपने सहयोगियों, शिष्यों, भक्तों और अनुयायियोंको जाननेसे भारतमें पुनः स्फूर्ति उत्पन्न होगी। जो हमारे कलके मित्र थे, जिनका इतिहास हमारे प्रति अगाध श्रद्धासे भरपूर है, वे भविष्यमें भी हमारे साथी बनेंगे।

पिछली शताब्दियोंमें भारत अपने पड़ोसियों और साथियोंको भूल बैठा। धीरे-धीरे हमारे भूमार्ग बंद होते गये और हमारे सम्पर्क टूटते गये। १०३६ के पश्चात् चीनका भूमार्ग बंद हो गया। १०३६ तक चीनी श्रद्धालु, यात्री, विद्वान्, व्यापारी, राजदूत आदि भारत आते-जाते थे। मध्य एशिया और तुर्किस्तानमें संस्कृत सीखनेके लिये विशेष विद्यालय थे। भारत आते समय चीनी यात्री और राजदूत इन विद्यालयोंमें संस्कृतकी शिक्षा प्राप्त करते थे। भारतीय भाषा सीखकर भारतमें आकर अपने निवाससे पूर्ण लाभ उठाते थे।

१०३६ के पश्चात् भूमार्ग बंद हो गये। सांस्कृतिक आदान-प्रदान ढीला पड़ गया। चीनियोंने ग्यारहवीं शताब्दीसे १९ वीं शताब्दीके अन्ततक भारतीय साहित्यकी अप्राप्तिके कारण स्वयं टीकाएँ लिखनी प्रारम्भ कीं।

इसी प्रकार धीरे-धीरे जल-मार्ग भी बंद होते गये। १२ वीं शताब्दीमें भारतके शिथिल हो जानेपर लङ्काने हमारा भार अपने ऊपर लिया और बर्मा, मलाया, थाई, कम्बुज, लाव, वियतनामका आचार्यत्व ग्रहण किया।

१४९८ में वास्को दा गामा समुद्रमार्गसे भारत पहुँचे। इस समय भारतीय व्यापारी चीनसे लेकर अफ़रीकातक फैले हुए थे। इनके हाथमें समुद्रका पर्याप्त व्यापार था। वास्को दा गामाने पूर्वी समुद्रोंके इतिहासमें एक अनोखी बात की। ये अपने साथ चार तोपें लाये। और तोपोंके साथ पोप महाशयका आदेश और अनुमति लाये कि समुद्रोंमें जो भी कोई अन्यमतावलम्बी दृष्टिगोचर हो, उसको तोपोंसे उड़ा दो। वास्को दा गामाने पूर्णतया इस आदेशका पालन किया। केवल उन्होंने ही नहीं, उनके उत्तराधिकारियोंने भी यही आचरण किया। परिणाम यह हुआ कि पूर्वका समुद्री व्यापार धीरे-धीरे हमारे हाथोंसे निकलकर पुर्तगाली, स्पेनी, डच तथा फ्रेंच और अंग्रेजोंके हाथमें पहुँच गया। एक ओर हिमालय और दूसरी ओर अगाध समुद्र पहले ही कुछ यातायातमें प्रोत्साहक नहीं थे। जो भी इनको पार करना चाहता था, उसको अदम्य साहस और प्रचण्ड कष्टोंका सामना करना पड़ता था; किंतु अब तो साहस और कष्ट भी भारतका साथ छोड़ बैठे। राजनीतिक बाधाओं और दासताने भारतको विशाल कारावास बना दिया। कोई भी राष्ट्र ऐसी स्थितिमें अपने मित्रों और सखाओं, शिष्यों और भक्तोंको बहुत समयतक स्मरण नहीं रख सकता।

हमारे पण्डितोंने नियम ही बना दिया कि समुद्र पार करना पातक है। यदि कहते कि घातक है तो अधिक सच होता।

पिछले दो सौ वर्षोंमें हमारे विजेताओंने एक नया शिक्षा-क्रम आरम्भ किया। इस शिक्षाका केन्द्र-बिन्दु अथवा दृष्टि-बिन्दु इंग्लैंड बनाया गया, भारत नहीं। हमको इंग्लैंडके विस्तार और साम्राज्यका अध्ययन करना पड़ा। इंग्लैंडका गौरव और गरिमा, बल और साहस, बुद्धि और पराक्रम, हमारे मस्तिष्कमें अङ्कित किया गया। हमने इसको सत्य माना और लगभग स्वीकार भी किया। केवल कभी-कभी आत्म-सम्मानकी भावना उठ खड़ी होती थी। परंतु इस भावनाके पीछे भारतके विशाल साहित्य और इतिहासकी शक्ति अभी जाग्रत् नहीं हुई थी।

जैसे अंग्रेजोंने भारतको अपने पंजोंसे दबोचा, वैसे ही डच लोगोंने जावा, सुमात्रा आदि द्वीपोंको तथा फ्रेंच लोगोंने कम्बुज आदि देशोंको अपने हस्तगत किया। चीन, कोरिया और मंचूरिया आदिमें भी पाश्चात्त्य व्यापारी पहुँचे। एक ओर पश्चिम देशोंकी विजयलोलुपता और दूसरी ओर उनके विद्वानोंकी जिज्ञासाने काम किया। पूर्वी देशोंके सम्बन्धमें स्थान-स्थानपर गवेषणा आरम्भ हुई और यूरोप तथा अमरीकाके इतिहासकारों, भाषा-विशेषज्ञों, धर्म और सम्प्रदाय-अन्वेषण-कर्ताओंने एशियापर विशाल साहित्य प्रस्तुत कर दिया। इसमें यत्र-तत्र सर्वत्र भारतकी झलक दिखायी देने लगी।

कहानी बहुत लंबी है—जटिल है, अंशतः अस्पष्ट और दुरूह है; किंतु फिर भी सामान्य रूप-रेखा निर्विवाद और उज्ज्वल है कि एशियाके अनेक देशोंमें जीवनरूपी रुधिर भारतरूपी हृदयसे शताब्दियोंतक बहता रहा है। शताब्दियोंतक सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी यह जीवन-धारा इन देशोंमें किसी-न-किसी रूपमें अभीतक बह रही है। २० वीं शताब्दीमें कई नये पाश्चात्त्य प्रभाव इस जीवन-धाराका शोषण करते जा रहे हैं। भारत भी स्वयं इन्हीं पश्चिमी प्रभावोंमें अपने आपको खो रहा है। यदि भारत सँभले, यदि भारत गाँधीजीके संदेशको जाने, अपने रूपको हाथसे न खो बैठे, तो इस वैज्ञानिक युगमें विज्ञानकी सेवा और शुश्रूषा करता हुआ भी विज्ञानकी दानवताका अपनी आध्यात्मिकतासे अनुशासन और दमन करता हुआ, संसारके लिये, मानव-जातिके लिये, एक नये कल्याणके संदेशका वाहक और दूत बन सकता है।

यदि संक्षेप करें और इधर-उधर दृष्टि न डालें, एक-एक क्षणके लिये किसी बातपर अपने मनको, अपनी दृष्टिको बाँध दें तो यह देखना और जानना सरल हो जायगा कि एशियाका कोई भी देश भारतको नहीं भूला है। एक ओर फिलीपाइन और जावाके पर्वतोंकी जंगली निरक्षर जातियाँ, दूसरी ओर जापानसे लेकर तुर्कीतककी साक्षर जातियाँ भारतको किसी-न-किसी स्वरूपमें अब भी स्मरण करती हैं। स्वतन्त्र भारत एशियाके विभिन्न देशोंमें अपने राजदूत भेज रहा है। ये राजदूत नये भारतकी नयी आँखें हैं। किंतु इन आँखोंमें इतिहासकी ज्योति नहीं। ये न भारतको जानते हैं और न इन देशोंको भारतको नये प्रकारके दूतोंकी आवश्यकता है। ये राजनीतिक पत्र-व्यवहार, भोजों और स्वागतोंमें अलिप्तजन होंगे। इनका कार्य-क्षेत्र एशियाके देशोंकी जनताके हृदय-पटल होंगे। चीन, मंगोल, लङ्का और कम्बुज भारतके परम गुह्य आध्यात्मिक तत्त्वोंसे ओतप्रोत है। साइबीरिया, ईरान और तुर्की, अरब और मिश्र पञ्चतन्त्रकी कथाओंसे मुग्ध हैं। बालक और बालिकाएँ, तरुण और जराजीर्ण जन भारतके नीतिशास्त्रके अभीतक भक्त हैं। अनवारे-सुहेली, कलीला-व-दिम्ना फारसी और अरबी जगत्के अध्यापक और मनोविनोदक हैं।

बोर्नियोके दूरतम भाग कोताईके जंगली राजाके गलेमें गणेशकी स्वर्णमयी अङ्गुष्ठमात्र नन्ही-सी मूर्ति बोर्नियोंके प्राचीन इतिहासकी घोषणा कर रही है। इसी कोताई राज्यमें चौथी, पाँचवी शताब्दीके याज्ञिक स्तूप मिले हैं, जिनमें महाराजा मूलवर्मन्का वर्णन है। इन्होंने राजसूय यज्ञ किया और दक्षिणा-स्वरूप २० सहस्र ब्राह्मणोंको स्वर्ण-मण्डितशृङ्ग गायोंका उपहार दिया। यह शिला-लेख केवल एक ही महाराजाकी कृतिका लेख नहीं; किंतु भारत और एशियाके जीवनका अभिलेख है। इस प्रकारकी सैकड़ों, सहस्रों और लाखों छोटी-बड़ी वस्तुएँ एशियाभरमें फैली पड़ी हैं। बोगज़-कोई नामक स्थानसे आजसे साढ़े तीन सहस्र वर्ष-पूर्व राजाओंकी संधियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें राजाओंने इन्द्र, मित्र और वरुणकी शपथ खाकर आपसमें संधि की है। बोगज़कोई तुर्कीमें है।

यदि हम एशियाके इतिहासको अंग्रेजोंकी दृष्टिसे पढ़ना बंद करें तथा अपनी दृष्टिसे पढ़ना आरम्भ करें, इतना ही नहीं यदि हम मूल अभिलेखोंका स्वयं परिचय प्राप्त करें, उनकी लिपि और भाषाएँ सीखें, उनका निर्वचन भी स्वयं करें तथा पाश्चात्त्य भाषाओंका सहारा लेते हुए भी उनपर निर्भर न रहें और इन देशोंकी प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन भाषाओं और अभिलेखों, प्रशस्तियों और मूर्तियों, धर्म और दर्शनको अपने साथ तुलना करते हुए देखने, जानने और बूझनेका यत्न करें तो एशियाका नया स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

इस रूपमें हमारी अपनी स्थानीय विशेषताएँ तो रहेंगी ही; किंतु इस रूपमें भारतका सहयोग कहाँ और कैसा रहा—इसकी नयी झाँकी मिलेगी। कई बार तो अंग्रेज़ी भाषाके उच्चारणोंको छोड़नेमात्रसे ही भारत और अन्य स्थानोंके सम्बन्ध एक नया वैभव धारण कर लेते हैं, अद्भुत और अचिन्त्य एकता उपस्थित हो जाती है। Tigris का मूल प्राचीन फ़ारसी नाम 'तिग्रा' है। राजा Cyrus साइरस नहीं, राजा 'कुरु' है। Oxus ओक्सस नहीं, प्राचीन पौराणिक 'वक्षु' नदी है। उज़बेगिस्तानमें अभीतक वक्षु नाम उच्चारित होता है। बगदादका इतिहास देखें तो आश्चर्य और आनन्दसे मनुष्य विस्फारित-नेत्र हो जाता है। यह तो 'भगदत्त' है। जिसको अंग्रेज साइबीरिया उच्चारण करते हैं, और हम अंग्रेजोंके शिष्य उसका अनुकरण करते हैं, वह शब्द उस देशमें जाकर 'शिबिर' उच्चारित हुआ मिलता है। उस देशके लोग रहते भी शिबिरोंमें हैं, घरोंमें नहीं, झोंपड़ियोंमें नहीं। हमारे लिये तो यह नाम सार्थक है। इसी प्रकार कम्बोडिया उच्चारण अंग्रेजोंद्वारा दूषित हुआ है। इस देशके निवासी अपने देशको 'कम्बुज-राष्ट्र' कहते हैं, कम्बोडिया नहीं। सीलोन Ceylon सिंहलका पाश्चात्य अपभ्रंश है।

भारतके अनेक प्रतीक हैं। इन प्रतीकोंकी भी संख्या नहीं की जा सकती। एक-एक प्रतीकके नाना प्रकार हैं, नाना परिमाण हैं और विभिन्न रंग-रूप हैं। ये प्रतीक जहाँ-कहीं भी मिल जायँ, वहाँ ही भारतके सम्बन्धोंके अकाट्य प्रमाण बन जाते हैं। यदि एशियाके किसी नगरकी छोटी-सी गलीमें छोटा-सा कमण्डलु मिल जाय तो मन मुग्ध हो जाता है। छोटा कमण्डलु सैकड़ों और सहस्रों वर्षोंके इतिहासको जाग्रत् कर देता है। कमलका आसन योग और योगकी साधनाओं और तपस्याओंका प्रतीक है। एशियाकी महती गोबी नाम्नी मरुस्थलीके छोटे बच्चे कोसों दूर विख्यात महामल्ल गरुडके पंखोंके समान अपने बाहुओंको हिलाते हुए मल्लयुद्धमें प्रवेश करते हैं। इनसे पूछो तो ये बतलाते हैं कि मल्लयुद्धमें प्रवेश करनेसे पूर्व हम गरुड़का आह्वान करते हैं। जिस प्रकार गरुड़ नागोंका विध्वंस करते हैं, उसी प्रकार मल्लयुद्धमें हम भी अपने शत्रुका विध्वंस करेंगे। गोबी मरुस्थलीसे जावातक गरुड़का महत्त्व और वैभव आज भी दृष्टिगोचर होता है। राजा अथवा आधुनिक परिभाषामें राष्ट्रपति इस लोकमें विष्णुका प्रतिनिधि है। तथा विष्णुका वाहन गरुड़ है। इसलिये जावा, सुमात्रा आदि द्वीपोंमें राष्ट्रपति सुकर्णने नये विमानोंका नाम गरुड़ रक्खा।

लाँगवाली धोती भी भारतका प्रतीक है। थाई और कम्बुज देशोंके राज-परिवारोंमें अभीतक घुटनेतककी लाँगवाली धोती बाँधते हैं। 'ओं हुं फट् स्वाहा' का एक समय एशियामें एक-छत्र राज्य रहा है। पर्वतोंके शिखरोंपर, भूमिकी प्राकृतिक और कृत्रिम गुफाओंमें, गधों, घोड़ों और ऊँटोंकी सवारी करते हुए, नदियों और नालोंके तटोंपर, मन्दिरों और झोंपड़ियोंमें 'ओं हुं फट् स्वाहा' का चुपचाप जप अथवा ऊँची ध्वनिसे घोष-नाद अनेकों शताब्दियों और सहस्रों, लाखों लोगोंके जीवनका प्राण और आशा बना हुआ था।

एशियाकी यात्रा तीर्थ-यात्रा है,—आलंकारिकरूपमें नहीं, किंतु वास्तवमें। कृष्ण-सागर (Black sea) के तटोंपर १९ वीं शताब्दीके अन्ततक सुभाषित-रत्न-निधिके सुभाषितोंका पाठ हुआ करता था। काश्यप-सागर (Caspean Sea) के तटोंपर पुराणोंकी गाथाएँ इस शताब्दीके आरम्भतक श्रद्धापूर्वक ज्ञानके पिपासु मुल्तान और रावलपिंडीके जोगियोंसे सुना करते थे। जोगी रामदासके हाथकी अनुकृति की हुई पद्मपुराणकी मूल प्रतिका चित्र मैं स्वयं लाया हूँ। छिंगिस खानकी राजधानी काराकोरमसे ८ वीं शताब्दीके तीन-चार अंगुल लंबे पक्की मिट्टीके बने हुए स्तूपोंपर संस्कृतके श्लोक ठप्पेसे अङ्कित किये गये हैं। ये स्तूप भी मेरे पुत्र डाक्टर लोकेशचन्द्र काराकोरमसे लाये हैं। उत्तर-कोरियामें वज्रगिरि नामक पर्वतपर संस्कृत-मिश्रित भाषा बोलनेवाले साधुओंका विहार है। मंगोल भिक्षु वैदिक यज्ञके समान 'हाँ' के लिये 'ओं' का प्रयोग करते हैं। किसी कठिनाईका सामना करना पड़े तो 'तारा माता' को स्मरण करते हैं।

वर्तमान भारतीयोंको ये बातें कल्पना प्रतीत होंगी। केवल यह कल्पना आपकी और मेरी नहीं। यह भारतके सहस्रों वर्षोंके इतिहासकी रचना है। इसकी पृष्ठ-भूमिको मानव-कल्याण और सत्यान्वेषण करनेवाले आचार्यों तथा सिद्धोंने बनाया है। इनकी कल्याण-कामना इतनी निःस्वार्थ और व्यापक थी कि उसने संसारको अपना बना लिया और वह स्वयं संसारकी बन गयी।

गुणी ही विनयी होता है

एक दिन एक किसान अपने पुत्रके साथ खेतमें गया। किसानने पौधोंकी ओर देखकर पुत्रसे कहा—देख बेटा! जिन पौधोंमें दाने अधिक हैं, वे सब झुके हुए हैं और जिन पौधोंमें दाने नहीं हैं, वे एकदम सीधे तने खड़े हैं। उनमें भूसा अधिक है। इसलिये मनुष्यको सदा विनयी रहना चाहिये। मनुष्यके सद्गुण ही उसे विनयी बनाते हैं। इसीमें सौजन्य है। लोगोंके सामने, खास करके दुर्जनोंके सामने विनयका अभाव और अपना पुरुषार्थ जाहिर करना यह बतलाता है कि उस व्यक्तिको अपने हिताहितका ज्ञान नहीं है।

संकलनकर्ता—बालचन्द्र कोठारी

कामके पत्र

(१)

दिव्य सुख

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण! सचमुच तुम्हारा लिखना ठीक है—संसारमें सुख है ही नहीं। जिनको दूसरे लोग सुखी समझते हैं, वे भी दुःखकी आगसे जलते रहते हैं। संसारमें सुखकी आशा ही भ्रान्ति है; क्योंकि संसारका प्रत्येक पदार्थ अपूर्ण तथा अनित्य है। सुख—सच्चा सुख एकमात्र नित्य सत्य परिपूर्णतम सुखस्वरूप भगवान्‌में है, जो बाहरकी अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी स्थितिसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। यहाँकी भीषण-से-भीषण परिस्थिति भी उस सुखको जरा भी कम नहीं कर सकती और यहाँका बड़े-से-बड़ा सुख भी उस सुखके सामने सदा नगण्य रहता है। वह सुख ही भगवदानन्द है—जो मन-इन्द्रियोंसे परे है, मन-इन्द्रियोंसे अनुभवमें आनेवाले विषय-सुखसे सर्वथा विलक्षण और अतीत है। दिव्य मन तथा भगवदर्पित साधनोंके द्वारा ही उसकी उपलब्धि होती है। वह सुख दिव्य, पूर्ण, नित्य, चिन्मय, इन्द्रियातीत, संसारके प्राणी-पदार्थोंके द्वारा अप्राप्य तथा केवल भगवत्स्वरूप होता है। वह सुख सदा हमारे पास है, हमारी सम्पत्ति है, हमारा स्वरूप है; क्योंकि भगवान् हमारे हैं। उस सुखसे वञ्चित वही होता है, जो भगवान्‌को अपना तथा अपनेको भगवान्‌का नहीं मानता। उस सुखमें वासना-कामनाकी गंदगीको तनिक भी स्थान नहीं रहता। वह मधुर होते हुए भी परम पवित्र होता है। संसारके रागसे रहित दिव्य रसके रसिक ही उस प्रेमस्वरूप सुखमें परिनिष्ठित होते हैं। इसीका संकेत करते हुए महात्मा गोकर्ण कहते हैं—**'वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः'**। वैराग्य-रसके रसिक होकर भक्तिनिष्ठ बन जाओ।'

(२)

किसका जीवन सफल है ?

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। निम्नलिखित पंक्तियोंमें अपने सभी प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें समझ लीजिये।

अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती, समुद्र जलसे तृप्त नहीं होता, काल प्राणियोंसे तृप्त नहीं होता और मनुष्य भोगोंसे तृप्त नहीं होता।

जिसके जीवनमें त्याग हो, जिसका धन गरीबोंकी सम्पत्ति हो, जिसका बल दीनोंका संबल हो, जिसका मन विश्वप्राणिरूप भगवान्‌की सेवामें लगा हो, वही धन्य है। उसीका जीवन सफल है।

उस धनसे क्या, जो अभावग्रस्तोंके काममें नहीं आता; उस बलसे क्या, जो निर्बलकी रक्षा नहीं करता; उस श्रवणसे क्या, जो आचरणमें नहीं आता और उस जीवनसे क्या, जो जितेन्द्रिय नहीं है।

जो दुःखोंके आनेपर घबराये नहीं और सुखोंकी इच्छा ही न करे—वही स्थितप्रज्ञ है। भक्त वह है, जो अनुकूल प्राणिपदार्थोंको प्राप्त करके हर्षित नहीं होता, प्रतिकूल प्राणिपदार्थोंसे द्वेष नहीं करता, अनुकूल प्राणिपदार्थोंके नष्ट हो जानेपर शोच नहीं करता और प्रतिकूलके नाशकी तथा अनुकूलको प्राप्त करनेकी आकांक्षा नहीं करता, जो समस्त शुभाशुभका परित्याग करके केवल भगवान्‌का हो जाता है।

ज्ञानी वह है, जो प्रिय-प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, अप्रियकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होता।

पत्रोत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। शेष भगवत्कृपा।

(३)

किसी लाभकी आशासे प्रेम न करें

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण । अपने लिये मैं क्या लिखूँ । भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका पार नहीं है और मेरे अपराधोंकी सीमा नहीं है । गोस्वामीजी महाराजने मानो मेरे लिये ही लिखा है—

उदर भरौं किंकर कहाइ, बेंच्यो बिषयनि हाथ हियो है ।
मो से बंचक को कृपालु छल छाँड़ि कै छोह कियो है ॥

लोग मुझे भगवान्‌का भक्त मानते हैं, प्रेमी मानते हैं, कोई-कोई महात्मा भी मानते हैं; पर मैं कैसा भक्त, प्रेमी या महात्मा हूँ, यह मैं जानता हूँ, या मेरे अन्तर्यामी प्रभु जानते हैं । पर इतनेपर भी मैं व्यापक प्रभुसे अपनी अघराशिको छिपाकर अन्तर्यामीसे भी कपट करना चाहता हूँ —

कपट करौं अंतरजामिहुँ सों अघ ब्यापकहि दुरावौं' ॥

मेरी अधमताका भी कोई ठिकाना है ? इसपर भी प्रभुकी मुझपर अनन्त अपार असीम कृपा है । इसका मुझे पल-पलपर प्रत्यक्ष अनुभव होता है और यही मेरे जीवनका आधार है । मैं आपको यह स्पष्ट सलाह देता हूँ कि आप अखिल जगत्‌के एकमात्र गुरु श्रीभगवान्‌को ही अपना गुरु मानिये, उनके अनुकूल आचरण कीजिये, उनकी कृपासे ही सब प्रकार कल्याण होगा । अथवा किसी महापुरुषको खोजिये, मुझ-सरीखे पामर किसका क्या कल्याण कर सकते हैं ? पता नहीं; उन्होंने क्यों मुझे इन कार्योंमें निमित्त बना रक्खा है ।

मैं तो अपने उन मित्रों तथा मेरे प्रति सद्भावना रखनेवाले सभी सज्जनोंसे यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि वे यदि मुझे केवल सद्गुणसम्पन्न, भक्त, विशुद्ध प्रेमी, ज्ञानी या महात्मा समझकर मुझसे प्रेम करते हैं तो वे धोखेमें हैं; आगे चलकर उन्हें शायद निराश होना पड़े । क्योंकि अपने यथार्थ जीवनको मैं जानता हूँ । मेरे जीवनमें कितनी दुर्बलताएँ, कितने दोष भरे हैं, इसे वे नहीं जानते । अतएव यदि वे गुण या महिमाकी दृष्टिसे नहीं, भूलोंसे भरे परंतु अपने एक प्रिय बन्धुकी दृष्टिसे प्रेम करना चाहें तो अवश्य करें । मैं उनका सदा कृतज्ञ हूँ और रहूँगा । मुझसे कुछ भी लाभ पानेकी आशासे प्रेम न करें । मैं कंगाल किसको क्या दूँगा । मैं कैसा भी होऊँ, मेरे कभी कैसे भी दोष उनके सामने आ जायँ, तब भी वे जैसे दुर्गुणी पतिको भी पतिव्रता अपना सर्वस्व मानती है, मलसे भरे बच्चेको भी माता स्नेहदान करती है और दोषभरे मित्रको भी मित्र उसके दोष ढककर अपनी सच्ची प्रीति प्रदान करता है, वैसे ही जो अपनी ओरसे विशुद्ध निष्काम प्रेम ही करें, तभी उन्हें मुझसे संतोष होगा । वे अपनी ओर देखें, मेरी ओर नहीं । मेरी कमजोरियोंको देखकर भी वे भगवान्‌की तरह उन्हें अनदेखी करके प्रेम करें ।

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।

शेष भगवत्कृपा ।

(४)

नाम-महिमा और नामाष्टक

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । भगवान्‌के नामकी अनन्त असीम महिमा है । कलियुगमें तो एक-मात्र हरि-नाम ही परम अवलम्बन तथा सर्वोपरि साधन है ।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(नारदपुराण)

गोस्वामी तुलसीदासजी तो नामके सिवा अपने लिये और किसी साधनको मानते ही नहीं । वे कहते हैं— जिसको दूसरा कोई भरोसा हो, वह उसका सेवन करे; मेरे लिये तो कलियुगमें कल्याणरूपी फल फलदेवाला श्रीराम-नाम ही है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान करो॥

× × ×

आपने नाम-स्तोत्रके सम्बन्धमें पूछा तो एक बहुत सुन्दर श्रीकृष्ण-नामाष्टक है—उसे नीचे अनुवादसहित लिख रहा हूँ। आप इससे लाभ उठा सकते हैं—

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमाला-
द्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं
परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि॥

सम्पूर्ण उपनिषद्रूप रत्नमालाकी कान्तिके द्वारा तुम्हारे चरण-कमलोंका नखरूप प्रान्तभाग नीराजित हो रहा है। और संसारसे मुक्त (नारद-सनकादि) मुनि तुम्हारी उपासनामें लगे हैं। इस प्रकारके हे श्रीहरिनाम! मैं तुम्हारा आश्रय लेता हूँ।

जय नामधेय मुनिवृन्दगेय
जनरञ्जनाय परमक्षराकृते।
त्वमनादरादपि मनागुदीरितं
निखिलोग्रपापपटलीं विलुम्पसि॥

मुनिवृन्द सदा तुम्हारा गान करते हैं और जन-समूहका सच्चा मनोरञ्जन करनेके लिये तुमने परम अक्षर-रूप शरीर धारण कर रक्खा है; अनादर (अश्रद्धा)से भी कोई यदि तुम्हारा थोड़ा भी उच्चारण करता है तो तुम्हारी कृपासे उसके उग्र पाप भी विलुप्त हो जाते हैं अतएव हे नामधेय! तुम्हारी जय हो। (तुम इसी प्रकार सबकी पापराशिका नाश करते हुए सदा उत्कर्षको प्राप्त करते रहो)।

यदाभासोऽप्युद्यन् कवलितभवध्वान्तविभवो
दृशां तत्त्वान्धानामपि दिशति भक्तिप्रणयिनीम्।
जनस्तस्योदात्तं जगति भगवन्नाम तरणे
कृती ते निर्वक्तुं क इह महिमानं प्रभवति॥

हे भगवन्नाम-सूर्य! तुम किसी भी संकेतसे यदि उच्चारित हो जाते हो तो आवागमनरूप अन्धकारका ग्रास करके तत्त्व-दृष्टिसे अंधे मनुष्योंको भी श्रीकृष्णभक्तिको प्राप्त करानेवाली दृष्टि दे देते हो; अतएव इस जगत्में ऐसा कौन विद्वान् पुरुष होगा जो तुम्हारी उदात्त महिमाका वर्णन कर सके?

यद् ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि
विनाशमायाति विना न भोगैः।
अपैति नाम स्फुरणेन तत्ते
प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥

जो प्रारब्ध कर्म ब्रह्म-साक्षात्कारमें निष्ठा (दृढ़ स्थिति) हो जानेपर भी भोग किये बिना कभी नष्ट नहीं होते, वेद कहते हैं कि वे ही सब (पाप-पुण्यके बुरे-भले फलरूप) प्रारब्धकर्म हे नामदेवता! जीभपर तुम्हारा स्फुरण होते ही नष्ट हो जाते हैं।

अघदमनयशोदानन्दनौ नन्दसूनो
कमलनयन गोपीचन्द्र वृन्दावनेन्द्र।
प्रणतकरुणकृष्णावित्यनेकस्वरूपे
त्वयि मम रुचिरुच्चैर्वर्द्धतां नामधेय॥

अघदमन, यशोदानन्दन, नन्दसुत, कमलनयन, गोपीचन्द्र, वृन्दावनेन्द्र, प्रणतकरुण, कृष्ण—इस प्रकार अनेक स्वरूपोंमें तुम्हारा प्राकट्य हो रहा है। हे नामधेय! तुम्हारे प्रति मेरी रुचि सदा बढ़ती रहे।

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नाम स्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात् परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ताद्भवे-
दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति॥

हे नामभगवन्! वाच्य अर्थात् विभु सच्चिदानन्दात्मक श्रीविग्रह और वाचक अर्थात् श्रीकृष्ण-राम-गोविन्द आदि वर्णात्मक—आपके दो स्वरूप इस जगत्में सुशोभित हैं; परंतु इनमेंसे हमलोग विभु सच्चिदानन्दस्वरूपकी अपेक्षा वाचक नाम-स्वरूपको ही दयालु जानते हैं। क्योंकि प्राणी यदि विभुस्वरूपका कोई अपराध करता है तो मुखसे (उच्चारणमात्रके द्वारा) नामस्वरूप उपासना करके वह भी अपराधसे रहित होकर सदा आनन्दसागरमें निमग्न हो जाता है।

मुदिताश्रितजनार्तिराशये
रम्यचिद्घनसुखस्वरूपिणे ।
नाम गोकुलमहोत्सवाय ते
कृष्ण पूर्णवपुषे नमो नमः ॥

हे नाम ! हे कृष्ण ! तुम आश्रित जनोंके दुःखोंका नाश करते हो, भक्तोंके हृदयमें रमणीय चिद्घन सुखरूपसे रहते हो, तथा गोकुलवासियोंके लिये मूर्तिमान् उत्सवस्वरूप ही हो और अपने माधुर्यादिसे परिपूर्णविग्रह हो । तुमको बार-बार नमस्कार है—

नारदवीणोज्जीवन सुधोर्मिनिर्यासमाधुरीपूर ।
त्वं कृष्णनाम कामं स्फुर मे रसने रसेन सदा ॥

हे कृष्ण-नाम ! तुम नारदकी वीणाके जीवन हो, अमृततरङ्गोंके साररूप माधुर्यसे पूर्ण हो । तुम मेरी रसना (जीभ) पर सदा रसमय होकर स्फुरित होते रहो—प्रेमोल्लासके साथ परमानन्दसुधाका अनुभव करती हुई मेरी जीभ सदा तुमको अपने अग्रभागपर नचाती रहे ।

यह एक नामाष्टक है । ऐसे ही और भी नामाष्टक हैं । आपने मेरे विश्वासके सम्बन्धमें पूछा सो मैं क्या कहूँ । यह भी नहीं कह सकता कि नामपर मेरा पूरा विश्वास है—पूरा विश्वास होता तो मेरा जीवन नामरूप ही हो जाता । और यह भी नहीं कह सकता कि विश्वास नहीं है; क्योंकि मैं देखता हूँ कि मुझ-सरीखे साधनहीन पापपीन प्राणीका जीवन अबतक श्रीनाम-भगवान्की कृपासे ही निभा है और निभ रहा है । शेष भगवत्कृपा ।

(५)

श्रीराधाप्रेमका स्वरूप

प्रिय महोदय, सादर प्रणाम । आपने श्रीराधाके प्रेमका स्वरूप पूछा सो इसका उत्तर मैं प्रेमशून्य जन्तु क्या दूँ, यद्यपि मैं 'राधा' पर लिखने-बोलनेका दुःसाहस सदा करता रहता हूँ । मुझे इसमें सुख मिलता है। इसीलिये ऐसा करता हूँ । राधा या राधाप्रेम-तत्त्वका विवेचन मेरी शक्तिसे परेकी चीज है । पर सदा लिखता हूँ—इसलिये आपको भी दो-चार शब्द लिख ही देता हूँ। श्रीराधाका प्रेम अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है । उसका वर्णन न श्रीराधा कर सकती हैं न श्रीमाधव ही करनेमें समर्थ हैं । कहनेके लिये इतना ही कहा जाता है कि वह प्रेम परम विशुद्ध तथा परम उज्ज्वल है। स्वर्णको बार-बार अग्निमें जलानेपर जैसे उसमें मिली हुई दूसरी धातु या दूसरी चीजें जल जाती हैं और वह स्वर्ण जैसे अत्यन्त विशुद्ध और उज्ज्वल हो जाता है, वैसे ही राधाका प्रेम केवल विशुद्ध प्रेम है । पर वह स्वर्णकी भाँति जलानेपर विशुद्ध नहीं हुआ है, वह तो सहज ही ऐसा है । सच्चिदानन्दमयमें दूसरी धातु आती ही कहाँसे ! यह तो साधकोंके लिये बतलाया गया है कि श्रीकृष्णप्रेमकी साधनामें परिपक्व व्रजरसके साधकके हृदयसे दूसरे राग और दूसरे काम सर्वथा जल जाते हैं और उनका प्रेम एकान्त परिशुद्ध हो जाता है । श्रीराधामें यह दिव्य प्रेम सहज और परमोच्च शिखरपर आरूढ़ है । इसी राधाप्रेमका दूसरा नाम अधिरूढ महाभाव है। इसमें केवल 'प्रियतम-सुख' ही सब कुछ है। शेष भगवत्कृपा।

◆

निसिबासर राम रटो

न मिटै भवसंकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो ।
कलिमें न बिरागु, न ग्यानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूँठ-जटो ॥
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट ठटो ।
तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसिबासर रामु रटो ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सच्चा चमत्कार

उस दिन मैं मास्टर श्रीअमरनाथ उक्खलसे मिलने गया। 'पढ़ो और बनो' शीर्षक हालमें ही प्रकाशित अपने बालोपयोगी कहानी-संग्रहपर उनकी सम्मति लेनी थी।

मास्टरजी काश्मीरी पण्डित हैं। उनकी गणना दिल्लीके गण्यमान्य नागरिकोंमें है। बड़े ही मिलनसार एवं आध्यात्मिक वृत्तिके व्यक्ति हैं। अवस्था साठसे कुछ ऊपर ही होगी। सारी उम्र अध्ययन-अध्यापन और पूजा-पाठ करते बीती है। अभी कुछ दिन हुए, दिल्लीके सुप्रसिद्ध संस्कृत हायर सेकण्डरी स्कूलकी मुख्याध्यापकतासे अवकाश ग्रहण किया है। लेकिन फिर भी क्रम वही चालू है। उनके कार्टरका बाहरी हिस्सा नाना श्रेणियोंके छात्रोंसे भरा ही रहता है। और क्यों न भरा रहे। मास्टरजी मुक्तहस्त, मुक्तहृदय होकर विद्या-प्रसादका वितरण जो करते रहते हैं।

'पढ़ो और बनो' पुस्तकका लक्ष्य बालकोंको चरित्रवान् बननेकी प्रेरणा देना है; अतः उसपर वार्तालाप होते-होते बात चल पड़ी इस विषयपर कि बालकोंका चरित्र-निर्माण किस प्रकार हो। मास्टरजी बोले—

'भाई! बनाया तो बनकर ही जाता है। माता-पिता और अध्यापक स्वयं चरित्रवान् बनें तो बालकोंको बनते देर नहीं लगती। बिना चीख-पुकार मचाये, डाँट-डपट किये मार लगाये ही बन जाते हैं वे। ये उपाय चूक सकते हैं, उल्टे भी पड़ सकते हैं; किंतु 'बनकर बनाना' कदापि नहीं चूकता। कहनातक नहीं पड़ता इसमें तो। अपने ही जीवनका एक संस्मरण सुनाऊँ। सुनोगे?'

'सुनाइये, इससे अच्छी क्या बात होगी।' मैंने विनम्रतापूर्वक उत्साह प्रदर्शित करते हुए कहा। मास्टरजी सुनाने लगे—

'लगभग पंद्रह वर्ष पहलेकी बात है। संस्कृत-स्कूलमें ही मुख्याध्यापक था उन दिनों मैं। एक दिन शिक्षासम्बन्धी किसी समितिकी बैठकमें सम्मिलित होकर लौट रहा था कि स्कूलके बगलकी सड़कपर आठवीं श्रेणीके एक छात्रको मैंने देखा कि इधर-उधर निगाह डालता चोरी-चोरी छिपे-छिपे सिग्रेट पी रहा है। मैं उसकी निगाहमें न पड़कर स्कूलमें आ धमसे अपनी कुर्सीपर बैठ गया। मेरी जान-सी निकल गयी थी। मुझे गहरी चोट पहुँची थी। मेरा विद्यार्थी और सिग्रेट पिये—यह बात मुझे बुरी तरह खल रही थी। पर सर्वाधिक जो बात मुझे साल रही थी, वह यह थी कि मैं कहूँ किस मुँहसे उसे सिग्रेट छोड़नेके लिये। जो मैं कर रहा हूँ अपने विद्यार्थियोंके साथ, वही तो वह मेरे साथ कर रहा है। मैं उनसे छिपकर सिग्रेट पीता हूँ, वह मुझसे छिपकर पी रहा है। मुझमें-उसमें अन्तर क्या है?'

'तो क्या आप पहले सिग्रेट पिया करते थे?'

मैंने बीचमें ही बात काटकर कुछ आश्चर्यसे पूछा।

'हाँ, बीस वर्षकी अवस्थासे ही।' कुछ लज्जानुभूति करते हुए उन्होंने उत्तर दिया और फिर अपनी बात आगे बढ़ायी—

तो मैं सोचने लगा, जबतक मैं स्वयं न छोड़ूँ, कैसे उससे छोड़नेको कह सकता हूँ। किंतु छोड़ना भी तो टेढ़ी खीर था, खालाजीका घर नहीं; आप ही सोचिये—पचीस वर्षसे चली आ रही कुटेवका छोड़ना कुछ अर्थ रखता है। ज्यों-ज्यों छोड़नेकी सोचता, जी छूटता। साहस न पड़ता इस डगरपर पैर रखनेका,

लेकिन न छोड़नेसे भी चल नहीं सकता था। विद्यार्थियोंके लिये मेरा जीवन था। मुझे अपने विद्यार्थीको बचाना था। 'किंकर्तव्य-विमूढ़' मुझमें सहसा प्रेरणा-विद्युत् कौंधी। मुझे 'निर्बलके बल राम' इस पंक्तिका स्मरण हो आया। मुझे राह सूझ गयी। नये जीवनसे भर गया मैं।

उसी दिन मैंने वृन्दावनका टिकट कटाया और वहाँ पहुँचकर मैं अपने इष्टदेव भगवान् श्रीविहारीजीके चरणारविन्दोंमें पड़कर जार-जार रोने लगा—कातरकण्ठसे उन्हें पुकारने लगा। उनसे कहने लगा—'दीनदयालो, परम करुणामय, मेरे पतितपावन! मुझ दीन अकिंचनके सर्वस्व! मुझपर दया करो, तरस खाओ, मेरी यह कुटेव छुड़ाओ, ताकि मैं अपने कर्तव्यका सम्यक् रीतिसे पालन कर सकूँ। मैं निर्बल हूँ, मेरे छोड़े यह छूट नहीं सकती। मेरे बल तुम हो, मेरी लाज रखो; मेरी लाज तुम्हारी लाज है, अपनी लाज रखो।'

और जाने क्या-क्या कहा मैंने अपने विहारीजीसे उस दिन। सार बात यह कि विहारीजीके चरणोंमें बैठ सिग्रेट पीना छोड़, चार-पाँच दिन वृन्दावन रह मैं दिल्ली लौट आया। आते ही मैंने उस छात्रको अपने पास बुलाकर कहा—

'बेटा! तुम सिग्रेट पीते हो?'

एक क्षणको लजाया-सकपकाया वह। फिर पश्चात्ताप-विगलित किंतु शान्त निर्भय स्वरमें उत्तर दिया उसने—

'जी, पीता तो था; किंतु पाँच दिनसे छोड़ दी है।'

'पाँच दिनसे?'

'जी, हाँ।'

और मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही। वह उसी दिनकी बात कर रहा था, जिस दिन मैंने छोड़ी थी। मैं गद्गद होकर मन-ही-मन अपने विहारीजीके चारु चरणारविन्दोंमें झुक गया—लोटनियाँ लेने लगा। मुझे कहना भी न पड़ा और वह छात्र सिग्रेट पीना छोड़ चुका था। आप ही कहिये, क्या यह एक चमत्कार नहीं है?'

'अवश्य है, सच्चा चमत्कार है।

—उत्तरमें बेसाख्ता निकल पड़ा मेरे मुँहसे। अपने संस्मरणका वर्णन समाप्त करते-करते मास्टरजीका कण्ठ अवरुद्ध हो आया था। आँखें भर आयी थीं। वे कहीं किसी और लोकमें पहुँच गये थे। बहुत-कुछ वैसी ही मेरी भी दशा हो रही थी। वास्तवमें उनके संस्मरणकी मार्मिकताने मुझपर गहरी छाप डाली थी। मेरी आस्तिकतामें तो प्रगाढ़ता लाया ही था वह; साथ ही उसने मुझे इसका भी पूरा विश्वास करा दिया था कि बनना ही बनाना है। आत्म-निर्माण ही औरोंके निर्माणकी कुंजी है—वह कुंजी, जो कभी चूकती नहीं, बिना आवाज किये लगती है और आदमीके लिये आदमियतके ताले सहज खोलकर रख देती है।

कहना नहीं होगा, मास्टरजीके चरणोंमें बैठकर जब मैंने उनका यह संस्मरण सुना तो मेरा हृदय उनके प्रति अपूर्व श्रद्धासे भर आया और मैं सोचने लगा—

'काश! देश-देशके····दुनियाके और सभी अध्यापक ऐसे ही होते। इसी लगनसे नयी पौधकी सँभाल करते उसे सींचते। तब हमारा कहना उस मानवका भाल उन्नत हो गया होता। उसकी गौरव-गरिमाने आकाश छू लिया होता। दुनिया स्वर्ग बन गयी होती।

—हरिकृष्णदास गुप्त हरि

(२)

प्रार्थनासे क्या नहीं हो सकता?

एक रात्रिको मैं अपने अध्ययन-कक्षमें बैठी थी। परीक्षा समीप थी, अतः पढ़नेमें तल्लीन थी कि अचानक मेरा ध्यान बाहर होनेवाले परस्परके वार्तालापसे टूटा।

भैया कह रहे थे कि ''कोई युवक अस्पतालमें आया हुआ है, जिसे डाक्टरने मार्फियाके इंजेक्शन दिये थे; पर उनको सह न सकनेके कारण उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। सभी डाक्टर उसे जवाब दे चुके थे। युवकका पिता सभीके पैरों पड़कर प्रार्थना कर रहा था कि मेरे पुत्रको बचा दीजिये। उन सज्जनका वह एकमात्र पुत्र था। युवकका विवाह हुए अभी कुछ ही मास हुए थे। पत्नी बार-बार 'इन्हें बचाइये' कहकर चेतनाहीन हो जाती थी। वे सज्जन किसी ग्रामसे आये हुए थे, अतः उस स्थानपर उनकी सहायता करनेवाला भी कोई नहीं था। पूरे शहरमें उसकी चर्चा थी।'' यह वार्तालाप सुनकर मेरी आँखोंसे अश्रु बह चले। मुझे रह-रहकर उस युवतीका ध्यान हो आता था, जिसका सुनहरा संसार उजड़ा जा रहा था, जिसके स्वप्न चूर-चूर हो रहे थे और हो आता था उन सज्जनका ध्यान, जिनकी समस्त आशाओंका केन्द्र और जीवनका सहारा बिछुड़ रहा था। मेरे हृदयपर आघात लगा और मैं फफक-फफककर रो पड़ी। मेरा हृदय चीख उठा—'ऐसा नहीं हो सकता। भगवान् इतने कठोर नहीं हैं।' साथ ही मैंने प्रभुसे कातर प्रार्थना की कि 'नाथ! मेरा जीवन ले लो। मेरे पीछे किसीका संसार तो नहीं नष्ट हो रहा है। माता-पिता, बन्धु-बान्धव हैं, दो क्षण रोयेंगे और भुला देंगे; पर उस युवककी मृत्युसे एकका स्वर्गिम संसार तहस-नहस होगा तो दूसरेका अन्धकारमय।' इस प्रकार मन-ही-मन कहते-कहते मेरे चक्षु बंद हो गये, हाथ जुड़ गये और मस्तक उस महिमामयके चरणोंमें नत हो गया। जाने कबतक मैं रोती रही, उस युवकके जीवनके लिये प्रार्थना करती रही और अन्तमें 'प्रभु! तुम्हें मेरी पुकार सुननी ही पड़ेगी' कहकर आँसू पोंछकर पढ़ने लगी। यह उस युवककी अन्तिम निशा बतायी गयी थी। सोते समय फिर इस घटनाका स्मरण हो आया और मेरे आँसू उमड़ चले। मैं प्रार्थना करते-करते निद्राभिभूत हो गयी। प्रातःकाल भी मैंने अन्तःकरणसे उस युवकके जीवनकी प्रार्थना की और बड़ी विकलतासे प्रतीक्षा करने लगी कि क्या सूचना मिलती है। कुछ समय पश्चात् भैया लौटकर आये तो उन्होंने बताया कि 'जीवित तो है, किंतु दशा पहलेसे भी खराब है। न किसीको पहचानता है, न आँख ही खोलता है और अनाप-शनाप बके जा रहा है।' यह सुनकर फिर नयन भर आये। मैं पुनः अपने अध्ययनकक्षमें गयी; क्योंकि यही ऐसा एकान्त स्थान था, जहाँ मैं कुछ क्षण शान्तिसे बैठ सकती थी। मैंने पुनः प्रार्थना की; मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मेरी प्रार्थना और मेरे अश्रु निष्फल नहीं जा सकते। संध्याकालमें सूचना मिली कि अब उस युवककी दशा सुधर रही है और जीवनके लक्षण दीखने लगे हैं। मुझे अपार हर्ष हुआ कि उन सज्जनकी उजड़ती दुनियामें बहार लौट आयी। धीरे-धीरे वह युवक पूर्ण स्वस्थ हो गया और अपने निवास-स्थानपर लौट गया। वह कहाँसे आया था और कौन था—यह मैं नहीं जानती, पर इतना अवश्य है कि मेरी पुकार प्रभुने सुन ली थी। उस युवककी स्वस्थताकी सूचनाने पुनः मेरे नेत्रोंमें अश्रु ला दिये, वे प्रभुके प्रति कृतज्ञताके आँसू थे और तबसे प्रार्थना ही मेरे जीवनकी पूजा-अर्चना है।

—स्नेहप्रभा

(३)

मानवताका दीपक

एक टी-टी-ई० से सुनी हुई घटना यहाँ लिख रहा हूँ—

एक समय कठाणासे बड़ोदातककी मेरी चेकिंग-ड्यूटी थी। मैं एक डिब्बेमें चढ़ा। डिब्बेके एक कोनेमें एक अशक्त मनुष्य बड़ी बुरी हालतमें दुःखसे कराहता पड़ा था। उससे थोड़ी दूर एक खादीधारी गृहस्थ

अपने कुटुम्बके साथ छः आदमियोंकी सीटपर चार मनुष्य जगह रोके बैठे थे। खादीधारी गृहस्थ उस मनुष्यकी ओर नफरतसे देख रहे थे और बड़बड़ा रहे थे।

मैं जब सारे डिब्बेकी चेकिंग करके उन गृहस्थके पास आया, तब उन्होंने मुझसे पूछा—'इस आदमीकी टिकट आपने देखी ?'

मैंने इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दिया और मैं उस वृद्धके पास गया। वह मुझे देखकर घबरा गया और संकोचभरी करुणादृष्टिसे मेरी ओर देखकर बोला—'साहेब ! मेरे पास केवल ये दो रुपये हैं। आप या तो इन्हें लेकर मुझको टिकट ला दीजिये अथवा सजा कीजिये; परंतु किसी तरह मुझे बड़ोदा पहुँचा दीजिये।' उसकी ऐसी हालत देखकर मुझे दया आयी; मैंने उसको जरा उठाया और एक अच्छी जगह आरामसे सुला दिया।'

मेरे इस बर्तावके प्रति विरोध दिखाते हुए उन गृहस्थने कहा—'आप-जैसे टी-टी-ई० तो सरकारको नुकसान पहुँचाते हैं। फिर आप तो 'जनसेवक' कहलाते हैं। ऐसा रोगी आदमी यात्रियोंको हानि पहुँचाता है। हमारी इस हानिको दूर करना तो एक ओर रहा; आप तो उल्टा उड़ाऊ उत्तर देते हैं।'

मैंने अब जरा गरम होकर कहा—'मिस्टर ! आप यों मनमाना क्यों बोल रहे हैं ? इस मनुष्यको इधर-उधर किया जाय, क्या इसकी ऐसी स्थिति है ? यह उससे पैसे माँगनेका समय है या उसके प्रति मानवता दिखाकर उसकी मदद करना पहला कर्तव्य है ? मैं पहले मनुष्य हूँ, पीछे टी-टी-ई० हूँ। ऐसे मृत्युके मुँहमें पड़े मनुष्यको परेशान करनेमें भी कोई सज्जनता है ? आप कहते हैं कि इससे मुझको टिकटके पैसे लेने चाहिये। सो मैं आपके कथनानुसार अवश्य लूँगा। परंतु वह इस वृद्धसे नहीं, चंदा इकट्ठा करके लूँगा। इस चंदेमें मेरे ये दो रुपये'—इतना कहकर मैंने डिब्बे में सबसे कहा—'किसी भी भाई-बहिनकी मानवता इस दुखी मनुष्यके प्रति जाग उठे तो उसे इस चंदेमें यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये।' मानवताको भूलकर अपनी सुख-सुविधा देखनेवाले उस सज्जनको छोड़कर सभीने थोड़ी-बहुत मदद की और चंदेमें दस बारह रुपये हो गये। इसी डिब्बेमें एक अंधी भजन गा-गाकर भीख माँग रही थी, उसने भी चंदेमें चार आने दिये।

सुखके सागरमें हिलोरे मारते हुए उस गृहस्थके दिलसे जहाँ मानवताका दीपक बुझ रहा था, वहाँ गरीबीमें डूबती-उतराती एक बूढ़ी भिखारिनके दिलमें मानवताका दीपक जगमगा उठा ! —मधुकान्त भट्ट

(४)

भगवान्की अन्तर्वाणी

घटना आजसे लगभग नौ वर्ष पहलेकी है। उस समय मैं केन्द्रीय सरकारके एक कार्यालयमें सहायक क्लर्क था। एक दिन अकस्मात् एक पूर्वपरिचित ठेकेदार मेरे पास आये और मुझे सात रुपये देने लगे। मेरे पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया कि वे यह भेंट मुझे मिठाईके लिये दे रहे थे; क्योंकि उनके कामका एक बिल मेरे द्वारा ऐकाउन्टेन्टतक पहुँच गया था। उसी सहायताके उपलक्षमें वे सात रुपये मुझे भेंट देनेके लिये मेरे पास आये थे। मैंने उनसे कहा कि 'यह तो मेरा कर्तव्य था, आपको धन्यवाद; मैं रुपये लेनेका अधिकारी न होते हुए भी, रुपये स्वीकार न कर सकनेके लिये क्षमा चाहता हूँ।' परंतु वे नहीं माने और हठ करने लगे। इसी समय मेरे सहयोगी क्लर्क भी वहाँ आ गये, जो आयुमें मेरे पिताजीसे भी बड़े थे और उनका मैं हृदयसे बड़ा आदर करता था। उनके

पूछनेपर मैंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इसपर मुझे डाँटकर कहा कि 'तुम मेरे कहनेसे रुपये ले लो, मैंने भी तो ले लिये हैं; तुम व्यर्थ हठ करते हो। इनको लेनेमें कोई पाप नहीं है; क्योंकि ये तुमने पहलेसे तो तय किये नहीं थे। अतः इन्हें ले ही लो।' उनका कहा टालना मैंने उचित नहीं समझा और रुपये ले लिये; परंतु मेरी अन्तरात्मा मुझे फटकार रही थी कि यह तूने अच्छा नहीं किया।

संयोगसे दो ही दिन बाद 'शरत्पूर्णिमा'के अवसरपर मुझे सपरिवार गङ्गाजी जाना पड़ा। वहाँ पहुँचनेपर प्रथम स्नानार्थ मैं अपने लघु भ्राताको साथ लेकर गङ्गातटपर पहुँचा तो देखा, जलका प्रवाह तेज था तथा जल भी गहरा था। मुझे अकेले स्नान करनेमें भय प्रतीत हुआ; अतः मैंने अपने छोटे भाईसे कहा कि 'तुम मेरा एक हाथ पकड़ लो और मैं गोते लगाऊँ।' साबुन लगाकर स्नान करनेकी मेरी सदैवसे ही आदत है, अतः मैंने सारे शरीरमें साबुन लगाया और अपना एक हाथ छोटे भाईके हाथमें पकड़ाकर गोते लगाने लगा। दुर्भाग्यसे मेरा हाथ मेरे भाईके हाथमेंसे फिसल गया, क्योंकि उसमें साबुन लगा था; और साथ ही मेरी अँगुलीमें चार मासे सोनेकी अँगूठी निकलकर गङ्गाजीकी भेंट चढ़ गयी। मैं चिन्तातुर हो उठा और शर्मके मारे काँपने लगा। तुरंत ही भाईने जाकर पिताजीसे कहा और वे आ गये। उन्होंने आते ही कहा—मैंने पहले ही मना किया था कि गङ्गाजी या अन्य पवित्र नदियोंमें साबुन लगाकर नहीं नहाना चाहिये; परंतु तुम नहीं माने और अँगूठी गँवा बैठे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि 'आप क्रोध न करें; मुझे पूर्ण विश्वास है कि अँगूठी मिलकर रहेगी। यदि आप जानते हों तो किसी गोताखोरको बुला दीजिये।' पिताजी तुरंत घटवालियेके पास गये और उससे कहा कि किसी गोताखोरको बुला दो, अँगूठी मिलनेपर हम प्रसन्न कर देंगे। गोताखोर आया और उसने वह स्थान बतलानेको कहा जहाँपर मैं स्नान कर रहा था; मैंने वह स्थान बता दिया और उसने लगभग डेढ़ घंटेके परिश्रमके बाद वह अँगूठी ढूँढ़ निकाली। उसने दो रुपये माँगे, जो कि उसे दे दिये गये; और तुरंत ही पाँच रुपयेका प्रसाद, जो मैंने अँगूठी खोजते समय मनमें धारणा की थी, बाँट दिया।

उसी समय मेरे भीतर अन्तर्वाणी हुई कि 'ये सात रुपये जिस प्रकार आये, उसी प्रकार चले गये, उनका लोभ मत कर।' मैंने भगवान्‌का कोटिशः धन्यवाद किया कि उन्होंने मेरी आँखें खोल दीं और मुझे जीवनमें कुपथके गर्तकी ओर अग्रसर होनेसे सदैवके लिये बचा दिया।

यह मेरे जीवनका प्रथम तथा अन्तिम अवसर था।

—गोकुलचन्द गुप्त

(५)

ये पतनकारी क्लब !

मेरे पास बहुत वर्षोंसे 'कल्याण' आता है और उसका मेरे जीवनपर बहुत ही प्रभाव है। ईश्वरकी कृपासे मेरा जीवन अबतक धार्मिक बीता है। आगे भी प्रभुकी कृपा रहेगी। छोटी-सी गृहस्थी है, परंतु ईश्वरकी कृपासे सब लोग शान्तिपूर्वक रहते हैं। बच्चे बड़े होनहार हैं और सभी ईश्वरको माननेवाले हैं। मेरे पति दिल्लीमें × × × × अफसर हैं और बड़े सात्त्विक ईश्वर-भक्त हैं। मैं आज अपना एक अनुभव लिखती हूँ। यह मेरे जीवनकी एक घटना है, जिसका नाम मैंने 'क्लबकी एक झाँकी' रखा है। वह यह है—

मैंने बहुत क्लबोंका नाम तो सुन रखा था, परंतु जानेका कभी अवसर नहीं मिला था; क्योंकि ऐसी

चीजोंसे मुझे स्वाभाविक घृणा है। एक दिन किसीने मुझे बहुत ही विवश किया और मेरी इच्छा न होनेपर भी, उनके आग्रहसे मुझे जाना ही पड़ा। मैंने यहाँ जो कुछ देखा, वह मैं कभी सोच भी नहीं सकती थी। मैं तो यही समझती थी, कुछ लोग वहाँपर खाते-पीते होंगे या कुछ ताश वगैरह खेलते होंगे। वह किसी तरहका मनोरञ्जन-का स्थान होगा। परंतु वहाँका तो रंग-ढंग ही दूसरा था। हमलोगोंके पहुँचनेसे पहले ही वहाँ कव्वालीका प्रोग्राम चल रहा था। बहुत लोग बैठे थे। कुछ लोग खा रहे थे। कुछ थोड़ेसे पी रहे थे। इतनेमें कव्वालीने ज़ोर पकड़ा, और वहाँपर सुरा तथा साकी-सुराहीका ऐसा रंग जमा कि आटेमें नमकके बराबर कुछ लोगोंको छोड़कर सभी उसमें शरीक हो गये। जो कुछ मैंने प्रभाकरमें रीतिकाल (शृङ्गाररस)का प्रसङ्ग पढ़ा था, उसका नग्न दृश्य वहाँ दिखायी देने लगा। जैसे वीर-गाथा-काल-की कविताएँ वीरोंको शूरवीर बनाती थीं, उसी तरह इन कव्वालियोंने पुरुषोंको पशु बनाना प्रारम्भ कर दिया और जहाँ गिलास थे, वहाँ हाथोंमें बोतलें सुशोभित हो गयीं। मुझे दुःख और आश्चर्य तो तब हुआ, जब पीनेवालोंमें स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे पीछे नहीं रहीं। तभी मेरे दिलने यह कहा कि पश्चिमी सभ्यता अभी यहाँसे गयी नहीं है, बल्कि बढ़ रही है। उस समय मैंने यह समझा कि हमारे बापूका बलिदान और हमारे बहुत सारे नेताओंके त्यागका फल अभी अधूरा ही है। क्या इन्हीं क्लबोंके आधारपर हम अपनी पञ्चवर्षीय योजना पूरी कर सकते हैं? जिस देशके बच्चे-बच्चेको हम साक्षर देखना चाहते हैं, उस देशके इन अग्रणी साक्षरों-का यह हाल देख-सुनकर किसको दुःख न होगा? क्या हम अपने बच्चोंको इससे बरबादीका रास्ता नहीं दिखा रहे हैं? जहाँ हम गरीबीको जड़से उखाड़ना चाहते हैं, वहाँ हम साकी-सुराहीको अपनाकर, इतना पैसा बहाकर इसके विरोधका कार्य नहीं कर रहे हैं? वे हमारे मनोरञ्जन या उत्थानके स्थान हैं या घोर पतनकी जगहें हैं? वहाँ कव्वालीको इतना रंग-रूप दिया गया, जिसको सुनकर वहाँ लज्जाको भी लज्जा आने लगी। हमारे धर्मप्रधान देशमें, जहाँ वीराङ्गनाएँ धर्मके लिये प्राणों-की आहुतियाँ देतीं थीं, आज पश्चिमीय सभ्यतामें पड़कर विलासिताके लिये धर्मकी आहुतियाँ देनेको तत्पर हो रही हैं। मैं तो इसे कभी सभ्य सोसायटी कहनेको तैयार नहीं हूँ। यह तो पाशविक जीवन है, जो हमारे जीवनको तथा हमारे बच्चोंकी जीवन-जड़ोंको खोखला कर रहा है। मैं बड़े दुःखके साथ निवेदन करती हूँ कि हमारे देशके प्रतिनिधि इन पतनकारी क्लबोंकी ओर शीघ्र ध्यान दें। जनताका उत्थान ही देशका उत्थान है, आनेवाली पीढ़ियोंका उत्थान है। हमारा देश समृद्धिशाली और शक्तिशाली तभी हो सकेगा, जब ऐसी सोसायटियोंका अस्तित्व नहीं रहेगा, जहाँ विलासिता, अनाचार और साकी-सुराहीके तराने हों। हमारी पञ्चवर्षीय योजना भी तभी सफल हो सकती है, अन्यथा नहीं।

—एक बहन

(६)

ऋण-परिशोध

कुछ ही समय पहलेकी यह सत्य घटना है। उस दिन हमारे घरमें दो विवाह थे। घर सगे-सम्बन्धियोंसे भरा था। मैं काममें खूब लगी इधर-उधर दौड़ रही थी। इतनेमें मेरी नजर महिलाओंसे खचाखच भरे कमरेमें एक पारसी बहिनपर पड़ी। वे जरा क्षोभके साथ परंतु शान्तिसे बैठी थीं।

चौदह-पंद्रह वर्ष पहले इस बहिनसे मिलना हुआ था, अतः मैं इनको लगभग भूल गयी थी। नाम भी याद नहीं आया। मैंने उनको सब लोगोंके बीचसे थोड़ा

अलग बुलाकर कुछ रुखाईसे पूछा—'क्यों बहिन ! क्या काम है ? आप बहुत वर्षों बाद आयीं, परंतु आज तो मैं बहुत काममें फँसी हूँ ।' वह बहिन उत्तर देनेके बदले अचानक मेरे पैरोंपर गिर पड़ीं । मुझे बड़ा अचरज हुआ और मैंने समझा कि इन बहिनको कुछ सहायताकी जरूरत होगी । इसी विचारमें उनको उठाकर मैं आश्चर्यसे उनकी ओर देखती रही । उन्होंने आँखोंमें आँसू भरकर अत्यन्त प्रेमके साथ मेरे सामने एक लिफाफा रख दिया । मैंने जल्दी-जल्दीमें लिफाफा खोलकर देखा तो उसमें ५००) रुपये थे । मैंने पूछा—'ये किस लिये हैं ?' उन्होंने आँखोंमें आँसू होनेपर भी मुसकराते हुए कहा—'आपने पंद्रह वर्ष पहले मेरे विवाहके लिये सहायता दी थी । उस विवाहके बाद मैं साधारणतया सुखी हूँ । हर महीने चार-पाँच रुपये बचा-बचाकर आज मैं पूरे इकट्ठे कर पायी हूँ और आपको वापस दे रही हूँ ।' मेरी आँखें छलक उठीं । मैंने कहा—'बहिन ! रुपये वापस लेनेके लिये मैंने नहीं दिये थे । मुझे तो इनकी याद भी नहीं है । दिया हुआ दान वापस नहीं लिया जाता ।'

उन्होंने बड़ा ही सुन्दर हृदयस्पर्शी उत्तर दिया—'ये रुपये तो आपको रखने ही पड़ेंगे । इनमेंसे मुझ-जैसी दुखी और गरीब बहिनोंकी मदद कीजियेगा ।'

अहा ! गरीब होनेपर भी कितना अमीर हृदय ! कितनी उदारता !

—सुमित्रा कमाणी

(७)

प्रार्थनाका महत्त्व

तीन वर्ष पहलेकी हमारे जीवनकी एक घटना है । मैं लगभग चार-पाँच वर्षोंसे दमा रोगसे पीड़ित हूँ, जिसके कारण मुझसे शारीरिक परिश्रम नहीं हो सकता । उस दिन मैं अकस्मात् अपने घरपर स्नान करते समय पत्थरपर गिर पड़ा, जो पानीके नलके नीचे रखा था । मैं उठ न सका और बहुत जोरोंसे दर्द शुरू हो गया । किसी प्रकार टाँगकर एक कमरेमें खाटपर डाल दिया गया । पैरको जरा-सा हिलाने-डुलानेमें भी असह्य दर्द होता था । यों ही एक तरह पड़ा रहा । पाँच दिनों बाद कुछ दर्द कम होनेपर बाँयें चूतड़की हड्डीका एक्सरे कराया गया । मालूम पड़ा कि हड्डी टूट गयी है । डाक्टरोंने कमरसे नीचेतक समूचे बाँयें पैरमें प्लास्तरपट्टी बाँध देनेकी राय दी और कम-से-कम तीन महीने एक ही अवस्थामें पड़े रहनेका आदेश दिया । कुछ लोगोंने राय दी कि पट्टी यहाँ न बँधवाकर पटनेमें ज्यादा अनुभवी डाक्टरसे बँधवाना ठीक होगा । मैं इन सब बातोंको सुनकर बहुत घबरा उठा; क्योंकि न तो पटने जानेका उस हालतमें अवकाश था और न प्रबन्ध ही हो सकता था ।

अतः मैं परिस्थितिपर रो उठा और अन्तःकरणसे उनकी कृपाके लिये करुण पुकार निकल पड़ी । और तत्क्षण हृदयमें दृढ़ संकल्प उठा कि 'घबराओ मत, ठीक हो जाओगे ।'

मैं उसी अवस्थामें बिना किसी दवा या उपचारके खाटपर पड़ा रहा; क्योंकि और दर्द तो कम हो गया था, परंतु जरा-सा पैर हिल-डुल जानेसे असह्य पीड़ा होती थी ।

लगभग आठ दिनोंमें हिल-डुल करनेपर भी दर्द नहीं होने लगा, होता भी तो बहुत हीं कम । दूसरे सप्ताहमें मैं उठ खड़ा हो गया, हड्डी स्वतः जुड़ गयी, दर्द भी जाता रहा, और आजतक किसी तरहकी शिकायत उस हड्डीमें नहीं हुई ।

ईश्वरकी बहुत लंबी बाँह है । जिस चीजको डाक्टर उपचार करनेपर तीन महीनेमें भी अच्छे होनेकी गारंटी नहीं दे सकता, उसीको उनकी कृपा क्षणभरमें गारंटी दे देती है ।

कौन कहता है कि प्रार्थनाका फल नहीं होता? कौन कहता है कि पुकार सुनी नहीं जाती? कमी है तो हममें, आपमें है, हमारे विश्वासमें है, उन परमात्मामें नहीं है। प्रार्थना तथा पुकार ऐसे समयमें हो जो उपयुक्त हो, विश्वासपूर्ण हो, शुद्ध चित्तसे हो और सच्चे अन्तःकरणसे हो, जब चारों ओरसे मनुष्य घिर जाय, उसका धैर्य टूट जाय, वह सहायतासे रहित हो जाय, और साथ-साथ अटल विश्वास तथा श्रद्धा-भक्ति हृदयमें भरी हो।

—हरिहरप्रसाद लोहानी

(८)

सद्व्यवहारसे प्रेम

यह घटना पाँच महीने पहलेकी है। हमारे घरके पास ही एक दूकानदार रहते हैं। हम भी किरायेदार हैं और वे भी। उनकी आदतोंसे हम लाचार थे। माताजीमें और दूकानदारकी पत्नीमें अच्छा व्यवहार नहीं था, सदा अनबन चलती थी।

उन दूकानदारका लड़का बीमार था, दो-चार दिनके बाद वह ठीक हुआ। किंतु कमजोरी बहुत थी। वह लड़का दूकानमें गया और थोड़ी देरके बाद १९ सीढ़ी पारकर घर आया। पर कमजोरीके कारण अपनेको सम्हाल नहीं सका, बेहोश हो गया; सबको शङ्का हो गयी कि अब वह बचेगा नहीं। माताजी यह सुनते ही भागीं एवं बच्चेको गोदमें लेकर उसके मुँह और आँखोंपर पानीके छींटे दिये और पंखा झला। बच्चा दो घंटेमें पूर्ण स्वस्थ हो गया। दूकानदारकी पत्नी कृतज्ञतासे बोली—'माताजी! अगर आप न होतीं तो लड़का इस संसारसे चला जाता।'

दशहरोंकी छुट्टियोंमें जब हम घर आये तो माताजीसे पूछा कि दूकानदारकी पत्नी आपसे अच्छी तरह बोलती है या नहीं। माताजीने पूरी घटना कह सुनायी और कहा—उसका मेरे प्रति और मेरा उसके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं था। वह मेरी पड़ोसिन है। बच्चेको मैंने सँभाला, इसमें क्या बात है। बच्चेसे दुश्मनी थोड़े ही थी। यह तो मित्रका कर्तव्य है।

मैंने मनमें विचार किया—'धन्य माताजी आपकी सहृदयताको एवं दयालुताको।'

मैंने भी यह पाठ सीख लिया कि कोई दुश्मन भी क्यों न हो, विपत्तिमें उसका अवश्य साथ देना चाहिये।

—सरोज मोहन पलाशी

(९)

श्रद्धाका फल

मैंने एक बार किसी साहूकारसे दो सौ रुपये उधार लिये। नियत समयसे तीन मास ऊपर हो गये। परंतु मैं उन्हें लौटा नहीं पाया। साहूकारका आदमी प्रति सप्ताह किवाड़ खटखटाता और बुरा-भला कहकर चला जाता।

एक दिन साहूकार स्वयं मेरे द्वारपर आ धमका और बहुत बुरी तरहसे पेश आया। जाते समय कह गया—'संध्यातक यदि रुपये न दिये तो मुझ-सा बुरा तुम्हें न मिलेगा।'

मेरे पास रुपये थे नहीं, मैं बड़ी चिन्तामें पड़ा। मुझे सेठकी धमकी बार-बार याद आने लगी। इतनेमें मेरी दृष्टि चौकीपर रक्खी हुई माता लक्ष्मीकी चित्र-प्रतिमापर पड़ी। मेरी पत्नी इनकी सदा पूजा किया करती थी। मैं माताके चरणोंपर सिर धरकर उपाय सोचने लगा। मैंने कहा—माता! तू ही बता, मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? आज तेरे होने-न-होनेका, और मेरी सचाई और झुठाईकी परीक्षा है। मेरी आँख कब लग गयी, मैं कह नहीं सकता।

सोये-सोये ही मुझे किसीने छू दिया कि मेरे मुँहसे चौंककर 'साहूकारजी' निकल पड़ा। परंतु ये साहूकार नहीं, मेरे मित्र गणेशदासजी थे। इन्होंने मुझे पूछा "अरे भाई! ये भीगी-भीगी आँखें और अचानक मेरे छूते ही 'साहूकारजी'का उच्चारण—

यह क्या बात है ?' इनके पूछनेपर मैंने सारी कहानी कह सुनायी। सुनते ही गणेशजीने जोरसे एक कहकहा लगाया। मुझे बहुत बुरा लगा कि मैं इतना दुखी हूँ और ये मुझे देख खुश हो रहे हैं। इन्होंने कहा—'भाई ! कमाल है। आज ही साहूकारने तुम्हें धमकी दी, अपनी पत्नीकी मृत्युके बाद आज ही तुमने लक्ष्मी माताके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक सिर रक्खा और आज ही मैं तुम्हारा कर्ज चुकाने आ गया। बस, यही समझो, माता.लक्ष्मीका तुम्हें आशीर्वाद मिल गया।'

मैं हैरान हुआ कि यह कर्ज कैसा। तब इन्होंने बताया कि 'मैंने अपनी बेटीकी शादीके समय तुम्हारी स्वर्गीया पत्नीसे रुपये लिये थे। तुम्हें पता ही नहीं था। यद्यपि उसके मरनेकी खबर पाकर मेरे मनमें कपट आ गया था, तो भी मुझे ऐसा लगता है—लक्ष्मी माताकी ओर तुम्हारी श्रद्धा-भक्ति ही तुझे यहाँ खींच लायी है। गिनती कर लो, पूरे सवा तीन सौ हैं।'

मैं गद्गद हो गया। मैंने फिर माताके चरणोंमें नमस्कार किया। माता! मैंने कितने दिनों बाद तुझे श्रद्धा अर्पण की, परंतु तूने तो हाथों-हाथ उसका महान् फल भी दे दिया।

जय हो लक्ष्मी मैयाकी।

—सुतीक्ष्णानन्द

(१०)

ऋणमुक्ति

पिताजीकी मृत्युके होनेसे बचपनमें ही घरका भार बेचारे रावतमल बाबूपर आ पड़ा। ये अपने पिताके एकमात्र पुत्र थे। घरकी हालत भी अच्छी नहीं थी। व्यापार करके अपने दो लड़के एवं एक विधवा लड़कीका पालन-पोषण करते थे। इनको कार्यवश 'हजारीमल बाबू'के पितासे कुछ कर्ज लेना पड़ा। विशेष इच्छा होनेपर भी ये कर्ज चुकानेमें असमर्थ रहे। हजारीमल बाबूके पिताजी वृद्धावस्थाके कारण खटियापर ही लेटे रहते थे। बीमारी भी बढ़ रही थी। समाजके वृद्ध एवं अपने हितैषी जानकर रावतमल बाबू प्रायः हजारीमल बाबूके पिताकी सेवामें लगे रहते थे। इसलिये वे रावतमलजीपर विशेष प्रसन्न रहते थे।

रावतमलजी कर्ज नहीं चुका सके। हजारीमलजीके वृद्ध पिताने, यह सोचकर कि, मेरी मृत्युके बाद कहीं मेरा बेटा हजारीमल नालिश, डिग्री, कुर्की करके रावतमलको तंग न करे, अपने हाथोंसे रावतमलजीके खातेको चुकता करके उठा दिया।

दुनियामें आदमीकी दशा पलटती रहती है। रावतमल बाबू ईमानदारीके साथ अपने रोजगारमें लगे रहे। धीरे-धीरे उन्होंने अच्छा पैसा कमा लिया। उनका सिद्धान्त था कि हम किसीका एक पैसा न लें; हमारा पैसा किसीके पास रह जाय तो हर्ज नहीं।' उन्होंने जान-बूझकर भी किसीका पैसा नहीं लिया।

रावतमलजीने सोचा—हजारीमलजीके पिताका कर्ज तो मेरे सिरपर है, उनके ऋणसे भी मुझे मुक्त होना चाहिये। उन्होंने उन रुपयोंका चक्रवृद्धि व्याज जोड़ा तो कुल प्रायः तीन हजार रुपये हुए। पिताके धनका हक पुत्रको होता है। इसलिये हजारीमलजीसे उन्होंने रुपये लेनेके लिये कहा।

त्यागमें शक्ति होती है। यद्यपि हजारीमलजी बहुत उदार नहीं थे, फिर भी रावतमलजीकी उदारताने उनका मन पलट दिया। 'पिताजी खाता चुकाकर गये हैं। मुझे इन रुपयोंको लेनेका हक नहीं है। अतः मैं नहीं लूँगा। आप इन रुपयोंको समाज एवं गरीबोंकी सेवामें लगा दीजिये।' यह कहकर हजारीमलजीने रुपये नहीं लिये।

श्रीरावतमलजीने उन रुपयोंको राजशाही मारवाड़ी संघके सुपुर्द कर दिया। संघकी तरफसे एक दातव्य होमियोपैथिक औषधालय खोल दिया गया, जिसकी देख-रेखका भार संघके मन्त्री श्रीगोस्वामी देवेन्द्रचैतन्य-भारतीजीने लिया।

सं० २००४ में रावतमल बाबूका स्वर्गवास हो गया था । —चौथीलाल शर्मा

(११)

एक फौजी अफसरकी सज्जनता

मुझे अपने एक रिस्तेदारके यहाँ शादीमें जाना अत्यन्त आवश्यक था । मेरे साथ दो मित्र और थे । रेलका तीसरे दर्जेका टिकट लेकर हमलोग स्थान पानेके लिये प्लेटफार्मपर गाड़ीके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक चक्कर काट रहे थे । चार-छः बार चक्कर लगानेके बाद भी हमलोगोंको कहीं खड़े होनेतकका स्थान नहीं मिल सका । हम-जैसे ही और भी बहुत-से मुसाफिर घूम रहे थे । गाड़ी मुसाफिरोंसे खचाखच भरी थी ।

हमलोग जब बड़ी परीशानीसे चक्कर काट रहे थे, उस समय मिलिट्रीके एक रिजर्व कम्पार्टमेंटके दरवाजेपर खड़े एक सज्जन हमारी ओर बराबर देख रहे थे और हमारी आँखें भी आते-जाते बरबस ही उनकी ओर खिंच जाती थीं । हमारी परीशानीको वे देख नहीं सके और आखिर उन्होंने हमें पूछ ही लिया—'आपलोग कहाँ जा रहे हैं ?' मैंने विनम्रतासे कहा—'पासके तीसरे स्टेशनतक जाना है । गाड़ीमें पैर रखनेकी भी जगह नहीं है ।'

हमलोग बात कर ही रहे थे कि इंजिनने सीटी दी और गार्डने हरी झंडी दिखा दी । हमलोग भौंचक्केसे इधर-उधर देखने लगे ।

इतनेमें ही उक्त सज्जनने हमें अपने डिब्बेमें बुला लिया । डिब्बेमें उनके सिवा और कोई नहीं था । फर्स्ट क्लासका डब्बा, आरामदेह सीटें । हमें तो स्वप्न-जैसा लग रहा था । गाड़ीके चलनेके साथ ही बातचीतका सिलसिला भी शुरू हुआ । उनके परिचयसे मालूम हुआ कि वे राजस्थानके राजपूत वंशके ऊँची खानदानके पुरुष हैं । उनके और भी चार भाई हैं । वे भी अन्य विभागोंमें ऊँचे-ऊँचे पदोंपर हैं और वे स्वतः भी मिलिट्रीमें 'मेजर'के पदपर हैं ।

मैंने अपने जीवनमें मिलिट्री-जैसे भयावह महकमेके इतने बड़े अधिकारीकी सज्जनताका नमूना पहली ही बार देखा । मैं जीवनभर उस महापुरुषकी सज्जनताको कभी नहीं भूल सकूँगा । —रेवाशंकर माँगरोले

हम अपने चुनावमें स्वतन्त्र हैं

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वे प्रत्येक सुझाव, योजना अथवा विचारका नकारात्मक ही उत्तर देते हैं । ऐसे व्यक्ति अनजानमें ही जीवनके प्रति एक विरोधात्मक दृष्टिकोण बना लेते हैं और स्वयं आश्चर्य करते हैं कि उन्हें सर्वत्र कठिनाई-ही-कठिनाई क्यों प्राप्त होती है तथा प्रत्येक मार्ग अवरुद्ध ही क्यों मिलता है।

हम अपने चुनावमें स्वतन्त्र हैं । हमें यह अधिकार प्राप्त है कि हम 'ना' या 'हाँ'को अपनायें। चुनावकी यह स्वतन्त्रता भगवान्‌की अहैतुकी देन है। किंतु किसी वस्तु, परिस्थिति अथवा विचारके प्रति 'हाँ' या 'ना' हमें यों ही नहीं कह देना चाहिये; उसके पीछे विवेक होना चाहिये ।

'हाँ' स्वीकृतिका और 'ना' अस्वीकृतिका पर्याय है और दोनोंका महत्त्व है। हमें अपने विवेकको, अंदरके सत्‌को इतना जागरूक रखना चाहिये कि जीवनके प्रति हमारी 'हाँ' हो, जीवनको विकास, पुष्टि, स्वस्थता एवं सफलताकी ओर ले जानेवाले विचारोंके प्रति 'हाँ' हो। इसके विपरीत भय, संदेह, विषादके प्रति हमारी सदा 'ना' रहे। निराशामय भावनाओंके प्रति 'ना' रहे, हतोत्साह एवं नैराश्य उत्पन्न करनेवाले विचारों और मान्यताओंके प्रति सदैव 'ना' रहे ।

भगवान्‌ने नीर-क्षीर-विवेककी शक्ति हमें दी है । हमें इसका बुद्धिमानीके साथ उपयोग करना चाहिये और हमें सदा ऐसी ही वस्तुओंका चुनाव करना चाहिये, जो सत् हों, जो भगवान्‌की हों, और जो निरन्तर हमें भगवान्‌की ओर ले जानेवाली हों ।

हम अपने चुनावमें स्वतन्त्र हैं ।

श्रीमद्भागवतका एक अध्याय

(लेखक—श्रीअनन्तकुमारजी पाषाण)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मकी कथा और लीलाका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें है। प्रस्तुत लेखमें गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित सटीक संस्करणका उपयोग किया जायगा।

हम केवल प्रथम अध्यायको लेंगे। राजा परीक्षित् शुकदेवजीसे भगवान्‌की लीलाका वर्णन करनेकी प्रार्थना करतें हैं। भगवान्‌के पवित्र चरित्रके सम्बन्धमें उक्ति है कि सांसारिक तृष्णासे मुक्त मुमुक्षुजनोंको उसका गान करनेमें विशेष आनन्द मिलता है। यहाँ मुमुक्षुका क्या अर्थ है? भक्त मुक्ति नहीं चाहता। फिर मुमुक्षु क्यों कहा? मुक्तिका इच्छुक—कैसे? कौन? अर्थ है कि सांसारिक स्वार्थकी व्यर्थताको समझ लेनेपर जो तृष्णासे मुक्तिका इच्छुक है। तृष्णासे मुक्ति क्यों? आखिर तृष्णामें क्या बुराई है? तृष्णा वैसे बड़ी अच्छी चीज है, किंतु तृष्णा किसकी? साँपके काटेको नीमकी पत्तियाँ भी मीठी लगती हैं। यदि उसे नीम कड़वा लगने लगे तो ओझा समझता है कि विष उतर रहा है। जब संसारके स्वार्थ-सम्बन्ध कड़वे लगने लगें, तब मायाका विष उतरता समझना चाहिये। फिर रोगी-को स्वादकी सत्यता माळूम होगी। शक्कर मीठी लगेगी, नीम कड़वा लगेगा। तब उसे अपनी रसनापर विश्वास करना चाहिये।

इसलिये पहले सांसारिक तृष्णाका विष उतरना चाहिये; फिर ईश्वरके लिये एकनिष्ठ तृष्णा होती है, नीमकी ओर मन नहीं जाता। मुमुक्षुका अर्थ है—विषय-विषसे मुक्त होनेके इच्छुक तृष्णा-सर्पिणीद्वारा काटे हुए लोग। 'मुमुक्षु'का अर्थ श्रीशङ्कराचार्यने वेदान्तकी दृष्टिसे भी यही लिया है। आत्मा तो अज और अमर ही है, केवल देहासक्तिसे वह जन्म लेती प्रतीत होती है। मुक्त पुरुष वह है जो अपनेको आत्मा जानता है। फिर देह रहे या जाय, कोई अन्तर नहीं पड़ता। लोग आम तौर-पर 'मुमुक्षु' और 'मुक्ति' का जो अर्थ लगाते हैं, वह गलत है। श्रीनिम्बार्ककी उत्कृष्ट वेदान्त-सूत्र-टीकामें यह एक बड़ी समस्या है। वे मृत्यु हुए विना मुक्ति-को सम्भव नहीं मानते। यह दृष्टिकोण समझना कठिन है। मूलतः हिंदू-दर्शनने श्रीशंकराचार्यके जीवन्मुक्त दृष्टिकोणको लिया है। परमहंस रामकृष्णदेवने भी।

फिर आगे उक्ति है कि भगवान्‌का चरित्र केवल मुमुक्षुजनोंके लिये ही तृप्तिदायक हो, ऐसा नहीं है। ऐसा होनेसे वह एकाङ्गी हो जायगा; क्योंकि संसारमें मुमुक्षुजन संख्यामें बहुत थोड़े हैं। भगवान्‌का चरित्र यदि मुमुक्षुजनोंको प्रिय लगे तो इसमें उसकी कुछ बड़ाई ही नहीं है। अरे, जिसने संसारकी तृष्णाको जीत लिया, उसे भगवान्‌का चरित्र प्रिय नहीं लगेगा तो क्या लगेगा? इसमें उस चरित्रकी क्या विशेषता हुई? चरित्रका महत्त्व तो इसमें होगा कि तृष्णामें लिप्त लोग भी उसे सुनें और अकथ्य रस पायें। ऐसा होनेसे वे भी मुमुक्षु बन सकेंगे। जिसका विष उतर गया है उसे ही चरित्रमें रस मिले तो क्या रहा? हाँ, अगर चरित्रके सुननेमें विष उतरनेकी प्रतीति होती हो तो बात भी बनती है। इसलिये उक्ति है कि विषयी लोगोंके भी कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है भगवान्‌का चरित्र।

फिर आगे एक कठिनता आती है। कहा गया है कि पशुघाती और आत्मघातीको छोड़कर भगवान्‌के चरित्रसे कोई विमुख नहीं हो सकता। यदि पशुघाती और आत्मघाती ही विमुख हो जाय तो फिर भगवान्‌की महिमा क्या हुई? उन पशुघाती और आत्मघाती लोगोंके लिये फिर कौन-सी आशा रही? इसका पूर्ण अर्थ समझनेके लिये दो बातें

समझनी जरूरी हैं । पहली तो यह कि पशुघातीके साथ ही आत्मघाती कहनेका एक विशेष अर्थ है । पशुकी हत्याद्वारा स्वयं अपनी ही हत्या होती है—अर्थात् पशुमें और स्वयं अपनेमें ज्ञानीजन कोई भेद नहीं जानते । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कुत्तेका उदाहरण देकर यही बात कही गयी है । परमहंस रामकृष्णदेव भी कुत्तोंके साथ भोजन करते थे । दूसरे यह कि पशुघाती और आत्मघाती भी यदि भगवान्‌की शरण आ जायँ तो फिर उनमें कोई दोष नहीं रहता । जैसा कि गीतामें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(गीता ९ । ३०)

अर्थात् यदि कोई परम दुराचारी व्यक्ति भी मेरी शरणमें आ जाय तो उसे परम साधु समझना चाहिये । जो व्यक्ति भगवान्‌की शरणमें आये हुए व्यक्तिका व्यतीत लेकर टीका-टिप्पणी करता है वह महादुराचारी है ।

गौराङ्ग महाप्रभुने शहरके सबसे बड़े गुंडों—जगाई-मधाईको जब गलेसे लगाया तभी यह भी कहा कि जो व्यक्ति आजसे कभी भी तुम लोगोंकी भक्तिको छोड़कर किसी दोषका प्रसङ्ग चलायेगा, वह ईश्वरका कभी प्रिय नहीं होगा । परमहंस रामकृष्णदेवने बँगलाके प्रसिद्ध नाटककार गिरीश घोषको महान् आत्मा घोषित किया था । स्वयं स्वामी विवेकानन्दको गिरीशमें बहुत श्रद्धा थी । परमहंसदेवसे मिलनेके पहले गिरीशने कुछ ऐसा जीवन बिताया था जो आदर्श नहीं कहा जा सकता । जिनकी शरण जाकर बड़े-बड़े डाकू महान् संत बन गये, उनमें दृष्टिभेद नहीं देखा जा सकता ।

अतः आत्मघातको छोड़कर आत्म-साक्षात्कारकी ओर जानेपर ईश्वरमें अवश्य रस आयेगा ।

फिर आगे सातवें श्लोकमें भगवान्‌के स्वरूपके विषयमें कहा गया है । क्या ईश्वरमात्र अवतारमें हैं ? क्या मानव-शरीरमें अवतीर्ण होकर वह देश-कालसे सीमित हो सकते हैं ? इसका उत्तर अत्यन्त संक्षिप्तमें दिया गया है—

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १ । ७)

भगवान् समस्त देहधारियोंमें उनके अन्तरात्मारूपसे विद्यमान हैं और अमरत्वका दान कर रहे हैं और बाहर कालरूपसे वही भगवान् मृत्युके कारण हैं । मनुष्यके रूपमें प्रतीत होना तो उनकी एक लीला है ।

आत्मा अमर है । ईश्वर ही मनुष्यका वह अमरत्व हैं । मुझमें जो अमर है वही मेरा ईश्वर है । बाहर वही ईश्वर काल हैं । जो शरीर है उसकी मृत्युके कारण भी हैं । मेरे ही भीतरका अमर तत्त्व बाहर काल होकर प्रकट हुआ है । अद्वैत-दर्शनमें भी यही है ।

रवीन्द्रनाथका एक गीत है जिसमें मरणको उन्होंने ईश्वर कहा है । और आगे जानेपर मालूम होता है कि मैं जो जीवन हूँ, मरण भी हूँ । भीतर हूँ तो जीवन हूँ, बाहर आनेपर मरण बनता हूँ । कालीके रुद्ररूपकी उपासना कालकी उसी शक्तिकी उपासना है ।

मगर मुझमें ही नहीं, ईश्वर समस्त देहधारियोंमें विद्यमान हैं । जिस प्रकार अनन्त आकाश (Space) में अनेकों घर खड़े कर देनेपर भी आकाश अविभाजित अखण्ड समस्त घरोंमें समानरूपसे विद्यमान रहता है, उसी प्रकार करोड़ों देहधारियोंमें ईश्वरकी सत्ता है । परमहंस रामकृष्णदेव भी कहते थे कि नरमें ही नारायण-का दर्शन होता है ।

इसी तरह प्रश्न पूछते हुए आगे परीक्षित् कहते हैं कि जो लीलाएँ मैंने पूछी हैं और जो नहीं पूछीं, वे सब ही आप मुझे सुनाइये । यहाँ 'नहीं पूछीं' वाली बात ध्यान देने योग्य है । भगवान्‌की सब लीलाओंका ज्ञान होना असम्भव है, अतः भक्त अपने ज्ञानकी सीमा-को पहले ही स्वीकार कर लेता है ।

राजा परीक्षित् कहते हैं कि जिस भूख और प्याससे विकल होकर मैंने ऋषिके गलेमें सर्प डालने-जैसा अनुचित कर्म कर डाला था, वही अब मेरे सम्मुख कुछ नहीं है। जबतक भगवान्‌की लीलामें रस न लेकर मृगया आदिमें व्यस्त रहे, तबतक शरीरके दास बने हे। दास भी कैसे कि क्रीतदास! समाधिमें मग्न मुनिके गलेमें मरा साँप डाल दिया! भूख और प्यासने सारी विवेक-बुद्धि हर ली। परंतु अब स्वेच्छासे अन्न-जल छोड़ सकते हैं और उनका अभाव नहीं मालूम होता। कारण यह है कि सांसारिक स्वार्थोंसे ऊपर उठकर चित्त अब भगवान्‌में लग गया है।

'पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥'

(श्रीमद्भा० १० । १ । १३)

आपके मुखकमलसे झरती हुई भगवान्‌की लीला-कथाका पान कर रहा हूँ। जिस मुखसे भगवान्‌की लीला-कथाकी सुधा झरती है, अवश्य ही वह कमलके समान है।

परमहंस रामकृष्णदेवने एक महीना पानी नहीं पिया था—उपचार करवा रहे थे। कहते थे—'मैं क्या बदक हूँ जो पानी पिऊँगा! मैं हूँ परमहंस! दूध पीना ही मेरी प्रकृति है!' स्वामी विवेकानन्दने भी दो महीने पानी नहीं पिया था। कुल्ला करते हुए गलेकी मांसपेशियाँ आप-ही-आप बंद हो जाती थीं। ईश्वरमें स्थित होनेके बाद भूख और प्यासकी क्या मजाल कि पास फटक जाय।

फिर शुकदेवजी राजा परीक्षित्‌का अभिनन्दन करते हैं। जो भगवान्‌की लीला-कथा सुननेका इतना इच्छुक हो वह अवश्य ही अभिनन्दनीय है। जो शुकदेवजी परम वैरागी हैं—वे भी राजाका अभिनन्दन करते हैं।

आगे अभिनन्दन करनेका कारण स्वयं शुकदेवजीने ही स्पष्ट किया है। भगवान् श्रीकृष्णकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न मात्र करना ही परम पवित्रताका कारण बताया गया है।

संत्रस्त पृथ्वी गौका रूप धारण करके ब्रह्माजीके पास गयी। ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते-करते समाधिस्थ हो गये। समाधिकी अवस्थामें उन्होंने आकाशवाणी सुनी। यह बहुत बड़ी बात है। ऐन्द्रियक जगत्में इन्द्रियातीत ईश्वरको देखा और सुना नहीं जा सकता। समाधिमें जानेपर जब कान सुनना बंद कर देते हैं और आँखें देखना, ईश्वरकी वाणी तभी सुनायी पड़ती है। परमहंस रामकृष्णदेव कहा करते थे कि चर्म-चक्षुसे ईश्वरको नहीं देखा जाता। उनके देखनेके लिये प्रेम-चक्षु होते हैं। भारतीय जनताने सदा 'हियेकी आँखों' की प्रतिष्ठा की है।

फिर भगवान्‌के अवतारका आश्वासन है। क्या अवतार होते हैं? क्या जो निर्गुण हैं, निराकार हैं, वे सगुण भी हो सकते हैं? परमहंस रामकृष्णदेवने कहा था कि निर्गुण समुद्रमें भक्तिकी ठंढकसे जगह-जगह बर्फ जम जाती है, अरूप जल बर्फका स्वरूप धारण करता है। मनुष्यकी छटाँकभर बुद्धिसे ईश्वरकी अनन्त लीलाएँ कैसे समझी जा सकती हैं? क्या सेरभरके लोटेमें चार सेर दूध आ सकता है? एक चींटीने चीनीका पहाड़ देखा और सोचा कि पहाड़-का-पहाड़ उठाकर अपने बिलमें ले जायगी। एक दानेसे ज्यादा न ले जा सकी। सोचने लगी कि कोई बात नहीं, कल आकर पूरा पहाड़ ले जाऊँगी। कलारकी दूकानमें कितने मन शराब है, यह किसकी बुद्धि है। जितनी शराबसे नशा हो जाय, शराबीके लिये तो उतनी ही बहुत है। ईश्वर सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं, और भी वह न जाने वे क्या-क्या हैं और हो सकते हैं। जो निर्गुणको मानते हैं, मानें; पर ताल ठोंककर यह न कहें कि ईश्वर निर्गुण ही हैं, सगुण नहीं। ऐसे ही सगुणोपासना करनेवाले भी हठ न करें। जबतक ईश्वरका दर्शन नहीं होता तबतक कुछ समझमें नहीं आता। महात्मा कबीरदासने कहा था—

'निर्गुन तो है पिता हमारा और सगुन महतारी।'

देवकीकी बारात चली। उग्रसेनका लड़का कंस अपनी चचेरी बहिनका रथ स्वयं हाँकने लगा। हालाँकि

ऐसी कोई जरूरत नहीं थी कि कंस अपनी बहिनका रथ हाँके। पर नहीं, वह तो अपनी चचेरी बहिनको प्रसन्न करना चाहता था। यह भी एक नाटकीय व्यङ्ग्य—Dramatic irony है। कंस अपने उत्कट स्नेहका विज्ञापन करना चाहता है। बहिन जा रही है। भाईका हृदय उमड़ आया है।

मगर कबतक? आकाशवाणी होती है—'अरे मूर्ख! जिसको तू रथमें बैठाकर लिये जा रहा है, उसके आठवें गर्भकी संतान तुझे मार डालेगी!' बस, भाईका स्नेह काफूर! जो कंस एक घड़ी पहले हजारों नौकरोंके होते भी अपनी बहिनका रथ हाँक रहा था, बहिनके प्रति स्नेहसे जिसका हृदय उमड़ा पड़ता था, वही अब बहिनकी चोटी पकड़कर खींच रहा है! सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध ऐसा ही होता है। इसीको 'स्वार्थ' कहते हैं। जबतक स्वयं हम सुरक्षित हैं तबतक सब प्रकारके स्नेह-व्यापार चल रहे हैं। जहाँ स्वयं हमारी जान खतरेमें पड़ी कि बस,—फिर कौन किसका भाई और कौन किसकी बहिन!

वसुदेवजीने कंसको बहुत समझाया, उसमें आत्मसम्मानके भाव जगाये, जीवनकी नश्वरता और कर्मकी अटलताके मानचित्र दिखलाये, दर्शन और धर्मको लेकर कर्तव्यकी विवेचना की, पर कंसको तो अपनी जानके लाले पड़े थे। स्वयं अपनी सुरक्षाके लिये दूसरोंको पीड़ा देना और उनकी जानका ग्राहक बन जाना, स्वार्थ इसीको कहते हैं। दूसरोंकी सुरक्षाके लिये अपने प्राणतक न्यौछावर कर देना परमार्थ है। जो मरनेसे डरता है, परमार्थ उसके लिये नहीं है। स्वार्थसे अन्धे व्यक्तिको परमार्थका उपदेश कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता। कंस अपने स्वार्थसे विवश था। उसने वसुदेवजीकी एक न सुनी।

वसुदेवजी बहुत सोचमें पड़े। इस स्थलपर जो श्लोक है, वह नीतिका अत्युत्तम उपदेश है—

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः॥
(श्रीमद्भा० १०।१।४८)

'बुद्धिमान् पुरुषको अपनी समस्त बुद्धि और बल लगाकर मृत्युको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर भी वह न टले तो प्रयत्न करनेवालेका कोई दोष नहीं रहता।' अर्थात् आसन्न मृत्युसे न लड़कर निष्क्रिय हो जाना, धर्मकी दृष्टिसे महान् दोष है।

वसुदेवजी वीर थे। स्वयं भगवान् जिनके पुत्र बने, उन्हें वीर तो होना ही चाहिये। हृदयकी पीड़ाको छिपाकर हँसते-हँसते उन्होंने कंससे वायदा किया कि 'जन्म होते ही वे अपने पुत्र उसको लाकर दे देंगे।'

कंसको तुरंत विश्वास हो गया। वसुदेवजी झूठ नहीं बोल सकते। उसने उनकी बात मान ली। यह भी एक बात है जिसके शत्रु भी उसका आदर करते हों, वास्तवमें वीर तो वही है। कंस वसुदेवका शत्रु हो रहा था, पर उसने भी उनका विश्वास किया। वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोल सकते, यह उसे विश्वास था।

आगे यह और भी स्पष्ट हो गया है। वसुदेवजी जब कंसको अपने नवजात शिशु लाकर दे देते हैं तो उन्हें अतिशय कष्ट होता है, पर हत्यारेके हाथों अपने नवजात शिशु देनेके कष्टसे भी अधिक कष्ट उन्हें इस बातका होता कि कहीं उनके वचन झूठे न हो जायँ। और फिर एक श्लोकमें महान् नीतिका उपदेश है—

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१।५८)

'साधु बड़े-से-बड़ा कष्ट भी सह सकते हैं, ज्ञानियोंको किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, नीच पुरुष बुरे-से-बुरा काम भी कर सकते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं, वे सब कुछ त्याग सकते हैं।'

मासिक 'महाभारत'के चौथे वर्षमें

हरिवंशपुराण और जैमिनीय अश्वमेधपर्व—दोनों ग्रन्थ (सानुवाद)

प्रतिमास १४४ पृष्ठ, प्रत्येक अङ्कमें १ बहुरंगा और ४ सादे चित्र, वार्षिक चंदा १५), एक प्रतिका १।।) डाकखर्चसहित ।

अनेक ग्राहकोंका आग्रह था कि हरिवंशके बिना महाभारत अधूरा ही रह जाता है। यह तो महाभारतका खिल पर्व—परिशिष्ट भाग माना जाता है। अतः एक तरहसे अविच्छेद्य अङ्ग है। इसमें तीन पर्व हैं—हरिवंशपर्व, विष्णुपर्व और भविष्यपर्व। हरिवंशमें भगवान् विष्णुसे आरम्भ होनेवाली मानव-वंशपरम्पराका विशद वर्णन है। विष्णुपर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ तथा भविष्यपर्वमें जनमेजयका वंश, युगधर्म, योगभूमि तथा वाराह आदि अवतारोंके चरित्रका वर्णन है।

जैमिनीय अश्वमेधपर्वमें राजा युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञकी विस्तृत कथाके साथ अनेक उपदेशप्रद सुन्दर उपाख्यानोंका संकलन है।

इन दोनों ग्रन्थरत्नोंके स्वाध्यायसे भारतीय इतिहासके अनेक अज्ञात रहस्योंका उद्घाटन तथा सद्भावोंका उद्बोधन होता है।

महाभारत मासिक-पत्रके ग्राहकोंसे प्रार्थना है कि वे यथाशीघ्र मनीआर्डरद्वारा वार्षिक चंदा १५) भेजकर स्वयं चौथे वर्षके ग्राहक बननेकी कृपा करें एवं अपने इष्ट-मित्रोंको भी ग्राहक बनानेकी चेष्टा करें।

व्यवस्थापक—महाभारत, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नित्य पाठ करनेके लिये चार नये सहस्रनाम और दो ट्रैक्ट

शिवसहस्रनामस्तोत्रम् (मूलमात्रम्)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ५६, मोटे अक्षर, सुन्दर टाइटल, मू० -)॥ डाकखर्च अलग।

श्रीमहाभारतके अनुशासनपर्वमें वर्णित भगवान् शिवका यह सुन्दर सहस्रनाम भक्तोंके लिये आनन्ददायक पुस्तक है।

श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम् (मूलमात्रम्)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४८, सुन्दर टाइटल, मू० -)॥ डाकखर्च अलग। इसमें प्रारम्भमें 'श्रीरामाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र' है तथा उसके बाद श्रीरामसहस्रनामस्तोत्र दिया गया है।

श्रीश्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम् (मूलमात्रम्)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ६४, मोटे अक्षर, सुन्दर टाइटल, मू० =) डाकखर्च अलग।

श्रीनारदपञ्चरात्रके ज्ञानामृतसारका यह श्रीश्रीराधिकासहस्रनामका पाठ करने-करानेवालोंको भगवान् माधवकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। ऐसा इस ग्रन्थकी फलश्रुतिमें लिखा है।

श्रीलक्ष्मीनृसिंहसहस्रनामस्तोत्रम् (मूलमात्रम्)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठसंख्या ८०, सुन्दर टाइटल, मूल =)॥ डाकखर्च अलग।

श्रीनृसिंहपुराणके नृसिंह-प्रादुर्भावमें सर्वार्थ-साधक यह दिव्य श्रीलक्ष्मीनृसिंहसहस्रनाम नामक स्तोत्र भक्तोंको पाठ करनेमें महान् आनन्ददायक ग्रन्थ है।

गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका रहस्य

(ले०—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ३२, मू०)॥। डाकखर्च अलग।

श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्र (सरलपद्यानुवादसहित)

(अनुवादक—पं० रामनारायणदत्तजी शास्त्री)

श्रीपुष्पदन्ताचार्यविरचित प्रसिद्ध शिवमहिम्नःस्तोत्र पद्यानुवादसहित। आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ-सं० ३२, मू०)॥। डाकखर्च अलग।

उपर्युक्त ६ पुस्तकोंका एक साथ दाम ॥-) डाकखर्च रजिस्ट्रीसहित ॥।) कुल १।-)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणका मानवता-अङ्क

कृपालु लेखकोंसे विनम्र प्रार्थना

'मानवता-अङ्क' की तैयारी हो रही है । प्रेसमें सामग्री शीघ्र ही दी जानेवाली है । अतएव जिन महानुभावोंसे लेख माँगे गये हैं, वे तुरंत लिखकर भेजनेकी कृपा करें । परंतु अन्य सज्जन, जिनसे खास तौरपर लेख नहीं माँगे गये हैं, वे अब लेख-रचना आदि कृपया न भेजें; क्योंकि लेख बहुत आ गये हैं और आये हुए लेखोंमेंसे भी बहुत-से लेख स्थानाभावसे नहीं छप सकेंगे । इस विवशताके लिये हमारी विनयपूर्वक क्षमा-प्रार्थना है ।

विनीत—सम्पादक

'कल्याण'के प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य ।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७॥), सजिल्द ८।॥) ।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७॥), सजिल्द ८।॥) ।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—पूरी फाइल, मूल्य ७॥) ।

'कल्याण' का चालू विशेषाङ्क (जनवरी १९५८ का) भक्ति-अङ्क

इसमें पृष्ठ-संख्या ७०८, १५ रंगीन चित्र तथा ४६ सादे चित्र हैं । भक्तिका स्वरूप, अर्थ, महिमा एवं विभिन्न रूप, वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, दर्शन एवं अन्य शास्त्रोंमें भक्तिका स्थान, भक्तिकी सुलभता और सरलता, भक्तिका अन्य साधनोंके साथ सम्बन्ध, भक्तिकी उपयोगिता एवं शक्ति, भक्तिके प्रधान आचार्य एवं प्रवर्तक, भक्तोंके विविध भाव, विविध धर्मोंमें भक्तिका स्वरूप, नाम-महिमा, प्रार्थनाका स्वरूप, महत्त्व, आवश्यकता एवं उपयोगिता, मूर्तिपूजा तथा पूजाके विविध उपचार, वर्तमान युगके महापुरुष और भक्ति आदि अनेक विषयोंपर अधिकारी विद्वानोंद्वारा प्रकाश डाला गया है ।

यह अङ्क बड़ा ही रोचक, आकर्षक एवं शिक्षाप्रद है । इस दृष्टिसे इसकी माँग बहुत अधिक हो सकती है । अतः जो तुरंत ७॥) साढ़े सात रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा ।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

18-10-58

11 FEB 1959

कल्याण

वर्ष ३२

अङ्क १०

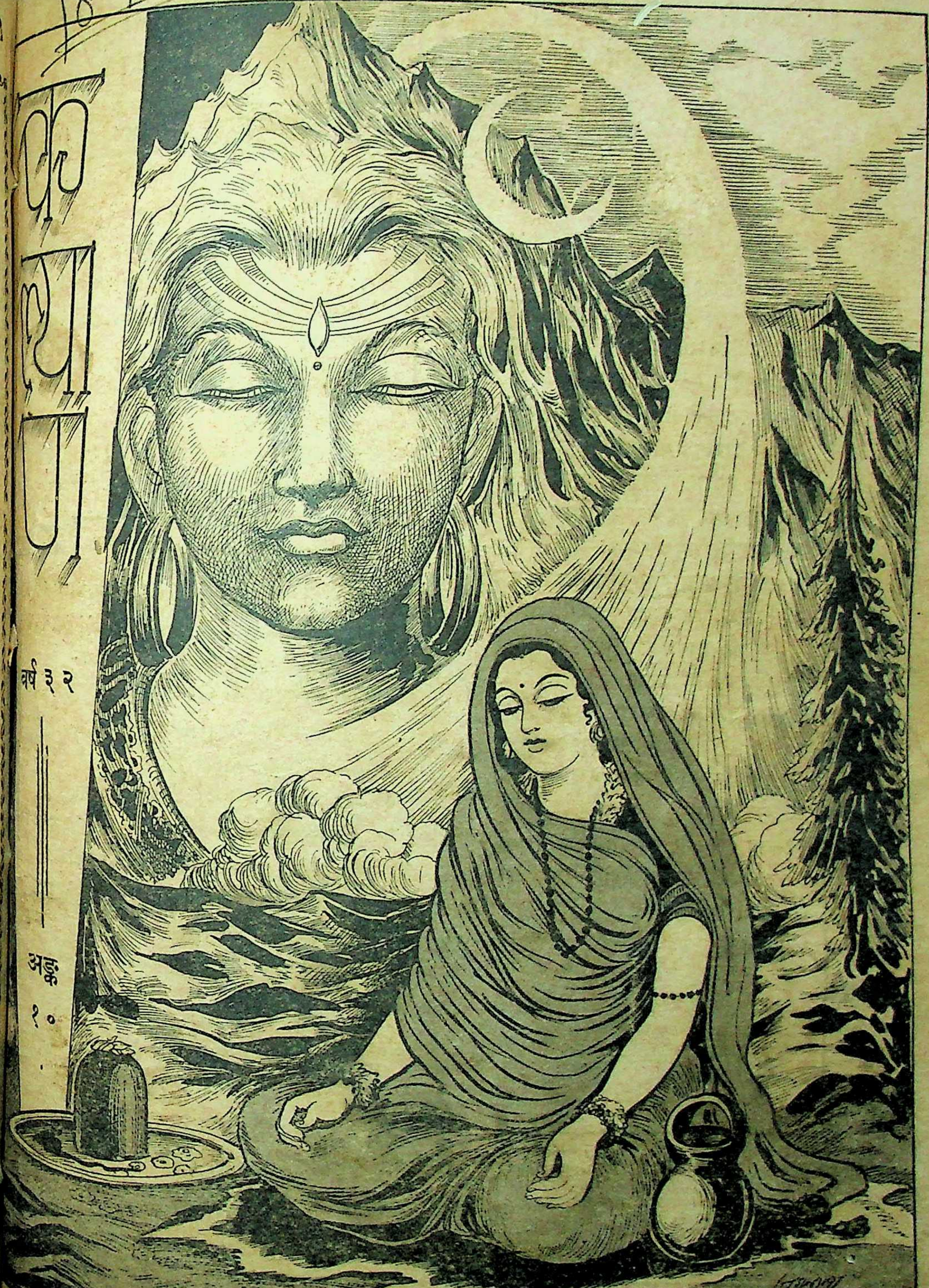

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०१५, अक्टूबर १९५८

विषय पृष्ठ-संख्या

१–हरि-हर-युद्ध [कविता] ··· १२२१
२–कल्याण ('शिव') ··· १२२२
३–सुख-दुःख-विचार (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ··· १२२३
४–मेरा जीवन भगवान्‌के प्रेमकी अभिव्यक्ति-मात्र है ··· ··· १२२८
५–भगवान्‌का विस्मरण कभी न हो (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक भाषणसे) १२२९
६–स्वयं भगवान्‌का दिव्य जन्म-महोत्सव (हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) ··· १२३५
७–भगवान्‌का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं १२४१
८–गायत्री माताकी भक्तिका विलक्षण फल [एक विश्वविख्यात आर्यसंन्यासीकी जबानी अपनी बीती सत्य कहानी] (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· १२४२
९–एक व्रजवासी साधकका अनुभव ··· १२४४
१०–निषादराज गुह और केवट एक व्यक्ति हैं अथवा दो ? (सम्मान्य पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') ··· ··· १२४५
११–संत कवि और पुनर्जन्म-भावना (डॉ० श्रीत्रिलोकीनारायणजी दीक्षित, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· १२४८
१२–गोबरकी उपादेयता ··· १२५२

विषय पृष्ठ-संख्या

१३–गाण्डीव धनुषका इतिहास (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १२५३
१४–तीर्थराज प्रयाग (डा० श्रीशिवशेखरजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०) ··· ··· १२५४
१५–मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि [कहानी] (श्री'चक्र') ··· ··· १२५६
१६–भगवान्‌की अनुभूति प्रतिक्षण मुझमें नयी आशा भर रही है ··· १२५८
१७–सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १२५९
१८–सोया-ही-सोया (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· १२६६
१९–श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग-कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) ··· १२६७
२०–उद्धवका गोपी-प्रेम [कविता] (श्रीनाथजी मेहरोत्रा, 'श्रान्त') ··· १२७०
२१–श्रीकृष्णजन्म-महोत्सव (हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) ··· १२७१
२२–आज मेरा जीवन भगवान्‌के अस्तित्वको अभिव्यक्त कर रहा है ··· १२७८
२३–पढ़ो, समझो और करो ··· १२७९

चित्र-सूची

तिरंगा

१–शिव-कृष्ण-युद्ध ··· ··· ··· ··· १२२१

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

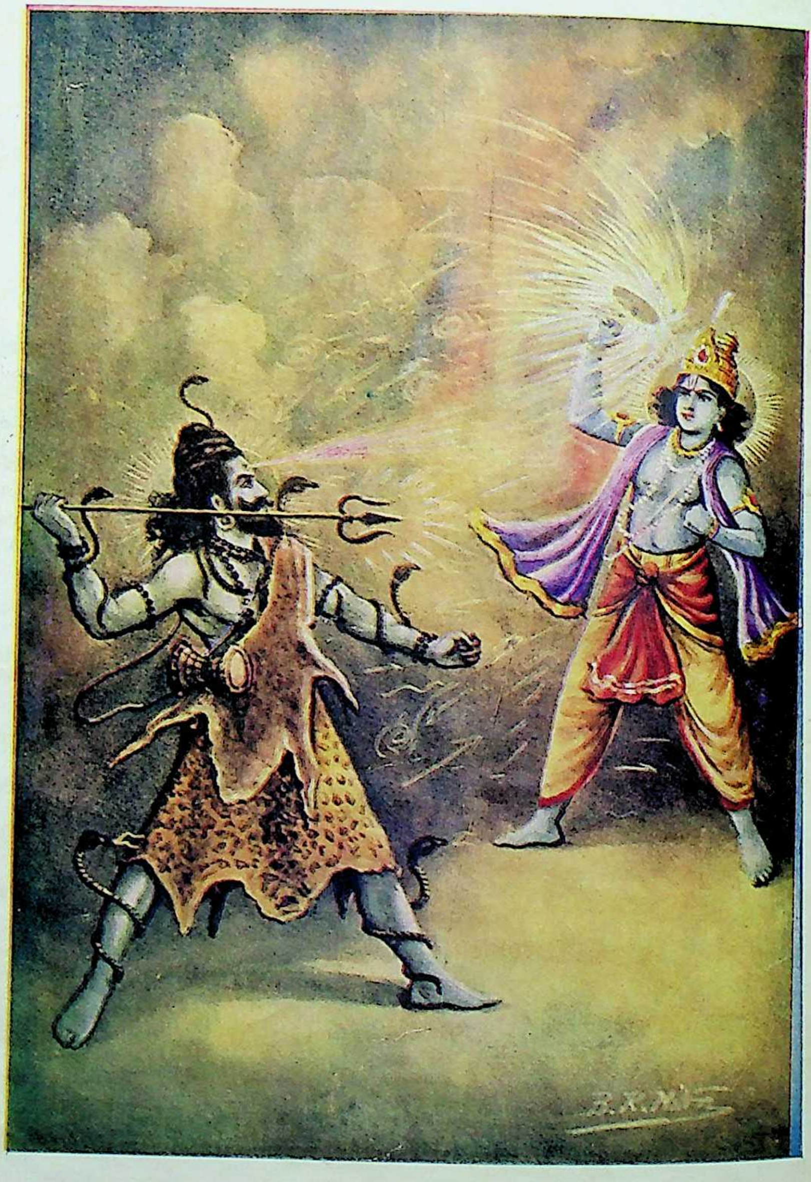

शिव-कृष्ण-युद्ध

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१५, अक्टूबर १९५८ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ३८३

हरि-हर-युद्ध

हरि सँग समर-रत बृषकेतु ।
भक्तबत्सल भक्त बानासुर-बचावन हेतु ॥
भुजगभूषन, सूल भीषन कोप करि कर धार ।
चक्रधर हरि संग जूझत, हृदय अतिसय प्यार ॥
अस्त्र अमित निवारि हरि, छाँड्यो जँभाई बान ।
हर जँभाई लैन लागे भूलि समर महान ॥
कुपित बानासुर कियो तब अति भयानक जुद्ध ।
हारि अंत हि, बान ब्याही उषा सँग अनिरुद्ध ॥

कल्याण

याद रक्खो—मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिको जाननेवाला तथा शरीरकी प्रत्येक क्रियाको देखनेवाला आत्मा नित्य, सत्य, चेतन, आनन्दरूप, अविनाशी और अपरिणामी है। मन-बुद्धि-इन्द्रिय आदिका समूहरूप जो शरीर है, वह अनित्य, असत्, जड, दुःखयोनि, क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील है। इससे तुम्हारा वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है; न तो यह शरीर तुम हो और न यह शरीर तुम्हारा है।

याद रक्खो—काम आदि शत्रु जो तुमपर आक्रमण करते हैं, सुख-दुःखादिका जो घटाटोप तुमपर छा जाता है, उसका कारण यही है कि तुमने इस शरीरको 'मैं' या 'मेरा' मान लिया है। इस शरीरसे वस्तुतः तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, न दृश्य जगत्से ही कोई सम्बन्ध है। शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया है, इसीसे तुम्हारा जगत्से सम्बन्ध हो गया है। और यह जगत्का सम्बन्ध तुम्हें नित्य-निरन्तर कामादि शत्रुओंसे घेरे रखता है।

याद रक्खो—तुम शुद्ध बुद्ध निरञ्जन नित्य सत्य आत्मा हो, शरीर नहीं। अतएव आत्मामें स्थित हो जाओ, अपने नित्य अनन्य-सम्बन्धी प्रभुकी सेवामें अपनेको समर्पण कर दो। तब न तो कोई शत्रु रहेगा, न किसीका तुमपर आक्रमण ही होगा।

याद रक्खो—जगत्का सम्बन्ध जबतक रहेगा, तबतक आत्मामें स्थिति या भगवान्की सेवामें जीवन समर्पित नहीं होगा और तबतक ये कामादि शत्रु तुम्हारे पीछे लगे रहेंगे। मोहकी बेड़ियाँ निरन्तर तुम्हें जकड़े रक्खेंगी। इस माने हुए मिथ्या सम्बन्धका त्याग करके अपने सदाके संगी, सदा साथ रहनेवाले भगवान्के साथ अपने नित्य सत्य अनन्य-सम्बन्धका स्मरण करके उसका अनुभव करो।

याद रक्खो—भगवान्को अपना—केवल उन्हींको अपना मान लेनेपर उनके स्मरण-चिन्तनमें जीवन लग जायगा। तब ये कामादि शत्रु स्वतः ही नष्ट हो जायँगे। जीवनमें एक नवीन पवित्र रस आ जायगा। जो सब ओरसे जीवनको निष्कण्टक, उपद्रवशून्य, विघ्नहीन बना देगा। यह जीवन शरीरका जीवन नहीं होगा। यह आत्माका नित्य जीवन होगा।

याद रक्खो—शरीरसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही सांसारिक भोगोंमें सुखकी प्रतीति, उनमें प्रीति, उनके मिलनका प्रयत्न, न मिलनेपर दुःख और इसीके लिये काम-क्रोधादि शत्रुओंको मित्र माननेकी स्थिति हो गयी है। तथा ये शत्रु ही जीवनके सङ्गी बन गये हैं। जिन सांसारिक भोगोंको तुम सुख मानते हो, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। वे तो दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं। अतः तुरंत जगत्के माने हुए सम्बन्धको त्याग दो। उस सम्बन्धका त्याग करते ही भोग-सुखका मोह भङ्ग हो जायगा और तुम सचमुच सुखी हो जाओगे।

याद रक्खो—संसारके मिथ्या सम्बन्धका त्याग करनेके लिये तुम्हें दो बातोंमेंसे एक करनी पड़ेगी। या तो यह समझना पड़ेगा कि हम वास्तवमें नित्य सत्य सर्वसम्बन्धशून्य आत्मा हैं या हम केवल श्रीभगवान्के ही सेवक हैं। या तो आत्मस्वरूप हैं या भगवान्के दास हैं। जगत्से, जगत्के किसी पदार्थ या शरीर आदिसे वस्तुतः हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमेंसे कोई भी अपना नहीं है। अपना स्वरूप आत्मा है या केवल भगवान् ही अपने हैं और उन्हींके साथ नित्य सत्य अविच्छिन्न अनन्य सम्बन्ध है

'शिव'

सुख-दुःख-विचार

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मं तस्माद् धर्मपरो भवेत् ॥

आयुर्वेदाचार्य श्रीवाग्भट्टजी कहते हैं कि एक छोटे-से-छोटे जन्तुसे लेकर ठेठ मनुष्यपर्यन्त सारे प्राणी सुखकी प्राप्तिके लिये ही कार्यमें प्रवृत्त होते हैं । तब फिर सुख मिलता क्यों नहीं ?—इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि सुखका मूल धर्माचरण है, अतएव यदि धर्मका अवलम्बन न किया जायगा तो सुख नहीं मिलेगा । इसलिये कहते हैं कि यदि सुखकी आवश्यकता हो तो धर्म-परायण जीवन बिताना आवश्यक है ।

इसीलिये मनुमहाराज बारंबार चेतावनी देते हुए कहते हैं—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

तात्पर्य यह है कि यदि धर्माचरण करते रहोगे, तो तुम्हारी रक्षा होगी, अन्यथा विनाश अवश्यम्भावी है । श्रीव्यासजी भी कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।

कहनेका सार इतना ही है कि किसी कामनाकी सिद्धिके लिये या किसी भयके कारण अथवा किसी पदार्थकी प्राप्तिके लोभसे या जीवनकी रक्षाके लिये भी धर्मका आश्रय नहीं छोड़ना चाहिये । अतएव जो सुखकी आशा करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये धर्मका अवलम्बन करना अनिवार्य है ।

यहाँ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि आप तो धर्माचरणकी बात करते हैं, और उससे सुखकी आशा दिखलाते हैं, परंतु प्रत्यक्षमें तो इसके विरुद्ध ही स्थिति दीखती है । धर्मके रास्तेपर चलनेवाले अधिकांशमें दुखी ही दीख पड़ते हैं । ऐसी स्थितिमें आपके शास्त्रकी बात मानें या जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसको सत्य मानें ?

इस शङ्काका समाधान करते हुए व्यासजी कहते हैं—

सर्वदा सुखदुःखाभ्यां नरः प्रत्यवरुध्यते ।
शरीरं पुण्यपापाभ्यामुत्पन्नं सुखदुःखवत् ॥

मनुष्य जबसे जन्म लेता है तबसे जीवनके अन्तिम क्षणपर्यन्त सुख-दुःखसे घिरा हुआ ही रहता है । (सुखके भोगसे तो मनुष्य आकुल नहीं होता, परंतु दुःखका प्रसङ्ग आते ही घबरा जाता है, अतएव दुःखकी चर्चा ही आवश्यक है ।)

ऐसा क्यों होता है, इसको समझाते हुए कहते हैं, जैसे सुख-दुःख पुण्य-पापरूपी कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार शरीर भी उन फलोंको भोगनेके लिये ही उत्पन्न होता है । अतएव शरीर और सुख-दुःखके भोग एक ही बीजसे उत्पन्न एक ही वृक्षकी दो शाखाएँ हैं । दो शाखाएँ अलग-अलग दीखती हैं, परंतु दोनोंका मूल जैसे एक ही होता है, उसी प्रकार शरीर और उसके भोग दीखते हैं अलग-अलग—परंतु उनका मूल एक ही है । अर्थात् पुण्य-पापात्मक कर्म, जो आज प्रारब्ध बनकर फल दे रहा है । इसलिये धर्मके रास्तेपर चलनेवाला जो दुखी दीखता है, इसका कारण उसके इस जन्मके (पुण्य) कर्म नहीं, बल्कि पिछले जन्मोंके किये अशुभ कर्मके फल हैं । इस जन्मके किये हुए पुण्य-कर्मके फल, धर्माचरणके फल उसको आगामी जन्ममें अवश्य मिलेंगे; क्योंकि भोग प्रदान किये बिना कोई भी कर्म नाशको प्राप्त नहीं होता ।

अब सुख-दुःखका स्वरूप समझनेके लिये विचार कीजिये—

अनुकूलवेदनीयं सुखम् । प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ॥

—जिस प्राणी-पदार्थ या परिस्थितिसे मनको अनुकूलताका बोध हो, वह सुख है और जिससे प्रतिकूलताका बोध हो, वह दुःख है। मनका स्वभाव चञ्चल होनेके कारण एक ही संयोगमें कभी प्रतिकूलताका अनुभव होता है और कभी अनुकूलताका। इस प्रकार प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिमें सुख-दुःख प्रदान करनेका कोई धर्म नहीं है; परंतु सुख-दुःखका आधार इस बातपर है कि मन उनको किस प्रकार ग्रहण करता है। जाड़ेमें सूर्यके तापसे सुखका अनुभव होता है और ग्रीष्ममें वही ताप दुःखदायी दीखता है। शीतल पदार्थ ग्रीष्ममें सुखद लगते हैं तथा वे ही पदार्थ जाड़ेमें दुःखद लगते हैं।

सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए याज्ञवल्क्य मुनि मैत्रेयीसे कहते हैं—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

अर्थात् मुझको इसमें ही सुख मिलेगा—इससे मेरी कामना पूर्ण होगी, ऐसी आशासे ही प्राणी-पदार्थोंमें प्रियत्वका, अनुकूल वेदनाका, सुखका आरोप होता है।

श्रीभर्तृहरि महाराज भी कहते हैं—

प्रियत्वं यत्र स्यात् तदितरमपि ग्राहकवशात्।

कोई वस्तु प्रिय लगती है या अप्रिय—इसका आधार इस बातपर है कि भोक्ता उसे किस रूपमें ग्रहण करता है। वस्तुके स्वभावमें न प्रियत्व है और न अप्रियत्व। एक चम्पाका फूल हमारे कमरेमें रक्खा हो तो वह सारे कमरेको सुवासित बना देता है, इससे वह हमें प्रिय लगता है। परंतु भ्रमर तो उसके पास भी नहीं फटकता। चन्द्रमा चकोरको शीतलता प्रदान करता है, इस कारण उसको सुखरूप जान पड़ता है, परंतु चक्रवाकको तो उसके दर्शनमात्रसे ही जलन हो जाती है, अतएव उसको दुःखरूप लगता है। इसलिये सुख-दुःखका आधार इस बातपर है कि मन उसको कैसे ग्रहण करता है।

अब यह देखना है कि सुख-दुःखके भानसे संस्कार किस प्रकार पड़ते हैं।

सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः॥

जिस-जिस प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिमें सुख होता है, उस-उसमें राग बँधता है, और उससे रागात्मक संस्कार चित्तके ऊपर पड़ता है। इसी प्रकार जिससे दुःखका अनुभव होता है, उसमें द्वेषकी भावना बँधती है और उससे द्वेषात्मक संस्कार चित्तके ऊपर पड़ता है। यही संस्कार जब बहुत दृढ हो जाते हैं तब वे स्वभाव कहलाते हैं। और यह स्वभाव ही मनुष्यसे राग या द्वेषमूलक प्रवृत्ति कराता है।

विषय-भोगका प्रभाव शरीरके ऊपर कैसे पड़ता है, अब इसका विचार कीजिये। शरीर मूलतः तीन हैं, परंतु यहाँ स्थूल और सूक्ष्म—इन दोके ही साथ विषयका सम्बन्ध है, इसलिये इन्हींपर विचार करेंगे। आहारका विचार कीजिये। आहार स्थूल शरीरको दिया जाता है, और इस कारण पोषण भी उसीको मिलता है। मन रसनाके द्वारा उसमें सुख-दुःखका अनुभव करता है, और इस अनुभवके आधारपर चित्तके ऊपर राग-द्वेषात्मक संस्कार पड़ते हैं। इस प्रकार पोषण-सम्बन्धी भोक्ता स्थूल शरीर है और सुख-दुःख तथा संस्कार-सम्बन्धी भोक्ता सूक्ष्म शरीर है। एक दिन उपवास कीजिये तो उसके कारण आनेवाली दुर्बलता स्थूल शरीरमें दिखलायी देगी और सुख-दुःखका भोग मनको होगा। यदि उपवास स्वेच्छासे हुआ होगा तो उसमें सुखका अनुभव होनेसे रागात्मक संस्कार पड़ेगा और यदि परेच्छासे या दैवकी इच्छासे हुआ होगा तो उसमें दुःखका अनुभव होकर चित्तपर द्वेषात्मक संस्कार पड़ेगा।*

---

* यहाँ केवल सुख-दुःखको लेकर ही विचार किया गया है। अतएव शुद्ध अथवा अशुद्ध आहारसे मनके ऊपर पड़नेवाले असरकी चर्चा नहीं की गयी है।

सुख-दुःखकी समीक्षा करते हुए मनु भगवान् कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

अर्थात् जिस भोग-पदार्थके मिलनेमें दूसरेके ऊपर अवलम्बित होना पड़ता है, वह स्थिति दुःखरूप है; जिसकी प्राप्तिके लिये दूसरेका आश्रय नहीं लेना पड़ता, वह स्थिति सुखरूप है। प्रथम तो भोगपदार्थका मिलना,न मिलना प्रारब्धके अधीन है, और उसके मिलनेके बाद उसका इन्द्रियोंके साथ संयोग होना न होना मनके अधीन है। और किसी विशेष भोग-पदार्थके मिलनेपर उससे मन सुखका ही अनुभव करेगा, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। क्योंकि मन स्वभावतः चञ्चल होनेके कारण एक ही भोगमें एक समय सुखका अनुभव करता है और दूसरे समय दुःखका। इस प्रकार भोगपदार्थोंसे सुख-प्राप्तिकी आशामें सब प्रकारसे परवशता ही है, इसलिये वह स्थिति सर्वथा दुःखरूप है, भले ही मनुष्य मोहवश होकर उसमें सुख मानता हो। तब भला सच्चा सुख है क्या?—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि, 'सर्वमात्मवशं सुखम्।' जिस सुखको प्राप्त करनेमें दूसरेके ऊपर अवलम्बन नहीं करना पड़ता, वही सच्चा सुख है। इसलिये आत्मज्ञानसे होनेवाला सुख ही सच्चा सुख है। अर्थात् मैं आनन्दस्वरूप हूँ, इसलिये जैसे चीनीमें मधुरताके लिये, मिर्चमें तिक्तताके लिये, लवणमें खारापनके लिये अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार हमारे सुखके लिये या हमारे आनन्दके लिये अन्य प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिकी अपेक्षा नहीं है—ऐसा अनुभव होना ही आत्मज्ञानसे होनेवाला सुख है और इस कारणसे यह सुख निरतिशय है, सर्वदा रहनेवाला है, इसमें ह्रास और वृद्धि नहीं होती। भोग-पदार्थोंमें दिखलायी देनेवाला सुख यथार्थमें सुख नहीं है, बल्कि सुखकी भ्रान्ति है।

इसी कारण सुख-दुःखके सम्बन्धमें व्यासजी विष्णुपुराणमें कहते हैं—

तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति नैव किंचित् सुखात्मकम्।
मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः॥

इस विश्वमें कुछ भी दुःखदायक नहीं है तथा कुछ भी सुखदायक नहीं है। इस दृष्टिसे सुख-दुःखादि द्वन्द्व मनकी कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है। इसलिये श्रेयस्कर मार्ग यही है कि मनके चक्करमें न फँसकर श्रीवशिष्ठजीके कथनानुसार, प्रारब्धवश जो भी भोग प्राप्त हो, उसीको सिर चढ़ाकर समतापूर्वक रहना चाहिये।

स्थीयतां हि समत्वेन यथाप्राप्तानुवर्तिना।

श्रीव्यासजी भी कहते हैं—

सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः।
यद् यद् यथाऽऽगतं तत्तद् भुक्त्वा स्वस्थमना भवेत्॥

गुहराजको प्रारब्धके भोगके विषयमें समझाते हुए लक्ष्मणजी कहते हैं, 'सुखका भोग आवे या दुःखका—वह आता है अपने ही किये कर्मोंके फलके रूपमें ही। अन्य जन्मोंमें जो-जो कर्म किये होते हैं, उनमेंसे कुछका फल इसी जन्ममें भोगना पड़ता है, उसे भोगे बिना काम नहीं चलता। इसलिये प्रारब्धके अनुसार जिस कालमें जो भोग आवें, उन्हें शान्तिसे भोग लेना और मनको समाहित रखना चाहिये।

इस विषयमें वेदान्तदर्शन कहता है—

स्वकर्मपाशवशगः प्राज्ञो वान्यो नरो ध्रुवम्।
प्राज्ञः सुखं नयेत् कालमिति वेदान्तडिण्डिमः॥

घोड़ेको जैसे लगामके वश करके ही चलाया जाता है, उसी प्रकार प्राज्ञ हो या अज्ञ—पण्डित हो या मूर्ख—परंतु उसको जीवन तो बिताना पड़ता है प्रारब्धके ही वशवर्ती होकर। प्राज्ञ समझता है कि आज जो दुःख आया है वह मेरा ही बोया है, मुझे ही काटना है। आम बोया हो तो आमका फल खानेको मिलेगा, और बबूल बोया होगा तो काँटा मिलेगा। इसलिये अब वर्तमान शरीरके दुःखको शान्तिसे सहन कर लेनेमें

ही बुद्धिमत्ता है और इससे मनुष्यका जीवन सुख-शान्तिसे बीतता है । अज्ञ पुरुषमें ऐसी समझ न होनेके कारण वह क्लेश उठाता है और दुःखमें जीवन बिताता है ।

सुखकी इच्छा करना दुःखको निमन्त्रण देनेके समान है, ऐसा भाव व्यक्त करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुसे कहते हैं—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ८ । १)

राजन् ! इन्द्रियों और उनके विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख तो स्वर्गमें तथा नरकमें भी समान होता है । फिर, जिस प्रकार दुःख इच्छा किये बिना अनायास ही आते हैं, उसी प्रकार सुखके भोग भी आते हैं । इसलिये समझदार आदमीको सुखकी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये । इस श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीएकनाथ महाराज लिखते हैं—

'राजन् ! स्वर्ग और नरकमें विषय-सुख समान हैं । इसमें शङ्काकी कोई बात नहीं । इन्द्रको इन्द्राणीका सुख तथा सूअरको सूअरीका सुख समान है—ऐसा जानकर साधुपुरुष दोनोंमें मनको नहीं जाने देता । साधुके मनमें विषय-सुख तथा प्रेतका आलिङ्गन समानरूपसे धिक्कारने योग्य है । जैसे जीवित साँपको हाथसे पकड़नेकी कोई इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार साधु विषयकी इच्छा नहीं करता । किसी भी जीवको दुःखकी इच्छा नहीं होती तथापि सुख और दुःख अदृष्टके अनुसार प्राप्त होंगे ही । फिर भी इसके लिये उद्योग करनेमें मनुष्य आयुको व्यर्थ गँवाता है । विषयकी लालसा छोड़कर परमार्थको सिद्ध करना उचित है, क्योंकि इसीके लिये मनुष्य-देह मिलती है ।'

मनुष्य और अन्य प्राणियोंमें अन्तर इतना ही है कि मनुष्यको प्रभुने विवेक-बुद्धि दी है, जिसके द्वारा मनुष्य मानवसे देवता बन सकता है, नरसे नारायण हो जा सकता है । अन्य सब बातोंमें मनुष्य और दूसरे प्राणियोंमें किसी प्रकारकी विलक्षणता नहीं । अनुकूल विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर सुखकी अनुभूति प्राणिमात्रको एक-सी होती है । इसी प्रकार प्रतिकूल विषयोंसे दुःखकी अनुभूति भी समान ही होती है । इस बातको समझाते हुए महाभारतमें एक लघु प्रसङ्ग आया है, उसे देखिये । व्यासजी कहीं रास्तेसे चले जा रहे थे । रास्तेमें एक कीड़ा बड़े वेगसे दौड़ता हुआ उनकी नजरोंमें पड़ा । कुतूहलवश व्यासजी खड़े हो गये और कीड़ेके समीप आनेपर उसे वाणी देकर इस प्रकार बोले—

व्यासजी—'भाई, तुझको—एक क्षुद्र कीड़ेको ऐसा क्या उतावलीका काम था जो तू इतने अधिक वेगसे दौड़ रहा था ?'

कीड़ा—'महाराज ! आपको सुनायी न देता हो, परंतु मैं तो सुन रहा हूँ कि एक रथ इस रास्तेके ऊपर अति वेगसे दौड़ता आ रहा है, यदि उस समय मैं रास्तेके बीच रहूँ तो कदाचित् उसके पहियोंके नीचे कुचल जाऊँ और मर जाऊँ । इसी कारण मैं जोरसे दौड़कर रास्ता पार कर गया ।'

व्यासजी—'अरे तुच्छ कीड़ा, तेरे इस जीवनमें ऐसा कौन-सा बड़ा भारी सुख है, जो जीनेके लिये इतनी बड़ी आशा रखता है ?'

कीड़ा—'महाराज ! आपकी दृष्टिमें मैं भले ही तुच्छ और अल्प आयुवाला हूँ, पर अपने मन तो मैं महान् हूँ । जो सुख-दुःखका भोग एक मनुष्य सौ वर्षमें भोगता है, उतना ही भोग हम अपने अल्प-कालके जीवनमें भोग लेते हैं । जैसा स्नेह आपको (मनुष्योंको) अपने शरीर और कुटुम्बीजनोंके प्रति है, उससे विशेष स्नेह

हमको भी है। इस कारण आनन्द-विहार करनेमें हम मनुष्यसे तनिक भी नीचे नहीं उतरते। बल्कि मुझे अपने जीवनके सुखकी अपेक्षा मनुष्यका तो क्या, इन्द्रादि देवताका भी सुख-भोग बढ़कर नहीं जान पड़ता।'

इस दृष्टान्तसे सहज ही समझमें आ जायगा कि संसारमें भोग भोगनेमें सारे प्राणी समान ही हैं। सबको अपना शरीर एक-सा प्रिय होता है तथा जीनेकी आशा और मरनेका भय भी समान ही होता है।

यह सब कुछ जानते हुए भी बुद्धिशाली मनुष्य उल्टा ही चलता है। जो बात उसके हाथमें है, उसे करता नहीं और जो बात उसके अधिकारमें नहीं है, उसके लिये जी-तोड़ परिश्रम करता है। भावी जीवन कैसा बनायें, यह उसके हाथमें है। उसकी इच्छा हो तो शुभकर्म करके स्वर्गके सुख भोग सकता है, उसकी मर्जी हो तो पापाचरण करके नरकोंमें भी जा सकता है, और सद्बुद्धि आ जाय तो ज्ञान-सम्पादन करके इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इतनेपर भी परलोक सुधारनेकी ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। और वर्तमान जीवनमें अधिक-से-अधिक सुखभोग प्राप्त करनेके लिये रात-दिन परिश्रम करता रहता है। फलतः प्रारब्धके योगसे जो सुख-सुविधा आज उसे प्राप्त है, उसको भी वह भोग नहीं सकता। इस प्रकारके विषय-विमुग्ध मनुष्योंको लक्ष्य करके श्रीवशिष्ठजी कहते हैं——

केचिन्मृगा हि मृगवारिकृते भ्रमन्ति
केचित्तथा मृगमदार्थमहोऽतिव्यग्राः।
एवं नरा वसुकृते च कलत्रलब्ध्यै
शान्तिं विहाय सततं वसुधामटन्ति॥

कुछ हरिण पानी मिलनेकी आशासे मृगजलकी ओर दौड़ा करते हैं, दूसरे कुछ हरिण कस्तूरीकी सुगन्धमें मुग्ध होकर, उसकी प्राप्तिके लिये व्याकुल होकर चारों ओर दौड़ा करते हैं। कस्तूरी तो उनकी नाभिमें है, बाहर भटकनेसे भला कहाँसे मिलती?

इसी प्रकार मनुष्य भी धनकी प्राप्ति तथा स्त्री-पुत्रादिके लिये रात-दिन पृथ्वीपर भटका करते हैं और इस कारण जो सुख और शान्ति उन्हें आज प्राप्त है, उसका भी उपभोग नहीं कर सकते।

इस जन्ममें प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखका निर्माण तो मनुष्यके जन्म लेनेके पहले ही हो गया होता है, इसलिये उसको बदलनेकी चेष्टा करना व्यर्थ है। इस जीवनकी तो जो संबल (प्रारब्ध) लेकर मनुष्य आया है, उसीमें संतुष्ट रहकर पूरा करना पड़ेगा। प्रयत्न तो करना है भावी जीवनके लिये संबल तैयार करनेका।

यह बात श्रीव्यासजीने नारदपुराणमें इस प्रकार समझायी है——

दुर्लभं मानुषं जन्म प्रार्थ्यते त्रिदशैरपि।
तल्लब्ध्वा परलोकार्थं यत्नं कुर्याद् विचक्षणः॥

मनुष्यजीवन अमूल्य है; क्योंकि इस शरीरसे ही नये कर्म हो सकते हैं। चौरासी लाख योनियोंमें तिरासी लाख निन्यानबे हजार नव सौ निन्यानबे योनियोंके शरीरोंमें तो प्रारब्धसे प्राप्त हुए भोगको भोगकर उन-उन शरीरोंको छोड़ देना पड़ता है, नवीन कर्म करनेके लिये उनमें कोई सामग्री नहीं होती। मानवदेहसे नया कर्म करके, इच्छानुसार भावी जीवन बनाया जा सकता है, इसी कारण इसको 'दुर्लभ' कहते हैं; और इसीसे देवतालोग भी मानव-शरीर पानेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। वह आज महापुण्यके प्रतापसे सहज ही मिल गया है, अतएव जीवनके प्रत्येक क्षणका तथा सारी शक्तिका उपयोग करके परलोक सुधारनेका ही यत्न करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है——

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥
(११ । २३ । २२-२३)

'करोड़ों जन्मोंके सुकृतके कारण मनुष्य-जन्म मिलता है। उसमें श्रेष्ठ ब्राह्मण-वर्णमें और सत्कुलमें जन्म मिलना दुर्लभ है। सत्य-लोकतक सारे लोक इस जन्मकी इच्छा करते हैं। ऐसा उत्तम जन्म पाकर, विषयोंके मोहमें पड़कर, मोक्षप्राप्तिरूपी स्वार्थको कौन अभागा गँवायेगा ? ऐसा देवदुर्लभ जन्म मिलनेपर भी जो मनुष्य अपना हित नहीं साधता, उसको अशुभ गति प्राप्त होती है।'

'सकाम स्वधर्मका आचरण करे तो मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है; निष्काम भावसे स्वधर्मका आचरण करनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है। धन या उससे मिलनेवाले विषय तो महान् अनर्थके धाम हैं; ऐसा यों समझकर इनके लिये परिश्रम करना उचित नहीं।

ऐसा देवदुर्लभ नरदेह पाकर जो मनुष्य परमार्थको सिद्ध नहीं करता, विषयभोगमें ही जीवनको व्यर्थ बिताता है, उसीको लक्ष्य करके श्रीव्यासजी एक अन्य प्रसङ्गमें कहते हैं—

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २१ । २२)

काम तथा मोहमें डूबे हुए मनुष्यको कार्याकार्यका तथा अपने-परायेका भान नहीं रहता। स्वयं दुखी होनेपर भी श्रेष्ठ कर्म करना उसको नहीं सूझता और मोहके मदमें धोखा खाकर केवल विह्वल बनता है। विषय संसारचक्रमें घुमाते हैं, यह जानता है तो भी उनको वह छोड़ नहीं सकता। उसको अपना स्वार्थ भी नहीं सूझता, उसका श्वासोच्छ्वास लुहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ है, और उसका जीवन वृक्षके समान व्यर्थ है। श्रीवसिष्ठ ऋषि भी कहते हैं—

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन हि जीवति ॥

वृक्ष, पशु-पक्षी तथा कीट-पतङ्गादि भी जीते हैं; परंतु जीना उसीका सार्थक है जो ईश्वरका चिन्तन करते हुए जीता है।

प्रभु सबको सन्मति दें।

मेरा जीवन भगवान्‌के प्रेमकी अभिव्यक्तिमात्र है

मेरे हृदयमें स्थित भगवान् मेरी नवचेतनाके प्राण हैं, मेरे आनन्दमय जीवनकी मूलभित्ति हैं, मेरी प्रसन्नताके आधार हैं। भगवान्‌की स्थिति मेरी नित्य स्वस्थता और शान्तिके रूपमें अभिव्यक्त है।

जब मैं अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌की अनुभूति करता हूँ तो मेरी नसोंमें नवीन चेतना, नवीन उत्साह, नवीन जीवन प्रधावित होने लगता है। इससे मुझे यह विश्वास होता है कि हृदयमें स्थित भगवान् नवजीवनके प्राण हैं; तथा मैं शरीरमें नया जीवन, भावोंमें नवीन बल और मनमें नवीन शान्तिका अनुभव करता हूँ।

भगवान्‌का आनन्दस्वरूप मेरे चिन्तनको आनन्दसे भरता है, और मुझमें जीवनके प्रति नया उत्साह, नयी उमंग उत्पन्न हो रही है। भगवान्‌का प्रेम-स्वरूप मेरे हृदयको प्रेम और स्नेहसे परिपूर्ण करता है और मैं अपने सम्पर्कमें आनेवालेको प्रेम और स्नेहसे अभिषिक्त करता रहता हूँ। भगवान्‌का चैतन्य-स्वरूप मेरे अणु-अणुमें नवीन शक्ति, नवीन स्फूर्ति, नवीन चेतना भर रहा है और सेवाके रूपमें मेरी प्रत्येक क्रियामें उसकी अभिव्यक्ति हो रही है।

मेरा जीवन, मेरे जीवनकी प्रत्येक चेष्टा हृदयमें स्थित भगवान्‌की, उनके प्रेमकी अभिव्यक्ति मात्र है।

भगवान्‌का विस्मरण कभी न हो

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक भाषणसे)

मनुष्यके लिये सर्वोत्तम बात यह है कि वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को न भूले । जो मनुष्य यह नियम ले लेता है कि मैं एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलूँगा, उसको इसी जन्ममें भगवान्‌की प्राप्ति होनेमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

भगवान्‌की इस घोषणापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इसी क्षणसे मृत्युपर्यन्त मैं जान-बूझकर भगवान्‌को नहीं भूलूँगा ।' ऐसा निश्चय सच्चा होनेपर भगवान् उसमें सहायता करते हैं और अन्तमें उस भक्तकी इच्छा पूर्ण करते हैं । कभी कुछ भूल भी हो जाती है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं । यदि कोई कहे कि '१८ घंटे तो मनुष्य भगवान्‌का स्मरण कर सकता है, परंतु सोनेके समय ६ घंटे उनका स्मरण करना उसके वशकी बात नहीं है', तो इसके लिये यह नियम है कि जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जो काम करता है, स्वप्नमें उसका मन प्रायः उसीकी स्मृतिमें लीन रहता है । ऐसा देखनेमें आया है कि जो जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखते हैं, स्वप्नमें भी उन्हें भगवान्‌की ही स्मृति रहती है । इतना ही नहीं, जो सोनेके कुछ समय पूर्व ही भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरणके बीचमें निद्राग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें भी प्रायः भगवद्-विषयक ही स्वप्न आते रहते हैं । अतएव यह चेष्टा रखनी चाहिये कि होश रहते हुए भगवान्‌का स्मरण न छूटे । जान-बूझकर भगवान्‌को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि जिस क्षण हमने भगवान्‌को भुलाया तथा मनको पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य, देवता आदिके चिन्तनमें लगाया और संयोगसे उसी क्षण प्राण छूट गये तो हमारे चिन्तनके अनुसार हमें पशु-पक्षी आदिकी योनि ही प्राप्त होगी—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

(गीता ८ । ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है ।'

यह मानव-जीवनकी कितनी बड़ी हानि है ! मानव-जीवनकी दुर्लभतापर विचार करनेसे इस हानिकी भयानकताका कुछ अनुमान हो सकता है । चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता-भटकता जीव जब बेहाल हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

ऐसा सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भगवान् उपाय बताते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर ।'

भगवान्‌ने स्मरणकी बात मुख्य रूपमें कही है, युद्ध

करनेकी गौणरूपमें । इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्का स्मरण एक क्षणके लिये भी न छूटे, अन्यथा मानव-जीवन व्यर्थ सिद्ध हो सकता है ।

जो मनुष्य भगवान्में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

‘उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।’

इसलिये भगवान्ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गीता १२ । ८)

‘मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।’

भगवान् जब इतना विश्वस्त आदेश देते हैं तो फिर हमारे मन और बुद्धि और क्या काम आयेंगे ? इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्के काममें ही लगा देने चाहिये ।

बुद्धिको भगवान्में लगा देना यह है कि विज्ञानानन्दघन परमात्मा सब जगह समानभावसे आनन्दरूपसे विराजमान हैं, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना । इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है । बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकाररूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समान भावसे केवल एक परमात्मा ही हैं ।

बुद्धिके इस नियमके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्में लगाना है । इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है ।

भगवान्को छोड़कर किसी भी पदार्थका चिन्तन करना अपने गलेमें फाँसी लेकर मरनेके सदृश है; क्योंकि उससे हम मानव-जीवनके लक्ष्यको खो बैठेंगे । मूल्यवान्-से-मूल्यवान् पदार्थका चिन्तन भी हमें भगवान्की प्राप्ति नहीं करा सकेगा । इसलिये बड़ी तत्परतापूर्वक ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि भगवान्को छोड़कर मन और किसी पदार्थके चिन्तनमें लगे ही नहीं । समय बड़ा मूल्यवान् है । मानव-जीवनके गिने-गिनाये श्वास हमें मिले हैं । लाख रुपये खर्च करनेपर भी उससे अधिक एक मिनटका समय भी नहीं मिल सकता । मानव-जीवनके एक क्षणकी कीमत भी नहीं आँकी जा सकती; क्योंकि वह क्षण भगवान्की प्राप्ति करा सकता है । फिर समूचे मानव-जीवनकी तो बात ही क्या है । मानव-जीवनका यह महत्त्व इसीमें है कि वह भगवान्की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है। अन्य किसी भी योनिमें यह सम्भव नहीं । अतएव मानव-जीवनके समयको खर्च करनेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये । परमात्माके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें समय लगानेवालोंको संतोंने मूर्ख कहा है ।

सांसारिक पदार्थोंके संग्रहमें लगाया हुआ समय भी व्यर्थ है । एक महीनेमें हमारे लाख रुपयेका रोजगार होता है । १२ महीनोंमें १२ लाखका हुआ, तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? रुपयोंकी थैलियाँ यहीं रह जायँगी, जीवको अकेले ही जाना पड़ेगा । हाँ, रुपये को बटोरनेमें जो पाप-पुण्य उसने किये हैं, वे अवश्य उसके साथ रहेंगे । अतएव रुपयेके संग्रहमें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिये—न तो उसके संग्रहके लिये भगवान्को भुला देना चाहिये, और न उसके संग्रहमें पापका आश्रय लेना चाहिये । मरनेपर रुपयोंसे

हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा । गधा ढो-ढोकर मिट्टी इकट्ठी करता है; भगवान्‌को भूलकर रुपये बटोरना ठीक ऐसा ही है । मरनेपर न गधेके मिट्टी काम आती और न हमारे रुपया काम आता है । इस न्यायसे मनुष्य-जीवनका समय धन बटोरनेमें क्यों बरबाद किया जाय ?

कुछ भाई इस शरीरके पोषणमें समयको लगाते हैं । नाशवान् शरीरके पोषणमें समयका लगाना उसका अपव्यय है । विशेष खान-पान, सावधानी आदिसे शरीरमें १० सेर मांस बढ़ गया तो क्या हो गया । आखिर तो मरना ही पड़ेगा । शरीर अधिक भारी हो गया तो लाश (शव) भी भारी होगा । शव ढोनेवाले यही कहेंगे कि 'लाश बड़ी भारी है' । इस मोटापेसे और होगा क्या ? मोटे शरीरके जलनेपर एक-दो सेर राख अधिक हो जायगी । शवकी राख किस कामकी ? किसीकी आँखमें गिरकर वह उसको कष्ट ही दे सकती है । अतएव शरीरको अधिक पुष्ट करनेमें समयको लगानेसे कोई लाभ नहीं ।

कुटुम्ब-पालनमें भी भगवान्‌को भूलकर रागयुक्त मनसे समय नहीं लगाना चाहिये । कुटुम्बका राग तो और अधिक दुःख देनेवाला है । अनन्त कालसे कुटुम्ब हमको धोखा देता चला आ रहा है । आजसे पूर्व भी तो हमलोग किसी कुटुम्बके थे । क्या उसकी अब हमको कुछ स्मृति भी है ? अब हमें कुछ भी स्मरण नहीं है कि पूर्व जन्ममें हम कहाँ थे, हमारा कौन कुटुम्ब था । इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेपर यह कुटुम्ब भी याद नहीं रहेगा । सौ-दो-सौ वर्षोंके बाद तो यह कुटुम्ब कहाँ-से-कहाँ चला जायगा, कुछ भी पता नहीं है । अतएव मृत्युके साथ जिससे बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेवाला है, उस अपने कुटुम्बके प्रति मोह-ममता रखकर भगवान्‌को भुला देना और समयको उसके पालन-पोषणमें नष्ट कर देना मानव-जीवनका दुरुपयोग है ।

यदि हम मकान बनवानेमें अपने समयको खर्च करते हैं और भगवान्‌को भूल जाते हैं तो यह भी मूर्खता है । मकान बनवा लिया तो न जाने उसका भोग कौन करेगा । जिसको मकानकी आवश्यकता होगी, वह अपने-आप मकान बनवा लेगा । हम झूठ-साँच करके अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन उसके पीछे क्यों लगायें । इसी प्रकार संसारके अन्य पदार्थोंकी बात है । संसारमें जिन-जिन पदार्थों, वस्तुओं आदिको हम अपनी मान रहे हैं, वे हमारी नहीं हैं; उनसे हमारा वियोग अवश्यम्भावी है । अतएव उनके संग्रह-संरक्षणमें भगवान्‌को भुला देना उचित नहीं । अध्यात्म-दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त सभी कर्म व्यर्थ अथवा अनर्थ हैं । यह मानव-जीवन आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है, व्यर्थके भोग भोगनेके लिये नहीं । स्वर्गके भोगोंके लिये प्रयत्नशील होना भी व्यर्थ है । 'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ।' अतः आत्माके कल्याणमें सहायक होनेवाले कार्यके अतिरिक्त किसी भी कार्यमें लगना मूर्खता है । आयु क्षण-क्षणमें व्यतीत हो रही है । इसलिये जिस कामके लिये आये हैं, उसको शीघ्र कर लेना चाहिये । कालका भरोसा नहीं है । एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, कोई नहीं बता सकता । ऐसी परिस्थितिमें एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को भूलना खतरेसे खाली नहीं है ।

संसारके जिन-जिन पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे अवश्य बिछुड़नेवाले हैं । इस शरीरके सभी सम्बन्ध काल्पनिक और नाशवान् हैं, यों समझकर उनके प्रति मोह-ममताको पहलेसे समेट लें तो उत्तम है । विवेकपूर्वक हमने ऐसा कर लिया तो हम मुक्त हो जायँगे और यदि हमको विवश होकर इन सम्बन्धोंको तोड़ना पड़ा तो हम भटकते फिरेंगे । जो जन्मा है उसे अवश्य मरना पड़ेगा । लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता । जब मरना ही है तो दो दिन आगे मरें या दो दिन

पीछे । इसकी क्या चिन्ता ? बस, जिस कामके लिये आये हैं, उसे अवश्य कर लेना चाहिये; नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

> **सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।**
> **कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥**

'जो मनुष्य इस समय सचेत नहीं होता, उसको आगे चलकर सिर धुन-धुनकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । वह मूर्ख उस समय काल और कर्मपर झूठा दोष लगायेगा ।' वह यही कहेगा—'कलियुगके कारण मैं अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सका ।' मेरे कर्म ही ऐसे थे, मेरे भाग्यमें ऐसी ही बात लिखी थी । ईश्वरने मेरी सहायता नहीं की, आदि-आदि । उसका यह रोना व्यर्थ है—मिथ्या है । अतएव अभीसे सावधान हो जाना चाहिये ।

परमात्माकी प्राप्ति स्वयं अपने किये ही होगी । कोई दूसरा हमारे लिये इस कार्यको नहीं कर सकेगा । संसारका कोई काम बाकी रह गया तो हमारे पीछे हमारे उत्तराधिकारी अथवा दूसरे लोग कर लेंगे; पर परमात्माकी प्राप्तिमें यदि त्रुटि रह गयी तो हमको पुन: जन्म लेना पड़ेगा । अतएव जो काम हमारे किये ही होगा और जिसको करना अनिवार्य है, उसीमें समय लगाना चाहिये ।

संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं, माया-मात्र हैं । स्वप्नके संसारमें जो कुछ होता है, सब सत्य प्रतीत होता है; परंतु वास्तवमें उसकी सत्ता नहीं । आँख खुलनेपर न वह शरीर रहता है और न वे व्यवहार । इसी प्रकार संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब शरीरको लेकर ही हैं; शरीर शान्त होनेपर इनसे हमारा कुछ भी लगाव नहीं रह जायगा । इसलिये आवश्यकता है इन सम्बन्धोंका त्याग हम मनसे पहलेसे ही कर दें, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न हो ।

जबतक मानव-जीवन शेष है, तबतक सब कुछ हो सकता है । परमात्माकी शरण लेकर मनुष्य जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है । कठोपनिषद्में यमराजने नचिकेताके प्रति यह बात कही है कि 'नचिकेत: ! ओम् जो परमात्माका नाम है, यही साक्षात् ब्रह्म है; यही सगुण और निर्गुण है । इसकी शरण जानेपर जो चाहो, वही मिल सकता है ।'

अतएव हम भी भगवान्‌की शरण लेकर जो चाहें, वह कर सकते हैं । दूसरी बात यह है कि भगवान्‌के सिवा अन्य कोई भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । दूसरी किसी भी वस्तुकी इच्छा करना मूर्खता है । जगत्‌की जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब प्रारब्धके अधीन हैं । कोई चाहे कि मैं १०० वर्ष जीता रहूँ तो यह असम्भव है। इसी प्रकार कोई यह चाहे कि अभी मृत्यु आ जाय तो चाहनेसे मृत्यु भी नहीं मिल सकती । जब जैसा प्रारब्ध होगा, वैसा ही होगा । अतएव इच्छा करना मूर्खता है। इसी प्रकार भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिकी बात है। प्रारब्धवश जब जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा।

भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे होती है । इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले । भगवान्‌को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है । जगत्‌के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दु:ख नहीं; किंतु अधिकांशको दु:खकी ही उपलब्धि होती है । अतएव जड पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; इच्छा करनेसे जड पदार्थ प्राप्त नहीं होते । उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फल—प्रारब्ध चाहिये; और वह अब हमारे हाथमें नहीं । पर भगवान्‌के लिये इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल जायँगे । अत: भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

भगवान्‌के मिलनमें जो देर हो रही है, इसमें त्रुटि

हमारी ही है । भगवान् तो नित्य मिलनके लिये आतुर हैं, बस, हममें वैसी इच्छा होनी चाहिये । भगवान्‌के मिलनकी इच्छाकी जागृतिके लिये एकान्तमें बैठकर करुणाभावसे हृदय खोलकर रोना चाहिये । अपने अपराधोंको स्मरणकर गद्गद होकर भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये—'प्रभो ! आपके अतिरिक्त संसारमें मेरा और कौन है ? नाथ ! मैं आपके शरण हूँ, आप मेरी रक्षा करें ।' भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अपने सम्मुख होनेवालेके अनन्त जन्मोंके पापोंको उसी क्षण क्षमा कर देते हैं ।

अपने आत्माकी उन्नति उत्तरोत्तर एवं तीव्रताके साथ करनी चाहिये । कल हमने जो साधन किया, उससे आज तीव्रतर होना चाहिये, आजसे आनेवाले कलको और तीव्र होना चाहिये । इसी प्रकार प्रातःकालसे मध्याह्न, मध्याह्नसे सायंकाल, सायंकालसे रात्रिमें और रात्रिसे अगले दिन प्रातःकालके साधनमें क्रमशः तीव्रता रहनी चाहिये । घंटे-घंटेमें, फिर क्षण-क्षणके साधनमें उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिये । यदि इस प्रकार प्रयत्न किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता ।

किसीने कहा है—'पाय परमपद हाथ सों जात'—पाया हुआ परमपद हाथसे जा रहा है । सचमुच मानव-जीवनको व्यर्थ खोना परमपद हाथसे जानेके सदृश ही है । अतएव 'गयी सो गयी अब राख रही को ।' जीवनका जो समय बीत गया, वह बीत गया; पर अब एक क्षण भी परमात्माकी स्मृतिके बिना न बीते । निरन्तर सावधानी रहे । पूरी तत्परता हुई तो जितना समय जीवनका बचा है, उतना ही पर्याप्त है । इतने समयमें ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । यदि कुछ कमी रह गयी तो भी भयकी कोई बात नहीं । दूसरा जन्म लेते ही कल्याण हो सकता है—

…योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

'अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है ।' और उसके चित्तमें स्वाभाविक ही वैराग्य रहता है । वहाँ अच्छे सङ्गसे उसका चित्त निरन्तर उन्नति करता जाता है और अन्तमें वह भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है ।

आजकल बिजलीसे चलनेवाली एक मशीन बनी है । उसके सामने जैसी आवाज की जाती है, वह उसको रेकर्ड कर लेती है । अब वह मशीन जहाँ जाती है, उसके साथ वह शब्द भी जायगा । इसी प्रकार हमारे जीवनमें जो-जो कार्य होते हैं, वे संस्काररूपसे अन्तःकरणमें एकत्रित हो जाते हैं और मृत्युके पश्चात् वे हमारे साथ जाते हैं । आगेके जीवनमें ये अच्छे-बुरे संस्कार मनकी स्फुरणामें हेतु बनते हैं । अतः जीवनके नाना कार्योंसे हृदयमें जो बुरे संस्कार एकत्रित हो रहे हैं, उनको मृत्युसे पूर्व धो डालना चाहिये । साबुन और जलसे जिस प्रकार कपड़ा धोकर साफ कर लेते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणमें जो पापरूपी मैल जमा हो गयी है, उसको भगवन्नाम-रूपी साबुन तथा निष्कामभावरूपी जलद्वारा साफ कर लेना चाहिये । बुद्धि और मनमें अच्छा संग्रह करना चाहिये । बुद्धिमें जो ज्ञान है, वह अच्छा संग्रह है । परमार्थविषयक जो ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है । बुद्धिमें धृति, क्षमा, शान्ति, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य—इन सात्त्विक भावोंका संग्रह करना चाहिये । मनमें भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातें एकत्रित करनी चाहिये । भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धामका मनन करना चाहिये । इन्द्रियोंको तपस्याद्वारा तपाकर शुद्ध कर लेना चाहिये । फिर इन्द्रियोंद्वारा भगवान्‌के दर्शन, भगवान्‌के साथ सम्भाषण, भगवान्‌का स्पर्श आदि करना चाहिये । मनसे ऐसी भावना करे कि भगवान् हमारे सामने खड़े हैं, हमारी ओर देख रहे हैं, हम उनके चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, उनके चरणोंसे

निस्सरित दिव्य गन्ध ले रहे हैं, भगवान्‌से वार्तालाप कर रहे हैं, भगवान्‌की वाणीको कानोंसे सुन रहे हैं। हाथोंसे जीवमात्रकी भगवान् नारायणकी भावनासे सेवा करनी चाहिये। वाणीसे सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। नेत्रोंसे भगवान्‌को, संतोंको अथवा उत्तम दृश्योंको देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियको शुद्ध बनाकर उसमें ऐसे भाव भरने चाहिये, जो मुक्तिमें सहायक हों। यदि इस जीवनमें काम न बने तो उत्तम संस्कार तो हमारे साथ जायँ। निष्कामभावसे यह सब करना परम हितकर है। सावधानीके साथ अभ्यास करनेसे हृदयमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, मल, विक्षेप, आवरण, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि बुरे संस्कार हैं, वे बहुत शीघ्र सर्वथा धुल जाते हैं, और हृदय भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और सद्गुणोंसे भर जाता है। वस्तुतः दैवी सम्पत्ति और शरीर, वाणी और मनका तप—ये अमृततुल्य हैं, और राजसी एवं तामसी भाव विष हैं; इनसे मनुष्यका पतन निश्चित है।

सर्वोत्तम एवं सबसे सरल साधन है—भगवान्‌का चिन्तन। भगवान्‌का चिन्तन प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर करना चाहिये। पर यदि प्रेम न भी हो तो भगवान्‌का चिन्तन हृदयको शुद्ध करता ही है। भगवान्‌का चिन्तन यदि कोई वैर-भावसे, द्वेषवश या भयसे भी करता है तो उसका भी कल्याण हो जाता है। मारीचने भगवान् रामका भयसे चिन्तन किया, उसका उद्धार हो गया। कंसने भगवान्‌का द्वेषभावसे चिन्तन किया, उसका भी कल्याण हो गया। फिर जो प्रेमपूर्वक करुणाभावसे भगवान्‌का चिन्तन करे, उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है? व्रजकी गोपियोंका उदाहरण प्रत्यक्ष है। गोपियोंने करुणाभावसे भगवान्‌का चिन्तन किया, तब उनके उद्धारमें कहना ही क्या है। अतएव मन जहाँ भी जाय, भगवान्‌का ही चिन्तन करे। रातको चिन्तन करते-करते ही सोया जाय। रातमें जब-जब निद्रा टूटे, जब-जब उठना पड़े, तब-तब मनकी सम्हाल कर लेनी चाहिये कि चिन्तन हो रहा है या नहीं।

एकान्तमें जप-साधन करनेके लिये बैठे तो प्रारम्भमें भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये। गीता, रामायण आदिका स्वाध्याय अर्थ और भावको समझकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करना चाहिये।

वेदोंसे हमें चेतावनी मिलती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

महापुरुषोंके पास जाकर जानने योग्य परमात्म-तत्त्वको समझना चाहिये।

समय रहते चेत हो जाय तो ठीक है, अन्यथा—

समय चुकें पुनि का पछिताने।

मृत्यु सिरपर आ खड़ी होगी, और सब गुड़ गोबर हो जायगा। तुलसीदासने कितने कड़े शब्दोंमें चेतावनी दी है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंद मति आत्माहन गति जाइ॥

'जो मनुष्य ऐसे अवसरको पाकर भी भवसागरको पार नहीं करता, वह निन्दाका पात्र और मन्दमति है। आत्महत्यारेकी जो गति होती है, वही उसकी भी होती है।' अतएव उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम काल, उत्तम धर्म, उत्तम सङ्ग—इन सबका सुन्दर सुयोग पाकर भी जो अपनी आत्माका उद्धार नहीं करता, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है।

नारायण स्वामी कहते हैं—'दो बातोंको मत भूलो, एक मौतको और दूसरे भगवान्‌को'। भगवान्‌को याद रखनेसे पापोंका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है और मृत्युको याद रखनेसे आगे पाप नहीं बनते।

और कुछ भी न हो तो भगवान्‌का जो भी नाम प्रिय लगे, उसे ही रटते जाइये—वही आपको निहाल कर देगा—

केशव केशव कूकिये नहिं कूकिये असार।
रात दिवस की कूक तें कबहुँ तो सुने पुकार॥

* * *

स्वयं भगवान्का दिव्य जन्म-महोत्सव

(हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण)

मुदिरमदमुदारं मर्दयन्नङ्गकान्त्या
वसनरुचिनिरस्ताम्भोजकिञ्जल्कशोभः ।
तरुणिमतरणीक्षाविक्लवद्बाल्यचन्द्रो
व्रजनवयुवराजः काङ्क्षितं मे कृषीष्ट ॥
नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं
विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं
कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारं ॥

अजन्माका जन्म

आज श्रीकृष्णजन्माष्टमी है । निखिल विश्वब्रह्माण्डके लिये महान् महिमामय, महान् मङ्गलमय, महान् मधुमय और महान् ममतामय यह धन्य दिवस है । आजके ही दिन इसी भारतमें, मथुराके कंस-कारागारमें सर्वलोकमहेश्वर, सकल-ईश्वरेश्वर, सर्वशक्तिमान्, नित्य निर्गुण-सगुण, सकल अवतार-मूल, सर्वमय-सर्वातीत अखिलरसामृतसिन्धु स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य जन्म हुआ था । यह नित्य अजन्माका जन्म बड़ा ही विलक्षण है । इस दिव्य जन्मको जाननेवाले पुरुष जन्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं । जिस मङ्गलमय क्षणमें इन परमानन्दघनका प्राकट्य हुआ, उस समय मध्यरात्रि थी, चारों ओर अन्धकारका साम्राज्य था; परंतु अकस्मात् सारी प्रकृति उल्लाससे भरकर उत्सवमयी बन गयी । महाभाग्यवान् श्रीवसुदेवजीको अनन्त सूर्य-चन्द्रके सदृश प्रचण्ड शीतल प्रकाश दिखलायी पड़ा और उसी प्रकाशमें दिखलायी दिया एक अद्भुत बालक । श्यामसुन्दर, चतुर्भुज, शङ्ख, गदा, चक्र और पद्मसे सुशोभित, कमलके समान सुकोमल और विशाल नेत्र, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स तथा भृगुलताके चिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि, मस्तकपर महान् वैदूर्यरत्नखचित चमकता हुआ किरीट, कानोंमें झलमलाते हुए कुण्डल, जिनकी प्रभा अरुणाभ कपोलोंपर पड़ रही है । सुन्दर काले घुँघराले केश, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथोंमें कङ्कण, कटिदेशमें देदीप्यमान करधनी, सब प्रकारसे सुशोभित अङ्ग-अङ्गसे सौन्दर्यकी रसधारा बह रही है । कैसा अद्भुत बालक ! मानव-बालक माताके उदरसे निकलते हैं, तब उनकी आँखें मुँदी होती हैं । दाई पोंछ-पोंछकर उन्हें खोलती है, पर इनके तो आकर्ण विशाल, निर्मल, पद्मसदृश सुन्दर नेत्र हैं । सम्भव है, कहीं अधिक भुजावाला बालक भी जन्म जाय; परंतु इनके तो चारों हाथ दिव्य आयुधोंसे सुशोभित हैं । साधारणतया अलंकारोंसे बालकोंकी शोभा बढ़ा करती है; किंतु यहाँ तो ऐसा शोभामय बालक है कि इसके दिव्य देहसे संलग्न होकर अलंकारोंको ही शोभा प्राप्त हो रही है । ऐसा अपूर्व बालक कभी किसीने कहीं नहीं देखा-सुना । यही दिव्य जन्म है । वास्तवमें भगवान् सदा ही जन्म और मरणसे रहित हैं । जन्म और मृत्यु प्राकृत देहमें ही होते हैं । भगवान्का मङ्गलविग्रह अप्राकृत ही नहीं, परम दिव्य है । न वह कर्मजनित है न पाञ्चभौतिक है । वह नित्य सच्चिदानन्दमय 'भगवद्देह' है । शाश्वत और हानोपादानरहित, स्वरूपमय है । उसके आविर्भावका नाम जन्म है और उसके इस लोकसे अदृश्य हो जानेका नाम 'देह-त्याग' है ।

प्राकृतदेह और भगवद्देह

देह प्रधानतया दो प्रकारके होते हैं—प्राकृत और अप्राकृत । प्रकृतिराज्यके समस्त देह प्राकृत हैं और प्रकृतिसे परे दिव्यचिन्मयराज्यके अप्राकृत । प्राकृत देहका निर्माण स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन भेदोंसे होता है । जबतक 'कारण' देह रहता है, तबतक प्राकृत देहसे मुक्ति नहीं मिलती । इस त्रिविध-देहसमन्वित प्राकृत देहसे छूटकर—प्रकृतिसे विमुक्त होकर केवल आत्मरूपमें ही स्थित होने या भगवान्के चिन्मय पार्षदादि दिव्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेका नाम ही 'मुक्ति' है । मैथुनी-अमैथुनी, योनिज-अयोनिज—सभी प्राकृत शरीर वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं । इनमें कई स्तर हैं । अधोगामी बिन्दुसे उत्पन्न शरीर अधम है और ऊर्ध्वगामीसे निर्मित उत्तम । कामप्रेरित मैथुनसे उत्पन्न शरीर सबसे निकृष्ट है, किसी प्रसङ्गविशेषपर ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पसे बिन्दुके अधोगामी होनेपर उससे उत्पन्न होनेवाला शरीर उससे उत्तम द्वितीय श्रेणीका है; ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पमात्रसे केवल नारी-शरीरके मस्तक, कण्ठ, कर्ण हृदय या नाभि आदिके स्पर्शमात्रसे उत्पन्न शरीर द्वितीयकी अपेक्षा भी उत्तम तृतीय श्रेणीका है । इसमें भी नीचेके अङ्गोंकी अपेक्षा ऊपरके अङ्गोंके स्पर्शसे उत्पन्न शरीर अपेक्षाकृत उत्तम है । बिना स्पर्शके केवल दृष्टिद्वारा उत्पन्न उससे भी उत्तम चतुर्थ श्रेणीका है और बिना ही देखे संकल्पमात्रसे

उत्पन्न शरीर उससे भी श्रेष्ठ पञ्चम श्रेणीका है। इनमें प्रथम और द्वितीय श्रेणीके शरीर मैथुनी हैं। शेष तीनों अमैथुनी हैं। अतएव पहले दोनोंकी अपेक्षा ये तीनों श्रेष्ठ तथा शुद्ध हैं। इनमें सर्वोत्तम पञ्चम शरीर है। स्त्री-पिण्ड या पुरुष-पिण्डके बिना भी शरीर उत्पन्न होते हैं; परंतु उनमें भी सूक्ष्म योनि और बिन्दुका सम्बन्ध तो रहता ही है। प्रेतादि लोकोंमें वायुप्रधान और देवलोकादिमें तेजःप्रधान तत्तत्-लोकानुरूप देह भी प्राकृतिक—भौतिक ही हैं। योगियोंके सिद्धिजनित 'निर्माण-शरीर' बहुत शुद्ध हैं; परंतु वे भी प्रकृतिसे अतीत नहीं हैं। अप्राकृत पार्षदादिके अथवा भगवान्के मङ्गलमय लीलासङ्गियोंके भावदेह अप्राकृत हैं और वे प्राकृत शरीरसे अत्यन्त विलक्षण हैं। पर वे भी भगवद्देहसे निम्नश्रेणीके ही हैं। भगवद्देह तो भगवत्स्वरूप तथा सर्वथा अनिर्वचनीय हैं।

भगवान् नित्य सच्चिदानन्दमय हैं, इसलिये भगवान्के सभी अवतार नित्य सच्चिदानन्दघन ही होते हैं। पर लीला-विकासके तारतम्यसे अवतारोंमें भेद होता है। प्रधानतया अवतारोंके चार प्रकार माने गये हैं—पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार और मन्वन्तरावतार।

पुरुषावतार

भगवान्ने आदिमें लोकसृष्टिकी इच्छासे महातत्त्वादि-सम्भूत षोडशकलात्मक पुरुषावतार धारण किया था। भगवान्का चतुर्व्यूह है—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। 'भगवान्' शब्द श्रीवासुदेवके लिये प्रयुक्त होता है। इन्हींको 'आदिदेव नारायण' भी कहा जाता है। पुरुषावतारके तीन भेद हैं। इनमें आद्यपुरुषावतार उपर्युक्त षोडशकलात्मक पुरुष हैं, ये ही 'श्रीसंकर्षण' हैं। इन्हींको 'कारणार्णवशायी' या 'महाविष्णु' कहते हैं। पुरुषसूक्तमें वर्णित 'सहस्रशीर्षा पुरुष' ये ही हैं। ये अशरीरी प्रथम पुरुष कारण-सृष्टि अर्थात् तत्त्वसमूहके आत्मा हैं।

आद्य पुरुषावतार भगवान् ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट होते हैं, वे द्वितीय पुरुषावतार 'श्रीप्रद्युम्न' हैं। ये ही 'गर्भोदकशायी'रूप हैं। इन्हीं पद्मनाभ भगवान्के नाभिकमलसे हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव होता है—

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १।३।२)

तृतीय पुरुषावतार 'श्रीअनिरुद्ध' हैं, जो प्रादेशमात्र विग्रहसे समस्त जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, प्रत्येक जीवमें अधिष्ठित हैं। ये क्षीराब्धिशायी सबके पालनकर्ता हैं।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

(श्रीमद्भा० २।२।८)

गुणावतार

गुणावतार–(सत्त्व, रज और तमकी लीलाके लिये ही प्रकट) श्रीविष्णु, श्रीब्रह्मा और श्रीरुद्र हैं। इनका आविर्भाव गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुषावतार 'श्रीप्रद्युम्न'से होता है।

द्वितीय पुरुषावतार लीलाके लिये स्वयं ही इस विश्वकी स्थिति, पालन तथा संहारके निमित्त तीनों गुणोंको धारण करते हैं; परंतु उनके अधिष्ठाता होकर वे 'विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र' नाम ग्रहण करते हैं। वस्तुतः ये कभी गुणोंके वश नहीं होते। नित्य स्वरूपस्थित होते हुए ही त्रिविध गुणमयी लीला करते हैं।

लीलावतार

भगवान् जो अपनी मङ्गलमयी इच्छासे विविध दिव्य मङ्गल-विग्रहोंद्वारा बिना किसी प्रयासके अनेक विविध विचित्रताओंसे पूर्ण नित्य-नवीन रसमयी क्रीड़ा करते हैं, उस क्रीड़ाका नाम ही लीला है। ऐसी लीलाके लिये भगवान् जो मङ्गलविग्रह प्रकट करते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है। चतुस्सन (सनकादि चारों मुनि), नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, ध्रुवप्रिय विष्णु, ऋषभदेव, पृथु, श्रीनृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, श्रीराम, व्यासदेव, श्रीबलराम, बुद्ध और कल्कि लीलावतार हैं। इन्हें 'कल्पावतार' भी कहते हैं।

मन्वन्तरावतार

स्वायम्भुव आदि चौदह मन्वन्तरावतार माने गये हैं। प्रत्येक मन्वन्तरके कालतक प्रत्येक अवतारका लीलाकार्य होनेसे उन्हें 'मन्वन्तरावतार' कहा गया है।

शक्ति-अभिव्यक्तिके भेदसे नामभेद

भगवान्के सभी अवतार परिपूर्णतम हैं, किसीमें स्वरूपतः तथा तत्त्वतः न्यूनाधिकता नहीं है; तथापि शक्तिकी अभिव्यक्तिकी न्यूनाधिकताको लेकर उनके चार प्रकार माने गये हैं—'आवेश', 'प्राभव', 'वैभव' और 'परावस्थ'। उपर्युक्त

अवतारोंमें चतुस्सन, नारद, पृथु और परशुराम आवेशावतार हैं। कल्किको भी आवेशावतार कहा गया है।

'प्राभव' अवतारोंके दो भेद हैं, जिनमें एक प्रकारके अवतार तो थोड़े ही समयतक प्रकट रहते हैं—जैसे मोहिनी अवतार और 'हंसावतार' आदि, जो अपना-अपना लीलाकार्य सम्पन्न करके तुरंत अन्तर्धान हो गये। दूसरे प्रकारके प्राभव अवतारोंमें शास्त्रनिर्माता मुनियोंके सदृश चेष्टा होती है। जैसे महाभारत-पुराणादिके प्रणेता भगवान् वेदव्यास, सांख्यप्रणेता भगवान् कपिल एवं दत्तात्रेय, धन्वन्तरि और ऋषभदेव—ये सब प्राभव-अवतार हैं; इनमें आवेशावतारोंसे शक्ति-अभिव्यक्तिकी अधिकता तथा प्राभवअवतारोंकी अपेक्षा न्यूनता होती है।

वैभवावतार ये हैं—कूर्म, मत्स्य, नर-नारायण, वराह, हयग्रीव, पद्मगर्भ, बलभद्र और चतुर्दश मन्वन्तरावतार। इनमें कुछकी गणना अन्य अवतार-प्रकारोंमें भी की जाती है।

परावस्थावतार प्रधानतया तीन हैं—श्रीनृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण, ये षडैश्वर्यपरिपूर्ण हैं।

नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम्।
परावस्थास्तु ते साम्यं दीपादुत्पन्नदीपवत्॥

इनमें श्रीनृसिंहावतारका कार्य एक प्रह्लादरक्षण एवं हिरण्यकशिपु-वध ही है तथा इनका प्राकट्य भी अल्पकालस्थायी है। अतएव मुख्यतया श्रीराम और श्रीकृष्ण ही परावस्थावतार हैं।

इनमें भगवान् श्रीकृष्णको **'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** कहा गया है। अर्थात् उपर्युक्त सनकादि लीलावतार भगवान्‌के अंश-कला—विभूतिरूप हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं भगवान् हैं। भगवान् श्रीकृष्णको विष्णुपुराणमें 'सित-कृष्ण केश' कहकर पुरुषावतारके केशरूप अंशावतार बताया गया है। महाभारतमें कई जगह इन्हें नरके साथी नारायण ऋषिका अवतार कहा गया है, कहीं वामनावतार कहा है और कहीं भगवान् विष्णुका अवतार बतलाया है। वस्तुतः ये सभी वर्णन ठीक हैं। विभिन्न कल्पोंमें भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे अवतार भी होते हैं; परंतु इस सारस्वत कल्पमें स्वयं भगवान् अपने समस्त अंशकला-वैभवोंके साथ परिपूर्णरूपसे प्रकट हुए हैं। अतएव इनमें सभीका समावेश है। ब्रह्माजीने स्वयं इस पूर्णताको अपने दिव्य नेत्रोंसे देखा था। सृष्टिमें प्राकृत-अप्राकृत जो कुछ भी तत्त्व हैं, श्रीकृष्ण सभीके मूल तथा आत्मा हैं। वे समस्त जीवोंके, समस्त देवताओंके, समस्त ईश्वरोंके, समस्त अवतारोंके एकमात्र कारण, आश्रय और स्वरूप हैं। सित-कृष्ण-केशावतार, नारायणावतार, पुरुषावतार—सभी इनके अन्तर्गत हैं। वे क्या नहीं हैं? वे सबके सब कुछ हैं, वे ही सब कुछ हैं। समस्त पुरुष, अंश-कला, विभूति, लीला-शक्ति आदि अवतार उन्हींमें अधिष्ठित हैं। इसीसे वे स्वयं भगवान् हैं—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'**

लोचन मीन, लसैं पग कूरम, कोल धराधर की छबि छाजैं।
ये बलि मोहन साँवरे राम हैं दुर्जन राजन को हनि काजैं॥
हैं उरु मैं बल, ध्यान मैं बुद्ध, लखें कल्की बिपदा सब भाजैं।
मध्य नृसिंह हैं, कान्ह जू मैं सिगरे अवतारन के गुन राजैं॥

किन्हीं महानुभावोंने तीन तत्त्व माने हैं—'विष्णु', 'महाविष्णु' और 'महेश्वर'। भगवान् श्रीकृष्णमें इन तीनोंका समावेश है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णखण्ड)में आया है कि पृथ्वी भाराक्रान्त होकर ब्रह्माजीके शरण जाती है। ब्रह्माजी देवताओंको साथ लेकर महेश्वर श्रीकृष्णके गोलोकधाममें पहुँचते हैं। नारायण ऋषि भी उनके साथ रहते हैं। ब्रह्मा तथा देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण अवतार ग्रहण करना स्वीकार करते हैं। तब अवतारका आयोजन होने लगता है। अकस्मात् एक मणि-रत्न-खचित अपूर्व सुन्दर रथ दिखायी पड़ता है। उस रथपर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए महाविष्णु विराजित हैं। वे नारायण रथसे उतरकर महेश्वर श्रीकृष्णके शरीरमें विलीन हो जाते हैं—**गत्वा नारायणो देवो विलीनः कृष्णविग्रहे।**

परंतु महाविष्णुके विलीन होनेपर भी श्रीकृष्णावतारका स्वरूप पूर्णतया नहीं बना, तब एक दूसरे स्वर्णरथपर आरूढ़ पृथ्वीपति श्रीविष्णु वहाँ दिखायी दिये और वे भी श्रीराधिकेश्वर श्रीकृष्णके शरीरमें विलीन हो गये—**स चापि लीनस्तत्रैव राधिकेश्वरविग्रहे।**

अब अवतारके लिये पार्थिव मानुषी तत्त्वकी आवश्यकता हुई। नारायण ऋषि वहाँ थे ही, वे भी उन्हींमें विलीन हो गये। और यों महाविष्णु-विष्णु-नारायणरूप स्वयं महेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लिया तथा नारायणके साथी नरऋषि अर्जुनरूपसे अवतारलीलामें सहायतार्थ अवतरित हुए।

श्रीमद्भागवतके अनुसार असुररूप दुष्ट राजाओंके भारसे

आक्रान्त दुःखिनी पृथ्वी गोरूप धारण करके करुण-क्रन्दन करती हुई ब्रह्माजीके पास जाती है और ब्रह्माजी भगवान् शंकर तथा अन्यान्य देवताओंको साथ लेकर क्षीरसागरपर पहुँचते हैं और क्षीराब्धिशायी पुरुषरूप भगवान्का स्तवन करते हैं। ये क्षीरोदशायी पुरुष ही व्यष्टि पृथ्वीके राजा हैं, अतएव पृथ्वी अपना दुःख इन्हींको सुनाया करती है। ब्रह्मादि देवताओंके स्तवन करनेपर ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो जाते हैं और उन समाधिस्थ ब्रह्माजीको क्षीराब्धिशायी भगवान्की आकाशवाणी सुनायी देती है। तदनन्तर वे देवताओंसे कहते हैं—

गां पौरुषीं मे श्रृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि ॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । २१–२३)

‘देवताओ ! मैंने भगवान्की आकाशवाणी सुनी है, उसे तुमलोग मेरे द्वारा सुनो और फिर बिना विलम्ब इसीके अनुसार करो। हमलोगोंकी प्रार्थनाके पूर्व ही भगवान् पृथ्वीके संतापको जान चुके हैं। वे ईश्वरोंके भी ईश्वर अपनी कालशक्तिके द्वारा धराका भार हरण करनेके लिये जबतक पृथ्वीपर लीला करें, तबतक तुमलोग भी यदुकुलमें जन्म लेकर उनकी लीलामें योग दो। वे परम पुरुष भगवान् स्वयं वसुदेवजीके घरमें प्रकट होंगे। उनकी तथा उनकी प्रियतमा (श्रीराधाजी) की सेवाके लिये देवाङ्गनाएँ भी वहाँ जन्म धारण करें।’

क्षीरोदशायी भगवान्के इस कथनका भी यही अभिप्राय है कि ‘साक्षात् परम पुरुष स्वयं भगवान् प्रकट होंगे, वे क्षीराब्धिशायी नहीं।’ अतएव स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् ही, जिनके अंशावतार नारायण हैं, वसुदेवजीके घर प्रकट हुए थे। देवकीजीकी स्तुतिसे भी यही सिद्ध है—

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥

(१० । ८५ । ३१)

‘हे आद्य ! जिस आपके अंश (पुरुषावतार) का अंश (प्रकृति) है, उसके भी अंश (सत्त्वादि गुण) के भाग (लेशमात्र)से इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हुआ करते हैं, विश्वात्मन् ! आज मैं उन्हीं आपके शरण हो रही हूँ।’

अब रही ‘सित-कृष्ण-केश’ की बात, सो यों कहा गया है कि इसका प्रयोग भगवान्के श्वेत या श्यामवर्णकी शोभाके लिये किया गया है। श्रीबलरामजीका वर्ण उज्ज्वल है और श्रीकृष्णका नीलश्याम। श्रीमद्भागवतके प्रसिद्ध भक्तप्रेमी वैष्णव टीकाकार श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इसका बड़ा विलक्षण अर्थ किया है—**सितो रुद्रः कृष्णो विष्णुः**, को ब्रह्मा **तेषामपीश्वरः** अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके अधीश्वर। श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

कलया चातुर्येण सिता निबद्धाः कृष्णा अतिश्यामाः केशा येन इति रसिकशिखावतंसस्य व्यञ्जनात् कृष्णत्वं प्राप्यते ।

अर्थात् कलाचातुरीसे बाँधे हुए श्यामकेशवाले श्रीकृष्ण। एक दूसरा अर्थ यह है—

यः सितकृष्णकेशः क्षीराब्धिशयः सोऽपि यत्कलैव भवति स कृष्णो जातः सन् कर्माणि करिष्यति ।

अर्थात् ‘जो सितकृष्णकेश क्षीराब्धिशायी हैं—वे भी जिस कृष्णकी कला हैं। ऐसे ही और भी अर्थ किये गये हैं। पर यही मानना चाहिये कि स्वयं भगवान् परिपूर्णतम श्रीकृष्णमें श्रीकृष्णावतारके भी सभी अवतार-कारणोंका एकत्र समावेश है। एकमें ही और एकसे ही सबका कार्य सुसम्पन्न हो जाता है।

सबसे बड़ा प्रमाण तो है—गीतामें कहे हुए भगवान् श्रीकृष्णके अपने वाक्य, जो उनके परिपूर्णतम, सबके आदि स्वयं भगवान् होनेकी घोषणा करते हैं। उनमेंसे कुछ थोड़े से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

(१५ । १६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५ । १७)

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५ । १८)

'समस्त भूत 'क्षर' हैं और कूटस्थ 'अक्षर' है; इन दोनोंसे पृथक् एक 'उत्तम पुरुष' हैं जिन्हें अविनाशी परमात्मा कहते हैं, जो ईश्वर हैं और त्रिलोकीमें व्याप्त रहकर सबका धारण-पोषण करते हैं। मैं 'क्षर'से अतीत हूँ, और 'अक्षर' (कूटस्थ) से भी उत्तम हूँ; इसीलिये लोक और वेदमें मेरा 'पुरुषोत्तम' नाम प्रसिद्ध है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४ । २७)

'मैं अविनाशी ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ तथा अमृत, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक सुखकी भी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, शाश्वतधर्म, ऐकान्तिक सुख—सबका आधार मैं ही हूँ।'

गीतामें और भी बहुत-से वचन हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णतम स्वयं भगवान् सिद्ध करते हैं। यों श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् तो हैं ही। साथ ही वे अनन्त विभूति और शक्तिसे सम्पन्न सर्वाङ्गपूर्ण योगेश्वरेश्वर, सर्वकलाकुशल ऐतिहासिक महापुरुष भी हैं। उनकी सभी लीलाएँ महामानवके आदर्शको लक्षित करती हैं। श्रीभागवत तथा महाभारत तो उनके महत्त्वपूर्ण लीलाचरित्र तथा तत्त्वव्याख्यानसे भरे ही हैं, विभिन्न पुराणोंमें भी उनकी लीलाका बड़ा सुन्दर वर्णन है। वे परम सुन्दर, परम मधुर, परम कोमल होनेके साथ ही महा-रौद्ररूप अत्यन्त विकट और महान् कठोर हैं। उनकी लीलाओंमें सर्वत्र 'षडैश्वर्यपूर्णता' के साथ-साथ 'विरुद्ध-धर्माश्रयता' के नित्य दर्शन होते हैं।

श्रीकृष्णका रूप-सौन्दर्य

उनका वह द्विभुज रूप कितना सुन्दर तथा मधुर है, इसे कोई बता नहीं सकता। एक महात्माने कहा है कि श्रीकृष्णके इस मायातीत या गुणातीत नित्यरूपका वर्णन करनेकी शक्ति चौदह भुवनोंमें किसीमें भी है, ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। शास्त्रोंमें जो वर्णन है, वह तो ध्यानकी सुकरताके लिये उनके रूपका आभासमात्र है। कर्दम ऋषिने जो रूप देखा था, वह चतुर्भुज था। ध्रुव, अर्जुन तथा अन्यान्य भक्तोंने भी उस रूपके दर्शन किये थे। यद्यपि ये सभी रूप एक-से नहीं थे, तथापि थे एक ही। परंतु ये उनकी ऐश्वर्यभूमिके रूप हैं। माधुर्यमण्डलमें उसका द्विभुज रूप ही प्रकट होता है, वह स्वजनमोहन ही नहीं, स्वमनमोहन भी है। वह नित्य नव-किशोर नटवर विग्रह है। गोपवेश है। हाथमें मधुर मुरली लिये कदम्बके नीचे विराजित है। श्याममेघके सदृश नीलाभ श्यामवर्ण है। पीतवसन पहने है; गलेमें गुंजाहार और वन-माला सुशोभित हैं, वदनपर नित्य मधुर मोहन स्मित हास्य है। चारों ओर गोपबालक तथा गोपदेवियाँ घेरे हैं। किसकी क्षमता है जो इस अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यको भाषाके द्वारा प्रकाश कर सके।

व्रजमें प्रकट भगवान्‌के स्वरूप-सौन्दर्यपर उनकी वात्सल्यमयी माता तथा मातृस्थानीया गोपमाताएँ, उनकी परम प्रेयसी गोपरमणियाँ और उनके सब प्रकारके सखा-गण तो अपने-अपने भावानुसार मुग्ध थे ही—उनकी मुग्धताके तो असंख्य उदाहरण हैं; संसारमें कोई भी प्राणी ऐसा नहीं था, जिसकी दृष्टि एक बार उनके सौन्दर्यपर पड़ी हो और वह अपनेको भूल न गया हो। नामकरण-संस्कार करानेके लिये आचार्य पधारते हैं और शिशु श्रीकृष्णके अश्रुतपूर्व दिव्य रूप-सौन्दर्यको देख विचित्र दशाको प्राप्त होकर अपने आपको भूल जाते और कहने लगते हैं—

धैर्यं धिनोति बत कम्पयते शरीरं
रोमाञ्चयत्यतिविलोपयते मतिं च ।
हन्तास्य नामकरणाय समागतोऽह-
मालोपितं पुनरनेन ममैव नाम ॥

'(मेरा) धैर्य छूट रहा है, शरीर कम्पित और रोमाञ्चित हो रहा है तथा बुद्धि भी लोप हुई जा रही है। आश्चर्य है! जिनके नामकरणके लिये मैं यहाँ आया, उन्होंने तो स्वयं मेरा नाम ही मिटा दिया है।' नाम-रूप मिटनेपर ही तो मुक्ति होती है। सचमुच जिस भाग्यवान्‌को उनके रूप-सौन्दर्यकी झाँकी हो जाती है, उसके लिये फिर नाम-रूपात्मक संसार कैसे रह सकता है?

लीलाशुक अपनी मधुर वाणीसे अपना अनुभव सुनाकर पथिकोंको सावधान करते हुए प्रकारान्तरसे उसी पथपर जानेके लिये प्रोत्साहित करते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको! उस पथसे मत जाना, वह मार्ग बड़ा भयानक है। वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रक्खे जो

तमाल-सदृश नीलश्याम धूर्त बालक खड़ा है, वह अपने समीप होकर जानेवाले किसी भी पथिकका चित्तरूपी धन चुराये बिना नहीं छोड़ता।' अर्थात् श्यामसे चित्त चुरवाना हो तभी उस रास्ते जाना।

पण्डितराज जगन्नाथ अपने चित्तसे कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥

'अरे चित्त! सावधान रहना। तू वृन्दावनमें गौ चरानेवाले, नवीन नील-नीरदके समान नीलश्याम कान्तिवाले किसी पुरुषको अपना बन्धु मत बना लेना। कहीं बना लिया तो वह अपनी सौन्दर्य-सुधा-वर्षिणी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित कर लेगा, और मेरे समस्त प्रिय विषयोंको तुरंत नष्ट कर डालेगा।' सच है, उनकी सौन्दर्य-सुधामयी मुसकानके सामने विषय-विष कैसे रह सकता है।

महाकवि भवभूतिको एक बार श्रीश्यामसुन्दरके रूप-सौन्दर्यकी जरा-सी झाँकी हो गयी और वे सदाके लिये अपने मनको लुटा बैठे। वे कहते हैं—

शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयं
पञ्चाक्षरीजपपरा नितरां तथापि।
चेतो मदीयमतसीकुसुमावभासं
स्मेराननं स्मरति गोपवधूकिशोरम्॥

'मैं शैव हूँ, इस सम्बन्धमें तो कुछ विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं है; मैं सदा-सर्वदा 'नमः शिवाय' यह पञ्चाक्षर मन्त्र भी जपता रहता हूँ। इतना सब होते हुए भी मेरा मन तो अब निरन्तर अतसी-कुसुम-सुन्दर गोप-वधू-किशोर श्रीश्यामसुन्दरके मधुर मुसकानभरे मुखका ही स्मरण करता रहता है।'

अद्वैतनिष्ठासम्राट, अद्वैतसिद्धिके रचयिता श्रीमधुसूदन स्वामीने अपनी दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अद्वैतपथसे स्वाराज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हो जानेपर भी यह शठ गोपीवल्लभ ऐसे-ऐसे ज्ञानी महारथियोंको हठपूर्वक अपना दास बना लेता है। फिर दूसरा कोई तत्त्व उन्हें सूझता ही नहीं। इसीसे वे कह उठते हैं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

औरोंकी तो बात ही क्या, बूढ़े व्यास एवं भीष्म-सरीखे महापुरुष तथा नारदादि ऋषि-मुनि भी उनके स्वरूप-सौन्दर्यको एकटकी लगाकर देखते ही रह जाते थे।

सुर-मुनि, मनुज-दनुज, पशु-पंछी को अस जो जग आवै।
लखि कैं छबि-माधुरी ललन की, सुधि-बुधि नहि बिसरावै॥
जोगी, परम तपस्वी, ज्ञानी, जिन निज-निज मन मारयौं।
तनिक निरखि मुसक्यान मधुर तिन बरबस जीवन हारयौं॥
बिसरयौं सहज बिराग, ब्रह्मसुख, थकित बिलोचन ठाढ़े।
तनु पुलकित, दृग प्रीति-सलिल, द्रुत हृदे, प्रेम-रस बाढ़े॥

× × × ×

भगवान् एक ही है

कुछ महानुभाव ऐसा मानते हैं कि लीलामें अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णका त्रिविध प्रकाश है—कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्ण पूर्ण सत् और ज्ञानशक्तिप्रधान हैं, द्वारका और मथुरामें पूर्णतर चित् और क्रियाशक्तिप्रधान हैं एवं श्रीवृन्दावनमें श्रीकृष्ण पूर्णतम आनन्द और इच्छाशक्तिप्रधान हैं। कुछ लोग महाभारत और श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्णको दो मानते हैं। यह सब उनकी अपनी भावना है। जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥ वस्तुतः परिपूर्णतम भगवान् एक ही हैं, उनका अनन्त लीला-विलास है और लीलानुसार उनके स्वरूप-वैचित्र्य हैं। वस्तुतत्त्व एक ही है।

जिस किसी भी भावसे कोई उन्हें देखे—अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार उनके दर्शन करे, सब करते एक ही भगवान्के हैं। उनमें छोटा-बड़ा न मानकर अत्यन्त प्रेम-भक्तिके साथ अपने इष्ट स्वरूपकी सेवामें ही लगे रहना चाहिये*।

अस्तु,

---

* एक सज्जन पूछते हैं कि क्या भगवान् राम भगवान् श्रीकृष्णसे किसी प्रकार न्यून हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान्में न्यूनताकी कल्पना करना ही अपराध है। वे दोनों सर्वथा एक ही हैं। लीलामें एक मर्यादापुरुषोत्तम, दूसरे लीला-पुरुषोत्तम।

आजका मङ्गल-दिवस

आज वही महान् मङ्गलमय दिवस है, जिस दिन स्वयं भगवान्‌का इस धराधामपर प्राकट्य हुआ था। हम धन्य हैं जो आज इस महामहोत्सवका सौभाग्य प्राप्तकर मानव-जीवनको सफल बना रहे हैं।

भगवान् प्रकट हुए मथुराके कंस-कारागारमें—यद्यपि कुछ भक्त उनका गोकुलमें प्रकट होना भी मानते हैं। जो कुछ भी हो, उनके प्राकट्यके उत्सव मनानेका सौभाग्य मिला श्रीनन्द-यशोदाको और व्रजवासियोंको ही। अतः हम भी उन्हींके साथ उत्सवमें सम्मिलित होकर, ग्वाल-बाल तथा नन्द-बाबाके साथ मिलकर नाचते गाते हैं—

हौं इक नई बात सुनि आई।
महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर घर होति बधाई॥
द्वारें भीर गोप गोपिनि की, महिमा बरनि न जाई।
अति आनंद होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई॥
नाचत बृद्ध तरुन अरु बालक, गोरस कीच मचाई।
सूरदास स्वामी सुख सागर सुंदर स्याम कन्हाई॥

× × × ×

नन्द के आनंद भयो, जय कन्हैयालालकी!

* * *

भगवान्‌का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं

मैं जीवनकी किसी भी परिस्थितिसे भयभीत या परास्त नहीं होता; क्योंकि मेरे हृदयमें स्थित भगवान् मेरी सफलताके हेतु हैं। भगवान्‌के लिये कोई भी स्थिति ऐसी पेचीदा अथवा कठिन नहीं है, जिसको वे सुलझा न सकें अथवा जिसका सर्वानुकूल समाधान वे न कर सकें। अतएव अपने मनको क्षुब्ध करनेवाली प्रत्येक पेचीदा या कठिन परिस्थितिको सर्वसमाधानविधायक भगवान्‌को सौंपकर मैं निश्चिन्त होता हूँ।

जब मैं अस्वस्थ होता हूँ, तब न तो मैं अपनी अस्वस्थताके विषयमें कुछ सोचता हूँ और न दूसरोंसे उसके सम्बन्धमें कुछ कहता-सुनता हूँ; प्रत्युत अपने हृदयमें इस विश्वासको दृढ़ करता हूँ कि सर्वरोग-नाशक भगवान् मेरे अन्तरमें अवस्थित हैं। जब कोई भय मुझे भयभीत करता है तो मैं अपने हृदयमें बार-बार इस विश्वासको दोहराता हूँ कि भगवान् संरक्षक एवं साहसके रूपमें नित्य मेरे साथ हैं। जब मन किसी भावी काल्पनिक अथवा वास्तविक विपत्तिकी आशङ्कासे भयभीत एवं अस्थिर होने लगता है, तब मैं इस विश्वासको परिपुष्ट करता हूँ कि जो भगवान् इस समय मेरे साथ हैं, वे ही भविष्यमें भी मेरे साथ रहेंगे।

सामने उपस्थित कठिनाइयोंको—चाहे वे कितनी ही भीषण एवं पेचीदा क्यों न हों—मैं विश्वास-पूर्वक भगवान्‌के प्रेमपूर्ण और सौहार्दभरे संरक्षणमें सौंपता जाता हूँ और एक क्षणके लिये भी इस बातमें संदेह नहीं करता कि भगवान्‌का प्यार सब परिस्थितियोंका सुन्दर-से-सुन्दर रूपमें समाधान कर रहा है।

मैं भगवान्‌के प्रेम एवं शक्तिके बलपर किसी भी परिस्थितिका स्थिरतासे सामना करनेमें समर्थ हूँ।

भगवान्‌का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं।

* * *

दोनों ही षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। जैसे श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णके लिये 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' आया है, वैसे ही रामायणमें भगवान् श्रीरामके लिये 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' आया है। अतएव इनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना नहीं करनी चाहिये।

गायत्री माताकी भक्तिका विलक्षण फल

[एक विश्वविख्यात आर्य-संन्यासीकी जबानी अपनी बीती सत्य कहानी]

(बिल्कुल सत्य घटना)

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

अभी पिछले दिनोंकी बात है कि पिलखुवामें हमारे स्थानपर विश्वविख्यात आर्यसमाजी संन्यासी श्रीस्वामी आनन्द-स्वामी सरस्वतीजी महाराज (भूतपूर्व महाशय खुशालचंदजी, सम्पादक 'मिलाप') पधारे थे। उनके कई दिनोंतक सदुपदेश हुए थे, जिन्हें सुनकर जनता बड़ी प्रभावित हुई थी। आपने अपने जीवनमें श्रीगायत्री माताकी भक्तिका क्या चमत्कार देखा तथा मृत्युञ्जय मन्त्रका भी—इस विषयमें उन्होंने कुछ सत्य घटनाएँ सुनायीं। उन्हें हम ज्यों-की-त्यों यहाँ दे रहे हैं। आशा है, पाठक ध्यानसे पढ़नेकी कृपा करेंगे।

एक विद्यार्थी—महाराजजी ! हमें क्या करना चाहिये ?

स्वामीजी—बेटा ! तुम्हें चाहिये गायत्री माताकी शरण लेनी। बस, तुम गायत्री माताकी भक्तिसे सब कुछ पा सकते हो। हाँ, यह आवश्यक है कि गायत्री-जपके साथ इस मन्त्रके आदेशको अपने जीवनमें ओतप्रोत कर लो। तब मन्त्र-जप पूरा लाभ देता है।

विद्यार्थी—महाराजजी ! हम गायत्री तो जपना चाहते हैं; परंतु कुछ लोग कहते हैं कि तुम गायत्री तब जप सकते हो, जब तुम्हारे यज्ञोपवीत—जनेऊ हो; नहीं तो बिना यज्ञोपवीतके गायत्री जपनेसे पाप लगता है। तो हमें क्या करना चाहिये ?

स्वामीजी—तुम्हें चाहिये कि तुम अपना यज्ञोपवीत-संस्कार कराओ और संस्कार कराकर तब गायत्रीका जप करो। इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है ? हिंदू होकर यज्ञोपवीत-संस्कार न कराना यह तो बड़ी लज्जाकी बात है।

विद्यार्थी—नहीं महाराजजी ! कोई यदि यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं कराना चाहता हो तो क्या करे ?

स्वामीजी—जिसे भगवान् श्रीराम-कृष्णकी सोसायटीमें शामिल होना है, उसे तो अपना यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य कराना ही होगा और यदि अपना उत्थान चाहते हो तो गायत्री माताकी शरण लो, गायत्री माताकी भक्ति करो और नित्यप्रति गायत्री माताकी गोदमें बैठकर अमृतपान करो।

प्रश्न—आपने स्वयं गायत्री-माताकी भक्तिके द्वारा कुछ चमत्कार देखा है ? क्या वास्तवमें मन्त्र-जपसे कार्य सिद्ध हो सकते हैं ?

स्वामीजी—देखा है और खूब देखा है। गायत्री माताके और महामृत्युञ्जयके जपमें बड़ी विलक्षण शक्ति देखी है। यह मन्त्र बड़ी-से-बड़ी घोर विपत्तियोंसे छुटकारा दिला देता है और फाँसीके तख्तेपरसे भी बचा देता है। हमने इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अपनी आँखोंसे देखा है। मेरे पुत्र रणवीर, सम्पादक 'मिलाप'को एक बार सेशनकोर्टसे फाँसीकी सजाका आदेश हो गया। मैं रणवीरसे जेलमें मिला और उससे कहा कि तुम माता गायत्रीकी शरण लो और तुम सवा लाख—

> ॐत्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनम्।
> उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

—इस महामृत्युञ्जय-मन्त्रका जप करो। तुम अवश्य ही फाँसीकी सजासे छूट जाओगे। इधर फाँसीकी कोठरीमें तुम मन्त्र-जप करो, उधर हम तुम्हें मृत्युके पंजेसे बचानेके लिये पूरा पुरुषार्थ करेंगे। प्रभुकी आराधना और तदनुकूल प्रयत्न दोनों मिलकर कार्य सिद्ध कर देते हैं। उसने मेरे कहनेके अनुसार इस मन्त्रका जप करना प्रारम्भ किया। बड़े-बड़े वकील बैरिस्टर यह कहते थे कि 'ये छूटेंगे नहीं'; किंतु मैं यह कहता था कि हमने यहाँकी अदालतके अतिरिक्त एक बहुत बड़ी अदालतमें, जो सबसे बड़ी अदालत है, अपील कर रक्खी है। उसमें हमारी अवश्य ही सुनवायी होगी। जिस दिन सवा लाख जप पूरा हुआ, ठीक उसी दिन रणवीर साफ छूट गये। इस प्रकार मन्त्रने फाँसीकी सजासे रक्षा की। जो मन्त्र फाँसीकी सजासे बचा सकता है, वह मन्त्र क्या रोगोंको नहीं मिटा सकता ? या कोई वस्तु प्राप्त नहीं करा सकता। विश्वास और श्रद्धाके साथ जप करना चाहिये। सब कुछ प्राप्त हो सकता है और रोग, शोक सब जा सकता है।

प्रश्न—अपने जीवनकी कोई सत्य घटना सुनाइये।

स्वामीजी—सुनिये, सुनाये देता हूँ।

गायत्री माताकी बड़ी अद्भुत अलौकिक शक्ति है। गायत्री माताकी भक्ति करनेसे, गायत्री माताके शरण जानेसे हमारे लोक-परलोक दोनों ही बन जाते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। गायत्री माताके जपसे, भक्तिसे क्या प्राप्त होता है, इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। इस सम्बन्धका मेरा निजी अनुभव इस प्रकार है—

बाल्यकालमें मेरी बुद्धि सूक्ष्म नहीं थी। मैं उस समय एक स्कूलमें पढ़ा करता था; परंतु मुझे उस समय आता कुछ भी नहीं था। मैं स्कूलके प्रत्येक घंटेमें मार ही खाता था। अथवा मुझे बेंचपर खड़े होकर स्कूलका समय व्यतीत करना पड़ता था। स्कूलमें मुझसे जाते ही पाठ याद न होनेके कारण खूब कहा-सुना जाता था और मैं खड़ा हो जाता था। और उधर जब मैं अपने घर पहुँचता था तो घरपर मुझे मेरे पिताजी बड़ी बुरी तरहसे धिक्कारते थे तथा मुझे डाँटते हुए कहते थे कि तू इस प्रकार अपना जीवन नष्ट कर देगा। पढ़ता क्यों नहीं है? स्कूलसे भी और घरसे भी अपमानित हुआ मैं आत्महत्या करनेकी बात सोचा करता था। एक दिनकी बात है—वर्षाऋतुमें जब हमारे ग्रामकी बरसाती नदी खूब वेगसे बह रही थी, मैंने उसके पुलपर चढ़कर आत्महत्या करनेकी दृष्टिसे नदीमें छलाँग लगा दी; परंतु मैं मर न सका और जलमें बहता हुआ किनारे जा लगा। ग्रामके लोगोंने मुझे पहचान लिया और ले जाकर मेरे घर पहुँचा दिया। इस प्रकार मेरी बड़ी बुरी अवस्था थी। परंतु जब मेरे भाग्यके उदय होनेका समय आया, तब अकस्मात् विचरते-विचरते हमारी नगरीमें एक बड़े ही उच्चकोटिके संत—स्वामीजी श्रीनित्यानन्दजी महाराज पधारे और हमारी ही वाटिकामें आकर ठहरे तथा वहींपर उन्होंने निवास किया। पिताजीने उन्हें भोजन ले जानेका कार्य मुझे सौंपा। मैं प्रतिदिन स्वामीजी महाराजके लिये भोजन ले जाता। एक दिनकी बात है, मैं उस दिन पाठ याद न होनेके कारण स्कूलमें तथा घरमें बड़ी बुरी तरहसे पिटा था और रोते-रोते मेरी आँखें भी सूज गयी थीं। दोपहरके समय मैं उस दिन भी नित्यकी भाँति स्वामी नित्यानन्दजी महाराजके लिये भोजन ले गया और भोजनकी थाली स्वामीजी महाराजके सामने रखकर आप दीवारके साथ लगकर उदास खड़ा हो गया। स्वामीजी महाराज भोजन भी करते जाते थे और बार-बार वे मेरी ओर ताकते भी जाते थे। भोजन करनेके पश्चात् स्वामीजीने मुझे नाम लेकर पुकारा और मुझसे पूछा कि 'कहो, क्या बात है? आज तुम बड़े ही उदास क्यों खड़े हो?' मैंने कहा—'महाराज! कुछ नहीं है।' स्वामीजी कहने लगे—'नहीं, बात तो कुछ अवश्य है। बताओ, क्या बात है? और तुम्हारी आँखें भी आज रुदनसे कुछ सूजी हुई-सी प्रतीत होती हैं।' यह सुनते ही मेरे धैर्यका बाँध टूट गया और मैं अब तो फूट-फूटकर रोने लगा। तब स्वामीजी महाराजने बड़े प्यारसे मुझे अपने बिल्कुल ही पासमें बिठलाकर कहा—'कहो बेटा, तुम्हें क्या कष्ट है, जो तुम इस प्रकार रो रहे हो?' तब मैंने निवेदन किया कि 'महाराजजी! मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता; क्योंकि मैं बुद्धि मोटी होनेके कारण हर स्थानपर अपमानित होता हूँ, इसलिये मुझे अब मरनेका कोई सरल—सीधा-सा साधन बताइये।' स्वामीजी सुनकर कहने लगे—'अरे, तू इतनी-सी बातसे अधीर हो गया है! तेरे रोगकी औषध हमारे पास है, अब तू चिन्ता मत कर।'

मैंने अब तो आशाभरी नेत्रोंसे उन्हें देखते हुए उनसे कहा कि 'मुझे वही बतलाइये।' स्वामीजी सुनकर कहने लगे कि 'एक सफेद कागज लाओ।' मैंने सफेद कागज दिया। उन्होंने कागजपर गायत्री-मन्त्र लिखकर मुझे आदेश किया कि 'यह है तुम्हारे रोगका इलाज। प्रातःकाल जब घरके सब लोग सोये पड़े हों, तब तू उठकर और शुद्ध—पवित्र होकर और पवित्र कुशासनपर बैठकर और एक आसनसे बैठकर भृकुटीमें ध्यान लगाकर इस मन्त्रका जप किया कर।' यह कहकर स्वामीजीने मुझे आशीर्वाद दिया।

इस मन्त्रको लेकर मुझे ऐसा लगा कि जैसे मुझे कोई एक बहुत बड़ी सम्पत्ति मिल गयी हो। अब तो मैं पूज्य स्वामीजी महाराजके आज्ञानुसार प्रातःकाल साढ़े तीन बजे उठ जाता और स्नान आदिके पश्चात् एक आसनपर बैठकर ध्यान जमाकर गायत्रीका जप करता। परंतु बाल्यावस्थाके कारण निद्रा आकर घेर लेती और मैं ऊँघने लगता। जब मैं निद्रा दूर होते न देखता तो मैं अपने नेत्रोंपर पानीके छींटे देता और इस प्रकारसे सावधान होकर फिरसे गायत्रीका जप करना प्रारम्भ कर देता; परंतु निद्रा फिर भी मुझे आ घेरती। इससे बचनेका मुझे एक उपाय सूझा। मेरी चोटी बड़ी लंबी थी। मैंने एक लंबी रस्सी लेकर उस रस्सीका एक सिरा तो छतमें लगे कुडेमें बाँध दिया और रस्सीका दूसरा सिरा चोटीके साथ बाँधकर बैठ गया। जप करते समय जब मुझे ऊँघ आती और सिर नीचे होता तो चोटीके खिंच जानेसे मैं एकदम सावधान हो जाता। इस प्रकार बड़ी

श्रद्धा-भक्तिसे मैं गायत्रीका निरन्तर जप करने लगा। चार-पाँच मासके पश्चात् ही मैंने गायत्री माताके जपका यह अद्भुत चमत्कार देखा कि जहाँ पहले मेरी बुद्धि कोई भी विषय नहीं पकड़ती थी, वहाँ कुछ-कुछ गणित, इंगलिश, हिंदी, इतिहास इत्यादि स्मरण होने लगे। और जब वार्षिक परीक्षा हुई तब मैं उसमें अच्छे नंबरसे उत्तीर्ण हो गया। मास्टर लोग मुझे उत्तीर्ण होते देखकर आश्चर्यचकित हो गये और कहने लगे कि 'इसे तो कुछ भी नहीं आता था, फिर यह पास कैसे हो गया? हो-न-हो इसने दूसरेकी नकल की होगी।' मैंने कहा कि 'ऐसी बात तो नहीं है।' उसके पश्चात् जो भी परीक्षा होती, मैं उसीमें अब तो अच्छे नंबरोंसे उत्तीर्ण होता रहा और गायत्री माताकी कृपासे मेरी बुद्धि दिनोंदिन निर्मल और तीव्र होने लगी और जब कर्तव्य-क्षेत्रमें लगा, तब भी निरन्तर उन्नति ही करता चला गया। गायत्री माताकी कृपासे वैभवकी सारी वस्तुएँ प्राप्त होने लगीं। गाय, भैंस, कारें, मोटरें, कोठी, पुत्र-पौत्र—जितनी भी लौकिक वैभवकी चीजें हैं, सभी प्राप्त होने लगीं। इन सारे ही लौकिक वैभवोंको प्राप्त करनेके पश्चात् यह शक्ति भी गायत्री माताकी कृपासे प्राप्त हुई कि मैं इन सबपर लात मारकर विरक्त हो गया और आत्मदर्शनका यत्न करने लगा। अब मेरी आयु ७५ वर्षकी हो चुकी है और ९ वर्षकी आयुसे लेकर अबतक मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह सब श्रीगायत्री माताकी ही कृपासे प्राप्त हुआ है। मुझे भी कोई ऐसी रात्रि या दिन स्मरण नहीं कि जब मैंने सारे लंबे वर्षोंमें कभी श्रीगायत्री माताकी गोदमें बैठकर अमृत न पिया हो। मेरा अनुभव यह है कि गायत्री माताकी आराधनासे लोक-परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं। अथर्ववेदके अंदर भी आदेश है कि गायत्री माताके साधकको आयु, स्वास्थ्य, संतान, धन, ऐश्वर्य, कीर्ति, पशु, ब्रह्मवर्चस्—दुनियाके सब-के-सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और तब ब्रह्मलोक भी प्राप्त हो जाता है। कौन-सी ऐसी चीज है, जो गायत्री माताकी कृपासे प्राप्त नहीं हो जाती? इसलिये गायत्री माताका भरोसा और गायत्री माताकी भक्ति अवश्य ही करनी चाहिये।

मुझे गायत्री माताने घोर विपत्तिसे कैसे बचाया! इतना ही क्यों, मैं जो आज आपके सामने दिखलायी दे रहा हूँ और जो मैं आज आपके सामने जीवित हूँ, यह भी एकमात्र गायत्री माताकी कृपासे ही है, और किसी कारणसे नहीं। मैं कैलासकी यात्रामें था, जो बड़ी भयंकर यात्रा है, जिसमें मेरे पैरकी हड्डी टूट गयी थी और मेरे सभी साथियोंने मेरा साथ छोड़ दिया था तथा वे मुझे अकेला छोड़कर आगे चले गये थे। मैंने उस समय अपनी गायत्री मातासे प्रार्थना की कि 'मेरी माता! तू मेरी रक्षा कर।' मैंने देखा कि गायत्री माताने मेरी प्रार्थना सुनी और मेरे अंदर ऐसी शक्ति पैदा की कि मैं जो गायत्रीका स्मरणकर चलनेको खड़ा हुआ तो एकदम टूटी हड्डीका पता नहीं क्या हुआ और मैं पहाड़ोंको लाँघकर यहाँ आ पहुँचा। यह मैंने स्वयं अपने जीवनमें गायत्रीका अद्भुत चमत्कार देखा है। गायत्री माताकी भक्तिसे मैंने सब कुछ प्राप्त किया है। और भी जो कोई गायत्री माताकी भक्ति करेगा, उसे भी सब कुछ प्राप्त होगा—ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। परंतु गायत्री-जप यम-नियमोंका पालन करते हुए और मन्त्रके आदेशको जीवनमें ढालते हुए ही करना लाभदायक है। बोलो गायत्री माताकी जय!

एक व्रजवासी साधकका अनुभव

आज प्रातःकाल मैं यमुना-स्नान करने गया था। श्रीश्यामसुन्दरकी मधुर स्मृतिमें मन डूबा जा रहा था। हरेक डुबकीमें श्रीकृष्ण हृदयमें समा रहे थे। ऐसा ही प्रतीत हो रहा था, मानो मैं अकेला नहीं नहा रहा हूँ, मेरे साथ मेरे प्राणधन श्रीश्यामसुन्दर भी हृदयसे लग रहे हैं। मुझे तो जितनी मोहन मादकता कालिन्दी-सलिलमें दीखती है, उतनी श्रीगङ्गाजीमें नहीं दीखती; क्योंकि यमुनाके नीलश्याम जलको देखकर श्यामघन श्रीश्यामसुन्दरकी परम सुखद स्मृतिसे हृदय भर जाता है। हृदयमें उनकी संनिधिका अनुभव होता है। इससे यमुनाका नील-घनश्याम जल मुझे बड़ा ही अच्छा लगता है।

निषादराज गुह और केवट एक व्यक्ति हैं अथवा दो ?

(लेखक—सम्मान्य पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख शृङ्गवेरपुरपर गङ्गापार करनेके लिये प्रथम आता है निषादराज गुह और विनम्रतापूर्वक सेवामें निरत हो जाता है। उसके साथ उसकी जातिके लोग आते हैं; पर कोई विशेषरूपसे श्रीरामचन्द्रके साथ अपनेको परिचित नहीं कराते। सब गुहके सहगामी रहते हैं। तब विचार करनेका स्थल है कि गुहके अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति केवट नामसे गङ्गा-पार करनेके पूर्व आता है और धृष्टतापूर्वक कहता है कि पाँव धो लेनेके पश्चात् नावपर चढ़ने दूँगा। ऐसा व्यक्ति दूसरा कौन है, कहीं उसका उल्लेख नहीं किया गया। दूसरी ओर यदि 'केवट' शब्दसे ही वह अन्य व्यक्ति माना जाता है तो 'केवट' शब्द तो गुहके लिये अनेक स्थलोंपर आया है; फिर 'केवट' शब्द व्यक्तिवाचक है भी नहीं, वह तो गुणवाचक नाव चलानेवालेका बोधक है।

अब प्रश्न होता है कि 'क्या निषादराज गुहने नावको चलाया था ?' उत्तर है कि उसने रामकी सेवासम्बन्धी सभी कार्य किये थे। दूसरे किसीको उसने कार्यमें नहीं लगाया था; जैसे—

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई ॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा ॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें ॥
सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥
देव! धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा ॥

गुहने श्रीरामजीके सम्मुख अपनेको नीच बताया था, उसमें निषादराज होनेका अभिमान नहीं था और वही स्वयं फल-मूलादि लेकर सेवामें उपस्थित हुआ था।

आगे चलकर वह किसी अन्य निषादको श्रीरामकी सेवामें नहीं लगाता है, स्वयं सेवामें तत्पर रहता है। जैसे—

तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना ॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा ॥

विश्राम-स्थान निश्चय हो जानेके पश्चात् गुहने स्वयं श्रीसीताराम तथा लक्ष्मणजीके लिये चटाई बनायी। यहाँपर भी किसी अन्य निषादको काममें नहीं लगाया। वरं जो पहले उसके साथ लोग आये थे, वे सब लौट गये थे। जैसे—

पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए ॥
गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई ॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी ॥

चटाई बनानेके अतिरिक्त फल-कन्द-मूलादि भी गुह ही लाया और उन्हें दोनोंमें भरकर उसने स्वयं रखा।

शयन-कालमें पहरुओंको दूर चारों दिशाओंमें नियत कर दिया और निकट रक्षण-सेवामें स्वयं रात्रिभर जागता रहा।

आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई ॥
सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदयँ बिषादू ॥

यहाँतक तो उसने किसी अन्यको श्रीरामजीकी सेवामें नियत नहीं किया, जिससे वह व्यक्ति ढीठ होकर साहस करनेमें समर्थ होता। गुह देश-कालका ज्ञाता तथा श्रीरामचन्द्रजीके ऐश्वर्यसे परिचित था और प्रभुका प्रभाव उसपर पूर्णरूपसे था। इसके अतिरिक्त वह श्रीरामचन्द्रजीका प्रेमी था; उसके प्रयाणमें रामचन्द्रजीने उसे 'सखा' शब्दसे सम्बोधन किया था।

प्रातःकाल श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजी तथा लक्ष्मणजीके साथ गङ्गातटपर आ गये थे, पार जानेके लिये नावकी प्रतीक्षा की जा रही थी; परंतु गुह नावको किनारे नहीं ला रहा था। यदि कहा जाय कि नावको चलानेवाला कोई अन्य केवट था, जिसकी जीविका नाव चलानेकी थी तो वह भी गुहके अधीन ही था, गुहकी आज्ञाके अनुकूल कार्य करता था। यदि अल्पकालके लिये यह भी मान लिया जाय कि गुहके संकेतपर नाव नहीं लायी गयी तो इससे गुह ही सम्मुख आता है, अन्य केवट उसके आज्ञाकारी रूपमें दृष्टि आते हैं। यदि इसका हठ किया जाय कि केवट दूसरा व्यक्ति था तो साधारण, अपरिचित, नीचजाति, परिमितज्ञान, गूलरकीटसदृश; मत्स्यजीवी, दरिद्राकुल, स्वकुटुम्ब-सीमा-सीमित-स्नेह, केवल केवट-जाति जन एक केवटमें यह साहस कहाँ हो सकता था कि जिनके लिये उसके राजा स्वयं सहज सेवामें तत्पर थे, उनके सम्मुख वह कहे कि 'आपका मर्म मैं जानता हूँ।' इतना उद्धतपना कि अपने राजाका भी खयाल न करके श्रीरामजीके सम्मुख यह कहनेका साहस करे कि 'आपकी पगधूल प्रभावशालिनी है, उसने पत्थरसे अहल्याको सुन्दर स्त्री बना दिया था। मेरी नाव भी कहीं स्त्री न हो जाय।'

अपरिचित इतना ढीठ नहीं हो सकता । ऐसी बात तो गुह ही प्रेम-प्रेरणावश कह सकता था । अपरिचित केवटमें एकाएक प्रेमोत्पत्ति हो कैसे सकती है कि वह कहे कि मैं उस धूलको धोनेके पश्चात् आपको नावपर पग रखने दूँगा । जिस गुहने रात्रि श्रीरामके साथ जागकर व्यतीत की, वह गङ्गापार करनेके समय उपस्थित न था और यदि था तो चुपचाप उस केवटकी धृष्टताको सहन करता रहा । जो श्रीरामके साथ वन गया, वह नावका प्रबन्ध न करे और प्रभुको पार जानेके समय घरमें बैठा रहे—ऐसी कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि गुहने श्रीरामका साथ शृङ्गवेरपुरमें कभी नहीं छोड़ा था ।

प्रश्न हो सकता है कि गुहके संकेतपर ही उस केवटने पग पखारनेको कहा हो। उत्तर है कि जो गुह उसके पूर्व स्वयं सेवामें तल्लीन रहा हो, वह विशेष पाँव पखारनेके लिये अन्यको लगा दे, ऐसी बात कदापि नहीं हो सकती। यदि गुहका ऐसा संकेत माना जाता है तो गुहमें राजा होनेका अहंकार आ जाता है। उसका खण्डन उसकी रामकी पूर्व सेवासे हो जाता है। अतः नावमें चढ़ानेके पूर्व उसने स्वयं पादप्रक्षालनका हठ प्रेमाधिक्यवश किया था, यहाँ अन्य किसी केवटमें प्रेमाधिक्यका आरोपण करना आधारहीन तथा न्याययुक्त नहीं है; फिर यदि वह व्यक्ति केवट मान लिया जाता है तो जिसे श्रीरामने सखा मान लिया था, क्या उसकी ओर उनकी दृष्टि न जाती कि वह केवट क्या कर रहा है; और स्वयं गुह मौन धारणकर उसे मनमानी करने देता। यों करनेमें क्या उसकी प्रतिष्ठामें बट्टा न लगता ? फिर जब वह कठौता लेकर श्रीरामजीके पग धोने लगा था, तब देवताओंने उसके भाग्यकी सराहना करते पुष्प बरसाये थे; ऐसी दशामें क्या गुह अपनेको इस दुर्लभ परम प्रतिष्ठासे वञ्चित रख सकता था । अतः सिद्ध है कि केवट कोई अन्य व्यक्ति न होकर स्वयं गुह था, जिसने पाद-प्रक्षालन किया था। चूँकि नावके खेनेवालेको केवट कहते हैं, इसीलिये 'केवट' शब्दका व्यवहार इस प्रसंगमें किया गया है । जो पहले सब प्रकारकी सेवा स्वयं करे, वह पाद-प्रक्षालनकी सर्वश्रेष्ठ सेवा, जिससे ब्रह्मा भी विरत नहीं हो सके, अन्य व्यक्तिको सौंप दे, तर्कमयी बुद्धि इसको स्वीकार नहीं कर सकती ।

अब आगे विचारणीय स्थल आता है—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय राम गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥
नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेबा॥

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

श्रीसीताराम और लक्ष्मण नावसे उतरकर रेतीमें खड़े थे और उनके पीछे गुह भी उनके निकट जाकर खड़ा हुआ। उसने प्रभु रामको प्रणाम किया, भगवान् श्रीरामको नावकी उतराई देनेके लिये, संकोचशील मुद्रामें, मातेश्वरी श्रीसीताजीने देखा । तत्काल मणि-मुँदरी हाथसे निकालकर प्रभुके हाथमें धर दी । पतिव्रता स्त्री अपना सर्वस्व पतिकी इच्छापूर्तिमें लगा देती है; फिर वे तो अग्रगण्या सती थीं, वे क्यों न ऐसा करतीं ।

प्रश्न है कि 'गुह तो पहले उतरा और तीनों मूर्तियोंके निकट खड़ा था और केवटने नावसे पीछे उतरकर भगवान् श्रीरामको दण्डवत् की थी । अतः गुह और केवट दो व्यक्ति थे ?' उत्तर यह है कि नावसे उतरनेकी बात एक चौपाईमें पूरी हुई और दूसरी अर्धालीमें केवट शब्द आया है । वह केवट अन्य न होकर गुह था । 'केवट' शब्दके प्रयोग करनेका रहस्य यह था कि गुह स्वयं नाव खेकर लाया था, इसलिये वहाँ 'केवट' शब्दका प्रयोग किया गया था । दण्डवत् करनेमें संकेत था कि प्रभुकी आज्ञा गङ्गा पार करानेकी थी, वह पालन की गयी; उधर भगवान्‌ने समझा कि उतराई माँगनेका संकेत है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रेमवश गुहने स्वयं सब प्रकारकी सेवा की थी; तब वह पाद-प्रक्षालन क्यों दूसरेसे कराता । प्रेमाधिक्यके कारण वह पाद-प्रक्षालनके लिये अड़ गया था । यदि दूसरा व्यक्ति होता तो गुहको उस पार जानेकी आवश्यकता ही क्या थी । नाव चलानेके लिये **एक केवटको** भेज देता । परंतु उसने ऐसा नहीं

किया। उसने स्वयं नावको खेकर पार पहुँचाया। प्रधान मन्त्री सुमन्तजीने रामके रथको हाँका। राजा कंसने अपनी बहिन देवकीकी विदाईके समय रथ हाँका। लक्ष्मणने श्रीसीताको वन पहुँचानेमें रथ हाँका। आधुनिक कालमें अँगरेजोंके समयकी प्रथा थी कि रेलसे जब वायसराय आते थे, तब इंजिनकी ड्राइवरी स्वयं लोको सुपरिंटेंडेंट करते थे, लाइनकी परीक्षाके लिये स्वयं इंजीनियर मोटर ट्रालीपर जाते थे और गार्डके स्थानमें सुपरिंटेंडेंट ट्रान्सपोर्ट। तथा स्टेशन-मास्टर इंचार्जको, चाहे रात हो चाहे दिन, ट्रेन निकालनी पड़ती थी। उसी प्रकार चक्रवर्ती श्रीदशरथ महाराजके पुत्र श्रीरामचन्द्रजीके लिये निषादराजने नावको चलाया था। नावसे उतरनेके पश्चात् गुह और केवट दो नामोंने भ्रम उत्पन्न कर रखा है, उधर गुह श्रीरामजीके साथ खड़ा था, उसके पश्चात् केवट प्रणाम करता है, इससे साफ जाहिर होता है कि दो व्यक्ति थे।

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥

समाधान है कि 'उतरि' शब्द दो बार आया है, एकसे श्रीरामजीके उतरनेका संकेत है और दूसरेसे गुहकी प्रणाम करनेकी क्रिया प्रकट होती है। अर्थात् श्रीरामके साथ उतरकर उसने केवट रूपमें प्रणाम किया था; क्योंकि नावका खेनेवाला वही था। यदि शङ्का हो कि केवट-शब्द गुहके लिये नहीं आया था तो उसका समाधान यह है कि केवट ही शब्द गुहके लिये विविध स्थनोंमें आया है। जैसे—

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
तेहि अवसर केवटु धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू॥
फिरि केवटहिं उमँगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥

प्रश्न है कि—

बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

जब उस केवटको विदा कर दिया, तब गुहका केवट होना कैसे प्रमाणित होता है? उत्तर है कि भगवान् श्रीरामने विदा किया था, परंतु गुह प्रेमावेशके कारण जा नहीं सका। जब वह नहीं गया, तब फिर रामने कहा कि 'अब घर लौट जाओ।'

तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुख भा उर दाहू॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई॥
सहज सनेह राम लखि तासू। संग कीन्ह गुह हृदयँ हुलासू॥

अन्तमें भक्तवत्सलको उसका हठ मानना पड़ा, इसके पश्चात् गुहने अपनी जातिवालोंको समझाकर घर लौटा दिया।

पुनि गुहँ ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥

गुहके अतिरिक्त ऐसे किसी भी निषादका उल्लेख श्रीतुलसीदासजीने नहीं किया कि जिसने श्रीरामजीसे सम्भाषण किया हो।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके निश्चय करनेकी आवश्यकता है कि गुह श्रीरामचन्द्रजीको आकर भेंट देता है, चटाई बनाता है, रात्रिभर पहरा देता है, श्रीरामके साथ कुछ दूरतक जाता है, फिर भरतके साथ चित्रकूट जाता है और श्रीरामजीके द्वारा 'सखा'की उपाधि प्राप्त करता है। परंतु यदि दूसरा व्यक्ति 'केवट' शब्दके आधारपर माना जाता है तो उसका उल्लेख कहीं भी पाँव धोनेके पहले होना चाहिये था; किंतु कहीं उसका नामतक नहीं लिया गया। फिर उसको विदाके समय भक्तिका वरदान भी मिल जाता है। परिवार-सहित पितरोंके साथ वह आवागमनसे भी मुक्त हो जाता है। परंतु जिसे रामने सखा माना, उसे न भक्तिका वरदान दिया न मुक्ति दी। न्यायशिरोमणि श्रीराम ऐसा अन्याय नहीं कर सकते थे। प्रत्युत केवटरूपमें गुह ही था, जिसको वरदानादि दिया था। कविके कुछ शब्द भ्रम साधारणतः उत्पन्न करते हैं; परंतु सूक्ष्म बुद्धिसे ऊहापोह करनेसे सिद्ध होता है कि गुह और केवट एक ही व्यक्ति थे। वनसे लौटनेपर गुह रामके दर्शनार्थ दौड़ आया—

सुनत गुहा धायउ प्रेमाकुल। आयउ निकट परम सुख संकुल॥

राजगद्दी होनेके समय भी गुहको ही भगवान् रामने पारितोषिकादि देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी।

पुनि कृपालु लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

कहीं उस कल्पित केवटको भी बुलाया अथवा वही अपनी ओरसे उनके पास गया, जिनके पाद-प्रक्षालनके लिये व्यञ्जमय प्रेम प्रदर्शन किया था और त्यागमूर्ति बनकर मणिमुँदरी भी नहीं ली थी। लौटनेपर भेंट भी नहीं की। इससे सिद्ध है कि दूसरा व्यक्ति केवट कल्पनामय—भ्रम है

* * *

संत कवि और पुनर्जन्म-भावना

(लेखक—डॉ० श्रीत्रिलोकीनारायणजी दीक्षित, एम्०ए०,डी०लिट्०)

जीवात्माका एक शरीर परित्याग करके दूसरा शरीर धारण कर लेना 'पुनर्जन्म' है। दूसरे शब्दोंमें आवागमनके क्रमसे जीवद्वारा अभिनव शरीर या शरीररूपी नव परिधान धारण कर लेना ही पुनर्जन्म है। जीवका बारंबार विभिन्न योनियोंसे होते मृत्यु एवं जन्मके क्रममें पड़ना ही पुनर्जन्म है। इस शब्दकी मूल विचारधाराको श्रीशंकराचार्यने बतलाया है—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।'

सृष्टिके प्रपञ्च, मायाके रूपावरण इसी पुनर्जन्मपर निर्भर हैं।

'कर्म' पुनर्जन्मकी आत्मा है। विधाताने 'कर्मप्रधान बिस्व करि राखा' है। यह 'कर्म' बड़ा विचित्र है। यथा विष प्राण लेने और प्राण देने (नवजीवन) का एक साधन बन जाता है, उसी प्रकार 'कर्म' भव-बन्धन और पुनर्जन्मके क्रममें मानवको प्रवृत्त एवं निवृत्त करनेमें पूर्णरूपेण समर्थ है। 'कर्म' के दोनों रूप एक दूसरेसे कितने भिन्न और पृथक् हैं! एक कितना सम्मोहक और दूसरा कितना भयानक! कर्म एक ओर मुक्ति दिलानेवाला है, तो दूसरी ओर वही बन्धनोंमें निबद्ध करनेके लिये सुदृढ़ रज्जुका कार्य करता है।

आत्मा या जीवन अविनाशी, चेतन, निर्लिप्त और निर्विकार माना गया है। फिर भी संसर्गके प्रभावसे वह संकल्प-विकल्प, सुख-दुःख, राग-द्वेष-युक्त कर्मोंमें प्रवृत्त होता ही है। ये ही विभिन्न कर्म उसके पुनर्जन्मके आधारभूत कारण हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार 'प्राणियोंकी सत्ताको समुत्पन्न करनेवाली विशेष रचना ही' कर्म है—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।
(गीता ८। ३)

कर्मका आधार और उत्पादक त्रिगुणात्मक प्रकृति है। इसी त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें संलग्न मानव-आत्मा कर्म करता है और ये ही कर्म बन्धनके आधार बन जाते हैं। प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे समुत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म देता है।[1]

इन तीनोंका सङ्ग ही उच्च एवं निम्न योनियोंमें जन्मका कारण होता है। प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण—सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण अविनाशी जीवात्माको शरीरके बन्धनमें बाँधते हैं।[2] इन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है,[3] और समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न मानना चाहिये। वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है (गीता १४। ८)। रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिके रूपमें ग्रहण करना चाहिये (गीता १४। ७)। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है। गीताका यही भाव मनुस्मृतिमें भी प्रतिपादित हुआ है—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥
(१२। ४०)

यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंका उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ अमृतत्व—परमानन्दको प्राप्त होता है (गीता १४। २०)।

जीवके कर्मोंके अनेक भेद हैं, जिनमें ये तीन प्रधान हैं—'संचित', 'प्रारब्ध' और 'क्रियमाण'। 'संचित' कर्म पूर्वमें किये हुए माने गये हैं। फलतः उनके संस्कार बीजरूपमें जीवनके साथ विद्यमान रहते हैं। 'प्रारब्ध' कर्म वे हैं—जिन्हें मानव इस जन्ममें अपने साथ उपभोगके लिये लाता है। जिन कर्मोंको अभी सकामभावसे मानव कर रहा है—वे हैं 'क्रियमाण'। अतः धर्म-शास्त्रका यह दृढ़ विश्वास है कि जीवके साथ कर्मोंका क्रम लगा रहता है। ज्ञान ही इन कर्मोंका विनाशक है, जैसे सूर्य तमका विनाशक है।

---

[1] पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(गीता १३। २१)

[2] सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(गीता १४। ५)

[3] तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।
(गीता १४। ६)

कर्मानुसार विभिन्न योनियोंसे होता हुआ मानव पुनर्जन्म प्राप्त करता रहता है। इन योनियोंकी संख्या चौरासी लाख है। इनमें सबसे श्रेष्ठ मानव-योनि है। इन योनियोंको चार भागोंमें विभाजित किया गया है।[1] विष्णुपुराणमें कहा गया है कि स्थावर योनियाँ बीस लाख हैं। जलचर नौ लाख, कूर्म नौ लाख, पक्षी दस लाख, पशु तीस लाख और वानर चार लाख हैं। इनके पश्चात् मानव-योनि है।[2] शास्त्रके अनुसार अनेक जन्मोंके बाद जीव मानव-शरीरको प्राप्त करता है। मानव स्वतः अपना उद्धारक है।[3] छान्दोग्योपनिषद्में भी कर्म-विभागके आधारपर पुनर्जन्मकी व्यवस्था की गयी है (५।१०।७)।

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदायका पुनर्जन्मपर विश्वास रहा है। यहाँ इस सम्बन्धमें किंचित् विचार कर लेना असंगत नहीं होगा। जैन-धर्मके पुनर्जन्मको मान्यता दी गयी है। जैन आचार्योंका मत है कि सत्कृत्योंके आधारपर ही मानवका जन्म उच्च कुल एवं समृद्ध परिवारमें होता है। उसके विपरीत निम्नकृत्योंसे मानव-जीवन पर्याप्त कष्टोंका भोग करता है। असंख्य अनुभवों और जन्मोंके पश्चात् मानव जीव कर्मसे मुक्ति पानेका प्रयत्न करता है और वह सम्यक् दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चरित्रके आधारपर वीतराग होकर, समस्त संकल्प-विकल्पोंसे मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्त करता है।

बौद्ध-दर्शनमें आत्मा अनित्य संघातमात्र है। इस परिस्थितिमें सत्-असत् कृत्योंका उत्तरदायित्व कौन भोगेगा? जब आत्माकी स्थिति है ही नहीं, तब पुनर्जन्म किसका होगा? कर्म-कर्ता अतीतमें विलीन हो जाता है और जो जन्मता है, उसने कर्म किया ही नहीं है; फिर फलका उपभोग कौन करेगा और क्यों करेगा? स्थिर कर्ताके अभावमें यदि कोई भी क्रिया हो सकती है तो स्थिर तत्त्वकी कल्पना बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है। बौद्ध-धर्ममें आत्माको दीप-शिखासे उपमा दी गयी है। दीप-शिखा जबतक प्रज्वलित है, तबतक उसकी लौ एक ही प्रतीत होती है। पर तथ्य यह है कि वह नवीन इन्धन या तेलके संयोगसे निरन्तर बदलती रहती है। दीप-शिखा एक इन्धन-संघात से द्वितीय इन्धन-संघातमें संक्रान्त होती रहती है और इस प्रकार उसका अस्तित्व हमारे नेत्रोंके सम्मुख विद्यमान रहता है।

ठीक इसी प्रकार जीवनके मृत्युक्षण एवं दूसरे जीवनके जन्म-क्षणमें दो क्षण समयके अतिरिक्त और अधिक अन्तर कहाँसे हो सकता है। प्रतिक्षण कर्म विनष्ट होते जाते हैं; परंतु उनकी वासना अगले क्षणमें अनुस्यूतरूपसे प्रवाहित होती है। इसीलिये अनित्यताको मानते हुए भी बौद्धोंने पुनर्जन्मको तर्कयुक्त माना है।[4]

इस्लाम-धर्ममें पुनर्जन्मको मान्यता नहीं दी गयी है। कुरानका मत है कि मानवका यह जन्म सर्वप्रथम और अन्तिम है। परंतु कुरानकी ही कुछ आयतोंमें पुनर्जन्मकी भावनाकी प्रतिच्छाया उपलब्ध होती है। कुरानकी एक आयत (५।९।१४) में कहा गया है कि खुदा जिनपर क्रुद्ध हुआ, उनमेंसे कुछको उसने बंदर और सूअर बना दिया। इसी प्रकार पुनर्जन्म और आत्माकी अमरतासे सम्बन्धित विचार-धाराका भी प्रतिपादन हुआ है।[5] सुप्रसिद्ध कवि दार्शनिक रूमीकी निम्नलिखित 'मसनवी'में कहा गया है कि 'मैंने अनेक जन्म ग्रहण किये हैं और सात सौ सत्तर शरीरोंमें प्रकाशित हुआ हूँ।'

हम चु सब्जा बारहा रोईद अम्।
अफ्त सद् हफ्ताद् कालिब् दीद अम्॥

हिंदी-साहित्यमें पुनर्जन्मकी भावनापर विचार प्रकट करनेवाला सर्वप्रथम कवि 'स्वयम्भू' है। स्वयम्भू आठवीं शताब्दीका श्रेष्ठ कवि है, जिसकी दृष्टि हमारी सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओंपर समानरूपसे प्रवेश पायी है। स्वयम्भूकी दृष्टिमें यह काया नरक है। कायासे प्राणपखेरूके उड़ जानेपर यह कृमि-कीटका खाद्य बन जाता है। इसकी

---

[1] उद्भिज्जाः स्वेदजाश्चैव अण्डजाश्च जरायुजाः।
इत्येवं वर्णिताः शास्त्रे भूतग्रामाश्चतुर्विधाः॥

[2] स्थावरं विंशतिर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्।
कूर्माश्च नवलक्षं स्युर्दशलक्षं च पक्षिणः॥
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं तु वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥
(बृहद्विष्णुपुराण)

[3] उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६।५)

[4] (बौद्धदर्शन—आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १०५)

[5] कुरान (२।२८; २।२।३; २।२५९; २२।६ आदि)

निस्सारताका कहाँतक कोई कवि वर्णन करे।[1] इस शरीरका आदि-अन्त सभी दुःखपूर्ण है। यह जबतक संसारमें रहता है, तबतक दुःखों और विपत्तियोंसे घिरा रहता है। इस संसारमें इसके पूर्व भी उसे नौ मासतक गर्भ-वास-दुःखका भोग करना ही पड़ता है। कविके शब्दोंमें ही इस गर्भवास-यातनाका वर्णन पढ़िये—

ताहि तेहइं रस-वस-भूय-भेरे। णव मास वसेंव्वउ देह घरे।
णव णाहिकमलु णत्यलु जहिं। पहिलउ जे पिंडु संबंधु तहिं।
दस दिवसु परिट्ठिउ रहिरजलु। कणुजेम पईयउ धारीणियलु।
विहि दस रत्तिहि समुट्ठिअउ। णं सिसिर विंदु कुंकंम पडिउ।
दस रत्ति चउत्यहें वित्थरिउ। णांवइ पवलंकुरु णीसरउ॥

× × × ×

जेणु दुवारें आइयउ, जो तं परिहेरे ण सक्कइ।
पंतिहि जुनु वइल्लु जिह भव संसारे भंमंतु ण थक्कइ॥[2]

संसारमें गर्भवासके द्वारा बारंबार इस आवागमनका कष्ट असहनीय है। यह तुच्छ संसार है। नरक-तुल्य, दुःखोंका सागर और अस्थिर है। कविके शब्दोंमें यह संसार—

को कारु भुयंगहों उब्वरइ। जो जगु जें सव्वु उवसंहरइ।
तहों जहि जहि कहिमि दिट्ठि रमइ। तहि तहि णं भइय बट्टु भमइ।
केंवि गिलइ विलइ केंवि उग्गिलइ। काहिमि जम्मावसाणि मिलइ।[3]

फिर इसके लिये मनुष्यको आवागमनका दुःख सहन करनेकी क्या आवश्यकता है। इस जन्म और पुनर्जन्मके संकटमय क्रमसे जितनी ही जल्दी अवकाश मिल जाय, उतना ही कल्याणकारी है। आवागमनका दुःख बड़ा व्यापक और कष्टदायक है।[4]

दसवीं शताब्दीके कवि तिलोपाने भी आवागमन-दुःखसे निवृत्ति पानेके लिये निर्वाण-साधनाका उपदेश दिया है।[5]

'नाथ' सम्प्रदायके अन्तर्गत भी आवागमन, पुनर्जन्म आदिकी कटु निन्दा की गयी है। पुनर्जन्मके द्वारा ही मानव भव-बन्धनोंमें फँसता है और भारी दुःखोंका सामना करता है। मानवका जीवन मृग-मरीचिकाओंमें फँसे हुए मृगकी तरह बहुत दुःख झेलता है। यदि यह पुनर्जन्मका क्रम विच्छिन्न हो जाय तो फिर परम पद या परम गतिको मानव प्राप्त कर लेता है। बाबा गोरखनाथके कथनानुसार आवागमन भ्रमका मार्ग है। असली पंथ तो उन पुरुषों तथा सिद्धोंका बताया हुआ है, जिन्होंने पहुँचके बाहरवाले (अतीत) अनहद नादको जागरित किया है और अन्तर्लीन हो गये हैं—

आवा गवण भरम का मारग, पुरषाँ पंथ बताया।
सबद अतीत अनादह बोलै, अंतरि गीत समाया॥[6]

इन पंक्तियोंमें अत्यन्त सारांशरूपमें हम नाथ-सम्प्रदायकी पुनर्जन्मविषयक विचारधाराके दर्शन कर सकते हैं।

अब हिंदीके संत कवियोंकी ओर ध्यान दीजिये। संत कवियोंका आविर्भाव नाथ-सम्प्रदाय या सिद्धोंकी परम्परामें माना जाता है। सिद्धोंकी विचारधाराका हिंदीके संतोंपर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है।

सिद्धों और नाथोंकी भाँति संत कवियोंने बड़े स्पष्ट स्वरमें घोषित किया है कि यह संसार रहनेयोग्य नहीं है। यहाँ त्रिविध तापोंसे मानव सर्वदा दग्ध रहता है। संसार बालूकी भीतके सदृश अस्थायी है। मानवका श्वास-प्रश्वास जिस क्षण बंद हो जायगा, उसी क्षण अपने पराये बन जायँगे। संसारकी माया मानवको भ्रममें डाले रखती है।

कबीरके शब्दोंमें—

टुक जिंदगि बंदगि कर लेना, क्या माया मद मस्ताना॥
रथ घोड़े सुख पालकी, हाथी औ बाहन नाना।
तेरा ठाठ काठ की टाटी, यह चढ़ चलना समसाना॥

---

[1] माणुसु देह होई घिणि, विठूट्लु सिरेहि णिवद्धउ हड्डुह पोट्टलु।
चलु कुंजंतु माय भउ कुहेंडउ। मलहों पुंजु किमि कीडहु सूडउ।
पूइगंध रुहिरामिस मंडउ। चम्प-रुक्खु दुग्गंध मडउ।
अंतहों पोट्टलु पक्खिहि भोयणु। बाहिहि भवणु मसाणहों मायणु।
(हिन्दीकाव्यधारा पृ० ११२)

[2] हिंदी-काव्यधारा पृ० १२४।

[3] हिंदी-काव्यधारा पृ० १२६।

[4] इउ जणोंवि धीरहि अप्पणउं। करें ककुंण जोवहि दप्पणउ।
चउगइ संसार भमंत पंण। आवत्तां बंत मरंत पंण॥
जगे जीवें कोण रूवाविअउ। को गरुय धयहण मुआवियउ।
को कहिमि णाहि संताविअउ। को कहिमि ण आवइ पावियउ।
(हिंदी-काव्यधारा पृ० १२५)

[5] (हिंदी-काव्यधारा पृ० १७२)

[6] (गोरखबानीः डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल १६ पृ० २१६)

हम पाट पाटंबर अंबर, जरी वफ्तका बाना ।
तेरे काज राजी गज चारिक भरा रहै तोसाखाना ॥
खर्चेकी तदबीर करौ तुम, मंजिल लंबी जाना ।
पचंतेका गाँव न मगमें, चौकि न हाट दुकाना ॥
जीते जी ले जीति जनम कौ, यही गोय यहि मैदाना ।
कहै कबीर सुनो भइ साधो, नहिं कलि तरन जतन आना ॥
(संतबानी-संग्रह भाग २, पृ० ७)

इन पङ्क्तियोंमें संसारकी क्षणभङ्गुरताकी अभिव्यक्ति ही नहीं हुई, वरं कवि इस आवागमनसे मुक्ति पानेके लिये आग्रह भी करता है। 'जीते जी ले जीत जनम को' तथा 'नहिं कलि तरन जतन आना' में भव-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये बार-बार उपदेश दिया गया है।

संत मलूकदासके अनुसार यह संसार मुर्दोंका प्रदेश है। कविके शब्दोंमें—

मुवा सकल जग देखिया, (मैं तो) जियत न देखा कोय हो ॥
मुवा मुई को व्याहता रे, मुंवा ब्याह करि देय ।
मुए बराते जात हैं, (एक) मुवा बधाई लेय हो ॥
मुआ मुए से लड़न को, मुआ जोर लय जाय ।
मुरदे मुरदे लड़ि मरे, (एक) मुरदा मन पछिताय हो ॥
अंत एक दिन मरोगे रे, गलि गुलि जैहै चाम ।
ऐसी झूठी देह ते काहे लेव न साँचा नाम हो ॥
मरने मरना भाँति है (रे) जौ मरि जानै कोय ।
राम दुवारे जो मरै, फिर बहुरि न मरना होय रे ॥
(मलूकदासकी बानी पृ० १४)

प्रस्तुत उद्धरणकी अन्तिम दो पङ्क्तियाँ विशेषरूपसे विचारणीय हैं। संसार मरता चला जा रहा है, परंतु मरना कोई नहीं जानता। मरना उसीका सफल है, जो 'राम-दुवारे' पर मरकर अमरत्वको प्राप्त कर ले और पुनर्जन्मके बन्धनसे अवकाश प्राप्त कर ले। संत नामदेव भी पुनर्जन्मसे मुक्ति प्राप्त करनेके पक्षपाती हैं—

अस मन लाव राम रसना । तेरों बहुरि न होई जनम मरना ॥
(संतबानी-संग्रह २ । २९)

इसी प्रकार रैदास[1], धनी धर्मदास[2], नानक[3], दरिया साहब (मारवाड़वाले)[4] तथा चरनदास[5] आदि संत कवियोंने संसारकी असारताके प्रति मानवको चेतावनी देते हुए यहाँसे मुक्ति प्राप्त कर लेनेका उपदेश दिया है। यह मानव-जन्म बड़ा दुर्लभ है। यदि सुकृतोंके अर्जनसे एक बार अवसर मिल गया है तो मानव जाग्रत् होकर आवागमनसे छुटकारा प्राप्त कर सकता है। कबीरके शब्दोंमें—

मनुष जन्म दुर्लभ अहै, होय न बारंबार ।
तरवर से पत्ता झरै, बहुरि न लागै डार[6] ॥

यदि इस जन्ममें सुकृतका व्यापार और आत्माको पहचाननेका काम मानवने न किया तो फिर उसे पशुकी योनिमें जन्म लेना पड़ेगा[7]। कबीरने आवागमन और पुनर्जन्मके बन्धनकी बड़ी कटु आलोचना की है। कविके शब्दोंमें—

जो आवै तौ जाय नहिं, जाय तौ आवै नाहिं[8] ।

यह बार-बारका जीना-मरना लज्जाजनक है। फिर भी संसार उससे पृथक् मार्गका अनुसरण नहीं करता; क्योंकि माया उसके नेत्रोंपर अज्ञानका पर्दा डाले हुए है —

उपज निपजै निपज समाई । नैननि देखि चल्यों जग जाई ॥
लाज न मेरो, कहौ घर मेरा । अंत कि बार नहीं कछु तेरा ॥
अनेक जतन करि काया पाली । मरती बेर अगिन सँग जाली[9] ॥

चौरासी लक्ष योनियोंमें मानवका जन्म सर्वश्रेष्ठ है, फिर भी मानव सचेत होकर भवबन्धनसे मुक्तिके लिये सुकृत अर्जन नहीं करता है[10]।

आवागमनका क्रम विनष्ट करके मुक्ति प्रदान करानेवाले सत्-गुरु हैं। धनी धर्मदासके शब्दोंमें—

गुरु मिले अगम के बासी ।
उन के चरन कमल चित दीजै, सतगुरु मिले अविनासी[11] ।

---

१. संतबानी संग्रह भाग २, पृष्ठ ३२
२. ,,
३. ,, ,, ,, ३० । २
,, ,, ४६ । १-२
४. संतबानी-संग्रह भाग २ पृष्ठ १५३ । १
५. ,, ,, ,, ८१ । ३
६. ,, ,, १ पृष्ठ १३ । ४८
७. ,, ,, ,, ११ । ३१
८. ,, ,, ,, ३४ । ४
९. ,, ,, भाग २ ८ । १०
१०. ,, ,, ,, पृष्ठ २१ । १
१. ,, ,, ११ ३७ । २

नामदेवके अनुसार राम-नाम इस जरा-मरणसे मुक्ति दिलानेवाला है[1]।

संतोंके मतानुसार मानवका कर्मविधान उसे मुक्ति प्रदान करनेवाला है। निष्काम सुकृतोंके अर्जनसे मुक्ति और दुष्कृत्योंमें रहनेसे आवागमनका चक्र प्राप्त होता है। कर्मकी खेतीमें जैसा बीज डाला जायगा, वैसा ही फल उत्पन्न होगा—

कलीकाल ततकाल है, बुरा करौ जिनि कोइ।
अनवावै लोहा दाहिणें, बवै सु लुणता होइ॥
(कबीर-ग्रन्थावली, ३२।२)

कर्म ही मुक्ति दिलानेवाला है और कर्म ही भ्रमके चक्रमें डालनेवाला है।

गोबरकी उपादेयता

अमेरिकासे प्रकाशित 'टाइम' पत्रिकाके २३ जूनके एक लेखमें आया है—

दक्षिण अमेरिकाके ब्रैज़िल देशमें एक प्रकारका छोटा कीड़ा होता है, उसे वहाँके लोग बार्बेरो (Barbeiros-) कहते हैं। ये क्षुद्रातिक्षुद्र कीटाणु अधिकतर छोटे बच्चोंको काटते हैं, इससे बच्चोंके हृदयको विशेष हानि पहुँचती है। और वह शरीरको तोड़कर अन्तमें मृत्युतक पहुँचा देती है। बड़ी उम्रके लोग इनके काटनेसे कमजोर होकर मर जाते हैं। ब्रैज़िलकी जन-संख्या ६ करोड़ है। इनमेंसे ४० लाख आदमी इससे मर चुके हैं। दक्षिण अमेरिकाके बाहिया और ब्लाङ्कानामक देशोंमें मृत्यु-संख्या और भी अधिक है।

डाक्टर पिन्नोट्टी (Dr. Pinnotti) स्वास्थ्य-विभागके एक डाक्टर हैं। उनका इस ओर ध्यान गया कि ये कीड़े गरीब ब्रैज़िलनिवासियोंके मिट्टीके घरोंकी दरारोंमें रहते और बढ़ते हैं। इन दरारोंको बंद कर दिया जाय तो इन भयानक कीड़ोंके काटनेसे बचा जा सकता है। पर कम खर्चमें कैसे इन दरारोंको बंद किया जाय!

डाक्टर पिन्नोट्टी लिखते हैं कि 'रातको इस विषयपर सोचते-सोचते मुझे याद आया कि लड़कपनमें हम-लोग पक्षियोंके घरोंपर पत्थर मारते; पर वे लोहे-जैसे इतने मजबूत होते कि किसी प्रकार भी टूटते नहीं। वे घर गोबर तथा बालूके बने होते थे। मुझे रास्ता सूझ गया—मैं अपने दल-बलको लेकर ब्रैज़िलके गरीबोंकी कुटियों-की दीवालोंको गोबर-मिट्टी मिलाकर उससे अच्छी तरह लीप देनेके लिये चल दिया। आदमी लगा दिये गये। गतवर्ष १००० कुटियोंकी परीक्षा की गयी। इन कुटियाओंमें लगभग प्रत्येकमें ९० प्रतिशत बार्बेरो कीड़ोंका उपद्रव था। छः महीनेमें यह उपद्रव बिलकुल मिट गया। गत सप्ताह एक लाख कुटियोंकी दीवालों तथा आँगनोंको गोबरसे लीपनेकी व्यवस्था की गयी है।'

अपने घरकी इन चीजोंकी महिमा हमलोग भूल गये। गाँवोंमें गोबर-मिट्टीका ही सर्वत्र चौका लगता था, अभी इसीसे दीवारें लीपी जाती थीं और गोबरकी पुल्टिश बाँधकर जानकार लोग घावोंको आराम करते थे। अभी विलायती डाक्टरोंके मुखपत्र 'ब्रिटिश मेडिकल जरनल'के २६ अप्रैलके अङ्कमें निकला है कि 'चागालोग गोबरका लेप करके घावोंको अच्छा करते थे। अब वैज्ञानिकोंको भी प्रमाण मिल गया है कि इससे घाव अच्छे होते हैं।' (भारताजिर)

---

[1] संतबाणी-संग्रह भाग २, २९।३

गाण्डीव धनुषका इतिहास

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गाण्डीव धनुषका इतिहास बड़ा रहस्यमय है। इसके इतिहासमें कई धनुषोंका इतिहास छिपा है। यों महाभारतमें तो इसके सम्बन्धमें इतना ही कहा गया है कि खाण्डव-दाहके समय अग्निने उसे वरुणसे माँगकर अर्जुनको दिया था (आदि-पर्व २२५) तथा महाप्रस्थानके समय उसे वरुणको ही वापस करनेके लिये अर्जुनसे पुनः माँगा और अर्जुनने उसे पानीमें फेंक दिया था (महाप्रास्थानिकपर्व १ । ४१-४२) । विराट-पर्वमें स्वयं अर्जुनने इसे ब्रह्मा, इन्द्र, सोम तथा वरुणद्वारा धारण किये जानेकी भी बात बतलायी है।

किंतु यह धनुष वरुणके पास कैसे आया, इस सम्बन्धमें विष्णुधर्मोत्तर-पुराणके प्रथम खण्डके ६५-६६-६७ अध्यायोंमें एक बड़ी रोचक कथा आती है। कई पुराणोंमें तथा इसमें भी परशुरामजीके कैलासमें रहकर शंकरजीसे शस्त्र तथा शास्त्र-विद्या ग्रहण करनेकी बात आयी है। उनके वहीं रहते हुए इन्द्रकी प्रार्थनापर भगवान् शंकरने परशुरामद्वारा बहुत-से राक्षसोंको भी मरवा डाला। फिर इन्द्रने परशुरामद्वारा पातालवासी राक्षसोंको मरवानेके लिये भगवान् शंकरसे प्रार्थना की। भगवान्ने कहा—'ऐसा ही होगा।' तत्पश्चात् उन्होंने परशुराम-जीको बुलाकर कहा कि तुम पातालमें जाओ और वहाँके दुराचारी असुरोंका संहार करो। श्रेष्ठ वैष्णव धनुषको मैंने तुम्हारे पिताको दे दिया है। साथ ही इस अक्षय तूणको भी ले लो। इनके सहारे तुम उन राक्षसोंको मार डालो।' फिर तूण देकर भगवान् शंकरने उनसे कहा कि 'देखो, तुम इस तरकस-को तो महर्षि अगस्त्यको दे देना और वे उसे अतियशस्वी श्रीरघुकुलभूषण राघवेन्द्र रामको देंगे[1]। तुम भी श्रीरामके दर्शनके बाद शस्त्र मत धारण करना। तुम्हारा अत्यन्त प्रचण्ड वैष्णव तेज रामके मिलते ही देवकार्यार्थ उनमें प्रवेश कर जायगा।'

इसपर परशुरामजीने पूछा कि 'यह वैष्णव धनुष आपके हाथमें कैसे आया तथा वह धनुषोंमें रत्न कैसे हुआ ?' शंकर-जीने बतलाया कि ''एक बार वैष्णवी मायासे मोहित होकर देवताओं तथा ऋषियोंने ब्रह्माजीके पास जाकर पूछा कि 'भगवान् वासुदेव तथा महादेवमें कौन बड़ा है?' इसके उत्तर-में ब्रह्माजीने जो बात बतलायी, वह बड़ी विलक्षण थी। उन्होंने कहा कि 'दोनोंमें तुम युद्ध करा दो। फिर तो अपने-आप पता चल जायगा कि दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है।' फिर क्या था, सबोंने मिलकर हमें लड़ा दिया। वह युद्ध बड़ा ही भयानक था। उसे देखकर सभी जीव डर गये, तब ब्रह्माजीने तथा ब्रह्मर्षियोंने वहाँ आकर प्रार्थना की कि 'आप दोनों ही विश्वके स्वामी हैं। आपलोगोंका युद्ध उचित नहीं। बस, आपके युद्धका निपटारा यों हो जाय कि आप दोनों एक दूसरेके धनुषको लेकर उसे चढ़ा दें।' इसपर भगवान् विष्णु-ने तो मेरे चापको आरोपित कर दिया, पर प्रयत्न करनेपर भी मैं वैष्णव-धनुषको चढ़ा न सका[2]। तदनन्तर भगवान् विष्णुके प्रभावको जानकर मैंने उनकी बड़ी स्तुति की।

''मेरी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु बोले—'वस्तुतः हम, आप और ब्रह्माजीमें कोई अन्तर नहीं है। हम तीनों ही तत्त्वतः एक हैं। जो आपको नमस्कार करते हैं, आपकी

---

[1] १. अगस्त्यद्वारा श्रीरामको अक्षय तरकस आदि प्रदानकी कथा वाल्मीकि-रामायण, अरण्यकाण्डके १२वें अध्यायके अन्तमें आती है।

[2] २. यह नहीं कहा जा सकता कि वैष्णवपुराण होनेके नाते इसमें विष्णुभगवान्का उत्कर्ष दिखलाया गया है, बल्कि निष्पक्ष वाल्मीकि-रामायण, बालकाण्डके ७५वें अध्यायमें भी इस युद्धका वर्णन इन शब्दोंमें आया है—

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।
अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥
विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतां वरः ।
विरोधे तु महद्युद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥
तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ।
हुंकारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ॥
देवैस्तदा समागम्य ऋषिसङ्घैः सचारणैः ।
याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ॥
जृम्भितं तद्धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ।
अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा ॥
(वाल्मी० ७५ । १५—२०)

वाल्मीकिको विष्णुपरक भी कहना कठिन है; क्योंकि अप्पय्य दीक्षितने बहुत प्रमाणोंसे अपने 'रामायण-तात्पर्य-निर्णय' ग्रन्थमें इसे शिवपरक ही सिद्ध किया है।

पराभक्ति करते हैं, वे मेरे धामको प्राप्त होते हैं[1]। अस्तु! अब आप मेरे इस धनुषरत्नको रखें। इसे आप भार्गवनन्दन जमदग्निको दे देंगे। उनसे उनके पुत्र परशुराम ले लेंगे। वे उससे पातालवासी असुरोंका संहार करके श्रीरामको देंगे। अपना कार्य समाप्तकर श्रीरामचन्द्रजी उसे वरुणको दे देंगे। देवकार्यार्थ अर्जुन उसे महात्मा वरुणसे ग्रहण करेंगे। साथ ही अपने इस धनुषको आप जनकको दे दें[2]। वे इस समय निमि नामसे पृथ्वीमें प्रसिद्ध हैं। उस धनुषसे भी वे राजा एक महान् कार्य सम्पादन करेंगे।' यों कहकर भगवान् विष्णु चले गये और मैंने उनके कथनानुसार एकको तुम्हारे पिता तथा दूसरेको निमिको दे दिया[3]।"

भगवान् शंकरकी आज्ञासे परशुरामजीने सब कुछ वैसा ही किया। इसकी विस्तृत कथा वहाँ आगे है। पर इससे स्पष्ट होता है कि वही धनुष परशुरामजीने भगवान् रामचन्द्रको दिया और वही आगे चलकर पुनः वरुणद्वारा अर्जुनको मिला तथा यही वह गाण्डीव था।

तीर्थराज प्रयाग

(लेखक—डा॰ श्रीशिवशेखरजी मिश्र एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰, डी॰ लिट्॰)

हिंदू तीर्थोंमें प्रयाग, काशी तथा गया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीर्थ माने जाते हैं। ये तीनों तीर्थ अपनी ख्यातिके कारण त्रिस्थलीके नामसे प्रसिद्ध हैं। नारायण भट्ट (१५८० ई॰)ने वाराणसीमें त्रिस्थलीसेतु नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने प्रयाग, काशी तथा गया—तीनोंका विस्तृत वर्णन किया है।

प्रयागके माहात्म्यका वर्णन ऋग्वेदके खिल सूक्तमें इस प्रकार प्राप्त होता है:—

सितासिते सरिते यत्र संगते
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते
जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥
(१० । ७५)

त्रिस्थलीसेतुमें इसे आश्वलायन शाखाके अन्तर्गत आयी हुई श्रुति बतलाया गया है, किंतु 'तीर्थचिन्तामणि'के अनुसार यह ऋग्वेदका ही सूक्त है। इस सूक्तके अनुसार जो व्यक्ति सित तथा असित अर्थात् गङ्गा तथा यमुनाके संगमपर स्नान करता है, वह स्वर्ग प्राप्त करता है। और जो यहाँ अपना शरीर छोड़ता है, वह मोक्षको प्राप्त करता है। मत्स्य (अध्याय १०३ से ११२), कूर्म (१ । ३६ । ३९), पद्म (१ । ४० । ४९) तथा स्कन्दपुराण (काशीकाण्ड ७ । ४५ । ६५) प्रयागको बहुत ही पवित्र स्थान मानते हैं। महाभारतके एक स्थलपर प्रयागमें स्नानद्वारा स्वर्गप्राप्तिका उल्लेख है—

दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथा पराः॥
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ।
माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः॥
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्।
(अनुशासनपर्व २५ । ३६-३८)

---

[1] (क) योऽहं स देवः परमेश्वरस्त्वं योऽहं स देवः प्रपितामहश्च। (विष्णुधर्म॰ १ । ६६ । २६)
(ख) भक्त्या च नित्यं तव पूजयन्ति स्थानं हि तेषां सुलभं मदीयम्। (विष्णुधर्म॰ १ । ६६ । २९)

[2] तच्चापरत्नं भुवि राघवाय प्रदास्यते राम इति श्रुताय। कृत्वा स रामोऽपि हि तेन कर्म प्रदास्यते तद्वरुणाय चापम्॥
तस्मात्समादास्यति फाल्गुनोऽपि देवार्थकार्यैकरतिर्महात्मा। स्वं चापरत्नं जनकाय देहि निमीतिनाम्ना भुवि शब्दिताय॥
(वि॰ ध॰ ६७ । ३१-३३)

[3] 'मानसपीयूष' के सम्पादकने "करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि दिखाई॥" की व्याख्यामें अनेक टीकाओंसे अनेक रोचक कथाएँ संगृहीत की है। किंतु इस कथका वहाँ उल्लेख नहीं मिलता।

इसी प्रकार महाभारतके अन्य स्थलोंपर भी 'प्रयाग'के माहात्म्यका वर्णन हुआ है। वाल्मीकीय रामायणमें भी प्रयागका वर्णन प्राप्त होता है (देखिये वा० रा० २ । ५४ । ६) ।

प्रयागके लिये 'तीर्थराज' शब्दका प्रयोग अनेक स्थलोंपर हुआ है। तीर्थराजका अर्थ है 'तीर्थोंका राजा'। पद्मपुराणमें 'स तीर्थराजो जयति प्रयागः' (६ । २३ । २७–३५) ऐसा उल्लेख है । मत्स्य तथा स्कन्दपुराणमें इसी प्रकारके प्रसङ्ग मिलते हैं। प्रयागको तीर्थराज इसलिये कहा जाता है कि एक बार ब्रह्माने यज्ञ किया, जिसमें उन्होंने प्रयागको मध्यवेदी, कुरुक्षेत्रको उत्तरवेदी तथा गयाको पूर्ववेदी बनाया ।

प्रयागमें गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती—तीनों धाराएँ मिलकर दो धाराओंमें परिणत हो जाती हैं । इसीसे इसका नाम त्रिवेणी तथा संगम पड़ा । मत्स्यपुराणमें ऐसा प्रसङ्ग प्राप्त होता है कि प्रयागतीर्थके दर्शनमात्र अथवा स्मरणमात्रसे मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाता है—

दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्तिकालम्भनाद्वापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥
(मत्स्यपु० १०४ । १२)

कूर्मपुराण (१ । ३६ । २७) तथा अग्निपुराण (स्तवनादस्य तीर्थस्य—१११ । ६-७) में इसी प्रकारके प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं। कूर्मपुराणमें इसे प्रजापतिका क्षेत्र कहा गया है—

एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः॥
(१ । ३६ । २०)

मत्स्य (१०४ । ५; १११ । १४) तथा नारदीयपुराण (उत्तर० ६३ । १२७-२८) भी इसे प्रजापतिका क्षेत्र मानते हैं।

प्रयागमें विष्णु सदैव अपनी योगमूर्तिमें प्रतिष्ठित रहते हैं (नारदीयपुराण ६५ । १७) । रुद्र भी यहाँ निवास करते हैं । जब उन्होंने अपने त्रिनेत्रसे संसारको भस्मीभूत किया था, उस समय प्रयाग भस्म नहीं हुआ था । इसी कारण मत्स्यपुराणमें प्रयागको त्रिदेवोंका निवासस्थान बतलाया गया है—

प्रयागे निवसन्त्येते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
उत्तरेण प्रतिष्ठानाच्छद्मना ब्रह्म तिष्ठति ।
वेणीमाधवरूपी तु भगवांस्तत्र तिष्ठति ॥
माहेश्वरो वटो भूत्वा तिष्ठते परमेश्वरः ।
ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
रक्षन्ति मण्डलं नित्यं पापकर्मनिवारणात् ॥
(१११ । ४, १०)

कूर्म (१ । ३६ । २३, २६) तथा पद्मपुराण (आदिखण्ड ४१ । ६–१०) में इसीसे समानता रखनेवाले श्लोक मिलते हैं । मत्स्यपुराणमें ऐसा प्रसङ्ग प्राप्त होता है कि जो व्यक्ति एक मासतक सांसारिक प्रलोभनों एवं मैथुनादि क्रियासे विरक्त रहकर प्रयागमें निवास करता हुआ देवता एवं पितरोंका पूजन करता है, वह अपने मनोवाञ्छित फलको प्राप्त करता है (मत्स्यपुराण १०४ । १८) ।

प्रयागका यह महत्त्व वास्तवमें उसे तीर्थराज-पदपर प्रतिष्ठित करनेवाला है । इस तीर्थकी पवित्रता मनुष्यको इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करनेवाली है । तीर्थराजका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, वरं उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता जाता है । आज भी अनेक तीर्थयात्री तीर्थराजके दर्शन-हेतु तथा त्रिवेणी-संगममें स्नान करनेके हेतु प्रयागकी ओर बढ़ते चले जाते हैं । इसीमें वे अपने जीवनको सार्थक समझते हैं । भारतका कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो 'तीर्थराज प्रयाग'के नामको सुनकर नतमस्तक नहीं हो जाता ।

* * *

मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'जीवनका उद्देश्य क्या है ?' जिज्ञासा सच्ची हो तो वह अतृप्त नहीं रहती। भगवान्की सृष्टिका विधान है कि कोई भी अपनेको जिसका अधिकारी बना लेता है, उसे पानेसे वह वञ्चित नहीं रखा जाता।

'आत्मसाक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति ?' उत्तर तो एक ही है। यही उत्तर उसे भी मिलना था और मिला—'यह तो तुम्हारे अधिकार एवं रुचिपर निर्भर करता है कि तुम किसको चुनोगे। यदि तुम मस्तिष्कप्रधान हो तो प्रथम और हृदयप्रधान हो तो द्वितीय।'

वह राजपूत है—सच्चा राजपूत और यह समझ लेना चाहिये कि सच्चा राजपूत लगनका सच्चा होता है। वह पीछे पैर रखना नहीं जानता—किसी क्षेत्रमें बढ़नेपर। सौभाग्यसे पिता साधुसेवी थे और सत्सङ्गने उसे सिखा दिया था कि संसारके भोग तथ्यहीन हैं, उनमें सुखकी खोज चावलके लिये तुस कूटने-जैसा है।

'परमार्थका मार्ग तो वह दिखला सकता है, जिसने स्वयं उसे देखा हो।' उसका निर्णय आप भ्रान्त तो नहीं कह सकते। कोई भी मार्ग वही दिखा-बता सकता है, जो उसपर चला हो। सुन-सुनाकर बतानेवाले भूल कर सकते हैं। किसीकी भूलसे जब पूरे जीवनके भटक जानेकी आशङ्का हो, ऐसा भय कौन आमन्त्रित करे। उसने निश्चय किया—'समर्थ स्वामी रामदासके श्रीचरण ही मेरे आश्रय हो सकते हैं।'

कहाँ ढूँढ़े वह श्रीसमर्थको। उन दिनों वे कहीं टिककर रहते नहीं थे। उन्होंने देश-भ्रमण प्रारम्भ कर दिया था। यह ठीक है कि वर्ष-दो-वर्षमें वे 'सातारा' आ जाते थे; किंतु जीवनके साथ जुआ तो नहीं खेला जा सकता। जीवन वर्ष-दो वर्ष रहेगा ही—मृत्यु कल ही धर नहीं दबायेगी, इसका आश्वासन ?

'स्वामी! मैं आपके समीपसे उठनेवाला नहीं हूँ!' उसने श्रीपवनकुमारके श्रीविग्रहके चरणोंके पास आसन लगाया। 'श्रीसमर्थ आपके हैं, मैं उन्हें कहाँ ढूँढ़ने जा सकता हूँ।'

बात सच थी, संत ढूँढ़नेसे मिलते होते तो देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्रमें न कहते—'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।' किंतु उन्होंने ही यह भी तो कहा है—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।'

श्रीमारुतिके चरणोंमें पहुँची आर्त पुकार कभी निष्फल नहीं लौटी है। इस बार भी उसे नहीं लौटना था। पता नहीं कहाँसे घूमते हुए श्रीसमर्थ आ पहुँचे और किसी ग्राम या नगरमें पहुँचनेपर वे पहले वहाँके श्रीमारुति-मन्दिरमें प्रणाम करने पहुँचेंगे, यह तो निश्चित ही रहता है।

'मैं तुम्हें ढूँढ़ने आया हूँ।' श्रीसमर्थने पवनकुमारको साष्टाङ्ग प्रणिपात किया और अपने पदोंमें प्रणत उस राजपूत युवकको उठा लिया।

'कृपामय न ढूँढ़े तो अज्ञ असमर्थ जन उन्हें कहाँ कैसे प्राप्त कर सकता है।' युवकके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे।

'तुम इस प्रकार यहाँ क्यों बैठे हो ?' समर्थकी ओजपूर्ण वाणी गूँजी। 'तुम्हारे-जैसे समर्थ तरुणोंकी सेवा आज जनतारूपमें विद्यमान श्रीजनार्दन माँग रहे हैं।'

'मनुष्य-जीवन बार-बार प्राप्त नहीं होता, यह आप महापुरुषोंसे ही सुना है।' युवक अपनी जिज्ञासापर आ गया था। 'आप कृपा करें! यह जीवन आपकी कृपाकोर प्राप्त करके कृतकृत्य हो जायगा।'

'श्रीरघुवीर समर्थ अनन्त करुणावरुणालय हैं।' समर्थ स्वामी अभय दे रहे थे। 'कृपाकी क्या कृपणता है वहाँ! उनके श्रीचरणोंसे कृपाकी अजस्र स्रोतस्विनी त्रिभुवनको आप्लावित करती झर रही है। तुम अपनेको उन श्रीचरणोंमें अर्पित तो कर दो।'

× × ×

'मुझे आज्ञा दें प्रभु!' वह युवक अब एक आश्रमका मुख्य प्रबन्धक था। अब वह साधु है—समर्थका साधु। समर्थके साधुका अर्थ है—दीनोंका सेवक, रोगियोंका उपचारक एवं पीड़ितोंका मूर्तिमान् आश्वासन, किंतु वह स्वयं आज आर्त हो रहा है। श्रीसमर्थकी प्रतीक्षा कर रहा है वह

गत दो महीनोंसे और आज जब उसके गुरुदेव पधारे हैं, वह उनके श्रीचरणोंपर गिर पड़ा है।

'तुम बहुत उद्विग्न दीखते हो !' श्रीसमर्थने आसन स्वीकार कर लिया था।

'अपनेको अयोग्य पाता हूँ मैं इस आश्रमके लिये।' वह खुलकर रो पड़ा। 'श्रीचरण आज्ञा दें तो एकान्तमें कुछ दिन प्रयत्न करूँ।'

'कौन-सा प्रयत्न करोगे तुम !' समर्थ स्वामीके मुखपर स्मित आया—अपार वात्सल्यपूर्ण स्मित।

'मनकी चञ्चलताको रोकनेका प्रयत्न ?' युवकने उत्तर दिया। 'श्रीचरणोंने ही आदेश किया था कि नैष्कर्म्यकी सिद्धि ही आत्मदर्शनका उपाय है।'

'उपाय नहीं—नैष्कर्म्यसिद्धि तथा आत्मदर्शन एक ही बात है।' श्रीसमर्थने संशोधन किया। 'किंतु नैष्कर्म्यका तुम सम्पादन कैसे करोगे ? कर्मका त्याग करके ?'

'यदि प्रभु आज्ञा दें !' युवकने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया। 'आश्रममें रहकर तो नित्य कार्यव्यग्र रहना ही पड़ता है।'

'एकान्तमें जाकर तुम श्वासक्रिया बंद कर दोगे ?' समर्थ समझानेके स्वरमें बोल रहे थे। 'आहार एवं जल भी तथा शरीरस्थ यन्त्रोंकी क्रियाओंको भी ? यदि यह कर भी लो तो उस पत्थरमें और तुममें अन्तर क्या होगा ?'

'प्रभु !' युवक अपने मार्गद्रष्टाके चरणोंपर गिर पड़ा। उसे लगा कि कोई घने अन्धकारका पर्दा उसके सम्मुख पड़ा था और अब वह उठने ही जा रहा है।

'आत्मतत्त्व अक्रिय है। उसकी अनुभूति—समस्त क्रियाशीलताके मूलमें जो एक निष्क्रिय सत्ता है, जिसमें क्रिया आरोपितमात्र है, उससे एकत्वका अनुभव।'

सहसा श्रीसमर्थ रुक गये। उन्होंने देखा कि उनका यह अनुगत इस पद्धतिको हृदयंगम नहीं कर पा रहा है। उन्होंने दिशा बदली—'क्रियाके संचालक एवं उसके फलके दाता-भोक्ता श्रीरघुवीर हैं। हम-तुम सब उन समर्थके हाथके यन्त्र हैं। हमें उनके चरणोंमें अपने-आपको पूर्णतया अर्पण कर देना है।'

'श्रीचरणोंमें मैंने अपनेको उसी दिन अर्पित कर दिया।' युवकके स्वरमें विश्वास था।

'यन्त्र तो नित्य निष्क्रिय है। उसकी क्रिया तो संचालककी क्रिया है।' श्रीसमर्थने वह अज्ञानकी अन्धयवनिका उठा दी। 'सचमुच तुमने अपनेको अर्पित कर दिया है तो नैष्कर्म्य स्वतः प्राप्त है। मनके चाञ्चल्यके निग्रहके कर्ता बननेकी इच्छा तुममें क्यों आती है ?'

'यह अशान्ति—उस आनन्दघनकी अनुभूति जो नहीं पा रहा हूँ।' बात सच है। यदि आन्तरिक शान्ति और आनन्द नहीं मिलता तो अवश्य हमसे भूल हो रही है, हमारे साधनमें कहीं त्रुटि है।

'अपनेको कर्ता मानना छोड़ दिया होता तुमने !' वह त्रुटि जो स्वयं साधक नहीं पकड़ पाता, उसका मार्गद्रष्टा सहज पकड़ लेता है। श्रीसमर्थसे वह त्रुटि छिपी नहीं रह सकती थी। 'कोई पीड़ित नहीं; कोई रोगी नहीं, कोई संतप्त नहीं। तुम न उद्धारक हो, न सहायक। इन रूपोंमें आनन्दघन श्रीरघुवीर तुम्हारी सेवा लेने आते हैं तुमपर कृपा करके। उनकी सेवा करके तुम कृतार्थ होते हो।'

युवकने भूमिपर मस्तक रखा और उसके वे गुरुदेव उठ खड़े हुए। उन्हें अब प्रस्थान करना था।

× × ×

'तुम जा सकते हो, यदि तुम्हें एकान्तमें जानेकी आवश्यकता प्रतीत होती हो !' श्रीसमर्थ स्वामी रामदास जब दूसरी बार उस आश्रमपर लौटे, स्वागत-सत्कार समाप्त हो जानेपर अपने चरणोंके पास बैठे आश्रमके प्रधानकी ओर उन्होंने सस्मित देखा।

'मुझसे कोई अपराध हो गया ?' प्रधानने मस्तक रखा श्रीचरणोंपर। अन्य आश्रमस्थ साधु सशङ्क हो उठे। उनके निष्पाप प्रधानने ऐसा क्या किया कि उन्हें दण्ड प्राप्त हो ? किसी अपने चरणाश्रित साधुको समर्थ स्वामी आश्रमसे पृथक् होकर एकान्त-सेवनका आदेश तभी देते हैं, जब वह कोई अक्षम्य अपराध करता है। यह तो उनका सबसे बड़ा दण्ड है।

'अपराधकी बात मैं नहीं कहता !' समर्थ स्वामी प्रसन्न थे। 'यह तो तुम्हारी आवश्यकताकी बात है। आन्तरिक शान्ति एवं निरपेक्ष आनन्दकी उपलब्धिके लिये यदि तुम्हें एकान्तकी आवश्यकता प्रतीत होती हो……।'

'श्रीचरणोंको छोड़कर मेरी और कोई आवश्यकता कभी न बने।' आश्रमके प्रधानका स्वर भाव-विह्वल हुआ।

'अज्ञानी आश्रितसे त्रुटि होती ही है और दयाधाम शरण्य उसे क्षमा करते हैं। सेवकको सेवाका प्रभुने सौभाग्य दे रखा है, उसे आनन्दका अभाव कैसे हो सकता है।'

'यही कहने इस बार मैं आया हूँ।' समर्थ रामदास स्वामीने एक दृष्टि समस्त शिष्यवर्गपर डाली। 'जो इस विश्वका निर्माता, संचालक एवं संरक्षक है, वह न दुर्बल है न असमर्थ। उसे हमारी सेवाकी आवश्यकता नहीं है। यह झूठा अहंकार है कि हम किसीकी सेवा करेंगे या हम लोकोपकार करेंगे।'

'तब हमारा यह आश्रम........।' एक नवीन साधु कुछ कहना चाहता था; किंतु स्वयं उसे अपनी भूल ज्ञात हो गयी। समर्थ स्वामी बोलते जा रहे थे—

'उन प्रभुने हमें अपनी सेवा प्रदान की, यह उनकी कृपा। प्रत्येक जीवपर उनकी यह अहैतुकी कृपा है। सबको उन्होंने एक कार्य देकर यहाँ भेजा है और यदि अपने कार्यका वह ठीक सम्पादन करता है तो सर्वेशकी आराधना करता है। इसी आराधनासे वह उनकी प्राप्ति करता है।'

हमारा कर्तव्य

'अवश्य प्रत्येकको इसे समझनेमें कठिनाई होती है।' समर्थकी अमृतवाणी प्रवाहित होती रही। 'किंतु तुम्हें क्यों कठिनाई होनी चाहिये? तुममें बल है, शौर्य है, शस्त्रचालनकी निपुणता है। ये साधन तुम्हें समर्थ श्रीरघुवीरने दिये हैं। आसपास जो आर्त, अत्याचार-पीड़ित हैं, उनकी पुकार—वह प्रभुकी पुकार तुम्हारा कर्तव्य-निर्देश करती है।'

'कर्म करनेके तुम्हें साधन मिले हैं—अतः उनका उपयोग करो।' उपदेशका उपसंहार हुआ। 'कर्मका त्याग अर्थात् अकर्ममें आसक्ति करके तो तुम अपनेको उस सर्वात्माकी सेवासे वञ्चित कर लोगे।'

भगवान्‌की अनुभूति प्रतिक्षण मुझमें नयी आशा भर रही है

मैं भगवान्‌के प्रेमविधानकी छायामें हूँ। अतः मैं असफल होनेपर भी पुनः प्रयत्न करनेके योग्य हूँ। जब बार-बार प्रयत्न करनेपर असफलता ही हाथ लगती है, निराशा-ही-निराशा चारों ओरसे घिरी आती है, ऐसा लगता है कि अब मैं किसी 'शुभ'के दर्शन नहीं कर पाऊँगा—उस समय भी यह विश्वास कि भगवान्‌का प्रेमपूर्ण मङ्गलविधान मुझमें तथा मेरे माध्यमद्वारा सक्रिय है और वह असफलताके अन्धकारको छिन्न-भिन्नकर सुव्यवस्था, शान्ति, आनन्द एवं सफलताकी प्रतिष्ठा कर रहा है, मुझे आशावान् बनाता और मैं शक्ति बटोरकर पुनः उठ बैठता हूँ।

मैं इस विचारको हृदयमें घर नहीं करने देता कि 'मैं असफल हूँ' और 'मेरा जीवन निरर्थक है'। मैं इस सत्यका स्मरण करता हूँ कि 'मैं' भगवान्‌की प्यारी संतान हूँ, भगवान् मुझे प्यार करते हैं और उन्होंने अपने कार्यकी पूर्तिके लिये, अपने प्रेमकी अभिव्यक्तिके लिये मेरी रचना की है।'

इस क्षणसे पूर्व क्या-क्या असफलताएँ जीवनमें रही हैं, इसका विचार छोड़कर मैं पूर्ण उत्साह, पूर्ण तत्परता और पूर्ण लगनके साथ पुनः कार्यमें प्रवृत्त हो जाता हूँ।

भगवान्‌के प्रेमके बलपर मैं पुनः अपने जीवनका निर्माण कर सकता हूँ; असफलताको सफलतामें, निराशाको आशामें, दुःखको सुखमें, अशान्तिको शान्तिमें, खिन्नताको प्रसन्नतामें, विषादको आनन्दमें, पश्चात्तापको उल्लासमें परिणत करनेमें समर्थ हूँ।

मैं निरन्तर असफल होते हुए भी पुनः प्रयत्नशील होता हूँ; क्योंकि भगवान् सदा मेरे साथ हैं और उनका प्रेम मुझे आशावान् बना रहा है।

• भगवान्‌की अनुभूति प्रतिक्षण मुझमें नयी आशा भर रही है।

सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८ । ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे ये चार बातें कही हैं—

(१) तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे।
(२) तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।
(३) मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।
(४) तू शोक मत कर।

अब यहाँ इनमेंसे प्रत्येकपर क्रमशः विचार किया जाता है।

१. तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे

यहाँ 'सर्वधर्मान्परित्यज्य'का अर्थ 'सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर' किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि भगवान्ने गीता ६ । १ में 'अनाश्रितः कर्मफलम्' कहकर यह आदेश दिया ही है। किंतु इस प्रकरणमें उससे और भी विशेषता है। १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार यहाँसे शरणागतिका प्रकरण प्रारम्भ करके भगवान् ५७ वें श्लोकमें मुख्यतया अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।' अतः इस प्रकरणके अनुसार 'सर्वधर्म' का अर्थ है 'सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्म' और 'परित्यज्य' का अर्थ है उन सब कर्मोंको सब ओरसे (अच्छी प्रकार) भगवान्में अर्पण करके। सब ओरसे सब कर्मोंको भगवान्में अर्पण करनेकी विधि गीता ९ । २७ में बतलायी गयी है, जिसका फल ९ । २८ में भगवान्की प्राप्ति होना बतलाया गया है। इसलिये १८ । ५७ के कथनानुसार 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' का अर्थ 'सब शास्त्रविहित कर्मोंको भगवान्में अर्पण करना' अधिक युक्तिसंगत है।

कितने ही विद्वानोंका कथन है कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' कहकर भगवान्ने स्वरूपसे समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है। किंतु ऐसा अर्थ युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि अर्जुनने भगवान्की आज्ञासे युद्ध ही किया, सर्वथा स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं किया। दूसरे महानुभाव कहते हैं कि 'अपने कर्तव्य-कर्मोंको करता हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रखे'—यही इस पदका आशय है। पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा कथन ज्ञानयोग (सांख्ययोग) की दृष्टिसे सम्भव है, किंतु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है। कारण, भगवान्ने इससे पूर्व १८ । ६५ में यह स्पष्ट कहा है कि 'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर।'

२. तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा

एक भगवान्की शरणमें जाना क्या है? भगवान्ने अर्जुनको १८ । ६५ में जो आदेश दिया है, वही शरणका प्रकार है; क्योंकि यहाँ 'शरण' का वही अर्थ लेना चाहिये, जो भगवान्ने गीतामें लिया हो। गीता ९ । ३२ में भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।' यहाँ

भगवान्‌ने शरणका महत्त्व और फल तो कहा, किंतु शरणका स्वरूप नहीं बतलाया । अतः ९ । ३४ में शरणका स्वरूप बतलाते हुए शरण आनेके लिये अर्जुनको आदेश देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

‘मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।’

ठीक यही आधा श्लोक १८ । ६५ में ज्यों-का-त्यों है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि १८ । ६५ में अनन्य-शरणका स्वरूप बतलाकर १८ । ६६ में भगवान्‌ने अपनी शरणमें आनेके लिये अर्जुनको आदेश दिया है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि १८।६५ में जो बात कही गयी है, वह अनन्यभक्तिकी है या अनन्यशरणकी ? इसका उत्तर यह है कि अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु है; क्योंकि गीतामें जहाँ अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ शरण उसके अन्तर्गत आ जाती है और जहाँ शरणका वर्णन है, वहाँ अनन्यभक्ति उसके अन्तर्गत आ जाती है । जैसे गीता ११ । ५४ में अनन्यभक्तिका माहात्म्य बतलाकर ५५ में उसका स्वरूप बतलाते हुए यही कहा है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

‘हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।’

यहाँ ‘अनन्यभक्ति’ का वर्णन करते हुए जो ‘मत्परमः’—‘मेरे परायण’ कहा गया है, इससे शरणागतिके भावको भक्तिके अन्तर्गत बतलाया गया है ।

इसी प्रकार ९ । ३४ में ‘अनन्यशरण’ का स्वरूप बतलाते हुए भगवान्‌ने ‘मद्भक्तः’ कहकर भक्तिको शरणागतिके अन्तर्गत कह दिया है । अतएव अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु हैं ।

यह अनन्यशरणका विषय बहुत ही गोपनीय है । इसलिये यह भगवान्‌के परम रहस्यकी बात भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुन-जैसे परम अधिकारी प्रेमी भक्तको ही कही गयी है तथा इसे अपात्रको बतलानेके लिये भगवान्‌ने निषेध किया है (गीता १८ । ६७) । एवं पात्रको कहनेके लिये प्रेरणा करते हुए उसको बतलानेका फल और उसकी महिमाका वर्णन भी किया है (गीता १८ । ६८-६९) ।

इसके सिवा भगवान्‌ने गीतामें जो कुछ भी आदेश दिया है, उसका पालन करना भी भगवान्‌की अनन्यशरण है; क्योंकि गीता २ । ७ में अर्जुनने भगवान्‌के शरण होकर अपना कर्तव्य पूछा, उसपर भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारके हितके लिये गीता-शास्त्रका वर्णन किया । उपदेश देनेके पश्चात् वे अर्जुनसे पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥
(गीता १८ । ७२)

‘हे पार्थ ! क्या इस (गीता-शास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?’

इसके उत्तरमें अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥
(गीता १८ । ७३)

हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

गीता २ । ७ में अर्जुनने जो कहा था कि मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ, उसीको लक्ष्य कराते हुए अब यहाँ वे कहते हैं—'नष्टो मोहः' मैं अब किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हूँ, मेरा वह मोह दूर हो गया है ।

भगवान्‌ने पूछा था—'तुमने मेरा उपदेश एकाग्रचित्त होकर सुना है न ?' इसपर अर्जुन कहते हैं—'स्मृतिर्लब्धा'—मैंने सब उपदेश सुना है और वह सब मुझे याद है । किंतु 'त्वत्प्रसादात्'—यह सब मेरी महत्ता नहीं है, आपकी कृपाका प्रसाद है ।

भगवान्‌ने ४ । ४२ में अर्जुनसे कहा था कि 'तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो ।' उसीका संकेत करते हुए अर्जुन यहाँ कहते हैं—'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः' तथा 'करिष्ये वचनं तव । 'मैं अब उस संशयसे रहित हो गया हूँ,' एवम् 'अब आप जो कुछ कहेंगे, वही करूँगा ।' इस प्रकार अर्जुनने उत्तर देकर भगवान्‌ने जैसा कहा था, वैसा ही किया ।

इस विषयमें हमें महाभारतके कर्ण-वध-प्रसङ्गपर ध्यान देना चाहिये । जब वीर कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया, तब वह तुरंत रथसे उतर पड़ा और अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको ऊपर उठानेका प्रयत्न करने लगा । उस समय उसने अर्जुनकी ओर देखकर कहा—'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार ! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वीतलसे निकाल लूँ । अर्जुन ! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, हथियार डाल चुका हो, प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुषपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते । पाण्डुनन्दन ! तुम लोकमें महान् शूरवीर और सदाचारी माने जाते हो । युद्धके धर्मोंको जानते हो । वेदान्तका अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथ-स्नान कर चुके हो । तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है । तुम अमेय आत्मबलसे सम्पन्न तथा कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हो । अतः महाबाहो ! जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल मत करो, क्योंकि यह धर्म नहीं है ।'*

तब रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—'राधानन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है । प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं, अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं । कर्ण ! जब वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?† जब तुमलोगोंने भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया था, लाक्षाभवनमें सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, रजस्वला द्रौपदीको भरी सभामें बुलवाकर जब तुमने उसका उपहास किया और उसकी ओर निकटसे देखा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? एवं जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय

---

* देखिये महाभारत कर्णपर्व अ० ९० ।

† वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे ।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
(महा० कर्ण० ९१ । ४)

तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? * यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ ? सूत ! अब तुम यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता ।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया । उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! कर्ण जबतक रथपर नहीं चढ़ जाता तबतक ही अपने बाणद्वारा उसका मस्तक काट डालो ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुनने भगवान्‌की उस आज्ञाको सादर शिरोधार्य किया और महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित अञ्जलिक नामक उत्तम बाणके द्वारा कर्णका सिर काट डाला । † यद्यपि उस समय शस्त्र-रहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचा रहा था; फिर भी भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसका सारा संकोच और संदेह निवृत्त हो गया, जिससे उसने निःशङ्क होकर कर्णपर बाणका प्रहार करके उसका सिर काट गिराया । ‡

इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञा-पालन ही है । इसीका नाम भगवच्छरणागति है । भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मको न मानना 'सर्वधर्मपरित्याग' है । ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्रमें विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही मुख्य माननीय है, क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकता ।

भगवान्‌की शरण जाना—यह उत्तम रहस्यकी बात है, जिसे भगवान्‌ने अर्जुन-जैसे परमभक्तके प्रति ही कहा है । भगवान् उसकी महिमा बतलाते हुए स्वयं कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
(१८ । ६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्य-युक्त वचनको तू फिर भी सुन । तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ।'

गीतामें भगवान्‌ने गुह्य, गुह्यतर और सर्वगुह्यतम—इस तरह तीन प्रकारकी बातें बतलायी हैं । दूसरे अध्यायके ४० वें श्लोकसे आरम्भ करके तीसरे अध्याय-के अन्ततक जिस कर्मयोगका वर्णन किया है, उसको भगवान्‌ने 'गुह्य' उपदेश बतलाया है । वे कहते हैं—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(गीता ४ । ३)

---

* यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः ।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
(महा० कर्ण० ९१ । ११)

† देखिये महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ९१ ।

‡ वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायीको किसी प्रकार भी मारना धर्मशास्त्रमें न्याय्य बताया गया है और कर्ण आततायी था ।

वशिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥
(३ । १९)

'आग लगानेवाला, बिष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों आततायी हैं ।'

तथा मनुस्मृतिमें बतलाया है—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥
(मनु० ८ । ३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये । आततायीके मारनेमें **मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता ।'**

'तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग (जिसको मैंने सृष्टिके आदिमें सूर्यसे कहा था, किंतु जो बहुत कालसे पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था) आज मैंने तुमसे कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मयोगका विषय उत्तम होते हुए भी 'गुह्य' (गोपनीय) ही है; किंतु ईश्वरकी भक्ति 'गुह्यतर' है, जिसका वर्णन भगवान्ने १८ । ६२-६३ में किया है । वहाँ 'गुह्य'—कर्मयोगसे ईश्वर-भक्तिको 'गुह्यतर' बतलाया गया है ।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वरकी भक्तिको 'गुह्यतर' कह दिया, तब १८ । ६६ में भी ईश्वरकी भक्तिका ही वर्णन है, फिर उसमें सर्वगुह्यतमत्व क्या है ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ भगवान्का 'यह ईश्वर मैं ही हूँ' इस रहस्यमय बातको प्रकट करके यह कह देना कि तू एक मेरी ही शरणमें आ जा—यही 'सर्वगुह्यतमत्व' है । यदि कहें कि जब यही कथन सर्वगुह्यतम है तो ९ । ३४ के पूर्वार्द्धमें भी तो यही बात कही गयी है; फिर वहाँ उसे सर्वगुह्यतम क्यों नहीं बतलाया, तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी उसे 'गुह्यतम' और 'राजगुह्य' कहकर 'सर्वगुह्यतम' ही बतलाया गया है । भगवान्ने कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(गीता ९ । १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा । यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है ।'

इस प्रकार नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको, जिसके उपसंहार (९ । ३४) में शरणागतिका आदेश है, परम गोपनीय और सब विद्याओंका राजा बतलाया गया है । इसलिये वह सर्वगुह्यतम उपदेश है ।

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है । भगवान्ने १८ । ६१ में ईश्वरकी व्यापकताका तत्त्व बतलाकर ६२ में उसकी शरणमें जानेकी बात कही और ६३ में 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' अर्थात् यह 'ज्ञान' मैंने तुझसे कह दिया'—इस प्रकार इसका नाम 'ज्ञान' बतलाया । इसमें केवल निराकारकी शरणागतिका विषय है, इसलिये इसे केवल ज्ञान और 'गुह्यतर' ही कहा है । किंतु नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको 'विज्ञानसहित ज्ञान' और 'सर्वगुह्यतम' बतलाया गया है। वहाँ प्रथम श्लोकमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके ९ । ४ में निराकारका, ९ । २६ में साकारका और ९ । १८ में निराकार-साकार सर्वरूपका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि वह सब मेरा ही स्वरूप है । इसी प्रकार सातवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें समग्र स्वरूपका वर्णन सुननेके लिये कहकर भगवान्ने अपने परम प्रेमी भक्त अर्जुनके प्रति दूसरे श्लोकमें यही कहा कि 'मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता ।' फिर १९ वें श्लोकमें 'सब कुछ वासुदेव ही है ।' इस समग्ररूपको जाननेवाले महात्माको अतिदुर्लभ बतलाया एवं अन्तमें समग्ररूपकी उपासनाका वर्णन करते हुए कहा कि 'जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं । अर्थात् साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—सब कुछ मैं ही हूँ ।' इसीको 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहा गया । "अतएव

यह सिद्ध हुआ कि सगुण-निर्गुण साकार-निराकाररूप समग्र भगवान्‌का ज्ञान ही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है और इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानकर उनकी सब प्रकारसे शरण ग्रहण करना ही 'सर्वगुह्यतम' है ।

यहाँ १८ । ६४ में 'मे परमं वचः भूयः शृणु—' 'मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन' यों कहकर भी भगवान्‌ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि मैंने नवें अध्यायमें जो बात कही थी, उसी परम रहस्यमयी बातको मैं फिर तुमसे कहता हूँ । तथा 'मे दृढं इष्टः असि', 'तू मेरा अतिशय प्रिय है'—यों कहकर यह बतलाया है कि तू मेरा अत्यन्त प्यारा भक्त है, अतः तू अधिकारी पुरुष है । वहाँ नवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें भी 'अनसूयवे' कहकर यह स्पष्ट कर दिया था कि तुम्हारी मेरे गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं है । अतः तुम अधिकारी पुरुष हो । ऐसे परम-प्रेमी अधिकारी भक्त अर्जुनसे ही भगवान् यह सर्वगुह्यतम रहस्य कहते हैं कि 'तुम एक मेरी ही शरणमें आ जाओ ।'

३· मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा

अर्जुनने पहले अध्यायमें कहा था कि 'जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा (१ । ३६ ।) तथा यह बड़े ही आश्चर्य और शोकका विषय है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं (१ । ४५) ।' 'इस प्रकार अर्जुनके मनमें जो पाप लगनेकी आशङ्का थी, उसकी निवृत्तिके लिये ही भगवान्‌ने २ । ३८ में यह कहा था कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा । इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

अब भगवान् यहाँ १८ । ६६ में कहते हैं कि यदि तू पाप मानता है तो तू सब धर्मोंका मुझमें त्याग करके मेरी शरणमें आ जा, मैं गारंटी देता हूँ कि तू जिन-जिन कर्मोंमें पाप मानता है, उन सभी पापोंसे मैं तुम्हे मुक्त कर दूँगा ।

४· तू शोक मत कर

मोहके कारण अर्जुनको बन्धु-बान्धवोंके वध करनेके विषयमें शोक हो रहा था, उसीकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें उसको उपदेश दिया । वहाँ भगवान्‌ने कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(गीता २ । ११)

'अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ।'

यदि तू इन सबके शरीरोंकी ओर विचार करके शोक करता है तो उन शरीरोंके लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥
(गीता २ । २८)

'अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; ऐसी स्थितिमें शोक क्या करना है ।'

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरोंके लिये शोक करना व्यर्थ है । यदि आत्माकी दृष्टिसे विचार करें, तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(गीता २ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है, न मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।'

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
(गीता २ । २४-२५)

'क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है, यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है, इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ।'

अतः आत्माके लिये भी शोक करना सर्वथा अयुक्त है, यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा, किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके विषयमें मैं शोक करता हूँ तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(गीता २ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।'

यदि कहें कि पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें तो मनुष्यको सुख होता है, किंतु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहण करनेमें तो क्लेश होता है, अतः यहाँ यह उदाहरण समीचीन नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानी मनुष्यको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है । धीर, विवेकी और भक्तको शरीर-परित्यागमें दुःख नहीं होता । भगवान्ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(गीता २ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।'

श्रीरामचरितमानसमें भी लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके वालीने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था, जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ॥

पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है, जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं । छः महीने या सालभरके बच्चेकी मा जब

उसके पुराने गंदे वस्त्रको उतारती है, तब वह बालक रोता है और नया स्वच्छ वस्त्र पहनाती है, तब भी वह रोता है । किंतु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है । इसी प्रकार भगवान् भी जीवके हितके लिये उसके रोनेकी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं । अतः यह उदाहरण यहाँ समीचीन है ।

इस प्रकार भगवान्‌ने बतलाया कि शरीर, आत्मा या शरीरसे आत्माके वियोग—किसीके लिये भी शोक करना उचित नहीं । दूसरे अध्यायके इन्हीं वचनोंका संकेत करके भगवान्‌ने यहाँ १८ । ६६ में अपने प्रभावका दिग्दर्शन कराते हुए अर्जुनको सर्वथा शोक-रहित हो जानेके लिये आश्वासन दिया है कि 'तू शोक मत कर ।'

सोया-ही-सोया

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

बचपनमें संतान बना असहायावस्थामें माँ-बापकी गोदमें सोया ।

तनिक बड़ा हुआ तो भाई-बहन बनकर निर्मल स्नेहकी गलबहियाँ डालकर सोया ।

यौवन आया तो अरमानोंकी दुनिया बसाकर—उसमें पति-पत्नी बनकर सोया—सोया सो खोया ।

फिर माता-पिता बनकर पुत्र-पुत्रियोंको दुलराते-मल्हराते उनके साथ सोया ।

जरा आयी तो मोहमें जकड़-बंद होकर नाती-पोतोंसे चिपटकर—उन्हें चिपटाकर सोया ।

जराकी जर्जरतामें, मोहान्धताकी सीमापर पहुँचकर जिस-किसीको—जिस कुछको भी अपना समझा, उसीसे चिपक-चिपककर सोया ।

जीतें-जी चिल्ल-पों मचाते मायाकी छल-छाँहमें सोया ।

मरा तो मरघटकी मर्मवेधी निस्तब्धतामें सोया ।

उम्रभर सोया-ही-सोया ।

फलतः लेखा-जोखा देते समय फूट-फूटकर रोया। पर निष्फल !

चिड़ियोंके खेत चुग लेनेपर पीछे पछतानेसे क्या होता है ?

मानव-जीवनकी यही कहानी है, नित्य-नूतन रहते हुए भी नितान्त पुरानी है ।

और यह कहानी कितनी करुण है । यह दशा कितनी दयनीय है । यह स्थिति कितनी भयावह है ········असह्य है !

काश मानव जागता·······समयपर जागता ।

उसकी दुनिया बदल जाती तब ।

जागरण-कालकी बात छोड़ो ।

समयानुसार सोना भी तब सोना न रहकर, रोना न बनकर सचमुचका सोना होता—बनता·········खरा पासेका सोना !

पर मानव जागता, तब न !

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।

बड़े ही हर्षकी बात है कि 'कल्याण'में प्रकाशित प्रार्थनाके अनुसार भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने गतवर्ष बहुत ही उत्साहके साथ नाम-जप स्वयं करके तथा दूसरोंसे करवाके महान् पुण्यका सम्पादन किया है। उनके इस उत्साहका पता इसीसे लगता है कि पिछले वर्ष जहाँ केवल ९३८ स्थानोंसे जपकी सूचना आयी दर्ज हुई थी, वहाँ इस वर्ष ११३७ स्थानोंकी सूचना दर्ज हुई है। और मन्त्र-जप जहाँ गतवर्ष लगभग २७ करोड़ हुआ था, वहाँ इस वर्ष ३३ करोड़से कुछ ऊपर हुआ है (जो निम्नलिखित आँकड़ोंसे प्रकट है), यद्यपि हमने प्रार्थना केवल २० करोड़के लिये ही की थी। इसके लिये हम उन सबके हृदयसे ऋणी हैं।

(१) केवल भारतमें ही नहीं, बाहर विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(२) केवल सोलह नामके महामन्त्रकी जप-संख्या जोड़ी गयी है। भगवान्‌के अन्यान्य नामोंका भी जप हुआ है, वह इस संख्यासे पृथक् है।

(३) बहुत-से भाई-बहिनोंने जप अधिक किया है, सूचना कम भेजी है और कुछ नाम-प्रेमियोंने तो केवल जपकी सूचना दी है, संख्या लिखी ही नहीं।

(४) बहुत-से भाई-बहिनोंने आजीवन जपका नियम लिया है। इसके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

(५) बहुत-से भाई-बहिनोंने केवल जप ही नहीं किया है, उत्साहवश नाम लिखे भी हैं, यद्यपि हमारे पास लिखित नामोंके प्रकाशनकी उपयुक्त व्यवस्था नहीं है।

(६) स्थानोंके नाम दर्ज करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है। इसपर भी भूल होना, कुछ स्थानोंके नाम छूट जाना सम्भव है। कुछ नाम रोमन या प्रान्तीय लिपियोंमें लिखे होनेके कारण उनका हिन्दी-रूपान्तर करनेमें भूल रह सकती है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

(७) सोलह नामोंके पूरे मन्त्रका जप हुआ है—३३, १४, २४, ९०० (तैंतीस करोड़, चौदह लाख, चौबीस हजार, नौ सौ)। इनकी नाम-संख्या होती है—५, ३०, २७, ९८, ४०० (पाँच अरब, तीस करोड़, सत्ताईस लाख, अट्ठानवे हजार चार सौ)।

अंकलेश्वर, अंचलगुम्मा, अंजनी, अंजार, अइलख, अक्कलकोट, अकबरपुर, अकठौहाँ, अकनीवा, अकलौनी, अकोढ़ा, अकोढ़ी, अगस्त मुनि (गढ़वाल), अच्छरोडा, अचलजामू, अछरीडीह, अजगरखोन, अजनौरा, अजमेर, अजोध्या (उड़ीसा), अड़ार, अत्वास, अतर्रा, अतरझोला, अनागुण्डी, अम्बारी (मुंगेर), अम्बारी (सीतापुर), अम्बाह, अमझेरा, अमृतसर, अमरावती, अमरेली, अमलनेर, अमलापुरम्, अमलोह, अमवा, अमीनगर सराय, अमोदा, अरई, अरगाम, अरसारा, अलमण्ड, अल्लिप्पे, अलीगंज, अलीगढ़, अवसेरी खेड़ा, अशोकनगर, अहमदाबाद, अहिरौलिया, आउवा, आकोट, आक्रोल, आखलाकाण्डा, आगर-मालवा, आगरा, आदमापुर, आनन्द, आबगीला, आबूरोड, आरा, आलमपुर, आलिमूड़, आलूथोक (हरदोई), आलूर, आसनारा, आसी, इकलहरा, इकलेरा, इगतपुर, इच्छापुर, इचलकरंजी, इचातु, इटाढ़ी, इटावा, इतहार, इन्द्रगढ़, इन्द्राना, इन्दौर, इम्फाल, इलाहाबाद, ईटहरी, ईडर, ईसागढ़, उगोके, उज्जैन, उझयानी, उदखेड़, उदयपुर, उन्नाव, उन्हेल, उम्मसा, उमरखेड़, उमरानाला, उमरारी, उमरिया, उमेदपुर, उरई, उरदान, उरुवा बाजार, उसनीघा, ऊँझा, ऊँनगर, ऊना, ऊमरपुर, ऊमरीकलाँ, एंडली, एकअम्बा, एकमा, ए० पी० ओ० ५६, एरंडोल, ओंकारेश्वर, ओझवलिया, औंगारी, औरंगाबाद, ककढ़िया, कचनार, कछौना, कजरा, कटघरवा, कटनी, कटरा, कटागाँ, कटिहार, कथवन, कन्धार, कन्नौज, कमतरी, कमालपुर, कमाशी, कर्कि, करणवास, करनाल, करमा, करमौली, करवाड़, करसोग, करहोला, करार्बला, करौली, कल्याणपुर,

कल्लकवटगी, कलमड्डू, कलाली, कस्ता, कसावा, कांकेर, कागूपाड्डू, काजीपुर, काढ़ा, कातुरली, कान्धपाकड़, कानगाँव, कानपुर, कामतमपल्ली, कारंजालाड, कालकुण्ड, काल्लूचक, काशीपुर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, किछा, किरानपुर, किसनगंज, किसा, कुंडल, कुँड़ई, कुँवरगाँव, कुकमूर, कुडाना, कुढ़ावल, कुतुबनगर, कुम्हेर, कुमटा, कुमारडूबी, कुरैंय्या, कुवाँ, कुशलगंज, कुशलगढ़, कुसम्हा, कुसमी, कुसैंल, केतलमण्डी, केलवाड़ा, केवटसाबरुआरी, केसली, कैमहरा दीपसिंह, कैमोर, कोकरीकलाँ, कोकलकच्चक, कोचीन, कोटडारेहा, कोटरी, कोटलीबीट, कोटवा नारायणपुर, कोटा, कोठड़ी, कोडंगल, कोड्याई, कोडरमा, कोदरिया बाजार, कोपाखेड़ा, कोरस, कोल्कुलपल्ली, कोल्हापुर, कोलिनडूबा, कोल्लूखेड़ी, कोसीकलाँ, कौंढ़ा, कौजगेरि, कौसानी, खंडवा, खझौला, खड़या, खडेर टिकतपुरा, खम्भालिया, खम्हरिया, खरगपुर अरसारा, खाचरोद, खानपुर, खानापुर, खापरखेड़ा, खापा, खामखेड़ा, खामगाँव, खासगी (लश्कर), खाराघोड़ा, खितौला बाजार, खिरसू, खीमेंट, खुंटी, खुटार, खुडाला, खेखाड़ा, खेड़ा-बझेड़ा, खोपली, खोरिया एमा, खौरी, गंगापुर, गया, गहना, गहाल, गाड़रवारा, गीरडा, गुड़गाँव, गुलबर्गा, गुलाबगंज, गुरावड़ा, गेजना नावाडीह, गेठिया, गैसड़ी, गौंडा, गोगावाँ, गोघरा, गोड़हिया, गोधरा, गोपालगंज, गोपालपुरा, गोपालसमुद्रम्, घाटकोपर (बम्बई), घीसाकापुरा, घुसरी, चंदनपट्टी, चंदा (गया), चाँदपुरा (बिहार), चकना, चकपुरवा, चकराता, चकरौता रोड, चकसाहो, चकयद्दू, चतरा नानकार, चन्दौसी, चनौवा बुजुर्ग, चम्पराजपुर, चमलासा, चमोली, चाँदपुर, चाँदराना, चाणस्मा, चालीसगाँव, चिंचोली, चित्रकोट चितराँव-हिरवार, चिन्तापटला, चिपुरुपल्ली, चिमटाखाल, चिलवरिया, चीखलढ़ाण, चुड़वा, चुनीमारी, चुरारा, चैवरा ब्रह्मडीहा, चोरभट्ठी, चौगाई, चौपार, चौसा, छतरपुर, छपरा, छपेरी, छर्रा, छिन्दवाड़ा, जगजीवनपुर, जगतपुर, जगदीशपुर, जगदीशपुर अइहारी, जगदीशपुरी, जगन्नाथपुर, जट्टारी, जण्डियाला, जनकपुर, जबलपुर, जबलपुर छावनी, जमशेदपुर, जमानियाँ, जम्मू, जयकयनगर, जयतहारी, जयन्तीपुर कुरुआ, जयपुर, जलसण, जलालपुर, जर्वे, जवळं, जसवन्तगढ़, जसानियाँ, जहरीखाल, जानसठ, जाम़, जाम-अजमेर, जामठी, जामनगर, जामुन घानाकलाँ, जामोळा, जार, जारिगुम्मा, जालन्धर, जालना, जालिया, जियाराम राघोपुर, जिवादा, जुब्बल, जुलकिया, जुहू, जेतलपुर, जेवरा, जैतोलीतल्ली, जोगसर, जोगिया, जोधपुर, जोरातलाई, जोरावर डीह, जोशीमठ, जोशीमठ डाड़ों, जौनपुर, जौनुद्दीनपुर, झाँसड़ी, झाँसी, झारसुगुड़ा, झालरापाटन, झालावाड़, झालोखर, झालोद, झिटिया, झींझक, झीझर, झुडिया, झुमरी तिलैया, झूँथरी, झोटवारा, टकेली, टराइना, टालीगंज, टिकौना, टिमणपुर, टीहु, टुरदूरा, टूँडला, टेटुआ, ठठिया, ठासरा, ठिकहाँ, ठिकहाँ भवानीपुर, डगावाँ शंकर, डाल्टेनगंज, डिकौली, डिघियाँ, डिहुकपुरा, डीहरा मुजफरा, डुबकिया भवानीपुर, डुमटहर, डुमरी (देवरिया), डूब्बा, डूभा, डूमरी (दरभंगा), डेंगापदर, डेहरी, डौंडी, ढंगा पूर्व, ढौंड, तपकरा, तलाला, तहसील फतेहपुर, ताँडूर, ताजपुर, तारापुर, तालडा, तिनसुकिया, तिरवा, तिलई, तुकेड़ा, तुण्डी, तुनिहा, तुरहापट्टी, तेन्तुलिखुंटि, तेन्दुनी, तेल्हारा, तेहरा, त्रिचनापल्ली, त्रुकवलिया, थातिया, थाना भवन, थौरी, दर्यापुरकलाँ (निमाड़), दरभंगा, दरियापुर, दलपुपा, दलपुरा, दशरंगपुर, दानेकेरा, दारेसलाम (अफ्रीका), दिघी, दिलकुशा, दिलीपनगर, दिल्लोद, दिवानपुरा, दीओदर, दीनानगर, दीपखेड़ा, दुर्ग, दुर्गाडीह, देव, देवगना, देवती, देवबन्द, देवरीकलाँ, देवरीनाहर, देवलगाँव साकरण, देवली, देवादा, देवाल, देशनोक, देहरादून, देहली, दौदापुर, दौसा, धगुवाकलाँ, धड़ौली, धनतुलसी, धनबाद, धनावाँ, धनोखर, धनोरा, धमतरी, धर्मपुर, धरगुल्ली, धरणगाँव, धरमंगलपुर, धरमजैगढ़, धरमपुरी, धवनी, धार, धीरी, धुमरी, धुलिया, धुळे, धोड़िया हल्सों, धोवौली, धौलपुर, ध्रुमठ, नंदग्राम (सिहोरा), नंदाहाँडि, नई, नई दिल्ली, नकहरा, नगला उदैया, नगरमण्ड, नगलाबाँध, नगला उसपार, नगीना, नगीवाबाद, नटिनी, नवाबगंज, नयागढ़, नयागाँव, नरसिंहपुरा (उज्जैन), नरसिंहपुर (उदयपुर), नरहन, नरही, नरेन्द्रपुर, नरेला, नवगाँव, नवटोल, नवरंगपुर, नलवा, नल्लजर्ला, नवादा, नवेगाँव, नागपुर, नागलपुर, नागवदर, नागौर, नाढ़ी, नाथनगर, नापासर, नारदीगंज, नारसनगुरुकुल, नावाडीह (शाहाबाद), नावाडीह (हजारीबाग), निकसी, निजामाबाद, निमियाँ, निर्मला, निवारी, नीभापुर, नेत्थला, नेपानगर, नेपालगंज, नेम्मिकुरु, नैकिन, नैनी, नैनीताल, नैमिषारण्य, नौगाँव, नौरंगपुर (इमलिया), पंगेड़ी, पंजवारा, पंडरपुर, पंखूड़ी,

पकरीडीह, पकौली, पचखेड़ा, पचपहाड़, पचरुखिया, पटना, पटियाला, पट्टीबाजार, पठानकोट, पड़री, पताही, पथराई, पथरिया जेंगन, पनगाँव, पनवासा बिकौरी, पनहास, पयागपुर नेहोरा, परली बैजनाथ, परवत्ता, परस, परसोड़ा, परसवाड़ा, परसा, परसागढ़ी, परसेड़ी, परसौनी, पलाशी, पवनी, पहिलागढ़, पाँगरखेड़, पाँडसरा, पाटण, पाटणवाव, पाडली, पाण्डेगाँव, पात्रपुर, पाताबोझ, पाथर्डी, पानुड़िया, पालकोंडा, पालगंज, पासुपुला, पिंगुली, पिपरिया, पीठड़, पीपरीगहरवार, पीपलवाड़ा (बहनोली), पीपलहेला, पीपाड़ सिटी, पीरोजपुर, पीलवा, पीलीभीत, पुआरखेड़ा फार्म, पुजारगाँव सकलाना, पुरशौलिया, पुसद्वा, पुवायाँ, पूना, पून्छ, पूरनपुर, पेन्डरा, पेराय, पेदाम्बे, पैडगुमल, पोखरेड़ा, प्रतापपुर, प्रयाग, फखरपुर, फगवाड़ा, फतेहगढ़, फतेहपुर, फरीदकोट, फरीदपुर, फरुखाबाद, फरेंदा शुक्ल, फलोदी, फागी, फाजिलका, फिल्लौर, फुलवरी, फुलहरी, फुलौत, फोरबीसगंज, बंगला, बंगीनोबाड़ी (गंजम्), बंगुरेकलाँ, बंधीसलइया, बँसपुरवा, बकेवर, बखेड़, बगलीकलाँ, बघला, बटारा, बड़कागाँव, बड़गाँव, बड़हिया, बड़ोद, बड़ोदा, बड़ौली, बदायूँ, बनकोई, बनगाँव, बनारसछावनी, बवाइचा, बमकोई, बमनिया, बमरौली, बमोरीबाटा, बम्बई, बरईगढ़, बरकापुर, बरघाट, बरवाखुर्द, बरहलगंज, बरियामऊ, बरेली, बलौदी, बसहा, बस्ती, बहराइच, बहूअरवा, बहेरा, बहेरियाकलाँ, बाकरपुर, बागलकोट, बाड़ी, बाड़ीमझेड़आ, बाबूगढ़, बामौरकलाँ, बारडोली, बारापुर, बाराबंकी, बालसमुन्द, बालगीर, बालापुर, बालामऊ, बावल, बावली, बासक, बिछुवाँ, बिजरौनी, बिजावर, बिजौलिया, बिनैका, बिरकोनी, बिरोल, बिल्गा, बिलग्राम, बिलहरी, बिलारा, बिलासपुर, बिसड़ा, बिसौली, बिहरा, बिहिया, बीकानेर, बीकापुर, बीनापाल, बीसलपुर, बुढ़लादा, बुढ़वाणी, बेंगलूर, बेगमपुर, बेगूसराय, बेतिया, बेनकनहल्ली, बेरी, बेलखरा, बेलवड़की, बेलाउर, बेलापुर खुर्द, बेलूरमठ, बेलूर-हासन, बेलोकलाँ, बेहटा ठाकुर नथईका, बेहटा बुजुर्ग, बैकुण्ठपुर, बैजनाथपुर, बैजनाथपुर मठ, बैजाग, बैतूल, बैरासिया, बैरी, बैलीपट्टी तलादोरा, बोगदा, बोटाद, बोड़ेगाँव, बोरियाडीह, बोहा, बौली, ब्यावरछावनी, ब्रह्मशीया, भटनी, भट्टीप्रोलु, भड़, भड़फोरी, भण्डारज बुजुर्ग, भदरा, भदवासी, भदोखर, भद्रावती, भमरहा, भरतपुर, भरौली, भवानन्दपुर, भवानीपुर जीराट, भवानीमण्डी, भवाली, भागीपुर, भाटापारा, भार्थू, भालेचड़ा, भालोद, भावनगर, भावलखेड़ा, भिडरी, भिलाई, भीकड़गाँव, भीकनपुर, भीमड़ास, भीलवाड़ा, भुज, भूसाकमलपुर, भूसावल, भृगुपुर, भृङ्गीनारी, भेदुरी, भैरावोड, भैरोपुर, भोजड़े, भोटा, भोपाल, भोरासा, भौंरासा, मंझरिया, मंडला, मंडाना, मकड़ाई, मकथल, मकुनाहि, मगरिया, मझवारी, मझोला, मझौलिया, मझौली, मझौवा, मदुकपुर, मड़कन, मण्डी डबवाली, मथुरा, मदनेश्वर, मदारीचक, मदुरा, मद्रास, मधुबनी, मनकापुर, मनमायो, मनमोहनगाँव, मन्दसौर, मन्नारगुडी, मानावदर, मानिकचौक, मनिगाँव, मनीछुपरा, मनेरमवैया, मलकापुर, मलकापुर (कोल्हापुर), मलवाड़ा, मलाड, मसौढ़ी, मस्की, महदिउरा, महराजगंज, महराजपुर, महरौनी, महापुर, महिषादल, महीपविगहा, महुआडन, महुआवा, महोली (बहराइच), महोली (सीतापुर), माटे, माणिकपुर, माधोगंज, माधोपुर गोविन्द, माधौपुर, मान्धाता ओंकारजी, मारवाड़ जंकशन, मार्तण्ड, मालवण, मितक्याचीवाड़ी, मिश्रिख, मीनावदा, मीरगंज, मीरजापुर, मीरपुर, मुंगेर, मुकन्दपुर, मुकपाल, मुकुन्दगढ़, मुकुन्दपुर, मुख्तापुर, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुजरा, मुड़खुसरा, मुड़गाँव, मुन्नीपल्लं, मुरादाबाद, मुरारपट्टी, मुसालिया, मुहम्मदाबाद गोहना, मूंदी, मूसी, मूड़री, मेंगराग्राम, मेंठिग्राम, मेरठ, मेड़तारोड, मोख, मोगलिया, मोटासिंझड़ा, मोतिहारी, मोथा, मोदीनगर, मैनपुरी, मैनाग्राम, मैसूर, मोरवन, मोरहाड़, मोहगाँव, मोहनदी, मौधिया, यावगल, यादवाड़, यावल, येवला, रकौली, रघुनाथपुर, रजपरी, रणापुर, रतनमनिया, रनजीतपुर, रनियाँ, रसलपुर, रसिदपुर, रसूलापुर, रसौली, रहावली उवारी, राँची, राघवपुर, राजकोट, राजनगर कोलियरी, राजपुर, राजमहेन्द्री, राजाखेड़ा, राजापुर, राजाभात टी० ई०, राजिम, राजोरी, राधनपुर, राधाउर, रानीखेत, रानीगाँव, रानीबाग, रामनगर (नैनीताल), रामनगर (मुजफ्फरपुर), रामपावेली, रामपिपरिया, रामपुर, रामपुर अंहरौली, रामपुरवा, रामपुर स्टेट, रामपुरी, रामानुजगंज, रायदुर्ग,

रायपुर, रावतपुर, रावाँ, रींवा, रीगा, रुड़की, रुड़की छावनी, रूढ़, रूदावल, रूपसागर, रूपाखेड़ा, रेंका, रेड़िया, रेनवाल, रोशनाबाद, रोहिणी, लक्ष्मणपुर, लखनऊ, लखीमपुर खीरी, लशाड़ी, लश्कर, लहरियासराय, लहरी तिवारी डीह, लहेजी, लाखागुडा, लालगढ़, लासलगाँव, लिम्बडी, लिलसी, लुधियाना, लोनार, लोनावलें, लोहार्दा, लोहीपुरा, लौकही, वड़गाँव, वडनगर, वनरझूला, वरईगढ़, वरवा छतरदास, वरुर, वर्हा, वाडिया, वान्दे धर्मपुर, वाराणसी, वारुड, विजवार, विष्नुपुर (नैपाल), वीरगाँव, वीरसिंहपुर, वृन्दावन, वेंग्वापेट, वेढ़ना लश्करीपुर, वेरमा, वेरावळ शहर, वैसाडीह, शंकरपुर, शकूराबाद, शमशाबाद, शमसाबाद (फतेहपुर), शरफुद्दीनपुर, शर्मिष्ठापुर, शशिपुर, शहरना, शहापुर, शापुर (सोरठ), शामपुर, शाहआलमनगर, शाहगढ़, शाहनगर, शाहपुर पट्टी, शाहपुर मगरौन, शिमला, शिलकोट, शिवपुरी, शुभगढ़, शूजापुर, शेंदुरवाड़ा, शेखपुरा, शेष्पुर, शैदापुर, शोजापुर, शोभनाथपुर, श्योपुरकलाँ, श्रीडूंगरगढ़, श्रीनगर, श्रीपुरम्, श्रीरामपुर, श्रीवैकुण्ठम्, संगारेड्डी, सकलोर, सठसोली, सडिला, सतसा, सन्ताहार दालपंटी (पाकिस्तान), सफराई, सम्बलपुर, समसाबाद, समस्तवती, समाना, समैला, समोज, सरधाना, सरवदेही, सरवतखनि, सरसवाँ, सरायमारुक, सरायहरखू, सरिया, सलइया, सलकिया, सवाई जयपुर, सवाई माधोपुर, ससनी, ससौला, सहजना, सहजपुर, सहसों, सहार, सहारनपुर, सांगला, सांगली, साकोल, सागर, सागोर, सादीपुर, सापित, सारंगपुर, सावरट, साहनपुर, सिंगरायपुर, सिंगापुर, सिंधिया, हीवन, सिंघोला, सिउनी, सिउनी-ग्राम, सिकन्दरा, सिक्रम, सिगदोनी, सिगारपुर, सिनापाली, सिमरी, सिम्भावली, सिरजगाँव बंड, सिरमौर, सिरसा, सिरसी, सिरीपुरम्, सिरोज, सिल्हेटी, सिलौट, सिलौड़ी, सिहोरा रोड, सीआनी (सौराष्ट्र), सीकर, सीतापुर, सीताबर्डी, सीतारामपुर, सुंवासरा, सुकमा, सुनीजा, सुन्दरपुरा, सुभवा, सुमेरपुर, सुरेन्द्रनगर, सुल्तानपुर, सुल्तानपुर घोष, सुवाणा, सुसंडा, सुहई साहपुर, सूरत, सूरतगढ़, सेंदरडा, सेखपुरवा, सेमरा बाज़ार, सेमरा वराशी, सेलोटपार, सैलवारा, सोंढ़ी, सोजतरोड, सोडपुर, सोनगाँव, सोनाली, सोमेश्वर, सोलापुर, सोहजना, सोहरिया, सोहागपुर, सौतियान, सौरेनी बाजार, स्वांगपुर (बेहटाधीरा), हंसकेर, हटनी, हथवानी, हनुमानगढ़, हमामपुर, हरदा, हरनगाँव, हरनवाड़ा, हरिपुर गौरीदास टोल, हरिपुर डीह टोल, हरिपुर माल टोल, हरिहरपुर, हरीगढ़, हृदयरामपुर, हृषिकेश, हलद्वानी, हल्दूचौड़, हसनगंज, हसनपुर सुगर मिल, हाटबोरा, हाथरस, हापुड़, हालदा, हिंगणी, हिण्डोरिया, हिरद विगहा, हीमगीर-रोड, हीरा भड़ोखर, हीरीसेव, हैदराबाद, होर्मा।

नाम-जप-विभाग—**'कल्याण'-कार्यालय**, गोरखपुर

उद्धवका गोपी-प्रेम

स्वर्ण रजत हीरक मौक्तिक माणिक्य लब्धि,
सबै वारि डारौं ब्रज-रज परसन मैं।
राज काज ताज साज लाज औ समाज आज,
धूरि सों बिखेरों हौं जमुना कछारन मैं॥
सिन्धु गहराई सबै छुद्र करि हेय मानौं,
धेनु की आँसुन भरी थिर पलकन मैं।
राजनीति अर्थनीति वेद दरसन सबै,
साँचौं झोंकि डारौं गोपिन के दरसन मैं॥

—श्रीनाथ मेहरोत्रा, 'भ्रान्त'

श्रीकृष्णजन्म-महोत्सव

[भाद्रपद कृष्ण ८, ६ सितम्बर, शनिवार, सं० २०१५ वि० को श्रीकृष्णजन्मभूमि मथुरामें श्रीकृष्ण-मन्दिरके उद्घाटन-महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण]

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥
नवीनजलदावलीललितकान्तिकान्ताकृति-
स्फुरन्मकरकुण्डलप्रतिमचारुगण्डस्थलम् ।
प्रफुल्लनलिनायतेक्षणमनुक्षणैकक्षणं
चकास्तु मम मानसं सदयकृष्णतत्त्वश्रिया ॥

सम्मान्य अध्यक्ष महोदय, पूज्यपाद साधु-महात्मा-विप्र-गुरुवृन्द और आदरणीय माताएँ-बहिनें !

भूमण्डलमें सबसे श्रेष्ठ और पवित्र देश है—भारतवर्ष। देवता भी इसमें जन्मग्रहण करनेके लिये लालायित रहते हैं। भारतवर्षमें सप्तपुरियाँ सर्वश्रेष्ठ और परम पवित्र हैं—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

इनमें भी स्वयं भगवान्‌की प्राकट्य-लीलास्थली होनेके कारण अयोध्या तथा मथुराकी विशेषता है। उपर्युक्त श्लोकमें सबसे पहले 'अजन्माकी जन्मभूमि' इन्हीं दोनों पावन पुरियोंके नाम देकर इनका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। पद्मपुराणमें मथुराका माहात्म्य बतलाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः
पुरीं मदीयां परमां सनातनीम् ।
सुरेन्द्रनागेन्द्रमुनीन्द्रसंस्तुतं
मनोरमां तां मथुरां सनातनीम् ॥
काश्यादयो यद्यपि सन्ति पुर्य-
स्तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या ।
यज्जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहै-
र्नृणां चतुर्द्धा विदधाति मुक्तिम् ॥

× × ×

बालकोऽपि ध्रुवो यत्र ममाराधनतत्परः ।
प्राप स्थानं परं शुद्धं यन्न युक्तं पितामहैः ॥
तां पुरीं प्राप्य मथुरां मदीयां सुरदुर्लभाम् ।
खञ्जो मुक्त्वान्धको वापि प्राणानेव परित्यजेत् ॥

'अहो ! कितने आश्चर्यकी बात है कि दूषित चित्तवाले मनुष्य मेरी इस उत्कृष्ट सनातन एवं मनोरम पुरीको, जिसकी देवराज इन्द्र, नागराज अनन्त और बड़े-बड़े मुनीश्वर भी स्तुति करते हैं, नहीं जानते। यद्यपि काशी आदि अनेक मोक्षदायिनी पुरियाँ हैं, तथापि उन सबमें मथुरापुरी ही धन्य है; क्योंकि यह अपने क्षेत्रमें जन्म, उपनयन, मृत्यु और दाहसंस्कार—इन चारों ही कारणोंसे मनुष्यको मुक्ति देती है। ध्रुवने बालक होनेपर भी जहाँ मेरी (भगवान्‌की) आराधना करके उस परम विशुद्ध धामको प्राप्त किया जो पितामह ब्रह्मा आदिको भी नहीं मिला। वह मेरी मथुरापुरी देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, वहाँ जाकर लँगड़ा-अन्धा मनुष्य भी प्राणोंका परित्याग करता है, तो उसकी भी मुक्ति हो जाती है।'

इस परम पावनी मथुरा नगरीमें कंसके कारागारका वह स्थान परम धन्य है, जहाँ सर्वलोकमहेश्वर, सर्वात्मा, सर्वमय और सर्वातीत योगेश्वरेश्वर स्वयं भगवान्‌का दिव्य प्राकट्य हुआ था और हम लोग भी परम धन्य हैं जो आज उनके दिव्य जन्म-महोत्सवके इस परम पावन धन्य दिवसपर—उसी परम पावन स्थानपर एकत्र होनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं, जहाँ उनका दिव्य जन्म हुआ था। हम कृतज्ञ हैं प्रातःस्मरणीय महामना मालवीयजीके तथा आदर्श चरित्र धर्मह्रदय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाके—जिनके उत्साह, लगन, सदाग्रह, अध्यवसाय, प्रयत्न तथा उदारतासे यह श्रीकृष्णजन्मभूमि पुनः श्रीकृष्णजन्मभूमिके गौरवको प्राप्त कर सकी। आरम्भसे लेकर अबतकके इसके कार्यसंचालक, इसकी समितिके उत्साही तथा कर्मठ सभी सदस्य समस्त देशवासियोंके कृतज्ञताके पात्र हैं, जिन्होंने इस पवित्र कार्यमें समय, सम्मति, सत्परामर्श, सहायता और साहस प्रदानकर देशका मुख उज्ज्वल किया है। मेरे सम्मान्य मित्र श्रीभगवानदासजी भार्गव तथा पं० देवधरजी शर्माका तो मैं विशेषरूपसे कृतज्ञ हूँ, जो वर्षोंसे अत्यन्त निर्भीकता,

बुद्धिमत्ता तथा उदारताके साथ सारे बाधा-विघ्नोंका सामना करते तथा उन्हें हटाते हुए इस श्रीकृष्णजन्मभूमिके महान् कार्यको आगे बढ़ा रहे हैं । और जिनकी कृपा तथा प्रेमभरे आग्रहसे मुझे सर्वथा असमर्थ एवं अयोग्य होनेपर भी आज यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है । पवित्र व्रजभूमिके पावन रजका स्पर्श करने, यहाँ इस महान् पवित्र कार्यमें सम्मिलित होने तथा आप सबके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करनेमें मेरे सम्मान्य स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजीका प्रेमभरा व्यक्तिगत आवाहन भी कारण है, अतएव मैं उनका भी हृदयसे कृतज्ञ हूँ ।

श्रीकृष्णजन्मभूमि-उद्धारके इस महान् कार्यसे 'देशका मुख उज्ज्वल' हुआ है । किसी एक पद्धतिसे होनेवाली पूजास्थलीको तथा किसी अवतार अथवा महापुरुषके जन्म या लीला-स्थलको बलात्कारसे हस्तगत करके उसपर अपना अधिकार जमाना पाप है और ऐसा अधिकार जबतक रहता है, तबतक वह कलङ्क, वह पाप, उस पापकी स्मृति तथा तज्जन्य रागद्वेष बना रहता है । यहाँका यह पाप-कलङ्क मिटनेसे देशका मुख यथार्थमें ही उज्ज्वल हुआ । कुछ दिनों पहलेतक हमारे देशमें 'पर-राज्य' था—अब 'स्व-राज्य' है । इस समय तो ऐसा एक भी कलङ्क नहीं रहना चाहिये। सोमनाथ मन्दिरका पुनरुद्धार स्वर्गीय सरदार पटेल महोदयके पावन प्रयत्नसे हुआ । ऐसे ही श्रीकाशीके पवित्र मन्दिर, अयोध्यापुरीके पावन-स्थान, सिद्धपुरका मन्दिर तथा अन्यान्य सभी पवित्र स्थानोंका उद्धार होना चाहिये । हमारे मुसलमान भाइयोंको चाहिये कि वे स्वतन्त्र देशके नागरिकोंकी दृष्टिसे देशपर लगे इन पाप-कलङ्कोंके जितने स्मारक हैं, उन सबको पुण्य-दर्शन बना दें । हिंदू अपने धर्म-स्थानोंपर उपासना करें, मुसलमान अपने स्थानोंपर, इसी प्रकार सभी अपने-अपने पवित्र स्थानोंपर निर्विघ्नतासे पूजा करें, तभी देशकी शोभा है, तभी राज्यकी शोभा है । आजकल—गरीबोंकी गरीबीका लाभ उठाकर ईसाई प्रचारक देशमें जहाँ-तहाँ बड़े जोरसे ईसाई-मतका प्रचार कर रहे हैं । कहीं-कहीं कई मतोंके लोग मन्दिर-मूर्ति आदिका ध्वंस कर रहे हैं—यह देशपर पाप-कलङ्क है । भगवान् दो नहीं हैं, वे सभीके हैं; हिंदूके भी, मुसलमानके भी, ईसाई-पारसीके भी तथा अन्यान्य सभीके भी । मान्यता तथा पद्धति भिन्न-भिन्न हैं तथा अपनी-अपनी पद्धतिसे सबको निर्दोष पूजा करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये । इसीलिये ऐसे स्थानोंके उद्धारकी परम आवश्यकता है, जिनपर दूसरी पद्धतिवालोंने बलात्कार अधिकार कर रक्खा है और जो उस पापके स्मारक रूपमें विद्यमान हैं !

हमारे श्रीकृष्ण तो ऐसे हैं कि उनकी ओर जिनकी दृष्टि गयी, वही अपनी सुध-बुध भूलकर लट्टू हो गया। अपने सम्प्रदायमें रहते हुए ही श्रीकृष्णका प्रेमी बन गया। ऐसे अनेकों मुसल्मान महानुभाव हुए हैं और आज भी हैं । उनमेंसे कुछके उद्गार मैं यहाँ आपको सुना रहा हूँ । यूरोपियन बहुत-से भक्त-हृदय नर-नारी ऐसे हैं जो श्रीकृष्णके चरणोंमें अपना सब कुछ न्योछावर कर प्रेमभिखारी बने हुए हैं । ऐसे वर्तमानके कई मुसल्मान, यूरोपियन भाग्यशाली नर-नारियोंसे मेरा परिचय है । अब कुछ उद्गार सुनिये—

रहीमजी श्यामसुन्दरकी छबिको चित्तसे टाल ही नहीं सकते । वे गाते हैं—

कमल-दल नैननि की उनमानि ।
बिसरत नाहिं मदनमोहन की मंद-मंद मुसुकानि ॥
दसनन की दुति चपलाहू ते, चारु चपल चमकानि ।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा-पगी बतरानि ॥
चढ़ी रहै चित हिय बिसाल की मुक्तमाल लहरानि ।
नृत्य समय पीताम्बरकी वह फहरि-फहरि फहरानि ॥
अनुदिन श्रीबृंदाबन ब्रज में आवन-जावन जानि ।
छबि रहीम चित ते न टरति है, सकल स्याम की बानि ॥

वाहिद नन्दनन्दनपर निरन्तर लगन रहनेकी शुभकामना करते हैं—

सुंदर सुजानपर, मंद मुसुकानपर,
बाँसुरी की तानपर ठौरन ठगी रहै ।
मूरति बिसालपर, कंचन की मालपर,
खंजन-सी चालपर खौरन खगी रहै ॥
भौंहें धनु मैनपर, लौने युग-नैनपर,
सुद्धरस बैनपर वाहिद पगी रहै ।
चंचल से तनपर, साँवरे बदनपर,
नंद के नँदनपर लगन लगी रहै ॥

रसिक रसखानजी तो पशु-पक्षी-पत्थर बनकर भी कन्हैयाके दास रहना चाहते हैं—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं मिलि गोकुल गाँवके ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरौ चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ॥

पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो सिर छत्र पुरंदर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं वहि कालिंदी कूल कदंबकी डारन ॥

नजीर जय बोलते-बोलते नहीं थकते—

तारीफ करूँ मैं अब क्या-क्या उस मुरली-धुनके बजैया की,
नित सेवा-कुंज फिरैया की और बन-बन गऊ चरैया की ।
गोपाल बिहारी बनवारी दुख-हरना मेहर-करैया की,
गिरधारी सुंदर स्याम बरन और पंदड़ जोगी भैया की ।
यह लीला है उस नंद-ललन मनमोहन जसुमति-छैया की,
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जै बोलो कृष्ण कन्हैया की ॥

देवी ताज तो सब कुछ सहकर उनकी बनी रहना चाहती हैं—

सुनो दिलजानी, मेरे दिलकी कहानी
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं ।
देवपूजा ठानी, औ निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा-कुरान सारे, गुनन गहूँगी मैं ॥
साँवला, सलोना, सिरताज सर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दाघ में निदाघ हो दहूँगी मैं ।
नंद के कुमार, कुरबान ताँड़ी सूरतपर
ताँड़े नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं ॥

ये भक्त तो हर शैमें उन्हींका नूर देखते हुए उनके कदमोंमें ही बसे रहना चाहते हैं—

जहाँ देखो वहाँ मौजूद, मेरा कृष्ण प्यारा है,
उसीका सब है जल्वा, जो जहाँमें आशकारा है ॥
तेरा दम भरते हैं हिंदू अगर नाकूस बजता है,
तुम्हींको शेखने प्यारी, अजाँ देकर पुकारा है ।
न होते जल्वागर तुम तो, यह गिरिजा कबका गिर जाता,
निसारी को भी तो आखिर, तुम्हारा ही सहारा है ॥
तुम्हारा नूर है हर शै में, कोसे कोह तक प्यारे,
इसीसे कहके हरि-हर तुमको हिन्दूने पुकारा है ।
गुनह बख्शो, रसाई दो, बसा लो अपने कदमोंमें,
बुरा है या भला है, जैसा है प्यारा तुम्हारा है ॥

हज़रत नफ़ीस खलीलीने तो कन्हैयाकी छविपर अपना दिल ही उड़ा दिया है—

कन्हैयाकी आँखें हिरन-सी नसीली ।
कन्हैयाकी शोखी कली-सी रसीली ॥
कन्हैयाकी छवि दिल उड़ा लेनेवाली ।
कन्हैयाकी सूरत लुभा लेनेवाली ॥
कन्हैयाकी हर बातमें एक रस है ।
कन्हैयाका दीदार सीमीं कफ़स है ॥

इसीलिये तो हिन्दी-साहित्य-गगनके शरदिन्दु श्रीभारतेन्दुने कहा—

'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदुन वारिये ।'

पर ये हरिके जन मुसल्मान क्या करते, बेचारे लाचार थे । उस साँवरे-सलोनेकी छविमाधुरीमें ऐसा ही जादू है; जिसने इस ओर भूले-भटके भी निहार लिया, वही लुट गया । इसीलिये तो यह घोषणा की गयी—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस राह मत जाना, वह रास्ता बड़ा ही भयावना है । वहाँ अपने नितम्ब-बिम्बपर हाथ रक्खे जो तमाल-सरीखा नीलश्याम धूत बालक खड़ा है, वह अपने समीप होकर जानेवाले किसी भी पथिकका चित्तरूपी धन लूटे बिना नहीं छोड़ता ।'

इन्हीं सर्वजन-मन-मोहन श्रीकृष्णका उन्हींकी पुण्य-जन्मस्थलीमें आज पुनः प्राकट्य हो रहा है, यह हमारे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है ।

श्रीकृष्णका स्वरूप

अब—'श्रीकृष्ण क्या हैं ?' यह प्रश्न रहता है और यह सदा बना ही रहेगा; क्योंकि असीम-अनन्तकी सीमा कौन बता सकता है और कौन उनके स्वरूपका अन्त पा सकता है ? वे सब कुछ हैं, सब कुछसे परे हैं, सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं । अनन्त, असीम, अलौकिक, लौकिक, विरुद्ध धर्म-गुणोंका उनमें एक ही समय पूर्ण प्रकाश है । उनको जो जिस दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें वे वैसे ही दिखायी देते हैं । उनकी कल्पनासे नहीं, वे सब समय सभी कुछ हैं ही । भावुक भक्तोंकी बात छोड़िये—महात्माजीके साथी और अनुयायी प्रसिद्ध बुद्धिवादी श्रीकाका कालेलकरजीने लिखा है—

'XXX श्रीकृष्णने आर्यजनताको अधिक अन्तर्मुख बनाया है, अधिक आत्मपरायण बनाया है । भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और संन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और ज्ञान, इहलोक और परलोक इत्यादि सब द्वन्द्वोंका

विरोध ध्यास-रूप है; सबमें एक ही तत्त्व रहा है, अपने जीवन और उपदेशसे श्रीकृष्णने यह बात सिद्ध करके बता दी है। आर्यजीवनपर अधिक-से-अधिक प्रभाव तो श्रीकृष्णका ही है, फिर भी इस प्रभावका स्वरूप ठहराना कठिन है। जिस प्रकार अत्यन्त सरल भाषामें लिखी गयी भगवद्गीताके अनेक अर्थ किये गये हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके जीवनमें विद्यमान रहस्यका भी विविध प्रकारसे वर्णन होता रहा है। ×××महाभारतके श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण, गीतगोविन्दके श्रीकृष्ण, चैतन्यमहाप्रभुके श्रीकृष्ण और तुकाराम बुवाके श्रीकृष्ण एक होते हुए भी भिन्न हैं। आजकलके जमानेमें भी नवीनचन्द्र सेनके श्रीकृष्ण, बङ्किमचन्द्रके श्रीकृष्णसे भिन्न हैं। गाँधीजीके श्रीकृष्ण तिलकके श्रीकृष्णसे जुदा हैं और श्रीअरविन्दके श्रीकृष्ण तो सबसे ही न्यारे हैं। ऐसे सुलभ और दुर्लभ, एक और अनेक, रसिक और वैरागी, बागी और संग्राहक, प्रेमिल और निष्ठुर, मायावी और सरल श्रीकृष्णकी जयन्ती किस प्रकार मनायी जाय, यह ठहराना बड़ा कठिन है—× × ×'

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके मूल अवतारी, चतुर्व्यूहमें सर्वप्रथम भगवान् वासुदेव, समस्त भगवत्स्वरूपोंके अंशी, ब्रह्मकी प्रतिष्ठा, सर्वेश्वरेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर, निर्गुण—स्वरूपभूतगुणमय, निराकार–भौतिक आकाररहित, परमेश्वर, अचिन्त्यानन्त-सद्गुण-समुद्र, सर्वगुणमय, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वात्मा, सर्वजीवप्राण, अखिलप्रेमामृतसिन्धु, षोडशकलापूर्ण, षडैश्वर्यसम्पन्न, हानोपादानरहित नित्य सत्य दिव्य चिन्मय भगवद्देहरूप, दिव्य सच्चिदानन्द प्रेमघनमूर्ति पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं, ऐसा विभिन्न शास्त्रोंमें, वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र तथा ऋषि-मुनिरचित एवं अनुभवी महात्माओंके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें बार-बार कहा गया है। इसके अतिरिक्त उनमें ऐसे सभी भावों तथा गुणोंका विकास है, जो कहीं भी एक स्थानपर नहीं मिलता। समस्त विभूतियाँ, समग्र जगत् उनके एक ही अंशमें स्थित हैं—**'एकांशेन स्थितो जगत्।'** उनमें 'पूर्ण मानवता' एवं पूर्ण भगवत्ताका युगपत् प्रकाश है तथा वे 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस'के मूर्तिमान् विग्रह हैं। जड तथा चेतन उन्हींकी प्रकृति है, क्षर-अक्षर उन्हीं पुरुषोत्तमके आश्रित हैं। महाभारत आदिपर्व (अध्याय ६३, श्लोक ९९ से १०४) में श्रीकृष्णके प्राकट्यका वर्णन करते हुए कहा गया है—

'विश्ववन्दित महायशस्वी भगवान् जगत्के जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये वसुदेवजीके द्वारा श्रीदेवकीजीसे प्रकट हुए। वे भगवान् आदि-अन्तसे रहित, द्युतिमान्, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता और प्रभु हैं। वे ही अव्यक्त, अक्षरब्रह्म और त्रिगुणात्मक प्रधान हैं। वे आत्मा, अव्यय, प्रकृति (उपादान), प्रभव (उत्पत्तिकारण), प्रभु (अधिष्ठाता), पुरुष, विश्वकर्मा, सत्त्वगुणसे प्राप्त होने योग्य, प्रणवाक्षर, अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, पर, अविनाशी, कैवल्य, निर्गुण, विश्वरूप, अनादि, जन्मरहित और अविकार हैं। वे सर्वव्यापी, परमपुरुष परमात्मा, सबके कर्ता और सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं। उन्होंने ही धर्मके संवर्धनके लिये अन्धक और वृष्णिकुलमें बलराम और श्रीकृष्णरूपमें अवतार लिया था। वे दोनों भाई सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, महापराक्रमी और समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण थे।' इससे भी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं यह सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण सर्वगुण-सम्पन्न पूर्ण पुरुष

भगवान् श्रीकृष्ण परमयोगी, योगसिद्ध, योगेश्वर महापुरुष हैं। इसके अनेक प्रमाण हैं। वे वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण करनेवाले थे तथा नित्य नियमित विहित कर्मानुष्ठान करते थे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर आत्मध्यान, स्नान, संध्योपासन, सूर्योपस्थान, देवर्षि-पितृ-तर्पण तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे। वे महादानी थे। प्रतिदिन वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित ८४०१३ दुग्धवती गौओंका दान करते थे। माता-पिताकी सेवा करते थे। गुरुसेवक थे। ब्रह्मण्य थे—भक्ति-श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। महान् ऋषियों, मुनियोंके द्वारा सुपूजित थे। सर्व-ज्वरहारी थे—इन्द्रका शक्ति-गर्वज्वर, ब्रह्माका ज्ञान-गर्वज्वर, राजाओंका बलगर्वज्वर उन्होंने अनायास हरण कर लिया था। वे लोकनायक थे। स्वयं आप्तकाम पूर्णकाम होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये आदर्श शुभकार्य किया करते थे। वे सदा निष्काम थे। अत्याचारी राजाओंका ध्वंस किया पर स्वयं कहीं भी राज्य ग्रहण नहीं किया। वे ममता-शून्य थे, गान्धारीके द्वारा अपने विशाल परिवारके विनाशका शाप सुनकर प्रसन्न हुए थे। वे लोक-सेवक तथा दीन-दुर्बलोंके बन्धु थे। दुष्टोंका नाश करके उन्हें अपने परमधाममें पहुँचाना उनका सहज कर्म था। उनकी दीर्घ आयुका प्रत्येक दिन नहीं तो, प्रत्येक सप्ताह धर्मसंस्थापनार्थ युद्ध करने तथा दुष्टोंका दमन करनेमें ही बीता।

जिस समय वे अवतीर्ण हुए, उसी समयसे उनका यह दुष्टोद्धार कार्य आरम्भ हो गया था। जिस समय वे नंग-धडंग बालक थे, उसी समय पूतना, शकटासुर, तृणावर्त आदि असुरोंको उन्होंने अमरधाम पहुँचा दिया था। गोकुल-वृन्दावनमें ग्यारह वर्षतक गौएँ चरायीं। ग्वाल-सखाओंके साथ धमा-चौकड़ी मचायी, गोपबालकोंके साथ विविध विचित्र लीलाएँ कीं, निभृत-निकुञ्जोंमें रसकी नदियाँ बहायीं; पर उस समय भी वे असुर-राक्षसोंकी चटनी बनानेसे नहीं चूके। पता नहीं, कहाँसे बलका भण्डार उनमें आ गया। शिक्षाप्राप्त करने उज्जैन तो कंस-वधके बहुत दिनों बाद गये थे। परंतु मुष्टिक-चाणूरका चूरन तो इससे पहले ही बना दिया। कूट-शल-तोशलको तिनकेकी ज्यों तोड़ दिया तथा कुवलयापीड़ एवं सहस्र-सहस्र हाथियोंके बल रखनेवाले मामा कंसका कचूमर निकाल दिया। सारा बल तो इन्हींसे आता है। फिर इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है?

श्रीकृष्ण बड़े अद्भुतकर्मा हैं। उन्होंने अपने जीवनमें बड़े-बड़े अद्भुत कार्य किये। सबसे पहले कंसके कारागारमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अमित तेजस्वी, सर्वालङ्कारविभूषित अद्भुत चतुर्भुज रूपमें प्रकट हुए; फिर पूतनावध, कुबेर-पुत्रोंका उद्धार, ब्रह्माजीका मोहभंग, दावानल-पान, गोवर्धनपूजन तथा गोवर्धन-धारण, इन्द्रगर्वहरण, वरुणलोकमें पूजा, गोपोंको ब्रह्म तथा परमधामका दर्शन कराना, रासलीला—दो-दो गोपियोंके बीचमें एक-एक स्वरूप प्रकट कर देना, सुदर्शनका उद्धार, शङ्खचूडका उद्धार, मथुराके मार्गमें अक्रूरको भगवद्दर्शन कराना, कुब्जाको सीधी करना, कंसके दरबारमें अनेक रूप दिखाना, मृत गुरुपुत्रको लाना, नृगका उद्धार, ऋषियोंका स्तवन स्वीकार करना, मृत देवकी-पुत्रोंको लाना, मिथिलामें एक ही साथ विविधरूप धारण करना, द्रौपदीका चीर बढ़ाना, एक पत्ता खाकर सशिष्य दुर्वासाका पेट भर देना, व्रजमें माताको, कौरवसभामें दुर्योधनादिको, रणक्षेत्रमें अर्जुनको तथा द्वारका लौटते समय उत्तङ्कको विविध विचित्र विराट्रूप दिखलाना। अर्जुनको दिखाये गये विराट्रूपमें भविष्यके चित्र—भीष्म-द्रोणादिके उत्तमाङ्गोंका कालके विकराल दाढ़ोंमें चूर-चूर दिखला देना, जयद्रथवधके समय सूर्यको अकालमें ही छिपा देना, उत्तराके गर्भमें मरे हुए परीक्षित्को जिला देना, नारदको प्रत्येक महलमें दर्शन देना तथा त्रिभुवनमोहन दिव्यविग्रहका इस शरीरसे ही परमधाम पधारना—आदि सभी अद्भुत कर्म हैं।

श्रीकृष्णकी नृत्यकला-निपुणता भी अद्भुत ही है। शिवनृत्य 'ताण्डव' और पार्वतीनृत्य 'लास्य' कहलाते हैं। परंतु श्रीकृष्णका रासमण्डलका नृत्य सर्वथा निराले ढंगका है और क्रोधोन्मत्त भीषण विषधर भुजङ्गमके भयानक फणोंपर नृत्य करना तो नृत्यकलाकी पराकाष्ठा है। कैसी शरीर-साधना, चरण-लाघवता और विचित्र मनोयोग है। संगीतमें चार मत—१. नारदमत संगीत, २. भरतमत संगीत, ३. हनुमन्मत संगीत और ४. श्रीकृष्णमत संगीत प्रसिद्ध हैं। इनमें सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण तथा कठिन है—श्रीकृष्णमत सङ्गीत।

सङ्गीतशास्त्रके तो श्रीकृष्ण महान् आचार्य हैं। इनकी मुरलीकी मधुर-ध्वनि चतुर्दश भुवनोंको मोहित करती थी। इस मुरली-ध्वनिने ही कोटि-कोटि व्रजसुन्दरियोंको सब कुछ विस्मृत करा दिया था और वे रात्रिके समय आकर्षित होकर श्यामसुन्दरके पास चली आयी थीं। देवर्षि नारद-जीने दो वर्षतक इनकी पटरानी श्रीजाम्बवती और सत्यभामाके निकट सङ्गीत-शास्त्रका अभ्यास किया था, तदनन्तर दो वर्षतक श्रीरुक्मिणीजीसे सङ्गीतकी शिक्षा प्राप्त करके पूर्ण निपुणता लाभ की थी। जिनकी रानियाँ नारदजी-जैसे प्रसिद्ध सङ्गीतशिक्षार्थीको सङ्गीतकी परमोच्च शिक्षा दे सकती हैं, उनका अपना सङ्गीतशास्त्रका ज्ञान कितना अगाध होगा।

श्रीकृष्ण सच्चे आदर्श मित्र थे। राग-द्वेषसे सर्वथा रहित होकर भी वे कहते थे—'अर्जुनके शत्रु मेरे शत्रु हैं और उसके मित्र मेरे मित्र हैं।' उन्होंने सात्यकिसे कहा—मैं अपने माता-पिताकी, तुमलोगोंकी, भाइयोंकी तथा अपने प्राणोंकी रक्षा करना भी उतना आवश्यक नहीं समझता जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना समझता हूँ—

न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा।
न च प्राणास्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे॥

वृन्दावनमें तो हजारों ग्वालबालोंके सखा बनकर रहे ही। उनसे निःसंकोच बर्ताव किया-कराया, खेलमें हारकर उनके घोड़े बनकर उन्हें पीठपर चढ़ाया। द्वारकामें द्वारकाधीश होनेके बाद भी सुदामा-सरीखे निर्धन ब्राह्मणको गले लगाया, अपने प्रेमाश्रुओंसे उसके चरण धोये। उसके पैर दबाये, उसके चरणामृतसे महलोंको पवित्र किया और उसके लाये हुए फर्शपर बिखरे चिउरोंके दानोंको

बटोरकर खड़े-खड़े ही खा गये तथा उनका स्वाद बताते हुए नहीं थके।

श्रीकृष्ण सच्चे गोसेवक थे। बरसों गायोंके पीछे-पीछे वन-वन भटके, उनकी सेवा की, उन्हें प्यार दिया, उनका प्यार लिया। उनका दूध पिया और उनको अपना स्वरूप दे दिया।

श्रीकृष्ण घोड़ा हाँकनेकी कलामें परम निपुण थे। इन्हींके अश्व-संचालन-कौशलने भीष्म, द्रोण, कर्णादिके भीषण बाणोंसे अर्जुनको सदा बचाया था। इनके सारथीपनकी कुशलताको देखकर दोनों ओरकी सेनाके सभी प्रमुख योद्धा चकित हो गये थे। श्रीकृष्ण परम नीतिज्ञ, राजनीति-विशारद, कूटनीतिके परम ज्ञाता थे। इन्होंने युद्धमें समय-समयपर पाण्डवोंको नीति-शिक्षा देकर महान् विपत्तियोंसे बचाया था। इस कार्यमें इनकी निपुणता प्रसिद्ध ही है। श्रीकृष्ण बहुत बड़े वाग्मी थे। इनके भाषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते थे। जब ये दूत बनकर कौरव-दरबारमें गये थे, तब बहुत बड़े बूढ़े ज्ञानी ऋषि-मुनि इनके भाषण सुननेके लिये बड़ी दूर-दूरसे वहाँ पधारे थे।

श्रीकृष्णकी शरणागत-वत्सलता प्रसिद्ध है। इन्होंने अनन्यशरणमें आये हुए पुरुषके समस्त पापोंके नाश करनेका जिम्मा लेनेकी खुली घोषणा की है।

श्रीकृष्ण बड़े ही विनोदी हैं, बालकपनमें ग्वाल-बालोंके साथ, गोप-सुन्दरियोंके साथ इनका विनोद चलता था। रुक्मिणीजीसे एक दिन ऐसा विनोद किया कि उनको मूर्छा आ गयी। भीमसेनके साथ इनका हँसी-मजाक खूब चलता था। इनके स्वभावमें ही विनोदप्रियता थी। ये सदा ही हँसमुख ही रहते थे।

इनकी रसिकता परम प्रसिद्ध है। ये स्वयं रसरूप हैं। रसराज हैं। रसपूर्ण हैं। इनका व्रज रसपूर्ण है; माता-पिता रसपूर्ण हैं, सखा-मित्र रसपूर्ण हैं, गोप-रमणियाँ तो रसकी अनन्त सुधासागर ही हैं। करोड़ों-करोड़ों भाग्यवान् नर-नारी इन रसराजकी रसोपासनासे अपनेको धन्य कर चुके हैं।

श्रीकृष्ण जगद्गुरु

अब थोड़ा-सा इनके 'जगद्गुरु' रूपपर विचार करें। वैसे तो ये स्वरूपसे ही नित्य जगद्वन्द्य जगद्गुरु हैं। पर इनकी 'गीता' ऐसी विचित्र वस्तु है कि उसने समस्त विश्वको सदाके लिये इनका शिष्य बना दिया है। इनकी भगवद्गीता अनन्त अर्थमयी है। जो जिस भावसे उसे देखता है, उसको वही भाव गीतामें मिल जाता है तथा गीतासे ही उसका कार्य सफल होता है। बंगालके क्रान्तिकारी त्यागमूर्ति नवयुवकोंके एक हाथमें बम तथा दूसरेमें गीता रहती थी। बड़े-बड़े धनी गृहस्थोंका पथ-प्रदर्शन गीता करती है और अरण्यवासी सर्वत्यागी विरक्त संन्यासीको भी गीता ही मार्ग-दर्शन कराती है। शासनभारके उत्तरदायित्वको लिये हुए राजपुरुष-भी गीताकी शरण लेते हैं और त्यागी-संन्यासी भी गीतासे ही प्रकाश प्राप्त करते हैं। गीताके हजारों भाष्य, अनुवाद विविध भाषाओंमें हैं और अभी हुए ही चले जा रहे हैं। गीतामें ही सबको अपने सिद्धान्तका मूल दिखलायी देता है। सांख्य, योग, वेदान्त, उपासना, राजनीति, समाज-नीति सभीके मूल तत्त्व, सरल संक्षिप्त व्याख्यासहित इसमें हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, कर्मसंन्यास, नैष्कर्म्य, सर्व-धर्म-संन्यास, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सभी मतोंके माननेवाले आचार्यों तथा उनके अनुयायियोंने गीतासे ही अपने मतकी पुष्टि की है। 'प्रस्थानत्रयी'में गीताके बिना काम नहीं चलता। आज भी विद्वानों एवं राजनीतिक महारथियोंका तथा अन्य क्षेत्रके लोगोंका भी काम गीताके बिना नहीं चलता। लोकमान्य तिलक महाराजने कारागारमें गीतापर 'गीतारहस्य' नामक विशाल भाष्य लिखा। महात्मा गाँधीजीने 'अनासक्ति-योग' लिखा, संत बिनोवाने 'गीताप्रवचन' लिखा, श्रीजयदयालजीने 'गीता-तत्त्वविवेचनी' टीका लिखी। न मालूम कितने ग्रन्थ और लिखे गये तथा लिखे जा रहे हैं। कितने पद्यानुवाद हुए तथा हो रहे हैं। अभी-अभी हमारे डॉ० श्रीहरिवंशरायजी बच्चन—हिंदीके प्रसिद्ध कविने अवधी भाषामें 'जनगीता' लिखी है, जो दिल्लीसे प्रकाशित हुई है। अबतक अनेकों ऋषि, महर्षि, आचार्य, कवि मनीषी हो गये, परंतु रणक्षेत्रमें सारथीके रूपमें हाथमें चाबुक लिये और घोड़ोंकी लगाम थामे रथपर बैठे श्रीकृष्णने कही गयी इस छोटी-सी गीताकी जैसी कोई भी पुस्तक आजतक नहीं निकली। प्रातःस्मरणीय आचार्य श्रीशंकराचार्य सदृश संसारके सर्वमान्य अद्वितीय दार्शनिक महापुरुषने भी गीताकी शरण ली और अपने मतको गीताके अनुकूल सिद्ध करनेमें ही अपने सिद्धान्तकी सफलता समझी। ईश्वर न माननेवाले श्रीशङ्कराचार्यने गीताकर्ता श्रीकृष्णको

को अपने गीताभाष्यमें 'मूर्ख' कहा है। और उन्हींके अनुयायी श्रीमधुसूदन सरस्वतीने तो 'वंशीविभूषितकर' श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य तत्त्वके जाननेसे भी इन्कार कर दिया और यह स्पष्ट कह दिया कि 'जो लोग श्रीकृष्णके प्रमाणित माहात्म्यको नहीं सहन कर सकते, वे नरकगामी होंगे।'

वर्तमान युगके असंख्य देशी-विदेशी प्रसिद्ध विद्वानोंने, जिनमें लोकमान्य तिलक, श्रीअरविन्द, महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा थारो, सर एडविन आरनाल्ड, श्रीआगस्ट् विल्हेल्म वान श्लीगल, श्रीविल्हेल्म वान हुम्बोल्ट, श्री जे० एम्० फर्क्यूहर, श्रीएफ० टी० ब्रुक्स आदि अनेकों नाम गिनाये जा सकते हैं—गीताकी महान् प्रशंसा की है और उसको अपना पथ-प्रदर्शक माना है।

जननेता और सुधारक

यह सब कुछ होनेके साथ ही श्रीकृष्णको 'पूँजीपति कंस' तथा उसके अनुयायियोंके विरोधी 'जननेता' भी कह सकते हैं, जिन्होंने महान् क्रान्ति करके अत्याचारीका सपक्ष विनाश किया और उग्रसेनको राजा बनाकर मानो जन-राज्यकी स्थापना की तथा देशको आसुरी अधिकारसे मुक्त किया। श्रीकृष्ण 'समाजसुधारक' भी हैं। उन्होंने गोवर्धन-पूजाकी नयी प्रथा चलायी। और भी बहुत सुधार किये और दृढ़ताके साथ उनका पालन किया-कराया। गरीबोंके साथ मिलकर रहनेमें उनको सदा ही आनन्द आता था। इससे भी वे गरीबोंके बन्धु माने जाते हैं।

स्त्री-जातिके रक्षक

वे स्त्रीजातिके भी बड़े रक्षक थे तथा उनका सम्मान करते थे। व्रजकी गोपरमणियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। एक बड़ी विचित्र घटना है। प्राग्ज्योतिषपुरमें १६००० राजकन्याएँ कैद थीं। श्रीकृष्णने भौमासुरका वध करके उन कन्याओंको छुड़ाया। पर उनसे अब विवाह कौन करता? अतः श्रीकृष्णने उन सब कन्याओंपर दया करके उन्हें अपनाया तथा स्वयं उनको अपनी रानी बनाना स्वीकार किया।

तामस भावोंकी भी सुन्दर अभिव्यक्ति

श्रीकृष्णके अनन्त सद्गुण हैं, उनका वर्णन कौन कर सकता है। पर जब वे पूर्ण मानव हैं; पूर्ण भगवान् हैं, तब उनमें 'तामसी' कहे जानेवाले भावोंका भी समावेश होना चाहिये; वे स्वयं ही कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि………………॥

'जितने भी सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं–सब मुझसे ही होते हैं–ऐसा जानो।'–तब बेचारे ये राजस, तामस भाव कहाँ जायँ? सो राजस भाव तो प्रवृत्तिमें है ही। तामस भावोंमें काम, क्रोध, लोभ, भय, चोरी, परपीड़न, मिथ्याभाषण आदि माने जाते हैं। अतः श्रीकृष्णमें भी काम है—वे अपने भक्तोंकी–प्रेमियोंकी सदिच्छा पूर्ण करनेकी सदा कामना करते हैं। यह उनका 'काम' है। बाललीलामें गोदसे उतार देनेपर मातापर क्रोध करते हैं तथा दहीका मटका फोड़ डालते हैं यह 'क्रोध' है। राक्षसों-असुरोंपर क्रोध करके वधके द्वारा उनका उद्धार करते हैं, यह भी 'क्रोध' है। यशोदा मैयाका स्तन-पान करनेसे कभी अघाते ही नहीं, और प्रेमीजनोंको सुख देनेसे कभी तृप्त होते ही नहीं, यह उनका 'लोभ' है। माताकी छड़ी तथा लाल आँखें देखकर भयभीत हो आँखोंमें आँसू भर लेते हैं–और भाग छूटते हैं, यह उनका 'भय' है। अपनी जादूभरी तिरछी नजरसे देखकर और मुरली-ध्वनि सुनाकर—सबके चित्तवित्तकी नित्य चोरी करते रहते हैं, यह उनकी 'चोरी' है। अथवा गोपीजनोंके मनमें जब श्रीकृष्णको माखन खिलानेकी नयी पद्धति आती है और वे यह चाहती हैं कि श्रीकृष्ण हमारे घरोंमें चोरीसे आकर घुस जायँ और हम उन्हें देखती रहें—इस प्रकार उनके मनोंमें इच्छा उत्पन्न करके उन्हींकी इच्छापूर्तिके लिये उनके घरोंसे माखन चुराकर खाना भी 'चोरी' है। प्रेमियोंको चिर-कालतक विरह-यातनाका सुख देते रहते हैं, यह उनका 'परपीडन' है। और प्रेमरसकी वृद्धिके लिये वाक्छल करना–'मिथ्याभाषण' है। **अथवा स्वयं स्वरूपतः कुछ भी नहीं खानेवाले होनेके कारण मैयासे कहते हैं 'मैंने मिट्टी नहीं खायी'–यह भी मिथ्या भाषण है।**

उपसंहार

श्रीकृष्णके अनन्त गुणोंका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। हमारा बड़ा सौभाग्य है कि जिस भारतभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए, उसीमें आज हम भी जीवन धारण कर रहे हैं और तुच्छ मच्छरके अनन्त आकाशमें उड़नेके सदृश उनके गुण-गानका प्रयास कर रहे हैं। आप लोगोंने मुझको कृपापूर्वक यह सौभाग्य प्रदान किया। इसके लिये मैं आपके प्रति हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और आज्ञानुसार श्रीकृष्णमन्दिरका उद्घाटन करता हूँ।

बस, आपलोग यह आशीर्वाद दें—

जाहि देखि चाहत नहीं, कछु देखन मन मोर।
बसै सदा मेरे दृगन, सोई नंद-किसोर॥
तन-मन सब लिपटैं रहैं नित प्रियतम के अंग।
मुक्ति मुक्ति की कल्पना करै न यह सुख भंग॥
भूलि जाय सुधि जगत की भूलैं घरकी बात।
हिय सौं हिय लागौ रहे बिनु बाधा दिन रात॥
इन्द्रिय-मन-बुधि-आतमा, बनैं स्याम के धाम।
सब मैं सदा बसौ रहै प्रियतम मधुर ललाम॥

'बोलो आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!'

* * *

आज मेरा जीवन भगवान्‌के अस्तित्वको अभिव्यक्त कर रहा है

मैं सम्पूर्ण भयों और संदेहोंको एक ओर रखकर भगवान्‌के अडिग विश्वासके साथ आजका दिन आरम्भ करता हूँ। मैं भगवान्‌की तथा उनकी शक्तिकी सीमा निर्धारित नहीं करता। 'मुझे पहले मार्ग दीख जाय और भगवान्‌की मंगलमयताका प्रमाण प्राप्त हो जाय'—यह तर्क भगवान्‌के सम्बन्धमें संदेह व्यक्त करता है। मैं अपने हृदयमें इस विचारको उदय ही नहीं होने देता। संतोंने एक स्वरसे भगवान्‌के अस्तित्व एवं उनकी शक्तिपर विश्वास करनेको कहा है। आज मैं इस विश्वासको सक्रिय रूप देता हूँ।

आज मैं अपने समस्त विवेक, विचार और शक्तिके साथ भगवान्‌के अस्तित्वपर विश्वास करता हूँ, मैं भगवान्‌की नित्य सन्निधि एवं असीम शक्तिपर विश्वास करता हूँ।

आज मैं अपने मनको भगवान्‌के चिन्तनसे भरता हूँ और अशान्तिके स्थानपर शान्तिकी तथा अस्तव्यस्तताके स्थानपर सुव्यवस्थाकी आशा करता हूँ।

आज मैं भगवान्‌के सौहार्दपर विश्वास करता हूँ और अभावके स्थानपर प्रचुरताके दर्शन करता हूँ।

आज मैं भगवान्‌के प्रेमसे अभिषिक्त होकर पूर्ण शान्ति, पूर्ण स्वस्थता एवं पूर्ण समृद्धिका अनुभव करता हूँ। अब मुझमें कोई भय नहीं, कोई संदेह नहीं, कोई अभाव नहीं, कोई प्रतिकूलता नहीं;—मुझे केवल मंगल-ही-मंगलके दर्शन हो रहे हैं।

आज मेरा जीवन भगवान्‌के अस्तित्वको अभिव्यक्त कर रहा है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श मित्र

हनुमानबक्सजीका बड़ा कारोबार था, उनके एक मित्र बिलासराय भी व्यापार करते थे। उनका भी व्यापार ठीक चलता था। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। समय बदलता रहता है; स्थिति परिवर्तनशील होती है। बिलासरायजीका व्यापार ढीला चलने लगा। दो-तीन ब्याह-शादीके बड़े खर्चके प्रसंग आ गये। इज्जतके अनुसार खर्च करना पड़ा। ऋण हो गया। एक निकटस्थ सम्बन्धी थे। उनके लगभग पैंतालीस हजार रुपये इनमें बाकी थे। वे सम्पन्न थे और यह भी जानते थे कि इनके पास रुपये इस समय नहीं हैं। होते तो ये तुरंत दे देते। बड़े ईमानदार हैं। परंतु किसी कारणवश वे इनपर बहुत नाराज थे और द्वेषवश इन्हें तकलीफ देना चाहते थे। उन्होंने नालिश करके किसी प्रकार गुपचुप डिक्री करवा ली। बिलासरायजीको नालिश-डिक्रीका पता ही नहीं लगने दिया। डिक्री जारी करवा ली और रुपये न मिलनेपर गिरफ्तारीका वारंट भी निकलवा दिया। उस दिन किसी एक विवाहमें बिलासरायजी गये हुए थे। संध्याके समय जब कि सैकड़ों पुरुष बारातमें आये हुए हों उन सबके बीचमें उन्हें गिरफ्तार करनेकी योजना थी। सारी व्यवस्था कर ली गयी। हनुमानबक्सजीको दुपहरके बाद इसका पता लगा। उनको बड़ी चिन्ता हुई। डिक्रीके कितने रुपये हैं, इसका उन्होंने पता लगाया और रुपये कोर्टमें जमा करवाकर रसीद तथा वारंटकी वापिसीका आदेश लेकर ठीक उस समय बिलासरायजीके उक्त सम्बन्धीके घर पहुँचे जिस समय वह वारंटके साथ पुलिसको लेकर बारातके स्थानपर जा रहे थे। रुपयोंकी रसीद दिखायी और वारंट वापिसीका आदेश दिखलाया। उक्त सम्बन्धी तो यह सब देख-सुनकर भौंचक्का-सा रह गया। हनुमानबक्सजीने नम्रताके साथ कहा—'भाई! तुम इतने निकट सम्बन्धी तथा घरमें सुसम्पन्न होकर भी बिलासराय-सरीखे ईमानदार सज्जनको बिना उसे जनाये धोखेसे डिक्री करवाकर आज पकड़वाने जा रहे थे, तुम्हारा यह काम हम सभीके लिये लज्जाकी चीज है; ऐसा नहीं करना चाहिये।' उसने संकोचमें पड़कर सिर नीचा कर लिया!

बिलासरायजीको हनुमानबक्सजीने कुछ नहीं कहा। वे भी बारातमें गये। सब काम ठीक हो गया। बिलासरायजीको कुछ पता ही नहीं कि क्या हुआ है। डिक्री भरपाई करके उक्त सम्बन्धीने रजिस्ट्रीद्वारा बिलासरायजीके पास भेजी, तब उन्हें पता लगा, पर यह नहीं मालूम हुआ रुपये उनकी ओरसे किसने जमा करवाये। वे उक्त सम्बन्धीसे मिले, तब उसने बतलाया कि मैं तो नीचतावश आपको बारातके समय हजारों आदमियोंके बीच पकड़वाकर बेइज्जत करना चाहता था। परंतु हनुमानबक्सजीने ऐसा नहीं होने दिया। पता लगते ही रुपये पूरे जमा कराके रसीद ला दी और वारंट खारिज करवा दिया। लगभग बावन हजार रुपये थे।

उस समय बिलासरायजीको कितनी प्रसन्नता हुई और मित्र हनुमानबक्सजीके प्रति उनका हृदय सदाके लिये कितना कैसा कृतज्ञ हो गया, इसका पूरा अनुमान भी हम नहीं लगा सकते। धन्य मैत्री!

—ब्रजमोहन गुप्त

(२)

भारतका संस्कार-दर्शन

विदेशसे लौटे हुए और अस्पतालमें सर्जनके पदपर काम करनेवाले मेरे एक पड़ोसी डाक्टरने अपनी विदेशयात्राका एक प्रसंग सुनाया। उसे यहाँ उन्हींके शब्दोंमें उद्धृत कर रहा हूँ—

मैं इंग्लैंड पहुँचा, उस समय 'कहाँ रहूँगा' यह निश्चय नहीं था। सभी छात्रालयोंमें जगह भर चुकी थी। सौभाग्यवश मुझको वहाँके एक संस्कारी कुटुम्बमें 'पेइंग गेस्ट' के रूपमें स्थान मिला। थोड़े ही दिनोंमें मैं उस कुटुम्बमें दूधमें चीनीकी तरह घुल मिल गया।

छुट्टियोंमें एक दिन मैं उक्त कुटुम्बके मुखियाके साथ ग्राउण्डमें सूर्यस्नान करता हुआ गप्पें मार रहा था। बातों-ही-बातोंमें उन्होंने कहा—"आपसे पहले एक मद्रासी भाई हमारे कुटुम्बमें 'पेइंग गेस्ट' के रूपमें रहे थे। उन्होंने हमें बहुत तरहसे परेशान किया। उनमें पान खानेकी कुटेव थी। 'कुटेव' इसलिये कि पान खाकर कमरेकी सारी दीवालोंको रँग डालते। घरके लोगोंके साथ अवाञ्छनीय बर्ताव करते। घरकी व्यवस्थामें साथ देनेके बदले उल्टी घरमें अव्यवस्था उत्पन्न कर देते। बातचीत-जितनी भी सभ्यता नहीं दिखलाते। इसलिये हारकर लाचारीसे हमें उनको अलग करना पड़ा। तबसे यह गाँठ बाँध ली थी कि किसी भी भारतीयको 'पेइंग गेस्ट' के रूपमें नहीं रखना। परंतु आपके विवेकपूर्ण तथा सभ्यताभरे बर्ताव तथा वाणीसे आपको 'पेइंग गेस्ट' के रूपमें रखनेके लिये मैं ललचा उठा और सचमुच आप इस कुटुम्बके एक सहृदयी सदस्य बन गये हैं।"

मैंने उनकी इस भावनाके लिये आभार माना और मनमें निश्चय किया कि उनके भारतसम्बन्धी ऐसे पूर्वग्रहको अपने संस्कारभरे बर्तावसे मुझे दूर कर देना है। तभीसे मैं अपने बर्तावके सम्बन्धमें विशेष सावधान हो गया। मैंने उनके प्रत्येक कार्यमें सहयोग देना आरम्भ किया। मेरे कमरेकी सफाईका काम मैंने स्वयं अपने जिम्मे ले लिया। उन कुटुम्बके लोगोंके साथ मैं घरकी सफाई-सुधराईमें तथा वृक्षोंमें जल देनेमें सहृदयतासे सहयोग देने लगा। यों मैं उस कुटुम्बमें ओतप्रोत हो गया। कुटुम्बके बालक भी मेरे साथ खूब हिलमिल गये।

अन्तमें मेरा अभ्यास समाप्त होनेपर मैं इंग्लैंडसे चलनेको तैयार हुआ। उस कुटुम्बसे बिछुड़ते समय मुझे ऐसा लगा, मानो मैं अपने ही कुटुम्बसे बिछुड़ रहा हूँ। किंतु 'मेरी' और 'विलियम' तो मुझे पकड़कर रोने लगे। गद्गद स्वरसे मैंने उस कुटुम्बके मुखियासे आज्ञा माँगी। आँसू छलकती हुई आँखोंसे उन्होंने मुझसे कहा—'भारतमें मैं आपकी सफलता चाहता हूँ, आपने प्रेमभरे बर्तावसे अपने भारतीयोंके प्रति मेरे दुर्भावको दूर कर दिया है। अबसे मैं किसी भी भारतीयको अपने घरमें स्थान देते नहीं हिचकूँगा।'

मैंने कहा—'मैं आपका तथा आपके सारे कुटुम्बका आभार मानता हूँ। मैंने तो कुछ किया ही नहीं। केवल अपने देशके संस्कारके अनुसार आचरणमात्र किया है। इससे आपका दुर्भाव दूर हो गया—यह मेरे लिये आनन्द और सौभाग्यकी बात है।' और अश्रुसिक्त नेत्रोंसे मैंने उस कुटुम्बसे विदा ली।

—जसवंत सायर

(३)

मूल्यवान् आतिथ्य

ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे जीवनमें कभी आतिथ्य न उपलब्ध हुआ हो। पर सभी आतिथ्य मूल्यवान् नहीं होते। वास्तवमें मूल्यवान् आतिथ्य वही है जिसमें आतिथ्य-कर्ताके हृदयका शुद्ध प्रेम सम्मिलित हो। ऐसा आतिथ्य कभी-कभी भाग्यसे ही प्राप्त होता है।

कई वर्ष पूर्वकी बात है। हम चार आदमी नैमिषके लिये चले। यद्यपि मेरे यहाँसे नैमिष जानेके लिये रेल आदिका अच्छा प्रबन्ध है, पर हमलोगोंने यह यात्रा साइकिलसे ही करनेका निश्चय किया। हमारे यहाँसे नैमिष लगभग ४५ मील है। हम लोग मध्याह्नका भोजन करके और संध्याका भोजन साथमें बाँधकर लगभग दो बजे घरसे चल पड़े। विचार था कि आज रात्रिमें मिश्रितमें विश्राम करके प्रातःकाल नैमिष पहुँच जायँगे। पर संयोगवश जब मिश्रित लगभग ५-६ मील रह गया, तभी सूर्यास्तका समय हो गया। अब हमलोगोंमेंसे एक आदमीका विचार हुआ कि यहीं ठहरा जाय और एक दूसरे आदमीका निश्चय था कि आज मिश्रित चलकर ही विश्राम करेंगे। दोनोंके मतभेदने धीरे-धीरे कलहका रूप लेना आरम्भ कर दिया। विवश होकर मुझे भी उसमें भाग लेना पड़ा।

मैंने उन भाईसे निवेदन किया, जो मिश्रित पहुँचकर ही विश्राम करनेका अधिक बल दे रहे थे कि 'आप अपनी बात छोड़ दें। असमय हो चुका है। एक साथीका हृदय भयभीत है, वह रातमें चलनेमें अपनी असमर्थता प्रकट कर रहा है, आपको क्या अधिकार है कि उसे रात्रिमें चलनेके लिये विवश करें। यदि कोई दुर्घटना हो जाय तो उसका उत्तरदायित्व आपके ऊपर आयगा। अतएव आप अपना आग्रह छोड़ दें और एक साथीके नाते उसका साथ देनेमें अपना अपमान न समझें।' थोड़ी बहसके बाद वे राजी हो गये।

हमलोग रातभर ठहरनेके विचारसे निकटवर्ती गाँवको गये। देखा—एक दरवाजेपर प्रकाश जल रहा है, दस-पाँच आदमी बैठे हुए हैं। गृहस्थ भी सम्पन्न व्यक्ति प्रतीत हुए, द्वारपर स्थान पर्याप्त था। हमलोगोंने उनसे वहाँ ठहरनेकी प्रार्थना की। उन्होंने निकटवर्ती दूसरे गाँवकी ओर संकेत कर दिया कि ठहरनेके लिये आप वहाँ जायँ। यद्यपि उनका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। पर यह सोचकर कि यह तो अपनी-अपनी प्रवृत्ति है, ये नहीं स्थान देना चाहते; संतोष किया और वहाँसे चल पड़े। उन आदमियोंके बीचमें बैठा हुआ एक आदमी भी हमलोगोंके साथ उठकर चला आया। जब वह उन महाशयके द्वारसे आगे आ गया तब उसने कहा—भाई साहब! हमारे यहाँ ठहरनेमें आपको कष्ट होगा, पर यदि आप कष्ट सहन करके ठहरना चाहें तो चलें। मैंने कहा—हम अवश्य आपहीके घरपर ठहरेंगे। चाहे आपके यहाँ हमें रातमें भीजना ही क्यों न पड़े। वर्षाकाल था।

हमलोगोंने जाकर उसका घर देखा। साधारण गृहस्थ था। दरवाजेपर एक छप्पर पड़ा हुआ था। हमलोगोंको ठहरनेके लिये उसने वही स्थान दिया।

जब हमलोग यथास्थान बैठ चुके। तब उसने भोजन बनानेके लिये आग्रह किया; क्योंकि वह जातिका गड़रिया था और हमलोग ब्राह्मण। पर हमलोगोंके पास भोजन-सामग्री बँधी हुई थी अतएव हमलोगोंने इन्कार कर दिया। उसने बहुत आग्रह किया कि आप यह भोजन कलके लिये रख लें, आज हमारा ही अन्न खायँ पर हमलोगोंने यह नहीं स्वीकार किया; क्योंकि भोजन-सामग्री पर्याप्त थी, जिसे हम दो दिनमें भी नहीं समाप्त कर सकते थे। अन्तमें बहुत अनुनय करनेपर उसने भोजन बनवानेका आग्रह छोड़ा, पर एक लोटा दूध उसने फिर भी दिया ही और आग्रह किया कि इसे आप अवश्य स्वीकार करें। उसके घरमें इतना ही दूध होता था।

—त्रिवेणीदत्त त्रिपाठी 'चंचरीक'

(४)

दयाकी देवी

सन् १९५२ में मेरे हाथका फ्रेक्चर हो जानेसे मैं बम्बईके एक अस्पतालमें भरती हुआ था। वहाँ बना हुआ एक प्रसङ्ग लिख रहा हूँ—

मेरे पलंगसे चौथे या पाँचवें पलंगपर एक कृशकाय, फीके और निस्तेज चेहरेवाला युवक था। उसे देखनेपर ऐसा लगता था कि वह बीमारीसे पहले सुदृढ़ और सुन्दर होगा। हमारे वार्डकी जिम्मेवारी जिसके ऊपर थी वह सिस्टर (नर्स-परिचारिका) वार्डके दूसरे रोगियोंकी अपेक्षा उस युवकका विशेष ध्यान रखती, ऐसा लगता था। कभी-कभी तो उसकी 'ड्यूटी' पूरी होनेके बाद भी वह आती और युवकके पास बैठ जाती।

सिस्टरके इस बर्तावसे रोगियोंके मनमें ईर्ष्याकी आग सुलग उठी और उसने दोनोंके सम्बन्धको अवाञ्छित रूप दे दिया।

यह बात प्रधान डाक्टरतक पहुँची। डाक्टर एक दिन हमारे वार्डमें आये और बोले—'अभी कुछ दिनोंसे आपलोगोंके मनमें जो 'सिस्टर'के प्रति असंतोष हो गया है, उसका मुझको पता लगा है और आप लोगोंने उनके सम्बन्धको जो अवाञ्छित स्वरूप दे डाला है, उससे मुझको बहुत दुःख पहुँचा है। हमारा

मानस ही आज इतना विकृत हो गया है कि किसी भी स्त्री-पुरुषके पवित्र सम्बन्धको भी हम उल्टे चश्मेसे देखने लगते हैं । 'सिस्टर' तो दयाकी देवी है। 'सिस्टर'की ममता उस युवकके प्रति क्यों अधिक रहती है, उसकी सारी बिगत सुननेपर तो आपलोगोंने उनके सम्बन्धको जो बुरा रूप दे दिया है उसके लिये अवश्य पश्चात्ताप होगा ।'

हम सबने डाक्टरकी बिगत सुनानेके पहले ही अपनी 'दृष्टि'के लिये क्षमा माँगी और आगे बात चलानेके लिये प्रार्थना की ।

डाक्टरने कहा—'इस युवकको बचपनसे ही खूब सिगरेट-बीड़ी पीनेकी आदत थी । इस व्यसनका परिणाम भयंकर दमाकी बीमारीके रूपमें परिणत हो गया । युवकके कुटुम्बमें उसके सिवा और कोई नहीं है । दमाकी बीमारीके कारण उसे नौकरीसे हाथ धोना पड़ा । जब रोग बहुत बढ़ गया, तब उसे इस अस्पतालमें 'फ्री पेशंट' निःशुल्क रोगीके रूपमें भरती किया गया । उसकी आर्थिक तथा कौटुम्बिक परिस्थिति देखकर 'सिस्टर'को उसके प्रति ममता उत्पन्न हो गयी और उसने युवककी सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली । युवक निःशुल्क रोगी होनेके कारण उसे अस्पतालके खर्चकी तो चिन्ता नहीं थी, परंतु उसके व्यक्तिगत खर्चकी जिम्मेवारी भी 'सिस्टर'ने ले ली ।

एक दिन दमाका बहुत भारी दौरा आ गया । उस समय युवकको तीन दिनोंतक 'गेस' पर रक्खा गया । इन तीन दिनोंमें बिना रात-दिन देखे—खाने-पीनेकी सुधि भूलकर 'सिस्टर' युवककी सार-सँभालमें ही रही ।

युवकके जीवनकी रक्षा होना इस 'सिस्टर'की ममता और अथाह परिश्रमका ही परिणाम है । एक दिन युवक और सिस्टर बैठे थे । युवककी आँखोंमें आँसू आ गये । 'सिस्टर'ने पूछा—'भाई ! रो क्यों रहे हो ?'

युवकने कहा—'बहिन ! मुझे बहुत बार आपका विचार आता है, न तो कभी आँखोंकी पहचान थी, न आप मेरे सगे-सम्बन्धीमें ही कोई थीं; इतनेपर भी आपने मेरे प्रति जो माया-ममता दिखलायी, उसका ऋण मैं किस जन्ममें चुका सकूँगा ?'

'सिस्टर' बोली—'भाई ! यों मनमें संकोच क्यों करते हो ? क्या मैंने बदला पानेकी आशासे आपकी चाकरी की है ? इसपर भी आपको ऋण चुकाना ही हो तो एक काम करके चुका सकते हो । मैं माँगूँगी सो दोगे ?'

'बहिन ! मेरे पास देने योग्य क्या है ?'

'आप आजसे प्रतिज्ञा कर लें कि अबसे आगे मैं कभी सिगरेट-बीड़ीको हाथसे भी नहीं छूऊँगा। बोलो—देते हो वचन ?'

युवक गद्गद हो गया और—'बहिन !' शब्दसे सिवा उसके मुखसे एक भी शब्द और नहीं बोला गया।

इस प्रकार 'सिस्टर'ने युवकका जीवन तो बचाया ही, साथ-ही-साथ उसे व्यसनकी नागपाशसे भी छुटकारा दिलाया ।

सारी बातें सुनकर, और उन दोनोंके पवित्र सम्बन्धके बाबत हमलोगोंने गंदी कल्पना की, इससे हमें बड़ी शरम आयी और एक अनजान युवकके लिये इतना त्याग करनेवाली 'दयाकी देवी'के प्रति हम सब लोग मन-ही-मन प्रणत हो गये ।

—मधुकान्त भट्ट

(५)

आदर्श भाई

नागरमलजी और नन्दकिशोरजी सगे भाई थे। और भी भाई थे । इनका अपने एक सम्बन्धी परिवारकी हिस्सेदारीमें कलकत्तेमें बड़ा कारोबार था। नागरमलजी देश रहते और माता-पिताकी सेवामें अधिक समय लगाते। ये बड़े विद्वान्, संतोषी और शुद्ध आचरणके पुरुष थे। हिसाब-किताबमें भी बहुत चतुर थे। सालमें एक बार कलकत्ते जाकर सारा तलपट जोड़ आते। इनके बालबच्चे बहुत थे । श्रीनन्दकिशोरजी बड़े मिलनसार, कार्यकुशल, लोकप्रिय तथा चतुर व्यापारी थे।

व्यापारका काम कलकत्तेमें ये ही देखते थे। ये बड़े उदारहृदय पुरुष थे। इनके मनमें आया, बड़े भाई नागरमलजीके खर्च अधिक हैं, संतान ज्यादा हैं, उनके ब्याह-शादीमें खर्च अधिक होगा। अतएव उन्होंने उनसे कुछ बिना ही कहे अपने हिस्सेमेंसे अमुक अंश कम करके उनका बढ़ा दिया। हजारों रुपये और आगे चलकर लाखों रुपये वार्षिकका अन्तर पड़ गया। पहले नागरमलजीसे इसलिये नहीं कहा कि वे वैसा करने नहीं देंगे। क्योंकि वे भी बड़े उच्चाशयके पुरुष थे। नन्दकिशोरजीके इस आदर्श त्याग और उदारताकी क्या प्रशंसा की जाय? भगवान् ही उनके इस सत्कार्यका महान् फल उन्हें देंगे।

—मोतीलाल शर्मा

(६)

रामनाम-महिमा

मैं बिहार प्रान्तका हजारीबाग जिलान्तर्गत गिरिडीह सब डिवीजनके थाना देवरी ग्राम बाराडीहका भूमिहार ब्राह्मण हूँ। मेरा लड़का रामप्रसाद बी० ए०की परीक्षामें असफल हो जानेके कारण दिनाङ्क २१।९।५४ को घर छोड़कर बाहर चला गया। मैंने अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसको ढूँढ़ा, लेकिन कहीं कुछ पता नहीं चल सका। मेरा परिवार शोक-सागरमें गोता लगा रहा था। मैं अनेकों प्रकारसे तन्त्र-मन्त्र आदि करवा रहा था, किंतु कोई भी फल नहीं हो रहा था। जब तन्त्र-मन्त्रसे कोई फल नहीं मिला, तब मैंने विश्वासके साथ सीतारामयुगल-मन्त्रका जप और भगवान्से विनय करना प्रारम्भ किया।

एक दिन मेरे मनमें इच्छा हुई कि मैं हरिद्वार जाकर पता लगाऊँ। पञ्चायत-परिषद्के सम्मेलनमें हजारीबाग गया और वहींसे मैं ऋषिकेश चला आया।

दिनाङ्क २६।६।५८ ई० को गीताभवन ऋषिकेशमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एवं अन्य महात्माओंके भाषण सुने। शामको ८, ९ बजे गीताभवनमें भाई पोद्दारजीका भाषण सुना। श्रीदशरथजी-द्वारा श्रवणकुमार-वध एवं रामनामका माहात्म्य भी सुना। राम-नामका माहात्म्य सुनकर मैंने यह संकल्प किया—मैं पूर्णमासीतक श्रीराम-नामका जप करूँगा। यदि रामनामकी इतनी बड़ी महिमा होगी तो मेरे लड़केका पता इसी बीचमें लग जायगा और यदि पूर्णमासीतक मेरे लड़केका कोई पता नहीं लगेगा तो मैं नास्तिक हो जाऊँगा। ऐसा मनमें ठानकर मैं गङ्गातटपर डेढ़ बजे राततक 'राम-जानकी'का जप किया। सुबह मेरी इच्छा स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गमें जानेकी हुई। मैं जानेहीवाला था कि उसी समय मेरा लड़का संन्यासी-भेषमें उधरहीसे जा रहा था। मैं उसे पहचान नहीं सका। कुछ दूर जाकर वह फिर लौट आया और मेरे पैरोंपर गिर पड़ा। मैंने जब उसे उठाया तो पहचान लिया।

राम-नामकी महिमाका प्रत्यक्ष प्रमाण मुझको मिल गया। मेरे दिलमें रामनामकी महिमाकी ज्योति जगमगा रही है और सदा जगमगाती रहेगी। —टुपलाल राय

(७)

तुरंत देह-परिवर्तन

(आँखों देखी सत्य घटना)

एक बारात मौजे केन्दुकीसे ग्राम निर्माणा (जि० मुजफ्फरनगर) जा रही थी। इस बारातमें एक लड़का शोभाराम उम्र लगभग २४ वर्ष कौम त्यागी ग्राम बेहेड़ी जि० मुजफ्फरनगर रेलवे स्टेशन रोहाना कलाँको अपना रथ हाँककर ले जा रहा था। वह रथसे गिरा, रथका पहिया उसकी गरदनपरसे उतरा। नाक-मुँहसे रक्त बहने लगा। बेहोशीकी दशामें उसे रोहाना मिलके अस्पताल ले आया गया। यहाँपर रातके ११ बजे मर गया। उसी स्थानपर उसका दाह-संस्कार कर दिया गया।

उसी रातको ग्राम रसूलपुर (जाटान) में जि० मुजफ्फरनगर जो कि ग्राम बहेड़ीसे चार मीलके फासले-

पर है, एक जाटका बच्चा चेचककी बीमारीसे गुजर गया । बच्चेकी आयु लगभग एक वर्ष थी । बच्चा सहसा रातके ४ बजे (मरनेके ३-४ घंटे पश्चात्) जी उठा। किंतु उस बालकने इस समयके पश्चात् माँका दूध पीना छोड़ दिया ।

चार वर्षके पश्चात्

उस लड़केकी माँ उसे लेकर अपने मैके जा रही थी (ग्राम परई) में । मार्गमें वह स्थान पड़ता था जहाँ कि उपर्युक्त घटना (युवकका रथके द्वारा मरना) घटी थी। वहाँसे दो रास्ते जाते थे—एक ग्राम बेहेड़ीको और दूसरा ग्राम परईको । लड़केने कहा 'मैं यहाँ रथसे गिरा था; हमारे घरका रास्ता तो उधर (बेहेड़ी ग्रामकी ओर संकेत करके कहा) को है । माँ बच्चेकी बातपर ध्यान न देते हुए उसका हाथ पकड़ ग्राम परईकी ओर चल दी ।

मार्च १९५८

केन कोआपरेटिव सोसायटीका कामदार श्रीजगन्नाथप्रसाद (बेहेड़ीनिवासी) एक दिन ग्राम रसूलपुर जाटान गया । वहीं जाटनीका लड़का, जिसकी आयु इस समय लगभग ५-६ वर्ष हो चुकी है, बच्चोंमें खेल रहा था । उसने पुकारा 'अरे ओ जगन्नाथ ।' जगन्नाथने चौकन्ना होकर इधर-उधर देखा । कोई परिचित व्यक्ति दिखायी न पड़ा और वह चल पड़ा ।

लड़केने पुनः पुकारा—'जगन्नाथ ! यहाँ सुन ।' उसने जगन्नाथसे राम-राम करके कहा—'मुझे बेहेड़ी ले चल ।' जगन्नाथने कहा—'तू किसका लड़का है ।' उस लड़केने प्रारम्भसे अन्ततक अर्थात् रथसे गिरकर मरनेतककी घटना सुनायी । जगन्नाथने आश्चर्यचकित हो पूछा—'फिर तू यहाँ कैसे आया ?' लड़केने कहा—'फिर गिरकर मरनेके बाद मुझे और कोई जगह न मिली । यह शरीर खाली देख इसमें आ गया ।'

श्रीजगन्नाथने यह पूरी घटना बेहेड़ी जाकर ग्रामवालोंको सुनायी । लड़केके ताऊ, चाचा आदि सम्बन्धी गाँव रसूलपुर गये । लड़केने उन सबको पहचाना और नाम लेकर राम-राम किया । लड़केके सम्बन्धियोंने उससे अनेक प्रश्न किये, जिनके उसने संतोषजनक उत्तर दिये ।

उन ग्रामीणोंमेंसे एक व्यक्तिने (जो कि उसी रथमें सवार था और रथसे गिरनेके पश्चात् लड़केको रथमें लिटाया और सिर अपनी गोदमें रखे रहा था), पूछा—'मेरा नाम बतला ।' लड़केने कहा—'नाम तो भूल गया; किंतु इतना याद है तुमने मुझे अपनी गोदमें लिटाये रक्खा था ।'

वे उस लड़केको लेकर बेहेड़ी ग्राम चले । रोहाना मिल्स, स्टेशनपर आकर लड़केसे आगे-आगे चलनेको कहा गया । लड़का सीधा अपने घरपर पहुँचा । सबको यथोचित नाम लेकर राम-राम किया और यह भी जिद की कि मैं यहीं रहूँगा ।

वह बच्चा आज भी जाटनीके घरकी रोटी नहीं खाता । उसके खानेका प्रबन्ध एक पड़ोसिन ब्राह्मणीके यहाँ है । उसने जीवित होनेके पश्चात् उस जाटनी (अपनी मौजूदा माँ) का दूध भी कभी नहीं पिया ।*

---

* यह घटना मुझे एक मेरे विश्वसनीय मित्र चौ० काशीरामजी त्यागी बड़कलीनिवासी (बड़कली ग्राम बेहेड़ी ग्रामसे ३-४ फर्लांग दूर है) ने सुनायी । आप (चौ० काशीरामजी त्यागी) एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं । जिला कांग्रेस कमेटी, मुजफ्फरनगरके उपाध्यक्ष, भ्रष्टाचार-निवारक समितिके सदस्य और डिस्ट्रिक्ट कोआपरेटिव बैंक मुजफ्फरनगरके डाइरेक्टर हैं । मेरे साथ उनका तर्क अकाल मृत्युपर चल रहा था । उसी वार्तालापके बीच उन्होंने मुझे उपर्युक्त घटना सुनायी ।

—रामस्वरूप शर्मा

॥ श्रीहरिः ॥

दो नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

सटीक सूरसागरके पदोंके खण्डशः प्रकाशन-योजनाकी पाँचवीं पुस्तक

अनुराग-पदावली (सरल भावार्थसहित)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २७२, पद-संख्या ३४८, श्रीमुरलीमनोहरका बहुरंगा आकर्षक चित्र, सुन्दर मुखपृष्ठ, मू० १), सजिल्द १।=), डाकखर्च ।।।=)।

इससे पहले सूर-विनयपत्रिका, सूर-राम-चरितावली, श्रीकृष्णबालमाधुरी और श्रीकृष्णमाधुरी—ये चार संग्रह सूर-काव्य-प्रेमियोंकी सेवामें प्रस्तुत किये जा चुके हैं । इस पाँचवें संग्रह 'अनुराग-पदावली'में जैसा कि इसके नामसे ही प्रकट है, केवल ऐसे पदोंका चयन किया गया है, जिनमें श्रीगोपाङ्गनाओंके श्रीकृष्णविषयक अनुरागकी चर्चा की गयी है। श्रीकृष्णानुरागिणी व्रजललनाओंके ये अनूठे प्रेमोद्गार सूरकी हृदयस्पर्शिनी वाणीसे प्रवाहित हुए हैं । एक-से-एक सरस एवं मार्मिक उक्तियाँ हैं, जिनका स्वाद उन्हें पढ़नेपर ही मिलता है; श्रीसूरदासजीने मानो उन व्रज-ललनाओंका हृदय ही खोलकर रख दिया है ।

३४८ चुने हुए पदोंके इस संग्रहका प्रेमी पाठक समुचित आदर करेंगे, ऐसी आशा है ।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५९ ई०

आकार २२×२९ बत्तीस पेजी, मूल्य साधारण जिल्द ।।=), बढ़िया जिल्द ।।।), डाकखर्च अलग।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंके सहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी दिनाङ्कोंका वार्षिक केलेण्डर, विनय, सबका कल्याण, सबसे सरल साधन—नामजप, बृहस्पतिजीका युधिष्ठिरको उपदेश, 'विनम्र संदेश' शीर्षक निवेदन, रेल, तार, डाक, इनकम-टैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकरकी दरें, मापतौलकी सूची, मेट्रिक प्रणालीके माप-तौल, पुराने पैसेकी नये पैसेमें परिवर्तनसारणी, दैनिक वेतन और मकानभाड़ा चुकानेका नये पैसेमें नकशा, घरेलू ओषधियाँ, स्वास्थ्य-रक्षाके सप्त-सूत्र, भगवान् नारायणका सुन्दर चित्र, आरती तथा प्रार्थना दी गयी है ।

☞ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है । अतः विक्रेता-बन्धुओंसे निवेदन है कि शीघ्र आर्डर देनेकी कृपा करें ।

विक्रम सं० २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग थोक लेनेपर लगभग आधे दामोंमें

(सम्पादक—ज्यौतिषाचार्य ज्यौतिषतीर्थ पं० श्रीसीतारामजी झा, काशी)

सं० २०१५ के पञ्चाङ्गको जनताने इतना पसंद किया कि थोड़े ही दिनोंमें इस पञ्चाङ्गकी तीन स्करणोंमें पैंसठ हजार प्रतियाँ छापनी पड़ीं । इस पञ्चाङ्गमें नवप्रचलित शकाब्दकी तिथियाँ, पञ्च-लाकादि चक्र, ग्रहण, संवत्सरादिफल, संक्षिप्तकाल-विवरण, कालमान, संवत्सरोंके नाम, पञ्चाङ्ग रिचय, वार-प्रवेशका ज्ञान, सूर्य-सिद्धान्तीय गणितसिद्ध विवाहादि मुहूर्त, यात्रा-विचार, ग्नसारिणी, देशान्तरसारिणी, सूर्योदयास्त—समयके ज्ञानकी सरल रीति आदि अनेक पञ्चाङ्गोपयोगी बातोंके अतिरिक्त रेल-भाड़ा, पार्सलभाड़ा, रेल-डाक-तार आदिके नियम, इनकमटैक्स-सुपरटैक्सकी दरें आदि उपयोगी बातें भी दी गयी हैं ।

सफेद ग्लेज कागजोंपर छपे हुए तथा सुन्दर टाइटलयुक्त इस पञ्चाङ्गका मूल्य एक प्रतिका ।=) है । एक साथ २५ या उससे अधिक प्रतियाँ लेनेपर २५) सैकड़ा अर्थात् ।) प्रति पञ्चाङ्ग । डाक या रेलखर्च अलग । पञ्चाङ्ग बाँटनेवाले तथा विक्रेताओंको इस सुविधासे लाभ उठाना चाहिये । अभी इस सालके लगभग ६ महीने शेष हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क

‘मानवता-अङ्क’

(१) सम्मान्य पाठकोंको विदित ही है कि ‘कल्याण’का ३३ वें वर्षका विशेषा ‘मानवता-अङ्क’ होगा। इसमें भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंके प्रख्यात तथा अनुभवी विद्वानों लेख रहेंगे। हमारे पास अबतक जो सामग्री एकत्र हुई है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें मानवताके प्रायः सभी अङ्गोंपर विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विशद विवेचन किया गया है। इससे यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि यह अङ्क अत्यन्त ही उपादेय, सभीके लिये विशेष उपयोगी, रोचक, आकर्षक, शिक्षाप्रद और पथप्रदर्शक होगा। इसमें रंगीन तथा सादे चित्र भी पर्याप्त मात्रामें रहेंगे।

(२) छपाईके कागज तथा चित्रोंके आर्टपेपरके दाम बहुत बढ़ जानेपर भी मूल्य तनिक भी न बढ़ाकर वही ७॥) ही रखा गया है। अतः पुराने ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा ७॥) (साढ़े सात रुपये) भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस बार जैसा अङ्क निकल रहा है, उसे देखते, उसके बहुत शीघ्र समाप्त हो जानेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय कूपनमें ‘ग्राहक-संख्या’ अवश्य लिखनेकी कृपा करें। नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि बड़े बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें ‘नया ग्राहक’ लिख दें और जहाँतक हो सके, नये-नये ग्राहक बनाकर उनका चंदा भिजवानेका सफल प्रयत्न करें। यह विशेषाङ्क बहुत ही उपयोगी होगा। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये।

(३) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही ‘कल्याण’ कार्यालयको डाक-खर्चकी हानि न सहनी पड़े।

(४) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा ‘महाभारत’-विभाग ‘कल्याण’से अलग हैं। अतः ‘कल्याण’के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके तथा महाभारतके आर्डर भी ‘मैनेजर, गीताप्रेस’ तथा ‘मैनेजर, महाभारत-विभाग, गीताप्रेसके नामसे अलग भेजें।

(५) जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो, वे १।) (सवा रुपया) अधिक यानी ८॥।) भेजें। परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इसलिये चार-छः सप्ताहकी देर होना सम्भव है।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’ पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना

‘कल्याण’के गताङ्कमें प्रार्थना की गयी थी कि ‘लेख बहुत आ गये हैं, उन आये हुए लेखोंमें भी बहुत-से लेख स्थानाभावसे नहीं छप सकेंगे। अतः अब लेख-रचना आदि कृपया न भेजें। क्योंकि विशेषाङ्कके सीमित सात सौ पृष्ठोंसे बहुत अधिक सामग्री गताङ्कके समय ही आ चुकी थी। परन्तु हमारे कृपालु लेखक अबतक भी प्रचुर संख्यामें लेख भेजते ही जा रहे हैं। हमें दुःख है कि विशेषाङ्कमें उनका उपयोग नहीं हो सकेगा। अब पुनः प्रार्थना है कि जिन महानुभावोंसे लेख आ गये हैं, उनके अतिरिक्त अन्य महानुभाव लेखादि कृपया न भेजें। न छपनेपर हमें बड़ा संकोच होगा और लेखक महानुभावोंको भी कुछ कष्ट होना सम्भव है। इसीलिये पुनः यह विनीत प्रार्थना की जाती है। इस विवशतापूर्ण प्रार्थनाके लिये सब महानुभाव कृपया क्षमा करें।

विनीत—सम्पादक

कल्याण

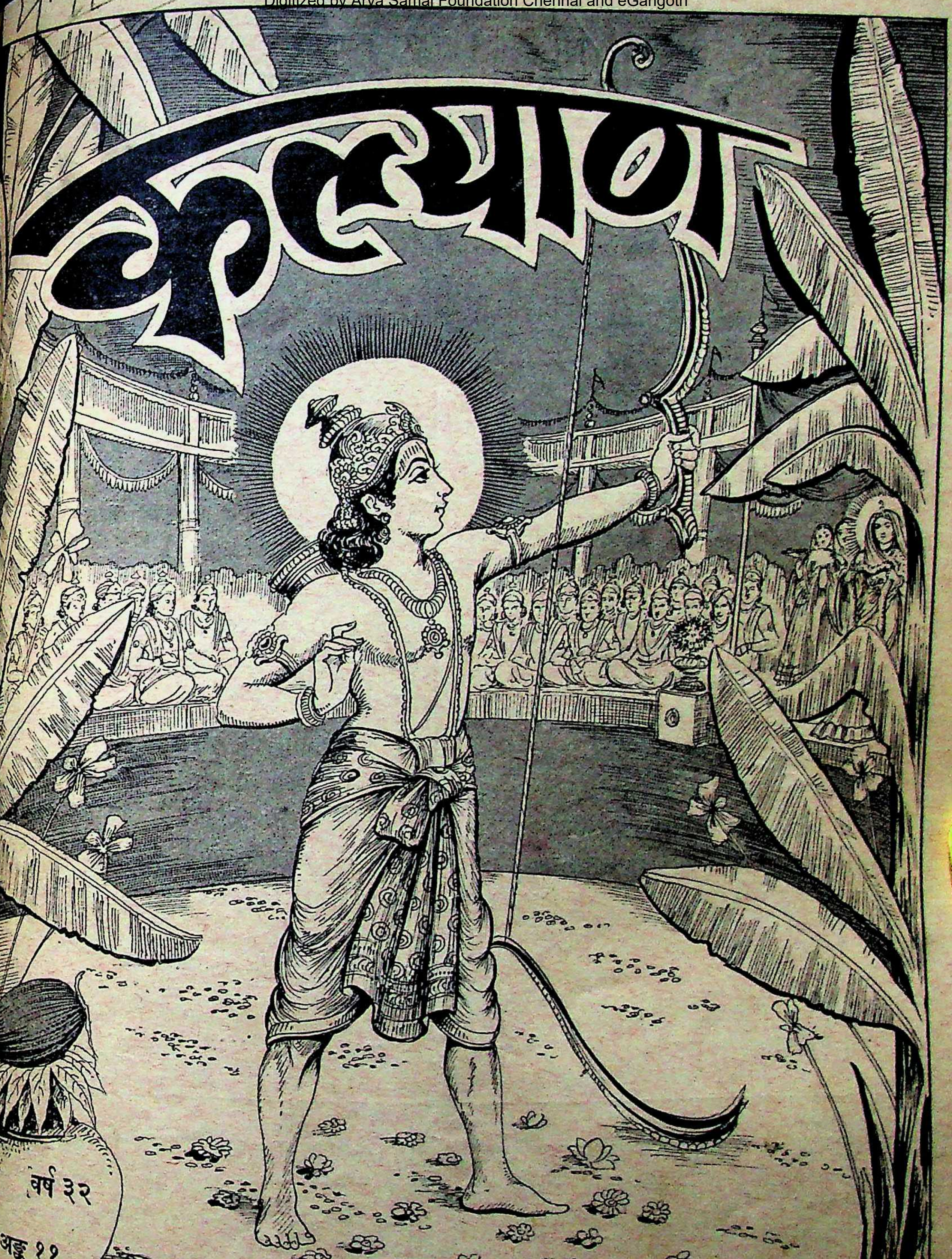

वर्ष ३२

अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा शिव जानकि राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०१५, नवम्बर १९५८

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–गोपी-कृष्ण-गायन [कविता] ···	१२८५
२–कल्याण ('शिव') ···	१२८६
३–महापुरुषोंका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१२८७
४–भगवान्‌का योग (साधुवेषमें एक पथिक)	१२९२
५–राममय जीवन [कविता] ···	१२९४
६–यह बिनती रघुवीर गुसाईं ! (पं० श्री-जानकीनाथजी शर्मा) ···	१२९५
७–श्रीराधा-माधवका महत्त्व, स्वरूप, तत्त्व और सम्बन्ध (श्रीराधाष्टमी-महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण) ···	१२९९
८–एक साधककी प्रार्थना ···	१३११
९–प्रार्थनोपचार या आध्यात्मिक चिकित्सा (श्रीमधुसूदनजी बाजपेयी) ···	१३१२
१०–मैं इसी क्षणसे भगवान्‌का हो गया हूँ	१३१५
११–अब कैसे होगा जीना ? (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ···	१३१६
१२–भगवान्‌के विवेक एवं सामर्थ्यके बलसे मैं विजयी हूँ ··· ···	१३२५
१३–तामसी श्रद्धा [कहानी] (श्री'चक्र')	१३२६
१४–मेरा 'अहं' बोलता है ! (पं० श्रीकृष्ण-दत्तजी भट्ट) ··· ···	१३२८
१५–सुख-शान्तिका महत्त्वपूर्ण साधन–संतोष (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ···	१३३१
१६–छीतस्वामी (श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ···	१३३४
१७–मेरा जीवन भगवान्‌के सौहार्दकी अभिव्यक्तिमात्र है ··· ···	१३३६
१८–श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर) ···	१३३७
१९–पढ़ो, समझो और करो ···	१३३९
२०–भगवान् नित्य मेरे हृदयमें विराजमान हैं	१३४८

चित्र-सूची

तिरंगा

१–गोपी-कृष्ण-गायन ··· ··· ··· ··· १२८५

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।ঌ)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक तथा प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

क८

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१५, नवम्बर १९५८ | संख्या ११
पूर्ण संख्या ३८४

गोपी-कृष्ण-गायन

कालिंदी तट ठाढ़े नटवर।
कदँब मूल, मृदु बेनु बजावत, गावत मिलि सखियन सँग सुंदर ॥
सिर सिखिपिच्छ मुकुट मनि मंडित, अलकावलि अति लजवत मधुकर।
पीत बसन, बंन कुसुम माल गल, कटि किंकिनि, पग बाजत नूपुर ॥
ढोलक-झाँझ-सितार-सरंगी मधुर बजावत सखीं लियें कर।
जल-खग बनपंछी सब मोहित, गौ सब मुग्ध सुनत मृदु मधु सुर ॥

याद रक्खो—तुम्हारा अपकार या बुरा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। तुम्हारे अपने पूर्वकृत कर्म ही किसी फलमें कारण हैं। वह दूसरा तो निमित्त भले ही हो। फिर वास्तवमें तुम जिसे अपकार या बुरा मानते हो; सम्भव है वह बुरा न होकर परिणाममें मङ्गल ही हो, इसलिये किसीसे भी, उसे अपकार या बुरा करनेवाला मानकर न घृणा करो, न द्वेष करो और न कभी भूलकर भी उसपर क्रोध करो, न अनिष्ट चाहो तथा करो और न बदला लेनेकी ही भावना करो।

याद रक्खो—तुम्हारे अनिष्ट चाहने या अनिष्ट करनेकी चेष्टा करनेसे ही, यदि उसके पूर्वकृत कर्म वैसा फल देनेमें प्रस्तुत नहीं है तो, किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता। परंतु तुम्हारा अनिष्ट अवश्य हो जायगा। क्योंकि तुम उसका अनिष्ट चाहकर या अनिष्टकी चेष्टाकर एक नया पाप करोगे।

याद रक्खो—यदि तुम्हारे अनिष्ट चाहनेसे किसीका अनिष्ट हो भी गया, तो उसमें तुमको क्या लाभ होगा? किसीके दुखी होनेसे क्या तुम्हें यथार्थमें कोई सुख मिल जायगा? नहीं, सुख तो कभी मिलेगा ही नहीं, नये-नये दुःखोंका निर्माण अवश्य हो जायगा।

याद रक्खो—कोई कड़े शब्द कहता है, गाली देता है या निन्दा करता है तो, उसकी जबान तो अवश्य गंदी होती है, पर तुम्हारा वास्तवमें कुछ नहीं बिगड़ता। मन तो अशरीरी है। उसपर तो कोई चोट लगती नहीं। नाम कल्पित है, तुम नाम हो नहीं। तुम शरीर तथा नाममें अहंबुद्धि करके आसक्तिवश दुखी हो जाते हो। तुम यदि गाली-निन्दाको न स्वीकार करो तो उसकी चीज उसीके पास रह जायगी।

याद रक्खो—जो आदमी दूसरेको गाली देता है, निन्दा करता है, अनिष्ट चाहता है या करता है, वह वास्तवमें अपना ही अनिष्ट करता है। और अपने द्वारा अपना ही अनिष्ट करनेवाला पागल है या मूर्ख है, अतः उसपर दया करनी चाहिये, उसके प्रति सद्व्यवहार करना चाहिये और भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि जिससे वह अपने आप अपना अनिष्ट न करे।

याद रक्खो—द्वेष, क्रोध, प्रतिहिंसासे मनुष्यका घोर पतन हो जाता है और वह राक्षस बनकर हिंसामय बन जाता है। इनसे स्वयं सदा बचो। क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी अक्रोध, क्षमा तथा प्रेमके शस्त्रसे उस कारणको काट दो एवं दूसरोंको भी इन भयानक दुर्गुणों तथा दुर्भावोंसे बचानेका प्रयत्न करो। किसी भी अवस्थामें क्षुब्ध न होकर मनकी प्रफुल्लता तथा मुदिताको बनाये रक्खो।

याद रक्खो—भगवान्के मङ्गल-विधानानुसार जो होना है, वही होगा। तुम्हारा काम है—यथासाध्य यथामति सार्वत्रिक मङ्गलके लिये प्रयास करना। तुम अपने मङ्गलप्रयासमें लगे रहो। फलकी चिन्ता न करो। भगवान्का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। यह समझकर मनमें सदा सन्तुष्ट रहो तथा हर-अवस्थामें उनकी मङ्गलमयी कृपाके दर्शन करते हुए मनका मोद बढ़ाते रहो।

याद रक्खो—तुम्हारा जितना अपने ऊपर अधिकार है, उतना दूसरेपर नहीं हो सकता। अतएव दूसरेके सुधारकी आशा न रखकर अपने-आपको सदा पवित्र, प्रफुल्ल तथा मङ्गलमय रक्खो। सारे मानापमानको, लाभ-हानिको सहकर क्षमाशील और मङ्गलकारी बने रहो। पृथ्वीपर शुद्ध या अशुद्ध कैसी भी वस्तु डालनेपर भी वह कभी दया या क्रोध प्रकट नहीं करती, सदा क्षोभरहित शान्त बनी रहती है। और गङ्गाजी तो उनमें मलमूत्र कर देनेवालेका मलमूत्र भी अपनी पवित्र धारामें बहाकर उसे पवित्र कर देती हैं और अपनी सहज चालसे सदा सबको पवित्र करती हुई बहती रहती हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकी भाँति अक्षुब्ध और गङ्गाजीकी भाँति सदा सबको पवित्र करनेवाले ही बने रहो।

'शिव'

महापुरुषोंका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका हृदय बड़ा ही कोमल होता है और उनके भाव बहुत उच्चकोटिके होते हैं। उनके हृदयमें वास्तवमें कोई विकार नहीं होता। वास्तवमें उनसे किसीको भय और उद्वेग नहीं होते। वे बड़े ही प्रभावशाली होते हैं। उनके सान्निध्यसे दूसरोंका भी क्रोध और हिंसाका भाव दूर हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।
(योग० २। ३५)

'जिसके मनमें हिंसा करनेका किंचित् भाव भी नहीं रहता—अर्थात् जिस मनुष्यके हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है, उसका इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके निकट दूसरे आदमीके हृदयमें भी वैरभावका त्याग हो जाता है।'

ऐसे भगवान्‌के परमभक्त महापुरुषोंसे तो किसीको भय, उद्वेग और क्रोध आदि होते ही नहीं; उनको भी दूसरोंसे उद्वेग और भय नहीं होता। वे स्वयं निर्भय हो जाते हैं और दूसरोंको निर्भय कर देते हैं। भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तके लिये गीताके बारहवें अध्यायके १५-वें श्लोकमें कहा है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

'उससे किसीको उद्वेग नहीं होता और लोगोंसे उसको उद्वेग नहीं होता।'

भाव यह है कि वह न तो दूसरोंको उद्वेग देता है और न दूसरोंसे उद्वेगवान् होता है। उसके द्वारा उद्वेग वास्तवमें तो किसीको होना ही नहीं चाहिये। संसारमें देखा जाता है कि अच्छे-से-अच्छे पुरुषसे भी दूसरोंको उद्वेग हो जाता है। न्याय तो यह कहता है कि यदि किसीसे दूसरोंको उद्वेग होता है तो उसमें महात्मापन ही कहाँ है। नहीं तो उससे दूसरोंको उद्वेग क्यों होना चाहिये। शास्त्रोंकी ओर देखते हैं तो ऐसा उदाहरण प्रायः नहीं मिलता कि जिससे किसीको भी उद्वेग नहीं हुआ हो। क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मर्यादापुरुषोत्तम थे, उनसे भी राक्षसोंको उद्वेग हुआ। श्रीजनकजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीवसिष्ठजी आदि अन्यान्य जितने भी महात्माकोटिके पुरुष संसारमें हुए हैं, उनसे भी दूसरोंको उद्वेग हुआ है। जैसे—श्रीजनकजीसे लक्ष्मणको, श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे अश्वल आदि ब्राह्मणोंको और श्रीवसिष्ठजीसे विश्वामित्रजीको उद्वेग हुआ। ऐसे पुरुष तो बहुत हुए हैं, जिनके अन्तःकरणमें अपने प्रतिकूल क्रियाओंको देखकर उद्वेग नहीं हुआ। यह तो साधकके लिये भी सहज है, क्योंकि वह उसमें स्वतन्त्र है; किंतु किसीसे दूसरोंको उद्वेग न होना—यह कठिन है।

अतः इस पंक्तिका अर्थ हम अपने संतोषके लिये यह लगा लेते हैं कि उस पुरुषके मनमें किसीको भी उद्विग्न करनेका भाव नहीं होता। किंतु किसीको अपने अज्ञानके कारण उससे उद्वेग हो जाय तो उसमें उस महापुरुषका दोष नहीं है; क्योंकि उसके लिये वह निरुपाय है। अतः यह समझना चाहिये कि महापुरुष न तो किसीको उद्वेग देता है और न स्वयं किसीसे उद्वेगवान् होता है। इसपर भी अज्ञानके कारण अज्ञानियोंके चित्तमें उद्वेग हो जाया करता है। ऐसा अर्थ लगाकर हम संतोष कर लेते हैं। किंतु शब्दार्थ तो यही है कि संसारमें उसके द्वारा किसीको उद्वेग होता ही नहीं। परंतु ऐसा उदाहरण न तो वर्तमानमें देखा ही जाता है और न शास्त्रोंमें ही मिलता है। यह बात बड़े-बड़े संत-महात्माओं, ज्ञानियों, योगियों, भक्तों, धर्मात्माओं और नेताओंमें भी देखनेमें नहीं आती।

श्रीशिवजी साक्षात् ईश्वर माने जाते हैं, उनसे भी दक्षप्रजापति आदिको, तथा राक्षसोंको उद्वेग हुआ। महात्मा युधिष्ठिर बड़े ही धर्मात्मा पुरुष थे, धर्मकी मूर्ति ही थे; उनसे भी दुर्योधनादिको उद्वेग हुआ। खोज करें तो अच्छे-अच्छे गृहस्थ, संन्यासी आदि महापुरुषोंद्वारा दूसरोंको उद्वेग हुआ देखा जाता है। पर दूसरोंको उद्वेग मूर्खताके कारण ही होता है। महापुरुष तो सर्वथा विकारशून्य होते हैं। भगवान्ने कहा है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
(गीता १२। १५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है।'

हमलोगोंको भगवान्के कथनपर ध्यान देना चाहिये। यदि यह एक श्लोक भी हमारे जीवनमें पूरा उतर जाय तो बेड़ा पार है।

जो अच्छे महात्मा पुरुष होते हैं, उनमें कोई विकार होता ही नहीं। हमलोग जो ऐसी धारणा कर लेते हैं कि ये हैं तो महात्मा, किंतु इनके प्रतिकूल कोई बात कह देंगे तो इनको दुःख होगा, ये रुष्ट हो जायँगे—इस प्रकार उनसे यदि हम भय करते हैं तो यह हमारे चित्तका दोष है, हमारी बेसमझी है। हम शब्दोंसे तो उनको महात्मा कहते हैं, किंतु हृदयसे वैसा नहीं मानते। किसी महात्मा पुरुषके मिल जानेपर तो हमारे चित्तमें यह भाव आना चाहिये कि 'देखो, ये भी मनुष्य हैं और हम भी मनुष्य; फिर हमको परमात्माकी प्राप्ति न होनेका क्या कारण है?' इन्होंने जिस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया है, उसी प्रकार हम भी कर सकते हैं। चाहे वह कठिन-से-कठिन साधन भी क्यों न हो, हम उसे करनेके लिये तैयार हैं।'

हमलोगोंको निश्चय रखना चाहिये कि महात्मा कभी रुष्ट होते ही नहीं। यह हमारी अज्ञता है, जो हम उनको अप्रसन्न समझकर उनसे भय करते हैं। उनकी चेष्टा तो हमारे परम हितके लिये ही हुआ करती है। उनकी रोष-सी चेष्टा भी कल्याण करनेवाली है, क्योंकि उनकी सारी क्रियाएँ हमारा कल्याण करनेवाली ही होती हैं। भगवान् किसीको कष्ट देते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही। इसी प्रकार निष्काम गुरु भी शिष्यके हितके लिये ही उसे दण्ड देता है। न्यायप्रेमी राजाका दण्ड भी हितके लिये ही होता है। मा बच्चेको उसके हितके लिये ही ताड़ना देती है। फिर महात्माका शासन अहितकर कैसे हो सकता है।

महात्माके चित्तमें कभी किसी बातको लेकर उद्वेग होता ही नहीं। फिर हम यह शङ्का और भय क्यों करें कि उसके चित्तमें दुःख और उद्वेग हो जायगा। हमारे देखनेमें यदि उसमें उत्तेजना आती है तो समझना चाहिये कि वह उत्तेजना हम लोगोंके लिये शिक्षाके रूपमें है। वास्तवमें वह उत्तेजना क्रोधयुक्त नहीं है। वास्तवमें क्रोधयुक्त उत्तेजनाके लक्षण दूसरे ही होते हैं। गीताके दूसरे अध्यायके ६३वें श्लोकमें भगवान्ने बतलाया है—

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

'क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेक-शक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

यदि किसीमें ये लक्षण हों तो समझना चाहिये कि उसमें क्रोधयुक्त उत्तेजना है। अन्यथा यदि कोई जिज्ञासुओंको शिक्षा देनेके लिये उत्तेजनाका स्वाँग करते हैं तो उनकी वह उत्तेजना क्रोधयुक्त नहीं है; क्योंकि उनमें उपर्युक्त दोष नहीं

आ सकते। महात्मा राजा जनक राज्य करते थे, वे दण्डनीय मनुष्यको दण्ड न दें तो राज्य कैसे चले । वे जो दण्ड दें, उस शासनको कोई यदि उत्तेजना मान ले तो यह माननेवालेकी भूल है ।

कोई अच्छा पुरुष है, उससे यदि दूसरोंको भय होता हो तो उसको यह समझना चाहिये कि तुममें कोई कमी है, नहीं तो इनको भय क्यों होता । एवं जिन पुरुषोंके मनमें भय होता है, उनको यह विचार करना चाहिये कि हमारे चित्तमें भय होनेका कारण क्या है । वह कारण है श्रद्धा-विश्वासकी कमी । यदि हम उन्हें महापुरुष समझते तो हमारे चित्तमें उनसे भय होनेका कोई कारण नहीं । हमको भय तो इस बातका होना चाहिये कि शास्त्र या महापुरुष जो कुछ हमको कह रहे हैं, उसका हम पालन नहीं करते । तथा यह हमारे लिये और भी विशेष भयकी बात है कि हम उसके विरुद्ध आचरण करें । यह बात साधकके लिये है । इस विषयमें एक रहस्यकी बात है । वह यह कि वास्तवमें जो महापुरुष होते हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे न माननेवालेको कोई दण्ड नहीं होता । यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसको दण्ड दे; क्योंकि जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे अपनी आज्ञा न माननेवालेको किसी प्रकारसे दण्ड दिलाना नहीं चाहते । भाव यह कि वे किसीको दण्ड हो, इस विषयमें निमित्त नहीं बनते ।

कोई आपका अपमान कर दे और आप सरकारी राज्यमें मान-हानिकी नालिश करें, तब यदि वास्तवमें आपका अपमान हुआ होगा तो सरकार उसे दण्ड दे सकती है । किसी जगह न्यायाधीश स्वयं देख लें कि इसका यह अनुचित व्यवहार है तो वे स्वयं भी दण्ड दे सकते हैं । किंतु यदि महात्मा नहीं चाहता कि मेरा अपराध करनेवालेको दण्ड मिले, तो ऐसी अवस्थामें यमराज हो या न्यायाधीश, उनकी सामर्थ्य नहीं कि वे महात्माकी आज्ञा न माननेवालेको महात्माकी इच्छाके बिना दण्ड दे सकें । महात्माका तो यह भाव रहता है कि मेरे निमित्तसे तो दूसरोंको लाभ ही होना चाहिये, हानि नहीं होनी चाहिये । यदि दण्डनीय मनुष्यको दण्ड देनेसे लाभ समझा जाता है तो वे स्वयं दण्ड दे देते हैं । जैसे राजा नहुषको अगस्त्यजीने उसके सुधारके लिये यह दण्ड दे दिया कि 'तुम सर्प हो जाओ ।' फिर दया करके यह भी कह दिया कि 'महाराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शापसे मुक्त कर देंगे ।' इसीसे वह महाराज युधिष्ठिरके दर्शन और वार्तालापके प्रभावसे उस पापसे मुक्त हो गया । इस प्रकार कहीं दण्ड देनेसे किसीको लाभ होता समझमें आता है तो वे स्वयं दण्ड दे सकते हैं । अतः उनका अनुग्रह तो अनुग्रह है ही, दण्ड भी अनुग्रह है । इसलिये हमलोगोंको महात्माओंसे कभी भय नहीं करना चाहिये ।

भय तो दुष्टोंसे भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि कोई भी दुष्ट मनुष्य दुष्टता कर सकता है, किंतु वास्तवमें हमें हानि नहीं पहुँचा सकता । जब हमने कोई पाप किया ही नहीं तो पाप किये बिना ईश्वरके राज्यमें दण्ड मिल ही कैसे सकता है । मनुष्य कोई-न-कोई अपराध किये रहता है, उसके फलस्वरूप ही कोई अत्याचार करनेवाला उसके अपराधके दण्ड-भोगमें निमित्त बन जाता है । जो अपराधी नहीं है, उसपर यदि कोई अत्याचार करता है तो अत्याचारीका अत्याचार निष्फल हो जाता है— जैसे भक्त प्रह्लादपर हिरण्यकशिपुका और भक्तिमती मीराँपर राणाजीका अत्याचार निष्फल हो गया था । उन्हें अत्याचारमें कहीं सफलता मिली ही नहीं; क्योंकि प्रह्लाद और मीराँ वास्तवमें अपराधी नहीं थे । किसीपर जो अत्याचार सफल होता है, वह उसके इस जन्म या पूर्वजन्मके किसी अपराधका फल है । अतः हमलोगोंको अत्याचारीपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये । श्रीरामके वनगमनके सम्बन्धमें माता कौसल्या भरतसे यही कहती हैं—

काहुहि दोसु देहु जनि ताता ।
भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥

'तात ! इस विषयमें किसीको दोष मत दो । विधाता मेरे लिये सब प्रकारसे उल्टा हो गया है ।'

अभिप्राय यह कि 'यह मेरे प्रारब्धका दोष है । न इसमें कैकेयीका दोष है और न मन्थराका ।'

यह बात सच्ची है । यही सबके लिये है । इसलिये अत्याचारीसे भी डरना नहीं चाहिये । तब फिर डरना किससे चाहिये ? पापसे । हम जो पाप करेंगे, उसका फल हमको अवश्य भोगना पड़ेगा । ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करना ही पाप है । अतः हमलोगोंको ईश्वरकी आज्ञाका कभी भङ्ग नहीं करना चाहिये ।

जहाँतक हो सके, राज्यके विधानका भी भङ्ग नहीं करना चाहिये । किंतु कहीं ऐसा प्रसङ्ग आ जाय कि एक ओर ईश्वरकी आज्ञा हो और उसके विरोधमें दूसरी ओर सरकारकी, वहाँ ईश्वरकी आज्ञाका पालन करके सरकारकी आज्ञा भङ्ग की जा सकती है । जैसे सरकारी कानून है कि चौदह वर्षकी आयु होनेपर कन्याका विवाह करना चाहिये, किंतु कन्या यदि बारहवें वर्षमें रजस्वला हो गयी तो शास्त्रकी आज्ञा है कि रजस्वला होनेसे पूर्व ही विवाह कर देना चाहिये और रजस्वला होनेके बाद तो तुरंत ही कर देना चाहिये ।* ऐसी अवस्थामें बारहवें-तेरहवें वर्षमें रजस्वला हो जानेपर कन्याका विवाह कर देना शास्त्राज्ञाके अनुकूल है, किंतु सरकारी आज्ञाके विरुद्ध है । जहाँ सरकारकी आज्ञा और ईश्वरकी आज्ञामें विरोध पड़े, वहाँ ईश्वरकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । उसके फलस्वरूप सरकारकी ओरसे दण्ड मिले तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये । वहाँ झूठ या छिपाव नहीं करना चाहिये । क्योंकि सरकारकी आज्ञा भङ्ग करनेसे जेल जाना पड़े तो कोई हानि नहीं है । इस समय भी तो हम जेलमें ही हैं । इस जेलमें जानेसे लंबी जेलसे छुटकारा मिल जाय तो थोड़ी देरके लिये इस जेलको भोग लेना चाहिये । ईश्वरका दण्ड लंबी जेल है । हर हालतमें भगवान्की आज्ञाका पालन तो होना ही चाहिये । सरकारकी आज्ञाका पालन न भी हो तो कोई बात नहीं । पर सरकारकी आज्ञाका भङ्ग करनेके साथ-साथ यदि भगवान्की आज्ञाका भी भङ्ग होता हो, तब तो और भी अधिक पाप है । जो मनुष्य चोरी करके, झूठ बोलकर इन्कमटैक्स या सेल-टैक्स नहीं देते, वे केवल सरकारके ही कानूनका भङ्ग नहीं करते, भगवान्की आज्ञाका भी भङ्ग करते हैं । शास्त्रकी आज्ञा भी भगवान्की ही आज्ञा है । शास्त्र कहते हैं—**सत्यं वद, धर्मं चर।** 'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो ।' अतः झूठ, चोरी, कपट, बेईमानी, जालसाजी करना ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करना है ।

सरकारकी यदि कोई अधर्मपूर्ण अनुचित आज्ञा हो तो उसका भङ्ग करनेपर लोग भी प्रशंसा करते हैं तथा ईश्वर भी रुष्ट नहीं होते । किंतु वहाँ सत्साहस आवश्यक है । सब प्रकार यातना सहते हुए जेल जानेके लिये तैयार रहना चाहिये, उससे हम पापमुक्त हो शुद्ध हो सकते हैं । किंतु यह सहन करनेकी शक्ति होनी चाहिये । भगवान्की आज्ञाको कभी नहीं टालना चाहिये । 'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो और

---

* प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरोऽनिशम् ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥

(पराशरस्मृति ७ । ७-८)

'जो मनुष्य बारह वर्षकी हो जानेपर अपनी कन्याका विवाह नहीं कर देता, तो (रजस्वला हो जानेसे) उसके पितरोंको सदाके लिये प्रतिमास उस कन्याके रजका पान करना पड़ता है । माता और पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता भी—ये तीनोंही यदि कन्याको रजस्वला होती देखते रहते हैं (रजस्वला होनेसे पूर्व उसका विवाह नहीं करते), तो नरकमें गिरते हैं ।'

भारी-से-भारी आपत्ति आ जानेपर भी झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी कभी मत करो ।'—इस ईश्वराज्ञाके पालनमें तत्परतापूर्वक सावधानी रखनी चाहिये । किंतु हिम्मत इसका नाम नहीं है कि हम सरकारकी चोरी करें और झूठ बोलें । सरकारकी जो कानून धर्मविरुद्ध हो, उसके लिये आप स्पष्ट कह दें कि हम इसे नहीं मानेंगे, सरकार हमें चाहे जो दण्ड दे । यदि आप यह कर सकें तो, आपकी शूरवीरता है । और जहाँ वीरता है, वहाँ उसके साथ धीरता और गम्भीरता अवश्य रहती है ।

महापुरुषोंके तत्त्व, रहस्य, भाव, प्रभाव और स्वभाव—इनमेंसे किसीको भी हम उनकी कृपासे जान लें तो फिर हमारा कल्याण होनेमें विलम्ब नहीं । जब मनुष्य महापुरुषका तत्त्व-रहस्य समझ जाता है, तब वह महापुरुष ही बन जाता है । नहीं तो उसने तत्त्व-रहस्य कहाँ समझा । वास्तवमें तो महापुरुषके तत्त्वको मनुष्य महापुरुष होकर ही समझ सकता है । जो महापुरुष है ही नहीं, उसको महापुरुषके तत्त्वका अनुभव हो ही कैसे सकता है । किंतु महापुरुष समझाना चाहें तो श्रद्धालु जिज्ञासु भक्त भी उनकी कृपासे उनके तत्त्व-रहस्यको समझ सकता है ।

महापुरुषोंका स्वभाव बहुत ही कोमल होता है । उनके द्वारा किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कर्म करनेवाला कोई है ही नहीं । जब कर्ता ही नहीं है, तब बिना कर्ताके अनिष्ट कौन किसका करे । अत: उनके द्वारा अनिष्ट हो ही नहीं सकता । किंतु यदि किसीका अनिष्ट होता-सा प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि यह अनिष्ट भोगनेवालेके पापका फल है । जैसे किसीने आग लगा दी तो आग लगानेवालेको पाप लगता है, अग्निको पाप नहीं लगता । इसी प्रकार गङ्गाका स्वभाव है बहना । वह बह रही है और उसके प्रवाहमें आकर कोई मर गया तो इसमें गङ्गाको दोष नहीं लगता । इसी प्रकार सूर्य तपता है । सूर्यकी धूपमें तपते-तपते कोई मर गया तो उसमें सूर्यका दोष नहीं है, उससे सूर्यको पाप नहीं लगता । क्योंकि अग्नि, गङ्गा और सूर्यकी नीयत किसीको कष्ट पहुँचाने या अनिष्ट करनेकी नहीं है ।

श्रीरामचरितमानसमें जो यह बताया गया है कि—

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गुसाईं ।
रबि पावक सुरसरि की नाईं ॥'

—इसका अर्थ यह नहीं है कि ये महान् विभूतियाँ हैं, इसलिये ये अपराधसे मुक्त हैं । जो महापुरुष होते हैं, वे किसीका अनिष्ट नहीं करते । वे तो कहीं किसीके प्रारब्धके कारण मारनेमें निमित्त बन जाते हैं । इसलिये उनको दोष नहीं लगता क्योंकि उन पुरुषोंमें व्यक्तिगत स्वार्थ और अभिमानका अत्यन्त अभाव होता है । इसी प्रकार सूर्य, अग्नि और गङ्गामें स्वार्थ, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानका अत्यन्त अभाव है । यही उनकी सामर्थ्य है । अत: कहीं वे किसी मरनेवालेके प्रारब्धके कारण निमित्तमात्र बन जाते हैं तो उनको इस सामर्थ्यके प्रभावसे पाप नहीं लगता । यह शक्ति जिस किसीमें भी हो, उसे पाप नहीं लगता । भगवान्ने कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
(गीता १८ । १७)

"जिस पुरुषके अन्त:करणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है ।"

अतएव हमलोगोंको ऐसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये ।

भगवान्‌का योग

(लेखक—साधुवेशमें एक पथिक)

प्राणी रसास्वादका प्रेमी है । जीवनका सारा पुरुषार्थ रसास्वादसे तृप्त होनेके लिये है । पर यह पुरुषार्थ भूल-भ्रान्ति-अज्ञानसे ढका है; इसलिये मानव अखण्ड एवं अनन्त रसको अनित्य वस्तुओंमें खोज रहा है । यही कारण है कि वह जिस अखण्ड रसको चाहता है, वह उसे मिलता नहीं और दुःख न चाहते हुए भी देखना पड़ता है । संसारमें जिन विवेकी पुरुषोंकी प्रीति अनन्त सत्यमें ही स्थिर है, उन्हींको अखण्ड तत्त्वका बोध और अनन्त रसकी अनुभूति होती है । उन्हें ही विद्वान् ज्ञानयोगी-भक्तियोगी नामसे सम्बोधित करते हैं ।

जो कुछ अपनेसे भिन्न है, उससे प्रीति करते हुए मनुष्य आसक्त होता है; जो परमतत्त्व अपनेसे अभिन्न है, उससे प्रीति होनेपर वह भक्त होता है । जो कुछ अपनेसे भिन्न है, वह संसारकी वस्तु है और अवश्य ही जड, एकदेशीय तथा परिवर्तनशील है । जो कुछ अपनेसे अभिन्न है, वही सत्य, चेतनस्वरूप, नित्य तथा अविनाशी है । अनित्य, विनाशी तथा जड वस्तुसे प्रीति करनेपर आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिवश ही वस्तु-व्यक्तिके प्रति लोभ-मोहकी वृद्धि होती है । अनित्य-विनाशी वस्तुसे लोभ-मोह हो जानेके कारण ही उनका परिवर्तन तथा विनाश होनेपर हानि और वियोगका दुःख भोगना पड़ता है । संसारमें हानि और वियोगके दुःखसे अनेक बार दुखी होनेपर मानवमें दुःखसे मुक्त होनेका विचार जाग्रत् होता है । विचारके द्वारा ही बुद्धिमान् मानवको अपने दुःखका एकमात्र कारण विनाशी वस्तुसे प्रीतिका होना दीख पड़ता है, तभी वह विनाशी-अनित्य वस्तुसे अपनी प्रीति हटाकर उसे नित्य-अविनाशी तत्त्वकी ओर मोड़ देता है; यही भक्तिकी साधना है । अपनेसे भिन्नको अभिन्न माननेसे आसक्ति होती है; अपनेसे अभिन्नको अभिन्न जान लेनेपर भक्ति होती है । जो वास्तवमें नहीं है, वह माना जाता है और जो वास्तविक सत्य है, उसे माननेकी आवश्यकता नहीं होती, वह जाना जाता है । परमेश्वरको अपना मानना जाननेका साधन अवश्य है । जो वास्तविक सत्य परमात्मा नित्य अभिन्न जाना जाता है, उसका कहीं अभाव नहीं होता, कभी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। उससे प्रीति करनेपर कभी वियोगका दुःख नहीं होता, तभी तो भक्त सदा भय और दुःखसे मुक्त रहता है । सांसारिक कामना ही भक्तको भगवान्‌से विमुख बनाती है; कामनारहित होकर ही कोई भगवान्‌का भक्त हो पाता है ।

कामनाकी पूर्तिमें जो रस है, वही अनित्य रस है। प्रीति ही रसास्वादका साधन है। जिसमें प्रीति होती है, वही वस्तु सबसे सुखद-सुन्दर प्रतीत होती है और उसमें रसास्वाद आनेके कारण ही आसक्ति हो जाती है, जो दुःखका कारण बनती है । मानव-जीवनमें रसास्वाद-की ऐसी भूख है कि उसे संसारकी अनित्य-विनाशी वस्तुके संयोगसे कभी तृप्ति ही नहीं होती । संसारमें ऐसा कोई संयोग दीखता ही नहीं, जिसमें वियोग न हो; इसलिये जब वियोगी मानवको प्रत्येक संयोगका अन्त वियोगमें दीखने लगता है, तब वह उसके योगकी अभिलाषा करता है, जो अपनेसे भिन्न कभी होता ही नहीं, जिसके योगानुभवसे संयोगकी दासता और वियोगका भय सदाके लिये छूट जाता है, जिसका योग प्राणीके साथ नित्य रहता है । वही परमात्मा अथवा भगवत्तत्त्व है । जो परमात्मा नित्य विद्यमान है, उसका

ज्ञान होनेपर नित्य योगका अनुभव होता है । जिसे परमात्माके नित्य योगका अनुभव होता है, उसे ही अखण्ड रसकी प्राप्ति होती है और जब परमात्मा चिन्मयरूपसे मनके स्तरतक उतर आता है (जिसे अवतरण कहते हैं), तब उस दिव्य-चिन्मय रूपमें पूर्ण प्रीति होनेपर अनन्त रसका आस्वादन होता है । ज्ञानके द्वारा अखण्ड और प्रेमके द्वारा अनन्त रसका आस्वाद मिलता है । ज्ञानके द्वारा उसे देखना है और प्रेमके द्वारा उसीसे घुल-मिल जाना है । यही ज्ञानयोग और भक्तियोगका किंचित्-सा कहनेके लिये अन्तर है ।

जिसमें इच्छाएँ——कामनाएँ हैं, उसीको जीव कहते हैं और जिसकी सत्तासे इच्छाओं-कामनाओंकी पूर्ति होती है तथा जिसके विधानसे न चाहनेपर भी प्रतिकूल परिणाम भोगना पड़ता है, वही परमात्मा-परमेश्वर है । परमेश्वरसे विमुख जीव वे हैं जो इच्छाओं, कामनाओंका रस लेते हुए उसकी सत्ताको नहीं जानते, किसी वस्तु या व्यक्तिको ही सुखदाता या पूर्तिकर्ता मान लेते हैं । ऐसे जीव वस्तु-व्यक्तिमें आसक्त रहकर, लोभी-मोही बनकर ईश्वरीय विधानसे परिणाममें सुखका अन्त दुःख देखते हैं । परमेश्वरके सम्मुख होनेवाले पुरुष वे हैं, जो इच्छाओं-कामनाओंकी पूर्ति ईश्वरकी सत्तासे होती हुई जानते हैं और उसके विधानका ध्यान रखते हुए किसी वस्तु तथा व्यक्तिसे ममता-आसक्ति न कर परमेश्वर परमात्मासे ही प्रीति करते हैं, ये ही सत्पुरुष भक्त होते हैं । मनुष्य संसारमें ऐश्वर्यके आगे नत होता है, माधुर्यके प्रति आकृष्ट होता है और सौन्दर्यपर मोहित होता है; पर उसे स्थायी ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य और असीम सौन्दर्य संसारमें कहीं भी नहीं मिलते; सांसारिक ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके पीछे भागनेवाला प्राणी अन्तमें निराश होता है और अगणित दुःख—कष्ट भोगता है ।

भगवान्‌की कृपासे बुद्धियोग प्राप्त होनेपर भक्तको भगवान्‌में ही शाश्वत ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य और असीम सौन्दर्यका दर्शन मिलता है । जिस साकार दिव्य-चिन्मय रूपमें एक साथ असीम माधुर्य, सौन्दर्य और ऐश्वर्यका योग दीखता है, वही भगवान् है । भगवान् वह है, जिसमें उस सब कुछकी पूर्णता हो, जिसकी मानव-हृदयमें अभिलाषा है । जिसमें अपूर्णता है, वही मानव है; जिसमें पूर्णता है, वही भगवान् है । ····यद्यपि भगवत्तत्त्वसे जीवकी स्वरूपमें एकता है, भिन्नता नहीं है, तो भी जबतक जीव बुद्धियोगी नहीं होता, तबतक वह भगवान्‌से नित्य-योगकी अनुभूतिसे वञ्चित रहता है । सरल विश्वासपूर्वक जो भगवान्‌का नित्य स्मरण करता है; उसीको भगवत्कृपासे बुद्धियोग प्राप्त होता है, इसके प्राप्त होनेपर अनित्यके पीछे नित्य भगवत्तत्त्व दीखने लगता है । भगवान्‌का निरन्तर स्मरण वही करता है, जो उससे सम्बन्ध जोड़ लेता है । उससे सम्बन्ध वही जोड़ता है, जो संसारसे निराश होकर निर्बल हो जाता है । निर्बल-निराश वही होता है, जिसे अपने साथ अपना कुछ भी नहीं प्रतीत होता, सब कुछ भगवान्‌से मिला दीखता है । जब सब कुछ भगवान्‌के विधानसे ही मिला दीखता है, तब लोभ-मोह-अभिमानकी निवृत्ति होती है । ऐसा होनेपर तन, धन, अधिकार तथा सम्बन्धियोंमें फँसी प्रीति सब ओरसे हटकर भगवान्‌में लग जाती है और भक्तिका परम पावन रूप धारण करती है ।

यद्यपि संसारके प्राणियोंमें दीखनेवाला प्रीति-अंश अनन्त प्रेमसिन्धु परमात्मासे ही सबको मिला है, तो भी अविवेकी प्राणी उसी प्रीतिके योगसे रस तो लेता है, पर उसे परमात्मासे मिली नहीं जानता और स्वयं अभिमानी बन जाता है ।····परमेश्वरसे विमुख जीवमें ही अहंकार-अभिमान रहता है; यह ऐसा पाप है, जो किसी भी शुभ कर्मसे दूर नहीं होता । यह तो तभी नष्ट होता है, जब भगवान्‌की शरणमें जानेके बाद विनम्रता आती है; यह विनम्रता ही अहंकारको अपने

भीतर पचा पाती है । यद्यपि भगवान्‌के भक्तमें केवल भगवान्‌का सेवक होनेका अभिमान होता है, तो भी विवेककी पूर्णतामें, अहंके पूर्ण समर्पण होनेमें वह अभिमान भी नहीं रह जाता ।

अनेक भावुक सज्जन भक्तिकी महिमा सुनकर उसे प्राप्त करनेकी उत्सुकता दिखाते हैं, तदनुसार साधना भी करते हैं और कुछ समय बीतनेपर 'भगवान्‌की कृपा नहीं होती' ऐसा मानकर संतोष कर लेते हैं। ऐसे साधक यदि आत्मनिरीक्षण करें तो उन्हें पता चलेगा कि अनेक सांसारिक कामना-इच्छाओंके बीचमें यह केवल भक्तिकी एक धुँधली-सी अभिलाषा है, उसकी पूर्तिके लिये यह साधारण-सा प्रयत्न है; भक्तिके लिये जितना त्याग-दान और दुर्बलताओंकी निवृत्तिके लिये जितना तप होना चाहिये, वह नहीं हो पाता; इसलिये भक्तिके पथमें प्रगति नहीं होती । भगवान्‌की भक्ति चाहनेवाला वही है, जो भक्तिके बिना कहीं कुछ भी पाकर चैन न ले ।···· संसारसे कुछ पानेकी आशा तथा सम्बन्ध ही भगवद्-भक्तिमें बाधक हैं । संसारसे निराशा और भगवान्‌से मिलनेकी व्याकुलता ही उसके सम्मुख कर देती है । निराश हुए बिना पूर्ण व्याकुलता नहीं आती, विषय-चिन्तन मिटे बिना भगवान्‌से सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता, सम्बन्ध जुड़े बिना प्रीति नहीं होती है और बिना प्रीतिके भगवच्चिन्तन नहीं होता ।

भगवान् वास्तवमें जीवनकी सर्वोपरि आवश्यकता है; वह जीवनकी ऐसी प्यास है, जिसकी पूर्ति कहींसे कभी न हुई है, न हो सकती है । जीव भले ही न जाने; पर वह अनजाने जो कुछ चाहता है, जिसके लिये दौड़ रहा है, अनेक कष्ट सह रहा है और बार-बार जन्म-मृत्युका दुःख सहता है, वही भगवान् है । प्रत्येक प्राणी धन-मान, भोग-वस्तु और व्यक्ति नहीं चाहता; वह सबमें केवल परम तृप्ति चाहता है, दुःखरहित आनन्द चाहता है, पूर्णता और पूर्ण स्वतन्त्रता—स्वामित्व चाहता है । जीव जो कुछ चाहता है, 'वह सब' जिसमें एक साथ हो, वही भगवत्तत्त्व अथवा भगवान् है । विवेकी मानव अमरत्व, पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द तथा समस्त बन्धनोंसे निवृत्तिरूप मोक्ष—अन्तमें ईशत्व चाहता है । यही जीवकी प्यास है—लक्ष्य है। ये पाँचों बातें जिसमें हैं वही भगवान् है । ये पाँचों बातें जिसे मिल जायँ, उसे ही भगवान्‌का योग पूर्ण हो गया । नास्तिक भी पाँच लक्षणोंसे युक्त भगवत्ताका योग चाहता है । इस तरह सभी भगवान्‌की ही ओर चल रहे हैं; यदि समझकर चलें तो सहस्रों वर्षोंकी यात्रा थोड़े ही समयमें पूरी हो सकती है ।

भगवत्प्राप्तिका अर्थ है—पूर्णत्वकी प्राप्ति।····मानव असत्—जड़में, दुःखमें आबद्ध होता है; वह यही चाहता है कि सच्चिदानन्दका योग हो । सच्चिदानन्दकी प्राप्ति ही भक्तियोगका रहस्य है। सभी मनुष्योंको अपने जीवन-के लक्ष्यका ज्ञान नहीं होता। एक अज्ञानीके सहस्रों लक्ष्य बनते हैं, पर सहस्रों ज्ञानियोंका एक ही लक्ष्य होता है। वह लक्ष्य है—सच्चिदानन्दस्वरूप अथवा पूर्णताकी प्राप्ति ।

राममय जीवन

गज-बाजि-घटा, भले भूरि भटा, बनिता, सुत भौंह तकैं सब वै।
धरनी, धनु धाम सरीरु भलो, सुरलोकहु चाहि इहै सुखु स्वै॥
सब फोकट साटक है तुलसी अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवनु जानकीनाथ! जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥

यह बिनती रघुबीर गुसाईं !

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

दीनदयाल; मैं सदासे यह समझता आया कि यह कष्टकी पराकाष्ठा है; पर आश्चर्य ! आगे और भी कष्ट बढ़ता गया। कई बार मैंने कष्टोंको 'आपके स्मरणका हेतु' समझकर स्वागत भी किया; पर नाथ ! अब तो बुद्धि स्थिर नहीं रही। यह बात बिल्कुल सत्य है कि मैंने आपका कभी भी ठीक ढंगसे स्मरण भी नहीं किया। सम्भव है, इसीलिये आपने उसकी उचित चिकित्साके लिये इसकी मात्रा अधिकाधिक बढ़ा दी हो और विवश कर दिया हो, निरन्तर अपनी ही ओर वृत्तियोंको एकाग्र कर देनेके लिये। यदि ऐसी बात है तो ये दोनों ही हमें सहर्ष स्वीकार हैं। न मुझे ऐसे कष्टसे ही घबराहट है और न कभी मैं आपकी स्मृतिसे—ध्यानसे ही पराङ्मुख होना चाहता हूँ। सच्ची बात तो यह है कि आपके अबाध ध्यानके लिये ही मेरे सारे प्रयत्न हैं। सचमुच मैं सर्वस्व त्यागकर भी आपकी अविरत—निरन्तर सुमधुर स्मृतिको जगाये रखनेकी लालसा रखता हूँ। कहा जाता है कि 'आपके चरणोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप तथा अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है। वह परम शान्ति तथा लोकोत्तर सुखका संचार करती है। उसके द्वारा अन्तःकरणकी नितान्त शुद्धि हो जाती है; उससे आपकी विशुद्ध भक्ति, पर वैराग्य एवं ज्ञान-विज्ञानकी भी प्राप्ति होती है।'[1] पर मैं तो इन सबोंके न होनेपर भी अकारण ही उसकी लालसा रखता हूँ। वस्तुतः ऊपर जो कुछ हो, उसकी चिन्ता नहीं; पर जैसे अत्यन्त भूखेको अन्न, तृषातुरको जलकी लालसा होती है, वैसे ही अरविन्दाक्ष ! मेरा मन आपकी निरन्तर स्मृतिकी इच्छा करता है। नाथ ! जैसे बिना पंखका पक्षि-शावक अपनी माता पक्षिणीकी राह देखता है, नवजात शिशु अपने माताके स्तनोंकी ओर दृष्टि लगाये रहता है और पतिव्रता पत्नी अपने परदेश गये पतिके आनेकी बाट जोहती है, वैसे ही मैं तुम्हारी उस मधुर स्मृतिकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

नाथ ! यदि वस्तुतः बात यही है, तो तुम फिर जो चाहो, करो। संसाररूपी भयंकर अग्निकी प्रचण्ड ज्वालामालासे निश्चय ही मेरे होश-हवाश गायब हो रहे हैं, चेतना लुप्त हो रही है। अधिक क्या, उधर देखनेपर, सोचनेपर दम घुटने-सा लगता है; पता नहीं चलता कि अगला श्वास आयेगा या नहीं। जान-अनजानमें मैंने आपके चरणोंकी शरण भी कभीसे ले ली है। फिर भी दया-सुधानिधे ! आपको जो अच्छा लगे, आप जिसमें यह देखें कि इसीसे मेरा यह अविरत स्मरण करेगा, आप वही करें, अवश्य करें। मैं उन सारी विपत्तियों, परिस्थितियोंके लिये सर्वथा सर्वदा तैयार हूँ, तत्पर हूँ—

> भवानलज्वालविलुप्तचेतनः
> शरण्य तेऽङ्घ्रि शरणं भयादयाम्।
> विभाव्य भूयोऽपि दयासुधाम्बुधे
> विधेहि मे नाथ यथायथेच्छसि ॥
> (करुणा० २)

नाथ ! शास्त्रों तथा संतोंसे जाना जाता है कि आपकी कृपा-सुधाके ये सौभाग्यशाली व्यक्ति पात्र होते हैं—एक तो खिन्न[2]-दुखिया; दूसरे दीन[3]; तीसरे उपेक्षित—असहाय, जिनका संसारमें कोई सहायक न रह गया हो, जिनपर संसारके किसी भी जीवकी स्निग्ध दृष्टि न पड़ती हो; चौथे वे, जो सबोंका मोह छोड़कर आपकी शरण लेते हैं[4]। जो संसारकी सभी परिस्थितियोंमें शान्त तथा एकरस रहते हुए, उनसे अनाश्रित रहकर नित्य निरन्तर श्रद्धापूर्वक आपके चरणोंमें लीन रहते हैं, वे भक्त तो आपको परमप्रिय होते हैं।[5] जिनका मन अत्यन्त निर्मल होता

---

[1] अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ५४)

[2] 'जिनहि परमप्रिय खिन्न।'

[3] 'दीनहित बिरद पुरानन्हि गायो।'
'जेहि दीन पिआरे, बेद पुकारे।'

[4] ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५; स्कन्दपु० वैष्णव० वैशाखमाहा० १३। ३६)

[5] तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥
(गीता १२। १९-२०)

है, जो सर्वथा सभी प्राणियोंके साथ तथा आपके साथ निश्छल व्यवहार करते हैं, वे भी आपको तुरंत प्राप्त कर लेते हैं; वे भी आपको बहुत ही प्रिय होते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई । भजतहिं कृपा करत रघुराई[1] ॥

—और ज्ञानी भक्त तो आपको सर्वाधिक प्रिय होते हैं, एक प्रकारसे आपकी आत्मा ही होते हैं—

ग्यानी प्रभुहि बिसेष पिआरा ।
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । (गीता ७ । १८)

—और फिर धर्मात्मा ब्राह्मण, जो आपका आश्रित हो, वह भी आपको प्रिय है, आपका स्वरूप है—

ब्राह्मणो मामकी तनुः ।
मम मूरति महिदेवमयी है ।

प्रभो ! देखता हूँ, मैं इनमेंसे एकाधिक हूँ । दीनता और खिन्नता तो जैसे मेरे बाँटमें ही आ गयी हैं, मैं उपेक्षित भी कम नहीं हूँ । संसारका स्वभाव ही यह है कि शरणमें आये हुएको लोग ठुकराते हैं । विशेषकर कलियुगमें तो प्रभो ! भिखमंगों, दीनोंको मार-भगाकर अपना पिण्ड छुड़ानेमें ही लोग अपना कल्याण, अपनी बुद्धिमानी मानते हैं । फलतः नाथ ! मैं जिनके ही शरण गया, जिनके ही सामने अपने दैन्यभावको प्रकटकर उनसे मैत्री करनेकी इच्छा की, उन्होंने ही तीव्र उपेक्षा की, जोरोंसे फटकारा । ब्राह्मण होकर अन्त्यजोंको भी अपनेसे श्रेष्ठ मानकर सद्व्यवहार किया । उन अन्त्यजोंने भी मुझे कुत्तेसे हीन समझकर बार-बार दुत्कारा । मैंने जहाँ ही हाथ फैलाया, वहींसे घोर निराशा मिली । पशु-पक्षियोंने भी स्निग्ध दृष्टि नहीं डाली, मनुष्योंको तो सामने पहुँचते ही उपद्रवरूप प्रतीत हुआ । अनेक स्थानोंपर, अनेक दुर्गम स्थलोंपर केवल भोजनके लिये दौड़ा, पर कोई फल नहीं निकला । अपनी जाति, कुल तथा मनुष्यताका अभिमान छोड़कर सब प्रकारसे दूसरोंकी सेवा की, पर वह भी निष्फल गयी । दूसरोंके घर अपमानित होकर भोजन करना पड़ा, कौए-जैसा सशङ्क होकर वहाँ भी बराबर डरता ही रहा (कि देखूँ कब भगाता है) । अपमानके तो, जो मृत्युसे भी बढ़कर है[2] मानो सागरमें ही डूब गया, फिर भी बड़ी शान्तिसे उसे निरन्तर सहता रहा । प्रायः इसी प्रकार सारी अवस्था बीत गयी पर तृष्णा अब भी शान्त नहीं हुई । पता नहीं चलता कि अब कौन-सा दुर्दिन, दुर्गति देखनेको अवशेष है, जिसके कारण मैं इस मोहपाशसे अलग होकर कहीं निर्जन स्थलमें जाकर आसक्त नित्य-निरन्तर भजन-चिन्तन आरम्भ नहीं करता—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशङ्कया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यसि ॥
(वैराग्यशतक ५)

दुष्टोंके वाग्बाणोंको निर्विकार चित्तसे सहते हुए उनकी सेवा की । अन्तर्हृदयके घाव और रुलाईको रोककर शून्य मनसे ऊपरसे हँसनेका नाटक किया । जिन लोगोंने महामूर्ख मानकर घृणासे मेरा उपहास किया, उन्हें भी चित्त रोककर मैंने अञ्जलि जोड़ी । अबतक तो यही दशा रही, पता नहीं किस पूर्ण न होनेवाली दुराशासे मैं इस प्रकारका नाच अबतक नाचता रहा और पता नहीं कबतक नाचूँगा—

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै-
र्निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा ।
कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥
(वैराग्य० ६)

निश्चय ही यह सब हमारे प्राक्तन तथा इदंतन दुष्कर्मोंका ही परिणाम है । और जब इनके परिपाकका समय आया है, तब निरुपाय होकर आपके आगे क्रन्दन करने लग गया, चिल्ला-चिल्लाकर रोने लग गया हूँ । जो भी हो, अब तो मैं इस संसारके क्लेशरूपी अनन्त महासागरमें बड़े जोरोंसे डूब रहा हूँ—चिरकालसे डूब रहा हूँ; कहीं कोई भी वारापार नहीं दीखता । बस, हे निसर्ग-सुहृद् ! हे आश्रितवत्सल ! हे कृपासिन्धु ! अब आप कृपया मेरा उद्धार कर लें ! भगवन् ! वस्तुतः आपकी कृपाका मैं अनुपम पात्र हूँ—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
सोऽहं बिपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥
निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः ।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥
(आलवंदारस्तोत्र २६-२७)

---

[1] स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥
(श्रीमद्भागवत १ । ३ । ३८)

[2] वरं प्राणपरित्यागो मानभङ्गेन जीवनात् ।
प्राणनाशे क्षणं दुःखं मानभङ्गे दिने दिने ॥
(चाणक्य० १६ । १६)

नीरस तथा एक प्रकारका उपद्रव-सा मानकर सभीने मेरा परित्याग कर दिया। जन्म-जन्मान्तरोंमें कितनी स्त्रियाँ तथा पुत्रादि परिवार हुए, पर वे अब कहाँ और हम कहाँ—

कति नाम सुता न लालिताः
कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि ।
क नु ते क नु ताः क वा वयं
भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः ॥

कभी तो ऐसा लगता है कि नाथ इस! परिस्थितिके भीतर भी आपकी ही कृपा काम कर रही है। सचमुच यदि ऐसी दुरवस्था न होती तो कदाचित् इस प्रकारका रोना जो कभी-कभी आपके चरणोंमें रोया करता हूँ और इसी नाते आपके पाप-तापोपशामक परम मङ्गलमय चरणोंमें दो अश्रुबिन्दु अर्पण करता हूँ, वह भी न करता। वस्तुतः यदि कुछ ऐसा तथ्य न होता तो भावुक, मर्मज्ञ, कुशल जन—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।

—की याचना क्यों करते। इस नाते तो जिसे हम विपत्ति समझते हैं, वह विपत्ति नहीं, अपितु तपरूप महासंम्पत्ति[1] ही है। वास्तविक विपत्ति तो वह सम्पत्ति ही है, जिसके मिलनेसे हर्ष, प्रमाद, दर्प, धर्मातिक्रमण तथा उसीके साथ-साथ समस्त मङ्गलोंके मूल आपके चरणोंकी भी विस्मृति हो जाती है और फलतः प्राणी सदाके लिये नरक[2]का अतिथि बन जाता है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः ।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ॥

सचमुच यह बात यदि ऐसी ही हो तो तनिक भी आश्चर्य नहीं। क्योंकि प्राणी जिसे सुख मानता है, उसमें कहीं भी निरवच्छिन्न, दुःखानुवेधविधुर आनन्दकी बात नहीं है।[3] ये सुख तो कुपित फणिके फणातपत्रकी छायाके तुल्य ही हैं। जैसे कोई अज्ञानी जन आतपसे तप्त होकर उस छायामें जानेका प्रयत्न करे, वैसे ही हम सब महान् अज्ञानी बालक इन सांसारिक प्रलोभनोंकी ओर चलते हैं। सचमुच यह दशा मीन तथा पतङ्गोंसे भी गयी-गुजरी है—

जद्यपि मीन पतंग हीन मति मोहि नहिं पूजहिं ओऊ ॥
(देखिये वैराग्यशतक २१)

वस्तुतः इन शोक-मोह, जरा-मरण, भय-विषाद-मूर्च्छा आदि क्लेशोंसे उद्विग्न न होकर इस दीपशिखाके समान चञ्चल संसारमें स्थिरताको देखनेवाले हम महर्षि वसिष्ठके शब्दोंमें नरके वेषमें राक्षस ही हैं—

शुभाशुभप्रसरपराहताकृतौ
ज्वलज्जरामरणविषादमूर्च्छिते ।
व्यथेह यस्य मनसि भो न जायते
नराकृतिर्जगति स राम राक्षसः ॥
(योगवासिष्ठ, स्थिति ४२ । ५२)

शास्त्रोंके अनुसार इहलोक तो क्या, प्राजापत्य, ब्राह्मादि लोक भी सातिशय तथा क्षयिष्णु होनेके कारण दुःखरूप कहे गये हैं—

गान्धर्वे च तथा चान्द्रे सौम्यलोके द्विजोत्तमाः ।
प्राजापत्ये तथा ब्राह्मे प्राकृते पौरुषे तथा ॥
क्षयसातिशयाद्यैस्तु दुःखैर्दुःखानि सुव्रताः ।
(लिङ्गपुराण १ । ८६ । २६-२७)

परोत्कर्षासहिष्णुत्वं स्पर्धा चैव समैश्च तैः ।
कनिष्ठेषु च संतोषो यावत्पुण्यक्षयो भवेत् ॥
क्षीणे पुण्ये विशन्त्येतं मर्त्यलोकं च मानवाः ।
इत्यादिगुणदोषाश्च स्वर्गे राजन्नवस्थिताः ॥
(योगवासिष्ठ, वैराग्य १ । ३८-३९)

ऐसी दशामें स्वेतरसमस्तवस्तुजातविलक्षण प्रभो ! इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं कि सुख-शान्ति एकमात्र आपकी उज्ज्वल नख-मणि-पङ्क्तिकाके ध्यानमें ही है।

---

[1] एतद् वै परमं तपो ··· यद् व्याहितस्तप्यते ।
(बृहदारण्यक ५ । ११ । १)

[2] (क) हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः ।
(आपस्तम्बीय धर्मसूत्र १ । १३ । ४)

(ख) प्रियं हि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः ।
उत्सेको नरकायैव तस्मात् तान् संत्यजाम्यहम् ॥
(महाभा० शान्तिपर्व २८६ । १७)

[3] (क) दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख-
पीडानुवेधविधुरा न सुखस्य वृत्तिः ।
(राजतरङ्गिणी)

(ख) यद्यत् प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय जायते ।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति ॥
यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥
(विष्णुपुराण १ । १७ । ६६)

जो अपने सहित अशेष विश्वको भूलकर एकमात्र आपका एक या आधे मुहूर्त भी ध्यान करता है, श्रद्धा तथा तल्लीनतापूर्वक आपका स्मरण करता है, वह जिस गतिको; जिस सुख-शान्तिको प्राप्त होता है, उसे सभी महायज्ञोंके अनुष्ठानसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता—

एवं मुहूर्तमर्धं वा ध्यायेद् यः श्रद्धया हरिम् ।
सोऽपि यां गतिमाप्नोति न तां सर्वैर्महामखैः ॥

(अग्निपुराण ३७४ । ६)

अत्यन्त पातकी व्यक्ति भी यदि एक क्षण आपका ध्यान कर लेता है तो वह पंक्तिपावनोंको भी पावन करने योग्य बन जाता हैं[1] । कृपानिधान ! आपकी चिन्मयता तथा शक्त्यतिशयताके कारण आपका तनिक भी प्रेमपूर्वक किया गया ध्यान बड़ा ही मङ्गलमय होता है । आपके चरित्रके कीर्तन तथा श्रवणमें भी आपका ध्यान होता है । अतः आपका कथा-कीर्तन भी महामङ्गलमय है । संतोंकी संगतिमें आपके मधुमय, कल्याणप्रद चरित्रका ही कीर्तन होता है, अमृतमय भवचरित्र ही प्रवाहित होता रहता है[2] । अतः उसे स्वर्ग तथा मोक्षसे भी अधिक सुखद कहा गया है[3] । इन सबोंकी महिमामें आपका अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्यकिशोर, लावण्यमय, अमृतोपम श्रीविग्रह ही मूल हेतु है । आपके वरद चरणोंके अनुरागामृत-सिन्धुका एक शीकर (बुन्द) मात्र भी इस भयानक संसृति-दावाग्निको शान्त करनेके लिये पर्याप्त है[4] । किंतु नाथ ! क्या मैंने इनमेंसे कुछ भी किया है ? निस्संदेह कुछ नहीं किया । क्या तुम्हें सर्वेश्वर मानकर मैंने तनिक भी आदर दिया ! तुम्हारी थोड़ी भी श्रद्धा-भक्ति की ? क्या तुम विश्वेशकी आज्ञामयी 'श्रुति-स्मृति' की प्रतिष्ठापूर्वक उनमें कहे धर्मोंका भयसे कुछ भी अनुष्ठान किया ? या नियमतः तुम्हारी तनिक भी सपर्या की ? नहीं, मैंने तो तुम्हें एकमात्र अपने स्वार्थोंका साधन बना रखा है। नाथ ! जब अपनी ओर देखता हूँ तो अपनेको केवल जघन्य अपराधोंका भंडार पाता हूँ । और अब तो पापमयी दृष्टि भी कुछ ऐसी मन्द पड़ गयी कि अपने अपराध भी नहीं दीखते। वस्तुतः मैं सर्वथा श्रान्त, निर्जीव, निर्बुद्धि हो गया हूँ तथा उत्तरोत्तर पतनकी ओर जा रहा हूँ । मुझसे कोई साधना होगी, इसकी आशा आप करें तो वह व्यर्थ-सी ही है, सचमुच मैं सभी प्रकार थककर, भय तथा दुःखसे अतिशय पीड़ित होकर वाणीमात्रसे आपके शरण हूँ—

थके नयन पद पानि सुमति बल, संग सकल बिछुरयो ।
अब रघुनाथ ! सरन आयो जन भव भय बिकल डरयो ॥

ऐसी दशामें अब क्या कहूँ—बस, मेरे सारे अपराधोंको आप क्षमा करें और अब कृपापूर्वक अपनायें—'लाद दे लदाय दे' का नियम सोचें यही प्रार्थना है। 'सर्वतः श्रुतिमल्लोके'के नियमसे आपके कान, आँख, मन सर्वत्र हैं ही; इसलिये यह प्रार्थना लिखते, सोचते समय भी आप सब जान रहे हैं, इसमें तो संदेह ही नहीं । सच्ची बात तो यह है कि इस आशाजनक क्रियाके प्रेरक भी वस्तुतः आप तथा आपका मङ्गलमय संकल्प ही है ।

---

[1] (क) सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायेन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥
(बृहद्योगियाज्ञ० ९ । १८१)

(ख) नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं निधाय यः । संशीलयेत्क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला ॥
(काशी ख० २१ । ५८)

[2] तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति । (श्रीमद्भा० ४ । २९ । ४१)

[3] तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(श्रीमद्भा० १ । १८ । १३; ४ । ३० । ३८)

[4] उदीर्णसंसारदवाशुशुक्षणिं क्षणेन निर्वाप्य परां च निर्वृतिम् ।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाम्बुजद्वयानुरागामृतसिन्धुशीकरः ॥
(आलवन्दार स्तोत्र ३२)

[5] श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते । आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥ (वाधूलस्मृति १८९)

श्रीराधा-माधवका महत्त्व, स्वरूप, तत्त्व और सम्बन्ध

(श्रीराधाष्टमी-महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण)

[दिनमें]

दिशि दिशि रचयन्तीं संचरन्नेत्रलक्ष्मी-
विलसितखुरलीभिः खञ्जरीटस्य खेलाम् ।
हृदयमधुपमल्लीं बल्लवाधीशसूनो-
रखिलगुणगभीरां राधिकामर्चयामि ॥
पितुरिह वृषभानोरन्ववायप्रशस्तिं
जगति किल समस्ते सुष्ठु विस्तारयन्तीम् ।
व्रजनृपतिकुमारं खेलयन्तीं सखीभिः
सुरभिणि निजकुण्डे राधिकामर्चयामि ॥

श्रीराधा-माधव-महिमा

जीवमात्र आनन्दकी इच्छा करते हैं—पूर्ण, नित्य और अखण्ड आनन्द चाहते हैं और अनवरत आनन्दके ही अनुसंधानमें लगे हैं । वे आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते । क्योंकि सब आनन्दसे ही निकले हैं, आनन्दमें ही निवास कर रहे हैं और आनन्दमें ही उन्हें लौट जाना है । परंतु आनन्द है क्या वस्तु और वह कहाँ है तथा कैसे प्राप्त हो सकता है, इस बातको जीव भूल गया है और इसीसे वह स्त्री-स्वामी, पिता-पुत्र, धन-सम्मान, पद-अधिकार आदि विनाशी प्राणी-पदार्थोंमें आनन्दकी खोज करता है । वस्तुतः आनन्दघन तो हैं भगवान् श्रीकृष्ण ही । अतएव नित्य, पूर्ण, अखण्ड आनन्दकी खोजमें प्रकारान्तरसे वह प्रतिक्षण श्रीकृष्णानुसंधानमें ही लगा है; पर वह भूल रहा है । इसी भूलको मिटाकर उसे सच्चे आनन्दके दर्शन करानेके लिये पूर्णानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना संतोंने बतायी है । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि जितने भी प्रकारके प्रेमोंसे विशुद्ध आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णका आराधन होता है, उन सबके साधन तथा स्वरूप पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं । ये सारे प्रेम एक ही साथ, एक ही रूपमें जहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हों, ऐसा कोई मूर्तिमान् उदाहरण उपस्थित करनेके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही नित्य 'राधा' बने हुए हैं । ये श्रीराधा श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण आनन्दशक्ति (ह्लादिनी शक्ति) हैं, अतएव ये ही श्रीकृष्णकी आत्मा और जीवनाधार हैं । नित्य-सत्य चिदानन्द-प्रेमरस-विग्रह अखिलविश्वेश्वर श्रीकृष्ण इसीसे परम प्रेमस्वरूपा श्रीराधाके नितान्त वशीभूत और सर्वथा अनुगत हैं । जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है; प्रेमके बिना आनन्द नहीं रहता । आनन्दके बिना प्रेम नहीं रहता । श्रीकृष्ण आनन्दके घनीभूत श्रीविग्रह हैं । श्रीराधा प्रेमकी घनीभूत मूर्ति हैं । राधाके बिना श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके बिना श्रीराधा रह ही नहीं सकतीं ।

श्रीकृष्ण ही राधाके जीवन हैं और श्रीराधा ही कृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं । श्रीकृष्ण भोक्ता हैं, श्रीराधा भोग्या हैं; श्रीकृष्ण सेव्य हैं, श्रीराधा सेविका हैं; श्रीकृष्ण आराध्य हैं, श्रीराधा आराधिका हैं । कहीं-कहीं इसके ठीक विपरीत, श्रीकृष्ण भोग्य हैं, सेवक हैं, आराधक हैं और श्रीराधा भोक्ता, सेव्या और आराध्या हैं ।

इन आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाकी लाखों-करोड़ों अन्तरङ्ग वृत्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिपल श्रीराधा-कृष्णकी सेवा तथा उनकी सुख-संवर्धनामें लगी रहती हैं । श्रीराधा-कृष्णको प्रसन्न—सुखी देखना तथा करना ही इनका एकमात्र लक्ष्य, स्वभाव या स्वरूप है । ये श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा सखी-सहचरियाँ सदा-सर्वदा सेवामें संलग्न रहती हैं और श्रीराधाकृष्णके सुखार्थ इनके द्वारा तथा इनके माध्यमसे जो दिव्य क्रीड़ा प्रकट होती रहती है, उसीका नाम 'रास' है । यह रास नित्य चलता रहता है । श्रीकृष्ण सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं भगवान् हैं । वे ही अखिल-रस-सुधा-विग्रह हैं । इन रसराज, रसरूप, रसिकशेखरके रसास्वादनके लिये होनेवाली चिदानन्द-रसमयी क्रीड़ाका नाम ही 'रास' है । इसीसे स्वयं नारायणके नाभि-कमलसे प्रादुर्भूत श्रीब्रह्माजी तथा रसिकेन्द्रशेखरके हृदयपर नित्य विहार करनेवाली साक्षात् लक्ष्मीजीको भी प्रेमी-भक्तगण इस 'रास'का अधिकारी नहीं मानते । दिव्यप्रेमस्वरूपा गोपीजन और दिव्यानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी यह रासलीला कामगन्धशून्य है । गोपियोंका यह प्रेम उद्दीप्त दिव्य सात्त्विक भाव है । इसीको वैष्णव संत 'रूढ महाभाव' कहते हैं । श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंकी सेवासे भगवान् श्रीकृष्णको जितनी प्रसन्नता होती है, भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे उनको उससे कहीं अधिक आनन्द प्राप्त होता है । यों परस्पर होड़-सी लगी रहती है और निरन्तर एक दूसरेके सुखका अनुसंधान बना रहता है । यह लीला वस्तुतः अपने-आपमें ही होती

है। भगवान् नित्य सत्य तथा अविच्छिन्न हैं, उनकी यह अविच्छिन्नता इस लीलामें भी सदा अक्षुण्ण रहती है। श्रीराधा श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता शक्ति हैं। इसलिये उनका नित्य ऐक्य है। श्रीकृष्णका सारा आनन्द उनमें परिपूर्ण है और वही श्रीकृष्णको भी नित्य आनन्द देनेवाली हैं।

आनन्द-चिन्मय रसरूप प्रेमका परम सार है—'महाभाव' और श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं। इस महाभावके आनन्दका आस्वादन करनेके लिये आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण सदा लालायित रहते हैं। इसीसे पूर्णकाममें कामना तथा नित्य तृष्णाहीनमें तृष्णाका उदय देखा जाता है और वे (श्रीराधा) श्रीकृष्णकी दिव्य रसमयी लालसा, कामना और तृष्णाको पूर्ण करनेमें ही नित्य संलग्न रहती हैं।

व्रजके श्रीकृष्णकी उपासना सौन्दर्यकी उपासना है। इसमें रसकी प्रधानता है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सौन्दर्यके आधार, अखिलरसामृतसिन्धु हैं; उनकी आराधनाके लिये आराधकको भी सुन्दर बनना आवश्यक है। इस सुन्दरतामें केवल बाह्य सुन्दरताको ही स्थान नहीं है। बाह्य सौन्दर्य भी अपेक्षित है, परंतु सच्चा सौन्दर्य तो हृदयका है—जिसमें अहंता, कामना, वासनाका कलङ्क-लेश नहीं, विषयासक्तिकी तनिक-सी मलिनताकी छाया नहीं तथा स्व-सुखकी किंचित् भी चाह नहीं है। जो केवल प्रियतमके प्रेम-रसरूप सुधासे ही नित्य परिपूर्ण है, जिसमें केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी ही चाह सहज है, ऐसे दिव्य अनन्त अखण्ड अनन्य सौन्दर्यकी मूर्तिमती प्रतिमा हैं—श्रीराधाजी! इन्हीं श्रीराधाजीके भावोंको आदर्श मानकर इस पावन प्रेम-पथपर अनन्य प्रेमपिपासु विषयविरक्त त्यागी साधक अग्रसर हो सकता है। इस पथपर चलनेवालोंको श्रीराधाके आदर्शका ध्यान रखते हुए इनके भक्तोंकी पदधूलिको मस्तकपर धारण करके चलनेका प्रयास करना चाहिये। अब कुछ क्षण माधवसहित श्रीराधाजीकी पुण्य महिमा-स्मृतिमें बिताइये—

शिवकृत राधा-स्वरूप-महिमा

पद्मपुराणमें भगवान् शंकर देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—श्रीकृष्णप्रिया राधा अपनी चैतन्य आदि अन्तरङ्ग विभूतियोंसे इस प्रपञ्चका गोपन—संरक्षण करती हैं, इसलिये उन्हें 'गोपी' कहते हैं। वे श्रीकृष्णकी आराधनामें तन्मय होनेके कारण 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीकृष्णमयी होनेसे ही वे परा देवता हैं, पूर्णतः लक्ष्मीस्वरूपा हैं। श्रीकृष्णके आह्लादका मूर्तिमान् स्वरूप होनेके कारण मनीषीजन उन्हें 'ह्लादिनी-शक्ति' कहते हैं। श्रीराधा साक्षात् महालक्ष्मी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं। मुनिश्रेष्ठ! इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। श्रीराधा दुर्गा हैं तो श्रीकृष्ण रुद्र। वे सावित्री हैं तो ये साक्षात् ब्रह्मा हैं। अधिक क्या कहा जाय, उन दोनोंके बिना किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं है। जड-चेतनमय सारा संसार श्रीराधा-कृष्णका ही स्वरूप है। इस प्रकार सबको इन्हीं दोनोंकी विभूति समझो। मैं नाम ले-लेकर गिनाने लगूँ तो सौ करोड़ वर्षोंमें भी उस विभूतिका वर्णन नहीं कर सकता। तीनों लोकोंमें पृथ्वी सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है। उसमें भी जम्बूद्वीप सब द्वीपोंमें श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपमें भी भारतवर्ष और भारतवर्षमें भी मथुरापुरी श्रेष्ठ है। मथुरामें भी वृन्दावन, वृन्दावनमें भी गोपियोंका समुदाय, उस समुदायमें भी श्रीराधाकी सखियोंका वर्ग तथा उसमें भी स्वयं श्रीराधिकाजी सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्रीनारदद्वारा राधा-दर्शन तथा स्तवन

इन अखिल-जगदीश्वरी, रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, नित्य-श्रीकृष्णवल्लभा, श्रीकृष्णात्मा, श्रीकृष्णप्राणस्वरूपा, श्रीकृष्णाराधनतत्परा, श्रीकृष्णाराध्या श्रीश्रीराधाजीका मङ्गलमय दर्शन प्राप्त करनेके लिये देवर्षि नारद श्रीवृषभानुपुर पहुँचे और वहाँ वृषभानुके साथ प्रसूतिघरमें प्रवेश करके पृथ्वीपर सोयी हुई अखिल जगज्जननी अखिल-सौन्दर्य-प्रतिमा नवजात कन्याको देखकर वे मुग्ध हो गये और एकमात्र रसायनरूप परमानन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लगे। तदनन्तर उन्होंने कन्याको अपनी गोदमें उठा लिया और गोप-प्रवर भानुको कार्यान्तरसे कहीं अन्यत्र भेजकर वे उन दिव्यरूपधारिणी बालिकाकी स्तुति करने लगे—

नारदजी बोले—'देवि! तुम महायोगमयी हो, मायाकी अधीश्वरी हो। तुम्हारा तेजःपुञ्ज महान् है। तुम्हारे दिव्याङ्ग मनको अत्यन्त मोहित करनेवाले हैं। तुम महान् माधुर्यकी वर्षा करनेवाली हो। तुम्हारा हृदय अत्यन्त अद्भुत रसानुभूतिजनित दिव्य आनन्दसे परिप्लुत तथा शिथिल रहता है। मेरा कोई महान् सौभाग्य था, जिससे तुम मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुई हो। देवि! तुम्हारी दृष्टि सदा आन्तरिक दिव्य सुखमें निमग्न दिखायी देती है। तुम भीतर-ही-भीतर किसी अगाध आनन्दसे परितृप्त जान पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर एवं शान्त मुखमण्डल

तुम्हारे अन्तःकरणमें किसी परम आश्चर्यमय आनन्दके उद्रेककी सूचना दे रहा है। सृष्टि, स्थिति और संहार तुम्हारे ही स्वरूप हैं; तुम्हीं इनका अधिष्ठान हो। तुम्हीं विशुद्धसत्त्वमयी हो तथा तुम्हीं पराविद्यारूपिणी शक्ति हो। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। ब्रह्मा और रुद्र आदिके लिये भी तुम्हारे तत्त्वका बोध होना कठिन है। बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी तुम कभी नहीं आतीं। तुम्हीं सबकी अधीश्वरी हो। इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति—ये सब तुम्हारे अंश-मात्र हैं। ऐसी ही मेरी धारणा है—मेरी बुद्धिमें यही बात आती है। मायासे बालकरूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो मायामयी अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सब तुम्हारी अंशभूता हैं। तुम आनन्दरूपिणी शक्ति और सबकी ईश्वरी हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें तुम्हारे ही साथ नित्य लीला करते हैं। कुमारावस्थामें भी तुम अपने रूपसे विश्वको मोहित करनेकी शक्ति रखती हो। किंतु तुम्हारा जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको परमप्रिय है, आज मैं उसीका दर्शन करना चाहता हूँ। महेश्वरि! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ, चरणोंमें पड़ा हूँ। मुझपर दया करके इस समय अपना वह मनोहर रूप प्रकट करो, जिसे देखकर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भी मोहित हो जायँगे।'

यों कहकर देवर्षि नारदजी श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए इस प्रकार उनके गुणोंका गान करने लगे—'भक्तोंके चित्त चुरानेवाले श्रीकृष्ण! तुम्हारी जय हो! वृन्दावनके प्रेमी गोविन्द! तुम्हारी जय हो। बाँकी भौंहोंके कारण अत्यन्त सुन्दर, वंशी बजानेमें व्यग्र, मोरपंखका मुकुट धारण करनेवाले गोपीमोहन! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने श्रीअङ्गोंमें कुङ्कुम लगाकर रत्नमय आभूषण धारण करनेवाले नन्दनन्दन! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने किशोरस्वरूपसे प्रेमीजनोंका मन मोहनेवाले जगदीश्वर! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तुम्हारी ही कृपासे तुम्हें अभिनव तरुणावस्थाके अङ्ग-अङ्गमें मनोहर शोभा धारण करनेवाली इस दिव्यरूपा बालिकाके साथ देखूँगा।'

नारदजी जब इस प्रकार कीर्तन कर रहे थे, उसी समय वह नन्हीं-सी बालिका क्षणभरमें अत्यन्त मनोहर दिव्यरूप धारण करके पुनः उनके सामने प्रकट हो गयी। वह रूप चौदह वर्षकी अवस्थाके अनुरूप और सौन्दर्यकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। तत्काल ही उसीके समान अवस्थावाली दूसरी अनेकों व्रज-बालाएँ भी दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओंसे सुसज्जित हो वहाँ प्रकट हो गयीं तथा भानुकुमारीको सब ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं।

अखिल-विद्या-विशारद देवर्षि नारदजीकी स्तवन-शक्तिने जवाब दे दिया। वे आश्चर्यसे मोहित हो गये। तब उन व्रजबालाओंने कृपापूर्वक अपनी सखीका चरणोदक लेकर उसे मुनिके ऊपर छिड़का, तब उन्हें बाह्य चेतना हुई। तदनन्तर उन भाग्यवती बालिकाओंने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, महान् योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। तुम्हींने पराभक्तिके साथ सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना की है। भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान्‌की उपासना वास्तवमें तुम्हारे ही द्वारा हुई है। यही कारण है कि ब्रह्मा और रुद्र आदि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये भी जिसे देखना और जानना कठिन है, वही अपनी अद्भुत अवस्था और रूपसे सबको मोहित करनेवाली यह श्रीकृष्णकी प्रियतमा हमारी सखी आज तुम्हारे समक्ष प्रत्यक्ष प्रकट हुई है। निश्चय ही यह तुम्हारे किसी अचिन्त्य सौभाग्यका प्रभाव है। ब्रह्मर्षे! धैर्य धारण करके शीघ्र ही उठो, खड़े हो जाओ और इस देवीकी प्रदक्षिणा करो, इसके चरणोंमें बारंबार मस्तक झुका लो। फिर समय नहीं मिलेगा, ये अभी इसी क्षण अन्तर्धान हो जायँगी। अब इनके साथ तुम्हारी बातचीत किसी तरह नहीं हो सकेगी।'

व्रजबालाओंका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था। उनकी बातें सुनकर नारदजी नाना प्रकारके वेष-विन्याससे शोभा पानेवाली उस दिव्य बालाके चरणोंमें दो मुहूर्ततक पड़े रहे। तदनन्तर उन्होंने भानुको बुलाकर उस सर्वशोभा-सम्पन्ना कन्याके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा—'गोपश्रेष्ठ! तुम्हारी इस कन्याका स्वरूप और स्वभाव दिव्य है। देवता भी इसे अपने वशमें नहीं कर सकते। जो घर इसके चरण-चिह्नोंसे विभूषित होगा, वहाँ भगवान् नारायण सम्पूर्ण देवताओंके साथ निवास करेंगे और भगवती लक्ष्मी भी सब प्रकारकी सिद्धियोंके साथ वहाँ वर्तमान रहेंगी। अब तुम सम्पूर्ण आभूषणोंसे विभूषित इस सुन्दरी कन्याको परादेवीकी भाँति समझकर इसकी अपने घरमें यत्नपूर्वक रक्षा करो।'

इन श्रीकृष्णमयी आनन्द-प्रेम-रस-प्रतिमाविग्रहा महाभाव-

स्वरूपा श्रीराधाका आज परम पुनीत प्राकट्य-दिवस है। आजके ही दिन इन्होंने श्रीवृषभानुपुरमें परम सौभाग्यशाली श्रीवृषभानु तथा परम सौभाग्यमयी श्रीकीर्तिरानीके घर प्रकट होकर उनको धन्य किया था। हमलोगोंका परम सौभाग्य है कि आज हमलोग उन्हीं सखियोंसे युक्त श्रीराधारानीकी पूजा-अर्चना करने तथा जन्मोत्सव मनानेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं।

मन्मथ-मन्मथ मन मथत जाके सुषमित अंग।
मुख-पंकज-मकरंद नित पियत स्याम दृग भृंग ॥ १ ॥
जाके अंग-सुगंध कौं नित नासा ललचात।
तन चाहत नित परसिबौ जाकौ मधुमय गात ॥ २ ॥
मधु-रसमयि बचनावली सुनिबे कौं नित कान।
हरिके लालायित रहत, तजि गुरुता को मान ॥ ३ ॥
जाके मधुर प्रसाद कौ मधु रस चाखन हेतु।
हरि-रसना अकुलात अति तजि दुस्त्यज श्रुति-सेतु ॥ ४ ॥
जाकी नख-दुति लखि लजत कोटि कोटि रबि-चंद।
बंदौं तिन राधा-चरन-पंकज सुचि सुखकंद ॥ ५ ॥

बोलो कीर्तिकुमारी वृषभानुदुलारी नन्दनन्दनप्यारी श्रीराधा-सुकुमारीकी जय! जय! जय!

* * *

[रात्रिमें]

गौरीं गोष्ठवनेश्वरीं गिरिधरप्राणाधिकां प्रेयसीं
स्वीयप्राणपरार्द्धपुष्पपटलीनिर्मञ्छ्यतत्पद्धतिम् ।
प्रेम्णा प्राणवयस्यया ललितया संलालितां नर्मभिः
सिक्तां सुष्ठु विशाखया भज मनो राधामगाधां रसैः ॥

भक्तिके पाँच रस

वैष्णव महानुभावोंने शास्त्र-निर्णय तथा अपने अनुभवके आधारपर पाँच प्रकारके रस बतलाये हैं। भक्तके भाव-भेदसे ही ये रस-भेद हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इनका क्रमशः विकास हो; परंतु यह निश्चय है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस साधन-प्रणालीमें भी रसोंका रहना माना गया है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंका पर्यवसान है, वैसे ही शान्त, दास्यादि रसोंका माधुर्यमें पर्यवसान है। जरा समझिये—

आकाश या व्योम—शब्द-तन्मात्रक है।
वायु या मरुत्—शब्द-स्पर्श-तन्मात्रक है।
अग्नि या तेज—शब्द-स्पर्श-रूप-तन्मात्रक है।
अप् या जल—शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रक है।
क्षिति या पृथ्वी—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्रक है।

इसी प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्यको समझना चाहिये।

शान्त रस—निष्ठामय।
दास्य—निष्ठा और सेवामय।
सख्य—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोचराहित्य) मय।
वात्सल्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय।
माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और आत्मसमर्पणमय।

इनमें सर्वप्रथम शान्त-रस है—शान्त-रसके भक्तमें समस्त दैवी-सम्पदाके गुणोंका समावेश होता है। वह शम-दम-सम्पन्न होता है, दोषोंपर विजय प्राप्त कर चुकता है। तितिक्षा, भगवान्‌में श्रद्धा, निष्कामभाव आदि उसके स्वभावगत होते हैं। यही उसकी निष्ठामयता है। शान्त-रसमें भोग-वासना, भोगासक्तिको स्थान नहीं होता। यही प्रेमाभक्तिकी मूल भित्ति है। इसके अभावमें प्रेमभक्तिका प्राप्त होना और रहना बहुत ही कठिन है।

दास्यरसमें भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त अन्य कुछ भी न तो अपेक्षित है न चिन्तनीय ही है। दास नित्य-निरन्तर भगवान्‌की सेवाके लिये आकुल और सेवामें ही संलग्न रहता है। इसमें स्वामी-सेवक-भाव होनेसे बराबरी नहीं होती। सेव्यके प्रति सम्मान-संभ्रम रहता है। ऐसा सेवक अखिल जगत्‌में जगन्नाथके दर्शन करके नित्य सेवा-परायण रहता है।

सख्यरसमें भगवान्‌के साथ तुल्यतामयी रति होती है। इसमें संकोच-सम्भ्रम तथा उतना मान-सम्मान नहीं रहता। इसमें अर्जुन-उद्धवादि 'ऐश्वर्यज्ञानयुक्त' सखा हैं और व्रजके ग्वाल-बालक 'विशुद्ध भक्तिमय' सखा हैं। सख्यरतिके ग्वाल-बाल भगवान्‌को अपनी बराबरीका मानते हैं। कंधोंपर चढ़ा लेते हैं। चढ़ जाते हैं। साथ-साथ खाते-खेलते हैं। कभी मान करके रूठ जाते हैं, तब श्रीकृष्ण उनको मनाते हैं और श्रीकृष्णका कभी जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो वे सखा रो-रोकर आकुल हो उठते हैं और अपने प्राण देकर भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं।

सख्यरसमें जगत्के सभी प्राणियोंके साथ सहज 'मैत्री-भावना' हो जाती है।

वात्सल्य-रसमें अपना सर्वस्व देकर प्राणोंके आधार बालक भगवान्‌की रक्षा-सेवा की जाती है। श्रीकृष्ण यशोदा-मैयाका स्तन्य-पान करके तथा नन्दबाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, वह किस प्रकारका होता है, कहा नहीं जा सकता। परंतु यशोदाके भाग्यकी सराहना करते हुए श्रीशुकदेवजी अवश्य कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ९ । २०)

'गोपी यशोदाने मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्णसे जो अनिर्वचनीय प्रसाद प्राप्त किया, वह प्रसाद पुत्र होनेपर भी ब्रह्माको, आत्मरूप होनेपर भी शंकरको और वक्षःस्थलपर नित्य विराजिता अर्धाङ्गिनी होनेपर भी लक्ष्मीको नहीं प्राप्त हो सका।'

इसके बाद है—कान्त या मधुर भाव या माधुर्य-रस। सभी रसोंका इसमें अन्तर्भाव है। श्रीराधिका आदि गोपीजन, श्रीरुक्मिणी आदि महिषीगण और श्रीलक्ष्मीजी आदि इस मधुर भावकी आदर्श मानी गयी हैं। 'विप्रलम्भ' और 'सम्भोग' इस मधुर भक्ति-सुधा-सरिताके दो तट हैं। पूर्वराग, मान, प्रवास आदिसे विप्रलम्भके कई भेद हैं तथा इसी प्रकार सम्भोग या मिलनके भी कई भेद हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार रतिके तीन भेद माने गये हैं—'साधारणी', 'समञ्जसा' और 'समर्था'।

श्रीभगवान्‌की द्वारकालीलामें 'साधारणी' रति, मथुरामें 'समञ्जसा' रति और वृन्दावनमें 'समर्था' रति मानी गयी है। द्वारका-लीलामें यद्यपि सम्पूर्ण महाभागा महिषियोंका चित्त-मन सदा ही भगवान्‌को समर्पित है, तथापि वे वेदविधिके अनुगत हैं, शास्त्र-मर्यादानुसार सुख-सौभाग्यसे सम्पन्न हैं। स्वाभाविक ही गृहस्थ-धर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालन-की आशासे युक्त हैं और उसमें आत्मसुखकी आकाङ्क्षा भी है। उसमें 'आत्मसुख' और 'कृष्णसुख' मिश्रित हैं, अतः यह 'साधारणी रति' है।

जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी कोई आशा-आकाङ्क्षा नहीं है, 'श्रीकृष्णको सुख देना' और 'उनसे सुख प्राप्त करना'—यों समरस-विलास है, वहाँ 'समञ्जसा' रति है। इसमें आशा-आकाङ्क्षा न होनेपर भी परस्पर रूपगुणजनित सुखभोगकी प्रधानता है। अतएव यह भी 'समर्था रति' नहीं है। इसीसे मथुरा-वासिनी देवियाँ कहती हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१० । ४४ । १४-१५)

'सखी ! पता नहीं, गोपियोंने कौन-सी तपस्या की थी; जो वे नेत्रोंको दोने बनाकर नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीका पान करती रहती हैं। अहा ! इनका रूप क्या है—लावण्यका सार है। संसारमें या उससे परे किसीका भी रूप इनके समान नहीं है, फिर बढ़कर होनेकी तो बात ही क्या है; यह सौन्दर्य सजाया-सँवारा हुआ नहीं है, स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते-देखते कभी तृप्ति होती ही नहीं; क्योंकि यह प्रतिक्षण नया-नया होता जाता है। समग्र यश, समस्त श्री और सम्पूर्ण ऐश्वर्य इसीके आश्रित हैं। केवल श्रीगोपियाँ ही इस रस-सुधाका पान करती हैं, औरोंके लिये तो यह दुष्प्राप्य ही है। सखी ! व्रजसुन्दरियाँ धन्य हैं—वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको पलनेमें झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरको झाड़ते-बुहारते, घरके सभी काम करते समय श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, आँसू छलकते नेत्रोंसे और गद्गद कण्ठसे सदा श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान ही करती रहती हैं।'

'समञ्जसा रति'में भी निज-सुख है। अतएव 'समर्था रति' तो श्रीगोपीजनमें ही है, जहाँ स्वसुखकी कोई भी कल्पना नहीं है। श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं—(**रसो वै सः**) आनन्दरूप हैं—(**आनन्दं ब्रह्म**)। ऐसे रसमय आनन्दमय भगवान् शुद्ध प्रेमरसास्वादनमें ही सुख-लाभ करते हैं। गोपियोंमें शुद्ध प्रेम है, वहाँ रसाभास नहीं है; इसीसे वे श्रीकृष्णको पूर्ण सुख-विधान करती हैं। इन गोपियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं—श्रीराधाजी।

ये हैं—सुनिर्मल परमोज्ज्वल-रसरूप प्रेमरत्नकी अनन्त खान। श्रीकृष्णकी 'ह्लादिनी', 'संधिनी' और 'संवित्' शक्तियोंमें ये 'ह्लादिनी' शक्ति हैं।

कामसत्ताका नाश हुए बिना इस रसमें प्रवेश नहीं होता। इसीसे इस रस-पद्धतिमें कामनाशक 'शान्तरस'का बड़ा महत्त्व है। वही इसकी नींव है। जैसे नींवके बिना मकान ठहर नहीं सकता, वैसे ही शान्तरसकी परिपक्वताके बिना माधुर्यका मङ्गल-प्रासाद भी स्थिर रहना कठिन होता है। अस्तु,

ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार भाव, भावकी पराकाष्ठा महाभाव और श्रीराधारानी वही महाभावस्वरूपा हैं। लक्ष्मी: महिषीगण और व्रजसुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्णप्रेयसियाँ श्रीराधिकासे ही विस्तारको प्राप्त होती हैं। जैसे श्रीकृष्ण असंख्य अवतारोंके अवतारी हैं, वैसे ही श्रीराधा भी अनन्त श्रीकृष्णकान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंशविभूति', 'महिषीगण वैभवविलास' और व्रजसुन्दरियाँ 'कायव्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधा और श्रीकृष्णका स्वरूप

श्रीराधाजी श्रीकृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता होनेसे श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। लीलारसास्वादनके लिये द्विविध प्रकाश है। दोनों ही सच्चिदानन्दमय एक तत्त्व—वस्तु हैं। उसमें न स्त्री है न पुरुष। केवल लीला-विलास है। दोनों ही काम-गन्ध-शून्य सच्चिदानन्दमय भगवद्विग्रह हैं। शुक्र-शोणित-जनित, कर्मजनित और पञ्चभूत-निर्मित देह इनके नहीं हैं। अतएव इनमें काम-क्रोधादिके लेशकी कल्पना भी नहीं है। सभी कुछ सच्चिद्घन है। इस जगत्के 'काम'में केवल तामसिक अन्धकार है, इसीसे उसका क्षय—विनाश है। श्रीवृन्दावनका यह चिन्मय रस है, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि-ही-वृद्धि है। रूपमें, सौन्दर्यमें, लीलामें, प्रेममें और आनन्दमें—सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा। हेमकान्तमणि और नीलकान्तमणिमें मानो होड़ लगी है। इस युगल-प्रेम-सुधा-रसकी प्राप्ति योगियोंको अनन्तकालतक समाधि लगानेपर भी नहीं होती। केवल ज्ञानचर्चा करनेवाले तो इसमें प्रवेश ही नहीं पा सकते। इसीको 'दिव्य परमोन्मत्त उज्ज्वल' रस कहते हैं।

श्रीराधाकृष्णके इस प्रणय-भावको समझनेके लिये उनके स्वरूपतत्त्वपर कुछ और भी विचार करना आवश्यक है। श्रीकृष्णके तत्त्वस्वरूप और श्रीराधाके महत्त्वका कुछ परिचय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अपने ही शब्दोंमें प्राप्त कीजिये। तीन इतिहास हैं—एक भगवान् व्यासका, दो भगवान् शंकरके।

(१) व्यासजीने एक बार कई हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की। भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें वर माँगनेके लिये कहा। व्यासजीने भगवान्से कहा—'मधुसूदन! मैं आपके उस यथार्थ तत्त्वका आँखोंके द्वारा दर्शन करना चाहता हूँ। नाथ! जो इस जगत्का पालक और प्रकाशक है, उपनिषदोंने जिसे सत्यस्वरूप परब्रह्म बतलाया है, आपका वही अद्भुत रूप मेरे सामने प्रत्यक्ष प्रकट हो—यही मेरी प्रार्थना है।'

त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन।
यत्तत्सत्यं परं ब्रह्म जगज्ज्योतिर्जगत्पतिः॥
वदन्ति वेदशिरसश्चाक्षुषं नाथ मेऽद्भुतम्॥
(पद्म० पाताल०)

श्रीभगवान्ने कहा—'महर्षे! मेरे विषयमें लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। कोई मुझे 'प्रकृति' कहते हैं, कोई पुरुष। कोई ईश्वर मानते हैं, कोई धर्म। किन्हीं-किन्हींके मतमें मैं सर्वथा भयरहित मोक्षस्वरूप हूँ। कोई भाव (सत्तास्वरूप) मानते हैं और कोई-कोई कल्याणमय सदाशिव बतलाते हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग मुझे वेदान्त-प्रतिपादित अद्वितीय सनातन ब्रह्म मानते हैं। किंतु वास्तवमें जो सत्तास्वरूप और निर्विकार है, सत्-चित् और आनन्द ही जिसका विग्रह है तथा वेदोंमें जिसका रहस्य छिपा हुआ है, अपना वह पारमार्थिक स्वरूप मैं आज तुम्हारे सामने प्रकट करता हूँ; देखो।'

भगवान्के इतना कहते ही श्रीव्यासजीको एक बालकके दर्शन हुए, जिसके शरीरकी कान्ति नीलमेघके समान श्याम थी। वह गोपकन्याओं और ग्वाल-बालोंसे घिरकर हँस रहा था। वे भगवान् श्यामसुन्दर थे, जो पीतवस्त्र धारण किये कदम्बकी जड़पर बैठे हुए थे। उनकी झाँकी अद्भुत थी। उनके साथ ही नूतन पल्लवोंसे अलंकृत 'वृन्दावन' नामक वन भी दृष्टिगोचर हुआ। इसके बाद नीलकमलकी आभा धारण करनेवाली कलिन्दकन्या यमुनाके दर्शन हुए। फिर गोवर्धन पर्वतपर दृष्टि पड़ी, जिसे श्रीकृष्ण तथा बलरामने इन्द्रका घमंड चूर्ण करनेके लिये अपने हाथोंपर उठाया था। वह पर्वत गौओं तथा गोपोंको बहुत सुख देनेवाला है।

गोपाल श्रीकृष्ण रमणियोंके साथ बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वेणु बजा रहे थे, उनके शरीरपर सब प्रकारके आभूषण शोभा पा रहे थे। उनका दर्शन करके मुनिको बड़ा हर्ष हुआ। तब वृन्दावनमें विचरनेवाले भगवान्‌ने स्वयं उनसे कहा—'मुने! तुमने जो इस दिव्य सनातनरूपका दर्शन किया है, यही मेरा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त और सच्चिदानन्दमय पूर्ण विग्रह है। इस कमल-लोचन स्वरूपसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्त्व नहीं है। वेद इसी स्वरूपका वर्णन करते हैं। यही कारणोंका भी कारण है। यही सत्य, परमानन्दस्वरूप, चिदानन्दघन, सनातन और शिव तत्त्व है। तुम मेरी इस मथुरापुरीको नित्य समझो। यह वृन्दावन, यह यमुना, ये गोपकन्याएँ तथा ग्वाल-बाल—सभी नित्य हैं। यहाँ जो मेरा अवतार हुआ है, यह भी नित्य है। इसमें संशय न करना। राधा मेरी सदाकी प्रियतमा हैं। मैं सर्वज्ञ, परात्पर, सर्वकाम, सर्वेश्वर तथा सर्वानन्दमय परमेश्वर हूँ। मुझमें ही यह सारा विश्व, जो मायाका विलासमात्र है, प्रतीत हो रहा है।'

(२) भगवान् शिवजीने एक बार नारदजीको बताया कि मैंने भगवान्‌से यह वरदान माँगा—

यद् रूपं ते कृपासिन्धो परमानन्ददायकम्।
सर्वानन्दाश्रयं नित्यं मूर्तिमत् सर्वतोऽधिकम्॥
निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं यद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः।
तदहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां परमेश्वर॥

"कृपासिन्धो! आपका जो परमानन्ददायक, सम्पूर्ण आनन्दोंका आश्रय, नित्यमनोहरमूर्तिधारी, सबसे श्रेष्ठ, निर्गुण, निष्क्रिय और शान्तरूप है; जिसे विद्वान् लोग 'ब्रह्म' कहते हैं, उसको मैं अपने नेत्रोंसे देखना चाहता हूँ।"

इसपर भगवान्‌ने कहा कि 'तुम यमुनाके पश्चिम तटपर मेरे लीलाधाम वृन्दावनमें चले जाओ। वहाँ तुम्हें मेरे दर्शन होंगे।' तब मैं यमुनाके सुन्दर तटपर चला आया। वहाँ मुझे सम्पूर्ण देवेश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्णके दर्शन हुए, जो किशोरावस्थासे युक्त, कमनीय गोपवेश धारण किये अपनी प्रिया श्रीराधाके कंधेपर बायाँ हाथ रखकर खड़े थे। उनकी वह झाँकी बड़ी मनोहर जान पड़ती थी। चारों ओर गोपियों-का समुदाय था और बीचमें भगवान् खड़े होकर श्रीराधिका-जीको हँसाते हुए स्वयं भी हँस रहे थे। उनका श्रीविग्रह सजल मेघके समान श्यामवर्ण तथा कल्याणमय गुणोंका धाम था। श्रीकृष्ण मुझे देखकर हँसे। उनकी वाणीमें अमृत भरा था। वे मुझसे बोले—"रुद्र! तुम्हारा मनोरथ जानकर आज मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं। इस समय मेरे जिस अलौकिक रूपको तुम देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है। इसके रूपमें सत्, चित् और आनन्द ही मूर्तिमान् हुए हैं। उपनिषदोंके समूह मेरे इसी स्वरूपको निराकार, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय और परात्पर बतलाते हैं। मेरे दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है तथा उन गुणोंको कोई सिद्ध नहीं कर सकता, इसीलिये वेदान्त-शास्त्र मुझ ईश्वरको 'निर्गुण' बतलाता है। महेश्वर! मेरा यह रूप चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, अतः सम्पूर्ण वेद मुझे अरूप—'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्य-अंशसे सर्वत्र व्यापक हूँ। इससे विद्वान् लोग मुझे 'ब्रह्म'के नामसे पुकारते हैं। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ। इसलिये शास्त्र मुझे 'निष्क्रिय' बताते हैं। शिव! मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि-संहार आदि कार्य करते हैं, मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता। महादेव! मैं तो इन गोपियोंके प्रेममें विह्वल होकर न तो दूसरी कोई क्रिया जानता हूँ और न मुझे अपने-आपका ही भान रहता है। ये मेरी प्रिया राधिका हैं, इन्हें 'परा देवता' समझो। मैं इनके प्रेमके वशीभूत होकर सदा इन्हींके साथ विचरण करता हूँ। इनके पीछे और अगल-बगलमें जो लाखों सखियाँ हैं, वे सब-की-सब नित्य हैं। जैसा मेरा विग्रह नित्य है, वैसे ही इनका भी है। मेरे सखा, पिता, गोप, गौएँ तथा वृन्दावन—ये सब नित्य हैं। इन सबका स्वरूप सच्चिदानन्दरसमय ही है। मेरे इस वृन्दावनका नाम आनन्द-कंद समझो। इसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्यको पुनः संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता। मै वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाता। अपनी इस प्रियाके साथ सदा यहीं निवास करता हूँ। रुद्र! तुम्हारे मनमें जिस-जिस बातको जाननेकी इच्छा थी, वह सब मैंने बता दी। बोलो, इस समय मुझसे और क्या सुनना चाहते हो?"

तब मैंने कहा—'प्रभो! आपके इस स्वरूपकी प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसका उपाय मुझे बताइये।' भगवान्‌ने कहा—'रुद्र! तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है; किंतु यह विषय अत्यन्त रहस्यका है, इसलिये इसे यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये। देवेश्वर! जो दूसरे उपायोंका भरोसा छोड़कर एक बार हम दोनोंकी शरणमें आ जाता है और गोपीभावसे मेरी उपासना करता है, वही मुझे पा सकता है; जो एक

बार हम दोनोंकी शरणमें आ जाता है अथवा अकेली मेरी इस प्रिया राधाकी ही अनन्यभावसे उपासना करता है, वह मुझे अवश्य प्राप्त होता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके मेरी इस प्रिया (राधा) की शरण ग्रहण करनी चाहिये। रुद्र ! मेरी प्रियाका आश्रय लेकर तुम भी मुझे अपने वशमें कर सकते हो। यह बड़े रहस्यकी बात है, जिसे मैंने तुम्हें बता दिया है। तुम्हें यत्नपूर्वक इसे छिपाये रखना चाहिये। अब तुम भी मेरी प्रियतमा श्रीराधाकी शरण लो और मेरे युगल-मन्त्रका जप करते हुए सदा मेरे इस धाममें निवास करो।'

(३) एक प्रसङ्गमें भगवती पार्वतीके पूछनेपर भगवान् शंकर श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंका और उनके नख-शिख-शोभा-शृङ्गारका वर्णन करते हुए तथा उनके महत्त्वका विवेचन करते हुए कहते हैं--

केचिद्वदन्ति तस्यांशं ब्रह्म चिद्रूपमद्वयम्।
तद्दशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
योगीन्द्रैः सनकाद्यैश्च तदेव हृदि चिन्त्यते।
तिर्यग्ग्रीवजितानन्तकोटिकन्दर्पसुन्दरम्॥
सापाङ्गेक्षणसस्मेरकोटिमन्मथसुन्दरम्।
कुञ्चिताधरविन्यस्तवंशीमञ्जुकलस्वनैः।
जगत्त्रयं मोहयन्तं मग्नं प्रेमसुधार्णवे॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'कुछ विद्वानोंका कथन है कि चिद्रूप अद्वितीय ब्रह्म उनका (श्रीकृष्णका) अंश है। अनेक मनीषीगण महाविष्णुको उनका दशमांश बतलाते हैं। सनकादि योगीश्वर अपने हृदयमें इनका सदा चिन्तन करते हैं। जिस समय वे गर्दन टेढ़ी करके खड़े होते हैं, उस समय अनन्तकोटि कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर दीखते हैं। वे अपनी तिरछी चितवन तथा मधुर मन्द मुस्कानके द्वारा करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दरता धारणकर अपने सिकोड़े हुए अधरोंपर वंशी रखकर बजा रहे हैं और उस मुरलीकी मधुर स्वर-लहरीसे त्रिभुवनको मोहित करते हुए सबको प्रेम-सुधा-सागरमें निमग्न कर रहे हैं।'

"देवी ! जिनके नखचन्द्र-किरणोंकी महिमाका भी अन्त नहीं है, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाके सम्बन्धमें मैं कुछ और बता रहा हूँ, तुम मुदित मनसे सुनो। त्रिगुणमय-अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें जितने ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर हैं, सब उनकी कलाके करोड़वें-करोड़वें अंशसे उत्पन्न हैं। सृष्टि, स्थिति और संहारकी शक्तिसे युक्त वे ब्रह्मा आदि देवता उन्हीं श्रीकृष्णके 'वैभव' हैं। उन श्रीकृष्णके रूपका जो करोड़वाँ अंश है, उसके भी करोड़ अंश करनेपर एक-एक अंश-कलासे ऐसे असंख्य कामदेवोंकी उत्पत्ति होती है, जो इस ब्रह्माण्डमें स्थित होकर जगत्के जीवोंको मोहमें डालते रहते हैं। श्रीकृष्णके श्रीविग्रहकी शोभामयी कान्तिके करोड़वेंके करोड़वें अंशसे चन्द्रमाका आविर्भाव हुआ है। श्रीकृष्णके प्रकाशके करोड़वें अंशसे जो किरणें निकलती हैं, वे ही अनेकों सूर्योंके रूपमें प्रकट होती हैं। उनके साक्षात् श्रीविग्रहसे जो प्रकाश-किरणें प्रकट होती हैं, वे परमानन्दमय रसामृतसे परिपूर्ण हैं। वे परम आनन्द और परम चैतन्यमयी हैं, उन्हींसे इस विश्वके ज्योतिर्मय जीव जीवन धारण किये हुए हैं, जो भगवान्के ही कोटि-कोटि अंश हैं। उनके चरण-कमल-युगलके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिसे निकलनेवाली प्रभाको ही 'पूर्णब्रह्म' बताया गया है, जो सबका कारण है और वेदोंके लिये भी दुर्गम है। विश्वको मोहित करनेवाला जो नाना प्रकारके पुष्पादिका सौरभ (सुगन्ध) है, वह सब उनके श्रीविग्रहकी दिव्य सुगन्धका करोड़वाँ अंशमात्र है। भगवान्के स्पर्शसे ही सब सुगन्धोंका प्रादुर्भाव होता है। इन श्रीकृष्णकी प्रिया इनकी प्राणवल्लभा श्रीराधिका हैं। ये ही आद्या (श्रीकृष्णमयी) प्रकृति हैं। इन्हीं श्रीराधिकाके करोड़वेंके करोड़वें अंशसे त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि देवियोंकी उत्पत्ति हुई है। इन राधिकाके पद-रज-स्पर्शसे करोड़ों विष्णु उत्पन्न होते हैं।

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

श्रीराधिकोपनिषद्

भगवत्स्वरूपा श्रीराधिकाजीकी महिमा तथा उनके स्वरूपको बतानेवाला ऋग्वेदका एक राधिकोपनिषद् है—उसका भाषान्तर नीचे दिया जाता है—

"ऊर्ध्वरेता बालब्रह्मचारी सनकादि ऋषियोंने भगवान् ब्रह्माजीकी उपासना करके उनसे पूछा—'हे देव ! परम देवता कौन हैं ? उनकी शक्तियाँ कौन-कौन हैं ? उन शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ, सृष्टिकी हेतुभूता कौन शक्ति है ?' सनकादिके प्रश्नको सुनकर श्रीब्रह्माजी बोले—'पुत्रो ! सुनो, यह गुह्योंमें भी गुह्यतर—अत्यन्त गुप्त रहस्य है, जिसे किसीके सामने प्रकट करने योग्य नहीं है। जिनके हृदयमें

रस हो, जो ब्रह्मचारी हों, गुरुभक्त हों—उन्हींको इसे बताना है; नहीं तो किसी अनधिकारीको देनेसे महापाप होगा। भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परम देव हैं, वे (ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, ज्ञान और वैराग्य—इन) छहों ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण भगवान् हैं। गोप-गोपियाँ उनका सेवन करती हैं, वृन्दा (तुलसीजी) उनकी आराधना करती हैं, वे वृन्दावनके स्वामी हैं, वे ही एकमात्र परमेश्वर हैं। उनके दो रूप हैं—अखिल ब्रह्माण्डोंके अधिपति नारायण उन्हींके अंश हैं, वे प्रकृतिसे भी प्राचीन और नित्य हैं एवं उनकी शक्तियाँ भी बहुत प्रकारकी हैं। ह्लादिनी, संधिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि बहुत प्रकारकी शक्तियाँ हैं। इनमें आह्लादिनी सबसे श्रेष्ठ है। यही परम अन्तरङ्गभूता 'श्रीराधा' हैं, जो श्रीकृष्णके द्वारा आराधिता हैं। श्रीराधा भी श्रीकृष्णका सदा समाराधन करती हैं। इनको 'गान्धर्वी' भी कहते हैं। समस्त गोपियाँ, पटरानियाँ और लक्ष्मीजी—इन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। रस-सुधा-सागर ये श्रीराधा-कृष्णका एक ही शरीर है, लीलाके लिये ये दो बन गये हैं। ये श्रीराधा भगवान् श्रीहरिकी सर्वेश्वरी हैं, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं, श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। एकान्तमें चारों वेद इनकी स्तुति करते हैं। इनकी महिमाका मैं (ब्रह्मा) अपनी समस्त आयुमें भी वर्णन नहीं कर सकता। जिनपर इनकी कृपा होती है, परमधाम उनके करतलगत हो जाता है। इन राधिकाको न जानकर जो श्रीकृष्णकी आराधना करना चाहता है, वह मूढ़तम है—महामूर्ख है। श्रुतियाँ इनके इन नामोंका इस प्रकार गान करती हैं—

१. राधा, २. रासेश्वरी, ३. रम्या, ४. कृष्णमन्त्राधिदेवता, ५. सर्वाद्या, ६. सर्ववन्द्या, ७. वृन्दावनविहारिणी, ८. वृन्दाराध्या, ९. रमा, १०. अशेषगोपीमण्डलपूजिता, ११. सत्या, १२. सत्यपरा, १३. सत्यभामा, १४. श्रीकृष्णवल्लभा, १५. वृषभानुसुता, १६. गोपी, १७. मूलप्रकृति, १८. ईश्वरी, १९. गन्धर्वा, २०. राधिका, २१. रम्या, २२. रुक्मिणी, २३. परमेश्वरी, २४. परात्परतरा, २५. पूर्णा, २६. पूर्णचन्द्रनिभानना, २७. भुक्तिमुक्तिप्रदा, २८. भवव्याधिविनाशिनी।

इन अट्ठाईस नामोंका जो पाठ करते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, ऐसा भगवान् श्रीब्रह्माजीने कहा है।

यह तो आह्लादिनी शक्तिका वर्णन हुआ। इनकी संधिनी शक्ति (श्रीवृन्दावन) धाम, भूषण, शय्या तथा आसन आदि एवं मित्र-सेवक आदिके रूपमें परिणत होती है और इस मर्त्यलोकमें अवतार लेनेके समय वही माता-पिताके रूपमें प्रकट होती है। यही अनेक अवतारोंकी कारणभूता है। ज्ञानशक्ति ही क्षेत्रज्ञशक्ति है। इच्छा-शक्तिके अन्तर्भूत माया है। यह सत्त्व-रज-तमोमयी है और बहिरङ्गा है, यही जगत्‌की कारणभूता है। यही अविद्यारूपसे जीवके बन्धनमें हेतु है। क्रियाशक्ति ही लीलाशक्ति है।

जो इस उपनिषद्‌को पढ़ते हैं, वे अव्रती भी व्रती हो जाते हैं। वे वायुसे पवित्र एवं वायुको पवित्र करनेवाले तथा सब ओर पवित्र एवं सबको पवित्र करनेवाले हो जाते हैं। वे श्रीराधा-कृष्णके प्रिय होते हैं और जहाँतक उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँतक सबको पवित्र कर देते हैं। ॐ तत्सत्।''

उपर्युक्त उद्धरणोंसे भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाके तत्त्व-स्वरूपका, उनकी एकरूपताका तथा उनके विलक्षण माहात्म्यका किंचित् आभास मिलता है।

'आत्माराम' शब्दका अर्थ

स्कन्दपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णके 'आत्माराम' शब्दका विलक्षण अर्थ बतलाया गया है।

आत्मा तु राधिका तस्य तथैव रमणादसौ।
'आत्माराम' इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः॥

(स्कन्दपुराण)

''श्रीराधिका भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, उनमें सदा रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं।''

इसी प्रसङ्गमें भगवान्‌की महिषी श्रीकालिन्दीजी कहती हैं—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।

'आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही श्रीराधिकाजी हैं।' इससे श्रीराधाकृष्णके स्वरूप तथा आत्म-सम्बन्धका पूरा पता लग जाता है। इन्हीं श्रीराधिकाजीको प्रेमी भक्तोंने प्रेमरसका आदर्श माना है।

श्रीकृष्णको सर्वविध आनन्द देनेवाली श्रीराधिका

श्रीकृष्ण अपनी ही ह्लादिनी शक्तिसे आप ही आह्लादित होते हैं—और अपने आह्लादसे नित्य श्रीराधाजीको आह्लादित

करते रहते हैं । यह आनन्दचिन्मय रसकी नित्य रसलीला है । यहाँ वस्तुतः प्रकृति-पुरुष या देह-देहीका भेद नहीं है । 'ना सो रमण ना हाम रमणी' श्रीराधिकाजीके कविदर्शित इन शब्दोंमें यही भाव है । तथापि श्रीराधाजी नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी आराधना, भावमयी पूजा करती रहती हैं और श्रीकृष्ण तो अपने जीवनकी मूलरक्षानिधि ही उनको बतलाते हैं । वे कहते हैं—

मैं हूँ पूर्णानन्द परम शुचि, मैं हूँ नित्य सच्चिदानन्द ।
मैं रसमय, रसराज, सदा रसपूर्ण, रसिक-जन-मन-आनन्द ॥
मुझ आनन्दसिन्धुका पाकर सीकर एक अखिल संसार ।
पाता रहता नित्य निरन्तर विविध भाँति आनन्द अपार ॥
मुझसे भी हो जिसमें निर्मल शत-शतगुना अधिक आनन्द ।
एक वही, बस, दे सकता है मेरे मनको परमानन्द ॥
ऐसी एक राधिका ही है, जो मुझको देती आह्लाद ।
लेता रहता हूँ अतृप्त मैं मधुर निरन्तर उसका स्वाद ॥
कोटि-कोटि कंदर्प-दर्पका करता मर्दन मेरा रूप ।
सकल जगत्को मोहित, आप्यायित करता वह नित्य अनूप ॥
वह मैं छविकी छवि राधाका सौन्दर्यामृत करके पान ।
नहीं अघाता कभी, विकल दर्शनहित रहते मेरे प्रान ॥
मेरी मुरलीकी स्वर-लहरी त्रिभुवनको कर्षित करती ।
राधा-वचन-सुधाकी माधुरि अविरत मेरा मन हरती ॥
मेरे तनकी मधुर गन्धसे अखिल विश्व होता सुरभित ।
राधा-अङ्ग-सुगन्ध हरण करती बरबस मेरा मन नित ॥
अग-जगको है आदि-सृष्टिसे सरस बनाता मेरा रस ।
राधा-अधर-सुधा-रसने कर रक्खा मुझे सदा निज वश ॥
यद्यपि मेरा स्पर्श कोटि शरदिन्दु सदृश अति है शीतल ।
राधा-अङ्ग-स्पर्श-सुख मेरा तुरत बुझाता हृदयानल ॥
मेरा सुखकण पाकर सुख अनुभव करता जगका जन-जन ।
राधाके गुण-रूप सुरक्षित रखते नित मेरा जीवन ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णको सब प्रकारसे आकर्षित करके उन्हें परम सुख देनेवाली श्रीराधा हैं—यही राधाका स्वरूप है ।

लोग पूछते हैं—श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी कौन थीं ? इसका उत्तर समझनेवालोंके लिये तो ऊपर आ ही गया है । श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों एक रूप ही हैं और दोनों ही एक ही भगवान्की नित्य अभिव्यक्ति हैं । दोनोंमें भेद माननेवालोंको घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है । भगवान् श्रीकृष्णने श्रीराधाजीसे कहा है—

आवयोर्भेदबुद्धिं तु यः करोति नराधमः ।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

"जो नराधम तुममें और मुझमें भेदबुद्धि करेगा, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे तबतक 'कालसूत्र' नामक नरकमें निवास करेगा ।"—इसलिये उनमें किसी सम्बन्धका प्रश्न ही नहीं उठता । तथापि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'में उनके दिव्य मङ्गल विवाहका वर्णन भी आता है, जो बड़ा सुन्दर और मधुर है ।

श्रीराधा-कृष्णका विवाह

नन्दबाबा एक दिन गोपोंका गो-चारण-निरीक्षण करने आ रहे थे । बालक श्रीकृष्णचन्द्र साथ चलनेके लिये मचल गये । वे किसी प्रकार नहीं माने, रोने लगे । इसीलिये वे उन्हें साथ ले आये । यहाँ वनमें आनेपर गोरक्षकोंको तो उन्होंने दूसरे वनकी गायें एकत्रकर वहीं ले आनेके लिये भेज दिया; स्वयं उन गायोंकी सँभालके लिये खड़े रहे । इतनेमें चारों ओर काली घटाएँ छा गयीं, महान् झंझावात प्रारम्भ हो गया; कोई गोरक्षक भी नहीं कि उसे गायें सँभलाकर वे भवनकी ओर जायँ तथा यों ही गायोंको छोड़ भी दें तो जायँ कैसे ? बड़ी-बड़ी बूँदें पड़नी आरम्भ हो गयीं । प्रकृतिका महान् क्षोभ मूर्तिमान् हो गया । तब और कोई उपाय न देखकर व्रजेश्वर एकान्त मनसे नारायणका स्मरण करने लगे ।

इतनेमें ही मानो कोटि सूर्य एक साथ उदय हुए हों, इस प्रकार दिशाएँ उद्भासित हो गयीं तथा वह झंझावात तो न जाने कहाँ चला गया । नन्दराय आँखें खोलकर देखते हैं—सामने एक बालिका खड़ी है । 'हैं' 'हैं ! वृषभानुकुमारी ! तू यहाँ इस समय कैसे आयी, बेटी ?' व्रजेश्वरने अकचकाकर कहा । किंतु दूसरे ही क्षण अन्तर्हृदयमें एक दिव्य ज्ञानका उन्मेष होने लगता है, मौन होकर ये वृषभानुनन्दिनीकी ओर देखने लगते हैं—कोटि चन्द्रोंकी द्युति मुख-मण्डलपर झलमल झलमल कर रही है, नीलवसनभूषित अङ्ग हैं, श्रीअङ्गोंपर काञ्ची, कङ्कण, हार, अङ्गद, अङ्गुरीयक, मञ्जीर यथास्थान सुशोभित हैं; चञ्चल कर्णकुण्डल तथा दिव्यातिदिव्य रत्न चूड़ामणिसे किरणें झर रही हैं; अङ्गोंके तेजका तो कहना ही क्या, भानुकुमारीकी अङ्गप्रभासे ही वन आलोकित हुआ है । नन्दरायको गर्गकी वे बातें भी स्मरण हो आयीं । पुत्रके नामकरण-संस्कारसे पूर्व गर्गने एकान्तमें वृषभानुपुत्रीकी महिमा

श्रीराधातत्त्वकी बात बतलायी थी; पर उस समय तो नन्दराय सुन रहे थे और साथ-ही-साथ भूलते जा रहे थे। इस समय उन सबकी स्मृति हो आयी, सबका रहस्य सामने आ गया। अञ्जलि बाँधकर नन्दरायने श्रीराधाको प्रणाम किया और कहा—'देवि ! मैं जान गया, पुरुषोत्तम श्रीहरिकी तुम प्राणेश्वरी हो एवं मेरी गोदमें तुम्हारे प्राणनाथ स्वयं पुरुषोत्तम श्रीहरि ही विराजित हैं। लो, देवि ! ले जाओ, अपने प्राणेश्वरको साथ ले जाओ। किंतु·····।' नन्द कुछ रुक-से गये, श्रीकृष्णचन्द्रके भीति-विजड़ित नयनोंकी ओर उनकी दृष्टि चली गयी थी। क्षणभर बाद बोले—'किंतु देवि ! यह बालक तो आखिर मेरा पुत्र ही है न ! इसे मुझे ही लौटा देना।'—नन्दरायने श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाके हस्तकमलोंपर रख दिया। श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये गहन वनमें प्रविष्ट हो गयीं।

वृन्दावनकी भूमिपर गोलोकका दिव्य रासमण्डल प्रकट होता है। श्रीराधा नन्दपुत्रको लिये उसी मण्डलमें चली जाती हैं। सहसा नन्दपुत्र श्रीराधाकी गोदसे अन्तर्हित हो जाते हैं। वृषभानुनन्दिनी विस्मित होकर सोचने लगती हैं—नन्दरायने जिस बालकको सौंपा था, वह कहाँ चला गया ? इतनेमें गोलोकविहारी नित्यकैशोरमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रजी दीख पड़ते हैं। अपने प्रियतमको देखकर वृषभानुनन्दिनीका हृदय भर आता है, प्रेमावेशसे वे विह्वल हो जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगते हैं—'प्रिये ! गोलोककी वे बातें भूल गयी हैं या अभी भी स्मरण हैं ? मुझे भी भूल गयीं क्या ? मैं तो तुम्हें नहीं भूला। तुम्हें भूल जाऊँ, यह मेरे लिये असम्भव है। मेरे प्राणोंकी रानी ! तुमसे अधिक प्रिय मेरे पास कुछ हो, तब तो तुम्हें भूलूँ। तुम्हीं बताओ, प्राणोंसे अधिक प्यारी वस्तुको कोई कैसे भूल सकता है ? प्राणाधिके ! मेरे जीवनकी समस्त साध एकमात्र तुम्हीं हो। किंतु यह भी कहना नहीं बनता; क्योंकि वास्तवमें हम-तुम दो हैं ही नहीं; जो तुम हो, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही तुम हो; यह ध्रुव सत्य है—हम दोनोंमें भेद है ही नहीं। जिस प्रकार दुग्धमें धवलता है, अग्निमें दाहिका-शक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, उसी प्रकार हम दोनोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सृष्टिके उस पार ही नहीं, सृष्टिके समय भी मेरी विश्वरचनाका उपादान बनकर तुम मेरे साथ ही रहती हो, तुम यदि न रहो तो फिर मैं सृष्टि-रचना करनेमें कभी भी समर्थ न हो सकूँ। कुम्भकार मृत्तिकाके बिना घटकी रचना कैसे करे ? स्वर्णकार सुवर्णके न होनेपर स्वर्णकुण्डलका निर्माण कैसे करे ? तुम सृष्टिकी आधारभूता हो तो, मैं उसका अच्युत बीजरूप हूँ।·····सौन्दर्यमयि ! जिस समय योगसे मैं सर्वबीजस्वरूप हूँ, उस समय तुम भी शक्तिरूपिणी समस्त स्त्रीरूपधारिणी हो।·····अलग दीखनेपर भी शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, तेज—इनकी दृष्टिसे भी हम-तुम सर्वथा समान हैं।··· किंतु यह सब होकर भी, यह तत्त्वज्ञान मुझमें नित्य वर्तमान रहनेपर भी मेरे प्राण तो तुम्हारे लिये नित्य व्याकुल रहते हैं। प्राणाधिके ! तुम्हें देखकर, तुम्हें पाकर मैं रससिन्धुमें निमग्न हो जाऊँ—इसमें तो कहना ही क्या है, तुम्हारा नाम भी मुझे कितना प्रिय है, यह कैसे बताऊँ ? सुनो, जिस समय किसीके मुखसे केवल 'रा' सुन लेता हूँ, उस समय आनन्दमें भरकर अपने कोषकी बहुमूल्य सम्पत्ति, मेरी भक्ति—मेरा प्रेम मैं उसे दे देता हूँ, फिर भी मनमें भयभीत होता हूँ कि मैं तो इसकी वञ्चना कर रहा हूँ, 'रा' उच्चारणका उचित पुरस्कार तो मैं इसे दे नहीं सका; तथा जिस समय वह 'धा' का उच्चारण करता है, उस समय यह देखकर कि वह मेरी प्रियाका नाम ले रहा है, मैं उसके पीछे-पीछे चल पड़ता हूँ, केवल नाम-श्रवणके लोभसे, यह 'राधा' नाम मेरे कानोंमें तुम्हारी स्मृतिकी सुधा-धारा बहा देता है, मेरे प्राण शीतल-रसमय हो जाते हैं।'

इस प्रकार रसिकेश्वर राधानाथ अपनी प्रियाको अतीतकी स्मृति दिलाकर, स्वरूपकी स्मृति कराकर, उन्हींके नामकी सुधासे उनको सिक्तकर प्रियतमा श्रीराधाका आनन्दवर्द्धन करने लगते हैं। राधाभावसिन्धुमें भी तरङ्गें उठने लगती हैं, भावके आवर्त बन जाते हैं; आवर्त राधानाथको रसके अतल तलमें डुबाने ही जा रहे थे कि उसी समय माला-कमण्डलु धारण किये जगद्विधाता चतुर्मुख ब्रह्मा आकाशसे नीचे उतर आते हैं, राधा-राधानाथके चरणोंमें वन्दना करते हैं। पुष्कर तीर्थमें साठ हजार वर्षोंतक विधाताने श्रीकृष्णचन्द्रकी आराधना की थी, राधाचरणारविन्द-दर्शनका वर प्राप्त किया था, उसी वरकी पूर्तिके लिये एवं राधानाथकी मनोहारिणी लीलामें एक छोटा-सा अभिनय करनेके लिये योगमायाप्रेरित वे उपयुक्त समयपर आये हैं।

भक्तिनतमस्तक, पुलकिताङ्ग, साश्रुनेत्र हुए विधाता बड़ी देरतक तो रासेश्वरकी स्तुति करते रहे। फिर रासेश्वरीके समीप गये। अपने जटा-जालसे श्रीराधाके युगल-चरणोंकी रेणुकणिका उतारी, रेणुकणसे अपने सिरका अभिषेक किया; पश्चात् कमण्डलु-जलसे चरण-प्रक्षालन करने लगे। तदनन्तर

उन्होंने श्रीकृष्णप्रियाका स्तवन आरम्भ किया। न जाने कितने समयतक करते रहे । अन्तमें राधामुखारविन्दसे युगल पादपद्मोंमें अचला भक्तिका वर पाकर उन्हें धैर्य हुआ। अब उस लीलाका कार्य सम्पन्न करने चले।

श्रीराधा एवं राधानाथको प्रणामकर दोनोंके बीचमें विधाता अग्नि प्रज्वलित करते हैं। अग्निमें विधिवत् हवन करते हैं। फिर विधाताके द्वारा बताये हुए विधानसे स्वयं रासेश्वर हवन करते हैं। इसके पश्चात् रासेश्वरी, रासेश्वर दोनों ही सात बार अग्नि-प्रदक्षिणा करते हैं, अग्निदेवको प्रणाम करते हैं। विधाताकी आज्ञा मानकर श्रीराधा एक बार पुनः हुताशन-प्रदक्षिणा करके श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आसन ग्रहण करती हैं। ब्रह्मा श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाका पाणिग्रहण करनेके लिये कहते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र राधा-हस्तकमलको अपने हस्तकमलपर धारण करते हैं। हस्तग्रहण होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रने सात वैदिक मन्त्रोंका पाठ किया। इसके पश्चात् श्रीराधा अपना हस्तकमल श्रीकृष्ण-वक्षःस्थलपर एवं श्रीकृष्णचन्द्र अपना हस्तपद्म श्रीराधाके पृष्ठदेशपर रखते हैं। श्रीराधा मन्त्र-समूहका पाठ करती हैं। आजानुलम्बित दिव्यातिदिव्य पारिजातनिर्मित कुसुममाला श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको पहनाती हैं एवं श्रीकृष्णचन्द्र सुन्दर मनोहर वनमाला श्रीराधाके गलेमें डालते हैं। यह हो जानेपर कमलोद्भव श्रीराधाको श्रीकृष्णचन्द्रके वामपार्श्वमें विराजितकर, दोनोंको अञ्जलि बाँधनेकी प्रार्थनाकर दोनोंके द्वारा पाँच वैदिक मन्त्रोंका पाठ कराते हैं। अनन्तर श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करती हैं। जैसे पिता विधिवत् कन्यादान करे, वैसे सारी विधि सम्पन्न करते हुए, विधाता श्रीराधाको श्रीकृष्ण-कर-कमलोंमें समर्पित करते हैं। आकाश दुन्दुभि, पटह, मुरज आदि देव-वाद्योंकी ध्वनिसे निनादित होने लगता है। आनन्द-निमग्न देववृन्द पारिजात-पुष्पोंकी वर्षा करते हैं, गन्धर्व मधुर गान आरम्भ करते हैं, अप्सराएँ मनोहर नृत्य करने लगती हैं। व्रजगोपोंके, व्रजसुन्दरियोंके सर्वथा अनजानमें ही इस प्रकार वृषभानुनन्दिनी एवं नन्दनन्दनकी विवाह-लीला सम्पन्न हो गयी।''

× × × ×

श्रीराधा-माधवका ऐक्य

श्रीराधा-माधवके इस विवाह-प्रसङ्गमें श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, उससे श्रीराधाका महत्त्व तथा श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णका अभिन्न सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त श्रीदेवीभागवतमें आया है—

> **कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः।**
> **रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति॥**

'श्रीराधाजी श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। इसीसे श्रीकृष्ण राधाके अधीन हैं। रासेश्वरी राधा नित्य उनके समीप रहती हैं, उनके बिना श्रीकृष्ण रह ही नहीं सकते।' पद्मपुराणमें देवर्षि नारदसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> **दाहशक्तिर्यथा वह्नेस्तथैषा मम वल्लभा।**
> **अनया सह विच्छेदं क्षणमात्रं न विद्यते॥**

अग्निमें जैसे दाहिका शक्ति है, वैसे ही मेरी प्रियतमा श्रीराधा हैं, उनके साथ क्षणमात्रके लिये मेरा विछोह नहीं होता। ऐसे असंख्य प्रमाण हैं।

इससे स्पष्ट है कि श्रीराधा-कृष्ण एक ही तत्त्वके दो नित्य-स्वरूप हैं। इतनेपर भी जिनको शङ्का हो, उनके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है।

यहाँ फिर यह प्रश्न किया जाता है कि 'श्रीराधामाधवका यह विवाह—मिलन गुप्तरूपसे क्यों किया गया?' इसका उत्तर यह है कि विषयविमुग्ध सर्वसाधारणके लिये यह लाभकी वस्तु नहीं है। वे इसमें अपनी दूषित वृत्तिके कारण व्यभिचारकी कल्पना करके अपने लिये नित्य नरकोंका पथ प्रशस्त कर लेंगे। इसलिये यह वस्तु सदा ही गुप्त है, गुप्त ही रहेगी। भगवान् श्रीराधामाधवके अनन्य प्रेमीजन ही इसके पात्र हैं, उन्हींके सामने इसका प्रकाश होता है। वस्तुतः यहाँ साधनकी परिसमाप्ति है।

श्रीमद्भागवतमें गुप्तरूपसे राधा

कुछ सज्जन कहते हैं कि श्रीमद्भागवतमें राधाका नाम क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि श्रीमद्भागवतमें तो यों श्रीयशोदाजीको छोड़कर किसी भी गोपीका नाम नहीं है, इसलिये राधाजीका नाम न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु भागवतमें श्रीराधा हैं यद्यपि वे दूधमें घृतकी भाँति अप्रकट हैं। भक्त अनुभवी टीकाकारोंने श्रीराधिकाजीका भागवतमें प्रत्यक्ष किया है और उन्होंने संकेत भी किये हैं—

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥

(श्रीमद्भा० २ । ४ । १४)

सात्वत—भक्तोंके पालक, कुयोगियोंके लिये दुर्ज्ञेय प्रभुको हम नमस्कार करते हैं । वे भगवान् कैसे हैं ? स्वधामनि—अपने धाम वृन्दावनमें; राधसा—श्रीराधाके साथ; रंस्यते—क्रीड़ा करनेवाले हैं । और वे राधा कैसी हैं ? जिन्होंने समानता और आधिक्यको निरस्त कर दिया है अर्थात् जिनसे बढ़कर तो क्या, समानता करनेवाला भी कोई नहीं है ।'

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३० । २८)

रास-प्रसंगमें एक गोपी कहती है—'अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी वह 'आराधिका' (आराधन करनेवाली राधिका) होंगी । इसीलिये उनपर प्रसन्न होकर हमारे प्यारे श्रीकृष्णने हमको छोड़ दिया है और उन्हें एकान्तमें ले गये हैं ।

हमारा कर्तव्य

इस प्रकार गहराईसे देखनेवालोंको श्रीमद्भागवतमें, लीलामें तथा शब्दोंमें भी श्रीराधाके स्पष्ट दर्शन होते हैं । पर यदि किसी ग्रन्थमें नाम न भी आया हो तो क्या है । हमारे लिये उन महात्माओंके अनुभव ही प्रबल प्रमाण हैं, जिन्होंने अपने नेत्रोंसे श्रीराधाके दर्शन किये हैं, उनकी कृपा प्राप्त की है तथा जो अब भी कर रहे हैं । ऐसे महात्माओंकी वाणीका अमित मूल्य है । अतएव श्रीराधा श्रीकृष्णकी विवाहिता पत्नी थीं या नहीं, उनका नाम अमुक ग्रन्थमें आता है या नहीं ? इन शङ्काओंमें न पड़कर काय-मन-वचनसे उनके शरणापन्न होकर उनका भजन करना चाहिये और श्रीराधा-माधवसे कातर प्रार्थना करनी चाहिये—

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात् ।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ ॥
योऽहं ममास्ति यत् किंचिदिह लोके परत्र च ।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः ।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः ॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा ।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'नाथ ! पुत्र, मित्र, गृह आदिसे घिरे हुए संसार-सागरसे आप ही मेरी रक्षा करते हैं । आप ही शरणागत जनोंका भय भंजन करते हैं । यह मैं, मेरा यह देह और इहलोक-परलोकमें जो-कुछ भी मेरा है, आज वह सब मैं आपके श्रीचरणोंमें समर्पण करता हूँ । मैं अपराधोंका घर हूँ । मेरे अन्य कोई साधन नहीं है, मेरी कोई गति नहीं है । नाथ ! आप ही मेरी गति हैं । श्रीराधिकारमण ! श्रीकृष्णकान्ते ! मैं तन-मन-वचनसे आपका ही हूँ; आप युगल-सरकार ही मेरी अनन्य गति हैं । मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंमें पड़ा हूँ, आप करुणाकी खान हैं । मुझ दुष्ट अपराधीपर कृपा करके मुझे अपना दास बना लीजिये ।

स्वामिनी हे वृषभानुदुलारि !
कृष्णप्रिया कृष्णगतप्राणा कृष्णा कीर्तिकुमारि ॥
नित्य निकुंजेश्वरि रासेश्वरि रसमयि रस-आधार ।
परम रसिक-रसराजाकर्षिणी उज्ज्वल रसकी धार ॥
हरिप्रिया आह्लादिनि हरिलीला-जीवनकी मूल ।
मोहि बनाय राखु निसिदिन निज पावन पदकी धूल ॥

बोलो श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुनन्दिनी कृष्णानन्दिनी राधारानीकी जय !

एक साधककी प्रार्थना

हे भगवन् ! मुझे आप सर्वथा अपना ही बना लीजिये । आपकी मधुर स्मृतिसे मेरे हृदयको सर्वथा भर दीजिये । संसारकी आसक्ति, कामना, वासना बिल्कुल नष्ट कर दीजिये । इस हृदयरूपी गृहमें नित्य निरन्तर हर समय हर हालतमें आपकी मुनिमनमोहिनी मधुर मनोहर मूर्तिके दर्शन होते रहें । संसार तथा संसारके हृदय एवं संसारकी किंचित् भी स्मृति हृदयमें न रह जाय । मेरा यह हृदय श्यामसुन्दर आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्णके नित्य निवासके योग्य परम पावन, परम पवित्र भूमि बन जाय, एक श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दनकी मधुर मनोहर झाँकी नित्य होती रहे और उनकी देव-मुनि-मनहारिणी मुरली-ध्वनि सदा सुनायी पड़ती रहे । जीवन उन्हींकी स्मृतिमय हो जाय । मन उन्हींके रंगमें रँग जाय । भगवन् ! दयामय श्यामसुन्दर ! मेरी आपसे यही विनीत प्रार्थना है । यही एकमात्र हृदयकी माँग है ।

प्रार्थनोपचार या आध्यात्मिक चिकित्सा

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी बाजपेयी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

रोगोंका मूल कारण और निवारण

(२)

महर्षि चरक आदि आयुर्वेदीय संहिताकारोंकी घोषणा है कि अमृतोंमें अर्थात् स्वस्थ और दीर्घ-जीवन प्रदान करनेवाले पदार्थोंमें आयुर्वेद श्रेष्ठ है—'आयुर्वेदोऽमृतानाम् ।' देखें, आयुर्वेद क्या प्रकाश देता है ।

आयुर्वेदीय संहिताकारोंने इस विषयपर बहुत विस्तारसे प्रकाश डाला है कि परमात्मा और प्रकृतिने जिसको नीरोग रहनेके लिये जन्म दिया, उस मानव-कुलके अपने ही अपराधोंके कारण उसमें रोगोंका अवतरण कैसे हुआ और कैसे वे अब भी बढ़ते जा रहे हैं । जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय (वि० ३) में चरकने अति विशद शब्दोंमें प्रथम यह बताया है कि किस प्रकार राज्य-अधिकारियों और राजाके अधर्मके कारण वायु, जल, देश और काल (ऋतु) में विकृति आती है और उनकी विकृतिके कारण जनपद-ध्वंसक व्याधियों (महामारियों) का प्रादुर्भाव होता है । कुछ हेर-फेरके साथ यही विषय चरकमें आगे चिकित्सा-स्थानके प्रारम्भमें आया है ।

जनपदोद्ध्वंसनीय अध्यायके आरम्भमें विषय-प्रवेशके रूपमें टीकाकार चक्रपाणि लिखते हैं कि प्राणियोंके रोग-कारण दो प्रकारके हैं—सामूहिक और व्यक्तिगत । प्रत्येक व्यक्ति जिन अहितकर आहार-विहार आदिका सेवन करता है, वे व्यक्तिगत कारण हैं । बहुजनोंका किया हुआ जो अधर्म देश-काल और जल-वायुको दूषित करके महामारियाँ उत्पन्न करता है, वह सामूहिक रोग-कारण है ।

अग्निवेशके प्रश्नके उत्तर रूपमें जनपद-विनाशके कारण बताते हुए आचार्यने कहा है कि संक्षेपमें इन रोगोंके कारण भी प्रज्ञापराधके ही अन्तर्गत हैं । प्रज्ञापराधको आचार्योंने सब रोगोंका कारण माना है । वही महामारियोंका भी प्रकारान्तरसे कारण है । प्रज्ञापराधकी व्याख्यामें एक पूरा प्रकरण ही चरकने दिया है । उसमेंसे दो प्रसिद्ध पद्य दिये जाते हैं—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपनम् ॥

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥

(च० शा० १ । १०१-१०

—पुरुषको अपने लिये हितकर और अहितकर आहार-विहार, औषध, देश, काल आदिका ज्ञान न हो; ज्ञान हो तो समयपर उसकी स्मृति न हो; स्मृति हो तो भी उस ज्ञानके अनुसार आचरण करनेका संयम न हो—इसका नाम प्रज्ञापराध है । यह (प्रज्ञापराध) समस्त शारीरिक और मानसिक दोषोंको प्रकुपित करके रोगोंकी उत्पत्ति करता है । महामारियोंके विषयमें प्रज्ञापराधका स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं (च० वि० ३ । २४) कि वायु, जल, भूमि और कालकी विरूपता महामारियोंका कारण है, यह सत्य है; परंतु इन चारोंकी विरूपताका भी कारण पूर्वजन्मोंमें या इस जन्ममें किया हुआ अधर्म है । और अधर्मका कारण प्रज्ञापराध है । अधर्मका ज्ञान, स्मृति या उससे बचने योग्य मनोबल न होनेसे ही लोग अधर्माचरण करते हैं । इस अधर्माचरणका स्वरूप यह है कि राज्य-अधिकारी जब धर्मका त्यागकर अधर्मसे प्रजाके प्रति व्यवहार करते हैं एवं उनके आश्रित और उपाश्रित जनसाधारण उस अधर्ममें और वृद्धि करते हैं तब उस अधर्मसे धर्मका पराभव (पराजय) हो जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि वृष्टि यथासमय नहीं होती, होती ही नहीं, किंवा विकृत (न्यूनाधिक आदि) होती है; वायुओंका वहन सम्यक् नहीं होता; पृथ्वी भी गुणहीन हो जाती है; जल सूख जाता है; अन्न अपने मूलरूपको छोड़कर विकृत हो जाते हैं । इन सब विकृतियोंके फलस्वरूप खाद्य और स्पृश्य पदार्थ और वायु दूषित होकर देशके देश नष्ट हो जाते हैं । पूर्वजन्मोंमें किये हुए पापोंके फलस्वरूप भी महामारियोंका प्रादुर्भाव हुआ करता है ।

जनपदोंका ध्वंस कभी-कभी महामारियोंसे न होकर अस्त्र-शस्त्रोंसे होता है । उसमें भी चरम कारण अधर्म ही होता है ।

वि० ३ । २५ में महर्षि चरकका वचन है—

जनपदोंके शस्त्रजनित विनाशका भी कारण अधर्म ही

होता है। कुछ व्यक्तियोंमें जब लोभ, क्रोध, मोह और गर्व-की अति प्रवृद्धि हो जाती है तो वे दुर्बलोंको दबाकर शस्त्रोंकी सहायतासे या तो आपसमें ही एक दूसरेपर आक्रमण करते हैं; या मिलकर किसी तीसरेपर आक्रमण कर देते हैं; या फिर कोई तीसरा उनपर ही आक्रमण कर देता है। परिणाम यह होता है कि उनका, उनके स्वजनोंका तथा दूर-पासके पड़ोसियोंका प्रायः विनाश होता है।

कितनी बार बहुजनका सामुदायिक विनाश अभिशाप-वश होता है। कारण उसका भी वही अधर्म होता है। (देखिये चरक वि० ३। २७—)

अभिशाप-जनित जनपद विनाशका भी कारण यह अधर्म ही है। जिनका पूर्वजन्मोंमें किया हुआ धर्म निःशेष हो गया है तथा जो धर्म-हीन पुरुष इस जन्ममें भी गुरु, वृद्ध तथा पूज्योंकी अवज्ञा करके अहितकर आचरण करते हैं, वे गुरु आदिके शापके भाजन होते हैं। पृथक् व्यक्तिको मिला हुआ शाप उसका विनाश करता है और समूहको मिला हुआ शाप उस समूहका विनाश करता है।

सामूहिक रोगों और उनके कारणोंपर विशदरूपसे विचार करना तो जरा दूरकी बात है, परंतु व्यक्तिगत रोग-कारणोंमें आधुनिक विज्ञान दिन-पर-दिन अधर्मको प्रमुख स्थान देता जा रहा है। धर्म और आस्तिकतासे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है, और मानसिक शान्तिसे मन, सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम तथा अधिवृक्क ग्रन्थियोंकी क्रियाएँ सम अवस्थामें रहती हैं। इनका प्रभाव शरीरपर होता है। ब्लड-प्रेशर, हृदयके विविध रोग, अग्निमान्द्य, शरीरकी कृशता आदि रोगोंका सम्बन्ध तो मन आदि उक्त अवयवोंकी क्रियाओंके प्रकोपके साथ सरलतासे समझमें आ सकता है। परंतु अब तो प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि आमाशय तथा ग्रहणीमें होनेवाले क्षत, मधुमेह आदि रोग भी केवल मानसिक कारणोंसे और देखते-देखते हो जाते हैं।

चिन्ता, अतिश्रम, व्यवसाय आदिके कारण मानसिक क्लेश इत्यादिका प्रभाव एड्रीनल तथा सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टमपर होकर हाई ब्लड-प्रेशर होता है। यह परिस्थिति कायम बनी रहे तो हृदय और वृक्कोंपर विशेषतः दुष्प्रभाव होकर हृदयावरोध होनेसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है। चिन्ता आदिका प्रभाव पेनक्रियासपर होनेसे मधुमेह होता है। सहसा मानसिक आघातसे देखते-देखते आमाशयमें क्षत होनेका इतिहास मिलता है। इसी प्रकार अनेक रूपोंमें चिन्ता आदिका प्रभाव स्वास्थ्य और आयुपर पड़ता है। चिन्तामय जीवनसे राजयक्ष्मा होना प्राचीन-नवीन दोनों चिकित्सा-शास्त्रोंमें सुविदित है।

मानसिक गड़बड़ीमें शरीरको अधिक आक्सीजनकी आवश्यकता होती है। यह बात वैज्ञानिक प्रयोगोंद्वारा देखी जा चुकी है कि उत्तेजक भय और ग्लानिकी अवस्थामें शरीरमें आक्सीजनका उपयोग चार प्रतिशतसे पचीस प्रतिशत-तक बढ़ जाता है। इसके विपरीत हतोत्साहकी स्थितिमें आक्सीजनका उपयोग घट जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक अवस्थाका शरीरमें उपयुक्त होनेवाली आक्सीजनके साथ सीधा सम्बन्ध है। इस बातको हम उत्साहपूर्ण और हतोत्साह स्थितिमें अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं। हतोत्साह अवस्थामें कभी-कभी मृत्युकी नौबत आ जाती है। प्रेममें असफलता, परीक्षामें अनुत्तीर्ण होने और व्यापारमें हानि होनेपर दुर्बल हृदयवाले व्यक्तिकी मृत्यु तक हो जाती है।

मानसिक गड़बड़ीका प्रभाव हम रक्तमें श्वेत और लाल कणोंके अनुपातपर प्रत्यक्ष देखते हैं। साधारण स्वस्थ अवस्थामें रक्तमें श्वेत और लाल कणोंका एक निश्चित अनुपात रहता है। यह अनुपात बदलनेपर शारीरिक अवस्थामें गम्भीर परिवर्तन पैदा होता है। मानसिक गड़बड़ शरीरमें रक्तके इस अनुपातको बदलती है। यह देखा गया है कि भय पैदा होनेके सात मिनटके भीतर श्वेत रक्त-कणोंकी संख्यामें २५ प्रतिशत वृद्धि हो जाती है; और भयका कारण दूर होनेपर ३० मिनटके अंदर श्वेत रक्त-कणोंकी संख्या साधारण स्थितिमें आ जाती है। इस सब परिवर्तन-चक्रमें हमारी बहुत-सी शक्तिका व्यय हो जाता है। प्रयोगोंसे यह भी पता चला है कि मानसिक उत्तेजना रक्तमें चर्बीकी मात्राको बढ़ा देती है, क्योंकि शक्करकी भाँति चर्बी भी पेशियोंके लिये इन्धनका काम करती है, और उत्तेजनाकी अवस्थामें इन्धनकी बहुत आवश्यकता होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चिन्ता अक्षरशः चिताका ही काम करती है, और जीवन या आयुपर सीधा प्रहार करती है।

संसार-प्रसिद्ध चिकित्सक डाक्टर राबिन्सन (Dr. G. Canby Robinson) ने घोषणा की थी कि जान्स हापकिन्स अस्पतालमें दाखिल किये गये रोगियोंमें अस्सी

प्रतिशत रोगियोंकी बीमारियोंका मूल कारण मानसिक गड़बड़ीमें ही पाया गया ।

मानसिक रोगोंके विषयमें तो यह बात और भी अधिक सत्य है । 'आधुनिक मानव आत्माकी खोजमें' नामक अपनी पुस्तकमें सुप्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक डाक्टर कार्ल जुंग लिखते हैं—

'पिछले तीस वर्षोंमें संसारके समस्त सभ्य देशोंके मरीजोंको सलाह देनेका मौका मुझे मिला है । मैंने सैकड़ों रोगियोंकी चिकित्सा की है । पैंतीस वर्षसे अधिक उम्रवाले मेरे प्रत्येक मरीजकी समस्या अन्तमें जाकर यही निकली कि उसको जीवनके प्रति एक धार्मिक दृष्टिकोणकी आवश्यकता थी । इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि उन मरीजोंमेंसे प्रत्येककी बीमारीका मूल कारण उसके जीवनमें उस तत्त्वका अभाव था जो कि प्रत्येक युगके जीवन्त धर्म अपने अनुयायियोंको देते आये हैं, और उनमेंसे कोई भी तबतक पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुआ, जबतक कि उसे अपना धार्मिक जीवन-दर्शन प्राप्त नहीं हो गया ।'

जर्मनीके एक विख्यात मनोवैज्ञानिकका कथन है कि संसारके सभी डाक्टर मिलकर जितने रोगोंको हटाते हैं, उससे अधिक रोगोंको संसारका धर्म हटाता है ।

विचार एक सजीव शक्ति है जो कि केवल हमारे शरीरको ही प्रभावित करके नहीं रह जाता । प्रकाशकी रश्मियोंके रूपमें विचार हमारी मानसिक विद्युत्मेंसे प्रकाशित होते रहते हैं । हमारा प्रत्येक विचार एक ऐसी लहर है जिसका कि कहीं अन्त नहीं है और जो प्रत्येक देश-कालको प्रभावित करती है । जैसी विचार-किरणें हमारे मानसिक प्रदेशसे निकलती रहती हैं, वैसा ही हमारा व्यक्तित्व बन जाता है । जैसे हमारे विचार होते हैं, वैसी ही हमारे समस्त शरीरमें प्रवाहित होनेवाली मानवीय विद्युत् हो जाती है । इस मानवीय विद्युत्को ही पाश्चात्त्य विद्वानोंने 'पर्सनल मेग्नेटिज्म' या 'औरा' तथा अरबोंने 'नूर' कहा है । यही ओजस् है जो शरीर-रूपी दीपकमें स्नेहकी तरह बलता हुआ उसे प्रकाशित करता है । ओजस् यदि दीपशिखा (लौ) है तो तेजस् उसका प्रकाश है । दिव्य पुरुषों, योगियों और ऋषि-मुनियों प्रभृतिके मुख-मण्डलके चारों ओर जो गोलाकार ज्योति चमकती है, वह ओजस्का ही प्रकाश होता है । यद्यपि यह तेजस् सदैव प्रत्येक व्यक्ति, पशु-पक्षी, वनस्पति और सृष्टिकी वस्तु-मात्रसे निकलता रहता है तथापि जन-साधारणको नहीं दिखायी देता । यौगिक शक्ति-सम्पन्न या दिव्य दृष्टिवाले ही इसे देख पाते हैं । मानवीय विद्युत्-शक्ति आँखों और हथेलियों अंगुलियोंके पोरवों (अन्तिम छोरों) से विशेषरूपसे निकलती रहती है । यही कारण है जो संत-महात्मा प्राय छूकर या हाथ फेरकर चिकित्सा करते हैं । यह विद्युत् प्रवाह एक व्यक्तिसे निकलकर दूसरे व्यक्तिमें प्रवेश कर सकता है और उस समय दोनोंको ही इसका अनुभव हो सकता है । इसके बहुत-से सुन्दर उदाहरण महात्मा ईसाके जीवन-चरितमें पवित्र बाइबलमें मिलते हैं, जिनमेंसे दो प्रसंग हम नीचे देते हैं जो कि एक-दूसरेमें गुथे हुए हैं—

महात्मा ईसा जब गिरासेनियोंके देशसे लौट रहे थे, तो लोग उनसे आनन्दके साथ मिले; क्योंकि वे सब उनकी बाट जोह रहे थे । तभी याईर नामका एक मनुष्य आया जो कि आराधनालयका सरदार था । महात्मा ईसाके पाँवोंपर गिरकर वह उनसे विनती करने लगा कि मेरे घर चलिये; उसके बारह वर्षकी एक बेटी थी और वह मरनेपर थी । जब वह जा रहा था तब लोग उसपर गिरे पड़ते थे ।

तभी एक स्त्रीने, जिसको बारह वर्षसे खून बहनेका रोग था और जो अपना सारा धन वैद्योंके पीछे व्यय कर चुकी थी और तो भी किसीके हाथसे चंगी न हो सकी थी, (उस स्त्रीने) पीछेसे आकर महात्मा ईसाके वस्त्रके आँचलको छुआ, और तुरंत उसका खून बहना थम गया; क्योंकि वह स्त्री अपने मनमें कहती थी कि यदि मैं उसके वस्त्रको ही छू लूँगी तो चंगी हो जाऊँगी । इसपर महात्मा ईसाने कहा कि 'मुझे किसने छुआ ?' वह स्त्री तो चुप रही, और सब मुकरने लगे । पतरस नामक शिष्य और उसके साथियोंने कहा, 'हे स्वामी ! आपको तो भीड़ दबा रही है और आपपर गिरी पड़ती है ।' परंतु महात्मा ईसाने कहा—'किसीने मुझे छुआ है; क्योंकि मुझे अनुभव हुआ है कि मुझमेंसे शक्ति निकली है ।' जब स्त्रीने देखा कि मैं छिप नहीं सकती, तब काँपती हुई आयी और महात्मा ईसाके पाँवोंपर गिरकर सब लोगोंके सामने बताया कि मैंने किस कारणसे आपको छुआ और क्योंकर तुरंत चंगी हो गयी । महात्मा ईसाने उससे कहा: 'बेटी ! तेरे विश्वासने तुझे चंगा किया है, कुशलसे चली जा ।'

महात्मा ईसा यह कह ही रहे थे कि किसीने आराधनालयके सरदारके यहाँसे आकर कहा, 'तेरी बेटी मर गयी; गुरुको कष्ट मत दे ।' महात्मा ईसाने यह सुनकर उत्तर दिया, 'मत डरो, केवल विश्वास रखो, तो वह बच जायगी ।' घर पहुँचकर महात्मा ईसाने पतरस, यूहन्ना, याकूब और लड़कीके माता-पिताको छोड़ और किसीको भीतर आने नहीं दिया । और सब उसके लिये

रो-पीट रहे थे, परंतु महात्मा ईसाने कहा—'रोओ मत, वह मरी नहीं; परंतु सो रही है।' वे यह जानकर कि मर गयी है, महात्मा ईसाकी हँसी करने लगे। परंतु महात्मा ईसाने उसका हाथ पकड़ा। और पुकारकर कहा, 'लड़की! उठ।' तब उसके प्राण लौट आये और वह तुरंत उठी; फिर महात्मा ईसाने आज्ञा दी कि, 'उसे कुछ खानेको दिया जाय।'

जिस प्रकार पुष्प अपनी गन्धके परमाणु हर समय वायुमें फेंकता रहता है, उसी प्रकार मानव-शरीरसे भी मानवीय विद्युत्‌के परमाणु इधर-उधर उड़ते रहते हैं। जिस प्रकार फुलवारीका वायुमण्डल सुगन्धसे भर जाता है, उसी प्रकार मनुष्यकी शारीरिक विद्युत्‌के परमाणु उसके चारों ओर वैसा ही मण्डल बना लेते हैं, जैसे कि उसके विचार होते हैं। यही कारण है जो पवित्र लोगोंके निवास-स्थानोंपर बैठनेसे ही अपने अंदर बड़ी शान्ति और पवित्रताका अनुभव होता है।

ईश्वर-प्रार्थनाके रूपमें यह ओजस् या तेजस् अद्भुत चमत्कार बन जाता है। 'नोबुल पुरस्कार' विजेता, संसार-प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० अलेक्सिस केरल 'रीडर्स डाईजेस्ट' में अपने एक लेखमें लिखते हैं—

प्रबल-से-प्रबल जो भी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, वह ईश्वर-प्रार्थना है। यह पृथ्वीकी गुरुत्वाकर्षण-शक्तिके जैसी एक वास्तविक शक्ति है। चिकित्सकके रूपमें मैंने देखा है कि अन्य तमाम चिकित्साओंके असफल हो जानेके बाद केवल ईश्वर-प्रार्थनासे लोगोंने रोग और कष्टपर विजय प्राप्त की है। ………… प्रार्थना रेडियमके समान अपनी ही ज्योतिसे प्रकाशित और स्वयं अपने अंदरसे शक्ति उत्पन्न करनेवाली शक्तिकी स्रोत है। ………… प्रार्थनामें समस्त शक्तिके अनन्त स्रोतके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्यप्राणी अपनी सीमित शक्तिका विस्तार करते हैं। प्रार्थना करते समय हम विश्वकी रचना करनेवाली अनन्त इच्छा-शक्तिके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि इस विराट् शक्तिका एक अंश हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये हमें प्राप्त हो जाय। प्रार्थनामें माँगते-ही-माँगते हमारे मानवीय अभाव दूर हो जाते हैं और जब हम प्रार्थनासे उठते हैं तो अपने-आपमें एक नया जीवन और नया बल पाते हैं। ………… जब भी हम हार्दिक प्रार्थनामें ईश्वरको पुकारते हैं तो उसके बाद हम एक नया ही शरीर और एक नयी ही आत्मा प्राप्त कर लेते हैं, जो कि पिछले शरीर और आत्मासे श्रेष्ठ होते हैं। यह बिल्कुल असम्भव है कि कोई भी पुरुष या नारी एक क्षणभरके लिये प्रार्थना करे और उसका कुछ-न-कुछ अच्छा फल न निकले।

मैं इसी क्षणसे भगवान्‌का हो गया हूँ

मैं प्रत्येक समय ऐसा अनुभव करता रहता था—'मैं श्रान्त हूँ', 'मैं दुखी हूँ', 'मैं निराश हूँ', 'मुझे अमुक भय है', 'मेरी सभी कामनाएँ अपूर्ण हैं', 'मुझे अमुक-अमुक अभाव हैं', 'मेरे जीवनमें कोई रस नहीं।' इस प्रकारके निराशामय विचार मुझे निरन्तर क्षुब्ध एवं अशान्त ही करते रहते थे। किंतु भगवान्‌के प्रेम, सौहार्द और कृपाकी अनुभूति अब मुझे सचेत कर रही है; मुझमें नव जीवन भर रही है। मैं अपनी प्रत्येक क्रिया तथा मनमें उठनेवाले प्रत्येक विचारके प्रति पूर्ण जागरूक हूँ, और मैं भगवान्‌के सौहार्दके बलपर निश्चय करता हूँ—'मेरा प्रत्येक विचार, मेरा प्रत्येक शब्द, मेरा प्रत्येक कार्य भगवान्‌के विश्वाससे अनुप्राणित तथा ओतप्रोत रहेगा। मैं सदा सर्वत्र 'शुभ'के ही दर्शन करूँगा और मैं जीवनके प्रति पूर्ण आशावान् रहूँगा।'

'अब जीवनके प्रति मुझमें पूर्ण उल्लास है और मेरी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओंद्वारा मेरे हृदयका उल्लास चारों ओर बह रहा है। मैं सर्वथा सफलजीवन होऊँगा।'

'मैं शरीरसे पूर्ण स्वस्थ हूँ, मेरा मस्तिष्क पूर्ण शान्त है और मेरा हृदय संतोष-सुधासे छलक रहा है।'

'मेरे लिये यह क्षण भगवान्‌के प्रेम, सौहार्द और कृपाको जीवनमें अपनानेके लिये प्रस्तुत है।'

'मैं इसी क्षणसे भगवान्‌का हो गया हूँ। और अब सदा भगवान्‌का ही रहूँगा।'

अब कैसे होगा जीना ?

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

यह उन्नति !

कीटाणुवाद विज्ञानके परीक्षणोंसे सिद्ध हो चुका है, सारी दुनियाकी सरकारें, जनताकी स्वास्थ्य-रक्षाके लिये कुएँ-तालाबोंके जलोंमें कीटाणु-नाशक दवाएँ डालती हैं और शहरोंमें 'फ्लोरीन'से 'शुद्ध' (?) हुआ जल जनताको नल-द्वारा मिलता है ।

संसारकी आबादी बढ़नेके साथ-साथ खाद्यकी समस्या बढ़ रही है, उसे मिटानेके लिये 'अधिक अन्न उपजाओ' की योजना सिद्ध करनेके उद्देश्यसे अब बहुत-सी बेकार पड़ी जंगली भूमिका कृषिमें उपयोग करनेको उत्साहित किया जा रहा है और बैलोंकी अपेक्षा अब विदेशोंसे खरीदकर मँगवाये गये 'लौह-वृषभ' (ट्रैक्टरों) द्वारा गहरी जुताई और रासायनिक नाइट्रोजनकी शक्करिया खाद भूमिमें डालकर, कुएँ—नहरोंसे पानी देकर साग, फल और अन्नके बड़े रूप पैदा किये जा रहे हैं । कीटाणुओंद्वारा हानि होनेके डरसे साग-फल-अन्नकी फसलोंपर और दूकानोंपर कीटाणु-नाशक दवाइयाँ छिड़की जाती हैं ।

गाँवोंमें एक-दो दशक पहले स्त्रियाँ सुबह चक्कियाँ चलाकर रोज ताजा आटा घर-गुजरके लिये पीस लिया करती थीं। चावल भी रोज ऊखलीमें कूट लिया करती थीं। अब उन्हें फ़ुरसत हो गयी है। उनका परिश्रम और समय बच गया है। वे अब आरामसे सूर्योदयतक सो सकती हैं, पासके बाजारमें कुछ बनियोंने गत-महायुद्धसे लाभ उठाकर दो-तीन चक्कियाँ लगा ली हैं। घंटोंका काम मिनटोंमें करते हैं । आटा पीसते हैं, चावल निकालते हैं, तेल पेरते हैं, कपास धुनते हैं, कुट्टी काटते हैं, थोड़े पैसोंमें ग्रामीणोंकी बड़ी सेवा कर उन्हें सालभरके लिये फुरसत और आराम देते हैं !

बीस साल पहले कोई डॉक्टर या दवाखाना नहीं था । रोज ताजा आटा और चावल खाते; चना, बाजरा, महुआ चबाते और कभी फसली बुखार होता तो वनस्पति काढ़ा पीकर कुछ दिनोंमें चंगे हो जाते । अब सुबह चाय पीते हैं, बीड़ीकी जगह सिगरेट वातावरणमें धुआँ फैलाकर मुफ्तमें एकके मुँहसे निकलकर दूसरोंकी नाकसे छातीमें प्रवेश करती है ।

लोगोंको अब कब्ज होने लगा है, चक्कीका आटा बहुत बारीक पिसकर असह्य गरम, जला-भुना-सा होकर निकलता है, और चावल तो देखनेमें सफेद, साफ-किंतु स्वाद भूसे-जैसा नीरस लगता है; किंतु अब स्त्रियाँ आटा-चावल रोज पीसने-कूटनेकी कष्टमय आदत नहीं डालना चाहतीं । थोड़े पैसोंमें सब काम हो जाता है। पुरुष अपने सिरपर एक मनकी गठरी दो मील लेकर जा-आकर महीने-पंद्रह दिनके लिये गृहिणीको फ़ुरसत कर देता है। हाँ, सरकारने अब बाजारमें एक 'देशी' औषधालय खोल दिया है। जहाँ आयुर्वेदाचार्य 'डॉक्टर' साहब, किसीको कोई भी बीमारी होनेपर सूई ('इंजेक्सन) लगा देते हैं अथवा एस-पी इत्यादिकी गोलियोंका नुस्खा लिख देते हैं। कितने ही लोग चाय-सिगरेटकी नयी दोस्ती पालकर अब कहने लगे हैं कि 'बहुत-सी दवाइयाँ खा लेनेपर भी उन्हें भोजनका कुछ स्वाद नहीं मालूम होता, भूख नहीं लगती, शौच साफ नहीं होता, नींद नहीं आती, शरीरमें—रोम-रोममें एक प्रकारकी गर्मी मालूम होती है। चलने-फिरने, काम-काजमें सुस्ती मालूम होती है, दवा या इंजेक्शन लेकर किसी तरह जिंदा हैं, मौत नहीं आती ।' इस इलाजसे आदमीकी मौत टाली जा सकती है ? हाँ, पर वह सबल-स्वस्थ न होकर, निर्बल रहते हुए जी सकता है । दवासे 'अनमोल' जीवन मिल सकता है । 'जीवन है किंतु जीवनका आनन्द नहीं !'

कहा जाता है—वातावरणमें मक्खियाँ और मच्छर भरे पड़े हैं, जो भोजन-सामग्रीपर बैठकर और मनुष्योंको काटकर बीमारी फैलाते हैं । मच्छर काटनेसे संसारमें तीन करोड़ लोगोंको मलेरिया प्रतिवर्ष होता है; जिनमेंसे तीस लाख व्यक्ति मर जाते हैं । पहले बहुत मरते थे; किंतु अब वातावरणमें डी-डी-टी, गेमाक्सीन आदि रासायनिक विषोंकी यान्त्रिक बौछार और धुएँसे मक्खी, मच्छर मर जाते हैं, मनुष्य बड़ा जीव है, वह नहीं मरता; उसकी नाकसे इन विषोंकी गन्धमात्र हृदय-फेफड़ों और मस्तिष्कमें पहुँचती है।

पिछले साल 'फ्लू' पूरबसे उड़ते-उड़ते पश्चिमके देशोंतक पृथ्वीकी परिक्रमा करते कितने लाख मनुष्योंकी आहुति ले गया, कुछ हिसाब नहीं, और डॉक्टरोंने खोज करके 'फ्लू'

पैदा करनेवाले कीटाणुका पता लगाया और उनको नष्ट करनेके लिये बंदूककी गोली या तोपके गोलाके पर्याय 'इंजेक्शन' बनाये। कीटाणु मानवका घातक शत्रु है और वैज्ञानिक मानवने अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे संसारके वातावरणमें, पानीकी बूँदोंमें, साग-फल-अन्न-भोजनमें, अपनी कायाकी नाडियोंमें, रक्तके कण-कणमें इन घातक सूक्ष्म शत्रुओंके विरुद्ध धावा बोल दिया है, इंजेक्शन और विषाक्त दवाओं-द्वारा! विषको विष मारता है, दुश्मनको उसका दुश्मन मारता है; किंतु विषपर विष डालनेसे विष बढ़ता है, दुश्मन बढ़ते हैं, यह मनुष्य भूल जाता है।

शरीरमें श्मशान

हम पूछते हैं, वातावरणमें या पानीमें कीटाणुनाशक दवाओंसे जो कीटाणु मरते हैं, उनकी लाशको निकालनेका प्रयत्न—साधन न करते उन्हें वातावरणमें, पानीमें और इंजेक्शनद्वारा मनुष्यके शरीरमें, रक्तमें उन्हें सड़ने क्यों दिया जाता है?

'नरक जानेका शानदार रास्ता' नामक अंग्रेजी पुस्तकमें डॉक्टर मेलविल कीथने लिखा है, 'नित्य नयी प्रकारकी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। पागलपन, मृगी, अनेक प्रकारके मानसिक रोग इन पचास वर्षोंमें तीन सौ प्रतिशत बढ़ गये हैं। जहाँ पहले एक व्यक्ति रोगी था, अब तीन सौ हो गये हैं। अगले पचास वर्षोंमें क्या होगा, कल्पना कीजिये। सारी दुनियाँके लोग एक दिन दिवाने हो जायँगे।'*

कभी पर्व-उत्सवके समय तीर्थोंमें, मेलोंमें जाओ तो, सरकारके 'स्वास्थ्य-दूत' स्टेशनोंपर, यातायातके चौराहोंपर अपनी सूई-रूपी तोपें लिये यजमानोंकी बाँहोंमें उनके रोगनाश तथा स्वास्थ्य-रक्षा (रोगोत्पन्न स्वास्थ्य-नाश!) के लिये जबरदस्ती ठूँसते हैं। इसमें कितनी सूक्ष्म वैज्ञानिकता है, इसका अनुभव कतिपय भुक्तभोगी सुनाते हैं। यूरोपके कुछ देशोंमें टीका लगाना स्वैच्छिक घोषित हो चुका है; किंतु जनतन्त्र भारतीय सरकारके दिमागसे गौराङ्ग-विज्ञानकी गुलामीके संस्कार अभी जल्दी नहीं मिट सकते!

डॉक्टर मेलविल कीथ एम्० डी० ने आगे लिखा है, 'डॉक्टरी धंधा करनेवालोंने समझ रक्खा है कि शरीरमें एक प्रकारका विष, इंजेक्शनद्वारा प्रवेश करा देनेसे उससे दूसरे विषका प्रभाव, कीटाणुओंद्वारा नहीं होगा। रोग-निरोधक शक्ति उत्पन्न करनेकी यह धारणा बिल्कुल गलत है। हजारों लोगोंपर यह प्रयोग निरर्थक एवं हानिकर सिद्ध हुआ है। टीका लगाकर चेचकसे कोई नहीं बचता, न कोई बचा है, न बचेगा। टीका तो सौगुना हानि करता है, कोई भी इंजेक्शन खूनको जहरीला बना देता है, उस जहरको खूनमेंसे वापस निकालना असम्भव है। रोग इसीसे बढ़े हैं।'*

कहीं भी पशु अथवा मनुष्य मुर्दा हो, उसे फौरन बाहर फेंक, जमीनमें गाड़ने या जला देने अथवा जलजन्तुओंको दे देनेकी प्रथा पुरानी है। अब नयी वैज्ञानिक प्रथासे मुर्दा कीटाणु पिये-खाये जाते और अपने रक्तमें ही सड़ाये-घोले जाते हैं।

अमेरिकामें दक्षिण मेडिकल संघके प्रेसिडेंट डॉक्टर मारशल टेलरने लिखा है—'गर्भावस्थामें माताओंको गर्भपात अथवा शीघ्र प्रसव करानेके लिये जो 'कुनैन' दिया जाता है, उससे जन्मी हुई संतानका भी रक्त इतना विषाक्त हो जाता है कि वह बहरी, गूँगी, अपंग, विकृत-मस्तिष्क एवं अनेक प्रकारसे क्षीण हो जाती है। हम ऐसे

---

* भारतमें भी मानसिक रोगियोंकी संख्या बड़े वेगसे बढ़ रही है। एक बंबईके के०ई०एम्० अस्पतालके पिछले सात वर्षोंसे रिपोर्टसे पता लगता है कि सन् १९५१ में ६९८६ आउट-डोर मानसिक रोगी थे। सन् १९५६ में उनकी संख्या १७१०२ हो गयी। इसी प्रकार इनडोर रोगियोंकी संख्या भी बढ़ रही है। यह केवल एक अस्पतालका वर्णन है।

* भारतवर्षमें भी 'इंजेक्शन' का प्रचार बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है और ग्रामीण लोग भी बात-बातमें 'सूई' लगवाना चाहते हैं। इसमें कितना अधिक दुरुपयोग होता है और कितनी अधिक हानि होती है—पता नहीं। 'इंजेक्शन'की भाँति आजकल 'एक्सरे' का भी महान् दुरुपयोग चल रहा है। गर्भवती स्त्रियोंके गर्भकी जाँचके लिये एक्सरेका प्रचार खूब बढ़ा है। पिछले दिनों ब्रिटिश मेडिकल जर्नलमें आक्सफार्ड युनिवर्सिटीमें 'सोशियल मेडिसिन'में काम करनेवाली महिला डॉक्टर डा० एलिस स्टयुसर्टने लिखा था कि 'गर्भवती स्त्रियोंके पेटकी एक्सरेके द्वारा आजकल परीक्षा की जाती है। और इससे ऐसी स्त्रियोंके बालक १० वर्षकी उम्र होनेसे पहले ही 'ल्युकीमिया। (एक प्रकारका पाण्डुरोग) तथा कैंसरके शिकार होकर मर जाते हैं। १५०० माताओंके केसोंपर परीक्षा करनेसें इस बातका पता लगा है।'

सभ्य संसारका निर्माण कर रहे हैं जिसमें कुछ वर्षोंमें बहरे, अंधे, लँगड़े, अपंग, विकृताङ्ग और पागल लोग होंगे ।'

इसी प्रकार बहुत-से विख्यात खोजी निष्पक्ष डॉक्टरोंने बहुत वर्षोंके अनुभवकी हृदय-दुन्दुभी बजायी है; परंतु डाक्टरी धंधा और विषाक्त दवाओंका उद्योग दिन-दुगुना रात-चौगुना बढ़ रहा है । सरकार उनमें करोड़ों रुपये खर्चकर जनताका हित (?) करती है, और जनतामें अपनी व्यसनकी आदतोंके कारण अपने ही रोग-नाश एवं स्वास्थ्य-साधनके विषयमें विचार करनेकी सूक्ष्म बुद्धि नष्ट हो चुकी है । कुछ भी विचारे बिना वह सरकारका अनुकरण करती है; क्योंकि सरकार अपनी है । सरकारमें हमारे ही चुने हुए प्रतिनिधि विधायक हैं; परंतु वे भी हम-सरीखे मानव हैं । उनको भी व्यसन और सभ्यताकी आदत है । इस वैज्ञानिक सभ्यतासे भागकर कौन कहाँ जाय, सारी दुनियाके देशोंमें यह सभ्यता व्यापक है । कुएँ-तालाबमें कीटाणु-नाशक दवा डालना अनिवार्य है । आसमानसे बरसनेवाला पानी भी एकत्र करें तो समुद्रपर परीक्षणार्थ डाले गये अणुबमके विस्फोटसे बने बादलोंके जलमें भी 'रेडियो सक्रिय' तत्त्व पाये गये हैं । वह जल भी पीने योग्य नहीं ।

गेहूँ, चावल, अन्नको भी अधिक कालतक कीटाणुओंसे सुरक्षित रखनेके लिये रासायनिक तत्त्वोंसे धोया (Bleach) जाता है, साग-भाजी-फल भी विषाक्त ओषधियोंसे पले-सने रहते हैं । दवा तो विष है ही ।

किसी दूरस्थ एकान्त द्वीप या किसी जंगली जातिके देशमें भी जानेके लिये सरकारकी आज्ञा चाहिये, और देशसे निकलनेके पूर्व 'इंजेक्शन' लेकर अपनी रोग-निरोधक-शक्ति (Immunity) का प्रमाण आवश्यक है । यहाँसे किसी तरह बच निकलें तो विदेशमें पाँव रखते ही इंजेक्शनके लिये कैद होना पड़ेगा । अस्पतालमें अथवा घर-घर जाकर कोई सर्जन जबरदस्ती ऑपरेशन नहीं करता, शरीरको नहीं छूता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका यह कानून केवल किताबोंमें है । ऐसे मामलोंमें व्यक्तिकी इच्छा न होनेपर, लाख मना करनेपर भी उसको इंजेक्शन लगाया जायगा । शरीरपर कोई भी क्रिया करना ऑपरेशन ही तो है ।

अब कहाँ साँस लें, क्या पियें, क्या खायें, कहाँ जायें, कैसे रहें, कैसे जियें ? गौमाताके दूधमें भी कीटाणु हैं, उसे भी ताजा कच्चा पीना मना है ।

क्या खायें-जियें

ये वैज्ञानिक लोग उस दूधको 'पेश्चुराइज' (Pasteurise) करनेको कहते हैं और 'डेरी' (दुग्धशाला) वाले भी यान्त्रिक क्रियाओंसे दूधको गरमके पश्चात् ठंडा करके बेचते हैं । अब देशमें गो-धन-पालनको प्रोत्साहन नहीं रहा। गत पचीस वर्षोंसे कारखानोंसे 'टनों' नकली घी बनकर जनताको शक्ति-दान और उद्योगपतियों एवं कर्मचारियोंका पेट पालन करने लगा है ! दूधसे मक्खन निकालनेकी विदेशी मशीनें गाँव-गाँव, घर-घर गो-महिषी-पालकोंके पास आ गयी हैं । वे स्वयं शराब-तमाखू-चायके व्यसनमें फँसे हैं। बच्चोंको भी दूध-माठा हराम हो गया है । दूधमेंसे मक्खन निकालकर, मक्खनमें 'डालडा' इत्यादि नामोंसे प्रख्यात नकली घी मिलाकर घी-मक्खनकी सुगन्ध कच्ची दशामें दी जाती है; किंतु आँच लगनेपर साँच प्रकट हो जाता है। कच्चे दूधमें भी डालडा आदि मन्थनकर शुद्धके नामसे घी, मक्खन, दूध बाजारमें मिलते हैं । अमेरिकासे भारतको उपहार-स्वरूप भेजा गया टनोंकी मात्रामें पाउडर-दूध, जो हमारे बच्चोंको मुफ्त पानी मिलाकर पिलाया जाता है, मक्खन-निकाले दूधमें आरारोट आदिकी तरह मिलाया जाकर असली बनाया जाता है । विदेशसे आये हुए डिब्बोंमें बंद, ये पीले मक्खन और दूध पाउडर भी खतरेसे खाली नहीं हैं । अमेरिका, यूरोपमें इस विषयमें जो खोज हुई है, उसके प्रकाशनसे मालूम होता है कि ये भी 'विषाक्त' होते हैं । विदेशोंमें डालडाकी भाँति 'मारगरीन' मछलीके तेल आदिसे बनता है । वैज्ञानिकोंका कहना है कि मूलरूपमें घी, मक्खन, तेल विकारी होते हैं और शरीरकी पाचन-प्रणालीको हानिकर होते हैं । अतएव रंग-रसायन मिलाकर उन्हें देखनेमें 'सुन्दर और शुद्ध' बनाया जाता है कि वे अधिक कालतक बाहरी हवासे बचकर डब्बे और बोतलोंमें कायम रह सकें । पीले मक्खनका भी यही हाल है ।

२९ अक्टूबर १९५३ के इंग्लैंडके 'न्यूज क्रानिकल' में कनाडासे बीस हजार टन मक्खन बेचने इंग्लैंड आये हुए व्यक्तिकी बातचीतका समाचार छपा था । संवाददाताने लिखा है कि 'ब्रिटेन यदि यह मक्खन खरीदेगा तो नष्ट हो जायगा । वह मक्खन अमेरिकन था और कनाडियन दलाल इसके पूर्व फ्रांस, इटली और जर्मनीको हजारों टन बेच चुका था और अब इंग्लेण्डकी 'रेडक्रास' तथा 'महिला संस्थाओं' से बात करके नकारात्मक उत्तर पाकर स्वास्थ्य-

मन्त्रीसे सौदा करने गया था, बताया कि 'अभी हम बीस हजार टन मक्खन बेचना चाहते हैं, तीस हजार टन भी दे सकते हैं। अमेरिकामें हमारे पास एक लाख साठ हजार टन मक्खन मौजूद है।' एक सप्ताहतक हेल्थ मिनिस्टरने यह मक्खन खरीदनेका सौदा पक्का न किया तो सब मक्खन समुद्रमें डाल दिया जायगा।' कुछ डुबाया-फेंका भी है। अमेरिकामें मक्खन महँगा होनेके कारण लोग मारगरीन (डालडा) खाते हैं।

इसी प्रकार हमारे देशमें डालडा आदि नकली घृतोंकी खपत समझिये। असली घी न मिलनेसे, असली सरसों-तिल्लीका तेल न मिलनेसे भी कतिपय लोग डालडा खानेको लाचार होते हैं। डालडा दो प्रकारके तेलोंका मिश्रण है जो रासायनिक मिश्रण और यान्त्रिक क्रियाओंसे शुद्धकर घीका भाई बना दिया जाता है।

अमेरिकामें शुद्ध मक्खन और डालडारूपी मारगरीन अलग-अलग दो दलोंके बच्चोंको खिलाकर प्रयोग किया गया। उससे दोनों प्रकारके बच्चोंमें जो अन्तर पाया गया वह इस प्रकार है—मक्खन श्रेष्ठ पाया गया; क्योंकि इसमें विटामिन 'ई' रहता है, इसको गरम करने, शुद्ध करनेसे विटामिन 'ई' नष्ट हो जाता है। और इससे ९९ प्रतिशत 'पुंसत्वदायक' शक्ति नष्ट हो जाती है। यान्त्रिक संघटनसे यह विटामिन 'ई' नहीं बनाया जा सकता। मारगरीन 'घृत' खानेवाले लड़के तथा लड़कियों—दोनोंमें, शरीर यद्यपि स्थूल हो गया, उनमें पुंसत्व घट गया। पुंसत्वके लिये विटामिन 'ई'की ही आवश्यकता होती है। अब विचार कीजिये कि देशका स्वास्थ्य क्यों नष्ट हो रहा है और दवाइयोंसे क्यों नहीं सुधर रहा है ? ये बनावटी घृत शरीरकी पाचन-प्रणालीके अयुक्त होनेके कारण अनेक प्रकारकी विकृति करते हैं। मोटापाका अर्थ भुखमरी भी समझिये। खाया हुआ यह तत्त्व गरिष्ठ होकर, अपच होकर शरीरमें ही सर्वत्र जमा होता है। रक्तवृद्धिमें रुकावटसे, भार पड़नेसे हृदयपर उसका फौरन प्रभाव होता है, अन्यथा आजके बढ़ते हुए ब्लड प्रेशर, हृदय-रोग, कैंसर, मधुमेह, पक्षाघात, क्यों व्यापक हो रहे हैं ?

गेहूँ, चावल-जैसे अन्नोंको भी रासायनिक पदार्थोंसे धोकर अधिक काल रखने योग्य बनाया जाता है ताकि उनमें कीटाणु पैदा न हों, कीटाणु उन्हें न खायें। एक डॉक्टर तो इतने अंधेरकी बात कह चुके हैं कि अधिक कालतक इस प्रकार रक्खे हुए गेहूँकी रोटी उत्तम और सुपाच्य होती है। भला वह सुपाच्य क्यों न हो जो रासायनिक धुलाईसे इतना विषाक्त और बरबाद हो चुका है कि उसे कीटाणु भी नहीं पूछते। यह सब रासायनिक उद्योगपतियोंके व्यवसायके हितकी बात है!

इंग्लेंडसे प्रकाशित, विख्यात, प्रमाणित डॉक्टरी अखबार 'लांसेट'के १ दिसम्बर १९५१के अङ्कमें डॉ० वारनेट स्ट्रॉसने बताया है कि 'यह 'एजीन' नामक पदार्थ जो गेहूँमें मिलाया जाता है, छः प्रकारके जानवरोंपर प्रयुक्त हो चुका है। कुत्तोंको देनेसे उन्हें एक प्रकारका दौरा आने लगता है।' सर एडवर्ड मेलनबीने बताया है कि 'नाइट्रोजन ट्रिक्लोराइडसे वह गेहूँ सब प्रकारके प्राणियोंके लिये विषाक्त हो जाता है। पीले केरोटीनकी परत गेहूँपरसे धुलकर बे-रंग हो जानेसे उसका विशेष खाद्योज नष्ट हो जाता है। मालूम होता है कि आजकल बढ़ते हुए रोग अपेन्डिसाइटिस, (अन्त्र-पुच्छ-प्रदाह, शोथ या फोड़ा) कोलियो सिस्टाइटिस, (पित्ताशय-शोथ), पेप्टिक अल्सर (पेटमें फोड़ा) इत्यादि पाचनप्रणालीके रोग इसीके कारण होते हैं।' सफेद डबल रोटी, बिस्कुट आदि उज्ज्वल दर्शनीय आकर्षक इन्हीं रंग-रसायनोंकी मिलावटसे होते हैं जो सभ्य जनताका दैनिक भोजन है।

खाने-पीनेकी प्रायः सभी वस्तुओंमें, जो बंद डिब्बों और बोतलोंमें मिलती हैं, शुद्ध, साफ, दर्शनीय, रंगीन, सुगन्धित, आकर्षक और टिकाऊ बनाये रखनेके लिये, बताया गया है कि अमेरिकामें सात सौ प्रकारके रासायनिक पदार्थ कारखानोंमें उपयोग किये जाते हैं, जिनमेंसे २४६ पदार्थोंके हानि-लाभ गुण-धर्मकी वैज्ञानिक जाँच अभीतक नहीं हो पायी है। रोटी, आटा, अन्न, शर्बत, मुरब्बा, कुल्फी, मलाई, मक्खन, सुपारी, इलायची इत्यादि सब प्रकारके सुगन्धित तैल, इत्र, सेंट आदि जितनी भी उपयोगी चीजें मनुष्यके मुख, कान, नाक, आँख, चर्म, शरीरके उपयोगके लिये हैं, सबमें ये मिश्रण होते हैं।

सार-तत्त्व !

अब बढ़ते हुए कैंसरका कारण तमाखू बताया जाता है। आदिम और अर्धसभ्य जातियाँ सैकड़ों वर्षोंसे तमाखू खाते-पीते-सूँघते आ रहे हैं। उन सबको कैंसर नहीं हुआ, अब तमाखूपर दोष क्यों ? एक उत्तरप्रदेशवासी, बंबईमें विदेशोंसे ऊँचे प्रकारके इत्र-सेंटका आयात कर, देशमें उनके मिश्रणसे नयी सुगन्धित वस्तुएँ तैयार-प्रचार कर व्यापारसे लाभ उठानेवाले सज्जन (१) ने बताया कि 'अब तो साई-सैंसों और

लाल मिरचेके सेंट (सारतत्त्व) भी तैयार हो गये हैं, घासकी एक सींक डुबाकर कड़ाहीमें चुभा दीजिये, पचास आदमी मजेमें स्वाद पा जायेंगे। सारतत्त्व बना लेनेसे इन चीजोंके यातायातमें हल्कापन आ जाता है, पैकिंग और रेल-जहाजमें स्थान तथा वजनकी बचत हो जाती है। एक प्रकार ऐसा ही महाविष सेंटका उपयोग वे तमाखूमें करते हैं, जिसे तमाखूसेवी जनता बहुत पसंद कर माँग करती है।' ऐसी सुगन्धित तमाखू पीने-सूँघने और खाने तीनों प्रकारसे काम आती है। तीनों प्रकारसे उपयोगमें लायी जानेवाली तमाखूकी सुगन्धिका परिणाम पाचन-प्रणाली और फेफड़ों एवं हृदयपर क्या नहीं पड़ता ? इंग्लैंडके बादशाह छठे जार्ज ऊँचे दर्जेकी सिगरेट पीते थे, सिगरेट उनके मुँहसे लगी ही रहती थी। उनको भी 'कारोनरी थ्राम्बासिस' और फेफड़ेका कैंसर हो गया था, दो बार आपरेशन हुआ फिर भी वे बच न सके और किसी तमाखू-उद्योगपति तथा बादशाहके बड़े-बड़े डॉक्टरोंको उनपर इतनी दया न आयी कि कोई उन्हें सिगरेट पीनेसे मना करे।

यों तो खाने, पीने, सूँघने, लगाने, चुपड़ने, चाटनेकी वस्तुओंमें रासायनिक मिलावट आजसे नहीं, गत सौ वर्षोंसे हो रही है। पर फलमें तो उसकी कोई सीमा ही नहीं रह गयी है। सरकार विधानसभामें परामर्श कर कानून बनाती है और जनताको सभी उपयोगी वस्तुओंके शुद्ध होनेका विश्वास दिलाती है। परंतु फिर भी रोग बढ़ रहे हैं, असाध्य रोग, जिनके दूर करनेके लिये 'कीटाणुवाद'के सर्वव्यापी सिद्धान्तके अनुसार कीटाणुनाशक दवाइयों और इंजेक्शनोंका शोध-प्रचार, व्यवसाय बढ़ रहा है। अनुभवसे हानि जानकर कोई डॉक्टर विरोधकी आवाज उठाकर जनताको सावधान करता है तो रासायनिक व्यवसायी उद्योगपति उसकी जानके ग्राहक हो जाते हैं अथवा चाँदी-सोनेके जूतेके प्रयोगसे उसे संतुष्ट कर चुप कर देते हैं। यह उद्योग-प्रयोग सर्वव्यापी है।

सभी उपयोगी वस्तुओंको स्पर्शमें नरम, देखनेमें रंगीन, सुन्दर, सुगन्धित, स्वादिष्ट और टिकाऊ बनानेके लिये वर्जित रसायनोंके विषयमें 'लांसेट' डॉक्टरी सर्वप्रिय अखबारमें प्रोफेसर ई० सी० डाड्सने उद्योगपतियोंसे निर्गन्ध मिट्टीके तेल, इथिलीन, डिइथीलीन ग्लाइकोल और एनिलीन रंगोंकी विषाक्तताके विषयमें प्रश्न किया है कि अल्पमात्रामें ये विष चूहोंको प्राणघातक सिद्ध हुए हैं, फिर मनुष्यको खाने, पीने, सूँघने और चर्मपर लगानेवाले द्रव्योंमें ऐसे विष-द्रव्योंका मिश्रण रोज किया जाय तो उसका कुछ कालमें क्या परिणाम होगा, आप बता सकते हैं ? *

एक तोला या छटाकभर अफीम-संखिया खानेसे कोई भी तुरंत मर जायगा, परंतु एक-एक रत्ती रोज खानेसे भले ही तुरंत न मरे, वह विष तो शरीरमें संचित हो रक्तमें ही घुलता है, फिर बचपनसे चलकर बुढ़ापेमें कोई भी असाध्य रोग क्यों न हो ? उसकी ओषधि फिर कब खोजी जाय ? रोगका निदान क्या किया जाय और उपचार कब किया जाय ?

बंदर बड़ा उत्पाती जानवर है, यद्यपि हनूमान्‌जीकी भाँति वह हमारे देशमें पूज्य होनेसे हिंसायोग्य नहीं माना जाता, फिर भी रोगी-मानवके कल्याणके लिये वैज्ञानिकोंको प्रोत्साहन देकर, दो-दो रुपये अपने बंदर पकड़नेका पारिश्रमिक लेकर, हवाई जहाजसे हजारों बंदर हम यूरोप-अमेरिका भेजकर उनकी कीमत वहाँ तीन सौ रुपये कर देते हैं और अनेक प्रकारकी रासायनिक रंगीन स्वादिष्ट मिठाइयाँ हम स्वयं खाकर ऐसे बच्चे उत्पन्न करते हैं और उन्हें भी वही वस्तुएँ खिलाकर 'पोलियो' नामसे विख्यात नये रोगसे अपंग, जीवनभरके लिये लाचार कर देते हैं। उन्हींके इलाजके लिये हमारे ही पौराणिक हनूमान्‌जीके इन वंशजोंकी ग्रन्थियोंसे बने 'साल्क' टीका और इंजेक्शन खरीदते हैं। १९५६ के प्रारम्भिक कालमें छपे 'ब्रिरमिंघम इवनिंग डिस्पेच' अखबारमें एक सज्जनकी कलमसे वक्तव्य छपा था—'मनुष्यको दुःख देनेकी अपेक्षा हमलोग पशुओंको दुःख देनेमें कुछ भी विचार नहीं करते, हम उन्हें प्रायः जड़ और साग-भाजी-सरीखा मानकर वैज्ञानिक प्रयोग करते हैं। सालभर पहले मेरी ऐसी ही धारणा थी और पशुओंपर वैज्ञानिक प्रयोगका विरोध करनेवालोंसे मैं चिढ़ता था, किंतु मैंने स्वयं ऐसी एक वैज्ञानिक अनुसंधानशालामें जाकर एक दिन मानव-उपकारी उन अपने अनुज निम्न बन्धुओंकी नारकीय दुर्दशा देखी, उससे मेरा रोम-रोम कम्पित हो गया! अब मेरी धारणा बिल्कुल विपरीत होकर बदल गयी है।—

---

* ऐसा कहा जाता है कि आजकल भारतमें आयुर्वेदिक औषध, तैल, मरहम, अवलेह आदि बनानेमें भी इनका उपयोग—बहुतायतसे हो रहा है। और बड़े प्रसिद्ध औषध-तैल आदिके निर्माता यह सब करते हैं !

मैंने उस वैज्ञानिक प्रयोगशालामें कुत्ते देखे, जिनके पेटमेंसे चुभी हुई नलिकाएँ और थैलियाँ लटक रही थीं, बिल्लियोंके सिरपर बिजलीके इलोक्ट्रोड लगे हुए थे, खरगोशोंके सिरको कुचलकर मारा गया था और उनकी गरदनसे कटा धड़ अलग पड़ा था। दूसरे प्रकारके जानवर भी अङ्ग-भंग-दशामें देखे, कइयोंको कई दिनोंसे भोजन-पानी बंदकर भूखों मारा जा रहा था, उनके शरीरपर घातक कीटाणुओंके इंजेक्शन लगाये गये थे। हमने समाचार पढ़ा और मालूम किया कि कई जानवरोंको विषाक्त बंद बड़े डिब्बों-बोतलों, कोठरियोंमें बंद किया गया था, जिंदा भूना-जलाया गया था, कुचला गया था और कइयोंको इतना परेशान किया गया अथवा मार-मारकर काम लिया गया कि वे थककर बेकार, अधमरे हो गये।'

मैं तो समझता हूँ कि इस रोग और मृत्युलोकमें इनको अपने मालिक मानवसे परेशान होकर जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त होनेके साधनका ज्ञान भी नहीं है, और वे कभी इस लोकमें पुनर्जन्मकी कल्पना भी न करेंगे। मैं कहता हूँ कि इन पशुओंके स्थानपर मनुष्योंपर क्यों नहीं ऐसे प्रयोग किये जाते ? और कौन वैज्ञानिक तथा कितने लोग ऐसे मानवोपकारी वैज्ञानिक प्रयोगके लिये इच्छित लालच देनेपर भी सामने आयेंगे ?

इन पशुओंकी बात जाने दीजिये, मनुष्योंकी दशाका विचार कीजिये, जो बीमारीके कारण अस्पतालमें अपंग होकर लाचार पड़े इन मानवोपकारी वैज्ञानिक चिकित्सकोंसे दयाकी भीख—जीवन-दान माँगनेको बाध्य हो रहे हैं, जिसके लिये उसके सगे-सम्बन्धी 'राष्ट्रिय स्वास्थ्य-योजना' को प्रतिमास अपनी कमाई-मेंसे अंश देकर पुष्ट कर रहे हैं। अस्पतालोंमें रोगियोंकी जो दुर्दशा आजकल होने लगी है, उसके कुछ विवरण कभी-कभी समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुआ करते हैं। सबसे भयानक दुर्दशा तो पागलखानोंमें होती है। पागलखानोंमें पागलोंके प्रति वहाँके चिकित्सक उपचारकोंका व्यवहार देखिये, तो मानवताके आदर्शका वैज्ञानिक साक्षात्कार हो जायगा। ऐसे रोगी, अपंग, पागल, मानवोंकी गणना भी पशुओंके तुल्य ही होती है। उनपर पशुवत् वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे ही व्यवहार और प्रयोग होते हैं। जन्मे हुए प्राणीको दुःख, रोग, मृत्यु होना स्वाभाविक है और मानवको इस रोग, दुःख और मृत्युसे बचाना एक बड़ी भारी समस्या हजारों वर्षोंसे बनी हुई है एवं आधुनिक वैज्ञानिकोंके लिये यह बड़े सिरदर्दके रूपमें समायी हुई है। मानवोपकार-निमित्त यह वैज्ञानिक धंधा, भंगी-मेहतरके कामसे भी अधिक घृणित और जल्लादसे भी अधिक क्रूर हो गया है!

स्वजातीय मानवकी भलाईके लिये वैज्ञानिक अन्वेषक इतर प्राणियोंके जीवनका मूल्य नगण्य मानकर ही इतना घृणित और क्रूर कर्म करता है। मुर्दोंकी चीर-फाड़से लेकर, सजीव इतर प्राणियोंके चीर-फाड़ करके अब जिंदा मानवके शरीरपर छुरी चलानेमें वह कुशल हो गया है। परंतु अभी भी मानव-शरीरके रहस्योंका पूर्णज्ञान उसे नहीं हुआ है, और अपने ज्ञान, अनुभव, कुशलतामें जाने-अनजाने वह ऐसे कार्य भी कर बैठता है जिससे कतिपय लोग इहलीलाके बन्धन-से मुक्त भी हो जाते हैं। ये सर्जन किसीपर अपनी मर्जीसे जबरदस्ती छुरी नहीं चलाते, वरं दुखी रोगीके विनयपर, उससे अपने क्रूर किंतु दयाप्रवृत्त कर्मके लिये भारी पारिश्रमिक लेकर और अनायास, स्वाभाविक, अधिक कार्यभारसे कभी अपना मानसिक संतुलन खोकर भी उनका व्यवहार विचलित हो जाता है। कतिपय लोग हीनभावके वशीभूत होकर धनके लालचसे अथवा पाशविक वृत्तिसे भी परोपकारी क्रूर कर्म करते हैं। मानवको त्रितापोंसे गुणित कितने प्रकारके दुःख होते हैं वैज्ञानिक मानव अभीतक पूरा नहीं जान पाया है और न उसकी निवृत्तिके कुछ निश्चित उपाय ही कर पाया है। सब प्रयोग और व्यवसायमात्रके रूपमें चल रहा है।

वैज्ञानिक मानवता

इस प्रकरणमें स्काटलेंडका एक किसान अनायास ही मर गया। उसकी उम्र ५६ साल, शान्त-स्वभावका आदमी था; किंतु संसार-व्यवहारके किसी प्रभावसे अपना मानसिक संतुलन खो बैठा, उसे हीनताकी भावनाका दौरा होता था। जब दौरा होता तो घरसे बाहर निकलकर इधर-उधर घूमता रहता, कभी कुछ घंटोंमें वह ठीक हो जाता और कभी दिनभर लग जाता और कई महीनोंतक ठीक रहता। घरकी झंझटोंसे उसमें दौरा आता तो दूर एकान्तमें जाकर वह ठीक हो जाता। दौरेके समय वह ठीक बात नहीं करता था, उसके मुखसे उपयुक्त शब्द नहीं निकलते थे। एक दिन जब उसे ऐसा ही दौरा आया तो अपनी बंदूक उठाकर जंगलकी ओर घूमने निकल गया। वहाँ उसको अनायास भटकते देख एक आदमी मिला,

उसने कारण पूछा तो वह कुछ ठीक जवाब न दे सका। उस आदमीने उसे पागल समझ हाथमें बंदूक देख खतरनाक जानकर पुलिसको सूचना दे दी। फौरन पुलिसने आकर उसे पकड़ा और पागलखाने भेज दिया।

पहले वह एक कुशल प्राकृतिक चिकित्सककी सलाह लिया करता था, उसके अतिरिक्त उसकी मानसिक स्थिति कोई भी अन्य डाक्टर नहीं जानता था। पागलखानेमें उसे जबरदस्ती दवा पिलानेका प्रयत्न किया गया, उसने दवा पीनेसे इनकार किया तो उसे लात-मुक्के दिये गये, घसीटा गया, मुँहपर ठोकरें मारी गयीं। जबड़े टूट गये, पसली टूट गयी, फिर उसे बिस्तर-पर ढककर लिटा दिया गया। उसकी स्त्रीको यह सब कुछ मालूम नहीं हुआ। संध्याको उसके न लौटनेपर स्त्रीने सर्वत्र खोज की, पूछते-पूछते पुलिससे समाचार मालूम हुआ। वह पागलखाने गयी तो वहाँपर किसीने उसे कुछ पता न बताया और वापस जानेके लिये टाल दिया। पश्चात् बहुत अनुनय-विनय करनेपर दूरसे पतिको बिस्तरपर पड़ा दिखला दिया। वह मुर्देकी तरह कफनसे लपेटा हुआ पड़ा था। मुलाकात करने नहीं जाने दिया गया। बड़ीकोशिशसे जब मिलने दिया, तो पति बड़ी कठिनाईसे कुछ धीरेसे कह सका—'मुझसे इन लोगोंने बड़ा निर्दय व्यवहार किया। कुछ समय पश्चात् उसे दूसरे पागलखानेमें भेजा गया जहाँ वह मर गया!

इन सबकी जाँचके लिये उक्त विधवाने अपने नगरके पार्लियामेंट-सदस्यका दरवाजा खटखटाया। इसकी खबर उन डॉक्टरों और पुलिसके अधिकारियोंको लगी तो वे घबराये कि मामला बढ़कर गोलमाल होनेवाला है। दूसरे दिन पुलिस और डॉक्टर, सब अधिकारी वकीलको लेकर महिलाके घर एक बड़ी मोटरमें भरे हुए पहुँचे। उन सबने कायदे-कानूनकी बातें करके महिलाको ही दोषी बताकर डराया-धमकाया और एक राजीनामा लिखकर उसके दस्तखत करा लिये। इस प्रकार उन सबने महिलापर बड़ा 'उपकार' किया। यह समाचार किसी अखबारमें नहीं छप सका, और अस्पताल तथा पागलखाने, डॉक्टरों और पुलिसके सब अधिकारी ज्यों-के-त्यों अपने स्थानोंपर शान्तिसे कायम काम करते रहे।

उस महिलाने पागलखाने और अस्पतालमें दुखियोंके प्रति होनेवाले व्यवहार देखकर सब हाल बतलाया कि एक ग्यारह वर्षीय लड़कीको सिरके बाल पकड़कर घसीटा जा रहा था। उस पागलखानेमें चार सौ पागल थे। पागलोंकी सेवामें सेवक स्वयं पागल हो जाते हैं, और पागलहुए रोगी वहाँ बरबाद हो जाते हैं। एक जिलाधिकारी, सर रेण्डाल फिलिप एक ऐसे पागलखानेमें पागलोंकी दशा देखने गये थे, तो डॉक्टरोंने उन्हें ठीक जवाब भी नहीं दिया, बोले—'यह सब कुछ बताना हमारे धंधेकी नीतिमें नहीं है।'

इंगलेंड और वेल्सके २५०० अस्पतालोंमें प्रति मानसिक रोगी पीछे प्रति सप्ताह करीब चार सौ रुपये खर्च होनेका हिसाब लगाया गया है। सभी अस्पतालोंमें खर्च एक-सा नहीं है। करोड़ों रुपये दवाओं और अणु-बमपर खर्च होते हैं।

बालपक्षाघात (Polio) के इलाजके लिये बंदरोंकी ग्रन्थिसे जो इंजेक्शन बनाये जाते हैं, रासायनिक व्यवसायी उद्योगपति और डॉक्टर उस इंजेक्शनके लाभकी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और दुनियाके अन्धानुयायी डॉक्टर उनकी ये बातें पढ़कर अपने रोगियोंपर उपयोग करते हैं। इसका अनुसंधान एवं प्रयोग करनेवाले डॉ० डेनिस गेफन एम० डी० कहते हैं, 'जिन एक सौ व्यक्तियोंको यह पक्षाघात होता है उनको यह इंजेक्शन लगानेसे ९० व्यक्ति बच जाते हैं, ९ की गर्दन, गलेमें कुछ कठोरता आ जाती है, शेष केवल एकको पक्षाघात होता है।'

जब पोलियोके इंजेक्शनका यह समाचार संसारमें फैला तो डॉक्टरों, व्यवसायियों और दवाके बाजारमें तूफान मच गया। तमाम ओरसे इस इंजेक्शनकी माँग आने लगी। बड़े परिमाणमें यह इंजेक्शन बनने लगा। एक सौ व्यक्तियोंको यह इंजेक्शन लगाया गया, उनको भी पोलियो (पक्षाघात) हुआ ही, ६० को तो फौरन असर हो गया। इंजेक्शनसे रोगका प्रसार हुआ। यह बात निश्चय तब मालूम हुई जब अमेरिकन एक्सपर्ट लोगोंने जाँच करके पता लगाया कि इंजेक्शन बनानेकी क्रियामें उसमेंसे सजीव कीटाणुओंको पूर्णतया निकालना सम्भव नहीं है। सिद्धान्तसे कुछ भी विचार-प्रचार किया जाय, किंतु इस इंजेक्शनके प्रयोगसे अभीतक यह बिल्कुल प्रमाणित नहीं किया जा सका कि यह इंजेक्शन लगानेसे सदाके लिये इस रोगके प्रतिरोधक क्षमता प्राप्त हो जाती है। इसके विरोधमें १९५५ में डॉ० एम० बीडो बेली, एम्० आर० सी० एस० की लिखी—'साल्क एण्टिपोलियो मिलाइटिस वेक्सीन' नामक पुस्तक 'स्कॉटिश सोसायटी फॉर प्रिवेन्शन ऑफ विविसेक्शन' १०, क्वीन्सफेरी स्ट्रीट, एडिन बर्ग २, स्कॉटलैंडसे प्रकाशित हो चुकी है।*

---

* Salk Anti—Poliomyelitis Vaccine, by M. Beddow Bayly M- R. C. S. From the Scottish Society

गुरु-वाक्य-प्रमाण

हम इन सब विषयोंका उदाहरण-प्रमाण यूरोप-अमेरिकाका दे रहे हैं, भारतका नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये सब स्वार्थी सर्वनाशी वैज्ञानिक व्यवसाय पश्चिमसे ही भारतमें आये हैं और गत दो सौ वर्षोंकी अंग्रेजी गुलामीके संस्कार और भक्तिमें उत्पन्न और पुष्ट होकर हम उन पाश्चिमात्य वैज्ञानिकोंकी बातोंको 'ब्रह्मवाक्य' मानकर उनका अपने जीवन-व्यवसायमें अन्धानुकरण करते हैं। यदि भारतीय संस्कृतिकी आड़में हम ऐसी बातें कहें तो हमें कट्टर पोंगापंथी माना जायगा। विदेशोंके समान भारतकी भी वही दशा है।

आप चाहे हिंदू, मुसल्मान हों या जैन, बौद्ध अथवा कोई भी धर्मावलम्बी, कभी बीमार पड़नेपर अस्पताल गये होंगे, दवाकी गोलियाँ खायी होंगी, मिक्स्चर बोतल बाजारसे खरीदा होगा और इंजेक्शन भी लिया होगा। क्या कभी आपने विचार किया; डॉक्टरसे या दूकानदारसे पूछा और आपको विस्तृत जवाब मिला कि ये अजीब दुर्गन्धित रंग-बिरंगी गोलियाँ, केप्सूल, मिक्श्चर और इंजेक्शन किन पदार्थोंसे एवं किस प्रकार बनाये गये हैं? चिकित्सा और ओषधिनिर्माण विज्ञानमें एक शाखा है 'आर्गेनोथिरेपी' (Organotherapy), इसके अन्तर्गत शरीरकी विभिन्न रसस्रावी ग्रन्थियोंसे ओषधि बनायी जाती है। ग्रन्थियोंके रस-स्राव-कार्यमें शिथिलता आ जानेसे शरीरकी स्थिति और कार्यमें विषमता आ जाती है। अतएव उस अङ्गकी ग्रन्थिके कार्यको उत्तेजित अथवा नियमित करनेके लिये बंदर-सूअर आदि अनेक उपयुक्त प्रकार समझे गये। जानवरोंकी ग्रन्थियोंके आगे-पीछे-भीतरी आदि भागोंसे रस निकालकर अथवा काट, निकाल, उबाल, सुखाकर गोलियाँ, चूर्ण, इंजेक्शन तैयार किये जाते हैं। थायरायड, गले और मस्तिष्क, भीतरकी ग्रन्थि पिट्युइटरी, स्तन और अण्डकोष, डिम्बकोष, ऋतुरक्त, यकृत्, पेट, मेरुदण्ड, रक्त इत्यादि अनेक अङ्गोंसे ये दवाएँ बनती हैं। अपनी जान बचानेके लिये इलाजके नामपर दवाओंको अमृततुल्य मानकर, अपने कट्टरपन्थी धर्मकी उपेक्षा कर हम सब लोग खाते हैं! भारतमें अहिंसाका नगाड़ा पीटते हुए, इतर प्राणियोंके मांस, मल, मूत्र, रस, रक्त, पीबसे बनी दवाइयाँ, मुँहसे अथवा इंजेक्शनद्वारा अपने शरीरमें हम घोलते हैं। कहाँतक कितना विस्तारसे लिखा जाय, आपको पढ़ने-जाननेमें घृणा होगी। धर्म तो मूर्तिमें, पोथीमें, मन्दिर-तीर्थोंमें आडम्बर और श्लोक-मन्त्रोच्चारणमात्र रूपमें रह गया है।*

वैज्ञानिक माया

भारतमें अब क्या खा-पीकर, कैसे स्वस्थ रहकर, कहाँसे व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और सूरकी मेधा हो? वेदोंका तो पता नहीं, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, रामायण, महाभारतकी रचना छोड़िये, इनको पढ़ने, मनन करने-समझनेकी मेधा अथवा रुचि अब नहीं रह गयी। निरुक्त, व्याकरण, छन्द, रस, अलंकाररहित कविता, ग्रन्थ, कहानी, उपन्यास-लेखक केवल पैसोंके लिये, झूठी काल्पनिक वासनोत्तेजक 'फिल्म' लिखने-बनानेवाले अब साहित्य-सम्राट् बनने लगे। एक महाशयने बताया था कि उन्होंने किसी एक कविताको दो सौ बार पढ़ा, फिर भी वे न समझ पाये कि लेखकने क्या लिखा है, उसका अर्थ क्या है! जिस रचनाको शिक्षित लोग भी न समझ सकें, ग्रामीण जनता-जनार्दनतक तो वह कैसे पहुँचे? सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेकी बुद्धि इस जमानेकी नकली रंग-रसायनयुक्त खाने-पीनेकी सामग्री और दवाएँ खाकर हममें कहाँसे आवे? आधुनिक 'टाकीस' 'पिक्चर हाउस'में सभ्य शिक्षित जनता पैसा खर्च करके तीन घंटेमें यान्त्रिक आवाज और यन्त्रसे चलती-फिरती तस्वीरें देखकर, जहाँ कुछ नहीं है ऐसी मायावी सृष्टिमें सत्याभाससे विभोर हो उठती हैं। बाल-बुद्धि हम इस आत्मविनाशकारी अणु-विस्फोटके युगको विज्ञानकी क्रान्तिका युग समझकर छाती फुलाते, मनमें तरङ्गें हिलोरते, अनन्त असीम चमकते लोकोंके नीचे, सूर्यके प्रकाशमें, भविष्यके आँसू बहाते और अपने मिथ्या विकासपर हँसते हुए विनाशकी खेती कर रहे हैं! यही कारण है कि हमारी सामाजिक खेती इतनी बिगड़ गयी है कि अब बच्चे अंधे, अपंग, बहरे, विकृताङ्ग पैदा होने लगे हैं। १९३५ में इंगलेंडमें ऐसे बच्चोंकी संख्या २७ हजार थी, १९५४ में ९४ हजार हो गयी। इंगलेंडकी हेल्थ मिनिस्ट्रीके प्रोफेसर एर्नाल्ड सोर्सबीने अनुमान लगाया

---

for Prevention of Vivisection. 10, Queensferry Street, Edinburgh. 2. Scotland.

* अब तो भारतवर्षमें ही ऐसे सैकड़ों कारखाने खुल गये हैं, जहाँ इस पद्धतिकी दवाएँ बनती हैं। और उनमें इन सभी चीजोंका प्रायः प्रयोग होता है। सरकार भी पशुओं—गौ इत्यादिके अङ्गोंसे विभिन्न प्रकारकी दवाएँ बनानेकी योजना बना रही है। विदेशोंसे अभी भी प्रचुर परिमाणमें ये दवाएँ आती हैं। इन दवाओंपर पागल बना भारत २०,००,००० पाउण्डकी तो केवल ब्रिटिश दवाएँ खरीदता है!

कि अगले १२ वर्षोंमें यह संख्या डेढ़ लाख हो जायगी। स्काटलेंडमें पाँच वर्षकी उम्रके जितने बच्चे हैं, उनमें आधे अंधे हैं। डॉक्टर लोग इसे रहस्यमय अजीब बीमारी कहकर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं। अमेरिकामें इस समस्यापर दस वर्ष पहले खोज करके बताया गया है कि जन्मके समय तीन पौण्डसे कम वजनवाले बच्चोंको यह रोग होता पाया गया है। जन्मके समय बच्चेको अनावश्यक आक्सीजन देनेसे अंधापन होता मालूम हुआ है। विदेशोंमें अपने घरमें प्रसव करानेकी प्रथा नहीं है, कानूनसे अस्पतालमें प्रमाणित धाय अथवा डॉक्टरद्वारा प्रसव कराया जाता है, कठोरप्रकृति पुरुष यह कार्य करानेके योग्य नहीं है। यह भी बताया गया है कि मोटापेके कारण शरीरका वजन अधिक होनेपर अधिक वजनका बच्चा उत्पन्न होता है, उसे भी अनेक रोग होते हैं। निजी घरोंमें प्रसव करानेमें जच्चा-बच्चा किसीको कुछ असुविधा या कष्ट हो तो गृहस्थपर फौरन अपराध कायम हो जाता है; परंतु अस्पतालमें डॉक्टरकी गलती या लापरवाहीसे कितना भी घात हो जाय, जनतामें वह रहस्य प्रकाशमें नहीं आने पाता। वे लोग सब सरकारी अधिकारी होकर, अपने 'सत्य'को वहीं आपसमें दफन कर देते हैं। प्रसव-कार्य जो स्त्री एक वर्षके अनुभवसे कर सकती है, पुरुष डॉक्टरके वह अनुभव उपार्जन करनेमें १० वर्ष लग जायेंगे।

अब इन परिस्थितियोंमें, कैसे हम जियें, कैसे कबतक हमारी संतान जिये ? इस मृत्युलोकमें स्वस्थ जन्म लेना और स्वस्थ जीना तथा स्वस्थ मरना भी अब सम्भव नहीं दीखता। जन्मके प्रमाण, बीमारीके प्रमाण और मरणके प्रमाण देना भी डॉक्टरके अधिकारमें है। भारतमें जैसे जन्मसे मृत्युतक सोलह संस्कार ब्राह्मण पण्डितोंद्वारा होनेकी परम्परा चली आ रही थी, वैज्ञानिक कानूनसे अब वह केवल तीन संस्कार डॉक्टरोंसे तीन प्रमाणमें पूरे होते हैं, अन्यथा न माननेपर जन्म अवैध है, रोगका इलाज स्वयं करना अपराध है, और डॉक्टरी इलाजके बिना मरना भी अवैध होनेसे मृत्यु-संस्कारमें बाधा पहुँचती है—अवश्य वह हत्या अथवा आत्महत्या, या आकस्मिक घटनासे मरा है, चीर-फाड़द्वारा उसकी पूरी जाँच होगी !

निर्विकार योजना

इतना सब लिखनेका तात्पर्य किसीसे घृणा-द्वेष उत्पन्न करना नहीं है। यदि सात्त्विक स्वस्थ होकर जीना है और वंशपरम्परा भी इसी प्रकार कायम रखना है तो ऋषियोंकी भाँति जंगलकी खुली शुद्ध हवामें जाकर रहो, गौ-पशु-पालन करो, गोबरकी खादसे स्वयं परिश्रमसे खेती बागवानी करो, शुद्ध अन्न, साग, फल, दूध प्राप्त करो। शहरी रासायनिक, गंदी हवा और दवासे दूर रहो, संयमसे रहो, नीरोगी रहो। कुछ भी अस्वस्थता किसी कारण अनुभव हो तो प्रकृतिके शरणागत निर्भर रहकर शरीर-शुद्धि होने दो, डॉक्टर और सरकारपर स्वास्थ्यसाधन अथवा रोगनाशके लिये निर्भर मत रहो। व्यसनोंसे बचो, दवा भी व्यसन है जो असंयममें प्रवृत्त रखती है। असंयम करनेवाला व्यक्ति दवाके चक्रमें फँसा रहता है।

अपने रक्तको विषाक्त करनेवाले औषधविज्ञानकी हत्यारी दूषित दवाइयों, इंजेक्शनोंसे, सारहीन सुगन्धित व्यसन और खाने-पीनेकी वस्तुओंसे, खुशबूदार तेलों, इत्रों, सेंटों तथा खुशबूदार सिगरेट आदि शौककी चीजोंसे तथा अपनी भविष्यकी संतानको अंधा, अपंग, नपुंसक बनानेवाले घीके रूपमें सफेदपोश वनस्पतिसे बचिये। अपने परिश्रम और उद्योगसे, अदीन अनाश्रित रहकर सबल स्वास्थ्य और दीर्घायु प्राप्त करें। विज्ञान या वैज्ञानिकोंपर विश्वास करना आत्मघात होगा !

अपने पोषण, रोगनाश एवं सात्त्विक स्वास्थ्यसाधनके लिये, आत्मनिर्भर बननेके लिये और देशको आत्मनिर्भर बनानेके लिये यह आवश्यक है कि हिंसक प्रवृत्तियोंद्वारा एलोपैथिक ओषधियाँ बनाना, विदेशोंसे मँगाना तथा उनका उपयोग करना अवश्य रोका जाय, उनसे बचा जाय। रोग-प्रतिरोधक शक्ति (Immunity) के लिये सबल स्वास्थ्य-साधन—शारीरिक अन्तर्बाह्य-शुद्धि, युक्त आहार-विहार और घर, मुहल्ले, गाँव, नगरकी सफाई ही काफी है। विदेशोंसे—रूस, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, चीन आदि कहींसे कोई भी अन्न आदि खाद्य सामग्री न मँगायी जाय, वह सब शुद्ध न होकर रासायनिक क्रियासे सत्त्वहीन होनेसे राख-भूसे-सदृश अस्वास्थ्यकर एवं रोगकारक होती है। अपने देशमें वनस्पति-रूपमें, सफेद घीके रूपमें बने रासायनिक विधिसे साफ करके जमाये हुए दो तैलोंके मिश्रणका पूर्णतया बहिष्कार किया जाय ! शहर-नलद्वारा मिलनेवाले पानीमें 'फ्लोरीन' इत्यादि रासायनिक विष डालकर शुद्ध (?) करनेकी किया रोकी जाय। खेतोंमें रासायनिक खाद, साग-भाजी फलोंके बागमें भी न डाली जाय। विदेशसे कोई भी सौन्दर्य-प्रसाधन-

सामग्री सेंट न मँगाये जायँ, और ऐसी किसी भी रंगीन, सुगन्धित वस्तुका उपयोग किसी शरीरोपयोगी सामग्री—तमाखू, तेल, सुपारी, इलायची या अन्य खाद्य पदार्थोंके साथ न किया जाय । खाद्य वस्तुओं—रोटी, दाल, साग, बिस्कुट, डबल रोटी, अचार-मुरब्बोंमें ये कोई भी अम्लता-रूपी शोधक पदार्थ न डाले जायँ । बच्चोंके मुँहसे लगनेवाले रबड़के खिलौने, जूते, दाँतके ब्रश और विदेशी रासायनिक दन्तमञ्जन भी उपयोगमें न लाये जायँ । हरेक वस्तु देशी और प्राकृतिक दशामें अथवा वनस्पतिरूपमें प्रयुक्त की जाय । विदेशसे आयी हुई सब सुन्दर दीखनेवाली रंगीन रासायनिक वस्तुएँ सब प्रकारसे कालान्तरसे हानिकर; रोगी, अंधा, पंगु, नपुंसक बनानेवाली तथा विदेशियोंद्वारा उनके व्यापारकी वृद्धिके लिये प्रचारित की गयी हैं । देशमें व्यापक इन सब प्रकारकी चकाचौंध करनेवाली मूर्खताओंका पूरा बहिष्कार किया जाय । देशकी जनतामें भले ही भुखमरी फैले, अपने देशकी प्राप्त सामग्रीका समुचित वितरण करनेके लिये राशनिंग किया जाय; लोग भले ही बीमार पड़ें और मरने लगें, आबादी चाहे दस प्रतिशत इससे कम हो जाय, विदेशी तत्त्वों और किसी भी प्रकारके ऋण या खाद्य सहायताको स्वीकार न किया जाय । चौरासी लाख योनिज इतर जीवोंको रासायनिक तत्त्वों, वैज्ञानिक सभ्यताकी आवश्यकता नहीं; वे अपना भोजन-पानी पहचानते, संयम रखते हुए नीरोग—स्वस्थ रहते हैं; ऐसी दशामें मनुष्योंको भी अपनी प्रकृतिके अनुसार यह सीखकर आत्मनिर्भर रहना चाहिये । आत्मनिर्भरता, स्वस्थता, स्वतन्त्रता किन्हीं वैज्ञानिक यान्त्रिक साधनों और रासायनिक तत्त्वोंसे प्राप्त होनेकी नहीं ।

* * *

भगवान्‌के विवेक एवं सामर्थ्यके बलसे मैं विजयी हूँ

भगवान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । और वे भगवान् मेरे हैं, तथा निरन्तर मेरे हृदयमें स्थित हैं; अतः मेरे लिये भी कुछ भी असम्भव नहीं है । भगवान्‌के अतुलनीय प्रेम एवं कृपा-बलने मेरी सम्पूर्ण समस्याओंको, जो इतने कालसे चली आ रही थीं, जो इस समय प्रबलरूपमें उपस्थित हैं तथा जिनके भावीरूपके लिये मन चिन्तित होता था, पूर्णरूपसे हल कर दिया है । अब मैं भयसे, निराशासे सर्वथा मुक्त हो गया हूँ । अब मुझे किसी भी व्यक्ति, किसी भी वस्तु अथवा किसी भी परिस्थितिके विषयमें चिन्ता और भय नहीं है । मेरे हृदयमें स्थित भगवान् निरन्तर मुझे वह विवेक दे रहे हैं, जिसके द्वारा मैं प्रत्येक स्थितिको पूर्ण सफलताके साथ अनुकूल बना रहा हूँ ।

जब कोई कठिन स्थिति मेरे सामने आ उपस्थित होती है, तब मैं जरा भी विचलित नहीं होता; केवल भगवान्‌के संकेतकी ओर दृष्टि रखता हूँ और उनकी शक्तिसे वह स्थिति अद्भुत सरलतासे सलट जाती है ।

जब मेरे लिये कोई परीक्षा-काल आ उपस्थित होता है, तब भगवान् मुझे अटूट साहस देते हैं, मैं अपनी टेकपर दृढ़ रहता हूँ और मैं उस परीक्षामें आश्चर्यजनकरूपमें सफल सिद्ध होता हूँ ।

जब चारो ओरसे मार्ग अवरुद्ध दीखता है, तब भगवान् तुरंत एक निरापद मार्ग मेरे सामने ला उपस्थित करते हैं ।

मेरे अन्तरमें स्थित भगवान् मेरे जीवनके प्राण हैं ।

मैं निरन्तर उनके सांनिध्यकी अनुभूतिमें मस्त रहता हूँ और उनका अचिन्त्य सर्वसमर्थ प्यार मेरे सम्मुख उपस्थित होनेवाली सभी विषमताओंको समतल करता जाता है ।

सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् मेरे नित्य सुहृद् हैं; अतएव मैं अब समस्त परिस्थितियोंमें विजयी हूँ ।

तामसी श्रद्धा *

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'आपको वह मानता है। आप उसे समझा दीजिये।' वे मेरे सम्मान्य हैं; पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। उनके चरित्रपर कभी किसीने कोई शङ्का नहीं की है और सत्सङ्गमें उनकी रुचि है।' वे मेरे पास अपने पुत्रकी बात लेकर आये थे—'वह किसी औरकी बात नहीं सुनता।'

'बात क्या है?' उनके-पुत्र सुशील हैं, पितृभक्त हैं। उनके-जैसा सच्चरित्र व्यक्ति मिलना कठिन है। वे कोई अयोग्य हठ करेंगे, यह बात सोचना भी कठिन था मेरे लिये।

'घरकी स्थिति ठीक नहीं है।' मैं जानता था कि आजकल वे आर्थिक कष्टमें हैं। एक सम्भ्रान्त परिवार एक सीमासे अधिक अपना व्यय घटा नहीं पाता। पिता तथा घरके दूसरे सदस्य बहुत सम्पन्न जीवन व्यतीत करनेके अभ्यस्त हो चुके थे और अपना स्तर कम करना उनके लिये बहुत कठिन था। घरकी व्यवस्थाका भार था उनके ज्येष्ठ पुत्रपर और वे अत्यन्त सादगीके पक्षपाती थे।

'बात तो आपकी ठीक है। मैंने नम्रतापूर्वक निवेदन किया। 'किंतु भाई श्री.....कोई आपको कष्ट देनेवाली बात कहेंगे या आपको अप्रिय लगनेवाला कोई कार्य करेंगे, यह आशङ्का मुझे नहीं है।'

'ऐसी कोई बात नहीं है।' वे पुत्रकी प्रशंसा करने लगे और कोई भी पिता अपने ऐसे सच्चरित्र, उदार, विनयी एवं विद्वान् पुत्रपर गर्व कर सकता है। 'वह मेरे सामने तो मुख ही नहीं खोलता। स्वयं टाट-जैसे मोटे कपड़े भले पहिनता है; घरमें जिसे जो चाहिये, वह लानेमें कभी इधर-उधर नहीं करता। उसमें न कोई हठ है और न कोई दूसरा दुर्गुण। वह तो गायके समान सीधा है।'

'तब मैं उन्हें क्या समझा दूँ?' मुझे आश्चर्य भी हुआ और कुतूहल भी।

'देखिये, तीन कन्याएँ हैं और हमारे समाजमें कन्याके विवाहका जो व्यय है, उसे आप जानते ही हैं।' वे बोले। 'दूसरे भी व्यय बड़ी कठिनाईसे चल रहे हैं। ऋण हो गया है अपने ऊपर, यह आपसे कहनेमें कोई संकोचकी बात तो है नहीं।'

'मैं बहुत कुछ परिचित हूँ परिस्थितिसे।' इतनी घनिष्ठता हो गयी थी उनसे कि उनके बतानेसे बहुत पूर्व मुझे इस स्थितिका आभास हो चुका था।

'उसे इन सबकी चिन्ता ही नहीं है।' यही बात कहने वे आये थे, यह अब स्पष्ट हो गया।

'चिन्ता तो उन्हें है, किंतु चिन्ता करके वे कर क्या सकते हैं?' मैंने पूछा। 'अपने प्रयत्नमें तो वे कोई त्रुटि करते नहीं।'

'आजकल तो कपड़ेके व्यवसायमें लक्ष्मीकी वर्षा हो रही है!' अब वे खुल गये—'वह चाहे तो लाख-दो-लाख छः महीनेमें बन जायँगे। जो काम सभी कर रहे हैं, उसमें क्या अनुचित रहा है। व्यापारमें तो झूठ भी बोलना पड़ता है, कुछ इधर-उधर भी करना पड़ता है। आप जानते ही हैं कि राजा हरिश्चन्द्र बननेसे व्यापार नहीं चल सकता। आज इतने कर सरकारने लगा दिये हैं कि कर-विभागको बनावटी बहीखाता न दिखाया जाय तो घरसे भी कुछ देना पड़े।'

'चोरबाजारी, छल एवं असत्यके भाई श्री.....कितने विरुद्ध हैं!' मैंने दबे स्वरमें कहा। 'उनकी ईमान्दारी तथा सत्यप्रियताकी तो पूरा नगर प्रशंसा करता है।'

'इस प्रशंसासे तो पेट भरता नहीं!' वे तनिक उत्तेजित स्वरमें बोले। 'बड़े-बड़े आदर्श पुरुष भी आज यही करते अथवा कराते हैं; किंतु वह है कि इस विषयमें मेरी कुछ सुनता ही नहीं। कुछ कहो, कितना भी बिगड़ो—गूँगा बना रहेगा। आप उसे समझा सकेंगे, इस आशासे आपके पास आया हूँ।'

'मैं प्रयत्न करूँगा!' वे मेरे सम्मान्य हैं। उनसे विवाद करनेका मैं साहस नहीं कर सकता। उन्होंने उदाहरणके रूपमें ऐसे श्रद्धेय पुरुषोंके नाम लिये थे—उस बातने मुझे स्तब्ध कर दिया था। उन्हें किसी प्रकार आश्वासन देकर विदा करनेके अतिरिक्त मेरे पास और उपाय भी क्या था।

× × ×

---

* 'तामस्यधमें या श्रद्धा।'

'भाई ! आपके पिताजी आये थे मेरे पास ।' मिलनेपर मैंने भाई श्री.....'से निवेदन किया । 'आप उनकी कुछ बातें नहीं मानते । वे चाहते हैं कि मैं आपको समझाऊँ । किंतु आपको समझाने-जैसी योग्यता मुझमें है, यह मैं देख न रहा हूँ । अब आप जैसा कहें ।'

'सबके भरण-पोषणका भार विश्वके संचालकपर है । वह जगन्नियन्ता मङ्गलमय है, सर्वज्ञ है, दयामय है, हमारा सुहृद् है और सत्यसंकल्प है ।' वे पर्याप्त गम्भीर होकर बोल रहे थे । 'मैंने तो आपसे ही सुना है, ग्रन्थोंमें भी यही सब लिखा है, सत्पुरुष भी यही कहते हैं । इसलिये मैंने इसपर विश्वास कर लिया है ।'

'आपका विश्वास सत्य नहीं है, यह कहनेवाला तो कोई अनीश्वरवादी ही हो सकता है ।' मेरे स्थानपर आप होते तो आपके समीप भी यही उत्तर था ।

'सत्य-संकल्प भगवान्का संकल्प अन्यथा नहीं किया जा सकता—मनुष्यके किसी प्रयत्नसे नहीं ।' उन्होंने उसी गम्भीरतासे कहा । 'हमारे मङ्गलके लिये उनका संकल्प होगा ही ।'

'पुरुषार्थको मैं प्रधान मानता हूँ ।' मैंने एक मार्ग निकाला । 'कर्म करनेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता भगवान्ने स्वयं गीतामें स्वीकार की है ।'

'आप ही मुझे बहकाना चाहेंगे तो सहायता कौन देगा ।' उनका स्वर उलाहनाभरा था—'कर्मका फल पानेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है नहीं । 'बीज-वृक्षन्याय' कर्मवादका प्रख्यात है । इस वर्ष बोई फसलका फल आगे और पहली फसलका फल अबके समान पूर्वके कर्मोंके उस अंशका जो प्रारब्धके हेतु हैं, इस जन्ममें फल भोगना है और इस जन्मके कर्मोंका फल आगामी जन्ममें ।'

'आपसे विवाद करके जीता नहीं जा सकता ।' मैंने हँसकर प्रसङ्ग टालनेका प्रयत्न किया ।

'बहुत-से लोग आज घूसखोरी, चोरबाजारी या छल-कपटसे बहुत अधिक धन कमा रहे हैं; यही बात हमें प्रलोभित करती है । किंतु उन्हें जो सम्पत्ति मिल रही है, वह उनके पूर्व पुण्यका फल है ।' उन्होंने उसी गम्भीरतासे कहा । 'बहुतसे ऐसे लोग भी तो हैं —सम्भवतः वे पहिलेसे अधिक हैं—जो झूठ-कपट, चोरबाजारी, चोरी या दूसरे सभी अधर्म करनेमें कुछ उठा नहीं रख रहे हैं, किंतु बिल्कुल कंगाल बने हैं । भरपेट रोटीकी भी ठीक व्यवस्था वे नहीं कर पाते ।'

'बात आप सवासोलह आने ठीक कह रहे हैं ।' उस समयतक सरकारने सौ पैसेका रुपया घोषित नहीं किया था और न आनोंकी सत्ता समाप्त करनेका निर्णय किया था, अन्यथा यह लोकोक्ति किसी दूसरे रूपमें प्रयुक्त होती ।

'पिताजीकी आज्ञा मान लूँ—इसका अर्थ तो हुआ कि मैं स्वयं उस आज्ञासे जो अधर्म करूँगा, उसके प्रेरक होनेके कारण मुख्य पापके भागी वे होंगे ।' उन्होंने बड़े भावभरे स्वरमें कहा । 'उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे कोई पाप होता भी है तो मुझे होता है; उसका फल मैं भोग लूँगा । किंतु मेरे साथ वे भी पापके भागी बनें, ऐसा काम करनेको आप मुझे नहीं कह सकते ।'

'मैं आपको कुछ कह सकूँ, ऐसा मैं स्वयं नहीं हूँ ।' वे बहुत संकुचित होते हैं मेरी ऐसी बातोंसे; किंतु बात तो यही सच है । हम लोगोंकी उस दिनकी चर्चा यहीं समाप्त हो गयी । शाम हो रही थी और वे लाख काम छोड़कर संध्याके समय ही संध्या करनेके अभ्यासी हैं ।

× × ×

'आप भगवान्पर तो विश्वास करते हैं ?'

'करता तो हूँ ।'

'पुनर्जन्मपर भी विश्वास करते हैं ?'

'करता हूँ ।'

'प्रारब्धपर भी ?'

'जी; किंतु आज आप यह सब क्यों पूछ रहे हैं ?' उनका प्रश्न स्वाभाविक था । वे मेरे सम्मान्य हैं । उनके घर मैं स्वयं गया, इसमें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं; किंतु उनसे मिलते ही मैं ऐसे अटपटे प्रश्न करूँ—यह धृष्टता ही तो है । वैसे उनका मुझपर इतना स्नेह है कि मेरी धृष्टतासे वे कभी रुष्ट नहीं होते । उनके इस स्नेहने ही मुझे इतना धृष्ट बनाया भी है ।

'मान लीजिये कि संसारके सब लोग ईश्वरको न मानें ।'

'भले न मानें । कलियुगमें यह असम्भव नहीं है ।' वे बोले 'किंतु विश्वके समस्त उलूक सूर्यकी सत्ता नहीं मानते तो क्या सूर्यकी सत्ता असिद्ध होती है ? ईश्वर सत्य हैं, अतः हैं । किसीकी मान्यता क्या कर सकती है इसमें ।'

'और यदि विश्वका जनमत प्रारब्धको न माने ?' मैंने दूसरा प्रश्न कर दिया !

'सो तो आज भी नहीं मानता ।' वे हँस पड़े । 'विश्वमें ईसाई, मुसल्मान आदि अधिक हैं । अनीश्वरवादी भी पर्याप्त

हैं । हिंदू ही पुनर्जन्म तथा प्रारब्ध मानते हैं और विश्वमें उनकी जनसंख्या कम है । उनमें भी अब नवशिक्षितोंमें अधिक लोग प्रारब्धपर विश्वास नहीं रखते । किंतु किसीकी मान्यतासे सत्य बदला नहीं करता । प्रारब्धका सिद्धान्त तो एक सत्य है ।'

'कुछ लोग—बहुत गिने-चुने लोग हैं, जो भगवान्‌पर तथा प्रारब्धपर श्रद्धा करते हैं ।' मैंने कहा । 'जो लोग इनको मानते भी हैं, उनमें भी अधिक ऐसे ही हैं, जो केवल मुखसे इन्हें मानते हैं । व्यवहारमें तो वे भगवान् या प्रारब्धकी अपेक्षा पापपर—असत्य, छल-कपट, बेईमानी आदिपर श्रद्धा करते हैं ।'

'इसीका नाम तो अज्ञान है ।' वे खेदपूर्वक बोले । 'मायामोहित मनुष्य नहीं समझता कि पापपर आस्था करके वह केवल अपने पतनका मार्ग बना रहा है ।'

'मैंने भाई श्री·····से आपके आज्ञानुसार बात की थी ।' अब मैं अपने मूल विषयपर आ गया । 'वे कहते हैं कि मैं पापकी अपेक्षा प्रारब्धपर तथा भगवान्‌के विधानपर अधिक श्रद्धा करता हूँ ।'

'वह ठीक कहता है ।' वे अब समझे कि मैं आज उनसे अटपटे प्रश्न क्यों कर रहा था । किंतु वे विद्वान् हैं, समझदार हैं, सत्सङ्गी हैं । ऐसा व्यक्ति दुराग्रही नहीं हुआ करता । बड़ी सरलतापूर्वक वे बोले—'मेरे चित्तकी दुर्बलता है कि मैं उसे बार-बार दूसरोंके समान अनुचित मार्ग अपनानेको कहता हूँ । आज आपने मेरी भूल मुझे सुझा दी है । अब मैं उससे कभी कुछ नहीं कहूँगा ।'

'जो सत्य एवं ईमानदारीपर स्थिर रहते हैं, वे कष्ट ही पाते हैं ।' यह लोकधारणा मिथ्या सिद्ध हो गयी । थोड़े ही समयमें कुछ ऐसे कार्य उन्हें अकस्मात् प्राप्त हो गये, जिनसे उनका आर्थिक संकट तो दूर हुआ ही, वे पर्याप्त सम्पन्न गिने जाने लगे ।

मेरा 'अहं' बोलता है !

[मद, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

(१)

'शास्त्रीजी ! आपके यहाँ जो सज्जन आये हैं, वे किवाड़ खुला छोड़ गये हैं !'

शास्त्रीजी लगे मेरी ओर ताकने—'किवाड़ खुले छोड़ आये हो क्या ?'

मेरे 'हाँ' कहते ही वे सीढ़ियोंसे उतरकर नीचे गये और किवाड़ लगा आये ।

और मैं मुसकराता हुआ देख रहा था कि मकान-मालिकका 'अहं' बोल रहा है !

ठीक है, मैंने गलती की—बिना किवाड़ लगाये ऊपर चला गया; पर आप सामने थे, बिल्कुल निकट थे, किवाड़ लगा देनेमें आपको कितना कष्ट पड़ता ?

पर आप किवाड़ लगा कैसे सकते हैं ?

आप तो मकानमालिक न हैं ?

किरायेदारके लिये आप किवाड़ खोलने-लगाने लगें तो हो चुका । आपकी शान न मिट्टीमें मिल जायगी ? आपके 'अहं'को ठेस न लग जायगी ?

किरायेदारके लिये आप किवाड़ खोल नहीं सकते, लगा नहीं सकते !

जमीन, जायदाद, सम्पत्तिका 'अहं' !

× × ×

एक पड़ोसीने मुझे एक ऐसी सुविधा देनेसे इनकार कर दिया, जिसमें उसका कुछ भी नुकसान न था ।

एक अन्य सज्जनसे चर्चा चली तो सहज ही मुँहसे निकल गया—'दूसरे पड़ोसियोंको यही सुविधा देनेसे मैं भी इनकार कर दूँ तो ?'

'राम ! राम !! वे बोले । 'भूलकर भी ऐसा मत सोचिये । एक आदमी गलती करे तो क्या आप भी गलती करेंगे ?'

मैंने वैसी गलती नहीं की; पर मनमें ऐसा दुर्भाव आया ही क्यों, इस बातपर सोचता हूँ तो यही लगता है कि उस समय और कुछ नहीं, मेरा 'अहं' ही बोलने लगा था !

× × ×

बात बिल्कुल छोटी-सी थी ।

एक श्रीमतीजीने दो सब्जियाँ बना लीं और ऊपरसे पूड़ियाँ तल लीं ।

बरसोंमें देवरसे मुलाकात हुई थी। स्वाभाविक था कुछ 'स्पेशल' बना लेना।

पर इतना देखना था कि पतिका पारा आसमानपर !

'बेकारीका आलम और यह शाहखर्ची ?'

श्रीमतीजीपर वह जोरदार फटकार पड़ी कि उसके आँसुओंके खारेपनमें मिलकर भोजनका सारा मजा किरकिरा हो गया।

रोती-फफकती रह गयी बेचारी पत्नी !

पति होनेका 'अहं' !

× × ×

एक देवीजी हैं—सीधी-सादी, मामूली परिवारकी।

पति महोदयकी दूसरी शादी—'वृद्धस्य तरुणी !'

बीमारीमें पति बहुत कमजोर हो गये, चिड़चिड़ापन आ गया। पत्नी सेवा करती, बच्चेको देखती, घरका काम करती। और तभी पतिके मनमें संदेहका कीड़ा आ घुसा—'पत्नी मेरे दूसरे साथियोंसे बोलती है, बात करती है !'

जिनसे उसीने परिचय कराया था, उन्हींसे उसका बोलना उसके लिये जहर हो गया।

शक तो शक ! मट्ठेकी तरह चाहे जितना बढ़ा लीजिये। पत्नी लाख सफाई दे, सुनता कौन है ?

नतीजा ?

पति महोदय जमीन-आसमानके कुलाबे एकमें मिला रहे हैं कि किसी तरह बच्चा उसकी गोदसे छुड़ा लिया जाय।

पतिका 'अहं' बोलता है—'साथ मैं रख नहीं सकता उसे। पैसा भी न दूँगा परवरिशके लिये। जहाँ चाहे रहे, जो चाहे सो करे !'

पैरकी जूती—बेचारी पत्नी !

× × ×

एक दूसरी श्रीमतीजी हैं।

न विद्या न बुद्धि, न गुन न शऊर।

फिर भी न तो जमीनपर सीधे पैर रखती हैं न सीधे मुँह किसीसे बात करती हैं।

कारण है—रूपका 'अहं'।

पति उनके बनाव, शृङ्गार और फैशनसे जितना तंग रहता है, उससे ज्यादा तंग रहता है उनके मिज़ाजसे।

बगलमें पड़ोसियोंके पास वह दो मिनटको खड़ाभर हो जाय, फिर देखिये श्रीमतीजीका पारा।

'हाँ, गया होगा उस काली खुतरी पड़ोसिनसे बोलने ! अब उसके आगे मेरी क्या कदर ……?'

इस रूपगर्विताने पतिकी जिंदगी तो नरक बना ही दी है, पड़ोसियोंकी भी। सब लोग यही मनाते रहते हैं कि वह जल्दी-से-जल्दी मुहल्ला छोड़े।

× × ×

एक और श्रीमतीजी हैं इनकी जोड़ीदार।

घरभरमें वे अपनेको सबसे सुन्दरी मानती हैं और उनका दिनभरका प्रोग्राम रहता है—बिंदुली, टिकुली, शीशा, कंघा।

पतिकी आमदनी गिने गंडे; तबाह रहता है उनकी फर्मायशोंसे। एक पूरी हो नहीं पाती, दूसरी तैयार।

कर्जमें तो वह डूब ही रहा है, आश्चर्य नहीं चोरी भी करने लगे !

और श्रीमतीजी जब देखो तब कुप्पा हैं।

× × ×

स्त्रियोंको ही रूपका मद होता हो सो नहीं।

पुरुषोंकी गणना भी उसमें की जा सकती है।

इसीकी वृद्धिके लिये वे जुल्फोंमें तेल डालते हैं, गलेमें सिकड़ी, कानमें बाला, हाथमें अँगूठी पहनते हैं। आँखोंमें सुरमा डालकर मूछोंपर ताव देते घूमते हैं—

'ऐंठी धोती, पाग लपेटी, तेलु चुअत जुलुफन में।
गली गली की सखी रिझायीं, दाग लगाया तन में॥'

शृङ्गार-प्रसाधनोंके व्यापारियोंका अनुभव है कि स्कूल-कालेजोंकी लड़कियोंमें स्नो, पाउडर आदिकी जितनी खपत होती है, कालेजके लड़कोंमें उससे कम माल नहीं खपता।

रूप और सौन्दर्यका 'अहं'। खादी पहननेवालोंमें भी कुछमें फैशनका तथा सादगीका 'अहं' बोला करता है।

× × ×

'ऐसा थप्पड़ लगाऊँगा कि मुँह लाल हो जायगा।'

'तेरी हड्डी-पसली एक कर दूँगा, मुझे समझा क्या है ?'

'निकल मैदानमें ! है हिम्मत ?'

रोज ही तो हम घर-बाहर, सड़कपर, मैदानमें लोगोंको इस तरह गुर्राते देखते हैं। शरीरका, बलका यह मद हमारी नस-नसमें भरा पड़ा है।

× × ×

एक पुस्तक छप रही थी ।

प्रकाशकने एक अंशपर आपत्ति की—'यह न रहे तो अच्छा ।'

उस अंशको निकाल तो दिया, पर जब एक मित्रने यह प्रसङ्ग छेड़ा तो लेखकका 'अहं' बोल उठा—

'नाईकी बरातमें जने-जने ठाकुर ! जाने दो, निरहंकारताका अभ्यास कर रहा हूँ ।'

× × ×

एक दिन अखबारमें कुछ गलती रह गयी ।

मैनेजरका पुर्जा आया—'देखिये, किसकी गलती है ?'

लिख भेजा—'जिसकी गलती है, उसे समझा दिया है । भविष्यमें ध्यान रखेगा ।'

फिर पुर्जा आया—'आखिर गलती है किसकी ?'

पुर्जा देखते ही सम्पादकका 'अहं' फुफकार उठा—आप अपने दायरेमें रहिये । सम्पादकीय विभागमें दखल देनेवाले आप कौन ?···'

कुर्सीका 'अहं' !

× × ×

नामके साथ वे प्रायः डिग्री नहीं जोड़ते ।

पर उस बार जब एक जर्मन मित्रने अपना पता लिखनेके लिये अपनी डायरी उनके सामने कर दी तो डिग्रीका 'अहं' बोल उठा कि नामके साथ 'एम्० ए०' का पुछल्ला जोड़ दिया, वर्ना यह विदेशी क्या समझेगा उन्हें !

× × ×

और हमारे ये शास्त्रीजी ?

न्यायाचार्य हैं, वेदान्ताचार्य हैं, संस्कृतमें एम्० ए० हैं, मराठी जानते हैं, गुजराती जानते हैं !···

उस दिन कहने लगे—और मौकोंपर तो नहीं; पर जब कोई मेरी योग्यता कम आँकता है, तब मुझे बड़ा feel (महसूस) होता है ! विवशता ही मुझसे नौकरी कराती है, वर्ना मैं कबका इसपर लात मार दिये होता ! उस बार जब ऐसी ही कुछ बात कही गयी, तब मैं दो दिन-रात लगातार सोचता रहा कि क्या मैं स्तीफा दे दूँ !

योग्यताका, विद्वत्ताका, विद्याका, डिग्रीका 'अहं' !

× × ×

एक साथी हैं—पढ़े-लिखे, विद्वान्, देशभक्त !

एक बार किसी प्रसङ्गपर बोल पड़े—'मुझे आपलोगोंने समझा क्या है ? मैं भी जेल गया हूँ । मैंने भी त्याग किया है । आज जो लोग मिनिस्टर हैं, चीफ मिनिस्टर हैं, उनसे मैं किस बातमें कम हूँ ? चाहता तो मैं भी मिनिस्टर बन जाता !···'

देश-सेवाका 'अहं' !

× × ×

गाँव जा रहा था ।

ट्रेनसे उतरकर जिस इक्केपर सवार हुआ, उस इक्केवानसे दूसरी सवारीसे कुछ झगड़ा हुआ । अन्तमें मेरी ओर देखकर इक्केवान बोला—'ये कह दें तो मान जाऊँ !'

भीतर-ही-भीतर मिश्री घुलने लगी ।

'अहं' फूल उठा—'किसीने तेरी शकल-सूरतसे सच्चा और ईमानदार माना तो !'

× × ×

एक दिन एक परिचित बुजुर्ग सेठने मेरे पैरोंपर अपना सिर रख दिया ।

देखकर हैरान !

सेठजी बोले—'आप विद्वान् हैं । हम तो आपकी चरण-रज ठहरे !'

ऊपरसे इन्कार करते हुए भी भीतर-भीतर 'अहं' बोल रहा था—'किसीने मेरी कद्र की तो !'

× × ×

गङ्गास्नान करके बेनिया बागके रास्ते लौट रहा था । एक व्यक्ति दूसरेके सामने गिड़गिड़ा रहा था बुरी तरह । कह रहा था—'माफ करिये, आपके पैरों पड़ता हूँ ।' दूसरा बोला—पैरों पड़नेकी बात खूब कही । तुम क्या, बड़े-बड़े राजा-रईस हमारे पैरों पड़ते हैं !'

चन्दनधारी पण्डितजीका कुलीनताका 'अहं' बोल रहा था !

× × ×

और उस दिन ?

गाँवके रिश्तेसे एक बड़े भैया बोले—'आपके मुँहपर कहता हूँ । बुरा मत मानना । आपको मैं नररूपमें नारायण मानता हूँ । हम-जैसे लोग तो दुनियाभरके पाप किये बैठे हैं । उनका फल भोगते हैं । पर आपपर भगवान्ने न जाने क्यों ऐसी अकृपा कर रखी है कि आपको एक बेटा दिया था, सो भी छीन लिया !'

बोला तो कुछ नहीं, पर भीतर-ही-भीतर मेरा 'अहं' बोल उठा—'कोई है तो, जो मानता है कि तू बड़ा सद्गुणी है, धर्मात्मा है !'

× × ×

मतलब ?

मद और घमंड, अहंकार और अभिमान एक ही थैलीके चट्टे-बट्टे हैं। कोई शरीरके मदमें चूर है, कोई सौन्दर्यके। किसीको अपनी विद्याका घमंड है, किसीको अपनी बुद्धिका। कोई अपनी नीति और सदाचारपर फूला फिरता है, कोई अपनी देशभक्तिपर। किसीको अपनी कुर्सीका घमंड है, किसीको अपनी कुलीनताका। कोई अपनी सुन्दर बीबीपर इतरा रहा है, कोई अपने नालायक बेटेपर। किसीको अपने चालाक और चतुर होनेका घमंड है, किसीको अपने धर्मात्मापनका।

जिसे देखिये, वही दूसरोंसे अपनेको अच्छा मान रहा है, दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ मान रहा है, दूसरोंसे अपनेको बड़ा मान रहा है।

इस विकारका नाम है—मद, घमंड, अहंकार, अभिमान।

सुख-शान्तिका महत्त्वपूर्ण साधन—संतोष

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक प्राणी सुख और शान्तिकी कामना करता है। अशान्तिको कोई नहीं चाहता। पर केवल चाहनेसे ही तो कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती। जीवनमें अशान्ति क्यों है ? पहले उसके कारणोंकी शोध करके उन कारणोंको दूर करना होगा। फिर जिन गुणों, कार्यों तथा साधनोंसे सुख-शान्ति-पूर्ण जीवन बिताया जा सकता है, उन कारणोंकी छानबीन कर उनको अपनाना होगा। अशान्तिके कारणोंपर नजर दौड़ाते हैं तो सबसे पहले हमें अभाव और अतृप्ति ही इसके मुख्य कारण नजर आते हैं। जीवन धारण करनेके लिये अनेकों वस्तुओं एवं साधनोंकी आवश्यकता होती है। उनमेंसे कुछ साधन तो प्रकृतिने स्वयं उत्पन्न कर रखे हैं, कुछ साधन प्राणियोंको अपने प्रयत्नके द्वारा जुटाने पड़ते हैं; उनके अभावमें प्राणी दुःख एवं अशान्तिका अनुभव करते हैं। पर जीवन-धारणके लिये आवश्यक साधन उतने अधिक कठिन एवं दुष्प्राप्य नहीं हैं। पशु-पक्षी आदि क्षुद्र प्राणी भी किसी-न-किसी तरह उन साधनोंको जुटाकर जीवन-निर्वाह कर ही लेते हैं। फिर मनुष्यको तो प्रकृतिने कुछ विशेष शक्तियाँ दी हैं। साधनों एवं शक्तिकी अधिकताके साथ-साथ उसकी आवश्यकताएँ भी अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा अधिक नजर आती हैं। और उसको सबसे अधिक दुःख देनेवाली वृत्ति तो 'तृष्णा' की है। आवश्यकताएँ या अभावकी पूर्ति करना तो उतना कठिन नहीं; पर तृष्णाकी पूर्ति तो कठिन हो नहीं, असम्भव भी है।

मनुष्यमें बोलने, विचार करनेकी शक्ति तथा मन एवं बुद्धिके अधिक विकसित होनेसे वह केवल आवश्यकताओंकी तात्कालिक पूर्तिमें ही संतोष नहीं मानता। उसके मनसूबे बहुत लंबे और बड़े-बड़े होते हैं। वह केवल वर्तमानके लिये ही खाने, पीने, पहनने, मौज-शौक करनेके साधन नहीं जुटा पाता। वह बहुत लंबे समयके लिये, अपने परिवारकी कई पीढ़ियोंतकके लिये संग्रह करता है और उसे बढ़ाता रहता है। यहाँ साधारण वस्तुओंसे ही काम न चलाकर, अच्छी सुन्दर, स्थायी तथा उच्चस्तरकी वस्तुओंके निर्माणके लिये तरह-तरहके आविष्कार करता रहता है। इसीलिये ज्ञान-विज्ञानकी इतनी शोध हुई और होनेकी आशा बनी हुई है। मानवने अपनी शक्तियोंके विकास और नव निर्माणद्वारा सुख-शान्तिके साधन जुटानेका अनवरत प्रयत्न किया। फिर भी जिस सुख-शान्तिको वह चाहता है, उसे अभीतक प्राप्त नहीं कर सका है। भारतीय मनीषियोंने तृष्णाको ही इसका प्रधान कारण माना है। इच्छाएँ आकाशके समान अनन्त हैं और एककी पूर्ति होते-न-होते और नयी-नयी इच्छाओंके हिलोरें उठते रहते हैं। आवश्यकताओंकी अपेक्षा इच्छाओं और तृष्णाका भ्रम-जाल बहुत ही गहन तथा विचित्र है। इसीके कारण बहुत अधिक साधन प्राप्त होनेपर भी वह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। बहुत बड़े धनी, राजा, महाराजा और सम्राट् भी तृष्णाके कारण ही अशान्त बने रहते हैं। उनके पास आवश्यकताओंसे बहुत अधिक साधन-सामग्री संगृहीत होती है, पर उन्हें उसके संरक्षण और बढ़ाते रहनेकी

चिन्ता लगी रहनेसे, उनका जीवन सुखी नहीं हो पाता। इसीलिये कहा जाता है कि धन आदि वस्तुओंके प्राप्त करनेमें कष्ट होता है, उनके नष्ट हो जानेपर दुःख होता है और रहनेपर संरक्षण आदिकी चिन्तासे चित्त व्यग्र बना रहता है। इसी तरह जिनके पुत्र-पुत्री आदि संतान तथा परिवार नहीं होता या कम होता है, वे अपनेको दुखी अनुभव करते हैं। उधर कपूत पुत्र, कुलक्षणी स्त्री, विरोधी बन्धु तथा आये दिन किसीकी बीमारी, मृत्यु आदिके कारण सम्पन्न और बहुपरिवारी व्यक्ति भी किसी-न-किसी प्रकारके दुःखसे बेचैन बने रहते हैं। इससे यह फलित होता है कि जिन साधनोंको मनुष्यने सुख-दुःखका कारण मान रखा है, वे वास्तवमें सुख-दुःखके कारण नहीं हैं। मनुष्यने कल्पनासे ही उनमें सुख-दुःख मान रखा है। एक व्यक्तिको जिससे सुख है, दूसरेको उसीसे दुःख है। यही नहीं, एक ही व्यक्तिके जीवनमें जो वस्तु या स्थिति किसी समय सुखकी साधन होती है, वही भिन्न परिस्थितिमें दुःखका कारण बन जाती है।

हम यह भी देखते हैं कि बहुत-से साधारण स्थितिके और कुछ तो जीवन-निर्वाहके भी साधन पूरे न जुटा पानेवाले व्यक्ति भी सुखी होते हैं। बहुत-से श्रमजीवी तो आजकी कमाईको आज खा लेते हैं तथा कलकी भी चिन्ता न करके बड़े सुख और शान्तिकी नींद लेते हैं। मैंने अनेक व्यक्ति ऐसे देखे हैं, जो दिनभर परिश्रम करके जो भी रूखा-सूखा, पूरा-अधूरा मिल गया, खा-पीकर रात होते ही बड़ी मस्तीसे रामायण आदिका पाठ करते हैं, भजन करते हैं। किसी भी चिन्ताको अपने पास नहीं फटकने देते। अभावमें भी उनके चेहरेपर सिकुड़न नहीं होती। वह मस्ती किसी लखपति, करोड़पति तथा राजा-महाराजाको कहाँ? इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि सुख संतोषमें है। हम जिस परिस्थितिमें हैं तथा जितने भी साधन हमें प्राप्त हैं, हम उनमें संतोष कर लें तो हमारे जीवनमें शान्तिकी एक लहर व्याप्त हो जायगी।

स्वर्ण रूप्य गज बाजि धन, और रत्न धन खान।
जब आवै 'संतोष' धन, सब धन धूर समान॥

बौद्ध दर्शनमें दुःखोंका कारण तृष्णाको मानकर उससे निवृत्त होनेपर बहुत जोर दिया गया है और जैन धर्ममें भी लोभपर संतोषद्वारा विजय प्राप्त करके समभावकी साधनाको प्रधानता दी गयी है। दुःख एवं कष्टके समय मनुष्यको शान्ति बनाये रखनेके लिये कर्मवाद तथा ईश्वरवादका अवलम्बन शान्तिप्रद होता है। जैनधर्ममें कर्मवादको प्रधानता दी गयी है और वैदिक दर्शनोंमें ईश्वरवादको। कर्मवाद कहता है कि जीवनमें शुभाशुभ—जैसे भी कर्म किये हैं, उनका परिणाम वह भोग रहा है। अभी जो कष्ट तथा विपत्तियाँ आयी हुई हैं, वे भी प्राणीके अपने किये हुए अशुभ कर्मोंके कारण ही आयी हैं। इसलिये इनको शान्तिके साथ भोग लेना ही हितकर है। हाय-हाय करनेसे भी किये हुए कर्म छूटनेवाले नहीं हैं, तो फिर व्यर्थकी अशान्ति क्यों? अच्छे या बुरे—जैसे भी पूर्वकृत कर्म जिस समय उदय हुए, उन्हें निराकुलतासे भोग लेनेसे ही उनसे छुटकारा होता है। हर्ष और विषाद तो फिर नये कर्म-बन्धनके कारण बनते हैं। हाँ, शुभ कर्म करके अशुभ कर्मोंको क्षीण किया जा सकता है। जो परिस्थिति अथवा साधन तुम चाहते हो, यदि वह प्राप्त नहीं है तो इसमें तुम्हारे किये हुए कर्म ही कारण हैं। दूसरोंको दोष देना व्यर्थ है। ईश्वरवाद भी यही आश्वासन देता है कि सुख और दुःख सब ईश्वरकी माया है। तुम उसकी लीलाका पार नहीं पा सकते। उसने जो कुछ तुम्हारे लिये अच्छा समझा है, किया है। सम्भव है वह इस विपत्तिके द्वारा ही तुम्हारी परीक्षा लेकर तुम्हारे उज्ज्वल तथा उन्नत भविष्यका मार्ग प्रशस्त कर रहा हो। इसलिये जिस परिस्थितिमें भी प्रभु रखना चाहें, तुम उसीमें निराकुलतासे रहो और अपने योग-क्षेमका भार प्रभुपर ही छोड़ दो। तुम्हें चिन्ता तथा दुःख करनेकी आवश्यकता नहीं। विधिका विधान या ईश्वरकी कृपा इसी रूपमें तुम्हें रखनेकी है। इन दोनों विचारधाराओंसे मनुष्यको शान्ति मिलती है। महापुरुष कहते हैं—दुःखको सुख मानकर चलो; जो भी परिस्थिति आये उसीमें संतोष और शान्ति रखो। तृष्णा जितनी बढ़ाओगे, दुःख उतना ही बढ़ेगा; क्योंकि उसकी पूर्ति होना तुम्हारे वशकी बात नहीं। इच्छा और तृष्णाकी पूर्णरूपेण पूर्ति कभी किसीकी नहीं हुई। हर व्यक्तिके अन्तिम समयमें भी कुछ-न-कुछ इच्छाएँ या कार्य अधूरे रह ही जाते हैं। संतोष रखनेका मतलब यह नहीं कि हम प्रयत्न करना ही छोड़ दें, अपनी शक्तियोंका विकास ही न करें, हाथ-पर-हाथ धरके बैठ जायँ। संतोष तो हमें अशान्ति और चिन्तासे बचाता है तथा जो भी स्थिति प्राप्त है, उसीमें आनन्द-अनुभव करना सिखाता है। आगेकी उन्नतिका मार्ग अवरुद्ध नहीं करता। प्रयत्न तो चालू रहना ही चाहिये; पर असंतोषके द्वारा हम जो बेचैनी अनुभव करते हैं, वह न हो। स्वास्थ्यपर

भी चिन्ता तथा असंतोषका बहुत बुरा असर पड़ता है। संतोषी व्यक्ति शारीरिक, मानसिक विकास जिस रूपमें कर सकता है वैसा तृष्णा और चिन्तासे घुटते रहनेवाला नहीं कर पाता। अतृप्त वासनाओंसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है। संतोषपूर्वक खायी जानेपर रूखी-सूखी रोटियाँ भी शरीरमें जो रस बनाती हैं, वह नाना प्रकारके स्वादिष्ट पौष्टिक पदार्थोंसे आसक्त और चिन्ताग्रस्त अवस्थामें नहीं बन पाता। तृष्णाके कारण वह अधिक खा लेता है तो हजम न होनेपर बीमारी हो जाती है। इधर तृप्ति न होनेपर भी ठीकसे रस नहीं बन पाता। चिन्ता तो जीवनकी महान् शत्रु है ही और उसकी उत्पत्ति भी तृष्णासे ही होती है। जो चीज हम चाहते हैं, उसके न मिलनेपर और जिसे नहीं चाहते हैं उस परिस्थितिके प्राप्त होनेपर भी संतोष रख सकते हैं, वे ही चिन्तासे मुक्त रह सकते हैं।

ईर्ष्या आदि अनेक दोष भी संतोषके अभावमें ही उत्पन्न होते हैं। अपनेसे अच्छी परिस्थिति तथा अधिक सामग्री दूसरोंके पास देखकर हम अपनी परिस्थितिसे असंतुष्ट होकर उनके प्रति ईर्ष्यादि अनेक कुत्सित भाव जाग्रत् करते और बढ़ाते रहते हैं। इससे उनका तो कुछ भी नहीं बिगड़ता, पर हमारी आत्मा तो मलिन हो ही जाती है। जीवनमें संतोष धारण करनेके लिये ही शास्त्रोंमें इच्छा, तृष्णा एवं वासनापर नियन्त्रण रखने तथा संतोषको अपनानेका विधान रखा गया है। तुम सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकते तो भी इच्छाका परिमाण कर लो कि इतनेसे अधिक परिग्रह या संग्रह नहीं करूँगा, इतना हो जानेपर संतोष धारण कर लूँगा। यों करनेसे मनुष्य तृष्णाकी दीर्घ परम्परासे छुटकारा पा जाता है और शान्तिका अनुभव करता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति संतोषको अपना ले तो इस विश्वमें संघर्ष, हिंसा-ईर्ष्या, राग-द्वेष, दुःख और अशान्ति टिक ही नहीं सकते।

महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है कि लोकमें जो काम-सुख है और स्वर्गमें जो देव-सम्बन्धी महान् सुख हैं, वे तृष्णाके क्षय और संतोषद्वारा प्राप्त सुखके सोलहवें भागमें भी नहीं आते—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

पञ्चतन्त्रमें कहा गया है कि संतोषरूपी अमृतसे तृप्त मनुष्योंको जो सुख और शान्ति है, वह धनके लोभी, अतृप्त, असंतोषी पुरुषोंको नहीं मिल सकती—

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

'तत्त्वामृत' नामक सुभाषित-ग्रन्थमें बहुत ही सुन्दर कहा है कि संतोषी व्यक्ति सदा सुखी रहता है और असंतुष्ट सदा दुखी रहता है। अतः संतोष और असंतोषके परिणामका अन्तर जानकर सुख चाहनेवालोंको संतोषसे ही प्रीति करनी चाहिये। निर्ममत्व भावसे संतोषरूपी जलको पीनेवालेको मानसिक दुःख नहीं होता। तृष्णारूपी तृषाका नाश करनेसे संतोषरूपी अमृतका पान करनेवाले मोक्षको प्राप्त होते हैं। समस्त संसाररूपी वनको जलानेमें समर्थ लोभरूप महाग्निको विवेकी जीव ज्ञानरूपी बादलोंसे उत्पन्न संतोषरूपी जलसे शान्त कर देते हैं।

संतुष्टाः सुखिनो नित्यमसंतुष्टाः सुदुःखिताः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा संतोषे क्रियतां रतिः॥
यैः संतोषोदकं पीतं निर्ममत्वेन वासितम्।
त्यक्तं तैर्मानसं दुःखं दुर्जनेनेव सौहृदम्॥

अतः सुखी बनना हो तो संतोष धारण कीजिये और चिन्ता-तृष्णाको बलपूर्वक मार भगाइये।

कहावत प्रसिद्ध है—'संतोषी सदा सुखी।' और लोभ पापका बाप है। उस लोभपर विजय संतोषद्वारा हो सकती है। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्रमें भ० महावीरने कहा है—

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ।
दो मास कयेकज्जं कोडीए वि न निट्ठियं॥

अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ या तृष्णा बढ़ती जाती है। लाभ लोभको बढ़ाता है। दो मासे सुवर्णसे होनेवाला कार्य करोड़ोंसे भी पूरा नहीं हुआ।

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले यअत्तिलाभे॥

'शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव—इनकी लालसाके कारण परिग्रह, उत्पादन, रक्षण और प्रबन्धकी चिन्ता लगी रहती है; विनाश और वियोगका भय बना रहता है और सम्भोग-कालमें अतृप्ति रहती है।' ऐसी हालतमें मनुष्यको विषयोंमें सुख कहाँसे हो सकता है।

छीतस्वामी

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग, बी० ए०, साहित्यरत्न)

काव्यकी प्राणशक्ति उसमें अन्तर्निहित वे भावानुभूतियाँ हैं, जो कविकी अन्तश्चेतनासे निकलकर उसकी वाणी-वीणाके गुञ्जनरूपमें उसे एक सञ्जीवनी प्रदान करती हैं। कवि-वाणीकी सजीवता, मर्मस्पर्शिता और शालीनता इन्हीं अनुभूतियोंपर निर्भर है। अनुभूतियाँ ही तो जीवन हैं, काव्य हैं; और प्रेम अथवा रागात्मिका वृत्तिकी प्राण-प्रतिष्ठा, सरस आत्मानुभूतिकी आधार-शिलापर ही भाव-साम्राज्यका अस्तित्व टिका हुआ है।

भाव और भक्ति परस्पर पूरक हैं, एक-दूसरेकी क्रम-कोटियाँ हैं। भाव आत्माभिव्यक्ति है तो भक्ति आत्मनिष्ठा। जहाँ दोनोंका समन्वय वा संतुलन है, वहीं उत्कृष्ट काव्यकी संसृष्टि होती है। महाकविके काव्यके ये ही दो पार्श्व हैं—भाव और भक्ति। भावसिन्धुकी उत्ताल तरलित ऊर्मियोंके अवगाहनसे ही कवि वा भक्तके हृदयमें एक स्पन्दन होता है, और तब अन्तरतमके किसी निभृत अञ्चलसे निस्सृत निःस्वन गानलहरी उसे, उसके प्राण और रग-रगको सम्मोहितकर, अपने किसी प्रियतमके प्रेमपाशमें बद्ध होनेको विवश कर देती है।

यह है भाव और भक्तिकी एकरूपता, काव्य और जीवनकी एकरूपता, दोनोंका सामञ्जस्य। अष्टछापकी वाणी इन्हीं मूलतत्त्वोंसे ओत-प्रोत है, इन्हींसे अनुप्राणित है। छीतस्वामी भी अपने श्याम-मनोहरके प्रेम-पाशमें बँधे हुए हैं—स्वयं बँधे हुए ही नहीं, अपने भावबन्धनमें उन्होंने उन्हें भी रोक रखा है। अन्तरतममें एक बार प्रेमरज्जुसे खिंचे चले आनेपर फिर वहाँसे सहज मुक्त कैसे हुआ जा सकता है। प्रभु तो प्रेम-परवश ठहरे! भक्तका अनुराग-रागमें भीगना और प्रभुका उसके भावसञ्चित अन्तर्देशमें बिलख जाना उनके परम अनुग्रह, भक्ति, कृपादानका ही द्योतन है। कविकी ही वाणीमें सुनिये—

प्रीतम प्रीति तैं बस कीनौ।
उर अंतर तैं स्याम मनोहर नैंकहुँ जान न दीनौ॥
सहि नहिं सकत बिछुरनौ पल भरि, भलौ नैमु यह लीनौ।
'छीतस्वामि' गिरिधरन श्रीबिट्ठल भक्ति कृपा-रस भीनौ॥

प्रभुपर भक्तका कितना कड़ा पहरा है—'नैकहुँ जान न दीनौ', एक पलका भी वियोग असह्य जो ठहरा। निरवधि प्रियतमके सांनिध्यमें रहना—कितना सत्य संकल्प है, कितना कठोर व्रत! फिर भला, प्रभु इस स्नेहानुबन्धमें बद्ध क्यों न होंगे।

ऐसे भावभरित, प्रेमपगे, नेहभीगे, भावुकहृदयकी कल्पना कीजिये—जिसके अन्तःप्रदेशमें अहर्निशि श्यामल प्रीति-घटाएँ झुक-झूमकर रसवर्षा कर रही हैं और रूप-सौन्दर्य-माधुरीके पानके लिये जो एक दृष्टिसे अपने प्रियतमको निरख रहा है। यह कौन है? कोई रूपठगी, रगमगी, रसपगी गोपाङ्गना है अथवा गोपीभाव-विभावित स्वयं कविका भक्त-हृदय ही है। हम तो दोनोंमें ही एकरसता, एकरूपता और एकतानता पाते हैं। भक्त कवि अपने बाह्य स्वतन्त्र अस्तित्वको भूल जाता है, अपने आपको खो बैठता है और तद्रूप, तदासक्त होकर उसके अन्तश्चक्षुओंके समक्ष व्रजकी किसी सघन वेलि-वल्लरी-विलसित निभृत निकुञ्जका दृश्य नाच उठता है—

बादर झूमि झूमि बरसन लागे।
दामिनि दमकति चौंकि स्यामघन गरजन सुनि सुनि जागे॥
गोपी द्वारें ठाढी भींजति, मुख देखन कारन अनुरागे।
'छीतस्वामि' गिरिधरन श्रीबिट्ठल ओतप्रोत रस पागे॥

'गोपी द्वारे ठाढीं भीजति'—कितनी तल्लीनता है, रसमयता है भीतर और बाहर, सर्वत्र अनुराग-रससे अभिषेक हो रहा है। प्राण और शरीर, हृदय और नेत्र—दोनों ही प्रेमरसमें डूबते-उतराते तरलित, विगलित हो रहे हैं। चिन्तन कीजिये—

श्यामसुन्दर शस्यश्यामला वसुन्धराकी हरित, भरित गोदमें किसी मेघश्याम निकुञ्जकी हरितिमाके बीच शयन कर रहे हैं। सजल नील-नीरद झूम-झूमकर बरसने, सरसने लगे। मेघोंके सघोष तर्जन-गर्जनके साथ दामिनीकी चमक-दमकने उन्हें जगा दिया। वे चौंक उठे। घनश्याम नन्दनन्दनकी इस उद्विग्नताका एक मनोवैज्ञानिक आधार है। भक्तके हृदयमें विप्लव हो—घुटती, सिमटती वियोग-व्यथाओंकी धूम-धूसर घनघटाओंसे उसका हृदय आक्रान्त हो; तीखी वेदनाओंसे अन्तर विनाशके वज्रपाती चीत्कारके साज सजा रहा हो और रूपके प्यासे अश्रुविगलित नेत्र जब नेह-मेह-मुक्ताके स्वागत-हार पिरोते हुए, अनुपल हृदयकी सर्वस्व

संचित निधिको लुटा रहे हों, निकुञ्ज-द्वारपर खड़ी 'गोपी' भींग रही हो। तब भला, प्रभु सुखकी नींद कैसे सो सकते हैं। भगवान् और भक्त—दोनों ही तो एक ही रससे रसमय हैं। एक ओर बेचैनी, तड़प और सिसक है, तो क्या दूसरी ओर टीस और दर्द नहीं होगा ?

इस प्रकारकी लगनवाला भक्त या कवि एक ही रंगमें रँग जाता है। छीतस्वामी किसी गोपीकी ही प्रीतिको, भावनाको इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं। मानो गोपी नहीं, कविका अनुराग-रँगा हृदय ही बोल रहा है—

गिरिधरलाल के रँग राची।
तन सुधि भूलि गई मोकौं, अब कहति हौं तोसौं साँची ॥
मारग जात मिले मोहि सजनी ! मोतन मुरि मुसिकाने।
मन हरि लियो नंद के नंदन चितवनि माँझ बिकाने ॥
जा दिन तैं मेरी दृष्टि परे सखि ! तब तैं रह्यौ न जावै।
ऐसो है कोउ हितू हमारो, 'छीत' स्वामि सौं मिलावै ॥

कितनी गहरी आसक्ति, आत्मविस्मृतिकी दशा है—'तन सुधि भूलि गई।' मनकोही खो दिया, तब तनकी कौन कहे। श्यामसुन्दरकी रूप-मोहिनी, उनका 'मुरि मुसकाना' कितना जादूभरा प्रभाव डालता है ? एक ही चितवनमें, मदभरी दृष्टिके निक्षेपमें बिक गये, लुट गये, मिट गये। 'स्व' पर अधिकार जाता रहा, दूसरेके सदा-सर्वदाके लिये हो गये। दृष्टि-मिलनके क्षणसे ही अधीरताने हृदयमें घर कर लिया। अब उनका मधुर मिलन ही जीवनके सुखका एकमात्र साधन है। जिस रंगमें हृदय एक बार सराबोर हो गया, अब दूसरा रंग उसपर नहीं चढ़ सकता। गिरिधरलालका रंग है—श्याम रंग, सबको अपनेमें समानेवाला, आत्मसात् कर लेनेवाला।

अतएव कवि अब किसी 'हितू'की खोजमें है, जो उसके 'स्वामी'से उसे मिला सके। प्रत्येक वस्तु, प्रियतम वस्तु पानेके लिये कोई माध्यम चाहिये, कोई साधन। उसके बिना साध्य दुर्लभ है। उस 'हितू' माध्यमके रूपमें अपने गुरुचरणोंमें कविकी निष्ठा आश्रय पाती है। वह कहता है—

हौं चरनातपत्र की छहियाँ।
कृपासिंधु श्रीवल्लभनंदन बहौ जात राख्यौ. गहि बहियाँ ॥
[illegible]नख चंद किरन मंडल छबि हरत ताप सुमिरत मन महियाँ।
'छीतस्वामि' गिरिधरन श्रीविट्ठल सुजस बखान सकति स्रुति नहियाँ ॥

अतल भव-जलधिकी उत्ताल तरङ्गोंमें यह जीव बह रहा है। दुःख-दारिद्रयकी अनुपल प्रवर्द्धमान पीड़ाओंके थपेड़ोंसे त्रस्त हो, अभाव और विषमताओं, विवशताओंके [illegible]जालमें फँसकर, कूल-किनारोंसे दूर, बहुत दूर भटकता-बहकता किसी सुखद आश्रयके लिये वह प्रतिक्षण इच्छुक है। बाँह पकड़कर उसे कोई गन्तव्य-स्थलको पहुँचा दे, इसके लिये वह सतृष्ण नेत्रोंसे चारों दिशाओंमें देख रहा है। सौभाग्यवश इस भवसिन्धुके बीच सम्बलरूप श्रीवल्लभनन्दन दिखायी पड़ते हैं, और वह अपने उन्हीं कमल-कोमल, सकल ताप-दाप-निवारक गुरु-चरणोंकी शीतल छायामें गहरी निष्ठा और आत्मविश्वासके साथ आश्रय ग्रहण करता है। एक ओर अगम भवसिन्धु है तो दूसरी ओर सुगम कृपासिन्धु गुरुचरण। आपके नितनूतन विकासमान, कृपा-ज्योति-पुञ्ज चरण-नखोंमें कोटि-कोटि चन्द्रकिरणोंकी आभा, सतत सुधा-सिञ्चन-समर्थ सुधांशुकी अमर शीतल छाया संनिहित है। स्मरणमात्रसे संसार-तापोंका निवारण होता है। ऐसे हैं श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण, श्रुतियोंसे भी जिनका सुयश-गान अशक्य है।

प्रभुसे मिलनेमें साधक गुरुचरणोंमें, उस एकमात्र हितूमें कविकी कितनी दृढ़ निष्ठा है ! हरि और हरिभक्तोंके बलपर ही तो, उनके अनुग्रहकी आशापर ही तो वह अवलम्बित है। मन, कर्म और वाणीसे उनकी कृपा-प्राप्ति ही उसका व्रत है, उसका भरोसा है—

मोकौं बल है दोऊ ठौर कौ।
इक बल मोकौं हरिभक्तनि कौ, दूजें नंदकिसोर कौ ॥
मन क्रम बचन इहै ब्रत लीनौ, नाहिं भरोसौ और कौ।
'छीतस्वामि' गिरिधरन श्रीविट्ठल श्रीवल्लभ सिरमौर कौ ॥

इस प्रकार कविको अपना वाञ्छित 'हितू' मिल गया और उसने अपने प्रियतमसे मिलन करा दिया। अब तो वे लावण्यनिधि प्रभुके निर्निमेष दर्शनमें निरत हैं। उस विलक्षण, नित्य नवीन वर्धमान रूपके भँवर-जालमें जब एक बार फँस गये, फिर उससे मुक्ति कैसे सम्भव है। उस सौभाग्यश्रीसे आपूरित नख-शिख सौन्दर्यके बिना उन्हें एक पल भी चैन नहीं। सुनिये—

नैननि निरखे हरि कौ रूप।
निकसि सकत नहिं लावनि निधि तैं मानौ पर्‌यौ कोउ कूप ॥
छीतस्वामि गिरिधरन बिराजित नख सिख रूप अनूप।
बिनु देखें मोहि कल न परत छिनु सुभग बदन छबि जूप ॥

समस्त अन्तर और बाह्य वृत्तियाँ उस सौन्दर्य-पुञ्जमें जाकर अधिनिष्ठित हो जाती हैं। मनकी गतियोंका सिमिटकर पुञ्जीभूत हो जाना और एक केन्द्रमें समाहित हो जाना ही तो साधनाकी चरम कोटि है, चिन्तन और समाधिस्थताका उत्कृष्ट रूप है। अपनी इसी स्थितिको कवि किसी रूप-सुधा-छकी एवं गीति-माधुरीसे आकृष्ट गोपबालाकी वाणीमें चित्रित करता है—

मुरली सुनत गई सुधि मेरी।
गृह कारज सब भूलि गई मोहि सपति करति हौं तेरी॥
इकटक लागि सुनति स्रवननि पुट जैसें चित्र चितेरी।
छीतस्वामि गिरिधर मन कर्‌ष्यौ इत उत चलै न फेरी॥

रागात्मिका वृत्ति ही रस है, सौन्दर्य है, संगीत है। तात्त्विक दृष्टिसे तीनोंका मौलिक स्वरूप एक ही है—'सत्यं शिवं सुन्दरम्।' जहाँ रस है, वहाँ सौन्दर्य है और जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ संगीत स्वतः आपूरित है। नन्दनन्दनके प्रेमरस और सौन्दर्यकेन्द्रसे ही उनका वेणुनाद निस्सृत है। इसीलिये व्रजललनाओंका हृदय उनके प्रियतमके अनुराग-राग एवं माधुर्यकी भाँति ही उनके वेणुसंगीतकी मधुरिमासे भी आकृष्ट होता है। वे श्रवणपुटोंसे अनुक्षण उस गीतिमाधुरीको पी-पीकर भी नहीं अघातीं। जहाँसे वंशीकी मादक ध्वनि आ रही है, उसी ओर किसी चितेरेके रेखा-चित्रकी भाँति अडिग मूक और जडवत् कर्णपुटोंको लगाये बैठी है। मानो सौन्दर्य-पानकी कान और नेत्रोंकी क्षमता एकीभूत हो गयी है। शब्द और रूप-ग्रहणकी शक्ति श्रवणोंमें ही समायी हुई है। रूप-माधुरी और वेणुध्वनिमें कितना एकात्मभाव है।

इस द्विविध माधुर्यके निरन्तर आस्वादके लिये ही कवि इस वातावरणसे एक क्षण भी विलग होना नहीं चाहता। उसकी आन्तर अभिलाषा है—

अहो बिधिना तोपै अँचरा पसारि माँगौं
जनमु जनमु दीजै मोहि याहो ब्रज बसिबौ।
अहीर की जाति समीप नंद घरु
घरी घरी घनस्याम हेरि हेरि हँसिबौ॥
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिनि में
झकझोरनि अँग अँग कौ परसिबौ।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल
सरद रैनि रस रास कौ बिलसिबौ॥

किसी व्रजसुन्दरीकी यह कामना कविके जीवनमें फलित हो सकेगी? क्यों नहीं। अनन्य भक्त हरिसे कब विलग हो सकते हैं। अँचरा पसारकर माँगी हुई विनयभरी भीखकी झोली क्या कभी खाली रह सकती है। पुण्यमयी व्रजभूमिकी गोदमें नन्दनन्दनके समीप प्रियतम श्यामसुन्दरके पल-पल प्रफुल्लित मुख-सरोजके दर्शनसे ऊँची कामना और क्या हो सकती है। भले ही इसके लिये अहीरकी-सी छोटी जातिमें जन्म लेना पड़े, दधि के दान मिस 'ब्रज की बीथिनि में झकझोरनि अँग अँग कौ परसिबौ' तभी तो सम्भव है और तभी 'सरद रैनि रस-रासको बिलसिबौ' है।

छीतस्वामी-सरीखे अन्तरङ्ग भक्त सखा ही ऐसी पुण्य-कामना करने और उसके प्रतिफलित सुखका आस्वाद पानेमें समर्थ हैं। यही भाव और भक्तिकी आत्माभिव्यक्ति और आत्मनिष्ठाका उज्ज्वल स्वरूप है।

मेरा जीवन भगवान्‌के सौहार्दकी अभिव्यक्तिमात्र है

मैं मङ्गल तथा कल्याणकी प्राप्तिके लिये किसी दूसरे समय, किसी दूसरी परिस्थिति अथवा किसी दूसरे स्थानकी प्रतीक्षा नहीं करता। भगवान्‌के सौहार्द, प्रेम और कृपासे इसी क्षण, इसी परिस्थितिमें, इसी स्थानपर मुझे मङ्गल तथा कल्याणके शुभ दर्शन हो रहे हैं।

मैं किसी काल्पनिक या भावी मङ्गलकी अभिव्यक्ति अपने जीवनमें नहीं देखना चाहता। भगवान्‌के प्रेम एवं सौहार्दपर विश्वास करके मैं अभी इसी क्षण अपनेको यथार्थ मङ्गलसे परिव्याप्त अनुभव करता हूँ। मङ्गल अब मुझसे भिन्न नहीं है, वह तो मेरा स्वरूप ही है।

इसी प्रकार स्वस्थता एवं आनन्दके लिये भी मैं भविष्यकी अथवा परिस्थितिविशेषकी अपेक्षा नहीं रखता। मैं अनुभव करता हूँ—मैं निरामय हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ। भगवान्‌की कृपासे, भगवान्‌के प्रेमसे मुझपर नित्य स्वस्थता, नित्य आनन्दकी वर्षा हो रही है।

जीवनमें सफलता एवं उन्नति-प्राप्तिकी भी कामना मैं नहीं करता। मैं भगवान्‌का अंश हूँ; भगवान्‌का समस्त विवेक, समस्त ज्ञान, समस्त ऐश्वर्य मुझे बपौतीके रूपमें प्राप्त है। मैं इसी क्षणसे पूर्ण सफल, पूर्ण उन्नत हूँ। मुझे कुछ भी प्राप्त करना नहीं है।

• अब मैं प्रेममय अनन्तशक्ति भगवान्‌के सौहार्द, प्रेम तथा प्रसादसे सराबोर हूँ। मेरा जीवन भगवान्‌के सौहार्द, प्रेम तथा प्रसादकी अभिव्यक्तिमात्र है।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् । शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

'भगवान् श्रीहरिके नामकीर्तनसे शारीरिक, मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है; स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मा-सम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहङ्कार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणीके, सभी जातियोंके, सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (२६ नवम्बर १९५८) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (२३ अप्रैल १९५९) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१६ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठने-

के समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजस्वलाके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता–'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—**चिम्मनलाल गोस्वामी**
सम्पादक–'कल्याण', गोरखपुर

पढो, समझो और करो

(१)

सच्ची पुकारसे प्रभुकृपा

बात पुरानी है । उन दिनों मैं प्राइमरी पाठशाला, बेरीनागमें, चौथी जमातमें पढ़ता था । दस वर्षका मैं और वयोवृद्ध पिताजी, यही मेरा परिवार था । माँ जब मैं दो मासका था, तभी चल बसी थी । न कोई भाई और न बहिन थी । मुझे याद है कि उन दिनों मैं भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, द्रौपदी और गजेन्द्र आदिकी कथाएँ कवितारूपमें गा-गाकर अपने वृद्ध पिताजीको सुनाया करता था । हृदय पवित्र था । राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोहादि विकारोंके अस्तित्वकी मुझे तब कल्पना भी नहीं थी । मैं कहता—'भगवान्, मैं दुनियाँमें अकेला हूँ; मेरा कोई नहीं है, तुम हो । मुझे बिसारना नहीं ।' भक्तोंके चरित्र गाते-सुनते मेरी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती थी । पाठशाला जाना, घर आना, अपने पिताजीको कथाएँ सुनाना और भक्तोंकी महिमा गा-गाकर सो जाना—यही मेरी दिनचर्या थी ।

एक दिन, जब मैं पाठशालामें था, मेरे एक चचेरे भाईने पाठशालामें आकर मुझसे कहा—'गुरुजीसे छुट्टी ले लो और जल्दी घर चलो । तुम्हारे पिताजीको खेतमें एक विषधरने काट लिया है । पर अब तबीयत ठीक है । घबराना नहीं ।'

मेरे ऊपर मानो पहाड़ टूट पड़ा । मैंने छुट्टी ली और चला । मेरा बालक-हृदय किसी अज्ञात आशङ्कासे काँप उठा । मैं भलीभाँति जानता था कि जब सर्प काटता है, मौत निश्चित होती है और समझता था कि जिसकी मौत आती है, उसीको सर्प काटता है । मेरी अन्तरात्मा रो उठी और मैं फूट-फूटकर रोते हुए घर चला । भाईने बहुत समझाया कि चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं है । पर मेरे पग घरकी ओर चलते ही न थे । किसी प्रकार घर पहुँचा । पिताजीकी हालत देखते ही कराह उठा । उनका चेहरा नीला पड़ गया था, आँखें अंदरकी ओर धँस गयी थीं, सारे शरीरमें भयंकर सूजन थी । मैं डर गया और बिलखने लगा । पिताजीको होश था, पर बेचैनी थी । उन्होंने कहा—'बेटा ! अब मैं क्षणोंका मेहमान हूँ, भगवान् तेरे सहायक हैं । रो मत ।'

सायंकाल हुआ, सभी अपने-अपने घरोंकी ओर चल दिये । मेरे चचेरे भाईने कहा—'देख ! इन्हें नींद न आने देना; जब सोने लगें, जगा देना । मैं अभी भोजन करके आ जाऊँगा ।' और वे भी चले गये । पिताजीके सामने अकेला मैं बैठा अपनी किस्मतकी निष्ठुरतापर कराह उठा—सामने भगवान् श्रीकृष्णका चित्र हँस रहा था । मैंने कहा—'मेरे प्रभु !' और रो उठा । 'आप मेरे हैं, मेरी माँ कब आयी और चल दी—इसका मुझे ज्ञानतक नहीं, न कोई साथी और न अपना । एक ये ही अस्थिपिञ्जर बूढ़े पिताजी थे, ये भी आज मुझे छोड़कर जा रहे हैं । मैं अभागा इनकी सेवा भी न कर सका । प्रभो ! मेरे पिताजीको बचाओ, मेरी रक्षा करो । आप आशुतोष भगवान् शंकरके सखा हैं । भगवान् शंकरका एक गण, सर्प मेरे पिताजीको काट गया है । प्रभो ! अपने सखातक मेरी यह सिफारिश पहुँचा दो कि उनका सर्पराज अपने विषकी अग्निको मेरे पिताजीके शरीरसे शान्तकर इन्हें स्वस्थ कर दे । प्रभो ! मेरी विनय सुनो ।' प्रार्थना करते-करते मेरा गला भर आया और मैं बिलख-बिलखकर रोने लगा । इतनेमें मैंने देखा कि एक भयंकर सर्प आकर मेरे पिताके हाथपर डंक मारकर अन्तर्धान हो गया है ।

मेरा रोना सुनकर पास-पड़ोससे सभी लोग आ गये और मेरे चचेरे भाई भी तबतक पहुँच गये ।

उन्होंने देखा कि मेरे पिताजीको नींद आ गयी है। वे काँप उठे। उन्होंने कहा—'सर्वनाश हो गया है।' मुझे अपनी सुध न थी।

भाईने काँपते हुए पिताजीको हिलाया। हमारे आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब वे ऐसे उठ बैठे जैसे एक गहरी निद्राके पश्चात् कोई उठता है, और बोले 'अब मैं ठीक हूँ। बेचैनी नहीं है। तुम लोग सो जाओ। हम सभी एक-दूसरेके मुँहको देखने लगे। मैंने अपने प्रभुको प्रणाम किया और इस दिव्य चमत्कारका किसीको पता न लगा।

वे दिन भी थे और आज भी है। आज मेरे परिवारमें वृद्धि हो गयी है। पिताजी अभी जीवित हैं और हमलोगोंकी देख-रेख करते हैं। आज भी मैं प्रार्थना करता हूँ, प्रातः-सायं भजन गाता हूँ; पर उन दिनोंमें और आजमें आकाश-पातालका अन्तर है। आज हृदयमें काम है, क्रोधकी भयंकर अग्नि है और राग-द्वेषसे हृदयका कोना-कोना भर गया है। और न मालूम क्या-क्या है। आजकी मेरी प्रार्थना हृदयसे नहीं, पर केवल मुँहसे होती है। भगवान् अब मेरे अपने नहीं, प्रत्युत पराये हो गये हैं। मैं आज अपने बीबी-बच्चोंको ही अपना समझने लगा हूँ। ऐसी स्थितिमें भगवान् मेरी सुनें, यह मेरी केवल कोरी कल्पना है।

मुझे निश्चय है और सोलहो आने निश्चय है कि प्रभुके कानोंतक वही पुकार पहुँच सकती है, जो सच्चे—निष्कपट हृदयसे, अन्तरात्मासे निकलती है और वह पहुँचती है अवश्य, भले ही हम उस पुकारको स्वार्थसे करें अथवा परमार्थबुद्धिसे। इससे हमारा ही सम्बन्ध है, भगवान्का नहीं। वे सुनते हैं और सुनेंगे। बस, विश्वासी सुनानेवालोंकी आवश्यकता है।

अब मेरे कर्म ऐसे नहीं हैं कि प्रभु किसीसे भी मेरी सिफारिश कर सकें। —देवेन्द्रकुमार गन्धर्व

(२)

आदर्श आत्म-बलिदान

पी. ऐंड ओ-कम्पनीका 'इजिप्ट' नामक जहाज सन् १९२२ में अचानक डूब गया और समुद्रमें चा सौ फुट गहराईमें जा पहुँचा। उस समय एक वीर युवकने जो आत्मबलिदान किया, वह सुनने योग्य है—

वह वीर युवक था जहाजका एक कर्मचारी। उसका नाम जॉर्ज जेनर था। जॉर्ज 'लाइफ बेल्ट' पहन रहा था। जहाज डूबनेकी तैयारीमें था। जॉर्ज समुद्रमें कूदने ही जा रहा था कि उसकी दृष्टि जहाजकी ओर गयी। उसने हताश, निराश कुमारी मार्गरेटको देखा। जॉर्ज मार्गरेटकी मुँहकी ओर देखकर उसका भाव समझ गया और तुरंत लौट आया। एक ही क्षणमें उसने उस 'लाइफ बेल्ट'को उतारकर मार्गरेटके सामने रख दिया और कहा—ले बहिन! यह 'बेल्ट' पहन ले।

मार्गरेट क्षणभर स्तब्ध रह गयी। एक अनजान स्त्रीके लिये अपना जीवन अर्पण कर देनेवाले उस युवककी ओर वह आश्चर्यचकित दृष्टिसे देखने लगी। उसने आनाकानी करते हुए कहा—'ना-ना, यह बेल्ट तुम्हारा है; मेरा तो जो कुछ होना है, हो जायगा।'

मार्गरेट यों 'ना-नू' कर ही रही थी कि जॉर्जने उसको 'लाइफ बेल्ट' पहना दिया और कहा— बहिन! जल्दीसे समुद्रमें कूद जा, अब समय नहीं है; भगवान् तेरी रक्षा करेंगे, भगवान् सहायता करेंगे— God save you! God help you!!

'परंतु—परंतु, आप क्या कीजियेगा?'

'मेरी चिन्ता मत कर, मुझे तैरना नहीं आ जॉर्जने फीकी हँसी हँसते हुए कहा। जॉर्जके शब्दों मार्गरेटको और भी आश्चर्य हुआ—'तैरना न आनेपर भी इस युवकने अपना लाइफ बेल्ट दे दिया।' अ विचार करनेका समय नहीं था। जहाज प्रत्येक

समुद्रमें गहरा उतरता जा रहा था। जॉर्जके कथनानुसार मार्गरेट. समुद्रमें कूद पड़ी।

दूसरे दिन मार्गरेटको बाहरसे आयी हुई मददकी टुकड़ीवालोंने निकाल लिया। जॉर्ज अगाध समुद्रके तलमें चला गया!

धन्य है इस वीर पुरुषको, जिसने अपने प्राणोंका बलिदान करके दूसरेके प्राण बचाये! —मधुकान्त भट्ट

(३)

एक विचित्र घटना

गङ्गातटस्थ अनूपशहरके पास एक ग्राम खुशालगढ़में श्रीठाकुर महावीरसिंह नामक एक व्यक्तिका अष्टवर्षीय पुत्र विषूचिका (हैजा) रोगसे अकस्मात् ग्रस्त हो गया। जब दशा अधिक शोचनीय हुई, तब दम्पति उसे लेकर अनूपशहर आये और डाक्टर उदयशंकर महताको दिखलाया। उन्होंने तुरंत ही एक इन्जेक्शन लगा दिया। थोड़ी देरमें बालक निर्जीव हो गया। डाक्टरसाहबने कहा कि 'इसमें अब कुछ नहीं है। यह मर गया। इसे ले जाओ।' दम्पतिने कफन लपेटकर उसे गङ्गामें प्रवाहित कर दिया और रोते-पीटते अपने गाँवको लौट गये।

सायंकालके समय वह लड़का बहता हुआ वेब्स्टरगंजके सदर घाटपर जा लगा। बीचमें उसका वस्त्र यानी कफन उतरकर बह गया और लड़का जीवित हो गया। किसी अज्ञात दैवीशक्तिसे वह जलमग्न न हुआ और हाथ पीटता हुआ किनारेसे जा लगा और घाटपर जलमें जो जंजीर पड़ी हुई थी, उसे पकड़ लिया। सायंकालका समय था। शकोईग्रामके एक पण्डित वहाँ बैठे संध्योपासनादि कर रहे थे। उन्होंने देखा कि इतना छोटा बच्चा किस प्रकार जलमें तैर रहा है और डूबा नहीं और जल्दीसे उसने जंजीर पकड़ ली। वे उठे और उठकर उन्होंने फौरन बच्चेको ऊपर खींच लिया। और उससे पूछा कि तुम कैसे इतने गहरे जलमें तैरते रहे। उसने बतलाया कि 'जलमें दो सफेद दाढ़ीवाले महात्मा मुझे यहाँतक हाथोंमें लाये और यहाँ आकर मुझसे कहा—यह जंजीर पकड़ लो।' और मैं कुछ नहीं जानता। पण्डितजीने उसे वस्त्र दिया, खाना खिलाया और उससे पूछा कि तुम गङ्गाजीमें कैसे और कहाँसे आये? तब बालकने अपना ग्राम, पिताका नाम इत्यादि बतलाया। उक्त पण्डितजी उसे दूसरे दिन उसके गाँवको ले गये और उसके मातापिताके हवाले कर दिया। वहाँ भी उसने उसी प्रकार सारा वृत्तान्त कहा। उनकी प्रसन्नता असीम थी। उन्होंने पण्डितजीको मिष्टान्न, दस रुपये नक़द और वस्त्रादि भेंट किये। सारे गाँवने हर्ष मनाया और साथ ही सब आश्चर्यचकित हुए। एक मुद्दततक उनके घरपर भीड़ लगी रही कि लड़का क्या है कोई महात्मा है, जिसकी भगवान्ने स्वयं आकर मदद की। —लालबहादुर सक्सेना

(४)

महर्षिके भगवान्

अपने धर्मज्ञानमें गर्वोन्नत कुछ पादरी एक दिन महर्षि रमणके निकट जाकर सक्रोध बोले—'सुना है कि आपको ईश्वरका साक्षात्कार हो गया है और आप रोज सबेरे तीन घंटे एकान्तमें उनके साथ विचरते हैं। हम इस मिथ्या और पाखण्डको अब अधिक फैलने देना नहीं चाहते। भोली-भाली जनताको पथभ्रान्त करना सबसे बड़ा पाप होता है। हम इस पापको निर्मूल करनेका संकल्प करके आपके पास आये हैं। आप अपना ईश्वर हमें बताइये, नहीं तो हम आपके कपटका भंडाफोड़ करेंगे। यह जान लीजिये।'

महर्षि अपनी स्वाभाविक मोहिनी मुद्रामें मुसकराये और शान्त स्वरमें बोले—'भगवान् आपको शान्ति दें, आप सबेरे मेरे साथ चलिये और मेरे ईश्वरके दर्शन कर लीजिये।'

महर्षिके कपटजालको तोड़नेके उत्साहमें पादरियों-

को रातभर नींद नहीं आयी और सबेरा होनेसे पहले ही वे आश्रममें आ गये। नित्यकर्मसे निवृत्त होकर महर्षि उन पादरियोंके साथ जंगलकी ओर चले। पूरे दो मील चलनेके बाद नदीके किनारे स्थित एक झोंपड़ीके सामने वे रुके। महर्षि झोंपड़ीके अंदर गये और वहाँ चटाईपर लेटे एक कोढ़ी दम्पतिके शरीरमें तेल मलने लगे। मालिश करनेके बाद उन्होंने उन्हें नहलाया और उनको खिचड़ी पकाकर खिलायी।

पादरी यह दृश्य देखकर मानो जड—पाषाण हो गये। उनकी आँखोंसे आनन्दाश्रुकी झड़ी लग गयी। रुद्ध कण्ठसे क्षमायाचना करते हुए वे बोले—'महर्षि! अपराध क्षमा करें। अपराधियोंको भी आपने आज वह दे दिया है, जो पुण्यात्माओंको भी दुर्लभ होता है।'

जब वे पादरी लौटकर शहरमें गये, तब वे आजीवन गद्गद स्वरसे लोगोंके बीच यही कहते रहे—'उस दिन हमने इसी भूमिपर ईसामसीहको साकार, सजीव देखा था।' —सुब्रह्मण्य शास्त्री ('नवनीत'से साभार)

(प्रे० सूरजभान शर्मा)

(५)

मानवताका नमूना

तणसा गाँवका यह एक पुराना प्रसङ्ग है। इस गाँवके दो-तीन किसान किसी विवाहमें शामिल होनेके लिये दूसरे गाँव जा रहे थे। जब ये जाने लगे, तब किसानका एक छोटा बच्चा मचल गया और अन्तमें उसे भी साथ ले जाना पड़ा। जाना था पैदल। वे उस गाँवमें पहुँचे, विवाहका आनन्द लिया और अपने गाँवकी ओर लौटे। संध्याके समय बातें करते वे तीनों चल रहे थे। छोटा बच्चा साथ था। थोड़ी ही देरमें देखा आकाश बादलोंसे छा गया और गाज-बीजके साथ वर्षा होने लगी। जाड़ेका मौसिम, ठंडी जोरकी हवा और वर्षा। किसानोंको तो यह सब सहनेकी आदत थी, पर बेचारा बच्चा तो जाड़ेसे ठिठुरकर बेहोश हो गया। न बोलता है, न चलता है। अब क्या किया जाय! बरसात और ठंडी—दोनों ही मानो क़मर कसकर धावा बोल रहे थे। बच्चेको तुरंत किसी गरम वस्तुसे सेंका जाय तो उसके प्राण बचें। पर वहाँ सेंककी व्यवस्था कैसे हो? किसान उस बच्चेको एक पेड़के नीचे ले गये और बरसातके थमनेकी राह देखने लगे। बच्चेकी बेहोशी बढ़ती ही जा रही थी।

इतनेमें दूरसे किसी गाड़ीके बैलोंके गलेकी घंटीकी आवाज सुनायी दी। इनको कुछ आशा हुई। गाड़ीके पास आनेपर इन्होंने देखा कि उसमें उन्हींके गाँवके कपड़ेके व्यापारी दासभाई थे। सारी बातें सुनकर दासभाईने तुरंत ही बच्चेको गाड़ीपर ले लिया और किसानोंको भी बैठनेके लिये कहा। बच्चेका क्या होगा—इसी विचारमें चिन्ताग्रस्त हुए किसान म्लानमुख गाड़ीमें बैठ गये।

इसी बीच दासभाईने अपने पासका कपड़ेका बंडल खोला और उसमेंसे कपड़ेका एक नया थान निकाला, तथा जेबसे दियासलाईकी पेटी निकाली। थानमेंसे कुछ कपड़ा फाड़कर दियासलाई जलाकर कपड़ेके लगा दी और उससे वे बच्चेको गरमी पहुँचाने लगे। किसान तो इस दृश्यको चकित दृष्टिसे देखते ही रह गये। अग्नि मन्द न हो जाय, इसलिये बार-बार थानसे कपड़ा फाड़-फाड़कर उसे जलाने लगे।

गाड़ी चलती हुई गाँवके समीप पहुँची। बच्चेको गरमी पहुँचनेसे उसकी भीतरकी ठंढक दूर हो गयी। उसने करवट बदली और इतना ही कहा—'बापू! बापू! बड़ी ठंढ लगती है।' 'अब ठंढ नहीं लगेगी; देख तो, अपना घर आ गया।' यों कहकर दासभाई कपड़ेके थानका बचा हुआ अन्तिम अंश जलाकर बच्चेको सेंक करने लगे।

गाँव पहुँचनेपर और भी अच्छे उपाय किये गये और दो दिनोंमें बच्चा बिल्कुल ठीक हो गया। दासभाईकी

अपने कपड़ेकी कीमत कभी याद ही नहीं आयी ! असली कीमत तो वे ले ही चुके थे।

—इज्जतकुमार द्विवेदी

(६)

आदर्श मानवहृदय

सेठ रामविलासजीका घराना बहुत ऊँचा समझा जाता था। ये पीढ़ियोंके सेठ थे। गाँवमें इनकी बड़ी इज्जत थी। विधाताका विधान—कमाई कम हो गयी। खर्चमें कमी हुई नहीं। घर कमजोर होता गया। इनके परिवारमें बहुत लोग थे ! सबका पालन-पोषण इन्हींके द्वारा होता था। धीरे-धीरे सब अलग हो गये। इनके एक कन्या विवाहके योग्य थी। बड़ी सुशील, सुन्दर और घरके काम-काजमें चतुर। गीता-रामायण पढ़ लेती थी। उस जमानेमें छोटी उम्रमें लड़कियोंके विवाह होते थे। ये अपनी एकमात्र कन्याको अच्छे सम्पन्न घरमें देना चाहते थे। इनका नाम तो बड़ा था ही। एक जगह सगाई हो गयी। लड़का बहुत अच्छा, सुन्दर, पढ़ा-लिखा। लाखोंका कारोबार। विवाहकी तैयारी होने लगी। कमाई घटी थी, इससे घर नोच-नोचकर ये खा रहे थे। जेवर आदि बहुत कुछ बिक चुका था। विवाह इज्जतके साथ होना चाहिये। यद्यपि लड़केवाले बहुत भले आदमी थे। वे कुछ सौदा नहीं करते थे। तथापि इतनी तो आशा रखते ही थे कि सेठ रामबिलासजी अपनी कन्याका विवाह बहुत अच्छा करेंगे। अच्छेका अर्थ—कम-से-कम दस हजार तो लगायेंगे ही। रामबिलासजी भी इससे कम नहीं लगाना चाहते थे। उस जमानेके दस हजार आजके तीन-चार लाखके बराबर समझिये।

रामबिलासजीने किसी तरह आठ हजारका प्रबन्ध किया। चार हजार नगद आ गये, जिससे गहना बनने लगा। सोना उस समय बीस रुपये तोला था। एक व्यापारीमें कई हजार पुराने पावने थे, उसने अमुक दिन चार हजार देनेका वचन दे दिया था। दो हजार शेष थे—उनकी व्यवस्था भी हो ही जायगी। कुछ बाजारका देना रहेगा तो वह धीरे-धीरे दे दिया जायगा, यह सोचकर सेठ रामविलासजी तथा उनकी धर्मपत्नी निश्चिन्त थे।

अकस्मात् उस व्यापारीके गल्लेमें घाटा लग गया, उसने देनेसे इन्कार कर दिया। वास्तवमें वह बेचारा असमर्थ हो गया था। रामबिलासजीके सिरपर तो मानो वज्र टूट पड़ा। कहींसे कोई आशा नहीं। बड़े मानी आदमी, किसीसे माँग नहीं सकते। और माँगनेपर दे भी कौन ?

उनके पड़ोसमें बाबू हरनारायणजीका घर था। बड़े सज्जन थे दोनों स्त्री-पुरुष। रामविलासजीके साथ इनका बड़ा मेल था। एक दिन हरनारायणजीकी स्त्री किसी कामसे इनके घर आयी थी। रामबिलासजी उस समय अपनी पत्नीसे रोते हुए कुछ कह रहे थे। हरनारायणजीकी पत्नी सुनना नहीं चाहती थी, लौट रही थी; पर इतनी-सी आवाज कानमें पड़ गयी……'सीताकी मा, अब रामबिलास मुँह नहीं दिखा सकता। वह न किसीसे माँगेगा, न किसीके देनेपर लेगा ही। आजतक पीढ़ियोंसे दिया-ही-दिया, कभी हाथ नहीं फैलाया। अब क्या पुरखोंके मुखपर कालिख पोतेगा वह…………पर छः हजार लायेगा कहाँसे ?' अगली बात सुनी नहीं; इतना पता अवश्य लग गया कि सीताकी माता (रामबिलासजीकी पत्नी) फूट-फूटकर रो रही थी। सीता रसोईघरमें थी।

बाबू हरनारायणकी पत्नी बड़ी साध्वी तथा दयार्द्र-हृदया थी और सीताकी मातासे उसका बड़ा प्रेम था। हरनारायणजी भी बड़े सहृदय थे और घर भी सम्पन्न था। हरनारायणजीकी पत्नी आते ही रोने लगी। हरनारायणने पूछा—पर बता नहीं सकी, उसकी घिग्घी बँध गयी। कुछ देर बाद धैर्य धारणकर उसने

कहा—‘सीताका विवाह है। एक दिन सीताकी माताने उसे बताया था कि आठ हजारका प्रबन्ध कर लिया गया, दो हजारका और हो जायगा। पर आज मैं सुनकर आयी हूँ—उन्हें छः हजारकी जरूरत है। वे दोनों पति-पत्नी प्राण दे देंगे। अपने पास रुपये हैं—आप दे दीजिये।’ पत्नीकी बात बाबू हरनारायणको बहुत अच्छी लगी और मन-ही-मन उसकी सहृदयता तथा स्वभावकी सराहना करते हुए हरनारायणजीने कहा—‘मैंने पहले कुछ चेष्टा की थी, पर सेठ रामबिलासजीने स्वीकार नहीं किया। वे मुझसे लेकर अपना मान खोना नहीं चाहते और मैं भी उनकी बड़ी इज्जत करता हूँ।’ पत्नी बोली—‘तो दूसरा कोई उपाय सोचिये, और आज ही—अभी कीजिये। देरसे अनर्थ हो जायगा। डगमगाती नैयाको तुरंत बचाइये।’

‘अच्छी बात है’ कहकर हरनारायणजी निकले और डेढ़ घंटे बाद लौटकर पत्नीसे उन्होंने बतलाया—“तुम्हारी सदिच्छा भगवान्‌ने पूर्ण कर दी। मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ अमुक व्यापारीसे उन्हें चार हजार मिलनेवाले थे, उसने घाटा लगनेसे इन्कार कर दिया। मैं सीधा उसके पास पहुँचा। उससे बात की। वह बेचारा भी रुपये न दे सकनेपर बहुत दुखी था। उसने बतलाया कि ‘चार ही नहीं, छः हजार मुझको देने हैं! मैंने चार ही देनेको कहा था, पर दे नहीं पाया।’ मैंने उसको समझाकर इस बातपर राजी कर लिया कि वह छः हजार रुपये मुझसे लेकर तुरंत सेठ रामबिलासजीको यह कहकर दे आये कि ‘मैंने रुपयोंका प्रबन्ध कर लिया है, और आपके हिसाबके छः हजार रुपये दे रहा हूँ।’ मैंने उसको यह आश्वासन दे दिया कि ‘मैं ये रुपये आपसे कभी माँगूँगा नहीं, न आपके नाम ही खातेमें लिखूँगा। आपके पास कभी हों और आप देना चाहें तो दे दीजियेगा, नहीं तो आपका घाटा मेरा ही घाटा है; आप जरा भी विचार न कीजियेगा।’ वह सकुचाया तो सही, पर मान गया। मैंने उसको रुपये देकर तुरंत सेठ रामबिलासजीके पास भेज दिया और वह दे भी आया। मैंने उसको पुत्रकी शपथ दिलवा दी कि ‘वह यह बात कभी किसीसे कहे नहीं।’ अपने घरमें भी हम दो ही जानते हैं। हमलोग भी शपथ कर लें कि तीसरा कोई जाने ही नहीं।” स्वामीकी बात सुनकर पत्नीके प्राण हरे हो गये। उसके आनन्दका पार नहीं रहा। उसने आनन्दकी अश्रुधारासे अपने स्वामीके चरण पखार दिये।

सेठ रामबिलासजी और उनकी पत्नीको कितना आनन्द हुआ, कौन जान सकता है। सीताका विवाह बड़े आनन्दसे हो गया। बाबू हरनारायण तथा उनकी पत्नी विवाहमें खूब सम्मिलित हुए। सब काम किये; पर कहीं यह जरा-सी भी कल्पना नहीं आने दी कि व्यापारीके दिये रुपयोंसे इनका कोई सम्बन्ध है। वे मानो भूल ही गये। उपकार करके भूल जाना और अपकार होनेपर उसे याद रखना ही तो मनुष्यता है। कई वर्षों बाद उस व्यापारीने एक दिन सेठ रामबिलासजीको यह घटना तब सुनायी, जब रामबिलासजी उसके व्यवहारकी बड़ाई कर रहे थे।’

—कालूराम

(७)

महान् परिवर्तन

पचास-साठ वर्ष पहलेकी बात है। खुशाबनगर सरगोधा जिलेमें झेलम नदीके किनारे बसा है। ज्येष्ठका महीना है। गरमी इधर इतनी पड़ती है कि दिनके दस बजेके बाद घाम और लूके मारे कोई घरसे बाहर नहीं निकलता। इस नगरके सर्वोच्च सरकारी पदाधिकारी तहसीलदार थे, जो देशविख्यात वजीराबादके दीवान-परिवारमें दीवान ठाकुरदासके सुपुत्र दीवान मदनगोपाल शैदा थे। घरमें धन-सम्पत्तिका कोई अन्त नहीं था, केवल मान-बड़ाईके लिये सरकारी नौकरी कर ली थी।

धन था, यौवन था, प्रभुता थी और इसपर रसिक तथा कवि थे। चार-चार घोड़े रखते और उनको बिलायती बिस्कुट खिलाया करते। ये ही तो रईसोंके ठाट होते हैं। सुरा रानीसे इनका विशेष प्रेम था। बिलायती ह्विस्कीकी पेटियोंका इनके यहाँ गोदाम था। ऐसी स्थितिमें ये भी वही सब करते थे, जो ऐसे लोग किया करते हैं।

एक बड़ा-सा कमरा था। झेलम नदीकी कोमल बालू बिछी हुई थी, उसको ठंडे जलसे सींचा गया था। खिड़की और द्वारोंपर खसखसकी टट्टियाँ लगी थीं। छतसे एक लंबा झालरदार पंखा लटक रहा था, जिसको एक व्यक्ति खींच रहा था। एक बड़ा पलंग डाला हुआ था, जिसपर कोमल श्वेत बिछौना बिछा था। उसपर दीवान साहब आराम कर रहे थे। द्वारपर द्वारपाल बैठा था कि किसीको भीतर न आने दिया जाय।

इस जलती दोपहरीमें एक गौरवर्ण भव्याकृति तेज:पुञ्ज काषायवस्त्रधारी दीर्घकाय संन्यासीने खसखसका परदा उठाकर प्रवेश किया। उनको देखकर दीवानसाहब उठ बैठे, उन्होंने संन्यासीजीको नमस्कार किया और चौकीपर बिठा दिया। दीवान साहब बोले—कहिये, महाराजजी! क्या आज्ञा है?' महात्माजीने उत्तर दिया कि 'आपसे एक भिक्षाकी प्रार्थना करने आया हूँ, देनेका वचन दें तो कहूँ।' दीवान साहबने कहा कि पहले आप बता दें, फिर वचन भी दिया जाय। हो सकता है कि जो वस्तु आप माँगें, वह मेरे पास हो ही नहीं। और यदि हो भी तो ऐसी हो कि उसको देकर जन्मभर पछताता रहूँ।' महात्माजी बोले-'वही वस्तु माँगूँगा जो आप दे सकेंगे और जिसको देकर आपको कोई कष्ट भी नहीं होगा।' दीवान साहबने देनेका वचन दे दिया।

महात्माजीने पूछा—'आपकी सबसे प्रिय वस्तु कौन-सी है?' दीवानजीने उत्तर दिया-'ह्विस्की शराब।' महात्माजीने कहा, 'बस तो, इसीका मुझे दान कर दो।'

दीवान साहब एक सच्चे क्षत्रिय तो थे ही, बिना विलम्ब हँसकर बोले—'अच्छी बात है, महाराज! दान कर दी।' महात्माजीने कहा—'जितनी शराब तुम्हारे पास है, वह अब मेरी हो गयी; उसे मुझे सौंप दो।'

सेवकोंको आज्ञा हुई, ह्विस्कीके बक्सोंपर बक्स आने लगे और खुलने लगे एवं महात्माजी बोतलें तोड़ने लगे। ह्विस्कीकी नाली बहने लगी। जब सेवकोंने कहा कि 'बस, समाप्त हो गयी।' तब महात्माजीने दीवान साहबसे कहा 'कुछ कपट हुआ है। अस्तु! यह तो मेरी भिक्षा थी; अब मैं आपको आज्ञा देता हूँ कि भविष्यमें कभी सुरासुन्दरीको मुँह न लगाना।' यह आज्ञा देकर महात्माजीने खसखसका परदा उठाया और बाहर चले गये।

महात्माजीके इस वचनसे कि कुछ कपट हुआ है—दीवान साहब घबराये और सेवकोंसे पूछा कि 'क्या तुम लोगोंने कुछ शराब छिपा ली है?' सेवकने उत्तर दिया कि 'सरकार! केवल एक बक्सा रहने दिया है; क्योंकि रात्रिको आप माँगते तो कहाँसे आती। लाहौरके अतिरिक्त और कहीं मिलती नहीं।' दीवान साहबने वह बक्सा भी खुलवाया और यह बोतलोंकी दर्जन अपने हाथसे तोड़ दी। फिर उन्होंने आयुभर सुराको हाथतक नहीं लगाया।

महात्माजी कौन थे, कहाँसे आये थे, किधर चले गये—कुछ पता नहीं चला। दीवान साहबके अन्त:करणमें ऐसी उथल-पुथल—विचार-विप्लव मचा कि उसी समय सुरासुन्दरीके पुजारी जाने कहाँ चले गये और उनके स्थानपर एक मोहमायाग्रस्त संसारानल-व्यथित मुमुक्षु आ गये। उनकी जीवन-धारा ही पलट गयी।

सद्गुरुकी खोजमें श्रीवृन्दावन पहुँचे। वहाँ यमुना-किनारे बाबा प्रेमानन्द भारतीसे भेंट हुई और इन्होंने उनकी चरण-शरण ग्रहण की। भारतीजी किसीको दीक्षा नहीं देते थे, इसलिये इनको श्री १००८ मधुसूदनजी गोस्वामी महाराजसे दीक्षा दिलवा दी। भारतीजीको कुछ समय पश्चात् आदेश हुआ कि तुमने एक शरणागतकी उचित सहायता नहीं की! भारतीजी

दीवान साहबके घर पहुँचे और तीन मास रहकर इन्हें एक उच्चकोटिके साधक तथा श्रीगौरचन्द्रके प्रेमी दास बना गये ।

श्रीदीवानजीने देखा कि उत्तर-पश्चिमी भारतमें जहाँ उर्दू भाषाका राज्य है, वहाँ श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी महाराजके जीवन तथा शिक्षाका कुछ भी ज्ञान नहीं है । यह कार्य इन्होंने करनेका निश्चय किया और प्रभु-प्रेरणासे एक अनुपम ग्रन्थ-रत्न 'निमाई-चंद' के नामसे उर्दू भाषामें प्रकाशित किया । जिसने पढ़ा वही मुग्ध हो गया और श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका प्रेमी दास बननेकी इच्छा करने लगा ।

भावुक हृदयवालोंका विचार है कि वह संन्यासी श्रीमहाप्रभु ही थे, जिन्होंने अपना प्रचार-कार्य करानेके लिये शैदा साहिबका परिवर्तन कर दिया था ।

श्रीव्यासदेवजी महाराजका कथन है कि युगोंमें कलियुग और स्त्रीजाति उत्तम है, क्योंकि भाव-भक्तिके लिये स्त्री-हृदय ही उत्तम क्षेत्र है ! दीवान साहब तथा उनकी सती साध्वी धर्मपत्नीने एक ही समय दीक्षा ली थी और श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजाका कार्य इनकी धर्मपत्नीने ही सँभाला था । इनका श्रीकृष्णजीमें वात्सल्य-भाव था । यह भाव कितना प्रगाढ़ और किस विलक्षण स्थितिको पहुँच गया था, यह निम्न घटनासे प्रतीत होता है ।

दीवान साहब रुग्ण थे । पलंगपर लेट रहे थे । इनकी धर्मपत्नी समीपके कमरेमें श्रीठाकुरजीका शृङ्गार कर रही थी । बोल उठी 'औंतरियाँ देया, जे मेरे कोलों नहीं बनाउँनी ताँ आप बद्धलै [अरे निपूतेके पुत्र ! यदि मुझसे नहीं बँधवानी है तो स्वयं बाँध ले]

दीवान साहबने पूछा कि 'किसको गाली दे रही है ?' उत्तर मिला कि 'यही तुम्हारा कन्हैया है । मैं सामने खड़ी होकर पगड़ी बाँधने लगी तो दायीं ओर मुँह कर लिया; उधर गयी तो बायीं ओर मुँह फेर लिया । अब एक चपत लगी तो सीधा हो गया ।' दीवान साहब अधीर होकर कहने लगे—'अरी ! तू सर्वशक्तिमान् अखिल ब्रह्माण्डनाथको पीटती है ?' उसने उत्तर दिया कि 'पुत्र चाहे कितना महान् हो, माँका तो वह पुत्र ही है !' धन्य !

—निरञ्जनदास धीर

(८)

ईमानदारीका चमत्कार

कई वर्षों पूर्वकी बात है । दुबेजी साधारण चुंगी मोहर्रिर थे । गरीबीकी परिस्थिति थी । किसी मित्रकी संकटमें सहायता करनेके नाते उसके कर्जमें अपना मकान जमानतदार बनकर लिखवा दिया । मियाद बीतनेपर कर्जदार रकम न दे सका । साहूकारने दुबेजीको बुलवाया । दुबेजीने कहा—नालिश करनेकी आवश्यकता नहीं, कल सुबह मैं अपने मकानका कब्जा आपको दे दूँगा ।

साहूकार——आप कहाँ जायँगे ?

दुबेजी——अभी तो रिश्तेदारोंके यहाँ सामान डाल दूँगा, पीछे कोई किरायेका स्थान ढूँढ़ लूँगा ।

साहूकार चकित हो गया । उसने दुबेजीको प्रणाम किया । कहा, 'आपका मकान मैं नहीं लूँगा । मेरा कर्जदार जब भी परिस्थिति सुधरनेपर रुपया दे सकेगा, ले लूँगा । आपकी धर्मपत्नीका भी देहान्त हो चुका है । छोटे-छोटे बच्चोंको और आपको मैं इस प्रकार कष्टमें नहीं डालूँगा ।'

—त्रेतानाथ तिवारी

(९)

सच्ची मानवता

बात है उन दिनोंकी जब थर्ड क्लासकी तो बात ही क्या, इंटर व सेकंडके डिब्बोंमें भी बैठनेतकका स्थान पा जाना सौभाग्य समझा जाता था और आरामसे यात्रा करना तो जीवनमें एक महत्त्वपूर्ण घटना समझी जाती थी । उन्हीं दिनों मुझे भी आवश्यक कार्यवश खंडवासे इंदौरतककी यात्रा करनी पड़ी ।

इंदौर जानेवाली गाड़ी खंडवा जंकशनसे ही बनती है । इससे दूसरी गाड़ियोंसे आकर इंदौरकी ओर जानेवाले दूरके यात्री गाड़ीके रवाना होनेतक गाड़ीमें अपना सामान रखकर बाहर कुछ विश्राम कर लेते हैं और यहाँसे बैठनेवाले यात्री भी सहूलियतसे अपना स्थान खोज

सकते हैं। तो भी गाड़ियोंमें होनेवाली भीड़ और स्थान पानेकी असुविधाको देखते हुए मैंने पहलेसे ही दूसरे दर्जेका टिकट ले लिया था और डिब्बेमें जाकर सीटके एक सिरेपर बालिस्तभरका स्थान पा लिया था।

जिस सीटपर मैं बैठा था, उसी सीटपर और उसके सामनेवाली सीटपर दो व्यक्ति सिरसे पैरतक ओढ़े सो रहे थे। उन्हें डिब्बेमें आने-जानेवाले मुसाफिरों और उनके उतरने-चढ़नेवाले सामानकी खड़बड़ाहटसे तनिक भी विघ्न नहीं होता था। उन्हें जगानेकी हिम्मत भी तो किसीमें नहीं थी, कौन जान-बूझकर झगड़ा मोल ले।

उसी समय डिब्बेमें एक मद्रासी परिवारने—जो देखनेमें सुशिक्षित था—प्रवेश किया। परिवारमें छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष मिलाकर १०-१२ व्यक्ति थे। सामान भी काफी था। कुलियोंने सामानका ढेर लगाना और जमाना शुरू किया। इससे सोये हुए उन दोनों व्यक्तियोंकी नींदमें बाधा आयी। अँगड़ाई लेकर उनमेंसे एक उठ बैठे और डिब्बेमें खड़े हुए यात्रियोंकी भीड़का दृश्य देखकर स्तम्भित रह गये। झट्से उठे, अपना बिस्तर लपेटा और अपने सहयोगीको भी जगाकर बिस्तर लपेटनेका आदेश दिया। और वे लोग अपने बैठने भरके स्थानमें साधारण यात्रियों-जैसे बैठ गये। उनके बैठ जानेसे काफी जगह खाली हो गयी थी। खड़े हुए नव-आगन्तुक परिवारके कुछ व्यक्तियोंने भी वहाँ स्थान पा लिया। मैं यह सब कुछ उन्हींके पास बैठा देख रहा था।

गाड़ी चली। बातचीत भी चली। बातचीतके सिलसिलेमें विदित हुआ कि उन सोये हुए व्यक्तियोंमेंसे पहले उठनेवाले ग्वालियरके सी० आई० डी० सुपरिंटेंडेंट और बादमें उठनेवाले इन्दौरके सी० आई० डी० के इन्स्पेक्टर थे। दोनों महाशयोंकी बातचीत-व्यवहारसे ऐसा आभास नहीं होता था कि वे कोई बड़े पुलिस अफसर हैं। साधारण मुसाफिरों-जैसे बैठे, सबसे घुल-मिलकर बातचीत कर रहे थे, मानो कई दिनोंके जाने-पहिचाने हों। इंदौरतक हमारा साथ रहा। रास्तेभर खूब बातचीत हुई। मैं उनके व्यक्तित्व और व्यवहारसे बहुत ही प्रभावित हुआ।

अधिकार और मानवतामें तेल और पानी-जैसा सम्बन्ध है। आजका अधिकारी-वर्ग सच्ची मानवतासे परे हट गया है। तो भी इन चमकनेवाले काँचके टुकड़ोंमें कई हीरे आज भी विद्यमान हैं, यह मुझे तब मालूम हुआ।

—रेवाशंकर माँगरोले

(१०)

श्रद्धा एवं विश्वासका बल

सात-आठ साल पहले मैं प्रयागमें था। जून १९५०में मैं बीमार पड़ा और सितम्बरतक बीमार रहा। कई सौ रुपये डाक्टरों, फलों एवं दूधके पीछे खर्च हुए। आर्थिक स्थिति दयनीय थी। मेरी स्त्रीने पासके गहनोंको गिरवी रख-रखकर मेरी चिकित्सा करायी। धीरे-धीरे मैं स्वस्थ हुआ, पर उस समयतक लगभग सभी गहने हाथसे निकल चुके थे। मेरी अस्वस्थतामें स्त्रीने अथक परिश्रम एवं परिचर्या की थी। दिनमें पाँच-छः बार स्नान करती; तुलसी नीम एवं पीपलको जल चढ़ाती; दुर्गासप्तशतीका पारायण करवाती। इसी प्रकार वे दिन बीते। अपनी बीमारीके दिनोंमें ही मुझे एक डा० श्रीबलदेवप्रसादजी शुक्ल (होम्योपैथ) के दर्शनका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मेरे अच्छे होते-होते मेरी स्त्री बीमार पड़ी। पासमें पैसा था नहीं, फिर शेष गहनोंको बेच-बाँचकर मैंने उसकी चिकित्सा करवाना प्रारम्भ किया। दशा अत्यन्त गम्भीर हो चुकी थी। दो-तीन अच्छे-अच्छे डाक्टरोंसे चिकित्सा करायी, पर दशा बिगड़ती गयी। डबल न्यूमोनियाकी शिकायत बतायी गयी। एक या दो उच्च श्रेणीके वैद्य भी आये, पर सब लोग रोग हटानेमें असमर्थ रहे। पैसा चुकनेपर निराश होकर मैं दारागंजमें डा० बलदेव प्रसादजी शुक्लके पास गया।

(पहले ही दिनके दर्शनपर मुझे उनके प्रति अत्यन्त आकर्षण-सा हो गया था और फिर कभी-कभी उनके पास जाकर उनसे कुछ धार्मिक चर्चा भी किया करता था ।) उन्होंने सारा समाचार सुना और कुछ ऐसे ढंगसे सान्त्वना दी कि मेरी अकुलाहट दूर हो गयी । मुझसे पूछा 'ब्राह्मण हो, गायत्री तो जानते ही होगे !' मैंने स्वीकारात्मक उत्तर दिया; साथ ही यह भी बताया कि कभी भी मैं उसका जप नहीं करता, केवल जानता-भर हूँ । उन्होंने तब आश्वासन देते हुए मुझे गायत्री-मन्त्रके जपने तथा बीमारके प्रति उसके प्रयोगकी विधि बतायी तथा मेरे सामने ही मेरी शीशीमें पानी भरकर दे दिया कि इसे ही दवाके रूपमें पिलाओ ।

मुझे उनके प्रति श्रद्धा थी तथा उनके वचनोंमें विश्वास । आकर तदनुसार कार्य किया । वह पानी ही पिलाने लगा । तीसरे दिनसे दशा सुधरने लगी । पहले वह अपना अङ्गतक नहीं डुला सकती थी; पर पाँच दिनोंके बाद वह बिना किसीका सहारा पाये ही लेट सकती थी या उठकर बैठ सकती थी । दस दिनोंके लगभग बीतनेपर चारपाईसे उतर सकती थी और इस प्रकार लगभग डेढ़ महीनेमें वह स्वस्थ हो गयी ।

लोग भले इसे यह कहकर टाल दें कि बीमारीकी भी अवधि होती है या ऐसी ही होनी थी; पर मैं सोलहों आने कह सकता हूँ कि यह गायत्री-माँकी प्रत्यक्ष कृपा थी । —श्रीरामनरेश मिश्र, बी० ए०, एल० टी०

भगवान् नित्य मेरे हृदयमें विराजमान हैं

सबसे बड़ा विवेक जो मुझमें जाग्रत् हो गया है, वह यह है कि सफलता एवं समृद्धिके मूल स्रोत भगवान् मुझमें नित्य विराजमान हैं ।

सफलता एवं समृद्धिका यह मूल स्रोत भविष्यमें प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है, मैं इसी क्षण भगवान्के दर्शन अपने अन्तरमें कर सकता हूँ ।

जब मैं शान्त और स्थिर-मन हो अन्तर्मुख होता हूँ तब भगवान् मेरे सामने अभिव्यक्त होने लगते हैं । मैं भगवान्की संनिधिका अनुभव करता हूँ और उनके गुण, उनकी शक्ति मुझमें प्रवाहित होने लगती है । मुझे अनुभव होता है, भगवान् मुझे पुकारकर सचेत कर रहे हैं—'देखो, मैं नित्य तुम्हारे साथ हूँ । कभी अपने हृदयको क्षुब्ध न करो, कभी निराश मत होओ, और न कभी भयको उसमें स्थान दो ।' भगवान्का आदेश पाकर मैं नित्य स्वस्थ, शान्त, निश्चिन्त और निर्भय हो गया हूँ । भगवान् मेरे जीवनके जीवन हैं, मेरे विवेकके मूल हैं और मेरी शक्तिके आधार हैं ।

मैं अनुभव करता हूँ कि भगवान् सदा मुझमें हैं और मैं सदा भगवान्में हूँ । मैं और भगवान् एक हैं ।

भगवान्ने कहा है—'मैं तुम्हारे योगक्षेमको स्वयं वहन करूँगा ।' मुझे भगवान्के इस सौहार्दपर पूर्ण विश्वास है । मुझे ऐसा अनुभव होता है कि जिस किसी भी वस्तुकी मुझे यथार्थमें आवश्यकता होती है, भगवान्की कृपासे वह मुझे स्वतः प्राप्त हो जाती है और प्राप्त होती जायगी ।

मैं भगवान्की नित्य समीपताका अनुभव करता हूँ और नित्य नये उत्साह, बल तथा उल्लाससे भरा जा रहा हूँ ।

◆

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-**श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी**-टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ... ... ४)

२-**श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य**-[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २॥।)

३-**श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य**-[हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य ... ... २॥)

४-**श्रीमद्भगवद्गीता**-[बड़ी] मोटा टाइप, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, सजिल्द, मूल्य ... १।)

५-**श्रीमद्भगवद्गीता**-[मझली] पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अजिल्द ॥≋), सजिल्द ... १)

६-**श्रीमद्भगवद्गीता**-प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, पृष्ठ ४२४, मूल्य ॥।=), सजिल्द १।)

७-**श्रीमद्भगवद्गीता**-सटीक, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजिल्द ... ॥।=)

८-**श्रीमद्भगवद्गीता**-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य ।-), सजिल्द ... ॥-)

९-**श्रीमद्भगवद्गीता**-केवल भाषा, पृष्ठ १९२, मूल्य ।)

१०-**श्रीपञ्चरत्न-गीता**-सचित्र, इसमें श्रीगीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्षके मूलपाठ हैं, पृष्ठ १८४, मूल्य ... ≋)

११-**श्रीमद्भगवद्गीता**-सटीक, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिंल्द =)॥, सजिल्द ... ।)॥

१२-**श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम**-(मूल छोटा टाइप) पृष्ठ २७२, मूल्य ... ≋)

१३-**श्रीमद्भगवद्गीता**-ताबीजी, मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य =)

१४-**श्रीमद्भगवद्गीता**-विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य -)॥, सजिल्द ... =)॥

१५-**गीता-दैनन्दिनी**-सन् १९५९, मूल्य ॥=), सजि० ॥।)

१६-**गीता-पञ्चाङ्ग**-विक्रम-संवत् २०१५, ईस्वी १९५८-१९५९, पृष्ठ ६४, मूल्य ... ।≋)

१७-**श्रीमद्भागवतमहापुराण**-(दो खण्डोंमें) सटीक, पृष्ठ २०३२, चित्र २६, मूल्य ... १५)

१८-**श्रीशुक-सुधा-सागर**-आकार बहुत बड़ा, मोटे टाइप, पृष्ठ १३६०, चित्र २०, मूल्य ... २०)

१९-**श्रीभागवत-सुधा-सागर**-सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र २६, सजि० मूल्य ८॥)

२०-**श्रीमद्भागवतमहापुराण**-मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य ... ६)

२१-**श्रीमद्भागवतमहापुराण**-मूल, गुटका, सजिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ... ३)

२२-**श्रीप्रेम-सुधा-सागर**-श्रीमद्भागवतके केवल दशमस्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र १५, सजिल्द, मूल्य ... ... ३॥)

२३-**श्रीभागवतामृत**-सटीक, पृष्ठ ३०४, रंगीन चित्र ८, सजिल्द, मूल्य ... ... १॥।)

२४-**भागवत एकादश स्कन्ध**-सटीक, सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य १), सजिल्द ... ... १।=)

२५-**श्रीमन्महाभारतम्**-मूल [प्रथम भाग], (आदि, सभा, वन ३ पर्व एक जिल्दमें) चित्र ३, पृष्ठ ८०४, मूल्य ... ... ६)

२६-**श्रीमन्महाभारतम्**-मूल [द्वितीय भाग], (विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण ४ पर्व एक जिल्दमें) चित्र ४, पृष्ठ ७४४, मूल्य ... ६)

२७-**श्रीमन्महाभारतम्**-मूल [तृतीय भाग]; (कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति ५ पर्व एक जिल्दमें) रंगीन चित्र ४, सादा १, पृष्ठ ७५६, मूल्य ... ६)

२८-**श्रीविष्णुपुराण**-सानुवाद, चित्र ८, पृष्ठ ६२४, सजिल्द, मूल्य ... ... ४)

२९-**मार्क्सवाद और रामराज्य**--पृष्ठ ८१६, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ... ४)

३०-**लीला-चित्र-मन्दिर-दर्शन**-लीला-चित्र-मन्दिरमें संगृहीत ५६९ चित्रोंके छाया-चित्र, पृष्ठ १४६, तिरंगा मुखपृष्ठ, सजिल्द, मूल्य ... ७)

३१-**गीता-भवन-चित्र-दर्शन**-गीता-भवन, ऋषिकेशके सुन्दर चित्रोंका दर्शन, पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य २।)

३२-**वेदान्तदर्शन**-हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ... ... २)

३३-**ईशादि नौ उपनिषद्**-अन्वय, हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४४८, सजिल्द, मूल्य ... २)

३४-उपनिषद्-भाष्य खण्ड १-ईशसे मुण्डकतक ५ उपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सजिल्द, मूल्य … … २॥=)

३५-उपनिषद्-भाष्य खण्ड २-माण्डूक्य, ऐतरेय तथा तैत्तिरीयोपनिषद्, सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सजिल्द, मूल्य … … २॥≡)

३६-छान्दोग्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ९ रंगीन चित्र, पृष्ठ ९६८, सजिल्द, मूल्य … ३॥।)

३७-बृहदारण्यकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ६ रंगीन चित्र, पृष्ठ १३८०, सजिल्द मूल्य ५॥)

३८-ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य … ≡)

३९-केनोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य … ॥)

४०-कठोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य … … ॥-)

४१-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य … ।≡)

४२-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य … ।≡)

४३-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य … १)

४४-तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ २५२, मूल्य … ॥।-)

४५-ऐतरेयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य … … ।=)

४६-श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य … ॥।=)

४७-ईशावास्योपनिषद्-अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य … -)

४८-अध्यात्मरामायण-हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, चित्र ८, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य … ३)

४९-श्रीरामचरितमानस-सटीक, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य … ७॥)

५०-श्रीरामचरितमानस-सटीक [मझला साइज] रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य ३॥)

५१-श्रीरामचरितमानस-मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य … … ४)

५२-श्रीरामचरितमानस-पाठभेदसहित, केवल मूल पाठ, मोटे टाइप और मानसके व्याकरणसहित, पृष्ठ ८००, सचित्र, मूल्य … … ३)

५३-श्रीरामचरितमानस-मूल, मझला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य … … २)

५४-श्रीरामचरितमानस-मूल, गुटका, पृष्ठ ६८८, रंगीन चित्र २ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ॥।)

५५-बालकाण्ड-मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य … ॥=)

५६- ,, -सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य १=)

५७-अयोध्याकाण्ड-मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य ॥)

५८- ,, -सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य ॥।-)

५९-अरण्यकाण्ड-मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य … ≡)

६०- ,, -सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य … ।)

६१-किष्किन्धाकाण्ड-मूल, पृष्ठ २४, मूल्य … =)

६२- ,, -सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य … =)

६३-सुन्दरकाण्ड-सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य … ।)

६४-लंकाकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य … ।)

६५- ,, -सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य … ॥)

६६-उत्तरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य … ।)

६७- ,, -सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य … ॥)

६८-मानस-रहस्य-सचित्र, पृष्ठ ५१२, मू० १।), स० १॥=)

६९-मानस-शंका-समाधान-पृष्ठ १८४, सचित्र, मू० ॥)

७०-विनय-पत्रिका-सटीक, पृष्ठ ४७२, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द … … १।=)

७१-गीतावली-सटीक, पृष्ठ ४४४, मू० १), सजिल्द १।=)

७२-कवितावली-सटीक, सचित्र, पृष्ठ २२४, मूल्य ॥-)

७३-दोहावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य ॥)

७४-रामाज्ञा-प्रश्न-सटीक, पृष्ठ १०४, मूल्य … ।=)

७५-श्रीकृष्णगीतावली-सटीक, पृष्ठ ८०, मूल्य ।-)

७६-जानकी-मङ्गल-सटीक, पृष्ठ ५२, मूल्य … ≡)

७७-श्रीपार्वती-मङ्गल-सटीक, पृष्ठ ४०, मूल्य … =)

७८-वैराग्य-संदीपनी-सटीक-पृष्ठ २४, सचित्र, मूल्य … =)

७९-बरवै रामायण-सटीक, पृष्ठ २४, मूल्य … =)

८०-हनुमानबाहुक-पृष्ठ ४०, मूल्य … -)

८१-सूर-विनय-पत्रिका-सटीक, सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ॥।=), सजिल्द … … १)

८२-सूर-रामचरितावली-सटीक, पृष्ठ २५४, सचित्र, मूल्य ॥≡), सजिल्द … १-)

८३-**श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी**—सटीक, पृष्ठ २९६, सचित्र, मूल्य ।।।=), सजिल्द ··· १।)

८४-**श्रीकृष्ण-माधुरी**—पृष्ठ २८८, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द ··· ··· १।=)

८५-**अनुराग-पदावली**—पृष्ठ २७२, मूल्य १), सजि० १।=)

८६-**व्रतपरिचय**—पृष्ठ ४८०, मूल्य १।।।), सजिल्द २=)

८७-**प्रेम-योग**—पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य ··· १।।)

८८-**श्रीतुकाराम-चरित्र**—सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य १।=), सजिल्द ··· ···१।।।)

८९-**ईश्वरकी सत्ता और महत्ता**—पृष्ठ ४८०, मूल्य १।), सजिल्द ··· ··· १।।=)

९०-**मानसिक दक्षता**—पृष्ठ ३४४, मूल्य १), सजि० १।।)

९१-**श्रीगोविदवैभवम्**—पृष्ठ २७६, ३ चित्र, मूल्य १), सजिल्द ··· ··· १।=)

९२-**शरणागति-रहस्य**—पृष्ठ ३६०, सचित्र, मूल्य ।।।=)

९३-**विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य**—पृष्ठ २८०, सचित्र, मूल्य ··· ··· ।।।=)

९४-**दुर्गासप्तशती**-मूल, सचित्र, पृष्ठ १५२, मू० ।।), स० ।।।)

९५-**दुर्गासप्तशती**—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।।), सजिल्द ··· ··· १)

९६-**पातञ्जलयोगदर्शन**—सटीक, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ।।।), सजिल्द ··· १)

९७-**लघुसिद्धान्तकौमुदी**—पृष्ठ ३६८, मूल्य ··· ।।।)

९८-**महत्त्वपूर्ण शिक्षा**—पृष्ठ ४७६, मूल्य १), सजि० १।=)

९९-**परम साधन**—पृष्ठ ३७२, मूल्य १), सजिल्द १।=)

१००-**मनुष्य-जीवनकी सफलता**—पृष्ठ ३५२, मूल्य १), सजिल्द ··· ··· १।=)

१०१-**तत्त्व-चिन्तामणि**—ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका,
(भाग १) सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य ।।=), सजिल्द १)

१०२-(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य ।।।=), सजि० १।)

१०३-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ४२४, मू० ।।≥), सजिल्द १-)

१०४-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ५२८, मू० ।।।-), सजि० १≡)

१०५-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४९६, मू० ।।।-), सजिल्द १≡)

१०६-(भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४५६, मू० १), सजिल्द १।=)

१०७-(भाग ७) सचित्र, पृष्ठ ५२०, मू० १=), सजिल्द १।।)

१०८-**छोटे आकारका गुटका संस्करण**—
(भाग १) सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य ।-), सजि० ।।)

१०९-(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ७५२, मू० ।=), स० ।।-)

११०-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ५६०, मू० ।-), स० ।।)

१११-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मू० ।=), स० ।।=)

११२-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ६२१, मू० ।=), स० ।।-)

११३-**श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली**—
(खण्ड १) पृष्ठ २८८, मूल्य ।।।=), सजिल्द १।)

११४-(खण्ड २) पृष्ठ ३६८, मूल्य १=), सजिल्द १।।)

११५-(खण्ड ३) पृष्ठ ३८४, मूल्य १), सजिल्द १।=)

११६-(खण्ड ४) पृष्ठ २२४, मूल्य ।।=), सजिल्द १)

११७-(भाग ५) पृष्ठ २८०, मूल्य ।।।), सजिल्द १=)

११८-**आनन्दमय जीवन**—पृष्ठ २२०, मूल्य ··· ।।।-)

११९-**स्वर्ण-पथ**—सुन्दर टाइटल, पृष्ठ २१६, मूल्य ··· ।।।)

१२०-**सत्सङ्गके बिखरे मोती**—पृष्ठ २४४, मूल्य ··· ।।।)

१२१-**एक महात्माका प्रसाद**—पृष्ठ २९२, मूल्य ··· ।।।)

१२२-**(संत-वाणी) ढाई हजार अनमोल बोल**—पृष्ठ ३२८, सचित्र, मूल्य ।।=), सजिल्द ।।।=)

१२३-**सूक्ति-सुधाकर**—सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ।।=), सजिल्द ··· १)

१२४-**विदुरनीति**—सटीक, पृष्ठ १६८, मूल्य ··· ।।-)

१२५-**स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३२०, मूल्य ।।), सजिल्द ··· ··· ।।।=)

१२६-**सुखी जीवन**—लेखिका—श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, मू० ।।)

१२७-**सत्सङ्ग-सुधा**—पृष्ठ २२४, मूल्य ··· ।।)

१२८-**सती द्रौपदी**—चित्र रंगीन ४, पृष्ठ १६४, मु० ।।)

१२९-**वल्लभाचार्य नाटक**—पृष्ठ १०८, मूल्य ··· ।।)

१३०-**भगवच्चर्चा**—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार,
(भाग १) (तुलसीदल) सचित्र, पृष्ठ २८८, मूल्य ।।), सजिल्द ··· ।।।=)

१३१-(भाग २) (नैवेद्य) सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ।।), सजिल्द ··· ।।।=)

१३२-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ४०८, मू० ।।।), सजि० १=)

१३३-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ४३६, मू० ।।।-), स० १≡)

१३४-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४००, मू० ।।।), स० १=)

१३५-(भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४००, मू० ।।।), स० १=)

१३६-**लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]**
(प्रथम भाग)—पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य ··· ।=)

१३७-(द्वितीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य ··· ।=)

१३८-(तृतीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २९२, मूल्य ··· ।।)

१३९-(चतुर्थ भाग)—पृष्ठ-संख्या २८८, मूल्य ··· ।।)

१४०-(पञ्चम भाग)—पृष्ठ-संख्या २८०, मूल्य ··· ।।)

१४१-**श्रीभीष्मपितामह**-पृष्ठ १६०, मूल्य … ।≡)

१४२-**नित्यकर्मप्रयोग**-पृष्ठ १३६, मूल्य … ।≡)

१४३-**जीवनका कर्तव्य**-पृष्ठ २००, मूल्य … ।≡)

१४४-**पढ़ो, समझो और करो**-पृष्ठ १४८, मूल्य … ।=)

१४५-**बड़ोंके जीवनसे शिक्षा**-पृष्ठ ११२,मूल्य … ।=)

१४६-**पिताकी सीख**-पृष्ठ १५२, मूल्य … ।=)

१४७-**उपनिषदोंके चौदह रत्न**-पृष्ठ८८,सचित्र,मू० ।=)

१४८-**रामायणके कुछ आदर्श पात्र**-पृष्ठ १६८,मू० ।=)

१४९-**स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा**-चित्र रंगीन २,
सादा ८, पृष्ठ १७६, मूल्य … ।=)

१५०-**नारी-शिक्षा**-पृष्ठ १६८, मूल्य … ।=)

१५१-**तत्त्व-विचार**-पृष्ठ २०८, सचित्र, मूल्य … ।=)

१५२-**विवेकचूडामणि**-सानुवाद,सचित्र,पृष्ठ१८४, ।-)

१५३-**भवरोगकी रामबाण दवा**-पृष्ठ १७६, मूल्य ।-)

१५४-**प्रेम-दर्शन**-सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य … ।-)

१५५-**उपयोगी कहानियाँ**-३५ कहानियाँ,पृ०१०४,मू० ।-)

१५६-**चोखी कहानियाँ**-३२कहानियाँ,पृष्ठ ५२, मूल्य ।-)

१५७-**भक्त-भारती**-[कविताकी पुस्तक] पृष्ठ-संख्या
१२०, ४ तिरंगे, ३ सादे चित्र, मूल्य … ।≡)

१५८-**भक्त नरसिंह मेहता**-सचित्र,पृष्ठ १६०, मू० ।=)

१५९-**भक्त बालक**-५ कथाएँ, पृष्ठ ७६, सचित्र, मू० ।-)

१६०-**भक्त नारी**-पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र,मू० ।-)

१६१-**भक्त-पञ्चरत्न**-पाँच कथाएँ, पृष्ठ८८, २चित्र,मू० ।-)

१६२-**आदर्श भक्त**-७ कथाएँ, पृष्ठ ९८, १ रंगीन,
११ लाइन-चित्र, मूल्य … … ।-)

१६३-**भक्त-सप्तरत्न**-पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य … ।-)

१६४-**भक्त-चन्द्रिका**-६ कथाएँ, पृष्ठ ८८,सचित्र,मू० ।-)

१६५-**भक्त-कुसुम**-६ कथाएँ, पृष्ठ ८४,सचित्र, मू० ।-)

१६६-**प्रेमी भक्त**-५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ।-)

१६७-**प्राचीन भक्त**-१५ कथाएँ, पृष्ठ १५२,चित्र४,मू० ॥)

१६८-**भक्त-सरोज**-१०कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र,मू० ।=)

१६९-**भक्त-सुमन**-१० कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र
बहुरंगे २, सादे २, मूल्य … … ।=)

१७०-**भक्त-सौरभ**-५ कथाएँ,पृष्ठ ११०,सचित्र, मू० ।-)

१७१-**भक्त सुधाकर**-१२ कथाएँ, पृष्ठ १००,
चित्र १२, मूल्य … … ॥)

१७२-**भक्त-महिलारत्न**-९कथाएँ,पृष्ठ१००,चित्र७,मू०।≡)

१७३-**भक्त-दिवाकर**-८कथाएँ;पृष्ठ१००, चित्र८,मू० ।≡)

१७४-**भक्त-रत्नाकर**-१४ कथाएँ, पृष्ठ१००,चित्र८,मू०।≡)

१७५-**भक्तराज हनुमान्**-पृष्ठ ७२, सचित्र,मूल्य …

१७६-**सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र**-पृष्ठ ५२, सचित्र मूल्य … ।-)

१७७-**प्रेमी भक्त उद्धव**-पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य … ।-)

१७८-**महात्मा विदुर**-पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य … ≡)

१७९-**भक्तराज ध्रुव**-पृष्ठ ४८, २ चित्र, मूल्य … =)॥

१८०-**परमार्थ-पत्रावली**-(भाग१)पृष्ठ११२,सचित्र,मू०।)

१८१- ,, -(भाग२)पृष्ठ१७२,सचित्र,मू० ।)

१८२- ,, -(भाग३)पृष्ठ२००,सचित्र, मू०॥)

१८३- ,, -(भाग४)पृष्ठ२१४,सचित्र,मू०॥)

१८४-**अध्यात्मविषयक पत्र**-पृष्ठ १६४, सचित्र मू० ॥)

१८५-**कल्याण-कुञ्ज**-(भाग १) पृष्ठ १३६, सचित्र,मू० ।)

१८६- ,, -(भाग २) पृष्ठ १६०, सचित्र,मू० ।-)

१८७- ,, -(भाग-३) पृष्ठ १८४, सचित्र,मू० ।=)

१८८-**श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि(प्रथम खण्ड)**-
पृष्ठ ६४, चित्रपरिचयसहित, मूल्य … ।=)

१८९-**श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (द्वितीय खण्ड)**-
पृष्ठ ६४, चित्रपरिचयसहित, मूल्य … ।=)

१९०-**बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला [भाग१]**-
पृष्ठ ३६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य … ।=)

१९१-**बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला [भाग२]**-
पृष्ठ ३६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य … ।=)

१९२-**भगवान श्रीकृष्ण भाग १**-पृष्ठ ६८, मूल्य ।-)

१९३-**भगवान श्रीकृष्ण भाग २**-पृष्ठ ६४, मूल्य ।-)

१९४-**बाल-चित्रमय बुद्धलीला**-पृष्ठ ३६, मूल्य ।-)

१९५-**बाल-चित्रमय चैतन्यलीला**-पृष्ठ ३६, मूल्य ।-)

१९६-**भगवान राम भाग १**-पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)

१९७- ,, ,, **भाग २**-पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)

१९८-**बाल-चित्र-रामायण**-(भाग१) ४९ चित्र, मू० ।)

१९९- ,, ,, -(भाग२) पृष्ठ १६, मू० ।)

२००-**भगवान्पर विश्वास**-पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।)

२०१-**गीताद्वार**-४ रंगीन चित्र, पृष्ठ १६, मूल्य ।)

२०२-**गीताप्रेस-लीला-चित्र-मन्दिर-दोहावली**- … ।)
… पृष्ठ ५६, मूल्य ।)

२०३-**शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ**-पृष्ठ १२८, मूल्य … ।)

२०४-**सती सुकला**-पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य … ।)

२०५-**आरती-संग्रह**-पृष्ठ ८०, मूल्य ।)

२०६-**महाभारतके कुछ आदर्श पात्र**-पृष्ठ १२८, मू० … ।)

२०७-**सत्सङ्ग-माला**-पृष्ठ १००, मूल्य … ।)

२०८-**बालकोंकी बातें**-पृष्ठ १५२, मूल्य

२०९-**सच्चे और ईमानदार बालक**-पृष्ठ ७६, मूल्य ।)
२१०-**वीर बालक**-पृष्ठ ८८, मूल्य … ।)
२११-**गुरु और माता-पिताके भक्त बालक**-पृष्ठ८०,मू०।)
२१२-**बालकके गुण**-पृष्ठ ४४, मूल्य … ≡)॥
२१३-**हिंदी बाल-पोथी**-शिशु-पाठ (भाग १) पृष्ठ४०, ≡)
२१४- ,, -शिशुपाठ (भाग२) पृष्ठ४०,मू० ≡)
२१५- ,,-पहली पोथी (कक्षा १ के लिये) पृ० ६४, मू० ।-)
२१६- ,,-दूसरी पोथी (कक्षा २ के लिये) पृ० ८८, मू० ।=)
२१७-**ध्यान और मानसिक पूजा**-पृष्ठ३२, चित्र २, मू० ≡)
२१८-**प्रार्थना**-पृष्ठ ५६, मूल्य … ≡)
२१९-**मानव-धर्म**-पृष्ठ ९६, मूल्य … ≡)
२२०-**आदर्श नारी सुशीला**-पृष्ठ ५६, मूल्य … ≡)
२२१-**आदर्श भ्रातृ-प्रेम**-पृष्ठ १०४, मूल्य … ≡)
२२२-**दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ**—पृष्ठ ६८, मूल्य … … ≡)
२२३-**वीर बालिकाएँ**-पृष्ठ ६८, मूल्य … ≡)
२२४-**दैनिक कल्याण-सूत्र**-पृष्ठ ९२, मूल्य … ≡)
२२५-**गीता-निबन्धावली**-पृष्ठ ८०, मूल्य … =)॥
२२६-**साधन-पथ**-पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य … =)॥
२२७-**अपरोक्षानुभूति**-पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य … =)॥
२२८-**मनन-माला**-पृष्ठ ५६, मूल्य … =)॥
२२९-**गङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्**-सटीक, पृष्ठ९६,मूल्य =)॥
२३०-**श्रीलक्ष्मीनृसिंहसहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ ८०, मूल्य … … =)॥
२३१-**बालकोंकी बोलचाल**-पृष्ठ ४८, मूल्य … =)॥
२३२-**बालककी दिनचर्या**-पृष्ठ ४०, मूल्य … =)
२३३-**बालकोंको सीख**-पृष्ठ ४०, मूल्य … =)
२३४-**बालकके आचरण**-पृष्ठ ४०, मूल्य … =)
२३५-**नवधा भक्ति**-पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य … =)
२३६-**बाल-शिक्षा**-पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य … =)
२३७-**श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति**-पृष्ठ४८,सचित्र,मू० =)
२३८-**गीताभवन-दोहा-संग्रह**-पृष्ठ ४८, मूल्य … =)
२३९-**श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ ६४, मूल्य =)
२४०-**श्रीश्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ६४,मू० =)
२४१-**भजन-संग्रह**-भाग १, पृष्ठ १५२, मूल्य … =)
२४२- ,, -भाग २, पृष्ठ १४४, मूल्य … =)
२४३- ,, -भाग ३, पृष्ठ १९६, मूल्य … =)
२४४- ,, -भाग ४, पृष्ठ १३६, मूल्य … =)
२४५- ,, -भाग ५, पृष्ठ ११२, मूल्य … =)
२४६-**बाल-प्रश्नोत्तरी**-पृष्ठ २८, मूल्य … -)॥
२४७-**स्वास्थ्य-सम्मान और सुख**-मूल्य … -)॥
२४८-**स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी**-पृष्ठ ५६, मूल्य … -)॥
२४९-**नारी-धर्म**-पृष्ठ ४८, मूल्य … -)॥
२५०-**गोपी-प्रेम**-पृष्ठ ५२, मूल्य … -)॥
२५१-**मनुस्मृति**-द्वितीय अध्याय, मूल्य … -)॥
२५२-**तर्पण-विधि**-(मन्त्रानुवादसहित) पृष्ठ २८, मू० -)॥
२५३-**गजेन्द्र-मोक्ष**-पदच्छेद,अन्वय और भावार्थसहित -)॥
२५४-**ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप**-पृष्ठ ३६, मू० -)॥
२५५-**श्रीविष्णुसहस्रनाम सटीक**-मूल्य … -)॥
२५६-**श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ ४४, मू० … -)॥
२५७-**श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ५२,मू० … -)॥
२५८-**गायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ ५२, मू० … -)॥
२५९-**शिवसहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ ५२, मूल्य … -)॥
२६०-**श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्**-पृष्ठ ४८, मूल्य … -)॥
२६१-**शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र**-(सानुवाद) पृष्ठ ६४, -)॥
२६२-**वर्तमान शिक्षा**-पृष्ठ ४८, मूल्य … -)॥
२६३-**मनको वश करनेके कुछ उपाय**-पृष्ठ २४, -)।
२६४-**श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा**-पृष्ठ ४०, मूल्य … … -)।
२६५-**ईश्वर**-पृष्ठ ३२, मूल्य … -)।
२६६-**मूलरामायण**-पृष्ठ २४, मूल्य … -)।
२६७-**रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक**-पृष्ठ ३२, मूल्य … … -)।
२६८-**दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य**-मूल्य … -)
२६९-**विनय-पत्रिकाके बीस पद**-पृष्ठ २४, मूल्य -)
२७०-**हनुमानचालीसा**-पृष्ठ ३२, मूल्य … -)
२७१-**बाल-अमृत-वचन**-मूल्य … -)
२७२-**गङ्गालहरी**-पृष्ठ ४०, मूल्य … -)
२७३-**संध्योपासनविधि**-अर्थसहित, पृष्ठ २४, मूल्य -)
२७४-**शिवमहिम्नःस्तोत्र**-पद्यानुवादसहित, पृ० ३२, मू०)॥।
२७५-**शारीरकमीमांसादर्शन**-मूल्य …)॥।
२७६-**हरेरामभजन १४ माला**-मूल्य … ।-)
२७७-**हरेरामभजन ६४ माला**-मूल्य … १)
२७८-**रामरक्षास्तोत्रम्**-पृष्ठ २०, मूल्य …)॥
२७९-**संध्या विधिसहित**-पृष्ठ १६, मूल्य …)॥
२८०-**बलिवैश्वदेवविधि**-मूल्य …)॥
२८१-**बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति**-पृष्ठ १६, मूल्य … …)॥

Gurukula Library

पुस्तकें मँगवानेवाले ग्राहकोंकी सेवामें विशेष सूचना

पुस्तकें डाकसे मँगवानेपर प्रथम छटाँकका ५ नया पैसा तथा उसके बाद प्रति आधे छटाँकपर ३ नया पैसा डाकखर्च तथा प्रति पैकेट ५० नया पैसा रजिस्ट्री-खर्च लगता है। इस प्रकार १ सेर वजनके पैकेटपर लगभग १॥) डेढ़ रुपया खर्च लग जाता है। वी० पी० मनीआर्डर फीस अलग लगती है। अतः डाकसे मँगवानेवाले सज्जन इस खर्चको समझकर आर्डर देनेकी कृपा करें। ज्यादा वजनकी पुस्तकें तो रेलपार्सलसे मँगवानेमें ही लाभ है, परंतु रेलसे मँगवानेके लिये आर्डरके साथ एक चौथाई रकम पेशगी भेजनी चाहिये तथा जिस स्टेशनपर माल मँगवाना हो उसका नाम स्पष्ट लिखना चाहिये।

आपके लाभकी बात

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ भेजनेके पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे गीताप्रेसकी पुस्तकें प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये। इससे आप भारी डाकखर्च एवं रेल-खर्चसे बच सकते हैं। भारतवर्षमें लगभग १५०० पुस्तक-विक्रेतागण गीताप्रेसकी पुस्तकें अपने स्टाकमें रखते हैं तथा प्रायः पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही बेचते हैं।

निम्नलिखित स्थानोंपर तो गीताप्रेसकी निजी दूकाने हैं। वहाँपर सब तरहकी पुस्तकें प्रायः मिलती हैं तथा कल्याण, कल्याण-कल्पतरु और मासिक महाभारतके ग्राहक भी बनाये जाते हैं। पुराने विशेषाङ्क तथा महाभारतके अङ्क भी प्रायः मिलते हैं।

गीताप्रेसकी निजी दूकानोंके पते—

१–कलकत्ता––श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय; पता—नं० ३०, बाँसतल्ला गली।

२–दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—२६०९, नयी सड़क।

३–पटना––गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—अशोकराजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने।

४–कानपुर––गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—नं० २४ / ५५, बिरहाना रोड, फूलबागके पास।

५–हरिद्वार––गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—सब्जीमंडी, मोतीबाजार।

६–वाराणसी––गीताप्रेस, कागज-एजेंसी; पता––५९। ९, नीचीबाग।

७–ऋषिकेश––गीताभवन; पता—गङ्गापार, स्वर्गाश्रम।

निवेदक—**व्यवस्थापक, गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण' के प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)— पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३३, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७॥), सजिल्द ८॥)।

२९ वें वर्षका संत-वाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७॥), सजिल्द ८॥)।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—पूरी फाइल, मूल्य ७॥)।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

मानवता-अङ्क

(१) यह 'कल्याण'का इस वर्षका ११ वाँ अङ्क है, १२ वाँ अङ्क प्रकाशित होनेपर वर्ष पूरा हो जायगा। 'मानवता-अङ्क'की प्रायः पूरी सामग्री प्रेसमें दी जा चुकी है। इस महत्त्वपूर्ण अङ्कमें लगभग ७०० पृष्ठकी ठोस सामग्री रहेगी। लगभग १५ बहुरंगे भावपूर्ण चित्रोंके अतिरिक्त बड़ी संख्यामें सादे चित्र रहेंगे। कुछ लेखोंके बीचमें लाइन चित्र भी होंगे। मानवताकी आवश्यकता सभी युगोंमें है; परंतु वर्तमान युगमें—खास करके इस समय तो, जब कि मानव विविध पथोंसे दानवता और पशुताकी ओर जाने लगा है, मानवताकी रक्षा तथा समृद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है।

इस अङ्कमें मानवताके सम्बन्धमें देशके चुने हुए विचारशील धर्माचार्यों, संसारत्यागी महात्माओं, भक्तों, दार्शनिकों, विद्वानों, नेताओं, प्रसिद्ध साहित्यिकों तथा साधक पुरुषोंके विशुद्ध विचारोंका विशद संग्रह किया गया है। इसके लेखकोंमें प्रायः सभी महान् धर्मोंके तथा विविध देशोंके विद्वानोंका समावेश है। प्रतिभाशील प्रसिद्ध कवियोंकी सुन्दर रचनाएँ भी प्रचुर मात्रामें हैं।

(२) यह अङ्क मानवताके स्वरूपको बतलाकर उसकी प्राप्ति तथा रक्षाके साधनोंको बतलानेवाला होनेके कारण—तथा मानवताके स्वरूपको बतलानेवाली रोचक कथाओंके कारण अत्यन्त ही रोचक, आकर्षक, भावप्रद, जीवनका पथप्रदर्शक तथा शिक्षाप्रद होगा। इस दृष्टिसे, सम्भव है, इसकी माँग बहुत अधिक हो और इसका यह संस्करण शीघ्र समाप्त हो जाय। अतएव जो सज्जन (नये या पुराने ग्राहक) ७॥) (साढ़े सात रुपये) मनीआर्डरसे तुरंत भेजकर ग्राहक बन जायँगे, उनका अङ्क सुरक्षित हो जायगा। इसलिये सभी पुराने ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे अपना चंदा, साढ़े सात रुपये मनीआर्डर द्वारा तुरंत भेज दें। रुपये भेजते समय कूपनमें ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें। नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि सब बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। जो नये ग्राहक हों, वे कूपनमें 'नया ग्राहक' लिख दें। और जहाँतक हो सके, पुराने ग्राहक-पाठक नये-नये ग्राहक बनाकर उनका चंदा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इस प्रकार मानवता तथा अध्यात्मके प्रचारमें वे सहायक बनें।

(३) आजकल सर्वत्र अकस्मात् नये-नये परिवर्तन हो रहे हैं। कब कहाँ क्या स्थिति हो जाय, कुछ पता नहीं; अतएव 'कल्याण'के ग्राहकोंसे यह प्रार्थना है कि यदि कभी किसी कारणवश 'कल्याण' उनकी सेवामें न पहुँच सके तो वे इस एक 'विशेषाङ्क' अथवा इसके बाद जितने अङ्क मिल जायँ, उन्हींमें सालभरका पूरा ७॥) वसूल समझ लें। विशेषाङ्कका मूल्य ही ७॥) है।

(४) जिन पुरानें ग्राहकोंको किसी भी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे वी० पी० भेजकर व्यर्थ 'कल्याण-कार्यालय'को डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े ।

(५) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'महाभारत-विभाग' 'कल्याण' से बिल्कुल अलग हैं, अतएव 'कल्याण'के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये कोई सज्जन न भेजें। एवं पुस्तकोंके तथा महाभारतके आर्डर भी क्रमशः 'मैनेजर, गीताप्रेस' तथा 'मैनेजर महाभारत-विभाग, गीताप्रेस' के नाम अलग भेजें।

(६) जिन सज्जनोंको 'सजिल्द' अङ्क लेना हो, वे १।) (सवा रुपया) अधिक यानी ८।।) भेजें। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि सजिल्द अङ्क सारे अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इससे चार-छः सप्ताहका विलम्ब होना सम्भव है।

(७) कागजोंके दाम, डाकव्यय, रेलभाड़ा, अन्यान्य वस्तुओंके मूल्य तथा कर्मचारियोंके वेतन आदि पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ जाने तथा इधर प्रायः प्रतिवर्ष बढ़ते रहनेपर भी केवल प्रचारकी दृष्टिसे 'कल्याण' का वार्षिक मूल्य वही, ७।।) (साढ़े सात रुपये) ही रखा गया है। इसलिये सभी ग्राहक-अनुग्राहकोंसे पुनः निवेदन है कि वे भी कृपया इस प्रचार-कार्यमें अधिक-से-अधिक ग्राहक बनाकर सहयोग-सहायता प्रदान करें।

◆

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविताएँ ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।)।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।)।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क, मूल्य ७।।)।

३२ वें वर्षका भक्ति-अङ्क—चालू वर्षका वार्षिक मूल्य ७।।), सजिल्दका ८) ७५ नया पैसा।

व्यवस्थापक—**कल्याण**, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

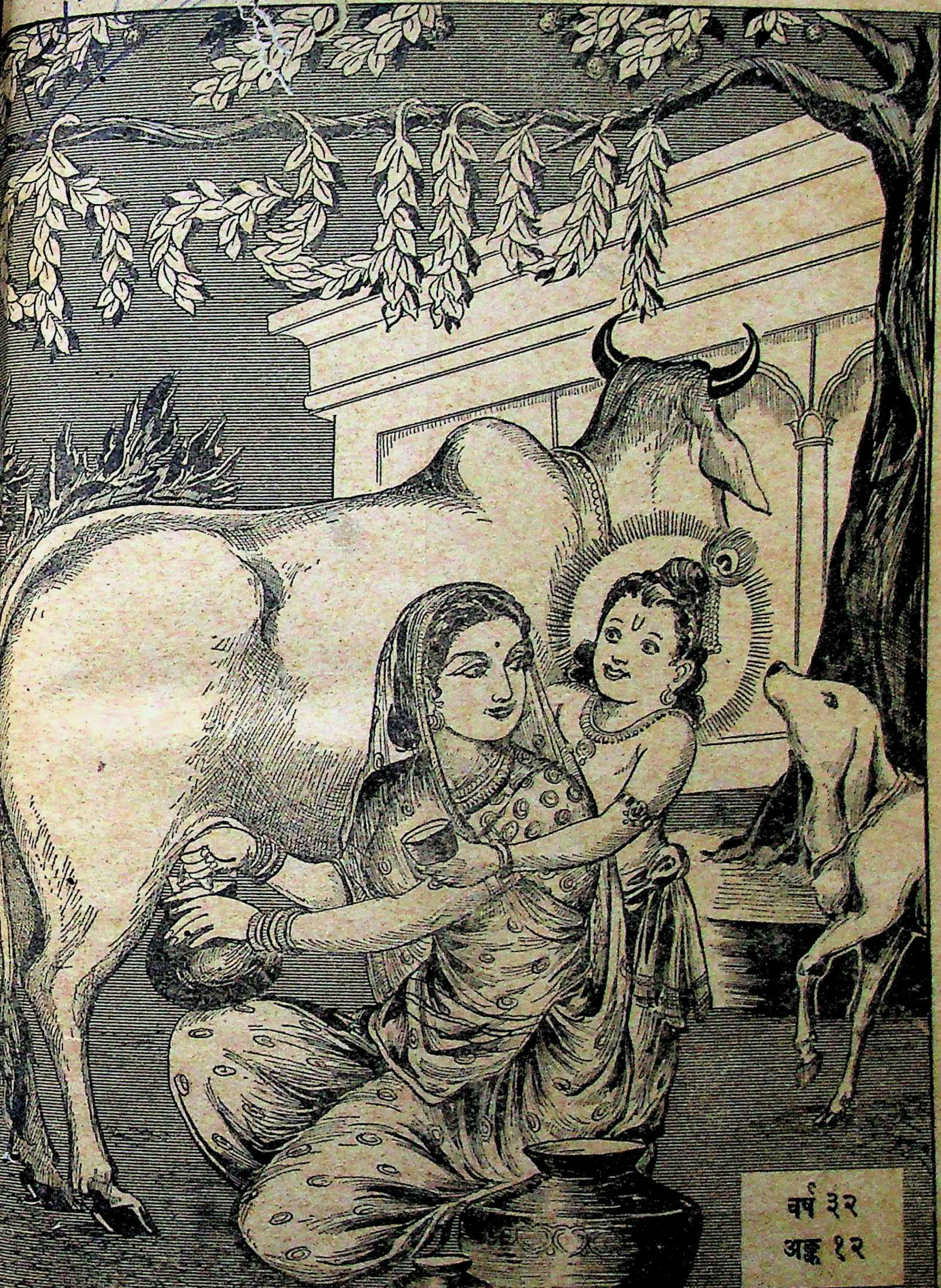

वर्ष ३२
अङ्क १२

110337

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे
जयति शिवा शिव जानकि राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०१५, दिसम्बर १९

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–संयुक्त लक्ष्मी-नारायण [कविता] … १३४९
२–कल्याण ('शिव') … १३५०
३–महारसायन (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी) … … १३५१
४–जीव और ब्रह्ममें वास्तविक भेद नहीं है (अनन्तश्री शङ्कर-स्वामीजी श्रीशङ्कर-तीर्थजी महाराज) … … १३५३
५–सब आपके भक्त बन जायँ [कविता] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) … १३५७
६–यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १३५८
७–भगवान्‌के सान्निध्यसे मेरी गति अविराम और निरापद है … … १३६१
८–वेदान्त और सांख्यका बहुपुरुषत्ववाद (स्वामी श्रीनिर्गुणानन्दजी) … १३६२
९–धर्म और मोक्ष (प्रो० श्रीभगवानदासजी झा 'विमल' एम्० ए०, बी०एस्-सी०) १३६६
१०–परमात्माका—सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन (सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचन्दजी–प्रतापसेठजी) १३६९
११–धेनु [कविता] (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') १३७०
१२–श्रीसहजानन्द स्वामी (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) … १३७१
१३–मानसका मङ्गलाचरण [काव्यका मानदण्ड] (डाक्टर श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०) … १३७४
१४–लरि लरि कै मरत हैं [कविता] (श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी') … १३७८
१५–भवानीके श्रीचरणोंमें [भवानी-स्तोत्र-भाष्य] (डॉ० श्रीरामानन्दजी तिवारी, शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्०) … १३७९

विषय — पृष्ठ-सं

१६–मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी कुछ सहायता कर सकता हूँ … १३८
१७–कल्याणकारी मनोराज्य (श्रीश्रीकान्त-शरणजी महाराज) … १३८
१८–प्रयागमें त्रिवेणी [कविता] (श्रीवासुदेव-जी गोस्वामी) … … १३८
१९–धर्मकृत्य और पञ्चाङ्ग (पं० श्रीसीताराम-जी झा, ज्यौ० आ०) … १३८
२०–आत्मविकासके मार्ग (स्वामीजी श्री-कृष्णानन्दजी) … … १३८
२१–प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु भगवान् हैं १३९
२२–स्वच्छ वस्त्रोंका आध्यात्मिक प्रभाव (आचार्य डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्०डी०) … १३९
२३–श्रीराधा-नाम और राधा-उपासना सनातन है (हनुमानप्रसाद पोद्दार) … १३९
२४–अनन्य रसिक श्रीहरिराम व्यास (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) … १३९
२५–गीत [कविता] (श्रीनरसिंहजी श्रीवास्तव, एम्० ए०) … १३९
२६–राजसी श्रद्धा [कहानी] (श्री'चक्र') १३९
२७–संतोंकी सेवामें (श्रीबलरामजी साधु) … १३९
२८–एक साधकके उद्गार … १४०
२९–मेरा शरीर भगवान्‌का अपना घर है … १४०
३०–पढ़ो, समझो और करो … १४०
३१–समझनेकी बात (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … … १४१
३२–पञ्चतन्त्र—विश्वको भारतीय साहित्यकी महान् देन (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १४१
३३–मैं अपनी सद्भावनाएँ निरन्तर बाहर भेजता हूँ १४१

चित्र-सूची

तिरंगा

१–संयुक्त लक्ष्मी-नारायण … … … … १३४

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक तथा प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

Compired
1999-2000